रामलाल कपूर ट्रस्ट ग्रन्थमाला सं० ३२

ओ३म्

अष्टाध्यायी-भाष्य-प्रथमावृत्ति

(चतुर्थ-पञ्चमाध्यायात्मक द्वितीय भाग)

लेखक—

पदवाक्यप्रमाणज्ञ श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु

संशोधक—

युधिष्ठिर मीमांसक

प्रकाशक—

प्यारेलाल कपूर

मंत्री—श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर

प्रथम संस्करण १५०० | मार्गशीर्ष, संवत् २०२२ वि० दिसम्बर, सन् १९६५ ई० | मूल्य— सजिल्द १०-०० अजिल्द ९-००

ट्रस्ट के उद्देश्य

प्राचीन वैदिक साहित्य का अन्वेषण, रक्षा तथा प्रसार
तथा भारतीय संस्कृति, भारतीय शिक्षा, भारतीय
विज्ञान और चिकित्सा द्वारा जनता की सेवा

स्व० पूज्य गुरुवर श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु कृत
अष्टाध्यायी भाष्य का यह भाग
धर्मानुरागी श्री बाबू देवीचन्दजी मेहरा (बम्बई)
द्वारा प्रदत्त ५००० पांच सहस्र रुपए की
सत्सहायता से प्रकाशित किया गया

मुद्रक—
तारा प्रिंटिङ्ग प्रेस,
वाराणसी।

सम्पादकीय

स्वर्गीय श्री पूज्य आचार्यवर ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु ने ऋषि दयानन्द
सरस्वती महाराज द्वारा प्रदर्शित आर्ष-पाठविधि से संस्कृत वाङ्मय का
अध्ययन करने की उत्कृष्ट लालसा से सन् १९१२ में गृह-त्याग किया।
तदनन्तर आपने स्व० श्री स्वामी पूर्णानन्दजी से अष्टाध्यायी-महाभाष्य आदि
ग्रन्थों का अध्ययन किया। इस अध्ययन काल में आप को अनेक प्रकार
के कष्ट उठाने पड़े। निरन्तर मधूकरी-वृत्ति से निर्वाह करने के कारण
कतिपय वर्षों के अनन्तर आप संग्रहणी रोग से ग्रस्त हो गए। अनेकविध
चिकित्सा कराने पर भी जो महारोग दूर न हुआ था, वह दैवयोग से
आगरा मथुरा के क्षेत्र में (सन् १९२३) मलकानों की शुद्धि कार्य करते
हुए वहाँ के अनिच्छन् खारे जल के पीते रहने से दूर हो गया।

आप की आर्ष-पाठ विधि में आरम्भ काल से ही दृढ़ भक्ति थी।
इस कारण अनेक विद्वानों के द्वारा 'अष्टाध्यायी पढ़ने से व्याकरण नहीं
आयेगा' कहने पर भी अपने मार्ग से विचलित नहीं हुये। आपने स्वयं
प्रलिखित संक्षिप्त परिचय[1] में लिखा—

*महाविद्यालय ज्वालापुर वालों के अत्यन्त निराश करने पर भी कि,
अष्टाध्यायी से व्याकरण नहीं आता, यह कहने पर भी अष्टाध्यायी मे पूर्ण
निष्ठावान् था, उन्हें उत्तर दिया कि "अष्टाध्यायी के आठ अध्यायों में ३२
पाद हैं। यदि सारे जीवन में एक पाद भी पढ़ लिया तो [मैं अपना जीवन]
सफल समझूँगा, शेष अगले जन्म मे करूँगा।"*

अन्तःकरण की इस सुदृढ़ निष्ठा के कारण जहाँ आपने विविध कष्ट
सह कर अष्टाध्यायी की आर्ष-पद्धति से व्याकरण का अध्ययन किया,
वहाँ ऋषि दयानन्द महाराज के द्वारा प्रदर्शित आर्ष पाठ-विधि के क्रम
से आजन्म अध्यापन कार्य भी किया। इस महान् कार्य में श्री पूज्य
पं० शङ्करदेवजी का प्रमुख सहयोग रहा (आप पाणिनीय व्याकरणशास्त्र
के महान् पण्डित हैं)। आरम्भिक काल में धार (म० प्र०) के निवासी

---

१. इसे हम इसी भाग में आगे प्रकाशित कर रहे हैं।

श्री माननीय पण्डित बुद्धदेवजी उपाध्याय का भी सहयोग प्राप्त हुआ। इन तीनों महानुभावों ने सन् १९२० में वीतराग स्वर्गीय पूज्य सर्वदानन्दजी महाराज के साधु आश्रम, पुल काली-नदी, जिला अलीगढ़ (उ० प्र०) में कार्य आरम्भ किया।

सन् १९२० से लेकर अन्तिम समय (२१ दि० ६४) तक ४५ वर्ष एक निष्ठा से आर्ष पाठ-विधि के समुद्धार और प्रसार में लगे रहे। न केवल आर्यसमाज के क्षेत्र में, अपितु भिन्न विचारधारा वाले पौराणिक विद्वानों (जो पाणिनि और पतञ्जलिकृत अष्टाध्यायी महाभाष्य को पढ़ना भी आर्य-समाजी होने का चिह्न मानते थे और उसे अछूत समझते थे) के सम्मुख भी अष्टाध्यायी के क्रम और आर्ष-पाठविधि की महत्ता प्रत्यक्ष-रूप में प्रमाणित कर दिखाई। इस अद्भुत सफलता से चकित होकर अनेक प्रतिष्ठित पौराणिक विद्वानों ने भी अष्टाध्यायी महाभाष्य के आर्ष-क्रम की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की। आत्मकूर जिला करनूल (आन्ध्र प्रदेश) के माध्वसम्प्रदाय के आचार्य और वैयाकरण श्री पं० ब० ह० पद्मनाभ राव जी ने जिज्ञासावश काशी आकर कतिपय दिन प्रच्छन्नरूप[1] से आचार्यवर द्वारा पढ़ाये जा रहे अष्टाध्यायी महाभाष्य के पाठों को सुन कर अपने सुदूर से आने का वृत्तान्त कह कर आचार्यवर को व्याकरण का गुरु स्वीकार किया और अपने स्थान में जाकर पाणिनीय विद्यालय स्थापित कर अष्टाध्यायी महाभाष्य के क्रम से पाणिनीय व्याकरण का अध्यापन आरम्भ किया। उनके विद्यालय में प्राचीन परिपाटी के अनुसार प्रतिदिन पाठ आरम्भ करने से पूर्व व्याकरण शास्त्र के विशिष्ट विद्वानों की पंक्ति में पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि के साथ विरजानन्द, दयानन्द और ब्रह्मदत्त जिज्ञासु को नमस्कार करके व्याकरण का पाठ आरम्भ किया जाता है[2]।

---

१. अर्थात् अपना वास्तविक परिचय न देकर। काशी के भी अनेक प्रतिष्ठित विद्वानों ने इसी प्रकार प्रच्छन्नरूप से अध्यापन काल में उपस्थित होकर आचार्यवर की अध्यापन शैली को देखकर उस की उत्कर्षता को मुक्तकण्ठ से स्वीकार किया।

२. निर्देश मित्रवर श्री पण्डित पद्मनाभ राव जी ने मेरे एक पत्र का उत्तर देते हुए इसी वर्ष अपने पत्र में किया था। यह पत्र इस समय (वाराणसी में) मेरे पास नहीं है अन्यथा उन्हीं के शब्द उद्धृत करता।

भला, इससे अधिक श्रीपूज्य आचार्यवर के कार्य की सफलता और ऋषि दयानन्द की आर्ष-पाठविधि की महत्ता का और क्या प्रमाण हो सकता है?

आप ने केवल अपने ही आत्मबल पर सतत उद्योग द्वारा व्याकरण निरुक्त, दर्शन आदि विविध विषयों के बीसियों उत्कृष्ट प्रतिभाशाली विद्वान् उत्पन्न किए हैं जो आज विविध क्षेत्रों में सफलता पूर्वक कार्य कर रहे हैं। आप के स्वतन्त्र व्यक्तित्व की छाप तो आपके प्रायः सभी छात्रों पर पड़ी है, उनमें दो चार ही ऐसे हैं जो नौकरी कर रहे हैं।

इस प्रकार निरन्तर ४० वर्ष तक सफलता पूर्वक अष्टाध्यायी क्रम के उद्धार और प्रसार के अनन्तर अष्टाध्यायी के पठन-पाठन क्रम को चिर-स्थायी करने की दृष्टि से, जिस क्रम से स्वयं अष्टाध्यायी का अध्यापन कराते थे, उसी क्रम से अष्टाध्यायी की व्याख्या लिखने का संकल्प किया और सन् १९६० के अन्त में अष्टाध्यायी की प्रथमावृत्ति[1] के लिखने का उपक्रम किया। विविध कार्यों में व्यासक्त रहने और अन्तिम दो वर्षों में अधिक रुग्ण रहने के कारण आप लगभग सवा पाँच अध्याय की ही व्याख्या लिख सके। रुग्णावस्था में ही आपने सन् १९६४ के पूर्वार्ध में अष्टाध्यायी भाष्य के मुद्रण का कार्य आरम्भ किया। अनेक विघ्न-बाधाओं विशेषकर अधिक अस्वस्थ[2] होने पर भी अष्टाध्यायी भाष्य का

---

१. ऋषि दयानन्द ने अपने सत्यार्थप्रकाश आदि ग्रन्थों में पाठविधि का निर्देश करते हुए अष्टाध्यायी की दो आवृत्ति पढ़ने पढ़ाने का संकेत किया है। प्रथमावृत्ति में प्रत्येक सूत्र का पदच्छेद विभक्ति समास अनुवृत्ति अर्थ उदाहरण और उसकी सिद्धि बताने का निर्देश किया है और द्वितीयावृत्ति मे सूत्र पद सम्बन्धी-शङ्का समाधान तथा विशिष्ट वार्तिक परिभाषा आदि पढ़ाने का। वस्तुतः अष्टाध्यायी को उक्त क्रम से प्रथमावृत्ति पढ़ाना ही सब से अधिक कठिन कार्य है। इस क्रम से न पढ़े हुए बड़े बड़े वैयाकरण भी इस क्रम से पाणिनीय व्याकरण पढ़ाने मे असमर्थ हैं, यह हमारा प्रत्यक्ष का अनुभव है।

२. नवम्बर १९६४ के आरम्भ में आपने विशिष्ट कार्य से अमृतसर जाना था, परन्तु अस्वस्थता के कारण न जा सके। २८ नवम्बर को दिल्ली में रा० ला० क० ट्रस्ट के विशिष्ट अधिवेशन में भी विशेष रुग्ण होने के कारण उपस्थित होने की असमर्थता प्रकट की थी।

तृतीय अध्यायान्त लगभग १००० पृष्ठों का प्रथम भाग स्वर्गवास से केवल ६ दिन पूर्व प्रकाशित किया।

अष्टाध्यायी भाष्य के प्रथम भाग के कार्य पूर्ति के अवसर पर अपने चिरकालीन स्वप्न की सफलता का प्रसाद जनता जनार्दन को बाँटने की इच्छा से आपने १५ दिसम्बर १९६४ को अपने स्थान मोतीझील में काशी के प्रमुख विद्वानों और गण्य-मान्य व्यक्तियों को निमन्त्रित करके एक विशिष्ट समारोह किया। यह आचार्यवर के जीवन की अन्तिम महत्त्वपूर्ण घटना थी। स्वर्गवास से पूर्व आप नवम्बर के अन्त तक विशेष रुग्ण रहे, परन्तु उसके पश्चात् अचानक ही आपके स्वास्थ्य में सुधार हुआ, १५ दिन में ही पर्याप्त स्वस्थ हो गए। कानों की श्रवण-शक्ति जो कई वर्षों से उत्तरोत्तर क्षीण हो रही थी, अचानक ही लौट आई। समारोह के समय आपको स्वस्थ देखकर अभ्यागत महानुभावों ने प्रसन्नता व्यक्त की। परन्तु यह किसे विदित था कि यह अचानक प्राप्त हुई स्वस्थता बुझते हुए दीपक के क्षणिक तीव्र प्रकाश के समान भावी निर्वाण की द्योतिका है। इस समारोह के ६ दिन पश्चात् ही २१ दिसम्बर की रात्रि में लगभग २॥ ढाई बजे हृद्गत्यवरोध से आप का स्वर्गवास हो गया। घटनाक्रम को देखते हुए ऐसा ज्ञात होता है कि आचार्यवर अष्टाध्यायी-भाष्य के प्रकाशन की तीव्र भावना से अति बलवान् मृत्यु से कई मास जूझते रहे। वेद के **अन्तर्मृत्युं दधतां पर्वतेन** (ऋ० १०।१८।४) के आदेशानुसार काय समाप्ति तक अपने आत्मबलरूपी पर्वत से मृत्यु को अपबाधित करते रहे और कार्य समाप्त होने के पश्चात् अचानक ही इहलीला को संवृत कर लिया। दैवेच्छा बलीयसी।

आपने श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट के आरम्भ काल सन् १९२८ से ट्रस्ट द्वारा आरम्भ किए गए प्रकाशन और अनुसन्धान कार्य में क्रियात्मकरूप से सहयोग देकर उसे एक महत्त्वपूर्ण अनुसन्धान और प्रकाशन संस्था का स्वरूप प्रदान किया। इस समय तक ट्रस्ट द्वारा छोटे-मोटे लगभग ३५ ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं जिनमें कतिपय ग्रन्थ संस्कृत वाङ्मय में अपना विशिष्ट स्थान रखते हैं।

आचार्यवर के स्वर्गवास के पश्चात् रामलाल कपूर ट्रस्ट के प्रकाशन अनुसंधान कार्य तथा पाणिनीय महाविद्यालय के संचालन के लिए उपयुक्त व्यक्ति की आवश्यकता हुई। यतः मैं ३ अगस्त १९२१ से १९५५ तक चौंतीस वर्ष के सुदीर्घ काल में प्रायः पूज्य गुरुवय के साथ रहा तथा १९५५ में अत्यन्त रुग्ण होने पर काशी से चले जाने पर भी बराबर सम्बन्ध बना रहा, अतः सभी महानुभावों की दृष्टि मुझ पर केन्द्रित हुई। मैं सन् १९५९ के अन्त से अनेक भीषण रोगों से निरन्तर आक्रान्त रहने के कारण प्रायः क्षीण-सामर्थ्य हो चुका था, इस कारण इस महान् कार्य का भार वहन करने में सर्वथा असमर्थ था, परन्तु श्री पूज्य गुरुवर्य द्वारा प्रारम्भ किए गए कार्य में गत्यवरोध न हो जाए, इस उद्देश्य से असमर्थ होने पर भी मैंने इस असह्य भार को स्वीकार किया।

काशी का जलवायु मेरे लिए सदा ही प्रतिकूल रहा है। मैं तीन बार अध्ययन आदि के कार्य के लिए काशी में रहा और तीनों बार आत्यन्तिक अस्वस्थता के कारण ही मुझे काशी छोड़नी पड़ी। वर्तमान क्षीणावस्था में तो मेरा काशी में निरन्तर एक मास रहना भी कठिन हो गया है। अतः यहाँ के कार्य की व्यवस्था कैसे की जाए यह गम्भीर प्रश्न मेरे और आचार्यवर के स्वर्गवास के अवसर पर यहाँ आए हुए रामलाल कपूर परिवार के सदस्यों के सन्मुख उपस्थित हुआ। प्रत्येक शुभ कामना से आरम्भ किए गए कार्य में प्रभु सदा साथ देता है, इस लोकोक्ति के अनुसार दैवेच्छा से प्रेरित होकर श्री पं० विजयपाल जी, जिन्होंने पूज्य आचार्यवर से ही अध्ययन किया और ४-५ वर्ष से निरन्तर सभी कार्यों में पूज्य गुरुवर्य को सहयोग दे रहे थे, ने यहाँ विद्यालय, पुस्तकालय तथा वेदवाणी कार्यालय की व्यवस्था को यथापूर्व चालू रखने में अपना पूर्ववत् सहयोग देते रहने की सात्त्विक भावना प्रकट की। इस स्वीकृति से मैं विशिष्ट चिन्ता से मुक्त हो गया, पर अन्तिम उत्तरदायित्व और देखभाल का भार मेरे ऊपर ही रहा।

मैं दो चार मास के अन्तर से यहाँ की व्यवस्था देखने और नए कार्यों की व्यवस्था करने के लिए यहाँ आता रहा। लगभग एक वर्ष की अवधि में पं० विजयपाल जी ने जिस लगन और योग्यता से यहाँ के सभी कार्यों की व्यवस्था को यथावत् चालू रखने का प्रयत्न किया है उससे मुझे विश्वास हो गया है कि पूज्य आचार्य द्वारा लगाये गये और

उनके तप से पोषित इस पौधे के सूखने की आशंका दूर रही, सदा उत्तरोत्तर पुष्पित और फलित होगा। इस सारी व्यवस्था में आश्रम के ज्येष्ठ ब्रह्मचारियों का भी बड़ा योग रहा। इन सब के प्रति शुभकामना करता हूँ। आशा है कि भविष्य में भी ये सब इसी प्रकार सहयोग पूर्वक अध्ययन अध्यापन में लगे रहेंगे और पूज्य आचार्यवर द्वारा आरम्भ किए गए आर्षपाठविधि के क्रम का संसार में प्रसार करेंगे।

अष्टाध्यायी भाष्य की पूर्ति

श्री पूज्य गुरुवर्य द्वारा किए गए अष्टाध्यायी भाष्य की पूर्ति का भी एक महान् प्रश्न उपस्थित हुआ। यदि यह भाष्य पूरा न हो तो आचार्यवर का किया गया सारा परिश्रम ही व्यर्थ हो जाता है, यह सोचकर मैंने सर्वप्रथम इसे ही पूरा करने का संकल्प किया। पूज्य गुरुवर्य लगभग सवा पाँच अध्याय का भाष्य लिख पाए थे। उसमें भी चतुर्थ पञ्चम अध्याय का भाष्य पाण्डुलिपि (रफ कापी) के रूप में था और आगे पौने तीन का भाष्य लिखना शेष था।

इस महान् कार्य को पूरा करने के लिए विदुषी प्रज्ञाकुमारी का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ। इन्होंने भी व्याकरण निरुक्त आदि शास्त्रों का अध्ययन पूज्य आचार्यवर से ही किया है और अष्टाध्यायी भाष्य की रचना तथा लेखन में पूर्ण सहयोग दिया है। यदि यह कहा जाय कि श्री प्रज्ञाकुमारी अष्टाध्यायी भाष्य के लेखन कार्य में आचार्यवर के साथ न लगतीं तो आचार्यपाद इस महान् कार्य को न कर पाते, अत्युक्ति न होगी। अवशिष्ट कार्य में इनका सहयोग प्राप्त होने से मेरा भार बहुत हल्का हो गया है।

द्वितीय भाग का मुद्रण

अष्टाध्यायी भाष्य के द्वितीय भाग के मुद्रण और प्रकाशन का प्रश्न मेरे सामने प्रमुख रूप से था। श्री पूज्य गुरुवर्य शेष ग्रन्थ के आकार की दृष्टि से द्वितीय भाग में चतुर्थ पञ्चम अध्यायों के साथ षष्ठाध्याय के तीन पाद भी रखना चाहते थे; परन्तु मैंने विषय विभाग की दृष्टि से चतुर्थ पञ्चम अध्याय ही इस भाग में रखना उचित समझा। चतुर्थ

पञ्चम अध्यायों में तद्धित प्रत्ययों का विधान है और अगले षष्ठ सप्तम अष्टम तीनों अध्याय प्रक्रिया प्रधान हैं।

इस भाग की श्री पूज्य आचार्यवर द्वारा लिखी गई पाण्डुलिपि का मैंने निरीक्षण किया। यत्र तत्र आवश्यक संशोधन किये और कई स्थानों पर कुछ उपयोगी टिप्पणियाँ भी दीं। इसकी पुनः प्रेस कापी लिखने का कार्य श्री प्रज्ञाकुमारी ने पूर्ण किया। मैंने अगस्त मास में वाराणसी आकर द्वितीय भाग के मुद्रण की तारा यन्त्रालय में व्यवस्था की कुछ फार्म मेरे काशी रहते हुए छप भी गये। मैं स्वास्थ्य के कारण काशी में अधिक न रह सकता था, अजमेर मुद्रणपत्र (प्रूफ) आने जाने में बहुत समय लगता, अतः कार्य को शीघ्र पूर्ण करने के लिए आवश्यक था कि कि मुद्रण पत्रों (प्रूफों) के संशोधन की व्यवस्था काशी में ही की जाये। इस परिश्रम साध्य कार्य को श्री पं० विजयपाल जी, विदुषी प्रज्ञाकुमारी और ब्र० सुद्युम्न ने बहुत परिश्रम और पूर्ण सहयोग से सम्पन्न किया। इन्हीं के सहयोग से द्वितीय भाग इतना शीघ्र प्रकाशित करने में मैं समर्थ हो सका, अन्यथा बहुत विलम्ब हो जाता।

तृतीय भाग की पूर्ति

अष्टाध्यायी भाष्य के तृतीय भाग को पूर्ण करने का भार विदुषी प्रज्ञाकुमारी ने स्वीकार किया है और वे इसमें लगी हुई हैं। यह कार्य अधिक कठिन है इसमें पर्याप्त समय लगेगा। पुनरपि तृतीय भाग को अगले वर्ष के अन्त तक प्रकाशित करने की पूर्ण चेष्टा की जायेगी।

आर्थिक सहयोग

अष्टाध्यायी भाष्य के प्रथम भाग के लेखन और मुद्रण कार्य के लिए झरिया निवासी श्री श्रेष्ठिवर्य मदनलालजी अग्रवाल ने लगभग १०००० दस सहस्र रुपये की सहायता की थी।

द्वितीय भाग के मुद्रण के लिए श्री भ्राता महेन्द्रकुमार जी कपूर (बम्बई) की प्रेरणा से माननीय धर्मानुरागी श्री बा० देवीचन्द जी मेहरा बम्बई ने ५००० पाँच सहस्र रुपया "श्री जिज्ञासु स्मारक निधि" में दिया है। आपने इस सत्सहयोग से हमें इस भाग के मुद्रण व्यय की

महेन्द्रकुमार जी का अत्यन्त अनुगृहीत हूँ और आशा करता हूँ आप इसी प्रकार आगे भी हमें सदा सहयोग देते रहेंगे।

वम्बई के सुरभारती के विशिष्ट अनुरागी राजा श्री गोविन्दलाल बंसीलाल जी (बम्बई) ने अष्टाध्यायी भाष्य के कार्य पूर्ति के लिए एक सहस्र रुपया देने का हमें आरम्भ में ही वचन दिया था। आपने ५००) पाँच सौ रुपया दे दिया है, और शेष पाँच सौ ग्रंथ मुद्रण के पश्चात् भेजेंगे, ऐसा कहा है। इतना ही नहीं, आपने अपने अनुज राजा श्री नारायणलाल जी को भी इस अष्टाध्यायी भाष्य के महान् कार्य के लिए सहयोग देने की प्रेरणा की है। आशा है आप की सहायता भी शीघ्र प्राप्त हो जायेगी। इस सत्कार्य के लिए श्री राजा जी का मैं अत्यन्त अनुगृहीत हूँ और आशा करता हूँ कि आप इसी प्रकार हमें उत्साहित करते रहेंगे।

श्री जिज्ञासुस्मारक निधि में ३० नवम्बर १९६५ तक ११६१२-०० ग्यारह सहस्र छ सौ बारह रुपये प्राप्त हुए हैं। इनमें श्री बा० देवीचन्द जी मेहरा के ५०००-०० पाँच सहस्र भी रुपये सम्मिलित हैं।

तृतीय भाग के तैयार करने और मुद्रण में न्यूनातिन्यून १०००० दस सहस्र रुपया लगेगा ऐसा हमारा अनुमान है। इससे अधिक लग सकता है कम नहीं। अतः उसके मुद्रण के लिए भी हमें धन की परम आवश्यकता है। प्रभु इस शुभ कार्य के लिए भी किसी के अन्तःकरण में अवश्य प्रेरणा करेंगे।

कृतज्ञता प्रकाशन

सबसे पूर्व मैं उन सभी महानुभावों के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना अपना कर्तव्य समझता हूँ जिन्होंने मेरी प्रार्थना पर स्वर्गीय श्री पूज्य गुरुवर्य की स्मृति में स्थापित "श्री जिज्ञासु स्मारक निधि" में अपनी शक्ति के अनुसार धन देने की कृपा की है तथा इस निधि के लिए धन देने की सत्प्रेरणा वा संग्रह का सत्कार्य किया है। आशा है श्री पूज्य आचर्यवर के शिष्य भक्त वा प्रेमीजन इस निधि में मुक्त-हस्त से दान देकर पूज्य गुरुवर्य के अवशिष्ट कार्यों को पूर्ण करने में हमारा इसी प्रकार सहयोग करेंगे।

तारा यन्त्रालय के अधिपति श्री आनन्दशंकर जी पाण्डेय प्रभृति महानुभावों का भी धन्यवाद करता हूँ कि जिन्होंने अन्य कार्यों में व्यासक्त होते हुए भी अत्यन्त प्रेम-उदारता-परिश्रम-और सौजन्यता से इस ग्रंथ को सुन्दर और यथासम्भव शीघ्र मुद्रण करने की कृपा की है।

श्री पं० विजयपाल जी, विदुषी प्रज्ञाकुमारी और ब्र० सुद्युम्न ने इस ग्रन्थ के प्रूफ संशोधन आदि कार्य सुचारु रूप से किया है। इन सबके प्रति मैं शुभकामना करता हूँ और आशा करता हूँ कि आगे भी श्रीगुरुवर्य के कार्यों में इसी प्रकार सहयोग देते रहेंगे। वस्तुतः यह कार्य इन्हीं का है, मैं तो निमित्तमात्र हूँ।

पाणिनि महाविद्यालय
मोतीझील, वाराणसी–६

विदुषां वशंवदः—
युधिष्ठिर मीमांसक

आर्ष पाठ-विधि के उद्धारक और प्रसारक

स्वर्गीय आचार्यवर श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु

का

स्वलिखित जीवन-परिचय

[आचार्यपाद के हम शिष्य तथा अनन्य भक्तजन आप से जन्मस्थान आदि के विषय में बराबर पूछते रहे, परन्तु आप ने कभी भी नहीं बताया। यह भी एक संयोग की बात है कि राष्ट्रपति द्वारा सम्मानित होने के अवसर पर उन्होंने आप का परिचय माँगा और आप ने न चाहते हुए भी सन् १९६३ के आरम्भ में लिखकर उन्हें भेजा। उसी की प्रतिलिपि आपके स्वर्गवास के पश्चात् आपके कागजों में मिली। यदि राष्ट्रपति द्वारा परिचय न माँगा गया होता तो आर्य जनता इस संक्षिप्त पूर्ववृत्त से भी अनभिज्ञ रहती। हम यह संक्षिप्त परिचय आचार्यपाद के शब्दों में ही उपस्थित कर रहे हैं। एक दो स्थान पर वाक्य-विन्यास मात्र ठीक किया गया है। यु० मी०]

जन्म—१४ अक्टूबर सन् १९८२ ई०।

जन्मस्थान—मल्लूपोता-थाना बंगा-जि० जालन्धर, पंजाब।

पितृनाम—रामदास। माता का नाम-परमेश्वरी। सारस्वत ब्राह्मण, पाठक गोत्र। पट्टी, जिला होशियारपुर से निकास। माता का गोत्र महजपाल।

पूर्वनाम—पिताजी का प्यार का नाम मौजगोविन्द, प्रचलित नाम रूमुराम। गुरु द्वारा दिया नाम-ब्रह्मदत्त जिज्ञासु।

अध्ययन—माता पिता दोनों अनपढ़ थे, नाना संस्कृत के महाविद्वान् थे। महनपुर लहनी बलाचौर के निवासी थे। पिता गुरुमुखी में

हस्ताक्षर करना जानते थे। चक नं० ९६ बंगा जि० लायलपुर (पाकिस्तान) में ठेकेदार के मुंशी थे। उक्त ग्राम में निवास करते हुए चक नं० ६७ जौहल जि० लायलपुर (वर्तमान पाकिस्तान) में प्राइमरी स्कूल की प्रथम श्रेणी में उर्दू पढ़ना आरम्भ किया। बालकपन में खरबूजे को सूँघकर बता देता था कि कौन सा मीठा निकलेगा। दूसरी-तीसरी श्रेणी में गुरुदासपुर पंजाब में गवर्नमेंट हाईस्कूल में पढ़ने लगा। ६ वर्ष की आयु में माता पिता दोनों का देहान्त हो चुका था। अनाथ अवस्था में सरदार बहादुर जवाहरसिंह जी ठेकेदार ने १६०३ ई० तक पालन किया और पढ़ाया। १६०३ से १९१२ ई० तक जन्मभूमि के ग्राम में परिवार वालों ने गुरुदासपुर से बुलाकर मल्लूपोता में पढ़ाना और पालन आरम्भ किया। श्री छन्नूराम जी (ग्राम में सबसे बड़े धनी) रिश्ते में बाबा तथा उनकी विधवा पुत्री श्रीमती रली देवी (बुआ जी) ने अत्यन्त प्यार से पाला और पढ़ाया। गाँव के प्राइमरी स्कूल में उर्दू की ५ श्रेणी १९०५ में और वरनैकुलर मिडिल स्कूल बंगा में मार्च १६०८ में उर्दू मिडिल पास किया। तत्पश्चात् अनाथ होने से आगे पढ़ाई का कोई प्रबन्ध न था कि अकस्मात् छाना हाईस्कूल जालन्धर (जिसमें महात्मा मुंशीराम पश्चात् स्वामी श्रद्धानन्द जी मैनेजर थे) में मास्टर बंशीलाल तथा मास्टर शिवदयाल जी की असीम कृपा से आर्य बोर्डिंग हाउस कोट किशनचन्द में भोजन व्यय निःशुल्क हो जाने से तथा मास्टर सुन्दरसिंह जी हैडमास्टर द्वारा द्वाबा (आर्य) हाईस्कूल जालन्धर में निःशुल्क कर देने से जूनियर स्पेशल में पढ़ने लगा। सीनियर स्पेशल में विशेष प्रार्थना करके संस्कृत पढ़ने लगा। ६-१० श्रेणी में भी संस्कृत पढ़ी। जौहल गुरुदासपुर तथा गाँव में तो श्रेणी में प्रायः प्रथम रहा। पढ़ाई और व्यायाम का भी सदा मानीटर रहा। मिडिल में योग्यतम छात्रों में था। जूनियर सीनियर में भी अच्छा रहा। ९-१० श्रेणी में प्रायः सभी विषयों में सदा प्रथम रहा, संस्कृत में भी अंग्रेजी में भी। जितने भी अध्यापक रहे—जिनमें मोलवी, पण्डित, एवं मास्टर थे, प्रायः सबका ही अत्यन्त प्रेम तथा कृपा रही। मिडिल के पश्चात् हिन्दी का प्रारम्भ अपनी बड़ी विधवा बहिन कर्मदेवी (मेला देवी) से किया जो **"शन्नो देवी"** की सन्ध्या करती थीं जो मैं नहीं जानता था, जिसने बाल्यकाल में गोदी में खिलाया भी था। घर वाले सन्ध्यादि में सर्वथा

शून्य थे, पुरोहिताई थी, पर जाता न था न ही इसका [कोई] परिज्ञान था। घर के पीछे मस्जिद में बाँग होती थी और याद हो गई थी। पीछे भजनों द्वारा आर्य समाज का पता लगा जो आर्य स्कूल में दृढ़ हो गया। सत्यार्थप्रकाश हाथ लगा, जिसने मुझ पर अलौकिक प्रभाव किया।

गृहत्याग—सन् १९१२ में आर्यसमाज, ऋषि दयानन्द कृत सत्यार्थ-प्रकाश आदि की गहरी छाप पड़ी और श्रेणी में प्रथम रहने तथा अच्छी संगति के कारण संस्कृत पढ़ने, विशेषतया आर्ष ग्रन्थों (अष्टाध्यायी-महाभाष्य तथा वेदादि) के अध्ययन तथा ईश्वर प्राप्ति का दृढ़ संकल्प लेकर ५ जून १९१२ की रात्रि में ही जालन्धर से गृह त्याग किया। ५: वर्ष गुम रहा। बीच में लाहौर स्टेशन पर १८ वर्ष पीछे ग्राम के एक सज्जन ने गाड़ी में पहचान लिया। गाँव जाने का विशेष आग्रह किया, पर उसे पूरा पता नहीं बताया। चचेरे भाई बीरबल जी हरिद्वार घाट पर दीखे तो मुख पर कपड़ा कर लिया, जिससे वे पहिचान न सके। मैं बच गया। माता पिता थे नहीं, पीछा करता भी कौन? करता भी तो······। प्रभु ने पूरी कृपा की, नहीं तो वैनकोवर (अमेरिका) में चचेरे भाई के साथ सोना (वा रुपया) कमाता होता !!

संस्कृत अध्ययन—स्वर्गीय पूज्य स्वामी पूर्णानन्द जी सरस्वती (भूतपूर्व मास्टर सुखदयाल जी) के पास ला० वैनीप्रसाद जी के यहाँ कनखल में पहुँचा। स्वामी जी ने गुरुकुल कांगड़ी के अध्यापन-काल में अष्टाध्यायी आदि ग्रन्थ काशी के बड़े विद्वान् पं० काशीनाथजी से पढ़े थे। यह बड़े योग्य और त्यागी तपस्वी तीव्र-बुद्धि बाल-ब्रह्मचारी ऋषि दयानन्द तथा आर्ष ग्रन्थों के परमभक्त थे। गुरुकुल बदायूँ तथा काशी में भी पढ़े थे। अष्टाध्यायी के १०० सूत्र प्रतिदिन पेड़ पर चढ़कर याद किया करते थे। उन्होंने अपनी बहिन सुनीति देवी का विवाह स्वामी श्रद्धानन्द जी के धर्मपुत्र धर्मपाल (अब्दुल गफ़ूर) के साथ करने का निश्चय किया था और उसके आचारहीन होने का पता लगने पर नहीं किया था। इन स्वामी पूर्णानन्द जी से संस्कृत पढ़ना आरम्भ किया। वेदांगप्रकाश, उपनिषद्, अष्टाध्यायी आदि पढ़ने लगा। महाविद्यालय ज्वालापुर वालों के अत्यन्त निराश करने पर भी कि अष्टाध्यायी से व्याकरण नहीं आता-अष्टाध्यायी नहीं हो सकती, यह

कहने पर भी अष्टाध्यायी में पूर्ण निष्टावान् था, उन्हें उत्तर दिया कि "अष्टाध्यायी के आठ अध्यायों में ३२ पाद हैं, यदि सारे जीवन में एक पाद भी पढ़ लिया तो सफल समझूँगा। शेष अगले जन्म में करूँगा।" इतने दृढ़ संकल्प से आर्ष ग्रन्थों के पढ़ने का उद्‌देश्य लेकर उक्त स्वामी जी महाराज के चरणों में कनखल मुरादाबाद वृन्दावन लखनऊ रायबरेली अमेठी डलमऊ मसूरी देहरादून काश्मीर पठानकोट लखनौती गंगोह मुलतान, रघुराजगंज आदि नगरों-पहाड़ों की पैदल एवं रेलादि यात्रा में भिक्षावृत्ति से रहकर तथा अन्त में लगभग ३ वर्ष डलमऊ (जि० रायबरेली) गंगा तट पर एकान्त वास में रहकर उक्त स्वामी जी से अष्टाध्यायी महाभाष्य[१] निरुक्तादि पढ़ता रहा। अष्टाध्यायी एक दिन में एक पाद कण्ठस्थ कर लेता था। ऋषि दयानन्दकृत ग्रन्थों का गहरा अध्ययन एवं अनुशीलन उक्त स्वामीजी से किया। मेरे में जो अवगुण हैं वे मेरे हैं, यदि कोई गुण है वा जो ऋषि दयानन्द और आर्ष ग्रन्थों में गहरी भक्ति है वह सब उक्त स्वामी जी की ही देन है। इस प्रकार जून १९१२ से सितम्बर १९१८ तक लगभग ६ वर्ष उक्त स्वामी जी के चरणों में उत्तर भारत में रहा।

अज्ञातवास—सितम्बर १९१८ मे विशेष घटनावश ज्वरावस्था मे ही खुर्जा जि० बुलन्दशहर से उक्त स्वामी जी से पृथक् होकर ग्राम अरनिया जिला बुलन्दशहर में ठाकुर हरज्ञानसिंह जी चौहान राजपूत के चौपाल तथा बगीचे (जंगल) में भिक्षावृत्ति करते हुए बीमार रहा, उन्होंने मेरी बड़ी सेवा की। ब्रह्म जिज्ञासु के नाम से अज्ञातवास में रहा। उस समय में तथा पीछे भी योगियों महात्माओं की खोज में गंगा तट पर विचरता रहा। कई मिले भी—उनसे लाभ उठाया। यह भूमि बहुत ही उपयुक्त प्रतीत हुई।

कार्यकाल १९२० से १९४७ तक—अध्यापन तथा अध्ययन—सन् १९२० ई० में साधु आश्रम (पुल काली नदी) हरदुआगंज जि० अलीगढ़

१. स्वर्गीय श्री स्वामी पूर्णानन्द जी ने आज से लगभग ४-५ वर्ष पूर्व महाभाष्य का संक्षिप्त हिन्दी अनुवाद किया था (यह श्री आचार्यवर के संग्रह में सुरक्षित है)। इससे पूज्य स्वामी जी महाराज का व्याकरण-शास्त्र का पाण्डित्य स्वतः प्रकट होता है। खेद है यह मुद्रित होकर प्रकाश में न आ सका। यु० मी०

में स्वर्गीय वीतराग स्वामी सर्वदानन्दजी महाराज से एक घटना घटी, जिसे जीवन की विशेष घटना कहा जा सकता है। उक्त आश्रम से लघु-कौमुदी सिद्धान्त-कौमुदी का सर्वथा बहिष्कार हुआ। अष्टाध्यायी की स्थापना होने से वहाँ अध्यापन कार्य आरम्भ किया। वीतराग स्वामी सर्वदानन्दजी महाराज से उपनिषद् पढ़ी और एक वर्ष पीछे धन की कमी के कारण गण्डासिंहवाला (अमृतसर) में विरजानन्द आश्रम में महाविद्वान् श्री पं० शंकरदेव जी के साथ अष्टाध्यायी का अध्यापन कार्य किया। स्वयं भी आर्ष ग्रन्थों का स्वाध्याय करता रहा। लगभग ४ वर्ष वहाँ काम किया। बीच में लगभग १० मास भरतपुर-मथुरा-आगरा आदि में स्वामी श्रद्धानन्द जी तथा महात्मा हंसराज जी की अध्यक्षता में १९२३ ई० में मलकानों की शुद्धि का कार्य अपने सहपाठी पं० अखिलानन्द जी झरिया के साथ बड़ी सफलता से किया। दूसरी बार सन् २६ से २८ तक स्वामी श्रद्धानन्द जी के बलिदान पर पूज्य गुरुवर तिवारी जी की प्रेरणा एवं माननीय पं० मदनमोहन मालवीयजी का पाँच सौ रुपये मासिक की सहायता से काशी के पण्डितों एवं सन्यासियों की अन्तरंग सभा द्वारा काशी हिन्दू शुद्धि सभा के मन्त्री रूप में पं० केदारनाथ सारस्वत, स्वामी रामानन्द, म० म० पं० देवीप्रसाद जी कविचक्रवर्ती आदि के सहयोग से कार्य किया। जब कि पं० गोपाल शास्त्रीजी जेल में थे। इन सबमें तथा आगे काशी में आचार्य श्री पं० शंकरदेव जी मेरे साथी रहे। काशी में पहिली बार हम लोग कुछ छात्रों सहित जनवरी सन् १९२६ से अप्रैल १९२८ तक रहे। क्षेत्रों में भोजन करते हुए अपने छात्रों को भोलाशाह के बगीचे (करणघण्टा) में पढ़ाते थे और स्वयं व्याकरण के सूर्य श्री पं० देवनारायण तिवारीजी से सम्पूर्ण महाभाष्यादि पढ़ते रहे। श्री पं० ढुण्ढिराज जी शास्त्री, पं० गिरीशजी शुक्ल तथा गोस्वामी दामोदर लाल जी से प्राचीन दर्शनों का पूरा अध्ययन किया। सन २८ से ३१ तक राम भवन अमृतसर में युधिष्ठिर आदि छात्रों को सम्पूर्ण महाभाष्य तथा निरुक्तादि पढ़ाता रहा। वैदिक वाङ्मय तथा प्राचीन इतिहास के मर्मज्ञ पं० भगवद्दत्तजी से रिसर्च का ज्ञान प्राप्त हुआ। सन् १९३१ मे महात्मा हंसराज जी की विशेष प्रेरणा से उनके सभापतित्व मे पं० विश्वबन्धु शास्त्री एम० ए०, पं० राजाराम शास्त्री तथा पं० चारुदेव शास्त्रीजी से 'निरुक्त और वेद में इतिहास' विषय पर

लाहौर में ५ दिन शास्त्रार्थ किया। जिसमें समाधानपक्ष में मुख्य नाम ब्रह्मदत्त जिज्ञासु का था। दुबारा काशी में सन् १९३१ से ३५ तक शीतला घाट पर विरजानन्द आश्रम राजमन्दिर में पूर्ववत् छात्रों को महाभाष्यादि पढ़ाते हुए स्वयं भारत में अद्वितीय मीमांसक श्री चिन्न-स्वामी शास्त्रीजी से तथा उनके शिष्य पं० पट्टाभिराम शास्त्री द्वारा सम्पूर्ण मीमांसा के सब ग्रन्थ, महान् वैदिक विद्वान् पं० रामभट्ट रटाटे जी से श्रौत, तथा अन्य विद्वानों से शेष सब दर्शन तथा साहित्य में मूल ग्रन्थों तथा वाक्यपदीय आदि का अध्ययन अनेक विद्वानों से काशी में किया। भर्तृहरि महाभाष्य की टीका छपनी आरम्भ हुई, उसका सम्पादन किया।

लाहौर रावी तट पर

सन् १९३६ से सन् १९४७ तक रावी तट शाहदरा लाहौर विरजानन्द आश्रम में छात्रों को अष्टाध्यायी महाभाष्य निरुक्त दर्शन तथा वेद के अध्यापन के साथ-साथ ब्राह्मण ग्रन्थों का विशेष अनुशीलन, यजुर्वेदभाष्य विवरण प्रथम भाग की तैयारी तथा छपना, परोपकारिणी सभा अजमेर सम्बन्धी अनेक कार्य [करता रहा इसी समय में] देवतावाद विषय पर पं० श्रीपाद दामोदर सातवळेकर जी के साथ कई मास तक लिखित शास्त्रार्थ हुआ। रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा विविध प्रकाशन कार्य हुआ। हैदराबाद सत्याग्रह में हमारे छात्र गये थे, कई मास तक आश्रम बन्द रहा। मार्च १९४७ से २३ अगस्त १९४७ तक, जब कि 'हिन्दू' लाहौर समाप्त हो चुका था हम सब रावी तट पर [ही] रहे, अन्त में हिन्दू सैनिकों द्वारा ट्रकों में भर कर लाहौर कैम्प में लाये गये और २८ अगस्त १९४७ को दैवयोग से बच कर अमृतसर पहुँचे। ५०-६० मन पुस्तकें जिनमें सैकड़ों हस्तलेख भी थे, वे सब भी जला दिये गये। लग-भग ९० मन पुस्तकें हम लोग ले आये थे।

१५ वर्ष से काशी में

सन् १९२५ से १९२८ ई० तक पहले काशी में रहे तथा सन् १९३१ से १९३५ तक दूसरी बार काशी में रहे। तीसरी बार १९४७ से २२ फरवरी सन् १९६२ ई० तक काशी मोतीझील में हैं, कल का पता नहीं। पाकिस्तान से निकलने को बाधित किये जाने पर अनेक स्थानों (गुरुकुल

कांगड़ी, गुरुकुल चित्तौड़गढ़, सरस्वती भवन अजमेर आदि) में (केवल पाँच वर्ष के लिए] स्थान मांगने पर भी सहयोग न मिलने पर मार्च सन् १९५० में पूरी तरह काशी में डेरा डाला। अक्टूबर सन् ४७ से फरवरी १९५० तक शुद्धि आदि कार्यों में समय लगाया। अन्त में मार्च १९५० में मोतीझील काशी में डेरा डाला गया कि जब तक अन्यत्र कोई स्थिर प्रबन्ध न हो, यहीं रहा जावे। यहाँ अष्टाध्यायी-महाभाष्य-निरुक्त-मीमांसा-श्रौत ब्राह्मण-वेदादि का अध्ययन अध्यापन विरजानन्द आश्रम के रूप में ५०) रु० मासिक किराये के मकान में चलता रहा। तत्पश्चात् अगस्त १९५३ से पाणिनि महाविद्यालय के रूप में पूर्ववत् चल रहा है जिसमें भारत के प्रायः सभी प्रान्तों से संस्कृत के एम० ए०, व्याकरणाचार्य, साहित्याचार्य, शास्त्री, बी० ए०, मैट्रिकादि डॉक्टरेट तथा व्यापारी आदि बहुत संख्या में शिविरों में तथा विद्यालय में पढ़ते रहे तथा इस समय भी पढ़ते हैं, जिनमें कोरिया-अमेरिकादि विदेशी छात्रों के अतिरिक्त मुसलमान आदि भी आकर निःशुल्क संस्कृत पढ़ते रहते हैं। जाति वा आयु का कोई प्रतिबन्ध नहीं। इस समय कई प्रौढ़ पठनार्थी बिना रटे अष्टाध्यायी पद्धति से संस्कृत तथा उसके व्याकरण का ज्ञान कर रहे हैं। कम से कम ४० दिन वा ६ मास में गीता-रामायणादि समझने वा साहित्य दर्शनादि के पढ़ने की सामर्थ्य हो जाती है। द्वादशसु वर्षेषु व्याकरणं श्रूयते (१२ वर्ष में व्याकरण होता है) के स्थान में चतुर्षु वर्षेषु व्याकरणं श्रूयते (चार वर्ष में व्याकरण पूरा होता है) कराया जाता है। काशी के प्रमुख विद्वान् म० म० पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी आदि विद्वान् अष्टाध्यायी पद्धति पर मुग्ध हैं। काशी के विद्वान् चकित हैं और कहते हैं कि जिज्ञासु जी ने कोई देवी सिद्ध की हुई है। वह देवी "अष्टाध्यायी" ही तो है। साथ में महाभाष्य-निरुक्त-श्रौत-मीमांसा-दर्शनादि के पाठ भी चलते रहते हैं।

योग्यता—लोग योग्यता पूछते हैं। योग्यता क्या बताई जावे। परीक्षा तो कोई पास की नहीं। न ही किसी छात्र को (पढ़ाने पर भी) अपने नाम से परीक्षा देने दी। हाँ, दयानन्द विद्यापीठ की परीक्षायें दिलाते हैं और महायज्ञ एवं आर्ष गुरुकुल एटा के संचालक स्वामी ब्रह्मानन्द जी आदि के सहयोग से उसका संचालन १९३८ से बराबर कर रहे हैं, जिसमें अष्टाध्यायी-महाभाष्य-निरुक्त-दर्शन एवं साहित्य आदि

की परीक्षायें होती हैं। हाँ, वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में जहाँ तक प्रतिकूल ग्रन्थ नहीं वहाँ तक की परीक्षा देने की (वह भी बाहिर) अनुमति अष्टाध्यायी समाप्त कर लेने पर दी जाने लगी है, जो पूर्णतया सम्मत नहीं।

कोई परीक्षा पास न होने पर भी लगभग ३० वर्ष से गवर्नमेंट संस्कृत कालेज बनारस—वर्त्तमान वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय की व्याकरण वेद आदि परीक्षाओं के आचार्य शास्त्री मध्यमादि का परीक्षक रहता आ रहा हूँ। काशी के कार्यों में संस्कृत वाङ्मय के सुयोग्य विद्वान् श्री डा० मङ्गलदेव शास्त्री जी का अत्यन्त सहयोग सदा रहा। पंजाब विश्वविद्यालय की शास्त्री के कई विषयों का परीक्षक रहा। गुरुकुल कांगड़ी, गुरुकुल वृन्दावन आदि अनेक संस्थाओं के विविध विषय का परीक्षक रहा। एम० ए० तथा आचार्यों को डाक्टरेट कराने में मार्ग प्रदर्शन, एवं पढ़ाना—पाणिनि महाविद्यालय द्वारा सैकड़ों प्रौढ़ पठनार्थियों को बिना रटे संस्कृत तथा संस्कृत व्याकरण की अष्टाध्यायी पद्धति द्वारा तैयार करना, निःशुल्क पढ़ाना आदि कार्य वर्षों से कर रहा हूँ।

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय की विद्वत् परिषत् (अकेडमिक कौंसिल) का निर्वाचित सदस्य, शिष्ट परिषत् (सिनेट) का सदस्य, कार्यकारिणी परिषत् (एक्जीक्यूटिव) का सदस्य हूँ। ऋषि दयानन्द की उत्तराधिकारिणी परोपकारिणी सभा अजमेर का सन् १९३६ ई० से सदस्य—सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा देहली के अन्तर्गत धर्मार्य सभा का सदस्य हूँ। काशी विद्वन्मण्डल का सदस्य हूँ। रामलाल कपूर ट्रस्ट का प्रधान हूँ। मासिक पत्रिका 'वेदवाणी' का सम्पादक हूँ। अखिल भारतवर्षीय वेद सम्मेलन तथा विद्वत् सम्मेलन लाहौर-मेरठ-कलकत्ता-मथुरा-गुरुकुल-वृन्दावन तथा गुरुकुल काँगड़ी आदि, खुरजा गोरखपुर आदि वेद सम्मेलनों का अध्यक्ष रहा। वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय द्वारा नियुक्त श्री बदरी नारायण संस्कृत महाविद्यालय जोशीमठ (गढ़वाल) के अध्यापकों की नियुक्ति के लिये कमीशन का सदस्य रहा। आर्य समाज के प्रायः सभी प्रमुख विद्वानों-नेताओं के आदर तथा प्रेम का पात्र रहा और हूँ। मेरे द्वारा बनाये वा सम्पादन किये ग्रन्थों में यजुर्वेद भाष्य विवरण प्रथम भाग—[ऋषि दयानन्द कृत] अष्टाध्यायी भाष्य

अजमेर [के] तीसरे चौथे अध्याय का सम्पादन, संस्कृत सरलतम विधि तथा रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित अनेक रिसर्च ग्रन्थ हैं। मेरे विषय में तथा शिष्यों का सामान्य परिज्ञान जनवरी १९६३ की मासिक टंकारा पत्रिका में मिल सकता है।

ये सब कार्य पाणिनि महाविद्यालय (मोतीझील) वाराणसी नं० ६ में रामलाल कपूर ट्रस्ट रिसर्च विभाग द्वारा हो रहे हैं। जहाँ लगभग ४० आलमारी (लगभग १८ हजार) पुस्तकें (पाकिस्तान लाहौर में ५०-६० मन नष्ट हो जाने पर भी) एक निजी[1] तथा ट्रस्ट का बृहत् पुस्तकालय है जिसमें अलभ्य पुस्तकें भारी संख्या में हैं। पाणिनि महाविद्यालय बिना किसी सहायता-अपील वा धन माँगने के चल रहा है जिसे देखकर सब चकित हैं जिसमें अनेक पठनार्थी भी तैयार हुए हैं और हो रहे हैं। ऋषिदयानन्द प्रदर्शित आर्ष-पाठविधि के विद्वान् भी तैयार हो रहे हैं। कुछ पुत्रियाँ भी तैयार हुई हैं, जो महाभाष्य आदि पढ़ाती हैं। राजकीय सहायता कुछ नहीं।

यह अति संक्षिप्त परिचय गत पचास ५० वर्ष से छिपा ही रहा। महामान्य राष्ट्रपति द्वारा सम्मान दिये जाने पर, सरकार द्वारा परिचय माँगा गया, तब न चाहते हुए यह सब भेद खोलना पड़ा[2]। दैवेच्छा बलीयसी !!!

---

१. आचार्यवर के स्वर्गवास के अनन्तर उनका निजी पुस्तकालय भी रामलाल कपूर ट्रस्ट के पुस्तकालय का ही अङ्ग बन गया है।

२. यह परिचय सन् १९६३ के आरम्भ में राष्ट्रपति को भेजा गया था।

—युधिष्ठिर मीमांसक

अथ चतुर्थोऽध्यायः

प्रथमः पादः

ङ्याप्प्रातिपदिकात् ॥४।१।१॥

ङ्याप्प्रातिपदिकात् ५।१॥ स०—ङी च आप् च प्रातिपदिकं च, ङ्याप्प्रातिपदिकम् तस्मात्.......समाहारो द्वन्द्वः ॥ ङी इत्यनेन ङीप्, ङीष्, ङीन् इत्येते प्रत्ययाः सामान्येन गृह्यन्ते, एवम् आप्शब्देनापि टाप्, डाप्, चाप् इत्येते प्रत्ययाः । *अर्थः*—अधिकारोऽयम्, आपञ्चमाध्यायपरिसमाप्तेः, इतोऽग्रे ङ्यन्तात्, आबन्तात्, प्रातिपदिकाच्च वक्ष्यमाणाः प्रत्ययाः भवन्ति ॥ उदाहरणान्यग्रिमसूत्रे द्रष्टव्यानि ॥

भाषार्थः—यह अधिकार सूत्र है, इसकी अनुवृत्ति ५।४।१६० तक जायेगी ॥ यहाँ से आगे ५।४।१६० तक के कहे हुये प्रत्यय [ङ्याप्प्रातिपदिकात्] ङ्यन्त, आबन्त तथा प्रातिपदिक से हुआ करेंगे ॥ ङी से यहाँ ङीप्, ङीष्, ङीन् तथा आप् से टाप्, डाप्, चाप् का सामान्य करके ग्रहण है ॥

स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्ङसिभ्याम्भ्यस्ङसोसाम्ङ्योस्सुप् ॥४।१।२॥

स्वौ...ङ्योस्सुप् १।१॥ स०—सु च, औ च, जस् च, अम् च, औट् च शस् च टा च भ्यां च भिस् च ङे च भ्यां च भ्यस् च ङसि च भ्यां च भ्यस् च ङस् च ओस् च आम् च ङि च ओस् च सुप् च, स्वौजस०... सुप्, समाहारो द्वन्द्वः । *अनु०*—ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सु, औ, जस्, अम्, औट्, शस्, टा, भ्याम्, भिस्, ङे, भ्याम्, भ्यस्, ङसि, भ्याम्, भ्यस्, ङस्, ओस्, आम्, ङि, ओस्, सुप्, इत्येते प्रत्ययाः ङ्याप्प्रातिपदिकाद् भवन्ति ॥ *उदा०*—ङीप्—कुमारी कुमार्यौ कुमार्यः । कुमारीम् कुमार्यौ कुमारीः । कुमार्या कुमारीभ्याम् कुमारीभिः । कुमार्यै कुमारीभ्याम् कुमारीभ्यः । कुमार्याः कुमारी-

भ्याम् कुमारीभ्यः । कुमार्याः कुमार्योः कुमारीणाम् । कुमार्याम् कुमार्योः कुमारीषु । हे कुमारि हे कुमार्यौ हे कुमार्यः ॥ ङीप्—गौरी गौर्यौ गौर्यः, एवं सप्तविभक्तिषु रूपाणि कुमारीवत् ज्ञेयानि । ङीन्—शार्ङ्गरवी, शिष्टं कुमारीवत् । टाप्—खट्वा खट्वे खट्वाः । खट्वाम् खट्वे खट्वाः । खट्वया खट्वाभ्याम् खट्वाभिः । खट्वायै खट्वाभ्याम् खट्वाभ्यः । खट्वायाः खट्वाभ्याम् खट्वाभ्यः । खट्वायाः खट्वयोः खट्वानाम् । खट्वायाम् खट्वयोः खट्वासु । हे खट्वे हे खट्वे हे खट्वाः ॥ डाप्—बहुराजा बहुराजे, एवं पूर्ववत् सप्तविभक्तिषु ज्ञेयानि । चाप्—कारीषगन्ध्या, शिष्टं खट्वावद् ज्ञेयम् ॥ प्रातिपदिकात्—दृषत् दृषद् दृषदौ दृषदः । दृषदम् दृषदौ दृषदः । दृषदा दृषद्भ्याम् दृषद्भिः । दृषदे दृषद्भ्याम् दृषद्भ्यः । दृषदः दृषद्भ्याम् दृषद्भ्यः । दृषदः दृषदोः दृषदाम् । दृषदि दृषदोः दृषत्सु । हे दृषत् हे दृषद् हे दृषदौ हे दृषदः ॥

भाषार्थ—[*स्वौज......सुप्*] सु, औ, जस् आदि २१ प्रत्यय सभी ङ्यन्त, आबन्त तथा प्रातिपदिकों से होते हैं ॥

स्त्रियाम् ॥४।१।३॥

स्त्रियाम् ७।१॥ *अर्थः*—अधिकारोऽयम्, *समर्थानां प्रथमाद्वा* (४।१।८२) इत्यस्मात् पूर्वं पूर्वम् ॥ इतोऽग्रे वक्ष्यमाणाः प्रत्ययाः स्त्रियां = स्त्रीलिङ्गे भविष्यन्ति ॥ उदाहरणान्यग्रे द्रष्टव्यानि ॥

भाषार्थ—[*स्त्रियाम्*] यह अधिकार सूत्र है, *समर्थानां प्रथमाद्वा* से पहले २ तक जायेगा । यहाँ से आगे के कहे हुये प्रत्यय प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग अर्थ में हुआ करेंगे ॥

विशेष—इस स्त्रियाम् के अधिकार में *ङ्याप्प्रातिपदिकात्* सम्पूर्ण सूत्र का अधिकार होने पर भी केवल प्रातिपदिकात् का ही आगे के स्त्री प्रत्यय विधायक सूत्रों में सम्बन्ध बैठता है 'ङ्याप्' का नहीं, क्योंकि ङी आप् का विधान तो इन्हीं सूत्रों से होता है, यह बात स्त्री प्रकरण में सर्वत्र ध्यान में रखनी चाहिये ॥

अजाद्यतष्टाप् ॥४।१।४॥

अजाद्यतः ५।१॥ टाप् १।१॥ *स०*—अज आदिर्येषां ते अजादयः, जादयश्च अत् च, अजाद्यत्, तस्मात् अजाद्यतः, बहुव्रीहिगर्भसमाहारो

भाषार्थः—[*उगितः*] उगिदन्त प्रातिपदिक से [च] भी स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है ॥

वनो र च ॥४।१।७॥

वनः ६।१॥ र लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ *अनु०*—स्त्रियाम्, ङीप्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—वन्नन्तात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति, रेफश्चान्तादेशो भवति ॥ *उदा०*—धीवरी, पीवरी, शर्वरी ॥ नान्तत्वान्ङीप् सिद्धः, रादेशार्थं वचनम् ।

भाषार्थः—[*वनः*] वन्नन्त प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है, [च] तथा उस वन्नन्त प्रातिपदिक को [र] रेफ अन्तादेश भी हो जाता है ॥ *विशेषः*—वनः में प्रत्यय विधानकाल में पञ्चमी विभक्ति तथा रेफ अन्तादेश करने में षष्ठी विभक्ति वाक्य भेद से माननी पड़ेगी, जिससे *अलोन्त्यस्य* (१।१।५१) से अन्तिम अल् को ही रेफादेश हो ॥ *उदा०*—धीवरी (कर्म करने वाली) । पीवरी (मोटी स्त्री) । शर्वरी (रात, या हल्दी) ॥ धीवन् पीवन् तथा शर्वन् शब्द नान्त हैं, सो ङीप् प्रत्यय पूर्वसूत्र (४।१।५) से सिद्ध है नकार को इस सूत्र से रेफादेश होकर धीवरी आदि बन गया ॥

पादोऽन्यतरस्याम् ॥४।१।८॥

पादः ५।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—स्त्रियाम्, ङीप्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—पादन्तात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो विकल्पेन भवति ॥ *उदा०*—द्विपदी, द्विपात्, त्रिपदी, त्रिपात्, चतुष्पदी, चतुष्पात् ॥

भाषार्थः—[*पादः*] पादन्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से ङीप् प्रत्यय होता है ॥ *संख्यासुपूर्वस्य* (५।४।१४०) सूत्र से समासान्त अकार लोप करके हलन्त पाद् शब्द का ग्रहण इस सूत्र में किया गया है, अतः इस सूत्र से समासान्त अकार लोप किये हुये पाद् शब्द से ही ङीप् विकल्प से होता है ।

यहाँ से 'पादः' की अनुवृत्ति ४।१।९ तक जायेगी ॥

टाबृचि ॥४।१।९॥

टाप् १।१॥ ऋचि ७।१॥ *अनु०*—स्त्रियाम्, पादः, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः परश्च ॥ *अर्थः*—ऋचि वाच्यायां पादन्तात् प्रातिपदिकात्

द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—प्रातिपदिकात्, स्त्रियाम्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अजादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽकारान्तेभ्यश्च स्त्रियां टाप् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अजा एडका कोकिला । अदन्तेभ्यः—देवदत्ता कृष्णा ॥

भाषार्थः—[*अजाद्यतः*] अजादि गण पठित प्रातिपदिकों से तथा अदन्त प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में [*टाप्*] टाप् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—अजा (बकरी), एडका (भेड़), कोकिला (कोयल), देवदत्ता (देवदत्ता नाम की स्त्री), कृष्णा (कृष्णा नामक स्त्री) ॥ पूर्ववत् खट्वा के समान (४।१।२) सिद्धि जाने । अज टाप् = अजा ॥

यहाँ से 'अतः' की अनुवृत्ति सम्पूर्ण स्त्री प्रकरण में जायेगी, जो कि सामर्थ्य से ही आगे के सूत्रों में बैठेगी । जहाँ हलन्त प्रातिपदिकों से स्त्री-प्रत्यय का विधान किया होगा, ऐसे स्थलों में असामर्थ्य होने से 'अतः' का संबन्ध न होगा ।

ऋन्नेभ्यो ङीप् ॥४।१।५॥

ऋन्नेभ्यः ५।३॥ ङीप् १।१॥ *स०*—ऋच्च नश्च ऋन्नाः, तेभ्यः = ऋन्नेभ्यः, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—ऋकारान्तेभ्यो नकारान्तेभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—ऋकारान्तेभ्यः—कर्त्री, हर्त्री । नकारान्तेभ्यः—दण्डिनी, छत्रिणी ॥

भाषार्थ—[*ऋन्नेभ्यः*] ऋकारान्त तथा नकारान्त प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में [*ङीप्*] ङीप् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से 'ङीप्' की अनुवृत्ति ४।१।२४ तक जायेगी ॥

उगितश्च ॥४।१।६॥

उगितः ५।१॥ च अ० ॥ *स०*—उक् (प्रत्याहार) इत् यस्य सोऽयमुगित् तस्मात्........बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—स्त्रियाम्, ङीप्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—उगिदन्तात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—भवती, अतिभवती, पचन्ती, यजन्ती ॥

स्त्रियां टाप् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—द्विपदा ऋक्, त्रिपदा ऋक्, चतुष्पदा ऋक् ॥

भाषार्थः—कृत समासान्त पादन्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में [*ऋचि*] ऋचा वाच्य हो तो [*टाप्*] टाप् प्रत्यय होता है ॥ पूर्व सूत्र से ङीप् विकल्प से प्राप्त था टाप् विधान कर दिया । *उदा०*—द्विपदा ऋक् (दो पाद वाली ऋचा) । त्रिपदा ऋक् (तीन पाद वाली ऋचा) ॥ परि० ४।१।८ के समान ही सिद्धि जानें, केवल टाप् ही विशेष है ॥

न षट्स्वस्रादिभ्यः ॥४।१।१०॥

न अ० ॥ षट्स्वस्रादिभ्यः ५।३॥ *स०*—स्वसा आदिर्येषां ते स्वस्रादयः, षट् च स्वस्रादयश्च, षट्स्वस्रादयस्तेभ्यः ....बहुव्रीहिगर्भेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षट्संज्ञकेभ्यः स्वस्रादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्य स्त्रियां प्रत्ययो न भवति ॥ *उदा०*—पञ्च ब्राह्मण्यः सप्त, नव, दश । स्वस्रादिभ्यः—स्वसा, दुहिता, ननान्दा, याता ॥

भाषार्थः—[*षट्स्वस्रादिभ्य*] षट् संज्ञक प्रातिपादिकों से तथा स्वस्रादि प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में विहित प्रत्यय [*न*] नहीं होता है ॥ यहाँ जिस शब्द से *ऋन्नेभ्यो०* (४।१।५) से ङीप्, तथा *अजाद्यतष्टाप्* से टाप् जो भी स्त्री प्रत्यय प्राप्त होते हैं, उन सबका यह निषेध है ॥

यहाँ से '*न*' की अनुवृत्ति ४।१।१२ तक जायेगी ॥

मनः ॥४।१।११॥

मनः ५।१॥ *अनु०*—न, ङीप्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—मन्नन्तात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो न भवति ॥ *उदा०*—दामा दामानौ दामानः । पामा पामानौ पामानः । सीमा सीमानौ सीमानः ॥

भाषार्थः—[*मनः*] मन्नन्त प्रातिपादिकों से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय नहीं होता ॥ नकारान्त होने से *ऋन्नेभ्यो ङीप्* से ङीप् प्राप्त था उसका निषेध कर दिया है ॥

अनो बहुव्रीहेः ॥४।१।१२॥

अनः ५।१॥ बहुव्रीहेः ५।१॥ *अनु०*—न, ङीप्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः परश्च ॥ *अर्थः*—अन्नन्तात् बहुव्रीहेः प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो न भवति ॥ *उदा०*—शोभनं पर्व अस्या इति सुपर्वा सुपर्वाणौ सुपर्वाणः। शोभनं चर्म अस्याः, सुचर्मा सुचर्माणौ सुचर्माणः ॥

भाषार्थः—[*बहुव्रीहेः*] बहुव्रीहि समास में जो [*अनः*] अन्नन्त प्रातिपदिक है उससे स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय नहीं होता ॥ पूर्ववत् ङीप् प्रत्यय प्राप्त था उसका निषेध कर दिया ॥ *उदा०*—सुपर्वा (जिसके अच्छे जोड़ हैं)। सुचर्मा (जिसका सुन्दर चमड़ा है)॥ यहाँ अस्वपद विग्रह समास है। *अनेकमन्य०* (२।२।२४) से समास आदि होकर नान्त होने से सुपर्वन् सुचर्मन् से ङीप् (४।१।५) प्रत्यय प्राप्त था, प्रकृतसूत्र ने उसका निषेध कर दिया है, तो दामा के समान ही सुचर्मा आदि बन गया ॥

डाबुभाभ्यामन्यतरस्याम् ॥४।१।१३॥

डाप् १।१॥ उभाभ्याम् ५।२॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—उभाभ्याम्=मन्नन्तात् प्रातिपदिकादन्नन्ताच्च बहुव्रीहेः प्रातिपदिकात् विकल्पेन स्त्रियाम् डाप् प्रत्ययो भवति। *उदा०*—मन्नन्तात् पामा पामे पामाः, सीमा सीमे सीमाः। न च भवति—पामा पामानौ पामानः, सीमा सीमानौ सीमानः। अन्नन्ताद् बहुव्रीहेः—बहवः राजानः सन्ति यस्यां सभायां, बहुराजा, बहुराजे बहुराजाः, बहुतक्षा बहुतक्षे बहुतक्षाः, सुपर्वा सुपर्वे सुपर्वाः। न च भवति-बहुराजा बहुराजानौ बहुराजानः। बहुतक्षा बहुतक्षाणौ बहुतक्षाणः। सुपर्वा सुपर्वाणौ सुपर्वाणः ॥

भाषार्थः—[*उभाभ्याम्*] दोनों से अर्थात् ऊपर कहे गये मन्नन्त प्रातिपादिकों से तथा बहुव्रीहि समास में जो अन्नन्त प्रातिपदिक उनसे स्त्रीलिङ्ग में [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से [*डाप्*] डाप् प्रत्यय होता है ॥

उदा०—मन्नन्त से—पामा पामे पामाः (खुजली)। सीमा सीमे सीमाः (हद मर्यादा)। पक्ष में जब डाप् नहीं हुआ तो मनः से ङीप्

का भी निषेध होकर पामा, पामानौ पामानः बना। अन्नन्त बहुव्रीहि से—बहुराजा, बहुराजे, बहुराजाः (बहुत राजाओं वाली सभा)। बहुतक्षा, बहुतक्षे, बहुतक्षाः (बहुत बढ़ई हैं जिस नगरी में)। पक्ष में जब डाप् नहीं हुआ तो *अनो बहुव्रीहेः* से ङीप् का भी निषेध होकर—बहुराजानौ बहुराजानः आदि प्रयोग बनेंगे॥ पामन् सीमन् आदि शब्दों से डाप् तथा टेः (६।४।१४३) से टि भाग (अन्) का लोप होकर पाम् आ = पामा बना, शेष सिद्धि डाप् पक्ष में परि० ४।१।२ के खट्वा के समान जानें। जब डाप् नहीं हुआ तो परि० ४।१।११ के दामा के समान सिद्धि जानें। शेष द्विवचन बहुवचन में पामन् औ = पामानौ, पामन् जस् = पामानः आदि में कुछ भी विशेष नहीं है॥

अनुपसर्जनात् ॥४।१।१४॥

अनुपसर्जनात् ५।१॥ *स०*—न उपसर्जनम् अनुपसर्जनम्, तस्मात्.......नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—स्त्रियाम्, प्रत्ययः॥ *अर्थः*—अधिकारोऽयम्। इतोऽग्रे वक्ष्यमाणाः स्त्रीप्रत्ययाः *दैवयज्ञिशौचि०* (४।१।८१) इति यावद् अनुपसर्जनात् भवन्ति॥ उपसर्जनं गौणम् अनुपसर्जनं = प्रधानम्॥ *उदा०*—कुरुषु चरतीति कुरुचरी, मद्रचरी॥

भाषार्थः—यह अधिकार सूत्र है। *दैवयज्ञिशौचि०* (४।१।८१) सूत्र तक जायेगा। यहाँ से आगे के प्रत्यय [*अनुपसर्जनात्*] अनुपसर्जन प्रातिपदिक से हुआ करेंगे उपसर्जन से नहीं॥

यहाँ *प्रथमानिर्दिष्टं०* (१।२।४३) से विहित उपसर्जन संज्ञा का ग्रहण नहीं किया गया, किन्तु उपसर्जन का अर्थ यहाँ गौण है, एवं अनुपसर्जन का अर्थ है प्रधान॥ उदाहरण में कुरु उपपद रहते चर धातु से *चरेष्टः* (३।२।१६) से ट प्रत्यय होकर कुरुचर बना है। अब यह कुरुचर शब्द अनुपसर्जन = प्रधान है क्योंकि कुरुचर में तत्पुरुष (२।२।१९) समास हुआ है, और तत्पुरुष समास उत्तरपद प्रधान होता है, अतः टित् लक्षण *टिड्ढाणञ्०* (४।१।१५) से ङीप् होकर कुरुचरी बना है॥ इसके विपरीत जहाँ टित् प्रत्ययान्त उपसर्जन अर्थात् गौण हैं यथा बहुकुरुचर शब्द है, उससे टित्लक्षण ङीप् नहीं होता। 'बहवः कुरुचराः सन्ति यस्याम् नगर्याम्' इति बहुकुरुचरा यहाँ बहुव्रीहि समास है। बहुव्रीहि

समास अन्य पदार्थ प्रधान होता है, समासगत पद उपसर्जन होते हैं, अतः टित् प्रत्ययान्त होते हुये भी अनुपसर्जन न होने से बहुकुरुचर शब्द से ङीप् नहीं होता, किन्तु *अजाद्यतष्टाप्* से टाप् होकर बहुकुरुचरा बनता है। यही बात आगे सर्वत्र स्त्रीप्रकरण में समझनी चाहिये ॥

टिड्ढाणञ्द्वयसज्दघ्नञ्मात्रच्तयप्ठक्ठञ्कञ्क्वरपः ॥४।१।१५॥

टिड्ढाण०……क्वरपः ५।१॥ *स०*—ट् इत् यस्य स टित्, बहुव्रीहिः। टित् च ढश्च अण् च अञ्च द्वयसच् च दघ्नच् च मात्रच् च तयप् च ठक् च ठञ् च कञ्च क्वरप् चेति टिड्ढाणञ्‌……क्वरप्, तस्मात्……समाहारो द्वन्द्वः॥ *अनु०*—अतः, ङीप्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—टित्, ढ, अण्, अञ्, द्वयसच्, दघ्नच्, मात्रच्, तयप्, ठक्, ठञ्, कञ्, क्वरप् इत्येवमन्तेभ्योऽनुपसर्जनेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—टित्—कुरुचरी, मद्रचरी। ढ—सौपर्णेयी, वैनतेयी। अण्—कुम्भकारी, नगरकारी, औपगवी। अञ्—औत्सी, औदपानी। द्वयसच्—उरुद्वयसी, जानुद्वयसी। दघ्नच्—उरुदघ्नी, जानुदघ्नी। मात्रच्—उरुमात्री, जानुमात्री। तयप्—पञ्चतयी, दशतयी। ठक्—आक्षिकी, शालाकिकी। ठञ्—लावणिकी। कञ्—यादृशी, तादृशी। क्वरप्—इत्वरी, नश्वरी, जित्वरी॥

भाषार्थः—[*टिड्ढा०……क्वरपः*] टित्, ढ, अण्, अञ्, द्वयसच्, दघ्नच्, मात्रच्, तयप्, ठक्, ठञ्, कञ्, क्वरप् प्रत्ययान्त अदन्त अनुपसर्जन प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है॥

यञश्च ॥४।१।१६॥

यञः ५।१॥ च अ०॥ *अनु०*—अतः, ङीप्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात् प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—अनुपसर्जनाद् यञन्तात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—गार्गी, वात्सी॥

भाषार्थः—अनुपसर्जन [*यञः*] यञन्त प्रातिपदिक से [*च*] भी स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है॥

यहाँ से 'यञः' की अनुवृत्ति ४।१।१८ तक जायेगी॥

प्राचां ष्फस्तद्धितः ॥४।१।१७॥

प्राचाम् ६।३॥ ष्फः १।१॥ तद्धितः १।१॥ *अनु०*—अतः, यञः, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात् प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अनुपसर्जनेभ्यो यञन्तेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः प्राचामाचार्याणां मतेन स्त्रियां ष्फः प्रत्ययो भवति, स च तद्धितसंज्ञको भवति ॥ *उदा०*—गार्ग्यायणी वात्स्यायनी। अन्येषां मते—गार्गी वात्सी ॥

भाषार्थः—अनुपसर्जन यञन्त प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में [*प्राचाम्*] प्राचीन आचार्यों के मत में [*ष्फः*] ष्फ प्रत्यय होता है और वह [*तद्धितः*] तद्धित संज्ञक होता है ॥ *उदा०*—गार्ग्यायणी (गर्ग की पौत्री) वात्स्यायनी। दूसरों के मत में—गार्गी, वात्सी। गार्ग्य यञन्त प्रातिपदिक से ष्फ होकर, 'फ' को आयन् तथा णत्व होकर गार्ग्यायण बना, अब ष्फ की तद्धित संज्ञा होने से *कृत्तद्धित०* (१।२।४६) से प्रातिपदिक संज्ञा होकर *षिद्गौरादिभ्यश्च* (४।१।४१) से ङीप् हो गया तो गार्ग्यायणी बन गया ॥

यहाँ से '*ष्फस्तद्धितः*' की अनुवृत्ति ४।१।१९ तक जायेगी ।

सर्वत्र लोहितादिकतन्तेभ्यः ॥४।१।१८॥

सर्वत्र अ० ॥ लोहितादिकतन्तेभ्यः ५।३॥ *स०*—लोहित आदिर्येषां ते लोहितादयः, बहुव्रीहिः। कत अन्ते येषां ते कतन्ताः[1] बहुव्रीहिः। लोहितादयश्च ते कतन्ताश्च लोहितादिकतन्ताः, तेभ्यः ...कर्मधारयतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—ष्फस्तद्धितः, अतः, यञः, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—यञन्तेभ्योऽनुपसर्जनेभ्यः कतपर्यन्तेभ्यो लोहितादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः सर्वत्र = सर्वेषां मते स्त्रियां ष्फः प्रत्ययो भवति, स च तद्धितसंज्ञको भवति ॥ *उदा०*—लौहित्यायनी, शांसित्यायनी, बाभ्रव्यायणी ॥

भाषार्थः—अनुपसर्जन यञन्त [*लोहितादिकतन्तेभ्यः*] लोहित से लेकर कत पर्यन्त प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग विषय में ष्फ प्रत्यय होता है

---

१. कत+अन्त यहाँ 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वक्तव्यम्' (वा० ६।१।९४) वार्त्तिक के नियम से पररूप होता है ॥

[सर्वत्र] सब आचार्यों के मत में, और वह तद्धित संज्ञक होता है ॥ लोहितादि गण गर्गादि गण के अन्तर्गत पढ़ा है, अतः यञ् प्रत्यय ४।१।१०५ से होकर प्रकृत सूत्र से ष्फ प्रत्यय हो जाता है। यहाँ भी तद्धित संज्ञा करने का पूर्वसूत्रोक्त फल ही है ॥ *उदा०*—लौहित्यायनी (लोहित की पौत्री)। शांसित्यायनी (शंसित की पौत्री)। बाभ्रव्यायणी (बभ्रु की पौत्री)॥ लौहित्य शांसित्य यञन्त प्रातिपदिकों से यहाँ ष्फ हुआ है। बभ्रु शब्द से *मधुबभ्र्वो०* (४।१।१०६) से यञ् हुआ है। *ओर्गुणः* (६।४।१४६) से गुण होकर बभ्रो बना, *वान्तो यि प्रत्यये* (६।१।७६) वान्तादेश होकर बाभ्रव्य बना, अब ष्फ होकर बाभ्रव्यायणी पूर्ववत् बन गया ॥

कौरव्यमाण्डूकाभ्यां च ॥४।१।१९॥

कौरव्यमाण्डूकाभ्याम् ५।२॥ च अ० ॥ *स०*—कौरव्यश्च माण्डूकश्च कौरव्यमाण्डूकौ ताभ्यां ..... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—ष्फस्तद्धितः, अतः, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—कौरव्य, माण्डूक इत्येताभ्याम् अनुपसर्जनाभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां स्त्रियां ष्फः प्रत्ययो भवति, स च तद्धितसंज्ञको भवति ॥ *उदा०*—कौरव्यायणी, माण्डूकायनी ॥

भाषार्थः—[*कौरव्यमाण्डूकाभ्याम्*] कौरव्य तथा माण्डूक अनुपसर्जन प्रातिपदिकों से [च] भी स्त्रीलिङ्ग में ष्फ प्रत्यय होता है, और वह तद्धित संज्ञक होता है ॥ *कुर्वादिभ्यो ण्यः* (४।१।१५१) से कुरु शब्द से ण्य प्रत्यय होकर, *ओर्गुणः* (६।४।१४६) *वान्तो यि०* (६।१।७६) लगाकर कौरव्य बना है, सो यहाँ टाप् प्राप्त था, इसी प्रकार मण्डूक शब्द से *ढक् च मण्डूकात्* (४।१।११९) से अण् होकर माण्डूक बना है, सो *टिड्ढाणञ्०* (४।१।१५) से ङीप् प्राप्त था, ष्फ विधान कर दिया है, शेष सिद्धि पूर्ववत् ही जानें ॥

वयसि प्रथमे ॥४।१।२०॥

वयसि ७।१॥ प्रथमे ७।१॥ *अनु०*—ङीप्, अतः, अनुपसर्जनात् स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रथमे वयसि वर्त्तमानेभ्योऽनुपसर्जनेभ्यो ऽदन्तेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—कुमारी, किशोरी, बर्करी ॥

भाषार्थः—[*प्रथमे*] प्रथम [*वयसि*] वयः = अवस्था में वर्त्तमान अनुपसर्जन अदन्त प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—कुमारी किशोरी (१६ वर्ष तक की लड़की) । बर्करी (तरुण बकरी) ॥ सिद्धि ४।१।२ के परि० में कर आये हैं ॥

द्विगोः ॥४।१।२१॥

द्विगोः ५।१॥ *अनु०*—ङीप्, अतः, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्विगुसंज्ञकादनुपसर्जनाददन्तात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—पञ्चपूली[1], दशपूली ॥

भाषार्थः—अनुपसर्जन अदन्त [*द्विगोः*] द्विगु संज्ञक प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है ॥ *संख्यापूर्वो द्विगुः* (२।१।५१) से द्विगु संज्ञा होती है । सिद्धि परि० २।१।५० (भाग १, पृष्ठ ८४२) में देखें ॥

यहाँ से '*द्विगोः*' की अनुवृत्ति ४।१।२४ तक जायेगी ॥

अपरिमाणबिस्ताचितकम्बल्येभ्यो न तद्धितलुकि ॥४।१।२२॥

अपरिमाण······ल्येभ्यः ५।३॥ न अ० ॥ तद्धितलुकि ७।१॥ *स०*—न परिमाणम् = अपरिमाणम्, नञ्तत्पुरुषः । अपरिमाणञ्च बिस्ता च आचितश्च कम्बल्यञ्च अपरि······कम्बल्यानि, तेभ्यः······इतरेतर-द्वन्द्वः ॥ तद्धितस्य लुक् तद्धितलुक्, तस्मिन्······षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—द्विगोः, ङीप्, अतः, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अकारान्ताद् अपरिमाणान्तात् द्विगोः बिस्ताचितकम्बल्यान्ताच्च द्विगुसंज्ञकात् प्रातिपदिकात् तद्धितलुकि सति स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो न भवति ॥ बिस्तादयः परिमाणवाचिनः शब्दा-स्तदर्थमत्र ग्रहणम् ॥ *उदा०*—अपरिमाणान्तात्—पञ्चाश्वा दशाश्वा, द्विवर्षा त्रिवर्षा, द्विशता त्रिशता । बिस्तादिभ्यः—द्विबिस्ता त्रिबिस्ता, द्व्याचिता त्र्याचिता, द्विकम्बल्या त्रिकम्बल्या ॥

---

१. पञ्चानां पूलानां समाहारः पञ्चपूली । 'अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यते' नियम से स्त्रीलिङ्ग होने पर इस सूत्र से ङीप् होता है ।

भाषार्थः—अदन्त [*अपरि·····ल्येभ्यः*] अपरिमाण, तथा बिस्ता, आचित और कम्बल्य अन्तवाले द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिकों से [*तद्धितलुकि*] तद्धित के लुक् हो जाने पर स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय [*न*] नहीं होता ॥ बिस्ता आचित आदि परिमाणवाची शब्द हैं, अतः इनमें भी निषेध प्राप्त कराने के लिये इनका ग्रहण है ॥ पूर्व सूत्र का ही यह अपवाद सूत्र है ॥

यहाँ से '*न तद्धितलुकि*' की अनुवृत्ति ४।१।२४ तक जायेगी ॥

काण्डान्तात् क्षेत्रे ॥४।१।२३॥

काण्डान्तात् ५।१॥ क्षेत्रे ७।१॥ *अनु०*—न, तद्धितलुकि, द्विगोः, ङीप्, अतः, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *स०*—काण्डः अन्ते यस्य स काण्डान्तस्तस्मात्·····बहुव्रीहिः ॥ *अर्थः*—काण्डशब्दान्तादनुपसर्जनात् द्विगोः तद्धितलुकि सति क्षेत्रे वाच्ये स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो न भवति ॥ *उदा०*—[*काण्डान्तात्*] द्वे काण्डे प्रमाणमस्याः क्षेत्रभक्तेः द्विकाण्डा क्षेत्रभक्तिः, त्रिकाण्डा क्षेत्रभक्तिः ॥

भाषार्थः—[*काण्डान्तात्*] काण्ड शब्दान्त अनुपसर्जन द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से तद्धित का लुक् हो जाने पर स्त्रीलिङ्ग में [*क्षेत्रे*] क्षेत्र वाच्य होने पर पर ङीप् प्रत्यय नहीं होता है ॥ *उदा०*—द्विकाण्डा क्षेत्रभक्तिः (दो काण्ड = १६ हाथ[1] के बराबर भूमि भाग) । त्रिकाण्डा ॥ द्विकाण्डा में *प्रमाणे द्वयस०* (५।२।३७) से द्वयसजादि प्रत्यय हुये थे, सो उनका *प्रमाणे लो वक्तव्यः* (*वा०* ५।२।३७) इस वार्त्तिक से लुक् हुआ है, अतः *द्विगोः* से प्राप्त ङीप् का प्रकृत सूत्र से निषेध हो गया, तब *अजाद्यतष्टाप्* से टाप् हो गया, शेष सब कार्य परि० ४।१।२२ की सिद्धियों के समान ही हैं ॥

पुरुषात् प्रमाणेऽन्यतरस्याम् ॥४।१।२४॥

पुरुषात् ५।१॥ प्रमाणे ७।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—न, तद्धितलुकि, द्विगोः, ङीप्, अतः स्त्रियाम्, अनुपसर्जनात्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रमाणेऽर्थे वर्त्तमानोऽनुपसर्जनो यः पुरुषशब्द-

---

१. देखो 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' पृ० २४८ ॥

स्तदन्तात् द्विगोः तद्धितलुकि सति स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो न भवति विकल्पेन ॥ *उदा०*—द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्याः द्विपुरुषा द्विपुरुषी, त्रिपुरुषा त्रिपुरुषी ॥

भाषार्थः—[*प्रमाणे*] प्रमाण अर्थ में वर्त्तमान जो अनुपसर्जन [*पुरुषात्*] पुरुष शब्द, तदन्त द्विगु संज्ञक प्रातिपादिक से तद्धित का लुक् होने पर स्त्रीलिङ्ग में [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से ङीप् प्रत्यय नहीं होता ॥ यहाँ "विकल्प से नहीं होता" का अर्थ होगा विकल्प से हो जाता है, अतः ङीष् तथा पक्ष में *अजाद्यतष्टाप्* से टाप् भी होता है ॥ *उदा०*—द्विपुरुषा (दो पुरुष के बराबर), द्विपुरुषी । त्रिपुरुषा (तीन पुरुष के बराबर) त्रिपुरुषी ॥ सिद्धि सारी पूर्व सूत्र ४।१।२३ के समान है ॥

बहुव्रीहेरूधसो ङीष् ॥४।१।२५॥

बहुव्रीहेः ५।१॥ ऊधसः ५।१॥ ङीष् १।१॥ *अनु०*—स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—ऊधस्शब्दान्तात् बहुव्रीहेः स्त्रियां ङीष प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—कुण्डोध्नी, घटोध्नी ॥

भाषार्थः—[*बहुव्रीहेः*] बहुव्रीहि समास में वर्त्तमान [*ऊधसः*] ऊधस् शब्दान्त प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में [*ङीष्*] ङीष् प्रत्यय होता है ॥ ङीप् आते हुये भी ङीष् का विधान स्वर भेद के लिये ही है । ङीप् के निषेध (४।१।१२) तथा डाप् (४।१।१३) का अपवाद यह सूत्र है । यहाँ 'अनुपसर्जनात्' की अनुवृत्ति होने पर भी उसका सम्बन्ध नहीं लगता क्योंकि बहुव्रीहि समास होता ही उपसर्जन है ॥

यहाँ से '*बहुव्रीहेः*' की अनुवृत्ति ४।१।२९ तथा '*ऊधसः*' की अनुवृत्ति ४।१।२६ तक जायेगी ॥

संख्याव्ययादेर्ङीप् ॥४।१।२६॥

संख्याव्ययादेः ५।१॥ ङीप् १।१॥ *स०*—संख्या च अव्ययञ्च, सङ्ख्याव्यये, संख्याव्यये आदिनी यस्य स संख्याव्ययादिः, तस्मात्······ द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः । *अनु०*—बहुव्रीहेरूधसः, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थ*.—सङ्ख्यादेः; अव्ययादेः ऊधस्शब्दान्तात् बहुव्रीहेः स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति ॥ पूर्वसूत्रस्यापवादोऽयम् ॥ *उदा०*—संख्यादेः—द्व्यूध्नी त्र्यूध्नी । अव्ययादेः—अत्यूध्नी निरूध्नी ॥

भाषार्थः—[*संख्याव्ययादेः*] संख्या आदि वाले तथा अव्यय आदि वाले ऊधस् शब्दान्त बहुव्रीहि समास वाले प्रातिपदिक से [*ङीप्*] प्रत्यय होता है ॥ पूर्व सूत्र से ङीप् की प्राप्ति में यह अपवाद सूत्र है ॥

यहाँ से '*संख्यादेः*' की अनुवृत्ति ४।१।२७ तक तथा '*ङीप्*' की ४।१।२९ तक जायेगी ॥

दामहायनान्ताच्च ॥४।१।२७॥

दामहायनान्तात् ५।१॥ च अ० ॥ *स०*—दामा च हायनश्च दामहायनौ, दामहायनौ, अन्ते यस्य स दामहायनान्तः, तस्मात् द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—संख्यादेः, ङीप्, बहुव्रीहेः, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—संख्यादेर्दामहायनान्ताच्च बहुव्रीहेः स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—द्वे दामनी यस्याः द्विदाम्नी त्रिदाम्नी। द्वौ हायनौ यस्याः द्विहायनी त्रिहायणी चतुर्हायणी ॥

भाषार्थः—सङ्ख्या आदि वाले [*दामहायनान्तात्*] दाम और हायन शब्दान्त बहुव्रीहि प्रातिपदिक से [च] भी स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है ॥ द्विदामन् बहुव्रीहि समास वाला शब्द है, अतः अनो *बहुव्रीहेः* (४।१।१२) से ङीप् निषेध तथा डाप् का (४।१।१३) *अन उपधालोपिनः* (४।१।२८) से ङीप् को विकल्प प्राप्त था, सो नित्य ङीप् के लिये वचन है, हायनान्त से टाप् (४।१।४) प्राप्त था ॥ *उदा०*—द्विदाम्नी (दो रस्से वाली गाय)। त्रिदाम्नी। द्विहायनी चतुर्हायणी ॥ सिद्धि पूर्ववत् परिशिष्ट के अनुसार जानें। द्विदामन् के 'म' के 'अ' का लोप *अल्लोपोनः* (६।४।१३४) से हो ही जायेगा। चतुर्हायणी में णत्व *त्रिचतुर्भ्यां हायनस्य* वचन से हो गया है। चतुर् शब्द *चतेरुरन्* (उणा० ५।५८) से उरन् प्रत्ययान्त है सो *ञ्नित्यादि०* (६।१।१९१) से आद्युदात्त है।

अन उपधालोपिनोऽन्यतरस्याम् ॥४।१।२८॥

अनः ५।१॥ उपधालोपिनः ५।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *स०*—उपधाया लोपः उपधालोपः, षष्ठीतत्पुरुषः। उपधालोपोऽस्यास्तीति उपधालोपी, तस्मात् उपधालोपिनः, *अत इनिठनौ* (५।२।११५) इति इनि-प्रत्ययः ॥ *अनु०*—बहुव्रीहेः, ङीप्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥

अर्थः—अन्नन्तो य उपधालोपी बहुव्रीहिस्तस्मात् स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो विकल्पेन भवति ॥ *उदा०*—बहवः राजानोऽस्यां सभायां, बहुराज्ञी सभा। पक्षे डाप्—बहुराजे सभे। डाप्ङीप्प्रतिषेधपक्षे—बहुराजा, बहुराजानौ, बहुराजानः ॥

भाषार्थः—[*अनः*] अन्नन्त जो [*उपधालोपिन*] उपधालोपी बहुव्रीहि समास उससे स्त्रीलिङ्ग में [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से ङीप् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ 'अन्यतरस्याम्' कहने से *डाबुभाभ्या०* (४।१।१३) तथा *अनो बहुव्रीहेः* (४।१।१२) से कहे हुये डाप् तथा ङीप् का प्रतिषेध भी उपधालोपी प्रातिपदिकों से पक्ष में हो जाता है, जिससे सर्वत्र उपधालोपी अन्नन्त बहुव्रीहि समास वाले प्रातिपदिकों के तीन रूप बनेंगे। एक ङीप् वाला, दूसरा डाप् वाला, तथा तीसरा ङीप् (तथा डाप्) के प्रतिषेध वाला। डाप् तथा ङीप् प्रतिषेध वाले रूप प्रथमा के एकवचन में एक जैसे ही बनते हैं अतः भेद दर्शाने के लिये डाप् का रूप प्रथमा के द्विवचन में दिखाया है ॥ सिद्धि में कोई विशेष नहीं है ॥

यहाँ से '*अन उपधालोपिनः*' की अनुवृत्ति ४।१।२८ तक जायेगी ॥

नित्यं संज्ञाछन्दसोः ॥४।१।२९॥

नित्यम् १।१॥ संज्ञाछन्दसोः ७।२॥ *स०*— संज्ञा च छन्दश्च, संज्ञाछन्दसी, तयोः ''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अन उपधालोपिनः, बहुव्रीहेः, ङीप्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थ*—अन्नन्तात् उपधालोपिनो बहुव्रीहेः संज्ञायां विषये छन्दसि च नित्यं स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—सुराज्ञी अतिराज्ञी नाम ग्रामः। छन्दसि—गौः पञ्चदाम्नी। एकदाम्नी। द्विदाम्नी। एकमूर्ध्नी। समानमूर्ध्नी ॥

भाषार्थः—अन्नन्त उपधालोपी बहुव्रीहि समास से [*संज्ञाछन्दसोः*] संज्ञा तथा छन्द विषय में [*नित्यम्*] नित्य ही स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है ॥ सिद्धि ४।१।२७ सूत्र के समान ही जानें ॥

यहाँ से '*संज्ञाछन्दसोः*' की अनुवृत्ति ४।१।३१ तक जायेगी ॥

केवलमामकभागधेयपापापरसमानार्यकृत-सुमङ्गलभेषजाच्च ॥४।१।३०॥

केवल···भेषजात् ५।१॥ च अ० ॥ स०—केवलश्च भागधेयश्च पापश्च अपरश्च समानश्च आर्यकृतश्च सुमङ्गलश्च भेषजश्च केवल···भेषजं, तस्मात्·····समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—संज्ञाछन्दसोः, ङीप्, स्त्रियाम् प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—केवल, मामक, भागधेय, पाप, अपर, समान, आर्यकृत, सुमङ्गल, भेषज इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः संज्ञायां छन्दसि च विषये स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—केवली, केवला इति भाषायाम्। मामकी, मामका इति भाषायाम्। मित्रावरुणयोर्भागधेयी, भागधेया इति भाषायाम्। पापी त्वियम्। पापा इति भाषायाम्। उतापरीभ्यो मघवा विजिग्ये, अपरा इति भाषायाम्। आर्यकृती। आर्यकृता इति भाषायाम्। समानी, समाना इति भाषायाम्। आर्यकृती। आर्यकृता, इति भाषायाम्। सा नो अस्तु सुमंगली (अथ० २।१९।२), सुमंगला इति भाषायाम्। भेषजी, भेषजा इति भाषायाम् ॥

भाषार्थ—[*केवल···भेषजात्*] केवल मामकादि शब्दों से [*च*] संज्ञा तथा छन्द विषय में स्त्रीलिंग में ङीप् प्रत्यय होता है ॥ अन्यत्र लौकिक प्रयोग विषय में इन शब्दों से *अजाद्यतष्टाप्* (४।१।४) से टाप् ही होगा।

रात्रेश्चाजसौ ॥४।१।३१॥

रात्रेः ५।१॥ च अ० ॥ अजसौ ७।१॥ स०—न जसिः अजसिः, तस्मिन् अजसौ, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—संज्ञाछन्दसोः, ङीप्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। अर्थः—रात्रिशब्दात् स्त्रियां संज्ञायां छन्दसि विषये जस् विषयादन्यत्र ङीप् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—या रात्री सृष्टा। रात्रीभिः ॥

भाषार्थः—[*रात्रेः*] रात्रि शब्द से [*च*] भी स्त्रीलिंग विवक्षित होने पर संज्ञा तथा छन्द विषय में, [*अजसौ*] जस् विषय से अन्यत्र ङीप् प्रत्यय होता है ॥ 'रात्रि ङीप्' यहाँ यस्येति च (६।४।१४८) से लोप होकर रात्री बना ॥

अन्तर्वत्पतिवतोर्नुक् ॥४।१।३२॥

अन्तर्वत्पतिवतोः ॥६।२॥ नुक् १।१॥ स०—अन्तर्वत् च पतिवत् च अन्तर्वत्पतिवतौ, तयोः ''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—ङीप्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । अर्थः—अन्तर्वत् पतिवत् शब्दाभ्यां स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति तयोश्च नुक् आगमो भवति ङीप् सन्नियोगेन ॥ उदा०—अन्तर्वत्नी, पतिवत्नी ॥

भाषार्थः—[*अन्तर्वत्पतिवतोः*] अन्तर्वत् पतिवत् शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है, तथा ङीप् के साथ २ [*नुक्*] नुक् आगम भी हो जाता है ॥ उदा०—अन्तर्वत्नी (गर्भवती) पतिवत्नी (जिसका पति जीवित है) ॥ अन्तर्वत् नुक् ङीप् = अन्तर्वन् न् ई = अन्तर्वत्नी बन गया । इसी प्रकार पतिवत्नी भी जानें ॥

पत्युर्नो यज्ञसंयोगे ॥४।१।३३॥

पत्युः ६।१॥ नः १।१॥ यज्ञसंयोगे ७।१॥ स०—यज्ञेन संयोगः, यज्ञसंयोगस्तस्मिन् ''''तृतीयातत्पुरुषः ॥ अनु०—ङीप्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—पतिशब्दात् स्त्रीलिङ्गे ङीप् प्रत्ययो, नकारश्चान्तादेशो भवति[1] यज्ञसंयोगे गम्यमाने ॥ उदा०—यजमानस्य पत्नी । पत्नि वाचं यच्छ ॥

भाषार्थः—[*पत्युः*] पति शब्द से स्त्रीलिङ्ग में [*यज्ञसंयोगे*] यज्ञसंयोग गम्यमान होने पर ङीप् प्रत्यय होता है, और [*नः*] नकार अन्तादेश भी हो जाता है ॥ पत्युः में वाक्यभेद से पञ्चमी षष्ठी दोनों हैं सो षष्ठी मानकर *अलोन्त्यस्य* (१।१।५१) से अन्त्य अल् इकार को नकारादेश हो गया है, तथा पञ्चमी मानकर ङीप् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—यजमानस्य पत्नी (यजमान की स्त्री) । पत्नि वाचं यच्छ ॥

---

१. अनेक वैयाकरण इस और अगले सूत्र मे केवल नकारादेश का विधान मानते हैं, नकारादेश करने पर नान्त हो जाने से ४।१।५ से ङीप् प्रत्यय होता है ऐसा कहते हैं । वस्तुत ङीप् के प्रकरण में सूत्र का पाठ होने से ङीप् का विधान मुख्य है, उसी के साथ नकारादेश का विधान किया है ।

'पत् न् ङीप्' = पत्न् ई = पत्नी बन गया। 'न' में अकार उच्चारणार्थ है। हे पत्नि यहाँ *अम्बार्थनद्यो०* (७।३।१०७) से ह्रस्व होता है ॥

यहाँ से *'पत्युर्नः'* की अनुवृत्ति ४।१।३५ तक जायेगी ॥

विभाषा सपूर्वस्य ॥४।१।३४॥

विभाषा १।१॥ सपूर्वस्य ६।१॥ *स०*—सह = विद्यमानः पूर्वः = अवयवो यस्य, तत् सपूर्वं तस्य···बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—पत्युर्नः, ङीप्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, अनुपसर्जनात्, परश्च ॥ *अर्थः*—सपूर्वस्य = विद्यमानपूर्वस्य पतिशब्दान्तस्यानुपसर्जनस्य प्रातिपदिकस्य स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो विकल्पेन भवति, नकारादेशश्च ॥ वृद्धः पतिरस्याः = वृद्धपत्नी, वृद्धपतिः, स्थूलपत्नी, स्थूलपतिः ॥

भाषार्थः—[*सपूर्वस्य*] जिसके पूर्व में कोई शब्द विद्यमान हो ऐसे पति शब्दान्त अनुपसर्जन प्रातिपदिक को स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय [*विभाषा*] विकल्प से हो जाता है तथा नकारादेश भी हो जाता है ॥ जिस पक्ष में ङीप् नहीं होगा उस पक्ष में नकारादेश भी नहीं होगा ॥ *उदा०*—वृद्धपत्नी (वृद्ध है पति जिसका, वह) वृद्धपतिः, स्थूलपत्नी (जिसका मोटा पति है, वह) स्थूलपतिः ॥

नित्यं सपत्न्यादिषु ॥४।१।३५॥

नित्यम् १।१॥ सपत्न्यादिषु ७।३॥ *स०*—सपत्नी आदिर्येषां ते सपत्न्यादयः, तेषु·····बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—पत्युर्नः, ङीप्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*— सपत्न्यादिषु यः पतिशब्दस्तस्मात् स्त्रियां नित्यं ङीप् प्रत्ययो भवति, नकारश्चान्तादेशः ॥ पूर्वेण विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थं वचनम् ॥ *उदा०*-- समानः पतिरस्याः सपत्नी, एकपत्नी ॥

भाषार्थः—[*सपत्न्यादिषु*] सपत्न्यादियों में जो पति शब्द उसको ङीप् प्रत्यय तथा नकारादेश [*नित्यम्*] नित्य ही स्त्रीलिंग में हो जाता है ॥ पूर्व सूत्र से विकल्प प्राप्त था नित्यार्थ यहाँ वचन है ॥ *उदा०*—सपत्नी (जिस स्त्री का समान पति है, अर्थात् दो स्त्रियों का एक ही पति है, वह स्त्री)। एकपत्नी (जिसका एक ही पति है) ॥

पूतक्रतोरै च ॥४।१।३६॥

पूतक्रतोः ६।१॥ ऐ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥च अ०॥ *अनु०*—ङीप्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अनुपसर्जनात् पूतक्रतोः प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति, ऐकारश्चान्तादेशो भवति ॥ *उदा०*—पूतक्रतोः स्त्री = पूतक्रतायी ॥

भाषार्थ—अनुपसर्जन [*पूतक्रतोः*] पूतक्रतु प्रातिपादिक से स्त्रीलिंग में ङीप् प्रत्यय होता है [च] तथा [ऐ] ऐकारान्तादेश भी हो जाता है ॥ वाक्य भेद से यहाँ भी पूतक्रतोः में षष्ठी पञ्चमी दोनों मानी जायेंगी ॥

उदा०—पूतक्रतायी (पूतक्रतु नामक पुरुष की स्त्री)। पूतक्रत् ऐ ङीप् = पूतक्रतै, यहाँ *एचोऽयवायावः* (६।१।७५) लगकर पूतक्रतायी बन गया ॥

यहाँ से 'ऐ' की अनुवृत्ति ४।१।३८ तक जायेगी।

वृषाकप्यग्निकुसितकुसीदानामुदात्तः ॥४।१।३७॥

वृषा.....नाम् ६।३॥ उदात्तः १।१॥ *स०*—वृषाकपिश्च अग्निश्च कुसितश्च कुसीदश्च वृषा.....कुसीदाः, तेषां.....इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—ऐ, ङीप्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अनुपसर्जन वृषाकप्यादिप्रातिपदिकानाम् उदात्त ऐकारादेशो भवति स्त्रियां ङीप् च प्रत्ययः ॥ *उदा०*—वृषाकपेः स्त्री वृषाकपायी', अग्नायी', कुसितायी', कुसीदायी' ॥

भाषार्थः—[*वृषा..... नाम्*] वृषाकपि अग्नि कुसित कुसीद इन अनुपसर्जन प्रातिपदिकों को [*उदात्तः*] उदात्त ऐकारादेश हो जाता है, तथा स्त्रीलिंग में ङीप् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—वृषाकपायी (वृषाकपि की स्त्री)। अग्नायी (अग्नि की स्त्री)। कुसितायी (कुसित की स्त्री)। कुसीदायी (कुसीद की स्त्री) ॥

यहाँ से '*उदात्तः*' की अनुवृत्ति ४।१।३८ तक जायेगी।

मनोरौ वा ॥४।१।३८॥

मनोः ६।१॥ औ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ वा अ० ॥ *अनु०*—उदात्तः, ऐ, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—

मनुशब्दात् स्त्रियां विकल्पेन ङीप् प्रत्ययो भवति, औकारश्चान्तादेशो भवति, ऐकारश्चापि, स च उदात्तः। तेन त्रैरूप्यं भवति ॥ उदा०—मनोः स्त्री मनावी,[१] मनायी, मनुः ॥

भाषार्थः—[*मनोः*] मनु शब्द से स्त्रीलिंग में [*वा*] विकल्प से ङीप् प्रत्यय तथा [*औ*] औकार अन्तादेश एवं ऐकार अन्तादेश भी हो जाता है, और वह ऐकार उदात्त भी होता है। विकल्प कहने से एक बार औकारादेश तथा ङीप् होकर रूप बना, दूसरा ऐकार तथा ङीप् होकर रूप बना, तथा तीसरा जब ङीप् एवं ऐकार औकार नहीं हुये तब मनुः रूप बना ॥ उदा०—मनावी (मनु की स्त्री), मनायी, मनुः ॥ मन् औ ङीप् = मनावी बना। मन् ऐ ङीप् = मनायी बना है ॥ उणादि १।१० से मनु शब्द आद्युदात्त है, सो ऐकार को उदात्त कहने से मनायी में ना का आ उदात्त हुआ, तथा औकारादेश एवं ङीप् के विकल्प पक्ष में आद्युदात्त ही रहा ॥

यहाँ से '*वा*' की अनुवृत्ति ४।१।३९ तक जायेगी ॥

वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः ॥४।१।३९॥

वर्णात् ५।१॥ अनुदात्तात् ५।१॥ तोपधात् ५।१॥ तः ६।१॥ नः१।१॥ *स०*—तकार उपधा यस्य स तोपधः तस्मात्......बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—वा, ङीप्, अतः, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—वर्णवाचिनोऽदन्तादनुपसर्जनात् प्रातिपदिकादनुदात्तान्तात् तोपधात् विकल्पेन स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति तकारस्य च नकारादेशो भवति ॥ *उदा०*— एनी, एता। श्येनी श्येता। हरिणी हरिता ॥

भाषार्थः—[*वर्णा...धात्*] वर्णवाची (रंगवाची) अदन्त अनुपसर्जन अनुदात्तान्त तकार उपधा वाले प्रातिपदिकों से विकल्प से स्त्रीलिंग में ङीप् प्रत्यय तथा [*तः*] तकार को [*नः*] नकारादेश हो जाता है ॥ जिस पक्ष में ङीप् नहीं हुआ उस पक्ष में तकार को नकार भी नहीं हुआ, सो टाप् होकर श्येता आदि रूप बने हैं ॥ *उदा०*— एनी एता (चितकबरी)। श्येनी (उजली)। श्येता। हरिणी (हरे रंगवाली)। हरिता ॥ *वर्णानां तणति-*

---

१. शतपथे (१।१।४।१६) तु अन्तोदात्त उपलभ्यते। तेन ङीष् प्रत्ययोऽपि भवतीति विज्ञायते।

नितान्तानाम् (फिट् ३३) इस फिट् सूत्र से एत, श्येत, हरित शब्द आद्युदात्त हैं, सो *अनुदात्तं पद०* (६।१।१५२) लगकर ये सब अनुदात्तान्त शब्द हैं ॥

यहाँ से '*वर्णादनुदात्तात्*' की अनुवृत्ति ४।१।४० तक जायेगी ॥

अन्यतो ङीष् ॥४।१।४०॥

अन्यतः ५।१॥ ङीष् १।१॥ *अनु०*—वर्णादनुदात्तात्, अतः, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तोपधादन्यतः वर्णवाचिनोऽदन्ताद् अनुदात्तान्तात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*— सारंगी, कल्माषी, शबली ॥

भाषार्थः—[*अन्यतः*] तोपध वर्णवाची प्रातिपदिकों से अन्य जो वर्णवाची अदन्त अनुदात्तान्त प्रातिपदिक उनसे स्त्रीलिंग में [*ङीष्*] ङीष् प्रत्यय होता है ॥ ङीप् तथा ङीष् में स्वर का ही भेद है, जो हम पूर्व दर्शा आये हैं। यहाँ तोपध की अपेक्षा से अन्य ग्रहण किया है ॥ *उदा०*— सारंगी (चितकबरी)। कल्माषी (काली, चितकबरी)। शबली (चितकबरी) ॥

यहाँ से '*ङीष्*' की अनुवृत्ति ४।१।६५ तक जायेगी।

षिद्गौरादिभ्यश्च ॥४।१।४१॥

षिद्गौरादिभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ *स०*—ष् इत् यस्य स षित्, बहुव्रीहिः। गौर आदिर्येषां ते गौरादयः, बहुव्रीहिः। षित् च गौरादयश्च, षिद्गौरादयस्तेभ्यः ······ इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—ङीष्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षिद्भ्यः प्रातिपदिकेभ्यः गौरादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः, स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—षिद्भ्यः—नर्तकी, खनकी, रजकी, गार्ग्यायणी, वात्स्यायनी। गौरादिभ्यः—गौरी, मत्सी ॥

भाषार्थः—[*षिद्गौरादिभ्यः*] षित् प्रातिपदिकों से तथा गौरादि प्रातिपदिकों से [*च*] भी स्त्रीलिंग में ङीष् प्रत्यय होता है ॥ नर्तकी आदि की सिद्धि भाग १ परि० १।३।६ पृ०८०१ में देखें, तथा गार्ग्यायणी की सिद्धि ४।१।१७ सूत्र में देखें ॥ गौर ई यहाँ यस्येति लोप होकर गौरी (गौर वर्ण

वाली) बना। 'मत्स्य ई' यहाँ *सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां०* (६।४।१४९) से उपधा यकार तथा यस्येति च (६।४।१४८) से अकार का लोप होकर मत्सी (मछली) बना है ॥

जानपदकुण्डगोणस्थलभाजनागकालनीलकुशकामुककबराद् वृत्त्यमत्रावपनाकृत्रिमाश्राणास्थौल्यवर्णानाच्छादनायोविकारमैथुनेच्छाकेशवेशेषु ॥४।१।४२॥

जान······कबरात् ५।१॥ वृत्त्य···वेशेषु ७।३॥ *स०*—जानपद० इत्यत्र, समाहारो द्वन्द्वः। वृत्त्यमत्रा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—ङीष्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थ*—जानपद, कुण्ड, गोण, स्थल, भाज, नाग, काल, नील, कुश, कामुक, कबर इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो यथासङ्ख्यं वृत्ति, अमत्र, आवपन, अकृत्रिमा, श्राणा, स्थौल्य, वर्ण, अनाच्छादन, अयोविकार, मैथुनेच्छा, केशवेश इत्येतेष्वर्थेषु स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—जानपदी भवति वृत्त्यभिधेये। अन्यत्र जानपदी एव। स्वरे विशेषः। कुण्डी भवत्यमत्रे वाच्ये। अन्यत्र कुण्डा एव। गोणी भवति आवपने ऽर्थे, गोणाऽन्यत्र। स्थली भवत्यऽकृत्रिमा चेत्, अन्यत्र स्थला। भाजी भवति श्राणावाच्ये। अन्यत्र भाजा। नागी भवति स्थौल्येऽर्थे, नागाऽन्यत्र। काली भवति वर्णेऽभिधेये, अन्यत्र काला। नीली भवति, अनाच्छादने वाच्ये, नीलाऽन्यत्र। कुशी भवति अयोविकारश्चेत्, अन्यत्र कुशा एव। कामुकी भवति मैथुनेच्छायाम्, अन्यत्र कामुका। कबरी भवति केशवेशेऽर्थे। अन्यत्र कबरा ॥

भाषार्थः—[*जानपद······कबरात्*] जानपद इत्यादि ११ प्रातिपदिकों से यथासङ्ख्य करके [*वृत्त्यमत्रा···वेशेषु*] वृत्ति अमत्रादि ११ अर्थों में, स्त्रीलिंग में ङीष् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—जानपदी (आजीविका)। कुण्डी (पात्र)। गोणी (बोरी)। स्थली (प्राकृतिक ऊँची जगह)। भाजी (पकी हुई)। नागी (मोटी)। काली (काले रंग वाली)। नीली (औषधि)। कुशी (लोहे की फाली)। कामुकी (वासना युक्त स्त्री)। कबरी (चित्र विचित्र केशविन्यास वाली) ॥

वृत्ति अर्थ में वर्त्तमान जानपद शब्द से ङीष् होकर जानपदी शब्द अन्तोदात्त बनता है, जब वृत्ति अर्थ नहीं होता, तब जनपद शब्द का

उत्सादि गण में पाठ होने से भवादि अर्थ में *उत्सादिभ्योऽञ्* (४।१।८६) से अञ् होकर *टिड्ढाणञ्०* (४।१।१५) से ङीप् हो गया तो *ञ्नित्यादि-र्नित्यम्* (६।१।१९१) से जानपदी शब्द आद्युदात्त होता है। यही विशेष है। ङीप् ङीष् के स्वर का भेद हमने पहिले दिखा ही दिया है। कुण्डी आदि में अमत्रादि अर्थ होने पर ही ङीष् होगा यदि अमत्रादि अर्थ नहीं होगा तो टाप् प्रत्यय (४।१।४) होगा॥

शोणात् प्राचाम् ॥४।१।४३॥

शोणात् ५।१॥ प्राचाम् ६।३॥ *अनु०*—ङीप्, अनुपसर्जनात् स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—अनुपसर्जनात् शोणात् प्रातिपदिकात् प्राचाम् आचार्याणां मतेन ङीष् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—शोणी, शोणा॥

भाषार्थः—अनुपसर्जन [*शोणात्*] शोण प्रातिपदिक से [*प्राचाम्*] प्राचीन आचार्यों के मत में स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है। पाणिनि मुनि के मत में टाप् ही होगा॥ *उदा०*—शोणी (लाल घोड़ी)। शोणा॥ ङीष् परे रहते यस्येति लोप होकर शोणी बनेगा, ऐसा आगे भी समझते जाना चाहिये॥

वोतो गुणवचनात् ॥४।१।४४॥

वा अ०॥ उतः ५।१॥ गुणवचनात् ५।१॥ *स०*—गुणम् उक्तवान् गुणवचनः, तस्मात्......तत्पुरुषः॥ *अनु०*—ङीप्, अनुपसर्जनात् स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—उकारान्तात् गुण-वचनादनुपसर्जनात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां वा ङीष् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—पट्वी, पटुः। मृद्वी मृदुः॥

भाषार्थः—[*उतः*] उकारान्त [*गुणवचनात्*] गुणवचन (गुण को कहने वाले) प्रातिपदिक से स्त्रीलिग में [*वा*] विकल्प से ङीप् प्रत्यय होता है॥ *उदा०*—पट्वी (चतुर स्त्री) पटुः। मृद्वी (कोमल स्वभाव वाली)। मृदुः॥ पटु+ई यहाँ यणादेश होकर पट्वी मृद्वी बना है। जिस पक्ष में ङीप् प्रत्यय नहीं हुआ, उस पक्ष में पटुः, मृदुः ही रहा॥

यहाँ से '*वा*' की अनुवृत्ति ४।१।४५ तक जायेगी।

बह्वादिभ्यश्च ॥४।१।४५॥

बह्वादिभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ *स०*—बहुरादिर्येषां ते बह्वादयः, तेभ्यः·····बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—वा, ङीप्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—बह्वादिभ्योऽनुपसर्जनेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः स्त्रियां विकल्पेन ङीप् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—बह्वी, बहुः ॥

भाषार्थः—[*बह्वादिभ्यः*] बह्वादि प्रातिपदिकों से [च] भी स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से ङीप् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*बह्वादिभ्यः*' की अनुवृत्ति ४।१।४६ तक जायेगी ॥

नित्यं छन्दसि ॥४।१।४६॥

नित्यम् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ *अनु०*—बह्वादिभ्यः, ङीष्, अनुपसर्जनात्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः परश्च ॥ *अर्थः*—बह्वादिभ्योऽनुपसर्जनेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यश्छन्दसि विषये स्त्रियां नित्यं ङीप् प्रत्ययो भवति ॥ पूर्वेण विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थं वचनम् ॥ *उदा०*—बह्वीषु (७।३) हित्वा प्रपिबन् ॥

भाषार्थः—बह्वादि अनुपसर्जन प्रातिपदिकों से [*छन्दसि*] वेद विषय में [*नित्यम्*] नित्य ही स्त्रीलिंग में ङीष् प्रत्यय होता है ॥ पूर्वसूत्र से विकल्प की प्राप्ति में यह नित्यार्थ वचन है ॥

यहाँ से '*नित्य छन्दसि*' की अनुवृत्ति ४।१।४७ तक जायेगी ॥

भुवश्च ॥४।१।४७॥

भुवः ५।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—नित्यं छन्दसि, ङीष्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियां, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये स्त्रियाम् अनुपसर्जनाद् भुवः प्रातिपदिकात् नित्यं ङीष् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—विभ्वी च, प्रभ्वी च, सम्भ्वी च ॥

भाषार्थः—वेद विषय में अनुपसर्जन [*भुवः*] भु शब्दान्त प्रातिपदिकों से [च] भी, स्त्रीलिंग में नित्य ही ङीप् प्रत्यय होता है ॥ विभु प्रभु सम्भु शब्द *विप्रसम्भ्यो ड्वसंज्ञायाम्* (३।२।१८०) सूत्र से डुप्रत्यय होकर

सिद्ध होते हैं, तत्पश्चात् प्रकृत सूत्र से ङीप् होकर, विभ्वी आदि की सिद्धि पूर्ववत् जानें ॥

पुंयोगादाख्यायाम् ॥४।१।४८॥

पुंयोगात् ५।१॥ आख्यायाम् ७।१॥ अत्र पञ्चम्यर्थे सप्तमी ॥ *अनु०*—ङीष्, अतः, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *स०*—पुंसा योगः (सम्बन्धः) पुंयोगः, तस्मात्``तृतीयातत्पुरुषः ॥ *अर्थः*—पुंयोगात् = पुरुषसम्बन्धकारणात् यद् अनुपसर्जनम्, अदन्तं प्रातिपदिकं स्त्रियाम् वर्तते पुंस आख्याभूतं, तस्मात् ङीष् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—गणकस्य स्त्री गणकी, प्रष्ठी, महामात्री, प्रचरी ॥

भाषार्थः—[*पुंयोगात्*] पुरुष के साथ सम्बन्ध होने के कारण जो प्रातिपादिक स्त्रीलिंग में वर्तमान हो तथा पुँलिंग को [*आख्यायाम्*] पहले कहा हो, ऐसे अदन्त अनुपसर्जन प्रातिपदिक से ङीष् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—गणकी (ज्योतिपी की स्त्री)। प्रष्ठी (नेता की स्त्री)। महामात्री (प्रधान मन्त्री की स्त्री)। प्रचरी (नेता की स्त्री) ॥

गणकी आदि शब्द पुरुष के सम्बन्ध से स्त्रीलिंग में हैं क्योंकि गणक की स्त्री होने के कारण वह गणकी कही जा रही है, अतः पुंयोग है एवं गणक आदि शब्द पहले पुँलिंग की आख्यावाले ही थे, अतः ङीष् प्रत्यय हो गया है। जो स्वयमेव ज्योतिषी स्त्री होगी या प्रधान मन्त्रिणी होगी, वह गणिका महामात्रा कहलायेगी, अर्थात् उनसे ङीष् न होकर टाप् होगा ॥

यहाँ से '*पुंयोगात्*' की अनुवृत्ति ४।१।४९ तक जायेगी ॥

इन्द्रवरुणभवशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक् ॥४।१।४९॥

इन्द्र``````चार्याणाम् ६।३॥ आनुक् १।१॥ *स०*—इन्द्र० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—पुंयोगात्, ङीष्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियां, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—इन्द्र, वरुण, भव शर्व, रुद्र, मृड, हिम, अरण्य, यव, यवन, मातुल, आचार्य इत्येतेभ्यः पुंयोगात् स्त्रियां वर्त्तमानेभ्योऽनुपसर्जनेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो ङीप् प्रत्ययो भवत्यानुक्

चागमः ॥ उदा०—इन्द्रस्य स्त्री इन्द्राणी, वरुणानी, भवानी, शर्वाणी, रुद्राणी, मृडानी, हिमानी, अरण्यानी, यवानी, यवनानी, मातुलानी, आचार्यानी ॥

भाषार्थः—[*इन्द्र·····याणाम्*] इन्द्र वरुण आदि प्रातिपदिक पुंल्लिङ्ग के हेतु से स्त्रीत्व में वर्त्तमान हों तो, उनसे ङीष् प्रत्यय तथा [*आनुक्*] आनुक् का आगम होता है ॥ उदा०—इन्द्राणी (इन्द्र की स्त्री)। वरुणानी (वरुण की स्त्री)। भवानी (शिव नामक राजा की स्त्री)। शर्वाणी (महादेव की स्त्री)। रुद्राणी (रुद्र की स्त्री)। मृडानी (मृड नामक व्यक्ति की स्त्री)। हिमानी वह हिम जो सदा बर्फ रूप ही रहती है[1], कभी पिघलती नहीं। अरण्यानी (घना जंगल[2])। यवानी (खराब जौ)। यवनानी (यवनों की लिपि)। मातुलानी (मामी)। आचार्यानी (आचार्य की स्त्री) ॥

आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५) से आनुक् आगम अन्त में होकर, इन्द्र आनुक् ङीप्, = इन्द्रान् ई = इन्द्रानी बना, *अट्कुप्वाङ्०* (८।४।२) से णत्व होकर इन्द्राणी बना। आगे भी जहाँ-जहाँ णत्व कार्य करना हो तो, इसी सूत्र से होगा। सिद्धियां सब इसी प्रकार हैं ॥ *हिमारण्ययोर्म-हत्त्वे* इस वार्त्तिक से सदा विद्यमान रहने वाली हिम, वा घने जंगल को कहने में ही ङीष् होगा। *यवाद्दोषे* इस वार्त्तिक से दुष्ट यव[3] को कहने में ही प्रकृत सूत्र से ङीष् होगा। *यवनाल्लिप्याम्* इस वार्त्तिक से लिपि को कहने में ही ङीष् होगा, अतः इन शब्दों में पुंयोग का सम्बन्ध नहीं है। आचार्यानी यहाँ *आचार्यादणत्वं च* इस वार्त्तिक से णत्व नहीं होता ॥

क्रीतात् करणपूर्वात् ॥४।१।५०॥

क्रीतात् ५।१॥ करणपूर्वात् ५।१॥ स०—करणं पूर्वमस्मिन् इति करणपूर्वः, तस्मात्·····बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—ङीष्, अतः, अनुपसर्जनात्

१. हिमानी में हिम का महत्त्व घनत्व विवक्षित है, वैपुल्य नहीं।

२. निरुक्तकार यास्क ने 'अरण्यस्य पत्नी अरण्यानी' (९।२९) कहा है। यहाँ पत्नी का अर्थ पालयित्री मात्र है। अरण्य का केन्द्रीभूत घना जंगल ही सिंहादि का आश्रय स्थान होने से बाह्य जंगल का रक्षक होता है।

३. यवानी अजवायन को कहते हैं। दुष्टत्व यहाँ किंनिमित्तक है, यह विचारणीय है।

स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—करणपूर्वात् क्रीत-शब्दान्तादनुपसर्जनाददन्तात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—वस्त्रेण क्रीयते सा वस्त्रक्रीती, वसनक्रीती ॥

भाषार्थः—[*करणपूर्वात्*] करण कारक पूर्व वाले [*क्रीतात्*] क्रीत शब्दान्त अनुपसर्जन प्रातिपदिक से स्त्रीलिंग में ङीप् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—वस्त्रक्रीती (वस्त्र के द्वारा खरीदी हुई) वसनक्रीती ॥ उदाहरण में *कर्तृकरणे कृता०* (२।१।३१) से समास होकर ङीप् हो गया है ॥

यहाँ से '*करणपूर्वात्*' की अनुवृत्ति ४।१।५१ तक जायेगी ॥

क्तादल्पाख्यायाम् ॥४।१।५१॥

क्तात् ५।१॥ अल्पाख्यायाम् ७।१॥ *स०*—अल्पस्य आख्या, अल्पाख्या, तस्याम्...षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—करणपूर्वात्, अतः, अनुपसर्जनात्, ङीप्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—करणपूर्वात् क्तान्ताद-नुपसर्जनात् प्रातिपदिकादल्पाख्यायां गम्यमानायां स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अभ्रविलिप्ती द्यौः, सूपविलिप्ती पात्री ॥

भाषार्थः—करणपूर्व अनुपसर्जन [*क्तात्*] क्तान्त प्रातिपदिक से [*अल्पाख्यायाम्*] अल्प = थोड़े की आख्या = कथन गम्यमान हो तो स्त्रीलिंग में ङीप् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—अभ्रविलिप्ती द्यौः (छिटपुट बादलों वाला आकाश) सूपविलिप्ती पात्री (थोड़ी सी दाल लगा हुआ बर्तन) ॥ 'अभ्रविलिप्त' आदि करण पूर्व वाले क्तान्त प्रातिपदिक हैं, अल्प की आख्या होने से ङीप् हो गया है ॥

यहाँ से '*क्तान्तात्*' की अनुवृत्ति ४।१।५३ तक जायेगी ॥

बहुव्रीहेश्चान्तोदात्तात् ॥४।१।५२॥

बहुव्रीहेः ५।१॥ च अ० ॥ अन्तोदात्तात् ५।१॥ *अनु०*—क्तान्तात्, अतः, ङीष्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—बहु-व्रीहेः क्तान्ताद् अन्तोदात्तात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—शङ्खं भिन्नमस्याः = शङ्खभिन्नी, ऊरुभिन्नी । गलम् उत्कृत्त-मस्याः = गलोत्कृत्ती । केशाः लूना अस्याः = केशलूनी ॥

भाषार्थः—[*बहुव्रीहेः*] बहुव्रीहि समास में [*च*] भी जो क्तान्त [*अन्तोदात्तात्*] अन्तोदात्त प्रातिपदिक, उनसे स्त्रीलिंग में ङीष् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—शङ्खभिन्नी (जिसका ललाट क्षत गया हो, ऐसी स्त्री)। ऊरुभिन्नी (जंघा जिसकी क्षत हो गयी ऐसी स्त्री)। गलोत्कृत्ती (गला जिसका क्षत हो गया हो)। केशलूनी (केश जिसके कट गये हों) ॥ 'भिन्नः' की सिद्धि हम प्रथम भाग परि० १।१।५ में दिखा चुके हैं। *जातिकालसुखा०* (६।२।१६९) से शङ्खभिन्नादि शब्द अन्तोदात्त हैं सो ङीष् हो गया है ॥ केशलूनी में लूनः के निष्ठा को नत्व *ल्वादिभ्यः* (८।२।४४) से हुआ है। *निष्ठायाः पूर्वनिपाते जातिकालसुखादिभ्यः परवचनम्* (*वा०* २।२।३६) इस वार्त्तिक से निष्ठा का परनिपात होता है ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ४।१।५३ तक जायेगी ॥

अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा ॥४।१।५३॥

अस्वाङ्गपूर्वपदात् ५।१॥ वा अ०॥ *स०*—न स्वाङ्गम्, अस्वाङ्गम्, नञ् तत्पुरुषः। अस्वाङ्गं पूर्वपदं यस्य, तदस्वाङ्गपूर्वपदं, तस्मात्······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—बहुव्रीहेश्चान्तोदात्तात्, क्तात्, ङीष्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः परश्च ॥ *अर्थः*—अस्वाङ्गपूर्वपदादन्तोदात्तात् क्तान्तात् बहुव्रीहेः स्त्रियां विकल्पेन ङीष् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—शार्ङ्गजग्धी, शार्ङ्गजग्धा, पलाण्डुभक्षिती, पलाण्डुभक्षिता, सुरापीती, सुरापीता ॥

भाषार्थः—[*अस्वाङ्गपूर्वपदात्*] अस्वाङ्ग जिनके पूर्वपद में है, ऐसे अन्तोदात्त क्तान्त बहुव्रीहि समास वाले प्रातिपदिक से [*वा*] विकल्प से स्त्रीलिंग में ङीष् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*वा*' की अनुवृत्ति ४।१।५५ तक जायेगी ॥

स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात् ॥४।१।५४॥

स्वाङ्गात् ५।१॥ च अ०॥ उपसर्जनात् ५।१॥ असंयोगोपधात् ५।१॥ *स०*—संयोगः उपधा यस्य स संयोगोपधः, बहुव्रीहिः। न संयोगोपधः असंयोगोपधः, तस्मात्······नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—वा, अतः, ङीष्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—स्वाङ्गं यदुपसर्जनमसंयोगोपधं तदन्ताद् अदन्ताद् प्रातिपदिकात् स्त्रियां विकल्पेन ङीष्

प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*— चन्द्र इव मुखमस्याः = चन्द्रमुखी, चन्द्रमुखा । अतिक्रान्ता केशान् = अतिकेशी, अतिकेशा माला ॥

भाषार्थः—[*स्वाङ्गात्*] स्वाङ्गवाची जो [*उपसर्जनात्*] उपसर्जन [*असंयोगोपधात्*] असंयोग उपधा वाले अदन्त प्रातिपदिक उनसे स्त्रीलिङ्ग में विकल्प से ङीप् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—चन्द्रमुखी (चन्द्रमा के समान मुख है जिसका) । चन्द्रमुखा । मृदुहस्ती (कोमल हाथ वाली) । मृदुहस्ता । अतिकेशी माला (जो माला केशों का उल्लङ्घन कर गई हो) । अतिकेशा ॥ चन्द्रमुख में बहुव्रीहि समास होने से मुख उपसर्जन है ही (उपसर्जन का अर्थ अप्रधान है) असंयोगोपध तथा स्वाङ्गवाची भी है सो ङीप् तथा पक्ष में टाप् भी हो गया है । अतिकेशी में अन्य पदार्थ की प्रधानता होने से केश उपसर्जन है, यहाँ *कुगतिप्रादयः* (२।२।१८) से समास हुआ है ॥

यहाँ से '*स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्*' की अनुवृत्ति ४।१।५८ तक जायेगी ॥

नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाच्च ॥४।१।५५॥

नासिकोदरौष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गात् ५।१॥ च अ० ॥ *स०*— नासिका च उदरं च ओष्ठश्च जङ्घा च दन्तश्च कर्णश्च शृङ्गञ्च, नासिको ̈ ̈शृङ्गम्, तस्मात् ̈ ̈समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*— स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्, वा, ङीष्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*— नासिका, उदर, ओष्ठ, जङ्घा, दन्त, कर्ण, शृङ्ग इत्येवमन्तात् स्वाङ्गवाचिन उपसर्जनात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां वा ङीप् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*— तुङ्गा नासिका यस्याः = तुङ्गनासिकी, तुङ्गनासिका, तिलोदरी तिलोदरा, बिम्बमिवौष्ठौ यस्याः बिम्बोष्ठी, बिम्बोष्ठा, दीर्घजङ्घी, दीर्घजङ्घा, समदन्ती, समदन्ता, चारुकर्णी, चारुकर्णा, तीक्ष्णशृङ्गी, तीक्ष्णशृङ्गा ॥

भाषार्थः—[*नासि ̈ ̈ ̈शृङ्गात्*] नासिका उदर इत्यादि अन्त वाले स्वाङ्गवाची उपसर्जन प्रातिपदिकों से [च] भी विकल्प से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है । पक्ष में टाप् भी होगा ॥ *न क्रोडादिबह्वचः* (४।१।५६) से बह्वच् लक्षण तथा पूर्व सूत्र में कहे असंयोगोपध लक्षण ङीष् के प्रतिषेध की प्राप्ति में यह सूत्र ङीप् विधान करने के लिये है ॥

उदा०---तुङ्गनासिकी (ऊँची नासिका वाली) तुङ्गनासिका, तिलोदरी (तिल है पेट पर जिसके) तिलोदरा, बिम्बोष्ठी (बिम्बा फल के समान हैं ओठ जिसके) बिम्बोष्ठा, दीर्घजङ्घी (दीर्घ हैं जङ्घा जिसकी) दीर्घजङ्घा, समदन्ती (बराबर हैं दाँत जिसके) समदन्ता, चारुकर्णी (सुन्दर कान वाली) चारुकर्णा, तीक्ष्णशृङ्गी (तीक्ष्ण सींग वाली) तीक्ष्णशृङ्गा ॥ तुङ्गनासिकी दीर्घजङ्घी में तुङ्गा को पुंवद्भाव (६।३।३२) से हुआ है, बिम्बोष्ठी में विकल्प से पररूप (वा० ६।१।९१) होता है। सर्वत्र बहुव्रीहि समास होने से ये सब उपसर्जन हैं ॥

न क्रोडादिबह्वचः ॥४।१।५६॥

न अ० ॥ क्रोडादिबह्वचः ५।१॥ स०— क्रोड आदिर्येषां ते क्रोडादयः, बहुव्रीहिः। बहवोऽचो यस्मिन् स बह्वच्, बहुव्रीहिः। क्रोडादयश्च बह्वच् च क्रोडादिबह्वच्, तस्मात्......समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०— स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्, ङीष्, अतः, स्त्रियाम् प्रातिपदिकात् प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—स्वाङ्गवाचिन उपसर्जनात् अदन्तात् क्रोडाद्यन्तात् प्रातिपदिकात् बह्वजन्ताच्च प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो न भवति ॥ उदा०—कल्याणक्रोडा, कल्याणखुरा। बह्वचः—पृथुजघना महाललाटा ॥

भाषार्थः—[क्रोडादिबह्वचः] क्रोडाद्यन्त स्वाङ्गवाची उपसर्जन प्रातिपदिकों से तथा बह्वजन्त अदन्त स्वाङ्गवाची उपसर्जन प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय [न] नहीं होता है ॥ स्वाङ्गवाची होने से ४।१।५४ से ङीष् प्राप्त था, यहाँ निषेध कर दिया है ॥ उदा० – कल्याणक्रोडा (उत्तम है गोद जिसकी) कल्याणखुरा (अच्छे खुर वाली, बकरी)। बह्वचः—पृथुजघना (मोटी जङ्घा वाली) महाललाटा (बड़े ललाट वाली) ॥ यहाँ ङीष् का प्रतिषेध होने से टाप् हो गया है ॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ४।१।५८ तक जायेगी ॥

सहनञ्विद्यमानपूर्वाच्च ॥४।१।५७॥

सहनञ्विद्यमानपूर्वात् ५।१॥ च अ० ॥ स०—सह च नञ् च विद्यमानञ्च, सहनञ्विद्यमानम्, सहनञ्विद्यमानं पूर्वं यस्य स सहनञ्विद्यमानपूर्वः, तस्मात्......द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ अनु०—न, स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात्, ङीष्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥

अर्थः—सह, नञ्, विद्यमान इत्येवं पूर्वात् स्वाङ्गवाचिन उपसर्जनात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो न भवति ॥ *स्वाङ्गाच्चोप०* (४।१।५४) *नासिकोदरौष्ठ०* (४।१।५५) इत्येताभ्यां ङीप् प्राप्तः प्रतिषिध्यते ॥ *उदा०*— सह केशैर्वर्त्तते = सकेशा, अविद्यमानाः केशाः अस्याः = अकेशा, विद्यमानाः केशाः अस्याः = विद्यमानकेशा। सनासिका, अनासिका, विद्यमाननासिका ॥

भाषार्थः—[*सह·····पूर्वात्*] सह, नञ् विद्यमान ये शब्द पूर्व में हों तो स्वाङ्गवाच उपसर्जन प्रातिपदिक से [च] भी स्त्रीलिङ्ग में ङीष् प्रत्यय नहीं होता॥ *स्वाङ्गाच्चोपसर्जना०* तथा *नासिकोदरौष्ठ०* सूत्रों से जो ङीष् प्राप्त था, उसी का यह निषेध है॥ ङीप् का निषेध होने से टाप् हो जाता है॥ *उदा०*—सकेशा (केशों वाली) अकेशा (जिसके बाल नहीं हैं) विद्यमानकेशा (केशों वाली)। सनासिका (नासिका वाली)। अनासिका (जिसकी नासिका नहीं है)। विद्यमाननासिका (नासिका वाली)॥ सकेशा सनासिका में *तेन सहेति तु०* (२।२।२८) से समास तथा *वोपसर्जनस्य* (६।३।८०) से 'सह' को 'स' भाव हुआ है। अकेशा अनासिका में *नञोऽस्त्यर्थानां बहुव्रीहिर्वा चोत्तरपदलोपश्च वक्तव्यः* (*वा०* २।२।२४) इस वार्त्तिक से नञ् का अस्ति के अर्थ में बहुव्रीहि समास हुआ है। शेष सर्वत्र *अनेकमन्य०* (२।२।२४) से समास हुआ है॥

नखमुखात् संज्ञायाम् ॥४।१।५८॥

नखमुखात् ५।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ *स०*—नखञ्च मुखञ्च नखमुखं, तस्मात्······समाहारो द्वन्द्वः॥ *अनु०* न, स्वाङ्गाच्चोपसर्जनात् ङीष्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—संज्ञायां विषये स्वाङ्गवाचिन उपसर्जनात् नखान्तात् मुखान्ताच्च प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो न भवति॥ *उदा०*—शूर्पमिव नखमस्याः शूर्पणखा, वज्रणखा, गौरमुखा, कालमुखा॥

भाषार्थः—स्वाङ्गवाची उपसर्जन [*नखमुखात्*] नख शब्दान्त तथा मुख शब्दान्त प्रातिपदिकों से [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में स्त्रीलिंग में ङीष् प्रत्यय नहीं होता है॥ *स्वाङ्गाच्चोप०* (४।१।५४) से ङीप् की प्राप्ति

का यह प्रतिषेध है ॥ *उदा०*—शूर्पणखा (सूप के समान नाखून वाली) वज्रणखा (वज्र के समान हैं नख जिसके) गौरमुखा (गोरे मुख वाली)। कालमुखा (काले मुख वाली) ॥ *पूर्वपदात् सञ्ज्ञायामगः* (८।४।३) से शूर्पणखा आदि में णत्व हुआ है ॥

दीर्घजिह्वी च च्छन्दसि ॥४।१।५९॥

दीर्घजिह्वी १।१॥ च अ० ॥ छन्दसि ७।१॥ *अनु०*—ङीप्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—'दीर्घजिह्वी' शब्दो ङीपन्तः स्त्रियां छन्दसि विषये निपात्यते ॥ जिह्वा शब्दः स्वाङ्गवाची संयोगोपधः, तस्मात् *स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्* इत्यनेन ङीपि अप्राप्ते वचनम् ॥ *उदा०*—दीर्घजिह्वी वै देवानां हव्यमलेट् (मै० सं० ३।१०।६)

भाषार्थः—[*छन्दसि*] वेद विषय में [*दीर्घजिह्वी*] दीर्घजिह्वी शब्द [*च*] भी ङीप् प्रत्ययान्त निपातन है ॥ जिह्वा शब्द स्वाङ्गवाची संयोग उपधा वाला है, अतः ङीष् प्राप्ति नहीं था, अप्राप्त में विधान कर दिया है ॥

यहाँ से *'छन्दसि'* की अनुवृत्ति ४।१।६१ तक जायेगी ॥

दिक्पूर्वपदान् ङीप् ॥४।१।६०॥

दिक्पूर्वपदात् ५।१॥ ङीप् १।१॥ *स०*—दिक् पूर्वपदं यस्य तत् दिक्पूर्वपदं, तस्मात्......बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—दिक्पूर्वपदात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति ॥ स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादित्येवमादिविधिप्रतिषेधविषयः सर्वोऽप्यपेक्ष्यते तेन *स्वाङ्गाच्चोप०* (४।१।५४) इत्यादिना यत्र विषये ङीप् विहितस्तत्रैव ङीप् विधेयः, यत्र तु विषये ङीप् प्रतिषिद्धस्तत्र ङीबपि न भवति ॥ *उदा०*—प्राङ् मुखं यस्याः सा प्राङ्मुखी, प्राङ्मुखा। प्राङ्नासिकी, प्राङ्नासिका। संयोगोपधत्वाद् इह न भवति—प्राग्गुल्फा। *न क्रोडादि०* (४।१।५६) इति निषेधेन इह च न भवति—प्राक्क्रोडा, प्राग्जघना ॥

भाषार्थः—[*दिक्पूर्वपदात्*] दिशा पूर्वपद में है जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से स्त्रीलिंग में [*ङीप्*] ङीप् प्रत्यय होता है ॥ इस सूत्र में

स्वाङ्गाच्चोप० (४।१।५४) इत्यादि सूत्रों से किये हुये विधि या प्रतिषेध सबकी अपेक्षा की गई है, अतः दिशा वाचक पूर्वपद में रहते प्राङ्मुखी प्राङ्मुखा आदि में विकल्प से ङीप् हुआ है, क्योंकि *स्वाङ्गाच्चोप०* *नासिकोद०* (४।१।५४,५५) से विकल्प से ङीप् कहा है, तथा असंयोगोपध निषेध कहने से प्राग्गुल्फा में ङीप् की प्राप्ति न होने से ङीप् भी नहीं होता, एवं *न क्रोडादिबह्वचः* से ङीष् का निषेध कहने से प्राक्क्रोडा आदि में ङीप् भी नहीं होता॥ 'प्राक्' दिशावाची शब्द है, उसकी सिद्धि प्रथम भाग पृ० ८९२ परि० ३।२।५९ में देखें। ङीष् एवं ङीप् में स्वर का ही भेद है॥

वाहः ॥४।१।६१॥

वाहः ५।१॥ *अनु०*—छन्दसि, ङीप्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—वाहन्तादनुपसर्जनात् प्रातिपदिकात् छन्दसि विषये स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—दित्यौही च मे (य० १८।२६) प्रष्ठौही (तुलना-पष्ठौही य० १८, २७ मै० सं० २।६।४। का० १२।८, ११।२। तै० ५।६।१७।१)॥

भाषार्थः—*वहश्च* (३।२।६४) से ण्वि प्रत्यय करके 'वाहः' निर्देश यहाँ सूत्र में किया गया है॥ [*वाह*] वाहन्त अनुपसर्जन प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में वेद विषय में ङीप् प्रत्यय होता है॥

सख्यशिश्वीति भाषायाम् ॥४।१।६२॥

सखी १।१॥ अशिश्वी १।१॥ इति अ०॥ भाषायाम् ७।१॥ *अनु०*—ङीप्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः परश्च॥ *अर्थ*—सखी अशिश्वी इत्येतौ शब्दौ ङीपन्तौ भाषायां विषये स्त्रियां निपात्येते॥ *उदा०*—सखीयं मे ब्राह्मणी। नास्याः शिशुरस्तीति अशिश्वी॥

भाषार्थः—[*सख्यशिश्वी*] सखी तथा अशिश्वी [*इति*] ये शब्द [*भाषायाम्*] भाषा विषय में स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्ययान्त निपातन किये जाते हैं॥ *उदा०*—सखीयं मे ब्राह्मणी (यह ब्राह्मणी मेरी सहेली है)। अशिश्वी (जिसके शिशु नहीं हैं, ऐसी स्त्री)॥

जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् ॥४।१।६३॥

जातेः ५।१॥ अस्त्रीविषयात् ५।१॥ अयोपधात् ५।१॥ *स०*—स्त्री विषयो यस्य स स्त्रीविषयः, बहुव्रीहिः। न स्त्रीविषयः, अस्त्रीविषयः,

तस्मान्......नञ्तत्पुरुषः। य उपधा यस्य स योपधः, न योपधः अयोपधस्तस्मान् बहुव्रीहिगर्भनञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—ङीप्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थ*—जातिवाचि यत् प्रातिपदिकं न च स्त्रियामेव नियतमस्त्रीविषयमयकारोपधञ्च तस्मात् स्त्रीलिङ्गे ङीप् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—कुक्कुटी, सूकरी, ब्राह्मणी, वृषली, नाडायनी।

भाषार्थः—[*अस्त्रीविषयात्*] जो नित्य ही स्त्री विषय में न हो तथा [*अयोपधात्*] यकार उपधा वाला न हो ऐसे [*जातेः*] जातिवाची प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है॥ *उदा०*—कुक्कुटी (मुर्गी)। सूकरी (सूअरी)। ब्राह्मणी। वृषली (नीच स्त्री)। नाडायनी (नड की पौत्री)॥

कुक्कुट आदि शब्द नियत रूप से स्त्रीविषयक नहीं हैं, एवं अयकारोपध तथा जातिवाची भी हैं सो ङीप् हो गया है। नाडायनी में नड शब्द से *नडादिभ्य०* (४।१।९९) से फक् प्रत्यय तथा फ को आयन करके नाडायन बना, तत्पश्चात् ङीप् होकर नाडायनी बन गया है॥

यहाँ से '*जातेः*' की अनुवृत्ति ४।१।६४ तक जायेगी॥

पाककर्णपर्णपुष्पफलमूलवालोत्तरपदाच्च ॥४।१।६४॥

पाक......पदात् ५।१॥ च अ०॥ *स०*—पाकश्च कर्णश्च पर्णञ्च पुष्पञ्च फलञ्च मूलञ्च वालश्च पाक......वालाः इत्येते शब्दाः उत्तरपदं यस्य तत् पाक......वालोत्तरपदम्, तस्मात्......बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—जातेः, ङीप्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थ*—पाकाद्युत्तरपदाज्जातिवाचिनः प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीष् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—ओदनस्य पाक इव पाको यस्याः ओदनपाकी, शङ्कुरिव कर्णौ यस्याः सा शङ्कुकर्णी, शालपर्णी, शङ्ख इव पुष्पमस्याः शङ्खपुष्पी, दासीफली, दर्भमूली, गोवाली॥

भाषार्थ—[*पाक......पदात्*] पाक, कर्ण, पर्ण, पुष्प, फल, मूल, वाल ये शब्द [*च*] भी यदि उत्तरपद में हों तो जातिवाची प्रातिपदिक से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है॥ *उदा०*—ओनपाकदी (नीलझिण्टी, ओषधि विशेष) शङ्कुकर्णी (गधी) शालपर्णी (शाल वृक्ष के समान पत्तों वाली,

ओषधि विशेष) शङ्खपुष्पी (एक प्रकार की ओषधि) दासीफली (ओषधि विशेष) दर्भमूली (एक प्रकार का क्षुप) गोवाली (ओषधि विशेष) ॥

इतो मनुष्यजातेः ॥४।१।६५॥

इतः ५।१॥ मनुष्यजातेः ५।१॥ स०—मनुष्यस्य जातिः मनुष्यजातिः तस्याः......षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—ङीप्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—मनुष्यजातिवाचिनोऽनुपसर्जनाद् इकारान्तात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां ङीप् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—अवन्ती, कुन्ती, दाक्षी, प्लाक्षी ॥

भाषार्थः—[*इतः*] इकारान्त जो [*मनुष्यजातेः*] मनुष्य जातिवाची अनुपसर्जन शब्द उनसे स्त्रीलिङ्ग में ङीप् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*मनुष्यजातेः*' की अनुवृत्ति ४।१।६६ तक जायेगी ॥

ऊङुतः ॥४।१।६६॥

ऊङ् १।१॥ उतः ५।१॥ अनु०—मनुष्यजातेः, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—उकारान्ताद् मनुष्यजातिवाचिनः प्रातिपदिकात् स्त्रियाम् ऊङ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—कुरूः । ब्रह्मा विप्रो बन्धुरस्याः सा ब्रह्मबन्धूः[1] । वीरो बन्धुरस्याः=वीरबन्धूः[2] ॥

भाषार्थः—[*उतः*] उकारान्त मनुष्य जातिवाची प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में [*ऊङ्*] प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—कुरूः । ब्रह्मबन्धूः ब्राह्मण जिसका बन्धु हो अर्थात् स्वयं ब्राह्मणाचार वाली न हो ऐसी स्त्री) । वीरबन्धूः (स्वयं वीर=क्षत्रिय आचार से रहित स्त्री) ॥ कुरु+ऊङ् *अक. सवर्णे०* (६।१।९७) से सर्वत्र दीर्घ होकर कुरूः आदि की सिद्धि जाने ॥

यहाँ से '*ऊङ्*' की अनुवृत्ति ४।१।७२ तक जायेगी ॥

बाह्वन्तात् संज्ञायाम् ॥४।१।६७॥

बाह्वन्तात् ५।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ स०—बाहुः अन्ते यस्य तद् बाह्वन्तस्तस्मात्......बहुव्रीहिः ॥ अनु०—ऊङ्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्,

---

१. स्वयं ब्राह्मणाचाररहिता इत्यर्थः । २. स्वयं क्षत्रियाचाररहिता इत्यर्थः ।

प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—बाह्वन्तात् प्रातिपदिकात् संज्ञायां विषये स्त्रियाम् ऊङ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—भद्रबाहूः, जालबाहूः ॥

भाषार्थः—[*बाह्वन्तात्*] बाहु शब्द अन्त वाले प्रातिपदिकों से [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—भद्रबाहूः (भद्रबाहू नाम की स्त्री)। जालबाहूः (जालबाहू नाम की स्त्री) ॥

पङ्गोश्च ॥४।१।६८॥

पङ्गोः ५।१॥ च अ०॥ *अनु०*—ऊङ्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अनुपसर्जनात् पङ्गुशब्दात् स्त्रियां ऊङ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—पङ्गूः ॥

भाषार्थ—[*पङ्गोः*] पङ्गु शब्द से [*च*] भी स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—पङ्गूः (लँगड़ी स्त्री) ॥

ऊरूत्तरपदादौपम्ये ॥४।१।६९॥

ऊरूत्तरपदात् ५।१॥ औपम्ये ७।१॥ *स०*—ऊरुः उत्तरपदं यस्य तदूरूत्तरपदं तस्मात्.....बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—ऊङ्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थ*—ऊरूत्तरपदात् प्रातिपदिकात् स्त्रियाम् औपम्ये गम्यमाने ऊङ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—कदलीस्तम्भ इव ऊरू यस्याः सा कदलीस्तम्भोरूः, नागनासोरूः ॥

भाषार्थः—[*ऊरूत्तरपदात्*] ऊरु शब्द उत्तरपद वाले प्रातिपदिकों से [*औपम्ये*] औपम्य गम्यमान होने पर ऊङ् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—कदलीस्तम्भोरूः (केले के खम्भे के समान हैं मोटी मोटी जङ्घायें जिसकी)। नागनासोरूः (हाथी के सूँड के समान गोल हैं जङ्घा जिसकी, वह स्त्री) ॥

यहाँ से '*ऊरूत्तरपदात्*' की अनुवृत्ति ४।१।७० तक जायेगी ॥

संहितशफलक्षणवामादेश्च ॥४।१।७०॥

संहितशफलक्षणवामादेः ५।१॥ च अ० ॥ *स०*—संहितश्च शफश्च लक्षणञ्च वामश्च संहित.....वामाः, संहितशफलक्षणवामाः आदौ यस्य स संहित.....वामादिस्तस्मात्.....बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—ऊरूत्तर-

पदात्, ऊङ्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थ* — संहित शफ लक्षण वाम इत्येवमादेर् ऊरूत्तरपदात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां ऊङ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा*॰—संहितौ ऊरू यस्याः सा संहितोरूः । शफोरूः । लक्षणोरूः । वामोरूः ॥

भाषार्थ —[*संहित......वामादे.*] संहित, शफ, लक्षण, वाम आदि वाले ऊरूत्तरपद प्रातिपदिकों से [च] स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय होता है ॥ *उदा*॰—संहितोरूः (जिसकी जङ्घाये आपस में मिली हुई हैं) । शफोरूः (जिसकी जङ्घाये आपस में गौ के खुर के समान पृथक् हुई हैं, ऐसी स्त्री) । लक्षणोरूः (चिह्नित जङ्घा वाली) । वामोरूः (सुन्दर जङ्घा वाली) ॥ सर्वत्र उदाहरणों में बहुव्रीहि समास है, अतः इन प्रकृत सूत्रों में '*अनुपसर्जनात्*' अधिकार आते हुये भी नहीं बैठता ॥

कद्रुकमण्डल्वोश्छन्दसि ॥४।१।७१॥

कद्रुकमण्डल्वोः ६।२॥ छन्दसि ७।१॥ *स*॰—कद्रुश्च कमण्डलुश्च कद्रुकमण्डलू तयोः......इतरेतर द्वन्द्वः ॥ *अनु*॰—ऊङ्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—कद्रु कमण्डलु इत्येताभ्यां छन्दसि विषये स्त्रियाम् ऊङ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा*॰— कद्रूश्च वै सुपर्णी च (तै॰ सं॰ ६।१।६।१) मा स्म कमण्डलूं शूद्राय दद्यात् ॥

भाषार्थः—[*कद्रुकमण्डल्वो*] कद्रु और कमण्डलु शब्दों से [*छन्दसि*] वेद विषय में स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*कद्रुकमण्डल्वो*.' की अनुवृत्ति ४।१।७२ तक जायेगी ॥

संज्ञायाम् ॥४।१।७२॥

संज्ञायाम् ७।१॥ *अनु*॰—कद्रुकमण्डल्वोः, ऊङ्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थ*—कद्रु, कमण्डलु इत्येताभ्यां शब्दाभ्यां संज्ञायां विषये स्त्रियाम् ऊङ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा*॰—कद्रूः, कमण्डलूः ॥

भाषार्थः—[*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय हो तो (लोक में भी) कद्रु कमण्डलु शब्दों से स्त्रीलिङ्ग में ऊङ् प्रत्यय होता है ॥ 'छन्दसि' पद

की यहाँ अनुवृत्ति नहीं आती, सो यह सूत्र भाषा विषयक ही है ॥ उदा०—कद्रूः (इस नाम वाली विनता की पुत्री)। कमण्डलूः। यहाँ कमण्डलु के समान इस अर्थ में संज्ञा में उत्पन्न 'क' प्रत्यय का 'लुम्मनुष्ये' ५।३।९८ से लोप होकर कमण्डलु संज्ञा वाचक होता है, उससे स्त्री अर्थ में ऊङ् कहा है) ॥

शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन् ॥४।१।७३॥

शार्ङ्गरवाद्यञः ५।१॥ ङीन् १।१॥ स०—शार्ङ्गरव आदिर्येषां ते शार्ङ्ग-रवादयः, शार्ङ्गरवादयश्च अञ् च, शार्ङ्गरवाद्यञ्, तस्मात्...बहुव्रीहिगर्भ समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। जातेः इत्यपि मण्डूकप्लुतगत्या जातेर०(४।१।६३) इत्यतोऽनुवर्त्तते ॥ अर्थः—जातिवाचिभ्योऽनुपसर्जनेभ्यः शार्ङ्गरवादिभ्यो-ऽञन्तेभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः स्त्रियां ङीन् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—शार्ङ्गरवी कापटवी। अञन्तेभ्यः—बैदी, और्वी ॥

भाषार्थ—[*शार्ङ्गरवाद्यञः*] अनुपसर्जन जातिवाची शार्ङ्गरवादि तथा अञन्त प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में [ङीन्] ङीन् प्रत्यय होता है ॥ उदा०—शार्ङ्गरवी (शृङ्गरव की पुत्री, कण्व की शिष्या)। कापटवी (कपटु नाम वाले की पुत्री)। बैदी (बिद गोत्र वाली स्त्री)। और्वी (उर्व गोत्र वाली स्त्री)। शार्ङ्गरवी आदि में ङीन् होने से *ञ्नित्यादिर्नित्यम्* (६।१।१९१) से आद्युदात्त हुआ है ॥ बिद, उर्व शब्दों से *अनृष्यानन्तर्ये०* (४।१।१०४) से अञ् प्रत्यय हुआ है, सो वृद्धि आदि होकर बैद और्व शब्द बने हैं। पुनः प्रकृत सूत्र से ङीन् हुआ है ॥

यङश्चाप् ॥४।१।७४॥

यङः ५।१॥ चाप् १।१॥ अनु०—स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—यङन्तात् प्रातिपदिकात् स्त्रियां चाप् प्रत्ययो भवति ॥ यङ् इत्यनेन ञ्यङ्ष्यङौ सामान्येन गृह्येते ॥ उदा०—आम्बष्ठ्या। सौवीर्या। ष्यङ्—कारीषगन्ध्या, वाराह्या, बालाक्या ॥

भाषार्थः—[*यङः*] यङन्त प्रातिपदिकों से स्त्रीलिङ्ग में [*चाप्*] चाप् प्रत्यय होता है ॥ यङ् से यहाँ ञ्यङ् ष्यङ् का सामान्य रूप से ग्रहण है ॥

यहाँ से 'चाप्' की अनुवृत्ति ४।१।७५ तक जायेगी।

आवट्याच्च ॥४।१।७५॥

आवट्यात् ५।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—चाप्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*- अनुपसर्जनाद् आवट्य प्रातिपदिकात् स्त्रियां चाप् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अवाट्या॥

भाषार्थः—अनुपसर्जन [*आवट्यात्*] आवट्य शब्द से [च] भी स्त्रीलिङ्ग में चाप् प्रत्यय होता है ॥ अवट शब्द गर्गादि गण में पढ़ा है, सो उससे यञ् करने के पश्चात् स्त्रीलिङ्ग में *यञश्च* (४।१।१६) से ङीप् प्राप्त था चाप् विधान कर दिया है ॥ *उदा०*—आवट्या (अवट की पौत्री) ॥

तद्धिताः ॥४।१।७६॥

तद्धिताः १।३॥ *अर्थः*—अधिकारोऽयम्। इतोऽग्रे आपञ्चमाध्याय-परिसमाप्तेः (५।४।१६०) वक्ष्यमाणाः प्रत्ययास्तद्धितसंज्ञका भवन्ति॥ अग्रे उदाहरिष्यामः॥

भाषार्थः—यह अधिकार सूत्र है। यहाँ से आगे पञ्चमाध्याय की समाप्ति पर्यन्त जो भी प्रत्यय कहेंगे उन सबकी [*तद्धिताः*] तद्धित संज्ञा होती है॥ तद्धित संज्ञा होने से *कृत्तद्धित०* (१।२।४६) से प्रातिपदिक संज्ञा हो जाती है॥ यहाँ से आगे तद्धिताः 'प्रत्ययः' का विशेषण बनता जायेगा, अतः सर्वत्र ऐसा अर्थ होगा "अमुक प्रत्यय होता है, और वह तद्धित संज्ञक होता है" सो इसी प्रकार आगे के सूत्रों के अर्थ स्वयं समझ लेने चाहिएँ॥

यूनस्तिः ॥४।१।७७॥

यूनः ५।१॥ तिः १।१॥ *अनु०*—तद्धिताः, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—युवन् प्रातिपदिकात् स्त्रियां तिः प्रत्ययो भवति, स च तद्धितसंज्ञको भवति॥ *उदा०*—युवतिः॥

भाषार्थः—[*यूनः*] युवन् प्रातिपदिक से [*तिः*] ति प्रत्यय स्त्रीलिङ्ग में होता है, और वह तद्धित संज्ञक होता है॥ 'युवन् ति' यहाँ *स्वादिष्वस०* (१।४।१७) से पदसंज्ञा तथा *नलोपः०* (८।२।७) से नकार लोप होकर 'युवति' बना। 'ति' की तद्धित संज्ञा होने से प्रातिपदिक

(१।२।४६) संज्ञा होकर स्वाद्युत्पत्ति हो जाती है, यही तद्धित संज्ञा का फल है ॥ *उदा०*—युवतिः (युवा स्त्री) ॥

अणिञोरनार्षयोर्गुरूपोत्तमयोः ष्यङ् गोत्रे ॥४।१।७८॥

अणिञोः ६।२॥ अनार्षयोः ६।२॥ गुरूपोत्तमयोः ६।२॥ ष्यङ् १।१॥ गोत्रे ७।१॥ *स०*—अण् च इञ् च अणिञौ, तयोः······इतरेतरद्वन्द्वः ॥ न आर्षौ अनार्षौ तयोः नञ्तत्पुरुषः। गुरुः उपोत्तमं ययोः तौ गुरूपोत्तमौ तयोः······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—तद्धिताः, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात् ॥ त्र्यादीनामन्त्यमुत्तमं, तस्य समीपम् उपोत्तमम् ॥ *अर्थः*—गोत्रे यावणिञौ विहितावनार्षौ तदन्तयोर्गुरूपोत्तमयोः प्रातिपदिकयोः स्त्रियां ष्यङ् आदेशो भवति ॥ *उदा०*—कारीषगन्ध्या, कौमुदगन्ध्या। इञ्—वाराह्या, बालाक्या ॥

भाषार्थः—[*गोत्रे*] गोत्र में विहित जो [*अनार्षयोः*] ऋष्यपत्य से भिन्न [*अणिञोः*] अण् और इञ् प्रत्यय अन्त वाले [*गुरूपोत्तमयोः*] उपोत्तम गुरु वाले प्रातिपदिकों को स्त्रीलिङ्ग में [ष्यङ्] ष्यङ् आदेश होता है ॥ उत्तम तीन और तीन से अधिक वर्णों वाले शब्द के अन्तिम वर्ण को कहते हैं, उस अन्त्य वर्ण अर्थात् उत्तम के समीप जो वर्ण वह उपोत्तम कहाता है, सो अभिप्राय यह हुआ कि जिस प्रातिपदिक में कम से कम तीन वर्ण होंगे वहीं पर इस सूत्र की प्रवृत्ति होगी, दो या एक वर्ण वाले प्रातिपदिक में नहीं ॥ जिसका उपोत्तम गुरु होगा उससे यहाँ प्रत्यय होगा ॥ कारीषगन्ध कौमुदगन्ध में पाँच पाँच वर्ण हैं। इनमें 'ध' अन्त्यवर्ण है। उससे पूर्व 'ग' का अकार संयोग परे होने से गुरु संज्ञक है अतः यहाँ ष्यङ् हो गया है, पूरी सिद्धि तो परि० ४।१।७४ में ही देखें ॥ वाराहि बालाकि में 'रा' तथा 'ला' उपोत्तम हैं, एवं दीर्घञ्च (१।४।१२) से इनकी गुरु संज्ञा भी है ॥

यहाँ से 'ष्यङ्' की अनुवृत्ति ४।१।८१ तक, 'गोत्रे' की ४।१।८० तक तथा '*अणिञोः*' की ४।१।७९ तक जायेगी ॥

गोत्रावयवात् ॥४।१।७९॥

गोत्रावयवात् ५।१॥ *स०*—गोत्रञ्च तदवयवश्च गोत्रावयवः[१], तस्मात्··· कर्मधारयस्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अणिञोः, ष्यङ्, गोत्रे,

---

१. निपातनात् विशेषणस्य परनिपातः।

तद्धिताः, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात् ।। अगुरूपोत्तमार्थोऽयमारम्भः ।। *अर्थः*—गोत्राभिमता गोत्ररूपेण स्वीकृताः = प्रख्याता ये शब्दास्ततो विहितयोरणिञोः स्त्रियां ष्यङादेशो भवति ।। *उदा०*—पौणिक्या भौणिक्या ।।

भाषार्थः—[*गोत्रावयवात्*] गोत्रावयव = अर्थात् गोत्र रूप से लोक में स्वीकृत कुल संज्ञा रूप से प्रख्यात जो प्रातिपदिक उनसे विहित जो अनार्ष अण् और इञ् प्रत्यय उनको ष्यङ् आदेश होता है ।। पूर्व सूत्र गुरूपोत्तम से ष्यङादेश करता था, यहाँ अगुरूपोत्तम से भी ष्यङ् विधान करने के लिये यह सूत्र बनाया है ।। गोत्रावयव से यहाँ तात्पर्य गोत्र रूप से स्वीकृत शब्दों से है, अर्थात् *अपत्यं पौत्रप्रभृति०* (४।१।१६२) से जो गोत्र संज्ञा होती है, ऐसे पौत्रप्रभृति के अपत्य में वर्त्तमान न होने पर भी जिन्हें व्यवहार में गोत्र ही मान लिया गया है, जैसे कि— श्रुतिशील सम्पन्न श्रेष्ठतम, यशस्वी कुल के आदिपुरुषों को गोत्र रूप से ही व्यवहार किया जाता है, यथा भरत इत्यादि, उन्हीं का गोत्रावयव कहने से यहाँ ग्रहण है ।।

पुणिकस्यापत्यं स्त्री, ऐसा विग्रह करके *अत इञ्* (४।१।९५) से इञ् प्रत्यय आकर पौणिकि बना है, तथा भुणिक शब्द से *अवृद्धाभ्यो नदी०* (४।१।११३) से अण् प्रत्यय होकर भौणिक बना है, अब यह इञन्त एवं अणन्त शब्द हैं सो प्रकृत सूत्र से स्त्री अर्थ में इञ् एवं अण् के स्थान में ष्यङ् तथा पूर्ववत् चाप् होकर पौणिक्या, भौणिक्या बना है ।।

क्रौड्यादिभ्यश्च ।।४।१।८०।।

क्रौड्यादिभ्यः ५।३।। च अ० ।। *स०*—क्रौडि आदिर्येषां ते क्रौड्यादयस्तेभ्यः······बहुव्रीहिः ।। *अनु०*—तद्धिताः, गोत्रे, ष्यङ्, स्त्रियाम्, प्रातिपदिकात् प्रत्ययः, परश्च ।। *अर्थः*—गोत्रे वर्त्तमानेभ्यः क्रौड्यादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः स्त्रियां ष्यङ् प्रत्ययो भवति ।। *उदा०*— क्रौड्या, लाड्या ।।

भाषार्थः—गोत्र में वर्त्तमान [*क्रौड्यादिभ्यः*] क्रौड्यादि प्रातिपदिकों से [च] भी स्त्रीलिङ्ग में ष्यङ् प्रत्यय होता है ।। क्रौड्यादि गण में पढ़े

हुये कुछ शब्द इञन्त एवं अणन्त होते हुये भी गुरूपोत्तम नहीं य क्रौडि चौपयत आदि, तथा कुछ गुरूपोत्तम होते हुये भी इञन्त अणन्त नहीं हैं सो यह सूत्र अगुरूपोत्तमार्थ तथा अनणिञर्थं दोनों लिये आरम्भ किया है ॥ *उदा०*—क्रौड्या (क्रुड की पुत्री) । लाड्या (ल की पुत्री) ॥ ष्यङ् परे रहते, क्रौडि लाडि के इकार का लोप *यस्येति* (६।४।१४८) से हो जाता है ॥

देवयज्ञिशौचिवृक्षिसात्यमुग्रिकाण्ठेविद्धिभ्योऽन्यतरस्याम् ॥४।१।८१॥

दैव ·····विद्धिभ्यः ५।३॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *स०*—दैव० इत्य तरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ष्यङ्, अनुपसर्जनात्, स्त्रियाम् प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थ*—अनुपसर्जनेभ्यः दैवया शौचिवृक्षि सात्यमुग्रि काण्ठेविद्धि इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः स्त्रि विकल्पेन ष्यङ् प्रत्ययो भवति । *उदा०*—दैवयज्ञ्या दैवयज्ञी । शौचि वृक्ष्या शौचिवृक्षी । सात्यमुग्र्या, सात्यमुग्री । काण्ठेविद्ध्या काण्ठेविद्धी

भाषार्थ—[*दैवय·····द्धिभ्यः*] दैवयज्ञि आदि शब्दों से स्त्रीलि में ष्यङ् प्रत्यय [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से होता है ॥

दैवयज्ञि आदि शब्द इञन्त (४।१।९५) हैं सो गोत्र विवक्षा होने प *अणिञोरनार्षयो०* (४।१।७८) से ही ष्यङादेश प्राप्त था, विकल्प से करने के लिये यह सूत्र है । अनन्तरापत्य विवक्षा में जब इञ् प्रत्यय होगा तो यह अप्राप्त विभाषा होगी सो यह विभाषा प्राप्ताप्राप्त है । जिस पक्ष में इञ् के स्थान में ष्यङ् आदेश नहीं हुआ, उस पक्ष में *इतो मनुष्यजातेः* (४।१।६५) से ङीप् हो गया है, सो दैवयज्ञी आदि बन गया ॥ *उदा०*–दैवयज्ञ्या (देवयज्ञ की पुत्री या पौत्री), दैवयज्ञी । शौचिवृक्ष्या (शुचिवृक्ष की पुत्री या पौत्री), शौचिवृक्षी । सात्यमुग्र्या (सत्यमुग्र की पुत्री), सात्यमुग्री । काण्ठेविद्ध्या (कण्ठेविद्ध की पुत्री), काण्ठेविद्धी ॥

समर्थानां प्रथमाद्वा ॥४।१।८२॥

समर्थानाम् ६।३॥ प्रथमात् ५।१॥ वा अ० ॥ समर्थानामित्यत्र निर्द्धारणे (२।३।४१) षष्ठी ॥ *अर्थः*—अधिकारोऽयम्, *प्राग्दिशो*

विभक्तिरिति (५।३।१) यावत्। इतोऽग्रे वक्ष्यमाणाः तद्धिताः समर्थानां मध्ये यः प्रथमः (सूत्रे प्रथमोच्चारितः) प्रकृतिस्तस्मात् विकल्पेन भवन्ति॥ *यथा*—उपगोः अपत्यं, औपगवः, अत्रोपगुरपि समर्थप्रकृतिः, अपत्यमपि, परं प्रथमप्रकृतिस्तु उपगुरेव, अतः सैव प्रत्ययमुत्पादयति न त्वपत्यम् समर्थानां ग्रहणेन इह न भवति—कम्बलमुपगोः, अपत्यं देवदत्तस्य। अत्रोपगोः प्रकृतेः सामर्थ्यं कम्बलं प्रति वर्त्तते, नापत्यं प्रति, अतः सामर्थ्याभावात् उपगोः प्रातिपदिकाद् अपत्ये प्रत्ययो नोत्पद्यते।

भाषार्थ.—यह परिभाषा रूप से अधिकार सूत्र है॥ यहाँ से लेकर प्राग्दिशो विभक्तिः तक कहे जाने वाले प्रत्यय [*समर्थानाम्*] समर्थों में जो [*प्रथमात्*] प्रथम प्रकृति उससे [*वा*] विकल्प करके होते हैं॥ समर्थ शब्द का अर्थ *समर्थः पदविधिः* (२।१।१) के समान ही सम्बद्धार्थः समर्थः = जिसका आपस में सम्बद्ध अर्थ हो, संश्लिष्टार्थः समर्थः आदि जाने॥ समर्थानाम् यहाँ निर्द्धारण में षष्ठी है॥

उपगोः अपत्यम्, औपगवः यहाँ उपगोः तथा अपत्यं परस्पर सम्बद्ध अर्थ वाले हैं, अत प्रत्यय उत्पन्न करने में दोनों ही समर्थ हैं, सो उपगोः से प्रत्यय हो अथवा अपत्यम् से ? यह प्रश्न हुआ, तो इस सूत्र ने कहा कि समर्थों में जो प्रथम प्रकृति उससे प्रत्यय हो अतः प्रथम प्रकृति 'उपगोः' थी सो उसी से *तस्यापत्यम्* (४।१।९२) से अण् प्रत्यय होकर औपगवः बन गया॥ यहाँ प्रथम पद से सूत्र में जो प्रथमोच्चारित प्रकृति वह लेनी है, जैसा कि *तस्यापत्यम्* (४।१।९२) में तस्य षष्ठ्यन्त प्रथमोच्चारित है, अपत्यम् नहीं अतः षष्ठ्यन्त जो भी प्रकृति होगी उससे प्रत्यय होगा। हम चाहें 'अपत्यम् उपगोः' यहाँ अपत्यं प्रथम उच्चारित कर दे तो भी उससे प्रत्यय नही हो सकता, क्योंकि सूत्र में निर्दिष्ट ही प्रथम लेना है॥ 'वा' = विकल्प से इसलिये कहा कि पक्ष में उपगोरपत्यं ऐसा विग्रह वाक्य भी बना रहे॥ यहाँ 'समर्थ' इसलिए कहा है कि 'कम्बलम् उपगोः, अपत्यं देवदत्तस्य' (कम्बल उपगु का तथा अपत्य देवदत्त का) यहाँ उपगु तथा अपत्य परस्पर सम्बद्धार्थ अर्थात् समर्थ नहीं हैं, अतः उपगु से प्रत्यय नहीं हो सकता, क्योंकि उपगु का सामर्थ्य कम्बल के साथ तथा अपत्य का देवदत्त के साथ है। यद्यपि यहाँ प्रत्युदाहरण देना द्वितीयावृत्ति का विषय है तो भी बिना प्रत्यु-

दाहरण बताये सूत्र का तात्पर्यार्थ समझ में नहीं आ सकता, अतः बता दिया गया है ॥ यह सूत्र परिभाषा रूपेण अधिकार सूत्र है, *प्राग्दिशो विभक्तिः* तक सर्वत्र बैठेगा, तो भी हम इसका अधिकार औत्सर्गिक सूत्रों में ही दिखायेंगे ऐसा पाठक सर्वत्र समझे ॥

यहाँ से आगे समर्थानां *प्रथमाद्वा* तथा प्रातिपदिकात् दोनों का अधिकार चलता है, अतः प्रश्न यह होता है कि समर्थ तो सुबन्त ही हो सकता है, और सुबन्त प्रातिपदिक है नहीं, तब किस प्रकार आगे सूत्रार्थ करने में समर्थ एवं प्रातिपदिक दोनों का सम्बन्ध लगे ? इसका उत्तर यह है, कि आगे आगे "षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से प्रत्यय हो" ऐसा कहने का अभिप्राय यह होगा कि 'ऐसा प्रातिपदिक जिसमें षष्ठी विभक्ति आई हो, उस (षष्ठ्यन्त) से प्रत्यय हो'। इस प्रकार समर्थ एवं प्रातिपदिक दोनों का ही अधिकार इस प्रकरण में आवश्यक है। केवल प्रातिपदिक से प्रत्यय न हों समर्थ (सुबन्त) से हों, इसलिये समर्थ का अधिकार आवश्यक है, एवं सूत्रों में जो पञ्चम्यन्त पद हैं, वे प्रातिपदिक के विशेषण बनें, समर्थ के नहीं, इसलिए प्रातिपदिक का अधिकार आवश्यक है। यथा—'*अत इञ्*' में 'अतः' पद पञ्चम्यन्त है, सो वह प्रातिपदिक का विशेषण बनेगा। इस प्रकार 'अदन्तत्व' प्रातिपदिक में देखना होगा, समर्थ सुबन्त में नहीं। सुबन्त से तो केवल प्रत्ययोत्पत्ति होगी। अन्यथा 'ज्ञस्यापत्यं' यहाँ ज्ञस्य समर्थ एवं अदन्त है, सो इससे ही प्रत्यय हो सकता है, 'ज्ञानाम् अपत्यं यहाँ अदन्त का विघात हो जाने से प्रत्यय नहीं हो सकता था, किन्तु जब 'अतः' प्रातिपदिक का विशेषण बनेगा तो प्रातिपदिक 'ज्ञ' तो अदन्त है ही समर्थ सुबन्त अदन्त हो या न हो तो भी प्रत्यय होगा। इसी प्रकार यह बात अन्यत्र भी समझ लेनी चाहिये ॥

प्राग्दीव्यतोऽण् ॥४।१।८३॥

प्राक् १।१॥ दीव्यतः ५।१॥ अण् १।१॥ *अनु०*—प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—दीव्यतः इत्यनेन *तेन दीव्यति खनति* (४।४।२) इति परिगृह्यते ॥ *तेन दीव्यति खनति०* इत्येतस्मात् प्राक् अण् प्रत्ययो भवतीत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ वक्ष्यति *तस्यापत्यम्* (४।१।९२) तत्र अण् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—औपगवः कापटवः ॥

भाषार्थः—[*दीव्यत*ः] *तेन दीव्यति खनति*० से [*प्राक्*] पहले-पहले [*अण्*] अण् प्रत्यय का अधिकार जायेगा, अर्थात् वहाँ तक के सब सूत्रों में अण् प्रत्यय हुआ करेगा ॥ इसमें यह बात ध्यान में रखनी है, कि अण् प्रत्यय का अधिकार यद्यपि ४।४।२ तक के सब सूत्रों में जायेगा, तो भी अण् प्रत्यय की उत्पत्ति उत्सर्ग सूत्रों में ही होगी, अपवाद सूत्रों में नहीं, सो अपवाद सूत्रों से तो जहाँ जो २ प्रत्यय अपवाद रूप में कहे हैं वही होंगे। यथा—*तस्यापत्यम्*, *तेन रक्तं रागात्* (४।२।१) आदि औत्सर्गिक सूत्र हैं, सो इनमें अण् प्रत्यय ही होगा, पर *अत इञ्* (४।१।९५) *लाक्षारोचनाट्ठक्* (४।२।२) आदि इनके अपवाद हैं, इनसे अण् के बाधक इञ् ठक् आदि प्रत्यय ही होंगे ॥

विशेषः—यहां से *प्राग्दीव्यतः* और *अण्* इन तीन पदों की अनुवृत्ति चलती है। आगे संख्या ८४, ८५ के सूत्रों में 'अण्' का संबन्ध नहीं होता क्योंकि उनमें प्राग्दीव्यति पर्यन्त अर्थों में प्रकृति विशेषों से 'ण्य' और 'अञ्' सामान्य (औत्सर्गिक) प्रत्ययों का विधान किया है। संख्या ८७ के सूत्र में 'दीव्यतः' का भी संबन्ध नहीं होता, क्योंकि उसमें 'भवनात्' अवधि का विधान किया है। इसी प्रकार संख्या ८८, ८९, ९०, ९१ सूत्रों में केवल 'प्राग्दीव्यतः' का सम्बन्ध होता है। इसी प्रकार अगले सूत्रों म अनुवृत्ति का निर्देश करेंगे, और उत्सर्ग सूत्रों के अर्थों में 'यथाविहित' शब्दों का प्रयोग करेंगे। उससे उस उस अर्थ विशेष में सामान्यरूप से अण् प्रत्यय, और दिति आदि प्रकृतियों से सम्भावना होने पर ण्य आदि प्रत्ययों का विधान जानना चाहिए यथा देखो *तस्यापत्यम्* (४।१।९२) की व्याख्या।

अश्वपत्यादिभ्यश्च ॥४।१।८४॥

अश्वपत्यादिभ्यः ५।३॥ च अ०॥ *स०*—अश्वपतिरादिर्येषां ते अश्वपत्यादयस्तेभ्यः ···बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—प्राग्दीव्यतोऽण्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थ*—अश्वपत्यादिभ्यः समर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः प्राग्दीव्यतीयेष्वण् प्रत्ययो भवति॥ *दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः* (४।१।८५) इत्यनेन ण्यप्रत्यये प्राप्तेऽण् विधीयते॥ उदा० आश्वपतम् शातपतम्॥

भाषार्थः—[*अश्वपत्यादिभ्य.*] अश्वपति आदि समर्थ प्रातिपदिकों से [च] भी प्राग्दीव्यतीय अर्थों में अण् प्रत्यय होता है ॥ अश्वपति आदि शब्दों में पत्युत्तरपद होने से *दित्यदित्या०* (४।१।८५) से ण्य की प्राप्ति थी यहाँ अण् विधान कर दिया है। प्रकृत सूत्र में अश्वपति आदि शब्दों से अण् प्रत्यय कहा है, परन्तु किस अर्थ में यह नहीं बताया अतः यह अण् प्रत्यय 'प्राग्दीव्यतः' तक कहे हुए सारे अर्थों में होगा, इस प्रकार आश्वपतम् 'अश्वपति का अपत्य' (सन्तान) 'अश्वपतियों का समूह' आदि उन सभी अर्थों को कहेगा, जिनका सम्बन्ध अश्वपति शब्द से हो सकता है ॥ प्राग्दीव्यतः तक जितने अर्थों में प्रत्यय कहे हैं, उन में मुख्य २ अर्थ निर्देशक सूत्रों को हम यहाँ पाठकों की सुविधा के लिये गिना देते हैं—*तस्यापत्यम्* (४।१।९२) *तेन रक्तं रागात्* (४।२।१) *संस्कृतं भक्षाः* (४।२।१५) *सास्य देवता* (४।२।२३) *तस्य समूहः* (४।२।३६) *तदधीते तद्वेद* (४।२।५८) *तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि* (४।२।६६) *तेन निर्वृत्तम्* (४।२।६७) *तस्य निवासः* (४।२।६८) *अदूरभवश्च* (४।२।६९) *तत्र जातः* (४।३।२५) *तत्र भवः* (४।३।५३) *तस्य व्याख्यान इति च०* (४।३।६६) *तेन प्रोक्तम्* (४।३।१०१) *तस्येदम्* (४।३।१२०) *तस्य विकारः* (४।३।१३२) ॥

दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः ॥४।१।८५॥

दित्य·····पदात् ५।१॥ ण्यः १।१॥ *स०*—पतिरुत्तरपदं यस्य तत् पत्युत्तरपदं, दितिश्च अदितिश्च आदित्यश्च पत्युत्तरपदञ्च, दित्य·····पदं, तस्मात्·····बहुव्रीहिगर्भसमाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—प्राग्दीव्यतः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—दिति अदिति आदित्य इत्येतेभ्यः समर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः, पत्युत्तरपदाच्च प्रातिपदिकात् प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु ण्यः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—दैत्यः, आदित्यः, आदित्यम्। पत्युत्तरपदात्—प्राजापत्यम् सैनापत्यम् ॥

भाषार्थः— [*दित्य·····दात्*] दिति, अदिति, आदित्य तथा पति उत्तरपद वाले समर्थ प्रातिपदिकों से प्राग्दीव्यतीय = *तेन दीव्यति* (४।४।२) तक कहे हुए सारे अर्थों में [*ण्यः*] ण्य प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—दैत्यः (दिति का अपत्य, आदि) आदित्यः (अदिति का अपत्य, आदि) आदित्यम् (आदित्य का अपत्य आदि) प्राजापत्यम् (प्रजापति का अपत्य

आदि) सैनापत्यम् (सेनापति का अपत्य आदि) ॥ उदाहरण में यस्येति लोप तथा *तद्धितेष्वचा०* (७।२।११७) से वृद्धि सर्वत्र हो ही जायेगी आदित्य शब्द से ण्य प्रत्यय करने पर एक यकार का लोप *हलो यमां यमि लोपः* (८।४।६३) से विकल्प से हो जायेगा। पक्ष में 'आदित्त्य' दो यकार भी रहेंगे ॥

उत्सादिभ्योऽञ् ॥४।१।८६॥

उत्सादिभ्यः ५।३॥ अञ् १।१॥ *स०*—उत्स आदिर्येषां ते उत्साद-यस्तेभ्यः······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—प्राग्दीव्यतः, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—उत्सादिभ्यः समर्थेभ्यः प्राति-पदिकेभ्यः प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेष्वञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—औत्सः, औदपानः ॥

भाषार्थः—[*उत्सादिभ्यः*] उत्सादि समर्थ प्रातिपदिकों से प्राग्दी-व्यतीय अर्थों में [*अञ्*] अञ् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—औत्सः (उत्स का पुत्र आदि)। औदपानः (उदपान का पुत्र आदि) ॥

स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात् ॥४।१।८७॥

स्त्रीपुंसाभ्याम् ५।२॥ नञ्स्नञौ १।२॥ भवनात् ५।१॥ *स०*—स्त्री च पुमांश्च, स्त्रीपुंसौ इतरेतरद्वन्द्वः। नञ् च स्नञ् च नञ्स्नञौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—प्राक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—भवनात् = *धान्यानां भवने०* (५।२।१) इत्येतस्मात् प्राक् येऽर्था विहितास्तेषु स्त्री पुंस् इत्येताभ्यां शब्दाभ्यां यथासङ्ख्यं नञ्स्नञौ प्रत्ययौ भवतः ॥ भवनाच्छब्देन *धान्यानां भवने०* इत्युपलक्ष्यते ॥ *उदा०*—स्त्रीषु भवं स्त्रैणम्, एवं पौंस्नम्। स्त्रीभ्यो हितं स्त्रैणम् पौंस्नम् ॥

भाषार्थः—[*भवनात्*] *धान्यानां भवने०* (५।२।१) तक जिन जिन अर्थों में प्रत्यय कहे हैं उन सब अर्थों में [*स्त्रीपुंसाभ्याम्*] स्त्री तथा पुंस् शब्द से यथासङ्ख्य करके [*नञ्स्नञौ*] नञ् तथा स्नञ् प्रत्यय होते हैं ॥

प्राग्दीव्यतः का अधिकार होने से दीव्यत् पर्यन्त जो जो अर्थ गिना आये हैं, उन्हीं अर्थों में नञ् स्नञ् प्रत्ययों की प्राप्ति थी, भवनात् कहने से उसके आगे कहे हुए अर्थों में भी दोनों प्रत्यय हो गये। यथा स्त्रीभ्यो हितं स्त्रैणम्, पौंस्नम् ॥ 'पुंस् स्नञ्' इस अवस्था में *संयोगान्तस्य०*

(८।२।२३) से अन्त 'स्' का लोप हुआ है, सो वृद्धि होकर पौंस्नम् बन गया ॥ इसी प्रकार 'स्त्री नञ्' = स्त्रैन णत्व होकर स्त्रैणम् बन गया है ॥

द्विगोर्लुगनपत्ये ॥४।१।८८॥

द्विगोः ६।१॥ लुक् १।१॥ अनपत्ये ७।१॥ *स०*—न अपत्यम् अनपत्यम्, तस्मिन्, नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—प्राग्दीव्यतः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः ॥ *अर्थः*—प्राग्दीव्यतीयेष्वर्थेषु विहितो द्विगोर्यः सम्बन्धी निमित्तं तद्धितप्रत्ययस्तस्य लुक् भवत्यपत्यप्रत्ययं वर्जयित्वा ॥ *उदा०*—पञ्चसु कपालेषु संस्कृतः पुरोडाशः = पञ्चकपालः, दशकपालः । द्वौ वेदौ अधीते = द्विवेदः, त्रिवेदः ॥

भाषार्थः—प्राग्दीव्यतीय अर्थों में विहित [*अनपत्ये*] अपत्य अर्थ से भिन्न [*द्विगोः*] द्विगु सम्बन्धी = द्विगु का निमित्त जो तद्धित प्रत्यय उसका [*लुक्*] लुक् होता है ॥ पञ्चकपालः की सिद्धि प्रथम भाग पृ० ८४० परि० २।१।५० में द्विवेदः त्रिवेदः की सिद्धि भी इसी प्रकार है । यहाँ *तदधीते तद्वेद* (४।२।५८) से जो अण् आया था, उसी का लुक् हो गया ॥

गोत्रेऽलुगचि ॥४।१।८९॥

गोत्रे ७।१॥ अलुक् १।१॥ अचि ७।१॥ *स०*-न लुक् अलुक्, नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—प्राग्दीव्यतः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः ॥ *अर्थः*-प्राग्दीव्यतीयेऽजादौ प्रत्यये विवक्षिते सति गोत्र उत्पन्नस्य प्रत्ययस्य लुङ् न भवति ॥ *यस्कादिभ्यो गोत्रे* (२।४।६३) इत्यनेन गोत्रप्रत्ययानां लुगुक्तः, स प्रतिषिध्यते ॥ *उदा०*- गर्गाणां छात्राः गार्गीयाः, वात्सीयाः, आत्रेयीयाः, खारपायणीयाः ॥

भाषार्थ—यहाँ अचि में विषय सप्तमी है ॥ प्राग्दीव्यतीय [*अचि*] अजादि प्रत्यय की विवक्षा हो तो [*गोत्रे*] गोत्र में उत्पन्न प्रत्यय का [*अलुक्*] लुक् नहीं होता ॥ *यस्कादिभ्यो गोत्रे* (२।४।६३) से जो लुक् की प्राप्ति थी उसका यह प्रतिषेध है ॥

यहाँ से '*अचि*' की अनुवृत्ति ४।१।९१ तक जायेगी ॥

यूनि लुक् ॥४।१।९०॥

यूनि ७।१॥ लुक् १।१॥ *अनु०*—अचि, प्राग्दीव्यतः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः ॥ *अर्थः*—प्राग्दीव्यतीयेऽजादौ प्रत्यये विवक्षिते यून्यु-

त्पन्नस्य प्रत्ययस्य लुक् भवति ॥ उदा०—फाण्टाहृताः, भागवित्ताः, तैकायनीयाः, कापिञ्जलादाः, ग्लौचुकायनाः ॥

भाषार्थ—प्राग्दीव्यतीय अजादि प्रत्यय की विवक्षा में [*यूनि*] युवा अर्थ में उत्पन्न प्रत्यय का [लुक्] लुक् हो जाता है ॥

यहाँ से '*यूनि लुक्*' की अनुवृत्ति ४।१।९१ तक जायेगी ॥

फक्फिञोरन्यतरस्याम् ॥४।१।९१॥

फक्फिञोः ६।२॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ स०- फक् च फिञ् च फक्फिञौ, तयोः ... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—यूनि लुक्, अचि, प्राग्दीव्यतः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः ॥ *अर्थ*—प्राग्दीव्यतीयेऽजादौ प्रत्यये विवक्षिते फक्फिञोर्युवप्रत्यययोर्विकल्पेन लुक् भवति ॥ पूर्वेण नित्यं लुकि प्राप्ते, विकल्प्यते ॥ *उदा०*- फक्—गार्गीयाः, गार्ग्यायणीयाः, वात्सीयाः, वात्स्यायनीयाः । फिञ्—यास्कीयाः, यास्कायनीयाः ॥

भाषार्थ—प्राग्दीव्यतीय अजादि प्रत्यय की विवक्षा में युवापत्य [*फक्फिञोः*] फक् और फिञ् का [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से लुक् होता है ॥

तस्यापत्यम् ॥४।१।९२॥

तस्य ६।१॥ अपत्यम् १।१॥ *अनु०*—समर्थानां प्रथमाद्वा, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, तद्धिताः प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तस्य = षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकादपत्यमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*— औपगवः । अश्वपतेरपत्यं आश्वपतः, दैत्यः, औत्सः, स्त्रैणः पौंस्नः ॥

भाषार्थ- [*तस्य*] षष्ठीसमर्थ प्रातिपदिकों से [*अपत्यम्*] अपत्य = सन्तान अर्थ को कहना हो तो यथाविहित प्रत्यय होता है ॥

यथाविहित का अभिप्राय यह है कि जो प्रत्यय जिस प्रकृति से कहा हो वह प्रत्यय उसी प्रकृति से हो जाये ॥

यह उत्सर्ग सूत्र है आगे के सूत्र इसके अपवाद हैं ॥ षष्ठी समर्थ प्रातिपदिकों से प्रत्यय कहे हैं अतः इस अपत्य प्रकरण में प्रातिपदिक के आगे ङस् विभक्ति लाकर सुबन्त से प्रत्यय की उत्पत्ति करनी चाहिये । सुबन्त से प्रत्यय की उत्पत्ति का ढङ्ग हम प्रथम भाग पृ० ६६०

परि० १।१।१ में शालीयः की सिद्धि में दिखा चुके हैं ॥ आश्वपतः में ४।१।८४ से अण्, दैत्यः में ४।१।८५ से ण्य, औत्सः में ४।१।८६ से अञ्, तथा स्त्रैणः पौंस्नः में क्रमशः ४।१।८७ से नञ् स्नञ् प्रत्यय हुये हैं ॥

यहाँ से '*तस्यापत्यम्*' की अनुवृत्ति ४।१।१७६ तक जायेगी ॥

एको गोत्रे ॥४।१।९३॥

एकः १।१॥ गोत्रे ७।१॥ *अनु०*—ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः ॥ *अर्थः*—गोत्र एक एव प्रत्ययो भवति, सर्वेऽपत्येन युज्यन्ते ॥ *अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम्* (४।१।१६२) इत्यनेन पौत्रप्रभृत्यपत्यस्य गोत्रसंज्ञा क्रियते, गोत्रापत्यवाचिभ्यः पदेभ्यः पुनस्तस्यापत्यं पुनस्तस्यापत्यमित्येवं नानापत्यसम्बन्धे नानाप्रत्ययानामुत्पत्तिसम्भवेऽनेन सूत्रेण नियमः क्रियते, गोत्रे एक एव प्रत्ययः स्यादिति । स एव च सर्वाणि पौत्रप्रभृत्यपत्यान्यभिधास्यतीति भावः । द्विविधश्चात्र नियमः । प्रत्ययनियमः प्रकृतिनियमश्च । तत्र प्रत्ययनियमपक्षे सूत्रार्थः प्रदर्शितः । प्रकृतिनियमपक्षे त्वेवं सूत्रार्थो भविष्यति - गोत्रापत्ये विवक्षिते प्रथमा प्रकृतिः (एक एव शब्दः) प्रत्ययमुत्पादयति, न तु द्वितीयातृतीयेत्यादिः ॥ *उदा०*—गर्गस्य गोत्रापत्यं = गार्ग्यः । (गर्गस्यानन्तरापत्यं गार्गिः । गार्गेरपत्यं गार्ग्यः) गार्ग्यस्य पुत्रोऽपि गार्ग्यः, तत्पुत्रोऽपि गार्ग्यः, एवमग्रे सर्वत्र ॥

भाषार्थः—[*गोत्रे*] गोत्र में [*एक*] एक ही प्रत्यय होता है ॥ यह नियम सूत्र है ॥ *अपत्यं पौत्रप्रभृति०* से पौत्र से लेकर आगे के (चौथे पाँचवे आदि) सब अपत्यों की गोत्र संज्ञा कही है सो पौत्र (तीसरे) से आगे चौथे पाँचवे छठे आदि अपत्यों का अभिधान कराने के लिये अलग-अलग प्रत्ययमाला प्राप्त थी, वह न होकर एक ही प्रत्यय होता है ॥ गर्ग का जो गोत्र अपत्य वह गार्ग्य, तीसरा = पौत्र होता है । यहाँ गर्ग से ही यञ् प्रत्यय होगा ॥ यह सूत्र प्रत्यय नियम तथा प्रकृति नियम दोनों करता है । प्रत्यय नियम पक्ष में सूत्रार्थ दिखा ही दिया है । प्रकृति नियम को आगे लिखते हैं—गोत्रापत्य विवक्षित होने पर प्रथम प्रकृति अर्थात् परम प्रकृति से ही प्रत्यय होता है, दूसरी तीसरी प्रत्ययान्त प्रकृतियों से नहीं । गर्ग जो प्रथम = परम प्रकृति है, उससे ही गोत्रापत्य विवक्षित होने पर यञ् होगा, यही यञन्त शब्द आगे के

सम्पूर्ण गोत्रापत्यों का अभिधान करायेगा। वस्तुतः प्रत्यय नियम करें या प्रकृति नियम करें तात्पर्य एक ही रहता है॥ यहाँ यह ध्यान रहे कि गर्गस्यापत्यं गार्गिः, गार्गेरपत्यं गार्ग्यः यहाँ इस विग्रह को देख कर यह नहीं समझना चाहिये कि गार्गि से यञ् प्रत्यय हुआ है, क्योंकि गार्गि तो परम प्रकृति है नहीं, अतः परम प्रकृति 'गर्ग' से ही गोत्रापत्य यञ् होता है, 'गार्गेरपत्यं' यह विग्रह अर्थ दिखाने के लिये किया है॥ इस सूत्र में जब प्रत्यय नियम मानते हैं तो 'एकः' 'प्रत्ययः' का विशेषण बनेगा, जब प्रकृति नियम मानेंगे तो एक प्रकृति का विशेषण बनेगा॥

गोत्राद्यून्यस्त्रियाम् ॥४।१।९४॥

गोत्रात् ५।१॥ यूनि ७।१॥ अस्त्रियाम् ७।१॥ *स०*—न स्त्री अस्त्री, तस्याम्, नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः॥ *अर्थः*—यून्यपत्ये विवक्षिते गोत्रादेव प्रत्ययो भवत्यस्त्रियाम्॥ अयमपि नियमः, अर्थात् गोत्रप्रत्ययान्तादेव युवप्रत्ययः स्यात् न त्वनन्तरापत्यात्, न परमप्रकृतेः॥ *उदा०*—गार्ग्यस्यापत्यं युवा गार्ग्यायणः, दाक्षेरपत्यं युवा दाक्षायणः॥

भाषार्थः—[*यूनि*] युवापत्य की विवक्षा होने पर [*गोत्रात्*] गोत्र से ही (युवापत्य में) प्रत्यय हो अनन्तरापत्य या परम प्रकृति से नहीं [*अस्त्रियाम्*] स्त्री अपत्य को छोड़कर॥ यह भी नियम सूत्र है, अर्थात् परम प्रकृति या अनन्तरापत्य से युवापत्य में प्रत्यय न हो, गोत्र से ही हो॥

जीवति तु वंश्ये युवा (४।१।१६३) से गोत्रापत्य की युवा संज्ञा की है, उसी की प्रत्ययोत्पत्ति का यह नियम सूत्र है॥

गार्ग्यः तथा दाक्षिः (इञ् प्रत्ययान्त) गोत्र प्रत्ययान्त हैं, सो उनसे युवापत्य में *यञिञोश्च* (४।१।१०१) से फक् हुआ है॥

अत इञ् ॥४।१।९५॥

अतः ५।१॥ इञ् १।१॥ *अनु०*—तस्यापत्यम्, तद्धिताः ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—अकारान्तात् प्रातिपदिकात् षष्ठीसमर्थाद् अपत्यमित्येतस्मिन्नर्थे इञ् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—दक्षस्यापत्यं दाक्षिः, प्लाक्षिः, दाशरथिः॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*अत*] अकारान्त प्रातिपदिक से अपत्य मात्र को कहने में [*इञ्*] इञ् प्रत्यय होता है ॥ ये सब आगे के सूत्र *तस्यापत्यम्* (४।१।९२) के अपवाद हैं ॥ उदा०—दाक्षिः (दक्ष की सन्तान) । लाक्षिः (लक्ष की सन्तान) । दाशरथिः (रामचन्द्र) ॥

विशेषः—इस अपत्याधिकार में जिस सूत्र में सामान्य प्रत्यय का विधान किया हो, अर्थात् यह न कहा हो कि अनन्तरापत्य में या गोत्रापत्य में, अथवा युवापत्य में प्रत्यय हो, वहाँ वह प्रत्यय सामान्य करके सभी अपत्यों में (गोत्रापत्य, अनन्तरापत्य में) हुआ करेगा । जैसे प्रकृत सूत्र से इञ् सभी अपत्यों को कहने में होता है ॥

यहाँ से 'इञ्' की अनुवृत्ति ४।१।९७ तक जायेगी ॥

बाह्वादिभ्यश्च ॥४।१।९६॥

बाह्वादिभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ *स०* - बाहु आदिर्येषां ते बाह्वादयस्तेभ्यः ...... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—इञ्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः* - बाह्वादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यस्तस्यापत्यमित्येतस्मिन्नर्थे इञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—बाहविः, औपबाहविः ॥

भाषार्थ - [*बाह्वादिभ्य*] बाह्वादि प्रातिपदिकों से [*च*] भी तस्यापत्यम् इस अर्थ में इञ् प्रत्यय होता है ॥ बाहु शब्द से इञ् परे रहते *ओर्गुणः* (६।४।१४६) से गुण तथा अवादेश होकर बाहविः आदि की सिद्धि जाने ॥

सुधातुरकङ् च ॥४।१।९७॥

सुधातुः ६।१॥ अकङ् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—इञ्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः* - सुधातृप्रातिपदिकात् तस्यापत्यमित्येतस्मिन्नर्थे इञ् प्रत्ययो भवति, तत्सन्नियोगेन चाकङ् आदेशो भवति ॥ *उदा०* सुधातुरपत्यं = सौधातकिः ॥

भाषार्थः—[*सुधातुः*] सुधातृ शब्द से तस्यापत्यम् इस अर्थ में इञ् प्रत्यय होता है [*च*] तथा सुधातृ शब्द को [*अकङ्*] अकङ् आदेश भी होता है ॥ वाक्यभेद से सुधातृ में पञ्चमी षष्ठी दोनों विभक्ति मानी जायेंगी सो *ङिच्च* (१।१।५२) से अन्त्य अल् 'ऋ' को अकङ् आदेश

होगा। 'सुधातृ अकङ् इञ्' = सुधातक् इ, वृद्धि होकर सौधातकिः (सुधातृ की सन्तान) बन गया ॥

गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्च्फञ् ॥४।१।९८॥

गोत्रे ७।१॥ कुञ्जादिभ्यः ५।३॥ च्फञ् १।१॥ *स०*—कुञ्ज आदिर्येषां ते कुञ्जादयस्तेभ्यः ..... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—गोत्रापत्ये वाच्ये षष्ठीसमर्थेभ्यः कुञ्जादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः च्फञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—कौञ्जायन्यः, कौञ्जायन्यौ कुञ्जायनाः ॥

भाषार्थः—[*गोत्रे*] गोत्रापत्य में [*कुञ्जादिभ्यः*] कुञ्जादि षष्ठी समर्थ प्रातिपदिकों से [*च्फञ्*] च्फञ् प्रत्यय होता है ॥ सिद्धि प्रथम भाग पृ० ८०२ परि० १।३।७ में देखें ॥ *तद्राजस्य बहुषु०* (२।४।६२) से कुञ्जायनाः में ञ्य प्रत्यय का लुक् हो गया है ॥

यहाँ से '*गोत्रे*' की अनुवृत्ति ४।१।१११ तक जायेगी ॥

नडादिभ्यः फक् ॥४।१।९९॥

नडादिभ्यः ५।३॥ फक् १।१॥ *स०*—नड आदिर्येषां ते नडादयस्तेभ्यः...... बहुव्रीहिः ॥ *अनु*—गोत्रे, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—गोत्रापत्ये वाच्ये षष्ठीसमर्थेभ्यो नडादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः फक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—नडस्य गोत्रापत्यं नाडायनः चारायणः ॥

भाषार्थः—[*नडादिभ्यः*] नडादि षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकों से गोत्रापत्य में [*फक्*] फक् प्रत्यय होता है ॥ *किति* च (७।२।११८) से वृद्धि तथा फ को आयन होकर नाडायनः (नड का पौत्र) पूर्ववत् बनेगा ॥

यहाँ से '*फक्*' की अनुवृत्ति ४।१।१०३ तक जायेगी ॥

हरितादिभ्योऽञः ॥४।१।१००॥

हरितादिभ्यः ५।३॥ अञः ५।१॥ *स०*—हरित आदिर्येषां ते हरितादयः, तेभ्यः ..... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—फक्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थेभ्यो हरिता-

दिभ्योऽञन्तेभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽपत्यमित्येतस्मिन्नर्थे फक् प्रत्ययो भवति॥ उदा०—हारितस्यापत्यम् हारितायनः कैदासायनः॥

भाषार्थः—[*अञः*] अञन्त [*हरितादिभ्यः*] हरितादि प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में फक् प्रत्यय होता है॥ हरितादि प्रातिपदिक बिदादि गण के अन्तर्गत पढ़े हैं, सो *अनृष्यानन्तर्ये०* (४।१।१०४) से अञ् होगा तत्पश्चात् अञन्तों से फक् होगा॥ यद्यपि इस सूत्र में 'गोत्रे' का अधिकार है, तो भी हरितादि शब्दों से जो अञ् हुआ है वह गोत्र में ही हुआ है (४।१।१०४, में भी गोत्रे की अनुवृत्ति है) अतः यहाँ *एको गोत्रे* (४।१।९३ के नियम के कारण पुनः गोत्र में फक् नहीं हो सका, इस प्रकार सामर्थ्य से यह प्रत्यय युवापत्य में (४।१।९४) ही होगा इस लिए यहाँ 'गोत्रे' की अनुवृत्ति नहीं दिखाई॥ *उदा०*—हारितायनः (हरित का प्रपौत्र)। कैदासायनः॥

यञिञोश्च ॥४।१।१०१॥

यञिञोः ६।२॥ च अ०॥ *स०*—यञ् च इञ् च यञिञौ, तयोः⋯ ⋯इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—फक्, गोत्रे, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप् प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—गोत्रे विहितौ यौ यञिञौ प्रत्ययौ तदन्ताद् अपत्ये फक् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—गार्ग्यायणः, वात्स्यायनः। इञ्—दाक्षायणः, प्लाक्षायणः॥

भाषार्थ—गोत्र में विहित जो [*यञिञोः*] यञ् और इञ् प्रत्यय तदन्त से [च] भी तस्यापत्यम् अर्थ में फक् प्रत्यय होता है॥

यहाँ भी *गोत्राद्यून्यस्त्रियाम्* के नियम के कारण फक् प्रत्यय युवापत्य में ही होगा॥ यहाँ '*गोत्रे*' जो ऊपर से आ रहा है, वह '*यञिञोः*' का विशेषण बनेगा॥

शरद्वच्छुनकदर्भात् भृगुवत्साग्रायणेषु ॥४।१।१०२॥

शरद्वच्छुनकदर्भात् ५।१॥ भृगुवत्साग्रायणेषु ७।३॥ *स०*—शरद्वत् च शुनकश्च, दर्भश्च, शरद्वत्⋯⋯दर्भम्, तस्मात्⋯⋯समाहारो द्वन्द्वः। भृगुश्च वत्सश्च आग्रायणश्च, भृगु⋯⋯यणास्तेषु⋯⋯इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—फक्, गोत्रे, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्,

प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—शरद्वत्, शुनक, दर्भ इत्येतेभ्यः षष्ठीसमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो गोत्रापत्ये फक् प्रत्ययो भवति यथासङ्ख्यं भृगु, वत्स, आग्रायण इत्येतेष्वपत्यविशिष्टेष्वर्थेषु ॥ उदा०—शारद्वतायनो भवति भार्गवगोत्रे वाच्ये, अन्यत्र शारद्वत एव । शौनकायनो भवति वात्स्यगोत्रे वाच्ये, अन्यत्र शौनक एव । दार्भायणो भवति आग्रायणगोत्रे वाच्ये, अन्यत्र दार्भिरेव ॥

भाषार्थः—[*शरद्वच्छुनकदर्भात्*] शरद्वत, शुनक, दर्भ इन प्रातिपदिकों से यथासङ्ख्य करके [*भृगुवत्साग्रायणेषु*] भृगु, वत्स, आग्रायण गोत्र वाच्य हों तो फक् प्रत्यय होता है ॥

द्रोणपर्वतजीवन्तादन्यतरस्याम् ॥४।१।१०३॥

द्रोणपर्वतजीवन्तात् ५।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *स०*—द्रोणश्च पर्वतश्च जीवन्तश्च, द्रोण······वन्तम्, तस्मात्······समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—फक्, गोत्रे, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थेभ्यो द्रोण, पर्वत, जीवन्त इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो गोत्रापत्ये वाच्ये विकल्पेन फक् प्रत्ययो भवति ॥ इञोऽपवादः ॥ *उदा०*—द्रौणायनः द्रौणिः, पार्वतायनः पार्वतिः, जैवन्तायनः जैवन्तिः ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*द्रोण··न्तात्*] द्रोणादि प्रातिपदिकों से गोत्रापत्य में [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से फक् प्रत्यय होता है ॥ यह सूत्र *अत इञ्* (४।१।९५) का अपवाद है अतः पक्ष में इञ् ही हुआ है ॥

अनृष्यानन्तर्ये बिदादिभ्योऽञ् ॥४।१।१०४॥

अनृषि, लुप्तपञ्चम्यन्तनिर्देशः ॥ आनन्तर्ये ७।१॥ बिदादिभ्यः ५।३॥ अञ् १।१॥ *स०*—न ऋषिः अनृषिः, तेभ्यः, अनृषि, *सुपां सुलुक्०* (७।१।३९ इत्यनेन विभक्तेर्लुक्) नञ्तत्पुरुषः । बिद आदिर्येषां ते बिदादयस्तेभ्यः······बहुव्रीहिः ॥ अनन्तर एव आनन्तर्यम्, अत्र स्वार्थे ष्यञ् ॥ *अनु०*—तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—बिदादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो गोत्रेऽञ् प्रत्ययो भवति अनृषिवाचिभ्यस्त्वनन्तरापत्ये । अयं भावः—बिदादिषु ये ऋषिवाचकाः

शब्दास्तेभ्यस्तु गोत्रापत्य एवाञ् प्रत्ययो भवति नत्वनन्तरापत्ये अनृषिभ्यो ऽनन्तरापत्य एव न तु गोत्रे ॥ विदादिषु ऋषिवाचिनोऽनृषिवाचिनश्च द्विविधाः शब्दाः पठ्यन्ते तत्र यथायोगं द्वयोरर्थयोर्योजना कर्त्तव्या ॥ उदा०—अनृषिभ्यः—पुत्रस्यापत्यं पौत्रः, दौहित्रः। ऋषिवाचिभ्यस्तु गोत्रापत्ये—विदस्य गोत्रापत्यं बैदः, और्वः, काश्यपः, भारद्वाजः ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*विदादिभ्यः*] विदादि प्रातिपदिकों से गोत्रापत्य में [*अञ्*] अञ् प्रत्यय होता है, परन्तु इनमें जो [*अनृषि*] अनृषिवाची हैं उनसे [*आनन्तर्ये*] अनन्तरापत्य में अञ् होता है ॥ अर्थात् विदादि गण में ऋषिवाची तथा अनृषिवाची दोनों प्रकार के शब्द पढ़े हैं, सो अनृषिवाचियों से अनन्तरापत्य में ही प्रत्यय हो गोत्रापत्य में नहीं यह कहा है, अनृषिवाचियों से अनन्तरापत्य में प्रत्यय कहने से अर्थापत्ति से यह अर्थ निकला कि विदादि गण के अन्तर्गत जो ऋषिवाची शब्द हैं, उनसे गोत्र में प्रत्यय होगा अनन्तरापत्य में नहीं, एवं अनृषिवाचियों से अनन्तरापत्य में ही होगा ॥ *उदा०*—अनृषिवाचियों से अनन्तरापत्य में—पौत्रः (पुत्र का अपत्य), दौहित्र (पुत्री का अपत्य)। ऋषिवाचियों से गोत्रापत्य में—बैदः (बिद का पौत्र), और्वः (उर्व का पौत्र), काश्यपः (कश्यप का पौत्र), भारद्वाजः (भरद्वाज का पौत्र) ॥

गर्गादिभ्यो यञ् ॥४।१।१०५॥

गर्गादिभ्यः ५।३॥ यञ् १।१॥ *स०*—गर्ग आदिर्येषां ते गर्गादयः, तेभ्यः····· बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—गोत्रे, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—गर्गादिभ्यः षष्ठीसमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो गोत्रापत्ये यञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः, वात्स्यः ॥

भाषार्थः—[*गर्गादिभ्यः*] गर्गादि षष्ठीसमर्थ प्रातिपदिकों से गोत्रापत्य में [*यञ्*] यञ् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से 'यञ्' की अनुवृत्ति ४।१।१०६ तक जायेगी ॥

मधुबभ्र्वोर्ब्राह्मणकौशिकयोः ॥४।१।१०६॥

मधुबभ्र्वोः ६।२॥ ब्राह्मणकौशिकयोः ७।२॥ *स०*—उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—यञ्, गोत्रे, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्,

प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थ*—मधु बभ्रु इत्येताभ्यां शब्दाभ्यां यथासङ्ख्यं ब्राह्मणे कौशिके च गोत्रे वाच्ये यञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—माधव्यो भवति ब्राह्मणे गोत्रे वाच्येऽन्यत्र माधव एव । बाभ्रव्यो भवति कौशिके गोत्रे वाच्ये अन्यत्र बाभ्रव एव ॥

भाषार्थः—[*मधुबभ्र्वोः*] मधु तथा बभ्रु शब्दों से यथासङ्ख्य करके [*ब्राह्मणकौशिकयोः*] ब्राह्मण तथा कौशिक गोत्र वाच्य हों तो यञ् प्रत्यय होता है ॥ ब्राह्मण तथा कौशिक गोत्र को न कहना हो तो *तस्यापत्यम्* से अण् ही होगा ॥ माधव्यः आदि में यञ् परे रहते *ओर्गुणः* (६।४।१४६) से गुण होकर 'मधो य' बन कर *वान्तो यि प्रत्यये* (६।१।७६) से वान्तादेश तथा पूर्ववत् *तद्धितेष्व०* (७।२।११७) से वृद्धि होकर माधव्यः बाभ्रव्यः बनेगा ॥

कपिबोधादाङ्गिरसे ॥४।१।१०७॥

कपिबोधात् ५।१॥ आङ्गिरसे ७।१॥ *स०*—कपिश्च बोधश्च कपिबोधम्, तस्मात्......समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—यञ्, गोत्रे, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—कपि, बोध इत्येताभ्यां प्रातिपदिकाभ्यामङ्गिरसे गोत्रविशेषे वाच्ये यञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—कपेः गोत्रापत्यं = काप्यः, बौध्यः ॥

भाषार्थः—[*कपिबोधात्*] कपि तथा बोध प्रातिपदिकों से [*आङ्गिरसे*] आङ्गिरस गोत्र को कहना हो तो यञ् प्रत्यय होता है ॥ सिद्धियां यस्येति लोपादि होकर पूर्ववत् जाने ॥

यहाँ से '*आङ्गिरसे*' की अनुवृत्ति ४।१।१०९ तक जायेगी ॥

वतण्डाच्च ॥४।१।१०८॥

वतण्डात् ५।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—आङ्गिरसे, यञ्, गोत्रे, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—वतण्डप्रातिपदिकाद् आङ्गिरसे गोत्रे वाच्ये यञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—वतण्डस्य गोत्रापत्यं पुमान् वातण्ड्यः ॥

[१]. पाणिनि के गोत्र प्रकरण तथा उसके विशिष्ट नियमों को समझने के लिए श्रौत सूत्रों में पठित गोत्र प्रवराध्याय से विशेष सहायता मिलती है ।

भाषार्थः—[*वतण्डात्*] वतण्ड शब्द से [*च*] भी आङ्गिरस गोत्र को कहना हो तो यञ् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*वतण्डात्*' की अनुवृत्ति ४।१।१०९ तक जायेगी ॥

लुक् स्त्रियाम् ॥४।१।१०९॥

लुक् १।१॥ स्त्रियाम् ७।१॥ *अनु०*—वतण्डात्, आङ्गिरसे, यञ्, गोत्रे, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थ*—वतण्डशब्दादुत्पन्नस्य यञ्प्रत्ययस्याङ्गिरसे गोत्रे स्त्रियां अभिधेयायां लुक् भवति ॥ *उदा०*—वतण्डस्य गोत्रापत्यं कन्या = वतण्डी ॥

भाषार्थः—आङ्गिरस गोत्रापत्य में उत्पन्न जो यञ् प्रत्यय उसका [*स्त्रियाम्*] स्त्री अभिधेय हो तो [*लुक्*] लुक् हो जाता है ॥ स्त्री गोत्रापत्य का अभिप्राय पौत्रप्रभृति स्त्री अपत्य = कन्या से है ॥ *उदा०*—वतण्डी (आङ्गिरस गोत्र में उत्पन्न वतण्ड नामक पुरुष की पौत्री) ॥ यञ् का लुक् हो जाने पर *शार्ङ्गरवाद्यञो०* (४।१।७३) से स्त्री प्रत्यय ङीन् हो जाता है ॥

अश्वादिभ्यः फञ् ॥४।१।११०॥

अश्वादिभ्यः ५।३॥ फञ् १।१॥ *स०*—अश्व आदिर्येषां ते अश्वादयस्तेभ्यः······बहुव्रीहिः ॥*अनु०*—गोत्रे, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थेभ्योऽश्वादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो गोत्रापत्ये वाच्ये फञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—आश्वायनः, आश्मायनः ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*अश्वादिभ्यः*] अश्वादि प्रातिपदिकों से गोत्रापत्य में [*फञ्*] फञ् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*फञ्*' की अनुवृत्ति ४।१।१११ तक जायेगी ॥

भर्गात् त्रैगर्त्ते ॥४।१।१११॥

भर्गात् ५।१॥ त्रैगर्त्ते ७।१॥ *अनु०*—फञ्, गोत्रे, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—भर्गप्रातिपदिकात् गोत्रापत्ये वाच्ये फञ् प्रत्ययो भवति त्रैगर्त्ते वाच्ये ॥ *उदा०*—भार्गायणो भवति त्रैगर्त्तश्चेत् ॥

भाषार्थः—[*भर्गात्*] भर्ग शब्द से गोत्र में फञ् प्रत्यय होता है [*त्रैगर्त्ते*] त्रिगर्त देश में उत्पन्न अर्थ वाच्य हो तो ॥

शिवादिभ्योऽण् ॥४।१।११२॥

शिवादिभ्यः ५।३॥ अण् १।१॥ *स०*—शिव आदिर्येषां ते शिवादयस्तेभ्यः······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—शिवादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यस्तस्यापत्यमित्येतस्मिन्नर्थेऽण् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—शिवस्यापत्यं शैवः, प्रौष्ठः ॥

भाषार्थः—[*शिवादिभ्यः*] शिवादि प्रातिपदिकों से तस्यापत्यम् इस अर्थ में [*अण्*] अण् प्रत्यय होता है ॥ यहाँ गोत्र की निवृत्ति हो गई है अतः आगे सामान्यापत्य में ही प्रत्यय होंगे ॥ *उदा०*—शैवः (शिव का जो पुत्र अथवा पौत्र) प्रौष्ठः (प्रौष्ठ का पुत्र) ॥ वृद्धि (७।२।११७) तथा यस्येति लोप पूर्ववत् हो ही जायेंगे ॥

यहाँ से '*अण्*' की अनुवृत्ति ४।१।११९ तक जायेगी ॥

अवृद्धाभ्यो नदीमानुषीभ्यस्तन्नामिकाभ्यः ॥४।१।११३॥

अवृद्धाभ्यः ५।३॥ नदीमानुषीभ्यः ५।३॥ तन्नामिकाभ्यः ५।३॥ *स०*—न वृद्धा अवृद्धास्ताभ्यः······नञ्तत्पुरुषः नद्यश्च मानुष्यश्च नदीमानुष्यस्ताभ्यः ···इतरेतरद्वन्द्वः । तत् नाम यस्याः सा तन्नामिका, ताभ्यः······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अण्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अवृद्धाभ्यो नदीमानुष्यर्थेभ्यः तन्नामिकाभ्यः = नदीमानुषीवाचकेभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽपत्येऽण् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—नदीवाचिभ्यः—यमुनायाः अपत्यं यामुनः । इरावत्याः अपत्यम् ऐरावतः । वैतस्तः, नार्मदः । मानुषीभ्यः—शिक्षितायाः अपत्यं = शैक्षितः, संस्कृतायाः अपत्यं सांस्कृतः, चैन्तितः ॥

भाषार्थः—[*अवृद्धाभ्यः*] अवृद्ध अर्थात् जिनकी वृद्ध संज्ञा न हो ऐसे [*नदीमानुषीभ्यः*] नदी तथा मानुषी अर्थवाले [*तन्नामिकाभ्यः*] नदी मानुषी नाम वाले प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है ॥ नदी से यहाँ नदी वाचक यमुना आदि नाम जो किसी स्त्री के हों उन्हें

लेना है न कि नदी संज्ञक शब्द। शिक्षिता संस्कृता आदि शब्द किसी स्त्री में ही संबद्ध हो सकते हैं, वे यदि किसी स्त्री के नाम भी हों, उन्हीं का यहाँ ग्रहण होता है, नदी मानुषी नामधेय यदि द्व्यच् होंगे तो उनसे द्व्यच (४।१।१२१) से ढक् होगा ॥

ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च ॥४।१।११४॥

ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ *स०*—ऋषिश्च अन्धकश्च वृष्णिश्च कुरुश्च ऋष्य······ कुरवस्तेभ्यः ··· इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अण्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—ऋषिवाचिभ्योऽन्धकवृष्णिकुरुवंशाख्येभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्योऽपत्येऽण् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—ऋषिवाचिभ्यः—वासिष्ठः, वैश्वामित्रः। अन्धकेभ्यः—श्वाफल्कः, रान्धसः। वृष्णिभ्यः—वासुदेवः, आनिरुद्धः। कुरुभ्यः—नाकुलः, साहदेवः ॥

भाषार्थ—[*ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यः*] ऋषिवाची, तथा अन्धक, वृष्णि और कुरु वंश वाले समर्थ प्रातिपदिकों से [च] भी अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है ॥ ऋषि से अभिप्राय वसिष्ठादि ऋषियों से है तथा अन्धकादि वंश लिये गये हैं ॥

मातुरुत्संख्यासंभद्रपूर्वायाः ॥४।१।११५॥

मातुः ६।१॥ उत् १।१॥ संख्यासंभद्रपूर्वायाः ६।१॥ *स०*—सङ्ख्या च सञ्च भद्रश्च संख्या······भद्राः, संख्यासंभद्रा पूर्वा यस्याः, सा सङ्ख्यासंभद्रपूर्वा, तस्याः ······द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अण्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—संख्यापूर्वात् सम्पूर्वात् भद्रपूर्वाच्च मातृशब्दाद् अपत्येऽर्थेऽण् प्रत्ययो भवति उकारश्चान्तादेश ॥ *उदा०*—संख्यापूर्वात्—द्वयोः मात्रोरपत्यं = द्वैमातुरः, षाण्मातुरः, साम्मातुरः, भद्रमातुरपत्यं = भाद्रमातुरः ॥

भाषार्थ—[*संख्यासंभद्रपूर्वायाः*] संख्या (एक द्वि त्रि आदि) सम् तथा भद्र पूर्व वाले [*मातुः*] मातृ शब्द से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है, साथ ही मातृ शब्द को [उत्] उकार अन्तादेश भी हो जाता है ॥ वाक्य भेद से मातृ शब्द में पञ्चमी और षष्ठी विभक्ति मानकर *अलोन्त्य*-

स्य (१।१।५१) से मातृ के ऋकार के स्थान में 'उ' होगा ॥ उदा०—
द्वैमातुरः (दो माताएँ चाची व माता जिसे पुत्र मानती हैं ऐसा पुत्र)
षाण्मातुरः (छः माताएँ = चाची ताई आदि भी जिसे पुत्रवत् मानती हैं)
सांमातुर (श्रेष्ठ माता हो जिसकी ऐसा पुत्र) भाद्रमातुरः (कल्याण
करने वाली जिसकी माता हो ऐसा पुत्र) ॥ 'द्वि ओस् मातृ ओस्'
यहाँ *तद्धितार्थोत्तरपद* (२।१।५०) से तद्धितार्थ में पहले समास हुआ है,
पश्चात् द्विमातृ शब्द बनकर प्रकृत सूत्र से अण् तथा उत् एवं रपरत्व
(१।१।५०) होकर 'द्विमात् उर् अण् रहा'। वृद्धि आदि होकर द्वैमातुरः बन
गया। सांमातुरः में *कुगतिप्रादयः* (२।२।१८) से पहले सम् तथा मातृ शब्द
का समास हुआ है, पश्चात् तद्धित हुआ है ॥ भद्रा चासौ माता च यहाँ
भी *विशेषण०* (२।१।५६) से पहिले विशेषण समास हुआ है, तत्पश्चात्
'भद्रमाता का अपत्य' ऐसा विग्रह करके तद्धित हुआ है ॥

कन्यायाः कनीन च ॥४।१।११६॥

कन्यायाः ६।१॥ कनीन लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ *अनु०*—
अण्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥
अर्थ—कन्याशब्दाद् अपत्येऽर्थेऽण् प्रत्ययो भवति तत्सन्नियोगेन च
'कनीन' आदेशो भवति ॥ *उदा०*—कन्यायाः अपत्यं = कानीनः ॥

भाषार्थ—[*कन्यायाः*] कन्या शब्द से अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय
होता है [च] तथा अण् परे रहते कन्या शब्द को [*कनीन*] कनीन
आदेश भी हो जाता है ॥ पाणिग्रहण से पूर्व ही जो लड़की पुरुष संयोग
को प्राप्त हो, उसमें पुत्र उत्पन्न होने पर भी कन्या शब्द का व्यवहार
होता है, अतः कन्या का अपत्य यह प्रयोग बन गया ॥

विकर्णशुङ्गच्छगलाद्वत्सभरद्वाजात्रिषु ॥४।१।११७॥

विकर्ण··· लात् ५।१॥ वत्स ··· त्रिषु ७।३॥ *स०*—विकर्णश्च
शुङ्गश्च छगलश्च, विकर्ण ··· छगलम्, तस्मात्······समाहारो द्वन्द्वः।
वत्सश्च भारद्वाजश्च अत्रिश्च वत्स·····त्रयः, तेषु ···· इतरेतरद्वन्द्वः ॥
अनु०—अण्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः,
परश्च ॥ *अर्थ*—विकर्ण, शुङ्ग, छगल इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो
यथासङ्ख्यं वत्स, भरद्वाज, अत्रि इत्येतेष्वपत्यविशेषेषु वाच्येष्वण्

प्रत्ययो भवति ॥ *अत इञ्* इत्यस्यापवादः ॥ *उदा०*—वैकर्णो भवति वात्स्यश्चेत्, अन्यत्र वैकर्णिः । शौङ्गो भवति भारद्वाजश्चेत्, अन्यत्र शौङ्गिः । छागलो भवति आत्रेयश्चेत्, अन्यत्र छागलिः ॥

भाषार्थः—[*विकर्ण……लात्*] विकर्ण, शुङ्ग, छगल शब्दों से यथासङ्ख्य करके [*वत्स……त्रिषु*] वत्स, भरद्वाज और अत्रि अपत्य विशेष को कहना हो तो अण् प्रत्यय होता है ॥ यह सूत्र *अत इञ्* (४।१।९५) का अपवाद है, सो जब इन अपत्य विशेषों को नहीं कहना होगा तो इञ् ही होगा ॥ *उदा०*—विकर्णस्यापत्यं वैकर्णः (वत्स कुलोत्पन्न विकर्ण नामक पुरुष की सन्तान) शौङ्गः (भरद्वाजकुलोत्पन्न शुङ्ग नामक पुरुष की सन्तान) । छागलः (अत्रि कुलोत्पन्न छगल की सन्तान) ॥

पीलाया वा ॥४।१।११८॥

पीलायाः ५।१॥ वा अ० ॥ *अनु०*—अण्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—पीलाया अपत्येऽर्थे अण् प्रत्ययो वा भवति ॥ *द्व्यचः* (४।१।१२१) इति ढकि प्राप्तेऽण् विधीयते पक्षे सोऽपि भवति ॥ *उदा०*—पीलाया अपत्यं = पैलः, पैलेयः ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*पीलायाः*] पीला प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में [*वा*] विकल्प से अण् प्रत्यय होता है । *द्व्यचः* से ढक् प्राप्त था सो पक्ष में ढक् ही होगा । यस्येति लोप तथा ढ को एय होकर पैलेयः बनेगा ॥

यहाँ से '*वा*' की अनुवृत्ति ४।१।११९ तक जायेगी ॥

ढक् च मण्डूकात् ॥४।१।११९॥

ढक् १।१॥ च अ० ॥ मण्डूकात् ५।१॥ *अनु०*—वा, अण्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—मण्डूकशब्दादपत्येऽर्थे ढक् प्रत्ययो भवति चकारादण् च भवति विकल्पेन ॥ तेन त्रैरूप्यं भवति ॥ *उदा०*—ढक्—मण्डूकस्यापत्यं माण्डूकेयः । चकारादण् च—माण्डूकः । पक्षे इञ्—माण्डूकिः ॥

भाषार्थः—[*मण्डूकात्*] मण्डूक प्रातिपदिक से [*ढक्*] ढक् प्रत्यय होता है [*च*] चकार से अण् भी विकल्प करके होता है, अतः तीन रूप बनते हैं ॥ पक्ष में अदन्त होने से (४।१।९५) इञ् होगा ॥ *उदा०*—

माण्डूकेयः (मण्डूक नामक पुरुष का अपत्य)। माण्डूकः। माण्डूकिः॥ (४।१।८२) से महाविभाषा का अधिकार होने से सर्वत्र विग्रह वाक्य रहता ही है॥

स्त्रीभ्यो ढक् ॥४।१।१२०॥

स्त्रीभ्यः ५।३॥ ढक् १।१॥ *अनु०*—तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽपत्ये ढक् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—सुपर्णाया अपत्यं सौपर्णेयः, वैनतेयः, गार्गेयः, वात्सेयः, द्रौपदेयः।

भाषार्थः—[*स्त्रीभ्यः*] स्त्रीप्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में [ढक्] ढक् प्रत्यय होता है॥ स्त्रीभ्यः से यहाँ स्त्री प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों का ग्रहण है॥

यहाँ से '*स्त्रीभ्यः*' की अनुवृत्ति ४।१।१२१ तक तथा 'ढक्' की ४।१।१२७ तक जायेगी॥

द्व्यचः ॥४।१।१२१॥

द्व्यचः ५।१॥ *स०*—द्वौ अचौ यस्मिन्, स द्व्यच् तस्मात्...... बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—स्त्रीभ्यो ढक्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*- द्व्यचः स्त्रीप्रत्ययान्तादपत्ये ढक् प्रत्ययो भवति॥ *अवृद्धाभ्यो नदी०* (४।१।११३) इत्यस्यायमपवादः॥ *उदा०*—गंगाया अपत्यम् गाङ्गेयः। दत्ताया अपत्यं दात्तेयः। गौपेयः सैतेयः॥

भाषार्थः—[*द्व्यचः*] दो अच् वाले जो स्त्री प्रत्ययान्त प्रातिपदिक उनसे अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है॥ *स्त्रीभ्यो ढक्* से ढक् सिद्ध ही था पुनर्विधान इसलिए है कि जो द्व्यच् स्त्री प्रत्ययान्त नदी मानुषी नामधेय प्रातिपदिक हैं, उनसे *अवृद्धाभ्यो नदीमानुषीभ्यस्त०* से प्राप्त अण् को बाधकर ढक् ही हो॥ गङ्गा नदी नामधेय और दत्ता गोपा तथा सीता मानुषी नामधेय द्व्यच् प्रातिपदिक हैं सो उनसे ढक् हो गया है॥ सर्वत्र यहाँ *किति च* (७।२।११८) से वृद्धि होगी॥

यहाँ से '*द्व्यचः*' की अनुवृत्ति ४।१।१२२ तक जायेगी॥

इतश्चानिञः ॥४।१।१२२॥

इतः ५।१॥ च अ० ॥ अनिञः ५।१॥ स०—न इञ् अनिञ्, तस्मात् ...... नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०- द्व्यचः, ढक्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—इकारान्ताद् द्व्यचः अनिञन्तात् प्रातिपदिकाद् अपत्येऽर्थे ढक् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—अत्रेरपत्यम् आत्रेयः, निधेरपत्यं नैधेयः ॥

भाषार्थः—[इतः] इकारान्त [अनिञः] अनिञन्त द्व्यच् प्रातिपदिकों से [च] भी अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है ॥ निधि शब्द उपसर्गे घोः किः (३।३।९२) से 'कि' प्रत्ययान्त है ॥ अत्रि एवं निधि इञन्त प्रातिपदिक नहीं हैं, अतः ढक् प्रत्यय हो गया है ॥

शुभ्रादिभ्यश्च ॥४।१।१२३॥

शुभ्रादिभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ स०—शुभ्र आदिर्येषां ते शुभ्रादयस्तेभ्यः ...... बहुव्रीहिः ॥ अनु०- ढक्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थ—शुभ्रादिभ्यः षष्ठीसमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽपत्येऽर्थे ढक् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०- शुभ्रस्यापत्यं शौभ्रेयः, वैष्टपुरेयः ॥

भाषार्थ—[शुभ्रादिभ्यः] शुभ्रादि प्रातिपदिकों से [च] भी अपत्य अर्थ में अण् प्रत्यय होता है ॥

विकर्णकुषीतकात् काश्यपे ॥४।१।१२४॥

विक ... कात् ५।१॥ काश्यपे ७।१॥ स०—विकर्णश्च कुषीतकश्च विकर्णकुषीतकम्, तस्मात् ...... समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—ढक्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थ.—विकर्णशब्दात् कुषीतकशब्दाच्च काश्यपेऽपत्यविशेषे वाच्ये ढक् प्रत्ययो भवति ॥ उदा० वैकर्णेयः, कौषीतकेयः ॥ काश्यपादन्यत्र वैकर्णिः, कौषीतकिः ।

भाषार्थः—[विकर्णकुषीतकात्] विकर्ण तथा कुषीतक शब्दों से [काश्यपे] काश्यप अपत्य विशेष को कहने में ढक् प्रत्यय होता है ॥ काश्यप गोत्र से अन्यत्र वैकर्णिः कौषीतकिः में इञ् ही होता है ।

भ्रुवो वुक् च ॥४।१।१२५॥

भ्रुवः ६।१॥ वुक् १।१॥ च अ० ॥ अनु०—ढक्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः- भ्रूप्रातिपदिकाद् अपत्येऽर्थे ढक् प्रत्ययो भवति, तत्सन्नियोगेन च भ्रुवो वुक् आगमो भवति ॥ उदा०—भ्रुवोरपत्यं भ्रौवेयः ॥

भाषार्थः—[भ्रुवः] भ्रू प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है [च] तथा भ्रू को [वुक्] वुक् का आगम भी होता है ॥ *आद्यन्तौ टकितौ* (१।१।४५) से वुक् आगम भ्रू के अन्त में बैठेगा। 'भ्रू वुक् ढक्' = भ्रूव् एय = भ्रौवेयः बन गया। वाक्यभेद से भ्रुवः में पञ्चमी है ॥ भ्रू किसी स्त्री का नाम है ॥

कल्याण्यादीनामिनङ् ॥४।१।१२६॥

कल्याण्यादीनाम् ६।३॥ इनङ् १।१॥ स०—कल्याणी आदिर्येषां ते कल्याण्यादयस्तेषां ....बहुव्रीहिः ॥ अनु० ढक्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः- कल्याण्यादिभ्यो-ऽपत्येऽर्थे ढक् प्रत्ययो भवति तत्सन्नियोगेन च तेषाम् इनङ् आदेशो भवति ॥ उदा०—काल्याणिनेयः, सौभागिनेयः, दौर्भागिनेयः ॥

भाषार्थः—[*कल्याण्यादीनाम्*] कल्याण्यादि शब्दों से अपत्य अर्थ में ढक् प्रत्यय होता है, तथा कल्याण्यादियों को [*इनङ्*] इनङ् आदेश भी हो जाता है ॥ उदा०—काल्याणिनेयः (कल्याणी नाम की स्त्री का अपत्य) सौभागिनेयः (सुभगा का अपत्य) दौर्भागिनेयः (दुर्भगा का अपत्य) ॥ *ङिच्च* (१।१।५२) से अन्त्य अल् को इनङ् होकर 'कल्याण् इनङ् ढक् = काल्याणिनेयः बन गया। सौभागिनेयः आदि में *हृद्भग-सिन्ध्वन्ते०* (७।३।१९) से दोनों पदों (सु तथा भग) में वृद्धि हुई है ॥

यहाँ से '*इनङ्*' की अनुवृत्ति ४।१।१२७ तक जायेगी ॥

कुलटाया वा ॥४।१।१२७॥

कुलटायाः ६।१॥ वा अ० ॥ अनु०—ढक् इनङ्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ कुलान्यटतीति कुलटा ॥ अर्थः—कुलटाया अपत्ये ढक् प्रत्ययो भवति, तत्सन्नियोगेन च

कुलटाशब्दस्य वा इनङ् आदेशो भवति ॥ *उदा०*—कुलटाया अपत्यं कौलटिनेयः, कौलटेयः ॥

भाषार्थ.—[*कुलटायाः*] कुलटा शब्द से ढक् प्रत्यय अपत्यार्थ में होता है, तथा कुलटा को [*वा*] विकल्प से इनङ् आदेश भी होता है ॥ पूर्ववत् यहाँ भी अन्त्य अल् को इनङ् आदेश का विकल्प है, सो ढक् प्रत्यय नित्य ही होता है ॥

चटकाया ऐरक् ॥४।१।१२८॥

चटकायाः ५।१॥ ऐरक् १।१॥ *अनु०*—तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—चटकाशब्दात् ऐरक् प्रत्ययो भवत्यपत्येऽर्थे ॥ *उदा०*—चटकाया अपत्यं पुमान् चाटकैरः ॥

भाषार्थ—[*चटकायाः*] चटका शब्द से अपत्य अर्थ में [*ऐरक्*] ऐरक् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—चाटकैरः (चिड़िया का नर अपत्य, अथवा चटका नामक स्त्री का लड़का) ॥

गोधाया ढ्रक् ॥४।१।१२९॥

गोधायाः ५।१॥ ढ्रक् १।१॥ *अनु०*—तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—गोधाशब्दाद् अपत्येऽर्थे ढ्रक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—गोधाया अपत्यं गौधेरः ॥

भाषार्थ.—[*गोधायाः*] गोधा शब्द से अपत्य अर्थ में [*ढ्रक्*] ढ्रक् प्रत्यय होता है ॥ गौधेरः की सिद्धि प्रथम भाग पृ० ७५३ परि० १।१।५९ में देखें ॥

यहाँ से '*गोधायाः*' की अनुवृत्ति ४।१।१३० तक तथा ढ्रक् की ४।१।१३१ तक जायेगी ॥

आरगुदीचाम् ॥४।१।१३०॥

आरक् १।१॥ उदीचाम् ६।३॥ *अनु०*—गोधायाः, तस्यापत्यम्, तद्धिताः,ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—उदीचामाचार्याणां मतेन गोधाप्रातिपदिकादपत्येऽर्थे आरक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—गौधारः ॥

भाषार्थ—गोधा प्रातिपदिक से [*आरक्*] आरक् प्रत्यय [*उदीचाम्*] उदीच्य आचार्यों = उत्तरदेश निवासी आचार्यों के मत में होता है ॥

यहाँ आरक् प्रत्यय कहा है सो ढ्रक् की अनुवृत्ति आते हुये भी सम्बद्ध नहीं होती है ॥

क्षुद्राभ्यो वा ॥४।१।१३१॥

क्षुद्राभ्यः ५।३॥ वा अ० ॥ *अनुः*—ढ्रक्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—क्षुद्राभ्यः प्रकृतिभ्यो ऽपत्येऽर्थे वा ढ्रक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—काणेरः, काणेयः, दासेरः, दासेयः ॥ ढकि प्राप्ते आरम्भ इति पक्षे सोऽपि भवति ॥

भाषार्थः—[*क्षुद्राभ्यः*] क्षुद्रवाची प्रकृतियों से अपत्य अर्थ में [*वा*] विकल्प से ढ्रक् प्रत्यय होता है ॥ ढक् की प्राप्ति में यह सूत्र है, अतः पक्ष में ढक् ही होगा ॥ क्षुद्रा उसे कहते हैं जो अङ्ग से या धर्म से हीन हो ॥ काणा शब्द कानी का वाचक है अर्थात् अङ्गहीना है, दासी शब्द धर्महीना कर्मकरी (नौकरानी) का वाचक है, अतः ये सब क्षुद्रवाची हैं ॥

पितृष्वसुश्छण् ॥४।१।१३२॥

पितृष्वसुः ५।१॥ छण् १।१॥ *अनु०*—तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्-प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—पितृष्वसृप्रातिपदिकादपत्येऽर्थे छण् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—पितृष्वसुरपत्यं, पैतृष्वस्रीयः ॥

भाषार्थः—[*पितृष्वसुः*] पितृष्वसृ शब्द से अपत्य अर्थ में [*छण्*] छण् प्रत्यय होता है ॥ सामान्य अण् (४।१।९२) की प्राप्ति थी, उसका यह अपवाद सूत्र है । पितृष्वसृ बुआ = फूफी को कहते हैं ॥ पितृष्वसृ छण् = पैतृष्वसृ ईय यहाँ यणादेश (६।१।७४) होकर पैतृष्वस्रीयः (बुआ का लड़का) बन गया है ॥

यहाँ से '*पितृष्वसु*' की अनुवृत्ति ४।१।१३४ तक जायेगी ॥

ढकि लोपः ॥४।१।१३३॥

ढकि ७।१॥ लोपः १।१॥ *अनु०*— पितृष्वसुः, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अपत्येऽर्थे ढकि प्रत्यये परतः पितृष्वसुर्लोपो भवति ॥ *उदा०*—पैतृष्वसेयः ॥

भाषार्थ—अपत्यार्थ में आये हुये [*ढकि*] ढक् प्रत्यय के परे रहते पितृष्वसृ शब्द का [*लोपः*] लोप हो जाता है ॥ यहाँ *अलोन्त्यस्य*

(१।१।५१) लगकर पितृष्वसृ के ऋकार का ही लोप होता है ॥ यहाँ यह प्रश्न होता है कि पितृष्वसृ शब्द से ढक् प्रत्यय किसी सूत्र से कहा ही नहीं तो ढक् के परे लोप कैसे विधान कर दिया ? अतः इसी ज्ञापक से ढक् का भी विधान माना जाता है, तभी लोप विधान की सार्थकता होती है ॥

यहाँ से '*ढकि लोपः*' की अनुवृत्ति ४।१।१३४ तक जायेगी ॥

मातृष्वसुश्च ॥४।१।१३४॥

मातृष्वसुः ५।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—ढकि लोपः, पितृष्वसुः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् , प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—मातृष्वसुः प्रातिपदिकादपि छण् प्रत्ययः ढकि परतो मातृष्वसुर्लोपश्च भवति ॥ *उदा०*—मातृष्वस्रीयः, मातृष्वसेयः ॥

भाषार्थः— पितृष्वसृ प्रातिपदिक को जो कुछ कहा है वह [*मातृष्वसुः*] मातृष्वसृ शब्द को [च] भी हो जाता है ॥ चकार से यह सूत्र पितृष्वसृ की अपेक्षा करता है । पितृष्वसृ शब्द से छण् प्रत्यय तथा ढक् प्रत्यय परे रहते ऋकार का लोप कहा है, सो यहाँ भी उसी प्रकार पूर्ववत् होगा ॥ मातृष्वसृ = मौसी को कहते हैं ॥

चतुष्पाद्भ्यो ढञ् ॥४।१।१३५॥

चतुष्पाद्भ्यः ५।३॥ ढञ् १।१॥ *अनु०*—तस्यापत्यम् , तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् , प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*— चतुष्पाद्वाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽपत्येऽर्थे ढञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—कामण्डलेयः, शौन्तिवाहेयः, जाम्बेयः ॥

भाषार्थः—[*चतुष्पाद्भ्यः*] चतुष्पाद् अभिधायी प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में [*ढञ्*] ढञ् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*— कामण्डलेय. (कमण्डलु नामक पशु जातिविशेष की सन्तान) शौन्तिवाहेयः (शुन्तिवाहु नामक पशु जाति का अपत्य) जाम्बेयः (जम्बु = श्रृगाल का अपत्य) ढे *लोपोऽकद्र्वाः* (६।४।१४७) से कमण्डलु इत्यादि के उकार का लोप हो जाता है, शेष कार्य 'ढ को एय' आदि पूर्ववत् हो ही जायेंगे ॥

यहाँ से '*ढञ्*' की अनुवृत्ति ४।१।१३६ तक जायेगी ॥

गृष्ट्यादिभ्यश्च ॥४।१।१३६॥

गृष्ट्यादिभ्यः ५।३॥च अ०॥ *स०*—गृष्टिरादिर्येषां ते गृष्ट्यादयस्तेभ्यः···बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—ढञ्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—गृष्ट्यादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽपत्येऽर्थे ढञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—गृष्टेरपत्यं गार्ष्टेयः, हार्ष्टेयः ॥

भाषार्थः—[*गृष्ट्यादिभ्यः*] गृष्ट्यादि प्रातिपदिकों से [च] भी अपत्य अर्थ में ढञ् प्रत्यय होता है ॥

राजश्वशुराद्यत् ॥४।१।१३७॥

राजश्वशुरात् ५।१॥ यत् १।१॥ *स०*—राजा च श्वसुरश्च राजश्वसुरं, तस्मात्······समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—राजन्, श्वशुर इत्येताभ्यां प्रातिपदिकाभ्यामपत्येऽर्थे यत् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—राज्ञोऽपत्यं राजन्यः, श्वशुर्यः ॥

भाषार्थः—[*राजश्वशुरात्*] राजन् तथा श्वशुर प्रातिपदिकों से अपत्यार्थ में [*यत्*] यत् प्रत्यय होता है ॥ यत् प्रत्यय परे रहते राजन् की भ संज्ञा (१।४।१८) होती है, सो *नलोपः प्राति०* (८।२।७) से नकार लोप नहीं हुआ ॥ *उदा०*—राजन्यः (क्षत्रिय), श्वशुर्यः (श्वशुर का पुत्र) ॥

क्षत्राद् घः ॥४।१।१३८॥

क्षत्रात् ५।१॥ घः १।१॥ *अनु०*—तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—क्षत्रप्रातिपदिकादपत्येऽर्थे घः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—क्षत्रस्यापत्यं क्षत्रियः ॥

भाषार्थः—[*क्षत्रात्*] क्षत्र शब्द से अपत्यार्थ में [*घः*] घ प्रत्यय होता है । *उदा०*—क्षत्रियः (क्षत्रिय) ॥

कुलात्खः ॥४।१।१३९॥

कुलात् ५।१॥ खः १।१॥ *अनु०*—तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—कुलशब्दान्तात् केवलाच्च प्रातिपदिकादपत्येऽर्थे खः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—आढ्यकुलीनः, श्रोत्रियकुलीनः, कुलीनः ॥

भाषार्थः—[*कुलात्*] कुल शब्द अन्त वाले तथा केवल कुल प्रातिपदिक से भी अपत्य अर्थ में [*खः*] ख प्रत्यय होता है। अगले सूत्र में अपूर्वपद अर्थात् केवल कुल शब्द से विकल्प से प्रत्ययान्तरों का विधान किया है, इससे ज्ञात होता है कि यहाँ कुलान्त तथा केवल कुल शब्द दोनों से प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*कुलात्*' की अनुवृत्ति ४।१।१४० तक जायेगी ॥

अपूर्वपदादन्यतरस्यां यड्ढकञौ ॥४।१।१४०॥

अपूर्वपदात् ५।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ यड्ढकञौ १।२॥ *स०*—अविद्यमानं पूर्वपदं यस्य तदपूर्वपदं तस्मात्..... बहुव्रीहिः। यच्च ढकञ् च यड्ढकञौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—कुलात्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अपूर्वपदात् कुलशब्दाद्विकल्पेन यत्, ढकञ् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः, पक्षे खोऽपि भवति ॥ *उदा०*—कुल्यः, कौलेयकः, कुलीनः ॥

भाषार्थः—[*अपूर्वपदात्*] अविद्यमान पूर्वपद वाले कुल शब्द से [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से [*यड्ढकञौ*] यत् और ढकञ् प्रत्यय होते हैं। पक्ष में पूर्व सूत्र से प्राप्त 'ख' प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*अन्यतरस्याम्*' की अनुवृत्ति ४।१।१४२ तक जायेगी ॥

महाकुलादञ्खञौ ॥४।१।१४१॥

महाकुलात् ५।१॥ अञ्खञौ १।२॥ *स०*—अञ् च खञ् च अञ्खञौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अन्यतरस्याम्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—महाकुलप्रातिपदिकादपत्येऽर्थे विकल्पेन अञ्, खञ् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः ॥ *उदा०*—महाकुलस्यापत्यं माहाकुलः, माहाकुलीनः। पक्षे खः—महाकुलीनः ॥

भाषार्थः—[*महाकुलात्*] महाकुल प्रातिपदिक से [*अञ्खञौ*] अञ् और खञ् प्रत्यय विकल्प से होते हैं, पक्ष में ४।१।१३९ से प्राप्त ख प्रत्यय होगा ॥ खञ् तथा ख में वृद्धि एवं स्वर का ही भेद है ॥

दुष्कुलाड्ढक् ॥४।१।१४२॥

दुष्कुलात् ५।१॥ ढक् १।१॥ *अनु०*—अन्यतरस्याम्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—दुष्कुलप्रातिपदि-

ात् तस्यापत्यमित्येतस्मिन्नर्थे विकल्पेन ढक् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—
ष्कुलेयः, दुष्कुलीनः ॥

भाषार्थ —[*दुष्कुलात्*] दुष्कुल प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में
कल्प से [*ढक्*] ढक् प्रत्यय होता है। पक्ष में पूर्ववत् ख होता है।
क् पक्ष में *किति च* (७।२।११८) से वृद्धि होगी, शेष पूर्ववत् ढ को
गादि होगा ॥

स्वसुश्छः ॥४।१।१४३॥

स्वसुः ५।१॥ छः १।१॥ *अनु०*—तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्राति-
दिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थ*—स्वसृप्रातिपदिकादपत्येऽर्थे छः
त्ययो भवति ॥ *उदा०*—स्वसुरपत्यं स्वस्रीयः ॥

भाषार्थः—[*स्वसुः*] स्वसृ प्रातिपदिक से अपत्यार्थ में [*छः*] छ
त्यय होता है। स्वसृ बहिन को कहते हैं। स्वसृ + छ = स्वसृ + ईय,
हाँ यणादेश होकर स्वस्रीयः (बहिन का अपत्य) बन गया है ॥

यहाँ से 'छः' की अनुवृत्ति ४।१।१४४ तक जायेगी ॥

भ्रातुर्व्यच्च ॥४।१।१४४॥

भ्रातुः ५।१॥ व्यत् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—छः, तस्यापत्यम्,
द्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—भ्रातृ शब्दाद-
पत्येऽर्थे व्यत् प्रत्ययो भवति चकाराच्छश्च ॥ *उदा०*—भ्रातुरपत्यं
भ्रातृव्यः, भ्रात्रीयः ॥

भाषार्थ—[*भ्रातुः*] भ्रातृ शब्द से अपत्य अर्थ में [*व्यत्*] व्यत्
| तथा चकार से छ प्रत्यय होता है ॥ भ्रातृ भाई को कहते हैं,
ातृव्य अर्थात् भाई का लड़का ॥

यहाँ से '*भ्रातुः*' की अनुवृत्ति ४।१।१४५ तक जायेगी ॥

व्यन्सपत्ने ॥४।१।१४५॥

व्यन् १।१॥ सपत्ने ७।१॥ *अनु०* भ्रातुः, तद्धिताः, ङ्याप्प्राति-
दिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—भ्रातृशब्दात् सपत्ने वाच्ये व्यन्
त्ययो भवति ॥ अपत्यार्थोऽत्र न सम्बध्यते। सपत्नशब्दः शत्रुपर्यायः।
उदा०—भ्रातृव्यः कण्टकः ॥

भाषार्थः—भ्रातृ शब्द से [*सपत्ने*] सपत्न अर्थात् शत्रुवाच्य हो तो [*व्यन्*] व्यन् प्रत्यय होता है ॥ यहाँ *तस्यापत्यम्* का अधिकार आते हुए भी सम्बद्ध नहीं होता है । व्यन्, व्यत् में स्वर का ही भेद है । व्यन् होने पर *ञ्नित्यादिर्नित्यम्* (६।१।१९१) से आद्युदात्त स्वर रहेगा तथा व्यत् में *तित्स्वरितम्* (६।१।१७९) से अन्त स्वरित होगा ॥

रैवत्यादिभ्यष्ठक् ॥४।१।१४६॥

रैवत्यादिभ्यः ५।३॥ ठक् १।१॥ *स०*—रैवती आदिर्येषां ते रैवत्यादयः, तेभ्यः.....बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थ.*—रैवत्यादिभ्योऽपत्येऽर्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—रैवत्या अपत्यं रैवतिकः, अश्वपाल्या अपत्यं आश्वपालिकः ॥

भाषार्थः—[*रैवत्यादिभ्यः*] रैवत्यादि शब्दों से अपत्य अर्थ में [*ठक्*] ठक् प्रत्यय होता है ॥ *ठस्येकः* (७।३।५०) से ठ् को इक्, यस्येति लोप तथा ७।२।११८ से वृद्धि होकर रैवतिकः आदि की सिद्धि जाने ॥

यहाँ से 'ठक्' की अनुवृत्ति ४।१।१४७ तक जायेगी ॥

गोत्रस्त्रियाः कुत्सने ण च ॥४।१।१४७॥

गोत्रस्त्रियाः ५।१॥ कुत्सने ७।१॥ ण लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ *स०*—गोत्रं च सा स्त्री गोत्रस्त्री, तस्याः .....कर्मधारयतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—ठक्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थ.*—गोत्रं या स्त्री तदभिधायिनः शब्दात् कुत्सने गम्यमानेऽपत्यार्थे णः प्रत्ययो भवति, चकाराट्ठक् च ॥ *उदा०*—गार्ग्या अपत्यं गार्गो जाल्मः, गार्गिकः । ग्लुचुकायन्या अपत्यं ग्लौचुकायनः, ग्लौचुकायनिकः ॥

भाषार्थः—[*गोत्रस्त्रियाः*] गोत्र में वर्तमान जो स्त्री तद्वाची प्रातिपदिक से [*कुत्सने*] कुत्सन गम्यमान होने पर [*ण*] ण प्रत्यय होता है, [*च*] तथा चकार से ठक् भी होता है ॥ यहाँ गोत्र *अपत्यं पौत्र०* (४।१।१६२) वाला लिया है, सो गोत्र में वर्तमान स्त्रीवाची से ण तथा ठक्, *गोत्राद्यून्य०* (४।१।९४) के नियम से युवापत्य में ही होगा । गार्गी गोत्रप्रत्ययान्त शब्द है, सो उससे प्रकृत सूत्र से ण तथा ठक् हुए

हैं। गार्गी की सिद्धि परि० ४।१।१६ में देखें। ग्लुचुक शब्द से *प्राचामवृद्धात् फिन्०* (४।१।१६०) से गोत्र में फिन् प्रत्यय तथा *इतो मनुष्यजातेः* (४।१।६५) से ङीप् होकर ग्लुचुकायनी शब्द (गोत्र स्त्री वाची) बना है, पुनः प्रकृत सूत्र से ण एवं ठक् हो गया। पिता का पता न चलने पर माता से पुत्र का व्यपदेश किया जाए, अर्थात् अमुक माता का पुत्र है, यही यहाँ कुत्सा है[1]॥

यहाँ से '*कुत्सने*' की अनुवृत्ति ४।१।१४६ तक तथा 'गोत्र' की ४।१।१५० तक जायेगी।

वृद्धाट्ठक् सौवीरेषु बहुलम् ॥४।१।१४८॥

वृद्धात् ५।१॥ ठक् १।१॥ सौवीरेषु ७।३॥ बहुलम् १।१॥ अनु०—कुत्सने, गोत्रे, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः* – वृद्धसंज्ञकात् प्रातिपदिकात् कुत्सने गम्यमाने सौवीरगोत्रापत्ये बहुलं ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०* – भागवित्तेः सौवीरगोत्रापत्यं भागवित्तिको जाल्मः। पक्षे *यञिञोश्च* (४।१।१०१) इत्यनेन यथाप्राप्तं फक्-भागवित्तायनः। तार्णबिन्दवस्य गोत्रापत्यं तार्णबिन्दविकः, पक्षे इञ् (४।१।९५) प्रत्ययः—तार्णबिन्दविः। आकशापेयस्य गोत्रापत्यं आकशापेयिकः, पक्षे इञ्प्रत्ययः आकशापेयिः॥

भाषार्थः– [*वृद्धात्*] वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिकों से [*सौवीरेषु*] सौवीर गोत्रापत्य में [*बहुलम्*] बहुल करके [*ठक्*] ठक् प्रत्यय होता है, कुत्सन गम्यमान होने पर॥

---

१. यह बात साम्प्रतिक व्याख्याओ के अनुसार है। बृहदारण्यक मे मातृवंश का उल्लेख उसी प्रकार मिलता है, जैसे पितृवंश का। अतः केवल माता से व्यपदेश होना कुत्सा का कारण नहीं होता है। अन्यथा जाबालि को पिता के अज्ञात होने पर उसके आचार्य उसके सत्यभाषण से प्रभावित होकर ब्राह्मण स्वीकार न करते। अत कुत्सा का वास्तविक कारण पुत्र का अपना बुरा आचरण ही है। इस प्रकार गार्गी, गार्गिक वह होगा जो गार्गी के उत्कृष्ट कुल मे उत्पन्न होकर भी दुराचारी हो। हिन्दी के मुहावरे के अनुसार 'माता की कोख को लजाने वाला काम करे'। उत्तर सूत्रों में पितृनाम से व्यपदेश होने पर भी कुत्सन अर्थ में जैसे प्रत्यय का विधान होता है वैसे ही यहाँ भी मातृनाम से व्यपदेश में भी जानना चाहिये। दोनों स्थानो मे समानकारण ही मानना चाहिये।

यहाँ से 'वृद्धात् ठक्' की अनुवृत्ति ४।१।१४९ तथा 'सौवीरेषु बहुलम्' की ४।१।१५० तक जायेगी ॥

फेश्छ च ॥४।१।१४९॥

फेः ५।१॥ छ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ *अनु०*—वृद्धाट्ठक् सौवीरेषु बहुलम्, गोत्रे, कुत्सने, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ वृद्धाधिकारात् फेरित्यनेन फिञो ग्रहणं न तु फिनः ॥ *अर्थः*—फिञन्तात् वृद्धसंज्ञकात् प्रातिपदिकात् सौवीरगोत्रादपत्ये कुत्सने गम्यमाने छः प्रत्ययो बहुलम् भवति चकाराट्ठक् च ॥ *उदा०*—यमुन्दस्यापत्यं यामुन्दायनिः, यामुन्दायनेरपत्यं यामुन्दायनीयः, यामुन्दायनिकः ॥

भाषार्थ—वृद्धसंज्ञक [फेः] फिञन्त प्रातिपदिक सौवीर गोत्रापत्य से कुत्सित युवापत्य को कहने में [छ] छ [च] तथा चकार से ठक् प्रत्यय बहुल करके होता है ॥

यद्यपि इस सूत्र में 'फेः' सामान्यनिर्देश है, अतः फिञ् फिन् दोनों का ही ग्रहण हो सकता है, तथापि यहाँ वृद्धात् की अनुवृत्ति होने से फिञ् का ही ग्रहण होगा फिन् का नहीं ॥

फाण्टाहृतिमिमताभ्यां णफिञौ ॥४।१।१५०॥

फाण्टाहृतिमिमताभ्याम् ५।२॥ णफिञौ १।२॥ *स०*—उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सौवीरेषु, बहुलम्, गोत्रं, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ फाण्टाहृतिमिमतशब्दाभ्यां सौवीरविषयाभ्यामपत्ये णफिञौ प्रत्ययौ भवतः ॥ यथासङ्ख्यमत्र न भवति ॥ *उदा०*—फाण्टाहृतस्य सौवीरगोत्रस्यापत्यं फाण्टाहृतः । फिञ्—फाण्टाहृतायनिः । मैमतः, मैमतायनिः ॥

भाषार्थ—सौवीर विषय वाले [*फाण्टाहृतिमिमताभ्याम्*] फाण्टाहृति तथा मिमत शब्दों से अपत्यार्थ में [*णफिञौ*] ण तथा फिञ् प्रत्यय होते हैं ॥ इस सूत्र में यथासङ्ख्य नहीं लगता अतः दोनों प्रकृतियों से दोनों प्रत्यय होते हैं ॥

कुर्वादिभ्यो ण्यः ॥४।१।१५१॥

कुर्वादिभ्यः ५।३॥ ण्यः १।१॥ *स०*—कुरु आदिर्येषां ते कुर्वादयस्तेभ्यः ····· बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्,

प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—कुर्वादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽपत्ये ण्यः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—कुरोरपत्यं कौरव्यः, गार्ग्यः ॥

भाषार्थः—[*कुर्वादिभ्यः*] कुर्वादि प्रातिपदिकों से अपत्यार्थ में [*ण्यः*] ण्य प्रत्यय होता है ।। *ओर्गुणः* (६।४।१४६) से गुण तथा *वान्तो यि०* (६।१।७६) से वान्तादेश होकर कौरव्यः बना है ॥

यहाँ से '*ण्यः*' की अनुवृत्ति ४।१।१५२ तक जायेगी ॥

सेनान्तलक्षणकारिभ्यश्च ॥४।१।१५२॥

सेना.....कारिभ्यः ५।३।। च अ० ।। स०—सेना अन्ते यस्य स सेनान्तः, सेनान्तश्च लक्षणञ्च कारिश्च सेनान्तलक्षणकारयस्तेभ्यः ..... बहुव्रीहिगर्भेतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—ण्यः, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—सेनान्तात् प्रातिपदिकात् लक्षणशब्दात् कारिवाचिभ्यश्चापत्ये ण्यः प्रत्ययो भवति ।। उदा०—कारिषेणस्यापत्यं = कारिषेण्यः, हारिषेण्यः । लाक्षण्यः । कारिवाचिभ्यः—कौम्भकार्यः तान्तुवाय्यः, नापित्यः ।

भाषार्थः—[*सेना.....भ्यः*] सेना अन्त वाले प्रातिपदिकों से, लक्षण शब्द से, तथा कारिवाची = शिल्पीवाची प्रातिपदिकों से [*च*] भी अपत्यार्थ में ण्य प्रत्यय होता है ।। यहाँ लक्षण शब्द का स्वरूप से ग्रहण है तथा कारि से कारिवाची लिया है । कुम्भकार = कुम्हार, तन्तुवाय = जुलाहा, नापित = नाई आदि शब्द कारि = शिल्पीवाची हैं ।। कारिषेण्यः में षत्व *एति सञ्ज्ञाया०* (८।३।९९) से हुआ है, तथा णत्व *अट्कुप्वाङ्* (८।४।२) से हुआ है ।।

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ४।१।१५३ तक जायेगी ।।

उदीचामिञ् ।।४।१।१५३।।

उदीचाम् ६।३।। इञ् १।१।। *अनु०*—सेनान्तलक्षणकारिभ्यः, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ।। *अर्थः*—सेनान्तलक्षणकारिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽपत्येऽर्थे इञ् प्रत्ययो भवति, उदीचामाचार्याणां मतेन ।। *उदा०*—कारिषेणिः, हारिषेणिः; लाक्षणिः । कौम्भकारिः, तान्तुवायिः ।।

भाषार्थः—[*उदीचाम्*] उदीच्य आचार्यों के मत में सेनान्त, लक्षण तथा कारिवाची प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में [*इञ्*] इञ् प्रत्यय होता है ॥

तिकादिभ्यः फिञ् ॥४।१।१५४॥

तिकादिभ्यः ५।३॥ फिञ् १।१॥ *स०*—तिक आदिर्येषां ते तिकादयस्तेभ्यः··· बहुव्रीहि ॥ *अनु०*—तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तिकादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽपत्येऽर्थे फिञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०* तिकस्यापत्यं तैकायनिः, कैतवायनिः ॥

भाषार्थः—[*तिकादिभ्य*] तिकादि प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में [*फिञ्*] फिञ् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से *फिञ्* की अनुवृत्ति ४।१।१५९ तक जायेगी ॥

कौसल्यकार्मार्याभ्यां च ॥४।१।१५५॥

कौसल्यकार्मार्याभ्याम् ५।२॥ च अ० ॥ *स०*—कौस० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—फिञ्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—कौसल्य, कार्मार्य इत्येताभ्यां शब्दाभ्यामपत्येऽर्थे फिञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—कौसल्यस्यापत्यं कौसल्यायनिः, कार्मार्यायणिः ॥

भाषार्थः—[*कौसल्यकार्मार्याभ्याम्*] कौसल्य तथा कार्मार्य शब्दों से [*च*] भी अपत्य अर्थ में फिञ् प्रत्यय होता है ॥

अणो द्व्यचः ॥४।१।१५६॥

अणः ५।१॥ द्व्यचः ५।१॥ *स०*—द्वौ अचौ यस्मिन् स द्व्यच् तस्मात्, बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—फिञ्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अणन्ताद् द्व्यचः प्रातिपदिकादपत्येऽर्थे फिञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—कार्त्रस्यापत्यं कार्त्रायणिः, हार्त्रायणिः ॥

भाषार्थः—[*अणः*] अणन्त [*द्व्यच*] दो अच् वाले प्रातिपदिकों से अपत्यार्थ में फिञ् प्रत्यय होता है ॥ कर्तृ हर्तृ शब्दों से *तस्येदम्* (४।३।१२०) अर्थ में अण् होकर कार्त्र, हार्त्र बना, अब यह कार्त्र शब्द अणन्त है, अतः अपत्य अर्थ में फिञ् हो गया ॥

उदीचां वृद्धादगोत्रात् ॥४।१।१५७॥

उदीचाम् ६।३॥ वृद्धात् ५।१॥ अगोत्रात् ५।१॥ *स०*—अगोत्रादित्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—फिञ्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अगोत्रं यद्वृद्धसंज्ञकं प्रातिपदिकं, तस्मात् तस्यापत्यमर्थे उदीचामाचार्याणां मतेन फिञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—आम्रगुप्तस्यापत्यं आम्रगुप्तायनिः । ग्रामरक्षस्यापत्यं ग्रामरक्षायणिः ॥

भाषार्थ—[*अगोत्रात्*] गोत्र से भिन्न जो [*वृद्धात्*] वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिक उनसे [*उदीचाम्*] उदीच्य आचार्यों के मत में फिञ् प्रत्यय होता है ॥ आम्रगुप्त तथा ग्रामरक्ष प्रातिपदिकों की *वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्* (१।१।७२) से वृद्ध संज्ञा है ॥

यहां से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ४।१।१५९ तक जायेगी ॥

वाकिनादीनां कुक्च ॥४।१।१५८॥

वाकिनादीनाम् ६।३॥ कुक् १।१॥ च अ० ॥ *स०*—वाकिन आदिर्येषां ते वाकिनादयः, तेषां बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—उदीचां वृद्धादगोत्रात, फिञ्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—वाकिनादिभ्योऽगोत्रेभ्यः वृद्धसंज्ञकेभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽपत्येऽर्थे फिञ् प्रत्ययो भवति, उदीचामाचार्याणां मतेन, तत्सन्नियोगेन च वाकिनादीनां कुगागमो भवति ॥ *उदा०*—वाकिनस्यापत्यं वाकिनकायनिः, गारेधस्यापत्यं गारेधकायनिः । अन्येषां मते—वाकिनिः, गारेधिः ॥

भाषार्थ—गोत्र भिन्न वृद्धसंज्ञक [*वाकिनादीनाम्*] वाकिनादि प्रातिपदिकों से उदीच्य आचार्यों के मत में अपत्यार्थ में फिञ् प्रत्यय [च] तथा [कुक्] कुक् का आगम होता है ॥ वाकिन कुक् फिञ् = वाकिनक् आयन् इ = वाकिनकायनिः । अन्यों के मत में इञ् होकर वाकिनिः रूप बनेगा ॥

यहाँ से 'कुक्' की अनुवृत्ति ४।१।१५९ तक जायेगी ॥

पुत्रान्तादन्यतरस्याम् ॥४।१।१५९॥

पुत्रान्तात् ५।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *स०*—पुत्रः अन्ते यस्य स पुत्रान्तः तस्मात्......बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—कुक्, उदीचां वृद्धादगोत्रात्,

फिञ्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अगोत्राद् वृद्धसंज्ञकात् पुत्रान्तात् प्रातिपदिकात् यः पूर्वसूत्रेण (४।१।१५७) फिञ् प्रत्ययो विहितस्तस्मिन् परभूते विकल्पेन कुगागमो भवति, उदीचामाचार्याणां मतेन। तेन त्रैरूप्यं भवति ॥ *उदा०*—गार्गीपुत्रकायणिः, गार्गीपुत्रायणिः, गार्गीपुत्रिः; वात्सीपुत्रकायणिः, वात्सीपुत्रायणिः, वात्सीपुत्रिः ॥

भाषार्थः - गोत्र भिन्न वृद्ध संज्ञक [*पुत्रान्तात्*] पुत्रान्त प्रातिपदिक से पूर्व सूत्र (४।१।१५७) से विहित जो फिञ् प्रत्यय, उसके परे रहते [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से कुक् आगम होता है ॥ पूर्वसूत्र *उदीचा०* (४।१।१५७) में फिञ् प्रत्यय का विकल्प से विधान है, तथा यहाँ फिञ् परे रहते कुक् आगम का भी विकल्प कहा है, सो तीन रूप बनते हैं, प्रथम कुक् आगम तथा फिञ् प्रत्यय का, यथा—गार्गीपुत्त्रकायणिः। द्वितीय जब पक्ष में कुक् आगम नहीं हुआ केवल फिञ् प्रत्यय हुआ, यथा—गार्गीपुत्त्रायणिः। तृतीय जब पक्ष में फिञ् प्रत्यय न होकर इञ् हुआ। इस पक्ष में कुक् आगम भी नहीं होगा क्योंकि कुक् आगम का फिञ् के सन्नियोग में विधान है, तब 'गार्गीपुत्त्रिः' प्रयोग बना ॥

प्राचामवृद्धात् फिन् बहुलम् ॥४।१।१६०॥

प्राचाम् ६।३॥ अवृद्धात् ५।१॥ फिन् १।१॥ बहुलम् १।१॥ *अनु०* – तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अवृद्धसंज्ञकात् प्रातिपदिकादपत्येऽर्थे बहुलं फिन् प्रत्ययो भवति प्राचामाचार्याणां मतेन ॥ *उदा०*—ग्लुचुकस्यापत्यं ग्लुचुकायनिः, अहिचुम्बकायनिः ॥ पक्षे इञ्—ग्लौचुकिः, आहिचुम्बकिः ॥

भाषार्थः—[*अवृद्धात्*] अवृद्धसंज्ञक प्रातिपदिकों से अपत्यार्थ में [*बहुलम्*] बहुल करके [*फिन्*] फिन् प्रत्यय होता है [*प्राचाम्*] प्राच्य आचार्यों के मत में ॥ बहुल कहने से पक्ष में फिन् नही हुआ तो *अत इञ्* (४।१।९५) से इञ् हो गया। ग्लुचुक अहिचुम्बकादि अवृद्ध प्रातिपदिक हैं ॥

मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च ॥४।१।१६१॥

मनोः ५।१॥ जातौ ७।१॥ अञ्यतौ १।२॥ षुक् १।१॥ च अ० ॥ *स०*—अञ् च यत् च अञ्यतौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अर्थः*—मनुप्रातिपदिकाद्

अञ्, यत् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः, तत्सन्नियोगेन च तस्य पुक् आगमो भवति, जातौ गम्यमानायाम् ॥ *उदा०*—अञ्—मानुषः । यत्—मनुष्यः ॥

भाषार्थ—[*मनो*] मनु शब्द से [*जातौ*] जाति को कहना हो तो [*अञ्यतौ*] अञ् तथा यत् प्रत्यय होते हैं [च] तथा मनुशब्द को [षुक्] पुक् आगम भी हो जाता है ॥ यहाँ *तस्यापत्यम्* का अधिकार आते हुए भी सम्बद्ध नहीं होता, यह जानना चाहिये[1] ॥ मनुशब्द से षुक् आगम होकर तथा *आद्यन्तौ०* (१।१।४५) से अन्त में बैठकर 'मनु पुक् अञ्' रहा, *वृद्धि* (७।२।११७) होकर मानुषः बना, यत् में मनुष्यः बनेगा ॥

अपत्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् ॥४।१।१६२॥

अपत्यम् १।१॥ पौत्रप्रभृति १।१॥ गोत्रम् १।१॥ *स०*- पौत्रः प्रभृतिर्यस्य तत् पौत्रप्रभृति, बहुव्रीहिः ॥ *अर्थः*—पौत्रप्रभृति यदपत्यं तद्गोत्रसंज्ञं भवति ॥ संज्ञासूत्रमिदम् ॥ *उदा०*—गर्गस्यापत्यं पौत्रप्रभृति गार्ग्यः, वात्स्यः ॥

भाषार्थः—यह संज्ञासूत्र है । [*पौत्रप्रभृति*] पौत्र (नाती) से लेकर जो [*अपत्यम्*] अपत्य = सन्तान उसकी [*गोत्रम्*] गोत्र संज्ञा होती है, अर्थात् पौत्र की तथा उससे आगे के अपत्यों की गोत्र संज्ञा होती है ॥

यहाँ से '*अपत्यं पौत्रप्रभृति*' की अनुवृत्ति ४।१।१६५ तक जायेगी ॥

जीवति तु वंश्ये युवा ॥४।१।१६३॥

जीवति ७।१॥ तु अ० ॥ वंश्ये ७।१॥ युवा १।१॥ *अनु०* - अपत्यं पौत्रप्रभृति ॥ वंशः = सन्ततिप्रबन्धः । वंशे भवः वंश्यः तस्मिन्

---

१. यह अभिप्राय साम्प्रतिक वैयाकरणों का है । वस्तुतः यहां अपत्यार्थ का सम्बन्ध भी जानना चाहिये । अन्यथा 'मनुष्यः कस्मात् मनोरपत्यं मनुषो वा' यह निरुक्तकार यास्क का वचन (३।२) उपपन्न नहीं होगा । अतः जैसे अन्यत्र कुत्सादि विशिष्ट अर्थ गम्यमान होने पर अपत्यार्थ में प्रत्यय होते हैं, वैसे ही यह भी जातिविशिष्ट अर्थ गम्यमान होने पर मनु से अपत्यार्थ में ही प्रत्यय होता है अन्यथा अपत्यप्रकरण मे सूत्र का पाठ भी निष्प्रयोजन होगा ॥

दिगादित्वात् (४।३।५४) यत् प्रत्ययः ॥ *अर्थः*—वंश्ये = पित्रादौ जीवति सति पौत्रप्रभृतेर्यदपत्यं (चतुर्थादारभ्य) तद् युवसंज्ञं भवति। पूर्वसूत्रात्तु पौत्रप्रभृति इत्यनुवर्तते, तदत्र षष्ठ्या विपरिणम्यते, तेन चतुर्थादारभ्य युवसंज्ञा भवति ॥ *उदा०*—गार्ग्यस्य युवापत्यं गार्ग्यायणः, वात्स्यायनः ॥

भाषार्थः—वंश का अर्थ यहाँ सन्तति का नैरन्तर्य है। उस वंश में होने वाले जो पिता चाचादि वह वंश्य कहलाएंगे॥ ऊपर सूत्र से जो प्रथमान्त पौत्रप्रभृति आ रहा है, वह यहाँ षष्ठी विभक्ति में बदल जाएगा, तो अर्थ होगा—

पौत्रप्रभृति का जो अपत्य उसकी [*वंश्ये*] पिता इत्यादि के [जीवति] जीवित रहते [*युवा*] युवा संज्ञा [*तु*] ही होती है॥ पौत्रप्रभृति के षष्ठी में विपरिणाम होने से पौत्रप्रभृति का जो अपत्य अर्थात् चौथे की युवसंज्ञा होती है, तीसरे की नहीं, ऐसा अर्थ हुआ॥ *गोत्राद्यून्य०* (४।१।९४) के नियम से गार्ग्य से फक् (४।१।१०१) होकर गार्ग्यायणः बना है॥

यहां से '*जीवति युवा*' की अनुवृत्ति ४।१।१६५ तक जायेगी॥

भ्रातरि च ज्यायसि ॥४।१।१६४॥

भ्रातरि ७।१॥ च अ०॥ ज्यायसि ७।१॥ *अनु०*—जीवति युवा, अपत्यं पौत्रप्रभृति॥ *अर्थः*—ज्यायसि भ्रातरि जीवति सति, पौत्रप्रभृतेरपत्यं कनीयान् भ्राता युवसंज्ञो भवति॥ अवंश्यार्थोऽयमारम्भः, यथा—गार्ग्यस्य द्वौ पुत्रौ तयोः कनीयान् भ्राता मृते पित्रादौ वंश्ये ज्यायसि भ्रातरि जीवति सति युवसंज्ञको भवति॥ गार्ग्यायणोऽस्य कनीयान् भ्राता, गार्ग्ये जीवति॥

भाषार्थः—वंश्य पिता इत्यादियों को कहते हैं। भाई वंश्य में नहीं आ सकता, सो अवंश्य होने के कारण (पिता इत्यादि के मर जाने पर) पूर्वसूत्र से बड़े भाई के जीवित रहते छोटे भाई की युवसंज्ञा प्राप्त नहीं थी, गोत्र संज्ञा ही प्राप्त थी अतः विधान कर दिया। [*भ्रातरि ज्यायसि*] बड़े भाई के जीवित रहते (पित्रादिकों के मर जाने पर भी) पौत्र प्रभृति का जो अपत्य छोटा भाई उसकी [च] भी युवा संज्ञा हो जाती है॥ *अपत्यं पौत्र०* (४।१।१६२) से गोत्र संज्ञा ही प्राप्त थी, युवसंज्ञा का विधान कर

दिया है ॥ उदाहरण के लिये यदि गार्ग्य (पौत्र) के दो पुत्र हों, उनके पित्रादिकों की मृत्यु हो चुकी हो केवल दोनों भाई जीवित हों तो उनमें से जो छोटा भाई होगा, उसकी युवा संज्ञा होगी, सो वह गार्ग्यायण कहा जायेगा, पर बड़े भाई की गोत्रसंज्ञा ही होगी, सो वह गार्ग्य कहा जायेगा ॥

वाऽन्यस्मिन् सपिण्डे स्थविरतरे जीवति ॥४।१।१६५॥

वा अ० ॥ अन्यस्मिन् ७।१॥ सपिण्डे ७।१॥ स्थविरतरे ७।१॥ जीवति ७।१॥ स०—समानं पिण्डं यस्य स सपिण्डः, बहुव्रीहिः ॥ सप्तमपुरुषावधिः सपिण्डता भवति ॥ *अनु०*—जीवति युवा, अपत्यम्, पौत्रप्रभृति ॥ *अर्थः*—भ्रातुरन्यस्मिन् सपिण्डे स्थविरतरे = वृद्धतरे जीवति सति पौत्रप्रभृतेरपत्यं जीवदेव युवसंज्ञं वा भवति ॥ *उदा०*—गार्ग्यस्यापत्यं गार्ग्यायणः, पक्षे गोत्रसंज्ञैव—गार्ग्यः । वात्स्यायनः, वात्स्यो वा ॥

भाषार्थः—सपिण्ड = सात पीढ़ी में होने वाले ॥ ऊपर सूत्र में कहे गए भ्रातरि की अपेक्षा से यहां 'अन्यस्मिन्' कहा है ॥ [*अन्यस्मिन्*] भाई से अन्य [*सपिण्डे*] सात पीढ़ियों में से कोई [*स्थविरतरे*] पद तथा आयु दोनों से बूढ़ा व्यक्ति जीवित हो, तो पौत्रप्रभृति का जो अपत्य (अर्थात् चौथे की) [*जीवति*] उसके जीते ही [*वा*] विकल्प से युवा संज्ञा होती है । पक्ष में यथा प्राप्त गोत्रसंज्ञा ही होगी ॥

स्थविर में तरप् इसलिये लगाया है कि पद तथा आयु दोनों में जो बूढ़ा हो वही लिया जाए ॥ प्रकृत सूत्र में जो 'जीवति' कहा है वह संज्ञी का विशेषण बनता है, तथा जो जीवति अनुवृत्ति से आ रहा है वह सपिण्ड का विशेषण बन जाता है ॥

जनपदशब्दात् क्षत्रियादञ् ॥४।१।१६६॥

जनपदशब्दात् ५।१॥ क्षत्रियात् ५।१॥ अञ् १।१॥ स० जनपदं शब्दयतीति जनपदशब्दस्तस्मात्...... तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—तस्यापत्यम् तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—जनपदशब्दो यः क्षत्रियवाची, तस्मादपत्येऽर्थे अञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—पञ्चालस्यापत्यं = पाञ्चालः, ऐक्ष्वाकः, वैदेहः ॥

भाषार्थ—[*जनपदशब्दात्*] जनपद को कहने वाले [*क्षत्रियात्*] क्षत्रिय अभिधायक प्रातिपदिक से अपत्य अर्थ में [*अञ्*] अञ् प्रत्यय होता है ॥ पञ्चाल क्षत्रियवाची शब्द है, उससे *तस्य निवासः* (४।२।६८) से पञ्चालानां निवासो जनपदः, ऐसा विग्रह करके अण् प्रत्यय किया, तो पञ्चाल अण् बना पीछे उस अण् का *जनपदे लुप्* (४।२।८०) से लुप् हो गया, तो पञ्चालाः ही रह गया। अब यह पञ्चाल शब्द जनपदवाची भी है, तथा क्षत्रियाभिधायी भी, सो प्रकृत सूत्र से अपत्य अर्थ में अञ् हो गया। यही बात और उदाहरणों में भी जाने ॥ *उदा०*— पाञ्चालः (पञ्चाल क्षत्रियों की सन्तान), ऐक्ष्वाकः, वैदेहः ॥

यहाँ से '*जनपदशब्दात् क्षत्रियात्*' की अनुवृत्ति ४।१।१७६ तक तथा 'अञ्' की ४।१।१६७ तक जायेगी ॥

साल्वेयगान्धारिभ्यां च ॥४।१।१६७॥

साल्वेयगान्धारिभ्याम् ५।२॥ च अ० ॥ *स०*— साल्वेयश्च गान्धारिश्च साल्वेयगान्धारी, ताभ्यां ... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—जनपदशब्दात्-क्षत्रियादञ्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—क्षत्रियाभिधायिभ्यां जनपदवाचिभ्यां साल्वेय गान्धारि इत्येताभ्यां शब्दाभ्यामपत्येऽर्थे अञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—साल्वेया-नामपत्यं साल्वेयः, गान्धारः ॥

भाषार्थ—जनपदवाची क्षत्रियाभिधायी [*साल्वेयगान्धारिभ्याम्*] साल्वेय तथा गान्धारि शब्दों से [च] भी अपत्य अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है ॥ साल्वेय तथा गान्धारि शब्दों के क्षत्रियाभिधायी जनपदवाची होने से पूर्वसूत्र से ही अञ् प्राप्त था, पुनर्विधान *वृद्धेत्कोसला०* (४।१।१६९) से जो ञ्यङ् वृद्धसंज्ञक होने से प्राप्त था, उसको बाधकर अञ् ही हो इसलिये है ॥

द्व्यञ्मगधकलिङ्गसूरमसादण् ॥४।१।१६ ॥

द्व्य...मसात् ५।१॥ अण् १।१॥ *स०*—द्वौ अचौ यस्मिन् स द्व्यच्, बहुव्रीहिः। द्व्यच् च मगधश्च कलिङ्गश्च सूरमसश्च द्व्यञ्......मसं, तस्मात् समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—जनपदशब्दात् क्षत्रियात् तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—

जनपदवाचिक्षत्रियाभिधायिभ्यः, द्व्यच्, मगध, कलिङ्ग, सूरमस इत्ये-तेभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽपत्येऽर्थेऽण् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—द्व्यच्-अङ्गानामपत्यं आङ्गः, वाङ्गः, सौह्मः, पौण्ड्रः । मगधानामपत्यं मागधः । कालिङ्गः, सौरमसः ॥

भाषार्थः—क्षत्रियाभिधायी जनपदवाची [द्व्यञ्...मसात्] दो अचों वाले शब्दों से तथा मगध, कलिङ्ग और सूरमस प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में [अण्] अण् प्रत्यय होता है ॥ अङ्ग वङ्ग आदि प्रातिपदिकों से *जनपदश०* (४।१।१६६) से अञ् प्राप्त था, अण् विधान कर दिया है । अण् तथा अञ् में स्वर का ही भेद है ॥

वृद्धेत्कोसलाजादाञ्ञ्यङ् ॥४।१।१६९॥

वृद्धे...जादात् ५।१॥ ञ्यङ् १।१॥ स०—वृद्धश्च, इत् च, कोसलश्च, अजादश्च, वृद्धेत्कोसलाजादम्, तस्मात्.....समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—जनपदशब्दात् क्षत्रियात्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—क्षत्रियाभिधायिभ्यो जनपदवाचिभ्यो वृद्धसं-ज्ञकेभ्य इकारान्तेभ्यः कोसल, अजाद इत्येताभ्यां शब्दाभ्यां चापत्येऽर्थे ञ्यङ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—वृद्धसंज्ञकेभ्यः—आम्बष्ठानामपत्यम् आम्ब-ष्ठ्य, सौवीर्यः । इकारान्तात—आवन्त्यः, कौन्त्यः, कौसल्यः, आजाद्यः ॥

भाषार्थ—क्षत्रियाभिधायी जनपदवाची [वृद्धे.......दात्] वृद्धसंज्ञक, इकारान्त तथा कोसल और अजाद प्रातिपदिकों से अपत्य अर्थ में [ञ्यङ्] ञ्यङ् प्रत्यय होता है ॥ यह सूत्र भी पूर्ववत् अञ् का अप-वाद है ॥ आम्बष्ठ तथा सौवीर शब्द *वृद्धिर्यस्या०* (१।१।७२) से वृद्धसंज्ञक हैं, तथा अवन्ति, कुन्ति शब्द इकारान्त हैं ही, कोसल अजाद शब्द वृद्धसंज्ञक नहीं हैं, अतः इनको अलग से कह दिया । ये सब शब्द जनपदवाची तथा क्षत्रियाभिधायी भी हैं, सो ञ्यङ् हो गया है । सर्वत्र सिद्धि में पूर्ववत् वृद्धि (७।२।११७) तथा यस्येति लोप ही विशेष है ॥

कुरुनादिभ्यो ण्यः ॥४।१।१७०॥

कुरुनादिभ्यः ५।३॥ ण्यः १।१॥ स०—नकार आदिर्येषां ते नादयः, कुरुश्च नादयश्च कुरुनादयः, तेभ्यः...बहुव्रीहिगर्भेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—

जनपदशब्दात् क्षत्रियात्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थ*—क्षत्रियाभिधायिनो जनपदवाचिनः कुरुशब्दात्, नादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्योऽपत्येऽर्थे ण्यः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—कुरूणामपत्यं = कौरव्यः । नादिभ्यः—नैषध्यः, नैषध्यः ॥

भाषार्थः—क्षत्रियाभिधायी जनपदवाची [*कुरुनादिभ्यः*] कुरु तथा नकार आदि वाले प्रादिपदिकों से अपत्य अर्थ में [*ण्यः*] ण्य प्रत्यय होता है ॥ सिद्धि में कुरु शब्द को *ओर्गुणः* (६।४।१४६) से गुण तथा ६।१।७६ से वान्तादेश होता है । निषध तथा निषध नकार आदि वाले शब्द हैं सो ण्य प्रत्यय हो गया है । कुरु शब्द के द्व्यच् होने से अञ् (४।१।१६६) का अपवाद अण् प्राप्त था, उसका यह अपवाद सूत्र है ॥

साल्वावयवप्रत्यग्रथकलकूटाश्मकादिञ् ॥४।१।१७१॥

साल्वा.....मकात् ५।१॥ इञ् १।१॥ *स०*—साल्वस्य अवयवः साल्वावयवः षष्ठीतत्पुरुषः । साल्वावयवश्च, प्रत्यग्रथश्च, कलकूटश्च, अश्मकश्च साल्वा.....कम्, तस्मात् समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—जनपदशब्दात् क्षत्रियात्, तस्यापत्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—साल्वो नाम जनपदः तस्यावयवाः उदुम्बरादयस्तेभ्यः क्षत्रियवृत्तिभ्यः प्रत्यग्रथ, कलकूट, अश्मक इत्येतेभ्यश्च क्षत्रियवाचिभ्यो जनपदशब्देभ्यः प्रादिपदिकेभ्योऽपत्येऽर्थे इञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—साल्वावयवेभ्य—औदुम्बरिः, तैलखलिः, माद्रकारिः, यौगन्धरिः, भौलिङ्गिः, शारदण्डिः, प्रात्यग्रथिः, कालकूटिः, आश्मकिः ॥

भाषार्थ.—क्षत्रियाभिधायी जनपदवाची [*साल्वा.....कात्*] साल्व के अवयववाची तथा प्रत्यग्रथ, कलकूट एवं अश्मक प्रातिप्रदिकों से [*इञ्*] इञ् प्रत्यय होता है ॥ साल्व नाम (विशेष) क्षत्रियों का है । उनके रहने का जो जनपद वह भी साल्व (पूर्वोक्त ४।१।१६६ सूत्र में कही रीति से) कहा जायेगा, उस साल्व जनपद के भी जो भिन्न २ नाम वाले अवयव होंगे वे साल्वावयव कहे जायेंगे । साल्व जनपद के अवयव उदुम्बर, तिलखल, मद्रकर, युगन्धर, भुलिङ्ग तथा शरदण्ड माने गए हैं, अतः इनसे इञ् हुआ है । सिद्धि में वृद्धि तथा यस्येति लोप पूर्ववत् है ॥

ते तद्राजाः ॥४।१।१७२॥

ते १।३॥ तद्राजाः १।३॥ *अनु०*—जनपदशब्दात् क्षत्रियात्, प्रत्ययः॥ 'ते' इत्यनेन पूर्वोक्ताः जनपदशब्देभ्यः क्षत्रियवाचिभ्यो विहिता अञादयः प्रत्यया गृह्यन्ते॥ *अर्थः*—ते पूर्वोक्ता अञादयः प्रत्यया-स्तद्राजसंज्ञका भवन्ति॥ तद्राजसंज्ञकत्वात् बहुवचने '*तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्* (२।४।६२) इत्यनेन प्रत्ययस्य लुग्भवति॥ *उदा०*—(पाञ्चालः, पाञ्चालौ) पञ्चालाः। (आङ्गः, आङ्गौ), अङ्गाः॥

भाषार्थः—'ते' से यहाँ *जनपदशब्दात्०* (४।१।१६६) से लेकर जो अपत्य प्रत्यय अञ्, अण्, ञ्यङ् आदि कहे हैं, वे लिए जाते हैं॥ [*ते*] उन अञादि प्रत्ययों की [*तद्राजाः*] तद्राज संज्ञा होती है॥ तद्राज संज्ञा होने से बहुवचन में *तद्राजस्य बहुषु०* से प्रत्यय का लुक् होगा तो बहुवचन में पञ्चालाः, अङ्गाः ऐसा बनेगा॥ प्रत्यय के लुक् होने से *न लुमताङ्गस्य* (१।१।६२) से प्रत्ययलक्षण न होने से वृद्धि भी नहीं होगी॥

यहाँ से '*तद्राजाः*' की अनुवृत्ति ४।१।१७६ तक जायेगी॥

कम्बोजाल्लुक् ॥४।१।१७३॥

कम्बोजात् ५।१॥ लुक् १।१॥ *अनु०*—जनपदशब्दात क्षत्रियात्, तद्राजाः, प्रत्ययः॥ *अर्थः*—क्षत्रियाभिधायी जनपदवाची यः कम्बोज-शब्दस्तस्मादपत्ये विहितो यस्तद्राजसंज्ञकः प्रत्ययस्तस्य लुग्भवति॥ *उदा०*—कम्बोजानामपत्यं = कम्बोजः॥

भाषार्थः—क्षत्रियाभिधायी जनपदवाची जो [*कम्बोजात्*] कम्बोज शब्द उससे अपत्यार्थ में विहित जो तद्राजसंज्ञक प्रत्यय उसका [*लुक्*] लुक् हो जाता है॥ कम्बोज शब्द से *जनपदशब्दात् क्षत्रियात्०* (४।१।१६६) से अञ् हुआ है, उसीका यहाँ लुक् हो गया है, लुक् होने से वृद्धि भी नहीं हुई॥

यहाँ से '*लुक्*' की अनुवृत्ति ४।१।१७६ तक जायेगी॥

स्त्रियामवन्तिकुन्तिकुरुभ्यश्च ॥४।१।१७४॥

स्त्रियाम् ७।१॥ अवन्ति.....कुरुभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ अवन्तिश्च, कुन्तिश्च, कुरुश्च अवन्तिकुन्तिकुरवः, तेभ्यः......इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—लुक्, जनपदशब्दात् क्षत्रियात्, तद्राजाः, प्रत्ययः ॥ *अर्थः*—क्षत्रियाभिधायिभ्यो जनपदवाचिभ्योऽवन्ति, कुन्ति, कुरु इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्य उत्पन्नस्य तद्राजसंज्ञकप्रत्ययस्य स्त्रियां लुग्भवति ॥ *उदा०*—अवन्तीनामपत्यं स्त्री = अवन्ती, कुन्ती, कुरूः ॥

भाषार्थः—क्षत्रियाभिधायी जनपदवाची जो [*अव...भ्यः*] अवन्ति, कुन्ति तथा कुरु शब्द उनसे [*च*] भी उत्पन्न जो तद्राजसंज्ञक प्रत्यय उनका [*स्त्रियाम्*] स्त्रीलिङ्ग अभिधेय हो तो लुक् हो जाता है ॥ अवन्ति, कुन्ति शब्द से इकारान्त मानकर *वृद्धेत्कोसला०* (४।१।१६९) से ञ्यङ् हुआ था, तथा कुरु से ण्य हुआ था, उसी का यहाँ लुक् हो गया है ॥ लुक् होने के पश्चात् *इतो मनुष्य०* (४।१।६५) से ङीष् हो गया, तथा कुरु से *ऊङुतः* (४।१।६६) से ऊङ् हो गया है ॥

यहाँ से *'स्त्रियाम्'* की अनुवृत्ति ४।१।१७६ तक जायेगी ॥

अतश्च ॥४।१।१७५॥

अतः ६।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—स्त्रियाम्, जनपदशब्दात् क्षत्रियात् लुक्, तद्राजाः, प्रत्ययः ॥ *अर्थः*—जनपदशब्दात् क्षत्रियाद्विहितस्य तद्राजसंज्ञकस्याकारप्रत्ययस्य स्त्रियामभिधेयायां लुग्भवति ॥ *उदा०*—शूरसेनस्यापत्यं स्त्री शूरसेनी, मद्री, दरद् ॥

भाषार्थः—स्त्रीलिङ्ग अभिधेय हो तो तद्राजसंज्ञक [*अत*] अकारप्रत्यय का [*च*] भी लुक् हो जाता है ॥ शूरसेन शब्द से *जनपदशब्दात्०* (४।१।१६६) से अञ् प्रत्यय तथा मद्र दरद् शब्दों से द्व्यच् (४।१।१६८) लक्षण जो अण् हुआ था उसका लुक् हुआ है। अण् तथा अञ् दोनों का 'अ' शेष रहता है, सो अकार प्रत्यय है ही।

न प्राच्यभर्गादियौधेयादिभ्यः ॥४।१।१७६॥

न अ० ॥ प्राच्य......दिभ्यः ५।३॥ *स०*—भर्ग आदिर्येषां ते भर्गादयः बहुव्रीहिः। यौधेय आदिर्येषां ते यौधेयादयः, बहुव्रीहिः। प्राच्यश्च,

भर्गादयश्च, यौधेयादयश्च, प्राच्य''यौधेयादयस्तेभ्यः'' इतरेतरद्वन्द्वः ॥
अनुः—स्त्रियाम्, तद्राजाः, लुक्, जनपदशब्दात् क्षत्रियात्, प्रत्ययः ॥
अर्थः—क्षत्रियाभिधायिभ्यो जनपदशब्देभ्यः प्राच्येभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः, भर्गादिभ्यः, यौधेयादिभ्यश्चोत्पन्नस्य तद्राजसंज्ञकस्य प्रत्ययस्य स्त्रियामभिधेयायां लुङ् न भवति ॥ *उदा*ः—प्राच्येभ्यः—पञ्चालस्यापत्यं स्त्री = पाञ्चाली, वैदेही, आङ्गी, वाङ्गी, मागधी। भर्गादिभ्यः—भार्गी, कारूषी, कैकेयी। यौधेयादिभ्यः—यौधेयी, शौभ्रेयी, शौक्रेयी ॥

भाषार्थः—क्षत्रियाभिधायी जनपदवाची [*प्राच्य''दिभ्यः*] प्राग्देशीय शब्द तथा भर्गादि, यौधेयादि शब्दों से उत्पन्न जो तद्राजसंज्ञक प्रत्यय उसका स्त्रीत्व अभिधेय हो तो लुक् [*न*] नहीं होता ॥

पञ्चाल, विदेह शब्दों से जो अञ् ४।१।१६६ से प्राप्त था उसका *अतश्च* (४।१।१७५) से लुक् प्राप्त था, स्त्रीत्व अभिधेय होने पर उस लुक् का निषेध हो गया तब *शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्* (४।१।७३) से ङीन् होकर 'पाञ्चाली' आदि बन गया। आङ्गी वाङ्गी भार्गी में भी पूर्ववत् (४।१।१६८) से उत्पन्न हुए अण् प्रत्यय का लुक् प्राप्त था, नहीं हुआ, तब *जातेरस्त्री*० (४।१।६३) से ङीष् हो गया। कारूषी, कैकेयी में ४।१।१६६ से अञ् हुआ है उसी का लुक् प्राप्त था सो प्रकृत सूत्र से नहीं हुआ, तब पूर्ववत् *जातेरस्त्री*० से ङीष् हो गया ॥

यौधेय, शौभ्रेय, शौक्रेय शब्दों से *पर्श्वादियौधेयादिभ्यो*० (५।३।११७) से अण् हुआ है, उस अण् की *ञ्यादयस्तद्राजाः* (५।३।११९) से तद्राज संज्ञा है सो उसका भी *अतश्च* (४।१।१७५) से लुक् प्राप्त था, निषेध हो गया ॥ इस सूत्र से *अतश्च* से प्राप्त लुक् का निषेध होता है ॥

॥ इति प्रथमः पादः ॥

—:०:—

द्वितीयः पादः

तेन रक्तं रागात् ॥४।२।१॥

तेन ३।१॥ रक्तम् १।१॥ रागात् ५।१॥ अनु०—समर्थानां प्रथमाद्वा, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ रज्यते अनेनेति रागः ॥

अर्थः—समर्थानां मध्ये यत् प्रथमं तृतीयासमर्थं, रागवाचि प्रातिपदिकं तस्मान् रक्तमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—कुसुम्भेन रक्तं वस्त्रं = कौसुम्भम्। कषायेण रक्तं वस्त्रं काषायाम्। माञ्जिष्ठम् ॥

भाषार्थः—समर्थों में जो प्रथम [*तेन*] तृतीया समर्थ [*रागात्*] राग विशेषवाची = रङ्गविशेषवाची प्रातिपदिक उससे [*रक्तम्*] रँगा गया इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है ॥ यथाविहित कहने से यहाँ उदाहरणों में अण् (४।१।८३) हो गया है ॥ कुसुम्भ (कुसुंभिया पीला रङ्ग), कषाय (मटमैला रङ्ग) मञ्जिष्ठा (मजीठ का रङ्ग) यह सब रङ्गवाची प्रातिपदिक हैं, सो 'कुसुम्भ टा' इस अवस्था में सुबन्त से तद्धित अण् की उत्पत्ति हुई है, शेष पूर्ववत् है। आगे भी जिस समर्थ प्रातिपदिक से प्रत्यय विधान करेंगे, वही विभक्ति प्रातिपदिक के आगे रखकर प्रत्ययोत्पत्ति हुआ करेगी। यथा चतुर्थी समर्थ कहेंगे तो 'ङे', पञ्चमी समर्थ कहेंगे तो 'ङसि' आदि विभक्तियां आयेंगी, और उनका लुक् पूर्ववत् होता जायेगा, यह ध्यान रहे ॥ उदा०—कौसुम्भम् (कुसुंभिया रङ्ग से रंगा हुआ जो वस्त्र), माञ्जिष्ठम् ॥

यहाँ से '*तेन*' की अनुवृत्ति ४।२।१२ तक तथा '*रक्तं रागात्*' की ४।२।२ तक जायेगी ॥

लाक्षारोचनाट्ठक् ॥४।२।२॥

लाक्षारोचनात् ५।१॥ ठक् १।१॥ *स०*—लाक्षा च रोचना च लाक्षारोचनं तस्मात्.....समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तेन रक्तं रागात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थाभ्यां लाक्षारोचनारागविशेषवाचिप्रातिपदिकाभ्यां रक्तार्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ अणोऽपवादः ॥ *उदा०*—लाक्षया रक्तं वस्त्रं = लाक्षिकम्, रोचनया रक्तं वस्त्रं = रौचनिकम् ॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ रागविशेषवाची [*लाक्षारोचनात्*] लाक्षा तथा रोचना प्रातिपदिकों से 'रङ्गा गया' इस अर्थ में [*ठक्*] ठक् प्रत्यय होता है ॥ अण् का अपवाद यह सूत्र है ॥ 'ठ' को इक् ठस्येकः

(७।३।५०) से हुआ है ॥ *उदा०*—लाक्षिकम् (लाख से रङ्गा हुआ वस्त्र) रौचनिकम् (गौ के मस्तक से निकले हुए पीले रङ्ग से रङ्गा हुआ वस्त्र) ॥

नक्षत्रेण युक्तः कालः ॥४।२।३॥

नक्षत्रेण ३।१॥ युक्तः १।१॥ कालः १।१॥ *अनु०*—तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थान्नक्षत्रवाचिनः प्रातिपदिकाद् युक्तः काल इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—पुष्येण नक्षत्रेण युक्तः कालः = पौषी रात्रिः, पौषमहः । माघी रात्रिः, माघमहः ॥

भाषार्थः—[*नक्षत्रेण*] नक्षत्रविशेषवाची तृतीया समर्थ प्रातिपदिकों से उन नक्षत्रों से [*युक्तः कालः*] युक्त जो काल इस अर्थ को कहने में यथाविहित (अण्) प्रत्यय होता है ॥ *उदा०* -पौषी रात्रिः (पुष्य नक्षत्र का जिसमें योग हो ऐसी रात्रि) पौषमहः (पुष्य नक्षत्र से युक्त जो दिन) माघी रात्रिः (मघा नक्षत्र से युक्त जो रात्रि) माघमहः ॥

उदाहरण में *सूर्यतिष्यागस्त्य०* (६।४।१४९) से पुष्य शब्द के 'य' का लोप; तथा *टिड्ढाणञ्०* (४।१।१५) से ङीप् हुआ है । शेष पूर्ववत् जानें ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ४।२।६ तक जायेगी ॥

लुबविशेषे ॥४।२।४॥

लुप् १।१॥ अविशेषे ७।१॥ *स०*—न विशेषोऽविशेषस्तस्मिन् ······ नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—तेन, नक्षत्रेण युक्तः कालः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—पूर्वसूत्रेण विहितस्य प्रत्ययस्य लुब् भवत्यविशेषे गम्यमाने, अर्थात् यावान् कालो नक्षत्रेण युज्यतेऽहोरात्रस्तस्याऽविशेषे गम्यमाने ॥ *उदा०* पुष्येण युक्तः कालोऽद्य पुष्यः । अद्य कृत्तिका । अद्य रोहिणी ॥

भाषार्थः—पूर्व सूत्र से नक्षत्रवाची शब्दों से विधान किये गये प्रत्यय का यहाँ [*अविशेषे*] अविशेष गम्यमान होने पर अर्थात् सामान्यतया नक्षत्रयोग कहना हो तो [*लुप्*] लुप् होता है ॥ 'अद्य पुष्यः' यहाँ

आज का काल पुष्य नक्षत्र से युक्त है यह कहा है, परन्तु आज कब? रात्रि में या दिन में, ऐसा कुछ नहीं कहा, अर्थात् दिन या रात्रि के अवान्तरविभागों की यहाँ विवक्षा नहीं है, अतः अण् प्रत्यय जो कि पूर्व सूत्र से आया था उसका लुप् हो गया। प्रत्यय के लुप् हो जाने पर वृद्धि आदि भी *न लुमताङ्गस्य* (१।१।६२) से प्रत्यय लक्षण का निषेध होने से नहीं हुई, तो 'पुष्यः' बन गया॥

यहाँ से 'लुप्' की अनुवृत्ति ४।२।५ तक जायेगी॥

संज्ञायां श्रवणाश्वत्थाभ्याम् ॥४।२।५॥

संज्ञायाम् ७।१॥ श्रवणाश्वत्थाभ्याम् ५।२॥ *स०*—श्रवणश्च अश्वत्थश्च श्रवणाश्वत्थौ, ताभ्यां.....इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—लुप्, तेन नक्षत्रेण युक्तः कालः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ अविशेषे पूर्वेण लुब्विहितो विशेषार्थमिदमुच्यते॥*अर्थः*—तृतीयासमर्थाभ्यां श्रवण, अश्वत्थ इत्येताभ्यां नक्षत्रवाचिशब्दाभ्यां विहितस्य प्रत्ययस्य संज्ञायां विषये सर्वत्र (विशेषे, अविशेषे वा) लुब् भवति॥ *उदा०*—श्रवणेन युक्ता रात्रिः = श्रवणा रात्रिः। अश्वत्थो मुहूर्त्तः॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ नक्षत्रवाची [*श्रवणाश्वत्थाभ्याम्*] श्रवण तथा अश्वत्थ शब्दों से 'युक्तः कालः' इस अर्थ में विहित प्रत्यय का [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में सर्वत्र (विशेष को कहना हो या अविशेष को) लुप् होता है॥ पूर्व सूत्र से अविशेष में ही लुप् प्राप्त था, विशेषार्थ यह आरम्भ है॥ ४।२।३ सूत्र से जो अण् प्रत्यय उत्पन्न हुआ था, उसका इस सूत्र से लुप् हो गया है॥ *उदा०*—श्रवणा रात्रिः (श्रवण नक्षत्र विशेष से युक्त जो रात्रि, उसकी यह संज्ञा है), अश्वत्थो मुहूर्त्तः॥

द्वन्द्वाच्छः ॥४।२।६॥

द्वन्द्वात् ५।१॥ छः १।१॥ *अनु०*—तेन, नक्षत्रेण युक्तः कालः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थान्नक्षत्रद्वन्द्वात् प्रातिपदिकाद् युक्तः काल इत्येतस्मिन्नर्थे छः प्रत्ययो भवति, विशेषे चाविशेषे च॥ *उदा०*—तिष्यश्च पुनर्वसुश्च तिष्यपुनर्वसू ताभ्यां युक्तः कालः अद्य तिष्यपुनर्वसवीयम्, अद्य राधानुराधीयम्। विशेषे—राधानुराधीया रात्रिः। तिष्यपुनर्वसवीया रात्रिः॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ नक्षत्र [*द्वन्द्वात्*] द्वन्द्ववाची शब्दों से (विशेष अविशेष दोनों को कहने में) युक्त काल इस अर्थ में [*छः*] छ प्रत्यय होता है ॥ पुनर्वसु को *ओर्गुणः* (६।४।१४६) से गुण तथा छ को 'ईय' होकर 'पुनर्वसो ईय' बना। पुनः अवादेश होकर पुनर्वसवीयम् बना है ॥

दृष्टं साम ॥४।२।७॥

दृष्टम् १।१॥ साम १।१॥ *अनु०*—तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् प्रत्ययः, परश्च ॥ दृष्टमित्यर्थनिर्देशः, साम इत्यस्य विशेषणम् ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् दृष्टं साम इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—वसिष्ठेन दृष्टं साम = वासिष्ठम्। क्रुञ्चेन दृष्टं साम क्रौञ्चम्। वैश्वामित्रम् ॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ प्रातिपदिकों से [*दृष्टं साम*] साम (वेद) को देखा इस अर्थ में यथाविहित (अण्) प्रत्यय होता है। *उदा०*—वासिष्ठम् (वसिष्ठ ऋषि के द्वारा जो देखा गया साम = गान) क्रौञ्चम् ॥

यहाँ से '*दृष्टं साम*' की अनुवृत्ति ४।२।८ तक जायेगी।

वामदेवाड् ड्यड्ड्यौ ॥४।२।८॥

वामदेवात् ५।१॥ ड्यड्ड्यौ १।२॥ *स०*—ड्यत् च ड्यश्च ड्यड्ड्यौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तेन, दृष्टं साम, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः परश्च ॥ *अर्थः* तृतीयासमर्थात् वामदेवप्रातिपदिकाड् ड्यत्, ड्य इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः, दृष्टं साम इत्येतस्मिन्नर्थे ॥ *उदा०* वामदेवेन दृष्टं साम वामदेव्यम्। ड्य-वामदेव्यम् ॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ [*वामदेवात्*] वामदेव प्रातिपदिक से 'देखा गया साम' इस अर्थ में [*ड्यड्ड्यौ*] ड्यत् तथा ड्य प्रत्यय होते हैं ॥ ड्यत् तथा ड्य में केवल स्वर का ही भेद है। ड्यत् पक्ष में *तित्स्वरितम्* (६।१।१७९) से अन्त स्वरित तथा ड्य पक्ष में *आद्युदात्तश्च* (३।१।३) से अन्तोदात्त स्वर होगा। डित् होने से *टेः* (६।४।१४३) से टि भाग (अ) का लोप होता है। पूर्व सूत्र से प्राप्त अण् का यह अपवाद सूत्र है ॥

परिवृतो रथः ॥४।२।९॥

परिवृतः १।१॥ रथः १।१॥ *अनु०*—तेन, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ परि = परितः सर्वतः, वृतः = आच्छादितः। परिवृत इत्यर्थनिर्देशः। रथशब्दः, प्रत्ययार्थविशेषणम् ॥ *अर्थः*— तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् परिवृत आच्छादित इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति, योऽसौ परिवृतो रथश्चेत् स भवति ॥ *उदा०*—वस्त्रेण परिवृतो रथः = वास्त्रो रथः। कम्बलेन परिवृतो रथः = काम्बलो रथः। वासनः ॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से [*परिवृतः*] ढका हुआ इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है, यदि वह ढका हुआ [*रथः*] रथ हो तो ॥ *उदा०*—वास्त्रः (वस्त्र से ढका हुआ जो रथ), काम्बलः (कम्बल से ढका हुआ जो रथ), वासनः ॥

यहाँ से '*परिवृतो रथः*' की अनुवृत्ति ४।२।११ तक जायेगी ॥

पाण्डुकम्बलादिनिः ॥४।२।१०॥

पाण्डुकम्बलात् ५।१॥ इनिः १।१॥ *अनु०*—परिवृतो रथः, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थात् पाण्डुकम्बलात् प्रातिपदिकात् परिवृतो रथ इत्येतस्मिन्नर्थ इनिः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—पाण्डुकम्बलेन परिवृतो रथः = पाण्डुकम्बली, पाण्डुकम्बलिनौ, पाण्डुकम्बलिनः ॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ [*पाण्डुकम्बलात्*] पाण्डुकम्बल प्रातिपदिक से 'ढका हुआ जो रथ' इस अर्थ में [*इनिः*] इनि प्रत्यय होता है ॥ 'पाण्डुकम्बलिन् सु' इस अवस्था में *सौ च* (६।४।१३) से दीर्घ, हल्ङ्यादिलोप तथा ८।२।७ से नकार लोप होकर पाण्डुकम्बली बना है ॥ पाण्डुकम्बल सफेद ऊनी कम्बल को कहते हैं ॥

द्वैपवैयाघ्रादञ् ॥४।२।११॥

द्वैपवैयाघ्रात् ५।१॥ अञ् १।१॥ *स०*—द्वैपञ्च वैयाघ्रञ्च द्वैपवैयाघ्रं तस्मात् समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—परिवृतो रथः, तेन, तद्धिताः,

ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ द्वीपिनो विकारः = द्वैपं चर्म। व्याघ्रस्य विकारः = वैयाघ्रं चर्म, *प्राणिरजतादिभ्योऽञ्* (४।३।१५४) इत्यनेनाऽञ्॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थाभ्यां द्वैपवैयाघ्रशब्दाभ्यां परिवृतो रथ इत्येतस्मिन्नर्थेऽञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—द्वैपेन परिवृतो रथः = द्वैपम्। वैयाघ्रेण परिवृतो रथः = वैयाघ्रः ॥

भाषार्थः—तृतीयासमर्थ [*द्वैपवैयाघ्रात्*] द्वैप तथा वैयाघ्र प्रातिपदिकों से 'आच्छादित हुआ रथ' इस अर्थ में [*अञ्*] अञ् प्रत्यय होता है। यह भी अण् का अपवाद सूत्र है। अण् तथा अञ् में स्वर का ही भेद है॥ द्वीप तथा व्याघ्र शब्द से विकार अर्थ में अञ् प्रत्यय होकर द्वैपम् (चीते का विकार अर्थात् उसका चमड़ा) तथा वैयाघ्रम् (व्याघ्र का चमड़ा) बना है, इनसे प्रकृत सूत्र से 'अञ्' होता है॥ *उदा०*—द्वैपः (चीते के चमड़े से ढका हुआ जो रथ), वैयाघ्रः (व्याघ्र के चमड़े से ढका हुआ जो रथ)॥

कौमारापूर्ववचने ॥४।२।१२॥

कौमार लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः॥ अपूर्ववचने ७।१॥ *स०*—न पूर्वोऽपूर्वः, नञ्तत्पुरुषः। तस्य वचनम्, अपूर्ववचनं, तस्मिन् षष्ठीतत्पुरुषः॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—कौमार इत्येतदण् प्रत्ययान्तं निपात्यते, अपूर्ववचने द्योत्ये॥ *उदा०*—अपूर्वपतिं कुमारीं पतिरुपपन्नः = कौमारो भर्त्ता। अपूर्वपतिः कुमारी पतिमुपपन्ना कौमारी भार्या॥

भाषार्थः—[*कौमार*] कौमार शब्द [*अपूर्ववचने*] अपूर्ववचन द्योतित हो रहा हो तो अण् प्रत्ययान्त निपातन किया जाता है। यह निपातन पुँल्लिङ्ग तथा स्त्रीलिङ्ग दोनों में स्त्री का अपूर्वत्व कहना हो तो होगा॥ जिसका पाणिग्रहण पहिले न हुआ हो वह अपूर्ववचन कहाता है॥ *उदा०*—पुँल्लिङ्ग में—अपूर्वपतिं कुमारीं पतिरुपपन्नः = कौमारो भर्ता (जिसका पहले पति नहीं था, ऐसी कुमारी को प्राप्त हुआ पति) स्त्रीलिङ्ग में—अपूर्वपतिः कुमारी पतिमुपपन्ना = कौमारी भार्या (जिसका पहले पति नहीं था, ऐसी कुमारी पति को प्राप्त हुई)॥ जब पुँल्लिङ्ग में कौमारः बनेगा तो कुमारी द्वितीया समर्थ से उपयन्ता = पति को कहने में अण्

होगा। जब 'कौमारी' स्त्रीलिङ्ग में बनाना होगा, तो प्रथमा समर्थ कुमारी शब्द से स्वार्थ में अण् होगा, पश्चात् *टिड्ढाणञ्०* (४।१।१५) से ङीप् होगा।

तत्रोद्धृतममत्रेभ्यः ॥४।२।१३॥

तत्र अ० ॥ उद्धृतम् १।१॥ अमत्रेभ्यः ५।३॥ अनु०—अण्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ उद्धृतमिति प्रत्ययार्थनिर्देशः। अमत्रशब्दः पात्रपर्यायः। भुक्तोच्छिष्टमुद्धृतमुच्यते ॥ *अर्थ*—तत्रेति सप्तमीसमर्थेभ्योऽमत्रवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्य उद्धृतमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—शरावेषूद्धृत ओदनः = शारावः। माल्लिकः। कार्परः ॥

भाषार्थः—[*तत्र*] सप्तमी समर्थ [*अमत्रेभ्यः*] अमत्र—पात्रवाची प्रातिपदिकों से [*उद्धृतम्*] भोजन के पश्चात् अवशिष्ट[1] बचा हुआ इस अर्थ में यथाविहित (अण्) प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—शारावः (कुल्हड़ में खाने के पश्चात् बचा हुआ अन्न), माल्लिकः (मल्लिका पुष्प के वर्ण के समान वर्ण वाला जो पात्र, उसमें रखा हुआ अन्न), कार्परः (खप्पर में रखा गया अन्न) ॥

यहाँ से '*तत्र*' की अनुवृत्ति ४।२।१९ तक जायेगी ॥

स्थण्डिलाच्छयितरि व्रते ॥४।२।१४॥

स्थण्डिलात् ५।१॥ शयितरि ७।१॥ व्रते ७।१॥ अनु०—तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—स्थण्डिलप्रातिपदिकात् सप्तमीसमर्थात् शयितरि = शयनकर्त्तर्यभिधेये व्रते गम्यमाने यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—स्थण्डिले शयितुं व्रतमस्य = स्थाण्डिलो यतिः ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*स्थण्डिलात्*] स्थण्डिल प्रातिपदिक से [*शयितरि*] शयन का कर्त्ता = सोने वाला अभिधेय हो तो [*व्रते*] व्रत गम्यमान होने पर यथाविहित प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—स्थाण्डिलो यतिः (चबूतरे पर सोने का जिसका व्रत हो, ऐसा यति) ॥

---

१. यहाँ शेष बचे शुद्ध अन्न से अभिप्राय है। जिसे रसोई के पात्रों में से निकाल कर अन्य पात्रों में रखते हैं ॥

संस्कृतं भक्षाः ॥४।२।१५॥

संस्कृतम् १।१॥ भक्षाः १।३॥ *अनु०*—तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तत्रेति सप्तमीसमर्थात् प्रातिपदिकात् संस्कृतमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति, यत्तत् संस्कृतं, भक्षश्चेत् स भवति ॥ *उदा०*—घृते संस्कृतं = घार्तम्। तक्रे संस्कृतं = ताक्रम्। भ्राष्ट्रे संस्कृता अपूपाः = भ्राष्ट्रा अपूपाः ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ प्रातिपदिक से [*संस्कृतम्*] संस्कार किया गया इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है, यदि वह संस्कृत [*भक्षाः*] भक्ष पदार्थ हो तो ॥ *उदा०*—घार्तम् (घी में संस्कृत की गई अर्थात् बनाई गई वस्तु), ताक्रम् (मट्ठे में बनाई गई वस्तु), भ्राष्ट्रा अपूपाः (भाड़ में पकाये गये पुए) ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ४।२।१९ तक जायेगी ॥

शूलोखाद्यत् ॥४।२।१६॥

शूलोखात् ५।१॥ यत् १।१॥ *स०*—शूलञ्च उखा च शूलोखम् तस्मात्......समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—संस्कृतं भक्षाः, तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थाभ्यां शूलोखाप्रातिपदिकाभ्यां संस्कृतं भक्षा इत्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—शूले संस्कृतं शूल्यं मांसम्। उख्यम् ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*शूलोखात्*] शूल तथा उखा प्रातिपदिकों से सस्कृतं भक्षाः इस अर्थ में [*यत्*] यत् प्रत्यय होता है ॥ अण् का अपवाद यह सूत्र है ॥ शूल कबाब बनाने की लोहे की छड़ को कहते हैं। उखा बटलोई पात्र विशेष को कहते हैं ॥

दध्नष्ठक् ॥४।२।१७॥

दध्नः ५।१॥ ठक् ॥ १।१॥ *अनु०*—संस्कृतं भक्षाः, तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थात् दधिशब्दात् संस्कृतं भक्षा इत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—दधनि संस्कृतं दाधिकम् ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*दध्न*] दधि प्रातिपदिक से संस्कृतं भक्षाः इस अर्थ में [*ठक्*] ठक् प्रत्यय होता है ॥ यह भी अण् का अपवाद सूत्र है ॥ *उदा०* - दाधिकम् (दही में बनाई गई जो वस्तु) ॥

यहाँ से 'ठक्' की अनुवृत्ति ४।२।१८ तक जायेगी ॥

उदश्वितोऽन्यतरस्याम् ॥४।२।१८॥

उदश्वितः ५।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—ठक्, संस्कृतं भक्षाः, तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमी-समर्थाद् उदश्वित् प्रातिपदिकात् संस्कृतं भक्षा इत्येतस्मिन्नर्थे विकल्पेन ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—उदश्विति संस्कृतमौदश्वित्कम्, औदश्वितम् ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*उदश्वितः*] उदश्वित् प्रातिपदिक से संस्कृतं भक्षाः इस अर्थ में [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से ठक् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—औदश्वित्कम् (कढ़ी), औदश्वितम् ॥ उदाहरण में *इसुसुक्तान्तात् कः* (७।३।५१) से 'ठ' को 'क' हुआ है, शेष पूर्ववत् है ॥

क्षीराड्ढञ् ॥४।२।१९॥

क्षीरात् ५।१॥ ढञ् १।१॥ *अनु०*—संस्कृतं भक्षाः, तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थात् क्षीरप्रातिपदिकात् संस्कृतं भक्षा इत्येतस्मिन्नर्थे ढञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—क्षीरे संस्कृता क्षैरेयी यवागूः ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*क्षीरात्*] क्षीर प्रातिपदिक से संस्कृतं भक्षाः इस अर्थ में [*ढञ्*] ढञ् प्रत्यय होता है ॥ ढ को एय तथा पूर्ववत् आदि अच् को वृद्धि एवं *टिड्ढाणञ्०* (४।१।१५) से ङीप् होकर क्षैरेयी (दूध में पकाई गई यवागू = दलिया) बनेगा ॥

सास्मिन् पौर्णमासीति ॥४।२।२०॥

सा १।१॥ अस्मिन् ७।१॥ पौर्णमासी १।१॥ इति अ० ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सेति प्रथमासमर्थात् पौर्णमासीविशेषवाचिनः प्रातिपदिकादस्मिन्नित्यधिकरणेऽभिधेये यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—पुष्यनक्षत्रेण युक्ता पौर्णमासी = पौषी पौर्णमासी । *नक्षत्रेण युक्तः कालः* (४।२।३) इत्यनेनाण्

प्रत्ययः । सा पौषी पौर्णमास्यस्मिन् मासे = पौषो मासः, पौषोऽर्द्धमासः। एवं माघी पौर्णमास्यस्मिन् मासे माघो मासः ॥

भाषार्थः—[*सा*] प्रथमा समर्थ [*पौर्णमासीति*] पौर्णमासी विशेष-वाची प्रातिपदिक से [*अस्मिन्*] सप्तम्यर्थ = अधिकरण अभिधेय होने पर यथाविहित (अण्) प्रत्यय होता है ॥

पुष्य नक्षत्र से योग है जिस पौर्णमासी का, वह पौषी पौर्णमासी कहाती है। वह पौषी पौर्णमासी है, जिस मास में ऐसा विग्रह करके पौषी से अण् प्रत्यय प्रकृत सूत्र से हुआ, पश्चात् यस्येति लोप होकर पौषः बना है। इसी प्रकार माघो मासः में भी समझें ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ४।२।२२ तक जायेगी ॥

आग्रहायण्यश्वत्थाट्ठक् ॥४।२।२१॥

आग्रहायण्यश्वत्थात् ५।१॥ ठक् १।१॥ *स०*—आग्रहायणी च अश्वत्था च आग्रहायण्यश्वत्थं तस्मात्.....समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सास्मिन् पौर्णमासीति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—पौर्णमासीसमानाधिकरणाभ्यां प्रथमासमर्थाभ्यामाग्रहायण्यश्वत्थशब्दाभ्यां सप्तम्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—आग्रहायणी पौर्णमास्यस्मिन् मास आग्रहायणिको मासः, अर्द्धमासः । एवमाश्वत्थिकः[१], आश्विनमासः ॥

भाषार्थः—प्रथमा समर्थ पौर्णमासी शब्द के साथ समानाधिकरण वाले [*आग्रहायण्यश्वत्थात्*] आग्रहायणी तथा अश्वत्थ शब्दों से सप्तम्यर्थ में [*ठक्*] ठक् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—आग्रहायणिकः (आग्रहायणी नक्षत्र है जिस पौर्णमासी में ऐसा मास), आश्वत्थिकः (अश्वत्थ = आश्विन नक्षत्र से युक्त पौर्णमासी है जिस मास में वह, आश्विन मास) ॥

यहाँ से 'ठक्' की अनुवृत्ति ४।२।२२ तक जायेगी ॥

---

१. अश्वत्थशब्देन आश्विननक्षत्रमुच्यते । अश्वत्थेन नक्षत्रेण युक्ता पौर्णमासी अश्वत्था निपातनादणो लुक् । साऽस्मिन् मास आश्वत्थिको मासः ॥

विभाषा फाल्गुनीश्रवणाकार्त्तिकीचैत्रीभ्यः ॥४।२।२२॥

विभाषा १।१॥ फाल्गु·····त्रीभ्यः ५।३॥ *स०*—फाल्गु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—ठक्, सास्मिन् पौर्णमासीति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थेभ्यः पौर्णमासीसमानाधिकरणेभ्यः फाल्गुनी, श्रवणा, कार्त्तिकी, चैत्री इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः सप्तम्यर्थे विकल्पेन ठक् प्रत्ययो भवति॥ नित्यमणि प्राप्ते (४।२।२०) पक्षे ठक् विधीयते॥ *उदा०*—फाल्गुनी पौर्णमास्यस्मिन् मासे = फाल्गुनिको मासः। पक्षे अण्—फाल्गुनो मासः। श्रावणिको मासः। श्रावणः। कार्त्तिकिकः। कार्त्तिकः। चैत्रिकः। चैत्रः॥

भाषार्थः—प्रथमासमर्थ पौर्णमासी शब्द से समानाधिकरण वाले जो [*फाल्गु·····त्रीभ्यः*] फाल्गुनी आदि शब्द उनसे [*विभाषा*] विकल्प से सप्तम्यर्थ में ठक् प्रत्यय होता है, पक्ष में अण् होगा॥

सास्य देवता ॥४।२।२३॥

सा १।१॥ अस्य ६।१॥ देवता १।१॥ *अनु०*—समर्थानां प्रथमाद्वा, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—सेति प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकादस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमासमर्थं देवता चेत् सा भवति॥ *उदा०*—इन्द्रो देवताऽस्य = ऐन्द्रं हविः। ऐन्द्रो मन्त्रः। ऐन्द्री ऋक्। बृहस्पतिर्देवताऽस्य बार्हस्पत्यं हविः॥

भाषार्थः—[*सा*] प्रथमा समर्थ प्रातिपदिकों से [*अस्य*] षष्ठ्यर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है, यदि वह प्रथमा समर्थ [*देवता*] देवता विशेषवाची प्रातिपदिक हो तो॥ *उदा०*—ऐन्द्रं हविः (इन्द्र है देवता जिस हवि का), बार्हस्पत्यम् (बृहस्पति देवता है जिस हवि का, मन्त्र[१] का

---

१. यहाँ देवता शब्द से मन्त्र का प्रतिपाद्य विषय लिया गया है। इस विषय मे निरुक्तकार ने ७।१ में कहा है "*यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुति प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति*" अर्थात् जिस कामना को लेकर ऋषि जिस देवता की स्तुति करते हैं, वह उस देवता वाला मन्त्र कहाता है। ऋक्सर्वानुक्रमणी में कहा है "*या तेनोच्यते सा देवता*" अर्थात् मन्त्र के द्वारा जो कहा गया वह उस मन्त्र का देवता होता है। इन दोनों वचनों के आधार पर मन्त्र के प्रतिपाद्य विषय को देवता कहते हैं। अब ये देवता चेतन अचेतन के

या ऋचा का)॥ इन्द्र शब्द से अण् होकर पश्चात् *टिड्ढाणञ्०* (४।१।१५) से ङीप् होकर 'ऐन्द्री' बना है। बृहस्पति शब्द से *दित्यदित्यादित्य०* (४।१।८५) से ण्य प्रत्यय होकर बार्हस्पत्यम् बना है॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ४।२।३४ तक जायेगी॥

कस्येत् ॥४।२।२४॥

कस्य ६।१॥ इत् १।१॥ अनु०—सास्य देवता, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ पूर्वेणैवाण् सिद्ध इकारादेशार्थं वचनम्॥ *अर्थः*—कशब्दः प्रजापतेर्वाचकः। प्रथमासमर्थाद् देवतावाचिनो कशब्दात् षष्ठ्यर्थेऽण् प्रत्ययो भवति, तत्सन्नियोगेन चेकारादेशो भवति॥ *उदा०*—को देवताऽस्य कार्यं हविः॥

भाषार्थः—[*कस्य*] 'क' देवतावाची प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में अण् प्रत्यय होता है, तथा 'क' को प्रत्यय के साथ-साथ [*इत्*] इकारान्तादेश भी होता है॥ क शब्द प्रजापति का वाचक है॥

क् इ अण् = कि + अ, वृद्धि आयादेश होकर कार्यं हविः बन गया॥

शुक्राद्घन् ॥४।२।२५॥

शुक्रात् ५।१॥ घन् १।१॥ अनु०—सास्य देवता, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थात् शुक्रशब्दात् घन् प्रत्ययो भवति सास्य देवतेत्येतस्मिन्नर्थे॥ *उदा०*—शुक्रो देवताऽस्य शुक्रियं हविः, शुक्रियो मन्त्रः, शुक्रिया ऋक्।

भाषार्थः—प्रथमा समर्थ [*शुक्रात्*] शुक्र शब्द से षष्ठ्यर्थ में [*घन्*] घन् प्रत्यय होता है, सास्य देवता इस अर्थ में॥ 'घ्' को ७।१।२ से इय् आदेश हो ही जायेगा॥

अपोनप्त्रपांनप्तृभ्यां घः ॥४।२।२६॥

अपो···भ्याम् ५।२॥ घः १।१॥ अनु०—सास्य देवता, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ अपोनपात्, अपांनपात् तकारान्तौ

भेद से दो प्रकार के होते हैं। चेतन में आत्मा परमात्मा लिये जायेंगे तथा अचेतन में भौतिक पदार्थ लिये जाते हैं। अर्थात् जब अग्नि, इन्द्र, वायु आदि देवतावाची शब्द अध्यात्म प्रक्रिया में अन्वित होते हैं, तब ये देव आत्मा परमात्मा के वाचक होते हैं, और जब ये आधिदैविक प्रक्रिया में भौतिक पदार्थों के वाचक होते हैं, तब ये अचेतन देवों के वाचक होते हैं॥

शब्दौ तयोः प्रत्ययसन्नियोगेनास्मादेव सूत्रनिर्देशाद् ऋकारान्तत्वं निपात्यते, असति प्रत्यये तु तकारान्तत्वमेव दृश्यते ॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थदेवतावाचिभ्याम् अपोनपाद् अपांनपाद् इत्येताभ्यां शब्दाभ्यां घः प्रत्ययो भवति, प्रत्ययसन्नियोगेन च अपोनप्तृ अपांनप्तृ इति रूपं निपात्यते ॥ *उदा०*—अपोनपादपांनपाद् वा देवताऽस्य = अपोनप्त्रियं हविः, अपांनप्त्रियं हविः ॥

भाषार्थः—अपोनपात् अपांनपात् तकारान्त देवतावाची शब्द हैं, सो इनको प्रत्यय के साथ-साथ इसी सूत्र से अपोनप्तृ अपांनप्तृ ऐसा रूप निपातन किया जाता है ॥ [*अपो····भ्याम्*] अपोनपात्, अपांनपात् देवतावाची शब्दों से षष्ठ्यर्थ में [*घः*] घ प्रत्यय होता है, और घ प्रत्यय के सन्नियोग से इन शब्दों को अपोनप्तृ और अपांनप्तृ रूप का आदेश भी होता है ॥

यहाँ से '*अपोनप्त्रपान्नप्तृभ्याम्*' की अनुवृत्ति ४।२।२७ तक जायेगी ॥

छ च ॥४।२।२७॥

छ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ *अनु०*—अपोनप्त्रपान्नप्तृभ्यां, सास्य देवता, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थाभ्यां देवतावाचिभ्यामपोनप्त्रपांनप्तृभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां षष्ठ्यर्थे छः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अपोनप्त्रीयं हविः । अपांनप्त्रीयं हविः ॥

भाषार्थ—प्रथमासमर्थ देवतावाची अपोनप्तृ अपांनप्तृ शब्दों से [छ] छ प्रत्यय [च] भी होता है ॥ सिद्धि में छ को 'ईय' आदेश तथा ईय परे रहते ऋकार को यणादेश ही विशेष है ॥

यहाँ से 'छ' की अनुवृत्ति ४।२।२८ तक जायेगी ॥

महेन्द्राद् घाणौ च ॥४।२।२८॥

महेन्द्रात् ५।१॥ घाणौ १।२॥ च अ० ॥ *स०*—घश्च अण् च घाणौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—छ, सास्य देवता, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थाद् देवतावाचिनो महेन्द्रप्रातिपदिकात् षष्ठ्यर्थे घ, अण् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतश्छश्च ॥ उदा०—महेन्द्रो देवताऽस्य महेन्द्रियं हविः । अण्—माहेन्द्रम् । छ—महेन्द्रीयम् ॥

भाषार्थः—प्रथमा समर्थ देवतावाची [*महेन्द्रात्*] महेन्द्र प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में [*घाणौ*] घ, अण् [*च*] तथा छ प्रत्यय भी होते हैं ॥

सोमाट् ट्यण् ॥४।२।२९॥

सोमात् ५।१॥ ट्यण् १।१॥ *अनु०*—सास्य देवता, तद्धिताः ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थदेवतावाचिनः प्रातिपदिकात् षष्ठ्यर्थे ट्यण् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—सोमो देवताऽस्य सौम्यं हविः ॥

भाषार्थः—प्रथमा समर्थ देवतावाची [*सोमात्*] सोम शब्द से षष्ठ्यर्थ में [*ट्यण्*] ट्यण् प्रत्यय होता है ॥ अनुबन्ध हटकर ट्यण् का 'य' शेष रहता है। सिद्धि में वृद्धि आदि पूर्ववत् हुये हैं ॥

वाय्वतुपित्रुषसो यत् ॥४।२।३०॥

वाय्वृतुपित्रुषसः ५।१॥ यत् १।१॥ *स०*—वायुश्च ऋतुश्च पिता च उषश्च, वाय्वृ⋯षः, तस्मात्⋯समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सास्य देवता, तद्धिताः ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थेभ्यः वायु-ऋतु-पितृ-उषस् इत्येतेभ्यः देवतावाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः षष्ठ्यर्थे यत् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—वायुर्देवताऽस्य वायव्यम्, ऋतव्यम्, पित्र्यम् उषस्यम् ॥

भाषार्थः—प्रथमा समर्थ देवतावाची [*वाय्वृतुपित्रुषसः*] वायु, ऋतु पितृ तथा उषस् प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में [*यत्*] यत् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*यत्*' की अनुवृत्ति ४।२।३१ तक जायेगी ॥

द्यावापृथिवीशुनासीरमरुत्वदग्नीषोमवास्तोष्पतिगृहमेधाच्छ च ॥४।२।३१॥

द्यावा⋯मेधात् ५।१॥ छ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ *स०*—द्यावापृथिव्यौ च शुनासीरौ च मरुत्वत् च अग्नीषोमौ च वास्तोष्पतिश्च गृहमेधश्च द्यावा⋯मेधं, तस्मात्⋯समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—

यत्, सास्य देवता, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थेभ्यो द्यावापृथिव्यादिदेवतावाचिभ्यः शब्देभ्यः षष्ठ्यर्थे छः प्रत्ययो भवति चकारात् यत् च ॥ *उदा०*—द्यावा च पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ, तौ देवते अस्य द्यावापृथिवीयम्, द्यावापृथिव्यम्। शुनश्च सीरश्च शुनासीरौ तौ देवते अस्य शुनासीरीयम्, शुनासीर्यम्। मरुत्वान् देवताऽस्य मरुत्वतीयम्, मरुत्वत्यम्। अग्निश्च सोमश्च अग्नीषोमौ, तौ देवते अस्य अग्नीषोमीयम्, अग्नीषोम्यम्। वास्तोष्पतीयम्, वास्तोष्पत्यम्। गृहमेधीयम्, गृहमेध्यम् ॥

भाषार्थः—प्रथमा समर्थ देवतावाची [*द्यावा.....मेधात्*] द्यावापृथिवी, शुनासीर, मरुत्वत्, अग्नीषोम, वास्तोष्पति, गृहमेध प्रातिपदिकों से [छ] छ [च] तथा यत् प्रत्यय होता है। वास्तुनः पतिः वास्तोष्पतिः यहाँ निपातन से षष्ठी का अलुक् तथा पुँल्लिङ्गत्व हुआ है। *षष्ठ्याः पतिपुत्र०* (८।३।५३) से वास्तोस् के स् को षत्व हो गया है। द्यावापृथिवी में दिव् को द्याव् आदेश *दिवो द्यावा* (६।३।२७) से होगा। शुनासीर में शुन को आनङ् आदेश *देवताद्वन्द्वे च* (६।३।२४) से होकर शुनासीरीयम् बनता है। शुन वायु एवं सीर आदित्य को कहते हैं। अग्नीषोमीयम् में *ईदग्नेः सोमवरुणयोः* (६।३।२५) से अग्नि को ईत्व तथा *अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः* (८।३।८२) से सोम को षत्व होता है ॥

अग्नेर्ढक् ॥४।२।३२॥

अग्नेः ५।१॥ ढक् १।१॥ *अनु०*—सास्य देवता, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थाद् देवतावाचिनोऽग्निशब्दात् षष्ठ्यर्थे ढक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अग्निर्देवताऽस्य आग्नेयो मन्त्रः ॥

भाषार्थः—प्रथमा समर्थ देवतावाची [*अग्नेः*] अग्नि प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में [ढक्] ढक् प्रत्यय होता है ॥ सिद्धि में ढ को 'एय', *किति च* (७।२।११८) से वृद्धि तथा यस्येति लोपादि पूर्ववत् होंगे ॥

कालेभ्यो भववत् ॥४।२।३३॥

कालेभ्यः ५।३॥ भववत् अ० ॥ भव इव भववत्, तत्र तस्येव (५।१।११५) इत्यनेन सप्तमीसमर्थाद्वतिः ॥ *अनु०*—सास्य देवता, तद्धिताः,

ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—कालविशेषवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो भववत् प्रत्यया भवन्ति सास्यदेवतेत्येतस्मिन् विषये ॥ भववदित्येतस्याऽयमर्थः शैषिकान्तर्गतभवाधिकारे (४।३।५३) कालवाचिभ्यः प्रकृतिभ्यो येन विशेषणेन ये प्रत्यया विधीयन्ते तेनैव विशेषणेन ताभ्यः प्रकृतिभ्यस्ते प्रत्ययाः सास्य देवतेत्येतस्मिन्नर्थेऽपि भवन्ति ॥ उदा०—मासो देवताऽस्य मासिकम्। आर्द्धमासिकम्। सांवत्सरिकम्। वासन्तम्। प्रावृट् देवताऽस्य = प्रावृषेण्यम् ॥

भाषार्थः—[*कालेभ्य*] कालविशेषवाची प्रातिपदिकों से सास्य देवता इस विषय में [*भववत्*] भववत् अर्थात् शैषिक (शेषे ४।२।९१ से ४।३।१३२ तक) के अन्तर्गत भवाधिकार में कालवाची जिन प्रकृतियों से जिस विशेषण को लेकर जो जो प्रत्यय कहे हैं, उन्हीं विशेषणों सहित उन्हीं प्रकृतियों से वही प्रत्यय सास्य देवता इस अर्थ में भी हो जायें। जैसे शैषिक अधिकार में *तत्र भवः* आदि अर्थों में कालवाची प्रातिपदिकों से *कालाट्ठञ्* (४।३।११) सूत्र से ठञ् प्रत्यय कहा है, सो सास्य देवता इस अर्थ में भी मासिकम्, आर्द्धमासिकम्, सांवत्सरिकम् में ठञ् प्रत्यय हुआ है। तथा *कालाट्ठञ्* के अधिकार में कहे हुए कालवाची वसन्त शब्द से *सन्धिवेलाद्यृतु०* (४।३।१६) से अण् एवं प्रावृप् शब्द से एण्य प्रत्यय हुआ है ॥

महाराजप्रोष्ठपदाट्ठञ् ॥४।२।३४॥

महाराजप्रोष्ठपदात् ५।१॥ ठञ् १।१॥ *स०*—महाराजश्च प्रोष्ठपदश्च, महा······दं, तस्मात्······समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सास्य देवता, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थाभ्यां महाराजप्रोष्ठपददेवतावाचिशब्दाभ्यां षष्ठ्यर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*— माहाराजो देवताऽस्य माहाराजिकम्। प्रौष्ठपदिकम् ॥

भाषार्थ.—प्रथमा समर्थ देवतावाची [*महाराजप्रोष्ठपदात्*] महाराज तथा प्रोष्ठपद प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में [*ठञ्*] ठञ् प्रत्यय होता है ॥

पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः ॥४।२।३५॥

पितृ······महाः १।३॥ *स०*—पितृव्यश्च मातुलश्च मातामहश्च पितामहश्च पितृ······महाः, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्या-

प्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—पितृव्य, मातुल, मातामह, पितामह इत्येते शब्दा निपात्यन्ते । पितृमातृशब्दाभ्यां यथासङ्ख्यं व्यत् डुलच् इत्येतौ प्रत्ययौ भ्रातर्यभिधेये निपात्येते । एवं मातृपितृशब्दाभ्यां पितर्यभिधेये डामहच् प्रत्ययो निपात्यते ॥ उदा०—पितुर्भ्राता = पितृव्यः। मातुर्भ्राता = मातृव्यः । मातुः पिता = मातामहः । पितुः पिता = पितामहः ॥

भाषार्थः—[*पितृव्य*·····*महाः*] पितृव्यादि शब्द निपातन किये जाते हैं। पितृ मातृ शब्दों से यथासङ्ख्य करके व्यत्, डुलच् प्रत्यय भ्राता अभिधेय होने पर निपातन किये जाते हैं, तथा डामहच् प्रत्यय भी मातृ पितृ शब्दों से पिता अभिधेय होने पर निपातन किया जाता है। डुलच् का अनुबन्ध हटकर 'उल' रहेगा, तथा डामहच् का आमह शेष रहेगा। डित् होने से टेः (६।४।१४३) से पितृ, मातृ के टि भाग (ऋ) का लोप होगा ॥ *उदा०*—पितृव्यः (चाचा) मातुलः (मामा) मातामहः (नाना) पितामहः (बाबा) ॥

तस्य समूहः ॥४।२।३६॥

तस्य ६।१॥ समूहः १।१॥ *अनु०*—समर्थानां प्रथमाद्वा, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—समर्थानां मध्ये यः प्रथमः षष्ठीसमर्थस्तस्माद् यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—काकाना समूहः = काकम्, शौकम्, बाकम्, आश्वपतम्, स्त्रैणं, पौंस्नम् ॥

भाषार्थः—समर्थों में जो प्रथम [*तस्य*] षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक उससे [*समूहः*] समूह अर्थ को कहना हो तो यथाविहित प्रत्यय होता है ॥ 'काक आम् अण्' यहाँ *सुपो धातु०* (२।४।७१) से आम् विभक्ति का लुक् होकर काकम् बना है। शौकं, बाकम् भी इसी प्रकार जानें। आश्वपतम् में *अश्वपत्या०* (४।१।८४) से अण् तथा स्त्रैणं पौंस्नम् में *स्त्रीपुंसाभ्यां०* (४।१।८७) से क्रमशः नञ् तथा स्नञ् प्रत्यय हुए हैं ॥

यहाँ से '*तस्य*' की अनुवृत्ति ४।२।५३ तक तथा '*समूहः*' की अनुवृत्ति ४।२।५० तक जायेगी ॥

भिक्षादिभ्योऽण् ॥४।२।३७॥

भिक्षादिभ्यः ५।३॥ अण् १।१॥ *स०*—भिक्षा आदिर्येषां ते भिक्षादयस्तेभ्यः·····बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—तस्य समूहः, तद्धिताः, ङ्याप्प्राति-

पदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थेभ्यो भिक्षादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः समूह इत्येतस्मिन्नर्थेऽण् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—भिक्षाणां समूहो भैक्षम्। गर्भिणीनां समूहो गार्भिणम्।

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*भिक्षादिभ्यः*] भिक्षादि प्रातिपदिकों से समूह अर्थ में [*अण्*] अण् प्रत्यय होता है ॥ गर्भिणी ङस् अण्=गर्भिणी अण् यहाँ *भस्याऽढे तद्धिते* (*वा०* ६।३।३३) से पुंवद्भाव होने से 'गर्भिन् अ' रहा। पुनः *नस्तद्धिते* (६।४।१४४) से टि भाग का लोप प्राप्त हुआ, जिसका *इनण्यनपत्ये* (६।४।१६४) से प्रकृतिभाव हो जाने से नहीं हुआ। शेष वृद्धि आदि पूर्ववत् होकर गार्भिणम् बन गया ॥

गोत्रोक्षोष्ट्रोरभ्रराजराजन्यराजपुत्रवत्समनुष्याजाद् वुञ् ॥४।२।३८॥

गोत्रो……जात् ५।१॥ वुञ् १।१॥ *स०*—गोत्र० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तस्य समूहः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थेभ्यो गोत्र, उक्षन्, उष्ट्र, उरभ्र, राजन्, राजन्य, राजपुत्र, वत्स, मनुष्य, अज इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः समूह इत्येतस्मिन् अर्थे वुञ् प्रत्ययो भवति ॥ अपत्याधिकारादन्यत्र लौकिकं गोत्रमपत्यमात्रं गृह्यते न तु पौत्रप्रभृत्येव ॥ *उदा०*—गोत्र—औपगवानां समूहः=औपगवकम्, कापटवकम्। उक्षन्—औक्षकम्। उष्ट्र—औष्ट्रकम्। औरभ्रकम्। राजकम्। राजन्यकम्। राजपुत्रकम्। वात्सकम्। मानुष्यकम्। आजकम् ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*गोत्रो…जात्*] गोत्रवाची शब्दों से तथा उक्षन्, उष्ट्र आदि शब्दों से समूह अर्थ में [*वुञ्*] वुञ् प्रत्यय होता है ॥ वुञ् में ञकार वृद्ध्यर्थ है। 'वु' को अक ७।१।१ से हो ही जायेगा ॥ यहाँ गोत्र से लौकिक गोत्र अपत्यमात्र लिया गया है, न कि पौत्रप्रभृति शास्त्रीय गोत्र, अतः अनन्तरापत्य से भी वुञ् होता है ॥

यहाँ से 'वुञ्' की अनुवृत्ति ४।२।३९ तक जायेगी ॥

केदाराद्यञ्च ॥४।२।३९॥

केदारात् ५।१॥ यञ् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—वुञ्, तस्य समूहः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थात्

केदारशब्दाद् यञ् प्रत्ययो भवति वुञ् च ॥ *उदा०*—केदाराणां समूहः = कैदारकम् ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*केदारात्*] केदार शब्द से [*यञ्*] यञ् प्रत्यय होता है तथा [च] चकार से वुञ् भी होता है ॥

ठञ् कवचिनश्च ॥४।२।४०॥

ठञ् १।१॥ कवचिनः ५।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—तस्य समूहः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थात् कवचिन्प्रातिपदिकात् समूहार्थे ठञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०* - कवचिनां समूहः = कावचिकम् ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*कवचिनः*] कवचिन् शब्द से समूह अर्थ में [*ठञ्*] ठञ् प्रत्यय [च] भी होता है ॥

ब्राह्मणमाणववाडवाद्यन् ॥४।२।४१॥

ब्राह्मणमाणववाडवात् ५।१॥ यन् १।१॥ *स०*—ब्राह्मणश्च माणवश्च वाडवश्च ब्राह्म······वम्, तस्मात्······समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तस्य समूहः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थेभ्यो ब्राह्मण, माणव, वाडव इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः समूहार्थे यन् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—ब्राह्मणानां समूहो ब्राह्मण्यम्, माणव्यम्, वाडव्यम् ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*ब्राह्मणमाणववाडवात्*] ब्राह्मण, माणव, तथा वाडव प्रातिपदिकों से [*यन्*] यन् प्रत्यय होता है ॥

ग्रामजनबन्धुभ्यस्तल् ॥४।२।४२॥

ग्राम··भ्यः ५।३॥ तल् १।१॥ *स०*—ग्राम० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तस्य समूहः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थेभ्यो ग्राम, जन, बन्धु इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः समूहार्थे तल् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—ग्रामाणां समूहो ग्रामता, जनानां समूहो जनता । बन्धुता ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*ग्राम··भ्यः*] ग्राम, जन, बन्धु इन प्रातिपदिकों से समूह अर्थ में [*तल्*] तल् प्रत्यय होता है ॥ तल् प्रत्ययान्त

शब्द *तलन्तः* (*लिङ्गा० स्त्री० १६*) इस लिङ्गानुशासन के सूत्र से स्त्रीलिङ्ग में होते हैं, अतः इन शब्दों से 'टाप्' प्रत्यय हो गया है ॥

अनुदात्तादेरञ् ॥४।२।४३॥

अनुदात्तादेः ५।१॥ अञ् १।१॥ *अनु०*—तस्य समूहः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थादनुदात्तादेः प्रातिपदिकात् समूहार्थेऽञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—कपोतानां समूहः = कापोतम्, मायूरम्, तैत्तिरम् ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [अनुदात्तादेः] अनुदात्तादि शब्दों से समूहार्थ में [अञ्] अञ् प्रत्यय होता है ॥ कपोत, मयूर शब्द *'लघावन्ते द्वयोश्च बहुषो गुरुः'*(*फिट्० ४२*) इस फिट् सूत्र से मध्योदात्त हैं, शेष को *अनुदात्तं पदमेक०* (६।१।१५२) से अनुदात्त हो जाने से ये शब्द अनुदात्तादि हैं। तित्तिरि शब्द भी *फिषोऽन्तोदात्त.* (*फिट्० १*) से अन्तोदात्त है अतः अनुदात्तादि है ही ॥

यहाँ से '*अञ्*' की अनुवृत्ति ४।२।४४ तक जायेगी ॥

खण्डिकादिभ्यश्च ॥४।२।४४॥

खण्डिकादिभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ *स०*—खण्डिका आदिर्येषां ते खण्डिकादयस्तेभ्यः—बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अञ्, तस्य समूहः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थेभ्यः खण्डिकादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः समूहार्थेऽञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—खण्डिकानां समूहः—खाण्डिकम् वाडवम् ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*खण्डिकादिभ्यः*] खण्डिकादि प्रातिपदिकों से [च] भी समूहार्थ को कहने में अञ् प्रत्यय होता है ॥ सिद्धि में वृद्धि आदि पूर्ववत् ही होंगी ॥

चरणेभ्यो धर्मवत् ॥४।२।४५॥

चरणेभ्यः ५।३॥ धर्मवत् अ० ॥ धर्म इव धर्मवत्, सप्तमीसमर्थाद्वतिः । अतिदेशोऽयम् ॥ चरणशब्दाः शाखाप्रवर्त्तकवाचकाः, कठकलापादयः ॥ *अनु०*—तस्य समूहः, तद्धिताः, ङ्याप् प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥

अर्थः—षष्ठीसमर्थेभ्यश्चरणवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः समूहार्थे धर्मवत् प्रत्यया भवन्ति ॥ *गोत्रचरणाद्वुञ्* (४।३।१२६) इत्यत्र "*चरणाद्धर्माम्नाययोः*" इति वार्त्तिकं वर्त्तते तत्र धर्मे चरणवाचिभ्यो यथा प्रत्यया विधीयन्ते, तथैव चरणवाचिभ्यः समूहार्थेऽपि भवन्तीत्यर्थः ॥ *उदा०*—यथा कठानां धर्मः काठकम् तथैव कठानां समूहः काठकम्, कालापकम्, छान्दोग्यम्, औक्थिक्यम् ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*चरणेभ्यः*] चरणवाची[1] प्रातिपदिकों से समूह अर्थ में [*धर्मवत्*] धर्मवत् प्रत्यय होते हैं ॥ *गोत्रचरणाद्वुञ्* इस सूत्र में *चरणाद्धर्माम्नाययोः* यह वार्त्तिक पढ़ी है। इस वार्तिक में धर्म अर्थ में चरणवाचियों से प्रत्यय कहे हैं, उन्हीं का यहाँ अतिदेश है, अर्थात् *गोत्रचरणाद्वुञ्* से लेकर जिस विशेषण सहित जिन प्रकृतियों से जो प्रत्यय कहे हैं वे सब यहाँ समूह अर्थ में अतिदेश किये जाते हैं।

काठकं कालापकं में *गोत्रचरणाद्वुञ्* से वुञ् तथा छान्दोग्यं औक्थिक्यं में *छन्दोगौक्थिक०* (४।३।१२९) से ञ्य प्रत्यय हुआ है ॥

अचित्तहस्तिधेनोष्ठक् ॥४।२।४६॥

अचित्तहस्तिधेनोः ५।१॥ ठक् १।१॥ *स०*—अविद्यमानं चित्तं यस्मिन् तत् अचित्तम्, बहुव्रीहिः। अचित्तञ्च हस्ती च धेनुश्च अचित्तहस्तिधेनु तस्मात्...समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तस्य समूहः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थेभ्योऽचित्तार्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो हस्तिधेनुभ्याञ्च समूहार्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अचित्तार्थेभ्यः—अपूपानां समूहः = आपूपिकम्, शाष्कुलिकम्। हास्तिकम्, धैनुकम् ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*अचि...धेनोः*] अचित्त = अचेतनवाची तथा हस्तिन् और धेनु शब्दों से समूहार्थ में [*ठक्*] ठक् प्रत्यय होता है ॥ धैनुकं में *इसुसुक्तान्तात् कः* (७।३।५१) से 'ठ' को 'क' हुआ है, अन्यत्र ठ को इक *ठस्येकः* (७।३।५०) से हुआ है। हास्तिकं में *नस्तद्धिते* (६।४।१४४) से टिलोप हुआ है ॥

---

१. चरण शाखा के प्रवर्त्तक आदि ग्रन्थ का वाचक है। उसके निमित्त से उन शाखाओं के अध्येताओं में भी प्रयुक्त होता है। दे० अ० भा० प्र० प्रथम भाग सूत्र २।४।३ की टिप्पणी।

केशाश्वाभ्यां यञ्छावन्यतरस्याम् ॥४।२।४७॥

केशाश्वाभ्याम् ५।२॥ यञ्छौ १।२॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *स०*—उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तस्य समूहः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—केश, अश्व इत्येताभ्यां षष्ठीसमर्थाभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां समूहार्थे यथासङ्ख्यं यञ्, छ इत्येतौ प्रत्ययौ विकल्पेन भवतः ॥ केशशब्दादचित्तत्वात् ठक् प्राप्तस्तेन पक्षे सोऽपि भवति। अश्वशब्दादपि पक्ष औत्सर्गिकोऽण् भवति ॥ *उदा०*—केशानां समूहः कैश्यम्। पक्षे ठक्—कैशिकम्। अश्वानां समूहः अश्वीयम्। पक्षेऽण्—आश्वम् ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*केशाश्वाभ्याम्*] केश अश्व प्रातिपदिकों से यथासङ्ख्य करके [*यञ्छौ*] यञ् तथा छ प्रत्यय [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प करके समूह अर्थ में होते हैं ॥ केश शब्द अचित्तवाची है अतः पूर्व सूत्र से ठक् प्राप्त था सो पक्ष में ठक् होगा, तथा अश्व शब्द से औत्सर्गिक अण् पक्ष में होगा ॥

पाशादिभ्यो यः ॥४।२।४८॥

पाशादिभ्यः ५।३॥ यः १।१॥ *स०*—पाश आदिर्येषां ते पाशादयस्तेभ्यः ... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—तस्य समूहः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थेभ्यः पाशादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः समूहार्थे यः प्रत्ययो भवति ॥ पाशादीनामचित्तत्वात् ठक् प्राप्तस्तद्बाधनार्थं यविधानम् ॥ *उदा०*—पाशानां समूहः = पाश्या, तृण्या ॥ स्त्रीलिङ्गत्वं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्येति नियमेन भवति ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*पाशादिभ्यः*] पाशादि प्रातिपदिकों से समूह अर्थ में [*यः*] य प्रत्यय होता है ॥ पाश्या, तृण्या में य प्रत्यय कर लेने पर स्वभाव से ही स्त्रीलिङ्ग में इन शब्दों के होने के कारण टाप् (४।१।४) हो गया है ॥ पाशादि शब्द अचेतनवाची हैं, अतः ठक् प्राप्त था 'य' विधान कर दिया है ॥

यहाँ से '*यः*' की अनुवृत्ति ४।२।४९ तक जायेगी ॥

खलगोरथात् ॥४।२।४९॥

खलगोरथात् ५।१॥ *स०*—खलश्च गौश्च रथश्च, खलगोरथम् तस्मात् ... समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—यः, तस्य समूहः तद्धिताः, ङ्याप्प्राति-

पदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थेभ्यः खलगोरथेभ्यः प्राति पदिकेभ्यः समूहार्थे यः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०* - खलानां समूहः खल्या, गव्या, रथ्या ॥ स्त्रीत्वं पूर्ववत् ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*खलगोरथात्*] खल, गो तथा रथ प्रातिपदिकों से समूह अर्थ को कहने में य प्रत्यय होता है ॥ गो शब्द से औत्सर्गिक अण्, तथा खल एवं रथ शब्द से अचेतन होने के कारण ठक् प्राप्त था, य विधान कर दिया ॥

यहाँ से "*खलगोरथात्*" की अनुवृत्ति ४।२।५० तक जायेगी ॥

इनित्रकठ्यचश्च ॥४।२।५०॥

इनित्रकठ्यचः १।३॥ *स०*—इनिश्च त्रश्च कठ्यच् च, इनित्रकठ्यचः, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—खलगोरथात्, तस्य समूहः, तद्धिताः, प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थेभ्यः खलगोरथ इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो यथासङ्ख्यम् इनि, त्र, कठ्यच् इत्येते प्रत्ययाः, समूहार्थे भवन्ति ॥ *उदा०*—खलानां समूहो खलिनी । गोत्रा । रथकठ्या ॥ अत्रापि स्त्रीत्वं पूर्ववत् ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ खल, गो, रथ, प्रातिपदिकों से समूह अर्थ में यथासङ्ख्य करके [*इनित्रकठ्यचः*] इनि, त्र तथा कठ्यच् प्रत्यय [*च*] भी होते हैं ॥ 'खल इन्' = खलिन् यहाँ *ऋन्नेभ्यो ङीप्* (४।१।५) से ङीप् होकर खलिनी बना है, अन्यत्र 'टाप्' हुआ है ॥

विषयो देशे ॥४।२।५१॥

विषयः १।१॥ देशे ७।१॥ *अनु०*—तस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकात् विषय इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति, देशे गम्यमाने ॥ *उदा०*—वृषलानां विषयो देशः वार्षलः । यवनानां विषयो देशः यावनः ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से [*विषयः*] विषय अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है [*देशे*] देश अर्थ गम्यमान होने पर ॥ *उदा०*—वार्षलः (वृषलों का विषय = रहने का जो देश), यावनः (यवनों के रहने का देश) ॥

यहाँ से '*विषयो देशे*' की अनुवृत्ति ४।२।५३ तक जायेगी ॥

राजन्यादिभ्यो वुञ् ॥४।२।५२॥

राजन्यादिभ्यः ५।३॥ वुञ् १।१॥ *स०*—राजन्य आदिर्येषां ते राजन्यादयः, तेभ्यः······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*– विषयो देशे, तस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः परश्च ॥ *अर्थः*– राजन्यादिभ्यः षष्ठीसमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो विषयो देशे इत्येतस्मिन्नर्थे वुञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—राजन्यानां विषयो देशः, राजन्यकः, दैवयानकः ॥

भाषार्थः– षष्ठी समर्थ [*राजन्यादिभ्यः*] राजन्यादि प्रातिपदिकों से विषयो देशे इस अर्थ में [*वुञ्*] वुञ् प्रत्यय होता है ॥

भौरिक्याद्यैषुकार्यादिभ्यो विधल्भक्तलौ ॥४।२।५३॥

भौ······भ्यः ५।३॥ वि······लौ १।२॥ *स०*—भौरिकि आदिर्येषां ते भौरिक्यादयः, ऐषुकारि आदिर्येषां ते ऐषुकार्यादयः, भौरिक्यादयश्च ऐषुकार्यादयश्च, भौ······दयस्तेभ्यः ···बहुव्रीहिगर्भेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—विषयो देशे, तस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थेभ्यो भौरिक्यादिभ्य ऐषुकार्यादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः विषयो देश इत्येतस्मिन्नर्थे यथासङ्ख्य विधल् भक्तल् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः ॥ *उदा०*—भौरिकीणां विषयो देशः भौरिकिविधः, वैषेयविधः । ऐषुकार्यादिभ्यः—ऐषुकारीणां विषयो देश ऐषुकारिभक्तः, सारस्यायनभक्तः ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*भौ······दिभ्यः*] भौरिकि आदि तथा ऐषुकारि आदि शब्दों से विषयो देशे इस अर्थ में यथासङ्ख्य करके [*विधल्भक्तलौ*] विधल् और भक्तल् प्रत्यय होते हैं ॥ अन्तिम 'ल्' की इत् संज्ञा होकर 'विध' 'भक्त' प्रत्यय शेष रहेंगे ॥

सोऽस्यादिरिति च्छन्दसः प्रगाथेषु ॥४।२।५४॥

सः १।१॥ अस्य ६।१॥ आदिः १।१॥ इति अ० ॥ छन्दसः ५।१॥ प्रगाथेषु ७।३॥ *अनु०*– तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ स इति प्रथमासमर्थनिर्देशः आदिः इति प्रकृतिविशेषणम् । इतिकरणो विवक्षार्थः । छन्दस इति प्रकृतिनिर्देशः । प्रगाथेषु इति प्रत्ययार्थविशेषणम् । छन्दः शब्देन गायत्र्यादिछन्दसां ग्रहणम् ॥ *अर्थः*—स इति प्रथ-

मासमर्थात् छन्दोवाचिनः प्रातिपदिकादस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति प्रगाथेष्वभिधेयेषु यत्तत् प्रथमासमर्थं छन्दश्चेत् तदादिर्भवति इतिकरणस्ततश्चेद् विवक्षा भवति ॥ *उदा०*—पङ्क्तिरादिरस्य = पाङ्क्तः प्रगाथः, आनुष्टुभः, बार्हतः ॥

भाषार्थः—'सः' यह पद प्रथमासमर्थ का बोधक है। 'आदिः' पद प्रकृति का विशेषण है। 'इति' विवक्षा के लिये है[1]। प्रगाथेषु यह प्रत्ययार्थ है। 'छन्दः' शब्द से यहाँ गायत्री आदि छन्दों का ग्रहण है॥ [*सः*] प्रथमा समर्थ [*छन्दसः*] छन्दोवाची प्रातिपदिकों से [*अस्य*] षष्ठ्यर्थ में यथाविहित (अण्) प्रत्यय होता है [*प्रगाथेषु*] प्रगाथों के अभिधेय होने पर [*आदिरिति*] यदि वह प्रथमा समर्थ छन्दः, (प्रगाथ के) आदि = आरम्भ में हो तो॥ *उदा०*—पाङ्क्तः (पङ्क्ति = ४० अक्षरों का छन्द आदि में है जिस प्रगाथ के), आनुष्टुभः (अनुष्टुप् = ३२ अक्षरों वाला छन्द है आदि में जिस प्रगाथ के), बार्हतः (बृहती = ३६ अक्षरों का छन्द जिसके आरम्भ में है)॥ जहाँ विभिन्न छन्दों की दो वा तीन ऋचाओं का ग्रथन किया जाता है वह प्रगाथ कहाता है[2]। उस प्रगाथ का नामकरण प्रायः आदि मन्त्र के छन्दोनाम[3] पर होता है। जब दो ऋचाओं के प्रगाथों में किसी साम का गान करना होता है तो *एकं साम तृचे क्रियते स्तोत्रियम्* इस नियम के अनुसार दो ऋचाओं के किन्हीं अंशों का पुनः पाठ करके तीन बनाकर उस साम का गान किया जाता है[4]। यह विशिष्ट प्रग्रथन या गान भी प्रगाथ कहाता है। पाणिनि के

---

१. जिस आदि छन्दः से प्रगाथ के नाम की विवक्षा नहीं होती वहाँ प्रकृत सूत्र से प्रत्यय नही होता। यथा बृहती = विपरीतापङ्क्तिछन्दः के प्रगाथ का नाम रखने में प्रत्यय नही होता, अर्थात् इस प्रगाथ के लिये बार्हत प्रयोग नहीं होता।

२. इन विभिन्न प्रगाथों के स्वरूप ज्ञान के लिये 'वैदिक स्वर मीमांसा' ग्रन्थ का १२वां अध्याय देखना चाहिये। यह ग्रन्थ भी इसी ट्रस्ट से प्रकाशित हुआ है।

३. कभी-कभी प्रगाथ के अन्तिम छन्द के नाम पर, कभी-कभी दोनों छन्दों के नाम पर भी प्रगाथ का नामकरण देखा जाता है। यथा—विपरीतान्तः (बृहती+विपरीतापङ्क्ति) गायत्रबार्हतः (गायत्री + बृहती) यह सब इतिकरण से होता है।

४. इस का विशेष वर्णन ताण्ड्य ब्राह्मण में मिलता है॥

इस नियम में विभिन्न छन्दःप्रगथन रूपी प्रगाथ का उल्लेख है सामगान सम्बन्धी प्रगाथ का नहीं है ॥

यहाँ से 'सोऽस्य' की अनुवृत्ति ४।२।५५ तक जायेगी ॥

सङ्ग्रामे प्रयोजनयोद्धृभ्यः ॥४।२।५५॥

सङ्ग्रामे ७।१॥ प्रयोजनयोद्धृभ्यः ५।३॥ स०—प्रयोजनानि च योद्धारश्च, प्रयोजनयोद्धारस्तेभ्यः ...इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—सोऽस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—प्रथमासमर्थेभ्यः प्रयोजनयोद्धृसमानाधिकरणेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः षष्ठ्यर्थे सङ्ग्रामेऽभिधेये यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—भद्रा प्रयोजनमस्य सङ्ग्रामस्य भाद्रः सङ्ग्रामः, सौभद्रः, गौरिमित्रः[1] । योद्धृभ्यः—अहिमाला योद्धारोऽस्य संग्रामस्य आहिमालः, स्यान्दनाश्वः, भारतः[2] ॥

भाषार्थः—प्रथमा समर्थ [*प्रयो.......भ्यः*] प्रयोजन और योद्धा के साथ समानाधिकरण वाले प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में [*सङ्ग्रामे*] संग्राम अभिधेय हो तो यथाविहित (अण्) प्रत्यय होता है ॥ उदा०—भाद्रः (भद्रा है प्रयोजन जिस युद्ध का) सौभद्रः, गौरिमित्रः । योद्धा समानाधिकरण वालों से—आहिमालः (अहिमाल हैं योद्धा इस युद्ध के) स्यान्दनाश्वः, भारतः ॥

तदस्यां प्रहरणमिति क्रीडायां णः ॥४।२।५६॥

तत् १।१॥ अस्याम् ७।१॥ प्रहरणम् १।१॥ इति अ० ॥ क्रीडायाम् ७।१॥ णः १।१॥ अनु०—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः,

---

१. भद्रा सुभद्रा गौरिमित्री को प्राप्त करना जिन संग्रामों का प्रयोजन था वे संग्राम इस नाम से कहे जाते हैं ॥

२. भरताः (कौरवाः पाण्डवाश्च) क्षत्रिया योद्धारोऽस्य संग्रामस्य स भारतः । कौरव पाण्डवों के संग्राम का नाम भारत है महाभारत नहीं है । अतः 'महाभारत युद्ध' प्रयोग अशुद्ध है । भरतान् अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः (४।३।११६) भारतः । नियम से कौरव पाण्डवों का वर्णन करने वाले ग्रन्थ का नाम भी भारत है । उसी के बृहद् रूपान्तर का नाम महाभारत है । दोनों का रचयिता कृष्ण द्वैपायन व्यास है । पाणिनि ने (६ २।३८) में महाभारत का उल्लेख किया है ॥

परश्च ॥ *अर्थः*—तदिति प्रथमासमर्थात् प्रहरणसमानाधिकरणात् प्रातिपदिकात् सप्तम्यर्थे णः प्रत्ययो भवति, यत्तदस्यामिति निर्दिष्टं क्रीडा चेत्सा भवति। इतिकरणो विवक्षार्थः॥ *उदा०*—दण्डः प्रहरणमस्यां क्रीडायां दाण्डा, मौष्टा ॥

भाषार्थः—[*तत्*] प्रथमासमर्थ [*प्रहरणमिति*] प्रहरण समानाधिकरण वाले प्रातिपदिकों से [*अस्याम्*] सप्तम्यर्थ में [*णः*] ण प्रत्यय होता है, यदि अस्यां से निर्दिष्ट [*क्रीडायाम्*] क्रीडा हो तो॥ इतिकरण विवक्षा के लिये है॥ *उदा०*—दाण्डा (डण्डा है आयुध जिस क्रीडा में, ऐसी क्रीडा), मौष्टा॥ दाण्डा आदि में *अजाद्यतष्टाप्* (४।१।४) से टाप् होगा॥

घञः सास्यां क्रियेति ञः ॥४।२।५७॥

घञः ५।१॥ सा १।१॥ अस्याम् ७।१॥ क्रिया १।१॥ इति अ०॥ ञः १।१॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—सेति प्रथमासमर्थात् घञन्तात् क्रियावाचिनः प्रातिपदिकाद् अस्यां सप्तम्यर्थे ञः प्रत्ययो भवति॥ इतिकरणो विवक्षार्थः। *उदा०*—श्येनपातोऽस्यां क्रियायां वर्त्तते श्यैनम्पाता = मृगया। तिलपातोऽस्यां क्रियायां वर्त्तते तैलम्पाता = स्वधा॥ *श्येनतिलस्य पाते ञे* (६।३।६८) इति मुमागमः॥

भाषार्थः—[*सा*] प्रथमासमर्थ [*क्रियेति*] क्रियावाची [*घञः*] घञन्त प्रातिपदिक से [*अस्याम्*] सप्तम्यर्थ में [*ञः*] ञ प्रत्यय होता है॥

पतॢ धातु से घञन्त पात शब्द बना है अतः श्येनपात तिलपात शब्द से ञ प्रत्यय हो गया॥ *श्येनतिलस्य पाते ञे* (६।३।६८) से मुम् आगम तथा वृद्धि आदि पूर्ववत् होकर श्यैनम्पाता आदि की सिद्धि जानें॥ *उदा०*—श्यैनम्पाता (जिस क्रिया में बाज गिराया जाता है, आखेट, मृगया), तैलम्पाता (जिस क्रिया में तिल डाले जाते हैं = स्वधा)॥

तदधीते तद्वेद ॥४।२।५८॥

तत् २।१॥ अधीते क्रियापदम्॥ तत् २।१॥ वेद क्रियापदम्॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् अध्ययनकर्त्तर्यभिधेये यथाविहितं प्रत्ययो भवति,

एवं द्वितीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् वेदनकर्त्तर्यभिधेयेऽपि ॥ अध्ययन केवलं पाठमात्रस्याभ्यासः । वेदनं तदर्थज्ञानम्, तत्त्वज्ञानम् ॥ *उदा०*—छन्दोऽधीते = पठति छान्दसः, एवं छन्दो वेत्ति = जानाति छान्दसः । व्याकरणमधीते वेत्ति वा वैयाकरणः, नैरुक्तः ॥

भाषार्थः—[*तद्*] द्वितीयासमर्थ प्रातिपदिक से [*अधीते*] अध्ययन करता है इस अर्थ में यथाविहित (अण्) प्रत्यय होता है । इसी प्रकार [*तद्*] द्वितीयासमर्थ प्रातिपदिक से [*वेद*] जानता है अर्थ में यथाविहित (अण्) प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—छान्दसः (छन्द को जो पढ़ता है, या जानता है), वैयाकरणः, नैरुक्तः । *न य्वाभ्यां पदान्ताभ्याम्०* (७।३।३) से वृद्धि का निषेध होकर एवं आदि को ऐच् आगम होकर वैयाकरणः बना है ॥

यहाँ से '*तदधीते तद्वेद*' की अनुवृत्ति ४।२।६५ तक जायेगी ॥

क्रतूक्थादिसूत्रान्ताट्ठक् ॥४।२।५९॥

क्रतूक्थादिसूत्रान्तात् ५।१॥ ठक् १।१॥ *स०*—उक्थ आदिर्येषां ते उक्थादयः, बहुव्रीहिः । सूत्रमन्ते यस्य स सूत्रान्तः, बहुव्रीहिः । क्रतुश्च, उक्थादिश्च सूत्रान्तश्च क्रतूक्थादिसूत्रान्तम्, तस्मात्……समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तदधीते तद्वेद, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थेभ्यः क्रतुविशेषवाचिभ्यः उक्थादिभ्यः सूत्रान्तेभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः अध्ययनवेदनयोः कर्त्तर्यभिधेये ठक् प्रत्ययो भवति ॥ अणोऽपवादः ॥ *उदा०*—क्रतुविशेषवाचिभ्यः—अश्वमेधमधीते वेद वा आश्वमेधिकः आग्निष्टोमिकः वाजपेयिकः[1] । उक्थादिभ्यः—औक्थिकः लौकायतिकः । सूत्रान्तात्—योगसूत्रमधीते वेद वा यौगसूत्रिकः, गौभिलीयगृह्यसूत्रिकः, श्रौतसूत्रिकः ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*क्रतू……त्*] क्रतु (यज्ञ) विशेषवाची, उक्थादि तथा सूत्रान्त प्रातिपदिकों से अध्ययन तथा जानने का कर्त्ता अभिधेय हो तो [*ठक्*] ठक् प्रत्यय होता है ॥ साम के किसी लक्षण

---

१ यद्यपि 'क्रतु' शब्द यज्ञ सामान्य के लिये भी प्रयुक्त होता है तथापि क्रतु शब्द प्राधान्य रूप से उन्हीं यज्ञो के लिये प्रयुक्त होता है जो सोम हवि वाले (सोमयाग) होते हैं ॥

ग्रन्थ को यहाँ उक्थ[1] कहा है न कि सामवेद, उस लक्षण ग्रन्थ को जो पढ़ता है वह औक्थिक कहा जायेगा ॥

क्रमादिभ्यो वुन् ॥४।२।६०॥

क्रमादिभ्यः ५।३॥ वुन् १।१॥ स०—क्रम आदिर्येषां ते क्रमादयस्तेभ्यः…बहुव्रीहिः ॥ अनु०—तदधीते तद्वेद, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—द्वितीयासमर्थेभ्यः क्रमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽध्ययनवेदनकर्त्तर्यभिधेये वुन् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—क्रममधीते वेद वा क्रमकः, पदकः ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*क्रमादिभ्यः*] क्रमादि प्रातिपदिकों से अध्ययन तथा जानने का कर्त्ता अभिधेय होने पर [*वुन्*] वुन् प्रत्यय होता है। मन्त्र संहिता के पदच्छेद को पदपाठ कहते हैं। यथा—अग्निम्। ईळे। पुरः हितम्। यज्ञस्य। देवम् इत्यादि। इनका अध्ययन करने वाला पदकः कहाता है। दो-दो पदों को क्रमशः मिलाकर जो पाठ होता है वह क्रमपाठ कहाता है। यथा—अग्निमीळे। ईळे पुरः हितम्। पुरः हितं यज्ञस्य। यज्ञस्य देवम् इत्यादि। इसका अध्ययन करने वाला 'क्रमकः' कहा जाता है॥

अनुब्राह्मणादिनिः ॥४।२।६१॥

अनुब्राह्मणात् ५।१॥ इनिः १।१॥ अनु०—तदधीते तद्वेद, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ ब्राह्मणसदृशोऽयं ग्रन्थोऽनुब्राह्मणम् ॥ अर्थः—अनुब्राह्मणात् प्रातिपदिकात् तदधीते तद्वेद इत्येतस्मिन् विषये इनिः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—अनुब्राह्मणमधीते वेद वा, अनुब्राह्मणी, अनुब्राह्मणिनौ ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*अनुब्राह्मणात्*] अनुब्राह्मण प्रातिपदिक से अधीते या वेद इन अर्थों में [*इनिः*] इनि प्रत्यय होता है ॥

वसन्तादिभ्यष्ठक् ॥४।२।६२॥

वसन्तादिभ्यः ५।३॥ ठक् १।१॥ स०—वसन्त आदिर्येषां ते वसन्तादयस्तेभ्यः…बहुव्रीहिः ॥ अनु०—तदधीते तद्वेद, तद्धिताः, ङ्याप्प्राति-

---

१. देखो 'पाणिनिकालीन भारतवर्ष' प्र० सं० पृ० ३२८ ॥

पदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—वसन्तादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यस्तदधीते तद्वेद इत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—वसन्तसहचरितोऽयं ग्रन्थः वसन्तस्तमधीते वेद वा वासन्तिकः, वार्षिकः ॥

भाषार्थः—[*वसन्तादिभ्यः*] वसन्तादि प्रातिपदिकों से तदधीते तद्वेद इस अर्थ में [ठक्] ठक् प्रत्यय होता है ॥ वसन्त इत्यादि शब्द ऋतुवाची हैं। इनसे तदधीते तद्वेद इस अर्थ में प्रत्यय सम्भव नहीं है पुनरपि विधान किया है, अतः विधानसामर्थ्य से वसन्त शब्द से यहाँ वसन्त ऋतु सहचरित अर्थात् जिसमें वसन्त ऋतु का वर्णन किया गया है वह ग्रन्थ यहाँ अभिप्रेत है, उसको जो पढ़े या जाने वह वासन्तिक कहा जायेगा ॥

प्रोक्ताल्लुक् ॥४।२।६३॥

प्रोक्तात् ५।१॥ लुक् १।१॥ *अनु०*—तदधीते तद्वेद, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात् प्रोक्तप्रत्ययान्तात् प्रातिपदिकात् अध्येतृवेदित्रोरुत्पन्नस्य प्रत्ययस्य लुक् भवति ॥ *उदा०*—पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्, तमधीते यः सोऽपि पाणिनीयः, पाणिनीया कन्या। आपिशलः ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*प्रोक्तात्*] प्रोक्त प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से अध्येतृ वेदितृ अर्थ में उत्पन्न प्रत्यय का [*लुक्*] लुक् होता है ॥ प्रोक्त प्रत्ययान्त का अर्थ है कि जिस प्रातिपदिक से *तेन प्रोक्तम्* (४।३।१०१) अर्थ में प्रत्यय हुआ है तदन्त प्रोक्त प्रत्ययान्त शब्द। उस शब्द से तदधीते तद्वेद अर्थ में जो प्रत्यय होगा उसका यहाँ लुक् विधान कर दिया है ॥

पाणिनीयम्—यद्यपि इसका विग्रह सामान्यतया 'पाणिनिना प्रोक्तम्' ऐसा किया जाता है परन्तु यह अर्थप्रदर्शनमात्र है। पाणिनि इञन्त और पाणिन अकारान्त दोनों समानार्थक शब्द हैं। पाणिनि शब्द से प्रोक्त अर्थ में '*इञश्च*' (४।२।११२) के नियम से अण् होता है। उससे '*पाणिनः*' प्रयोग बनता है, जैसे इञन्त आपिशलि से आपिशलः, काशकृत्स्नि से काशकृत्स्नः। पाणिन अणन्त शब्द से *वृद्धाच्छः* (४।२।११३) से छ होता है—पाणिनीयः। उसको जो पढ़े वा जाने इस अर्थ में

तदधीते तद्वेद (४।२।५८) से अण् होता है, उसका इस सूत्र से लुक् कर दिया अतः पाणिन = (पाणिनि) द्वारा प्रोक्त जो ग्रन्थ वह पाणिनीय और उसको जो पढ़े वा जाने वह भी पाणिनीय होगा । इसी प्रकार आपिशलम् काशकृत्स्नम् में समझना चाहिये । जब आपिशलि समानार्थक आपिशल और काशकृत्स्नि समानार्थक काशकृत्स्न अणन्त से तेन प्रोक्तं अर्थ में प्रत्यय होगा तब आपिशलीय काशकृत्स्नीय प्रयोग बनेंगे ॥

यहाँ से 'लुक्' की अनुवृत्ति ४।२।६४ तक, और '*प्रोक्तात्*' की अनुवृत्ति ४।२।६५ में ही जायेगी ॥

सूत्राच्च कोपधात् ॥४।२।६४॥

सूत्रात् ५।१॥ च अ० ॥ कोपधात् ५।१॥ *स०*—ककार उपधा यस्य स कोपधस्तस्मात् बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—लुक्, तदधीते तद्वेद, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात् सूत्रवाचिनः कोपधात् प्रातिपदिकादध्येतृवेदित्रोर्विहितस्य प्रत्ययस्य लुक् भवति ॥ अप्रोक्तार्थोऽयमारम्भः ॥ *उदा०*—अष्टौ अध्यायाः परिमाणमस्य सूत्रस्य (५।१।५७) तद् अष्टकम् (पाणिनीयम्) तदधीते वेद वा अष्टकाः पाणिनीयाः । पञ्चकं गौतमसूत्रमधीते वेद वा पञ्चकाः गौतमाः । त्रिकाः काशकृत्स्नाः ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*कोपधात्*] ककार उपधा वाले [*सूत्रात्*] सूत्रवाची प्रातिपदिकों से [*च*] भी तदधीते तद्वेद अर्थ में उत्पन्न प्रत्यय का लुक् होता है ॥ अप्रोक्तार्थ इस सूत्र का आरम्भ है ॥

अष्टक, पञ्चक, त्रिक शब्द सूत्रवाची तथा ककारोपध हैं सो तदधीते तद्वेद से उत्पन्न अण् का लुक् हो गया है । 'अष्टक' में *सङ्ख्यायाः संज्ञासंघसूत्राध्ययनेषु* (५।१।५७) से 'अष्टौ अध्यायाः परिमाणम् अस्य सूत्रस्य' अर्थ में क प्रत्यय होता है । यह सूत्र ग्रन्थ का वाचक है । इसी प्रकार पञ्चक और त्रिक शब्दों में भी जानना चाहिये ॥

छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि ॥४।२।६५॥

छन्दोब्राह्मणानि १।३॥ च अ० ॥ तद्विषयाणि १।३॥ *स०*—स (अध्येतृवेदितृप्रत्ययः) विषयो येषां तानि तद्विषयाणि, बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—प्रोक्तात्, तदधीते तद्वेद, ङ्याप्प्रातिपदिकात् ॥ *अर्थः*—प्रोक्तप्रत्ययान्तानि

छन्दांसि ब्राह्मणानि च तद्विषयाण्येव = अध्येतृवेदितृप्रत्ययविषयाण्येव भवन्ति ॥ अन्यत्राऽभावो विषयशब्दार्थः ॥ *उदा०*—कठेन प्रोक्तमधीयते कठाः, तित्तिरिणा प्रोक्तं छन्दोऽधीयते तैत्तिरीयाः, वारतन्तवीयाः । ब्राह्मणानि—ताण्डिनः, भाल्लविनः, शाट्यायनिनः, ऐतरेयिणः ॥

भाषार्थः—प्रोक्त प्रत्ययान्त [*छन्दोब्राह्मणानि च*] छन्द और ब्राह्मणवाची शब्द [*तद्विषयाणि*] अध्येतृ वेदितृप्रत्यय विषयक होते हैं, अर्थात् अध्येतृ वेदितृ अर्थ के बिना छन्द और ब्राह्मण का स्वतन्त्र प्रयोग नहीं होता ॥ अन्य प्रोक्त प्रत्ययान्त शब्दों का केवल प्रोक्त अर्थमात्र में भी प्रयोग होता है, जैसे 'पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्'। जिन प्रोक्त प्रत्ययान्तों का स्वतन्त्र प्रयोग होता है उनका विग्रह वाक्य के रूप में प्रयोग होता है यथा 'पाणिनीयमधीते'। इसी प्रकार छन्द और ब्राह्मण प्रोक्त प्रत्ययान्त शब्दों का स्वतन्त्र प्रयोग न हो, अध्येतृ वेदितृ प्रत्यय विषयक ही हो, इसलिए यह सूत्र बनाया है ॥

तदस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि ॥४।२।६६॥

तत् १।१॥ अस्मिन् ७।१॥ अस्ति क्रियापदम् ॥ इति अ० ॥ देशे ७।१॥ तन्नाम्नि ७।१॥ *स०*—यस्य नाम स तन्नामा, तस्मिन्······ बहुव्रीहिः ॥ तन्नाम शब्दो देशस्य विशेषणम् ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । *अर्थः*—अस्ति समानाधिकरणात् तदिति प्रथमासमर्थादस्मिन् सप्तम्यर्थे तन्नाम्नि देशेऽभिधेये यथाविहितं प्रत्ययो भवति । इतिकरणो विवक्षार्थः, अर्थात् प्रकृतिप्रत्ययसमुदायेन देशस्य नाम गम्यते ॥ *उदा०*—उदुम्बरा अस्मिन् देशे सन्तीति औदुम्बरः, शैरीषः, बाल्वजः, बार्बुरः, खादिरः, पालाशः ॥

भाषार्थः तन्नाम पद देश का विशेषण है । [*अस्ति*] अस्तिसमानाधिकरण वाले [*तत्*] प्रथमासमर्थ प्रातिपदिक से [*अस्मिन्*] सप्तम्यर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है, यदि सप्तम्यर्थ से निर्दिष्ट [*देशे तन्नाम्नि*] उस नाम वाला देश हो तो [*इति*] इतिकरण विवक्षार्थ है अर्थात् प्रकृति प्रत्यय समुदाय से देश कहा जा रहा हो ॥

उदुम्बर (गूलर) जिस देश में है वह औदुम्बर नाम वाला देश होगा । उदाहरण में उदुम्बर प्रथमासमर्थ 'अस्ति' (है) समानाधिकरण

शब्द है, अस्मिन् (जिसमें) से निर्दिष्ट तन्नामक देश है ही, सो अण् हो गया है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी जानें। सिद्धि में कोई विशेष नहीं।

यहाँ से '*देशे तन्नाम्नि*' की अनुवृत्ति ४।२।६६ तक जायेगी॥

तेन निर्वृत्तम् ॥४।२।६७॥

तेन ३।१॥ निर्वृत्तम् १।१॥ *अनु०*—देशे तन्नाम्नि, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थात्, प्रातिपदिकात् निर्वृत्तमित्येतस्मिन्नर्थे देशनामधेये गम्यमाने यथाविहितं प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—सहस्रेण निर्वृत्तो दुर्गः, साहस्रो दुर्गः, कुशाम्बेन निर्वृत्ता कौशाम्बी॥ तेन इति हेतौ कर्त्तरि वा तृतीया। प्रथमोदाहरणे हेतौ तृतीया सहस्रसंख्यातेन धनेन निर्वृत्त इति। उत्तरोदाहरणे कर्त्तरि तृतीया ज्ञेया॥

भाषार्थः—[*तेन*] तृतीयासमर्थ प्रातिपदिकों से [*निर्वृत्तम्*] निर्वृत्त = बनाया गया इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है, यदि उस शब्द से देश का नाम गम्यमान हो तो॥ *उदा०*—साहस्रो दुर्गः (हजार रुपयों से बनाया गया दुर्ग), कौशाम्बी (कुशाम्ब नाम के मनुष्य के द्वारा बनाई गई नगरी)॥ *टिड्ढाणञ्०* (४।१।१५) से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् हो जाता है॥

तस्य निवासः ॥४।२।६८॥

तस्य ६।१॥ निवासः १।१॥ *अनु०*—देशे तन्नाम्नि, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—तस्येति षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकात् निवास इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति देशनामधेये गम्यमाने॥ *उदा०*—उत्सानां निवासो ग्राम औत्सो ग्रामः। कुरूणां निवासो ग्रामः कौरवः, आम्बष्ठः। जनपदेऽभिधेये लुपं वक्ष्यति (४।२।८१) तदा उत्साः कुरव आम्बष्ठा इत्येव भवन्ति॥

भाषार्थः—[*तस्य*] षष्ठी समर्थ प्रातिपदिकों से [*निवासः*] निवास इस अर्थ में देश का नाम गम्यमान होने पर यथाविहित प्रत्यय होता है॥ *उदा०*—औत्सः (उत्सों के रहने का जो ग्राम), कौरवः (कौरवों के रहने का जो ग्राम), आम्बष्ठः॥ जनपद (ग्राम समुदाय = देश)

अर्थ विवक्षित होने पर ४।२।८० से प्रत्यय का लुप् कहेंगे, उस अर्थ में उत्साः कुरवः आम्बष्ठाः ये ही प्रयोग बनेंगे ।

यहाँ से '*तस्य*' की अनुवृत्ति ४।२।६८ तक जायेगी ॥

अदूरभवश्च ॥४।२।६९॥

अदूरभवः १।१॥ च अ० ॥ *स०*—न दूरम् अदूरं, नञ्तत्पुरुषः ॥ अदूरे भवः अदूरभवः ॥ *अनु०*—तस्य, देशे तन्नाम्नि, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकात् अदूरभव इत्येतस्मिन्नर्थे देशनामधेये गम्यमाने यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—विदिशाया नद्या अदूरभवं नगरं वैदिशम् । हिमवतोऽदूरभवं नगरं हैमवतम् ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से [*अदूरभवः*] पास = निकट होने अर्थ में [च] भी यथाविहित (अण् आदि) प्रत्यय होते हैं ॥ *उदा०*—वैदिशम् (विदिशा नदी के समीप जो नगर) । हैमवतम् (हिमालय के निकट जो नगर) ॥ *तदस्मिन्नस्तीति०* (४।२।६६) से लेकर *अदूरभवश्च* तक कहे गये इन चारों (चातुरर्थिक) सूत्रों का अधिकार *शेषे* (४।२।९१) से पहिले तक जाता है । इन चारों सूत्रों का अधिकार हम सर्वत्र अनुवृत्ति में नहीं दिखायेंगे, पाठक स्वयं इन अर्थों की योजना सर्वत्र यथासम्भव कर लें ॥

ओरञ् ॥४।२।७०॥

ओः ५।१॥ अञ् १।१॥ चत्वारोऽर्था अनुवर्त्तन्ते ॥ *अर्थ*—प्रथमातृतीयाषष्ठीसमर्थाद् उवर्णान्तात् प्रातिपदिकात् चतुर्ष्वर्थेष्वञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—परशुना निर्वृत्तं पारशवम्, परशूनां निवासो देशः पारशवः । रुरवः (मृगविशेषाः) सन्त्यस्मिन् देशे रौरवः । अरडु = आरडवम् । कक्षतु—काक्षतवम् । कर्कटेलु—कार्कटेलवम् ॥

भाषार्थः—प्रथमा-तृतीया तथा षष्ठी समर्थ [*ओः*] उवर्णान्त प्रातिपदिकों से चारों अर्थों में [*अञ्*] अञ् प्रत्यय होता है ॥ नदी अर्थ वाच्य होने पर मतुप् प्रत्यय होता है (दे० ४।२।८४) । ये अञ् आदि प्रत्यय सामान्यतया चारों अर्थों में विहित होने के कारण चातुरर्थिक कहाते हैं ॥

यहाँ से '*अञ्*' की अनुवृत्ति ४।२।७५ तक जायेगी ॥

मतोश्च बह्वजङ्गात् ॥४।२।७१॥

मतोः ५।१॥ च अ० ॥ बह्वजङ्गात् ५।१॥ स०—बह्वच् अङ्गं यस्य स बह्वजङ्गस्तस्मात्... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—मतौ यस्मिन् बह्वजङ्गं तदन्तं यत् प्रातिपदिकं तस्मात् चातुरर्थिकोऽञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*— इषुकाः (सरकण्डे) सन्ति अस्यां नद्याम् इषुकावती नदी, तस्या अदूरभवं नगरम् ऐषुकावतम्। सिध्रकाः=वृक्षविशेषाः सन्ति अस्मिन् वने तत् सिध्रकावत् वनम्, तस्यादूरभवं नगरं सैध्रकावतम्।

भाषार्थः—जिस मतुप् के परे रहते [*बह्वजङ्गात्*] बहुत अच् वाला अङ्ग हो [*मतोः*] उस मत्वन्त प्रातिपदिक से [*च*] भी अञ् प्रत्यय होता है। *उदा०*—इषुक (सरकण्डे) हैं जिस नदी में वह इषुकावती। नदी हुई इषुकावती, जो नदी के समीप नगर वह ऐषुकावतम् हुआ। सिध्रक नाम वाले वृक्ष हैं जिस वन में वह सिध्रकावत्, उस वन के समीप जो नगर वह सैध्रकावतम् हुआ॥ ऐषुकावतम् में *नद्याम् मतुप्* (४।२।८४) से मतुप् हुआ है तथा *उगितश्च* (४।१।६) से ङीप् हुआ है, तत्पश्चात् प्रकृत सूत्र से अञ् एवं आदि अच् को वृद्धि होकर रूप बना है। सैध्रकावतम् में *तदस्यास्त्यस्मि०* (५।२।९४) से मतुप् हुआ है॥

बह्वचः कूपेषु ॥४।२।७२॥

बह्वचः ५।१॥ कूपेषु ७।३॥ *अनु०*—अञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—बह्वचः प्रातिपदिकात् कूपेष्वभिधेयेषु चातुरर्थिकोऽञ् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—दीर्घवरत्रेण निर्वृत्तः कूपः दैर्घवरत्रः, कापिलवरत्रः॥

भाषार्थः—[*बह्वचः*] बहुत अच् वाले प्रातिपदिकों से [*कूपेषु*] कुएं को कहना हो तो चातुरर्थिक अञ् प्रत्यय होता है॥ *उदा०*—दैर्घवरत्रः (दीर्घवरत्र नामक मनुष्य के द्वारा बनाया गया जो कुआँ), कापिलवरत्रः (कपिलवरत्र मनुष्य के द्वारा बनाया गया कुआँ)॥

यहाँ से 'कूपेषु' की अनुवृत्ति ४।२।७३ तक जायेगी॥

उदक्च विपाशः ॥४।२।७३॥

उदक् १।१॥ च अ० ॥ विपाशः ५।१॥ *अनु०*—कूपेषु, अञ्, तद्धिताः ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—विपाशो नद्या उत्तरदेशे (कूले) ये कूपास्तेष्वभिधेयेषु चातुरर्थिकोऽञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—दत्तेन निर्वृत्तः कूपो दात्तः, गौप्तः ॥

भाषार्थः—[*विपाशः*] विपाट् नदी के [*उदक्*] उत्तर देश में = किनारे पर जो कुएँ हैं उनके अभिधेय होने पर [च] भी अञ् प्रत्यय होता है ॥ जब उत्तर कूल अभिधेय न होकर दक्षिण कूल वाले कुएँ अभिधेय होंगे तो दात्तः गौप्तः में औत्सर्गिक अण् होने से *आद्युदात्तश्च* (३।१।३) से अन्तोदात्त स्वर होगा। उत्तर कूल को कहने में तो प्रकृत सूत्र से अञ् होने पर *ञ्नित्यादिर्नित्यम्* (६।१।१९१) से दात्तः गौप्तः आद्युदात्त स्वर वाले होते हैं, यही भेद है। महर्षि पाणिनि की अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि का परिचय इस सूत्र से मिलता है, कि जिन्होंने विभिन्न स्थानों में बोले जाने वाले स्वर विषयक भेद पर भी इतना ध्यान दिया ॥

सङ्कलादिभ्यश्च ॥४।२।७४॥

सङ्कलादिभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ *स०*—सङ्कल आदिर्येषां ते सङ्कलादयः तेभ्यः......बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सङ्कलादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यश्चातुरर्थिकोऽञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—सङ्कलेन निर्वृत्तः = साङ्कलः । पौष्कलः ॥

भाषार्थ—[*सङ्कलादिभ्यः*] सङ्कलादि प्रातिपदिकों से [च] भी चातुरर्थिक अञ् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—साङ्कलः (सङ्कल नामक व्यक्ति से बनाया गया कूप आदि), पौष्कलः (पुष्कल नामक व्यक्ति से बनाया गया) ॥

स्त्रीषु सौवीरसाल्वप्राक्षु ॥४।२।७५॥

स्त्रीषु ७।३॥ सौ...प्राक्षु ७।३॥ *स०*—सौवीरश्च साल्वश्च प्राङ् च, सौवीरसाल्वप्राञ्चः, तेषु...इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सौवीरसाल्वप्राक्षु स्त्रीलिङ्गे देशेऽभिधेये ङ्याप्प्रातिपदिकात् चातुरर्थिकोऽञ् प्रत्ययो

भवति ॥ उदा०—सौवीरे-दत्तामित्रेण निर्वृत्ता नगरी दात्तामित्री साल्वे—विधूमाग्निना निर्वृत्ता वैधूमाग्नी । प्राचि—ककन्देन निर्वृत्त काकन्दी, माकन्दी ॥

भाषार्थः—[*स्त्रीषु*] स्त्रीलिङ्गवाची [*सौ·····त्तु*] सौवीर साल्व तथ पूर्वदेश अभिधेय होने पर ङ्यन्त आबन्त और प्रातिपदिकों से चातु रर्थिक अञ् प्रत्यय होता है ॥

सुवास्त्वादिभ्योऽण् ॥४।२।७६॥

सुवास्त्वादिभ्यः ५।३॥ अण् १।१॥ *स०*—सुवास्तु आदिर्येषां ते सुवास्त्वादयः, तेभ्य·····बहुब्रीहिः ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सुवास्त्वादिभ्य प्रातिपदिकेभ्यश्चातुरर्थिकोऽण् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—सुवास्तो[1]: अदूरभवं नगरं सौवास्तवम्, वार्णवम् ॥

भाषार्थः—[*सु·····भ्यः*] सुवास्तु आदि प्रातिपदिकों से चातुरर्थिक [*अण्*] अण् प्रत्यय होता है ॥ उवर्णान्त होने से *ओरञ्* (४।२।७०) से अञ् प्राप्त था उसका यह बाधक है । सौवास्तव आदि में *ओर्गुणः* (६।४।१४६) से गुण हुआ है । अण् तथा अञ् में स्वर का ही भेद है ॥

यहाँ से '*अण्*' की अनुवृत्ति ४।२।७८ तक जायेगी ॥

रोणी ॥४।२।७७॥

रोणी १।१॥ *अनु०*—अण्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—रोणी प्रातिपदिकाच् चातुरर्थिकोऽण् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—रोण्या निर्वृत्तः रौणः, आजकरोणः, सैंहिकरोणः ॥

भाषार्थः—[*रोणी*] रोणी प्रातिपदिक से चातुरर्थिक अण् प्रत्यय होता है ॥

कोपधाच्च ॥४।२।७८॥

कोपधात् ५।१॥ च अ० ॥ *स०*—ककार उपधा यस्य स कोपधः, तस्मात्·····बहुब्रीहिः ॥ *अनु०*—अण्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्,

---

१. सुवास्तु स्वात नदी को कहते है, जो अफगानिस्तान से निकलकर सिन्धु प्रदेश में मिल जाती है ॥

प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—कोपधात् प्रातिपदिकात् चातुरर्थिकोऽण् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—कर्णवेष्टकेन निर्वृत्तः कूपः कार्णवेष्टकः कूपः, कार्कवाकवः, त्रैशङ्कवः ॥

भाषार्थः—[कोपधात्] ककार उपधा वाले प्रातिपदिक से [च] भी चातुरर्थिक अण् प्रत्यय होता है ॥

वुञ्छण्कठजिलसेनिरढञ्ण्ययफक्फिञिञ्ञ्यकक्ठकोऽरीहणकृशाश्वर्श्यकुमुदकाशतृणप्रेक्षाश्मसखिसंकाशबलपक्षकर्णसुतङ्गमप्रगदिन्वराहकुमुदादिभ्यः ॥४।२।७९॥

वुञ्.....ठकः १।३॥ अरीहण.....कुमुदादिभ्यः ५।३॥ स०—वुञ्छण्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । अरीहण० इत्यत्र द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ अनु०—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—अरीहणादिभ्यः, कृशाश्वादिभ्यः, ऋष्यादिभ्यः, कुमुदादिभ्यः, काशादिभ्यः, तृणादिभ्यः, प्रेक्षादिभ्यः, अश्मादिभ्यः, सख्यादिभ्यः, संकाशादिभ्यः, बलादिभ्यः, पक्षादिभ्यः, कर्णादिभ्यः, सुतङ्गमादिभ्यः, प्रगदिन्नादिभ्यः, वराहादिभ्यः, कुमुदादिभ्यः, इत्येतेभ्यःसप्तदशगणेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो यथासङ्ख्यं वुञ्, छण्, क, ठच्, इल, स, इनि, र, ढञ्, ण्य, य, फक्, फिञ्, इञ्, ञ्य, कक्, ठक् इत्येते सप्तदशप्रत्ययाः चातुरर्थिका भवन्ति ॥ उदा०—अरीहणादिभ्यो वुञ् आरीहणकम्, द्रौघणकम् । कृशाश्वादिभ्यश्छण्—कार्शाश्वीयः, आरिष्टीयः । ऋष्यादिभ्यः कः—ऋष्यकः, न्यग्रोधकः । कुमुदादिभ्यष्ठच्—कुमुदिकम्, शर्करिकम् । काशादिभ्य इलः—काशिलम्, वाशिलम् । तृणादिभ्यः सः—तृणसः, नडसः । प्रेक्षादिभ्य इनिः—प्रेक्षी, हलकी । अश्मादिभ्यो रः अश्मरः । सख्यादिभ्यो ढञ्—साखेयम्, साखिदत्तेयम् । संकाशादिभ्यो ण्यः—सांकाश्यम्, काम्पिल्यम् । बलादिभ्यो यः—बल्यः, कुल्यः । पक्षादिभ्यः फक्—पाक्षायणः, तौषायणः । सुतङ्गमादिभ्य इञ्—सौतङ्गमिः, मौनिचित्तिः । प्रगदिन्नादिभ्यो ञ्यः—प्रागद्यम्, मागद्यम् । वराहादिभ्यः कक्—वाराहकम्, पालाशकम् । कुमुदादिभ्यष्ठक्—कौमुदिकम्, गौमथिकम् ॥

भाषार्थः—[अरीहण.....कुमुदादिभ्यः] अरीहण, कृशाश्व, आदि सत्रह गणों के प्रातिपदिकों से यथासङ्ख्य करके [वुञ्.....ठकः] वुञ् छण् आदि सत्रह चातुरर्थिक प्रत्यय होते हैं ॥ सिद्धियाँ सब पूर्ववत् हैं ॥

जनपदे लुप् ॥४।२।८०॥

जनपदे ७।१॥ लुप् १।१॥ *अनु०*—प्रत्ययः ॥ *अर्थः* ङ्याप्प्रातिपदिकात् देशसामान्ये यश्चातुरर्थिकः (४।२।६६-६८) प्रत्ययो विधीयते तस्य जनपदे विशेषे विवक्षिते लुप् भवति ॥ *उदा०*—पञ्चालानां निवासो जनपदः = पञ्चालाः, कुरवः, मत्स्याः, अङ्गाः, वङ्गाः, मगधाः ॥

भाषार्थः—ङ्याप्प्रातिपदिक से देश सामान्य में *तदस्मिन्नस्तीति०* इत्यादि सूत्रों से जो प्रत्यय प्राप्त था उसका [*जनपदे*] जनपद (प्रान्त) विशेष को कहना हो तो [*लुप्*] लुप् हो जाता है ॥ सिद्धि सारी विस्तार से प्रथमावृत्ति प्र० भाग पृ० ७६७ परि० १।२।५१ में देखें ॥

यहाँ से '*लुप्*' की अनुवृत्ति ४।२।८२ तक जायेगी ॥

वरणादिभ्यश्च ॥४।२।८१॥

वरणादिभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ *स०*—वरण आदिर्येषां ते वरणादयस्तेभ्यः······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—लुप्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—वरणादिप्रातिपदिकेभ्यो विहितस्य चातुरर्थिकस्य प्रत्ययस्य लुब् भवति ॥ *उदा०*—वरणानामदूरभवं नगरं वरणाः । शिरीषाणामदूरभवो ग्रामः शिरीषाः ॥

भाषार्थ—[*वरणादिभ्यः*] वरणादि प्रातिपदिकों से विहित जो चातुरर्थिक प्रत्यय, उसका [*च*] भी लुप् होता है ॥ *उदा०*—वरणाः (वरण वृक्षों के समीप जो नगर), शिरीषाः ॥ पूर्ववत् *लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने* (१।२।५१) से युक्तवद्भाव जानें ॥ सिद्धि प्रथमावृत्ति प्र० भाग पृ० ७५६ परि० १।१।६० में देखें ॥

शर्कराया वा ॥४।२।८२॥

शर्करायाः ५।१॥ वा अ० ॥ *अनु०*—लुप्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—शर्कराशब्दादुत्पन्नस्य चातुरर्थिकस्य प्रत्ययस्य वा लुप् भवति । पक्षे श्रवणमेव भवति ॥ *उदा०*—शर्करा प्रायेणास्मिन् देशे, शर्करा, शार्करः, शर्करिकः, शार्करकः ॥

भाषार्थः—[*शर्करायाः*] शर्करा शब्द से उत्पन्न चातुरर्थिक प्रत्यय का [*वा*] विकल्प से लुप् होता है ॥

शर्करा छोटे छोटे पाषाणखण्ड (रोड़ी) को कहते हैं वह प्रायः जिस देश में हैं इस अर्थ में ४।२।६६ से जो औत्सर्गिक अण् हुआ था उसका पक्ष में लुप् होकर युक्तवद्भाव होकर शर्करा बना है, अन्यत्र अण् प्रत्यय होकर शार्करः बना। शर्करा शब्द के कुमुदादि गण में पढ़े होने से ४।२।७९ से ठच् तथा वराहादि गण में पढ़े होने से कक् प्रत्यय भी होकर शर्करिक', शार्करकः रूप भी बनेंगे ॥

यहाँ से '*शर्करायाः*' की अनुवृत्ति ४।२।८३ तक जायेगी ॥

ठक्छौ च ॥४।२।८३॥

ठक्छौ १।२॥ च अ० ॥ *स०*- ठक् च छश्च ठक्छौ, इतरेतरद्वन्द्वः। *अनु०*—शर्करायाः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—शर्कराशब्दात् ठक्, छ इत्येतौ चातुरर्थिकौ प्रत्ययौ भवतः ॥ *उदा०*- शार्करिकः, शर्करीयः ॥

भाषार्थः—शर्करा शब्द से चातुरर्थिक [*ठक्छौ*] ठक् तथा छ प्रत्यय [च] भी होते हैं। इस प्रकार शर्करा शब्द के कुल मिला कर छः रूप बनते हैं, दो अण् के लुप् अलुप् पक्ष के, तथा दो कुमुदादि वराहादि में पढ़े होने से और दो प्रकृत सूत्र से ठक्, छ प्रत्यय होकर ॥

नद्यां मतुप् ॥४।२।८४॥

नद्याम् ७।१॥ मतुप् १।१॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—ङ्याप्प्रातिपदिकात् नद्यामभिधेयायां चातुरर्थिको मतुप् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—उदुम्बरावती, मशकावती, वीरणावती, ॥

भाषार्थः—ङ्याप्प्रातिपदिक से [*नद्याम्*] नदी अभिधेय हो तो चातुरर्थिक [*मतुप्*] मतुप् प्रत्यय होता है। *तदस्मिन्नस्तीति* देशे *तन्नाम्नि* के सम्बन्ध का सम्भव होने से प्रथमा समर्थ से प्रत्यय होता है। तन्नाम्नि पद नद्यां का विशेषण है, देश का नहीं। उदुम्बर जिसके तीर पर हैं ऐसी नदी उदुम्बरावती कही जाती है, इसी प्रकार सब में समझें। सिद्धि में *उगितश्च* (४।१।६) से ङीप् तथा *मादुपधायाश्च०* (८।२।९) से मतुप् के म को व होगा ॥

यहाँ से '*मतुप्*' की अनुवृत्ति ४।२।८५ तक जायेगी ॥

मध्वादिभ्यश्च ॥४।२।८५॥

मध्वादिभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ *स०*—मधु आदिर्येषां ते मध्वादयस्तेभ्यः ……बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—मतुप्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः परश्च ॥ *अर्थः*—मध्वादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यश्चातुरर्थिको मतुप् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—मधु अस्ति अस्मिन् देशे मधुमान् देशः, विसवान् ॥

भाषार्थः—[*मध्वादिभ्यः*] मधु आदि प्रातिपदिकों से [*च*] भी चातुरर्थिक मतुप् प्रत्यय होता है ॥ सिद्धि प्रथम भाग पृ० ६७८ परि० १।१।५ के चितवान् के समान जानें। विसवान् में मतुप् के म को व *मादुपधायाश्च०* (८।२।९) से ही होगा ॥

कुमुदनडवेतसेभ्यो ड्मतुप् ॥४।२।८६॥

कु……भ्यः ५।३॥ ड्मतुप् १।१॥ *स०*—कुमुदश्च नडश्च वेतसश्च, कुमुद……सास्तेभ्यः……इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—कुमुद नड वेतस इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यश्चातुरर्थिको ड्मतुप् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—कुमुद्वान्, नड्वान्, वेतस्वान् ॥

भाषार्थः—[*कुमु……भ्यः*] कुमुद, नड, वेतस् प्रातिपदिकों से चातुरर्थिक [*ड्मतुप्*] ड्मतुप् प्रत्यय होता है ॥ ड्मतुप् के डित् होने से टेः (६।४।१४३) से टि भाग (अ) का लोप होता है ॥

नडशादाड् ड्वलच् ॥४।२।८७॥

नडशादात् ५।१॥ ड्वलच् १।१॥ *स०*—नडश्च शादश्च नडशादम्, तस्मात्……समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—नड शाद इत्येताभ्यां शब्दाभ्यां चातुरर्थिको ड्वलच् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—नड्वलम्, शाद्वलम् ॥

भाषार्थः—[*नड……त्*] नड शाद शब्दों से चातुरर्थिक [*ड्वलच्*] ड्वलच् प्रत्यय होता है ॥

शिखाया वलच् ॥४।२।८८॥

शिखायाः ५।१॥ वलच् १।१॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—शिखाशब्दात् चातुरर्थिको वलच् प्रत्ययो

भवति ॥ उदा०—शिखा नाम कश्चित् मनुष्यः, तेन निर्वृत्तं नगरं शिखावलम्[1] ॥

भाषार्थः—[*शिखायाः*] शिखा शब्द से चातुरर्थिक [*वलच्*] वलच् प्रत्यय होता है ॥

उत्करादिभ्यश्छः ॥४।२।८९॥

उत्करादिभ्यः ५।३॥ छः १।१॥ *स०*—उत्कर आदिर्येषां ते उत्करादयस्तेभ्यः······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*-तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—उत्करादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यश्चातुरर्थिकश्छः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*-उत्करीयम्, शफरीयम् ॥

भाषार्थः—[*उत्करादिभ्यः*] उत्करादि प्रातिपदिकों से चातुरर्थिक [छः] छ प्रत्यय होता है ॥ सर्वत्र यथासम्भव चातुरर्थिक अर्थों की योजना होगी ॥ *उदा०*—उत्करीयम् (उत्कर = धान जहाँ फैलाया जाये, ऐसा देश),शफरीयम् (एक प्रकार की मछली जहाँ पाई जावे, ऐसा देश) ॥

यहाँ से 'छः' की अनुवृत्ति ४।२।९० तक जायेगी ॥

नडादीनां कुक् च ॥४।२।९०॥

नडादीनाम् ६।३॥ कुक् १।१॥ च अ० ॥ *स०*—नड आदिर्येषां ते नडादयस्तेषां······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—छः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—नडादीनां शब्दानां कुक् आगमो भवति छश्च प्रत्ययश्चातुरर्थिकः ॥ *उदा०*—नडकीयम्, प्लक्षकीयम् ॥

भाषार्थः-[*नडादीनाम्*] नडादि शब्दों को चातुरर्थिक छ प्रत्यय [च] तथा [कुक्] कुक् का आगम होता है ॥ *आद्यन्तौ टकितौ* (१।१।४५) से कुक् अन्त में बैठेगा । नड कुक् छ = नड क् ईय = नडकीयम् (नरकुल जहाँ हो वह देश) ॥

---

१. शिखातरुनामा वृक्षविशेषोऽपि शिखोच्यते । तथा सति शिखानाम्ना वृक्षाणामदूरभवं नगरं शिखावलम् । 'सिखवाल' नाम्नां ब्राह्मणानामिदमेव नगरं अभिजनः ॥

शेषे ॥४।२।९१॥

शेषे ७।१॥ *अनु०*—प्रत्ययः परश्च ॥ *अर्थः*—अपत्यादिभ्यश्चातुरर्थपर्यन्तेभ्यो योऽन्योऽर्थः स शेषः। इतोऽग्रे वक्ष्यमाणाः प्रत्ययाः शेषेऽर्थे भवन्ति अर्थात् इत आरभ्य *तस्येदम्* (४।३।१२०) इतिपर्यन्तं ये अर्थाः सन्ति, तेषु सर्वेष्वर्थेषु वक्ष्ययाणाः प्रत्ययाः भवन्ति। राष्ट्रावारपाराद्घखौ, इति वक्ष्यति, तत्र घखौ प्रत्ययौ सर्वेष्वर्थेषु भवतः। यथा—राष्ट्रे भवः राष्ट्रियः, राष्ट्रादागतः राष्ट्रियः, राष्ट्रे भक्तिरस्य राष्ट्रियः, राष्ट्रादागतः राष्ट्रियः ॥

भाषार्थः—*तस्यापत्यम्* से चातुरर्थिक पर्यन्त जो अर्थ कहे जा चुके हैं उनसे जो [*शेषे*] शेष अर्थ उनमें आगे के कहे हुये प्रत्यय हुआ करेंगे। शेषे का अधिकार ४।३।१३१ तक अर्थात् *तस्य विकारः* से पहिले पहिले तक जायेगा अतः आगे के कहे जानेवाले प्रत्यय यहाँ से लेकर *तस्येदम्* तक जितने अर्थ कहे हैं, उन सब अर्थों में होंगे। यथा आगे के सूत्र में राष्ट्र शब्द से घ प्रत्यय कहा है सो वह घ प्रत्यय *तस्येदम्* तक कहे जानेवाले *तत्र जातः* (४।३।२५), *तत्र भवः* (४।३।५३), *तत आगतः* (४।३।७४) आदि सभी अर्थों में हुआ करेगा, ऐसा सर्वत्र जाने। इस प्रकार राष्ट्रियः के अर्थ राष्ट्र में उत्पन्न, राष्ट्र में होनेवाला, आदि अनेकों होंगे। एक ही प्रत्यय लगने से कितने अर्थों का अभिधान हो गया, यह पाणिनि मुनि की विलक्षण बुद्धि का परिचायक है। शेषे अधिकार वाले ये सब प्रत्यय शैषिक प्रत्यय कहलाते हैं ॥ 'शेषे' यह अधिकार सूत्र भी है और लक्षण सूत्र भी। इसलिये जिन अर्थों में पाणिनि महाराज ने साक्षात् प्रत्ययों का विधान नहीं भी किया उनमें औत्सर्गिक यथाविहित प्रत्यय इस सूत्र से हो जाते हैं। यथा - अश्वैरुह्यते आश्वो रथः (घोड़ों से चलाया जानेवाला रथ), चातुरं शकटम् (चार बैलों से चलाया जानेवाला शकट गड्ड = बड़ी गाड़ी) ॥

राष्ट्रावारपाराद्घखौ ॥४।२।९२॥

रा……त् ५।१॥ घखौ १।२॥ *स०*—राष्ट्रश्च अवारपारश्च, राष्ट्रावारपारम्, तस्मात्……समाहारो द्वन्द्वः। घश्च खश्च, घखौ, इतरेतर-

द्वन्द्वः ॥ अनु०—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—राष्ट्र अवारपार इत्येताभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां यथासम्भवं जातादिष्वर्थेषु घखौ प्रत्ययौ यथासङ्ख्यं भवतः ॥ समर्थविभक्तिनिर्देशोऽर्थनिर्देशश्च अग्रे यथास्थानं विधीयते ॥ उदा०—राष्ट्रियः, अवारपारीण[1]: ॥

भाषार्थः—[*रा......त्*] राष्ट्र तथा अवारपार शब्दों से शैषिक जातादि अर्थों में यथासङ्ख्य करके [*घखौ*] घ और ख प्रत्यय होते हैं ॥ समर्थ विभक्ति तथा प्रत्ययार्थ 'तत्र जातः' आदि में आगे कहा है, प्रत्यय यहाँ कह दिये । सर्वत्र शैषिक प्रकरण में ऐसा ही जानें ॥

ग्रामाद्यखञौ ॥४।२।९३॥

ग्रामात् ५।१॥ यखञौ १।२॥ स०—यश्च खञ् च यखञौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—ग्रामशब्दात् शैषिकौ यखञौ प्रत्ययौ भवतः ॥ उदा०—ग्रामे जातः भवो वा ग्राम्यः, ग्रामीणः ॥

भाषार्थः—[*ग्रामात्*] ग्राम शब्द से [*यखञौ*] य और खञ् प्रत्यय होते हैं ॥

कत्र्यादिभ्यो ढकञ् ॥४।२।९४॥

कत्र्यादिभ्यः ५।३॥ ढकञ् १।१॥ स०—कत्रिरादिर्येषां ते कत्र्यादयस्तेभ्यः......बहुव्रीहिः ॥ अनु०—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—कत्र्यादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः शैपिको ढकञ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—कात्रेयकः औम्भेयकः ॥

भाषार्थः—[*क...भ्यः*] कत्र्यादि प्रातिपदिकों से शैषिक अर्थों में [*ढकञ्*] ढकञ् प्रत्यय होता है ॥ कत्रि ढकञ् = ७।१।२ से ढ को एय होकर 'कत्र् एय् अ क' वृद्धि होकर कात्रेयकः बन गया ॥

यहाँ से 'ढकञ्' की अनुवृत्ति ४।२।९५ तक जायेगी ॥

---

१. अवारपार शब्द में बह्वच् का पूर्वनिपात करने से अवार पार स्वतन्त्र शब्दो से तथा अवारपार और पारावार शब्दों से भी ख प्रत्यय होता है । अवारीणः, पारीणः, अवारपारीणः, पारावारीणः ।

कुलकुक्षिग्रीवाभ्यः श्वास्यलङ्कारेषु ॥४।२।९५॥

कुल·····भ्यः ५।३॥ श्वा·····षु ७।३॥ स०—उभयत्रेतरेतर-द्वन्द्वः ॥ अनु०—ढकञ्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—कुल, कुक्षि, ग्रीवा इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो यथासङ्ख्यं श्वन् असि अलङ्कार इत्येतेषु जातादिष्वर्थेषु ढकञ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—कुले भवः = कौलेयकः श्वा । कुक्षौ भवः = कौक्षेयकोऽसिः । ग्रीवायां भवः = ग्रैवेयकोऽलङ्कारः ॥

भाषार्थ—[कुल·····भ्यः] कुल, कुक्षि, तथा ग्रीवा शब्दों से यथासङ्ख्य करके [श्वा·····षु] श्वा, असि तथा अलङ्कार अभिधेय होने पर जातादि अर्थों में ढकञ् प्रत्यय होता है ॥

उदा०—कौलेयकः (कुल में होने वाला कुत्ता), कौक्षेयकः (कुक्षि में रहने वाली तलवार), ग्रैवेयकः (हार तथा गुलूबन्द) ॥

नद्यादिभ्यो ढक् ॥४।२।९६॥

न··भ्यः ५।३॥ ढक् १।१॥ स०—नदी आदिर्येषां ते नद्यादयस्तेभ्यः······बहुव्रीहिः ॥ अनु०—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—नद्यादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः शैषिको ढक् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—नादेयम् माहेयम् वाराणसेयम् ॥

भाषार्थः—[नद्यादिभ्य.] नद्यादि प्रातिपदिकों से शैषिक [ढक्] ढक् प्रत्यय होता है ॥

दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक् ॥४।२।९७॥

दक्षि·····रसः ५।१॥ त्यक् १।१॥ स०—दक्षिणा च पश्चात् च पुरश्च, दक्षि·····पुरः तस्मात्·····समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—दक्षिणा, पश्चात्, पुरस् इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः शैषिकस्त्यक् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—दाक्षिणात्यः, पाश्चात्यः, पौरस्त्यः ॥

भाषार्थ.—[दक्षि·····स] दक्षिणा, पश्चात्, पुरस् इन प्रातिपदिकों से शैषिक [त्यक्] त्यक् प्रत्यय होता है ॥

कापिश्याः ष्फक् ॥४।२।९८॥

कापिश्याः ५।१॥ ष्फक् १।१॥ *अनु०*—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—कापिशीशब्दात् ष्फक् प्रत्ययो भवति शैषिकः ॥ *उदा०*—कापिश्यां भवं कापिशायनं मधु, कापिशायनी द्राक्षा ॥

भाषार्थः—[*कापिश्याः*] कापशी शब्द से शैषिक [*ष्फक्*] ष्फक् प्रत्यय होता है ॥ कापिशी देश विशेष की संज्ञा है। कापिशायनी में फ को आयन तथा *षिद्गौरादि०* (४।१।४१) से ङीष् होगा ॥ *उदा०*—कापिशायनं, कापिशायनी (कापिशी देश में होने वाला मधु वा द्राक्षा) ॥
यहाँ से 'ष्फक्' की अनुवृत्ति ४।२।९९ तक जायेगी ॥

रङ्कोरमनुष्येऽण् च ॥४।२।९९॥

रङ्कोः ५।१॥ अमनुष्ये ७।१॥ अण् १।१॥ च अ० ॥ *स०*—अमनुष्य इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—ष्फक्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—रङ्कुप्रातिपदिकाद् अण् प्रत्ययो भवति चकारात् ष्फक् च। शैषिकेऽमनुष्येऽभिधेये ॥ *उदा०*—अण्—राङ्कवो गौः, राङ्कवायणो गौः ॥

भाषार्थः—[*रङ्कोः*] रङ्कु शब्द से [*अमनुष्ये*] मनुष्य अभिधेय न हो तो [*अण्*] अण् [*च*] और ष्फक् प्रत्यय होते हैं ॥ *ओर्गुणः* (६।४।१४६) से गुण तथा अवादेश सिद्धि में विशेष है ॥

द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत् ॥४।२।१००॥

द्यु·····तीचः ५।१॥ यत् १।१॥ *स०*—द्युप्रा० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—दिव्, प्राच्, अपाच्, उदच्, प्रत्यच् इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो यत् प्रत्ययो भवति शैषिकः ॥ *उदा०*—दिव्यम्, प्राच्यम्, अपाच्यम्, उदीच्यम्, प्रतीच्यम् ॥

भाषार्थः—[*द्यु·····तीचः*] दिव्, प्राच्, अपाच्, उदच्, प्रत्यच् इन प्रातिपदिकों से शैषिक [*यत्*] यत् प्रत्यय होता है ॥

कन्थायाष्ठक् ॥४।२।१०१॥

कन्थायाः ५।१॥ ठक् १।१॥ *अनु०*—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—कन्थाशब्दात् शैषिकष्ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—कान्थिकः ॥

भाषार्थः—[*कन्थायाः*] कन्था प्रातिपदिक से शैषिक [*ठक्*] ठक् प्रत्यय होता है ॥

वस्त्रखण्डों से निर्मित जो कन्था (गुदड़ी) उसमें होने वाली जूँ कान्थिक कहलाती है ॥

यहाँ से '*कन्थायाः*' की अनुवृत्ति ४।२।१०२ तक जायेगी ॥

वर्णौ वुक् ॥४।२।१०२॥

वर्णौ ७।१॥ वुक् १।१॥ *अनु०*—कन्थायाः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—वर्णुर्नाम नदस्तत्समीवर्तीयो देशः तद्विषयात् कन्थाप्रातिपदिकात् वुक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—वर्णौ या कन्था तत्र जाता यूका कान्थिका ॥

भाषार्थः—[*वर्णौ*] वर्णु नाम वाले देश विषयक कन्था प्रातिपदिक से, [*वुक्*] वुक् प्रत्यय होता है ॥ वर्णु देश में होने वाली जो कन्था, उसमें होने वाली जो जूं वह 'कान्थिका' कहलायेगी ॥

अव्ययात्त्यप् ॥४।२।१०३॥

अव्ययात् ५।१॥ त्यप् १।१॥ *अनु०*—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अव्ययात् प्रातिपदिकात् शैषिकस्त्यप् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अमात्यः, इहत्यः, क्वत्यः, यत्रत्यः, तत्रत्यः, इतस्त्यः ॥

भाषार्थः—[*अव्ययात्*] अव्यय प्रातिपदिकों से शैषिक [*त्यप्*] त्यप् प्रत्यय होता है ॥ अमा, इह, क्व आदि अव्यय हैं सो त्यप् प्रत्यय शैषिक हो गया है ॥

यहाँ से '*त्यप्*' की अनुवृत्ति ४।२।१०४ तक जायेगी ॥

ऐषमोह्यःश्वसोऽन्यतरस्याम् ॥४।२।१०४॥

ऐ॰॰सः ५।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ स॰—ऐषमश्च ह्यश्च श्वश्च, ऐषमोह्योश्वसः तस्मात्॰॰समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु॰—त्यप्-शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—ऐषमस् ह्यस् श्वस् इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽन्यतरस्यां त्यप् प्रत्ययो भवति शैषिकः। पक्षे *सायंचिरंप्राह्णेप्रगे॰* (४।३।२३) इत्यनेन ट्युट्युलौ प्रत्ययौ तुट् चागमो भवति॥ *उदा॰*—ऐषमस्त्यम् ऐषमस्तनम्। ह्यस्त्यम् ह्यस्तनम्। श्वस्त्यम् श्वस्तनम्॥

भाषार्थः—[*ऐष॰॰॰सः*] ऐषमस्, ह्यस्, श्वस् प्रातिपदिकों से [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से त्यप् प्रत्यय होता है। पक्ष में *सायंचिरंप्राह्णे॰* सूत्र से ट्यु तथा ट्युल् प्रत्यय तथा तुट् आगम होगा। ट्यु तथा ट्युल् का यु शेष रहेगा, *युवोरनाकौ* से यु को अन होकर ऐषमस् तुट् अन = ऐषमस्तनम् आदि प्रयोग बनेंगे॥

तीररूप्योत्तरपदादञ्ञौ ॥४।२।१०५॥

तीर॰॰दात् ५।१॥ अञ्ञौ १।२॥ स॰—तीरञ्च रूप्यञ्च, तीररूप्यं, तत् उत्तरपदं यस्य तत् तीररूप्योत्तरपदम् तस्मात्॰॰॰द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः॥ अनु॰—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—तीरोत्तरपदात् रूप्योत्तरपदात् प्रातिपदिकात् यथासङ्ख्यं शैषिकौ, अञ्, ञ इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः॥ *उदा॰*—काकतीरे भवं काकतीरम्, पाल्वलतीरम्। रूप्योत्तरपदात्—वार्करूप्यम्, शैवरूप्यम्॥

भाषार्थः—[*ती॰॰॰दात्*] तीर तथा रूप्य उत्तरपद वाले प्रातिपदिकों से यथासङ्ख्य करके [*अञ्ञौ*] अञ् तथा ञ शैषिक प्रत्यय होते हैं॥

दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः ॥४।२।१०६॥

दिक्पूर्वपदात् ५।१॥ असंज्ञायाम् ७।१॥ ञः १।१॥ स॰—दिक्पूर्वपदं यस्य तत् दिक्पूर्वपदं, तस्मात्॰॰॰बहुव्रीहिः। न संज्ञा असंज्ञा, तस्याम् असंज्ञायाम्, नञ्तत्पुरुषः॥ अनु॰—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—असंज्ञायां वर्त्तमानात् दिक्पूर्वपदात्

प्रातिपदिकात् ञः प्रत्ययो भवति शैषिकः ॥ *उदा०*—पौर्वशालः, आपरशालः, दाक्षिणशालः ॥

भाषार्थः—[*असंज्ञायाम्*] असंज्ञा में वर्त्तमान [*दिक्पूर्वपदात्*] दिशावाची शब्द पूर्व पद में है जिस प्रातिपदिक के, ऐसे दिक्पूर्वपद प्रातिपदिक से शैषिक [*ञः*] ञ प्रत्यय होता है ॥ सिद्धि प्रथम भाग पृ० ८३६ परि० २।१।५० में देखें ॥

यहाँ से '*दिक्पूर्वपदात्*' की अनुवृत्ति ४।२।१०७ तक जायेगी ॥

मद्रेभ्योऽञ् ॥४।२।१०७॥

मद्रेभ्यः ५।३॥ अञ् १।१॥ *अनु०*—दिक्पूर्वपदात्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—दिक्पूर्वपदात् मद्रशब्दात् शैषिकोऽञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—पौर्वमद्रः, आपरमद्रः ॥

भाषार्थः—दिशापूर्वपद वाले [*मद्रेभ्यः*] मद्रान्त प्रातिपदिक से शैषिक [*अञ्*] अञ् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*अञ्*' की अनुवृत्ति ४।२।१०८ तक जायेगी ॥

उदीच्यग्रामाच्च बह्वचोऽन्तोदात्तात् ॥४।२।१०८॥

उदीच्यग्रामात् ५।१॥ च अ० ॥ बह्वचः ५।१॥ अन्तोदात्तात् ५।१॥ उदीचि भवः उदीच्यः । *स०*—उदीच्यश्चासौ ग्रामश्च उदीच्यग्रामस्तस्मात्......कर्मधारयस्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अञ्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अन्तोदात्तात् बह्वच उदीच्यग्रामात् प्रातिपदिकात् शैषिकोऽञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—शिवपुरे भवं शैवपुरम्, माण्डवपुरम् ॥

भाषार्थः—[*अन्तोदात्तात्*] अन्तोदात्त [*बह्वचः*] बहुत अच् वाले [*उदीच्यग्रामात्*] उत्तर दिशा में होनेवाले ग्रामवाची प्रातिपदिकों से [*च*] भी अञ् प्रत्यय होता है ॥ शिवस्य पुरं शिवपुरं यहाँ षष्ठी समास होने से *समासस्य* (६।१।२१७) से शिवपुर शब्द अन्तोदात्त है । इसी प्रकार माण्डवपुर में है, ये बह्वच् तथा उदीच्य ग्रामवाची शब्द हैं ही सो अञ् प्रत्यय हो गया है ॥

प्रस्थोत्तरपदपलद्यादिकोपधादण् ॥४।२।१०९॥

प्रस्थो......पधात् ५।१॥ अण् १।१॥ *स०*—प्रस्थ उत्तरपदं यस्य तत् प्रस्थोत्तरपदम्, पलदी आदिर्येषां ते पलद्यादयः, ककार उपधा यस्य स

कोपधः । प्रस्थोत्तरपदं च पल्यादयश्च कोपधश्च प्रस्थो···पधस्तस्मात्··· बहुव्रीहिगर्भसमाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः परश्च ॥ *अर्थः*—प्रस्थोत्तरपदात् प्रातिपदिकात् पल्यादिभ्यः, कोपधाच्च शैषिकोऽण् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—माद्रीप्रस्थे भवः माद्रीप्रस्थः, माहकीप्रस्थः । पल्यादिभ्यः—पालदः, पारिषदः । ककारोपधात्—निलीनके भवः = नैलीनकः, चैयातकः ॥

भाषार्थ—[*प्रस्थो·····धात्*] प्रस्थ शब्द उत्तर पदवाले शब्दों से, पल्यादि गण के शब्दों से, तथा ककार उपधावाले शब्दों से [*अण्*] अण् प्रत्यय होता है ॥ माद्रीप्रस्थ आदि नगर विशेष के नाम हैं ॥

यहाँ से '*अण्*' की अनुवृत्ति ४।२।११२।तक जायेगी ॥

कण्वादिभ्यो गोत्रे ॥४।२।११०॥

कण्वादिभ्यः ५।३॥ गोत्रे ७।१॥ *स०*—कण्व आदिर्येषां ते कण्वादयस्तेभ्यः······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अण्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—कण्वादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो गोत्रे यो विहित प्रत्ययस्तदन्तात् प्रातिपदिकादण् प्रत्ययो भवति शैषिकः ॥ *उदा०*—काण्व्यस्य छात्राः काण्वाः, गौकक्षाः ॥

भाषार्थः--[*कण्वादिभ्यः*] कण्वादि प्रातिपदिकों से [*गोत्रे*] गोत्र में विहित जो प्रत्यय तदन्त प्रातिपदिक से शैषिक अण् प्रत्यय होता है ॥

कण्वादि गण गर्गादि गण के अन्तर्गत है, सो यञ् होकर काण्व्य गौकक्ष्य बना, अब इन गोत्र प्रत्ययान्तों से अण् हुआ है । *आपत्यस्य च०* (६।४।१५१) से यकार का लोप होकर काण्व् अ = काण्वः गौकक्षः बना । कण्व के पौत्र के जो छात्र वे काण्व हुए । *वृद्धाच्छः* (४।२।११३) से छ प्राप्त था उसका अपवाद है ॥

यहाँ से '*गोत्रे*' की अनुवृत्ति ४।२।११२ तक जायेगी ॥

इञश्च ॥४।२।१११॥

इञः ५।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—गोत्रे, अण्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—गोत्रे य इञ् विहितस्तदन्तात्

प्रातिपदिकादण् प्रत्ययो भवति शैषिकः ॥ *उदा०*—दाक्षाः[1] साक्षाः माहकाः ॥

भाषार्थः—गोत्रप्रत्ययान्त [*इञः*] इञन्त प्रातिपदिक से [च] भी अण् प्रत्यय होता है। *वृद्धाच्छः* (४।२।११३) का अपवाद यह सूत्र है॥ दाक्षि आदि इञन्त प्रातिपदिक हैं सो सर्वत्र *यस्येति च* (६।४।१४८) लग ही जाता है॥ *तस्येदम्* (४।३।१२०) शैषिक की विवक्षा में ये प्रत्यय हो रहे हैं॥

यहाँ से '*इञः*' की अनुवृत्ति ४।२।११२ तक जायेगी॥

न द्व्यचः प्राच्यभरतेषु ॥४।२।११२॥

न अ० ॥ द्व्यचः ५।१॥ प्राच्यभरतेषु ७।३॥ *स०* प्राच्याश्च भरताश्च, प्राच्यभरताः, तेषु······इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—इञः, गोत्रे, अण्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्राच्यभरतगोत्रप्रत्ययान्तादिञन्ताद् द्व्यचः प्रातिपदिकादण् प्रत्ययो न भवति ॥ पूर्वेण प्राप्तिः प्रतिषिध्यते ॥ *उदा०*—चेदस्यापत्यं चैदिः, तस्य छात्राः चैदीयाः, पौष्कीयाः, काशीयाः, पाशीयाः ॥

भाषार्थः—[*प्राच्यभरतेषु*] प्राच्य भरत गोत्रवाची इञन्त [*द्व्यचः*] द्व्यच् प्रातिपदिक से अण् प्रत्यय [*न*] नहीं होता॥ चैदि आदि *अत इञ्* (४।१।९५) से इञ् प्रत्ययान्त हैं, सो पूर्व सूत्र से अण् प्राप्त था जिसका प्रकृत सूत्र से निषेध हो गया है। तब *वृद्धाच्छः* (४।२।११३) से छ होकर चैदीयाः बन गया। चैदि पौष्कि प्राच्य गोत्र हैं, काशि पाशि भरतगोत्र हैं॥

वृद्धाच्छः ॥४।२।११३॥

वृद्धात् ५।१॥ छः १।१॥ *अनु०*—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—वृद्धसंज्ञकात् शैषिकश्छः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—गार्गीयः, वात्सीयः, शालीयः, मालीयः ॥

भाषार्थः—[*वृद्धात्*] वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिक से शैषिक [*छः*] छ प्रत्यय होता है॥ गार्ग्य से छ प्रत्यय होकर एवं *आपत्यस्य०* (६।४।१५१)

---

१. यहाँ ४।२।६२ की व्याख्या और टिप्पणी देखनी चाहिये।

से य का लोप होकर गार्गीयः बना। शालीयः की सिद्धि प्रथम भाग परि० १।१।१ में देखें। गर्ग के पौत्रके छात्र गार्गीय कहलायेगे ॥
यहाँ से 'वृद्धात्' की अनुवृत्ति ४।२।११७ तक जायेगी ॥

भवतष्ठक्छसौ ॥४।२।११४॥

भवतः ५।१॥ ठक्छसौ १।२॥ *स०*—ठक् च छश्च ठक्छसौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—वृद्धात्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—वृद्धसंज्ञकात् भवच्छब्दात् शैषिकौ ठक्छसौ प्रत्ययौ भवतः ॥ *उदा०*—भवतश्छात्रः भावत्कः, भवदीयः ॥

भाषार्थः—वृद्धसंज्ञक [*भवतः*] भवत् शब्द से शैषिक [*ठक्छसौ*] ठक् और छस् प्रत्यय होते हैं ॥ *त्यदादीनि* च (१।१।७३) से भवत् शब्द की वृद्ध संज्ञा है। भवदीयः की सिद्धि प्रथम भाग परि० १।४।१६ में देखे। भावत्कः में ठ को क *इसुसुक्तान्तात्* कः (७।३।५१) से हुआ है ॥

काश्यादिभ्यष्ठञ्ञिठौ ॥४।२।११५॥

काश्यादिभ्यः ५।३॥ ठञ्ञिठौ १।२॥ *स०*—काशी आदिर्येषां ते काश्यादयः, तेभ्यः······बहुव्रीहिः। ठञ् च ञिठ् च ठञ्ञिठौ इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—वृद्धात्, शेषे, तद्धिता· ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—काश्यादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः शैषिकौ ठञ्, ञिठ इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः ॥ *उदा०*—काशिकी, काशिका, बैदिकी बैदिका ॥

भाषार्थः—[*काश्यादिभ्यः*] काशी आदि प्रातिपदिकों से शैषिक [*ठञ्ञिठौ*] ठञ् तथा ञिठ प्रत्यय होते हैं ॥ ठञ् तथा ञिठ दोनों का 'ठ' शेष रहता है ॥ ठञ् करने पर *टिड्ढाणञ्०* (४।१।१५) से ङीप् होगा तथा जब ञिठ करेंगे तो टाप् होगा, यही विशेष है ॥
यहाँ से '*ठञ्ञिठौ*' की अनुवृत्ति ४।२।११७ तक जायेगी ॥

वाहीकग्रामेभ्यश्च ॥४।२।११६॥

वाहीकग्रामेभ्यः ५।३॥ च० अ० ॥ *स०*—वाहीकस्य वाहीके वा ग्रामाः वाहीकग्रामास्तेभ्यः······षष्ठीतत्पुरुषः सप्तमीतत्पुरुषो वा ॥ *अनु०*—ठञ्ञिठौ, वृद्धात्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः,

परश्च ॥ *अर्थः*—वाहीकग्रामवाचिभ्यो वृद्धसंज्ञकेभ्यः शब्देभ्यः शैषिकौ ठञ् ञिठ, इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः ॥ *उदा०*—शाकलिकी, शाकलिका। मान्थविकी, मान्थविका ॥

भाषार्थः—[*वाहीकग्रामेभ्यः*] वाहीक देश के जो ग्राम तद्वाची वृद्ध-संज्ञक प्रातिपदिक से [च] भी शैषिक ठञ् ञिठ प्रत्यय होते हैं ॥ शाकल मान्थव वृद्ध संज्ञक वाहीक देश के ग्राम हैं ॥ वाहीक देश का लक्षण—'*पञ्चानां सिन्धुषष्ठानामन्तरं ये समाश्रिताः। वाहीका नाम ते देशाः*······।" (महाभारत कर्णपर्व) सिन्धु से लेकर सतलज के मध्य-वर्ती देश का नाम वाहीक है ॥

यहाँ से '*वाहीकग्रामेभ्यः*' की अनुवृत्ति ४।२।११७ तक जायेगी ॥

विभाषोशीनरेषु ॥४।२।११७॥

विभाषा १।१॥ उशीनरेषु ७।३॥ *अनु०*—वाहीकग्रामेभ्यः, ठञ्ञिठौ, वृद्धात्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—उशीनरदेशे ये वाहीकग्रामास्तेभ्यो वृद्धसंज्ञकेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो विकल्पेन ठञ्ञिठौ शैषिकौ प्रत्ययौ वा भवतः ॥ *उदा०*—आह्वजालिकी आह्वजालिका, आह्वजालीया। सौदर्शनिकी, सौदर्शनिका, सौदर्शनीया ॥

भाषार्थः—[*उशीनरेषु*] उशीनर देश में जो वाहीक ग्राम वृद्धसंज्ञक हैं, उनसे [*विभाषा*] विकल्प से ठञ् तथा ञिठ शैषिक प्रत्यय होते हैं। पक्ष में *वृद्धाच्छः* (४।२।११३) से 'छ' होगा। आह्वजाल आदि ग्रामों में होने वाली कोई वस्तु आह्वजालिकी आदि कहलायेगी। उशीनर देश वाहीक देश के अन्तर्गत है ॥

ओर्देशे ठञ् ॥४।२।११८॥

ओः ५।१॥ देशे ७।१॥ ठञ् १।१॥ *अनु०*—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—उवर्णान्ताद्देशवाचिनः प्रातिपदिकात् ठञ् प्रत्ययो भवति शैषिकः ॥ *उदा०*—नैषादकर्षुकः, शाबरजम्बुकः ॥

भाषार्थः—[*ओः*] उवर्णान्त [*देशे*] देशवाची प्रातिपदिकों से शैषिक [ठञ्] ठञ् प्रत्यय होता है ॥ निषादकर्षू शबरजम्बू आदि देशवाची

शब्द हैं, इनसे जो ठञ् हुआ उस 'ठ' को *इसुसुक्तान्तात् कः*(७।३।५१)से क तथा 'क' के परे रहते 'ऊ' को *केऽणः* (७।४।१३) से ह्रस्व हो गया है ॥

यहाँ से '*ओः ठञ्*' की अनुवृत्ति ४।२।११९ तक तथा 'देशे' की अनुवृत्ति ४।२।१४४ तक जायेगी ॥

वृद्धात् प्राचाम् ॥४।२।११९॥

वृद्धात् ५।१॥ प्राचाम् ॥६।३॥ *अनु०*—ओर्देशे ठञ्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—उवर्णान्तात् वृद्धसंज्ञकात् प्राग्देशवाचिनः प्रातिपदिकात् शैषिकष्ठञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—नापितवस्तूर्नाम देशस्तस्मात् ठञ्—नापितवास्तुकः, शाकजम्बुकः ॥

भाषार्थः—उवर्णान्त [*वृद्धात्*] वृद्धसंज्ञक [*प्राचाम्*] प्राग्देशवाची प्रातिपदिकों से शैषिक ठञ् प्रत्यय होता है ॥ पूर्ववत् ठ को क तथा ह्रस्वत्व हो गया है । नापितवस्तू शाकजम्बू आदि प्राग्देशवाची शब्द हैं ।

यहाँ से '*वृद्धात्*' की अनुवृत्ति ४।२।१२५ तक जायेगी ॥

धन्वयोपधाद् वुञ् ॥४।२।१२०॥

धन्वयोपधात् ५।१॥ वुञ् १।१॥ *स०*—य उपधा यस्य स योपधः, धन्वा च योपधश्च धन्वयोपधं तस्मात्······बहुव्रीहिगर्भसमाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनुः*—वृद्धात्, देशे, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—देशाभिधायिनो धन्ववाचिनो योपधाच्च वृद्धसंज्ञकात् प्रातिपदिकात् शैषिको वुञ् प्रत्ययो भवति ॥ धन्वशब्दो मरुदेशवाची ॥ *उदा०*—पारेधन्वकः ऐरावतकः । योपधात्—सांकाश्यकः काम्पिल्यकः ॥

भाषार्थः—देश में वर्त्तमान [*धन्वयोपधात्*] धन्ववाची तथा यकार उपधा वाले वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिकों से शैषिक [*वुञ्*] वुञ् प्रत्यय होता है । धन्व शब्द मरुदेशवाची है ॥

यहाँ से '*वुञ्*' की अनुवृत्ति ४।२।१२९ तक जायेगी ॥

प्रस्थपुरवहान्ताच्च ॥४।२।१२१॥

प्रस्थपुरवहान्तात् ५।१॥ च अ० ॥ *स०*—प्रस्थश्च पुरश्च वहश्च, प्रस्थपुरवहा इत्येते शब्दाः अन्ते यस्य स प्रस्थपुरवहान्तस्तस्मात्······द्वन्द्व-

गर्भबहुव्रीहिः ॥ अनु०—वुञ्, वृद्धात्, देशे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—प्रस्थ, पुर, वह इत्येवमन्तात् वृद्धसंज्ञकाद् देशे वर्त्तमानात् प्रातिपदिकाच्छैषिको वुञ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—प्रस्थान्तात्—मालाप्रस्थकः। पुरान्तात्—नान्दीपुरकः, कान्तीपुरकः। वहान्तात्—पैलुवहकः, फाल्गुनीवहकः ॥

भाषार्थः—[*प्रस्थपुरवहान्तात्*] प्रस्थ, पुर, वह अन्त वाले जो देशवाची वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिक उनसे [च] भी शैषिक वुञ् प्रत्यय होता है ॥

रोपधेतोः प्राचाम् ॥४।२।१२२॥

— रोपधेतोः ६।२॥ प्राचाम् ६।३॥ स०—र उपधा यस्य स रोपधः, रोपधश्च ईत् च रोपधेतौ, तयोः……बहुव्रीहिगर्भेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—वुञ्, वृद्धात्, देशे, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—रोपधात् ईकारान्ताच्च वृद्धसंज्ञकात् प्राग्देशवाचिनः प्रातिपदिकाच्छैषिको वुञ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—पाटलिपुत्रकाः ऐकचक्रकाः। ईकारान्तात्—काकन्दी, काकन्दकः, माकन्दी, माकन्दकः ॥

भाषार्थः—[*प्राचाम्*] प्राग्देशवाची [*रोपधेतोः*] रेफ उपधावाले, तथा ईकारान्त वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिकों से शैषिक वुञ् प्रत्यय होता है ॥ पाटलिपुत्र एवं ऐकचक्र शब्द रोपध तथा वृद्ध संज्ञक हैं, काकन्दी माकन्दी ईकारान्त हैं, सो वुञ् हो गया है ॥

जनपदतदवध्योश्च ॥४।२।१२३॥

जनपदतदवध्योः ६।२॥ च अ० ॥ स०—तस्य अवधिः तदवधिः, षष्ठीतत्पुरुषः। जनपदश्च तदवधिश्च, जनपदतदवधी, तयोः……इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—वुञ्, वृद्धात्, देशे, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—वृद्धाज्जनपदवाचिनः, जनपदावधिवाचिनश्च प्रातिपदिकात् शैषिको वुञ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—जनपदवाचिनः—आभिसारकः, आदर्शकः। जनपदावधिवाचिनः—औपुष्टकः, श्यामायनकः, त्रैगर्त्तकः ॥

भाषार्थ—[*जनपदतदवध्योः*] जनपद तथा जनपद का अवधि को कहनेवाले वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिकों से [च] भी शैषिक वुञ् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*जनपदतदवध्योः*' की अनुवृत्ति ४।२।१२४ तक जायेगी ॥

अवृद्धादपि बहुवचनविषयात् ॥४।२।१२४॥

अवृद्धात् ५।१॥ अपि अ० ॥ बहु... यात् ५।१॥ *स०*—न वृद्धम् अवृद्धं तस्मान्...नञ्तत्पुरुषः । बहुवचनं विषयो यस्य स बहुवचनविषयस्तस्मान्...बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—जनपदतदवध्योः, वुञ्, वृद्धात्, देशे, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अवृद्धाद् वृद्धाच्च जनपदात्तदवधिवाचिनश्च बहुवचनविषयात् प्रातिपदिकात् शैषिको वुञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अवृद्धाज्जनपदात्—आङ्गकः, वाङ्गकः, कालिङ्गकः । अवृद्धात् जनपदावधेः—आजमीढकः, आजक्रन्दकः । वृद्धात् जनपदात्—दार्वकः जाम्बवकः । वृद्धाज्जनपदावधेः—कालञ्जरकः, वैकुलिशकः ॥

भाषार्थः—जनपद तथा जनपद की अवधि वाले [*अवृद्धात्*] अवृद्ध तथा वृद्ध शब्दों से [*अपि*] भी [*बहुवचनविषयात्*] बहुवचनविषयक प्रातिपदिकों से शैषिक वुञ् प्रत्यय होता है ॥

आङ्गः वाङ्गः की सिद्धि परि० १।२।५१ में की है, ये शब्द *लुपि युक्त०* (१।२।५१) से युक्तवद्भाव होने से बहुवचनविषयक हैं ही, अतः वुञ् हो गया । इसी प्रकार और भी शब्द बहुवचनविषयक हैं । बहुवचनविषयक बनने से पूर्व जो वृद्ध अवृद्ध शब्द हैं, ऐसा यहाँ समझना है, सो अङ्ग वङ्ग शब्द बहुवचन विषय से पूर्व अवृद्ध हैं ही ।

यहाँ से '*अवृद्धादपि*' की अनुवृत्ति ४।२।१२५ तक जायेगी ।

कच्छाग्निवक्त्रगर्त्तोत्तरपदात् ॥४।२।१२५॥

कच्छा...दात् ५।१॥ *स०*—कच्छश्च अग्निश्च वक्त्रञ्च वर्त्तश्च क... गर्त्ताः, इत्येतानि उत्तरपदानि यस्य तत्, क...पदम्, तस्मात्...द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अवृद्धादपि, वुञ्, वृद्धात्, देशे, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—कच्छाद्युत्तरपदाद् देशवाचिनोऽवृद्धाद् वृद्धाच्च प्रातिपदिकात् शैषिको वुञ् प्रत्ययो भवति ॥

उदा०—कच्छोत्तरपदात्—दारुकच्छकः, पैप्पलीकच्छकः। अग्न्युत्तरपदात्-काण्डाग्नकः, वैभुजाग्नकः। ऐन्द्रवक्त्रकः, सैन्धुवक्त्रकः। बाहुगर्त्तकः, चाक्रगर्त्तकः॥

भाषार्थः--देश में वर्त्तमान [*कच्छा.....दात्*] कच्छ, अग्नि, वक्त्र, गर्त्त ये उत्तरपद में हैं, जिनके ऐसे वृद्धसंज्ञक तथा अवृद्धसंज्ञक प्रातिपदिकों से शैषिक वुञ् प्रत्यय होता है॥

धूमादिभ्यश्च ॥४।२।१२६॥

धूमादिभ्यः ५।३॥ च अ०॥ *स०*—धूम आदिर्येषां ते धूमादयस्तेभ्यः बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—वुञ्, देशे, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—देशवाचिभ्यो धूमादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः शैषिको वुञ् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—धौमकः, खाण्डकः॥

भाषार्थः—देश विशेषवाची [*धूमादिभ्यः*] धूमादि गणपठित प्रातिपदिकोंसे [*च*] भी शैषिक वुञ् प्रत्यय होता है॥

नगरात् कुत्सनप्रावीण्ययोः ॥४।२।१२७॥

नगरात् ५।१॥ कुत्सनप्रावीण्ययोः ७।२॥ *स०*—कुत्सनञ्च प्रावीण्यञ्च कुत्स...ण्ये, तयोः...इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—वुञ्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—कुत्सनप्रावीण्ययोः अभिधेययोः नगरशब्दाच्छैषिको वुञ् प्रत्ययो भवति॥ कुत्सनं निन्दनम्॥ प्रावीण्यं नैपुण्यम्॥ *उदा०*—नागरकः, कुत्सितः प्रवीणो वा॥

भाषार्थः—[*कुत्सनप्रावीण्ययोः*] कुत्सन = निन्दा प्रावीण्य = नैपुण्य अभिधेय हो तो, [*नगरात्*] नगर प्रातिपदिक से शैषिक वुञ् प्रत्यय होता है॥ नागरक नगर में होनेवाले निन्दित या निपुण मनुष्य को कहेंगे॥

अरण्यान्मनुष्ये ॥४।२।१२८॥

अरण्यात् ५।१॥ मनुष्ये ७।१॥ *अनु०*—वुञ्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—अरण्य-प्रातिपदिकात्, मनुष्येऽभिधेये शैषिको वुञ् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—आरण्यको मनुष्यः॥

भाषार्थः—[*अरण्यात्*] अरण्य प्रातिपदिक से [*मनुष्ये*] मनुष्य अभिधेय हो तो शैषिक वुञ् प्रत्यय होता है ॥ आरण्यक जङ्गली मनुष्य को कहते हैं ॥

विभाषा कुरुयुगन्धराभ्याम् ॥४।२।१२९॥

विभाषा १।१॥ कु···भ्याम् ५।२॥ *स०*—कुरुश्च युगन्धरश्च, कुरुयुगन्धरौ, ताभ्यां··इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—वुञ्, देशे, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—कुरुयुगन्धरजनपदवाचिभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां विभाषा वुञ् प्रत्ययो भवति शैषिकः ॥ *उदा०*—कौरवकः, कौरवः । यौगन्धरकः, यौगन्धरः ॥

भाषार्थः—[*कु····भ्याम्*] कुरु तथा युगन्धर जनपदवाची शब्दों से [*विभाषा*] विकल्प से शैषिक वुञ् प्रत्यय होता है ॥ कुरु शब्द कच्छादि गण में पढ़ा है, अतः पक्ष में ४।२।१३२ से अण् ही होगा । इसी प्रकार युगन्धर शब्द से भी पक्ष में औत्सर्गिक अण् होगा ॥

मद्रवृज्योः कन् ॥४।२।१३०॥

मद्रवृज्योः ६।२॥ कन् १।१॥ *स०*—मद्र० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—देशे, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—मद्र वृजि शब्दाभ्यां शैषिकः कन् प्रत्ययो भवति ॥ जनपदवुञोऽपवादः ॥ *उदा०*—मद्रेषु जातः = मद्रकः, वृजिकः ॥

भाषार्थः—देशविशेषवाची [*मद्रवृज्योः*] मद्र, वृजि शब्दों से शैषिक [*कन्*] कन् प्रत्यय होता है ॥ मद्र वृजि जनपदवाची शब्द हैं, अतः इनसे ४।२।१२३ से वुञ् प्राप्त था उसका यह अपवाद है ॥

कोपधादण् ॥४।२।१३१॥

कोपधात् ५।१॥ अण् १।१॥ *स०*—ककार उपधा यस्य स कोपधस्तस्मात्··बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—देशे, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—ककारोपधाद् देशवाचिनः प्रातिपदिकाच्छैषिकोऽण् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—ऋषिकेषु जातः = आर्षिकः, माहिषिकः, ऐक्ष्वाकः ॥

भाषार्थः—देशवाची [*कोपधात्*] ककार उपधा वाले प्रातिपदिक से शैषिक [*अण्*] अण् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*अण्*' की अनुवृत्ति ४।२।१३२ तक जायेगी ॥

कच्छादिभ्यश्च ॥४।२।१३२॥

कच्छादिभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ *स०*—कच्छ आदिर्येषां ते कच्छादयस्तेभ्यः ''बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अण्, देशे, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—देशवाचिभ्यः कच्छादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽण् प्रत्ययो भवति शैषिकः ॥ *उदा०*—काच्छः, सैन्धवः, वार्णवः ॥

भाषार्थः—देशविशेषवाची [*कच्छादिभ्यः*] कच्छादि प्रातिपदिकों से [*च*] भी शैषिक अण् प्रत्यय होता है ॥ पूर्ववत् वृद्धि तथा यस्येति लोप ही सब सिद्धियों में हुए हैं ॥

यहाँ से '*कच्छादिभ्यः*' की अनुवृत्ति ४।२।१३३ तक जायेगी ॥

मनुष्यतत्स्थयोर्वुञ् ॥४।२।१३३॥

मनुष्यतत्स्थयोः ७।२॥ वुञ् १।१॥ तस्मिन् स्थितः तत्स्थः ॥ *स०*—मनु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—कच्छादिभ्यः, देशे, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थ*—मनुष्ये मनुष्यस्थे चाभिधेये कच्छादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो वुञ् प्रत्ययो भवति शैषिकः ॥ *उदा०*—काच्छको मनुष्यः । मनुष्यस्थे—काच्छकमस्य हसितं जल्पितम् ॥

भाषार्थः—[*मनुष्यतत्स्थयोः*] मनुष्य या मनुष्य में स्थित कोई कर्मादि अभिधेय हो तो कच्छादि प्रातिपदिकों से [*वुञ्*] वुञ् प्रत्यय होता है ।

'काच्छक' कच्छ देश के मनुष्य को कहेंगे तथा कच्छ देश के मनुष्यों का हँसना या बोलना भी काच्छक होगा । हँसी या बोलना मनुष्यस्थ कर्म हैं । इसी प्रकार सबमें जानें । पूर्व सूत्र का यह अपवाद सूत्र है ॥

यहाँ से '*मनुष्यतत्स्थयोः*' की अनुवृत्ति ४।२।१३४ तक तथा '*वुञ्*' की ४।२।१३५ तक जायेगी ॥

अपदातौ साल्वात् ॥४।२।१३४॥

अपदातौ ७।१॥ साल्वात् ५।१॥ पद्भ्याम् अतति निरन्तरं गमनं करोतीति पदातिः ॥ *स०*—न पदातिः अपदातिः, नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—मनुष्यतत्स्थयोर्वुञ्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अपदातौ मनुष्ये मनुष्यस्थे चाभिधेये साल्वशब्दात् शैषिको वुञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—साल्वको मनुष्यः, साल्वकमस्य हसितम् जल्पितम् ।

भाषार्थः—[*साल्वात्*] साल्व शब्द से [*अपदातौ*] अपदाति अर्थात् पैरों से निरन्तर न चलने वाला मनुष्य तथा मनुष्यस्थ कर्म अभिधेय हो तो वुञ् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*साल्वात्*' की अनुवृत्ति ४।२।१३५ तक जायेगी ॥

गोयवाग्वोश्च ॥४।२।१३५॥

गोयवाग्वोः ७।२॥ च अ० ॥ *स०*—गौश्च यवागूश्च गोयवाग्वौ तयोः······इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—साल्वात् वुञ् देशे, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—गवि यवाग्वाश्चाभिधेयायां देशवाचिनः साल्वप्रातिपदिकाच्छैषिको वुञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—साल्वको गौः, साल्विका यवागूः ॥

भाषार्थः—[*गोयवाग्वोः*] गौ तथा यवागू अभिधेय हों तो [च] भी देशवाची साल्व शब्द से शैषिक वुञ् प्रत्यय होता है ॥ साल्विका में टाप् तथा *प्रत्ययस्थात्०* (७।३।४४) से इत्व हुआ है ॥

गर्त्तोत्तरपदाच्छः ॥४।२।१३६॥

गर्त्तोत्तरपदात् ५।१॥ छः १।१॥ *स०*—गर्त्त उत्तरपदं यस्य तत् गर्त्तोत्तरपदं तस्मात्······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—देशे, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—गर्त्तोत्तरपदाद् देशवाचिनः प्रातिपदिकात् छः प्रत्ययो भवति शैषिकः ॥ *उदा०*—वृकगर्त्तीयम्, शृगालगर्त्तीयम्, श्वाविद्गर्त्तीयम् ॥

भाषार्थः—[*ग.....दात्*] गर्त्त शब्द उत्तरपद वाले देशवाची प्रातिपदिकों से शैषिक [छः] छ प्रत्यय होता है ।

यहाँ से 'छः' की अनुवृत्ति ४।२।१४४ तक जायेगी ॥

गहादिभ्यश्च ॥४।२।१३७॥

गहादिभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ *स०*—गह आदिर्येषां ते गहादयस्तेभ्यः ......बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—छः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—गहादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यश्छः प्रत्ययो भवति शैषिकः ॥ *उदा०*—गहीयः, अन्तःस्थीयः ॥

भाषार्थः—[*गहादिभ्यः*] गहादि प्रातिपदिकों से [च] भी शैषिक छ प्रत्यय होता है ॥ यहाँ देशे का अधिकार सम्बन्धित नहीं होगा, क्योंकि गहादि शब्द अदेशवाची भी हैं ॥

प्राचां कटादेः ॥४।२।१३८॥

प्राचाम् ६।३॥ कटादेः ५।१॥ *स०*—कट शब्द आदिर्यस्य स कटादिस्तस्मात्......बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—छः, देशे, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्राग्देशवाचिनः कटादेः प्रातिपदिकाच्छः प्रत्ययो भवति शैषिकः ॥ *उदा०*—कटनगरीयम्, कटघोषीयम्, कटपल्वलीयम् ॥

भाषार्थः—[*कटादेः*] कट शब्द आदि में है जिनके ऐसे [*प्राचाम्*] प्राग्देशवाची प्रातिपदिकों से शैषिक छ प्रत्यय होता है ॥

राज्ञः क च ॥४।२।१३९॥

राज्ञः ६।१॥ क लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ *अनु०*—छः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—राजन्शब्दात् छः प्रत्ययो भवति शैषिकः ककारश्चान्तादेशो भवति ॥ *उदा०*—राजकीयम् ॥

भाषार्थः—[*राज्ञः*] राजन् शब्द से शैषिक छ प्रत्यय होता है, तथा उसको [क] 'क' अन्तादेश [च] भी होता है ॥ राज्ञः में वाक्य भेद से पञ्चमी षष्ठी दोनों विभक्ति माननी होंगी, षष्ठी मानने से *अलोन्त्यस्य*

(१।१।५१) लगकर राजन् के न के स्थान में क होकर राजकीयम् बनेगा। राजकीयम् अर्थात् राजा का सम्बन्धी। यहाँ असम्भव होने से देशे की अनुवृत्ति सम्बद्ध नहीं होती॥

वृद्धादकेकान्तखोपधात् ॥४।२।१४०॥

वृद्धात् ५।१॥ अके……धात् ५।१॥ *स०*—अकश्च इकश्च, अकेकौ, अकेकौ अन्ते यस्य स अकेकान्तः, बहुव्रीहिः। ख उपधा यस्य स खोपधः, बहुव्रीहिः। अकेकान्तश्च खोपधश्च, अकेकान्तखोपधम् तस्मात्…… समाहारो द्वन्द्वः॥ *अनु०*—छः, देशे, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—अक, इक इत्येवमन्तात् खोपधाच्च देशवाचिनः वृद्धसंज्ञकात् प्रातिपदिकात् छः प्रत्ययो भवति शैषिकः॥ *उदा०*—अकान्तात्—आरीहणकीयम् द्रौघणकीयम्। इकान्तात्—आश्वपथिकीयम् शाल्मलिकीयम्। खोपधात्—कौटिशिखीयम्, आयोमुखीयम्॥

भाषार्थः—[*अके……धात्*] अक, इक अन्त वाले तथा खकार उपधा वाले, जो देशवाची [*वृद्धात्*] वृद्धसंज्ञक प्रातिपदिक उनसे शैषिक छ प्रत्यय होता है॥

यहाँ से '*वृद्धात्*' की अनुवृत्ति ४।२।१४१ तक जायेगी॥

कन्थापलदनगरग्रामह्रदोत्तरपदात् ॥४।२।१४१॥

क……पदात् ५।१॥ *स०*—कन्था च पलदश्च नगरश्च ग्रामश्च ह्रदश्च इत्येतान्युत्तरपदानि यस्य तत् कन्था…पदं तस्मात्……द्वन्द्वगर्भ-बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—वृद्धात्, छः, देशे, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदि-कात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—कन्थाद्युत्तरपदात् देशवाचिनो वृद्धात् प्रातिपदिकाच्छः प्रत्ययो भवति शैषिकः॥ *उदा०*—कन्थोत्तरपदात्—दाक्षिकन्थीयम्, माहिकिकन्थीयम्। पलदोत्तरपदात्—दाक्षिपलदीयम् माहिकिपलदीयम्। नगरोत्तरपदात्—दाक्षिनगरीयम् माहिकिनगरीयम्। ग्रामोत्तरपदात्— दाक्षिग्रामीयम् माहिकिग्रामीयम्। ह्रदोत्तरपदात्—दाक्षिह्रदीयम् माहिकिह्रदीयम्॥

भाषार्थः—[*कन्था…पदात्*] कन्था, पलद, नगर, ग्राम, ह्रद ये शब्द उत्तरपद में हैं, जिनके ऐसे वृद्धसंज्ञक देशवाची प्रातिपदिकों से छ प्रत्यय होता है॥

पर्वताच्च ॥४।२।१४२॥

पर्वतात् ५।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—छः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—पर्वतात् प्रातिपदिकात् शैषिकश्छः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—पर्वतीयो राजा ॥

भाषार्थः—[*पर्वतात्*] पर्वत शब्द से [*च*] भी शैषिक छ प्रत्यय होता है ॥ पर्वत शब्द पूर्ववत् देशवाची ही है, अतः देशविशेषण के लिए 'देशे' की अनुवृत्ति की आवश्यकता नहीं है। पर्वतीय राजा अर्थात् पर्वत का राजा ॥

यहाँ से '*पर्वतात्*' की अनुवृत्ति ४।२।१४४ तक जायेगी ॥

विभाषाऽमनुष्ये ॥४।२।१४३॥

विभाषा १।१॥ अमनुष्ये ७।१॥ *स०*—न मनुष्यः, अमनुष्यः, तस्मिन्.....नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—पर्वतात्, छः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—पर्वतशब्दात् शैषिकश्छः प्रत्ययो भवति, विकल्पेनामनुष्ये वाच्ये ॥ *उदा०*—पर्वतीयानि फलानि। पक्षे अण्—पार्वतानि फलानि ॥

भाषार्थः—[*अमनुष्ये*] अमनुष्य अभिधेय हो तो पर्वत शब्द से [*विभाषा*] विकल्प करके छ प्रत्यय होता है ॥ पक्ष में औत्सर्गिक अण् होगा ॥

कृकणपर्णाद्भारद्वाजे ॥४।२।१४४॥

कृकणपर्णात् ५।१॥ भारद्वाजे ७।१॥ *स०*—कृक० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—छः, देशे, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—भारद्वाजदेशवाचिभ्यां कृकणपर्णशब्दाभ्यां शैषिकश्छः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—कृकणीयम् पर्णीयम् ॥

भाषार्थः—[*भारद्वाजे*] भारद्वाज देश में वर्त्तमान जो [*कृकणपर्णात्*] कृकण तथा पर्ण प्रातिपदिक उनसे शैषिक छ प्रत्यय होता है ॥ भारद्वाज शब्द यहाँ देशविशेषवाची है न कि गोत्रवाची ॥

॥ इति द्वितीयः पादः ॥

—:०:—

तृतीयः पादः

युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ् च ॥४।३।१॥

युष्मदस्मदोः ६।२॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ खञ् १।१॥ च अ० ॥ *स०*—युष्म० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—छः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—युष्मद् अस्मद् इत्येताभ्यां शब्दाभ्यां शैषिकौ खञ्छौ प्रत्ययौ भवतो विकल्पेन, पक्षेऽण् ॥ *उदा०*—यौष्माकीणः, आस्माकीनः । छः—युष्मदीयः, अस्मदीयः । अण्—यौष्माकः, आस्माकः ॥

भाषार्थः—[*युष्मदस्मदोः*] युष्मद् तथा अस्मद् शब्दों से [*खञ्*] तथा [*च*] चकार से छ प्रत्यय [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से होते हैं ॥ पक्ष में औत्सर्गिक अण् होता है ॥ अगले सूत्र ४।३।२ से खञ् तथा अण् प्रत्यय परे रहते, युष्मद् अस्मद् को यथासङ्ख्य करके युष्माक अस्माक आदेश हो जाते हैं, सो यौष्माकीणः, आस्माकीनः, यौष्माकः, आस्माकः बन गया है ॥ छ प्रत्यय परे रहते युष्माक अस्माक आदेश नहीं होते सो युष्मदीयः, अस्मदीयः बन गया ॥

यहाँ से '*युष्मदस्मदोः*' की अनुवृत्ति ४।३।३ तक जायेगी ॥

तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ ॥४।३।२॥

तस्मिन् ७।१॥ अणि ७।१॥ च अ० ॥ युष्माकास्माकौ १।२॥ *स०*—युष्मा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—युष्मदस्मदोः ॥ तस्मिन्निति पदेन खञ् निर्दिश्यते, न घः । *अर्थः*—तस्मिन् = खञि, अणि च परतः युष्मदस्मदोः स्थाने यथासङ्ख्यं युष्माक, अस्माक इत्येतावादेशौ भवतः ॥ *उदा०*—युष्माकं छात्राः = यौष्माकीणाः, आस्माकीनाः । यौष्माकाः, आस्माकाः ॥

भाषार्थः—[*तस्मिन्*] उस खञ् [*च*] तथा [*अणि*] अण् प्रत्यय के परे रहते युष्मद् अस्मद् के स्थान में यथासङ्ख्य करके [*युष्माकास्माकौ*] युष्माक, अस्माक, आदेश होते हैं ॥ क्रमशः युष्मद् के स्थान में युष्माक, अस्मद् के स्थान में अस्माक आदेश हो जायेगा ॥

यहाँ से '*तस्मिन्नणि*' की अनुवृत्ति ४।३।३ तक जायेगी ।

तवकममकावेकवचने ॥४।३।३॥

तवकममकौ १।२॥ एकवचने ७।१॥ *स०*—तव० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तस्मिन्नणि युस्मदस्मदोः ॥ *अर्थः*—खञि अणि च परतः एकार्थवाचिनोः युष्मदस्मदोः स्थाने यथासङ्ख्यं तवक, ममक इत्येतौ आदेशौ भवतः ॥ *उदा०*—तव इमे छात्राः = तावकीनाः, मामकीनाः । अणि—तावकाः, मामकाः ॥

भाषार्थ—[*एकवचने*] एक अर्थ को कहनेवाले युष्मद् अस्मद् शब्दों के स्थान में यथासङ्ख्य करके [*तवकममकौ*] तवक ममक आदेश होते हैं उस खञ् तथा अण् प्रत्यय के परे रहते ॥

युष्मद् खञ् = तवक खञ् = तावकीनाः पूर्ववत् बना । इसी प्रकार मामकीनाः आदि में समझें ॥

अर्धाद्यत् ॥४।३।४॥

अर्धात् ५।१॥ यत् १।१॥ *अनु०*—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अर्धशब्दात् शैषिको यत् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अर्ध्यम् ॥

भाषार्थः—[*अर्धात्*] अर्ध प्रातिपदिक से शैषिक [*यत्*] प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*अर्धात्*' की अनुवृत्ति ४।३।७ तक तथा '*यत्*' की अनुवृत्ति ४।३।६ तक जायेगी ॥

परावराधमोत्तमपूर्वाच्च ॥४।३।५॥

परावराधमोत्तमपूर्वात् ५।१॥ च अ० ॥ *स०*—परश्च अवरश्च अधमश्च उत्तमश्च, परा······त्तमाः, इत्येते पूर्वे यस्य स, पराव···पूर्वस्तस्मात्·····द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अर्धाद्यत्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—पर, अवर, अधम, उत्तम इत्येवं पूर्वाद् अर्धप्रातिपदिकात् यत् प्रत्ययो भवति शैषिकः ॥ *उदा०*—परार्द्ध्यम् । अवरार्द्ध्यम् । अधमार्द्ध्यम् । उत्तमार्द्ध्यम् ॥

भाषार्थः—[*पराव·····र्वात्*] पर, अवर, अधम, उत्तम ये शब्द पूर्व में हैं जिसके ऐसे अर्ध शब्द से [*च*] भी शैषिक यत् प्रत्यय होता है ॥

दिक्पूर्वपदाट्ठञ् च ॥४।३।६॥

दिक्पूर्वपदात् ५।१॥ ठञ् १।१। च अ० ॥ स०—दिक् पूर्वपदं यस्य तत् दिक्पूर्वपदम् तस्मात्.....बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अर्धाद्यत् । अर्थः—दिक्पूर्वपदादर्धान्तात् प्रातिपदिकात् शैषिकौ ठञ्यतौ प्रत्ययौ भवतः ॥ उदा०—ठञ्—पौर्वार्द्धिकः, दाक्षिणार्द्धिकः । यत्—पूर्वार्द्ध्यः, दक्षिणार्द्ध्यः ॥

भाषार्थः—[*दिक्.....त्*] दिशावाची पूर्वपदवाले अर्ध प्रातिपदिक से शैषिक [*ठञ्*] ठञ् [*च*] और यत् प्रत्यय होते हैं ॥

यहाँ से '*दिक्पूर्वपदात्*' की अनुवृत्ति ४।३।७ तक जायेगी ॥

ग्रामजनपदैकदेशादञ्ठञौ ॥४।३।७॥

ग्राम.....शात् ५।१॥ अञ्ठञौ १।२॥ स०—ग्रामश्च जनपदश्च, ग्रामजनपदौ, तयोर्य एकदेशः, ग्रामजनपदैकदेशः, तस्मात्.....द्वन्द्वगर्भ-षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—दिक्पूर्वपदात्, अर्धात्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—दिक्पूर्वपदाद् अर्धान्तात् ग्रामैकदेशवाचिनो जनपदैकदेशवाचिनश्च प्रातिपदिकात् शैषिकौ अञ्ठञौ प्रत्ययौ भवतः ॥ उदा०—इमे ग्रामस्य जनपदस्य वा पौर्वार्द्धाः, पौर्वा-र्द्धिकाः । दाक्षिणार्द्धाः दाक्षिणार्द्धिकाः ॥

भाषार्थः—[*ग्राम..शात्*] ग्राम के अवयववाची तथा जनपद के अवयववाची, दिशा पूर्वपद वाले अर्धान्त प्रातिपदिक से शैषिक [*अञ्ठञौ*] अञ् तथा ठञ् प्रत्यय होते हैं ॥ एकदेश शब्द यहाँ अवयव का वाची है ॥

मध्यान्मः ॥४।३।८॥

मध्यात् ५।१॥ मः १।१॥ अनु०—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदि-कात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः - मध्यात् प्रातिपदिकाच्छैषिको मः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—मध्यमः ॥

भाषार्थः—[*मध्यात्*] मध्य प्रातिपदिक से शैषिक [*मः*] म प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*मध्यात्*' की अनुवृत्ति ४।३।९ तक जायेगी ॥

अ सांप्रतिके ॥४।३।९॥

अ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ सांप्रतिके ७।१॥ अनु०—मध्यात्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ सांप्रतिकं न्याय्यं युक्तमुच्यते। *अर्थः*—मध्यशब्दात् सांप्रतिके गम्यमाने शैषिकः 'अः' प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—नातिह्रस्वं नातिदीर्घं मध्यं काष्ठम्। नात्यवकृष्टो, नात्युत्कृष्टो मध्यो वैयाकरणः, मध्या स्त्री ॥

भाषार्थः—मध्य शब्द से [*सांप्रतिके*] सांप्रतिक अर्थ गम्यमान हो तो शैषिक [*अ*] अ प्रत्यय होता है॥ साम्प्रतिक सम न्याय उचित को कहते हैं, जैसे न अधिक ऊँचा न अधिक नीचा, बराबर का काष्ठ मध्य काष्ठ कहा जायेगा। पूर्व सूत्र का यह अपवाद है॥

द्वीपादनुसमुद्रं यञ् ॥४।३।१०॥

द्वीपात् ५।१॥ अनुसमुद्रं १।१॥ यञ् १।१॥ *स०*—समुद्रं समया अनुसमुद्रं 'अनुर्यत्समया' इत्यनेनाऽव्ययीभावसमासः। *अर्थः*—समुद्रसमीपे वर्तमानात् द्वीपप्रातिपदिकाच्छैषिको यञ् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—द्वैप्यं, मधु द्वैप्या कन्या ॥

भाषार्थः—समुद्र के जो समीप, वह अनुसमुद्र कहलाता है॥ [*अनुसमुद्रम्*] समुद्र के समीप अर्थ में वर्तमान जो द्वीप प्रातिपदिक उससे शैषिक [*यञ्*] यञ् प्रत्यय होता है। समुद्र के समीप जो द्वीप उसमें होने वाला जो मधु या कन्या वह द्वैप्यं मधु द्वैप्या कन्या कही जायेगी। द्वीपम् की सिद्धि प्रथम भाग पृ० ७२७ परि० १।१।५२ में की है उससे यञ् होकर द्वैप्यम् बन ही जायेगा॥

कालाट्ठञ् ॥४।३।११॥

कालात् ५।१॥ ठञ् १।१॥ अनु०—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—कालविशेषवाचिनः प्रातिपदिकाच्छैषिकश्ठञ् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—मासे भवः मासिकः, आर्द्धमासिकः, सांवत्सरिकः॥

भाषार्थः—[*कालात्*] कालविशेषवाची प्रातिपदिकों से शैषिक [*ठञ्*] ठञ् प्रत्यय होता है॥ मास में होने वाला मासिक, अर्ध

मास में आर्धमासिक तथा संवत्सर में होनेवाला सांवत्सरिक कहा जायेगा ॥

यहाँ से '*कालात्*' की अनुवृत्ति ४।३।२४ तक जायेगी तथा '*ठञ्*' की ४।३।१५ तक जायेगी ॥

श्राद्धे शरदः ॥४।३।१२॥

श्राद्धे ७।१॥ शरदः ५।१॥ *अनु०*—कालाट्ठञ्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—ऋतुवाचिनः शरत्प्रातिपदिकाट् ठञ् प्रत्ययो भवति शैषिकः श्राद्धेऽभिधेये ॥ ऋतुवाचिभ्यः (४।३।१६) अण् विहितस्तस्यापवादः ॥ *उदा०*—शरदि भवं शारदिकं श्राद्धं कर्म ॥

भाषार्थः—ऋतुवाची (कालविशेष) [*शरदः*] शरत् शब्द से [*श्राद्धे*] श्राद्ध अभिधेय हो तो शैषिक ठञ् प्रत्यय होता है ॥

ऋतुवाची होने से ४।३।१६ से अण् प्राप्त था उसका अपवाद है ॥

यहाँ से '*शरदः*' की अनुवृत्ति ४।३।१३ तक जायेगी ॥

विभाषा रोगातपयोः ॥४।३।१३॥

विभाषा १।१॥ रोगातपयोः ७।२॥ *स०*—रोगा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—शरदः, कालाट्ठञ्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—रोगे, आतपे चाभिधेये कालवाचिनः शरत् शब्दाटठञ् प्रत्ययो वा भवति, पक्षेऽण्॥ *उदा०*—शारदिको रोगः, शारदिक आतपः । शारदो रोगः, शारद आतपः ॥

भाषार्थः—कालविशेषवाची शरत् शब्द से [*रोगातपयोः*] रोग तथा आतप अभिधेय हो तो ठञ् प्रत्यय [*विभाषा*] विकल्प से होता है। पक्ष में ४।३।१६ से अण् होगा। शरद् ऋतु में होने वाले रोग या आतप को शारदिकः, शारदः[1] कहेंगे ॥

यहाँ से '*विभाषा*' की अनुवृत्ति ४।३।१५ तक जायेगी ॥

---

१. 'बालार्को न सेवितव्यः' इस मनु वचन में बाला = कन्याराशि गत शरदृतु के सूर्य के सेवन का निषेध है।

निशाप्रदोषाभ्यां च ॥४।३।१४॥

निशाप्रदोषाभ्याम् ५।२॥ च अ० ॥ *स०*—निशा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—विभाषा, कालाट्ठञ्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—निशा, प्रदोष इत्येताभ्यां कालविशेषवाचिभ्यां शब्दाभ्यां विकल्पेन ठञ् प्रत्ययो भवति । *उदा०*—नैशिकम्, नैशम् । प्रादोषिकम्, प्रादोषम् ॥

भाषार्थः—[*निशाप्रदोषाभ्याम्*] निशा प्रदोष कालविशेषवाची शब्दों से [च] भी विकल्प से ठञ् प्रत्यय होता है ॥ *कालट्ठञ्* से नित्य ठञ् की प्राप्ति में यह विकल्प है । पक्ष में *प्राग्दीव्यतोऽण्* का अधिकार होने से अण् ही होगा ॥

श्वसस्तुट् च ॥४।३।१५॥

श्वसः ५।१॥ तुट् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—विभाषा, कालाट्ठञ्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—कालवाचिनः 'श्वस्' प्रातिपदिकात् विकल्पेन शैषिकष्ठञ्, प्रत्ययो भवति तस्य (प्रत्ययस्य) च तुट् आगमो भवति ॥ पक्षे *ऐषमोह्य:श्वसो०* (४।२।१०४) इत्यनेन विकल्पेन त्यबपि भवति, एताभ्यां मुक्ते *सायंचिरंप्राह्णे०* (४।३।२३) इत्यनेन ट्युट्युलौ प्रत्ययावपि भवतस्तेन त्रैरूप्यं भवति ॥ *उदा०*—शौवस्तिकः श्वस्त्यः श्वस्तनः ॥

भाषार्थः—कालविशेषवाची [*श्वसः*] श्वस् प्रातिपदिक से विकल्प से ठञ् प्रत्यय होता है, [च] तथा उस प्रत्यय को [*तुट्*] तुट् का आगम भी होता है ॥ पक्ष में *ऐषमोह्य:श्वसोऽन्यतरस्याम्* से विकल्प से त्यप् प्रत्यय होगा, एवं श्वस् शब्द के अव्यय होने से *सायंचिरंप्राह्णे०* से ट्यु, ट्युल् प्रत्यय भी होकर तीन रूप बनेंगे । इन दोनों प्रत्ययों के रूप में कोई भेद नहीं है केवल स्वर में ही भेद है ॥ 'श्वस् तुट् ठक्' इस अवस्था में *न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां०* (७।३।३) से वृद्धि निषेध तथा पूर्व को ऐच् आगम होकर शौवस्तिक बन गया है ।

संधिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण् ॥४।३।१६॥

सं······भ्यः ५।३॥ अण् १।१॥ *स०*—संधिवेला आदिर्येषां ते संधिवेलादयः, संधिवेलादयश्च ऋतुश्च नक्षत्रं च, 'संधिवेलाद्यृतुनक्षत्राणि,

तेभ्यः ..... बहुव्रीहिगर्भेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—कालात्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—संधिवेलादिभ्यः, ऋतुवाचिभ्यः, नक्षत्रवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽण् प्रत्ययो भवति शैषिकः। *कालाट्ठञ्* इति ठञि प्राप्ते वचनम्॥ *उदा०*—सांधिवेलम्। सान्ध्यम्। ऋतुभ्यः—ग्रैष्मम्, शैशरम्। नक्षत्रेभ्यः—तैषम्, पौषम्॥

भाषार्थः—[*संधिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्यः*] संधिवेलादि गण पठित शब्दों से तथा ऋतुवाची एवं नक्षत्रवाची शब्दों से [*अण्*] अण् प्रत्यय होता है॥ ये सब कालविशेषवाची शब्द हैं, अतः *कालाट्ठञ्* से ठञ् प्राप्त था उसका यह अपवाद है॥

प्रावृष एण्यः ॥४।३।१७॥

प्रावृषः ५।१॥ एण्यः १।१॥ *अनु०*—कालात्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—प्रावृष् प्रातिपदिकाच्छैषिक एण्यः प्रत्ययो भवति॥ प्रावृट्शब्द ऋतुवाची, तस्मादण् प्राप्तस्तस्याऽपवादः॥ *उदा०*—प्रावृषेण्यो मेघः॥

भाषार्थः—[*प्रावृषः*] प्रावृष् प्रातिपदिक से शैषिक [*एण्यः*] एण्य प्रत्यय होता है॥ प्रावृष् शब्द-ऋतुवाची है अतः उससे पूर्व सूत्र से अण् प्राप्त था उसका यह अपवाद है॥

वर्षाभ्यष्ठक् ॥४।३।१८॥

वर्षाभ्यः ५।३॥ ठक् १।१॥ *अनु०*—कालात्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—ऋतुवाचिनो वर्षाप्रातिपदिकात् ठक् प्रत्ययो भवति॥ ऋत्वणोऽपवादः॥ *उदा०*—वार्षिकं गोमयम्, वार्षिकमनुलेपनम्॥

भाषार्थः—ऋतुवाची [*वर्षाभ्यः*] वर्षा प्रातिपदिक से शैषिक [*ठक्*] ठक् प्रत्यय होता है॥ यह सूत्र ४।३।१६ का अपवाद है। वर्षा शब्द बहुवचनान्त होता है यह बात इस सूत्र में बहुवचन निर्देश से व्यक्त होती है॥

यहाँ से '*वर्षाभ्यः*' की अनुवृत्ति ४।३।१९ तक जायेगी॥

छन्दसि ठञ् ॥४।३।१९॥

छन्दसि ७।१॥ ठञ् १।१॥ *अनु०*—वर्षाभ्यः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—वर्षाप्रातिपदिकाच्छन्दसि विषये ठञ् प्रत्ययो भवति ॥ स्वरे विशेषः । *उदा०*—नभश्च नभस्यश्च वार्षिकौ ऋतू ॥

भाषार्थः—वर्षा प्रातिपदिक से [*छन्दसि*] वेद विषय में [*ठञ्*] ठञ् प्रत्यय होता है ॥ ठक् और ठञ् में स्वर का ही भेद है, रूप का नहीं ॥

यहाँ से '*छन्दसि*' की अनुवृत्ति ४।३।२१ तक तथा '*ठञ्*' की अनुवृत्ति ४।३।२२ तक जायेगी ॥

वसन्ताच्च ॥४।३।२०॥

वसन्तात् ५।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—छन्दसि, ठञ्, कालात्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—वसन्तप्रातिपदिकाच्छन्दसि विषये ठञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—मधुश्च माधवश्च वासन्तिकौ ऋतू ॥

भाषार्थः—कालवाची [*वसन्तात्*] वसन्त प्रातिपदिक से [*च*] भी वेद विषय में ठञ् प्रत्यय होता है ॥

हेमन्ताच्च ॥४।३।२१॥

हेमन्तात् ५।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—छन्दसि, ठञ्, कालात्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—कालवाचिनो हेमन्तशब्दाच्छैषिकष्ठञ् प्रत्ययो भवति छन्दसि विषये ॥ *उदा०*—सहश्च सहस्यश्च हैमन्तिकौ ऋतू ॥

भाषार्थः—कालवाची [*हेमन्तात्*] हेमन्त शब्द से [*च*] भी वेद विषय में ठञ् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*हेमन्तात्*' की अनुवृत्ति ४।३।२२ तक जायेगी ।

सर्वत्राण् च तलोपश्च ॥४।३।२२॥

सर्वत्र अ० ॥ अण् १।१॥ च अ० ॥ तलोपः १।१॥ च अ० ॥ *स०*—तस्य लोपस्तलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—हेमन्तात्, ठञ्, कालात्,

शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—हेमन्त-शब्दाद् अणठञौ प्रत्ययौ भवतः, अणि परतो हेमन्तशब्दस्य तकारलोपश्च भवति सर्वत्र=छन्दसि भाषायां च ॥ *उदा०*—हैमनं वासः, हैमनमनुलेपनम्। ठञ्—हैमन्तिकम् ॥

भाषार्थः—हेमन्त प्रातिपदिक से [*सर्वत्र*] वैदिक तथा लौकिक प्रयोग में [*अण्*] अण् [*च*] तथा ठञ् प्रत्यय होते हैं तथा उस अण् के परे रहते हेमन्त शब्द के [*तलोपः*] तकार का लोप [*च*] भी होता है ॥ हेमन्त अण् = हैमन्+अ = हैमनं बन गया। ठञ् परे रहते हैमन्तिकं बन गया।

सायंचिरंप्राह्णेप्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्युट्युलौ तुट् च ॥४।३।२३॥

सायं......भ्यः ५।३॥ ट्युट्युलौ १।२॥ तुट् १।१॥ च अ० ॥ *स०*—सायं० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। ट्युश्च ट्युल् च ट्युट्युलौ इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—कालात्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सायं, चिरं, प्राह्णे, प्रगे, इत्येतेभ्यः कालवाचिभ्योऽव्ययेभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः ट्युट्युल् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः, तुट् चागमो भवति तयोः ॥ *उदा०*—सायंतनम् चिरंतनम् प्राह्णेतनम् प्रगेतनम्। अव्ययेभ्यः—दिवातनम् दोषातनम् ॥

भाषार्थः—कालवाची [*सायं......भ्यः*] सायं, चिरं, प्राह्णे, प्रगे तथा अव्यय प्रातिपदिकों से [*ट्युट्युलौ*] ट्यु तथा ट्युल् प्रत्यय होते हैं, तथा इन प्रत्ययों को [*तुट् च*] तुट् आगम भी होता है ॥

उदा०—सायंतनम् (दिन के अन्त में हुआ), चिरंतनम् (पुराना), प्राह्णेतनम् (दिन के पहले प्रहर में हुआ), प्रगेतनम् (बहुत प्रातः काल में होने वाला), दिवातनम् (दिन में होने वाला), दोषातनम् (रात्रि में होने वाला) ॥

षो अन्तकर्मणि धातु से घञ् प्रत्यय करके 'साय' रूप बनता है, उसी को मकारान्तत्व निपातन से करके सायंतनम् बना है ॥

यहाँ से '*ट्युट्युलौ तुट्*' की अनुवृत्ति ४।३।२४ तक जायेगी ॥

विभाषा पूर्वाह्णापराह्णाभ्याम् ॥४।३।२४॥

विभाषा १।१॥ पूर्वा...भ्याम् ५।२॥ *स०*—पूर्वा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—ट्युट्युलौ, तुट्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः,

परश्च ॥ *अर्थः*—कालवाचिभ्यां पूर्वाह्ण अपराह्ण शब्दाभ्यां विभाषा शैषिकौ ट्युट्युलौ प्रत्ययौ भवतस्तयोश्च तुडागमो भवति ॥ *उदा०*—पूर्वाह्णे तनम् पौर्वाह्णिकम् । अपराह्णे तनम् आपराह्णिकम् ॥

भाषार्थः—कालवाची [*पू······भ्याम्*] पूर्वाह्ण अपराह्ण शब्दों से [*विभाषा*] विकल्प से शैषिक ट्यु तथा ट्युल् प्रत्यय होते हैं तथा उन ट्यु ट्युल् प्रत्ययों को तुट् आगम भी होता है। पक्ष में *कालाट्ठञ्* से ठञ् होगा ॥ अहन् को अह्न आदेश *अह्नो ऽह्न एतेभ्यः* (५।४।८८) से तथा समासान्त टच् प्रत्यय *राजाहः सखिभ्यष्टच्* (५।४।६१) से टच् एवं *अह्नोऽदन्तात्* (८।४।७) से अह्न के न को ण होगा ॥

तत्र जातः ॥४।३।२५॥

तत्र अ० ॥ जातः १।१॥ *अनु०*—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तत्रेति सप्तमीसमर्थात् प्रातिपदिकात् जात इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—राष्ट्रे जातः = राष्ट्रियः अवारपारीणः, ग्राम्यः, ग्रामीणः, कात्त्रेयकः । स्रुघ्ने जातः = स्रौघ्नः, माथुरः ॥

भाषार्थः—[*तत्र*] सप्तमी समर्थ प्रातिपदिकों से [*जातः*] उत्पन्न हुआ इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है ॥ *राष्ट्रावारपा०* (४।२।६२) से घ प्रत्यय होकर राष्ट्रियः, *ग्रामाद्यखञौ* (४।२।९३) से य और खञ् प्रत्यय होकर ग्राम्यः ग्रामीणः एवं *कत्र्यादिभ्यो०* (४।२।६४) से ढकञ् प्रत्यय जात अर्थ में होकर कात्त्रेयकः बना है ॥

यहाँ से '*तत्र*' की अनुवृत्ति ४।३।५१ तक तथा '*जातः*' की अनुवृत्ति ४।३।३७ तक जायेगी ॥

प्रावृषष्ठप् ॥४।३।२६॥

प्रावृषः ५।१॥ ठप् १।१॥ *अनु०*—तत्र जातः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थात् प्रावृट् प्रातिपदिकाज्जातार्थे ठप् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—प्रावृषि जातः प्रावृषिकः ।

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*प्रावृषः*] प्रावृष् प्रातिपदिक से 'उत्पन्न हुआ' इस अर्थ में [*ठप्*] ठप् प्रत्यय होता है ॥ सामान्यतया *प्रावृष*

एण्यः (४।३।१७) सूत्र से शैपिक एण्य प्रत्यय प्राप्त था, उसका यह बाधक है। जात अर्थ में प्रावृष् शब्द से ठप् ही होगा, शेष *तत्र भवः* (४।३।५३) आदि अर्थों में एण्य होगा ॥ *उदा०*—प्रावृषिकः (वर्षा ऋतु में हुआ कदम्ब का वृक्ष) ॥

संज्ञायां शरदो वुञ् ॥४।३।२७॥

संज्ञायां ७।१॥ शरदः ५।१॥ वुञ् १।१॥ *अनु०*—तत्र जातः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमी-समर्थात् शरन्प्रातिपदिकात् संज्ञायां विषये जातार्थे वुञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—शरदि जाताः = शारदकाः दर्भाः, शारदकाः मुद्गाः ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*शरदः*] शरद् प्रातिपदिक से जात अर्थ में [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय होने पर [*वुञ्*] वुञ् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*संज्ञायाम्*' की अनुवृत्ति ४।३।२८ तक जायेगी ॥

पूर्वाह्णापराह्णार्द्रामूलप्रदोषावस्कराद्वुन् ॥४।३।२८॥

पू.....रात् ५।१॥ वुन् १।१॥ *स०*—पूर्वा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—संज्ञायाम्, तत्र जातः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—पूर्वाह्ण, अपराह्ण, आर्द्रा, मूल, प्रदोष, अवस्कर इत्येतेभ्यः सप्तमीसमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो जातार्थे वुन् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—पूर्वाह्णकः, अपराह्णकः, आर्द्रकः, मूलकः, प्रदोषकः, अवस्करकः ॥

भाषार्थः—[*पू.....करात्*] पूर्वाह्ण, अपराह्ण आदि सप्तमी समर्थ प्रातिपदिकों से जात अर्थ में [*वुन्*] वुन् प्रत्यय होता है ॥

पूर्वाह्ण, अपराह्ण शब्दों से *विभाषा पूर्वा०* (४।३।२४) से ट्यु, ट्युल् प्रत्यय प्राप्त थे उनका यह बाधक है। जात अर्थ में पूर्वाह्ण अपराह्ण शब्दों से वुन् ही होगा, शेष भव आदि अर्थों में ट्यु, ट्युल् होंगे। आर्द्रा तथा मूल नक्षत्रवाची शब्द हैं सो इनसे भी ४।३।१६ से अण् प्राप्त था, जात अर्थ में वुन् कर दिया, शेष भवादि अर्थों में अण् ही होगा। प्रदोष शब्द से भी ४।३।१४ से ठञ् प्राप्त था, जातार्थ में वुन् कह दिया तथा अवस्कर शब्द से औत्सर्गिक अण् की प्राप्ति में वुन् का विधान किया है ॥

यहाँ से 'वुन्' की अनुवृत्ति ४।३।३० तक जायेगी ॥

पथः पन्थ च ॥४।३।२९॥

पथः ५।१॥ पन्थ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ *अनु०*—वुन्, तत्र जातः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थात् पथिन्प्रातिपदिकात् वुन् प्रत्ययो भवति, प्रत्ययसन्नियोगेन पथिन्शब्दस्य पन्थ इत्ययमादेशश्च भवति, तत्र जात इत्येतस्मिन् विषये ॥ *उदा०*—पथि जातः पन्थकः ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*पथः*] पथिन् प्रातिपदिक से वुन् प्रत्यय होता है, तत्र जात अर्थ में, प्रत्यय के साथ साथ पथिन् को [*पन्थ*] पन्थ आदेश [*च*] भी होता है ॥

अमावास्याया वा ॥४।३।३०॥

अमावास्यायाः ५।१॥ वा अ० ॥ *अनु०*—वुन्, तत्र जातः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थात् अमावास्याप्रातिपदिकाज्जातार्थे विकल्पेन वुन् प्रत्ययो भवति। अमावास्याशब्दः संधिवेलादिषु पठ्यते, तस्मात् पक्षेऽणपि भवति ॥ *उदा०*—अमावास्यकः। पक्षे अण्—आमावास्यः ॥

भाषार्थः—[*अमावास्यायाः*] सप्तमी समर्थ अमावास्या प्रातिपदिक से जात अर्थ में वुन् प्रत्यय [*वा*] विकल्प से होता है ॥ अमावास्या शब्द सन्धिवेलादि गण में पढ़ा है, अतः उससे पक्ष में ४।३।१६ से अण् होगा ॥

यहाँ से '*अमावास्यायाः*' की अनुवृत्ति ४।३।३१ तक जायेगी ॥

अ च ॥४।३।३१॥

अ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः। च अ० ॥ *अनु०*—अमावास्यायाः, तत्र जातः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अमावास्याप्रातिपदिकात् अकारप्रत्ययोऽपि भवति तत्र जात इत्येतस्मिन् विषये ॥ *उदा०*—अमावास्यः ॥

भाषार्थः—अमावास्या प्रातिपदिक से *तत्र जातः* विषय में [*अ*] अ प्रत्यय [*च*] भी होता है ॥ अण् तथा अ में वृद्धि की विशेषता है ॥

सिन्ध्वपकराभ्यां कन् ॥४।३।३२॥

सि···भ्याम् ५।२॥ कन् १।१॥ *स०*—सिन्ध्व० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्र जातः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सिन्धु, अपकर इत्येताभ्यां सप्तमीसमर्थाभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां जातार्थे कन् प्रत्ययो भवति ॥ सिन्धुशब्दः कच्छादिषु पठ्यते तस्मादण्वुञोरपवादः ॥ *उदा०*—सिन्धुकः, अपकरकः ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*सिन्ध्वपकाराभ्याम्*] सिन्धु तथा अपकर शब्दों से जातार्थ में [कन्] कन् प्रत्यय होता है ॥ सिन्धु शब्द कच्छादिगण में पठित है सो ४।२।१३२, १३३ से प्राप्त अण् तथा वुञ् का यह अपवाद है, अपकर शब्द से भी औत्सर्गिक अण् प्राप्त था, जातार्थ में कन् ही होगा। शेष भवादि अर्थों में अण्, वुञ् होंगे ॥

यहाँ से '*सिन्ध्वपकराभ्याम्*' की अनुवृत्ति ४।३।३३ तक जायेगी ॥

अणञौ च ॥४।३।३३॥

अणञौ १।२॥ च अ० ॥ *स०*—अण् च अञ् च अणञौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सिन्ध्वपकराभ्यां, तत्र जातः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सिन्ध्वपकरशब्दाभ्यां, तत्र जात इत्येतस्मिन् विषये यथासंख्यमण्, अञ् इत्येतौ प्रत्ययावपि भवतः ॥ *उदा०*—सैन्धवः, आपकरः ॥

भाषार्थः—सिन्धु, अपकर शब्दों से यथासङ्ख्य करके [*अणञौ*] अण् तथा अञ् प्रत्यय [च] भी होते हैं, तत्र जातः इस विषय में ॥ अण् तथा अञ् में स्वर का ही भेद है ॥

श्रविष्ठाफल्गुन्यनुराधास्वातितिष्यपुनर्वसुहस्तविशाखाषाढाबहुलाल्लुक् ॥४।३।३४॥

श्रवि·····बहुलात् ५।१॥ लुक् १।१॥ *स०*—श्रवि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्र जातः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—श्रविष्ठा, फल्गुनी, अनुराधा, स्वाति, तिष्य, पुनर्वसु, हस्त, विशाखा, अषाढा, बहुल इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो जातार्थे

उत्पन्नस्य प्रत्ययस्य लुग् भवति ॥ *उदा०*—श्रविष्ठासु जातः श्रविष्ठः फल्गुनः अनुराधः स्वातिः तिष्यः पुनर्वसुः, हस्तः, विशाखः, अषाढः बहुलः ॥

भाषार्थः—[*श्रवि······लात्*] श्रविष्ठा आदि प्रातिपदिकों से जातार्थ में उत्पन्न प्रत्यय का लुक् [लुक्] होता है ॥ *तत्र जातः* (४।३।२५) से उत्पन्न औत्सर्गिक अण् का प्रकृत सूत्र से लुक् होता है, अण् के लुक् होने पर *लुक्तद्धितलुकि* (१।२।४९) से श्रविष्ठा आदियों के स्त्री प्रत्यय टाप् आदि का भी लुक् होता है ॥

यहाँ से 'लुक्' की अनुवृत्ति ४।३।३७ तक जायेगी ॥

स्थानान्तगोशालखरशालाच्च ॥४।३।३५॥

स्था·······लात् ५।१॥ च अ० ॥ *स०*—स्थानमन्ते यस्य स स्थानान्तः, बहुव्रीहिः—स्थानान्तश्च गोशालश्च खरशालश्च, स्था ···· लम् तस्मात्·····समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—लुक्, तत्र जातः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—स्थानान्तात् गोशालात् खरशालाच्च प्रातिपदिकात् जातार्थे उत्पन्नस्य प्रत्ययस्य लुग् भवति ॥ *उदा०*—गोस्थाने जातः गोस्थानः, अश्वस्थानः, गोशालः, खरशालः ॥

भाषार्थः—[*स्थाना·····लात्*] स्थान शब्द अन्त वाले, तथा गोशाल खरशाल प्रातिपदिकों से [च] भी जातार्थ में उत्पन्न जो प्रत्यय उसका लुक् होता है ॥ पूर्ववत् अण् प्रत्यय का लुक् यहाँ हुआ है ॥

वत्सशालाभिजिदश्वयुक्शतभिषजो वा ॥४।३।३६॥

वत्स·····षजः ५।१॥ वा अ० ॥ *स०*—वत्स० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—लुक्, तत्र जातः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—वत्सशाल, अभिजित्, अश्वयुज्, शतभिषज् इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो जातार्थे उत्पन्नस्य प्रत्ययस्य वा लुक् भवति ॥ पक्षे अणः श्रवणं भविष्यति ॥ *उदा०*— वत्सशालायां जातः—वत्सशालः वात्सशालः । अभिजित्, आभिजितः । अश्वयुक्, आश्वयुजः । शतभिषक्, शातभिषजः ॥

भाषार्थः—[*वत्स......जः*] वत्सशाल, अभिजित्, अश्वयुज्, शतभिषज् इन प्रातिपदिकों से जातार्थ में उत्पन्न प्रत्यय का [*वा*] विकल्प करके लुक् हो जाता है ॥

नक्षत्रेभ्यो बहुलम् ॥४।३।३७॥

नक्षत्रेभ्यः ५।३॥ बहुलम् १।१॥ *अनु०*—लुक्, तत्र जातः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—नक्षत्रवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो जातार्थे विहितस्य प्रत्ययस्य बहुलं लुक् भवति ॥ *उदा०*—भरण्यां जातः = भरणः, भारणः। रोहिणः, रौहिणः। मृगशिराः मार्गशीर्षः ॥

भाषार्थः—[*नक्षत्रेभ्यः*] नक्षत्रवाची प्रातिपदिकों से जातार्थ में उत्पन्न प्रत्यय का [*बहुलम्*] बहुल करके लुक् होता है ॥ बहुल कहने से पक्ष में लुक् नहीं भी हुआ ॥ *लुक्तद्धित०* (१।२।४९) से स्त्रीप्रत्यय का भी लुक् हो जायेगा। *ये च तद्धिते* (६।१।६०) में चकार ग्रहण करने से यहाँ भी शिरस् को शीर्ष भाव हो जायेगा ॥

कृतलब्धक्रीतकुशलाः ॥४।३।३८॥

कृत......शलाः १।३॥ *स०*—कृतश्च लब्धश्च क्रीतश्च कुशलश्च कृ... शलाः, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्र, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थात् प्रातिपदिकात् कृत, लब्ध, क्रीत, कुशल इत्येतेष्वर्थेषु यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—स्रुघ्ने कृतः, लब्धः, क्रीतः, कुशलो वा स्रौघ्नः माथुरः। एवं राष्ट्रियः ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ प्रातिपदिक से [*कृ......शलाः*] कृत = किया हुआ, लब्ध = पाया हुआ, क्रीत = खरीदा हुआ, तथा कुशल इन अर्थों में यथाविहित (जिससे जो विहित हो) प्रत्यय होते हैं। स्रौघ्नः माथुरः में औत्सर्गिक अण् तथा राष्ट्रियः में शैषिक ४।२।९२ से घ प्रत्यय हुआ है ॥

प्रायभवः ॥४।३।३९॥

प्रायभवः १।१॥ *अनु०*—तत्र, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थात् प्रातिपदिकात् प्रायभवः इत्ये-

तस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—स्रुघ्ने प्रायेण (बाहुल्येन) भवति स्रौघ्नः, माथुरः, राष्ट्रियः ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ प्रातिपदिक से [*प्रायभवः*] प्रायः करके होता है, इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है ॥ जो प्रायः करके हो वह 'प्रायभव' कहाता है। यथा जो स्रुघ्न देश में प्रायः करके रहे हमेशा नहीं वह स्रौघ्नः कहायेगा ॥

यहाँ से *प्रायभवः* की अनुवृत्ति ४।३।४० तक जायेगी ॥

उपजानूपकर्णोपनीवेष्ठक् ॥४।३।४०॥

उप····पनीवेः ५।१॥ ठक् १।१॥ *स०*—उप० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—प्रायभवः, तत्र, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—उपजानु, उपकर्ण, उपनीवि इत्येतेभ्यः सप्तमीसमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः प्रायभव इत्येतस्मिन् विषये ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—औपजानुकः औपकर्णिकः औपनीविकः ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*उप··वेः*] उपजानु आदि शब्दों से प्रायभवः इस अर्थ में [*ठक्*] ठक् प्रत्यय होता है ॥ औपजानुकः में 'ठ' को 'क' *इसुसुक्तान्तात् कः* (७।३।५१) से हुआ है, अन्यत्र ७।३।५० से ठ को इक् हुआ है ॥

संभूते ॥४।३।४१॥

संभूते ७।१॥ *अनु०*—तत्र, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थात् प्रातिपदिकात् संभूत इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—स्रुघ्ने सम्भवति स्रौघ्नः, माथुरः, राष्ट्रियः ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ प्रातिपदिक से [*संभूते*] संभूत = सम्भव इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है ॥ स्रुघ्न में होना जिसका सम्भव हो वह भी स्रौघ्नः कहलायेगा ॥

यहाँ से '*सम्भूते*' की अनुवृत्ति ४।३।४२ तक जायेगी ॥

कोशाड्ढञ् ॥४।३।४२॥

कोशात् ५।१॥ ढञ् १।१॥ *अनु०*—सम्भूते, तत्र, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थात् कोशप्रा-

तिपदिकात् संभूतेऽर्थे ढञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—कोशे सम्भूतं = कौशेयं वस्त्रम् ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*कोशात्*] कोश प्रातिपदिक से सम्भूत = सम्भव अर्थ में [*ढञ्*] ढञ् प्रत्यय होता है। कौशेय रेशमी वस्त्र को कहते हैं ॥

कालात् साधुपुष्प्यत्पच्यमानेषु ॥४।३।४३॥

कालात् ५।१॥ साधु.....नेषु ७।३॥ *स०*—साधु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्र, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—कालविशेषवाचिभ्यः सप्तमीसमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः साधु, पुष्प्यत्, पच्यमान इत्येतेष्वर्थेषु यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—हेमन्ते साधुः = हैमन्तः प्राकारः, शैशिरमनुलेपनम्। वसन्ते पुष्प्यन्ति = वासन्त्यः कुन्दलताः। ग्रैष्म्यः पाटलाः। शरदि पच्यन्ते शारदाः शालयः। ग्रैष्माः यवाः।

भाषार्थः—[*कालात्*] कालवाची सप्तमीसमर्थ प्रातिपदिकों से [*साधु... नेषु*] साधु, पुष्प्यत्, पच्यमान इन अर्थों में यथाविहित प्रत्यय होता है॥ *उदा०*—हैमन्तः प्राकारः, वासन्त्यः, कुन्दलताः, शारदाः शालयः, ग्रैष्माः यवाः ॥

यहाँ से '*कालात्*' की अनुवृत्ति ४।३।५२ तक जायेगी ॥

उप्ते च ॥४।३।४४॥

उप्ते ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—कालात्, तत्र, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थात् कालवाचिनः प्रातिपदिकादुप्तार्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—हेमन्त उप्यन्ते हैमन्ता यवाः, ग्रैष्मा व्रीहयः ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ कालवाची प्रातिपदिकों से [*उप्ते*] बोया हुआ इस अर्थ में [च] भी यथाविहित प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*उप्ते*' की अनुवृत्ति ४।३।४६ तक जायेगी ॥

आश्वयुज्या वुञ् ॥४।३।४५॥

आश्वयुज्याः ५।१॥ वुञ् १।१॥ *अनु०*—उप्ते, कालात्, तत्र, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—कालविशेषवाचिनः

सप्तमीसमर्थात् आश्वयुजी प्रातिपदिकादुप्तेऽर्थे वुञ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—आश्वयुज्यामुप्ताः आश्वयुजकाः माषाः ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*आश्वयुज्याः*] आश्वयुजी प्रातिपदिक से बोया हुआ इस अर्थ में [*वुञ्*] प्रत्यय होता है ॥ अश्वयुज् अर्थात अश्विनी नक्षत्र से युक्त पौर्णमासी आश्वयुजी कहलाती है ॥

यहाँ से '*वुञ्*' की अनुवृत्ति ४।३।४६ तक जायेगी ॥

ग्रीष्मवसन्तादन्यतरस्याम् ॥४।३।४६॥

ग्री······न् ५।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *स०*—ग्रीष्म० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—वुञ्, उप्त, कालात्, तत्र, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थाभ्यां ग्रीष्मवसन्ताभ्यां कालवाचिभ्यां प्रातिपदिकाभ्याम् उप्तेऽर्थे वुञ् प्रत्ययो भवति विकल्पेन ॥ *उदा०*—ग्रैष्मकम् । पक्षे अण्—ग्रैष्मम् । वासन्तकम्, वासन्तम् ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*ग्री······न्तात्*] ग्रीष्म तथा वसन्त कालवाची प्रातिपदिकों से बोया हुआ इस अर्थ में वुञ् प्रत्यय [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से होता है ॥ पक्ष में औत्सर्गिक अण् होगा ॥

देयमृणे ॥४।३।४७॥

देयम् १।१॥ ऋणे ७।१॥ *अनु०*—कालात्, तत्र, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थात् कालवाचिनः प्रातिपदिकात् देयमित्येतस्मिन्नर्थे ऋणेऽभिधेये यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—वैशाखे देयमृणं वैशाखम् । मासे देयमृणं मासिकम्, आर्द्धमासिकम् सांवत्सरिकम् । सांवत्सरिकमित्यत्र *कालाट्ठञ्* इत्यनेन विहितः शैषिकष्ठञ् भवति । यत्तु *संवत्सराग्रहायणीभ्यां ठञ्* (४।३।५०) इति संवत्सरात् पुनः ठञ् विधानं तत् तु सन्धिवेलादिगणे पठितात् फलपर्वणोरर्थयोः प्राप्तमणं बाधितुं ज्ञेयम् ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ कालवाची प्रातिपदिकों से [*देयम्*] देने योग्य है, ऐसा कहना हो तो [*ऋणे*] ऋण अभिधेय होने पर यथाविहित प्रत्यय होता है ॥ वैशाख मास में जिस ऋण को लौटा देना है, वह वैशाखम् ऋणं होगा, इसी प्रकार औरों में भी जानें ॥

यहाँ से '*देयमृणे*' की अनुवृत्ति ४।३।५० तक जायेगी ॥

कलाप्यश्वत्थयवबुसाद् वुन् ॥४।३।४८॥

कला····सात्५।१॥ वुन् १।१॥ स०—कला० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः॥ अनु०—देयमृणे, कालात्, तत्र, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—कलापि, अश्वत्थ, यवबुस इत्येतेभ्यः कालवाचिभ्यः सप्तमीसमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो वुन् प्रत्ययो भवति देयमृणे इत्येतस्मिन् विषये ॥ यस्मिन् काले मयूराः कलापिनो भवन्ति स कलापी कालः। यस्मिन् अश्वत्थाः फलन्ति स अश्वत्थः कालः। यस्मिन् यवबुसं सम्पद्यते स यवबुसः कालः। एवं साहचर्येणेमे कालवाचकाः शब्दाः॥ *उदा०*—कलापकम्, अश्वत्थकम्, यवबुसकम् ॥

भाषार्थः—[*कला··सात्*] कलापि, अश्वत्थ यवबुस सप्तमी समर्थ कालवाची शब्दों से [*वुन्*] वुन् प्रत्यय होता है देयमृणे इस विषय में ॥ कलापि मयूर का वाचक है, एवं अश्वत्थ शब्द वृक्षवाची तथा यवबुस शब्द यव के बुस (भूसे) का वाची है। सो ये कालवाची नहीं थे, अतः प्रकृत सूत्र से प्रत्यय नहीं हो सकता था, पुनः यहाँ ये शब्द साहचर्य से कालवाची ही लिये हैं यथा—जिस समय मोरों के पङ्ख निकलते हैं वह काल कलापी एवं जिस समय अश्वत्थ (पीपल) पकता है, वह काल अश्वत्थ तथा जिस समय यव का बुस निकाला जाये, वह काल यवबुस कहाता है, इस प्रकार ये सब कालवाची शब्द हैं ॥

ग्रीष्मावरसमाद्वुञ् ॥४।३।४९॥

ग्री·····मात् ५।१॥ वुञ् १।१॥ स०—ग्रीष्मा० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः॥ अनु०—देयमृणे, कालात्, तत्र, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—सप्तमीसमर्थाभ्यां कालवाचिभ्यां ग्रीष्म, अवरसम इत्येताभ्यां शब्दाभ्यां वुञ् प्रत्ययो भवति देयमृणे इत्येतस्मिन् विषये ॥ *उदा०*—ग्रीष्मे देयमृणं ग्रैष्मकम्, आवरसमकम् ॥

भाषार्थः—[*ग्रीष्मावरसमात्*] ग्रीष्म अवरसम सप्तमीसमर्थ कालवाची प्रातिपदिकों से देयमृणे इस अर्थ में [*वुञ्*] वुञ् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से 'वुञ्' की अनुवृत्ति ४।३।५० तक जायेगी ॥

संवत्सराग्रहायणीभ्यां ठञ्च ॥४।३।५०॥

संव……भ्याम् ५।२॥ ठञ् १।१॥ च अ० ॥ स०—संव० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—वुञ्, देयमृणे, कालात्, तत्र, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—सप्तमीसमर्थाभ्यां कालवाचिभ्यां संवत्सर, आग्रहायणी प्रातिपदिकाभ्यां ठञ् प्रत्ययो भवति वुञ् च, देयमृण इत्येतस्मिन् विषये ॥ उदा०—संवत्सरे देयमृणं सांवत्सरिकम्, सांवत्सरकम् । आग्रहायणिकम्, आग्रहायणकम् ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ कालवाची [*संवत्सराग्रहायणीभ्याम्*] संवत्सर तथा आग्रहायणी प्रातिपदिकों से [ठञ्] ठञ् [च] तथा वुञ् प्रत्यय होता है ॥

व्याहरति मृगः ॥४।३।५१॥

व्याहरति क्रियापदम् ॥ मृगः १।१॥ अनु०—कालात्, तत्र, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—कालवाचिनः सप्तमीसमर्थात् प्रातिपदिकात् व्याहरति मृग इत्येतस्मिन् विषये यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—निशायां व्याहरति मृगः[1] नैशः, नैशिकः । प्रादोषः, प्रादोषिकः ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ कालवाची प्रातिपदिकों से [*व्याहरति मृगः*] मृग घूमता है, इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है ॥ *निशाप्रदोषाभ्यां च* (४।३।१४) से विकल्प से ठञ् व्याहरति मृगः अर्थ में हो गया है ॥

तदस्य सोढम् ॥४।३।५२॥

तत् १।१॥ अस्य ६।१॥ सोढम् १।१॥ अनु०—कालात्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—तदिति प्रथमासमर्थात् सोढसमानाधिकरणात् कालवाचिनः प्रातिपदिकात् षष्ठ्यर्थे यथाविहितं

---

१. इस सूत्र में मृग शब्द सामान्यरूप से समस्त जङ्गली प्राणियो के लिए प्रयुक्त हुआ है। लोक में आखेट को मृगया भी इसीलिए कहते हैं। 'मृगो न भीम.' (ऋ०१।१५४।२) इस मन्त्र में मृग को भीम भयङ्कर प्राणी कहा है। यहाँ मृग शब्द सिंह आदि का वाचक है ॥

प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—निशासहचरितमध्ययनं निशा तत्सोढमस्य-छात्रस्य = नैशिकः छात्रः, नैशो वा ॥

भाषार्थः—[*तत्*] प्रथमासमर्थ कालवाची [*सोढम्*] सोढ (सहन किया) समानाधिकरण प्रातिपदिक से [*अस्य*] षष्ठ्यर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है ॥ पूर्ववत् ४।३।१४ से ठञ् प्रत्यय विकल्प से यहाँ हुआ है ॥ निशा = रात्रि में होने वाला अध्ययन निशा, साहचर्य से कहा जायेगा, उस रात्रि के अध्ययन को जो विद्यार्थी सहन करले वह नैशिकः, नैशः कहा जायेगा ॥

तत्र भवः ॥४।३।५३॥

तत्र अ० ॥ भवः १।१॥ *अनु०*—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*- सप्तमीसमर्थात् ङ्याप्प्रातिपदिकात् भव इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—स्रुघ्ने भवः = स्रौघ्नः, माथुरः, राष्ट्रियः, शालायां भवः = शालीयः, मालीयः ॥

भाषार्थः—[*तत्र*] सप्तमीसमर्थ प्रातिपदिक से [*भवः*] होने वाला इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*तत्र भवः*' का अधिकार ४।३।७३ तक जायेगा ॥

दिगादिभ्यो यत् ॥४।३।५४॥

दिगादिभ्यः ५।३॥ यत् १।१॥ *स०*- दिक् आदिर्येषां ते दिगादयः, तेभ्यः.....बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—दिगादिभ्यः सप्तमीसमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो यत् प्रत्ययो भवति भव इत्येतस्मिन् विषये ॥ *उदा०*—दिशि भवं = दिश्यम्, वर्ग्यम् ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*दिगादिभ्यः*] दिगादि प्रातिपदिकों से भव अर्थ में [*यत्*] यत् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*यत्*' की अनुवृत्ति ४।३।५५ तक जायेगी ॥

शरीरावयवाच्च ॥४।३।५५॥

शरीरावयवात् ५।१॥ च अ० ॥ *स०*—शरीरस्य अवयवः, शरीरावयवः तस्मात्.....षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—यत्, तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः,

ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थात् शरीरस्यावयववाचिनः प्रातिपदिकात् भवार्थे यत् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*— दन्तेषु भवं = दन्त्यम्, ओष्ठ्यम्, कर्ण्यम् ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*शरीरावयवात्*] शरीर के अवयववाची (अर्थात् दन्त, ओष्ठ, नाभि आदि) प्रातिपदिकों से [च] भी भव अर्थ में यत् प्रत्यय होता है ॥

दृतिकुक्षिकलशिवस्त्यस्त्यहेर्ढञ् ॥४।३।५६॥

दृति·····स्त्यहेः ५।१॥ ढञ् १।१॥ *स०*—दृति० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—दृति, कुक्षि, कलशि, वस्ति, अस्ति, अहि, इत्येतेभ्यः सप्तमीसमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो भव इत्येतस्मिन्नर्थे ढञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—दार्त्तेयम्, कौक्षेयम्, कालशेयम्, वास्तेयम्, आस्तेयम्, आहेयम् ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*दृति·····स्त्यहेः*] दृति, कुक्षि आदि शब्दों से भव अर्थ में [*ढञ्*] ढञ् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से 'ढञ्' की अनुवृत्ति ४।३।५७ तक जायेगी ॥

ग्रीवाभ्योऽण् च ॥४।३।५७॥

ग्रीवाभ्यः ५।३॥ अण् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—ढञ्, तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*— सप्तमी समर्थात् ग्रीवाप्रातिपदिकात् भवाऽर्थे ऽणूढञौ प्रत्ययौ भवतः ॥ *उदा०*— ग्रीवासु भवं ग्रैवम्, ग्रैवेयम् ॥

भाषार्थः— सप्तमी समर्थ [*ग्रीवाभ्यः*] ग्रीवा प्रातिपदिक से भव अर्थ में [*अण्*] अण् [च] और ढञ् प्रत्यय होता है ॥ ग्रीवा शब्द धमनी का वाचक है, उनके बहुत होने से सूत्र में बहुवचन निर्देश किया है । *शरीरावयवाच्च* से यत् प्राप्त था, उसका यह अपवाद सूत्र है ॥

गम्भीराञ्ञ्यः ॥४।३।५८॥

गम्भीरात् ५।१॥ ञ्यः १।१॥ *अनु०*—तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थात् गम्भीरप्रा-

तिपदिकाद् ञ्यः प्रत्ययो भवति भवार्थे ॥ उदा०—गम्भीरे भवं=गाम्भीर्यम् ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*गम्भीरात्*] गम्भीर प्रातिपादिक से भव अर्थ में [*ञ्यः*] ञ्य प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*ञ्यः*' की अनुवृत्ति ४।३।५९ तक जायेगी ।

अव्ययीभावाच्च ॥४।३।५९॥

अव्ययीभावात् ५।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—ञ्यः, तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*- सप्तमीसमर्थाद-व्ययीभावसंज्ञकात् प्रातिपदिकात् भवार्थे ञ्यः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—परिमुखं भवं = पारिमुख्यम्, पारिहनव्यम्, पार्य्योष्ठ्यम्, ॥

भाषार्थः - सप्तमी समर्थ [*अव्ययीभावात्*] अव्ययीभाव संज्ञक प्राति-पदिक से [*च*] भी भवार्थ में ञ्य प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*अव्ययीभावात्*' की अनुवृत्ति ४।३।६१ तक जायेगी ॥

अन्तःपूर्वपदाट्ठञ् ॥४।३।६०॥

अन्तःपूर्वपदात् ५।१॥ ठञ् १।१॥ *स०*— अन्तः पूर्वपदं यस्य तदन्तः-पूर्वपदं, तस्मात् ...बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अव्ययीभावात्, तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थाद् अन्तःपूर्वपदादव्ययीभावसंज्ञकात् प्रातिपदिकात् भवार्थे ठञ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—आन्तर्वेश्मिकम्, आन्तर्गेहिकम् ॥

भाषार्थः—[*अन्तःपूर्वपदात्*] अन्तः शब्द पूर्वपद में है जिसके ऐसे सप्तमी समर्थ अव्ययीभाव संज्ञक प्रातिपदिक से [*ठञ्*] ठञ् प्रत्यय भवार्थ में होता है ॥

यहाँ से '*ठञ्*' की अनुवृत्ति ४।३।६१ तक जायेगी ॥

ग्रामात्पर्यनुपूर्वात् ॥४।३।६१॥

ग्रामात् ५।१॥ पर्य्यनुपूर्वात् ५।१॥ *स०*—परिश्च अनुश्च पर्य्यनु, पर्यनु पूर्वं यस्य स पर्यनुपूर्वः, तस्मात् ...द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—

ठञ्, अव्ययीभावात्, तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—परि, अनु पूर्वादव्ययीभावसंज्ञकात् ग्रामशब्दान्तात् प्रातिपदिकात् तत्र भव इत्येतस्मिन् विषये ठञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—पारिग्रामिकः, आनुग्रामिकः ॥

भाषार्थः—[*पर्यनुपूर्वात्*] परि, अनुपूर्वक अव्ययीभाव संज्ञक [*ग्रामात्*] ग्राम शब्दान्त सप्तमी समर्थ प्रातिपदिक से ठञ् प्रत्यय होता है, भव अर्थ में ॥

जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः ॥४।३।६२॥

जि···लेः ५।१॥ छः १।१॥ *स०*—जिह्वा० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थाभ्यां जिह्वामूल, अङ्गुलि इत्येताभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां भवार्थे छः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—जिह्वामूले भवं = जिह्वामूलीयम्, अङ्गुलीयम् ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*जिह्वामूलाङ्गुलेः*] जिह्वामूल तथा अङ्गुलि प्रातिपदिकों से भव = होने वाला इस अर्थ में [*छः*] छ प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से 'छः' की अनुवृत्ति ४।३।६३ तक जायेगी ॥

वर्गान्ताच्च ॥४।३।६३॥

वर्गान्तात् ५।१॥ च अ० ॥ *स०*—वर्गोऽन्ते यस्य स वर्गान्तस्तस्मात्···बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—छः, तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थात् वर्गान्तात् प्रातिपदिकात् भवार्थे छः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—कवर्गे भवं = कवर्गीयम्, चवर्गीयम् ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*वर्गान्तात्*] वर्ग शब्द अन्त वाले प्रातिपदिक से [*च*] भी भव अर्थ में छ प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*वर्गान्तात्*' की अनुवृत्ति ४।३।६४ तक जायेगी ॥

अशब्दे यत्खावन्यतरस्याम् ॥४।३।६४॥

अशब्दे ७।१॥ यत्खौ १।२॥ अन्यतरस्यम् ७।१॥ *स०*—अशब्दे इति नञ्तत्पुरुषः । यत्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—वर्गान्तात्, तत्र

भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थात् वर्गान्तात् प्रातिपदिकादशब्दे प्रत्ययार्थेऽभिधेये भवार्थे विकल्पेन यत्खौ प्रत्ययौ भवतः, पूर्वेण छे प्राप्ते, यत्खौ विधीयेते, पक्षे सोऽपि भवति ॥ *उदा०*—अक्रूरवर्गे भवः, अक्रूरवर्ग्यः अक्रूरवर्गीणः अक्रूरवर्गीयः । युधिष्ठिरवर्ग्यः युधिष्ठिरवर्गीणः युधिष्ठिरवर्गीयः ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ वर्गान्त प्रातिपदिक से [*अशब्दे*] अशब्द प्रत्ययार्थ अभिधेय होने पर भव अर्थ में [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से [*यत्खौ*] यत् तथा ख प्रत्यय होते हैं ॥ पूर्व सूत्र से छ प्राप्त था, अशब्द अभिधेय होने पर यत् ख विकल्प से कह दिये, पक्ष में छ भी होगा ॥

कर्णललाटात् कनलङ्कारे ॥४।३।६५॥

कर्णललाटात् ५।१॥ कन् १।१॥ अलङ्कारे ७।१॥ *स०*—कर्ण०इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थाभ्यां कर्ण-ललाट शब्दाभ्यां भवार्थेऽलङ्कारे ऽभिधेये कन् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—कर्णे भवा कर्णिका, ललाटिका ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*कर्णललाटात्*] कर्ण तथा ललाट शब्दों से भव अर्थ में [*अलङ्कारे*] अलङ्कार = आभूषण अभिधेय हो तो [*कन्*] कन् प्रत्यय होता है ॥ *शरीरावयवाच्च* से यत् की प्राप्ति थी, अलङ्कार अभिधेय होने पर कन् विधान कर दिया ॥ कर्णिका कान के आभूषण, तथा ललाटिका ललाट के आभूषण (जिसे टीका कहते हैं) को कहेंगे । स्त्रीलिङ्ग में ४।१।४ से टाप् तथा *प्रत्ययस्थात्कात्०* (७।३।४४) से इत्व भी हो जायेगा ॥

तस्य व्याख्यान इति च व्याख्यातव्यनाम्नः ॥४।३।६६॥

तस्य ६।१॥ व्याख्याने ७।१॥ इति अ० ॥ च अ० ॥ व्याख्यातव्य-नाम्नः ५।१॥ *स०*—व्याख्यातव्यस्य नाम व्याख्यातव्य नाम, तस्मात्... षष्ठीतत्पुरुषः ॥ व्याख्यायते अनेन इति व्याख्यानम् तस्मिन् ॥ *अनु०*—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—

तस्येति षष्ठीसमर्थात् व्याख्यातव्यनामवाचिनः प्रातिपदिकात् व्याख्याने अभिधेये यथाविहितं प्रत्ययो भवति, सप्तमीसमर्थात् भवार्थे च॥ उदा०—सुपां व्याख्यानो ग्रन्थः सौपः। कृतां व्याख्यानो ग्रन्थः = कार्त्तः। तैङः। एवं सुप्सु भवं सौपं, कार्त्तं, तैङम्॥

भाषार्थः—[*तस्य*] षष्ठी समर्थ [*व्याख्यातव्यनाम्नः*] व्याख्यान किये जाने योग्य जो प्रातिपादिक हैं, उनसे [*व्याख्यान इति*] व्याख्यान अभिधेय होने पर यथाविहित प्रत्यय होता है [*च*] तथा सप्तमी समर्थ व्याख्यातव्यनामवाची शब्दों से भवार्थ में भी यथाविहित प्रत्यय होता है॥

सुप्, कृत्, तिङ् व्याख्यान किये जाने योग्य प्रातिपदिक हैं, सो इनसे व्याख्यान अभिधेय होने पर यथाविहित औत्सर्गिक अण् हो गया है॥ वि+आ पूर्वक ख्या धातु से तव्य प्रत्यय (३।१।९६) होकर व्याख्यातव्य (व्याख्यान किया जाने योग्य) बना है॥ व्याख्यातव्य का जो नाम = प्रातिपदिक वह व्याख्यातव्यनाम हुआ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ४।३।७३ तक जायेगी॥

बह्वचोऽन्तोदात्ताट्ठञ्॥४।३।६७॥

बह्वचः ५।१॥ अन्तोदात्तात् ५।१॥ ठञ् १।१॥ *स०*—बह्वोऽचो यस्मिन् स बह्वच् तस्मात् "बहुव्रीहिः। *अनु०*—तस्य व्याख्यान इति च व्याख्यातव्यनाम्नः, तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—बह्वचोऽन्तोदात्तात् व्याख्यातव्यनाम्नः प्रातिपदिकात् भवव्याख्यानयोरर्थयोः ठञ् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—षत्वणत्वयोः (८।२) व्याख्यानं षात्वणत्विकम्। षत्वणत्वयोः (८।२) भवम् षात्वणत्विकम्। वार्त्तिकिकम्॥

भाषार्थः—व्याख्यान और भव अर्थ में षष्ठी और सप्तमी समर्थ [*बह्वचः*] बहुत अच् वाले [*अन्तोदात्तात्*,] अन्तोदात्त व्याख्यातव्यनाम प्रातिपदिकों से [*ठञ्*] ठञ् प्रत्यय होता है॥ षत्वणत्व आदि शब्द *समासस्य* (६।१।२१७) से अन्तोदात्त हैं॥

यहाँ से 'ठञ्' की अनुवृत्ति ४।३।६८ तक जायेगी॥

क्रतुयज्ञेभ्यश्च ॥४।३।६८॥

क्रतुयज्ञेभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ स०—क्रतवश्च यज्ञाश्च, क्रतुयज्ञाः, तेभ्य इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—ठञ्, तस्य व्याख्यान इति च व्याख्यातव्यनाम्नः, तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—क्रतुवाचिभ्यो यज्ञवाचिभ्यश्च षष्ठीसप्तमीसमर्थेभ्यो व्याख्यातव्यनामप्रातिपदिकेभ्यो भवव्याख्यानयोरर्थयोः ठञ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—क्रतुभ्यः—अग्निष्टोमस्य व्याख्यानो ग्रन्थः, अग्निष्टोमे भवो वा = आग्निष्टोमिकः, राजसूयिकः, वाजपेयिकः । यज्ञेभ्यः—पाकयज्ञिकः, नावयज्ञिकः ॥

भाषार्थः—[क्रतुयज्ञेभ्यः] क्रतुवाची और यज्ञवाची व्याख्यातव्यनाम षष्ठी तथा सप्तमी समर्थ प्रातिपदिकों से [च] भी व्याख्यान और भव अर्थों में ठञ् प्रत्यय होता है ॥ क्रतु यज्ञ विशेष होते हैं ॥

अध्यायेष्वेवर्षेः ॥४।३।६९॥

अध्यायेषु ७।३॥ एव अ० ॥ ऋषेः ५।१॥ अनु०—ठञ्, तस्य व्याख्यान इति च व्याख्यातव्यनाम्नः, तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—षष्ठीसप्तमीसमर्थेभ्यो व्याख्यातव्यनामभ्य ऋषिवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो भवव्याख्यानयोरर्थयोः, अध्यायेष्वेवाभिधेयेषु ठञ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—वसिष्ठस्य ग्रन्थस्य व्याख्यानः, तत्र भवो वा वासिष्ठिकोऽध्यायः । वैश्वामित्रिकोऽध्यायः ॥

भाषार्थः—षष्ठी तथा सप्तमी समर्थ व्याख्यातव्यनाम [ऋषेः] ऋषिवाची प्रातिपदिकों से भव, व्याख्यान अर्थों में [अध्यायेषु] अध्याय गम्यमान होने पर [एव] ही ठञ् प्रत्यय होता है ॥ वसिष्ठ तथा विश्वामित्र शब्द ऋषिवाची हैं, तत्सहचरित ग्रन्थ भी वसिष्ठ, विश्वामित्र कहे जायेंगे, अतः व्याख्यातव्यनाम हैं ही सो ठञ् हो गया है ॥

पौरोडाशपुरोडाशात् ष्ठन् ॥४।३।७०॥

पौरोडाशपुरोडाशात् ५।१॥ ष्ठन् १।१॥ पौरो० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—तस्य व्याख्यान इति च व्याख्यातव्यनाम्नः, तत्र भवः, शेषे,

तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसप्तमी:-समर्थाभ्यां व्याख्यातव्यनामभ्यां पौरोडाश पुरोडाश प्रातिपदिकाभ्यां भवव्याख्यानयोरर्थयोः ष्ठन् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—पुरोडाशाः पिष्टपिण्डास्तेषां संस्कारको मन्त्रः पौरोडाशस्तस्य व्याख्यानस्तत्र भवो वा पौरोडाशिकः पौरोडाशिकी। एवं पुरोडाशसहचरितो ग्रन्थः = पुरोडाशः, तस्य व्याख्यानस्तत्र भवो वा पुरोडाशिकः पुरोडाशिकी॥

भाषार्थः—षष्ठी, सप्तमी समर्थ [*पौ···शात्*] पौरोडाश, पुरोडाश व्याख्यातव्यनाम प्रातिपदिकों से भव और व्याख्यान अर्थों में [*ष्ठन्*] ष्ठन् प्रत्यय होता है॥

यज्ञ कार्य में चावल या जौ के आटे को गरम पानी में गूँथकर जो बाटी के सदृश पिण्ड बनाया जाता है, उसे पुरोडाश कहते हैं॥

छन्दसो यदणौ ॥४।३।७१॥

छन्दसः ५।१॥ यदणौ १।२॥ *स०*—यत् च अण् च यदणौ, इतरेतर-द्वन्द्वः॥ *अनु०*—तस्य व्याख्यान इति च व्याख्यातव्यनाम्नः, तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—षष्ठी-सप्तमीसमर्थात् व्याख्यातव्यनाम्नः छन्दसः प्रातिपदिकात् भवव्याख्या-नयोरर्थयोर्यत्, अण् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः॥ *उदा०*—छन्दसः व्याख्यानः तत्र भवो वा = छन्दस्यः, छान्दसः॥

भाषार्थः—षष्ठी-सप्तमी समर्थ व्याख्यातव्यनाम [*छन्दसः*] छन्दस् प्रातिपदिक से भव और व्याख्यान अर्थों में [*यदणौ*] यत् और अण् प्रत्यय होते हैं॥ अगले सूत्र से छन्दस् शब्द के द्व्यच् होने से ठक् की प्राप्ति में यह विधान है॥

द्व्यजृद्ब्राह्मणर्क्प्रथमाध्वरपुरश्चरणनामाख्याताट्ठक्॥४।३।७२॥

द्व्य·····तात् ५।१॥ ठक् १।१॥ *स०*—द्वौ अचौ यस्मिन् स द्व्यच्, बहुव्रीहिः। द्व्यच् च ऋत् च ब्राह्मणश्च ऋक् च प्रथमश्च अध्वरश्च पुरश्चरणश्च नाम च आख्यातञ्च, द्व्यजृ·····ख्यातम्, तस्मात्····· समाहारो द्वन्द्वः॥ *अनु०*—तस्य व्याख्यान इति च व्याख्यातव्यनाम्नः, तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥

अर्थः—षष्ठीसप्तमीसमर्थेभ्यो व्याख्यातव्यनामभ्यो द्व्यच् ऋत् (ऋकारान्त) ब्राह्मण, ऋक्, प्रथम, अध्वर, पुरश्चरण, नाम, आख्यात इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो भवव्याख्यानयोरर्थयोः ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—द्व्यचः—वेदस्य व्याख्यानो ग्रन्थः तत्र भवो वा वैदिकः, ऐष्टिकः। ऋकारान्तेभ्यः—पाञ्चहोतृकः, चातुर्होतृकः। प्राथमिकः। आध्वरिकः। पौरश्चरणिकः। नामिकः। आख्यातिकः ॥

भाषार्थः—षष्ठी तथा सप्तमी समर्थ व्याख्यातव्यनाम जो [*द्व्यजृ···तात्*] द्व्यच् = दो अच् वाले प्रातिपदिक तथा ऋकारान्त, ब्राह्मण, ऋक्, प्रथम, अध्वर, पुरश्चरण, नाम, आख्यात प्रातिपदिक उनसे भव व्याख्यान अर्थों में [*ठक्*] ठक् प्रत्यय होता है ॥

अणृगयनादिभ्यः ॥४।३।७३॥

अण् १।१॥ ऋगयनादिभ्यः ५।३॥ *स०*—ऋगयन आदिर्येषां ते ऋगयनादयः, तेभ्यः, बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—तस्य व्याख्यान इति च व्याख्यातव्यनाम्नः, तत्र भवः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसप्तमीसमर्थेभ्यः व्याख्यातव्यनामभ्यः ऋगयनादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो भवव्याख्यानयोरर्थयोः, अण् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—ऋगयनस्य व्याख्यानः तत्र भवो वा आर्गयनः, पादव्याख्यानः ॥

भाषार्थः—षष्ठी-सप्तमी समर्थ व्याख्यातव्यनाम [*ऋगयनादिभ्यः*] जो ऋगयनादि प्रातिपदिक उनसे भव और व्याख्यान अर्थों में [*अण्*] अण् प्रत्यय होता है ॥

तत आगतः ॥४।३।७४॥

ततः अ० ॥ आगतः १।१॥ *अनु०*—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थ*—पञ्चमीसमर्थात् प्रातिपदिकादागत इत्येतस्मिन् अर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—स्रुघ्नादागतः स्रौघ्नः, माथुरः, राष्ट्रियः ॥

भाषार्थः—[*ततः*] पञ्चमी समर्थ प्रातिपदिक से [*आगतः*] आया हुआ इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*आगतः*' की अनुवृत्ति ४।३।८२ तक तथा '*ततः*' की अनुवृत्ति ४।३।८४ तक जायेगी ॥

ठगायस्थानेभ्यः ॥४।३।७५॥

ठक् १।१॥ आयस्थानेभ्यः ५।३॥ *अनु०*—तत आगतः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—पञ्चमीसमर्थेभ्य आयस्थानवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्य आगत इत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ आय इति स्वामिग्राह्यो भाग उच्यते। स यस्मिन्नुत्पद्यते तद् आयस्थानम् ॥ *उदा०*—शुल्कशालाया आगतः = शौल्कशालिकः, आकरिकम् ॥

भाषार्थः—पञ्चमी समर्थ [*आयस्थानेभ्यः*] आयस्थानवाची प्रातिपदिकों से आगत इस अर्थ में [ठक्] ठक् प्रत्यय होता है ॥ जहाँ पर आय की उत्पत्ति हो वह आयस्थान होता है ॥

शुण्डिकादिभ्योऽण् ॥४।३।७६॥

शुण्डिकादिभ्यः ५।३॥ अण् १।१॥ *स०*—शुण्डिक आदिर्येषां ते शुण्डिकादयस्तेभ्यः······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—तत आगतः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—पञ्चमीसमर्थेभ्यः शुण्डिकादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्य आगतार्थेऽण् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—शुण्डिकादागतः = शौण्डिकः। कार्कणः ॥

भाषार्थः—पञ्चमी समर्थ [*शुण्डिकादिभ्यः*] शुण्डिकादि प्रातिपदिकों से आगत = आया हुआ इस अर्थ में [*अण्*] अण् प्रत्यय होता है ॥ शुण्डिकादिआयस्थानवाची हैं, सो पूर्व सूत्र से ठक् प्राप्त था, उसका यह अपवाद है ॥

विद्यायोनिसंबन्धेभ्यो वुञ् ॥४।३।७७॥

विद्यायोनिसंबन्धेभ्यः ५।३॥ वुञ् १।१॥ *स०*—विद्या च योनिश्च, विद्यायोनी, तत्कृतः सम्बन्धो येषां ते विद्यायोनिसंबन्धाः, तेभ्यः···द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—तत आगतः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—पञ्चमीसमर्थेभ्यः विद्याकृतसम्बन्धेभ्यो योनिकृतसम्बन्धेभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः आगतार्थे वुञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—विद्याकृतसम्बन्धेभ्यः—उपाध्यायादागतं औपाध्यायकम्,

शैष्यकम्, आचार्यकम्। योनिसम्बन्धेभ्यः—मातामहकः पैतामहकः मातुलकः ॥

भाषार्थः—[*विद्या···भ्य*] विद्यासम्बन्धवाची एवं योनिसम्बन्धवाची पञ्चमी समर्थ प्रातिपदिकों से आगत इस अर्थ में [*वुञ्*] वुञ् प्रत्यय होता है ॥ आचार्य एवं शिष्य में विद्यासम्बन्ध, तथा मातामह पितामह आदि शब्दों में योनिसम्बन्ध है ॥

यहाँ से "*विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः*" की अनुवृत्ति ४।३।७८ तक जायेगी ॥

ऋतष्ठञ् ४।३।७८॥

ऋतः ५।१॥ ठञ् १।१॥ *अनु०*—विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः, तत आगतः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—पञ्चमी-समर्थेभ्य ऋकारान्तेभ्यो विद्यायोनिसम्बन्धवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यष्ठञ् प्रत्ययो भवति आगतार्थे ॥ *उदा०*—विद्यासम्बन्धवाचिभ्यः—होतुरागतं हौतृकम् पौतृकम्। योनिसम्बन्धवाचिभ्यः—भ्रातृकम् स्वासृकम् मातृकम् ॥

भाषार्थ.—पञ्चमी समर्थ विद्यायोनि सन्बन्धवाची [*ऋतः*] ऋकारान्त प्रातिपदिकों से [*ठञ्*] ठञ् प्रत्यय होता है आगत इस अर्थ में ॥ ठ को क *इसुसुक्तान्तात् कः* (७।३।५१) से हुआ है।

यहाँ से 'ठञ्' की अनुवृत्ति ४।३।७९ तक जायेगी ॥

पितुर्यच्च ॥४।३।७९॥

पितुः ५।१॥ यत् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—ठञ्, तत आगतः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—पञ्चमी-समर्थात् पितृप्रातिपदिकात् आगत इत्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति, ठञ् च ॥ *उदा०*—पितुरागतं = पित्र्यम्, पैतृकम् ॥

भाषार्थः—पञ्चमी समर्थ [*पितुः*] पितृ प्रातिपदिक से आगत इस अर्थ में [*यत्*] यत् प्रत्यय होता है तथा [*च*] चकार से ठञ् प्रत्यय होता है ॥

गोत्रादङ्कवत् ॥४।३।८०॥

गोत्रात् ५।१॥ अङ्कवत् अ० ॥ अङ्क इव अङ्कवत् ॥ *अनु०*—तत आगतः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—पञ्चमीसमर्थात् गोत्रप्रत्ययान्तात् प्रातिपदिकादागतार्थे अङ्कवत् प्रत्ययविधिर्भवति ॥ यथा *तस्येदम्* (४।३।१२०) अधिकारे गोत्रवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो *गोत्रचरणाद्वुञ्* (४।३।१२६) इत्यनेन वुञ् प्रत्ययो भवति ॥ एवमत्रापि गोत्रवाचिभ्यो वुञ् भवति । अङ्क इत्यनेन तस्येदमर्थसामान्यं लक्ष्यते ॥ *उदा०*—औपगवानामङ्कः = औपगवकः, कापटवकः, नाडायनकः, चारायणकः ॥

भाषार्थः—पञ्चमी समर्थ [*गोत्रात्*] गोत्रवाची प्रातिपदिकों से आगत अर्थ में [*अङ्कवत्*] अङ्कवत् प्रत्ययविधि होती है, अर्थात् जिस प्रकार गोत्रवाची शब्दों से *गोत्रचरणाद्वुञ्* से वुञ् होता है उसी प्रकार यहाँ भी होता है ॥ अब यहाँ अङ्कवत् प्रत्ययविधि का अतिदेश करने से *सङ्घाङ्कल०* (४।३।१२७) में विहित अण् प्रत्यय का ही अतिदेश होना चाहिये, न कि वुञ् का, क्योंकि *सङ्घाङ्कलक्षणेषु०* सूत्र में ही अङ्क शब्द का ग्रहण है । इसका उत्तर यह है कि, यहाँ 'अङ्क' शब्द *तस्येदम्* अर्थ सामान्य का उपलक्षण है, अर्थात् जिस प्रकार गोत्रवाचियों से *तस्येदम्* अर्थ में प्रत्यय होते हैं, उसी प्रकार *तत आगतः* अर्थ में होते हैं । इस प्रकार यहाँ वुञ् का भी अतिदेश हो जाता है ॥

हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः ॥४।३।८१॥

हेतुमनुष्येभ्यः ५।३॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ रूप्यः १।१॥ *स०*—हेतु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत आगतः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—पञ्चमीसमर्थेभ्यो हेतुवाचिभ्यो मनुष्यवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो विकल्पेन रूप्यः प्रत्ययो भवति आगतार्थे ॥ हेतुः कारणम् ॥ *उदा०*—हेतुभ्यः—समादागतं समरूप्यम् विषमरूप्यम् । पक्षे गहादित्वात् छः—समीयम्, विषमीयम् । मनुष्येभ्यः—देवदत्तरूप्यम् यज्ञदत्तरूप्यम् । पक्षे औत्सर्गिकोऽण्-दैवदत्तम्, याज्ञदत्तम् ॥

भाषार्थः—पञ्चमी समर्थ [*हेतुमनुष्येभ्यः*] हेतु तथा मनुष्यवाची प्रातिपदिकों से आगत अर्थ में [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से [*रूप्यः*] रूप्य

प्रत्यय होता है ॥ मार्ग आदि के सम होने से अथवा विभाग के सम वा विषम होने से आगत रूप जो प्राप्ति हो वह समरूप्य विषमरूप्य कहाती है। इस प्रकार सम वा विषम शब्द हेतुवाची हुये। देवदत्त और मनुष्य से जो प्राप्ति हो वह देवदत्तरूप्य कही जायेगी॥

यहाँ से '*हेतुमनुष्येभ्यः*' की अनुवृत्ति ४।३।८२ तक जायेगी॥

मयट् च ॥४।३।८२॥

मयट् १।१॥ च अ० ॥ *अनु*०—हेतुमनुष्येभ्यः, तत आगतः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थ*—पञ्चमीसमर्थेभ्यो हेतुवाचिभ्यो मनुष्यवाचिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्य आगतार्थे मयट् प्रत्ययो भवति। *उदा*०—सममयम्, विषममयम्। मनुष्येभ्यः—देवदत्तमयम् यज्ञदत्तमयम्॥

भाषार्थः—पञ्चमी समर्थ हेतु तथा मनुष्यवाची प्रातिपदिकों से आगत अर्थ में [*मयट्*] मयट् प्रत्यय [*च*] भी होता है॥

प्रभवति ॥४।३।८३॥

प्रभवति क्रियापदम्॥ *अनु*०—ततः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—पञ्चमीसमर्थात् प्रातिपदिकात् प्रभवतीत्येतस्मिन् विषये यथाविहितं प्रत्ययो भवति॥ प्रभवति = प्रकाशते प्रथमत उपलभ्यते इत्यर्थः॥ *उदा*०—हिमालयात् प्रभवति हैमालयी गङ्गा, दारदी सिन्धुः, सौमेरवी॥

भाषार्थः—पञ्चमी समर्थ प्रातिपदिक से [*प्रभवति*] प्रभवति इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है॥ प्रभवति का अर्थ है प्रथमतः उपलब्धि अर्थात् निकास। औत्सर्गिक अण् प्रत्यय होकर *टिड्ढाणञ्*० (४।१।१५) से ङीप् होकर हैमालयी आदि सिद्ध होंगे। सुमेरु शब्द के रु के उ को *ओर्गुणः* (६।४।१४६) से गुण एवं अवादेश होकर सौमेरवी बना है॥

यहाँ से '*प्रभवति*' की अनुवृत्ति ४।३।८४ तक जायेगी॥

विदूराञ्ञ्यः ॥४।३।८४॥

विदूरात् ५।१॥ ञ्यः १।१॥ *अनु*०—प्रभवति, ततः, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—पञ्चमीसमर्थाद् विदूर-

प्रातिपदिकात् प्रभवतीत्येतस्मिन्नर्थे ञ्यः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—विदूरात् प्रभवति = वैदूर्य्यो मणिः ॥

भाषार्थः—पञ्चमी समर्थ [*विदूरात्*] विदूर शब्द से प्रभवति इस अर्थ में [*ञ्यः*] ञ्य प्रत्यय होता है ॥ विदूर देश से निकलने वाली मणि वैदूर्य मणि कहायेगी ॥

तद् गच्छति पथिदूतयोः ॥४।३।८५॥

तत् २।१॥ गच्छति क्रियापदम् ॥ पथिदूतयोः ७।२॥ *स०*—पन्थाश्च दूतश्च, पथिदूतौ तयोः˙˙˙इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात् प्रातिपदिकाद् गच्छतीत्येतस्मिन् विषये यथाविहितं प्रत्ययो भवति, योऽसौ गच्छति पन्थाश्चेत् स भवति दूतो वा ॥ *उदा०*—स्रुघ्नं गच्छति = स्रौघ्नः पन्था दूतो वा । माथुरः पन्था दूतो वा ॥

भाषार्थः—[*तत्*] द्वितीया समर्थ प्रातिपदिक से [*गच्छति*] गच्छति क्रिया के [*पथिदूतयोः*] पथ (मार्ग) तथा दूत कर्त्ता अभिधेय होने पर यथाविहित प्रत्यय होता है ॥ स्रुघ्न को जानेवाला मार्ग या दूत स्रौघ्न कहा जायेगा ॥

यहाँ से '*तद्*' की अनुवृत्ति ४।३।८८ तक जायेगी ॥

अभिनिष्क्रामति द्वारम् ॥४।३।८६॥

अभिनिष्क्रामति, क्रियापदम् ॥ द्वारम् १।१॥ *अनु०*—तद्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात् प्रातिपदिकादभिनिष्क्रामतीत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति, यत्तदभिनिष्क्रामति द्वारं चेत्तद् भवति ॥ आभिमुख्येन निष्क्रामति अभिनिष्क्रामति ॥ *उदा०*—स्रुघ्नमभिनिष्क्रामति कान्यकुब्जद्वारं = स्रौघ्नम्, माथुरम्, राष्ट्रियम् ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ प्रातिपदिक से [*अभिनिष्क्रामति*] अभिनिष्क्रमण क्रिया का [*द्वारम्*] द्वार कर्त्ता अभिधेय हो तो, यथाविहित प्रत्यय होता है ॥ जो द्वार = फाटक स्रुघ्न को निकले वह स्रौघ्न द्वार कहा जायेगा ॥

अधिकृत्य कृते ग्रन्थे ॥४।३।८७॥

अधिकृत्य अ० ॥ कृते ७।१॥ ग्रन्थे ७।१॥ अनु०—तद्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—द्वितीयासमर्थात् प्रातिपदिकादधिकृत्य कृत इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति यत् तत्कृतं ग्रन्थश्चेत् स भवति ॥ उदा०—सुभद्रामधिकृत्य कृतो ग्रन्थः = सौभद्रो ग्रन्थः, गौरिमित्रः ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ प्रातिपदिक से [*अधिकृत्य*] उसको अधिकृत = विषय बनाकर [*कृते*] बनाया गया इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है, लक्ष्य करके बनाया गया यदि [*ग्रन्थे*] ग्रन्थ हो तो। सुभद्रा नामक स्त्री को अधिकार में करके, अर्थात् उसके जीवन वृत्त को लेकर जो ग्रन्थ रचा जाये वह सौभद्रः कहलायेगा ॥

यहाँ से '*अधिकृत्य कृते ग्रन्थे*' की अनुवृत्ति ४।३।८८ तक जायेगी ॥

शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः ॥४।३।८८॥

शिशु······भ्यः ५।३॥ छः १।१॥ स०—इन्द्रजननमादिर्येषां ते इन्द्रजननादयः, बहुव्रीहिः। शिशूनां क्रन्दः शिशुक्रन्दः, षष्ठीतत्पुरुषः। यमस्य सभा यमसभं, षष्ठीतत्पुरुषः। शिशुक्रन्दश्च यमसभञ्च द्वन्द्वश्च इन्द्रजननादयश्च, शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादयः तेभ्यः······इतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—अधिकृत्य कृते ग्रन्थे, तद्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—द्वितीयासमर्थेभ्यः शिशुक्रन्दादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽधिकृत्य कृते ग्रन्थ इत्येतस्मिन्नर्थे छः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—शिशुक्रन्दमधिकृत्य कृतो ग्रन्थ शिशुक्रन्दीयः[1], यमसभीयः। द्वन्द्वात्—अग्निश्च, काश्यपश्च, अग्निकाश्यपौ, तौ अधिकृत्य कृतो ग्रन्थः अग्निकाश्यपीयः, श्येनकपोतीयः[2] शब्दार्थसम्बन्धीयम् प्रकरणम्, वाक्यपदीयम्। इन्द्रजननादिभ्यः—इन्द्रजननीयम्, प्रद्युम्नागमनीयम् ॥

---

१. शिशु के रोने का विषय बनाकर उसके विविध कारणों का व्याख्यान करने वाला ग्रन्थ शिशुक्रन्दीय कहाता है। कुछ लोग श्रीकृष्ण के कारागार में जन्म लेते ही वे रोये उसका वर्णन करने वाला ग्रन्थ शिशुक्रन्दीय कहाता है, ऐसा मानते हैं। पर हमारे विचार मे प्रथम सामान्य अर्थ अधिक उचित है।

२. महाभारत वन पर्व अ० १३१ श्येनकपोतीय कहाता है, उसमे श्येन और कपोत के शिवि के समीप आने की कथा है ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*शिशु…भ्यः*] शिशुक्रन्द यमसभ द्वन्द्ववाची तथा इन्द्रजननादि गण पठित शब्दों से अधिकृत्य कृते ग्रन्थे इस अर्थ में [*छः*] छ प्रत्यय होता है ॥

सोऽस्य निवासः ॥४।३।८९॥

सः १।१॥ अस्य ६।१॥ निवासः १।१॥ *अनु०*—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—स इति प्रथमासमर्थादस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति, यत् तत् प्रथमासमर्थं निवासश्चेत् स भवति॥ *उदा०*—स्रुघ्नः निवासोऽस्य = स्रौघ्नः, माथुरः, राष्ट्रियः॥

भाषार्थः—[*सः*] प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से [*अस्य*] षष्ठ्यर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है, यदि प्रथमासमर्थ [*निवास.*] निवास हो तो॥

यहाँ से '*सोऽस्य*' की अनुवृत्ति ४।३।१०० तक जायेगी॥

अभिजनश्च ॥४।३।९०॥

अभिजनः १।१॥ च अ०॥ *अनु०*—सोऽस्य, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—स इति प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकादस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति यदि प्रथमासमर्थमभिजनो भवेत्॥ अभिजनः पूर्वबान्धवः, तत्सम्बन्धात् देशोऽपि अभिजन उच्यते॥ *उदा०*—इन्द्रप्रस्थोऽभिजनोऽस्य ऐन्द्रप्रस्थः, लावपुरः, स्रौघ्नः, ग्राम्यः, ग्रामीणः॥

भाषार्थः—प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में यदि वह प्रथमासमर्थ [*अभिजनः*] अभिजन हो तो [*च*] भी यथाविहित प्रत्यय होता है॥ अभिजन पूर्वबन्धुओं को कहते हैं, तत्सम्बन्ध से जिस देश में वे रहें, वह देश भी अभिजन कहलायेगा॥

यहाँ से '*अभिजनः*' की अनुवृत्ति ४।३।९४ तक जायेगी॥

आयुधजीविभ्यश्छः पर्वते ॥४।३।९१॥

आयुधजीविभ्यः ४।३॥ छः १।१॥ पर्वते ७।१॥ आयुधैर्जीवितुं शीलमेषां त आयुधजीविनस्तेभ्यः, आयुधजीव्यर्थमायुधजीविभ्यः। तादर्थ्ये चतुर्थी। पर्वत इति प्रकृतिविशेषणम् तत्रार्थवशाद् पञ्चमीविभक्तौ विपरिणम्यते॥ *अनु०*—अभिजनः, सोऽस्य, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदि-

कात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—पर्वतवाचिनः प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकादस्याभिजन इत्येतस्मिन् विषये छः प्रत्ययो भवति आयुधजीविभ्यः = आयुधजीविनोऽभिधातुम् ॥ *उदा०*—हृद्गोलः पर्वतोऽभिजन एषां हृद्गोलीयाः, आयुधजीविनः[1] । अन्धकवर्तीयाः, रोहितगिरीयाः ॥

भाषार्थः—प्रथमा समर्थ [*पर्वते*] पर्वतवाची प्रातिपदिकों से वह इसका अभिजन इस अर्थ में [*छः*] छ प्रत्यय होता है [*आयुधजीविभ्यः*] आयुधजीवियों को कहने के लिये ॥ आयुध शस्त्र को कहते हैं। शस्त्र से जिनकी जीविका चले वह आयुधजीवी कहलायेंगे। 'पर्वते' शब्द प्रकृति का विशेषण है। अतः पञ्चमी विभक्ति में पर्वत शब्द का विपरिणाम हो जाता है ॥ हृद्गोल पर्वत है अभिजन जिन आयुधजीवियों का वे हृद्गोलीयाः कहलायेंगे ॥

शण्डिकादिभ्यो ञ्यः ॥४।३।९२॥

शण्डिकादिभ्यः ५।३॥ ञ्यः १।१॥ *स०*—शण्डिक आदिर्येषां ते शाण्डिकादयस्तेभ्यः......बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अभिजनः, सोऽस्य, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थेभ्यः शण्डिकादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः, अस्याभिजन इत्यस्मिन् विषये ञ्यः प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—शण्डिको ऽभिजनोऽस्य शाण्डिक्यः, सार्वसेन्यः ॥

भाषार्थः—प्रथमा समर्थ [*शण्डिकादिभ्यः*] शण्डिकादि प्रातिपदिकों से 'इसका अभिजन' इस अर्थ में [*ञ्यः*] ञ्य प्रत्यय होता है ॥

सिन्धुतक्षशिलादिभ्योऽणञौ ॥४।३।९३॥

सिन्धुतक्षशिलादिभ्यः ५।३॥ अणञौ १।२॥ *स०*—सिन्धुश्च तक्षशिला च सिन्धुतक्षशिले, सिन्धुतक्षशिले आदी येषां ते सिन्धुतक्षशिलादयस्तेभ्यः...द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः । अणञौ, इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अभिजनः, सोऽस्य, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थेभ्यः सिन्ध्वादिभ्यस्तक्षशिलादिभ्यश्च प्राति-

---

१. आयुधजीवी वे लोग होते हैं जो वेतन लेकर किसी के लिये भी लड़ने को तैयार रहते है। जैसे गोरखे ॥

पदिकेभ्यो यथासङ्ख्यमणञौ प्रत्ययौ भवतोऽस्याभिजन इत्यस्मिन् विषये ॥ *उदा*ः—सिन्धुरभिजनोऽस्य सैन्धवः, वार्णवः । तक्षशिलादिभ्यः—ताक्षशिलः, वात्सोद्धरणः ॥

भाषार्थः—प्रथमा समर्थ [*सिन्धु······भ्यः*] सिन्ध्वादि तथा तक्षशिलादि गण पठित शब्दों से यथासंख्य करके [*अणञौ*] अण् तथा अञ् प्रत्यय होते हैं इसका अभिजन ऐसा कहना हो तो । अण् और अञ् में स्वर का ही भेद है ॥

तूदीशलातुरवर्म्मतीकूचवाराड्ढक्छण्ढञ्यकः ॥४।३।९४॥

तूदी······रात् ५।१॥ ढक्···ञ्यकः १।३॥ *स*०—तूदी० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु*०—अभिजनः, सोऽस्य, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थेभ्यः, तूदी, शलातुर वर्म्मती, कूचवार इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽस्याभिजन इत्यस्मिन् विषये यथासंख्यं ढक्, छण्, ढञ्, यक् इत्येते चत्वारः प्रत्यया भवन्ति ॥ *उदा*०—तूदी अभिजनोऽस्य तौदेयः, शालातुरीयः, वार्मतेयः, कौचवार्यः ॥

भाषार्थः—प्रथमासमर्थ [*तूदीश······रात्*] तूदी, शलातुर, वर्मती, कूचवार प्रातिपदिकों से यथासङ्ख्य करके [*ढक्···ञ्यकः*] ढक्, छण्, ढञ्, यक् प्रत्यय होते हैं, अस्याभिजन इस विषय में ॥

भक्तिः ॥४।३।९५॥

भक्तिः १।१॥ *अनु*ः—सोऽस्य, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थात् भक्तिसमानाधिकरणात् प्रातिपदिकादस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ *उदा*०—स्रुघ्नो भक्तिरस्य = स्रौघ्नः, माथुरः, राष्ट्रियः ॥

भाषार्थः—प्रथमासमर्थ [*भक्तिः*] भक्तिसमानाधिकरण प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है ॥ स्रुघ्न जिससे सेवित है वह स्रौघ्नः कहलायेगा ॥

यहाँ से '*भक्तिः*' की अनुवृत्ति ४।३।१०० तक जायेगी ॥

अचित्तादेशकालाट्ठक् ॥४।३।९६॥

अचित्तात् ५।१॥ अदेशकालात् ५।१॥ ठक् १।१॥ *स०*—अविद्यमानं चित्तं यस्मिन् तदचित्तं तस्मात्, बहुव्रीहिः। देशश्च कालश्च देशकालम् समाहारो द्वन्द्वः। न देशकालमदेशकालं तस्मात्......नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—भक्तिः, सोऽस्य, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—देशकालव्यतिरिक्तादचित्तवाचिनो भक्तिसमानाधिकरणात् प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकात् ठक् प्रत्ययो भवति षष्ठ्यर्थे॥ *उदा०*—अपूपा भक्तिरस्य आपूपिकः शाष्कुलिकः पायसिकः॥

भाषार्थः—प्रथमा समर्थ भक्तिसमानाधिकरणवाची जो [*अदेशकालात्*] देश काल को छोड़कर [*अचित्तात्*] अचेतनवाची प्रातिपदिक उनसे षष्ठ्यर्थ में [*ठक्*] ठक् प्रत्यय होता है॥ देश और काल भी अचेतन हैं, अतः उनका निषेध कर दिया॥ जिसको पुआ प्रिय है वह आपूपिकः, तथा जिसको पूड़ी प्रिय है वह शाष्कुलिकः कहलायेगा॥

महाराजाट्ठञ् ॥४।३।९७॥

महाराजात् ५।१॥ ठञ् १।१॥ *अनु०*—भक्तिः, सोऽस्य, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थाद् भक्तिसमानाधिकरणात् महाराजात् प्रातिपदिकात् षष्ठ्यर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—महाराजो भक्तिरस्य माहाराजिकः॥

भाषार्थः—प्रथमासमर्थ भक्तिसमानाधिकरणवाची [*महाराजात्*] महाराज प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में [*ठञ्*] ठञ् प्रत्यय होता है॥

वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन् ॥४।३।९८॥

वासुदेवार्जुनाभ्याम् ५।२॥ वुन् १।१॥ *स०*—वासु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—भक्तिः, सोऽस्य, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थाभ्यां वासुदेव, अर्जुन इत्येताभ्यां शब्दाभ्यामस्यभक्तिरित्येतस्मिन् विषये वुन् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—वासुदेवो भक्तिरस्य = वासुदेवकः, अर्जुनकः॥

भाषार्थः—प्रथमा समर्थ भक्तिसमानाधिकरणवाची [*वासुदेवार्जुनाभ्याम्*] वासुदेव तथा अर्जुन शब्दों से षष्ठ्यर्थ में [*वुन्*] वुन्

प्रत्यय होता है ॥ महाभाष्य के अनुसार वासुदेव शब्द यहाँ परमात्मा का वाचक है[1] ॥

गोत्रक्षत्रियाख्येभ्यो बहुलं वुञ् ॥४।३।९९॥

गोत्र……भ्यः ५।३॥ बहुलम् १।१॥ वुञ् १।१॥ *स०*—गोत्रञ्च क्षत्रियश्च गोत्रक्षत्रियौ, तौ आख्या येषां ते गोत्रक्षत्रियाख्यास्तेभ्यः……द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—भक्तिः, सोऽस्य, शेषे, तद्धिताः ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थेभ्यो भक्तिसमानाधिकरणेभ्यो गोत्राख्येभ्यः क्षत्रियाख्येभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः षष्ठ्यर्थे बहुलं वुञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—गोत्राख्येभ्यः—ग्लुचुकायनिर्भक्तिरस्य = ग्लौचुकायनकः, औपगवकः, कापटवकः । क्षत्रियाख्येभ्यः—नाकुलकः, साहदेवकः, साम्बकः ॥ बहुलग्रहणात् क्वचिन्न भवति । पाणिनो भक्तिरस्य पाणिनीयः, पौरवीयः ॥

भाषार्थः प्रथमासमर्थ भक्तिसमानाधिकरणवाची [*गो……भ्यः*] गोत्र आख्या वाले, तथा क्षत्रिय आख्या वाले प्रातिपदिकों से [बहुलम्] बहुल करके [वुञ्] वुञ् प्रत्यय होता है ॥ बहुल कहने से कहीं कहीं वुञ् प्रत्यय नहीं भी होता यथा पाणिन (पाणिनि का ही नामान्तर) सेव्य है इसका, वह 'पाणिनीय' हुआ। यहाँ छ ही हुआ है ॥

जनपदिनां जनपदवत् सर्वं जनपदेन समानशब्दानां बहुवचने ॥४।३।१००॥

जनपदिनाम् ६।३॥ जनपदवत् अ० ॥ सर्वम् १।१॥ जनपदेन ३।१॥ समानशब्दानाम् ६।३॥ बहुवचने ७।१॥ जनपदशब्दो देशवाची, स एषामस्तीति जनपदी, इनिप्रत्ययः । जनपदिनो जनपदस्वामिनः क्षत्रियाः ॥ *अनु०*—भक्तिः, सोऽस्य, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—बहुवचने जनपदेन समानशब्दानां जनपदिनां सर्वं जनपदवत् कार्य्यं भवति, सोऽस्य भक्तिरित्यस्मिन्नर्थे ॥ *जनपदतदवध्यो-*

---

१. महाभारत शान्तिपर्व अ०—३४१ श्लोक ४० में वासुदेव का निर्वचन इस प्रकार दिया है—

छादयामि जगद्विश्वं भूत्वा सूर्य इवांशुभिः ।
सर्वभूताधिवासश्च वासुदेवस्ततो ह्यहम् ॥

श्चेत्यत्र प्रकरणे देशवाचिनां जनपदानां यत् कार्यं विधीयते तद्भक्तिसमानाधिकरणानां जनपदिनामतिदिश्यते इत्यर्थः ॥ *उदा०*—यथा अङ्गेषु देशे भवमाङ्गकम् वाङ्गकम् एवम् अङ्गा क्षत्रिया भक्तिरस्य आङ्गकः, वाङ्गकः सौह्मकः, पौण्ड्रकः, इत्यत्रापि वुञ् भवति ॥

भाषार्थः—जनपद शब्द देश का वाचक है। जनपद के स्वामी क्षत्रिय जनपदी कहलायेंगे ॥ यह अतिदेश सूत्र है।

[*बहुवचने*] बहुवचन विषय में वर्तमान जो [*जनपदेन समानशब्दानाम्*] जनपद के समान ही [*जनपदिनाम्*] क्षत्रियवाची प्रातिपदिक उनको [*सर्वं जनपदवत्*] जनपद की भांति ही सारे कार्य्य हो जाते हैं, अर्थात् *जनपदतदवध्योश्च* (४।२।१२३) इत्यादि सूत्रों से देशवाची जनपद प्रातिपदिकों से जो प्रत्यय कहे हैं वे भक्तिसमानाधिकरणवाची जनपदी = क्षत्रियवाची प्रातिपदिकों से भी उसी प्रकार हो जायेंगे ॥ अङ्ग वङ्ग आदि शब्द जनपदवाची हैं, तथा जनपदी वाची भी हैं, बहुवचन में वर्तमान हैं ही, सो जनपद से कहा हुआ वुञ् अस्य भक्तिः इस अर्थ में भी ४।२।१२३ से हो गया है ॥

तेन प्रोक्तम् ॥४।३।१०१॥

तेन ३।१॥ प्रोक्तम् १।१॥ *अनु०*—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् प्रोक्तमित्यस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ प्रकर्षेणोक्तं प्रोक्तम्, न तु कृतम् ॥ *उदा०*—पाणिनिना प्रोक्तं = पाणिनीयम्, आपिशलम्, काशकृत्स्नम् ॥

भाषार्थः—[*तेन*] तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से [*प्रोक्तम्*] प्रोक्त = 'प्रवचन किया हुआ' इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है ॥ पाणिनीयम् में *वृद्धाच्छः* (४।२।११३) से छ हुआ है, शेष में *इञश्च* (४।२।१११) से अण् हुआ है ॥ प्रोक्त का अर्थ होता है, प्रवचन किया हुआ। पाणिनि ने अष्टाध्यायी बनाकर उसे पढ़ाया सो वह भी प्रोक्त है ॥

यहाँ से '*तेन प्रोक्तम्*' की अनुवृत्ति ४।३।१११ तक जायेगी ॥

तित्तिरिवरतन्तुखण्डिकोखाच्छण् ॥४।३।१०२॥

तित्तिरि·····खात् ५।१॥ छण् १।१॥ *स०*—तित्तिरि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तेन प्रोक्तम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्,

प्रत्ययः, परश्च ।। *अर्थः*—तृतीयासमर्थेभ्यस्तित्तिरि, वरतन्तु, खण्डिका, उखा इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यश्छन्दसि विषये प्रोक्तमित्यस्मिन्नर्थे छण् प्रत्ययो भवति ।। *उदा०*—तित्तिरिणा प्रोक्तमधीयते = तैत्तिरीयाः, वारतन्तवीयाः, खाण्डिकीयाः, औखीयाः ।।

भाषार्थः—तृतीया समर्थ [*ति···खात्*] तित्तिरि, वरतन्तु, खण्डिका, उखा प्रातिपदिकों से छन्दोविषयक प्रोक्त अर्थ में [*छण्*] छण् प्रत्यय होता है ।। *छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि* (४।२।६५) से तद्विषयता होकर तैत्तिरीयाः आदि का प्रयोग अध्येता वेत्ता अर्थ में ही होता है। स्वतन्त्र प्रोक्त अर्थ में नहीं ।। इस सूत्र के तथा अगले सूत्रों के *शौनकादिभ्यश्छन्दसि* में अनुवर्तन होने से *छन्दोब्रा०* से तद्विषयता हो जाती है ।।

काश्यपकौशिकाभ्यामृषिभ्यां णिनिः ।।४।३।१०३।।

काश्य·····भ्याम् ५।२।। ऋषिभ्याम् ५।२।। णिनिः १।१।। *स०*—काश्य० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। *अनु०*—तेन प्रोक्तम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ।। *अर्थः*—तृतीयासमर्थाभ्यां काश्यपकौशिकाभ्यामृषिवाचिभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां प्रोक्तार्थे णिनिः प्रत्ययो भवति ।। *उदा०*—काश्यपेन प्रोक्तमधीयते = काश्यपिनः, कौशिकिनः ।।

भाषार्थः—तृतीया समर्थ [*ऋषिभ्याम्*] ऋषिवाची [*का···भ्याम्*] काश्यप और कौशिक प्रातिपदिकों से प्रोक्त अर्थ में [*णिनि*] णिनि प्रत्यय होता है ।।

विशेषः—यद्यपि काश्यप और कौशिक ऋषियों ने कल्प शास्त्र का प्रवचन किया है, छन्द का नहीं, तो भी इस सूत्र में *शौनकादिभ्यश्छन्दसि* का अधिकार होने से ४।२।६५ से अध्येतृ वेदितृ प्रत्यय विषयता हो ही जाती है ।।

काश्यप ऋषि के द्वारा प्रोक्त कल्प को जो पढ़ते हैं वे काश्यपिनः कहलायेंगे ।।

यहाँ से '*णिन*' की अनुवृत्ति ४।३।१०६ तक जायेगी ।।

कलापिवैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च ।।४।३।१०४।।

कला·····सिभ्यः ५।३।। च अ० ।। *स०*—कलापी च वैशम्पायनश्च, कलापिवैशम्पायनौ, तयोरन्तेवासिनः कला·····सिनस्तेभ्यः·····द्वन्द्व-

गर्भषष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—णिनिः, तेन प्रोक्तम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—तृतीयासमर्थेभ्यः कलाप्यन्तेवासिभ्यो वैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः प्रोक्तार्थे णिनिः प्रत्ययो भवति छन्दसि विषये ॥ अन्तेवासिशब्दः शिष्यपर्यायः ॥ उदा०—कलाप्यन्तेवासिभ्यः—हरिद्रुणा प्रोक्तमधीयते हारिद्रविणिः, तौम्बुरविणः, औलपिनः । वैशम्पायनान्तेवासिभ्यः—आलम्बिनः, पालङ्गिनः, कामलिनः, आर्च्चभिनः, आरुणिनः, ताण्डिनः, श्यामायनिनः ॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ [*कला˙˙वासिभ्यः*] कलापी के अन्तेवासी तथा वैशम्पायन के अन्तेवासी-वाचक जो प्रातिपदिक उनसे [च] प्रोक्तार्थ में णिनि प्रत्यय होता है छन्द विषय में ॥ अन्तेवासी शब्द शिष्य का पर्यायवाची है ॥ कलापी के चार शिष्य थे, हरिद्रु, छगली, तुम्बुरु और उलप । छगली से ४।३।१०९ से ढिनुक् कहा है, अतः प्रकृत सूत्र से णिनि नहीं हुआ । इसी प्रकार वैशम्पायन के भी ९ शिष्य थे, आलम्बि, पलङ्ग, कमल, ऋचाभ, आरुणि, ताण्ड्य, श्यामायन, कठ और कलापी ॥ सो कठ शब्द से प्रोक्त प्रत्यय का ४।३।१०७ से लुक् तथा कलापी शब्द से इस सूत्र का अपवाद अण् प्रत्यय ४।३।१०८ से कहेंगे ॥

पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु ॥४।३।१०५॥

पुराणप्रोक्तेषु ७।३॥ ब्राह्मणकल्पेषु ७।३॥ स०—पुराणेन प्रोक्ताः पुराणप्रोक्तास्तेषु˙˙तृतीयातत्पुरुषः । ब्राह्मणानि च कल्पाश्च *ब्राह्मणकल्पाः*˙˙इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—णिनिः, प्रोक्तम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेष्वभिधेयेषु प्रोक्तार्थे णिनिः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—भाल्लवेन प्रोक्तं ब्राह्मणमधीयते = भाल्लविनः, शाट्यायनिनः, ऐतरेयिणः । कल्पेषु – पिङ्गेन प्रोक्तः = पैङ्गी कल्पः, आरुणपराजी ॥

भाषार्थः—प्राचीन ऋषि द्वारा प्रोक्त जो ब्राह्मण, कल्प वह पुराणप्रोक्त कहे गये ॥ तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से [*पुराणप्रोक्तेषु*] पुराण प्रोक्त [*ब्राह्मणकल्पेषु*] ब्राह्मण और कल्प अभिधेय हों तो प्रोक्त अर्थ में णिनि प्रत्यय होता है ॥ ब्राह्मण विषय में तद्विषयता होती है, कल्पों के छन्द न होने से तद्विषयता नहीं होती, यह ध्यान रहे ॥ सिद्धि परि० २।६ में देखें ॥

शौनकादिभ्यश्छन्दसि ॥४।३।१०६॥

शौनकादिभ्यः ५।३॥ छन्दसि ७।१॥ स०—शौनक आदिर्येषां ते शौनकादयस्तेभ्यः······बहुव्रीहिः ॥ अनु०—णिनिः, तेन प्रोक्तम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—शौनकादिभ्यस्तृतीयासमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यश्छन्दस्यभिधेये प्रोक्तमित्येतस्मिन् विषये णिनिः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—शौनकेन प्रोक्तमधीयते शौनकिनः, वाजसनेयिनः ॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ [*शौनकादिभ्यः*] शौनकादि प्रातिपदिकों से प्रोक्त विषय में [*छन्दसि*] छन्द अभिधेय होने पर णिनि प्रत्यय होता है ॥

यहाँ छन्द विषय होने से तद्विषयता (अध्येतृ वेदितृ प्रत्यय-विषयता ४।२।६५) होती ही है ।

यहाँ से '*छन्दसि*' की अनुवृत्ति ४।३।१११ तक जायेगी ॥

कठचरकाल्लुक् ॥४।३।१०७॥

कठचरकात् ५।१॥ लुक् १।१ ॥ स०—कठश्च चरकश्च कठचरकम् तस्मात्······समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—छन्दसि, तेन प्रोक्तम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—कठचरकशब्दाभ्यामुत्पन्नस्य प्रोक्तप्रत्ययस्य लुग् भवति छन्दसि विषये। कठशब्दात् *कलापिवै०* (४।३।१०४) इत्यनेन णिनिप्रत्ययः, चरकशब्दादप्यौत्सर्गिकोऽण् तयोर्लुक् विधीयते॥ उदा०—कठेन प्रोक्तमधीयते कठाः, चरकाः ॥

भाषार्थः—[*कठचरकात्*] कठ और चरक शब्द से उत्पन्न प्रोक्त प्रत्यय का छन्द विषय में [*लुक्*] लुक् होता है ॥ कठ वैशम्पायन का अन्तेवासी है अतः *कलापिवैश०* से णिनि प्रत्यय जो हुआ था उसका लुक् तथा चरक वैशम्पायन का नाम है उससे औत्सर्गिक अण् का लुक् हुआ है ॥ छन्द की अनुवृत्ति होने से तद्विषयता होगी ही सो कठ ऋषि के द्वारा प्रोक्त जो छन्दोरूप वेद का व्याख्यान ग्रन्थ, वह भी कठ कहायेगा, तथा उसका अध्येता भी कठ कहायेगा ॥ सिद्धि ४।२।६५ में देखे ॥

कलापिनोऽण् ॥४।३।१०८॥

कलापिनः ५।१॥ अण् १।१॥ अनु०—तेन प्रोक्तम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः तृतीयासमर्थात् कला-

पिप्रातिपदिकात् प्रोक्तार्थेऽण् प्रत्ययो भवति छन्दसि विषये ॥ *उदा०*—कलापिना प्रोक्तमधीयते = कालापाः ।

भाषार्थः—तृतीया समर्थ [*कलापिनः*] कलापिन् प्रातिपदिक से छन्द विषय में प्रोक्त अर्थ को कहना हो तो [*अण्*] अण् प्रत्यय होता है ॥ कलापिन् वैशम्पायन का अन्तेवासी है, अतः ४।३।१०४ से णिनि प्राप्त था तदपवाद यह है ॥ "कलापिन्+अण्" यहाँ *इनण्यनपत्ये* (६।४।१६४) से टि भाग के लोप का प्रकृतिभाव प्राप्त था, पुनः *नान्तस्य टिलोपे सब्रह्मचारि०* (६।४।१४४) इस वार्त्तिक से प्रकृतिभाव का प्रतिषेध हो गया तो *नस्तद्धिते* (६।४।१४४) से टि भाग "इन्" का लोप होकर कलाप् अण् रहा । वृद्धि आदि होकर कालापाः बहुवचन में बन गया है ॥

छगलिनो ढिनुक् ॥४।३।१०९॥

छगलिनः ५।१॥ ढिनुक् १।१॥ *अनु०*—तेन प्रोक्तम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थात् छगलि-प्रातिपदिकात् छन्दसि विषये प्रोक्तार्थे ढिनुक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—छगलिना प्रोक्तमधीयते = छागलेयिनः ॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ [*छगलिनः*] छगलिन् प्रातिपदिक से वेद विषय में प्रोक्त अर्थ को कहने में [*ढिनुक्*] ढिनुक् प्रत्यय होता है ॥ छगलिन् ढिनुक् = छगलिन् ढिन् रहा । टि भाग का *नस्तद्धिते* (६।४।१४४) से लोप होकर तथा ढ को एय तथा वृद्धि होकर छागल् एय् इन् = छाग-लेयिनः बन गया । छगलिन् कलापी का शिष्य है सो ४।३।१०४ से णिनि प्राप्त था, यह उसका अपवाद है ॥ छगलिन के द्वारा प्रोक्त ग्रन्थ को जो पढ़े, वे छागलेयिनः कहायेंगे । सर्वत्र तद्विषयता होती जायेगी ॥

पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः ॥४।३।११०॥

पाराशर्य······भ्याम् ५।२॥ भिक्षु······योः ७।२॥ *स०*—परा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । भिक्षुश्च नटश्च भिक्षुनटौ, तयोः सूत्रे भिक्षुनटसूत्रे, तयोः······द्वन्द्वगर्भषष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*- तेन प्रोक्तम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । मण्डूकप्लुतगत्या णिनिरप्यत्रानु-वर्त्तते ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थाभ्यां पाराशर्यशिलालिभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां

यथासङ्ख्यं भिक्षुनटसूत्रयोः प्रोक्तयोर्णिनिः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—पाराशर्येण प्रोक्तमधीयते पाराशरिणो भिक्षवः, शैलालिनो नटाः ॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ [*पारा·····भ्याम्*] पाराशर्य, शिलालि प्रातिपदिकों से यथासङ्ख्य करके [*भिक्षुनटसूत्रयोः*] भिक्षुसूत्र तथा नट-सूत्र का प्रोक्त विषय कहना हो तो णिनि प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—पाराशरिणो भिक्षवः (पाराशर्य के द्वारा प्रोक्त भिक्षुसूत्रों को जो पढ़े) शैलालिनो नटाः (शिलालि के द्वारा प्रोक्त नट सूत्रों को जो पढ़े) ॥ पाराशरिणः में पाराशर्य के य का लोप *आपत्यस्य च०* (६।४।१५१) से हुआ है ॥

विशेषः— यद्यपि भिक्षुसूत्र तथा नटसूत्र वेद के व्याख्यान प्रवचन ग्रन्थ नहीं हैं, स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं, तथापि यहाँ तद्विषयता इष्ट है, अतः इन सूत्रों को छन्दोवत् मानकर ४।२।६५ से तद्विषयता कर ही लेते हैं ॥

यहाँ से '*भिक्षुनटसूत्रयोः*' की अनुवृत्ति ४।३।१११ तक जायेगी ॥

कर्मन्दकृशाश्वादिनिः ॥४।३।१११॥

कर्मन्दकृशाश्वात् ५।१॥ इनिः १।१॥ *स०*—कर्म० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—भिक्षुनटसूत्रयोः, तेन प्रोक्तम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थाभ्यां कर्मन्दकृशाश्वप्रातिपदिकाभ्यां यथासंख्यं भिक्षुनटसूत्रयोः प्रोक्तयोरिनिः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—कर्मन्देन प्रोक्तमधीयते कर्मन्दिनो भिक्षवः कृशाश्वेन प्रोक्तमधीयते कृशाश्विनो नटा ॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ [*कर्म·····त्*] कर्मन्द तथा कृशाश्व प्रातिपदिकों से यथासंख्य करके भिक्षुसूत्र तथा नटसूत्र का प्रोक्त विषय अभिधेय होने पर [*इनिः*] इनि प्रत्यय होता है ॥ यहाँ भी भिक्षुसूत्रादियों को छन्दोवत् मानकर तद्विषयता की गई है ॥ कर्मन्द के द्वारा प्रोक्त भिक्षुसूत्रों को पढ़ने वाले कर्मन्दिनः, तथा कृशाश्व के द्वारा प्रोक्त नटसूत्रों को जो पढ़े वे कृशाश्विनः कहलायेंगे ॥

तेनैकदिक् ॥४।३।११२॥

तेन ३।१॥ एकदिक् १।१॥ *अनु०*- शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् यथा-

विहितं प्रत्ययो भवति, एकदिगित्येतस्मिन्नर्थे। एकदिक् तुल्यदिगित्यर्थः॥ उदा०—इन्द्रप्रस्थेन एकदिक् ऐन्द्रप्रस्थो ग्रामः। सुदाम्ना एकदिक्= सौदामनी विद्युत्॥

भाषार्थः—[*तेन*] तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से [*एकदिक्*] एकदिक् (समानदिशा) अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है॥ इन्द्रप्रस्थ (दिल्ली) से जो ग्राम समान दिशा में है वह ऐन्द्रप्रस्थ ग्राम कहलायेगा। सुदाम पर्वत वाली दिशा में जो बिजली चमकती है उसे सौदामनी कहेंगे।

यहाँ से '*तेन*' की अनुवृत्ति ४।३।११९ तक तथा '*एकदिक्*' की अनुवृत्ति ४।३।११४ तक जायेगी॥

तसिश्च ॥४।३।११३॥

तसिः १।१॥ च अ०॥ *अनु०*—तेनैकदिक्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकादेकदिक् इत्येतस्मिन्नर्थे तसिः प्रत्ययोऽपि भवति॥ *उदा०*—ऐन्द्रप्रस्थतः, वाराणसीतः, सुदामतः॥

भाषार्थः—तृतीयासमर्थप्रातिपदिक से एकदिक् विषय में [*तसिः*] तसि प्रत्यय [*च*] भी होता है॥

यहाँ से '*तसिः*' की अनुवृत्ति ४।३।११४ तक जायेगी॥

उरसो यच्च ॥४।३।११४॥

उरसः ५।१॥ यत् १।१॥ च अ०॥ *अनु०*—तसिः, तेनैकदिक्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थादुरस्शब्दात् यत्, तसि इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः, एकदिक् इत्येतस्मिन् विषये॥ *उदा०*—उरसा एकदिक्= उरस्यः, उरस्तः॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ [*उरसः*] उरस् शब्द से एकदिक् इस अर्थ में [*यत्*] यत् प्रत्यय तथा [*च*] चकार से तसि प्रत्यय भी होता है॥

उपज्ञाते ॥४।३।११५॥

उपज्ञाते ७।१॥ *अनु०*—तेन, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकादुपज्ञात इत्येत-

तस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ विनोपदेशं स्वबुद्ध्या ज्ञातमुपज्ञातं भवति ॥ *उदा०*—पाणिनिना उपज्ञातं = पाणिनीयम् अकालकं व्याकरणम् । आपिशलम् पुष्करणम्, काशकृत्स्नम् गुरुलाघवम् ॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से [*उपज्ञाते*] उपज्ञात अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है ॥ उपज्ञा कहते हैं नई सूझ को । अपनी बुद्धि से जो नई बात आविष्कृत करता है वह उपज्ञा कहाती है । किन्तु जिसका आविष्कार पहले हो चुका हो उसका कुछ परिष्कार इत्यादि किया जाये वह नये रूप में प्रस्तुत ग्रन्थादि प्रोक्त कहाता है ।

कृते ग्रन्थे ॥४।३।११६॥

कृते ७।१॥ ग्रन्थे ७।१॥ *अनु०*—तेन, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीया-समर्थात् प्रातिपदिकात् कृत इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति यत्तत्कृतं ग्रन्थश्चेत् स भवति ॥ *उदा०*—वररुचिना कृता वाररुचाः श्लोकाः । हैकुपादो ग्रन्थः । भैकुराटो ग्रन्थः । जालूकः ॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से [*कृते ग्रन्थे*] ग्रन्थ बनाने अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है ॥

प्रोक्त और कृत में भेद—प्रोक्त ग्रन्थ वह होता है जिसकी समस्त शब्द रचना प्रवक्ता की अपनी न हो अर्थात् पूर्व ग्रन्थ का जो परिष्कार आदि किया गया हो । कृत ग्रन्थ में ग्रन्थकार की समस्त शब्दरचना अपनी होती है । कृत ग्रन्थों में केवल साहित्यिक ग्रन्थों का समावेश होता है तथा प्रोक्त ग्रन्थों में शास्त्रीय ग्रन्थों का ॥

यहाँ से '*कृते*' की अनुवृत्ति ४।३।११९ तक जायेगी ॥

संज्ञायां कुलालादिभ्यो वुञ् ॥४।३।११७॥

संज्ञायाम् ७।१॥ कुलालादिभ्यः ५।३॥ वुञ् १।१॥ *स०*—कुलाल आदिर्येषां ते कुलालादयः, तेभ्यः······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—कृते, तेन, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीया-समर्थेभ्यः, कुलालादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः संज्ञायां विषये वुञ् प्रत्ययो

भवति, कृत इत्येतस्मिन्नर्थे ॥ उदा०—[1]कुलालेन कृतं—कौलालकम्, वारुडकम् ॥

भाषार्थः तृतीया समर्थ [*कुलालादिभ्यः*] कुलालादि प्रातिपदिकों से [*संज्ञायाम्*] संज्ञा गम्यमान होने पर कृत अर्थ में [*वुञ्*] वुञ् प्रत्यय होता है ॥ कुम्हार के द्वारा जो किया हुआ वह कौलालकः कहायेगा ॥

यहाँ से '*संज्ञायाम्*' की अनुवृत्ति ४।३।११८ तक जायेगी ॥

क्षुद्राभ्रमरवटरपादपादञ् ॥४।३।११८॥

क्षुद्रा०.....पात् ५।१॥ अञ् १।१॥ *स०*—क्षुद्रा च भ्रमरश्च वटरश्च पादपश्च क्षुद्रा.....पादपम्, तस्मात्.....समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—कृते, तेन, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—क्षुद्रा, भ्रमर, वटर, पादप इत्येतेभ्यस्तृतीयासमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः कृत इत्येतस्मिन्नर्थेऽञ् प्रत्ययो भवति, संज्ञायाम् विषये ॥ *उदा०*—क्षुद्राभिः कृतं = क्षौद्रम्, भ्रामरम्, वाटरम्, पादपम् ॥

भाषार्थ—तृतीया-समर्थ [*क्षु..पात्*] क्षुद्रा, भ्रमर वटर पादप प्रातिपदिकों से 'कृते' इस अर्थ में संज्ञा विषय गम्यमान होने पर [*अञ्*] अञ् प्रत्यय होता है ॥ क्षौद्रम् = छोटी मक्खियों का शहद । भ्रामरम् = भँवरों से संगृहीत शहद ॥

तस्येदम् ॥४।३।११९॥

तस्य ६।१॥ इदम् १।१॥ *अनु०*—शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकाद् इदमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—उपगोरिदम् = औपगवम्, कापटवम् । राष्ट्रस्येदं = राष्ट्रियम्, अवारपारीणः ॥

भाषार्थः—[*तस्य*] षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से [*इदम्*] इदम् = 'यह' अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है ॥ 'उपगु का यह' इस

---

१. यहाँ महाभाष्यकार ने *कृते ग्रन्थे* ४।३।११६ सूत्र मे संज्ञायाम्, कुलालादिभ्यो वुञ् का योगविभाग करके, मक्षिकाभिः कृतं माक्षिकं सारघम् आदि प्रयोग सिद्ध किये हैं । काशिकादि में इन प्रयोगो की सिद्धि के लिये *संज्ञायाम्* पृथक् सूत्र रखा है, सो महाभाष्य विरुद्ध होने से ठीक नही । महाभाष्यमें योगविभाग से ही ये प्रयोग सिद्ध किये हैं ॥

सम्बन्ध सामान्य में औत्सर्गिक अण् होकर औपगवम् बना है। ऐसा सर्वत्र समझें। तस्य में सम्बन्ध सामान्य में षष्ठी है ॥

यहाँ से 'तस्येदम्' का अधिकार ४।३।१३० तक जायेगा ॥

रथाद्यत् ॥४।३।१२०॥

रथात् ५।१॥ यत् १।१॥ अनु०—तस्येदम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—षष्ठीसमर्थात् रथप्रातिपदिकात् यत् प्रत्ययो भवतीदमित्येतस्मिन् विषये ॥ उदा०—रथस्येदं रथ्यम् ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*रथात्*] रथ प्रातिपदिक से इदम् इस अर्थ में [*यत्*] यत् प्रत्यय होता है॥ रथ्यं रथ के नाभि या चक्र को कहेंगे॥

यहाँ से 'रथात्' की अनुवृत्ति ४।३।१२१ तक जायेगी ॥

पत्रपूर्वादञ् ॥४।३।१२१॥

पत्रपूर्वात् ५।१॥ अञ् १।१॥ अनु०—रथात्, तस्येदम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ पतन्ति = गच्छन्ति अनेनेति पत्रमश्वादिकं वाहनमुच्यते॥ पत्रपूर्वात् षष्ठीसमर्थाद् रथप्रातिपदिकाद् इदमित्येतस्मिन्नर्थेऽञ् प्रत्ययो भवति॥ उदा०—अश्वरथस्येदम् आश्वरथम्, औष्ट्ररथम्, गार्दभरथम्॥

भाषार्थः—[*पत्रपूर्वात्*] पत्र पूर्व वाले षष्ठी समर्थ रथ शब्द से इदम् इस अर्थ में [*अञ्*] अञ् प्रत्यय होता है॥ पत्लृ गतौ धातु से पत्र बनता है, पत्र का अर्थ है घोड़ा आदि वाहन॥

यहाँ से 'अञ्' की अनुवृत्ति ४।३।१२२ तक जायेगी ॥

पत्राध्वर्युपरिषदश्च ॥४।३।१२२॥

पत्रा·····षदः ५।१॥ च अ०॥ स०—पत्रा० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः॥ अनु०—अञ्, तस्येदम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—षष्ठीसमर्थेभ्यः पत्राध्वर्युपरिषद्भ्यः प्रातिपदिकेभ्य इदमित्येतस्मिन्नर्थेऽञ् प्रत्ययो भवति॥ उदा०—गर्दभस्येदं गार्दभं, आश्वम्, औष्ट्रम्। अध्वर्योरिदमाध्वर्यम्, पारिषदम्॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*पत्रा...दः*] पत्र, अध्वर्यु, परिषद् प्राति-पदिकों से [च]भी इदम् इस अर्थ में अञ् प्रत्यय होता है ॥ पत्र शब्द यहाँ भी वाहन का वाचक है ॥

हलसीराट्ठक् ॥४।३।१२३॥

हलसीरात् ५।१॥ ठक् १।१॥ *स०*—हल० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तस्येदम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थाभ्यां हलसीरप्रातिपदिकाभ्यां ठक् प्रत्ययो भवतीदमित्ये-तस्मिन्नर्थे ॥ *उदा०* हलस्येदं = हालिकं, सैरिकम् ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*हलसीरात्*] हल और सीर शब्दों से इदम् इस अर्थ में [ठक्] ठक् प्रत्यय होता है ॥

द्वन्द्वाद् वुन् वैरमैथुनिकयोः ॥४।३।१२४॥

द्वन्द्वात् ५।१॥ वुन् १।१॥ वैरमैथुनिकयोः ७।२॥ *स०*—वैर० इत्यत्रे-तरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तस्येदम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थाद् द्वन्द्वसंज्ञकात् प्रातिपदिकात् वैर-मैथुनिकयोरभिधेययोः वुन् प्रत्ययो भवतीदमित्येतस्मिन्नर्थे ॥ वैरमैथु-निके प्रत्ययार्थविशेषणे ॥ *उदा०*—वैरे—बाभ्रव्यश्च, शालङ्कायनश्च, बाभ्रव्यशालङ्कायनौ तयोरिदं वैर बाभ्रव्यशालङ्कायनिका, काकोलूकिका। मैथुनिकायाम्—अत्रिभरद्वाजिका, कुत्सकुशिकिका ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*द्वन्द्वात्*] द्वन्द्व संज्ञक प्रातिपदिक से इदम्, इस अर्थ में [*वैरमैथुनिकयोः*] वैर, मैथुनिक अभिधेय हों तो [वुन्] वुन् प्रत्यय होता है ॥ बाभ्रव्यशालङ्कायनिका आदि शब्द स्वभाव से ही स्त्रीलिङ्ग में होते हैं, अतः टाप् तथा *प्रत्ययस्थात्०* (७।३।४४) से इकारादेश हो जाता है ॥

गोत्रचरणाद्वुञ् ॥४।३।१२५॥

गोत्रचरणात् ५।१॥ वुञ् १।१॥ *स०*—गोत्र० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तस्येदम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थेभ्यो गोत्रवाचिभ्यश्चरणवाचिभ्यश्च प्रातिपदि-

केभ्य इदमित्येतस्मिन्नर्थे वुञ् प्रत्ययो भवति॥ उदा०— गोत्रात्— ग्लौचुकायनकम्, औपगवकम्। चरणवाचिभ्यः—काठकम्, कालापकम् मौदकम्, पैप्पलादकम्॥

भाषार्थः- षष्ठी समर्थ [*गोचरणात्*] गोत्रवाची तथा चरणवाची प्रातिपदिकों से इदम् इस अर्थ में [वुञ्] वुञ् प्रत्यय होता है॥ *चरणाद्धर्माम्नाययोः* इस वार्तिक से गोत्रवाचियों से सामान्य षष्ठ्यर्थ में तथा चरणवाचियों से धर्म और आम्नाय अर्थ में वुञ् प्रत्यय होता है, यह विशेष नियम है॥

विशेषः-- काठक कालापक आदि वेद के व्याख्यान रूप ग्रन्थ हैं। कठ ऋषि ने मूल यजुर्वेद संहिता को याज्ञिक प्रक्रिया में अपनी दृष्टि से उपयोगी समझकर अथवा मूल संहिता के पदों की व्याख्या करके समझाने के लिये, कहीं कहीं न्यूनाधिक पाठ भेद करके अपने शिष्यों को पढ़ाया वह प्रवचन काठक नाम से प्रसिद्ध होकर काठक संहिता कहलाई, जो कि एक प्रकार से तैत्तिरीय शाखा की अवान्तर शाखा है। यही बात कालापकम् (मैत्रायणी संहिता) पैप्पलादकम् (अथर्ववेद की अवान्तर शाखा[1]) आदि में समझनी चाहिये। यहाँ यह और समझ लेना चाहिये कि महाभाष्यकार महामुनि पतञ्जलि ने वेद के विषय में ११३१ शाखायें गिनाई हैं, इनमें ऋक्, यजुः, साम, अथर्व ये चार मूल वेद भी सम्मिलित हैं, शेष ११२७ इन चारों की शाखायें हैं। शाखा का विषय बहुत गम्भीर तथा विवेचनीय है, इसको बहुत कम लोग यथार्थ रूप में समझते है॥

यहाँ से *'गोत्रात्'* की अनुवृत्ति ४।३।१३१ तक जायेगी॥

संघाङ्कलक्षणेष्वञ्यञिञामण् ॥४।३।१२६॥

संघाङ्कलक्षणेषु ७।३॥ अञ्यञिञाम् ६।३॥ अण् १।१॥ *स०*— उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—गोत्रात्, तस्येदम्, शेषे, तद्धिताः,

१. शाखा के विषय मे विशेष जानकारी के लिये हमारी बनाई यजुर्वेद भाष्य विवरण भूमिका (पृ० ३६ से ४२ तक) रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित में तथा वैदिक वाङ्मय के उद्भट विद्वान् श्री प० भगवद्दत्त जी कृत वैदिक वाङ्मय का इतिहास प्रथम भाग मे देखें॥

ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—संघ, अङ्क, लक्षण, इत्येतेष्वभिधेयेषु षष्ठीसमर्थादञन्तात् यञन्तादिञन्ताच्च गोत्रप्रत्ययान्तात् प्रातिपदिकादिदमित्येतस्मिन्नर्थेऽण् प्रत्ययो भवति। यथासंख्यमत्र न भवति ॥ उदा०—अञन्तात्—बिदानां सङ्घः = बैदः सङ्घः, बैदोऽङ्कः, बैदं लक्षणम्। यञन्तात्—गार्गः सङ्घः, गार्गोऽङ्कः, गार्गं लक्षणम्। इञन्तान्तात्—दाक्षः सङ्घः, दाक्षोऽङ्कः, दाक्षं लक्षणम् ॥

भाषार्थः—[*संघाङ्कलक्षणेषु*] संघ, अङ्क, लक्षण ये अभिधेय हों तो गोत्रप्रत्ययान्त [*अञ्यञिञाम्*] अञन्त यञन्त तथा इञन्त, षष्ठी समर्थ प्रातिपदिकों से [*अण्*] अण् प्रत्यय होता है इदम् इस अर्थ में ॥ यथासङ्ख्यता इस सूत्र में नहीं लगती ॥ बिद शब्द से *अनृष्यानन्तर्ये०* (४।१।१०४) से अञ् होकर बैद बना है, सो यह अञन्त है, अतः प्रकृत सूत्र से अण् हो गया है। गार्ग्य शब्द (४।१।१०५) यञन्त है सो अण् होकर य का लोप *हलस्तद्धितस्य* च (६।४।१५०) से हो गया है। दाक्षि इञन्त (४।१।९५) शब्द है सो अण् तथा यस्येति लोप हो जाने पर दाक्षः बन गया है ॥ पूर्व सूत्र से वुञ् प्राप्त था उसका अपवाद यह सूत्र है ॥

यहां से '*संघाङ्कलक्षणेषु यञः अण्*' की अनुवृत्ति ४।३।१२७ तक जायेगी ॥

शकलाद्वा ॥४।३।१२७॥

शकलात् ५।१॥ वा अ० ॥ *अनु०*—संघाङ्कलक्षणेषु, यञः[1], अण्, तस्येदम्, गोत्रात्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थात् यञन्तात् गोत्रप्रत्ययान्तात् शकलप्रातिपदिकात् संघाङ्कलक्षणेष्वभिधेयेषु विकल्पेनाण् प्रत्ययो भवति ॥ *गोत्रचरणा०* (४।३।१२५) इति वुञि प्राप्तेऽण् विधीयते पक्षे सोऽपि भवति ॥ उदा०—शकलस्यापत्यं बहवः शाकलाः शाकलकाः। तेषां संघः अङ्कः लक्षणं वा शाकलः, शाकलम्, शाकलकाः ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ गोत्र प्रत्ययान्त यञन्त [*शकलात्*] शकल शब्द से [*वा*] विकल्प से अण् प्रत्यय होता है। पक्ष में ४।३।१२५ का अपवाद होने से वुञ् होगा ॥ *आपत्यस्य च तद्धिते०* (६।४।१५१) से शाकल्य के य का लोप हो गया है ॥

---

१. क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तत इति नियमेन 'यञः' अनुवृत्तिर्भवति।

छन्दोगौक्थिकयाज्ञिकबह्वृचनटाञ्ञ्यः ॥४।३।१२८॥

छन्दो·····नटात् ५।१॥ ञ्यः १।१॥ स०—छन्दोगश्च औक्थिकश्च याज्ञिकश्च बह्वृचश्च नटश्च, छन्दो·····नटम्, तस्मात्·····समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—तस्येदम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—षष्ठीसमर्थेभ्यः छन्दोग, औक्थिक, याज्ञिक, बह्वृच, नट इत्यतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्य इदमित्येतस्मिन्नर्थे ञ्यः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—छन्दोगानां धर्म आम्नायो वा, छान्दोग्यम्, औक्थिक्यम्, याज्ञिक्यम्, बाह्वृच्यम्, नाट्यम् ॥

भाषार्थ.—षष्ठी समर्थ [छन्दो·····टात्] छन्दोग, औक्थिक आदि प्रातिपदिकों से इदम् इस अर्थ में [ञ्य.] ञ्य प्रत्यय होता है॥ *चरणाद्धर्माम्नाययोः* इस वार्त्तिक से धर्म और आम्नाय को कहने में ही 'ञ्य' होता है॥

न दण्डमाणवान्तेवासिषु ॥४।३।१२९॥

न अ० ॥ दण्ड·····सिषु ७।३॥ स०—दण्डः प्रधानमेषां ते दण्डप्रधानाः बहुव्रीहिः, दण्डप्रधानाश्च ते माणवाश्च दण्डमाणवाः मध्यमपदलोपी कर्मधारयस्तत्पुरुषः। दण्डमाणवाश्च अन्तेवासिनश्च दण्डमाणवान्तेवासिनः, तेषु, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—गोत्रात्, तस्येदम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ दण्डमाणवा आश्रमरक्षिण उच्यन्ते। अन्तेवासिनश्च छात्राः। अर्थः—षष्ठीसमर्थेभ्यो गोत्रवाचिभ्य इदमित्येतस्मिन्नर्थे दण्डमाणवेषु अन्तेवासिषु चाभिधेयेषु वुञ् प्रत्ययो न भवति ॥ *गोत्रचरणाद्वुञ्* (४।३।१२६) इति वुञ् प्राप्तः स प्रतिषिध्यते ॥ उदा०—गौकक्ष्यस्य दण्डमाणवाः, अन्तेवासिनो वा गौकक्षाः, दाक्षाः, माहकाः, । गौकक्ष्याद् वुञि प्रतिषिद्धे कण्वादिभ्यो गोत्र इत्यण्। दाक्षिमाहकिशब्दाभ्या*मिञश्च* (४।२।१११) इत्यण् ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ गोत्रवाची प्रातिपदिकों से इदम् इस अर्थ में [दण्ड·····सिषु] दण्डमाणव तथा अन्तेवासी अभिधेय हों तो वुञ् प्रत्यय [न] नहीं होता है॥ आश्रमरक्षकों को दण्डमाणव कहते हैं, तथा अन्तेवासी शिष्य को कहते हैं॥ *गोत्रचरणाद् वुञ्* से जो वुञ् प्राप्त था उसका इस सूत्र से प्रतिषेध किया गया है। वुञ् का प्रतिषेध हो जाने

पर गौकक्ष्य शब्द से *कण्वादिभ्यो०* से अण् तथा दाक्षि, माहकि शब्दों से इञश्च से अण् हुआ है। *आपत्यस्य च०* (६।४।१५१) से गौकक्ष्य के य का लोप हुआ है, अन्यत्र यस्येति लोप हो जायेगा।

रैवतिकादिभ्यश्छः ॥४।३।१३०॥

रैवतिकादिभ्यः ५।३॥ छः १।१॥ *स०*—रैवतिक आदिर्येषां ते रैवतिकादयस्तेभ्यः······बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—गोत्रात्, तस्येदम्, शेषे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थ*—षष्ठीसमर्थेभ्यो रैवतिकादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्य इदमित्येतस्मिन्नर्थे छः प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—रैवतिकानां सङ्घः = रैवतिकीयः, स्वापिशीयः॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*रैवतिकादिभ्यः*] रैवतिकादि प्रातिपदिकों से इदम् इस अर्थ में [*छः*] छ प्रत्यय होता है॥ रैवतिक आदि सब शब्द गोत्र प्रत्ययान्त हैं, उनसे वुञ् की प्राप्ति में छ का विधान किया है॥

यहाँ से शेषे (४।२।९१) का अधिकार समाप्त हुआ॥

तस्य विकारः ४।३।१३१॥

तस्य ६।१॥ विकारः १।१॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्यय परश्च॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकात् विकारेऽर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—मृत्तिकायाः विकारो घटः मार्त्तिकः, आश्मः, आश्मनः, भास्मनः॥

भाषार्थः—[*तस्य*] षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से [*विकारः*] विकार अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है॥ मृत्तिका = मट्टी का विकार = बना हुआ रूप मार्त्तिक (घट) कहाता है, यहाँ सर्वत्र यथाविहित अण् प्रत्यय हुआ है। *अश्मनो विकार उपसङ्ख्यानम्* (६।४।१४४) इस वार्त्तिक से विकल्प से टि भाग का लोप होता है अतः दो रूप बनते हैं॥

यहाँ से *"तस्य विकारः"* की अनुवृत्ति ४।३।१६५ तक जायेगी॥

अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः ॥४।३।१३२॥

अवयवे ७।१॥ च अ०॥ प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः ५।३॥ *स०* प्राण्यो० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदि-

कात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—षष्ठीसमर्थेभ्यः प्राण्योषधिवृक्षवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽवयवे विकारे चार्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ नियमार्थमिदम्। प्राण्यादिभ्य इतराणि यानि प्रातिपदिकानि तेभ्यो विकार एव प्रत्ययो भवति, प्राण्यादिभ्यस्तु विकारावयवोरुभयोरपि ॥ उदा०—प्राणिवाचिभ्यः—कपोतस्य विकारोऽवयवो वा कापोतः, मायूरः, तैत्तिरः। ओषधिभ्यः—मौर्वं काण्डम्, लावङ्गम्। वृक्षवाचिभ्यः—कारीरं काण्डम्, कारीरं भस्म ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः*] प्राणिवाची, ओषधिवाची तथा वृक्षवाची प्रातिपदिकों से [*अवयवे*] अवयव [च] तथा विकार अर्थों में यथाविहित प्रत्यय होता है ॥

विशेषः—यह सूत्र नियमार्थ है। यहाँ से आगे ४।३।१६५ तक प्राणी ओषधी, तथा वृक्षवाची प्रातिपदिकों से अवयव तथा विकार दोनों अर्थों में प्रत्यय होंगे, एवं इनसे अन्य प्रातिपदिकों से केवल विकार अर्थ में ही प्रत्यय होंगे, यह नियम है ॥ प्राणीवाची प्रातिपदिकों से आगे ४।३।१५१ से अञ् (४।१।१५४) कहेंगे, अतः कापोतः आदि में अञ् हो गया है, शेष में औत्सर्गिक अण् है ॥

यहाँ से '*अवयवे*' की अनुवृत्ति ४।३।१६५ तक जायेगी ॥

बिल्वादिभ्योऽण् ॥४।३।१३३॥

बिल्वादिभ्यः ५।३॥ अण् १।१॥ *स०*—बिल्व आदिर्येषां ते बिल्वादयस्तेभ्यः....बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थेभ्यो बिल्वादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो विकारावयवयोरर्थयोरण् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—बिल्वस्य विकारोऽवयवो वा = बैल्वः, व्रैहः ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*बिल्वादिभ्यः*] बिल्वादि प्रातिपदिकों से विकार और अवयव अर्थों में [*अण्*] अण् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*अण्*' की अनुवृत्ति ४।३।१३५ तक जायेगी ॥

कोपधाच्च ॥४।३।१३४॥

कोपधात् ५।१॥ च अ० ॥ *स०*—क उपधा यस्य स कोपधः, तस्मात्....बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अण्, अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः,

ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थात् कोपधप्रातिपदिकात् विकारावयवयोरर्थयोरण् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—तित्तिडीकस्य विकारोऽवयवो वा तैत्तिडीकम्। तर्कोः विकारोऽवयवो वा तार्कवम्, माण्डूकम्, दार्दुरूकम्, माधूकम् ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*कोपधात्*] ककार उपधा वाले प्रातिपदिक से [च] भी विकार और अवयव अर्थों में अण् प्रत्यय होता है ॥ तर्कु के उ को अण् परे रहते *ओर्गुणः* (६।४।१४६) से गुण होकर तार्कवम् बना है ॥

त्रपुजतुनोः षुक् ॥४।३।१३५॥

त्रपुजतुनोः ६।२॥ षुक् १।१॥ *स०*—त्रपु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अण्, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—त्रपु जतु इत्येताभ्यां षष्ठीसमर्थाभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां विकारेऽर्थेऽण् प्रत्ययो भवति तत्सन्नियोगेन च तयोः पुगागमो भवति ॥ *उदा०*—त्रपुणो विकारः = त्रापुषम्, जातुषम् ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*त्रपुजतुनोः*] त्रपु और जतु प्रातिपदिकों से अण् प्रत्यय होता है, तथा इन शब्दों को [षुक्] पुक्] षुक् आगम भी होता है ॥ त्रपु = रांगा, जतु लाख के वाची हैं, अतः अप्राण्योषधिवाची होने से केवल विकार अर्थ में प्रत्यय होगा। सिद्धि प्रथमावृत्ति प्रथम भाग पृ० ७१५ परि० १।१।४५ में दिखाई है ॥

ओरञ् ॥४।३।१३६॥

ओः ५।१॥ अञ् १।१॥ *अनु०*—अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थाद् उवर्णान्तात् प्रातिपदिकादञ् प्रत्ययो भवति विकारावयवयोरर्थयोः ॥ *उदा०*—देवदारोर्विकारावयवो वा दैवदारवम्, तारवम्, धैनवम् ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*ओः*] उवर्णान्त प्रातिपदिक से विकार और अवयव अर्थों में [*अञ्*] अञ् प्रत्यय होता है ॥ *ओर्गुणः* (६।४।१४६) से सर्वत्र सिद्धि में गुण होगा ॥

यहाँ से 'अञ्' की अनुवृत्ति ४।३।१३८ तक जायेगी ॥

अनुदात्तादेश्च ॥४।३।१३७॥

अनुदात्तादेः ५।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—अञ्, अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थाद-नुदात्तादेः प्रातिपदिकात् विकारावयवयोरर्थयोरञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—दाधित्थम्, कापित्थम्, माहित्थम् ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*अनुदात्तादेः*] अनुदात्तादि प्रातिपदिकों से [च] भी विकार और अवयव अर्थों में अञ् प्रत्यय होता है ॥ दध्नि तिष्ठतीति दधित्थः, कपित्थः, यहाँ क प्रत्ययान्त से उपपद समास *कुगतिप्रादयः* (२।२।१८) से हुआ है, अतः *थाथघञ्क्ता०* से यह शब्द उत्तरपद अन्तोदात्त है। *अनुदात्तं०* (६।१।१५२) से शेष सारा पद अनुदात्त होकर यह शब्द अनुदात्तादि हुआ, अतः प्रकृत सूत्र से अञ् होकर दाधित्थम्, कापित्थम् बन गया ॥ स्था के सकार को तकार *पृषोदरादीनि०* (६।३।१०७) से जानना चाहिये। अव्युत्पन्न पक्ष में *फिषोऽन्तो०* (*फिट्०* १।१) सूत्र से अन्तोदात्त होता है ॥

पलाशादिभ्यो वा ॥४।३।१३८॥

पलाशादिभ्यः ५।३॥ वा अ० ॥ *स०*—पलाश आदिर्येषां ते पला-शादयस्तेभ्यः,.....बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अञ्, अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थेभ्यः पलाशादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो विकल्पेन विकारावयवयोरर्थयोरञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—पलाशस्य विकारोऽवयवो वा पालाशम्, खादिरम् ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*पलाशादिभ्यः*] पलाशादि प्रातिपदिकों से [*वा*] विकल्प से विकार, अवयव अर्थों में अञ् प्रत्यय होता है ॥ पक्ष में औत्सर्गिक अण् होता है ॥

शम्याष्ट्लञ् ॥४।३।१३९॥

शम्याः ५।१॥ ट्लञ् १।१॥ *अनु०*—अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थात् शमीप्रा-तिपदिकात् ट्लञ् प्रत्ययो भवति विकारावयवयोरर्थयोः। *उदा०*—शम्याः विकारः = शामीलं भस्म, शामीली यष्टिका ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*शम्याः*] शमी प्रातिपदिक से विकार और अवयव अर्थों में [*ट्लञ्*] ट्लञ् प्रत्यय होता है ॥ टित् होने से *टिड्ढाणञ्*० (४।१।१५) से ङीप् स्त्रीलिङ्ग में होता है ॥

मयड्वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः ॥४।३।१४०॥

मयट् १।१॥ वा० अ० ॥ एतयोः ७।२॥ भाषायाम् ७।१॥ अभक्ष्याच्छादनयोः ७।२॥ *स०*—भक्ष्यञ्च, आच्छादनञ्च, भक्ष्याच्छादने, न भक्ष्याच्छादने, अभक्ष्याच्छादने, तयोः द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् , प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—भक्ष्याच्छादनवर्जितयोर्विकारावयवयोरर्थयोः षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकाद् भाषायां = लौकिकप्रयोगविषये विकल्पेन मयट्प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अश्मनो विकारोऽवयवो वा अश्ममयम् , आश्मनम् , मूर्वामयम् , मौर्वम् ॥ विकारावयवयोरनुवृत्तावपि एतयोर्निर्देशोऽनयोरर्थयोर्येऽपि विशेषप्रत्यया विहितास्तत्रापि मयट् विभाषा यथा स्यात् इत्येवमर्थो द्रष्टव्यः । यथा कपोतमयम् कापोतम् । लोहमयम् , लौहम् ।

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ प्रातिपदिकों से [*अभक्ष्याच्छादनयोः*] भक्ष्य और आच्छादन वर्जित [*एतयोः*] विकार तथा अवयव अर्थों में [*भाषायाम्*] लौकिक प्रयोग विषय में [*वा*] विकल्प से [*मयट्*]मयट् प्रत्यय होता है ॥ 'एतयोः' से यहाँ विकार वयवय ही लक्षित किया गया है, यहाँ विकार और अवयव की अनुवृत्ति है ही, पुनः एतयोः ग्रहण से विकार अवयव अर्थ में जो विशेष प्रत्यय कहे हैं, उनके साथ भी मयट् विकल्प से हो जाता है ॥ यथा—कपोतमयम् कापोतम् , लोहमयम् , लौहम् ॥ पक्ष में यथाविहित प्रत्यय होते हैं ॥

यहाँ से '*मयट्*' की अनुवृत्ति ४।३।१४८ तक तथा '*भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः*' की अनुवृत्ति ४।३।१४१ तक जायेगी ॥

नित्यं वृद्धशरादिभ्यः ॥४।३।१४१॥

नित्यम् १।१॥ वृद्धशरादिभ्यः ५।३॥ *स०*—शर आदिर्येषां ते शरादयः, वृद्धश्च शरादयश्च, वृद्धशरादयस्तेभ्यः ······ बहुव्रीहिगर्भेतरेतरद्वन्द्वः ॥

अनु०—मयट्, भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—भक्ष्याच्छादनवर्जितविकारावयवयोरर्थयोः षष्ठीसमर्थेभ्यो वृद्धसंज्ञकेभ्यः शरादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यो नित्यं मयट् प्रत्ययो भवति ॥ पूर्वेण विकल्पे प्राप्ते नित्यार्थं वचनम् ॥ *उदा०*—वृद्धसंज्ञकेभ्यः—आम्रस्य विकारः = आम्रमयम्, शाकमयम्। शरादिभ्यः—शरमयम्, दर्भमयम्, मृण्मयम्॥

भाषार्थः—भक्ष्य और आच्छादन वर्जित विकार और अवयव अर्थों में षष्ठी समर्थ [*वृद्धशरादिभ्यः*] वृद्ध संज्ञक तथा शरादि प्रातिपदिकों से लौकिक प्रयोग विषय में [*नित्यम्*] नित्य ही मयट् प्रत्यय होता है॥ पूर्व सूत्र से विकल्प की प्राप्ति में नित्यार्थ यह वचन है॥

गोश्च पुरीषे ॥४।३।१४२॥

गोः ५।१॥ च अ० ॥ पुरीषे ७।१॥ *अनु०*—मयट्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थात् गोप्रातिपदिकात् पुरीषेऽभिधेये मयट् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—गोः पुरीषं = गोमयम्॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*गोः*] गो प्रातिपदिक से [च] भी [*पुरीषे*] पुरीषं = मल अभिधेय होने पर मयट् प्रत्यय होता है॥ पुरीष न तो गाय का विकार है न अवयव, अतः इस सूत्र में सामर्थ्य से विकार अवयव का सम्बन्ध नहीं होता, केवल सम्बन्ध सामान्य विवक्षित है ॥

पिष्टाच्च ॥४।३।१४३॥

पिष्टात् ५।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—मयट्, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थात् पिष्टप्रातिपदिकात् मयट् प्रत्ययो भवति विकारेऽर्थे ॥ *उदा०*—पिष्टस्य विकारः पिष्टमयं भस्म ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*पिष्टात्*] पिष्ट प्रातिपदिक से [च] भी मयट् प्रत्यय होता है विकार अर्थ में॥ पिष्ट अप्राण्योषधिवृक्षवाची

प्रातिपदिक है, अतः इससे केवल विकार अर्थ में मयट् होता है ॥ यह सूत्र औत्सर्गिक अण् का अपवाद है ॥

यहाँ से '*पिष्टात्*' की अनुवृत्ति ४।३।१४४ तक जायेगी ॥

संज्ञायां कन् ॥४।३।१४४॥

संज्ञायाम् ७।१॥ कन् १।१॥ *अनु०*—पिष्टात्, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थात् पिष्टप्रातिपदिकात् संज्ञायां विषये विकारेऽर्थे कन् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—पिष्टकः ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ पिष्ट प्रातिपदिक से [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में विकार अर्थ कहना हो तो [*कन्*] कन् प्रत्यय होता है ॥

व्रीहेः पुरोडाशे ॥४।३।१४५॥

व्रीहेः ५।१॥ पुरोडाशे ७।१॥ *अनु०*—मयट्, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थात् व्रीहि-प्रातिपदिकात् मयट् प्रत्ययो भवति पुरोडाशे विकारेऽभिधेये ॥ *उदा०*—व्रीहिमयः पुरोडाशः ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*व्रीहेः*] व्रीहि प्रातिपदिक से [*पुरोडाशे*] पुरोडाश रूप विकार अभिधेय होने पर मयट् प्रत्यय होता है ॥ व्रीहि-शब्द बिल्वादि गण में पढ़ा है, अतः अण् का अपवाद यह सूत्र है, पुरोडाश से अन्य कोई विकार कहना हो तो अण् ही होगा ॥

असंज्ञायाम् तिलयवाभ्याम् ॥४।३।१४६॥

असंज्ञायाम् ७।१॥ तिलयवाभ्याम् ५।२॥ *स०*—तिल० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—मयट्, अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थाभ्यां तिलयवप्रातिपदिकाभ्यां विकारावयवयोरर्थयोरसंज्ञायां विषये मयट् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—तिलस्य विकारोऽवयवो वा तिलमयम् यवमयम् ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*तिलयवाभ्याम्*] तिल, यव प्रातिपदिकों से [*असंज्ञायाम्*] संज्ञा गम्यमान न हो तो विकार और अवयव अर्थों में

मयट् प्रत्यय होता है ॥ ये सब भक्ष्य पदार्थ हैं, सो ४।३।१४० से मयट् प्राप्त नहीं था, अतः उसका विधान कर दिया है ॥

द्व्यचश्छन्दसि ॥४।३।१४७॥

द्व्यचः ५।१॥ छन्दसि ७।१॥ स०—द्वौ अचौ यस्मिन् स द्व्यच्, तस्मात्......बहुव्रीहिः ॥ अनु०— मयट्, अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—षष्ठीसमर्थाद् द्व्यच्प्रातिपदिकात् छन्दसि विषये विकारावयवयोरर्थयोर्मयट् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—यस्य पर्णमयी जुहूर्भवति । दर्भमयं वासो भवति । शरमयं बर्हिर्भवति ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*द्व्यचः*] दो अच् वाले प्रातिपदिक से [*छन्दसि*] वेद विषय में विकार, अवयव अर्थ अभिधेय होने पर मयट् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*द्व्यचश्छन्दसि*' की अनुवृत्ति ४।३।१४८ तक जायेगी ॥

नोत्वद्वर्ध्रबिल्वात् ॥४।३।१४८॥

न अ० ॥ उत्वद्वर्ध्रबिल्वात् ५।१॥ स०—उकारो विद्यते ऽस्मिन् तदुत्वत्, बहुव्रीहिः । उत्वत् च वर्ध्रश्च बिल्वश्च, उत्वद्वर्ध्रबिल्वम्, तस्मात्......समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—द्व्यचश्छन्दसि, मयट्, अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—षष्ठीसमर्थाद् द्व्यच उकारवतः प्रातिपदिकाद् वर्ध्रबिल्वशब्दाभ्यां च विकारावयवयोरर्थयोः मयट् प्रत्ययो न भवति ॥ उदा०—मौञ्जं शिक्यम्, गार्मुतं चरुम् । वार्ध्रम् । बैल्वम् ॥

भाषार्थः—[*उत्वद्वर्ध्रबिल्वात्*] उकारवान् द्व्यच् षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से, तथा वर्ध्र बिल्व शब्दों से वेद विषय में मयट् प्रत्यय [*न*] नहीं होता ॥ पूर्व सूत्र से प्राप्त मयट् का यह निषेध है ॥ मुञ्ज एवं गर्मुत् शब्द उकारवान् तथा द्व्यच् हैं, सो मयट् का निषेध होकर मुञ्ज शब्द से औत्सर्गिक अण् एवं गर्मुत् शब्द से *अनुदात्तादेश्च* (४।३।१३८) सूत्र से अञ् हो गया है । वर्ध्र शब्द से भी औत्सर्गिक अण् तथा बिल्व शब्द से *बिल्वादिभ्योऽण्* (४।३।१३४) से अण् हुआ है ॥

तालादिभ्योऽण् ॥४।३।१४९॥

तालादिभ्यः ५।३॥ अण् १।१॥ *स०*—ताल आदिर्येषां ते तालादयस्तेभ्यः—बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थेभ्यस्तालादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽण् प्रत्ययो भवति विकारावयवयोरर्थयोः ॥ *उदा०*—तालं धनुः । बार्हिणम् । ऐन्द्रालिशम् ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*तालादिभ्यः*] तालादि प्रातिपदिकों से विकार और अवयव अर्थों में [*अण्*] अण् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*अण्*' की अनुवृत्ति ४।३।१५० तक जायेगी ॥

जातरूपेभ्यः परिमाणे ॥४।३।१५०॥

जातरूपेभ्यः ५।३॥ परिमाणे ७।१॥ *अनु०*—अण्, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थ*.—जातरूपवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः परिमाणे गम्यमाने विकारेऽर्थेऽण् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—हाटको निष्कः । जातरूपं कार्षापणम् । सौवर्णो निष्कः । रौक्मः ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*जातरूपेभ्यः*] जातरूप = सुवर्णवाची प्रातिपदिकों से [*परिमाणे*] परिमाण जाना जाए तो विकार अभिधेय होने पर अण् प्रत्यय होता है ॥ निष्क कार्षापण आदि परिमाण वाची शब्द हैं ॥ हाटक सुवर्ण रुक्म आदि सोने के पर्यायवाची शब्द हैं ॥

प्राणिरजतादिभ्योऽञ् ॥४।३।१५१॥

प्राणि······भ्यः ५।३॥ अञ् १।१॥ *स०*—रजत आदिर्येषां ते रजतादयः, प्राणिनश्च रजतादयश्च, प्राणिरजतादयः, तेभ्यः······ बहुव्रीहिगर्भेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थेभ्यः प्राणिवाचिभ्यो रजतादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यो विकारावयवयोरर्थयोरञ् प्रत्ययो भवति । अणादेरपवादः ॥ *उदा०*—कपोतस्य विकारोऽवयवो वा कापोतम्, मायूरम्, तैत्तिरम् । रजतादिभ्यः—राजतम्, सैसम् ॥

भाषार्थ—षष्ठी समर्थ [*प्राणि......भ्यः*] प्राणिवाची तथा रजतादि गण में पढ़े प्रातिपदिकों से विकार और अवयव अर्थों में [*अञ्*] अञ् प्रत्यय होता है॥ पक्ष में मयट् अणादि की प्राप्ति थी, उन्हीं का बाधक यह सूत्र है॥

यहाँ से 'अञ्' की अनुवृत्ति ४।३।१५२ तक जायेगी॥

ञितश्च तत्प्रत्ययात् ॥४।३।१५२॥

ञितः ५।१॥ च अ०॥ तत्प्रत्ययात् ५।१॥ *स०*—ञ् इत् यस्य स ञित्, तस्मात् बहुव्रीहिः। तयोर्विहितः प्रत्ययः, तत्प्रत्ययः, तस्मात् षष्ठीतत्पुरुषः॥ *अनु०*—अञ्, अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—विकारावयवयोरर्थयोः विहितो यो ञित् प्रत्ययस्तदन्तात् षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकादञ् प्रत्ययो भवति विकारावयवयोरेवार्थयोः॥ *उदा०*—शामीलस्य विकारोऽवयवो वा शामीलम्। दैवदारवस्य विकारः दैवदारवम्, दाधित्थम्, कापित्थम्॥

भाषार्थः—[*तत्प्रत्ययात्*] विकार और अवयव अर्थों में विहित जो [*ञितः*] ञित् प्रत्यय तदन्त षष्ठी समर्थ प्रातिपदिकों से [च] भी, विकार और अवयव अर्थ में ही (अर्थात् विकार का भी विकार, अवयव का भी अवयव कहना हो तो) अञ् प्रत्यय होता है॥

तस्य विकारः और *अवयवे* के अधिकार में *ओरञ्*, *अनुदात्तादेश्च*, *पलाशादिभ्यो वा*, *शम्याष्ट्लञ्*, *प्राणिरजतादिभ्योऽञ्*, *उष्ट्राद्वुञ्*, *एण्या ढञ्*. *कंसीयपरशव्ययोर्यञञौ लुक् च*, इन सूत्रों से ञित् प्रत्यय कहे हैं, सो इन सूत्रों से विहित ञित् प्रत्यय तदन्त शब्द से यदि विकार का विकार अथवा अवयव का अवयव कहना हो तो, अञ् प्रत्यय हो जायगा। अञ् प्रत्यय कर लेने पर रूप तो पहिले जैसा ही बनेगा, केवल अर्थ में ही भेद रहेगा॥

क्रीतवत्परिमाणात् ॥४।३।१५३॥

क्रीतवत् अ०॥ परिमाणात् ५।१॥ क्रीत इव क्रीतवत्, सप्तमीसमर्थाद्वतिः॥ *अनु०*—अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थात् परिमाणवाचिनः प्रातिपदिकात्,

क्रीतवत् प्रत्यया भवन्ति, अर्थात् यथैव क्रीतार्थे ये प्रत्यया भवन्ति तथैव ते प्रत्ययाः विकारावयवयोरप्यर्थयोर्भवन्ति ॥ *उदा०*—यथैव निष्केण क्रीतं नैष्किकम्, शतेन क्रीतं = शत्यं शतिकम् भवति तथैव विकारावयवार्थेऽपि, निष्कस्य विकारोऽवयवो वा नैष्किकः शतस्य विकारः = शत्यः, शतिक इत्यपि भवति ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*परिमाणात्*] परिमाणवाची प्रातिपदिकों से [*क्रीतवत्*] क्रीतवत् प्रत्यय अर्थात् परिमाणवाची प्रातिपदिकों से जिस प्रकार जो प्रत्यय क्रीत अर्थों में कहे हैं, वे प्रत्यय उसी तरह विकार अवयव अर्थों में भी होते हैं ॥ यह अतिदेश सूत्र है ॥ *प्राक्क्रीताच्छः* (५।१।१) प्रकरण में क्रीत अर्थ में प्रत्यय कहे हैं। उन्हीं का यहाँ अतिदेश है। नैष्किकः में जिस प्रकार *प्राग्वतेष्ठञ्* (५।१।१८) अधिकार में *तेन क्रीतम्* से ठञ् प्रत्यय क्रीत अर्थ में हुआ है इसी प्रकार विकारावयव अर्थ में भी हो जायेगा। इसी प्रकार शतिकः शत्यः में *शताच्च ठन्यतावशते* (५।१।२१) से कहे हुए ठन् और यत् विकार अवयव अर्थ में भी हो गये हैं ॥

उष्ट्राद्वुञ् ॥४।३।१५४॥

उष्ट्रात् ५।१॥ वुञ् १।१॥ *अनु०*—अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थ*—षष्ठीसमर्थाद् उष्ट्रप्रातिपदिकात् वुञ् प्रत्ययो भवति विकारावयवयोरर्थयोः ॥ *उदा०*—उष्ट्रस्य विकारोऽवयवो वा औष्ट्रकः ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*उष्ट्रात्*] उष्ट्र प्रातिपदिक से विकार और अवयव अर्थों में [*वुञ्*] वुञ् प्रत्यय होता है ॥ उष्ट्र शब्द प्राणीवाची है, सो *प्राणिरजतादि०* (४।३।१५२) से अञ् प्राप्त था तदपवाद है ॥

यहाँ से 'वुञ्' की अनुवृत्ति ४।३।१५५ तक जायेगी ॥

उमोर्णयोर्वा ॥४।३।१५५॥

उमोर्णयोः ६।२॥ वा अ० ॥ *स०*—उमो० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—वुञ्, अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थाभ्याम् उमा, ऊर्णा इत्येताभ्यां

प्रातिपदिकाभ्यां विकल्पेन वुञ् प्रत्ययो भवति विकारावयवयोरर्थयोः ॥ उदा०—उमायाः विकारोऽवयवो वा = औमकम्, औमम्। और्णकम्, और्णम् ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*उमोर्णयोः*] उमा तथा ऊर्णा प्रातिपदिक से [*वा*] विकल्प से विकार अवयव अर्थों में वुञ् प्रत्यय होता है। पक्ष में औत्सर्गिक अण् होता है ॥

एण्या ढञ् ॥४।३।१५६॥

एण्याः ५।१॥ ढञ् १।१॥ *अनु०*—अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थाद् एणीप्रातिपदिकात् ढञ् प्रत्ययो भवति विकारावयवयोरर्थयोः ॥ *उदा०*—एण्या विकारोऽवयवो वा = ऐणेयं मांसम् ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*एण्याः*] एणी प्रातिपदिक से विकार और अवयव अर्थों में [*ढञ्*] ढञ् प्रत्यय होता है॥ एणी शब्द हिरनी का वाचक है, अतः प्राणिवाची होने से ४।३।१५२ से अञ् प्राप्त था, उसका यह अपवाद है ॥

गोपयसोर्यत् ॥४।३।१५७॥

गोपयसोः ६।२॥ यत् १।१॥ *स०*—गौश्च पयश्च, गोपयसी, तयोः······इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थाभ्यां गोपयःशब्दाभ्यां यत् प्रत्ययो भवति विकारावयवयोरर्थयोः। *उदा०*—गोर्विकारो ऽवयवो वा गव्यम्, पयसः विकारः पयस्यम् ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*गोपयसोः*] गो तथा पयस् शब्दों से विकार तथा अवयव अर्थों में [*यत्*] यत् प्रत्यय होता है॥ पयस् (दूध) अप्राण्योषधिवृक्षवाची शब्द है, अतः इससे केवल विकार अर्थ में प्रत्यय हुआ है, अवयव में नहीं ॥

यहाँ से '*यत्*' की अनुवृत्ति ४।३।१५८ तक जायेगी ॥

द्रोश्च ॥४।३।१५८॥

द्रोः ५।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—यत्, अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थात्

द्रुप्रातिपदिकाद् विकारावयवयोरर्थयोर्यत् प्रत्ययो भवति। ओरञो-पवादः॥ उदा०—द्रोर्विकारोऽवयवो वा द्रव्यम्॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*द्रोः*] द्रु प्रातिपदिक से [च] भी विकार और अवयव अर्थों में यत् प्रत्यय होता है॥ यह सूत्र *ओरञ्* (४।३।१३७) सूत्र का अपवाद है॥ वस्तुवाची द्रव्य शब्द अव्युत्पन्न स्वतन्त्र है॥

यहाँ से '*द्रोः*' की अनुवृत्ति ४।३।१५९ तक जायेगी॥

माने वयः ॥४।३।१५९॥

माने ७।१॥ वयः १।१॥ *अनु०*—द्रोः, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थाद् द्रुशब्दात् माने विकारेऽभिधेये वयः प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—द्रोर्विकारो मानं द्रुवयम्॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ द्रु प्रातिपदिक से [*माने*] मान रूपी विकार अभिधेय हो तो [*वयः*] वय प्रत्यय होता है॥

फले लुक् ॥४।३।१६०॥

फले ७।१॥ लुक् १।१॥ *अनु०*—अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—फलेऽभिधेये विकाराव-यवोरर्थयोरुत्पन्नस्य प्रत्ययस्य लुक् भवति॥ *उदा०*—आमलक्याः फलं विकारोऽवयवो वा आमलकम्, कुवलम्, बदरम्॥

भाषार्थः—[*फले*] फल अभिधेय हो तो विकार, और अवयव अर्थों में विहित जो प्रत्यय उसका [*लुक्*] लुक् होता है॥ सिद्धि भाग १ पृ० ७६६ परि० १।२।४९ में देखें॥

यहाँ से '*फले*' की अनुवृत्ति ४।३।१६४ तक जायेगी॥

प्लक्षादिभ्योऽण् ॥४।३।१६१॥

प्लक्षादिभ्यः ५।३॥ अण् १।१॥ *स०*—प्लक्ष आदिर्येषां ते प्लक्षादय-स्तेभ्यः......बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—फले, अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः,

ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थेभ्यः प्लक्षादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः फले विकारेऽवयवत्वेन विवक्षितेऽण् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—प्लक्षस्य विकारोऽवयवो वा = प्लाक्षम्, नैयग्रोधम् ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*प्लक्षादिभ्यः*] प्लक्षादि प्रातिपदिकों से फल के विकार और अवयव की विवक्षा होने पर [*अण्*] अण् प्रत्यय होता है ॥ विधान सामर्थ्य से इस अण् का *फले लुक्* से लुक् नहीं होता। नैयग्रोधम् में *न्यग्रोधस्य च केवलस्य* (७।३।५) से ऐच् आगम होकर 'न् ऐयग्रोधम् = नैयग्रोधम्' बनेगा ॥

यहाँ से '*अण्*' की अनुवृत्ति ४।३।१६२ तक जायेगी ॥

जम्ब्वा वा ॥४।३।१६२॥

जम्ब्वाः ५।१॥ वा अ० ॥ *अनु०*—अण्, फले, अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थात् जम्बूप्रातिपदिकात् विकारावयवयोरर्थयोः फलेऽभिधेये विकल्पेनाण् प्रत्ययो भवति, पक्षे ओरञ् इत्यनेनाञ् ॥ *उदा०*—जम्ब्वाः फलानि = जाम्बवानि फलानि। पक्षे अञ् तस्य लुक्-जम्बूनि फलानि ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*जम्ब्वाः*] जम्बू प्रातिपदिक से विकार अवयव अर्थों में फल अभिधेय हो तो [*वा*] विकल्प से अण् प्रत्यय होता है ॥ विधान सामर्थ्य से *फले लुक्* से अण् का लुक् नहीं होता किन्तु पक्ष में हुये अञ् का लुक् होकर 'जम्बूनि फलानि' बनता है ॥

यहाँ से '*जम्ब्वा वा*' की अनुवृत्ति ४।३।१६३ तक जायेगी ॥

लुप् च ॥४।३।१६३॥

लुप् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—जम्ब्वा वा, फले, अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थाज्जम्बूप्रातिपदिकात् विकारावयवयोरर्थयोर्विहितस्य प्रत्ययस्य फलेऽभिधेये, वा लुप् भवति ॥ *उदा०*—जम्ब्वाः फलं जम्बूः फलम्, जम्बु फलं, जाम्बवम् फलम् ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ जम्बू प्रातिपदिक से फल अभिधेय होने पर विकारावयव अर्थों में विहित प्रत्यय का विकल्प से [*लुप्*] लुप् [*च*] भी होता है ॥

विधान सामर्थ्य से अण् का लुप् नहीं होता, *जम्ब्वा वा* से पक्ष में हुये अञ् का ही विकल्प से लुप् होता है, एक पक्ष में अञ् का लुप् तथा दूसरे पक्ष में *फले लुक्* से लुक् होगा ॥ लुप् और लुक् में यही भेद है कि लुप् करने पर *लुपि युक्तवद् व्यक्तिवचने* (१।२।५१) से युक्तवद्भाव होकर फलार्थक जम्बू में भी स्त्रीलिङ्ग ही होता है अतः जम्बूः फलं बना, पर लुक् करने पर युक्तवद् (पूर्ववत् लिङ्ग वचन) नहीं हुआ, तो अभिधेय के अनुसार नपुंसक लिङ्ग होकर, *ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य* (१।२।४७) से ह्रस्व होकर जम्बु फलम् बन गया ॥

यहाँ से 'लुप्' की अनुवृत्ति ४।३।१६४ तक जायेगी ॥

हरीतक्यादिभ्यश्च ॥४।३।१६४॥

हरीतक्यादिभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ *स०*—हरीतकी आदिर्येषां ते हरीतक्यादयस्तेभ्यः······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—लुप्, फले, अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो विकारावयवयोरर्थयोर्विहितस्य प्रत्ययस्य फलेऽभिधेये लुप् भवति ॥ *उदा०*—हरीतक्याः फलं विकारो हरीतकी फलं, कोशातकी, नखरजनी ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*हरीतक्यादिभ्यः*] हरीतकी आदि प्रातिपदिकों से विकार अवयव अर्थों में विहित प्रत्यय का फल अभिधेय होने पर [*च*] भी लुप् होता है ॥ औत्सर्गिक अण् *अवयवे च प्राण्यो०* (४।३।१३३) से हुआ था, उसी का यहाँ लुप् हुआ है ॥ फले लुक् से लुक् प्राप्त था लुप् विधान कर दिया, ताकि *लुपि युक्तवद्०* (१।२।५१) से युक्तवद्भाव हो जाये, तथा स्त्रीप्रत्यय का *लुक्तद्धितलुकि* (१।२।४९) से लुक् न हो ॥

कंसीयपरशव्ययोर्यञञौ लुक् च ॥४।३।१६५॥

कंसीयपरशव्ययोः ६।२॥ यञञौ १।२॥ लुक् १।१॥ च अ० ॥ *स०*—उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अवयवे, तस्य विकारः, तद्धिताः, ङ्याप्प्राति-

पदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थाभ्यां कंसीय, परशव्य इत्येताभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां यथासंख्यं यञ्, अञ् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः, तत्सन्नियोगेन च कंसीयपरशव्ययोर्लुग् भवति ॥ *उदा०*—कंसीयस्य विकारः, कांस्यः, परशव्यस्य विकारः = पारशवः ॥ यद्यपि कंसीयपरशव्यशब्दौ षष्ठीनिर्दिष्टौ तथापि *प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः* (१।१।६०) इति नियमाच् छयतोः प्रत्यययोरेव लुक् भवति ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*कंसी ... व्ययोः*] कंसीय परशव्य प्रातिपदिकों से यथासङ्ख्य करके [*यञञौ*] यञ् और अञ् प्रत्यय होते हैं, तथा प्रत्यय के साथ साथ कंसीय और परशव्य का [*लुक्*] लुक् [*च*] भी होता है ॥

कंस शब्द से *प्राक् क्रीताच्छः* (५।१।१) से छ होकर कंसीय तथा परशु शब्द से *उगवादिभ्यो०* (५।१।२) से यत् होकर परशव्य शब्द बने हैं ॥ यद्यपि सूत्र में कंसीय और परशव्य षष्ठ्यन्त है तथापि यहाँ लुक् कहने पर छ और यत् प्रत्यय का ही लुक् होता है, पूरे कंसीय तथा परशव्य शब्द का नहीं, क्योंकि *प्रत्ययस्य लुक्श्लुलुपः* (१।१।६०) से प्रत्यय के अदर्शन की ही लुक् संज्ञा है, सो प्रत्यय का ही लुक् होगा ॥ प्रत्यय का लुक् कर लेने पर 'कंस यञ्' 'परशु अञ्' ऐसी स्थिति रही, सो *ओर्गुणः* (६।४।१४६) से परशु को गुण होकर पारशवः, कांस्यः बन गया ॥

॥ इति तृतीयः पादः ॥

—:०:—

चतुर्थः पादः

प्राग्वहतेष्ठक् ॥४।४।१॥

प्राक् अ० ॥ वहतेः ५।१॥ ठक् १।१॥ *अनु०*—तद्धिताः, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्राग् एतस्मात् *तद्वहति०* (४।४।७६) इत्यतः पूर्वं पूर्वं येऽर्थाः निर्दिश्यन्ते तेषु सामान्येन ठगधिकारो वेदितव्यः ॥ *उदा०*—अक्षैर्दीव्यति आक्षिकः, एवमन्यत्रापि ज्ञेयम् ॥

भाषार्थः—[*वहतेः*] *तद्वहतिरथयुगप्रासङ्गम्* इस सूत्र से [*प्राक्*] पहिले पहिले जो अर्थ निर्दिष्ट किये गये हैं, वहाँ तक [*ठक्*] ठक् प्रत्यय

का अधिकार जायेगा, ऐसा जानना चाहिये ॥ यह अधिकार सूत्र है ॥ अपवाद सूत्रों को छोड़कर सर्वत्र ४।४।७६ तक के औत्सर्गिक सूत्रों में इसकी ही प्रवृत्ति होगी, सो वहीं वहीं इसकी अनुवृत्ति दिखाई जायेगी ॥

तेन दीव्यति खनति जयति जितम् ॥४।४।२॥

तेन ३।१॥ दीव्यति क्रियापदम् ॥ खनति क्रियापदम् ॥ जयति क्रियापदम् ॥ जितम् १।१॥ *अनु०*—ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तेनेति तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् दीव्यति खनति जयति, जितम् इत्येतेष्वर्थेषु ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अक्षैर्दीव्यति = आक्षिकः, शालाकिकः । अभ्र्या खनति = आभ्रिकः, कौद्दालिकः । अक्षैर्जयति आक्षिकः शालाकिकः । अक्षैर्जितमाक्षिकम्, शालाकिकम् ॥

भाषार्थः—[*तेन*] तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से [*दीव्यति*······ *जितम्*] दीव्यति = खेलता है, खनति = खोदता है, जयति = जीतता है, जितम् = जीता हुआ इन अर्थों में ठक् प्रत्यय होता है ॥ जुए के पाशों से जो खेले या उनसे जो जीते या जीता हुआ वह आक्षिक तथा शलाकाओं से जो खेले, जीते या जीता हुआ हो वह शालाकिक कहलायेगा । इसी प्रकार कुद्दाल से खोदने वाला कौद्दालिक होगा । *किति* च (७।२।११८) से आदि अच् की वृद्धि होगी । शेष सब कार्य पूर्ववत् जानें ॥

यहाँ से '*तेन*' की अनुवृत्ति ४।४।२७ तक जायेगी ॥

संस्कृतम् ॥४।४।३॥

संस्कृतम् १।१॥ *अनु०*—तेन, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् संस्कृतमित्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—घृतेन संस्कृतं घार्त्तिकम्, दाधिकम्, तैलिकम् ॥

भाषार्थः—तृतीयासमर्थ प्रातिपदिक से [*संस्कृतम्*] संस्कार किया हुआ, इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*संस्कृतम्*' की अनुवृत्ति ४।४।४ तक जायेगी ॥

कुलत्थकोपधादण् ॥४।४।४॥

कुल……न् ५।१॥ अण् १।१॥ स०—ककार उपधा यस्य स कोपधः कुलत्थश्च कोपधश्च, कुलत्थकोपधम्, तस्मात्…… बहुव्रीहिगर्भसमाहारो द्वन्द्वः॥ अनु०—संस्कृतम्, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—तृतीयासमर्थात् कुलत्थशब्दात् ककारोपधाच्च संस्कृतमित्येतस्मिन्नर्थेऽण् प्रत्ययो भवति॥ उदा०—कुलत्थैः संस्कृतं = कौलत्थम्। ककारोपधात्—तित्तिडीकेन संस्कृतं तैत्तिडीकम्, दार्दभकम्॥

भाषार्थः—तृतीयासमर्थ [*कुलत्थकोपधात्*] कुलत्थ तथा ककार उपधा वाले प्रातिपदिकों से संस्कृतम् इस अर्थ में [*अण्*] प्रत्यय होता है॥ उदा०—कौलत्थिकः (कुलत्थ से संस्कृत), तैत्तिडीकः (इमली से संस्कृत) दार्दभकम्॥

तरति ॥४।४।५॥

तरति क्रियापदम्॥ अनु०—तेन, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् तरति इत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—काण्डप्लवेन तरति काण्डप्लविकः औडुपिकः॥

भाषार्थः—तृतीयासमर्थ प्रातिपदिक से [*तरति*] तरति = तैरता है इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है॥ काण्डप्लव बांसों से बने बेड़े को कहते हैं, उसके द्वारा पार जाने वाला काण्डप्लविक कहा जायेगा। उडुप का अर्थ छोटी नाव है, उसके द्वारा पार जानेवाले को औडुपिक कहेंगे॥

यहाँ से '*तरति*' की अनुवृत्ति ४।४।७ तक जायेगी॥

गोपुच्छाट्ठञ् ॥४।४।६॥

गोपुच्छात् ५।१॥ ठञ् १।१॥ *अनु०*—तरति, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थाद् गोपुच्छप्रातिपदिकात् तरतीत्येतस्मिन्नर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—गोपुच्छेन तरति—गौपुच्छिकः॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ [*गोपुच्छात्*] गोपुच्छ प्रातिपदिक से तरति इस अर्थ में [*ठञ्*] ठञ् प्रत्यय होता है ॥ गाय की पूँछ पकड़कर जो तैरे वह गौपुच्छिक कहलायेगा ॥ ठञ् और ठक् में केवल स्वर का ही भेद है ॥

नौद्व्यचष्ठन् ॥४।४।७॥

नौद्व्यचः ५।१॥ ठन् १।१॥ *स०*—द्वौ अचौ यस्मिन् स द्व्यच्, नौश्च द्व्यच् नौद्व्यच्, तस्मात्·····बहुव्रीहिगर्भसमाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तरति, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थान् नौप्रातिपदिकान् द्व्यचश्च प्रातिपदिकात् ठन् प्रत्ययो भवति तरतीत्येतस्मिन्नर्थे ॥ *उदा०*—नावा तरति—नाविकः । द्व्यचः—घटेन तरति = घटिकः, बाहुकः ।

भाषार्थः—तृतीया-समर्थ [*नौद्व्यचः*] नौ तथा दो अच् वाले प्रातिपदिकों से तरति इस अर्थ में [*ठन्*] ठन् प्रत्यय होता है ॥ ठक् का अपवाद यह ठन् विधान है । बाहुकः में *इसुसुक्ता०* (७।३।५१) से 'ठ' को 'क' हुआ है ॥

चरति ॥४।४।८॥

चरति क्रियापदम् ॥ *अनु०*—तेन, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् चरतीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—शकटेन चरति = शाकटिकः, हास्तिकः, दध्ना चरति = दाधिकः ॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से [*चरति*] चलता है इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ॥ चर गतिभक्षणयोः धातु से चरति बना है, सो दाधिकः 'दही से जो खाता है' उसको कहेंगे, तथा शकट = गाड़ी से जो चले = घूमे वह शाकटिकः कहा जायेगा ॥

यहाँ से '*चरति*' की अनुवृत्ति ४।४।११ तक जायेगी ॥

आकर्षात् ष्ठल् ॥४।४।९॥

आकर्षात् ५।१॥ ष्ठल् १।१॥ *अनु०*—चरति, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थाद् आकर्षप्रातिपदिकात्

चरतीत्येतस्मिन्नर्थे ष्ठल् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—आकर्षेण चरति = आकर्षिकः, आकर्षिकी ॥

भाषार्थ—तृतीया समर्थ [*आकर्षात्*] आकर्ष प्रातिपदिक से चरति इस अर्थ में [ष्ठल्] ष्ठल् प्रत्यय होता है ॥ आकर्ष सोने चाँदी की कसौटी के पत्थर का नाम है जो उसको लिए हुए चाँदी खरीदने के लिए घूमता है वह आकर्षिकः कहाता है ॥ स्त्रीलिङ्ग में *षिद्गौरा०* (४।१।४१) से ङीप् होकर आकर्षिकी प्रयोग बनता है ॥

पर्पादिभ्यः ष्ठन् ॥४।४।१०॥

पर्पादिभ्य ५।३॥ ष्ठन् १।१॥ *स०*—पर्प आदिर्येषां ते पर्पादयस्तेभ्यः.....बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—चरति, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थेभ्यः पर्पादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यश्चरतीत्येतस्मिन्नर्थे ष्ठन् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—पर्पेण चरति पर्पिकः पर्पिकी, अश्विकः अश्विकी ॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ [*पर्पादिभ्यः*] पर्पादि प्रातिपदिकों से चरति इस अर्थ में [ष्ठन्] ष्ठन् प्रत्यय होता है ॥ पूर्ववत् स्त्रीलिङ्ग में ङीष् हो जाता है ॥

यहाँ से 'ष्ठन्' की अनुवृत्ति ४।४।११ तक जायेगी ॥

श्वगणाट्ठञ् च ॥४।४।११॥

श्वगणात् ५।१॥ ठञ् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—ष्ठन्, चरति, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थात् श्वगणप्रातिपदिकात् ठञ्ष्ठनौ प्रत्ययौ भवतश्चरतीत्येतस्मिन्नर्थे ॥ *उदा०*—श्वगणेन चरति = श्वागणिकः श्वागणिकी । ष्ठन्—श्वगणिकः श्वगणिकी ॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ [*श्वगणात्*] श्वगण प्रातिपदिक से [ठञ्] ठञ् [च] तथा ष्ठन् प्रत्यय होते हैं ॥ ठञ् होने पर वृद्धि तथा *टिड्ढाणञ्०* (४।१।१५) से ङीप् होता है तथा ष्ठन् होने पर पूर्ववत् ङीष् प्रत्यय होगा यही ठञ्, ष्ठन् का भेद है ॥

वेतनादिभ्यो जीवति ॥४।४।१२॥

वेतनादिभ्यः ५।३॥ जीवति क्रियापदम् ॥ *स०*—वेतन आदिर्येषां ते वेतनादयस्तेभ्यः.....बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—तेन, ठक्, तद्धिताः,

ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थेभ्यो वेतनादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो जीवतीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—वेतनेन जीवति = वैतनिकः कर्मकरः, जालेन जीवति = जालिकः ॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ [*वेतनादिभ्यः*] वेतनादि प्रातिपदिकों से [*जीवति*] जीता है इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ॥ जो वेतन की आय से जिए वह वैतनिकः कहा जायेगा ॥

यहाँ से '*जीवति*' की अनुवृत्ति ४।४।१४ तक जायेगी ॥

वस्नक्रयविक्रयाट्ठन् ॥४।४।१३॥

वस्नक्रयविक्रयात् ५।१॥ ठन् १।१॥ *स०*—वस्न० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—जीवति, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थाभ्यां वस्न, क्रयविक्रय शब्दाभ्यां जीवतीत्येतस्मिन्नर्थे ठन् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—वस्नेन जीवति वस्निकः, क्रयविक्रयिकः, क्रयिकः, विक्रयिकः ॥

भाषार्थः—तृतीयासमर्थ [*वस्न......त्*] वस्न क्रयविक्रय प्रातिपदिकों से [*ठन्*] ठन् प्रत्यय होता है ॥ क्रयविक्रय शब्द से समस्त से तथा अलग-अलग से भी प्रत्यय होता है ।

यहाँ से 'ठन्' की अनुवृत्ति ४।४।१४ तक जायेगी ॥

आयुधाच्छ च ॥४।४।१४॥

आयुधात् ५।१॥ छ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ *अनु०*—ठन्, जीवति, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थाद् आयुधप्रातिपदिकात् छठनौ प्रत्ययौ भवतः जीवतीत्येतस्मिन्नर्थे ॥ *उदा०*—आयुधेन जीवति आयुधीयः, आयुधिकः ॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ [*आयुधात्*] आयुध प्रातिपदिक से [*छ*] छ [*च*] तथा ठन् प्रत्यय होते हैं जीवति = जीता है इस अर्थ में ॥ जो आयुध = शस्त्रों के द्वारा जीविका कमाकर जिये वह आयुधीयः आयुधिकः कहा जायेगा ॥

हरत्युत्सङ्गादिभ्यः ॥४।४।१५॥

हरति, क्रियापदम् ॥ उत्सङ्गादिभ्यः ५।३॥ *स०*—उत्सङ्ग आदिर्येषां ते उत्सङ्गादयस्तेभ्यः······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—ठक्, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थेभ्यः, उत्सङ्गादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो हरतीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—उत्सङ्गेन हरति = औत्सङ्गिकः औडुपिकः ॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ [*उत्सङ्गादिभ्यः*] उत्सङ्गादि प्रातिपदिकों से [*हरति*] हरति = स्थानान्तर प्राप्त करता है इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ॥ उत्सङ्ग गोद को कहते हैं, जो गोद के द्वारा ले जाता है उसे औत्सङ्गिक कहते हैं ॥

यहाँ से '*हरति*' की अनुवृत्ति ४।४।१८ तक जायेगी ॥

भस्त्रादिभ्यः ष्ठन् ॥४।४।१६॥

भस्त्रादिभ्यः ५।३॥ ष्ठन् १।१॥ *स०*—भस्त्रा आदिर्येषां ते भस्त्रादयस्तेभ्यः··· बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—हरति, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थेभ्यः भस्त्रादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो हरतीत्येतस्मिन्नर्थे ष्ठन् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—भस्त्रया हरति = भस्त्रिकः, भस्त्रिकी । भरटिकः, भरटिकी ॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ [*भस्त्रादिभ्यः*] भस्त्रादि गणपठित प्रातिपदिकों से हरति इस अर्थ में [*ष्ठन्*] ष्ठन् प्रत्यय होता है ॥ ष्ठन् के षित् होने से पूर्ववत् ४।१।४१ से ङीष् हो जाता है ॥

यहाँ से 'ष्ठन्' की अनुवृत्ति ४।४।१८ तक जायेगी ॥

विभाषा विवधात् ॥४।४।१७॥

विभाषा १।१॥ विवधात् ५।१॥ *अनु०*—हरति, ष्ठन्, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थात् विवधप्रातिपदिकात् ष्ठन् प्रत्ययो भवति विकल्पेन, हरतीत्येतस्मिन्नर्थे ॥ *उदा०*—विवधिकः विवधिकी । वैवधिकः वैवधिकी ॥

भाषार्थः—तृतीया-समर्थ [*विवधात्*] विवध प्रातिपदिक से [*विभाषा*] विकल्प से ष्ठन् प्रत्यय होता है॥ विवध कावड़ (जिस काष्ठ के दोनों सिरों पर बोझ बाँध कर उठाया जाता है) को कहते हैं। पक्ष में अधिकार से प्राप्त ठक् होता है, ठक् होने पर *किति* च (७।२।११८) से वृद्धि होगी, ष्ठन् में नहीं, यही विशेष है॥

अण् कुटिलिकायाः ॥४।४।१८॥

अण् १।१॥ कुटिलिकायाः ५।१॥ *अनु०*—हरति, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थात् कुटिलिकाप्रातिपदिकात् हरतीत्येतस्मिन्नर्थेऽण् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—कुटिलिकया गत्या व्याधं हरति मृगः कौटिलिको मृगः। कुटिलिकया हरति अङ्गारान् कौटिलिकः कर्मारः॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ [*कुटिलिकायाः*] कुटिलिका-प्रातिपदिक से हरति इस अर्थ में [*अण्*] अण् प्रत्यय होता है॥ कुटिलिका टेढ़ी गति को तथा लौहकारों के उपकरण जिससे आग आदि खींचते हैं उसे भी कहते हैं, अतः कौटिलिकः लौहकार तथा व्याध को हरण करने वाले मृग को भी कहेंगे॥

निर्वृत्तेऽक्षद्यूतादिभ्यः ॥४।४।१९॥

निर्वृत्ते ७।१॥ अक्षद्यूतादिभ्यः ५।३॥ *स०*—अक्षद्यूत आदिर्येषां ते अक्षद्यूतादयस्तेभ्यः······बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—तेन, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थेभ्योऽक्षद्यूतादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो निर्वृत्त इत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—अक्षद्यूतेन निर्वृत्तमाक्षद्यूतिकं वैरम्, जानुप्रहृतिकम्॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ [*अक्षद्यूतादिभ्यः*] अक्षद्यूत आदि गण पठित प्रातिपदिकों से [*निर्वृत्ते*] निर्वृत्त = उत्पन्न किया गया इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है॥ जुए के द्वारा जो उत्पन्न हुआ वैर वह आक्षद्यूतिक वैर कहा जायेगा॥

यहाँ से '*निर्वृत्ते*' की अनुवृत्ति ४।४।२१ तक जायेगी॥

क्त्रेर्मम्नित्यम् ॥४।४।२०॥

क्त्रेः ५।१॥ मप् १।१॥ नित्यम् १।१॥ *अनु०*—निर्वृत्ते, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थात् क्त्रिप्रत्ययान्तात् प्रातिपदिकान् निर्वृत्तमित्येतस्मिन्नर्थे नित्यं मप् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—पाकेन निर्वृत्तं पक्त्रिमम्, वापेन निर्वृत्तम् उप्त्रिमम् ॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ [*क्त्रेः*] क्त्रि प्रत्ययान्त प्रातिपदिक से निर्वृत्त अर्थ में [*नित्यम्*] नित्य ही [*मप्*] मप् प्रत्यय होता है ॥ क्त्रिप्रत्ययान्त से मप् प्रत्यय का नित्य विधान होने से यहाँ 'पाकेन निर्वृत्तं पक्त्रिमम्' ऐसा अस्वपद विग्रह ही दर्शाया है। क्त्रि प्रत्यय *ड्वितः क्त्रिः* (३।३।८८) से होता है। पूरी सिद्धि प्रथमावृत्ति भाग १ पृ० ७९६ परि० १।३।५ में देखें ॥

अपमित्ययाचिताभ्यां कक्कनौ ॥४।४।२१॥

अप.....भ्याम् ५।२॥ कक्कनौ १।२॥ *स०*—उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—निर्वृत्ते, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थाभ्याम् अपमित्य, याचित प्रातिपदिकाभ्यां यथासंख्यं कक् कन् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः, निर्वृत्त इत्येतस्मिन्नर्थे ॥ *उदा०*—आपमित्यकम् याचितकम् ॥

भाषार्थ—तृतीया समर्थ [*अप.....भ्याम्*] अपमित्य और याचित प्रातिपदिकों से निर्वृत्त अर्थ में यथासङ्ख्य करके [*कक्कनौ*] कक् और कन् प्रत्यय होते हैं ॥ कक् कन् में स्वर तथा वृद्धि (७।२।११८) का भेद है ॥

संसृष्टे ॥४।४।२२॥

संसृष्टे ७।१॥ *अनु०*—तेन, ठक् तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् संसृष्ट इत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—दध्ना संसृष्टं शाकं दाधिकम्, तक्रेण संसृष्टं = ताक्रिकं, मारीचिकम् ॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से [*संसृष्टे*] मिला हुआ अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*संसृष्टे*' की अनुवृत्ति ४।४।२५ तक जायेगी ॥

चूर्णादिनिः ॥४।४।२३॥

चूर्णात् ५।१॥ इनिः १।१॥ *अनु०*—संसृष्टे, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थाच्चूर्णप्रातिपदिकात् संसृष्टेऽर्थे इनिः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—चूर्णेन संसृष्टाः चूर्णिनोऽपूपाः, चूर्णिनो धानाः ॥

भाषार्थः—तृतीयासमर्थ [*चूर्णात्*] चूर्ण प्रातिपदिक से संसृष्ट = मिला हुआ इस अर्थ में [*इनिः*] इनि प्रत्यय होता है ॥

लवणाल्लुक् ॥४।४।२४॥

लवणात् ५।१॥ लुक् १।१॥ *अनु०*—संसृष्टे, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थात् लवणप्रातिपदिकात् संसृष्टार्थ उत्पन्नस्य प्रत्ययस्य लुक् भवति ॥ *उदा०*—लवणेन संसृष्टः = लवणः सूपः, लवणं शाकं, लवणा यवागूः ॥

भाषार्थः—तृतीयासमर्थ [*लवणात्*] लवण प्रातिपदिक से संसृष्ट अर्थ में उत्पन्न जो प्रत्यय उसका [*लुक्*] लुक् होता है ॥ *संसृष्टे* (४।४।२२) से ठक् प्रत्यय लवण शब्द से हुआ था उसी का लुक् (१।१।६०) हो गया है ॥

मुद्गादण् ॥४।४।२५॥

मुद्गात् ५।१॥ अण् १।१॥ *अनु०*—संसृष्टे, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थात् मुद्गप्रातिपदिकात् संसृष्टेऽर्थेऽण् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—मुद्गेन संसृष्टः = मौद्ग ओदनः, मौद्गी यवागूः ॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ [*मुद्गात्*] मुद्ग प्रातिपदिक से संसृष्ट अर्थ में [*अण्*] अण् प्रत्यय होता है ॥ *टिड्ढाणञ्०* (४।१।१५) से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् होकर मौद्गी बनेगा ॥

व्यञ्जनैरुपसिक्ते ॥४।४।२६॥

व्यञ्जनैः ३।३॥ उपसिक्ते ७।१॥ *अनु०*—तेन, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—व्यञ्जनवाचिभ्यस्तृती-

यासमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्य उपसिक्तेऽर्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—दध्ना उपसिक्त ओदनः = दाधिकः, सौपिकः, ताक्रिकः ॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ [*व्यञ्जनैः*] व्यञ्जनवाची प्रातिपदिकों से [*उपसिक्ते*] ऊपर से डाला हुआ इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ॥ 'व्यञ्जनैः' में पञ्चमी के अर्थ में तृतीया विभक्ति जाननी चाहिये ॥

ओजःसहोम्भसा वर्तते ॥४।४।२७॥

ओजःसहोम्भसा ३।१॥ वर्त्तते क्रियापदम् ॥ *स०*—ओजश्च सहश्च अम्भश्च, ओजःसहोम्भः, तेन ...... समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तेन, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीया-समर्थेभ्य ओजस् सहस् अम्भस् इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो वर्त्तत इत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—ओजसा वर्तते = औजसिकः शूरः, साहसिकश्चौरः, अम्भसा वर्तते = आम्भसिको मत्स्यः ॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ [*ओजःसहोम्भसा*] ओजस् सहस् अम्भस् प्रातिपदिकों से [*वर्त्तते*] 'व्यवहार करता है' इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से 'वर्त्तते' की अनुवृत्ति ४।४।२८ तक जायेगी ॥

तत्प्रत्यनुपूर्वमीपलोमकूलम् ॥४।४।२८॥

तत् २।१॥ प्रत्य ...... र्वम् २।१॥ ईप .... लम् २।१॥ *स०*—प्रतिश्च अनुश्च प्रत्यनु, प्रत्यनु पूर्वं यस्य तत् प्र .... र्वम्, तत् .... द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः । ईपञ्च लोमञ्च कूलञ्च ईपलोमकूलं तत् ...... समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—वर्तते, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तदिति द्वितीयासमर्थेभ्यः प्रति अनु इत्येवं पूर्वेभ्यः ईप लोम कूल इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो वर्त्तत इत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—प्रतीपं वर्त्तते प्रातीपिकः, आन्वीपिकः । प्रातिलोमिकः, आनुलोमिकः । प्रातिकूलिकः, आनुकूलिकः ॥

भाषार्थः—[*तत्*] द्वितीया समर्थ [*प्रत्यनुपूर्वम्*] प्रति, अनुपूर्वक जो [*ईपलोमकूलम्*] ईप, लोम और कूल प्रातिपदिक उनसे 'वर्तते = है' इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ॥ प्रतीप आदि शब्द क्रियाविशेषण हैं ।

अकर्मक धातुओं के क्रियाविशेषण कर्म बनते हैं, इस प्रकार द्वितीया का सम्बन्ध वर्त्तते से होता है ॥

यहाँ से *'तत्'* की अनुवृत्ति ४।४।४६ तक जायेगी ॥

परिमुखं च ॥४।४।२९॥

परिमुखम् २।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—तत्, वर्त्तते, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात् परिमुखप्रातिपदिकात् वर्त्तत इत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—परिमुखं वर्त्तते = पारिमुखिकः ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*परिमुखम्*] परिमुख प्रातिपदिक से [*च*] भी वर्त्तते इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ॥

प्रयच्छति गर्ह्यम् ॥४।४।३०॥

प्रयच्छति क्रियापदम् ॥ गर्ह्यम् २।१॥ *अनु०*—तत्, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् प्रयच्छतीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति यत्तद् द्वितीयासमर्थं गर्ह्यं चेत्तद्भवति ॥ *उदा०*—द्विगुणं प्रयच्छति = द्वैगुणिकः, त्रैगुणिकः ॥ तादर्थ्यात् ताच्छब्द्यमत्र द्रष्टव्यम्। द्विगुणार्थं यद्धनं दीयते तद् द्विगुणशब्देनोच्यते एवं त्रिगुणम् ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ प्रातिपदिक से [*प्रयच्छति*] 'देता है' इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है, यदि वह जो देता है वह [*गर्ह्यम्*] गर्ह्य = निन्दित हो तो ॥

थोड़ा देकर बहुत लेना गर्ह्य है, सो ऐसा ही अर्थ यहाँ उदाहरणों में समझना चाहिये। यहाँ तादर्थ्यात् ताच्छब्द्य है, अर्थात् दुगुने के लिये इस अर्थ में द्विगुण शब्द प्रयुक्त हो रहा है द्विगुणार्थं प्रयच्छति = दुगुना करने के लिये जो धन देता है, वह द्वैगुणिकः कहलायेगा ॥

यहाँ से *'प्रयच्छति गर्ह्यम्'* की अनुवृत्ति ४।४।३१ तक जायेगी ॥

कुसीददशैकादशात् ष्ठन्ष्ठचौ ॥४।४।३१॥

कु.....शात् ५।१॥ ष्ठन्ष्ठचौ १।२॥ *स०*—कुसीदञ्च दशैकादश च कुसी.....शम्, तस्मात्...समाहारो द्वन्द्वः। ष्ठच् च ष्ठन् च ष्ठन्ष्ठचौ,

इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—प्रयच्छति गर्ह्यम्, तत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थाभ्यां कुसीददशैकादशप्रातिपदिकाभ्यां प्रयच्छति गर्ह्यमित्येतस्मिन्नर्थे यथासङ्ख्यं ष्ठन् ष्ठच् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः ॥ *उदा०*—कुसीदं प्रयच्छति कुसीदिकः कुसीदिकी। अत्रापि तादर्थ्ये ताच्छब्द्यं द्रष्टव्यम्—कुसीदार्थं धनं कुसीदम्। दशैकादशिकः दशैकादशिकी ॥

भाषार्थः—द्वितीयासमर्थ [*कु.....शात्*] कुसीद तथा दशैकादश प्रातिपदिकों से प्रयच्छति गर्ह्यम् (निन्दित वस्तु को देता है) इस अर्थ में यथासङ्ख्य करके [*ष्ठन्ष्ठचौ*] ष्ठन् और ष्ठच् प्रत्यय होते हैं ॥ ष्ठन् तथा ष्ठच् में केवल स्वर का ही भेद है। षित् होने से ४।१।४१ से ङीप् हो जाता है ॥

ब्याज लगाकर ११ रु० हो जावें इसके लिए जो १० रु० ऋण दिया जाये वह दशैकादश कहलाता है। १०) का १) व्याज लेना अर्थात् १० प्रतिशत ब्याज पाणिनि जी के समय में अधिक माना जाता होगा अतः यह निन्द्य है इस प्रकार इतना जो व्याज ले वह दशैकादशिकः कहा जायेगा ॥

उञ्छति ॥४।४।३२॥

उञ्छति क्रिया० ॥ अनु०—तत्, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थादुञ्छतीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—गोधूमानुञ्छति गौधूमिकः, कणानुञ्छति काणिकः, बादरिकः ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ प्रातिपदिक से [*उञ्छति*] 'चुनता है' इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ॥

भूमि में गिरे हुए दानों के उठाने की क्रिया को 'उञ्छति' कहते हैं। खेतों में काटते समय गिरे हुए जो गेहूँ के दाने, उनको जो चुनता है वह गौधूमिकः कहलायेगा ॥

रक्षति ॥४।४।३३॥

रक्षति क्रियापदम् ॥ अनु०—तत्, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् रक्षती-

त्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—समाजं रक्षति सामाजिकः, गोमण्डलं रक्षति गौमण्डलिकः, कौटुम्बिकः ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ प्रातिपदिक से [*रक्षति*] रक्षा करता है इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। समाज की, कुटुम्ब की जो रक्षा करे वह सामाजिकः, कौटुम्बिकः कहा जायेगा ॥

शब्ददर्दुरं करोति ॥४।४।३४॥

शब्ददर्दुरम् २।१॥ करोति क्रियापदम् ॥ *स०*— शब्द० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थाभ्यां शब्द, दर्दुर इत्येताभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां करोतीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—शब्दं करोतीति शाब्दिको वैयाकरणः, दार्दुरिकः, कुम्भकारः ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*शब्ददर्दुरम्*] शब्द और दर्दुर प्रातिपदिकों से [*करोति*] करता है इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ॥

पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति ॥४।४।३५॥

पक्षि···न् २।३॥ हन्ति क्रिया० ॥ *स०*—पक्षि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थेभ्यः पक्षिन्, मत्स्य, मृग इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो हन्तीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ अत्र स्वस्य रूपस्य पर्यायाणां तद्विशेषाणां च ग्रहणं भवति ॥ *उदा०*—पक्षिणो हन्ति पाक्षिकः, शाकुनिकः मायूरिकः, तैत्तिरिकः। मत्स्य—मात्स्यिकः, मैनिकः। मृग—मृगान् हन्ति मार्गिकः, हारिणिकः ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*पक्षि···न्*] पक्षि, मत्स्य तथा मृगवाची प्रातिपदिकों से [*हन्ति*] 'मारता है' इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ॥ यहाँ पक्षिन् मत्स्य मृग शब्दों के अपने रूप, इनके पर्याय और विशेषवाची शब्दों का भी ग्रहण होता है। पक्षियों को जो मारे वह पाक्षिक होगा, इसी प्रकार सब में जानें ॥

यहाँ से '*हन्ति*' की अनुवृत्ति ४।४।३६ तक जायेगी ॥

परिपन्थम् च तिष्ठति ॥४।४।३६॥

परिपन्थम् २।१॥ च अ० ॥ तिष्ठति क्रिया० ॥ *अनु०*—हन्ति, तत्, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात् परिपन्थप्रातिपदिकात् तिष्ठति, हन्ति चेत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—परिपन्थं तिष्ठति पारिपन्थिकश्चौरः परिपन्थं हन्ति पारिपन्थिकः ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*परिपन्थम्*] परिपन्थ प्रातिपदिक से [*तिष्ठति*] बैठता है, तथा मारता है, अर्थों में ठक् प्रत्यय होता है ॥ परितः पन्थानं तिष्ठति अर्थात् जो चारों ओर से मार्ग को घेर के बैठे वह पारिपन्थिकः कहलायेगा ॥

माथोत्तरपदपदव्यनुपदं धावति ॥४।४।३७॥

माथो···पदम् २।१॥ धावति क्रिया० ॥ *स०*—माथशब्द उत्तरपदं यस्य तत् माथोत्तरपदं, माथोत्तरपदञ्च पदवी च अनुपदञ्च, माथो······पदं, तत्······बहुव्रीहिगर्भसमाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—माथोत्तरपदात् प्रातिपदिकात् पदवी अनुपद इत्येताभ्यां च द्वितीयासमर्थाभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां धावतीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ माथशब्दः पथिपर्यायः ॥ *उदा०*—विद्यामाथं धावति वैद्यामाथिकः, धार्ममाथिकः, दाण्डमाथिकः। पदवीं धावति = पादविकः, आनुपदिकः ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*माथो···पदम्*] माथ शब्द उत्तरपद वाले प्रातिपदिक से तथा पदवी अनुपद प्रातिपदिकों से [*धावति*] दौड़ता है इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ॥ माथ शब्द मार्ग का पर्यायवाची है। विद्या के मार्ग की ओर जो जाये वह वैद्यामाथिकः कहलायेगा ॥

यहाँ से '*धावति*' की अनुवृत्ति ४।४।३८ तक जायेगी ॥

आक्रन्दाट् ठञ् च ॥४।४।३८॥

आक्रन्दात् ५।१॥ ठञ् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—धावति, तत्, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थाद् आक्रन्द-प्रातिपदिकात् धावतीत्येतस्मिन्नर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति ठक् च ॥ *उदा०*—आक्रन्दं धावति आक्रन्दिकः, आक्रन्दिकी ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*आक्रान्दात्*] आक्रन्द प्रातिपदिक से दौड़ता है इस अर्थ में [ठञ्] ठञ् [च] तथा ठक् प्रत्यय होते हैं ॥ आक्रन्द अर्थात् शरण स्थान की ओर जो दौड़ता है वह आक्रन्दिक कहाता है ठञ् तथा ठक् में केवल स्वर का ही भेद है ॥

पदोत्तरपदं गृह्णाति ॥४।४।३९॥

पदोत्तरपदम् २।१॥ गृह्णाति क्रिया० ॥ *स०*—पदशब्द उत्तरपदं यस्य तत् पदोत्तरपदं बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—तत्, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात् पदोत्तरपदप्रातिपदिकाद् गृह्णातीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—पूर्वपदं गृह्णाति पौर्वपदिकः, औत्तरपदिकः ॥

भाषार्थः—[*पदोत्तरपदम्*] पद शब्द उत्तर पद वाले द्वितीया समर्थ प्रातिपदिक से [*गृह्णाति*] 'ग्रहण करता है' इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*गृह्णाति*' की अनुवृत्ति ४।४।४० तक जायेगी ॥

प्रतिकण्ठार्थललामं च ॥४।४।४०॥

प्रति·····मम् २।१॥ च अ० ॥ *स०*—प्रति० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—गृह्णाति, तत्, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थेभ्यः प्रतिकण्ठ, अर्थ, ललाम इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो गृह्णातीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—प्रतिकण्ठं गृह्णाति प्रातिकण्ठिकः, आर्थिकः, लालामिकः ॥

भाषार्थः—द्वितीयासमर्थ [*प्रति··मम्*] प्रतिकण्ठ, अर्थ, ललाम प्रातिपदिकों से [च] भी 'ग्रहण करता है' इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ॥

धर्मं चरति ॥४।४।४१॥

धर्मम् २।१॥ चरति क्रिया० । *अनु०*—तत्, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात् धर्मप्रातिपदिकात् चरतीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—धर्मं चरति धार्मिकः ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*धर्मम्*] धर्म प्रातिपदिक से [*चरति*] आचरण करता है इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ॥ जो धर्म का आचरण करे धर्म में चले वह धार्मिक कहायेगा ॥

प्रतिपथमेति ठंश्च ॥४।४।४२॥

प्रतिपथम् २।१॥ एति क्रिया० ॥ ठन् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—तत्, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात् प्रतिपथप्रातिपदिकादेतीत्येतस्मिन्नर्थे ठन् प्रत्ययो भवति, ठक् च ॥ *उदा०*—प्रतिपथमेति प्रतिपथिकः, प्रातिपथिकः ॥

भाषार्थः—द्वितीया-समर्थ [*प्रतिपथम्*] प्रतिपथ प्रातिपदिक से [*ठन्*] ठन् [*च*] तथा ठक् प्रत्यय होते हैं, [*एति*] 'जाता है' इस अर्थ में ॥ ठक् होने पर *किति च* (७।२।११८) से वृद्धि तथा ठन् होने पर वृद्धि नहीं होगी ॥

समवायान् समवैति ॥४।४।४३॥

समवायान् २।३॥ समवैति क्रिया० ॥ *अनु०*—तत्, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थेभ्यः समवायवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः समवैतीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ समवैति शब्दस्य तत् प्रविश्य तदवयवी भवतीत्यर्थः ॥ *उदा०*—समवायान् समवैति = सामवायिकः, सामाजिकः, सामूहिकः, सान्निवेशिकः ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*समवायान्*] समवायवाची = समूहवाची प्रातिपदिकों से [*समवैति*] समवेत होता है, इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ॥ समवैति का अर्थ है प्रवेश करके उसका अवयव बन जाना ॥

यहाँ से '*समवैति*' की अनुवृत्ति ४।४।४५ तक जायेगी ॥

परिषदो ण्यः ॥४।४।४४॥

परिषदः ५।१॥ ण्यः १।१॥ *अनु०*—समवैति, तत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात् परि-

षत्प्रातिपदिकाद् समवैतीत्येतस्मिन्नर्थे ण्यः प्रत्ययो भवति ॥ ठकोऽपवादः ॥ *उदा०*—परिषदं समवैति पारिषद्यः ॥

भाषार्थः—द्वितीयासमर्थ [*परिषदः*] परिषद् प्रातिपदिक से समवैति इस अर्थ में [*ण्यः*] ण्य प्रत्यय होता है ॥ परिषद् शब्द समवायवाची है अतः पूर्वसूत्र से ठक् प्राप्त था, तदपवाद यह सूत्र है ॥

यहाँ से '*ण्यः*' की अनुवृत्ति ४।४।४५ तक जायेगी ॥

सेनाया वा ॥४।४।४५॥

सेनायाः ५।१॥ वा अ० ॥ *अनु०*—ण्यः, समवैति, तत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात् सेनाप्रातिपदिकात् समवैतीत्येतस्मिन्नर्थे वा ण्यः प्रत्ययो भवति, पक्षे ठक् ॥ *उदा०*—सेनां समवैति = सैन्यः, सैनिकः ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*सेनायाः*] सेना प्रातिपदिक से समवैति = इकट्ठे होता है इस अर्थ में [*वा*] विकल्प से ण्य प्रत्यय होता है। पक्ष में सेना के समवायवाची होने से ४।४।४३ से ठक् होगा ॥ सेना में जो भर्त्ती हो वह सैनिक या सैन्य कहलायेगा ॥

संज्ञायां ललाटकुक्कुट्यौ पश्यति ॥४।४।४६॥

संज्ञायाम् ७।१॥ ललाटकुक्कुट्यौ २।२॥ पश्यति क्रिया० ॥ *स०*—ललाο इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थाभ्यां ललाट, कुक्कुटी इत्येताभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां संज्ञायामभिधेयायां पश्यतीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—ललाटं पश्यति = लालाटिकः सेवकः, कौक्कुटिको भिक्षुः ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*ललाटकुक्कुट्यौ*] ललाट, तथा कुक्कुटी प्रातिपदिकों से [*संज्ञायाम्*] संज्ञा गम्यमान होने पर [*पश्यति*] देखता है इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ॥

जो सेवक काम ठीक न करे केवल बैठे बैठे स्वामी का मुँह देखे उसे लालाटिक सेवक कहेंगे। इसी प्रकार जो भिक्षु कुक्कुटी के फुदकने मात्र परिमाण मार्ग का अवलोकन करे वह कौक्कुटिक कहाता है ॥

तस्य धर्म्यम् ॥४।४।४७॥

तस्य ६।१॥ धर्म्यम् १।१॥ *अनु०*—ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तस्येति षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकाद् धर्म्यमित्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ धर्म्यम् न्याय्यमुच्यते ॥ *उदा०*—हाटकस्य धर्म्यम् = हाटकिकम्, शौल्कशालिकम्, आपणिकम्, आकरिकम् ॥

भाषार्थः—[*तस्य*] षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से [*धर्म्यम्*] धर्म्य अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ॥ धर्म्य कहते हैं न्याय्य आचार युक्त व्यवहार को ॥

यहाँ से '*तस्य*' की अनुवृत्ति ४।४।५० तक तथा '*धर्म्यम्*' की ४।४।४६ तक जायेगी ॥

अण् महिष्यादिभ्यः ४।४।४८॥

अण् १।१॥ महिष्यादिभ्यः ५।३॥ *स०*—महिषी आदिर्येषां ते महिष्यादयस्तेभ्यः······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—तस्य धर्म्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थेभ्यो महिष्यादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो धर्म्यमित्येतस्मिन् विषयेऽण् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—महिष्या धर्म्यं = माहिष्यम्, प्राजावतम् ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*महिष्यादिभ्यः*] महिष्यादि प्रातिपदिकों से धर्म्यम् इस अर्थ में [*अण्*] अण् प्रत्यय होता है ॥

ऋतोऽञ् ॥४।४।४९॥

ऋतः ५।१॥ अञ् १।१॥ *अनु०*—तस्य धर्म्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थाद् ऋकारान्तात् प्रातिपदिकाद् धर्म्यमित्येतस्मिन् विषयेऽञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—होतुर्धर्म्यं = हौत्रम्, पौत्रम्, औद्गात्रम् ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*ऋतः*] ऋकारान्त प्रातिपदिक से धर्म्य अर्थ में [*अञ्*] अञ् प्रत्यय होता है ॥ होता का जो उचित आचार है वह हौत्रम् होगा, इसी प्रकार सब में समझें ॥

अवक्रयः ॥४।४।५०॥

अवक्रयः १।१॥ अनु०—तस्य, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकाद् अवक्रय इत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ इच्छया मितेन द्रव्येण नियतकालाय आपणादेः क्रयोऽवक्रय उच्यते ॥ *उदा०*—शुल्कशालाया अवक्रयः = शौल्कशालिकः, आकरिकः, आपणिकः ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से [*अवक्रयः*] अवक्रय अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ॥ इच्छानुसार नियत द्रव्य से नियत काल के लिए आय आदि का खरीद लेना अर्थात् ठेके पर ले लेना अवक्रय कहाता है ॥

तदस्य पण्यम् ॥४।४।५१॥

तत् १।१॥ अस्य ६।१॥ पण्यम् १।१॥ अनु०—ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तदिति प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकादस्येति षष्ठ्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति, यत्तत्प्रथमासमर्थं पण्यं चेत्तद्भवति ॥ *उदा०*—अपूपाः पण्यमस्य = आपूपिकः, शाष्कुलिकः, मौदकिकः ॥

भाषार्थः—[*तत्*] प्रथमासमर्थ प्रातिपदिक से [*अस्य*] षष्ठ्यर्थ में ठक् प्रत्यय होता है यदि वह प्रथमासमर्थ [*पण्यम्*] खरीदने योग्य हो तो ॥ पुए विक्रय योग्य हैं जिसके, अर्थात् पुए की दुकानवाला आपूपिकः कहलायेगा ॥

यहाँ से '*तदस्य*' की अनुवृत्ति ४।४।६५ तक तथा '*पण्यम्*' की ४।४।५४ तक जायेगी ॥

लवणाट्ठञ् ॥४।४।५२॥

लवणात् ५।१॥ ठञ् १।१॥ अनु०—तदस्य पण्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थात् लवणप्रातिपदिकादस्येति षष्ठ्यर्थे पण्यम् इत्येतस्मिन्नर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—लवणं पण्यमस्य लावणिकः ॥

भाषार्थः—प्रथमासमर्थ [*लवणात्*] लवण प्रातिपदिक से अस्य पण्यम् इस अर्थ में [*ठञ्*] ठञ् प्रत्यय होता है ॥

किशरादिभ्यः ष्ठन् ॥४।४।५३॥

किशरादिभ्यः ५।३॥ ष्ठन् १।१॥ स०—किशर आदिर्येषां ते किशरादयस्तेभ्यः······बहुव्रीहिः ॥ अनु०—तदस्य पण्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—प्रथमासमर्थेभ्यः किशरादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽस्य पण्यमित्येतस्मिन् विषये ष्ठन् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—किशराः पण्यमस्य = किशरिकः, किशरिकी, नरदिकः, नरदिकी ॥

भाषार्थः—प्रथमासमर्थ [किशरादिभ्यः] किशरादि प्रातिपदिकों से 'इसका बेचना' इस अर्थ में [ष्ठन्] ष्ठन् प्रत्यय होता है ॥ किशर इत्यादि शब्द सुगन्धि विशेष के वाचक हैं ॥

यहाँ से 'ष्ठन्' की अनुवृत्ति ४।४।५४ तक जायेगी ॥

शलालुनोऽन्यतरस्याम् ॥४।४।५४॥

शलालुनः ५।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ अनु०—ष्ठन्, तदस्य पण्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—प्रथमासमर्थात् शलालुप्रातिपदिकादस्य पण्यमित्येतस्मिन् विषये विकल्पेन ष्ठन् प्रत्ययो भवति । पक्षे ठक् ॥ उदा०—शलालुकः, शलालुकी । ठक्—शालालुकः, शालालुकी ॥

भाषार्थः—प्रथमासमर्थ [शलालुनः] शलालु प्रातिपदिक से अस्य पण्यं इस विषय में [अन्यतरस्याम्] विकल्प से ष्ठन् प्रत्यय होता है ॥ पक्ष में शलालु से ठक् होगा । शलालु शब्द गन्धविशेपवाची है, अतः पूर्व सूत्र से ष्ठन् प्राप्त ही था, विकल्प करने के लिए यह वचन है ॥ इसुसुक्तान्तात् कः (७।३।५१) से ठ को 'क' हुआ है ॥ ष्ठन् होने पर ङीष् (४।१।४१) तथा ठक् करने पर आदि वृद्धि और ङीप् (४।१।१५) होता है ॥

शिल्पम् ॥४।४।५५॥

शिल्पम् १।१॥ अनु०—तदस्य, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकाद् अस्य शिल्पमित्येतस्मिन् विषये ठक् प्रत्ययो भवति ॥ शिल्पं कौशलमुच्यते ॥ उदा०—मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य = मार्दङ्गिकः, पाणविकः, वैणिकः ॥

भाषार्थः—प्रथमासमर्थ प्रातिपदिक से 'इसका [*शिल्पम्*] शिल्प' इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ॥ शिल्प का अर्थ कुशलता वा वैशिष्ट्य है ॥

यहाँ से '*शिल्पम्*' की अनुवृत्ति ४।४।५६ तक जायेगी ॥

मड्डुकझर्झरादणन्यतरस्याम् ॥४।४।५६॥

मड्डुकझर्झरात् ५।२॥ अण् १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *स०*—मड्डु० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—शिल्पम्, तदस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थाभ्यां मड्डुकझर्झरप्रातिपदिकाभ्याम् अस्य शिल्पमित्येतस्मिन् विषये विकल्पेनाण् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—मड्डुकवादनं शिल्पमस्य = माड्डुकः । पक्षे ठक्, माड्डुकिकः । झार्झरः । झार्झरिकः ॥

भाषार्थः—शिल्पवाची प्रथमासमर्थ [*म······रात्*] मड्डुक, झर्झर प्रातिपदिकों से [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से षष्ठ्यर्थ में [*अण्*] अण् प्रत्यय होता है ॥ मड्डुक झर्झर वाद्य विशेष हैं ॥

प्रहरणम् ॥४।४।५७॥

प्रहरणम् १।१॥ *अनु०*—तदस्य, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकात् षष्ठ्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति, यत्तत्प्रथमासमर्थं प्रहरणं चेत्तद्भवति ॥ *उदा०*—असिः प्रहरणमस्य = आसिकः, दाण्डिकः, चाक्रिकः ॥

भाषार्थ.—प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में ठक् प्रत्यय होता है, यदि वह प्रथमासमर्थ प्रातिपदिक प्रहरण = शस्त्र हो तो ॥

यहाँ से '*प्रहरणम्*' की अनुवृत्ति ४।४।५९ तक जायेगी ॥

परश्वधाट्ठञ् च ॥४।४।५८॥

परश्वधात् ५।१॥ ठञ् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—प्रहरणम्, तदस्य, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रहरणसमानाधिकरणात् प्रथमासमर्थात् परश्वधशब्दात् षष्ठ्यर्थे ठञ्

प्रत्ययो भवति चकाराट् ठक् च ॥ *उदा०*—परश्वधः (परशुः) प्रहरणमस्य पारश्वधिकः ॥

भाषार्थः—प्रहरण समानाधिकरणवाची प्रथमासमर्थ [*परश्वधात्*] परश्वध प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में [*ठञ्*] ठञ् प्रत्यय होता है ॥ और [*च*] चकार से ठक् भी। दोनों में स्वर का भेद है। परश्वध परशु कुल्हाड़ी का नाम है ॥

शक्तियष्ट्योरीकक् ॥४।४।५९॥

शक्तियष्ट्योः ६।२॥ ईकक् १।१॥ *स०*—शक्ति० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—प्रहरणम्, तदस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थाभ्यां प्रहरणसमानाधिकरणाभ्यां शक्ति, यष्टि इत्येताभ्यां प्रतिपदिकाभ्यां षष्ठ्यर्थे ईकक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—शक्तिः प्रहरणमस्य = शाक्तीकः, याष्टीकः ॥

भाषार्थ—प्रथमासमर्थ प्रहरणसमानाधिकरणवाची [*शक्तियष्ट्योः*] शक्ति, तथा यष्टि प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में [*ईकक्*] ईकक् प्रत्यय होता है ॥

अस्तिनास्तिदिष्टं मतिः ॥४।४।६०॥

अस्तिनास्तिदिष्टम् १।१॥ मतिः १।१॥ *स०*—अस्ति० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तदस्य, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थेभ्योऽस्ति, नास्ति, दिष्ट इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः, अस्य मतिरित्येतस्मिन् विषये ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अस्ति मस्तिरस्य = आस्तिकः। नास्ति मतिरस्य = नास्तिकः, दैष्टिकः ॥

भाषार्थः—प्रथमासमर्थ [*अस्तिनास्तिदिष्टम्*] अस्ति, नास्ति दिष्ट इन प्रातिपदिकों से इसकी [*मतिः*] मति इस विषय में ठक् प्रत्यय होता है ॥ सत्कार्यों में जिसकी मति (बुद्धि) हो वह आस्तिक, जिसकी न हो वह नास्तिक कहलायेगा। दिष्ट प्रारब्ध को कहते हैं, प्रारब्ध में जिसकी मति हो वह दैष्टिक = ज्योतिषी कहलायेगा ॥

शीलम् ॥४।४।६१॥

शीलम् १।१॥ *अनु०*—तदस्य, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—शीलसमानाधिकरणात् प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकात् षष्ठ्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अपूपभक्षणं शीलमस्य = आपूपिकः, शाष्कुलिकः, मौदकिकः ।

भाषार्थः—शील कहते हैं स्वभाव को ॥ प्रथमासमर्थ [*शीलम्*] शील समानाधिकरणवाची प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ॥ पुए खाने का जिसका स्वभाव है वह आपूपिकः कहलायेगा ॥

यहाँ से '*शीलम्*' की अनुवृत्ति ४।४।६२ तक जायेगी ॥

छत्रादिभ्यो णः ॥४।४।६२॥

छत्रादिभ्यः ५।३॥ णः १।१॥ *स०*—छत्र आदिर्येषां ते छत्रादयस्तेभ्यः······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—शीलम्, तदस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—शीलसमानाधिकरणेभ्यः प्रथमासमर्थेभ्यः छत्रादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः षष्ठ्यर्थे णः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—छत्रं शीलमस्य = छात्रः, बौभुक्षः ॥ *गुरुणा शिष्यश्छत्रवत् छाद्यः, शिष्येण च गुरुश्छत्रवत् परिपाल्यः* (महाभाष्य) ॥

भाषार्थः—शीलसमानाधिकरणवाची प्रथमासमर्थ [*छत्रादिभ्यः*] छत्रादि प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में [*णः*] ण प्रत्यय होता है ॥ स्त्रीलिङ्ग में टाप् होकर छात्रा बौभुक्षा बनेगा। जो छत्र के समान शिष्य की रक्षा करे उसको अज्ञानान्धकार से दूर करे, वह गुरु छत्र के समान होने से छत्र, तथा जो छत्र के समान गुरु की शुश्रूषा करे वह छात्र कहाता है, जैसा कि महाभाष्य में कहा है ॥

कर्माध्ययने वृत्तम् ॥४।४।६३॥

कर्म १।१॥ अध्ययने ७।१॥ वृत्तम् १।१॥ *अनु०*—तदस्य, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अध्ययने वृत्तकर्मसमानाधिकरणात् प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकात् षष्ठ्यर्थे ठक्

प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—एकमन्यदध्ययने कर्म वृत्तमस्य ऐकान्यिकः, द्वैयन्यिकः, त्रैयन्यिकः ॥

भाषार्थः—[*अध्ययने*] अध्ययन में [*कर्म वृत्तम्*] वृत्तकर्मसमानाधिकरणवाची प्रथमासमर्थ प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ॥ वृत्त का तात्पर्य जातं = 'हुआ है' है ॥ परीक्षा के समय में जो एक एवं दो भूल कर दे वह क्रमशः ऐकान्यिकः, द्वैयन्यिकः कहा जायेगा ॥ *न य्वाभ्यां०* (७।३।३) से द्वैयन्यिकः में ऐच् आगम होगा ॥

यहाँ से '*कर्माध्ययने वृत्तम्*' की अनुवृत्ति ४।४।६४ तक जायेगी ॥

बह्वच्पूर्वपदाट् ठच् ॥४।४।६४॥

बह्वच्पूर्वपदात् ५।१॥ ठच् १।१॥ *स०*—बह्वोऽचो यस्मिन् स बह्वच्, बहुव्रीहिः । बह्वच् पूर्वपद यस्य तत् बह्वच् पूर्वपदम् तस्मात् ····· बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—कर्माध्ययने वृत्तम्, तदस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अध्ययने वृत्तकर्मसमानाधिकरणात् प्रथमासमर्थाद् बह्वच् पूर्वपदात् प्रातिपदिकादस्येति षष्ठ्यर्थे ठच् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—द्वादशान्यानि कर्माण्यध्ययने वृत्तान्यस्य द्वादशान्यिकः, त्रयोदशान्यिकः, चातुर्दशान्यिकः ॥

भाषार्थः—अध्ययन विषय में वृत्तकर्मसमानाधिकरणवाची प्रथमासमर्थ [*बह्वच् पूर्वपदात्*] बह्वच् पूर्वपद वाले प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में [*ठच्*] ठच् प्रत्यय होता है ॥ उदात्त के स्थान में अनुदात्त बोलकर जो १२ त्रुटियां करे वह द्वादशान्यिकः कहलायेगा ॥

हितं भक्षाः ॥४।४।६५॥

हितं १।१॥ भक्षाः १।३॥ *अनु०*—तदस्य, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—हितसमानाधिकरणात् प्रथमासमर्थात् भक्ष्यवाचिनः प्रातिपदिकात् षष्ठ्यर्थे ठक् प्रत्ययो भवति तच्चेद्धितं भक्षाः ॥ *उदा०*—अपूपभक्षणं हितमस्मै = आपूपिकः, शाष्कुलिकः, मौदकिकः ॥

भाषार्थः—[*हितम्*] हित समानाधिकरण वाले [*भक्षाः*] भक्ष्यवाची प्रथमासमर्थ प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में ठक् प्रत्यय होता है। हित योग में चतुर्थी होती है अतः यहाँ 'अस्य' षष्ठी विभक्ति चतुर्थी में बदल जाती है, ऐसा जानना चाहिये ॥ पूए का खाना जिसके लिये हितकारी है वह आपूपिकः कहलायेगा ॥

तदस्मै दीयते नियुक्तम् ॥४।४।६६॥

तत् १।१॥ अस्मै ४।१॥ दीयते क्रिया० ॥ नियुक्तम् १।१॥ *अनु०*—ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तदिति प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकात् नियुक्तमस्मै दीयते इत्येतस्मिन् विषये ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अग्रे भोजनमस्मै नियुक्तं दीयते आग्रभोजनिकः। अपूपा अस्मै नियुक्तं दीयन्ते आपूपिकः ॥

भाषार्थः—[*तत्*] प्रथमासमर्थ प्रातिपदिक से [*अस्मै*] 'इसके लिये [*नियुक्तम्*] नियम पूर्वक [*दीयते*] दिया जाता है' इस विषय में ठक् प्रत्यय होता है ॥ नियुक्तं का अर्थ है नियम पूर्वक ॥ जिसको नियम पूर्वक सबसे प्रथम भोजन दिया जाये वह आग्रभोजनिकः कहा जायेगा ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ४।४।६८ तक जायेगी ॥

श्राणामांसौदनाट्टिठन् ॥४।४।६७॥

श्राणा……त् ५।१॥ टिठन् १।१॥ *स०*—श्राणा च मांसौदनञ्च श्राणामांसौदनम्, तस्मात्……समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तदस्मै दीयते नियुक्तम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थाभ्यां श्राणा, मांसौदन इत्येताभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां नियुक्तमस्मै दीयते इत्येतस्मिन् विषये टिठन् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—श्राणा नियुक्तमस्मै दीयते श्राणिकः श्राणिकी, मांसौदनिकः मांसौदनिकी ॥

भाषार्थः—प्रथमासमर्थ [*श्राणामांसौदनात्*] श्राणा तथा मांसौदन प्रातिपदिकों से, 'इसको नियत रूप से दिया जाता है' इस अर्थ में [*टिठन्*] टिठन् प्रत्यय होता है ॥ टिठन् का शेष ठ रहता है ठ को इक हो ही जायेगा। *टिड्ढाणञ्०* (४।१।१५) से ङीप् करने के लिए टित् किया है ॥ श्राणा पकी हुई लप्सी या खिचड़ी को कहते हैं ॥

भक्तादणन्यतरस्याम् ॥४।४।६८॥

भक्तात् ५।१॥ अण् १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—तदस्मै दीयते नियुक्तम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थात् भक्तप्रातिपदिकात् नियुक्तमस्मै दीयते इत्येतस्मिन्नर्थे विकल्पेनाण् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—भक्तं नियुक्तमस्मै दीयते भाक्तः, भाक्तिकः ॥

भाषार्थः—प्रथमासमर्थ [*भक्तात्*] भक्त प्रातिपदिक से नियुक्तमस्मै दीयते इस अर्थ में [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से [*अण्*] अण् प्रत्यय होता है। पक्ष में ठक् होगा ॥

तत्र नियुक्तः ॥४।४।६९॥

तत्र अ० ॥ नियुक्तः १।१॥ *अनु०*—ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तत्रेति सप्तमीसमर्थात् प्रातिपदिकात् नियुक्त इत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—शुल्कशालायां नियुक्तः = शौल्कशालिकः, आकरिकः, आपणिकः, दौवारिकः ॥

भाषार्थः—[*तत्र*] सप्तमी समर्थ प्रातिपदिक से [*नियुक्तः*] नियुक्त इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ॥ *द्वारादीनां च* (७।३।४) से दौवारिकः में ऐच् आगम होगा। द्वार पर जो नियुक्त वह दौवारिक अर्थात् द्वारपाल कहलायेगा ॥

यहाँ से '*तत्र*' की अनुवृत्ति ४।४।७४ तक तथा '*नियुक्तः*' की ४।४।७० तक जायेगी ॥

अगारान्ताट्ठन् ॥४।४।७०॥

अगारान्तात् ५।१॥ ठन् १।१॥ *स०*—अगार शब्दः अन्ते यस्य स अगारान्तः, तस्मात्······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—तत्र नियुक्तः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थाद् अगारान्तात् प्रातिपदिकात् नियुक्तार्थे ठन् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—देवागारे नियुक्तः = देवागारिकः, कोष्ठागारिकः, भाण्डागारिकः ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*अगारान्तात्*] अगार अन्त वाले प्रातिपदिकों से नियुक्त अर्थ में [*ठन्*] ठन् प्रत्यय होता है ॥

अध्यायिन्यदेशकालात् ॥४।४।७१॥

अध्यायिनि ७।१॥ अदेशकालात् ५।१॥ *स०*—देशश्च कालश्च देशकालम्, न देशकालम् अदेशकालम् तस्मात्·····द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पुरुषः। अदेशकालादित्यत्र विरुद्धार्थे नञ् वर्त्तते ॥ *अनु०*—तत्र, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—यस्मिन् देशे काले चाध्ययनं प्रतिषिध्यते तस्मात् सप्तमीसमर्थात् प्रातिपदिकाद् अध्यायिन्यभिधेये ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—श्मशानेऽधीते = श्माशानिकः, चातुष्पथिकः। अकालात्— चतुर्दश्यामधीते चातुर्दशिकः, पौर्णमासिकः ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*अदेशकालात्*] जिस देश व काल में अध्ययन नहीं करना चाहिए ऐसे अदेशकालवाची प्रातिपदिकों से [*अध्यायिनि*] अध्ययन करने वाला अभिधेय हो तो ठक् प्रत्यय होता है ॥ अध्ययन की दृष्टि से जो देश काल प्रतिषिद्ध किये गये हैं, अर्थात् जहाँ जहाँ अध्यन नहीं हो सकता, या नहीं किया जाना चाहिये ऐसे देश काल को अदेशकाल कहा है। यहाँ नञ् विरुद्ध अर्थ में है ॥ श्मशान या चौरस्ता अध्ययन करने की उपयुक्त जगह नहीं है, अतः यह अदेश हैं, यहाँ जो पढ़े वह श्माशानिक चातुष्पथिक कहलायेगा। इसी प्रकार पहले चतुर्दशी अमावस्या तथा पूर्णिमा को यज्ञादि होता था सो उस दिन छुट्टी होती थी, अतः ये सब अध्ययन की दृष्टि से अकालवाची प्रातिपदिक हैं, इनमें भी जो पढ़े वह चातुर्दशिकः, आमावास्यिकः, पौर्णमासिकः कहलायेगा ॥

कठिनान्तप्रस्तारसंस्थानेषु व्यवहरति ॥४।४।७२॥

कठि·····नेषु ७।३॥ व्यवहरति क्रिया० ॥ *स०*—कठिनशब्दः अन्ते यस्य स कठिनान्तः, बहुव्रीहिः। कठिनान्तश्च प्रस्तारश्च संस्थानञ्च कठि·····नानि तेषु इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्र, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थेभ्यः कठिनान्त, प्रस्तार, संस्थान इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो व्यवहरतीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—वंशकठिने व्यवहरति वांशकठिनिकः, वार्ध्रकठिनिकः, प्रास्तारिकः, सांस्थानिकः ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*कठि·····नेषु*] कठिन शब्द अन्त वाले, तथा प्रस्तार संस्थान प्रातिपदिकों से [*व्यवहरति*] व्यवहार करता है इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ॥ कठिन वंश (बांस) जिस देश में उत्पन्न होता है वह वंशकठिन कहाता है। उसमें उचित व्यवहार करने वाला वांशकठिनिकः कहाता है। प्रस्तार पर्णशय्या तथा घास के जङ्गल का नाम है। संस्थान चतुष्पथ को कहते हैं ॥

निकटे वसति ॥४।४।७३॥

निकटे ७।१॥ वसति क्रिया० ॥ *अनु०*—तत्र, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थात् निकट-प्रातिपदिकाद् वसतीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—निकटे वसति = नैकटिकः । अरण्यवासिनो भिक्षोर्ब्रह्मचारिणश्च ग्रामाद् दूरनिवासे या मर्यादा शास्त्रेण विहिता तामपेक्ष्य यो निकटे वसति स नैकटिक इत्युच्यते ॥

भाषार्थः—सप्तमीसमर्थ [*निकटे*] निकट प्रातिपदिक से '*वसति*' 'बसता है' इस अर्थ में ठक् प्रत्यय होता है ॥ अरण्य में वास करने वाले भिक्षु और ब्रह्मचारी को ग्राम से एक कोस दूर रहना चाहिये ऐसी शास्त्रीय मर्यादा है, उसकी अपेक्षा जो ग्राम के निकट बसे वह नैकटिक कहाता है ॥

यहाँ से '*वसति*' की अनुवृत्ति ४।४।७४ तक जायेगी ॥

आवसथात् ष्ठल् ॥४।४।७४॥

आवसथात् ५।१॥ ष्ठल् १।१॥ *अनु०*—वसति, तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थादावसथ-प्रातिपदिकाद् वसतीत्येतस्मिन्नर्थे ष्ठल् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—आवसथे वसति आवसथिकः, आवसथिकी ॥

भाषार्थः—सप्तमीसमर्थ [*आवसथात्*] आवसथ प्रातिपदिक से वसति अर्थ में [*ष्ठल्*] ष्ठल् प्रत्यय होता है ॥ षित् होने से ङीष् होता है ॥ आवसथ कुटिया को कहते हैं, उसमें जो रहे वह आवसथिक कहा जायेगा ॥

प्राग्घिताद्यत् ॥४।४।७५॥

प्राक् अ० ॥ हितात् ५।१॥ यत् १।१॥ अनु०—तद्धिताः, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—इतोऽग्रे '*तस्मै हितम्*' (५।१।५) इत्येतस्मात् प्राक्, येऽर्था वक्ष्यन्ते तेषु सामान्येन यत् प्रत्ययो भवतीत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ वक्ष्यति *तद्वहति रथयुग०* (४।४।७६), तत्र यत् प्रत्ययो भवति, रथ्यः, युग्यः, प्रासङ्ग्यः ॥

भाषार्थः—यहाँ से आगे [*हितात्*] तस्मै हितम् से [*प्राक्*] पहले पहले जो अर्थ कहेंगे उन सब में सामान्य करके अर्थात् अपवाद विषयों को छोड़कर यत् प्रत्यय का अधिकार जायेगा ॥ *प्राग्घिताद्यत्* में अर्थ प्रधान निर्देश है, अतः हित अर्थ के आरम्भ होने से पहले-पहले इस सूत्र का अधिकार जाने, हित अर्थ में प्रत्यय ५।१।१ से प्रारम्भ होते हैं अतः इसका अधिकार ४।४।१४४ तक जानें ॥

तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम् ॥४।४।७६॥

तत् २।१॥ वहति क्रिया० ॥ रथ·····ङ्गम् २।१॥ *स०*—रथ० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थेभ्यः रथ, युग, प्रासङ्ग इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो वहतीत्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—रथं वहति = रथ्यो गौः, युग्यः, प्रासङ्ग्यः ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*रथ·····ङ्गम्*] रथ, युग, प्रासङ्ग प्रातिपदिकों से [*वहति*] ढोता है इस अर्थ में यत् प्रत्यय होता है ॥
यहाँ से '*तत्*' की अनुवृत्ति ४।४।८६ तक तथा '*वहति*' की ४।४।८२ तक जायेगी ॥

धुरो यड्ढकौ ॥४।४।७७॥

धुरः ५।१॥ यड्ढकौ १।२॥ *स०*—यत् च ढक् च, यड्ढकौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—तद्वहति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थाद् धुरःप्रातिपदिकाद् वहतीत्येतस्मिन्नर्थे यत् ढक् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः ॥ *उदा०*—धुरं वहति = धुर्यः, धौरेयः ॥

भाषार्थः—द्वितीयासमर्थ [*धुरः*] धुर् प्रातिपदिक से वहति इस अर्थ में [*यड्ढकौ*] यत् और ढक् प्रत्यय होते हैं ॥ ढ को एय तथा *किति च* (७।२।११८) से वृद्धि होकर धौरेयः बनता है ॥

खः सर्वधुरात् ॥४।४।७८॥

खः १।१॥ सर्वधुरात् ५।१॥ *अनु०*—तद्वहति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात् सर्वधुरप्रातिपदिकात् वहतीत्येतस्मिन्नर्थे खः प्रत्ययो भवति। पूर्वसूत्रस्यापवादः ॥ *उदा०*—सर्वधुरं वहति = सर्वधुरीणः ॥

भाषार्थः—द्वितीयासमर्थ [*सर्वधुरात्*] सर्वधुर प्रातिपदिक से [*खः*] ख प्रत्यय होता है वहति इस अर्थ में ॥ तदन्त विधि (१।१।७१) लगकर पूर्व सूत्र से यत् और ढक् की प्राप्ति थी, तदपवाद यह सूत्र है ॥
यहाँ से '*खः*' की अनुवृत्ति ४।४।७९ तक जायेगी ॥

एकधुराल्लुक् च ॥४।४।७९॥

एकधुरात् ५।१॥ लुक् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—खः, तद्वहति तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थाद् एकधुरप्रातिपदिकात् वहतीत्येतस्मिन्नर्थे खः प्रत्ययो भवति, तस्य च लुग् भवति ॥ *उदा०*—एकधुरं वहति, एकधुरीणः, एकधुरः ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*एकधुरात्*] एकधुर प्रातिपदिक से वहति इस अर्थ में ख प्रत्यय [*च*] तथा उसका [*लुक्*] लुक् होता है विधान सामर्थ्य से एक बार जब ख का लुक् नहीं होगा तो एकधुरीणः बनेगा, लुक् होने पर एकधुरः बनेगा ॥

शकटादण् ॥४।४।८०॥

शकटात् ५।१॥ अण् १।१॥ *अनु०*—तद्वहति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात् शकटप्रातिपदिकात् वहतीत्येतस्मिन्नर्थेऽण् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—शकटं वहति शाकटो गौः ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*शकटात्*] शकट प्रातिपदिक से [*अण्*] अण् प्रत्यय वहति अर्थ में होता है ॥

हलसीराट्ठक् ॥४।४।८१॥

हलसीरात् ५।१॥ ठक् १।१॥ *स०*—हल० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तद्वहति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थाभ्यां हल, सीर प्रातिपदिकाभ्यां वहतीत्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—हलं वहति = हालिकः, सैरिकः ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*हलसीरात्*] हल और सीर प्रातिपदिकों से वहति अर्थ में [*ठक्*] ठक् प्रत्यय होता है ॥

संज्ञायां जन्याः ॥४।४।८२॥

संज्ञायाम् ७।१॥ जन्याः ५।१॥ *अनु०*—तद्वहति, तद्धिताः, ङ्याप्प्राति-पदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात् जनीप्रातिपदिकाद् वहतीत्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति संज्ञायां गम्यमानायाम् ॥ जनी वधूरुच्यते ॥ *उदा०*—जनी = वधूं वहति जन्या ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*जन्याः*] जनी प्रातिपदिक से [*संज्ञायाम्*] संज्ञा गम्यमान होने पर वहति अर्थ में यत् प्रत्यय होता है ॥ जनी वधू को कहते हैं। जनी (वधू) को जामाता के समीप पहुँचाने वाली जामाता की सखी जन्या कहाती है ॥

विध्यत्यधनुषा ॥४।४।८३॥

विध्यति क्रिया० ॥ अधनुषा ३।१॥ *स०*—अधनुषेत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—तत्, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात् प्रातिपदिकाद् विध्यतीत्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति न चेद्धनुष्करणं भवति ॥ *उदा०*—पादौ विध्यन्ति = पद्या शर्कराः, ऊरव्याः कण्टकाः ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ प्रातिपदिक से [*विध्यति*] बींधता है, इस अर्थ में [*अधनुषा*] यदि धनुष करण न हो तो यत् प्रत्यय होता है ॥ पैरों को जो बींध दे घायल कर दे ऐसे नुकीले कंकड़ पद्य कहाते हैं।

ऊरु (जंघा) को बींधने वाले काँटे ऊरव्याः कहलायेंगे। यहाँ *ओर्गुणः* (६।४।१४६) से गुण तथा *वान्तो यि प्रत्यये* (६।१।७६) से 'अव्' आदेश होता है ॥

धनगणं लब्धा ॥४।४।८४॥

धनगणम् २।१॥ लब्धा १।१॥ *स०*—धन० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थाभ्यां धन, गण इत्येताभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां लब्धेत्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—धनं लब्धा धन्यः, गणं लब्धा गण्यः ॥

भाषार्थः—द्वितीयासमर्थ [*धनगणम्*] धन और गण प्रातिपदिकों से [*लब्धा*] प्राप्त करने वाला अभिप्रेत हो तो यत् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*लब्धा*' की अनुवृत्ति ४।४।८५ तक जायेगी ॥

अन्नाण्णः ॥४।४।८५॥

अन्नात् ५।१॥ णः १।१॥ *अनु०*—लब्धा, तत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थादन्नप्रातिपदिकात् लब्धेत्येतस्मिन्नर्थे णः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अन्नं लब्धा = आन्नः ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*अन्नात्*] अन्नप्रातिपदिक से लब्धा = प्राप्त करने वाला कहना हो तो [*णः*] ण प्रत्यय होता है ॥

वशं गतः ॥४।४।८६॥

वशम् २।१॥ गतः १।१॥ *अनु०*—तत्, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थाद् वशप्रातिपदिकाद् गत इत्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—वशं गतः = वश्यः ॥

भाषार्थः—द्वितीयासमर्थ [*वशम्*] वश प्रातिपदिक से [*गतः*] गत = प्राप्त हुआ अर्थ में यत् प्रत्यय होता है ॥

पदमस्मिन् दृश्यम् ॥४।४।८७॥

पदम् १।१॥ अस्मिन् ७।१॥ दृश्यम् १।१॥ *अनु०*—यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—दृश्यसमानाधिकरणता

प्रथमासमर्थात् पदप्रातिपदिकादस्मिन्निति सप्तम्यर्थे यत् प्रत्ययो भवति। निर्देशादेव प्रथमासमर्थविभक्तिः॥ *उदा०*—पदमस्मिन् दृश्यम् = पद्यः कर्दमः। पद्याः सिकताः॥

भाषार्थः—[*दृश्यम्*] दृश्यसमानाधिकरण प्रथमासमर्थ [*पदम्*] पदप्रातिपदिक से [*अस्मिन्*] सप्तम्यर्थ में यत् प्रत्यय होता है॥ पदम् शब्द प्रथमा विभक्ति से निर्दिष्ट है, अतः उसी निर्देश से 'प्रथमासमर्थ विभक्ति' यह अर्थ ले लिया गया है॥

ऐसा कीचड़ जो कुछ कड़ा-कड़ा सा हो अर्थात् जिसमें पैर रखने पर पैर के निशान बन जायें, वह पद्यः कर्दमः कहलायेगा॥

मूलमस्याबर्हि ॥४।४।८८॥

मूलम् १।१॥ अस्य ६।१॥ आबर्हि १।१॥ *अनु०*—यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ आबर्हणम् = आबर्हः = उत्पाटनम् तद् अस्यास्तीति, आबर्हि॥ *अर्थः*—आबर्हिसमानाधिकरणात् प्रथमासमर्थात् मूलप्रातिपदिकादस्येति षष्ठ्यर्थे यत् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—मूलमेषामाबर्हि मूल्याः माषाः, मूल्याः मुद्गाः॥

भाषार्थः—आबर्ह उखाड़ने को कहते हैं, आबर्ह जिसका हो वह आबर्हि है॥ यहाँ भी निर्देश से प्रथमा समर्थ विभक्ति ली है॥

[*आबर्हि*] आबर्हि समानाधिकरण प्रथमा समर्थ [*मूलम्*] मूल प्रातिपदिक से [*अस्य*] षष्ठ्यर्थ में यत् प्रत्यय होता है॥ मूल जड़ को कहते हैं। मूंग या उड़द के पौधों के पक जाने पर जड़ समेत उखाड़ा जाता है, अतः वे मूल्याः माषाः, मूल्याः मुद्गाः कहलाते हैं॥

संज्ञायां धेनुष्या ॥४।४।८९॥

संज्ञायाम् ७।१॥ धेनुष्या १।१॥ *अनु०*—यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—संज्ञायां विषये धेनुष्या इति निपात्यते। धेनोः षुगागमः यश्च प्रत्ययो निपात्यते॥

भाषार्थः— [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में [*धेनुष्या*] धेनुष्या शब्द स्त्रीलिङ्ग में निपातन किया जाता है। धेनु शब्द को षुक् आगम तथा

थ प्रत्यय निपातन से होता है॥ दुग्धादि के द्वारा ऋण उतारने के लिये जो धेनु उत्तमर्ण को दी जाती है, वह धेनुष्या कहाती है॥

यहाँ से *'संज्ञायाम्'* की अनुवृत्ति ४।४।९० तक जायेगी॥

गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः ॥४।४।९०॥

गृहपतिना ३।१॥ संयुक्ते ७।१॥ ञ्यः १।१॥ अनु०—संज्ञायाम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थात् गृहपतिशब्दात् संयुक्त इत्येतस्मिन्नर्थे ञ्यः प्रत्ययो भवति संज्ञायां विषये॥ *उदा०*—गृहपतिना सयुक्तः = गार्हपत्योऽग्निः॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ [*गृहपतिना*] गृहपति शब्द से [*संयुक्ते*] संयुक्त अर्थ में [*ञ्यः*] ञ्य प्रत्यय होता है, संज्ञा विषय में॥ यहाँ भी गृहपतिना तृतीया निर्देश से ही तृतीया समर्थ विभक्ति का ग्रहण है॥ गृहपति यजमान से संबद्ध अग्नि गार्हपत्य कहाती है। यद्यपि आहवनीय और दक्षिणाग्नि भी गृहपति से संबद्ध होती हैं फिर भी संज्ञा ग्रहण से आहवनीय से पश्चिम प्रदेश में स्थापित अग्नि ही गार्हपत्य कही जाती है। इसी में गार्हपत्य कर्म विशेष रूप से होते हैं॥

नौवयोधर्मविषमूलमूलसीतातुलाभ्यस्तार्यतुल्यप्राप्यवध्या-नाम्यसमसमितसंमितेषु ॥४।४।९१॥

नौवयो·····तुलाभ्यः ५।३॥ तार्यतुल्य·····तेषु ७।३॥ *स०*—उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—यत्, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—नौ, वयस्, धर्म, विष, मूल, मूल, सीता, तुला इत्येतेभ्यस्तृतीयासमर्थेभ्योऽष्टाभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो यथासङ्ख्यम् तार्य्य, तुल्य, प्राप्य, वध्य, आनाम्य, सम, समित, सम्मित, इत्येतेष्वष्टस्वर्थेषु यत् प्रत्ययो भवति॥ प्रत्ययार्थद्वारेणात्र तृतीयासमर्थविभक्तिर्द्रष्टव्या, अर्थात् तार्याद्यर्थेषु तृतीयाविभक्तिरेव संबद्धुं योग्या भवति॥ *उदा०*—नावा तार्यं नाव्यमुदकम्, नाव्या नदी। वयसा तुल्यो वयस्यः सखा। धर्मेण प्राप्यं = धर्म्यम्। विषेण वध्यो: विष्यः। मूलेनानाम्यं मूल्यम्। मूलेन समो मूल्यः पटः। सीतया समितं सीत्यं क्षेत्रम्। तुलया संमितं तुल्यम्॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ [*नौवयो.....लाभ्यः*] नौ, वयस्, धर्म, विष, मूल, मूल, सीता, तुला इन आठ प्रातिपदिकों से यथासङ्ख्य करके [*तार्य.....तेषु*] तार्य, तुल्य, प्राप्य, वध्य, आनाम्य, सम, समित, सम्मित इन आठ अर्थों में यत् प्रत्यय होता है ॥ यहाँ तार्य आदि प्रत्ययार्थ के द्वारा तृतीया समर्थ विभक्ति स्वीकार की गई है, अर्थात् तार्य आदि अर्थों में नौ आदि प्रातिपदिकों का तृतीया विभक्ति द्वारा ही संबन्ध हो सकता है अन्य विभक्तियों से नहीं ॥

धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते ॥४।४।९२॥

धर्मपथ्यर्थन्यायात् ५।१॥ अनपेते ७।१॥ *स०*—धर्म० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—धर्म, पथिन्, अर्थ न्याय इत्येतेभ्यः पञ्चमीसमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽनपेत इत्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—धर्मादनपेतं धर्म्यम्, पथ्यम्, अर्थ्यम्, न्याय्यम् ॥

भाषार्थः—पञ्चमीसमर्थ [*धर्म.....यात्*] धर्म, पथिन्, अर्थ, न्याय प्रातिपदिकों से [*अनपेते*] अनपेत अर्थ में यत् प्रत्यय होता है ॥ यहाँ भी निर्देश से ही समर्थ विभक्ति का ग्रहण है ॥ अनपेत कहते हैं अनुकूल को जो धर्म से अनुकूल हो वह धर्म्य होगा, इसी प्रकार औरों में जानें ॥

छन्दसो निर्मिते ॥४।४।९३॥

छन्दसः ५।१॥ निर्मिते ७।१॥ इच्छा पर्य्यायश्छन्दोऽत्र गृह्यते ॥ *अनु०*—यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थाच्छन्दसः प्रातिपदिकात् निर्मित इत्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति ॥ अत्रापि प्रत्ययार्थानुरोधात् तृतीयासमर्थविभक्तिर्द्रष्टव्या ॥ *उदा०*—छन्दसा निर्मितः छन्दस्यः ॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ [*छन्दसः*] छन्दस् प्रातिपदिक से [*निर्मिते*] निर्मित (बनाया हुआ) अर्थ में यत् प्रत्यय होता है ॥ छन्दस् शब्द यहाँ इच्छा का पर्यायवाची लिया गया है। यहाँ भी अर्थ के सामर्थ्य से तृतीया समर्थ विभक्ति ली गई है ॥

यहाँ से '*निर्मिते*' की अनुवृत्ति ४।४।९४ तक जायेगी ॥

उरसोऽण् च ॥४।४।९४॥

उरसः ५।१॥ अण् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—यत्, निर्मिते, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थाद् उरसः प्रातिपदिकात् निर्मितेऽर्थेऽण् प्रत्ययो भवति यत् च ॥ *उदा०*—उरसा निर्मितः = औरसः पुत्रः, उरस्यः ॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ [*उरसः*] उरस् प्रातिपदिक से निर्मित अर्थ में [*अण्*] अण् [*च*] और यत् प्रत्यय होते हैं ॥ अर्थ की अनुकूलता से यहाँ भी तृतीया समर्थ विभक्ति ली है ॥ औरस, उरस्य अपने सगे पुत्र को कहते हैं ॥

हृदयस्य प्रियः ॥४।४।९५॥

हृदयस्य ६।१॥ प्रियः १।१॥ *अनु०*—यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थात् हृदयप्रातिपदिकात् प्रिय इत्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*— हृदयस्य प्रियो हृद्यो देशः, हृद्या कन्या ॥

भाषार्थ—षष्ठी समर्थ [*हृदयस्य*] हृदय प्रातिपदिक से [*प्रियः*] प्रिय इस अर्थ में यत् प्रत्यय होता है ॥ यहाँ भी निर्देश से षष्ठी समर्थ विभक्ति का ग्रहण है। जो हृदय को प्रिय हो वह हृद्य कहाता है, *हृदयस्य हृल्लेख०* (६।३।४८) से हृदय को हृद् आदेश होता है ॥

यहाँ से '*हृदयस्य*' की अनुवृत्ति ४।४।९६ तक जायेगी ॥

बन्धने चर्षौ ॥४।४।९६॥

बन्धने ७।१॥ च अ० ॥ ऋषौ ७।१॥ *अनु०*—हृदयस्य, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थाद् हृदयशब्दात् बन्धन इत्येतस्मिन्नर्थे ऋषावभिधेये यत् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—हृदयस्य बन्धनं ऋषिः हृद्यः ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ हृदय शब्द से [*बन्धने*] बन्धन अर्थ में [*च*] भी [*ऋषौ*] ऋषि = वेद अभिधेय होने पर यत् प्रत्यय होता है ॥ ऋषि यहाँ वेद का वाचक है। जो मनुष्य वेदों को पढ़ कर वेदोक्त धर्मादि का निश्चय करता है, उसका हृदय धर्मादि कृत्यों में बन्ध जाता है, अर्थात्

वह पाप कर्म नहीं करता, उस वेद को हृद्यः ऋषिः कहेंगे। बध्यते येन सत्कर्मसु तद् बन्धनम् = जिससे सत्कर्म में बंधे वह बन्धन है, ऐसा यहाँ समझना चाहिये ॥

मतजनहलात् करणजल्पकर्षेषु ॥४।४।९७॥

मतजनहलात् ५।१॥ करणजल्पकर्षेषु ७।३॥ *स०*—मत० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः। करण० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—मत, जन, हल इत्येतेभ्यः षष्ठीसमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो यथासङ्ख्यं करण, जल्प, कर्ष इत्येतेष्वर्थेषु यत् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—मतं ज्ञानं तस्य करणं मत्यम्। जनस्य जल्पो जन्यः। हलस्य कर्षो हल्यः॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*मत*···*त्*] मत, जन, हल प्रातिपदिकों से यथासङ्ख्य करके [*कर*···*षु*] करण, जल्प, कर्ष इन अर्थों में यत् प्रत्यय होता है॥ यहाँ भी प्रत्ययार्थ की अनुकूलता से समर्थ विभक्ति का ग्रहण है॥

तत्र साधुः ॥४।४।९८॥

तत्र अ०॥ साधुः १।१॥ *अनु०*—यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थात् प्रातिपदिकात् साधुरित्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—सामसु साधुः सामन्यः, वेमन्यः, कर्मण्यः शरण्यः॥

भाषार्थः—[*तत्र*] सप्तमी समर्थ प्रातिपदिक से [*साधुः*] साधु = 'कुशल' अर्थ को कहने में यत् प्रत्यय होता है॥ *नस्तद्धिते* (६।४।१४४) से टिलोप प्राप्त था, *ये चाभावकर्मणोः* (६।४।१६८) से प्रकृति भाव होकर सामन्यः वेमन्यः आदि बन गया॥

यहाँ से '*तत्र*' की अनुवृत्ति ४।४।११६ तथा '*साधुः*' की ४।४।१०६ तक जायेगी॥

प्रतिजनादिभ्यः खञ् ॥४।४।९९॥

प्रतिजनादिभ्यः ५।३॥ खञ् १।१॥ *स०*—प्रतिजन आदिर्येषां ते प्रतिजनादयस्तेभ्यः······बहुव्रीहिः॥ *अनु०*- तत्र साधुः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थेभ्यः प्रतिजना-

दिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः साधुरित्येतस्मिन्नर्थे खञ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—प्रतिजने साधुः प्रातिजनीनः, ऐदंयुगीनः, सायंयुगीनः ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*प्रति* ··· *भ्यः*] प्रतिजनादि प्रातिपदिकों से साधु = 'कुशल' अर्थ में [*खञ्*] खञ् प्रत्यय होता है ॥ जो मनुष्य प्रत्येक के प्रति व्यवहारादि में कुशल हो वह प्रातिजनीनः कहलायेगा ॥

भक्ताण् णः ॥४।४।१००॥

भक्तात् ५।१॥ णः १।१॥ तत्र साधुः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थाद् भक्तप्रातिपदिकात् साधुरित्येतस्मिन्नर्थे णः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—भक्ते साधुः = भाक्तः शालिः ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*भक्तात्*] भक्त प्रातिपदिक से साधु अर्थ में [*णः*] ण प्रत्यय होता है ॥ जो धान भात = चावल के लिए अच्छे हों वे भाक्त शालि कहायेंगे ॥

परिषदो ण्यः ॥४।४।१०१॥

परिषदः ५।१॥ ण्यः १।१॥ *अनु०*—तत्र साधुः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थात् परिषद्प्रातिपदिकात् साधुरित्येतस्मिन्नर्थे ण्यः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—परिषदि साधुः पारिषद्यः ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*परिषदः*] परिषद् प्रातिपदिक से साधु अर्थ में [*ण्यः*] ण्य प्रत्यय होता है ॥

कथादिभ्यष्ठक् ॥४।४।१०२॥

कथादिभ्यः ५।३॥ ठक् १।१॥ *स०*—कथा आदिर्येषां ते कथादयस्तेभ्यः······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—तत्र साधुः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थेभ्यः कथादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः साधुरित्येतस्मिन्नर्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—कथायां साधुः काथिकः वैकथिकः ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*कथादिभ्यः*] कथादि प्रातिपदिकों से साधु अर्थ में [*ठक्*] ठक् प्रत्यय होता है ॥

गुडादिभ्यष्ठञ् ॥४।४।१०३॥

गुडादिभ्यः ५।३॥ ठञ् १।१॥ *स०*—गुड आदिर्येषां ते गुडादयस्तेभ्यः······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—तत्र साधुः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थेभ्यो गुडादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः साधुरित्येतस्मिन् विषये ठञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—गुडे साधुः = गौडिकः इक्षुः, कौल्माषिको मुद्गः ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*गुडादिभ्यः*] गुडादि प्रातिपदिकों से साधु अर्थ में [*ठञ्*] ठञ् प्रत्यय होता है ॥ जो गुड़ के लिये, अच्छा उपयुक्त गन्ना वह गौडिकः कहाता है ॥ कुल्माष अर्ध पके अन्न को कहते हैं । अर्धपक्व करके खाने योग्य मुद्ग कौल्माषिक कहाते हैं ॥

पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ् ॥४।४।१०४॥

पथ्य······पतेः ५।१॥ ढञ् १।१॥ *स०*—पन्थाश्च अतिथिश्च वसतिश्च स्वपतिश्च पथ्य······पतिः, तस्मात्······समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्र साधुः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थेभ्यः पथिन्, अतिथि, वसति, स्वपति इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो ढञ् प्रत्ययो भवति साधुरित्येतस्मिन्नर्थे ॥ *उदा०*—पथि साधुः पाथेयम्, आतिथेयम्, वासतेयम्, स्वापतेयम् ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*पथ्य······पतेः*] पथिन्, अतिथि, वसति, स्वपति प्रातिपदिकों से साधु इस अर्थ में [*ढञ्*] ढञ् प्रत्यय होता है ॥ यात्रा में खाने के लिये जो भोजन हो उसे पाथेय कहते हैं ॥

सभाया यः ॥४।४।१०५॥

सभायाः ५।१॥ यः १।१॥ *अनु०*—तत्र साधुः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थात् सभाप्रातिपदिकात् साधुरित्येतस्मिन्नर्थे यः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—सभायां साधुः = सभ्यः ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*सभायाः*] सभा प्रातिपदिक से साधु अर्थ में [*यः*] य प्रत्यय होता है ॥ सभा के व्यवहारादि में जो कुशल है वह सभ्य कहा जायेगा ॥

यहाँ से '*सभायाः*' की अनुवृत्ति ४।४।१०६ तक जायेगी ॥

ढश्छन्दसि ॥४।४।१०६॥

ढः १।१॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—सभायाः, तत्र साधुः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थात् सभा-प्रातिपदिकात् साधुरित्येतस्मिन्नर्थे छन्दसि विषये ढः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम् (य० २२।२२) ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ सभा शब्द से साधु इस अर्थ में [*छन्दसि*] वैदिक प्रयोग विषय में [*ढः*] ढ प्रत्यय होता है ॥

समानतीर्थे वासी ॥४।४।१०७॥

समानतीर्थे ७।१॥ वासी १।१॥ *अनु०*—तत्र, यत्, तद्धिताः, ङ्या-प्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थात् समानतीर्थ-प्रातिपदिकाद् वासीत्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—समाने तीर्थे वासी सतीर्थ्यः ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*समानतीर्थे*] समानतीर्थ प्रातिपदिक से [*वासी*] रहने वाला इस अर्थ में यत् प्रत्यय होता है ॥ यहाँ तीर्थ का अर्थ गुरुकुल पाठशाला वा आचार्य है अतः सतीर्थ्य सहपाठी, सहाध्यायी को कहते हैं ॥

समानोदरे शयित ओ चोदात्तः ॥४।४।१०८॥

समानोदरे ७।१॥ शयितः १।१॥ ओ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ उदात्तः १।१॥ *स०*—समानं च तदुदरञ्च समानोदरम् तस्मिन्... कर्मधारयस्तत्पुरुषः ॥ अनु०—तत्र, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदि-कात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थात् समानोदरप्रातिपदि-कात् शयित इत्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवत्योकारश्चोदात्तः ॥ *उदा०*—समानोदरे शयितः समानोदर्यः ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*समानोदरे*] समानोदर प्रातिपदिक से [*शयितः*] शयन किया हुआ इस अर्थ में यत् प्रत्यय होता है [*च*] तथा समानोदर शब्द में जो [*ओ*] ओकार है, वह [*उदात्तः*] उदात्त होता है ॥

यत् प्रत्यय कर लेने पर *तित् स्वरितम्* (६।१।१७६) से 'य' स्वरित होता है, तत्पश्चात् *अनुदात्तं पदमे०* (६।१।१५२) से य को छोड़ कर सारा पद अनुदात्त प्राप्त था, उसको बाध कर ओकार ही उदात्त रहे अतः 'ओ चोदात्तः' कहा है ॥ जो समान उदर (पेट) में शयन करे अर्थात् भाई समानोदर्य कहाता है ॥

यहाँ से '*शयितः*' की अनुवृत्ति ४।४।१०६ तक जायेगी ॥

सोदराद्यः ॥४।४।१०९॥

सोदरात् ५।१॥ यः १।१॥ *अनु०*—शयितः, तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थ.*—सप्तमीसमर्थात् सोदर-प्रातिपदिकात् शयित इत्येतस्मिन्नर्थे यः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—सोदर्य्यो भ्राता ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*सोदरात्*] सोदर प्रातिपदिक से शयित इस अर्थ में [*यः*] य प्रत्यय होता है ॥ य और यत् में स्वर का ही भेद है ॥ सोदर में समान को स भाव 'य' प्रत्यय की विवक्षा में *विभाषोदरे* (६।३।८६) से हुआ है । सोदर्य भी सगे भाई को कहते हैं ॥

भवे छन्दसि ॥४।४।११०॥

भवे ७।१॥ छन्दसि ७।१॥ *अनु०*—तत्र, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थात् भव इत्येतस्मिन्नर्थे छन्दसि विषये यत् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—मेध्याय च विद्युत्याय च नमः ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ प्रातिपदिक से [*भवे*] भव अर्थ में [*छन्दसि*] वेद विषय में यत् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*भवे*' की अनुवृत्ति ४।४।११८ तक तथा '*छन्दसि*' की ४।४।१४४ तक जायेगी ॥

पाथोनदीभ्यां ड्यण् ॥४।४।१११॥

पाथोनदीभ्याम् ५।२॥ ड्यण् १।१॥ *स०*—पाथश्च नदी च, पाथोनद्यौ, ताभ्यां·····इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—भवे छन्दसि, तत्र, तद्धिताः,

ङ्याप्प्रातिपदिकात् , प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—पाथस् , नदी इत्येताभ्यां सप्तमीसमर्थाभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां छन्दसि विषये भवेऽर्थे ड्यण् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—पाथसि भवः = पाथ्यः, नाद्यः ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*पाथोनदीभ्याम्*] पाथस् और नदी प्रातिपदिकों से वेद विषय में भव अर्थ में [*ड्यण्*] ड्यण् प्रत्यय होता है ॥ डित् होने से टि भाग का लोप होकर 'पाथ् य, नद् य' बना, पश्चात् वृद्धि होकर पाथ्यः, नाद्यः बन जायेगा ॥

वेशन्तहिमवद्भ्यामण् ॥४।४।११२॥

वेश ···भ्याम् ५।२॥ अण् १।१॥ *स०*—वेश० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—भवे छन्दसि, तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् , प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थाभ्यां वेशन्त, हिमवत् प्रातिपदिकाभ्यां छन्दसि विषये भवेऽर्थेऽण् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—वेशन्ते भवः वैशन्तः । वैशन्तीभ्यः स्वाहा, हैमवतीभ्यः स्वाहा ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*वेश ···भ्याम्*] वेशन्त और हिमवत् प्रातिपदिकों से वेद विषय में भव अर्थ में [*अण्*] अण् प्रत्यय होता है ॥ अण् होने से *टिड्ढाणञ्०* (४।१।१५) से स्त्रीलिङ्ग में ङीप् होता है ॥

स्रोतसो विभाषा ड्यड्ड्यौ ॥४।४।११३॥

स्रोतसः ५।१॥ विभाषा १।१॥ ड्यड्ड्यौ १।२॥ *स०*—ड्यड्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—भवे छन्दसि, तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् , प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थात् स्रोतस्प्रातिपदिकात् छन्दसि विषये भवार्थे विकल्पेन ड्यत् , ड्य इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः ॥ *उदा०*—स्रोतसि भवः स्रोत्यः, स्रोतस्यः ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*स्रोतसः*] स्रोतस् प्रातिपदिक से वेद विषय में भवार्थ में [*ड्यड्ड्यौ*] ड्यत् , ड्य प्रत्यय [*विभाषा*] विकल्प से होते हैं ॥ ड्यत् , ड्य दोनों प्रत्ययों से बने शब्दों के रूप टि भाग का लोप करके एक जैसे ही बनेंगे, केवल स्वर में भेद होगा । पक्ष में अधिकार से प्राप्त यत् प्रत्यय होगा तो *स्रोतस्यः* रूप बनेगा ॥

सगर्भसयूथसनुताद्यन् ॥४।४।११४॥

सग.....तात् ५।१॥ यन् १।१॥ स०—सगर्भ० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः॥ अनु०—भवे छन्दसि, तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—सप्तमीसमर्थेभ्यः सगर्भ, सयूथ, सनुत इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यश्छन्दसि विषये भवार्थे यन् प्रत्ययो भवति॥ उदा०—अनुभ्राता सगर्भ्यः। अनुसखा सयूथ्यः (य० ४।२०), यो नः सनुत्यः॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [सग..तात्] सगर्भ, सयूथ, सनुत इन प्रातिपदिकों से वेदविषयक भवार्थ में [यन्] यन् प्रत्यय होता है॥

तुग्राद् घन् ॥४।४।११५॥

तुग्रात् ५।१॥ घन् १।१॥ अनु०—भवे छन्दसि, तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—सप्तमीसमर्थात्, तुग्रप्रातिपदिकाद् घन् प्रत्ययो भवति वेद विषये भवार्थे॥ उदा०—त्वमग्ने वृषभस्तुग्रियाणाम्॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [तुग्रात्] तुग्र शब्द से वेद विषयक भवार्थ में [घन्] घन् प्रत्यय होता है॥ घ को 'इय्' ७।१।२ से हो ही जायेगा॥

अग्राद्यत् ॥४।४।११६॥

अग्रात् ५।१॥ यत् १।१॥ अनु०—भवे छन्दसि, तत्र तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—सप्तमीसमर्थाद् अग्रप्रातिपदिकाच् छन्दसि विषये भवार्थे यत् प्रत्ययो भवति॥ उदा०—अग्रेभवम् = अग्र्यम्॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [अग्रात्] अग्र प्रातिपदिक से वेद विषयक भवार्थ में [यत्] यत् प्रत्यय होता है॥

यहाँ से 'अग्रात्' की अनुवृत्ति ४।४।११७ तक जायेगी॥

घच्छौ च ॥४।४।११७॥

घच्छौ १।२॥ च अ०॥ स०—घश्च छश्च, घच्छौ, इतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—अग्रात्, भवे छन्दसि, तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः,

परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थाद् अग्रप्रातिपदिकात् घ, छ इत्येतावपि प्रत्ययौ भवतो वेदविषये भवार्थे ॥ *उदा०*—अग्रियम्, अग्रीयम् ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ अग्र प्रातिपदिक से वेद विषय में भव इस अर्थ में [*घच्छौ*] घ और छ प्रत्यय [*च*] भी होते हैं ॥ पूर्व सूत्र से यत् होगा ही ॥

समुद्राभ्राद् घः ॥४।४।११८॥

समुद्राभ्रात् ५।१॥ घः १।१॥ *स०*—समु० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—भवे छन्दसि, तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थाभ्यां समुद्र, अभ्र इत्येताभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां छन्दसि विषये भवार्थे घः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—समुद्रियाणां नदीनाम्। अभ्रियस्येव घोषः ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*समुद्राभ्रात्*] समुद्र और अभ्र प्रातिपदिकों से वेदविषयक भवार्थ में [*घः*] घ प्रत्यय होता है ॥ समुद्र शब्द निघण्टु में अन्तरिक्ष (आकाश) नामों में पढ़ा है, तथा अभ्र मेघ का वाची है ॥

बर्हिषि दत्तम् ॥४।४।११९॥

बर्हिषि ७।१॥ दत्तम् १।१॥ *अनु०*—छन्दसि, तत्र, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थाद् बर्हिष्-प्रातिपदिकाद् दत्तमित्येतस्मिन्नर्थे छन्दसि विषये यत् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—बर्हिषि दत्तम् = बर्हिष्यम्, बर्हिष्येषु निधिषु प्रियेषु ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*बर्हिषि*] बर्हिष् प्रातिपदिक से [*दत्तम्*] दिया हुआ इस अर्थ में यत् प्रत्यय होता है वेद विषय में ॥

दूतस्य भागकर्मणी ॥४।४।१२०॥

दूतस्य ६।१॥ भागकर्मणी १।२॥ *स०*—भागश्च कर्म च, भागकर्मणी, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—छन्दसि, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थात् दूतशब्दाद् भागे कर्मणि चाभिधेये छन्दसि विषये यत् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—दूतस्य भागः कर्म वा दूत्यम्, यत्तेऽग्ने दूत्यम् ॥

भाषार्थः—षष्ठीसमर्थ [*दूतस्य*] दूत प्रातिपदिक से [*भागकर्मणी*] भाग और कर्म अभिधेय हों तो यत् प्रत्यय होता है ॥ यहाँ दूतस्य षष्ठ्यन्त निर्देश से ही षष्ठी समर्थ विभक्ति का ग्रहण है ॥ दूत का भाग या कर्म दूत्य कहायेगा ॥

रक्षोयातूनां हननी ॥४।४।१२१॥

रक्षोयातूनाम् ६।३॥ हननी १।१॥ *अनु०*—छन्दसि, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ हन्यते यया सा हननी ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थाभ्यां रक्षस्, यातु इत्येताभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां हननीत्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—रक्षसां = हननी रक्षस्या तनूः । यातूनां हननी यातव्या ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*रक्षोयातूनाम्*] रक्षस् तथा यातु प्रातिपदिकों से [*हननी*] हननी अर्थ में यत् प्रत्यय होता है ॥ हनन किया जाता है जिसके द्वारा, वह हननी कहाती है । ३।३।११७ से करण में ल्युट् होकर ४।१।१५ से ङीप् हुआ है ॥ यहाँ भी निर्देश से ही षष्ठी विभक्ति का ग्रहण है ॥

रेवतीजगतीहविष्याभ्यः प्रशस्ये ॥४।४।१२२॥

रेव······भ्यः ५।३॥ प्रशस्ये ७।१॥ *स०*—रेवती० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—छन्दसि, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थेभ्यः रेवती, जगती, हविष्या इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः प्रशस्येऽर्थे छन्दसि विषये यत् प्रत्ययो भवति ॥ प्रशंसनं प्रशस्यम्, *कृत्यल्युटो०* (३।३।११३) इत्यनेन भावे क्यप् ॥ *उदा०*—यद्वो रेवती रेवत्यम् । यद्वो जगती जगत्यम् । यद्वो हविष्या हविष्यम् ॥

भाषार्थः—षष्ठीसमर्थ [*रेव······भ्यः*] रेवती, जगती, तथा हविष्या प्रातिपदिकों से [*प्रशस्ये*] प्रशस्य अर्थ में वैदिक प्रयोग में यत् प्रत्यय होता है ॥ प्रत्ययार्थ की अनुकूलता से यहाँ षष्ठी समर्थ विभक्ति ली है ॥ प्रशस्य में क्यप् प्रत्यय *कृत्यल्युटो०* से भाव में हुआ है ॥ हविष्या यत् यहाँ यस्येति लोप करने के पश्चात् *हलो यमां यमि लोपः* (८।४।६३) से हविष्य के य का लोप भी विकल्प से हो जाता है, तब

हविष्+य=हविष्य: बनता है ॥ जब लोप नहीं होता तब हविष्य्य: दो यकार होते हैं ॥

असुरस्य स्वम् ॥४।४।१२३॥

असुरस्य ६।१॥ स्वम् १।१॥ *अनु०*—छन्दसि, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थादसुरप्रातिपदिकात् स्वमित्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति छन्दसि विषये ॥ *उदा०*—असुर्यं वा एतत्पात्रं, यच्चक्रधृतं कुलालकृतम्। असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः (यजु० ४०।९) ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*असुरस्य*] असुर प्रातिपदिक से [*स्वम्*] 'अपना' इस अर्थ में यत् प्रत्यय होता है, वेद विषय में ॥ यहाँ भी निर्देश से समर्थ विभक्ति का ग्रहण है ॥

यहाँ से '*असुरस्य स्वम्*' की अनुवृत्ति ४।४।१२४ तक जायेगी ॥

मायायामण् ॥४।४।१२४॥

मायायाम् ७।१॥ अण् १।१॥ *अनु०*—असुरस्य स्वम्, छन्दसि, यत् तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थाद-सुरप्रातिपदिकात् स्वकीयायां मायायामण् प्रत्ययो भवति, छन्दसि विषये ॥ *उदा०*—असुरस्येयम् आसुरी माया, स्वधया कृतासि ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ असुर शब्द से वेदविषय में [*मायायाम्*] असुर की अपनी माया अभिधेय हो तो, [*अण्*] अण् प्रत्यय होता है ॥ आसुरी में *टिड्ढाणञ्०* (४।१।१५) से ङीप् हुआ है ॥

तद्वानासामुपधानो मन्त्र इतीष्टकासु लुक् च मतोः ॥४।४।१२५॥

तद्वान् १।१॥ आसाम् ६।३॥ उपधानः १।१॥ मन्त्रः १।१॥ इति अ० ॥ इष्टकासु ७।३॥ लुक् १।१॥ च अ० ॥ मतोः ६।१॥ *अनु०*—छन्दसि, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ उपधी-यते=स्थाप्यते इष्टका येन स उपधानो मन्त्रः। तद्वानिति निर्देशादेव

प्रथमासमर्थविभक्तिः ॥ *अर्थः*—उपधानमन्त्रसमानाधिकरणात् प्रथमा-समर्थात् मतुबन्तात् प्रातिपदिकाद् आसामिति षष्ठ्यर्थे यत् प्रत्ययो भवति, यत्तदासामिति निर्दिष्टम् इष्टकाश्चेत् ता भवन्ति, प्रकृत्यन्तर्गतस्य मतोश्च लुक् भवति छन्दसि विषये ॥ *उदा०*—वर्चः शब्दोऽस्मिन्नस्ति, स वर्चस्वान् मन्त्रः । वर्चस्वान् मतुबन्ता प्रकृतिः, ततो वर्चस्वान् उपधानो मन्त्र आसामिष्टकानामिति विगृह्य यत् प्रत्ययः, मतोश्च लुक् भूत्वा-वर्चस्या इष्टकाः, सहस्याः तेजस्याः ॥

भाषार्थः—जिस मन्त्र को बोलकर उपधान अर्थात् स्थापन (ईंटों का वेदी बनाने के लिये) किया जाये वह उपधान मन्त्र कहाता है ॥ [*उप-धानो मन्त्रः*] उपधान मन्त्र समानाधिकरण प्रथमा समर्थ [*तद्वान्*] मतुबन्त प्रातिपदिक से [*आसाम्*] षष्ठ्यर्थ में यत् प्रत्यय होता है, यदि षष्ठ्यर्थ से निर्दिष्ट [*इतीष्टकासु*] ईंटें ही हों तो [*च*] तथा [*मतोः*] मतुप् का [*लुक्*] लुक् भी हो जाता है वेद विषय में ॥ तद्वान् इस निर्देश से ही प्रथमा समर्थ विभक्ति ली है ॥ जिन मन्त्रों में वर्चस्, सहस् तेजस् आदि शब्द होंगे, वे मन्त्र वर्चस्वान्, सहस्वान् , तेजस्वान् आदि शब्दों से कहे जायेंगे, अर्थात् यहाँ *तदस्यास्त्यस्मिन्निति०* (५।२। ९४) से मतुप् प्रत्यय हो जायेगा, सो ये सब मतुबन्त प्रकृतियाँ होंगी ॥ अब वर्चः शब्द जिस मन्त्र में है, ऐसे मन्त्र को बोलकर जब वेदि बनाने के लिये ईंटों का चयन किया जायेगा, तब वह मन्त्र उपधान मन्त्र कहायेगा, अतः वर्चस्वान् मन्त्र है उपधान मन्त्र इन ईंटों का इस अर्थ में वर्चस्वत् आदि शब्दों से प्रकृत सूत्र से यत् प्रत्यय तथा प्रकृति में से मतुप् भाग का, अर्थात् वर्चस्वत् में वत् का लुक् होकर बहुवचन में वर्चस्याः तेजस्याः सहस्याः बनेगा । वर्चस्याः आदि शब्द उन चयन की जाने वाली ईंटों के वाचक होंगे जो वर्चः शब्द वाले मन्त्रों से चयन कर्म में रखी जाती हैं ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ४।४।१२७ तक जायेगी ॥

अश्विमानण् ॥४।४।१२६॥

अश्विमान् १।१॥ अण् १।१॥ *अनु०*—तद्वानासामुपधानो मन्त्र इती-ष्टकासु लुक् च मतोः, छन्दसि, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् , प्रत्ययः,

परश्च ॥ *अर्थः*—उपधानमन्त्रसमानाधिकरणात् प्रथमासमर्थाद् मतुबन्ताद् अश्विमान् इति प्रातिपदिकात् षष्ठ्यर्थेऽण् प्रत्ययो भवति यत् तत् षष्ठ्यन्तेन निर्दिष्टम् इष्टकाश्चेत्ता भवन्ति, मतोश्च लुग् भवति छन्दसि विषये ॥ पूर्वस्यापवादः ॥ *उदा०*—अश्विमान् उपधानो मन्त्र आसामिष्टकानाम् = आश्विनीरुपदधाति ॥

भाषार्थः—उपधान मन्त्र समानाधिकरण वाले प्रथमासमर्थ मतुबन्त [*अश्विमान्*] अश्विमान् प्रातिपदिक में षष्ठ्यर्थ से इष्टका अभिधेय हों तो [*अण्*] अण् प्रत्यय तथा मतुप् का लुक् होता है, वेद विषय में ॥ अश्वि शब्द जिसमें है वह अश्विमान् मन्त्र हुआ, वह है उपधान मन्त्र जिनका इस अर्थ में अण् प्रत्यय होकर तथा मतुप् का लुक् होकर आश्विनी बना है। *टिड्ढाणञ्०* (४।१।१५) से ङीप् हुआ है ॥ पूर्व सूत्र से यत् प्राप्त था उसका यह अपवाद है ॥

वयस्यासु मूर्ध्नो मतुप् ॥४।४।१२७॥

वयस्यासु ७।३॥ मूर्ध्नः ५।१॥ मतुप् १।१॥ *अनु०* -तद्वानासामुपधानो मन्त्र इतीष्टकासु लुक् च मतोः, छन्दसि, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—उपधानमन्त्रसमानाधिकरणात् प्रथमासमर्थात् मतुबन्तात् मूर्धन् इति प्रातिपदिकाद् वयस्यास्विष्टकास्वभिधेयासु छन्दसि विषये मतुप् प्रत्ययो भवति, लुक् च मतोः ॥ *उदा०*—मूर्धन्वान् उपधानो मन्त्र आसामिष्टकानां = मूर्धन्वत्य इष्टकाः ॥

भाषार्थः—उपधान मन्त्र समानाधिकरण प्रथमा समर्थ मतुबन्त [*मूर्ध्नः*] मूर्धन् प्रातिपदिक से [*वयस्यासु*] वयस्या ईंटें, अर्थात् वयस्वान् है उपधान मन्त्र जिन ईंटों का ऐसी ईंटों के अभिधेय होने पर वेद विषय में [*मतुप्*] मतुप् प्रत्यय तथा प्रकृत्यन्तर्गत जो मतुप् उसका लुक् हो जाता है ॥ वयस् शब्द जिस मन्त्र में है, वह वयस्वान् मन्त्र होगा, वह वयस्वान् मन्त्र है उपधानमन्त्र जिन ईंटों का, वे ईंटें वयस्या इष्टकाः कही जायेंगी, ४।४।१२५ से यत् हो जायेगा। अब जिस उपधान मन्त्र में वयस् शब्द तथा मूर्धन् शब्द दोनों विद्यमान हों, वह मन्त्र वयस्वान् तथा मूर्धन्वान् दोनों कहा जायेगा, तो जिस प्रकार वयस्वान् शब्द से यत् होता है उसी प्रकार मूर्धन्वान् शब्द से भी यत् प्राप्त था अतः

मतुप् विधान करते हैं ।। जब मूर्धन् तथा वयस् शब्द एक ही मन्त्र में होंगे तभी मूर्धन्वती शब्द की वयस्या इष्टका अभिधेय हो सकेगी ।। मूर्धन्वान् मतुप् यहाँ प्रकृतिगत मतुप् का लुक् होकर मूर्धन् मतुप् रहा मतुप् के म को व *मादुपधायाश्च०* (८।२।९) से हुआ है, शेष सिद्धि प्रथम भाग पृ० ६७८ परि० १।१।५ के चितवान् के समान जानें ।। यह सूत्र यत् का (४।४।१२५) अपवाद है ।।

मत्वर्थे मासतन्वोः ।।४।४।१२८।।

मत्वर्थे ७।१।। मासतन्वोः ७।२।। *स०*—मास० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। *अनु०*—छन्दसि, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ।। यस्मिन्नर्थेऽर्थात् *तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्* (५।२।९४) इत्यनेन षष्ठ्यर्थे सप्तम्यर्थे च मतुब्विहितस्तस्मिन्नर्थेऽत्र यत् विधीयते ।। *अर्थः*—मासतन्वोरन्यपदार्थयोः प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकात् मत्वर्थे छन्दसि विषये यत् प्रत्ययो भवति ।। *उदा०*—मासे—नभांसि विद्यन्ते यस्मिन् मासे स नभस्यो मासः, सहस्यः, तपस्यः । तन्वाम्—ओजोऽस्यां विद्यते ओजस्या तनूः, तेजस्या तनूः ।

भाषार्थः—[*मासतन्वोः*] मास और तनू प्रत्ययार्थ विशेषण हों तो प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से [*मत्वर्थे*] मतुप् के अर्थ में अर्थात् *तदस्यास्त्यस्मिन्निति०* इस अर्थ में यत् प्रत्यय होता है वेदविषय में ।। जिस अर्थ में ५।२।९४ के अधिकार में मतुप् कहा है, उसी अर्थ में यहाँ छन्द विषय में यत् कहा जाता है ।। *तदस्या०* (५।२।९४) में तत् प्रथमा समर्थ कहा है, अतः यहाँ भी प्रथमा समर्थ विभक्ति ली गई है ।

यहाँ से *मत्वर्थे* की अनुवृत्ति ४।४।१३२ तक तथा *'मासतन्वोः'* की अनुवृत्ति ४।४।१२९ तक जायेगी ।।

मधोर्ञ च ।।४।४।१२९।।

मधोः ५।१।। ञ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ।। च अ० ।। *अनु०*—मत्वर्थे मासतन्वोः, छन्दसि, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ।। *अर्थः*—प्रथमासमर्थात् मधोः प्रातिपदिकात् मत्वर्थे मासतन्वोः प्रत्यया-

र्थयोर्ञः प्रत्ययो भवति यत् च ॥ उदा०—मधु अस्मिन्नस्ति माधवो मासः, मधव्यः। तन्वाम्—माधवा, मधव्या ॥

भाषार्थः—प्रथमा समर्थ [*मधोः*] मधु प्रातिपदिक से मत्वर्थ में मास और तनू प्रत्ययार्थ विशेषण हों तो [*ञ*] ञ [*च*] और यत् प्रत्यय होते हैं ॥

ओजसोऽहनि यत्खौ ॥४।४।१३०॥

ओजसः ५।१॥ अहनि ७।१॥ यत्खौ १।२॥ *स०*—यत् च खश्च, यत्खौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—मत्वर्थे, छन्दसि, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—ओजःप्रातिपदिकात् मत्वर्थेऽहन्यभिधेये यत्खौ प्रत्ययौ भवतश्छन्दसि विषये ॥ *उदा०*—ओजस्यमहः, ओजसीनमहः ॥

भाषार्थः—[*ओजसः*] ओजस् प्रातिपदिक से मत्वर्थ में [*यत्खवौ*] यत् और ख प्रत्यय होते हैं, [*अहनि*] अहन्=दिन अभिधेय हो तो वेद विषय में ॥

वेशोयशआदेर्भगाद्यल् ॥४।४।१३१॥

वेशोयशआदेः ५।१॥ भगात् ५।१॥ यल् १।१॥ *स०*—वेशश्च यशश्च, वेशोयशसी, वेशोयशसी आदौ यस्य, वेशो····दिः, तस्मात्·· द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—मत्वर्थे, छन्दसि, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—वेशोयशआदेः भगान्तात् प्रातिपदिकात् मत्वर्थे यल् प्रत्ययो भवति छन्दसि विषये ॥ उदा०—वेशो भगो वा विद्यते यस्य स, वेशोभग्यः, यशोभग्यः ॥

भाषार्थः—[*वेशोयशआदेः*] वेशस् और यशस् आदि में हैं जिसके, ऐसे [*भगात्*] भग अन्त वाले प्रातिपदिक से मत्वर्थ में [*यल्*] यल् प्रत्यय होता है, वेद विषय में ॥

यहाँ से '*वेशोयशआदेर्भगात्*' की अनुवृत्ति ४।४।१३२ तक जायेगी ॥

ख च ॥४।४।१३२॥

ख लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ *अनु०*—वेशोयशआदेर्भगात्, मत्वर्थे, छन्दसि, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥

अर्थः—वेशोयशआदेः भगान्तात् प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकात् मत्वर्थे खः प्रत्ययो भवति छन्दसि विषये ॥ *उदा*ः—वेशोभगीनः, यशोभगीनः ॥

भाषार्थः—वेशस् यशस् आदि वाले भगान्त प्रातिपदिक से मत्वर्थ में [*ख*] ख प्रत्यय [च] भी होता है, वेद विषय में ॥

यहाँ से 'ख' की अनुवृत्ति ४।४।१३३ तक जायेगी ॥

पूर्वैः कृतमिनियौ च ॥४।४।१३३॥

पूर्वैः ३।३॥ कृतम् १।१॥ इनियौ १।२॥ *स०*—इनि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—ख, छन्दसि, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् , प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थात् पूर्वशब्दात् कृतमित्येतस्मिन्नर्थे इनि, य इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः ख च, छन्दसि विषये ॥ *उदा०*—पूर्वैः कृतः पन्थाः, तैः पथिभिः पूर्विणैः, पूर्व्यैः, पूर्वीणैः ॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ [*पूर्वैः*] पूर्व प्रातिपदिक से [*कृतम्*] 'किया हुआ' इस अर्थ में [*इनियौ*] इनि और य प्रत्यय होते हैं ॥

यहाँ भी निर्देश से तृतीया समर्थ विभक्ति ली है ॥

अद्भिः संस्कृतम् ॥४।४।१३४॥

अद्भिः ३।३॥ संस्कृतम् १।१॥ *अनु०*—छन्दसि, यत् , तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् , प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थाद् अप्प्रातिपदिकात् संस्कृतमित्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति, छन्दसि विषये उदा०—अप्यं हविः ॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ [*अद्भिः*] अप् प्रातिपदिक से [*संस्कृतम्*] संस्कृत अर्थ में यत् प्रत्यय होता है वेद विषय में ॥ यहाँ भी निर्देश से समर्थ विभक्ति का ग्रहण है ॥

सहस्रेण सम्मितौ घः ॥४।४।१३५॥

सहस्रेण ३।१॥ सम्मितौ ७।१॥ घः १।१॥ *अनु०*—छन्दसि, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् , प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थात् सहस्रप्रातिपदिकात् सम्मितावित्येतस्मिन्नर्थे छन्दसि विषये घः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—सहस्रेण सम्मितिः = सम्मितः सहस्रियोऽग्निः ॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ [*सहस्रेण*] सहस्र प्रातिपदिक से [*सम्मितौ*] सम्मिति अर्थात् सम्मित = तुल्य अभिधेय हो तो [*घः*] घ प्रत्यय होता है ॥ यहाँ भी निर्देश से ही तृतीया समर्थ विभक्ति ली है ॥

यहाँ से '*सहस्रेण घः*' की अनुवृत्ति ४।४।१३६ तक जायेगी ॥

मतौ च ॥४।४।१३६॥

मतौ ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—सहस्रेण, घः, छन्दसि, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थात्, सहस्रप्रातिपदिकात् मत्वर्थे घः प्रत्ययो भवति छन्दसि विषये ॥ *उदा०*—सहस्रमस्य विद्यते सहस्रियः ॥

भाषार्थः—प्रथमा समर्थ सहस्र प्रातिपदिक से [*मतौ*] मत्वर्थ में [*च*] भी घ प्रत्यय होता है वेद विषय में ॥ *तदस्यास्त्य०* (५।२।९४) में प्रथमा समर्थ कहा है, अतः यहाँ भी प्रथमा समर्थ ले लिया है ॥ *तपःसहस्राभ्यां विनीनी, अण् च* (५।२।१०२,१०३) इन दो सूत्रों में सहस्र शब्द से मत्वर्थ में इनि और अण् प्रत्यय कहे हैं, उनका यह अपवाद है ॥

सोममर्हति यः ॥४।४।१३७॥

सोमम् २।१॥ अर्हति क्रिया० ॥ यः १।१॥ *अनु०*—छन्दसि, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात् सोमशब्दाद् अर्हतीत्येतस्मिन्नर्थे यः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—सोममर्हन्ति सोम्याः ब्राह्मणाः ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*सोमम्*] सोम प्रातिपदिक से [*अर्हति*] अर्हति इस अर्थ में [*यः*] य प्रत्यय होता है ॥ यहाँ भी सोमम् निर्देश से द्वितीया समर्थ विभक्ति का ग्रहण है ॥

यहाँ से '*सोमम् यः*' की अनुवृत्ति ४।४।१३८ तक जायेगी ॥

मये च ॥४।४।१३८॥

मये ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—सोमम्, यः, छन्दसि, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सोमशब्दात् मयेऽर्थे यः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—सोमस्य विकारोऽवयवो वा सोम्यः, सोमादागतं सोम्यम्, सोमः प्रकृतः सोम्यः ॥

भाषार्थः—सोम शब्द से [*मये*] मयट् के अर्थ में [*च*] भी अर्थात् जिन जिन अर्थों में मयट् प्रत्यय कहा है, उन उन अर्थों में 'य' प्रत्यय होता है ॥ *मयड्वैतयोर्भाषा०* (४।३।१४१) से विकार और अवयव अर्थों में *मयट् च* (४।३।८२) से आगत अर्थ में तथा *तत्प्रकृतवचने मयट्* (५।४।२१) से प्रकृत = प्राचुर्य अर्थों में मयट् कहा है, सो इन सब अर्थों में यहाँ सोम शब्द से य होगा ॥ समर्थ विभक्ति का योग जहाँ जहाँ जिस समर्थ से मयट् कहा है उसी प्रकार यहाँ भी होगा ॥

यहाँ से '*मये*' की अनुवृत्ति ४।४।१४० तक जायेगी ॥

मधोः ॥४।४।१३९॥

मधोः ५।१॥ *अनु०*—मये, छन्दसि, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—मधुप्रातिपदिकात् मयेऽर्थे यत् प्रत्ययो भवति छन्दसि विषये ॥ *उदा०*—मधव्यान् स्तोकान् ॥

भाषार्थः—[*मधोः*] मधुप्रातिपदिक से मयट् के अर्थ में यत् प्रत्यय होता है, वेद विषय में ॥ समर्थ विभक्तियों का योग पूर्ववत् होगा ॥ मधु को यत् परे रहते *ओर्गुण.* (६।४।१४६) से गुण तथा *वान्तो यि प्रत्यये* (६।१।७६) से वान्त आदेश होगा ॥

वसोः समूहे च ॥४।४।१४०॥

वसोः ५।१॥ समूहे ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—मये, छन्दसि, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—वसुप्रातिपदिकात् समूहे वाच्ये मयेऽर्थे च यत् प्रत्ययो भवति छन्दसि विषये ॥ *उदा०*—वसोः समूहो विकारोऽवयवादिर्वा = वसव्यः ॥

भाषार्थः—[*वसोः*] वसु प्रातिपादिक से [*समूहे*] समूह [*च*] तथा मयट् के अर्थ में यत् प्रत्यय होता है वेद विषय में ॥ पूर्ववत् सिद्धि जानें ॥

नक्षत्राद् घः ॥४।४।१४१॥

नक्षत्रात् ५।१॥ घः १।१॥ *अनु०*—छन्दसि, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—नक्षत्रशब्दाद् घः प्रत्ययो भवति

छन्दसि विषये ॥ अर्थविशेषस्य विधानात् स्वार्थे प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—नक्षत्राण्येव नक्षत्रियाणि ते नक्षत्रियेभ्यः स्वाहा ॥

भाषार्थः—[*नक्षत्रात्*] नक्षत्रप्रातिपदिक से वेद विषय में [*घः*] घः प्रत्यय होता है ॥ विशेष अर्थ का विधान न होने से यहाँ स्वार्थ में प्रत्यय होता है ॥

सर्वदेवात्तातिल् ॥४।४।१४२॥

सर्वदेवात् ५।१॥ तातिल् १।१॥ *स०*—सर्वश्च देवश्च सर्वदेवम्, तस्मात्''समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—छन्दसि, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सर्वदेवप्रातिपदिकाभ्यां छन्दसि विषये तातिल् प्रत्ययो भवति । अयमपि स्वार्थे प्रत्ययः ॥ *उदा०*—सर्वतातिः देवतातिः ॥

भाषार्थः—[*सर्वदेवात्*] सर्व और देव प्रातिपदिकों से वेद विषय में स्वार्थ में [*तातिल्*] तातिल् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*तातिल्*' की अनुवृत्ति ४।४।१४४ तक जायेगी ॥

शिवशमरिष्टस्य करे ॥४।४।१४३॥

शिव''''स्य ६।१॥ करे ७।१॥ *स०*—शिव० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तातिल्, छन्दसि, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—शिव, शम्, अरिष्ट इत्येतेभ्यः षष्ठीसमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः कर इत्येतस्मिन्नर्थे तातिल् प्रत्ययो भवति छन्दसि विषये ॥ करोतीति करः ॥ *उदा०*—शिवं करोति शिवतातिः, शंतातिः, अरिष्टतातिः ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*शिव''''स्य*] शिव, शम् और अरिष्ट प्रातिपदिकों से [*करे*] 'करने वाला' इस अर्थ में स्वार्थ में तातिल् प्रत्यय होता है ॥ यहाँ भी निर्देश से ही षष्ठी समर्थ विभक्ति का ग्रहण है ॥

यहाँ से '*शिवशमरिष्टस्य*' की अनुवृत्ति ४।४।१४४ तक जायेगी ॥

भावे च ॥४।४।१४४॥

भावे ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—शिवशमरिष्टस्य, तातिल्, छन्दसि, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थेभ्यः शिव, शम्, अरिष्ट इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः छन्दसि विषये भावेऽर्थे तातिल् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—शिवस्य भावः = शिवतातिः, शंतातिः, अरिष्टतातिः ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ शिव, शम् और अरिष्ट प्रातिपदिकों से वेद विषय में [*भावे*] भाव अर्थ में [च] भी तातिल् प्रत्यय होता है ॥

॥ इति चतुर्थोऽध्यायः ॥

अथ पञ्चमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

प्राक् क्रीताच्छः ॥५।१।१॥

प्राक् अ० ॥ क्रीतात् ५।१॥ छः १।१॥ *अनु०*—तद्धिताः, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—इतोऽग्रे तेन क्रीतमित्येतस्मात् प्राक् येऽर्था वक्ष्यन्ते तेष्वर्थेषु छः प्रत्ययो भवतीत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ *उदा०*—वक्ष्यति तस्मै हितम्, तत्र छः प्रत्ययो भवति, वत्सेभ्यो हितो वत्सीयो गोधुक्। करभीय उष्ट्रः ॥

भाषार्थः—यहाँ से आगे [*प्राक् क्रीतात्*] *तेन क्रीतम्* (५।१।३६) से पहले पहले जितने अर्थ कहे हैं, उन सब अर्थों में [छः] छ प्रत्यय होता है, ऐसा अधिकार जानना चाहिये ॥ अपवाद विषयों को छोड़कर सर्वत्र छः की प्रवृत्ति होती जायेगी ॥

विशेषः—यहाँ भी अर्थ की अपेक्षा से 'क्रीतात्' निर्देश है शब्द की अपेक्षा से नहीं, अतः क्रीत अर्थ के आरम्भ होने से पूर्व पूर्व तक छ का अधिकार जायेगा। यद्यपि क्रीत अर्थ का निर्देश ५।१।३६ में किया है तथापि *प्राग्वतेष्ठक्* (५।१।१८) से क्रीताद्यर्थों में प्रत्यय विशेषों का विधान करने से छ प्रत्यय का अधिकार ५।१।१७ तक ही समझना चाहिये ॥ यहाँ आगे आगे औत्सर्गिक सूत्रों में केवल छ की अनुवृत्ति तथा अन्यत्र प्राक् क्रीतात् की अनुवृत्ति दिखाई जायेगी ऐसा जानें ॥

उगवादिभ्यो यत् ॥५।१।२॥

उगवादिभ्यः ५।३॥ यत् १।१॥ *स०*—गौरादिर्येषां ते गवादयः, उश्च गवादयश्च उग॰॰यस्तेभ्यः, बहुव्रीहिगर्भेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—प्राक् क्रीतात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—उवर्णान्तात् गवादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः प्राक्क्रीतीयेष्वर्थेषु यत् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—उवर्णान्तात्—शङ्कवे हितं शङ्कव्यं दारु, पिचव्यः

कार्पासः, कमण्डलव्या मृत्तिका । गवादिभ्यः—गवे हितं = गव्यम् हविष्यम् ॥

भाषार्थः—[*उगवादिभ्यः*] उवर्णान्त तथा गवादि गणपठित प्रातिपदिकों से प्राक्क्रीतीय अर्थात् क्रीत अर्थ से पहले पहले जितने अर्थ कहे हैं उन सब अर्थों में [*यत्*] यत् प्रत्यय होता है ॥ छ का अपवाद यह सूत्र है ॥ शंकु कहते हैं कील = खूँटी को, उसके लिये हित अर्थात् शंकु बनाने के लिए जो उपयोगी लकड़ी वह शंकव्य कही जायेगी । इसी प्रकार पिचु रुई को कहते हैं, पिचु = रुई के लिये जो हित अच्छा कपास वह पिचव्य कहा जायेगा, ऐसे ही औरों में जानें ॥

यहाँ से '*यत्*' की अनुवृत्ति ५।१।४ तक जायेगी ॥

कम्बलाच्च संज्ञायाम् ॥५।१।३॥

कम्बलात् ५।१॥ च अ० ॥ संज्ञायाम् ७।१॥ *अनु०*—यत्, प्राक् क्रीतात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—कम्बलात् प्रातिपदिकात् प्राक्क्रीतीयेष्वर्थेषु संज्ञायां विषये यत् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—कम्बलाय हितं कम्बल्यमूर्णापलशतम् ॥

भाषार्थः—[*कम्बलात्*] कम्बल प्रातिपदिक से [*च*] भी प्राक्क्रीतीय अर्थों में [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय होने पर यत् प्रत्यय होता है ॥ यह सूत्र छ का अपवाद है ॥ कम्बल के लिए हित उपयोगी जो ऊन वह कम्बल्या कही जायेगी, परन्तु संज्ञा का निर्देश होने से १०० पल परिमाण वाली ऊन ही कम्बल्या कहाती है ॥

विभाषा हविरपूपादिभ्यः ॥५।१।४॥

विभाषा १।१॥ हवि······भ्यः ५।३॥ *स०*—अपूप आदिर्येषां तेऽपूपादयः, हविश्च अपूपादयश्च, हविरपूपादयः, तेभ्यः······बहुव्रीहिगर्भे-इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—यत्, प्राक्क्रीतात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—हविर्विशेषवाचिभ्योऽपूपादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः प्राक्क्रीतीयेष्वर्थेषु विभाषा यत् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—आमिक्ष्यं दधि, आमिक्षीयं दधि, पुरोडाश्यास्तण्डुलाः पुरोडाशीयाः । अपूपादिभ्यः—अपूप्यम् अपूपीयम्, तण्डुल्यम् तण्डुलीयम् ॥

भाषार्थः—[*हवि*······*भ्यः*] हवि विशेषवाची, तथा अपूपादि प्रातिपदिकों से प्राक्क्रीतीय अर्थों में [*विभाषा*] विकल्प से यत् प्रत्यय होता है पक्ष में औत्सर्गिक छ होगा॥ आमीक्षा और पुरोडाश के लिए जो दही चावल, वह आमीक्ष्य, पुरोडाश्य कहे जायेंगे। उबलते हुए दूध में दही डालने से दूध का जो घना भाग अलग हो जाता है उसे आमिक्षा कहते हैं उसे बनाने के लिए जो उचित परिमाण वाला दही होता है वह आमिक्ष्य कहाता है। आमिक्षा और पुराडाश की हवि यज्ञ में दी जाती है, अतः यह हवि विशेषवाची शब्द हैं॥

तस्मै हितम् ॥५।१।५॥

तस्मै ४।१॥ हितम् १।१॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—चतुर्थीसमर्थात् प्रातिपदिकात् हितमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—वत्सेभ्यो हितो वत्सीयो गोधुक्, रोगिणो हितं रोगीयमौषधम्, गव्यम्, हविष्यम्॥

भाषार्थः—[*तस्मै*] चतुर्थी समर्थ प्रातिपदिक से [*हितम्*] हित अर्थ में यथाविहित = जिससे जो कह आये हैं, वे प्रत्यय होते हैं॥

यहाँ से '*तस्मै हितम्*' की अनुवृत्ति ५।१।१५ तक जायेगी॥

शरीरावयवाद्यत् ॥५।१।६॥

शरीरावयवात् ५।१॥ यत् १।१॥ *स०*—शरीरस्य अवयवः, शरीरावयवः, तस्मात्······षष्ठीतत्पुरुषः॥ *अनु०*—तस्मै हितम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—चतुर्थीसमर्थात् शरीरावयववाचिनः प्रातिपदिकात् हितमित्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—दन्तेभ्यो हितं = दन्त्यम् औषधम्, कण्ठ्यो रसः, ओष्ठ्यम्, नाभ्यम्, नस्यम्॥

भाषार्थः—चतुर्थी समर्थ [*शरीरावयवात्*] शरीर के अवयववाची प्रातिपदिकों से हित अर्थ में [*यत्*] यत् प्रत्यय होता है॥ छ का अपवाद यह सूत्र है॥ पद्दन्नोमास्० (६।१।६१) सूत्र के *नस् नासिकाया यत्तस्क्षुद्रेषु* वार्तिक से नासिका को नस् आदेश होकर नस्यम् बना है॥

यहाँ से '*यत्*' की अनुवृत्ति ५।१।७ तक जायेगी॥

खलयवमाषतिलवृषब्रह्मणश्च ॥५।१।७॥

खल·····ह्मणः ५।१॥ च अ० ॥ स०—खल० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०* – यत्, तस्मै हितम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—चतुर्थीसमर्थेभ्यः खल, यव, माष, तिल, वृष, ब्रह्मन् इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो हितमित्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—खलाय हितं = खल्यम्, यव्यम्, माष्यम्, तिल्यम्, वृष्यम्, ब्रह्मण्यम् ॥

भाषार्थः—चतुर्थी समर्थ [*खल·····णः*] खल, यव आदि प्रातिपदिकों से [च] भी हित अर्थ में यत् प्रत्यय होता है ॥

अजाविभ्यां थ्यन् ॥५।१।८॥

अजाविभ्याम् ५।२॥ थ्यन् १।१॥ स०—अजा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तस्मै हितम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—चतुर्थीसमर्थाभ्याम् अज, अवि इत्येताभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां हितमित्येतस्मिन्नर्थे थ्यन् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अजथ्या यूथिः, अविथ्या ॥

भाषार्थः—चतुर्थी समर्थ [*अजाविभ्याम्*] अज और अवि प्रातिपदिकों से हित इस अर्थ में [*थ्यन्*] थ्यन् प्रत्यय होता है ॥ अजः = बकरे तथा अविः = भेड़ के वाचक शब्द हैं ॥

आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात् खः ॥५।१।९॥

आत्म·····त् ५।१॥ खः १।१॥ स०—भोगशब्द उत्तरपदं यस्य तत् भोगोत्तरपदं, बहुव्रीहिः। आत्मा च विश्वजनश्च, भोगोत्तरपदञ्च, आत्मन्·····पदं, तस्मात्·····समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तस्मै हितम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—चतुर्थीसमर्थाभ्यां आत्मन् विश्वजन इत्येताभ्यां भोगोत्तरपदाच्च प्रातिपदिकात् हितमित्येतस्मिन्नर्थे खः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—आत्मने हितमात्मनीनम्, विश्वजनीनम्। भोगोत्तरपदात्—मातृभोगीणः, पितृभोगीणः ॥

भाषार्थः—चतुर्थी समर्थ [*आत्म·····दात्*] आत्मन्, विश्वजन तथा भोग उत्तरपद वाले प्रातिपदिकों से हित अर्थ में [*खः*] ख प्रत्यय होता है ॥ मातृभोगीणः आदि में *पूर्वपदात् संज्ञायामगः* (८।४।३) से णत्व हुआ है ॥ जो बात अपने हित के लिये हो वह आत्मनीनः कहायेगी इसी प्रकार अन्यत्र भी जानें ॥ यह भी छ का अपवाद है ॥

सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ ॥५।१।१०॥

सर्वपुरुषाभ्याम् ५।२॥ णढञौ १।२॥ *स०*—उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तस्मै हितम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—चतुर्थीसमर्थाभ्यां सर्वपुरुषप्रातिपदिकाभ्यां यथासंख्यं णढञौ प्रत्ययौ भवतः, हितमित्येतस्मिन्नर्थे ॥ *उदा०*—सर्वस्मै हितं = सार्वम्, पौरुषेयम् ॥

भाषार्थः—चतुर्थी समर्थ [*सर्वपुरुषाभ्याम्*] सर्व तथा पुरुष प्रातिपदिकों से हित अर्थ में यथासङ्ख्य करके [*णढञौ*] ण, तथा ढञ् प्रत्यय होते हैं ॥ सर्व+ण = सार्वम्, । पुरुष+ढञ् = पुरुष् एय = पौरुषेय बन गया है ॥

माणवचरकाभ्यां खञ् ॥५।१।११॥

माण·····भ्याम् ५।२॥ खञ् १।१॥ *स०*—माण० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तस्मै हितम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—चतुर्थीसमर्थाभ्यां माणव, चरक इत्येताभ्यां शब्दाभ्यां हितमित्येतस्मिन्नर्थे खञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—माणवाय हितं माणवीनम्, चारकीणम् ॥

भाषार्थः—चतुर्थी समर्थ [*माण·····भ्याम्*] माणव, चरक प्रातिपदिकों से हित अर्थ में [*खञ्*] खञ् प्रत्यय होता है ॥

तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ ॥५।१।१२॥

तदर्थम् १।१॥ विकृतेः ५।१॥ प्रकृतौ ७।१॥ *स०*—तस्मै इदं तदर्थं, चतुर्थीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—तस्मै हितम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—विकृतिवाचिनश्चतुर्थीसमर्थात् प्रातिपदिकात्

प्रकृतावभिधेयायां यथाविहितं प्रत्ययो भवति, हितमित्येतस्मिन्नर्थे यदि सा प्रकृतिः विकृत्यर्था भवेत् ॥ *उदा०*—अङ्गारेभ्यो हितानि एतानि काष्ठानि, अङ्गारीयाणि काष्ठानि। प्राकारीया इष्टकाः, शङ्कव्यं दारु, पिचव्यः कार्पासः ॥

भाषार्थ.—चतुर्थी समर्थ [*विकृतेः*] विकृतिवाची प्रातिपदिक से [*प्रकृतौ*] प्रकृति = कारण अभिधेय हो तो, यथाविहित प्रत्यय होता है, हित अर्थ में, यदि वह प्रकृति [*तदर्थम्*] विकृति के लिये हो तो ॥

जो किसी चीज का कारण हो वह प्रकृति होती है, उसका जो विकार वह विकृति होती है। प्रकृत उदाहरण में अङ्गार काष्ठ की विकृति है, तथा काष्ठ प्रकृति है, सो अङ्गार विकृतिवाची प्रातिपदिक से काष्ठ प्रकृति अभिधेय होने पर छः प्रत्यय हो गया है। अङ्गार बनाने के लिये = तदर्थ जो काष्ठ वह अङ्गारीय कहायेंगे। इसी प्रकार प्राकारार्थ जो ईंटे वह प्राकारीया इष्टकाः कही जायेंगी ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ५।१।१५ तक जायेगी ॥

छदिरुपधिबलेर्ढञ् ॥५।१।१३॥

छदिरुपधिबलेः ५।१॥ ढञ् १।१॥ *स०*—छदि० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ, तस्मै हितम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थ.*—चतुर्थीसमर्थेभ्यश्छदि, उपधि, बलि, इत्येतेभ्यो विकृतिवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यस्तदर्थं प्रकृतावभिधेयायां ढञ् प्रत्ययो भवति हितमर्थे ॥ *उदा०*—छदिभ्यो हितानि एतानि तृणानि = छादिषेयाणि तृणानि, औपधेयं दारु, बालेयास्तण्डुलाः ॥

भाषार्थः—चतुर्थी समर्थ विकृतिवाची [*छदिरुपधिबलेः*] छदि उपधि और बलि, प्रातिपदिकों से तदर्थ प्रकृति = उसके विकृति के लिए जो प्रकृति अभिधेय हो तो [ढञ्] ढञ् प्रत्यय होता है हित अर्थ में ॥ पूर्व सूत्र के समान तदर्थ प्रकृति की व्याख्या सर्वत्र समझें ॥

ऋषभोपानहोर्ञ्यः ॥५।१।१४॥

ऋषभोपानहोः ६।२॥ ञ्यः १।१॥ *स०*—ऋषभश्च उपानच्च, ऋष॰॰हौ, तयोः॰॰॰॰॰इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ,

तस्मै हितम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—विकृतिवाचिभ्यां चतुर्थीसमर्थाभ्याम् ऋषभ, उपानह् प्रातिपदिकाभ्यां तदर्थं प्रकृतौ इत्येतस्मिन्नर्थे ञ्यः प्रत्ययो भवति हितमर्थे ॥ *उदा०*—ऋषभाय हितम् आर्षभ्यो वत्सः, औपानह्यो मुञ्जः ॥

भाषार्थः—विकृतिवाची चतुर्थी समर्थ [*ऋ...होः*] ऋषभ, और उपानह् प्रातिपदिकों से तदर्थ प्रकृति अभिधेय होने पर [*ञ्यः*] ञ्य प्रत्यय होता है हित अर्थ में ॥

चर्मणोऽञ् ॥५।१।१५॥

चर्मणः ६।१॥ अञ् १।१॥ *अनु०*—तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ, तस्मै हितम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—चतुर्थीसमर्थात् चर्मणो या विकृतिस्तद्वाचिनः प्रातिपदिकाद् अञ् प्रत्ययो भवति, तदर्थं प्रकृतौ हितमित्येतस्मिन्नर्थे ॥ *उदा०*—वरध्राय हितं = वारध्रं चर्म, वारत्रं चर्म ॥

भाषार्थः—चतुर्थी समर्थ [*चर्मणः*] चर्म का बनी हुई जो विकृति उसके वाचक प्रातिपदिक से तदर्थ प्रकृति अभिधेय होने पर हित अर्थ में [*अञ्*] अञ् प्रत्यय होता है ॥

वरध्र कहते हैं चमड़े के बने दस्ताने को, तथा वरत्र हाथी के कक्ष-स्थित रज्जु को कहते हैं, अतः यह दोनों चमड़े के विकारवाची प्राति-पदिक हैं, सो इनसे अञ् प्रत्यय हो गया है ॥

तदस्य तदस्मिन् स्यादिति ॥५।१।१६॥

तत् १।१॥ अस्य ६।१॥ तत् १।१॥ अस्मिन् ७।१॥ स्यात् क्रिया० ॥ इति अ० ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तदिति प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकात् षष्ठ्यर्थे सप्तम्यर्थे च यथा-विहितं प्रत्ययो भवति, यत्तत् प्रथमासमर्थं स्यात् चेत् तद्भवति ॥ *उदा०*—षष्ठ्यर्थे—प्राकार आसामिष्टकानां स्यात् प्राकारीया इष्टकाः, प्रासादीयं दारु । सप्तम्यर्थे—प्राकारोऽस्मिन् देशे स्यात् प्राकारीया भूमिः, प्रासादीया भूमिः ॥

भाषार्थः—[*तत्*] प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से [*अस्य*] षष्ठ्यर्थ में तथा [*तत्*] प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से [*अस्मिन्*] सप्तम्यर्थ में भी

यथाविहित प्रत्यय होता है, यदि वह प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक [*स्यादिति*] स्यात् क्रिया के साथ समानाधिकरण वाला हो तो ॥ प्राकार बनना जिन ईंटों का सम्भव हो, अर्थात् जिनसे प्राकार बनाया जा सकती हो, ऐसी ईंटों को प्राकारीया इष्टका कहेंगे इसी प्रकार प्राकार जिस भूमि में बनाया जा सके वह प्राकारीया भूमि होगी ॥

यहाँ से '*तदस्य तदस्मिन् स्यादिति*' की अनुवृत्ति ५।१।१७ तक जायेगी ॥

परिखाया ढञ् ॥५।१।१७॥

परिखायाः ५।१॥ ढञ् १।१॥ *अनु०*—तदस्य तदस्मिन् स्यादिति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थात् परिखाप्रातिपदिकात् षष्ठ्यर्थे सप्तम्यर्थे च ढञ् प्रत्ययो भवति, यतत् प्रथमासमर्थं स्यात् चेत् तद् भवति ॥ *उदा०*—परिखा स्यादस्यां भूम्यां = पारिखेयी भूमिः ॥

भाषार्थः—प्रथमा समर्थ [*परिखायाः*] परिखा प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ सप्तम्यर्थ में सम्भव अर्थ को कहने में [*ढञ्*] ढञ् प्रत्यय होता है ॥

प्राग्वतेष्ठञ् ॥५।१।१८॥

प्राक् अ० ॥ वतेः ५।१॥ ठञ् १।१॥ *अनु०*—तद्धिताः, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—इतोऽग्रे तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः (५।१।११४) इत्येतस्मात् प्राक् येऽर्था वक्ष्यन्ते तेषु सामान्येन ठञ् प्रत्ययो भवतीत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ वक्ष्यति *पारायणतुरायणचान्द्रायणं वर्त्तयति* (५।१।७१) तत्र ठञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—पारायणं वर्त्तयति पारायणिकः, तौरायणिकः, चान्द्रायणिकः ॥

भाषार्थः—[*वतेः*] तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः से [*प्राक्*] पहले पहले जितने अर्थ कहे हैं उन सब अर्थों में सामान्य करके [*ठञ्*] ठञ् प्रत्यय होता है, ऐसा अधिकार जानना चाहिये । वतेः से *तेन तुल्यं०* (५।१।११४) सूत्र लक्षित है । यहाँ भी अर्थ प्रधान निर्देश होने से, वति अर्थ के आरम्भ होने से पहले पहले तक इसका अधिकार समझा जायेगा ॥

आर्हादगोपुच्छसङ्ख्यापरिमाणाट्ठक् ॥५।१।१९॥

आ अ० ॥ अर्हात् ५।१॥ अगोपुच्छसङ्ख्यापरिमाणात् ५।१॥ ठक् १।१॥ स०—गोपुच्छञ्च संख्या च परिमाणञ्च, गोपु……माणम्, न गोपु……म्, अगो……णम्, तस्मात्……द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—तद्धिताः, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—इतोऽग्रे तदर्हति (५।१।६२) अर्थपर्यन्तं येऽर्था वक्ष्यन्ते तेषु ठक् प्रत्ययो भवतीत्यधिकारो वेदितव्यः, गोपुच्छसंख्यापरिमाणवाचिशब्दान् वर्जयित्वा॥ वक्ष्यति *तेन क्रीतम्* (५।१।३६) तत्र ठक् प्रत्ययो भवति। निष्केण क्रीतं = नैष्किकम्, पाणिकम्॥

भाषार्थः—यहाँ से आगे [*आर्हात्*] अर्हति अर्थ पर्यन्त जितने अर्थ कहे हैं, उन सब अर्थों में सामान्य करके [*ठक्*] ठक् प्रत्यय होता है, यह अधिकार जानना चाहिये [*अगोपु……णात्*] गोपुच्छ संख्या तथा परिमाणवाची शब्दों को छोड़ कर॥ *प्राग्वतेष्ठञ्* के अधिकार के बीच में ही ठक् का अधिकार कर दिया है सो यह उसका अपवाद है॥ *आर्हाद-गोपु०* में आ + अर्हात् आङ् का आ मिला है। यहाँ आङ् अभिविधि में है सो आर्हात् का अर्थ होगा तदर्हति अर्थ (अधिकार) तक। तदर्हति अधिकार ५।१।७० तक जाता है, सो वहीं तक ठक् का अधिकार भी जायेगा ऐसा जाने। अभिविधि अर्थ में आङ् करने से यह लाभ होगा॥ ठञ् और ठक् में स्वर का ही भेद है। गोपुच्छादियों से ठक् का निषेध हो जाने से आगे आगे सर्वत्र गोपुच्छादियों से *प्राग्वतेष्ठञ्* से ठञ् ही हुआ करेगा। शेष में अपवाद विषयों को छोड़कर ठक्, तदर्हति अर्थ के अधिकार पर्यन्त होगा, इसके पश्चात् ठञ् होगा॥

असमासे निष्कादिभ्यः ॥५।१।२०॥

असमासे ७।१॥ निष्कादिभ्यः ५।३॥ स०—निष्क आदिर्येषां ते निष्कादयस्तेभ्यः……बहुव्रीहिः॥ न समासः असमासस्तस्मिन्…… नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—आर्हात्, ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—निष्कादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽसमासे ठक् प्रत्ययो भवत्यार्हीयेष्वर्थेषु॥ ठञोऽपवादः॥ उदा०—निष्केण क्रीतं नैष्किकं, पाणिकम्, पादिकम्, माषिकम्॥

भाषार्थः—[*निष्कादिभ्यः*] निष्कादि प्रातिपदिक जब [*असमासे*] समास में वर्तमान न हों तब उनसे आर्हीय = तदर्हति अर्थ पर्यन्त सारे अर्थों में ठक् प्रत्यय होता है ॥ यह सूत्र ठञ् का अपवाद है ॥

शताच्च ठन्यतावशते ॥५।१।२१॥

शतात् ५।१॥ च अ० ॥ ठन्यतौ १।२॥ अशते ७।१॥ *स०*—ठन्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । अशते इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—आर्हात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—शतप्रातिपदिकात् ठन्यतौ प्रत्ययौ भवतः, अशतेऽभिधेय आर्हीयेष्वर्थेषु ॥ *उदा०*—शतेन क्रीतं शतिकम्, शत्यम् ॥

भाषार्थः—[*शतात्*] शत प्रातिपदिक से, आर्हीय अर्थों में [*ठन्यतौ*] ठन् और यत् प्रत्यय होते हैं यदि [*अशते*] सौ अभिधेय न हों तो ॥

सङ्ख्याया अतिशदन्तायाः कन् ॥५।१।२२॥

सङ्ख्यायाः ५।१॥ अतिशदन्तायाः ५।१॥ कन् १।१॥ *स०*—तिश्च शच्च, तिशतौ तिशतावन्तावस्याः, सा (संख्या) तिशदन्ता, द्वन्द्वगर्भ-बहुव्रीहिः । न तिशदन्ता अतिशदन्ता, तस्याः······नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—आर्हात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अत्यन्ताया अशदन्तायाश्च सङ्ख्याया कन् प्रत्ययो भवत्यार्हीयेष्वर्थेषु ॥ *उदा०*—पञ्चभिः क्रीतः = पञ्चकः, दशकः, बहुकः, गणकः ॥

भाषार्थः—[*अतिशदन्तायाः*] ति शब्द अन्त वाली तथा शत् शब्द अन्त वाली सङ्ख्या को छोड़कर जो और [*सङ्ख्यायाः*] सङ्ख्यावाची प्रातिपदिक हैं, उनसे [*कन्*] कन् प्रत्यय होता है आर्हीय अर्थों में ॥ *बहुगणवतु०* (१।१।२२) से बहु तथा गण की सङ्ख्या संज्ञा है ॥

यहाँ से '*कन्*' की अनुवृत्ति ५।१।२३ तक जायेगी ॥

वतोरिड्वा ॥५।१।२३॥

वतोः ५।१॥ इट् १।१॥ वा अ० ॥ *अनु०*—कन्, आर्हात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—वत्वन्तात् सङ्ख्यावा-

चिनः प्रातिपदिकाद् आर्हीयेष्वर्थेषु कन् प्रत्ययो भवति, तस्य च कनो वा इडागमो भवति ॥ *उदा०*—तावता क्रीतः तावतिकः, तावत्कः । यावतिकः, यावत्कः ॥

भाषार्थः—[*वतोः*] वत्वन्त जो सङ्ख्यावाची प्रातिपदिक उनसे कन् प्रत्यय तथा कन् प्रत्यय को [*इट्*] इट् का आगम [*वा*] विकल्प से होता है ॥ *आद्यन्तौ टकितौ* से कन् के आदि में इट् बैठता है ॥ *बहुगण०* (१।१।२२) से वत्वन्त प्रातिपदिक की संख्या संज्ञा है ही सो सङ्ख्या संज्ञा होने से पूर्व सूत्र से कन् प्रत्यय सिद्ध ही था, पुनः उस कन् को इट् आगम विकल्प से करने के लिए यह सूत्र है ॥ तावत् इट् कन् = तावतिकः, जब इट् आगम नहीं हुआ तो कन् होकर तावत्कः बन गया ॥

विंशतित्रिंशद्भ्यां ड्वुन्नसंज्ञायाम् ॥५।१।२४॥

विंशतित्रिंशद्भ्याम् ५।२॥ ड्वुन् १।१॥ असंज्ञायाम् ७।१॥ *स०*—विंशति० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—आर्हात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—विंशति, त्रिंशत् इत्येताभ्यां शब्दाभ्यां ड्वुन् प्रत्ययो भवत्यसंज्ञायां विषय आर्हीयेष्वर्थेषु ॥ *उदा०*—विंशत्या क्रीतः विंशकः, त्रिंशकः ॥

भाषार्थः—[*विंशतित्रिंशद्भ्याम्*] विंशति तथा त्रिंशत् शब्दों से [*ड्वुन्*] ड्वुन् प्रत्यय [*असंज्ञायाम्*] असंज्ञा विषय में होता है, आर्हीय अर्थों को कहने में ॥

विंशकः में *ति विंशतेर्डिति* (६।४।१४२) से ति का लोप हुआ है, तथा त्रिंशकः में *टेः* (६।४।१४३) से त्रिंशत् के टि भाग अत् का लोप हुआ है ॥

कंसाट्टिठन् ॥५।१।२५॥

कंसात् ५।१॥ टिठन् १।१॥ *अनु०*—आर्हात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—कंसप्रातिपदिकात् टिठन् प्रत्ययो भवत्यार्हीयेष्वर्थेषु ॥ *उदा०*—कंसेन क्रीतः कंसिकः, कंसिकी ॥

भाषार्थः—[*कंसात्*] कंस प्रातिपदिक से आर्हीय अर्थों में [*टिठन्*] टिठन् प्रत्यय होता है ॥ टिठन् का ठ शेष रहकर ठ को इक होता है। *टिड्ढाणञ्०* (४।१।१५) से ङीप् होकर कंसिकी बना है ॥

शूर्पादञन्यतरस्याम् ॥५।१।२६॥

शूर्पात् ५।१॥ अञ् १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—आर्हात् ॥ तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—शूर्पशब्दाद् विकल्पेनाञ् प्रत्ययो भवत्यार्हीयेष्वर्थेषु। शूर्पशब्दस्य परिमाणवाचित्वात् पक्षे ठञ् भवति न ठक्॥ *उदा०*—शूर्पेण क्रीतं शौर्पम्, शौर्पिकम् ॥

भाषार्थः—[*शूर्पात्*] शूर्प शब्द से आर्हीय अर्थों में [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से [*अञ्*] अञ् प्रत्यय होता है ॥ शूर्प शब्द परिमाणवाची है, अतः *आर्हादगोपुच्छसङ्ख्यापरिमाणाट्ठक्* में परिमाण का निषेध होने से ठक् प्राप्त नहीं है, ठञ् ही प्राप्त है, सो पक्ष में ठञ् ही होगा, ठक् नहीं ॥

शतमानविंशतिकसहस्रवसनादण् ॥५।१।२७॥

शत·····नात् ५।१॥ अण् १।१॥ *स०*—शत० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः॥ *अनु०*—आर्हात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—शतमान, विंशतिक, सहस्र, वसन इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽण् प्रत्ययो भवत्यार्हीयेष्वर्थेषु॥ *उदा०*—शतमानेन क्रीतं शातमानम्, वैंशतिकम्, साहस्रम्, वासनम् ॥

भाषार्थः—[*शत·····नात्*] शतमान, विंशतिक, सहस्र तथा वसन शब्दों से आर्हीय अर्थों में [*अण्*] अण् प्रत्यय होता है ॥ शतमान परिमाणवाची तथा सहस्र सङ्ख्यावाची शब्द हैं, सो ठक् प्राप्त नहीं है। वसन शब्द से ठक् प्राप्त था, सो ठञ् ठक् दोनों का अपवाद यह सूत्र है ॥

अध्यर्द्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम् ॥५।१।२८॥

अध्यर्द्धपूर्वद्विगोः ५।१॥ लुक् १।१॥ असंज्ञायाम् ७।१॥ *स०*—अधिकम् अर्धं यस्मात् स अध्यर्द्धः, बहुव्रीहिः। अध्यर्धशब्दः पूर्वो यस्मिन् स अध्यर्द्धपूर्वः, अध्यर्द्धपूर्वश्च द्विगुश्च, अध्य··द्विगुः, तस्मात्·····

बहुव्रीहिगर्भसमाहारो द्वन्द्वः । असंज्ञायामित्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*— आर्हात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*— अध्यर्द्धपूर्वात् प्रातिपदिकाद् द्विगुसंज्ञकाच्चोत्तरस्यार्हीयस्य प्रत्ययस्य लुग् भवति ॥ *उदा०*—अध्यर्द्धेन कंसेन क्रीतम् = अध्यर्द्धकंसम् । द्वाभ्यां कंसाभ्यां क्रीतं = द्विकंसम् । त्रिकंसम् । अध्यर्द्धशूर्पम् । द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीतः पटः द्विशूर्पः । त्रिशूर्पः पटः ॥

भाषार्थः—[*अध्यर्द्धपूर्वद्विगोः*] अध्यर्द्ध शब्द पूर्व में हो जिस शब्द में उससे तथा द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से उत्तर आर्हीय अर्थ में आये हुये प्रत्यय का [*लुक्*] लुक् होता है [*असंज्ञायाम्*] संज्ञा विषय को छोड़कर ॥

जिसमें आधी चीज़ और अधिक हो वह अध्यर्द्ध कहाता है ॥ अध्यर्द्धकंसम् आदि में समास *तद्धितार्थोत्तरपद०* (२।१।५०) से होगा । अध्यर्द्धकंस आदि शब्द से आर्हीय अर्थ में जो टिठन् (५।१।२५) एवं अध्यर्द्धशूर्प आदि शब्द से जो अञ् (५।१।२६) आया था उसी का यहाँ लुक् हुआ है ॥ *सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः* (२।१।५१) से द्विकंसम् आदि की द्विगुसंज्ञा थी ही, सो अञ् प्रत्यय का लुक् हो गया है ॥

यहाँ से '*अध्यर्द्धपूर्वद्विगोः*' की अनुवृत्ति ५।१।३५ तक तथा 'लुक्' की ५।१।३१ तक जायेगी ॥

विभाषा कार्षापणसहस्राभ्याम् ॥५।१।२९॥

विभाषा १।१॥ कार्षा······भ्याम् ५।२॥ *स०*—कार्षा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अध्यर्द्धपूर्वद्विगोर्लुक्, आर्हात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अध्यर्द्धपूर्वौ द्विगुसंज्ञकौ च यौ कार्षापणसहस्रान्तौ शब्दौ ताभ्यामुत्पन्नस्यार्हीयप्रत्ययस्य विभाषा लुक् भवति । पक्षे श्रवणमेव ॥ पूर्वेण नित्यं लुकि प्राप्ते विकल्प्यते ॥ *उदा०*— अध्यर्द्धकार्षापणम्, अध्यर्द्धकार्षापणिकम् । द्विकार्षापणम्, द्विकार्षापणिकम् । अध्यर्द्धसहस्रम्, अध्यर्द्धसाहस्रम् । द्विसहस्रम्, द्विसाहस्रम् ॥

भाषार्थः—अध्यर्द्ध शब्द पूर्व में है जिनके ऐसे जो [*कार्षा······भ्याम्*] कार्षापण और सहस्र तथा द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक उनसे उत्पन्न

जो आर्हीय प्रत्यय उनका [*विभाषा*] विकल्प से लुक् होता है ॥ पक्ष में प्रत्यय का श्रवण होगा ॥ *कंसाट्टिठन्* ५।१।२५ में '*कार्षापणाट्टिठन् वक्तव्यः*' यह वार्तिक कही है, सो कार्षापण शब्द से टिठन् प्रत्यय प्राप्त था, उसी का पक्ष में लुक् तथा पक्ष में श्रवण होकर अध्यर्द्धकार्षापणिकः बनेगा। सहस्र शब्द से ५।१।२७ में अण् कहा है, अतः उसी का लुक् तथा पक्ष में श्रवण होगा। जब लुक् नहीं होगा तो अध्यर्द्ध की *संख्यायाः संवत्सरसङ्ख्यस्य* च (७।३।१५) से उत्तरपद (सहस्र) के आदि अच् को वृद्धि होकर अध्यर्द्धसाहस्रम् बनेगा ॥

यहाँ से '*विभाषा*' की अनुवृत्ति ५।१।३१ तक जायेगी ॥

द्वित्रिपूर्वान्निष्कात् ॥५।१।३०॥

द्वित्रिपूर्वात् ५।१॥ निष्कात् ५।१॥ *स०*—द्वौ च त्रयश्च, द्वित्रयः, द्वित्रयः पूर्वे यस्मिन् स द्वित्रिपूर्वस्तस्मात्.....द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—विभाषा, द्विगोः, लुक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ द्वित्रिपूर्वग्रहणाद् 'अध्यर्द्धपूर्वाद्' इति इह न संबध्यते ॥ *अर्थः*—द्वित्रिपूर्वात् निष्कान्तात् द्विगुसंज्ञकात् प्रातिपदिकादुत्पन्नस्य विभाषार्हीयस्य प्रत्ययस्य लुक् भवति। पक्षे श्रवणमेव ॥ *उदा०*—द्विनिष्कम्, द्विनैष्किकम्। त्रिनिष्कम्, त्रिनैष्किकम् ॥

भाषार्थः—[*द्वित्रिपूर्वात्*] द्वि, त्रि पूर्व वाले [*निष्कात्*] निष्क शब्दान्त द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से उत्पन्न आर्हीय प्रत्यय का विकल्प से लुक् होता है ॥ निष्क शब्द परिमाणवाची है, अतः उससे ठञ् (५।१।१८) हुआ था, उसी का पक्ष में लुक् हुआ है ॥ *परिमाणान्तस्य०* (७।३।१७) से उत्तरपद को वृद्धि हुई है ॥

यहाँ से '*द्वित्रिपूर्वात्*' की अनुवृत्ति ५।१।३१ तक जायेगी ॥

बिस्ताच्च ॥५।१।३१॥

बिस्तात् ५।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—द्वित्रिपूर्वात्, विभाषा, द्विगोः, लुक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च, चकारेण द्वित्रिपूर्वस्यानुकर्षणाद् अध्यर्द्धपूर्वादितीह न संबध्यते ॥ *अर्थः*—

द्वित्रिपूर्वात् बिस्तान्तात् द्विगोः परस्यार्हीयस्य प्रत्ययस्य वा लुक् भवति ॥ *उदा०*—द्विबिस्तम्, द्विबैस्तिकम्, त्रिबिस्तम्, त्रिबैस्तिकम् ॥

भाषार्थः—द्वि, त्रि पूर्व वाले [*बिस्तात्*] बिस्त शब्दान्त द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से [च] भी उत्पन्न आर्हीय प्रत्यय का विकल्प से लुक् होता है ॥ पूर्ववत् उत्तरपद को वृद्धि यहाँ भी होती है ॥ द्वौ बिस्तौ परिमाणमस्य ऐसा विग्रह करके तद्धितार्थ में (२।१।५०) से समास होकर पुनः द्विबिस्त शब्द से परिमाणवाची होने से ठञ् हुआ है, उसी का पक्ष में श्रवण तथा पक्ष में लुक् हुआ है ॥ सर्वत्र ५।१।२८ से नित्य लुक् की प्राप्ति में यह सूत्र विकल्प करने के लिये है ॥

विंशतिकात् खः ॥५।१।३२॥

विंशतिकात् ५।१॥ खः १।१॥ *अनु०*—अध्यर्द्धपूर्वद्विगोः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अध्यर्द्धपूर्वात् द्विगुसंज्ञकाच्च विंशतिकशब्दान्ताद् प्रातिपदिकाद् आर्हीयेष्वर्थेषु खः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अध्यर्द्धविंशतिकीनम्, द्विविंशतिकीनम्, त्रिविंशतिकीनम् ॥

भाषार्थः—अध्यर्द्ध शब्द पूर्व वाले, तथा द्विगुसंज्ञक [*विंशतिकात्*] विंशतिक शब्दान्त प्रातिपदिक से आर्हीय अर्थो में [*खः*] ख प्रत्यय होता है ॥ विधानसामर्थ्य से इस 'ख' का *अध्यर्द्धपूर्वद्विगोर्लु०* (५।१।२८) से लुक् नहीं होता ॥

खार्या ईकन् ॥५।१।३३॥

खार्याः ५।१॥ ईकन् १।१॥ *अनु०*—अध्यर्द्धपूर्वद्विगोः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अध्यर्द्धपूर्वाद् द्विगुसंज्ञकाच्च खारीशब्दान्तात् प्रातिपदिकाद् आर्हीयेष्वर्थेष्वीकन् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अध्यर्द्धखारीकम्, द्विखारीकम्, त्रिखारीकम् ॥

भाषार्थः—अध्यर्द्ध पूर्व वाले तथा द्विगुसंज्ञक [*खार्याः*] खारी शब्द अन्त में है जिसके तदन्त से आर्हीय अर्थ में [*ईकन्*] ईकन् प्रत्यय होता है ॥ खारी शब्द परिमाणवाची है, अतः उससे ठञ् प्राप्त था तदपवाद ईकन् है ॥ खारी के ईकार का *यस्येति* च (६।४।१४८) से लोप होकर, खार् ईक = अध्यर्द्धखारीकम् बनेगा ॥

पणपादमाषशताद्यत् ॥५।१।३४॥

पण·····शतात् ५।१॥ यत् १।१॥ *स०*—पण० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अध्यर्द्धपूर्वद्विगोः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अध्यर्द्धपूर्वेभ्यः द्विगुसंज्ञकेभ्यश्च, पण, पाद, माष, शत इत्येवमन्तेभ्यः शब्देभ्य आर्हीयेष्वर्थेषु यत् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अध्यर्द्धपण्यम्, द्विपण्यम्, त्रिपण्यम्। अध्यर्द्धपाद्यम्, द्विपाद्यम्, त्रिपाद्यम्। अध्यर्द्धमाष्यम्, द्विमाष्यम्, त्रिमाष्यम्। अध्यर्द्धशत्यम्, द्विशत्यम्, त्रिशत्यम् ॥

भाषार्थः—अध्यर्द्ध शब्द पूर्व वाले, तथा द्विगुसंज्ञक [*पण···तात्*] पण, पाद, माष और शत अन्त में हैं जिनके उन शब्दों से [*यत्*] यत् प्रत्यय होता है, आर्हीय अर्थों में ॥

यहाँ से '*यत्*' की अनुवृत्ति ५।१।३५ तक जायेगी ॥

शाणाद्वा ॥५।१।३५॥

शाणात् ५।१॥ वा अ० ॥ *अनु०*—यत्, अध्यर्द्धपूर्वद्विगोः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अध्यर्द्धपूर्वात् द्विगुसंज्ञकाच्च शाणान्तात् प्रातिपदिकाद् आर्हीयेष्वर्थेषु वा यत् प्रत्ययो भवति। ठञोऽपवादस्तेन पक्षे सोऽपि भवति, तस्य च लुक् (५।१।२८) भवति ॥ *उदा०*—अध्यर्द्धशाण्यम्, अध्यर्द्धशाणम्। द्विशाण्यम् द्विशाणम्। त्रिशाण्यम् त्रिशाणम् ॥

भाषार्थः—अध्यर्द्धपूर्व वाले तथा द्विगुसंज्ञक [*शाणात्*] शाणान्त शब्द से आर्हीय अर्थों में [*वा*] विकल्प से यत् प्रत्यय होता है ॥ शाणा शब्द परिमाणवाची है सो उससे ठञ् की प्राप्ति थी, पक्ष में वह भी होता है, किन्तु उस ठञ् का *अध्यर्द्धपूर्वद्विगो०* से लुक् हो जाता है, सो ठञ् पक्ष में अध्यर्द्धशाणम् द्विशाणाम् ही रूप बनेंगे। यत् का विधान सामर्थ्य से लुक् नहीं होता ॥

तेन क्रीतम् ॥५।१।३६॥

तेन ३।१॥ क्रीतम् १।१॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् क्रीतमित्येतस्मि-

न्नर्थे यथाविहितं ठञादयः प्रत्यया भवन्ति ॥ उदा०—सप्तत्या क्रीतं साप्ततिकम्, आशीतिकम्, नैष्किकम्, पाणिकम्, पादिकम् ॥

भाषार्थः—[*तेन*] तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से [*क्रीतम्*] खरीदा गया, इस अर्थ में यथाविहित = जिससे जो जो विधान किये हैं, वे प्रत्यय हो जाते हैं ॥ प्राग्वतेष्ठञ् से लेकर, ठञ्, ठक्, ठन्, यत् आदि १३ प्रत्यय कहे हैं, वे किस समर्थ विभक्ति तथा किस अर्थ में होंगे इसी को यह सूत्र कहता है ॥

तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ ॥५।१।३७॥

तस्य ६।१॥ निमित्तम् १।१॥ संयोगोत्पातौ १।२॥ *स०*—संयो० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तस्येति षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकात् निमित्तमित्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति, यत्तन्निमित्तं संयोग उत्पातो वा भवति ॥ उदा०—संयोगः-शतस्य निमित्तं धनपतिना संयोगः = शत्यः, शतिकः, साहस्रः। उत्पातः—शतस्य निमित्तम् उत्पातः शत्यः, शतिकः, साहस्रः ॥

भाषार्थः—[*तस्य*] षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से [*निमित्तम्*] निमित्त = कारण इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है, यदि वह निमित्त = कारण [*संयोगोत्पातौ*] संयोग, या उत्पात हो तो ॥ आर्हीय = तदर्हति तक कहे सारे अर्थों में *शताच्च ठन्य०* (५।१।२१) से ठन् और यत् तथा *शतमानविंश* (५।१।२७) से अण् कहा है, सो संयोग और उत्पात अर्थों में भी ये ही प्रत्यय शत और सहस्र शब्दों से हो जायेंगे ॥

सौ के कारण से जो हुआ संयोग = किसी का सम्बन्ध वह शत्यः शतिकः कहा जायेगा। इसी प्रकार सौ (रुपये) के कारण जो हुआ उत्पात (लड़ाई झगड़ा आदि) वह भी शत्यः, शतिकः कहा जायेगा ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ५।१।४० तक जायेगी ॥

गोद्व्यचोऽसंख्यापरिमाणाश्वादेर्यत् ॥५।१।३८॥

गोद्व्यचः ५।१॥ असंख्यापरिमाणाश्वादेः ५।१॥ यत् १।१॥ *स०*—द्वौ अचौ यस्मिन् स द्व्यच् बहुव्रीहिः। गौश्च द्व्यच् च, गोद्व्यच्

तस्मात्.....बहुव्रीहिगर्भसमाहारो द्वन्द्वः। अश्व शब्द आदिर्येषां ते अश्वादयः, सङ्ख्या च परिमाणञ्च अश्वादयश्च, सङ्ख्या...श्वः, तस्मात्...समाहारो द्वन्द्वः॥ अनु०—तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः—गोशब्दात् द्व्यचश्च प्रातिपदिकात् यत् प्रत्ययो भवति, सङ्ख्यापरिमाणाश्वादिशब्दान् वर्जयित्वा तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ, इत्येतस्मिन्नर्थे॥ उदा०—गोर्निमित्तं संयोग उत्पातो वा गव्यः। द्व्यचः—धनस्य निमित्तं संयोग उत्पातो वा धन्यं, स्वर्ग्यं, यशस्यम्॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*गोद्व्यचः*] गौ, तथा द्व्यच् प्रातिपदिकों से [*असं.....देः*] सङ्ख्यावाची, परिमाणवाची तथा अश्वादि प्रातिपदिकों को छोड़कर, [*यत्*] यत् प्रत्यय होता है, निमित्तं संयोगोत्पातौ अर्थ में॥ द्व्यच् होने से जो सङ्ख्यावाची परिमाणवाची तथा अश्वादि प्रातिपदिकों से यत् की प्राप्ति थी, उसी का निषेध कर दिया है॥ 'गो यत्' यहाँ *वान्तो यि प्रत्यये* (६।१।७६) से वान्तादेश हुआ है॥

यहाँ से '*यत्*' की अनुवृत्ति ५।१।३९ तक जायेगी॥

पुत्राच्छ च ॥५।१।३९॥

पुत्रात् ५।१॥ छ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः॥ च अ०॥ अनु०—यत्, तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ अर्थः— पुत्रप्रातिपदिकाच्छः प्रत्ययो भवति यत् च, तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ, इत्येतस्मिन्नर्थे॥ उदा०—पुत्रस्य निमित्तं संयोग उत्पातो वा पुत्रीयः, पुत्र्यः॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*पुत्रात्*] पुत्र शब्द से [*छ*] छ [*च*] तथा यत् प्रत्यय होते हैं, निमित्तं संयोगोत्पातौ इस अर्थ में॥ पुत्र के कारण से जो संयोग या उत्पात हो वह पुत्रीयः, पुत्र्यः कहा जायेगा॥

सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ ॥५।१।४०॥

सर्व.....भ्याम् ५।२॥ अणञौ १।२॥ स०—उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्,

प्रत्ययः, परश्च ।। *अर्थः*—सर्वभूमि, पृथिवी इत्येताभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां तस्य निमित्तं संयोगोत्पातावित्येतस्मिन्नर्थे, यथासङ्ख्यं अण्, अञ् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः ।। *उदा०*—सर्वभूमेर्निमित्तं सार्वभौमः, पार्थिवः ।।

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*सर्व...भ्याम्*] सर्वभूमि तथा पृथिवी शब्दों से यथासङ्ख्य करके [*अणञौ*] अण् तथा अञ् प्रत्यय होते हैं, उसके कारण से जो संयोग, और उत्पात इस अर्थ में *अनुशतिकादीनां* च (७।३।२०) से सर्व और भूमि दोनों पदों को वृद्धि होकर सार्वभौम बना है। अण् और अञ् में स्वर का ही भेद है ।।

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ५।१।४२ तक जायेगी ।।

तस्येश्वरः ।।५।१।४१।।

तस्य ६।१।। ईश्वरः १।१।। *अनु०*—सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ।। *अर्थः*—तस्येति षष्ठीसमर्थाभ्यां सर्वभूमिपृथिवीप्रातिपदिकाभ्यां यथासङ्ख्यमणञौ प्रत्ययौ भवत ईश्वर इत्येतस्मिन्नर्थे ।। *उदा०*—सर्वभूमेरीश्वरः सार्वभौमः, पृथिव्या ईश्वरः पार्थिवः ।।

भाषार्थः—[*तस्य*] षष्ठी समर्थ सर्वभूमि और पृथिवी प्रातिपदिकों से यथासङ्ख्य करके [*ईश्वरः*] ईश्वर स्वामी इस अर्थ में अण् और अञ् प्रत्यय होते हैं ।। सारे भूमि का जो स्वामी वह सार्वभौम कहा जायेगा, इसी प्रकार पृथिवी का स्वामी पार्थिव होगा ।

तत्र विदित इति च ।।५।१।४२।।

तत्र अ० ।। विदितः १।१।। इति अ० ।। च अ० ।। *अनु०*—सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ।। *अर्थः*—तत्रेति सप्तमीसमर्थाभ्यां सर्वभूमिपृथिवीशब्दाभ्यां यथासंख्यमणञौ प्रत्ययौ भवतो विदित इत्येतस्मिन्नर्थे ।।

भाषार्थः—[*तत्र*] सप्तमी समर्थ सर्वभूमि और पृथिवी शब्दों से यथासङ्ख्य करके [*विदित इति*] प्रसिद्ध अर्थ में [*च*] भी अण् और

अञ् प्रत्यय होते हैं ॥ विदित प्रसिद्ध = प्रकाशित को कहते हैं। सारी भूमि में जो प्रसिद्ध वह सार्वभौम कहायेगा ॥

यहाँ से '*तत्र विदितः*' की अनुवृत्ति ५।१।४३ तक जायेगी ॥

लोकसर्वलोकाट्ठञ् ॥५।१।४३॥

लोक''कात् ५।१॥ ठञ् १।१॥ *स०*—लोकश्च सर्वलोकश्च, लोकसर्वलोकम् तस्मात् समाहारोद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्र विदितः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थाभ्यां लोक, सर्वलोक इत्येताभ्यां शब्दाभ्यां ठञ् प्रत्ययो भवति विदित इत्येतस्मिन्नर्थे ॥ *उदा०*—लोके विदितः = लौकिकः। सर्वलोके विदितः = सार्वलौकिकः ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*लोकसर्वलोकात्*] लोक, तथा सर्वलोक प्रातिपदिकों से [*ठञ्*] ठञ् प्रत्यय होता है, विदित इस अर्थ में ॥ जो लोक में विदित हो वह लौकिक कहा जायेगा ॥ *अनुशतिकादीनां* च (७।३।२०) से सार्वलौकिकः में उभयपद वृद्धि होती है ॥

तस्य वापः ॥५।१।४४॥

तस्य ६।१॥ वापः १।१॥ उप्यतेऽस्मिन्निति वापः क्षेत्रमुच्यते *हलश्च* (३।३।१२१) इति घञ् प्रत्ययः ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च *अर्थः*—तस्येति षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकाद् वाप इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—प्रस्थस्य वापः क्षेत्रं प्रास्थिकम्, द्रौणिकम्, खारीकम् ॥

भाषार्थः—[*तस्य*] षष्ठी समर्थ प्रातिपदिक से [*वापः*] खेत अर्थ वाच्य हो तो यथाविहित प्रत्यय होता है ॥ प्रस्थ द्रोण परिमाणवाची शब्द हैं, सो उनसे वाप अर्थ में यथाविहित ठञ् प्रत्यय तथा खारी से ईकन् (५।१।३३) प्रत्यय हुआ है ॥ प्रस्थ परिमाण बीज जिसमें बोया जाए, वह क्षेत्र प्रास्थिक कहा जायेगा ॥

यहाँ से '*तस्य वापः*' की अनुवृत्ति ५।१।४५ तक जायेगी ॥

पात्रात् ष्ठन् ॥५।१।४५॥

पात्रात् ५।१॥ ष्ठन् १।१॥ *अनु०*—तस्य वापः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—पात्रशब्दात् ष्ठन् प्रत्ययो

भवति तस्य वाप इत्येतस्मिन् विषये ॥ *उदा०*—पात्रस्य वापः = पात्रिकं क्षेत्रम्, पात्रिकी क्षेत्रभक्तिः ॥

भाषार्थः—[*पात्रात्*] पात्र शब्द से [*ष्ठन्*] ष्ठन् प्रत्यय होता है, तस्य वापः अर्थ में ॥ षित् होने से ङीष् (४।१।४१) हुआ है ॥

पात्र शब्द परिमाणवाची है, अतः ठञ् प्राप्त था तदपवाद यह सूत्र है ॥

तदस्मिन् वृद्ध्यायलाभशुल्कोपदा दीयते ॥५।१।४६॥

तत् १।१॥ अस्मिन् ७।१॥ वृद्ध्याय·····पदाः १।३॥ दीयते क्रिया० ॥ *स०*—वृद्धिश्च आयश्च लाभश्च शुल्कश्च उपदा च वृद्ध्यायलाभशुल्कोपदाः, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थ*—प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकात् सप्तम्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति, यत्तत्प्रथमासमर्थं वृद्धिः, आयः, लाभः, शुल्कः, उपदा चेत्तद् दीयते ॥ *उदा०*—पञ्चास्मिन् वृद्धिर्वा आयो वा लाभो वा शुल्को वा उपदा वा दीयते, पञ्चकः सप्तकः, शत्यः, शतिकः, साहस्रः ॥

भाषार्थः—[*तत्*] प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से [*अस्मिन्*] सप्तम्यर्थ में यथाविहित (जिससे जो प्रत्यय कहा है) प्रत्यय होते हैं, यदि [*वृद्ध्या ···दाः*] वृद्धि, आय, लाभ, शुल्क, और उपदा ये [*दीयते*] (दिया जाता है) क्रिया के कर्म वाच्य हों तो ॥ जो द्रव्य ब्याज के रूप में दिया जाता है वह वृद्धि कहाता है। जो ज़मींदार का भाग होता है वह आय, दुकानदारी आदि में मूल द्रव्य के अतिरिक्त जिस द्रव्य की प्राप्ति होती है वह लाभ, राजा का कर का भाग शुल्क, तथा घूस को उपदा कहते हैं ॥ जिस व्यवहार में पांच या सात (रुपये) वृद्धि, आय, लाभ, शुल्क या उपदा के रूप में दिए जायें, वह पञ्चकः सप्तकः कहायेगा ॥ पञ्चन् सप्तन् से (५।१।२२) से कन्, तथा शत से ठन्, यत् (५।१।२१) और सहस्र से अण् (५।१।२७) ये यथाविहित प्रत्यय उदाहरणों में हुये हैं ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ५।१।४८ तक जायेगी ॥

पूरणार्द्धाट् ठन् ॥५।१।४७॥

पूरणार्द्धात् ५।१॥ ठन् १।१॥ स०—पूरणश्च अर्द्धश्च, पूरणार्द्धम्, तस्मात्.....समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तदस्मिन् वृद्ध्यायलाभशुल्कोपदा, दीयते, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—पूरणवाचिनः प्रातिपदिकादर्द्धशब्दाच्च ठन् प्रत्ययो भवति तदस्मिन् वृद्ध्यायलाभशुल्कोपदा दीयत इत्येतस्मिन्नर्थे ॥ *उदा०*—द्वितीयो वृद्धिर्वा आयो वा, लाभो वा शुल्को वा उपदा वा दीयत अस्मिन् द्वितीयिकः, तृतीयिकः, पञ्चमिकः, सप्तमिकः, अर्द्धिकः ॥

भाषार्थः—प्रथमासमर्थ [*पूरणार्द्धात्*] पूरणवाची प्रातिपदिकों से तथा अर्द्ध शब्द से [*ठन्*] ठन् प्रत्यय होता है, वृद्धि आय आदि दिया जाता है, इस अर्थ में ॥ *तस्य पूरणे डट्* (५।२।४८) के अधिकार में जो पूरण अर्थ में प्रत्यय किये हैं, ऐसे पूरणप्रत्ययान्त द्वितीय, तृतीय, पञ्चम आदि शब्द पूरणवाची शब्द हैं, सो इन्हीं से ठन् हो गया है ॥

यहाँ से 'ठन्' की अनुवृत्ति ५।१।४९ तक जायेगी ॥

भागाद्यच्च ॥५।१।४८॥

भागात् ५।१॥ यत् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—ठन्, तदस्मिन् वृद्ध्यायलाभशुल्कोपदा दीयते, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—भागशब्दात् यत् प्रत्ययो भवति ठन् च तदस्मिन् वृद्ध्यायलाभशुल्कोपदा दीयते इत्येतस्मिन्नर्थे ॥ *उदा०*—भागो वृद्ध्यादिरस्मिन् दीयते भाग्यं, भागिकम् ॥

भाषार्थः—प्रथमा समर्थ [*भागात्*] भाग प्रातिपदिक से [*यत्*] यत् [*च*] तथा ठन् प्रत्यय होते हैं, वृद्धि आय आदि को दिया जाता है इस अर्थ में ॥

तद्धरति वहत्यावहति भाराद्वंशादिभ्यः ॥५।१।४९॥

तद् २।१॥ हरति क्रिया० ॥ वहति क्रिया० ॥ आवहति क्रिया० ॥ भारात् ५।१॥ वंशादिभ्यः ५।३॥ *स०*—वंश आदिर्येषां ते वंशादयस्तेभ्यः.....बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—वंशादिभ्यः परो यो भारशब्दस्तदन्तात् द्वितीयासमर्थात्

प्रातिपदिकात्, हरति, वहति, आवहति, इत्येतेष्वर्थेषु यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—वंशभारं हरति वहत्यावहति वा वांशभारिकः, कौटजभारिकः, बाल्वजभारिकः ॥

भाषार्थः—[*वंशादिभ्यः*] वंशादिगण पठित प्रातिपदिकों से उत्तर जो [*भारात्*] भारशब्द तदन्त [*तद्*] द्वितीया समर्थ प्रातिपदिक से [*हरति वहत्यावहति*] हरण करता है, वहन करता है, आवहन करता है इन सब अर्थों में यथाविहित प्रत्यय होता है ॥ यथाविहित कहने से ठक् प्रत्यय वंशभार आदि शब्दों से हो जाता है ॥

यहाँ से '*तत्*' की अनुवृत्ति ५।१।५४ तथा '*हरति वहत्यावहति*' की अनुवृत्ति ५।१।५० तक जायेगी ॥

वस्नद्रव्याभ्यां ठन्कनौ ॥५।१।५०॥

वस्नद्रव्याभ्याम् ५।२॥ ठन्कनौ १।२॥ *स०*—उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तद्धरति, वहत्यावहति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थाभ्यां वस्नद्रव्यशब्दाभ्यां हरति वहत्यावहतीत्येतेष्वर्थेषु यथासङ्ख्यं ठन्, कन् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः ॥ *उदा०*—वस्नं हरति, वहति, आवहति वा वस्निकः, द्रव्यकः ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*वस्नद्रव्याभ्याम्*] वस्न और द्रव्य शब्दों से हरति वहति आवहति अर्थों में यथासङ्ख्य करके [*ठन्कनौ*] ठन्, और कन् प्रत्यय होते हैं ॥

संभवत्यवहरति पचति ॥५।१।५१॥

संभवति क्रिया० ॥ अवहरति क्रिया० ॥ पचति क्रिया० ॥ *अनु०*—तत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् संभवति, अवहरति, पचति इत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—प्रस्थं सम्भवति, अवहरति, पचति वा प्रास्थिकः, कौडविकः, खारीकः ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ प्रातिपदिक से [*संभ·····चति*] संभव है, अवहरण करता है, पकाता है इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है ॥ प्रस्थ, कुडव से ठञ् तथा खारी से यथाविहित ईकन् प्रत्यय हुआ है ॥

प्रस्थ भर अटना सम्भव है वा लाता है, वा पकाता है उसे प्रास्थिकः कहेंगे ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ५।१।५४ तक जायेगी ॥

आढकाचितपात्रात् खोऽन्यतरस्याम् ॥५।१।५२॥

आढकाचितपात्रात् ५।१॥ खः १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *स०*—आढ० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—संभवत्यवहरति पचति तत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थेभ्य आढक, आचित, पात्र इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः संभवत्यवहरति पचति इत्येतेष्वर्थेषु विकल्पेन खः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—आढकं सम्भवत्यवहरति पचति आढकीना आढकिकी, आचितीना आचितिकी, पात्रीणा पात्रिकी ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*आढकाचितपात्रात्*] आढक, आचित, पात्र प्रातिपदिकों से, संम्भवति, अवहरति, पचति अर्थों में [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से [*खः*] ख प्रत्यय होता है ॥ पक्ष में आढक आदियों के परिमाणवाची होने से ठञ् होता है। ख पक्ष में टाप् तथा ठञ् पक्ष में ४।१।१५ से ङीप् होता है ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ५।१।५३ तक जायेगी ॥

द्विगोष्ठंश्च ॥५।१।५३॥

द्विगोः ५।१॥ ष्ठन् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—आढकाचितपात्रात् खोऽन्यतरस्याम्, संभवत्यवहरति पचति, तत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्विगुसंज्ञकेभ्यो द्वितीयासमर्थेभ्यः आढकाचितपात्रान्तेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः सम्भवत्यादिष्वर्थेषु ष्ठन् प्रत्ययो भवति, खश्च विकल्पेन। तेन पक्षे ठञपि भवति ॥ *उदा०*—द्व्याढकिकी, द्व्याढकीना, द्व्याढकी। द्व्याचितिकी, द्व्याचितीना, द्व्याचिता। द्विपात्रिकी, द्विपात्रीणा, द्विपात्रा[1] ॥

---

१. '*पात्रादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः*' द्विपात्रम् पञ्चपात्रम्, (महा० २।४।३०) इति भाष्यकारवचनात् ङीत्वं प्रतिषिध्यते। तेन द्विपात्रं सम्भवत्यवहरति पचति वा स्थाली इत्यर्थे लुक् पक्षे द्विपात्रा इत्येव भवति। यथाग्रिमसूत्रे द्विकुलिजेति।

भाषार्थः—[*द्विगोः*] द्विगुसंज्ञक द्वितीया समर्थ आढक, आचित, तथा पात्रान्त प्रातिपदिकों से सम्भवत्यादि अर्थों में [*ष्ठन्*] ष्ठन् प्रत्यय होता है, [च] तथा ख प्रत्यय भी विकल्प से होता है॥ ख का विकल्प करने से पक्ष में ठञ् होगा, इस प्रकार ष्ठन्, ख तथा ठञ् के तीन रूप बनेंगे, उनमें विधान सामर्थ्य से ष्ठन् तथा ख का *अध्यर्द्धपूर्वद्विगो०* (५।१।२८) से (द्विगुसंज्ञक मानकर) लुक् नहीं होगा, किन्तु ठञ् का लुक् होगा, सो द्व्याढकी, द्व्याचिता, द्विपात्री ऐसे ही ठञ् पक्ष में लुक् होकर रूप बनेंगे। ष्ठन् पक्ष में ङीष् तथा ख पक्ष में टाप् हुआ है। ठञ् पक्ष में ठञ् का लुक् होकर (४।१।१५) से ङीप् हुआ है केवल द्व्याचिता में *अपरिमाणबिस्ताचित०* (४।१।२२) से ङीप् निषेध होकर टाप् हुआ है॥

यहाँ से '*द्विगोष्ठन्*' की अनुवृत्ति ५।१।५४ तक जायेगी॥

कुलिजाल्लुक्खौ च ॥५।१।५४॥

कुलिजात् ५।१॥ लुक्खौ १।२॥ च अ०॥ *स०*—लुक्खौ इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—द्विगोष्ठन्, सम्भवत्यवहरति पचति, तत्, ठञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात् कुलिजशब्दान्ताद्, द्विगुसंज्ञकात् प्रातिपदिकात् संभवत्यादिष्वर्थेषु लुक्खौ प्रत्ययौ भवतः ष्ठन् च॥ प्रत्ययस्यादर्शनस्य लुक् संज्ञा, तेन य औत्सर्गिकष्ठञ् तस्यैव लुक्॥ *उदा०*—लुक्—द्वे कुलिजे सम्भवत्यवहरति पचति द्विकुलिजा। ख—द्विकुलिजीना। ष्ठन्—द्विकुलिजिकी॥

भाषार्थः—द्वितीयासमर्थ द्विगुसंज्ञक [*कुलिजात्*] कुलिज शब्दान्त प्रातिपदिक से [*लुक्खौ*] लुक् और ख [च] तथा चकार से ष्ठन् प्रत्यय भी होता है॥ प्रत्यय के अदर्शन की लुक् संज्ञा होती है, अतः यहाँ औत्सर्गिक ठञ् का ही लुक् होता है, ख तथा ष्ठन् का विधानसामर्थ्य से लुक् नहीं होता॥

सोऽस्यांशवस्नभृतयः ॥५।१।५५॥

सः १।१॥ अस्य ६।१॥ अंशवस्नभृतयः १।३॥ *स०*—अंश० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—स इति प्रथमासमर्थादस्येति षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति,

यत्तत्प्रथमासमर्थम् अंशवस्नभृतयश्चेत् ता भवन्ति ॥ *उदा०*—पञ्च अंशो, वस्नो भृतिर्वाऽस्य = पञ्चकः, सप्तकः, साहस्रः ॥

भाषार्थः—[*सः*] प्रथमासमर्थ प्रातिपदिक से [*अस्य*] षष्ठ्यर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है, यदि वह प्रथमासमर्थ, [*अंश...यः*] अंश = भाग, वस्न = मूल्य, भृति = वेतन समानाधिकरण वाला हो तो ॥ पाँच (रुपये) जिसके भाग, मूल्य, या वेतन रूप से हों वह पञ्चकः कहा जायेगा ॥ सङ्ख्यावाचियों से कन् (५।१।२२) कह आये हैं, सो कन् तथा सहस्र शब्द से अण् हुआ है ॥

तदस्य परिमाणम् ॥५।१।५६॥

तत् १।१॥ अस्य ६।१॥ परिमाणम् १।१॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—परिमाणसमानाधिकरणवाचिनः प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकात् षष्ठ्यर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—प्रस्थः परिमाणमस्य प्रास्थिको राशिः = खारीकः शत्यः शतिकः साहस्रः द्रौणिकः कौडविकः ॥

भाषार्थः—[*परिमाणम्*] परिमाण समानाधिकरणवाची [*तत्*] प्रथमासमर्थ प्रातिपदिक से [*अस्य*] षष्ठ्यर्थ में यथाविहित = जिससे जो जो प्रत्यय कह आये हैं, वे प्रत्यय होते हैं ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ५।१।६१ तक जायेगी ॥

सङ्ख्यायाः संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु ॥५।१।५७॥

सङ्ख्यायाः ५।१॥ संज्ञा·····नेषु ७।३॥ *स०*—संज्ञा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तदस्य परिमाणम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—परिमाणसमानाधिकरणात् संख्यावाचिनः प्रातिपदिकात्, षष्ठ्यर्थे संज्ञा, सङ्घ, सूत्र, अध्ययन, इत्येतेषु प्रत्ययार्थविशेषणेषु यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—पञ्चैव पञ्चकाः शकुनयः, त्रिकाः शालङ्कायनाः । सङ्घः—पञ्च परिमाणमस्य पञ्चकः सङ्घः, अष्टकः सङ्घः । सूत्रम्—अष्टावध्यायाः परिमाणमस्य सूत्रस्य = अष्टकं पाणिनीयम्

दशकं वैयाघ्रपदीयम्। अध्ययनम्—पञ्च (आवृत्तिः) परिमाणमस्य अध्ययनस्य पञ्चकम् अध्ययनम्, दशकम्।

भाषार्थः—परिमाणसमानाधिकरण प्रथमासमर्थ [*सङ्ख्यायाः*] संख्यावाची प्रातिपदिक से [*संज्ञासङ्घसूत्राध्ययनेषु*] संज्ञा, सङ्घ, सूत्र, अध्ययन प्रत्ययार्थ होने पर षष्ठ्यर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है॥ सङ्ख्यावाचियों से कन् कह आये हैं, सो वही यहाँ हुआ है॥ पञ्चकः पाँच शकुनि विशेषों की संज्ञा है, तथा त्रिकाः शालङ्कायनों की॥

पङ्क्तिविंशतित्रिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्षष्टिसप्तत्यशीतिनवतिशतम्॥५।१।५८॥

पङ्क्ति.....शतम् १।१॥ *स०*—पङ्क्ति० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः॥ *अनु०*—तदस्य परिमाणम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—पङ्क्ति, विंशति, त्रिंशत्, चत्वारिंशत्, पञ्चाशत्, षष्टि, सप्तति, अशीति, नवति, शत, इत्येतानि पदानि निपात्यन्ते, तदस्य परिमाणम् इत्येतस्मिन् विषये॥ पञ्चन् प्रातिपदिकात् तिप्रत्ययः, टिलोपश्च निपात्यते पङ्क्तिरिति, पञ्च परिमाणमस्य पङ्क्तिः। द्विदशत् प्रातिपदिकस्य स्थाने विन् आदेशः शतिच्च प्रत्ययो निपात्यते विंशतिरिति, द्वौ दशतौ परिमाणमस्य सङ्घस्य विंशतिः सङ्घः। त्रिदशत् इत्यस्य स्थाने त्रिन् आदेशः शत् च प्रत्ययो निपात्यते, त्रिंशदिति, त्रयो दशतः परिमाणमस्य त्रिंशत्। चतुर् दशत् इत्यस्य स्थाने चत्वारिन् आदेशः, शत् च प्रत्ययो निपात्यने, चत्वारिंशदिति, चत्वारो दशतः परिमाणमस्य चत्वारिंशत्। पञ्चदशत् इत्यस्य स्थाने पञ्चा आदेशः शत् च प्रत्ययो निपात्यते पञ्चाशदिति, पञ्चदशतः परिमाणमस्य पञ्चाशत्। षड्दशत् इत्यस्य स्थाने षष्भावः तिश्च प्रत्ययः। षष्+ति = षष्टिरिति, षड् दशतः परिमाणमस्य षष्टिः। सप्तदशत् इत्यस्य स्थाने सप्तभावः तिश्च प्रत्ययः सप्ततिरिति, सप्त दशतः परिमाणमस्य सप्ततिः। अष्टदशत् इत्यस्य स्थाने 'अशी' भावः तिश्च प्रत्ययः अशीतिरिति, अष्टौ दशतः परिमाणमस्य अशीतिः। नवदशत् इत्यस्य स्थाने नवभावः तिश्च प्रत्ययः, नव दशतः परिमाणमस्य नवतिः। दशदशत् इत्यस्य स्थाने शभावस्तश्च प्रत्ययः शतमिति, दश दशतः परिमाणमस्य शतम्॥

भाषार्थः—तदस्य परिमाणम् इस अर्थ में [*पङ्क्ति·····शतम्*] पङ्क्ति, विंशति आदि शब्द निपातन किये जाते हैं, जो जो कार्य सूत्रों से सिद्ध न हों वे सब निपातन से जानना चाहियें ॥

पङ्क्ति शब्द में पञ्चन् शब्द के टि भाग का लोप तथा ति प्रत्यय निपातन से किया है सो 'पञ्च् ति' रहा अब चोः कुः (८।२।३०) से च् को क् तथा ८।४।५७ से अनुस्वार को परसवर्ण ङ् होकर पङ्क्ति बना है, जिसका पाँच परिमाण हो वह पङ्क्ति[1] छन्द कहा जायेगा ॥ विंशति शब्द में द्विदशत् (अर्थात् दशक = दहाई के दो जोड़े, बीस) शब्द को विन् आदेश तथा 'शतिच्' प्रत्यय निपातन से किया जाता है, त्रिदशत् (तीन दहाई = तीस) शब्द के स्थान में 'त्रिन्' आदेश तथा शत् प्रत्यय त्रिंशत् शब्द में हुआ है। चत्वारिंशत् शब्द में चतुर्दशत् के स्थान में चत्वारिन् आदेश तथा शत् प्रत्यय होता है। पञ्चाशत् शब्द में पञ्चदशत् के स्थान में पञ्चा आदेश तथा शत् प्रत्यय होता है। षष्टि शब्द में षड्-दशत् के स्थान में षष् आदेश तथा ति प्रत्यय होता है, तत्पश्चात् ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) से ष्टुत्व होकर 'षष्टि' बनता है। 'सप्तति' शब्द में सप्तदशत् प्रातिपदिक के स्थान में 'सप्त' आदेश तथा ति प्रत्यय होता है। अशीति शब्द में अष्टदशत् के स्थान में अशी आदेश तथा 'ति' प्रत्यय होता है। नवति प्रातिपदिक में नवदशत् के स्थान में नव आदेश तथा 'ति' प्रत्यय होता है। शतम् शब्द में दशदशत् (दस दहाई = सौ) के स्थान में 'श' आदेश तथा त प्रत्यय होता है ॥

पञ्चदशतौ वर्गे वा ॥५।१।५९॥

पञ्चदशतौ १।२॥ वर्गे ७।१॥ वा अ० ॥ *स०*—पञ्चत् च दशत् च, पञ्चदशतौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तदस्य परिमाणम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—पञ्चत् दशत् इत्येतौ शब्दौ डतिप्रत्ययान्तौ तदस्य परिमाणमित्येतस्मिन् विषये वर्गेऽभिधेये वा निपात्येते। वा वचनात् पक्षे कन्नपि भवति ॥ *उदा०*—पञ्च परिमाणमस्य पञ्चद् वर्गः, दशद् वर्गः। पक्षे कन्—पञ्चको वर्गः, दशको वर्गः ॥

---

१. पङ्क्ति छन्द में ४० अक्षर होते है, छन्द में १ पाद ८ अक्षरों का माना जाता है, इस प्रकार पङ्क्ति छन्द में ५ पाद होते हैं ॥

भाषार्थः—[*पञ्चद्दशतौ*] पञ्चत् और दशत् ये डति प्रत्ययान्त शब्द *तदस्य परिमाणम्* इस विषय में [*वर्गे*] वर्ग अभिधेय होने पर [*वा*] विकल्प से निपातन किये जाते हैं ।। पञ्चन् दशन् प्रातिपदिक सङ्ख्या-वाची हैं, सो पक्ष में ५।१।२२ से कन् होकर पञ्चकः, दशकः बनता है ।। पञ्चन् + डति, टि भाग का लोप होकर पञ्च् + अत् = पञ्चत् दशत् बनता है ।।

यहाँ से '*वर्गे*' की अनुवृत्ति ५।१।६० तक जायेगी ।।

सप्तनोऽञ् छन्दसि ।।५।१।६०।।

सप्तनः ५।१।। अञ् १।१।। छन्दसि ७।१।। *अनु०*—वर्गे तदस्य परिमाणम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ।। *अर्थः*—सप्तनः प्रातिपदिकात् छन्दसि विषये तदस्य परिमाणमित्येतस्मिन्नर्थे वर्गेऽभिधेयेऽञ् प्रत्ययो भवति ।। *उदा०*—सप्त साप्तान्यसृजन् ।।

भाषार्थः—[*सप्तनः*] सप्तन् प्रातिपदिक से [*छन्दसि*] वेद विषय में तदस्य परिमाणम् इस अर्थ में [*अञ्*] अञ् प्रत्यय होता है, वर्ग अभिधेय होने पर ।। सप्त साप्तानि सात संख्यावाले वर्ग सात अर्थात् ७ × ७ = ४६ प्रकार के मरुतों को उत्पन्न किया ।।

त्रिंशच्चत्वारिंशतोर्ब्राह्मणे संज्ञायां डण् ।।५।१।६१।।

त्रिंश·····शतो ६।२।। ब्राह्मणे ७।१।। संज्ञायां ७।१।। डण् १।१।। *स०*—त्रिंश० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। *अनु०*—तदस्य परिमाणम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ।। *अर्थः*—त्रिंशत् चत्वारिंशत् इत्येताभ्यां शब्दाभ्यां संज्ञायां विषये डण् प्रत्ययो भवति, तदस्य परिमाणमित्येतस्मिन् विषये ब्राह्मणेऽभिधेये ।। *उदा०*—त्रिंशदध्यायाः परिमाणमेषां ब्राह्मणानां त्रैंशानि ब्राह्मणानि, चात्वारिंशानि ब्राह्मणानि ।।

भाषार्थः—[*त्रिंश··तोः*] त्रिंशत् तथा चत्वारिंशत् प्रातिपदिकों से [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में तदस्य परिमाणम् इस अर्थ को कहने में [*डण्*] डण् प्रत्यय होता है, [*ब्राह्मणे*] ब्राह्मण ग्रंथ अभिधेय हो रहे हों तो ।।

त्रिंशत्+डण् यहाँ टेः (६।४।१४३) से टि भाग का लोप होकर त्रिंश्‌अ = त्रैंशानि चात्वारिंशानि बना है ।। ऐतरेय के प्रारम्भ के ३० अध्याय त्रैंश कहाते हैं और अन्त के १० मिलाकर चात्वारिंश[1] । इन्हीं को गृह्यसूत्रों में क्रमशः ऐतरेय महैतरेय के नाम से स्मरण किया है ।

तदर्हति ।।५।१।६२।।

तत् २।१।। अर्हति क्रिया० ।। *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात् प्रातिपदिकाद् अर्हतीत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति ।। *उदा०*—श्वेतच्छत्र-मर्हति श्वैतच्छत्रिकः, वास्त्रयुग्मिकः, शत्यः, शतिकः, साहस्रः ।।

भाषार्थः—[*तत्*] द्वितीया समर्थ प्रातिपदिक से [*अर्हति*] योग्य है इस अर्थ में यथाविहित प्रत्यय होता है ।। श्वेतच्छत्र के जो योग्य है वह श्वैतच्छत्रिकः कहायेगा । यहाँ ठक् प्रत्यय हो गया है । शत्यः शतिकः में पूर्ववत् यत्, ठन् हुये हैं ।।

यहाँ से '*तत्*' की अनुवृत्ति ५।१।७५ तक तथा '*अर्हति*' की अनुवृत्ति ५।१।७० तक जायेगी ।।

छेदादिभ्यो नित्यम् ।।५।१।६३।।

छेदादिभ्यः ५।३।। नित्यम् १।१।। *स०*—छेद आदिर्येषां ते छेदाद-यस्तेभ्यः······बहुव्रीहिः ।। *अनु०*—तदर्हति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदि-कात्, प्रत्ययः, परश्च ।। *अर्थः*—द्वितीयासमर्थेभ्यश्छेदादिभ्यः प्रातिप-दिकेभ्यो नित्यमर्हतीत्येतस्मिन्नर्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति ।। *उदा०*—नित्यं छेदमर्हति छैदिकः, भैदिकः ।।

भाषार्थः—द्वितीयासमर्थ [*छेदादिभ्यः*] छेदादि प्रातिपदिकों से [*नित्यम्*] नित्य ही योग्य है इस अर्थ में यथाविहित अर्थात् ठक् प्रत्यय होता है, यहाँ नित्यशब्द प्रत्ययार्थ का विशेषण है ।।

यहाँ से '*नित्यम्*' की अनुवृत्ति ५।१।६४ तक जायेगी ।।

---

१. इसीप्रकार शतपथ के आदि के ६० अध्याय षष्ठीपथ, अगले २० मिलाकर अशीति और सम्पूर्ण १०० अध्याय शतपथ के नाम से कहे जाते हैं ।

शीर्षच्छेदाद्यच ॥५।१।६४॥

शीर्षच्छेदात् ५।१॥ यत् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—नित्यम्, तदर्हति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीया-समर्थात् श० च्छेदशब्दात् नित्यमर्हतीत्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति चकाराद् यथाविहितं ठक् च ॥ *उदा०*—शिरश्छेदं नित्यमर्हति शीर्ष-च्छेद्यः, शैर्षच्छेदिकः ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*शीर्षच्छेदात्*] शीर्षच्छेद प्रातिपदिक से नित्य ही योग्य है इस अर्थ में [*यत्*] यत् प्रत्यय [*च*] तथा चकार से यथाविहित = ठक् प्रत्यय होता है ॥ शिरः शब्द को शीर्ष आदेश निपातन से होता है ॥

यहाँ से '*यत्*' की अनुवृत्ति ५।१।६६ तक जायेगी ॥

दण्डादिभ्यः ॥५।१।६५॥

दण्डादिभ्यः ।।५।३॥ *स०*—दण्ड आदिर्येषां ते दण्डादयस्तेभ्यः ... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—यत्, तदर्हति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—दण्डादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो यत् प्रत्ययो भवति तदर्ह-तीत्येतस्मिन्नर्थे । ठकोऽपवादः ॥ *उदा०*—दण्डमर्हति दण्ड्यः, मुसल्यः ॥

भाषार्थः—[*दण्डादिभ्यः*] दण्डादि द्वितीया समर्थ प्रातिपदिकों से अर्हति इस अर्थ में यत् प्रत्यय होता है ॥

छन्दसि च ॥५।१।६६॥

छन्दसि ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—यत्, तदर्हति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रा-तिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रातिपदिकमात्राच्छन्दसि विषये तदर्हति इत्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—उदक्या वृत्तयः, यूप्यः पलाशः, गर्त्यो देशः ॥

भाषार्थः—प्रातिपदिक मात्र से [*छन्दसि*] वेद विषय में [*च*] भी तदर्हति इस अर्थ में यत् प्रत्यय होता है ॥ उदक यत् टाप् = उदक्या, यूप्यः, गर्त्यः आदि बन गये ॥

पात्राद् घंश्च ॥५।१।६७॥

पात्रात् ५।१॥ घन् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—यत्, तदर्हति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात् पात्रशब्दाद् घन् प्रत्ययो भवति, यत् चार्हतीत्येतस्मिन्नर्थे ॥ *उदा०*—पात्रमर्हति = पात्रियः, पात्र्यः ॥

भाषार्थः—द्वितीयासमर्थ [*पात्रात्*] पात्र शब्द से अर्हति इस अर्थ में [*घन्*] घन् [*च*] तथा यत् प्रत्यय होते हैं ॥ पात्र शब्द परिमाणवाची भी है, अतः यह सूत्र ठञ्, ठक् दोनों का अपवाद है ॥

कडङ्करदक्षिणाच्छ च ॥५।१।६८॥

कडङ्करदक्षिणात् ५।१॥ छ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ *स०*—कडङ्करश्च, दक्षिणा च, कड·····णम् तस्मात्·····समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—यत्, तदर्हति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—कडङ्करदक्षिणाशब्दाभ्यां छः प्रत्ययो भवति यत् च तदर्हतीत्येतस्मिन् विषये ॥ *उदा०*—कडङ्करमर्हति = कडङ्करीयो गौः, कडङ्कर्यः। दक्षिणामर्हति दक्षिणीयो भिक्षुः, दक्षिण्यः ॥

भाषार्थः—[*कड·····णात्*] कडङ्कर और दक्षिणा प्रातिपदिकों से [*छ*] छ [*च*] और यत् प्रत्यय होते हैं तदर्हति इस विषय में ॥ कडङ्कर बुस को कहते हैं, बुस खाने वाली गौ को कडङ्करीया कहेंगे। जो भिक्षु दक्षिणा देने के योग्य है, वह दक्षिणीयः कहायेगा ॥

यहाँ से 'छ' की अनुवृत्ति ५।१।६९ तक जायेगी ॥

स्थालीबिलात् ॥५।१।६९॥

स्थालीबिलात् ५।१॥ *अनु०*—छ, यत्, तदर्हति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—स्थालीबिलप्रातिपदिकात् छयतौ प्रत्ययौ भवतस्तदर्हतीत्येतस्मिन् विषये ॥ *उदा०*—स्थालीबिलमर्हन्ति स्थालीबिलीयास्तण्डुलाः स्थालीबिल्याः ॥

भाषार्थः—[*स्थालीबिलात्*] स्थालीबिल प्रातिपदिक से छ, तथा यत् प्रत्यय होते हैं तदर्हति इस अर्थ में ॥ जो चावल पकाने योग्य हैं, वह स्थालीबिलीयाः कहे जायेंगे ॥

यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ ॥५।१।७०॥

यज्ञर्त्विग्भ्याम् ५।२॥ घखञौ १।२॥ *स०*—उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तदर्हति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—यज्ञ, ऋत्विग् प्रातिपदिकाभ्यां यथासङ्ख्यं घखञौ प्रत्ययौ भवतस्तदर्हतीत्येतस्मिन्नर्थे ॥ *उदा०*—यज्ञियो ब्राह्मणः, ऋत्विजमर्हति = आर्त्विजीनः ॥

भाषार्थः—[*यज्ञर्त्विग्भ्याम्*] यज्ञ तथा ऋत्विग् प्रातिपदिकों से यथासङ्ख्य करके [*घखञौ*] घ तथा खञ् प्रत्यय होते हैं तदर्हति इस अर्थ में ॥ यहाँ से अर्हति अर्थ का अधिकार समाप्त हुआ, अतः *आर्हाद्*-*गो०* (५।१।१९) वाला ठक् का अधिकार भी समाप्त जानना चाहिये, अब केवल ठञ् का अधिकार आगे आगे चलेगा ॥

पारायणतुरायणचान्द्रायणं वर्त्तयति ॥५।१।७१॥

पारा···यणम् २।१॥ वर्त्तयति क्रिया० ॥ *स०*—पारा० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्, ठञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थेभ्यः पारायण, तुरायण, चान्द्रायण इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो वर्त्तयतीत्येतस्मिन्नर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—पारायणं वर्त्तयति = पारायणिकश्छात्रः, तुरायणं वर्त्तयति तौरायणिको यजमानः, चान्द्रायणं वर्त्तयति चान्द्रायणिकस्तपस्वी ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*पारा·····णम्*] पारायण, तुरायण, तथा चान्द्रायण प्रातिपदिकों से [*वर्त्तयति*] बरतता है इस अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—पारायणिकः (पारायण = आदि से अन्त तक ग्रन्थ का जो आर्वतन करता है, वह पारायणिक कहाता है[1]), तौरायणिकः (तुरायण = संवत्सर साध्य जो इष्टियाँ उनको जो करता है), चान्द्रायणिकः (तुरायण और चान्द्रायण ये दो प्रकार के व्रत हैं इन्हें जो करता है वह क्रमशः तौरायणिक और चान्द्रायणिक कहाता है) ॥

---

१. पारायण ग्रन्थ विशेष का नाम भी है, उसका अध्ययन करने वाला भी पारायणिक कहाता है ।

संशयमापन्नः ॥५।१।७२॥

संशयम् २।१॥ आपन्नः १।१॥ *अनु०*—तत्, ठञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात् संशयप्रातिपदिकाद् आपन्न इत्येतस्मिन्नर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—संशयमापन्नः = प्राप्तः सांशयिकः स्थाणुः ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*संशयम्*] संशय प्रातिपदिक से [*आपन्नः*] आपन्न = प्राप्त इस अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है ॥ जिस खंभे को देखकर सन्देह में पड़ जायें अर्थात् यह खम्भा है, या पुरुष वह सांशयिक स्थाणु कहायेगा ॥

योजनं गच्छति ॥५।१।७३॥

योजनम् २।१॥ गच्छति क्रिया० ॥ *अनु०*—तत्, ठञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात् योजनप्रातिपदिकात् गच्छतीत्येतस्मिन्नर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—योजनं गच्छति = यौजनिकः ॥

भाषार्थः—द्वितीयासमर्थ [*योजनम्*] योजन प्रातिपदिक से [*गच्छति*] जाता है, इस अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है ॥ योजन = चार कोस[1] तक जो जाये अर्थात् चल सके वह यौजनिकः कहा जायेगा ॥

यहाँ से '*गच्छति*' की अनुवृत्ति ५।१।७६ तक जायेगी ॥

पथः ष्कन् ॥५।१।७४॥

पथः ५।१॥ ष्कन् १।१॥ *अनु०*—गच्छति, तत्, तद्धिताः ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात् पथिन्प्रातिपदिकात् गच्छतीत्येतस्मिन्नर्थे ष्कन् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—पन्थानं गच्छति = पथिकः, पथिकी ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*पथः*] पथिन् प्रातिपदिक से गच्छति इस अर्थ में [*ष्कन्*] ष्कन् प्रत्यय होता है ॥ पथिन् ष्कन् = पथिन् क, *नलोपः०* (८।२।७) से नकार लोप होकर पथिकः बन गया ॥

यहाँ से '*पथः*' की अनुवृत्ति ५।१।७५ तक जायेगी ॥

---

१. योजन शब्द का परिमाण समय समय पर बदलता रहता है, यह वर्तमान अर्थ है ।

तेन निर्वृत्तम् ॥५।१।७८॥

तेन ३।१॥ निर्वृत्तम् १।१॥ अनु०—कालात्, ठञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तेनेति तृतीयासमर्थात् कालवाचिनः प्रातिपदिकात् निर्वृत्तमित्येतस्मिन्नर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अह्ना निर्वृत्तमाह्निकम्, आर्द्धमासिकम्, सांवत्सरिकम्, सप्ताहेन निर्वृत्तो विवादः साप्ताहिकः, मुहूर्त्तेन निर्वृत्तं भोजनम् मौहूर्त्तिकम्, पाक्षिकः ॥

भाषार्थः—[*तेन*] तृतीयासमर्थ कालवाची प्रातिपदिक से [*निर्वृत्तम्*] बनाया हुआ इस अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है ॥

तमधीष्टो भृतो भूतो भावी ॥५।१।७९॥

तम् २।१॥ अधीष्टः १।१॥ भृतः १।१॥ भूतः १।१॥ भावी १।१॥ *अनु०*—कालात्, ठञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात् कालवाचिनः प्रातिपदिकाद् अधीष्ट, भृत, भूत, भावी इत्येतेष्वर्थेषु यथाविहितम् = ठञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—मासमधीष्टो मासिकोऽध्यापकः, मासं भृतो मासिकः कर्मकरः। मासं भूतो मासिको व्याधिः। मासं भावी मासिक उत्सवः ॥

भाषार्थः—[*तम्*] द्वितीयासमर्थ कालवाची प्रातिपदिकों से [*अधीष्टः*] सत्कारपूर्वक व्यापार [*भृतः*] खरीदा हुआ [*भूतः*] हो चुका [*भावी*] होने वाला, इन अर्थों में यथाविहित ठञ् प्रत्यय होता है ॥

सत्कारपूर्वक जिस अध्यापक को मास भर के लिये रखा हो, वह मासिकः, जिसको वेतन = मजदूरी देकर मास भर को रखा हो वह भी मासिक, जिस व्याधि को मास भर हो चुका हो वह भी मासिक तथा जो उत्सव मास भर चले वह भी मासिक कहायेगा। ये सब अर्थ प्रकरण की विवक्षा देखकर लग जायेंगे ॥

यहाँ से '*तमधीष्टो भृतो भूतो भावी*' की अनुवृत्ति यथासम्भव ५।१।८४ तक जायेगी ॥

पन्थो ण नित्यम् ॥५।१।७५॥

पन्थः १।१॥ ण लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ नित्यम् १।१॥ *अनु०*—पथः, गच्छति, तत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—पथिन्प्रातिपदिकस्य स्थाने पन्थ इत्ययमादेशो भवति, णश्च प्रत्ययो नित्यं गच्छतीत्येतस्मिन् विषये ॥ *उदा०*—पन्थानं नित्यं गच्छति = पान्थो भिक्षां याचते ॥

भाषार्थः—द्वितीयासमर्थ पथिन् प्रातिपदिक के स्थान में [*पन्थः*] पन्थ आदेश तथा [*णः*] ण प्रत्यय [*नित्यम्*] 'नित्य ही जाता है' इस अर्थ में होता है ॥ यहाँ भी नित्य शब्द प्रत्ययार्थ का विशेषण है ॥

उत्तरपथेनाहृतं च ॥५।१।७६॥

उत्तरपथेन ३।१॥ आहृतम् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—गच्छति ठञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीया-समर्थात्, उत्तरपथप्रातिपदिकाद् आहृतमित्येतस्मिन्नर्थे गच्छतीत्येतस्मिन् विषये च ठञ् प्रत्ययो भवति ॥ निर्देशादेव समर्थविभक्तिः ॥ *उदा०*—उत्तरपथेनाहृतम् = औत्तरपथिकम् । उत्तरपथेन गच्छति = औत्तरपथिकः ॥

भाषार्थः—तृतीयासमर्थ [*उत्तरपथेन*] उत्तरपथ प्रातिपदिक से [*आहृतम्*] लाया हुआ इस अर्थ में [*च*] तथा गच्छति अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है ॥ उत्तरपथेन तृतीयान्त निर्देश से ही यहाँ तृतीया समर्थ विभक्ति का ग्रहण है ॥

कालात् ॥५।१।७७॥

कालात् ५।१॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—कालाद् इत्यधिकारो वेदितव्यः *व्युष्टादिभ्योऽण्* (५।१।९६) इत्यतः प्राक् । इतोऽग्रे वक्ष्यमाणाः प्रत्ययाः कालवाचिनः प्रातिपदिकाद् भविष्यन्ति ॥ तथा च वक्ष्यति तेन निर्वृत्तम्, 'मासेन' निर्वृत्तं = मासिकम्, आर्द्धमासिकम्, सांवत्सरिकम् ॥

भाषार्थः—[*कालात्*] कालात् यह अधिकार सूत्र है, ५।१।९५ तक इसका अधिकार जायेगा, अर्थात् यहाँ से आगे ५।१।९५ तक के कहे हुये प्रत्यय कालवाची प्रातिपदिकों से हुआ करेंगे, ऐसा जानें ॥

मासाद्वयसि यत्खञौ ॥५।१।८०॥

मासात् ५।१॥ वयसि ७।१॥ यत्खञौ १।२॥ *स०*—यत्खञौ इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—भूतःकालात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अधीष्टादीनां चतुर्णामधिकारेऽपि भूत इत्येवात्र सम्बध्यते ॥ *अर्थः*—मासशब्दात् वयस्यभिधेये यत्खञौ प्रत्ययौ भवतो भूतेऽर्थे ॥ *उदा०*—मासं भूतो मास्यः शिशुः, मासीनः ॥

भाषार्थः—[*मासात्*] मास प्रातिपदिक से [*वयसि*] अवस्था गम्यमान हो तो, भूत अर्थ में [*यत्खञौ*] यत् और खञ् प्रत्यय होते हैं ॥ यद्यपि इस सूत्र में अधीष्ट आदि चारों अर्थों की अनुवृत्ति है तो भी अर्थ की योग्यतावशात् यहाँ केवल भूत अर्थ ही सम्बन्धित होगा ॥ जो (बच्चा आदि) मास भर का हुआ है वह मास्यः, या मासीनः कहा जायेगा ॥

यहाँ से *'मासात्'* की अनुवृत्ति ५।१।८१ तक तथा *'वयसि'* की ५।१।८२ तक जायेगी ॥

द्विगोर्यप् ॥५।१।८१॥

द्विगोः ५।१॥ यप् १।१॥ *अनु०*—मासाद्वयसि भूतः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्विगुसंज्ञकात् मासान्तात् प्रातिपदिकात् यप् प्रत्ययो भवति वयस्यभिधेये भूतेऽर्थे ॥ *उदा०*—द्वौ मासौ भूतो द्विमास्यः, त्रिमास्यः ॥

भाषार्थः—[*द्विगोः*] द्विगुसंज्ञक मासान्त प्रातिपदिक से अवस्था अभिधेय हो तो भूत अर्थ में [*यप्*] यप् प्रत्यय होता है ॥ यहाँ भी केवल भूत अर्थ का ही सम्बन्ध पूर्ववत् समझें ॥

यहाँ से *'यप्'* की अनुवृत्ति ५।१।८२ तक जायेगी ॥

षण्मासाण्ण्यच्च[1] ॥५।१।८२॥

षण्मासात् ५।१॥ ण्यत् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—यप्, वयसि भूतः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षण्मास-

---

१. एतत्सूत्रवचनात् *अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियां भाष्यते* (महा० २।४।१७) इति न प्रवर्तते पात्रादित्वाद् वाऽत्र प्रतिषेधो ज्ञेयः । अतएव इममेव प्रयोगमनुसृत्य

प्रातिपदिकात् वयस्यभिधेये भूतेऽर्थे ण्यत् प्रत्ययो भवति यप् च, चकाराद् औत्सर्गिकष्ठञपीष्यते ॥ उदा०—ण्यत्–षाण्मास्यः, यप्–षण्मास्यः, ठञ्–षाण्मासिकः ॥

भाषार्थः—[*षण्मासात्*] षण्मास प्रातिपदिक से अवस्था अभिधेय होने पर भूत अर्थ में [*ण्यत्*] ण्यत् [*च*] तथा यप् प्रत्यय होता है, चकार से औत्सर्गिक ठञ् प्रत्यय भी होता है, इस प्रकार तीन रूप बनेंगे ॥

यहाँ से '*षण्मासाण्ण्यत्*' की अनुवृत्ति ५।१।८३ तक जायेगी ॥

अवयसि ठंश्च ॥५।१।८३॥

अवयसि ७।१॥ ठन् १।१॥ च अ० ॥ *स०*—न वयः, अवयस्तस्मिन् ...... नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—षण्मासाण्ण्यत्, भूतः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षण्मासप्रातिपदिकात् ठन् प्रत्ययो भवति ण्यत् चावयस्यभिधेये ॥ *उदा०*—षण्मासो भूतः षाण्मासिको रोगः[1], षाण्मास्यः ॥

भाषार्थः—षण्मास प्रातिपदिक से [*अवयसि*] अवस्था अभिधेय न हो तो [*ठन्*] ठन् [*च*] तथा ण्यत् प्रत्यय होता है, भूत अर्थ में ॥

समायाः खः ॥५।१।८४॥

समायाः ५।१॥ खः १।१॥ *अनु०*—तमधीष्टो भृतो भूतो भावी, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात्

तत्र भगवता दयानन्देन संस्कृतवाक्यप्रबोधे 'षण्मासानन्तरं दास्यामि' इति प्रयोगः कृतः। तत्र शिवराजविजयोपन्यासलेखकेन अम्बिकादत्तव्यासेन भगवद्दयानन्दप्रयोगस्यापशब्दत्वं वदता 'षण्मास्यनन्तरम्' इति भवितव्यमित्युक्तमबोधनिवारणे। तदेतेन भगवतः प्रयोगस्य साधुत्वमुक्तं भवति। महाभारते चापि 'षण्मास' शब्दो बहुत्रोपलभ्यते।

१. संस्कृत भाषा में 'वयस्' शब्द प्राणियों के जन्मोत्तर व्यतीत काल का ही वाचक है। अतः रोगोत्पत्ति का उत्तर काल 'अवयस्' है। हिन्दी के अनुकरण पर संस्कृत में आजकल अनेक लोग वयस् के लिए आयु वा आयुष् का प्रयोग करते हैं वह चिन्त्य है।

समाप्रातिपदिकाद्, अधीष्ट, भृत, भूत, भावी इत्येतेष्वर्थेषु खः प्रत्ययो भवति ॥ ठञोऽपवादः ॥ *उदा०*—समामधीष्टो भृतो भूतो भावी वा समीनः ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*समायाः*] समा प्रातिपदिक से अधीष्ट भृत भूत भावी अर्थों में [*खः*] ख प्रत्यय होता है ॥ कोई कोई सर्वत्र इस प्रकरण में तेन निर्वृत्तम् का अधिकार भी मानते हैं, सो समया निर्वृत्तः = समीनः भी बनेगा । वस्तुतः यह प्रयोगाधीन विषय है ॥

यहाँ से '*समायाः*' की अनुवृत्ति ५।१।८६ तक तथा '*खः*' की ५।१।८८ तक जायेगी ॥

द्विगोर्वा ॥५।१।८५॥

द्विगोः ५।१॥ वा अ० ॥ *अनु०*—समायाः खः, अधीष्टो भृतो भूतो भावी, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीया-समर्थात् समाशब्दान्ताद् द्विगोरधीष्टादिष्वर्थेषु वा खः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—द्विसमामधीष्टो भृतो भूतो भावी वा = द्विसमीनः, द्वैसमिकः । त्रिसमीनः, त्रैसमिकः ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ समाशब्द है अन्त में जिसके ऐसे [*द्विगोः*] द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से [*वा*] विकल्प करके ख प्रत्यय होता है ॥ पक्ष में औत्सर्गिक ठञ् होता है ॥ *सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः* (२।१।५१) से द्विसम, त्रिसम द्विगुसंज्ञक हैं ही ॥

यहाँ से '*द्विगोः*' की अनुवृत्ति ५।१।८९ तक तथा '*वा*' की अनुवृत्ति ५।१।८८ तक जायेगी ॥

रात्र्यहःसंवत्सराच्च ॥५।१।८६॥

रात्र्यहःसंवत्सरात् ५।१॥ च अ० ॥ *स०*—रात्रिश्च अहश्च संवत्सरश्च रात्र्य·····रम्, तस्मात्·····समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—द्विगोर्वा, खः, तमधीष्टो भृतो भूतो भावी, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात् रात्रि अहः संवत्सर इत्येवमन्ताद् द्विगुसंज्ञकात् प्रातिपदिकाद् अधीष्टादिष्वर्थेषु वा खः प्रत्ययो भवति । पक्षे ठञ् भवति ॥ *उदा०*—द्विरात्रीणः, द्वैरात्रिकः । त्रिरात्रीणः, त्रिरा-

त्रिक.। द्व्यहीनो, द्वैयह्निकः। त्र्यहीणः, त्रैयह्निकः। द्विसंवत्सरीणः, द्विसांवत्सरिकः। त्रिसंवत्सरीणः, त्रिसांवत्सरिकः॥

भाषार्थः—द्वितीयासमर्थ [*रात्र्यहःसंवत्सरात्*] रात्रि, अहन् संवत्सर ये शब्द अन्त में हैं जिसके ऐसे द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से [च] भी अधीष्टादि अर्थों में विकल्प करके ख प्रत्यय होता है॥ पक्ष में औत्सर्गिक ठञ् होता है॥

वर्षाल्लुक् च ॥५।१।८७॥

वर्षात् ५।१॥ लुक् १।१॥ च अ०॥ *अनु०*—द्विगोर्वा, खः, तमधीष्टो भृतो भूतो भावी, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात् वर्षान्ताद् द्विगोः प्रातिपदिकात् अधीष्टादिष्वर्थेषु वा खः प्रत्ययो भवति, पक्षे ठञ् तयोश्च वा लुग् भवति॥ तेन त्रैरूप्यं सिध्यति॥ *उदा०*—द्विवर्षीणो व्याधिः। द्विवार्षिकः। द्विवर्षः। त्रिवर्षीणः। त्रिवार्षिकः। त्रिवर्षः॥

भाषार्थः—द्वितीयासमर्थ [*वर्षात्*] वर्षा अन्त वाले द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिक से अधीष्टादि अर्थों में विकल्प करके ख प्रत्यय [च] तथा प्रत्यय का विकल्प करके [*लुक्*] लुक् होता है॥ पक्ष में ठञ् होता है, सो एक पक्ष में ख तथा दूसरे पक्ष में ठञ् एवं तीसरे पक्ष में ख तथा ठञ् का लुक् होकर तीन रूप बनते हैं॥

यहाँ से '*वर्षात्*' की अनुवृत्ति ५।१।८९ तक जायेगी॥

चित्तवति नित्यम् ॥५।१।८८॥

चित्तवति ७।१॥ नित्यम् १।१॥ *अनु०*—वर्षात्, द्विगोः, तमधीष्टो भृतो भूतो भावी, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात् वर्षाशब्दान्ताद् द्विगुसंज्ञकात् प्रातिपदिकात् चित्तवति प्रत्ययार्थेऽभिधेयेऽधीष्टादिष्वर्थेषूत्पन्नस्य प्रत्ययस्य नित्यं लुग् भवति॥ पूर्वेण विकल्पे प्राप्ते वचनम्॥ *उदा०*—द्विवर्षो दारकः॥

भाषार्थः—[*चित्तवति*] चित्तवान् (चेतन) प्रत्ययार्थ अभिधेय हो तो द्वितीया समर्थ वर्षा शब्द अन्त वाले द्विगुसंज्ञक प्रातिपदिकों से अधीष्टादि

अर्थों में उत्पन्न प्रत्यय का [*नित्यम्*] नित्य ही लुक् होता है ॥ पूर्व सूत्र से विकल्प प्राप्त था, नित्यार्थ यह वचन है ॥

षष्टिकाः षष्टिरात्रेण पच्यन्ते ॥५।१।८९॥

षष्टिकाः १।३॥ षष्टिरात्रेण ३।१। पच्यन्ते क्रिया० (कर्मवाच्ये बहुवचनेषु रूपमिदम्)॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्टिकशब्दो निपात्यते पच्यन्त इत्येतस्मिन्नर्थे। षष्टिरात्रशब्दात् तृतीयासमर्थात् कन् प्रत्ययो निपात्यते पच्यन्त इत्येतस्मिन्नर्थे, रात्रिशब्दस्य च लोपः॥ *उदा०*—षष्टिरात्रेण पच्यन्ते = षष्टिकाः ॥

भाषार्थः—[*षष्टिकाः*] षष्टिक शब्द निपातन किया जाता है, [*पच्यन्ते*] 'पकाया जाता है' इस अर्थ में [*षष्टिरात्रेण*] तृतीयासमर्थ षष्टिरात्र शब्द से कन् प्रत्यय तथा रात्रि शब्द का लोप पकाया जाता है इस अर्थ में निपातन किया जाता है॥ षष्टिकाः (साठी)यह धान्य विशेष की संज्ञा है, जो कि ६० रात अर्थात् २ मास में पकते हैं। षष्टिकाः में बहुवचन गौण है॥

वत्सरान्ताच्छश्छन्दसि ॥५।१।९०॥

वत्सरान्तात् ५।१॥ छः १।१॥ छन्दसि ७।१॥ *स०*—वत्सर अन्तो यस्य स वत्सरान्तस्तस्मात्.....बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—तमधीष्टो भृतो भूतो भावी, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात् वत्सरान्तात्प्रातिपदिकाद् अधीष्टादिष्वर्थेषु छन्दसि विषये छः प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—इद्वत्सरीयः, इदावत्सरीयः॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*वत्सरान्तात्*] वत्सर अन्त वाले प्रातिपदिकों से अधीष्टादि अर्थों में [*छन्दसि*] वेद विषय में [*छः*] छ प्रत्यय होता है॥ छ को ईयादेश सिद्धि में हो ही जायेगा॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ५।१।९२ तक जायेगी॥

संपरिपूर्वात् ख च ॥५।१।९१॥

संपरिपूर्वात् ५।१॥ ख लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः॥ च अ०॥ *स०*—सञ्च परिश्च संपरि, संपरिपूर्वं यस्य स संपरिपूर्वस्तस्मात्.....द्वन्द्वगर्भबहु-

व्रीहिः ॥ *अनु०*—वत्सरान्ताच्छश्छन्दसि, तमधीष्टो भृतो भूतो भावी, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात् संपरिपूर्वाद्वत्सरान्तात् प्रातिपदिकाच्छन्दसि विषयेऽधीष्टादिष्वर्थेषु खः प्रत्ययो भवति चकाराच्छश्च ॥ *उदा०*— संवत्सरीणः, परिवत्सरीणः । छः—संवत्सरीयः, परिवत्सरीयः ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*संपरिपूर्वात्*] सम् परि पूर्व में है जिसके ऐसे वत्सरान्त प्रातिपदिक से वेद विषय में अधीष्टादि अर्थों में [*ख*] ख प्रत्यय [*च*] तथा चकार से छ प्रत्यय होते हैं ॥ ख को 'ईन्' तथा छ को ईयादेश *आयनेयीनी०* (७।१।२) से हो ही जायेगा ॥

तेन परिजय्यलभ्यकार्यसुकरम् ॥५।१।९२॥

तेन ३।१॥ परि·····रम् १।१॥ *स०*—परि० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—कालात्, ठञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तेनेति तृतीयासमर्थात् कालवाचिनः प्रातिपदिकात् परिजय्य, लभ्य, कार्य, सुकर इत्येतेष्वर्थेषु ठञ् प्रत्ययो भवति ॥ परितः जेतुं योग्यः = परिजय्यः । एवं लब्धुं योग्यः लभ्यः ॥ *उदा०*—मासेन परिजय्यः = शक्यते जेतुं मासिको व्याधिः, सांवत्सरिकः । मासेन लभ्यो मासिकः पटः । मासेन कार्यं मासिकं चान्द्रायणम्, मासेन सुकरः मासिकः प्रासादः ॥

भाषार्थः—[*तेन*] तृतीयासमर्थ कालवाची प्रातिपदिकों से [*परि··करम्*] परिजय्य = जीता जा सकता है, लभ्य = प्राप्त करने योग्य, कार्य = किया जा सके तथा सुकर = सुगमता से किया जाना, इन अर्थों में ठञ् प्रत्यय होता है ॥

तदस्य ब्रह्मचर्यम् ॥५।१।९३॥

तत् १।१॥ अस्य ६।१॥ ब्रह्मचर्यम् १।१॥ *अनु०*—कालात्, ठञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थात् कालवाचिनः प्रातिपदिकात् षष्ठ्यर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति ब्रह्मचर्यं चेद् गम्यते ॥ *उदा०*—मासोऽस्य ब्रह्मचर्यस्य मासिकं ब्रह्मचर्यम् । अत्र

केचित् तदिति द्वितीयासमर्थविभक्तिरिति मन्यन्ते, तस्मिन् पक्षेऽयं विग्रहः—मासं ब्रह्मचर्यमस्य मासिको ब्रह्मचारी ॥

भाषार्थः—[*तत्*] प्रथमासमर्थ कालवाची प्रातिपदिक से [*अस्य*] षष्ठ्यर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है, [*ब्रह्मचर्यम्*] ब्रह्मचर्य गम्यमान होने पर ॥ विशेषः—तद् शब्द प्रथमा समर्थ तथा द्वितीया समर्थ दोनों ही कई लोगों ने माना है। प्रथमा समर्थ पक्ष में मासिक शब्द ब्रह्मचर्य का विशेषण होगा, किन्तु द्वितीया समर्थ पक्ष में मासिक शब्द ब्रह्मचारी का वाचक होगा। प्रथमा समर्थ में ब्रह्मचर्य के विशेषण वाला कालवाची का उदाहरण षट्त्रिंशदाब्दिकम् (ब्रह्मचर्यम्) ऐसा मनु० में मिलता है, किन्तु द्वितीया समर्थ ब्रह्मचारी वाच्य का उदाहरण अन्वेष्य है। यह विषय प्रयोगाधीन है। ऐसे उदाहरण मिलने पर द्वितीया समर्थ भी ठीक माना जा सकता है ॥

तस्य च दक्षिणायज्ञाख्येभ्यः ॥५।१।९४॥

तस्य ६।१॥ च अ० ॥ दक्षिणा १।१॥ यज्ञाख्येभ्यः ५।३॥ स०—यज्ञस्य आख्याः यज्ञाख्यास्तेभ्यः षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—ठञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। कालादित्यधिकारेऽपि, अत्र न सम्बध्यते ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थेभ्यो यज्ञाख्येभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो दक्षिणेत्येतस्मिन्नर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अग्निष्टोमस्य दक्षिणा आग्निष्टोमिकी, वाजपेयिकी, राजसूयिकी ॥

भाषार्थः—[*तस्य*] षष्ठी समर्थ [*यज्ञाख्येभ्यः*] यज्ञ की आख्या वाले प्रातिपदिकों से [च] भी [*दक्षिणा*] दक्षिणा इस अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है ॥

तत्र च दीयते कार्यं भववत् ॥५।१।९५॥

तत्र अ० ॥ च अ० ॥ दीयते क्रिया० ॥ कार्यम् १।१॥ भववत् अ० ॥ भव इव भववत् ॥ *अनु०*—कालात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थात् कालवाचिनः प्रातिपदिकात् दीयते कार्यमित्येतयोरर्थयोः भववत् प्रत्यया भवन्ति ॥ *उदा०*—यथा मासे भवं मासिकं सांवत्सरिकं प्रावृषेण्यं हैमन्तं हैमन्तिकं भवार्थे भवन्ति

तथैव दीयते कार्यमित्येतयोरर्थयोरपि। मासे दीयते कार्यं वा मासिकं सांवत्सरिकं प्रावृषि दीयते कार्यं वा प्रावृषेण्यमित्यादयो भवन्ति ॥

भाषार्थः—[*तत्र*] सप्तमी समर्थ कालवाची प्रातिपदिकों से [*दीयते*] दिया जाता है [*कार्यम्*] कार्य इन अर्थों में [*भववत्*] भव अर्थ के समान ही प्रत्यय हो जाते हैं, अर्थात् जैसे ४।३ में कालवाचियों से सामान्य शैषिक (भव अर्थ) अर्थों में ठञ् (४।३।११) एण्य (४।३।१७) आदि प्रत्यय कहे हैं, उसी प्रकार यहाँ भी दीयते कार्यम् इन अर्थों में वे सब प्रत्यय हो जायेंगे ॥

यहाँ से '*तत्र दीयते कार्यं*' की अनुवृत्ति ५।१।९७ तक जायेगी ॥

व्युष्टादिभ्योऽण् ॥५।१।९६॥

व्युष्टादिभ्यः ५।३॥ अण् १।१॥ *स०*—व्युष्ट आदिर्येषां ते व्युष्टादयस्तेभ्यः.....बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—तत्र, दीयते कार्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थेभ्यो व्युष्टादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो दीयते कार्यम् इत्यनयोरर्थयोरण् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—व्युष्टे दीयते कार्यं वा वैयुष्टम्, नैत्यम् ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*व्युष्टादिभ्यः*] व्युष्टादि प्रातिपदिकों से दीयते कार्यम् इन अर्थों में [*अण्*] अण् प्रत्यय होता है ॥ *न य्वाभ्यां पदान्ता०* (७।३।३) से वैयुष्टम् में ऐच् आगम तथा आदि वृद्धि का निषेध होगा ॥

तेन यथाकथाचहस्ताभ्याम् णयतौ ॥५।१।९७॥

तेन ३।१॥ यथाकथाचहस्ताभ्याम् ५।२॥ णयतौ १।२॥ *स०*—उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—दीयते कार्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थाभ्यां यथाकथाच, हस्त इत्येताभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां यथासङ्ख्यं णयतौ प्रत्ययौ भवतः, दीयते कार्यमित्येतयोरर्थयोः ॥ *उदा०*—यथाकथाच दीयते कार्यं वा याथाकथाचम्, हस्तेन दीयते कार्यं हस्त्यम् ॥

भाषार्थः—[*तेन*] तृतीयासमर्थ [*यथा..भ्याम्*] यथाकथाच, तथा हस्त प्रातिपदिकों से दीयते कार्यम् इन अर्थों में यथासङ्ख्य करके

तथैव दीयते कार्यमित्येतयोरर्थयोरपि। मासे दीयते कार्यं वा मासिकं सांवत्सरिकं प्रावृषि दीयते कार्यं वा प्रावृषेण्यमित्यादयो भवन्ति ॥

भाषार्थः—[*तत्र*] सप्तमी समर्थ कालवाची प्रातिपदिकों से [*दीयते*] दिया जाता है [*कार्यम्*] कार्य इन अर्थों में [*भववत्*] भव अर्थ के समान ही प्रत्यय हो जाते हैं, अर्थात् जैसे ४।३ में कालवाचियों से सामान्य शैषिक (भव अर्थ) अर्थों में ठञ् (४।३।११) एण्य (४।३।१७) आदि प्रत्यय कहे हैं, उसी प्रकार यहाँ भी दीयते कार्यम् इन अर्थों में वे सब प्रत्यय हो जायेंगे ॥

यहाँ से '*तत्र दीयते कार्य*' की अनुवृत्ति ५।१।९७ तक जायेगी ॥

व्युष्टादिभ्योऽण् ॥५।१।९६॥

व्युष्टादिभ्यः ५।३॥ अण् १।१॥ *स०*—व्युष्ट आदिर्येषां ते व्युष्टादयस्तेभ्यः·····बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—तत्र, दीयते कार्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थेभ्यो व्युष्टादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो दीयते कार्यम् इत्यनयोरर्थयोरण् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—व्युष्टे दीयते कार्यं वा वैयुष्टम्, नैत्यम् ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*व्युष्टादिभ्यः*] व्युष्टादि प्रातिपदिकों से दीयते कार्यम् इन अर्थों में [*अण्*] अण् प्रत्यय होता है ॥ *न य्वाभ्यां पदान्ता०* (७।३।३) से वैयुष्टम् में ऐच् आगम तथा आदि वृद्धि का निषेध होगा ॥

तेन यथाकथाचहस्ताभ्याम् णयतौ ॥५।१।९७॥

तेन ३।१॥ यथाकथाचहस्ताभ्याम् ५।२॥ णयतौ १।२॥ *स०*—उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—दीयते कार्यम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थाभ्यां यथाकथाच, हस्त इत्येताभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां यथासङ्ख्यं णयतौ प्रत्ययौ भवतः, दीयते कार्यमित्येतयोरर्थयोः ॥ *उदा०*—यथाकथाच दीयते कार्यं वा याथाकथाचम्, हस्तेन दीयते कार्यं हस्त्यम् ॥

भाषार्थः—[*तेन*] तृतीयासमर्थ [*यथा··भ्याम्*] यथाकथाच, तथा हस्त प्रातिपदिकों से दीयते कार्यम् इन अर्थों में यथासङ्ख्य करके

[*ण्यतौ*] ण और यत् प्रत्यय होते हैं ॥ यथाकथाच शब्द अव्ययों का समुदाय है तथा अनादर अर्थ का वाचक है ॥

यहाँ से *'तेन'* की अनुवृत्ति ५।१।९९ तक जायेगी ॥

संम्पादिनि ॥५।१।९८॥

सम्पादिनि ७।१॥ *अनु०*—तेन, ठञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् सम्पादिन्यभिधेये ठञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—कर्णवेष्टकाभ्यां सम्पादि मुखं = कार्णवेष्टकिकं मुखम् । वास्त्रयुगिकं शरीरम् ॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ प्रातिपदिक से [*सम्पादिनि*] शोभित किया इस अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से *'सम्पादिनि'* की अनुवृत्ति ५।१।९९ तक जायेगी ॥

कर्मवेषाद्यत् ॥५।१।९९॥

कर्म्मवेषात् ५।१॥ यत् १।१॥ *स०*—कर्म च वेषश्च, कर्मवेषम्, तस्मात्.....समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सम्पादिनि, तेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थाभ्यां कर्मन्-वेषशब्दाभ्यां सम्पादिनीत्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—कर्मणा सम्पद्यते कर्मण्यं शरीरम्, वेषेण सम्पद्यते वेष्यो नटः, वेष्या नटिनी ॥

भाषार्थः—तृतीयासमर्थ [*कर्मवेषात्*] कर्मन् तथा वेष शब्दों से सम्पादित, शोभित किया इस अर्थ में [*यत्*] यत् प्रत्यय होता है ॥

तस्मै प्रभवति संतापादिभ्यः ॥५।१।१००॥

तस्मै ४।१॥ प्रभवति क्रिया० ॥ संतापादिभ्यः ५।३॥ *स०*—संताप आदिर्येषां ते संतापादयस्तेभ्यः.....बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—ठञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—चतुर्थीसमर्थेभ्यः संतापादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः प्रभवतीत्येतस्मिन्नर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—संतापाय प्रभवति = सांतापिकः, सान्नाहिकः ॥

भाषार्थः—[*तस्मै*] चतुर्थी समर्थ [*संतापादिभ्यः*] संतापादि प्रातिपदिकों से [*प्रभवति*] समर्थ है = शक्त है, इस अर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*तस्मै प्रभवति*' की अनुवृत्ति ५।१।१०२ तक जायेगी ॥

योगाद्यच्च ॥५।१।१०१॥

योगात् ५।१॥ यत् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—तस्मै प्रभवति, ठञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—चतुर्थीसमर्थात् योगप्रातिपदिकात् प्रभवतीत्येतस्मिन्नर्थे यत् प्रत्ययो भवति, ठञ् च ॥ *उदा०*—योगाय प्रभवति योग्यः, यौगिकः ॥

भाषार्थः—चतुर्थी समर्थ [*योगात्*] योग प्रातिपदिक से प्रभवति इस अर्थ में [*यत्*] यत् [*च*] तथा ठञ् प्रत्यय होते हैं ॥

कर्मण उकञ् ॥५।१।१०२॥

कर्मणः ५।१॥ उकञ् १।१॥ *अनु०*—तस्मै प्रभवति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—चतुर्थीसमर्थात् कर्मणः प्रातिपदिकात् प्रभवतीत्येतस्मिन्नर्थे उकञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—कर्मणे प्रभवति कार्मुको धनुः ॥

भाषार्थः—चतुर्थी समर्थ [*कर्मणः*] कर्मन् प्रातिपदिक से प्रभवति = समर्थ है इस अर्थ में [*उकञ्*] उकञ् प्रत्यय होता है ॥ ठञ् का अपवाद यह सूत्र है ॥ कर्म में जो समर्थ है, वह कार्मुक कोई भी कहा जा सकता है, परन्तु इसका सामान्य अर्थ में अभिधान न होने से केवल यह धनुष अर्थ का ही वाचक है ॥

समयस्तदस्य प्राप्तम् ॥५।१।१०३॥

समयः १।१॥ तत् १।१॥ अस्य ६।१॥ प्राप्तम् १।१॥ *अनु०*—ठञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तदिति प्रथमासमर्थात् समयप्रातिपदिकात् षष्ठ्यर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति यत्तद्प्रथमासमर्थं प्राप्तं चेत्तद् भवति ॥ *उदा०*—समयः प्राप्तोऽस्य = सामयिकं कार्यम् ॥

भाषार्थः—[*तत्*] प्रथमा समर्थ [*समयः*] समय प्रातिपदिक से [*अस्य*] षष्ठ्यर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है, यदि वह प्रथमासमर्थ प्रातिपदिक [*प्राप्तम्*] प्राप्त समानाधिकरण हो तो ॥ जिसका समय प्राप्त हो गया है = आ चुका है, वह सामयिक कार्य कहा जायेगा ॥

यहाँ से '*तदस्य*' की अनुवृत्ति ५।१।११३ तक तथा '*प्राप्तम्*' की अनुवृत्ति ५।१।१०६ तक जायेगी ॥

ऋतोरण् ॥५।१।१०४॥

ऋतोः ५।१॥ अण् १।१॥ *अनु०*—तदस्य प्राप्तम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थाद् ऋतुप्रातिपदिकाद् अस्येति षष्ठ्यर्थेऽण् प्रत्ययो भवति प्राप्तमित्येतस्मिन् विषये ॥ *उदा०*—ऋतुः प्राप्तोऽस्य = आर्त्तवं पुष्पम् ॥

भाषार्थः—प्रथमा समर्थ [*ऋतोः*] ऋतु प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में [*अण्*] अण् प्रत्यय होता है, यदि वह ऋतु शब्द प्राप्त समानाधिकरण वाला हो तो ॥

यहाँ से '*ऋतोः*' की अनुवृत्ति ५।१।१०५ तक जायेगी ॥

छन्दसि घस् ॥५।१।१०५॥

छन्दसि ७।१॥ घस् १।१॥ *अनु०*—ऋतोः, तदस्य प्राप्तम्, तद्धिताः ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—ऋतुशब्दात् छन्दसि विषये घस् प्रत्ययो भवति, तदस्य प्राप्तमित्येतस्मिन् विषये ॥ *उदा०*—अयं ते योनिर्ऋत्वियः ॥

भाषार्थः—ऋतु शब्द से [*छन्दसि*] वेद विषय में तदस्य प्राप्तम् इस अर्थ में [*घस्*] घस् प्रत्यय होता है ॥ पूर्व सूत्र का यह अपवाद सूत्र है ॥ घस् परे रहते ऋतु शब्द की *सिति च* (१।४।१६) से पद संज्ञा होने से *ओर्गुणः* (६।४।१४६) से गुण नहीं होता। यणादेश होकर ऋत्वियः बनता है ॥

कालाद्यत् ॥५।१।१०६॥

कालात् ५।१॥ यत् १।१॥ *अनु०*—तदस्य प्राप्तम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—कालप्रातिपदिकात् तदस्य

प्राप्तमित्येतस्मिन् विषये यत् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—कालः प्राप्तोऽस्य काल्यस्तापः, काल्यं शीतम् ॥

भाषार्थः—[*कालात्*] काल प्रातिपदिक से तदस्य प्राप्तम् इस विषय में [*यत्*] यत् प्रत्यय होता है ॥ ठञ् का अपवाद यह सूत्र है ॥

यहाँ से '*कालात्*' की अनुवृत्ति ५।१।१०७ तक जायेगी ॥

प्रकृष्टे ठञ् ॥५।१।१०७॥

प्रकृष्टे ७।१॥ ठञ् १।१॥ *अनु०*—कालात्, तदस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रकर्षे वर्त्तमानात् प्रथमासमर्थात् कालशब्दात् ठञ् प्रत्ययो भवति, षष्ठ्यर्थे ॥ *उदा०*—प्रकृष्टो दीर्घः कालोऽस्य कालिकमृणम्, कालिकं वैरम् ॥

भाषार्थः—[*प्रकृष्टे*] प्रकर्ष में वर्त्तमान जो प्रथमा समर्थ काल शब्द, उससे षष्ठ्यर्थ में [*ठञ्*] ठञ् प्रत्यय होता है ॥ जिसका प्रकृष्ट अर्थात् दीर्घ काल वाला ऋण या वैर हो वह ऋण या वैर कालिकम् कहा जायेगा ॥

प्रयोजनम् ॥५।१।१०८॥

प्रयोजनम् १।१॥ *अनु०*—तदस्य, ठञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रयोजनसमानाधिकरणवाचिनः प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकात् षष्ठ्यर्थे ठञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—इन्द्रमहः प्रयोजनमस्य ऐन्द्रमहिकम्, गाङ्गामहिकम्, वितण्डा प्रयोजनमस्य वैतण्डिकः, धार्मिकः, पारीक्षिकः ॥

भाषार्थः—[*प्रयोजनम्*] प्रयोजन समानाधिकरणवाची प्रथमासमर्थ प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है ॥ इन्द्रमह गङ्गामह उत्सव विशेष के वाचक हैं। वितण्डा निरर्थक बकवास का नाम है ॥

यहाँ से '*प्रयोजनम्*' की अनुवृत्ति ५।१।११२ तक जायेगी ॥

विशाखाषाढादण्मन्थदण्डयोः ॥५।१।१०९॥

विशाखाषाढात् ५।१॥ अण् १।१॥ मन्थदण्डयोः ७।२॥ *स०*—विशा० इत्यत्र समाहारद्वन्द्वः। मन्थ० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—प्रयो-

जनम्, तदस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—विशाखा, अषाढ इत्येताभ्यां शब्दाभ्यां यथासङ्ख्यं मन्थदण्डयोरभिधेययोस्तदस्यप्रयोजनमित्येतस्मिन् विषयेऽण् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—विशाखा प्रयोजनमस्य मन्थस्य वैशाखो मन्थः, आषाढो दण्डः ॥

भाषार्थः—[*विशाखाषाढात्*] विशाखा, अषाढ शब्दों से यथासङ्ख्य करके [*मन्थदण्डयोः*] मन्थ तथा दण्ड अभिधेय हों तो [*अण्*] अण् प्रत्यय होता है, तदस्य प्रयोजनम् इस विषय में ॥

अनुप्रवचनादिभ्यश्छः ॥५।१।११०॥

अनुप्रवचनादिभ्यः ५।३॥ छः १।१॥ *स०*—अनुप्रवचन आदिर्येषां ते अनुप्रवचनादयस्तेभ्यः...... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—प्रयोजनम्, तदस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अनुप्रवचनादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यश्छः प्रत्ययो भवति तदस्य प्रयोजनमित्येतस्मिन् विषये ॥ *उदा०*—अनुप्रवचनं प्रयोजनमस्य अनुप्रवचनीयम्, उत्थापनीयम्, प्रवेशनीयम् ॥

भाषार्थः—[*अनुप्रवचनादिभ्यः*] अनुप्रवचनादि प्रातिपदिकों से तदस्य प्रयोजनम् इस विषय में [*छः*] छ प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से 'छः' की अनुवृत्ति ५।१।१११ तक जायेगी ॥

समापनात् सपूर्वपदात् ॥५।१।१११॥

समापनात् ५।१॥ सपूर्वपदात् ५।१॥ *स०*—विद्यमानः पूर्वपदं यस्य तत् सपूर्वपदं तस्मात्..... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—छः, प्रयोजनम्, तदस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सपूर्वपदात् = विद्यमानपूर्वपदात् समापनप्रातिपदिकाच्छः प्रत्ययो भवति तदस्य प्रयोजनमित्येतस्मिन् विषये ॥ *उदा०*—छन्दस्समापनं प्रयोजनमस्य छन्दःसमापनीयम्, व्याकरणसमापनीयम् ॥

भाषार्थः—[*सपूर्वपदात्*] विद्यमान है पूर्व पद जिसके ऐसे [*समापनात्*] समापन प्रातिपदिक से छ प्रत्यय होता है, तदस्य प्रयोजनम् इस विषय में ॥

ऐकागारिकट् चौरे ॥५।१।११२॥

ऐकागारिकट् १।१॥ चौरे ७।१॥ *अनु०*—प्रयोजनम्, तदस्य, तद्धिताः ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—ऐकागारिकट् इति निपात्यते चौरेऽभिधेये, तदस्य प्रयोजनमित्येतस्मिन् विषये ॥ ऐकागारं प्रयोजनमस्य = ऐकागारिकः चौरः ॥

भाषार्थः—[*ऐकागारिकट्*] ऐकागारिकट् यह निपातन किया जाता है तदस्य प्रयोजनम् इस विषय में [*चौरे*] चोर अभिधेय होने पर, ऐकागार शब्द से इकट् प्रत्यय करके वृद्धि आदि होकर ऐकागारिकः बना। ऐकागारिकट् में टकार अनुबन्ध लगाया है, इससे स्त्रीलिङ्ग में टिड्ढाणञ्० (४।१।१५) से ङीप् होता है ॥ जिसका एक (अकेला) ही घर प्रयोजन है (चोरी के लिये) वह ऐकागारिकः चौरः कहायेगा ॥

आकालिकडाद्यन्तवचने ॥५।१।११३॥

आकालिकट् १।१॥ आद्यन्तवचने ७।१॥ *स०*—आदिश्च अन्तश्च, आद्यन्तौ, तयोर्वचनम् आद्यन्तवचनम्, तस्मिन्...... द्वन्द्वगर्भषष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—प्रयोजनम्, तदस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—आकालिकडिति निपात्यते, आद्यन्तवचने विशेषणे। समानकालशब्दस्य, आकालशब्दादेशः, इकट् च प्रत्ययः, आद्यन्तयोश्चेद् विशेषणम् ॥ समानकालौ आद्यन्तौ यस्य स आकालिकः स्तनयित्नुः ॥

भाषार्थः—[*आकालिकट्*] आकालिकट् यह निपातन किया जाता है, यदि [*आद्यन्तवचने*] आद्यन्त विशेषण हो तो। समान काल शब्द को आकाल आदेश तथा इकट् प्रत्यय यहाँ निपातन किया गया है ॥ बिजली की चमक कब पैदा हुई और कब खतम हो गई इसका पता नहीं लगता, अर्थात् उसके आदि अन्त का पता नहीं सो उसे आकालिकः स्तनयित्नुः कहते हैं ॥ यहाँ से ठञ् का अधिकार समाप्त हुआ ॥

तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः ॥५।१।११४॥

तेन ३।१॥ तुल्यम् १।१॥ क्रिया १।१॥ चेत् अ०॥ वतिः १।१॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तेनेति

तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् तुल्यमित्यस्मिन्नर्थे वतिः प्रत्ययो भवति यत्तत्तुल्यं क्रिया चेत्सा भवति ॥ उदा०—ब्राह्मणेन तुल्यं क्रिया ब्राह्मणवत् अधीते। राजवत् अनुशास्ति। स्थानिना तुल्यं वर्त्तते = क्रिया स्थानिवत् ॥

भाषार्थः—[*तेन*] तृतीयासमर्थ प्रातिपदिक से [*तुल्यं क्रिया*] समान क्रिया [*चेत्*] यदि हो तो इस अर्थ में [*वतिः*] वति प्रत्यय होता है ॥ ब्राह्मण के समान (जो अध्ययन अध्यापन) क्रिया है, वह ब्राह्मणवत् कहायेगी ॥

यहाँ से '*वतिः*' की अनुवृत्ति ५।१।११७ तक जायेगी ॥

तत्र तस्येव ॥५।१।११५॥

तत्र अ० ॥ तस्य ६।१॥ इव अ० ॥ *अनु०*—वतिः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तत्रेति सप्तमीसमर्थात् तस्येति षष्ठीसमर्थाच्च प्रातिपदिकादिवार्थे वतिः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—मथुरायामिव मथुरावत्, पाटलिपुत्रवत्। षष्ठीसमर्थात्—देवदत्तस्येव देवदत्तवत् यज्ञदत्तस्य गावः। यज्ञदत्तस्येव देवदत्तस्य दन्ता यज्ञदत्तवत् ॥

भाषार्थः—[*तत्र*] सप्तमी समर्थ प्रातिपदिक से [*तस्य*] तथा षष्ठीसमर्थ प्रातिपदिक से [*इव*] इव अर्थ में = समान अर्थ में वति प्रत्यय होता है ॥

तदर्हम् ॥५।१।११६॥

तत् २।१॥ अर्हम् २।१॥ *अनु०*—वतिः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तदिति द्वितीयासमर्थात् प्रातिपदिकाद् अर्हणविशिष्टक्रियायां सत्यां वतिः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—राजानमर्हति राजवत् पालनम्, ब्राह्मणवत् विद्याप्रचारः; ऋषिवत्, क्षत्रियवत् ॥

भाषार्थ.—[*तद्*] द्वितीया समर्थ प्रातिपदिक से [*अर्हम्*] अर्हण विशिष्ट क्रिया वाच्य हो तो वति प्रत्यय होता है ॥ राजाओं के समान

अर्थात् जैसा लालन पालन राजाओं को ही योग्य[1] हो उचित हो वह राजवत् पालनम् होगा ।

उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे ॥५।१।११७॥

उपसर्गात् ५।१॥ छन्दसि ७।१॥ धात्वर्थे ७।१॥ *स०*—धातोरर्थः, धात्वर्थस्तस्मिन्.......षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—वतिः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—धात्वर्थे वर्त्तमानाद् उपसर्गात् छन्दसि विषये स्वार्थे वतिः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—यद् उद्वतो निवतो यासि वप्सद् ॥

भाषार्थः—[*धात्वर्थे*] धात्वर्थ में वर्त्तमान [*उपसर्गात्*] उपसर्ग से स्वार्थ में वति प्रत्यय होता है [*छन्दसि*] वेद विषय में ॥ उत् तथा नि उपसर्ग उद्गत, निगत अर्थ में वर्त्तमान होने से धात्वर्थ में वर्त्तमान हैं, अतः इनसे वति प्रत्यय होकर उद्वतः निवतः बना है ॥

तस्य भावस्त्वतलौ ॥५।१।११८॥

तस्य ६।१॥ भावः १।१॥ त्वतलौ १।२॥ *स०*—त्वश्च तल् च त्वतलौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकात् भाव इत्येतस्मिन्नर्थे त्वतलौ प्रत्ययौ भवतः ॥ *उदा०*—मनुष्यस्य भावः मनुष्यत्वम्, मनुष्यता । अश्वत्वम्, अश्वता । गोत्वम्, गोता ॥

भाषार्थः—[*तस्य*] षष्ठीसमर्थ प्रातिपदिक से [*भावः*] भाव अर्थ में [*त्वतलौ*] त्व और तल् प्रत्यय होते हैं ॥ जिस गुण के होने से किसी

---

१. महाभाष्य में इस सूत्र में ऊपर से 'क्रिया' की अनुवृत्ति लाकर यह दिखाया है, कि राजवत् आदि में सादृश्य का अभाव होने से *तेन तुल्यं* (५।१।११४) से वति प्रत्यय नहीं हो सकता, राजवत् पालनम् का यह अर्थ नहीं है कि राजा के समान किसी का पालन होता है, किन्तु यह है कि राजा को ही (स्वयं कर्त्ता को) जो योग्य क्रिया इस अर्थ में वति प्रत्यय हो, जैसे छत्र धारण, एवं चँवर डुलानादि कुछ क्रियायें ऐसी हैं जो राजा के लिये ही होती है। संक्षेप में यहाँ वति प्रत्यय स्वयं कर्त्ता को जो योग्य = उचित क्रिया उसमें होता है, सादृश्य में नहीं ॥

शब्द का किसी अर्थ के साथ वाच्य वाचक सम्बन्ध होता है, उसे ही यहाँ भाव शब्द से कहा गया है। भाव से यहाँ किसी का भाव = अभिप्रायादि नहीं लेना है। मनुष्यपन अर्थात् मनुष्य जैसा स्वभाव होने से ही वह मनुष्य कहायेगा (गाय या भैंस नहीं) इसलिये यह मनुष्यपन ही मनुष्य का भाव है, इसे ही मनुष्यत्व या मनुष्यता कहेंगे। इसी प्रकार अश्वत्व अश्वता आदि में जानें॥

यहाँ से *'तस्य भावः'* की अनुवृत्ति ५।१।१३५ तक जायेगी॥

आ च त्वात् ॥५।१।११९॥

आ० अ०॥ च अ०॥ त्वात् ५।१॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—इतः प्रभृति आ त्वात् = *ब्रह्मणस्त्वः* पर्यन्तं त्वतलौ प्रत्ययौ भवतः॥ वक्ष्यति *पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा*, तत्र त्वतलावपि भवतः। *उदा०*—पृथुता पृथुत्वम्॥

भाषार्थः—[*आ च*] यहाँ से लेकर [*त्वात्*] *ब्रह्मणस्त्वः* (५।१।१३५) के त्व पर्यन्त त्व तल् प्रत्यय होते हैं, ऐसा अधिकार जानना चाहिये॥ यद्यपि त्व तल् का *ब्रह्मणस्त्वः* पर्यन्त अधिकार करने से भी काम चल जाता, पुनः यह सूत्र इसलिये है कि जहाँ त्व तल् के अपवाद रूप अन्य भाव प्रत्यय कहे हैं वहाँ भी त्व तल् हो जायें। जैसे पृथ्वादियों (५।१।१२१) से इमनिच् प्रत्यय त्व, तल् का अपवाद कहा है, वहाँ भी इमनिच् के साथ साथ त्व तल् प्रत्यय हो जायें॥

न नञ्पूर्वात् तत्पुरुषादचतुरसंगतलवणवटयुधकतरसलसेभ्यः ॥५।१।१२०॥

न अ०॥ नञ्पूर्वात् ५।१॥ तत्पुरुषात् ५।१॥ अचतुर.....सेभ्यः ५।३॥ *स०*—नञ्पूर्वो यस्मिन् स नञ्पूर्वस्तस्मात्.....बहुव्रीहिः। अचतुरसं० इत्यत्र पूर्वम् इतरेतरद्वन्द्वस्ततो नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—तस्य भावस्त्वतलौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—इत उत्तरे ये भावप्रत्ययास्ते नञ्पूर्वात् तत्पुरुषात् न भवन्ति, चतुर संगत लवण वट युध कत रस लस इत्येतान् शब्दान् वर्जयित्वा। तेषु प्रति-

षिद्धेषु नञ्पूर्वात् तत्पुरुषात् त्वतलावेव भवतः ॥ उदा०—वक्ष्यति *पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्* तत्र नञ्पूर्वात् तत्पुषात् त्वतलावेव भवतो न तु यक्—अपतित्वम् अपतिता । अपटुत्वम् अपटुता, अत्र अण् (५।१।१३०) न भवति । अरमणीयत्वम् अरमणीयता, अत्र वुञ् (५।१।१३१) न भवति ॥

भाषार्थः—यहाँ से आगे जो भाव प्रत्यय कहेंगे वह [*नञ्पूर्वात्*] नञ्पूर्व वाले [*तत्पुरुषात्*] तत्पुरुष से [*न*] नहीं होंगे, [*अचतु*······*सेभ्यः*] चतुर, संगत, लवण, वट, युध, कत, रस, लस शब्दों को छोड़कर । चतुर् आदि शब्द यदि नञ्पूर्व तत्पुरुष समास में होंगे तो इनसे जो भावप्रत्यय आगे कहे जायेंगे वे हो ही जायेंगे, किन्तु अन्यों से नहीं होंगे । उन तत्तत् प्रत्ययों का प्रतिषेध हो जाने पर नञ्पूर्व तत्पुरुष से त्व, तल् ही हुआ करेंगे ॥ अपतित्वम् अपतिता आदि से यक् आदि प्रत्यय न होकर त्व तल् ही हुये हैं ॥

पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा ॥५।१।१२१॥

पृथ्वादिभ्यः ५।३॥ इमनिच् १।१॥ वा अ० ॥ *स०*—पृथु आदिर्येषां ते पृथ्वादयस्तेभ्यः···बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—तस्य भावस्त्वतलौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—पृथ्वादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो विकल्पेनेमनिच् प्रत्ययो भवति, तस्य भाव इत्येतस्मिन्नर्थे ॥ *उदा०*—पृथोर्भावः प्रथिमा । पक्षे अण्—पार्थवम्, पृथुत्वम् पृथुता । म्रदिमा, मार्दवम्, मृदुत्वम्, मृदुता ॥

भाषार्थः—[*पृथ्वादिभ्यः*] पृथ्वादि प्रातिपदिकों से [*वा*] विकल्प से [*इमनिच्*] इमनिच् प्रत्यय होता है, तस्य भावः इस अर्थ में ॥ अधिकार होने से त्व तल् हो ही जायेंगे, तथा 'वा' कहने से पक्ष में पार्थवम् में *इगन्ताच्च लघुपूर्वात्* (५।१।१३०) से इगन्त वा लघुपूर्व होने से अण् होगा । प्रथिमा म्रदिमा में *तुरिष्ठेमेयस्सु* (६।४।१५४) से टि भाग का लोप तथा र ऋतो हलादेर्लघोः (६।४।१६१) से पृथु मृदु के ऋ को इमनिच् परे रहते र् हो गया है ॥

यहाँ से '*इमनिच्*' की अनुवृत्ति ५।१।१२२ तक जायेगी ॥

वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च ॥५।१।१२२॥

वर्णदृढादिभ्यः ५।३॥ ष्यञ् १।१॥ च अ० ॥ *स०*—दृढ आदिर्येषां ते दृढादयः, वर्णश्च दृढादयश्च, वर्णदृढादयस्तेभ्यः······बहुव्रीहिगर्भे-इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—इमनिच्, तस्य भावस्त्वतलौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—वर्णविशेषवाचिभ्यो दृढादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः ष्यञ् प्रत्ययो भवति, इमनिच्च तस्य भाव इत्येतस्मिन् विषये । *उदा०*—वर्णविशेषवाचिभ्यः—शुक्लस्य भावः = शौक्ल्यम् । इमनिच्-शुक्लिमा । शुक्लत्वम्, शुक्लता । कार्ष्ण्यम्, कृष्णिमा, कृष्णत्वम्, कृष्णता । दृढादिभ्यः—दार्ढ्यम्, द्रढिमा, दृढत्वम्, दृढता ।

भाषार्थः—[*वर्णदृढादिभ्यः*] वर्णविशेषवाची तथा दृढादि प्रातिपदिकों से [ष्यञ्] ष्यञ् [च] तथा इमनिच् प्रत्यय होते हैं ॥ त्व तल् तो सर्वत्र होंगे ही । पूर्ववत् र *ऋतो हलादेर्लघोः* (६।४।१६१) से द्रढिमा में ऋ को र् हुआ है ॥

यहाँ से '*ष्यञ्*' की अनुवृत्ति ५।१।१२३ तक जायेगी ॥

गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च ॥५।१।१२३॥

गुण······भ्यः ५।३॥ कर्मणि ७।१॥ च अ० ॥ गुणमुक्तवन्तो गुणवचनाः ॥ *स०*—ब्राह्मण आदिर्येषां ते ब्राह्मणादयः, बहुव्रीहिः । गुणवचनाश्च ब्राह्मणादयश्च, गुण······णादयस्तेभ्यः······इतरेतर-द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—ष्यञ्, तस्य भावस्त्वतलौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थेभ्यः गुणवचनेभ्यो ब्राह्मणादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः कर्मण्यभिधेये भावे च ष्यञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—गुणवचनेभ्यः—जडस्य भावः, कर्म वा = जाड्यम्, जडत्वम्, जडता । ब्राह्मणादिभ्यः—ब्राह्मणस्य भावः कर्म वा = ब्राह्मण्यम्, ब्राह्मणत्वम्, ब्राह्मणता, माणव्यम्, माणवत्वम्, माणवता ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*गुण······भ्यः*] गुणवचन, तथा ब्राह्मणादि प्रातिपदिकों से [*कर्मणि*] कर्म अभिधेय होने पर [च] तथा भाव में ष्यञ् प्रत्यय होता है ॥ जड का भाव या कर्म = क्रिया जाड्य कही जायेगी, इसी प्रकार औरों में जानें । कर्म से यहाँ क्रिया लेनी चाहिये ॥ गुण को जिसने कहा वह गुणवचन कहा जायेगा ॥

यहाँ से '*कर्मणि*' की अनुवृत्ति ५।१।१२५ तक जायेगी ॥

स्तेनाद्यन्नलोपश्च ।।५।१।१२४।।

स्तेनात् ५।१।। यत् १।१।। नलोपः १।१।। च अ० ।। *स०*—नकारस्य लोपः नलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः ।। *अनु०*—कर्मणि, तस्य भावस्त्वतलौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ।। *अर्थः*—षष्ठीसमर्थात् स्तेनप्रातिपदिकात् भावकर्मणोर्यत् प्रत्ययो भवति, नकारस्य च लोपः ।। *उदा०*—स्तेनस्य भावः कर्म वा स्तेयम् ।।

भाषार्थः—षष्ठीसमर्थ [*स्तेनात्*] स्तेन प्रातिपदिक से भाव और कर्म अर्थ में [*यत्*] यत् प्रत्यय होता है, तथा स्तेन शब्द के [*नलोपः*] न का लोप [*च*] भी हो जाता है ।। स्तेन + यत्, स्ते + य = स्तेयम् बन गया ।।

सख्युर्यः ।।५।१।१२५।।

सख्युः ५।१।। यः १।१।। *अनु०*—कर्मणि, तस्य भावस्त्वतलौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ।। *अर्थः*—षष्ठीसमर्थात् सखिप्रातिपदिकाद् यः प्रत्ययो भवति भावकर्मणोरर्थयोः ।। *उदा०*—सख्युर्भावः कर्म वा सख्यम् ।।

भाषार्थः—षष्ठीसमर्थ [*सख्युः*] सखि प्रातिपदिक से [*यः*] य प्रत्यय होता है भाव और कर्म अर्थों में ।। सखिपन अर्थात् मित्रता या मित्र की क्रिया को सख्यम् कहेंगे ।।

कपिज्ञात्योर्ढक् ।।५।१।१२६।।

कपिज्ञात्योः ६।२।। ढक् १।१।। *स०*—कपि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। *अनु०*—कर्मणि, तस्य भावस्त्वतलौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ।। *अर्थः*—षष्ठीसमर्थाभ्यां कपिज्ञातिप्रातिपदिकाभ्यां ढक् प्रत्ययो भवति भावकर्मणोरर्थयोः ।। *उदा०*—कपेर्भावः कर्म वा कापेयम्, ज्ञातेयम् ।।

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*कपिज्ञात्योः*] कपि तथा ज्ञाति प्रातिपदिकों से भाव और कर्म अर्थों में [*ढक्*] ढक् प्रत्यय होता है ।।

पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् ।।५।१।१२७।।

पत्य······भ्यः ५।३।। यक् १।१।। *स०*—पतिः शब्दोऽन्ते यस्य स पत्यन्तः, बहुव्रीहिः । पुरोहित आदिर्येषां ते पुरोहितादयः, बहुव्रीहिः ।

पत्यन्तश्च पुरोहितादयश्च, पत्य······दयस्तेभ्यः······इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—कर्मणि, तस्य भावस्त्वतलौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थेभ्यः पत्यन्तेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः पुरोहितादिभ्यश्च भावकर्मणोरर्थयोर्यक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—पत्यन्तात्—सेनापतेर्भावः कर्म वा सैनापत्यम्, गार्हपत्यम्, प्राजापत्यम्। पुरोहितादिभ्यः—पुरोहितस्य भावः कर्म वा पौरोहित्यम्, राज्यम् ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*पत्य······भ्यः*] पति शब्द अन्त वाले तथा पुरोहितादि प्रातिपदिकों से भाव और कर्म अर्थों में [*यक्*] यक् प्रत्यय होता है ॥

प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ् ॥५।१।१२८॥

प्राणभृ······भ्यः ५।३॥ अञ् १।१॥ *स०*—उद्गातृ आदिर्येषां त उद्गात्रादयः, बहुव्रीहिः। प्राणभृज्जातिश्च, वयोवचनञ्च, उद्गात्रादयश्च, प्राण······दयस्तेभ्यः······इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—कर्मणि, तस्य भावस्त्वतलौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थेभ्यः प्राणभृद्जातिवाचिभ्यो वयोवचनेभ्य उद्गात्रादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्योऽञ् प्रत्ययो भवति भावकर्मणोरर्थयोः ॥ *उदा०*—प्राणभृद्जातिवाचिभ्यः—अश्वस्य भावः कर्म वा आश्वम्, औष्ट्रम्। अश्वत्वम् अश्वता, उष्ट्रत्वम्, उष्ट्रता। वयोवचनेभ्यः—कौमारम्, कैशोरम्, एवं त्वतलावपि बोध्यौ। उद्गात्रादिभ्यः—उद्गातुर्भावः कर्म वा औद्गात्रम्, औन्नेत्रम् ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*प्राण··दिभ्यः*] प्राणभृद्जाति = प्राणधारी जाति, अर्थात् जीवधारी जातिवाची प्रातिपदिकों से, वयोवचन = अवस्थावाची प्रातिपदिकों से तथा उद्गात्रादि प्रातिपदिकों से भाव और कर्म अर्थ में [*अञ्*] अञ् प्रत्यय होता है ॥ उद्गात्रदियों में जो ऋत्विग्विशेषवाची शब्द हैं, उनसे *होत्राभ्यश्छः* (५।१।१३४) से छ प्राप्त था तदपवाद अञ् कह दिया ॥

हायनान्तयुवादिभ्योऽण् ॥५।१।१२९॥

हायनान्तयुवादिभ्यः ५।३॥ अण् १।१॥ *स०*—हायनोऽन्ते यस्य स हायनान्तः, बहुव्रीहिः। युवन् आदिर्येषां ते युवादयः, बहुव्रीहिः। हाय-

नान्तश्च युवादयश्च, हायनान्तयुवादयस्तेभ्यः ... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*— कर्मणि, तस्य भावस्त्वतलौ, तद्धिताः ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थेभ्यो हायनान्तेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो युवादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्योऽण् प्रत्ययो भवति भावकर्मणोरर्थयोः ॥ *उदा०*— हायनान्तेभ्यः—द्विहायनस्य भावः कर्म वा द्वैहायनम्, त्रैहायनम्। युवादिभ्यः—यौवनम्। स्थाविरम्। सर्वत्र त्वतलावप्युदाहार्यौ ॥

भाषार्थः—षष्ठीसमर्थ [*हाय...भ्यः*] हायन अन्त वाले, तथा युवादि प्रातिपदिकों से [*अण्*] अण् प्रत्यय होता है, भाव और कर्म अर्थों में ॥

यहाँ से '*अण्*' की अनुवृत्ति ५।१।१३० तक जाती है ॥

इगन्ताच्च लघुपूर्वात् ॥५।१।१३०॥

इगन्तात् ५।१॥ च अ० ॥ लघुपूर्वात् ५।१॥ *स०*—इक् अन्ते यस्य स इगन्तस्तस्मात्.....बहुव्रीहिः। लघुः पूर्वं यस्य स लघुपूर्वस्तस्मात्... बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अण्, कर्मणि, तस्य भावस्त्वतलौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थात् लघुपूर्वाद् अण् प्रत्ययो भवति भावकर्मणोरर्थयोः ॥ *उदा०*- शुचेर्भावः कर्म वा शौचम्। मुनेर्भावः कर्म वा मौनम् ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*लघुपूर्वात्*] लघु पूर्व में है जिसके ऐसे [*इगन्तात्*] इक् अन्त वाले प्रातिपदिक से [*च*] भी भाव और कर्म अर्थ में अण् प्रत्यय होता है ॥ शुचि और मुनि शब्द इगन्त भी हैं, तथा लघु अक्षर (*ह्रस्वं लघु* १।४।१०) पूर्व में भी है सो अण् हो गया है। त्व तल् तो हो ही जायेंगे ॥

योपधाद् गुरूपोत्तमाद्वुञ् ॥५।१।१३१॥

योपधात् ५।१॥ गुरूपोत्तमात् ५।१॥ वुञ् १।१॥ *स०*—यकार उपधा यस्य स योपधः, तस्मात्.....बहुव्रीहिः। उत्तमस्य समीपम् उपोत्तमम्, अव्ययीभावः। गुरु उपोत्तमं यस्य स गुरूपोत्तमः तस्मात्... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—कर्मणि, तस्य भावस्त्वतलौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थाद् योपधाद् गुरूपोत्त-

मात् प्रातिपदिकात् वुञ् प्रत्ययो भवति भावकर्मणोरर्थयोः ॥ उदा०—रमणीयस्य भावः कर्म वा रामणीयकम्, वासनीयकम् ॥

भाषार्थः—षष्ठीसमर्थ [*योपधात्*] यकार उपधा वाले [*गुरूपोत्तमात्*] गुरु है उपोत्तम जिसका ऐसे प्रातिपदिक से, भाव और कर्म अर्थों में [वुञ्] वुञ् प्रत्यय होता है ॥ रमणीय, वासनीय शब्द यकार उपधा वाले एवं गुरूपोत्तम हैं ॥ गुरु का अभिप्राय *संयोगे गुरु, दीर्घं* च (१।४।११,१२) से ही है, तथा उपोत्तम की व्याख्या ४।१।७८ में कर चुके हैं, यहाँ रमणीय का 'य' उत्तम तथा उसके समीप जो 'णी' वह उपोत्तम है, उसकी *दीर्घं* च से गुरु संज्ञा भी है अतः वुञ् प्रत्यय हो गया है ॥

यहाँ से 'वुञ्' की अनुवृत्ति ५।१।१३३ तक जायेगी ॥

द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च ॥५।१।१३२॥

द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ *स०*—मनोज्ञ आदिर्येषां ते मनोज्ञादयः, बहुव्रीहिः । द्वन्द्वश्च मनोज्ञादयश्च, द्वन्द्वमनोज्ञादयस्तेभ्यः... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—वुञ्, कर्मणि, तस्य भावस्त्वतलौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थेभ्यो द्वन्द्वसंज्ञकेभ्यो मनोज्ञादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः वुञ् प्रत्ययो भवति भावकर्मणोरर्थयोः ॥ *उदा०*—द्वन्द्वसंज्ञकेभ्यः—गोपालपशुपालानां भावः कर्म वा गौपालपशुपालिका, शैष्योपाध्यायिका कौत्सकुशिकिका । मनोज्ञादिभ्यः—मानोज्ञकम्, काल्याणकम् ॥

भाषार्थः—षष्ठीसमर्थ [*द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यः*] द्वन्द्व संज्ञक तथा मनोज्ञादि प्रातिपदिकों से [च] भी भाव और कर्म अर्थों में वुञ् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—गौपालपशुपालिका (गोपाल और पशुपाल का कर्म वा भाव) शैष्योपाध्यायिका (शिष्य और उपाध्याय का कर्म वा भाव) मानोज्ञकम् (मनोज्ञ = सुन्दर का भाव वा कर्म) काल्याणकम् (कल्याण का भाव वा कर्म) ॥ *प्रत्ययस्थात्०* (७।३।४४) से गौपालपशुपालिकादि में इकारादेश हुआ है ॥

गोत्रचरणाच्छ्लाघात्याकारतदवेतेषु ॥५।१।१३३॥

गोत्रचरणात् ५।१॥ श्लाघा.....तेषु ७।३॥ *स०*—गोत्र० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः । श्लाघा च अत्याकारश्च तदवेतश्च, श्ला.....वेता-

स्तेषु·····इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—वुञ्, कर्मणि, तस्य भावस्त्वतलौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—गोत्रवाचिनश्चरणवाचिनश्च षष्ठीसमर्थात् प्रातिपदिकात् श्लाघा, अत्याकार, तदवेत इत्येतेषु विषयभूतेषु भावकर्मणोरर्थयोर्वुञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—श्लाघायाम्—गार्गिकया(३।१) श्लाघते, काठिकया श्लाघते। अत्याकारे—गार्गिकया अत्याकुरुते, काठिकयाऽत्याकुरुते। तदवेते—गार्गिकामवेतः, काठिकामवेतः ॥

भाषार्थः—षष्ठीसमर्थ [*गोत्रचरणात्*] गोत्रवाची तथा चरणवाची प्रातिपदिकों से [*श्ला·····वेतेषु*] श्लाघा, अत्याकार तदवेत विषय में भाव कर्म अर्थों से वुञ् प्रत्यय होता है ॥ श्लाघा कहते हैं प्रशंसा बड़ाई हाँकने को। अत्याकार अपमान करने को कहते हैं। तथा तदवेत, उससे युक्त को कहते हैं ॥ *उदा०*—श्लाघा में—गार्गिकया श्लाघते (गर्ग गोत्र होने के कारण श्लाघा = प्रशंसा करता है) काठिकया श्लाघते (कठ चरण होने के कारण श्लाघा करता है। अत्याकारे—गार्गिकयाऽत्याकुरुते (गर्ग गोत्र होने के कारण निन्दा करता है)। तदवेते—गार्गिकामवेतः (गर्ग गोत्रत्व को प्राप्त हुआ) ॥

होत्राभ्यश्छः ॥५।१।१३४॥

होत्राभ्यः ५।३॥ छः १।१॥ *अनु०*—कर्मणि, तस्य भावस्त्वतलौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—होत्राशब्दः ऋत्विग्विशेषवाची। होत्रा = ऋत्विग्विशेषवाचिभ्यः षष्ठीसमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः भावकर्मणोरर्थयोश्छः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अच्छावाकस्य भावः कर्म वा अच्छावाकीयम्, मित्रावरुणीयम्, ब्राह्मणाच्छंसीयम् ॥

भाषार्थः—षष्ठीसमर्थ [*होत्राभ्यः*] ऋत्विग् विशेषवाची प्रातिपदिकों से भाव और कर्म अर्थों में [*छः*] छ प्रत्यय होता है ॥ होत्रा शब्द ऋत्विग् विशेषों का वाचक है ॥

यहाँ से '*होत्राभ्यः*' की अनुवृत्ति ५।१।१३५ तक जायेगी ॥

ब्रह्मणस्त्वः ॥५।१।१३५॥

ब्रह्मणः ५।१॥ त्वः १।१॥ *अनु०*—होत्राभ्यः, कर्मणि, तस्य भावस्त्व-तलौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठी-समर्थात् होत्रावाचिनो ब्रह्मन्प्रातिपदिकात् भावकर्मणोरर्थयोस्त्वः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—ब्रह्मणो भावः कर्म वा ब्रह्मत्वम् ॥

भाषार्थः—होत्रावाची = ऋत्विग्विशेषवाची षष्ठीसमर्थ [*ब्रह्मणः*] ब्रह्मन् प्रातिपदिक से भाव और कर्म अर्थों में [*त्वः*] त्व प्रत्यय होता है ॥ ऊपर से आ रहा होत्राभ्यः पद ब्रह्मणः का विशेषण बनकर यहाँ सम्बन्धित होता है ॥

॥ इति प्रथमः पादः ॥

—:०:—

॥ अथ द्वितीयः पादः ॥

धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् ॥५।२।१॥

धान्यानाम् ६।३॥ भवने ७।१॥ क्षेत्रे ७।१॥ खञ् १।१॥ भवन्ति जायन्तेऽस्मिन्निति भवनम् ॥ निर्देशादेव षष्ठीसमर्थविभक्तिः ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थेभ्यो धान्यविशेषवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो भवनेऽभिधेये खञ् प्रत्ययो भवति तच्चेद्भवनं क्षेत्रं भवति ॥ *उदा०*—मुद्गानां भवनं क्षेत्रं = मौद्गीनम्, कौद्रवीणम्, कौलत्थीनम् ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*धान्यानाम्*] धान्य विशेषवाची प्रातिपदिकों से [*भवने*] भवन = उत्पत्ति स्थान अभिधेय हो तो [*खञ्*] खञ् प्रत्यय होता है, यदि वह उत्पत्ति स्थान [*क्षेत्रे*] खेत हो तो ॥ 'धान्यानां' निर्देश से ही षष्ठी समर्थ विभक्ति का ग्रहण है ॥ मुद्गों = मूँगों की उत्पत्ति का जो स्थान = खेत वह मौद्गीन खेत कहा जायेगा अर्थात् जिस क्षेत्र में अन्य धान्यों की अपेक्षा मूँग अच्छे हों वह विशिष्ट खेत मौद्गीन कहाता है ॥ कोद्रव कोदों तथा कुलत्थ कुल्थ के वाचक हैं, उनकी उत्पत्ति का स्थान कौद्रवीणम् कौलत्थीनम् कहा जायेगा ॥

यहाँ से "*धान्यानां भवने क्षेत्रे*" की अनुवृत्ति ५।२।४ तक जायेगी ॥

व्रीहिशाल्योर्ढक् ॥५।२।२॥

व्रीहिशाल्योः ६।२॥ ढक् १।१॥ *स०*—व्रीहि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—धान्यानां भवने क्षेत्रे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थाभ्यां धान्यविशेषवाचिभ्यां व्रीहिशालिप्रातिपदिकाभ्यां ढक् प्रत्ययो भवति भवने क्षेत्रेऽभिधेये ॥ पूर्वस्यायमपवादः ॥ उदा०—व्रीहीणां भवनं क्षेत्रं = व्रैहेयम्, शालेयम् ॥

भाषार्थः—षष्ठीसमर्थ धान्यविशेषवाची [*व्रीहिशाल्योः*] व्रीहि तथा शालि प्रातिपदिकों से [ढक्] ढक् प्रत्यय होता है, उत्पत्ति स्थान क्षेत्र वाच्य हो तो॥ पूर्व सूत्र से खञ् की प्राप्ति थी, ढक् विधान कर दिया है ॥

यवयवकषष्टिकाद्यत् ॥५।२।३॥

यवयवकषष्टिकात् ५।१॥ यत् १।१॥ *स०*—यव० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—धान्यानां भवने क्षेत्रे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थेभ्यो धान्यविशेषवाचिभ्यो यव, यवक, षष्टिक इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो भवने क्षेत्रेऽभिधेये यत् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—यवानां भवनं क्षेत्रं = यव्यम्, यवक्यम्, षष्टिक्यम् ॥

भाषार्थः—षष्ठीसमर्थ धान्यविशेषवाची [*यवयवकषष्टिकात्*] यव, यवक, तथा षष्टिक प्रातिपदिकों से उत्पत्ति स्थान क्षेत्र वाच्य हो तो [*यत्*] यत् प्रत्यय होता है ॥ यह सूत्र भी खञ् का अपवाद है ॥

यहाँ से 'यत्' की अनुवृत्ति ५।२।४ तक जायेगी ॥

विभाषा तिलमाषोमाभङ्गाणुभ्यः ॥५।२।४॥

विभाषा १।१॥ तिल''णुभ्यः ५।३॥ *स०*—तिल० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—यत्, धान्यानां भवने क्षेत्रे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थेभ्यो धान्यविशेषवाचिभ्यस्तिल, माष, उमा, भङ्गा, अणु इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो विभाषा यत् प्रत्ययो भवति भवने क्षेत्रेऽभिधेये। पक्षे खञ् भवति ॥ उदा०—तिलानां भवनं क्षेत्रं तिल्यम्, तैलीनम्। माष्यम्, माषीणम्। उम्यम्, औमीनम्। भङ्ग्यम्, भाङ्गीनम्। अणव्यम्, आणवीनम् ॥

भाषार्थः—षष्ठीसमर्थ धान्यविशेषवाची [*तिल··णुभ्यः*] तिल, माष, उमा, भङ्गा और अणु प्रातिपदिकों से [*विभाषा*] विकल्प से यत् प्रत्यय होता है, यदि इनका उत्पत्ति स्थान क्षेत्र वाच्य हो तो ॥ यह सूत्र खञ् का अपवाद है, अतः पक्ष में खञ् ही होगा ॥ जिस खेत में तिल की उपज होती है वह खेत तिल्यम् या तैलीनम् कहा जायेगा। सर्वत्र 'धान्यानां' निर्देश से षष्ठी समर्थ विभक्ति का ग्रहण है ॥

सर्वचर्मणः कृतः खखञौ ॥५।२।५॥

सर्वचर्मणः ५।१॥ कृतः १।१॥ खखञौ १।२॥ *स०*—खश्च खञ् च खखञौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थात् सर्वचर्मन् प्रातिपदिकात् कृत इत्येतस्मिन्नर्थे ख, खञ् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः ॥ *उदा०*—सर्वचर्मणा कृतः[1] सर्वचर्मीणः, सार्वचर्मीणः ॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ [*सर्वचर्मणः*] सर्वचर्मन् प्रातिपदिक से [*कृतः*] किया हुआ इस अर्थ में [*खखञौ*] ख तथा खञ् प्रत्यय होते हैं ॥ ख तथा खञ् में वृद्धि ही विशेष है। कृत अर्थ की अपेक्षा से यहाँ तृतीया समर्थ की प्राप्ति जाननी चाहिए ॥

यथामुखसम्मुखस्य दर्शनः खः ॥५।२।६॥

यथामुखसम्मुखस्य ६।१॥ दर्शनः १।१॥ खः १।१॥ *स०*—यथामुख० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थाभ्यां यथामुख, सम्मुख इत्येताभ्यां शब्दाभ्यां दर्शन इत्येतस्मिन्नर्थे खः प्रत्ययो भवति ॥ दृश्यतेऽस्मिन्निति दर्शनः= आदर्शादिरुच्यते ॥ मुखस्य सदृशम् यथामुखम् ॥ *उदा०*—यथामुखम् दर्शनः यथामुखीनः। समानस्य मुखस्य दर्शनः सम्मुखीनः ॥

भाषार्थः—षष्ठीसमर्थ [*यथा··खस्य*] यथामुख, तथा सम्मुख प्रातिपदिकों से [*दर्शनः*] दर्शन अर्थ में [*खः*] ख प्रत्यय होता है ॥ जिसमें

---

१. यहाँ सर्वशब्द का 'कृतः' के साथ सम्बन्ध है, चर्मणा सर्वः कृतः यह अर्थ अभिप्रेत है। अतः असमर्थ होने पर भी निपातन से सर्व का चर्म के साथ समास जानना चाहिए ॥

अपना प्रतिबिम्ब देखा जाता है उसे दर्शन कहते हैं अर्थात् शीशा ॥ मुख के जो समान वह यथामुख है, निपातन से यहाँ सादृश्य अर्थ में अव्ययीभाव समास हुआ है। इसी प्रकार समान के 'आन भाग का लोप भी निपातन से हुआ है। 'दर्शन' यहाँ कृत् प्रत्यय के सामर्थ्य से षष्ठी विभक्ति जाननी चाहिए ॥ *उदा०*—यथामुखीनः (जैसा मुख ठीक वैसा दिखाने वाला शीशा), सम्मुखीनः (मुख के समान ही दिखाने वाला) ॥

यहाँ से '*खः*' की अनुवृत्ति ५।२।१५ तक जायेगी ॥

तत्सर्वादेः पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रं व्याप्नोति ॥५।२।७॥

तत् २।१॥ सर्वादेः ५।१॥ पथ्य···पात्रम् २।१॥ व्याप्नोति क्रिया० ॥ *स०*—पथ्यङ्ग० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः। सर्व आदिर्यस्य स सर्वादिः, तस्मात्·····बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—खः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात् सर्वादेः पथिन्, अङ्ग, कर्म, पत्र, पात्र इत्येवमन्तात् प्रातिपदिकात् व्याप्नोतीत्येतस्मिन्नर्थे खः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—सर्वपथं व्याप्नोति सर्वपथीनो रथः, सर्वाङ्गीणस्तापः, सर्वकर्मीणः पुरुषः, सर्वपत्रीणः सारथिः, सर्वपात्रीणः ओदनः ॥

भाषार्थः— [*तत्*] द्वितीया समर्थ [*सर्वादेः*] सर्व शब्द आदि वाले [*पथ्य···पात्रम्*] पथिन्, अङ्ग, कर्म, पत्र, पात्र प्रातिपदिकों से [*व्याप्नोति*] व्याप्त होता है, इस अर्थ में ख प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*— सर्वपथीनो रथः (सभी प्रकार के मार्गों पर चलने योग्य रथ) सर्वाङ्गीण-स्तापः (सभी अङ्गों को तपाने वाला ताप अर्थात् प्रखर ताप) सर्वकर्मीणः पुरुषः (सब प्रकार के कर्मों को करने में समर्थ) सर्वपत्रीणः सारथिः (अश्व बैल गधा आदि सभी वाहनों को चलाने में समर्थ) सर्वपात्रीणः ओदनः (पतले मोटे सभी प्रकार के पात्रों में पक सकने योग्य ओदन) ॥

यहाँ से '*तत्*' की अनुवृत्ति ५।२।१७ तक जायेगी ॥

आप्रपदं प्राप्नोति ॥५।२।८॥

आप्रपदम् अ० ॥ प्राप्नोति क्रिया० ॥ *अनु०*—तत्, खः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थाद् आप्र-

पदप्रातिपदिकात् प्राप्नोतीत्येतस्मिन्नर्थे खः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*— आप्रपदं प्राप्नोति = आप्रपदीनः पटः ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*आप्रपदम्*] आप्रपद प्रातिपदिक से [*प्राप्नोति*] प्राप्त होता है इस अर्थ में ख प्रत्यय होता है ॥ प्रपद कहते हैं पैर के अग्र भाग टखने को। आङ् यहाँ मर्यादा में है सो आप्रपद कहेंगे टखने से पहले पहले भाग को। जो वस्त्र टखने तक प्राप्त हो, अर्थात् वहाँ तक नीचा हो वह आप्रपदीन वस्त्र होगा ॥

अनुपदसर्वान्नायानयं बद्धाभक्षयतिनेयेषु ॥५।२।९॥

अनु·····नयम् २।१॥ बद्धा·····नेयेषु ७।३॥ *स०*—अनुपद० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः। बद्धा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्, खः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थेभ्योऽनुपद, सर्वान्न, अयानय इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो यथासङ्ख्यं बद्धा, भक्षयति, नेय इत्येतेष्वर्थेषु खः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अनुपदं बद्धाऽनुपदीना उपानत्, सर्वान्नानि भक्षयति सर्वान्नीनो भिक्षुः, अयानयं नेयो अयानयीनः शारः ॥

भाषार्थः—द्वितीयासमर्थ [*अनु·····नयम्*] अनुपद, सर्वान्न, अयानय प्रातिपदिकों से यथासङ्ख्य करके [*बद्धा··येषु*] बद्धा, भक्षयति = खाता है, नेय = ले जाने योग्य इन अर्थों में ख प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—अनुपदीना उपानत् (पैर के साथ पूर्णतया सम्बद्ध, न बड़ी न छोटी) सर्वान्नीनो भिक्षुः (सब प्रकार के अन्न जो भी भिक्षा में प्राप्त हो जाए उसे खाने वाला) अयानयीनः शारः (शतरंज क्रीडा में दायीं-बायीं ओर से जिस स्थान पर पांसे ले जाये जाते हैं, उसे अयानय = फलक शिर कहा जाता है, वहाँ स्थित पांसा अपानयीन कहलाता है) ॥

परोवरपरम्परपुत्रपौत्रमनुभवति ॥५।२।१०॥

परोव·····पौत्रम् २।१॥ अनुभवति क्रिया० ॥ *स०*—परो० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्, खः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—परोवर, परम्पर, पुत्रपौत्र इत्येतेभ्यो द्वितीयासमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽनुभवतीत्येतस्मिन्नर्थे खः प्रत्ययो भवति ॥

उदा०—पराँश्च अवरांश्चानुभवति परोवरीणः, पराँश्च परतरांश्चानुभवति परम्परीणः, पुत्रपौत्राननुभवति पुत्रपौत्रीणः ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*परो...पौत्रम्*] परोवर, परम्पर, पुत्रपौत्र प्रातिपदिकों से [*अनुभवति*] अनुभव करता है इस अर्थ में 'ख' प्रत्यय होता है ॥ पर अवर शब्द को प्रत्यय के साथ उत्व निपातन से हो जाता है, परोवरीणः = जो पर तथा अवर का अनुभव करे। इसी प्रकार पर-परतर को परम्पर भाव निपातन से होकर परम्परीणः बनता है ॥

अवारपारात्यन्तानुकामं गामी ॥५।२।११॥

अवार......कामम् २।१॥ गामी १।१॥ *स०*—अवार० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्, खः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थेभ्योऽवारपार, अत्यन्त, अनुकाम इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो गामीत्येतस्मिन्नर्थे खः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अवारपारं गामी = अवारपारीणः, अत्यन्तं गामी = अत्यन्तीनः, अनुकामं गामी = अनुकामीनः ॥

भाषार्थः—द्वितीयासमर्थ [*अवा...कामम्*] अवारपार, अत्यन्त, अनुकाम प्रातिपदिकों से [*गामी*] गामी = भविष्य में जानेवाला अर्थ में ख प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—अवारपारीणः (एक साथ आर पार जाने वाला) अत्यन्तीनः (अत्यधिक जाने वाला) अनुकामीनः (कामना = इच्छानुकूल जितना चाहे जाने वाला) ॥

समांसमां विजायते ॥५।२।१२॥

समांसमाम् २।१॥ विजायते क्रिया० ॥ *अनु०*—तत्, खः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थात्समांसमां शब्दाद्विजायतेऽर्थे खः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—समांसमां विजायत इति समांसमीना गौः ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*समांसमाम्*] समांसमां शब्द से [*विजायते*] बच्चा देती है इस अर्थ में ख प्रत्यय होता है ॥ जो गाय प्रतिवर्ष बच्चा देती है वह समांसमीना गौः कहायेगी ॥

यहाँ से '*विजायते*' की अनुवृत्ति ५।२।१३ तक जायेगी ॥

अद्यश्वीनावष्टब्धे ॥५।२।१३॥

अद्यश्वीन लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ अवष्टब्धे ७।१॥ *अनु०*—विजायते तत्, खः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अद्यश्वीन इति निपात्यतेऽवष्टब्धे = आसन्ने विजने = प्रसवेऽर्थे । अद्यश्वस्-शब्दात् खप्रत्ययः, टिलोपश्च निपात्यते ॥ *उदा०*—अद्य वा श्वो वा विजायते, अद्यश्वीना गौः, अद्यश्वीना वडवा ।

भाषार्थः—[*अद्यश्वीन*] अद्यश्वीन यह शब्द निपातन किया जाता है [*अवष्टब्धे*] आसन्न = निकट प्रसव को कहना हो तो ॥ अद्यश्वस् शब्द से ख प्रत्यय तथा टि भाग (अस्) का लोप निपातन से किया जाता है । जो गाय आज या कल में ब्याने वाली हो वह अद्यश्वीना गौ कहायेगी ॥

आगवीनः ॥५।२।१४॥

आगवीनः १।१॥ *अनु०*—खः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—आङ्पूर्वात् गोशब्दात् कर्मकारिणि वाच्ये खः प्रत्ययो निपात्यते ॥ आगवीनः कर्मकरः ॥

भाषार्थः—[*आगवीनः*] आगवीन शब्द आङ् पूर्वक गो शब्द से कर्मकर वाच्य हो तो ख प्रत्ययान्त निपातन किया जाता है ॥ जिस कर्मकर को गौ देकर नौकर रखा हो वह जब तक वापस गौ न लौटाये तब तक कार्य करने वाला कर्मकर आगवीन कहाता है ॥

अनुग्वलंगामी ॥५।२।१५॥

अनुगु अ० ॥ अलंगामी १।१॥ *अनु०*—तत्, खः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीया समर्थाद् अनुगुप्रातिपदिकादलंगामीत्यर्थे खः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अनुगु अलं पर्याप्तं गच्छति अनुगवीनो गोपालकः ॥

भाषार्थः—द्वितीयासमर्थ [*अनुगु*] अनुगु प्रातिपदिक से [*अलंगामी*] पर्याप्त जाता है, इस अर्थ में ख प्रत्यय होता है ॥ गोः पश्चात् = अनुगु, गाय के जो पीछे पीछे चले, वह अनुगु होता है, इस प्रकार अनुगवीन

गोपालक को कहेंगे ॥ *ओर्गुणः* से गुण तथा *वान्तो यि०* (६।१।७६) से वान्तादेश होकर अनुगवीन बनेगा ॥

यहाँ से '*अलंगामी*' की अनुवृत्ति ५।२।१७ तक जायेगी ॥

अध्वनो यत्खौ ॥५।२।१६॥

अध्वनः ५।१॥ यत्खौ १।२॥ *स०*—यत् च खश्च, यत्खौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अलंगामी, तत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थादध्वन्प्रातिपदिकाद् अलंगामी-त्येतस्मिन्नर्थे यत्खौ प्रत्ययौ भवतः ॥ *उदा०*—अध्वानमलङ्गामी अध्वन्यः, अध्वनीनः ॥

भाषार्थः—द्वितीयासमर्थ [*अध्वनः*] अध्वन् प्रातिपदिक से अलंगामी इस अर्थ में [*यत्खौ*] यत् तथा ख प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*यत्खौ*' की अनुवृत्ति ५।२।१७ तक जायेगी ॥

अभ्यमित्राच्छ च ॥५।२।१७॥

अभ्यमित्रात् ५।१॥ छ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ *अनु०*—यत्खौ, अलंगामी, तत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थादभ्यमित्रप्रातिपदिकाद् अलंगामीत्येतस्मिन्नर्थे छः प्रत्ययो भवति, यत्खौ च ॥ *उदा०*—अभ्यमित्रमलंगामी = अभ्यमित्रीयः, अभ्यमित्र्यः, अभ्यमित्रीणः ॥

भाषार्थः—द्वितीया समर्थ [*अभ्यमित्रात्*] अभ्यमित्र प्रातिपदिक से अलंगामी इस अर्थ में [*छ*] छ [*च*] तथा यत् और ख प्रत्यय होते हैं ॥ *उदा०*—अभ्यमित्रीयः (शत्रु के सामने समर्थ होकर जाने वाला अर्थात् शत्रु को हराने में समर्थ) अभ्यमित्र्यः, अभ्यमित्रीणः ॥

गोष्ठात् खञ् भूतपूर्वे ॥५।२।१८॥

गोष्ठात् ५।१॥ खञ् १।१॥ भूतपूर्वे ७।१॥ *अनु०*—तद्धिताः ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—भूतपूर्वेऽर्थे वर्त्तमानात् गोष्ठप्रातिपदिकात् खञ् प्रत्ययो भवति ॥ गावस्तिष्ठन्त्यत्र गोष्ठम् ॥ *उदा०*—गोष्ठो भूतपूर्वः गौष्ठीनो देशः ॥

भाषार्थः—[*भूतपूर्वे*] भूतपूर्व अर्थ में वर्त्तमान [*गोष्ठात्*] गोष्ठ प्रातिपदिक से [*खञ्*] खञ् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—गौष्ठीनो देशः (जहाँ पहले गायें बैठती थीं वह स्थान) ॥

यहाँ से '*खञ्*' की अनुवृत्ति ५।२।२३ तक जायेगी ॥

अश्वस्यैकाहगमः ॥५।२।१९॥

अश्वस्य ६।१॥ एकाहगमः १।१॥ एकाहेन गम्यत इत्येकाहगमः ॥ *अनु०*—खञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थादश्वप्रातिपदिकादेकाहगम इत्येतस्मिन्नर्थे खञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अश्वस्यैकाहगमोऽध्वा = आश्वीनः ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*अश्वस्य*] अश्व प्रातिपदिक से [*एकाहगमः*] एकाहगम इस अर्थ में खञ् प्रत्यय होता है॥ एक दिन में जितना जाया जा सके, उतना मार्ग एकाहगम कहलाता है ॥ यहाँ अश्वस्य निर्देश से ही षष्ठी समर्थ विभक्ति का ग्रहण है ॥ पूर्व काल में आश्वीन शब्द दूरी को मापने के लिए प्रयुक्त होता था ॥

शालीनकौपीने अधृष्टाकार्ययोः ॥५।२।२०॥

शालीनकौपीने १।२॥ अधृष्टाकार्ययोः ७।२॥ *स०*—उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—खञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—शालीन, कौपीन इत्येतौ शब्दौ निपात्येते यथासङ्ख्यमधृष्टाकार्ययोर्वाच्ययोः । शालाप्रवेशन, कूपावतार आभ्यां शब्दाभ्यां खञ् प्रत्यय उत्तरपदलोपश्च निपात्यते ॥ *उदा०*—शालाप्रवेशनमर्हति = शालीनो भीरुः । कूपावतारमर्हति कौपीनं पापम् ॥

भाषार्थः—[*शालीनकौपीने*] शालीन, तथा कौपीन शब्द यथासङ्ख्य करके, [*अधृष्टाकार्ययोः*] अधृष्ट, और अकार्य वाच्य हों तो निपातन किये जाते हैं ॥ जो धृष्ट नहीं वह अधृष्ट अर्थात् भीरु, जो करने योग्य न हो वह अकार्य होगा, अर्थात् पाप, ये यथाक्रम से वाच्य हों तो ॥ शालीन शब्द में शालाप्रवेशन शब्द से खञ् प्रत्यय तथा उत्तरपद (प्रवेशन) का लोप निपातन है। इसी प्रकार 'कूपावतार' शब्द से भी खञ् प्रत्यय

तथा उत्तरपद (अवतार) का लोप निपातन है ॥ *उदा०*—शालीनः भीरुः, कौपीनं पापम् ॥

व्रातेन जीवति ॥५।२।२१॥

व्रातेन ३।१॥ जीवति क्रिया० ॥ *अनु०*—खञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थाद् व्रातप्रातिपदिकाज्जीवतीत्येतस्मिन्नर्थे खञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—व्रातेन जीवति व्रातीनः ॥

भाषार्थः—तृतीयासमर्थ [*व्रातेन*] व्रात प्रातिपदिक से [*जीवति*] जीता है, इस अर्थ में खञ् प्रत्यय होता है ॥ यहाँ व्रातेन निर्देश से ही तृतीया समर्थ विभक्ति का ग्रहण है ॥ भिन्न भिन्न जाति और अनियत वृत्ति वाले मनुष्य जो कि शारीरिक परिश्रम आदि करके जीविका कमाते हैं, उन (पहाड़ी) मनुष्यों के समूह को व्रात कहते हैं, उनका जो जीविकोपार्जन का काम है वह भी व्रात कहाता है, उस व्रात कर्म को करके जो जीते हैं वे व्रातीनः कहायेंगे ॥

साप्तपदीनं सख्यम् ॥५।२।२२॥

साप्तपदीनम् १।१॥ सख्यम् १।१॥ *अनु०*—खञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—साप्तपदीनमिति निपात्यते सख्ये वाच्ये सप्तपदशब्दात् खञ् प्रत्ययो निपात्यते ॥ *उदा०*—सप्तभिः पदैरवाप्यते साप्तपदीनम्, सख्यं जनाः साप्तपदीनमाहुः ॥

भाषार्थः—[*साप्तपदीनम्*] 'साप्तपदीनम्' यह निपातन किया जाता है [*सख्यम्*] मित्रता वाच्य हो तो। सप्तपद शब्द से खञ् प्रत्यय का निपातन है ॥ शास्त्रीयमर्यादानुसार विवाह में सप्तपदी क्रिया से मित्र भाव की प्राप्ति कही गई है, उसी प्रकार थोड़ी देर के सहवास से जो मित्रता वह साप्तपदीन कहाती है।

हैयङ्गवीनं संज्ञायाम् ॥५।२।२३॥

हैयङ्गवीनम् १।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ *अनु०*—खञ्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—संज्ञायां विषये हैयङ्-

वीनमिति निपात्यते । ह्योगोदोहशब्दस्य स्थाने हियङ्गु आदेशः खञ् प्रत्ययश्च तस्य विकारेऽर्थे निपात्यते ॥ ह्योगोदोहस्य विकारः हैयङ्गवीनम् । घृतस्य संज्ञा एषा ॥

भाषार्थः—[*संज्ञायाम्*] संज्ञायाम् विषय में [*हैयङ्गवीनम्*] हैयङ्गवीन यह शब्द निपातन किया जाता है । ह्योगोदोह शब्द के स्थान में हियङ्गु आदेश, तथा उसका विकार अर्थ में खञ् प्रत्यय निपातन से किया जाता है ॥ ह्योगोदोह का अर्थ है कल का जो दुहा, उसी कल के दुहे दूध को जमाकर मठा बिलोकर मक्खन निकाल कर घी बनाना सम्भव है, अतः हैयङ्गवीन घी को कहते हैं ॥

तस्य पाकमूले पील्वादिकर्णादिभ्यः कुणब्जाहचौ ॥५।२।२४॥

तस्य ६।१॥ पाकमूले ७।१॥ पील्वादिकर्णादिभ्यः ५।३॥ कुणब्जाहचौ १।२॥ *स०*—पाकश्च मूलञ्च, पाकमूलम्, तस्मिन्˙˙ समाहारो द्वन्द्वः । पीलु आदिर्येषां ते पील्वादयः कर्ण आदिर्येषां ते कर्णादयः, बहुव्रीहिः ॥ पील्वादयश्च कर्णादयश्च, पील्वादिकर्णादयस्तेभ्यः˙˙˙˙˙ इतरेतरद्वन्द्वः ॥ कुणब्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तस्येति षष्ठीसमर्थेभ्यः पील्वादिभ्यः कर्णादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यो यथासङ्ख्यं पाकमूलयोरर्थयोः कुणप्, जाहच् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः ॥ *उदा०*—पीलूनां पाकः पीलुकुणः, कर्कन्धुकुणः । कर्णादिभ्यः—कर्णस्य मूलं कर्णजाहम्, अक्षिजाहम् ॥

भाषार्थः—[*तस्य*] षष्ठीसमर्थ [*पील्वा˙˙˙भ्यः*] पील्वादि, तथा कर्णादि प्रातिपदिकों से यथासङ्ख्य करके [*पाकमूले*] पाक तथा मूल अर्थ हो तो [*कुणब्जाहचौ*] कुणप् तथा जाहच् प्रत्यय होते हैं ॥ प्रत्यय भी यथासङ्ख्य करके होंगे, अतः पील्वादियों से पाक अर्थ में कुणप्, तथा कर्णादियों से मूल अर्थ में जाहच् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—पीलुकुणः (पीलु फलों का पकना) कर्कन्धुकुणः (बेरों का पकना) कर्णजाहम् (कान के नीचे का भाग) अक्षिजाहम् (आँख का नासिका की ओर का मूल भाग) ॥

यहाँ से '*तस्य मूले*' की अनुवृत्ति ५।२।२५ जायेगी ॥

पक्षात्तिः ॥५।२।२५॥

पक्षात् ५।१॥ तिः १।१॥ *अनु०*—तस्य मूले, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थात् पक्षप्रातिपदिकात् मूलेऽभिधेये तिः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—पक्षस्य मूलं = पक्षतिः प्रतिपत् ॥

भाषार्थः—षष्ठीसमर्थ [*पक्षात्*] पक्ष प्रातिपदिक से मूल वाच्य हो तो [*तिः*] ति प्रत्यय होता है ॥ इस सूत्र में ऊपर से केवल '*मूले*' की अनुवृत्ति आती है, पाके की नहीं ॥ *उदा०*—पक्षतिः प्रतिपत् (प्रत्येक पक्ष की पहली तिथि) ॥

तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ ॥५।२।२६॥

तेन ३।१॥ वित्तः १।१॥ चुञ्चुप्चणपौ १।२॥ *स०*—चुञ्चु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थात् प्रातिपदिकात् वित्त इत्येतस्मिन्नर्थे चुञ्चुप् चणप् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः ॥ *उदा०*—विद्यया वित्तः विद्याचुञ्चुः, विद्याचणः । केशैः वित्तः = केशचुञ्चुः, केशचणः ॥

भाषार्थः—[*तेन*] तृतीयासमर्थ प्रातिपदिक से [*वित्तः*] वित्त = प्रतीत = ज्ञात इस अर्थ में [*चुञ्चुप्चणपौ*] चुञ्चुप् और चणप् प्रत्यय होते हैं ॥ *उदा०*—विद्याचुञ्चुः (विद्या के द्वारा ज्ञात पुरुष) विद्याचणः, केशचुञ्चुः (केशविन्यास से ज्ञात पुरुष) केशचणः ॥

विनञ्भ्यां नानाञौ नसह ॥५।२।२७॥

विनञ्भ्याम् ५।२॥ नानाञौ १।२॥ नसह अ० ॥ *स०*—उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—वि, नञ् इत्येताभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां यथासङ्ख्यं ना, नाञ् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः नसह = पृथग्भावे इत्येतस्मिन्नर्थे ॥ *उदा०*—विना, नाना ॥

भाषार्थः—[*विनञ्भ्याम्*] वि, नञ् इन प्रातिपदिकों से [*नसह*] नसह = साथ नहीं = पृथग्भाव अर्थ में यथासङ्ख्य करके [*नानाञौ*] ना

तथा नाञ् प्रत्यय होते हैं ॥ प्रथम भाग पृ० ७०६ परि० १।१।३७ में सिद्धि देखें ॥

वेः शालच्छङ्कटचौ ॥५।२।२८॥

वेः ५।१॥ शालच्छङ्कटचौ १।२॥ *स०*—शाल० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—विप्रातिपदिकात् शालच् शङ्कटच् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः ॥ *उदा०*—विगते शृङ्गे विशाले, विशङ्कटे ॥

भाषार्थः—[*वेः*] वि उपसर्ग प्रातिपदिक से [*शालच्छङ्कटचौ*] शालच् तथा शङ्कटच् प्रत्यय होते हैं ॥ *उदा०*—विशाले शृङ्गे (दो बड़े सींग) विशङ्कटे शृङ्गे (दो बड़े सींग) ॥ यहाँ वि उपसर्ग गत अर्थ को साथ लेकर प्रत्यय को उत्पन्न करता है, क्योंकि उपसर्ग धात्वर्थ के विशेषक होते हैं ।; जहाँ धात्वर्थ साक्षात् नहीं होता वहाँ वह उपसर्ग के ही अन्तर्गत माना जाता है । ऐसा ही अगले सूत्रों में भी समझें ॥

यहाँ से 'वेः' की अनुवृत्ति ५।२।२९ तक जायेगी ॥

संप्रोदश्च कटच् ॥५।२।२९॥

संप्रोदः ५।१॥ च अ० ॥ कटच् १।१॥ *स०*—सम् च प्रश्च उद् च, संप्रोद्, तस्मात्......समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—वेः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सम्, प्र, उत्, वि इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः कटच् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—सङ्कटम्, प्रकटम्, उत्कटम्, विकटम् ॥

भाषार्थः—[*संप्रोदः*] सम्, प्र, उत्, वि इन उपसर्ग प्रातिपदिकों से [कटच्] कटच् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—सङ्कटम् (सम्मुख प्राप्त, दुःख आदि) प्रकटम् (विशेष रूप से प्रकाशित) उत्कटम् (अच्छे प्रकार प्राप्त = श्रेष्ठ) विकटम् (विशेष रूप से कठिन) । सम् + कटच् यहाँ म् को अनुस्वार (८।४।४४) तथा परसवर्ण (८।४।५७) होकर सङ्कटम् बना है ॥

यहाँ से 'कटच्' की अनुवृत्ति ५।२।३० तक जायेगी ॥

अवात् कुटारच्च ॥५।२।३०॥

अवात् ५।१॥ कुटारच् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—कटच्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अवप्रातिपदिकात् कुटारच् प्रत्ययो भवति कटच् च ॥ *उदा०*—अवकुटारम् अवकटम् ॥

भाषार्थः—[*अवात्*] अव उपसर्ग प्रातिपदिक से [*कुटारच्*] कुटारच् [च] तथा कटच् प्रत्यय होते हैं ॥ *उदा०*—अवकुटारम् (निम्न भू भाग) अवकटम् ॥

यहाँ से '*अवात्*' की अनुवृत्ति ५।२।३१ तक जायेगी ॥

नते नासिकायाः संज्ञायां टीटञ्नाटज्भ्रटचः ॥५।२।३१॥

नते ७।१॥ नासिकायाः ६।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ टीटञ्नाटज्भ्रटचः १।३॥ *स०*—टीट० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अवात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अवशब्दात् नासिकायाः सम्बन्धिनि नतेऽभिधेये संज्ञायां विषये टीटञ्, नाटच्, भ्रटच् इत्येते प्रत्यया भवन्ति ॥ *उदा०*—नासिकाया नतम् अवटीटम्, अवनाटम्, अवभ्रटम् ॥

भाषार्थः—अव उपसर्ग प्रातिपदिक से [*नासिकायाः*] नासिका सम्बन्धी [*नते*] नत = झुकाव को कहना हो तो [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में [*टीट-* ·· *चः*] टीटञ्, नाटच् तथा भ्रटच् प्रत्यय होते हैं ॥ *उदा०*—अवटीटम् (झुकी हुई नाक) अवनाटम्, अवभ्रटम्। झुकी हुई नासिका के संयोग से वह पुरुष भी अवटीटः आदि शब्दों से कहा जायेगा ॥

यहाँ से '*नते नासिकाया.*' की अनुवृत्ति ५।२।३३ तक तथा '*संज्ञायां*' की ५।२।३४ तक जायेगी ॥

नेर्बिडज्बिरीसचौ ॥५।२।३२॥

नेः ५।१॥ बिडज्बिरीसचौ १।२॥ *स०*—बिड० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—नते नासिकायाः संज्ञायाम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—निशब्दात् नासिकाया नतेऽभिधेये संज्ञायां विषये बिडच्, बिरीसच् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः ॥ *उदा०*—निबिडम् निबिरीसम् ॥

भाषार्थः—[*नेः*] नि उपसर्ग प्रातिपदिक से नासिका का झुकाव अभिधेय हो तो संज्ञा विषय में [*बिडज्बिरीसचौ*] बिडच्, तथा बिरीसच् प्रत्यय होते हैं ॥*उदा०*—निबिडम् (झुकी हुई नासिका अथवा झुकी हुई नासिका वाला पुरुष) निबिरीसम् (पूर्ववत् यहाँ भी जानें) ॥

यहाँ से '*नेः*' की अनुवृत्ति ५।२।३३ तक जायेगी ॥

इनच्पिटच्चिकचि च ॥५।२।३३॥

इनचपिटच् १।१॥ चिकचि लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः॥ च अ० ॥ *स०*—इनच्० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ चिकचि इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—नेः, नते नासिकायाः संज्ञायाम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—नासिकाया नतेऽभिधेये निशब्दाद् इनच् पिटच् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतस्तत्सन्नियोगेन च यथासङ्ख्यं निशब्दस्य चिक, चि इत्येतौ आदेशौ भवतः ॥ *उदा०*—चिकिनः चिपिटः ॥

भाषार्थः—नासिका का झुकाव अभिधेय हो तो नि प्रातिपदिक से [*इनच्पिटच्*] इनच्, पिटच् ये आदेश होते हैं संज्ञा विषय में, तथा नि शब्द को यथासङ्ख्य करके प्रत्यय के साथ साथ [*चिकचि*] चिक तथा चि आदेश [*च*] भी हो जाते हैं। इनच् परे रहते चिक, पिटच् परे रहते चि आदेश होगा ॥

नि + इनच् = चिक + इनच् = यस्येति लोप होकर, चिक् + इन = चिकिनः (झुकी हुई नासिका अथवा पुरुष) बना। नि + पिटच् = चि + पिट = चिपिटः बन गया ॥

उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः ॥५।२।३४॥

उपाधिभ्याम् ५।२॥ त्यकन् १।१॥ आसन्नारूढयोः ७।२॥ *स०*—उपा० आसन्न० इत्युभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—संज्ञायाम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—उप, अधि इत्येताभ्यां शब्दाभ्यां यथासङ्ख्यम् आसन्न, आरूढ इत्येतयोरर्थयोः वर्त्तमानाभ्यां त्यकन् प्रत्ययो भवति संज्ञायां विषये ॥ *उदा०*—पर्वतस्यासन्नमुपत्यका, तस्यैवारूढमधित्यका ॥

भाषार्थः—[*उपाधिभ्याम्*] उप और अधि उपसर्ग शब्दों से यथासङ्ख्य करके यदि वह [*आसन्नारूढयोः*] आसन्न, और आरूढ अर्थों में वर्त्तमान हों तो, संज्ञा विषय में [*त्यकन्*] त्यकन् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—पर्वतस्यासन्नमुपत्यका (पहाड़ की तराई) अधित्यका (पहाड़ का पठार) ॥

कर्मणि घटोऽठच् ॥५।२।३५॥

कर्मणि ७।१॥ घटः १।१॥ अठच् १।१॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—निर्देशादेव सप्तमीसमर्थविभक्तिः। कर्मन्प्रातिपदिकात् सप्तमीसमर्थात् घट इत्येतस्मिन्नर्थेऽठच् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—कर्मणि घटते कर्मठः पुरुषः ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*कर्मणि*] कर्मन् प्रातिपदिक से [*घटः*] घट = चेष्टा करने वाला इस अर्थ में [*अठच्*] अठच् प्रत्यय होता है ॥ यहाँ कर्मणि निर्देश से ही समर्थ विभक्ति का ग्रहण है ॥ *उदा०*—कर्मठः पुरुषः (सदा कर्म शील = पुरुषार्थी पुरुष) ॥

तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच् ॥५।२।३६॥

तत् १।१॥ अस्य ६।१॥ संजातम् १।१॥ तारकादिभ्यः ५।३॥ इतच् १।१॥ *स०*—तारक आदिर्येषां ते तारकादयस्तेभ्यः ''' बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—संजातसमानाधिकरणेभ्यः प्रथमासमर्थेभ्यस्तारकादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः षष्ठ्यर्थे इतच् प्रत्ययो भवति। *उदा०*—तारकाः संजाता अस्य तारकितं नभः, पुष्पितो वृक्षः, पण्डा संजाताऽस्य पण्डितः, मुद्रा सञ्जाताऽस्य मुद्रितं पुस्तकम् ॥

भाषार्थः—[*तत्*] प्रथमासमर्थ [*संजातम्*] संजात समानाधिकरण [*तारकादिभ्यः*] तारकादि प्रातिपदिकों से [*अस्य*] षष्ठ्यर्थ में [*इतच्*] इतच् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—तारकितं नभः (ताराओं से शोभित आकाश) पुष्पितो वृक्षः (पुष्पों से युक्त वृक्ष), पण्डितः, मुद्रितं पुस्तकम् ॥

यहाँ से '*तदस्य*' की अनुवृत्ति ५।२।४४ तक जायेगी ॥

प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः ॥५।२।३७॥

प्रमाणे ७।१॥ द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः १।३॥ *स०*—द्वयसजित्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तदस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रमाणसमानाधिकरणात् प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकात् षष्ठ्यर्थे द्वयसच्, दघ्नच्, मात्रच् इत्येते प्रत्यया भवन्ति ॥ *उदा०*—ऊरुः प्रमाणमस्य ऊरुद्वयसम्, ऊरुदघ्नम्, ऊरुमात्रम्, जानुद्वयसम्, जानुदघ्नम्, जानुमात्रम् ॥

भाषार्थः—प्रथमासमर्थ [*प्रमाणे*] प्रमाण समानाधिकरणवाची प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में [*द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः*] द्वयसच्, दघ्नच् और मात्रच् प्रत्यय होते हैं ॥ प्रमाण शब्द प्रायः लम्बाई के नापने में प्रयुक्त होता है। परन्तु यहाँ द्वयसच् और दघ्नच् प्रत्यय ऊँचाई नापने में व्यवहृत होते हैं, और मात्रच् प्रत्यय ऊँचाई लम्बाई सभी प्रकार के नाप के लिए प्रयुक्त होता है ॥ *उदा०*—ऊरुद्वयसम् जलम् (जंघा तक गहरा जल) ऊरुदघ्नम्, ऊरुमात्रम्, जानुद्वयसम् (घुटने तक गहरा जल) जानुदघ्नम्, जानुमात्रम् ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ५।२।३८ तक जायेगी ॥

पुरुषहस्तिभ्यामण् च ॥५।२।३८॥

पुरुषहस्तिभ्याम् ५।२॥ अण् १।१॥ च अ० ॥ *स०*—पुरुषश्च हस्ती, पुरुषहस्तिनौ, ताभ्यां……इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्मात्रचः, तदस्य तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः परश्च ॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थाभ्यां पुरुष, हस्तिन् इत्येताभ्यां प्रमाणसमानाधिकरणाभ्यां प्रातिपदिकाभ्यामस्येति षष्ठ्यर्थेऽण् प्रत्ययो भवति द्वयसच्, दघ्नच्, मात्रच् च ॥ *उदा०*—पुरुषः प्रमाणमस्य पौरुषम्, पुरुषद्वयसम्, पुरुषदघ्नम्, पुरुषमात्रम्। हास्तिनम्, हस्तिद्वयसम्, हस्तिदघ्नम्, हस्तिमात्रम् ॥

भाषार्थः—प्रथमासमर्थ प्रमाणसमानाधिकरणवाची [*पुरुषहस्तिभ्याम्*] पुरुष तथा हस्तिन् प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में [*अण्*] अण् [*च*] तथा द्वयसच्, दघ्नच्, और मात्रच् प्रत्यय होते हैं ॥ *उदा०*—पौरुषम् (पुरुष की ऊँचाई परिमाण वाला = जिसमें पुरुष डूब जाए)। हास्तिनम् (हाथी की ऊँचाई परिमाण वाला जल = जिसमें हाथी डूब जाए) ॥

यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् ॥५।२।३९॥

यत्तदेतेभ्यः ५।३॥ परिमाणे ७।१॥ वतुप् १।१॥ *स०*—यद् च तद् च एतद् च, यत्तदेते, तेभ्यः…इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तदस्य, तद्धिताः ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थेभ्यो यद्, तद्, एतद्, इत्येतेभ्यः परिमाणसमानाधिकरणेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः षष्ठ्यर्थे वतुप् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—यत् परिमाणमस्य यावान्, तावान्, एतावान् ॥

भाषार्थः—प्रथमासमर्थ [*परिमाणे*] परिमाणसमानाधिकरणवाची [*यत्तदेतेभ्यः*] यद्, तद् तथा एतद् प्रातिपदिकों से षष्ठ्यर्थ में [*वतुप्*] वतुप् प्रत्यय होता है ॥ जिसको चारों तरफ से नापा जाय जैसे काठ के बर्त्तन में अन्नादि नापा जाता है, वह परिमाण कहाता[1] है ॥ प्रथम भाग पृ० ६९५ परि० १।१।२२ में की हुई तावत्कृत्वः की सिद्धि के समान यहाँ भी यद् शब्द से यावत् बनाकर आगे सु लाये। पुनः चितवान् की सिद्धि के समान ही नुम् (७।१।७०) संयोगान्तलोप 'दीर्घ' तथा हल्ङ्यादिलोप करके यावान् बना, इसी प्रकार तावान् एतावान् में भी जानें ॥

यहाँ से '*वतुप्*' की अनुवृत्ति ५।२।४१ तक जायेगी ॥

किमिदम्भ्यां वो घः ॥५।२।४०॥

किमिदम्भ्याम् ५।२॥ वः ६।१॥ घः १।१॥ *स०*—किम् च इदम् च किमिदमौ, ताभ्यां……इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तदस्य, परिमाणे, वतुप्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—किम्, इदम् प्रातिपदिकाभ्यां प्रथमासमर्थाभ्यां परिमाणे वर्तमानाभ्याम् अस्य परिमाणम् इत्येतस्मिन्नर्थे वतुप् प्रत्ययो भवति तस्य च वकारस्य घकारादेशः ॥ *उदा०*—कियान्, इयान् ॥

---

१. तराजू से तौले गये परिमाण के लिए संस्कृत में उन्मान शब्द का व्यवहार होता है। परिमाण शब्द सभी प्रकार के ऊँचाई, लम्बाई, भार आदि माप के लिए भी प्रयुक्त होता है ॥

भाषार्थः—परिमाण में वर्तमान प्रथमासमर्थ [*किमिदम्भ्याम्*] किम् और इदम् प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में वतुप् प्रत्यय होता है और उसके [*वः*] वकार को [*घः*] घकार आदेश होता है ॥

यहाँ से 'वो घः' की अनुवृत्ति ५।२।४१ तक जायेगी ॥

किमः सङ्ख्यापरिमाणे डति च ॥५।२।४१॥

किमः ५।१॥ सङ्ख्यापरिमाणे ७।१॥ डति लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ *स०*—सङ्ख्यायाः परिमाणं सङ्ख्यापरिमाणं, तस्मिन्...... षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—वतुप्, वो घः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सङ्ख्यापरिमाणे वर्त्तमानात् प्रथमासमर्थात् किम्प्रातिपदिकात् षष्ठ्यर्थे डतिप्रत्ययो भवति वतुप् च, वतुपो वकारस्य घादेशो भवति ॥ *उदा०*—का सङ्ख्या परिमाणमेषां ब्राह्मणानां कति ब्राह्मणाः, कियन्तो ब्राह्मणाः ॥

भाषार्थः—[*सङ्ख्यापरिमाणे*] सङ्ख्या के परिमाण अर्थ में वर्त्तमान जो प्रथमासमर्थ [*किमः*] किम् प्रातिपदिक उससे षष्ठ्यर्थ में [*डति*] डति [*च*] तथा वतुप् प्रत्यय होते हैं, उस वतुप् के वकार के स्थान में घ आदेश भी हो जाता है ॥ कति की सिद्धि भाग १ पृ० ६६५ परि० १।१।२२ में देखें ॥

सङ्ख्याया अवयवे तयप् ॥५।२।४२॥

सङ्ख्यायाः ५।१॥ अवयवे ७।१॥ तयप् १।१॥ *अनु०*—तदस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अवयवेऽर्थे वर्त्तमानात् प्रथमासमर्थात् सङ्ख्याप्रातिपदिकात् षष्ठ्यर्थे तयप् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—पञ्च अवयवा अस्य = पञ्चतयम्, दशतयम्, चतुष्टयम् चतुष्टयी ॥

भाषार्थः—[*अवयवे*] अवयव अर्थ में वर्त्तमान प्रथमासमर्थ [*सङ्ख्यायाः*] सङ्ख्यावाची प्रातिपदिक से षष्ठ्यर्थ में [*तयप्*] तयप् प्रत्यय होता है ॥ चतुर्+तयप् = चतुः तय, यहाँ *इदुदुपधस्य चा०* (८।३।४१) से विसर्जनीय को षत्व होकर चतुष् तय ष्टुत्व होकर चतुष्टयम् बना, *टिड्ढाणञ्०* (४।१।१५) से ङीप् होकर चतुष्टयी बनेगा ॥ *उदा०*—

पञ्चतयम् (पाँच अवयवों वाला) दशतयम्, दशतयी (दश मण्डल रूप अवयववाली ऋक्संहिता) चतुष्टयम् चतुष्टयी ॥

द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा ॥५।२।४३॥

द्वित्रिभ्याम् ५।२॥ तयस्य ६।१॥ अयच् १।१॥ वा अ० ॥ *स०*—द्वित्रि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तदस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थाभ्यां द्वित्रिभ्यामुत्तरस्य षष्ठ्यर्थे विहितस्य तयपः स्थाने वाऽयच् आदेशो भवति ॥ *उदा०*—द्वौ अवयवौ अस्य द्वयम्, द्वितयम्। त्रयम् त्रितयम् ॥

भाषार्थः—प्रथमासमर्थ [*द्वित्रिभ्याम्*] द्वि तथा त्रि शब्द से उत्तर षष्ठ्यर्थ में विहित [*तयस्य*] तयप् प्रत्यय के स्थान में [*वा*] विकल्प से [*अयच्*] अयच् आदेश होता है ॥ पूर्व सूत्र से द्वि, त्रि के सङ्ख्यावाची होने से तयप् प्रत्यय प्राप्त है, उसी के स्थान में विकल्प से अयच् विधान है ॥ द्वि तयप् = द्वि अयच्, यस्येति लोप होकर द्वयम् रहा, पक्ष में द्वितयम् होगा ॥

यहाँ से '*तयस्यायच्*' की अनुवृत्ति ५।२।४४ तक जायेगी ॥

उभादुदात्तो नित्यम् ॥५।२।४४॥

उभात् ५।१॥ उदात्तः १।१॥ नित्यम् १।१॥ *अनु०*—तयस्यायच्, तदस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थाद् उभशब्दादुत्तरस्य नित्यं तयपः स्थानेऽयजादेशो भवति स चोदात्तः षष्ठ्यर्थे ॥ *उदा०*—उ॒भयो॑ मणिः, उ॒भये॑ देवमनुष्याः ॥ यद्यपि उभशब्दस्य न पारिभाषिकी संख्यासंज्ञा तथापि लोके द्व्यर्थे प्रयोगात् लौकिकी संख्यासंज्ञा ज्ञेया ॥

भाषार्थः—प्रथमासमर्थ [*उभात्*] उभ प्रातिपदिक से उत्तर [*नित्यम्*] नित्य ही तयप् के स्थान में षष्ठ्यर्थ में अयच् आदेश होता है [*उदात्तः*] और वह अयच् आद्युदात्त अर्थात् 'अ' उदात्त भी होता है ॥ यद्यपि उभ शब्द की शास्त्र में संख्या संज्ञा नहीं कही पुनरपि लोक में द्विसंख्या के अर्थ में प्रयुक्त होने से अन्य एक द्वि आदि के समान लौकिक (स्वाभाविक) संख्यासंज्ञा जाननी चाहिए। अयच् के चित् होने से

चितः (६।१।१५७) से अन्तोदात्तत्व प्राप्त होता है, परन्तु यहाँ 'उदात्त' कहने से अयच् आद्युदात्त होता है क्योंकि अयच् में दो अच् हैं 'अ' और य क अकार। य का अकार चित् होने से अन्तोदात्त हो ही जाता पुनः उदात्त कहने से दूसरा जो आदि का 'अ' अच् है वह उदात्त होता है॥ उभ अयच्। यस्येति लोप होकर उभ् अयं = उभयं॥

तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताड्डः ॥५।२।४५॥

तद् १।१॥ अस्मिन् ७।१॥ अधिकम् १।१॥ इति अ० ॥ दशान्तात् ५।१॥ डः १।१॥ *स०*—दश अन्ते यस्य स दशान्तस्तस्मात्‥‥बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थात् दशान्तात् प्रातिपदिकात् सप्तम्यर्थे डः प्रत्ययो भवति, यत्तत्प्रथमासमर्थमधिकं चेत्तद् भवति॥ *उदा०*—एकादश अधिका अस्मिन् शते एकादशं शतम्, एकादशं सहस्रम्। द्वादशं शतम्, द्वादशं सहस्रम्॥

भाषार्थः—[*तद्*] प्रथमासमर्थ [*दशान्तात्*] दशन् शब्द अन्त में हो जिसके, ऐसे प्रातिपदिक से [*अस्मिन्*] सप्तम्यर्थ में [*डः*] 'ड' प्रत्यय होता है [*अधिकमिति*] यदि वह प्रथमासमर्थ अधिक समानाधिकरण वाला हो तो॥ ड के डित् होने से एकादशन् के टि = अन् भाग का लोप *डित्सामर्थ्या०* (*वा०* ६।४।१४३) वार्त्तिक से होता है॥ *उदा०*—एकादशं शतम् (ग्यारह अधिक सौ में अर्थात् एक सौ ग्यारह) द्वादशं शतम् (एक सौ बारह)॥

यहाँ से '*तदस्मिन्नधिकम् डः*' की अनुवृत्ति ५।२।४६ तक जायेगी॥

शदन्तविंशतेश्च ॥५।२।४६॥

शदन्तविंशतेः ५।१॥ च अ०॥ *स०*—शत् शब्दोऽन्ते यस्य स शदन्तः, बहुव्रीहिः। शदन्तश्च विंशतिश्च, शद‥‥तिः, तस्मात्‥‥‥समाहारो द्वन्द्वः॥ *अनु०*—तदस्मिन्नधिकम् डः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—अधिकसमानाधिकरणाभ्यां शदन्त, विंशति प्रातिपदिकाभ्यामस्मिन्निति सप्तम्यर्थे डः प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—त्रिंशदधिका अस्मिन् शते त्रिंशं शतम्, विंशतिरधिका अस्मिन् शते विंशं शतम्॥

भाषार्थः—अधिकसमानाधिकरणवाची जो [*शदन्तविंशतेः*] शदन्त तथा विंशति प्रातिपदिक उनसे [*च*] भी सप्तम्यर्थ में ड प्रत्यय होता है ॥ त्रिंशत् ड पूर्ववत् टि भाग का लोप होकर त्रिंशम् शतम् (एक सौ से ऊपर तीस = १३०) बना । 'विंशति+ड' यहाँ *ति विंशतेर्डिति* (६।४।१४२) से विंशति के 'ति' का लोप होकर विंशं शतम् बन गया ॥

सङ्ख्याया गुणस्य निमाने मयट् ॥५।२।४७॥

सङ्ख्यायाः ५।१॥ गुणस्य ६।१॥ निमाने ७।१॥ मयट् १।१॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । तदस्य इत्यनुवर्त्तते, *तदस्य सञ्जातं०* (५।२।३६) इत्यतः मण्डूकप्लुतगत्या ॥ *अर्थः*—तदिति प्रथमासमर्थात् सङ्ख्यावाचिनः प्रातिपदिकाद् अस्य गुणस्य = भागस्य निमानं = मूल्यम् इत्येतस्मिन्नर्थे मयट् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—यवानां द्वौ भागौ निमानं मूल्यमस्य उदश्वित्भागस्य द्विमयमुदश्वित् यवानाम्, त्रिमयम्, चतुर्मयम् ॥

भाषार्थः—प्रथमासमर्थ [*सङ्ख्यायाः*] सङ्ख्यावाची प्रातिपदिकों से इस [*गुणस्य*] गुण = भाग का यह [*निमाने*] निमान = मूल्य है, इस अर्थ में [*मयट्*] मयट् प्रत्यय होता है ॥ गुण का अर्थ यहाँ भाग तथा निमान का मूल्य है ॥ इस सूत्र में तदस्य की अनुवृत्ति मण्डूकप्लुतगति से ५।२।३६ से समझनी चाहिये ॥ *उदा०*—द्विमयमुदश्वित् (इस उदश्वित् के भाग का मूल्य दो भाग यव हैं यथा एक सेर उदश्वित् का मूल्य दो सेर यव) । त्रिमयम् चतुर्मयम् ॥

यहाँ से '*सङ्ख्यायाः*' की अनुवृत्ति ५।२।५८ तक जायेगी ॥

तस्य पूरणे डट् ॥५।२।४८॥

तस्य ६।१॥ पूरणे ७।१॥ डट् १।१॥ *अनु०*—सङ्ख्यायाः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थात् सङ्ख्यावाचिनः प्रातिपदिकात् पूरण इत्येतस्मिन्नर्थे डट् प्रत्ययो भवति ॥ पूर्यते अनेनेति पूरणम् ॥ *उदा०*—एकादशानां पूरणः, एकादशः त्रयोदशः ॥

भाषार्थः—[*तस्य*] षष्ठी समर्थ सङ्ख्यावाची प्रातिपदिकों से, [*पूरणे*] पूरण अर्थ में [*डट्*] डट् प्रत्यय होता है ॥ एकादश संख्या

को पूर्ण करने वाला व्यक्ति अर्थात् ग्यारहवाँ, दस के बाद ग्यारहवां व्यक्ति न हो तो ग्यारह संख्या नहीं बनती अतः दसवें के बाद वाला व्यक्ति ११ वीं संख्या का पूरक है ॥ एकादशन् डट् यहाँ टिलोप होकर एकादश् अ = एकादशः (ग्यारहवां) त्रयोदशः (तेरहवां) बना ॥

यहाँ से '*तस्य पूरणे*' की अनुवृत्ति ५।२।५८ तथा '*डट्*' की ५।२।५३ तक जायेगी ॥

नान्तादसङ्ख्यादेर्मट् ॥५।२।४९॥

नान्तात् ५।१॥ असङ्ख्यादेः ५।१॥ मट् १।१॥ *स०*—नकारोऽन्ते यस्य स नान्तः, तस्मात् बहुव्रीहिः। सङ्ख्या आदिर्यस्य स सङ्ख्यादिः बहुव्रीहिः, न सङ्ख्यादिः, असङ्ख्यादिः, तस्मात्.....नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—तस्य पूरणे डट्, सङ्ख्यायाः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—मडागमविधानात् डट् पष्ठ्यन्ते विपरिणमति। असङ्ख्यादेः सङ्ख्यावाचिनः षष्ठीसमर्थात् नान्तात् प्रातिपदिकात् पूरणे विहितस्य डटो मट् आगमो भवति ॥ *उदा०*—पञ्चानां पूरणः पञ्चमः, सप्तमः ॥

भाषार्थः—[*असंख्यादेः*] सङ्ख्या आदि में न हो जिसके ऐसे सङ्ख्यावाची षष्ठीसमर्थ [*नान्तात्*] नकारान्त प्रातिपदिक से पूरण अर्थ में जो डट् प्रत्यय उसको [*मट्*] मट् का आगम होता है ॥ *आद्यन्तौ टकितौ* (१।१।४५) से मट् डट् के आदि में होगा, सो पञ्चन् मट् डट् = पञ्च म् अ, नकार का लोप होकर पञ्चमः (पांचवां) सप्तमः (सातवां) बनेगा ॥

यहाँ से '*नान्तादसङ्ख्यादेर्मट्*' की अनुवृत्ति ५।२।५० तक जायेगी ॥

थट् च छन्दसि ॥५।२।५०॥

थट् १।१॥ च अ० ॥ छन्दसि ७।१॥ *अनु०*—नान्तादसंख्यादेर्मट्, तस्य पूरणे डट्, सङ्ख्यायाः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—असङ्ख्यादेः षष्ठीसमर्थात् सङ्ख्यावाचिनः नान्तात् प्रातिपदिकात् परस्य पूरणे विहितस्य डटः छन्दसि विषये थट् आगमो भवति, मट् च ॥ *उदा०*—पर्णमयानि पञ्चथानि भवन्ति। पञ्चथः सप्तथः। मट्—पञ्चममिन्द्रियमस्यापाक्रामन् ॥

भाषार्थः—सङ्ख्या आदि में न हो जिसके, ऐसे षष्ठी समर्थ सङ्ख्यावाची जो नकारान्त प्रातिपदिक उनसे परे पूरण अर्थ में आया जो डट् प्रत्यय उसको [*छन्दसि*] वेद विषय में [*थट्*] थट् [*च*] तथा मट् का आगम होता है ॥ ५।२।४८ से जो डट् प्रत्यय होता है, उसी को आदेश विधान हैं ॥ पञ्चन् थट् डट् = पञ्च थ् अ = पञ्चथः बना ॥

षट्कतिकतिपयचतुरां थुक् ॥५।२।५१॥

षट्कतिकतिपयचतुराम् ६।३॥ थुक् १।१॥ *स०*—षट्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु*:—तस्य पूरणे डट्, सङ्ख्यायाः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । अर्थवशात् डट् सप्तम्यां विपरिणमते ॥ *अर्थः*—षट्, कति, कतिपय, चतुर् इत्येतेषां पूरणार्थे डटि परतस्थुक् आगमो भवति ॥ *उदा०*—षण्णां पूरणः = षष्ठः, कतिथः, कतिपयथः, चतुर्थः ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*षट्*···*राम्*] षट्, कति, कतिपय, चतुर् इनके पूरण अर्थ में विहित डट् प्रत्यय के परे रहते [*थुक्*] थुक् आगम होता है ॥ कतिपय शब्द सङ्ख्यावाची नहीं है, सो इससे डट् प्रत्यय हो ही नहीं सकता पुनः डट् को थुक् आगम विधान व्यर्थ होकर यह ज्ञापित करता है कि सङ्ख्यावाची न होते हुए भी कतिपय शब्द से इसी सूत्र से डट् प्रत्यय भी हो जाता है, तब आगम विधान सार्थक हुआ, शेष शब्दों से ५।२।४८ से डट् प्रत्यय हो ही जायेगा ॥ षष् थुक् डट्, ष्टुत्वादि होकर षष्ठः बन गया ॥ *आद्यन्तौ०* (१।१।४५) लगकर षष् के अन्त में थुक् आगम होगा ॥ *उदा०*—षष्ठः, कतिथः (कौन सा) कतिपयथः (कितनों का) चतुर्थः (चौथा) ॥

बहुपूगगणसंघस्य तिथुक् ॥५।२।५२॥

बहुपूगगणसङ्घस्य ६।१॥ तिथुक् १।१॥ *स०*—बहु० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तस्य पूरणे डट्, सङ्ख्यायाः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—बहु, पूग, गण, संघ इत्येतेषां पूरणार्थे डटि परतस्तिथुक् आगमो भवति ॥ *उदा०*—बहूनां पूरणो बहुतिथः, पूगतिथः, गणतिथः, सङ्घतिथः ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*बहु*···*स्य*] बहु, पूग, गण, सङ्घ इनको पूरण अर्थ में विहित डट् प्रत्यय के परे रहते [*तिथुक्*] तिथुक् आगम

होता है ॥ बहु, गण शब्दों की *बहुगण०* (१।१।२२) से सङ्ख्या संज्ञा है, सो डट् ५।२।४८ से हो जायेगा, पर पूग, सङ्घ शब्द सङ्ख्यावाची नहीं हैं, सो इस सूत्र में डट् परे तिथुक् आगम के विधान रूप ज्ञापक से ही डट् प्रत्यय होगा ॥ *उदा०*—बहुतिथः (बहुतों का) पूगतिथः (श्रमजीवी समूहों का) गणतिथः (समूहों का) सङ्घतिथः (समूहों का)

वतोरिथुक् ॥५।२।५३॥

वतोः ६।१॥ इथुक् १।१॥ *अनु०*—तस्य पूरणे डट्, सङ्ख्यायाः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सङ्ख्यावाचिनो वत्वन्तस्य प्रातिपदिकस्य पूरणार्थे डटि परत इथुग् आगमो भवति ॥ *उदा०*—यावतां पूरणो यावतिथः, तावतिथः एतावतिथः ॥

भाषार्थः—[*वतोः*] वत्वन्त प्रातिपदिक को पूरण अर्थ में विहित डट् परे रहते [*इथुक्*] इथुक् आगम होता है ॥ *बहुगणवतु०* से वत्वन्त प्रातिपदिक की सङ्ख्या संज्ञा है ही सो डट् प्रत्यय हो जायेगा। यावत् तावत् की सिद्धि भी भाग १ पृ० ६९५ परि० १।१।२२ में ही देखें ॥ यावत् + इथुक् डट् = यावत् इथ् अ = यावतिथः (जितनों का) बन गया।

इसी प्रकार तावतिथः (उतनों का) एतावतिथः (इतनों का) समझें ॥

द्वेस्तीयः ॥५।२।५४॥

द्वेः ५।१॥ तीयः १।१॥ *अनु०*—सङ्ख्यायाः, तस्य पूरणे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थात् द्विप्रातिपदिकात् पूरणेऽर्थे तीयः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—द्वयोः पूरणो द्वितीयः ॥

भाषार्थः—षष्ठीसमर्थ [*द्वेः*] द्वि प्रातिपदिक से पूरण अर्थ में [*तीयः*] तीय प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*तीयः*' की अनुवृत्ति ५।२।५५ तक जायेगी ॥

त्रेः सम्प्रसारणञ्च ॥५।२।५५॥

त्रेः ५।१॥ सम्प्रसारणम् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—तीयः, सङ्ख्यायाः, तस्य, पूरणे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—

षष्ठीसमर्थात् त्रिप्रातिपदिकात् पूरणेऽर्थे तीयः प्रत्ययो भवति, तत्सन्नियोगेन त्रेः सम्प्रसारणं च भवति ॥ उदा०—त्रयाणां पूरणस्तृतीयः ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [त्रेः] त्रि प्रातिपदिक से पूरण अर्थ में तीय प्रत्यय होता है [च] तथा प्रत्यय के साथ साथ त्रि को [*सम्प्रसारणम्*] सम्प्रसारण भी हो जाता ॥ *इग्यणः सम्प्र०* (१।१।४४) लगकर त्रि के र को ऋ सम्प्रसारण और *सम्प्रसारणाच्च* (६।१।१०४) से पूर्वरूप होकर तृ + तीय = तृतीयः बनेगा ॥ द्वि, त्रि शब्द सङ्ख्यावाची ही हैं, अतः अर्थ में सङ्ख्यावाची नहीं रखा केवल अनुवृत्ति में सम्बन्ध दिखाने के लिए सङ्ख्यायाः रखा है ॥

विंशत्यादिभ्यस्तमडन्यतरस्याम् ॥५।२।५६॥

विंशत्यादिभ्यः ५।३॥ तमट् १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१ ॥ *स०*—विंशतिः आदिर्येषां ते विंशत्यादयस्तेभ्यः······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—सङ्ख्यायाः, तस्य पूरणे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थेभ्यो विंशत्यादिभ्यः सङ्ख्यावाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः डटस्तमट् आगमो भवत्यन्यतरस्याम् ॥ सामान्येन तस्य पूरणे डट् इत्यनेन सङ्ख्यावाचिभ्यः डट् विहितस्तस्यात्र तमडागमो विधीयते ॥ *उदा०*—विंशतेः पूरणः विंशतितमः पक्षे विंशः । एकविंशतितमः, एकविंशः । त्रयोविंशतितमः, त्रयोविंशः । त्रिंशत्तमः, त्रिंशः । एकत्रिंशत्तमः, एकत्रिंशः ॥

भाषार्थः—षष्ठीसमर्थ सङ्ख्यावाची [*विंशत्यादिभ्यः*] विंशत्यादि प्रातिपदिकों से जो पूरण अर्थ में डट् विहित है उसको [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से [*तमट्*] तमट् आगम होता है ॥ सामान्य करके *तस्य पूरणे०* (५।२।४८) से सङ्ख्यावाचियों से डट् कहा है, सो उसी को यहाँ तमट् आगम विकल्प से कह दिया है ॥ *उदा०*—विंशतितमः (बीसवां) विंशः, एकविंशतितमः (इक्कीसवाँ) एकविंशः । विंशति तमट् डट् = विंशति तम् अ विंशतितमः बना । जिस पक्ष में तमट् आगम नहीं हुआ तब *ति विंशतेर्डिति* (६।४।१४४) से 'ति' भाग का लोप होकर विंशः बन गया । त्रयोविंशतितमः त्रयोविंशः में *त्रेस्त्रयः* (६।३।४६) से त्रयस् आदेश होता है । त्रिंशः में त्रिंशत् डट् यहाँ *डित्सामार्थ्या०* (*वा०* ६।४।१४३) वार्त्तिक से टि भाग

(अत्) का लोप होकर त्रिश् अ = त्रिशः बन गया ॥

यहाँ से 'तमट्' की अनुवृत्ति ५।२।५८ तक जायेगी ॥

नित्यं शतादिमासार्द्धमाससंवत्सराच्च ॥५।२।५७॥

नित्यम् १।१॥ शता·····सरात् ५।१॥ च अ० ॥ *स०*— शतम् आदिर्येषां ते शतादयः, शतादयश्च मासश्च अर्द्धमासश्च संवत्सरश्च, शता··· त्सरम् तस्मात्····बहुव्रीहिगर्भसमाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*— तमट्, तस्य पूरणे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*— षष्ठीसमर्थेभ्यः शतादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो मास, अर्द्धमास, संवत्सर इत्येतेभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यो यः पूरणेऽर्थे डट् विहितस्तस्य नित्यं तमडागमो भवति ॥ *उदा०*—शतस्य पूरणः शततमः, सहस्रतमः, लक्षतमः । मासस्य पूरणो मासतमो दिवसः, अर्द्धमासतमः संवत्सरतमः ॥

भाषार्थः—षष्ठीसमर्थ [*शता · सरात्*] शतादि प्रातिपदिकों से तथा मास, अर्द्धमास और संवत्सर प्रातिपदिकों से उत्तर [च] पूरण अर्थ में हुये डट् प्रत्यय को तमट् का आगम [*नित्यम्*] नित्य ही हो जाता है ॥ मास, अर्द्धमास संवत्सर शब्द यद्यपि सङ्ख्यावाची नहीं हैं तथापि उनसे डट् प्रत्यय इसी सूत्र में डट् को तमट् आगम विधानरूप ज्ञापक से हो जाता है ॥ *उदा०*—शततमः (सौवां), सहस्रतमः । मासतमः (मास को पूरण करने वाला अन्तिम दिन), अर्द्धमासतमः (पन्द्रहवां दिन), संवत्सरतमः (वर्ष का अन्तिम दिन) ॥

यहाँ से '*नित्यम्*' की अनुवृत्ति ५।२।५८ तक जायेगी ॥

षष्ट्यादेश्चासंख्यादेः ॥५।२।५८॥

षष्ट्यादेः ५।१॥ च अ०॥ असङ्ख्यादेः ५।१॥ *स०*—षष्टिः आदिर्यस्य स षष्ट्यादिः, तस्मात्··बहुव्रीहिः । सङ्ख्या आदिर्यस्य स सङ्ख्यादिः बहुव्रीहिः, न सङ्ख्यादिः असङ्ख्यादिस्तस्मात्· नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*— नित्यम्, तमट्, सङ्ख्यायाः, तस्य पूरणे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठीसमर्थादसङ्ख्यादेः सङ्ख्यावाचिनः षष्ट्यादेः प्रातिपदिकात् परस्य पूरणेऽर्थे विहितो यो डट् तस्य नित्यं तमडागमो भवति ॥ *उदा०*—षष्टेः पूरणः षष्टितमः सप्ततितमः ॥

भाषार्थः—षष्ठी समर्थ [*असङ्ख्यादेः*] सङ्ख्या आदि में न हो जिसके, ऐसे सङ्ख्यावाची [*षष्ठ्यादेः*] षष्ठ्यादि प्रातिपदिकों से [*च*] भी पूरण अर्थ में विहित जो डट् प्रत्यय उसको नित्य ही तमट् आगम होता है ॥

मतौ छः सूक्तसाम्नोः ॥५।२।५९॥

मतौ ७।१॥ छः १।१॥ सूक्तसाम्नोः ७।२॥ *स०*—सूक्तञ्च साम च सूक्तसाम्नी, तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*- प्रातिपदिकमात्रात् मत्वर्थे छः प्रत्ययो भवति सूक्ते सामनि चाभिधेये ॥ *उदा०*—अस्यवाम शब्दोऽस्मिन्नस्तीति अस्यवामीयं सूक्तम्, मित्रावरुणीयम्। यज्ञायज्ञीयं साम, वारवन्तीयं साम ॥

भाषार्थः—प्रातिपदिक मात्र से [*मतौ*] मत्वर्थ में [*छः*] छ प्रत्यय होता है, [*सूक्तसाम्नोः*] सूक्त और साम (सामवेद के मन्त्र का गान) वाच्य हों तो ॥ यह इसका है या इसमें है इस अर्थ में *तदस्यास्त्यस्मिन्निति* (५।२।९४) से मतुप् होता है, सो यही अर्थ मत्वर्थ है ॥*उदा०*—अस्यवामीयं सूक्तम् (ऋ० १।१६४ सूक्त में अस्यवाम शब्द पढ़ा है वह अस्यवामीय सूक्त कहाता है) मित्रावरुणीयम्। यज्ञायज्ञीयं साम (यज्ञायज्ञा शब्द जिस साम में है वह यज्ञायज्ञीय कहाता है) वारवन्तीयम्[1] ॥

यहाँ से '*मतौ*' की अनुवृत्ति ५।२।६२ तक तथा '*छः*' की ५।२।६० तक जायेगी ॥

अध्यायानुवाकयोर्लुक् ॥५।२।६०॥

अध्या····योः ७।२॥ लुक् १।१॥ *स०*—अध्या० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*- मतौ छः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अध्यायानुवाकयोरभिधेययोः मत्वर्थ उत्पन्नस्य छस्य लुक् भवति ॥ *उदा०*—गर्दभाण्ड शब्दोऽस्मिन्नस्तीति गर्दभाण्डोऽध्यायः, गर्दभाण्डोऽनुवाकः, दीर्घजीवितोऽध्यायोऽनुवाको वा ॥

---

१. 'यज्ञायज्ञा वो गिरा' साममन्त्र मे गेय सामगान का नाम यज्ञायज्ञीय है। इसी प्रकार 'अश्वं न त्वा वारवन्तम्' ऋ० १।२७।१ मन्त्र में गेय साम वारवन्तीय कहाता है ॥

भाषार्थः—[*अध्यायानुवाकयोः*] अध्याय और अनुवाक अभिधेय होने पर मत्वर्थ में विहित जो छ प्रत्यय उसका [*लुक्*] लुक् होता है॥ यहाँ देखना यह है कि पूर्व सूत्र में सूक्त साम अभिधेय होने पर छ प्रत्यय मत्वर्थ में कहा है, अध्याय अनुवाक अभिधेय होने पर तो छ प्रत्यय किसी से कहा ही नहीं, पुनः लुक् कैसे कहा, तब लुक् कहना व्यर्थ होकर यह ज्ञापक निकला कि मत्वर्थ में छ अध्याय अनुवाक अभिधेय होने पर भी होता है, तब लुक् कहना सार्थक हुआ॥

यहाँ महाभाष्य के वचनानुसार यह लुक् विकल्प से होता है, सो पक्ष में छ का लुक् न होकर, गर्दभाण्डीयोऽध्यायः, दीर्घजीवितीयः[1] रूप भी बनेंगे॥

यहाँ से '*अध्यायानुवाकयोः*' की अनुवृत्ति ५।२।६२ तक जायेगी॥

विमुक्तादिभ्योऽण्॥५।२।६१॥

विमुक्तादिभ्यः ५।३॥ अण् १।१॥ *स०*—विमुक्त आदिर्येषां ते विमुक्तादयस्तेभ्यः······बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—अध्यायानुवाकयोः, मतौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—विमुक्तादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो मत्वर्थे, अध्यायानुवाकयोरभिधेययोरण् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—विमुक्तशब्दोऽस्मिन्नस्तीति वैमुक्तोऽध्यायो अनुवाको वा, दैवासुरः॥

भाषार्थः—[*विमुक्तादिभ्यः*] विमुक्तादि प्रातिपदिकों से अध्याय और अनुवाक अभिधेय हों तो मत्वर्थ में [*अण्*] अण् प्रत्यय होता है॥

गोषदादिभ्यो वुन्॥५।२।६२॥

गोषदादिभ्यः ५।३॥ वुन् १।१॥ *स०*—गोषद आदिर्येषां ते गोषदादयस्तेभ्यः···बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—अध्यायानुवाकयोः, मतौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—गोषदादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो मत्वर्थेऽध्यायानुवाकयोरभिधेययोर्वुन् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—गोषदशब्दोऽस्मिन्नस्ति, गोषदकोऽध्यायोऽनुवाको वा, इषेत्वकः, मातरिश्वकः॥

1. देखो—'अथातो दीर्घजीवितीयमध्यायं व्याख्यास्यामः' (चरकसूत्र० १।१)

भाषार्थः—[*गोषदादिभ्यः*] गोषदादि प्रातिपदिकों से मत्वर्थ में, अध्याय, और अनुवाक अभिधेय हों तो [*वुन्*] वुन् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से 'वुन्' की अनुवृत्ति ५।२।६३ तक जायेगी ॥

तत्र कुशलः पथः ॥५।२।६३॥

तत्र अ० ॥ कुशलः १।१॥ पथः ५।१॥ *अनु०*—वुन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तत्रेति सप्तमीसमर्थात् पथिन्प्रातिपदिकात् कुशल इत्येतस्मिन्नर्थे वुन् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—पथि कुशलः = पथकः ॥

भाषार्थः—[*तत्र*] सप्तमीसमर्थ [*पथः*] पथिन् प्रातिपदिक से [*कुशलः*] कुशल इस अर्थ में वुन् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—पथकः (यात्रा कर्म में चतुर) ॥

यहाँ से '*तत्र*' की अनुवृत्ति ५।२।६७ तक तथा '*कुशलः*' की ५।२।६४ तक जायेगी ॥

आकर्षादिभ्यः कन् ॥५।२।६४॥

आकर्षादिभ्यः ५।३॥ कन् १।१॥ *स०*—आकर्ष आदिर्येषां त आकर्षादयस्तेभ्यः······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—तत्र, कुशलः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थेभ्य आकर्षादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः कुशल इत्येतस्मिन्नर्थे कन् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—आकर्षे कुशलः आकर्षकः, त्सरुकः ॥

भाषार्थः—सप्तमी समर्थ [*आकर्षादिभ्यः*] आकर्षादि प्रातिपदिकों से कुशल इस अर्थ में [*कन्*] कन् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—आकर्षकः (कसौटी पर सोना आदि परखने में चतुर) त्सरुकः (तलवार चलाने में चतुर) ॥

यहाँ से '*कन्*' की अनुवृत्ति ५।२।८२ तक जायेगी ॥

धनहिरण्यात् कामे ॥५।२।६५॥

धनहिरण्यात् ५।१॥ कामे ७।१॥ *स०*—धन० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः॥ अनु०—कन्, तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः,

परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थाभ्यां धन, हिरण्य प्रातिपदिकाभ्यां काम इत्येतस्मिन्नर्थे कन् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—धने कामः धनको देवदत्तस्य, हिरण्यकः ॥

भाषार्थः—सप्तमीसमर्थ [*धनहिरण्यात्*] धन और हिरण्य प्रातिपदिकों से [*कामे*] काम = इच्छा अर्थ में कन् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—धनको देवदत्तस्य (देवदत्त की धन विषयक इच्छा) हिरण्यको देवदत्तस्य (देवदत्त की सुवर्ण विषयक इच्छा) ॥

स्वाङ्गेभ्यः प्रसिते ॥५।२।६६॥

स्वाङ्गेभ्यः ५।३॥ प्रसिते ७।१॥ स्वम् अङ्गं स्वाङ्गम् ॥ *अनु०*—कन् तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थेभ्यः स्वाङ्गवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः प्रसित इत्येतस्मिन्नर्थे कन् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—केशेषु प्रसितः केशकः, दन्तकः, ओष्ठकः ॥

भाषार्थः—सप्तमीसमर्थ [*स्वाङ्गेभ्यः*] स्वाङ्गवाची प्रातिपदिकों से [*प्रसिते*] प्रसित = प्रसक्त, तत्पर अर्थ में कन प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—केशकः (जो केश को सँवारने में बड़ा तत्पर अर्थात् आसक्त हो) दन्तौष्ठकः ॥

यहाँ से '*प्रसिते*' की अनुवृत्ति ५।२।६७ तक जायेगी ॥

उदराट्ठगाद्यूने ॥५।२।६७॥

उदरात् ५।१॥ ठक् १।१॥ आद्यूने ७।१॥ *अनु०*—प्रसिते, तत्र, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीसमर्थाद् उदरप्रातिपदिकात् ठक् प्रत्ययो भवति प्रसित इत्येतस्मिन्नर्थे आद्यूने वाच्ये ॥ आदिरेव ऊनमस्य = आद्यूनः । प्रथमखादनक्रियासमाप्तेः पूर्वमेव य उदरं मे रिक्तं जातमिति मन्यते स आद्यून उच्यते अर्थात् यः सर्वदा चर्वणं करोति ॥ *उदा०*—उदरे प्रसितः औदरिक आद्यूनः ॥

भाषार्थः—सप्तमीसमर्थ [*उदरात्*] उदरप्रातिपदिक से [*आद्यूने*] आद्यून वाच्य हो तो प्रसक्त अर्थ में [*ठक्*] ठक् प्रत्यय होता है ॥ जो सदा खाने की ही इच्छा करता रहता है, उसे आद्यून = पेटू कहते

हैं ॥ इस सूत्र में ठक् प्रत्यय कहा है, अतः कन् की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं लगेगा ॥ उदा०—औदरिकः (सदा खाते रहने वाला पेटू पुरुष) ॥

सस्येन परिजातः ॥५।२।६८॥

सस्येन ३।१॥ परिजातः १।१॥ *अनु०*—कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तृतीयासमर्थात् सस्यप्रातिपदिकात् परिजात इत्येतस्मिन्नर्थे कन् प्रत्ययो भवति । निर्देशादेव समर्थविभक्तिः ॥ *उदा०*—सस्येन परिजातः सस्यकः शालिः, सस्यकः साधुः ॥

भाषार्थः—सस्येन निर्देश से ही यहाँ समर्थ विभक्ति का ग्रहण है ॥ तृतीया समर्थ [*सस्येन*] सस्य प्रातिपदिक से [*परिजातः*] परिजात = सब ओर से उत्पन्न इस अर्थ में कन् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—सस्यकः शालिः (सस्य शब्द का अर्थ है गुण और परि का अर्थ है सब ओर से, अर्थात् गुणों से भरपूर, जिसमें किसी प्रकार की कमी न हो । सस्यकः साधुः (पूर्ण साधु गुणों से युक्त) ॥

अंशं हारी ॥५।२।६९॥

अंशम् २।१॥ हारी १।१॥ *अनु०*—कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थाद् अंशप्रातिपदिकात् हारीत्येतस्मिन्नर्थे कन् प्रत्ययो भवति ॥ निर्देशादेव समर्थविभक्तिः । *उदा०*—अंशं हारी = अंशको दायादः ॥

भाषार्थः—यहाँ अंशं निर्देश से ही द्वितीया समर्थ विभक्ति ली है ॥ द्वितीया समर्थ [*अंशम्*] अंश प्रातिपदिक से [*हारी*] हारी = हरण करने वाला इस अर्थ में कन् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—अंशको दायादः (परम्परा प्राप्त धन के भाग को प्राप्त होने वाला) ॥

तन्त्रादचिरापहृते ॥५।२।७०॥

तन्त्रात् ५।१॥ अचिरापहृते ७।१॥ तन्यते तन्तवोऽनेनेति तन्त्रं, तन्तुवायशलाका उच्यते ॥ *स०*—न चिरः अचिरः, नञ्तत्पुरुषः । अचिरशब्दः कालवाची । अचिरः (कालः) अपहृतस्य = अचिरापहृतः, तस्मिन् ''तत्पुरुषः । *कालाः परिमाणिनेत्यनेन* समासः ॥ *अनु०*—कन्,

तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—पञ्चमीसमर्थात् तन्त्रप्रातिपदिकाद् अचिरापहृत इत्येतस्मिन्नर्थे कन् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—तन्त्रादचिरापहृतस्तन्त्रकः पटः ॥

भाषार्थः—पञ्चमी समर्थ [*तन्त्रात्*] तन्त्र प्रातिपदिक से [*अचिरापहृते*] अचिरापहृत इस अर्थ में कन् प्रत्यय होता है ॥ तन्त्र कहते हैं जुलाहे की खड्डी को, जिससे वह कपड़े बुनता है। अचिरापहृत का अर्थ है अचिर = थोड़ा काल अपहृत, खड्डी से बाहर निकालने को बीता है अर्थात् तत्काल बुना हुआ ॥ निर्देश से ही यहाँ भी समर्थ विभक्ति का ग्रहण है ॥ *उदा०*—तन्त्रकः पटः (जुलाहे द्वारा बुन कर थोड़ी देर पूर्व खड्डी से पृथक् किया गया वस्त्र) ॥

ब्राह्मणकोष्णिके संज्ञायाम् ॥५।२।७१॥

ब्राह्मणकोष्णिके १।२॥ संज्ञायाम् ७।१॥ *स०*—ब्राह्म० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—ब्राह्मणक उष्णिक इत्येतौ शब्दौ कन्प्रत्ययान्तौ निपात्येते संज्ञायां विषये ॥ *उदा०*—ब्राह्मणको देशः, उष्णिका यवागूः ॥ अल्पान्नशब्दस्योष्णादेशो निपातनात् ॥

भाषार्थः—[*ब्राह्मणकोष्णिके*] ब्राह्मणक और उष्णिक शब्द कन् प्रत्ययान्त [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में निपातन किये जाते हैं ॥ अल्पान्न शब्द को निपातन से उष्ण आदेश होता है। जिस देश में शस्त्रजीवी ब्राह्मण रहते हों उस देश की ब्राह्मणक संज्ञा है ॥ जिसमें थोड़ा अन्न हो अर्थात् जिसमें जलांश अधिक हो उस लप्सी की उष्णिका संज्ञा है ॥

शीतोष्णाभ्यां कारिणि ॥५।२।७२॥

शीतोष्णाभ्याम् ५।२॥ कारिणि ७।१॥ *स०*—शीतो० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासमर्थाभ्यां शीत, उष्ण इत्येताभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां कारिणि वाच्ये कन् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—शीतं करोति शीतकः, उष्णं करोति उष्णकः ॥

भाषार्थः—द्वितीयासमर्थ [*शीतोष्णाभ्याम्*] शीत, उष्ण प्रातिपदिकों से [*कारिणि*] कारी = करने वाला अभिधेय हो तो कन् प्रत्यय होता है ॥

शीत, उष्ण शब्द क्रिया (करोति) के विशेषण हैं, क्रियाविशेषण में द्वितीया विभक्ति ही होती है, अतः यहाँ क्रियाविशेषण होने से द्वितीया समर्थ का ग्रहण किया है ॥ शीतकः आलसी को कहते हैं। जाड़े में काम करने में आलसपना रहता ही है सो शीतक आलसी को ही कहेंगे। इसी प्रकार उष्णकः जो जल्दी-जल्दी काम करे उसे कहेंगे। गर्मी में काम करने में फुर्ती होती है ॥

अधिकम् ॥५।२।७३॥

अधिकम् १।१॥ *अनु०*—कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अधिकमिति निपात्यते। अध्यारूढशब्दस्योत्तरपदलोपः कन् च प्रत्ययो निपात्यते ॥ *उदा०*—अधिकम् ॥

भाषार्थः—[*अधिकम्*] अधिकम् यह निपातन किया जाता है। अध्यारूढ शब्द के उत्तरपद अर्थात् आरूढ शब्द का लोप तथा कन् प्रत्यय निपातन से किया जाता है ॥ अध्यारूढ कन् = अधिक = अधिकम् (ज्यादा) बना ॥ अधिक शब्द सापेक्ष है, अधिक के लिए उससे अल्प होना आवश्यक है जैसे *शतादधिकम्* सौ के अधि ऊपर चढ़ा हुआ अर्थात् सौ से अधिक ॥

अनुकाभिकाभीकः कमिता ॥५।२।७४॥

अनुकाभिकाभीकः १।१॥ कमिता १।१॥ *स०*—अनुकश्च अभिकश्च अभीकश्च समाहारो द्वन्द्वः। सौत्रत्वात् पौंस्नम् ॥ *अनु०*—कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अनुक, अभिक, अभीक इत्येते शब्दाः कन्प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते कमितेत्येतस्मिन्नर्थे। अनुकामयते अनुकः, अभिकः। पक्षे अभेः दीर्घत्वं निपात्यते अभीकः ॥

भाषार्थः—[*अनु...कः*] अनुक, अभिक, अभीक शब्द [*कमिता*] इच्छा करने वाला इस अर्थ में निपातन किये जाते हैं। अनु, अभि इन उपसर्ग शब्दों से निपातन द्वारा कन् प्रत्यय किया जाता है, पक्ष में अभि को दीर्घ होता है, सो अनुक (कामना करने वाला) अभिकः (कामुक अथवा क्रूर) अभीकः (कामुक अथवा क्रूर) रूप बनेंगे ॥

पार्श्वेनान्विच्छति ॥५।२।७५॥

पार्श्वेन ३।१॥ अन्विच्छति क्रिया० ॥ निर्देशादेव समर्थविभक्तिः ॥ *अनु०*—कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*— तृतीयासमर्थात् पार्श्वशब्दात् कन् प्रत्ययो भवत्यन्विच्छतीत्येतस्मिन्नर्थे ॥ पार्श्वमिव पार्श्वम् यथा पार्श्वास्थि अनृजु कुटिलं भवति तथा अनृजुरुपायः पार्श्वशब्देनेहोच्यते ॥ *उदा०*—पार्श्वेन अर्थानन्विच्छति = पार्श्वकः ॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ [*पार्श्वेन*] पार्श्व प्रातिपदिक से [*अन्विच्छति*] चाहता है इस अर्थ में कन् प्रत्यय होता है ॥ पार्श्व कुटिल उपायों को कहते हैं, जो कुटिल उपायों से पैसा द्रव्योपार्जन करे वह पार्श्वक कहा जाता है अर्थात् धोखा आदि देकर द्रव्योपार्जन करने वाला ॥

यहाँ से '*अन्विच्छति*' की अनुवृत्ति ५।२।७६ तक जायेगी ॥

अयःशूलदण्डाजिनाभ्यां ठक्ठञौ ॥५।२।७६॥

अयः······भ्याम् ३।२॥ ठक्ठञौ १।२॥ *स०*—उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अन्विच्छति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थ.*—तृतीयासमर्थाभ्याम्, अयःशूलदण्डाजिनाभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां यथासङ्ख्यमन्विच्छतीत्येतस्मिन्नर्थे ठक्ठञौ प्रत्ययौ भवतः। अयः-शूलमिव अयःशूलम्—तीक्ष्ण उपायः एवं दण्डश्चाजिनं च दण्डाजिनम् ब्रह्मचारिवेष उच्यते। *उदा०*—अयःशूलेनान्विच्छति आयःशूलिकः साहसिकः, दाण्डाजिनिकः, दाम्भिकः ॥

भाषार्थः—तृतीया समर्थ [*अयः······भ्याम्*] अयःशूल तथा दण्डाजिन प्रातिपदिकों से यथासङ्ख्य करके अन्विच्छति इस अर्थ में [*ठक्ठञौ*] ठक् तथा ठञ् प्रत्यय होते हैं ॥ अयःशूल शब्द से यहां तीक्ष्ण उपायों का ग्रहण है सो आयःशूलिकः का अर्थ साहसिक होगा तथा दण्ड और अजिन = मृगचर्म ब्रह्मचारिवेष को धोखा देने के लिए जो धारण करे वह दाण्डाजिनिकः अर्थात् दाम्भिक कहाता है ॥ ठक् और ठञ् में केवल स्वर का ही भेद है ॥

तावतिथं ग्रहणमिति लुग्वा ॥५।२।७७॥

तावतिथम् १।१॥ ग्रहणम् १।१॥ इति अ० ॥ लुक् १।१॥ वा अ० ॥ *अनु०*—कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ तावतां

पूरणं तावतिथम्। गृह्यते अनेनेति ग्रहणम्॥ तावतिथमिति पूरणप्रत्ययान्तानां सामान्यनिर्देशोऽस्ति यथा तस्यापत्यमित्यत्र षष्ठ्यन्तानां (प्रातिपदिकानाम्) सामान्यनिर्देशो वर्त्तते॥ *अर्थः*—पूरणप्रत्ययान्तात् ग्रहणसमानाधिकरणात् प्रातिपदिकात् स्वार्थे कन् प्रत्ययो भवति तस्य च पूरणप्रत्ययस्य वा लुग् भवति॥ *उदा०*—द्वितीयेन रूपेण ग्रन्थं गृह्णाति द्विकं ग्रहणम्, द्वितीयकम्। त्रिकं तृतीयकम्, चतुष्कम्, चतुर्थकम्॥

भाषार्थः—[*तावतिथम्*] पूरणप्रत्ययान्त प्रातिपदिक जो [*ग्रहणमिति*] ग्रहण = क्रिया का समानाधिकरण है उससे स्वार्थ में कन् प्रत्यय होता है, तथा पूरण प्रत्यय का [*वा*] विकल्प से [*लुक्*] लुक् भी होता है॥ उतने (किसी संख्या का) का जो पूरण करने वाला, वह तावतिथं कहायेगा। उतने का पूरण करने वाला, यह अर्थ पूरण प्रत्यय ही देगा सो तावतिथं का अर्थ होगा, पूरणप्रत्ययान्त। इस सूत्र में पूरणप्रत्ययान्त स्पष्ट निर्देश न करके तावतिथं सामान्य निर्देश किया है, सो उसका अर्थ पूरण प्रत्ययान्त ही लेना चाहिये, जिस प्रकार *तस्यापत्यम्* में तस्य सामान्य निर्देश से षष्ठ्यन्त का ही ग्रहण होता है॥ *द्वेस्तीयः* (५।२।५४) से द्वि शब्द से तीय पूरण प्रत्यय हुआ है, उसी का लुक् तथा पक्ष में अलुक् होता है। द्विकं, द्वितीयकम् = दूसरी बार सुनकर ग्रन्थ को ग्रहण करना अर्थ यहाँ विवक्षित है। इसी प्रकार औरों में जानें॥

स एषां ग्रामणीः ॥५।२।७८॥

सः १।१॥ एषाम् ६।३॥ ग्रामणीः १।१॥ *अनु०*—कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—स इति प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकात् षष्ठ्यर्थे कन् प्रत्ययो भवति यत्तत्प्रथमासमर्थं ग्रामणीश्चेत् स भवति॥ ग्रामणीः प्रधानो मुख्य इत्यर्थः॥ *उदा०*—देवदत्तो ग्रामणीरेषां = देवदत्तकाः, यज्ञदत्तकाः॥

भाषार्थः—[*सः*] प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से जो [*ग्रामणीः*] ग्राम का मुखिया हो उससे [*एषां*] षष्ठ्यर्थ में कन् प्रत्यय होता है॥ ग्रामणी प्रधान को कहते हैं॥ *उदा०*—देवदत्तकाः (देवदत्त इन ग्रामवासियों का मुखिया है), यज्ञदत्तकाः॥

शृङ्खलमस्य बन्धनं करभे ॥५।२।७९॥

शृङ्खलम् १।१॥ अस्य ६।१॥ बन्धनम् १।१॥ करभे ७।१॥ *अनु०*—कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थात् शृङ्खलप्रातिपदिकात्, षष्ठ्यर्थे कन् प्रत्ययो भवति यत्तत् प्रथमासमर्थं बन्धनं चेत्तद् भवति, यत्तदस्येति निर्दिष्टं करभश्चेत् स भवति ॥ निर्देशादेव प्रथमासमर्थविभक्तिः ॥ *उदा०*—शृङ्खलं बन्धनमस्य करभस्य शृङ्खलकः ॥

भाषार्थः—प्रथमासमर्थ [*शृङ्खलम्*] शृङ्खल प्रातिपदिक से [*अस्य*] षष्ठ्यर्थ में कन् प्रत्यय होता है, यदि वह प्रथमासमर्थ [*बन्धनम्*] बन्धन बन रहा हो तो तथा जो षष्ठी से निर्दिष्ट हो वह [*करभे*] करभ हो तो ॥ ऊटों के छोटे बच्चों को करभ कहते हैं। उनके पैरों में लकड़ी का बना हुआ जो बन्धन लगा दिया जाता है, जिससे जल्दी इधर उधर न भाग सकें वह बन्धन शृङ्खल कहाता है ॥ *उदा०*—शृङ्खलकः। (काठ का शृङ्खल बन्धन है जिस ऊँट के बच्चे का, वह शृङ्खलक कहाता है, इससे करभ की अवस्था विशेष द्योतित होती है) ॥

उत्क उन्मनाः ॥५।२।८०॥

उत्कः १।१॥ उन्मनाः १।१॥ *अनु०*—कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ उद्गतं मनो यस्य स उन्मनाः ॥ *अर्थः*—उत्क इति निपात्यते, उन्मना इत्यस्मिन्नर्थे। उत् शब्दात् कन् प्रत्ययो निपात्यते ॥ उत्कः प्रवासी ॥

भाषार्थः—[*उत्कः*] उत्क यह शब्द निपातन किया जाता है, [*उन्मनाः*] उन्मन अर्थ में। उत् शब्द से कन् प्रत्यय का निपातन है ॥ जिसका मन इधर उधर हो अर्थात् उदास हो विक्षिप्त हो वह उन्मनाः कहा जायेगा। उत्कः प्रवासी। उत्कः का समान्य अर्थ है उदास मन वाला। परदेशी प्रायः घर से दूर रहने के कारण उदास रहता है, अतः उदाहरण में उत्क प्रवासी का विशेषण है ॥

कालप्रयोजनाद्रोगे ॥५।२।८१॥

कालप्रयोजनात् ५।१॥ रोगे ७।१॥ *स०*—काल० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥

सामर्थ्येन यथायोगं समर्थविभक्तिर्लभ्यते ॥ *अर्थः*—कालवाचिनः प्रातिपदिकात् प्रयोजनवाचिनश्च रोगेऽभिधेये कन् प्रत्ययो भवति ॥ प्रयोजनं कारणं फलं वा ॥ उदा०—द्वितीयेऽह्नि भवो द्वितीयको ज्वरः, चतुर्थकः । प्रयोजनवाचिनः—विषपुष्पैर्जनितो विषपुष्पको ज्वरः, काशपुष्पकः । उष्णं कार्यमस्य उष्णकः, शीतकः ॥

भाषार्थः—[*कालप्रयोजनात्*] कालवाची तथा प्रयोजनवाची = कारणवाची प्रातिपदिकों से [*रोगे*] रोग अभिधेय हो तो कन् प्रत्यय होता है ॥ इस सूत्र में सामर्थ्य से जहाँ जैसी विभक्ति युक्त हो वैसी समर्थ विभक्ति लगा लेनी है, सो कालवाचियों से सप्तमी समर्थ विभक्ति युक्त है तथा प्रयोजनवाचियों से तृतीया, सो उसी प्रकार लगाना है ॥ उदा०—कालवाचियों से—द्वितीयकः (प्रतिदिन ज्वर उतरकर दूसरे दिन पुनः होने वाला ज्वर) तृतीयकः (एक दिन छोड़कर तीसरे दिन होने वाला तृतीयक 'तैया' ज्वर) चतुर्थकः (दो दिन छोड़कर चौथे दिन होने वाला चतुर्थकः चौथिया ज्वर) । प्रयोजनवाचियों से—विषपुष्पको ज्वरः (विषपुष्प = मैनफल के कारण उत्पन्न हुआ ज्वर) काशपुष्पकः (काशः = सरकण्डों के फल के स्पर्शादि के कारण उत्पन्न ज्वर) उष्णकः (जिस ज्वर की परिणति उष्णता में हो) शीतकः (जिस ज्वर की परिणति शीतलता में हो) ॥

तदस्मिन्नन्नं प्राये संज्ञायाम् ॥५।२।८२॥

तत् १।१॥ अस्मिन् ७।१॥ अन्नम् १।१॥ प्राये ७।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ *अनु०*—कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकात् सप्तम्यर्थे कन् प्रत्ययो भवति संज्ञायां विषये यत्तत् प्रथमासमर्थं प्रायविषयकमन्नं चेत्तद्भवति ॥ उदा०—गुडापूपाः प्रायेणान्नमस्यां पौर्णमास्यां गुडापूपिका पौर्णमासी, तिलापूपिका ॥

भाषार्थः—[*तद्*] प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से [*अस्मिन्*] सप्तम्यर्थ में कन् प्रत्यय होता है, यदि वह प्रथमासमर्थ [*प्राये*] बहुत करके [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में [*अन्नम्*] अन्न विषयक हो तो ॥ उदा०—गुडापूपिका (जिस पूर्णिमा में बहुत गुड वाला अपूप अन्न = भक्ष्य

होता है वह गुडापूपिका कहाती है) तिलापूपिका (तिलप्रधान पूए भक्ष्य वाली पूर्णिमा) ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ५।२।८३ तक जायेगी ॥

कुल्माषादञ् ॥५।२।८३॥

कुल्माषात् ५।१॥ अञ् १।१। अनु०—तदस्मिन्नन्नं प्राये संज्ञायाम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थ*—कुल्माषप्रातिपदिकात् तदस्मिन्नन्नं प्राये संज्ञायाम् इत्येतस्मिन् विषयेऽञ् प्रत्ययो भवति ॥ पूर्वसूत्रस्यायमपवादः ॥ *उदा०*—कुल्माषाः प्रायेणान्नमस्यां कौल्माषी पौर्णमासी ॥

भाषार्थः—[*कुल्माषात्*] कुल्माष प्रातिपदिक से *तदस्मिन्नन्नं प्राये संज्ञायाम्* इस विषय में [*अञ्*] अञ् प्रत्यय होता है ॥ पूर्व सूत्र से कन् की प्राप्ति में अञ् विधान है ॥ *उदा०*—कौल्माषी पौर्णमासी (कुल्माष = कुलत्थ प्रधान भक्ष्य जिसमें हो वह पूर्णिमा) । *टिड्ढाणञ्०* (४।१।१५) से ङीप् हो जायेगा ॥

श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते ॥५।२।८४॥

श्रोत्रियन् १।१॥ छन्दः १।१॥ अधीते क्रिया० ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—श्रोत्रियन् इति निपात्यते छन्दोऽधीत इत्येतस्मिन्नर्थे । छन्दःशब्दस्य श्रोत्रभावो घन् च प्रत्ययो निपात्यते ॥ *उदा०*—यश्छन्दोऽधीते स श्रोत्रियो ब्राह्मणः ॥

भाषार्थः—[*छन्दोऽधीते*] वेद को पढ़ता है, इस अर्थ में [*श्रोत्रियन्*] श्रोत्रियन् यह शब्द निपातन किया जाता है । छन्दस् शब्द के स्थान में श्रोत्र भाव तथा घन् प्रत्यय निपातन से किया जाता है ॥ श्रोत्रियन् में नकार स्वरार्थ *ञ्नित्यादि०* (६।१।१९१) से आद्युदात्त करने के लिये है ॥ जो छन्द = वेद को पढ़ता है वह *श्रोत्रिय* कहाता है ॥

श्राद्धमनेन भुक्तमिनिठनौ ॥५।२।८५॥

श्राद्धम् १।१॥ अनेन ३।१॥ भुक्तम् १।१॥ इनिठनौ १।२॥ *स०*—इनि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्,

प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थात् श्राद्धप्रातिपदिकात् भुक्तसमानाधिकरणाद् अनेनेत्येतस्मिन्नर्थे इनि ठन् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः ॥ निर्देशादेव प्रथमासमर्थविभक्तिः ॥ *उदा०*—श्राद्धं भुक्तमनेन श्राद्धी, श्राद्धिकः ॥

भाषार्थः—प्रथमासमर्थ [*श्राद्धम्*] श्राद्ध प्रातिपदिक जो [*भुक्तम्*] भुक्त क्रिया का समानाधिकरण है उससे [*अनेन*] इसके द्वारा इस अर्थ में [*इनिठनौ*] इनि और ठन् प्रत्यय होते हैं ॥ श्राद्ध इनि= श्राद्धिन् सु, यहाँ ६।४।१३ से दीर्घ तथा नकार लोप एवं हल्ङ्यादि लोप होकर श्राद्धी बन गया ॥ श्राद्धिकः में ठ को इक हो जाता है ॥

यहाँ से '*अनेन*' की अनुवृत्ति ५।२।८८ तक जायेगी ॥

पूर्वादिनिः ॥५।२।८६॥

पूर्वात् ५।१॥ इनिः १।१॥ *अनु०*—अनेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थात् पूर्वप्रातिपदिकाद् अनेनेत्येतस्मिन्नर्थे इनिः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—पूर्वं गतमनेन पूर्वी, पूर्वं पीतं भुक्तं वा अनेन पूर्वी पूर्विणौ पूर्विणः ॥

भाषार्थः—प्रथमासमर्थ [*पूर्वात्*] पूर्व प्रातिपदिक से अनेन अर्थ में [*इनिः*] इनि प्रत्यय होता है ॥ पूर्वो आदि में गत भुक्त पीत आदि क्रिया की पूर्व शब्द के सामर्थ्य से प्रतीति होती है ॥

यहाँ से '*पूर्वात्*' की अनुवृत्ति ५।२।८७ तक तथा '*इनिः*' की ५।२।९१ तक जायेगी ॥

सपूर्वाच्च ॥५।२।८७॥

सपूर्वात् ५।१॥ च अ० ॥ *स०*—विद्यमानं पूर्वं यस्मात् तत् सपूर्वं तस्मात्.....अस्वपदविग्रहबहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—पूर्वात्, इनिः, अनेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—विद्यमानपूर्वात् प्रथमासमर्थात् पूर्वान्तप्रातिपदिकादनेनेत्येतस्मिन्नर्थे इनिः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—पूर्वं कृतमनेन कृतपूर्वी कटम्, भुक्तपूर्वी ओदनम् ॥

भाषार्थः—[*सपूर्वात्*] विद्यमान है पूर्व में (कोई शब्द) जिस पूर्व प्रातिपदिक के ऐसे प्रथमासमर्थ पूर्व शब्द से [*च*] भी इनि प्रत्यय होता है ॥ पूर्व सूत्र द्वारा केवल पूर्व शब्द से इनि प्रत्यय प्राप्त था, यहाँ तदन्त

से भी इनि हो जाये इसलिये यह सूत्र बनाया ।। कृतपूर्वी आदि में *निष्ठा* (२।२।३६) से निष्ठान्त का पूर्व निपात हुआ है ।।

इष्टादिभ्यश्च ।।५।२।८८।।

इष्टादिभ्यः ५।३।। च अ० ।। *स०*—इष्ट आदिर्येषां त इष्टादयस्तेभ्यः ......बहुव्रीहिः ।। *अनु०*—इनिः, अनेन, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ।। *अर्थः*—प्रथमासमर्थेभ्य इष्टादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो-ऽनेनेत्येतस्मिन्नर्थे इनिः प्रत्ययो भवति ।। *उदा०*—इष्टमनेन इष्टी, पूर्त्ती, अधीतमनेन अधीती ।।

भाषार्थः—प्रथमासमर्थ [*इष्टादिभ्यः*] इष्टादि प्रातिपदिकों से [*च*] भी अनेन इस अर्थ में इनि प्रत्यय होता है ।। *उदा०*—इष्टी (जिसने यज्ञ किया) पूर्त्ती (जिसने पूर्त=प्याऊ धर्मशाला बगीचा आदि बनाया) अधीती (जिसने पढ़ा) ।।

छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि ।।५।२।८९।।

छन्दसि ७।१।। परि.....रिणौ १।२।। पर्यवस्थातरि ७।१।। *स०*—परि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। *अनु०*—इनिः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ।। *अर्थः*—छन्दसि विषये परिपन्थिन् परिपरिन् इत्येतौ शब्दौ निपात्येते पर्यवस्थातरि वाच्ये । परिपन्थिन् शब्दाद् इनिप्रत्ययः, प्रकृतिगतस्य इन्मात्रस्य च लोपो निपात्यते, एवं परिशब्दाद् इनि-प्रत्ययः, इकारमात्रस्य लोपः, परिशब्दस्य च द्विर्वचनं निपात्यते ।। पर्यवस्थाता सम्पन्नप्रतिपक्ष उच्यते, इह तु प्रतिपक्षभूतो बाधको मार्ग-स्यावरोधकः स्तेनादिरुच्यते ।। *उदा०*—मा त्वा परिपन्थिनो विदन् । मा त्वा परिपरिणो विदन् ।।

भाषार्थः—[*छन्दसि*] वेद विषय में [*परि...रिणौ*] परिपन्थिन् और परिपरिन् यह शब्द [*पर्यवस्थातरि*] पर्यवस्थाता वाच्य हो तो निपातन किये जाते हैं ।। पर्यवस्थाता = सम्पन्न बलवान् प्रतिपक्षी को कहते हैं ।। परन्तु यहाँ पर बाधक मार्ग का अवरोधक लुटेरा आदि अर्थ विवक्षित है । परिपन्थिन् शब्द से इनि प्रत्यय तथा इन् भाग का लोप परिपन्थिन् शब्द में निपातन है । इसी प्रकार परिपरिन् में परि शब्द से इनि प्रत्यय परि को द्वित्व तथा इकारमात्र का लोप निपातन है ।। *उदा०*—

मा त्वा परिपन्थिनो विदन् (तुझे परिपन्थिन् मार्ग रोक कर और परि-परिन् सब ओर से घेरकर लूटने वाले लुटेरे न मिलें) मा त्वा परिपरिणो विदन् ॥

अनुपद्यन्वेष्टा ॥५।२।९०॥

अनुपदी १।१॥ अन्वेष्टा १।१॥ *अनु०*—इनिः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अन्वेष्टा इत्येतस्मिन्नर्थे अनुपदी इति निपात्यते। अनुपदशब्दात् इनि प्रत्ययो निपात्यते ॥ पदस्य पश्चात् अनुपदम्। अनुपदमन्वेष्टा अनुपदी गवाम् ॥

भाषार्थः—[*अन्वेष्टा*] अन्वेष्टा=पीछे जाने वाला इस अर्थ में [*अनुपदी*] अनुपदी शब्द निपातन किया जाता है। अनुपद शब्द से इनि प्रत्यय निपातन करके अनुपदी शब्द बनता है ॥ *उदा०*—अनुपदी गवाम् (गौवों के पीछे चलने वाला चरवाहा) ॥

साक्षाद् द्रष्टरि संज्ञायाम् ॥५।२।९१॥

साक्षात् अ० ॥ द्रष्टरि ७।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ *अनु०*—इनिः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—'साक्षात्' शब्दोऽव्ययम्, तस्मादिनिः प्रत्ययो भवति द्रष्टरि वाच्ये संज्ञायां विषये ॥ *उदा०*—साक्षात् द्रष्टा साक्षी ॥

भाषार्थः—[*साक्षात्*] साक्षात् यह शब्द अव्यय है, इससे [*द्रष्टरि*] द्रष्टा वाच्य हो तो [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में इनि प्रत्यय होता है ॥ साक्षात् के टि भाग का लोप इनि परे रहते, *अव्ययानां भमात्रे०* (वा० (७।३।१४४) इस वार्त्तिक से होकर साक्ष् इनि = साक्षी (प्रत्यक्ष द्रष्टा) बनेगा ॥

क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः ॥५।२।९२॥

क्षेत्रियच् १।१॥ परक्षेत्रे ७।१॥ चिकित्स्यः १।१॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—क्षेत्रियच् इति निपात्यते परक्षेत्रे चिकित्स्य इत्येतस्मिन्नर्थे ॥ परक्षेत्रशब्दात् सप्तमीसमर्थात् घच् प्रत्ययः परशब्दलोपश्च निपात्यते ॥ *उदा०*—परक्षेत्रे चिकित्स्यः = क्षेत्रियो व्याधिः, क्षेत्रियम् कुष्ठम् ॥

भाषार्थः—[*क्षेत्रियच्*] क्षेत्रियच् यह शब्द निपातन किया जाता है, [*परक्षेत्रे चिकित्स्यः*] दूसरे क्षेत्र = शरीर में चिकित्सा किया जाने योग्य इस अर्थ में। यहाँ परक्षेत्र शब्द से घच् प्रत्यय तथा पर शब्द का लोप निपातन से किया है॥ *उदा०*—क्षेत्रियो व्याधिः (दूसरे शरीर में ठीक होने वाली अर्थात् मरणान्त रहने वाली व्याधि)॥

इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा ॥५।२।९३॥

इन्द्रियम् १।१॥ इन्द्रलिङ्गम् इत्यादिषु प्रत्येकम् १।१॥ इति अ० ॥ वा० अ० ॥ *स०*—इन्द्रलिङ्ग० इत्यत्र तत्पुरुषः॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—इन्द्रियमिति लिङ्गादिष्वर्थेषु निपात्यते, वा॥ इन्द्रशब्दात् षष्ठीसमर्थात् लिङ्गम् इत्येतस्मिन्नर्थे घच् प्रत्ययो निपात्यते। एवमन्यत्रापि तृतीयासमर्थाद् इन्द्रशब्दात् दृष्टादिष्वर्थेषु घच् प्रत्ययो निपात्यते॥ *उदा०*—इन्द्रस्य लिङ्गमिन्द्रियम्, इन्द्रेण दृष्टम् इन्द्रियम्, इन्द्रेण सृष्टम् इन्द्रियमित्यादिः॥

भाषार्थः—[*इन्द्रियम्*] इन्द्रियम् यह शब्द निपातन किया जाता है, [*इन्द्रलि......दत्तमिति*] इन्द्रलिङ्गादि अर्थों में [*वा*] विकल्प से॥ षष्ठी समर्थ इन्द्र शब्द से लिङ्ग अर्थ में घच् प्रत्यय निपातन है। इसी प्रकार औरों में भी तृतीया समर्थ इन्द्र शब्द से घच् प्रत्यय का निपातन समझना चाहिये॥ *उदा०*—इन्द्रस्य लिङ्गम् इन्द्रियम्, यहाँ इन्द्र नाम जीवात्मा, तथा लिङ्ग नाम चिह्न का है। जीवात्मा का जो चिह्न वह इन्द्रिय कहायेगा। इन्द्रेण जीवेन दृष्टम् इन्द्रियम्। इन्द्रेण जीवेन सृष्टम्, इन्द्रियम्। इन्द्रेण जुष्टम् इन्द्रियम्। इन्द्रेण जीवात्मना दत्तम्, इन्द्रियम् यहाँ ईश्वर का ग्रहण है॥ 'वा' कहने से यहाँ इन्द्रलिङ्ग, इन्द्रदृष्ट इत्यादि सब अर्थों में प्रकारान्तर से 'इन्द्रिय' शब्द की व्युत्पत्ति होती है, यह दिखाने के लिए है, इस प्रकार 'वा' का अर्थ यहाँ 'अथवा' हो सकता है॥ इतिकरण सूत्र में निर्दिष्ट अर्थों से अन्य अर्थों में भी सम्भव होने पर इन्द्रिय शब्द की व्युत्पत्ति हो जाये इसलिये है॥

[मत्वर्थप्रकरणम्]

तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् ॥५।२।९४॥

तत् १।१॥ अस्य ६।१॥ अस्ति क्रिया० ॥ अस्मिन् ७।१॥ इति अ० ॥ मतुप् १।१॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तदिति प्रथमासमर्थाद् अस्तिसमानाधिकरणात् प्रातिपदिकाद् अस्येति षष्ठ्यर्थे अस्मिन्निति सप्तम्यर्थे मतुप् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—गावोऽस्य सन्ति गोमान् देवदत्तः । सप्तम्यर्थे—वृक्षा अस्मिन् सन्तीति वृक्षवान् पर्वतः, प्लक्षवान् , यवमान् ॥

भाषार्थः—[*तत्*] प्रथमासमर्थ प्रातिपदिक से [*अस्य, अस्ति, अस्मिन्निति*] इसका यह है अथवा इसमें यह है, इस अर्थ में [*मतुप्*] मतुप् प्रत्यय होता है ॥ *मादुपधायाश्च०* (८।२।९) से वृक्षवान् आदि में मतुप् के म को व हुआ है, शेष सिद्धि चितवान् भाग १ पृ० ६७७ (परि० १।१।५) के समान जानें ॥ *उदा०*—गोमान् (गायों वाला) वृक्षवान् पर्वतः (वृक्ष वाला पर्वत) ॥ इस प्रकरण के प्रत्यय प्रायः भू = अधिक, निन्दा, प्रशंसा, नित्ययोग, श्रेष्ठता आदि की विवक्षा में होते हैं ॥

यहाँ से *तदस्यास्त्यस्मिन्निति* की अनुवृत्ति ५।२।१४० तक तथा '*मतुप्*' की ५।२।९५ तक जायेगी ॥

रसादिभ्यश्च ॥५।२।९५॥

रसादिभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ *स०*—रस आदिर्येषां ते रसादयस्तेभ्यः बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्, तद्धिताः, ङ्याप्प्राति-पदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अस्तिसमानाधिकरणेभ्यः रसादिभ्यः प्रथमासमर्थेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो मतुप् प्रत्ययो भवति, अस्य अस्मिन् वा इत्यस्मिन्नर्थे ॥ *उदा०*—रसोऽस्मिन्नस्तीति रसवान् , रूपवान् ॥

भाषार्थः—प्रथमासमर्थ [*रसादिभ्यः*] रसादि प्रातिपदिकों से [*च*] भी इसका यह है, या इसमें यह है, इस अर्थ में मतुप् प्रत्यय होता है ॥ पूर्व सूत्र से ही रसादियों से भी मतुप् हो ही जाता पुनर्वचन *अत इनिठनौ* (५।२।११५) आदि से जो इनि, ठन् आदि मत्वर्थ प्रत्यय

प्राप्त थे, उनको भी बाधकर मतुप् ही हो इसलिये है, अर्थात् इन्द्रिय-ग्राह्य रसादि से मतुप् ही हो अन्य नहीं ॥

प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम् ॥५।२।९६॥

प्राणिस्थात् ५।१॥ आतः ५।१॥ लच् १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *स०*—प्राणिषु तिष्ठतीति प्राणिस्थः, तस्मात् तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्राणिस्थवाचिन आकारान्तात् प्रातिपदिकात् लच् प्रत्ययो भवति विकल्पेन, तदस्यास्त्यस्मिन्नित्येतस्मिन् विषये ॥ *उदा०*—चूडाऽस्यास्तीति चूडालः । पक्षे मतुप्—चूडावान् । कर्णिकालः कर्णिकावान् । जिह्वालः, जिह्वावान् । जङ्घालः, जङ्घावान् ॥

भाषार्थः—[*प्राणिस्थात्*] प्राणिस्थवाची [*आतः*] आकारान्त प्रातिपदिकों से [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से [*लच्*] लच् प्रत्यय होता है, तदस्यास्त्यस्मिन् इस अर्थ में ॥ पक्ष में मतुप् होता है ॥ *उदा०*—चूडालः (अच्छी चोटी वाला) चूडावान् । कर्णिकालः (कान के पहनने वाले अलंकार से युक्त) कर्णिकावान् ॥

यहाँ से *'लच्'* की अनुवृत्ति ५।२।९९ तक तथा *'अन्यतरस्याम्'* की अनुवृत्ति ५।२।१४० तक के सभी सूत्रों में जायेगी ॥ परन्तु उससे विहित प्रत्यय का विकल्प न होकर मतुप् का समुच्चय मात्र होगा ॥ प्रत्यय का विकल्प मानने पर पक्ष में अन्य यथाप्राप्त प्रत्ययों की प्राप्ति होती है। अतः यहाँ अन्यतरस्याम् समुच्चयार्थक माना गया है, (द्र० ५।२।१०९ सूत्र) इसलिए इसका अनुवृत्ति में सर्वत्र निर्देश नहीं करेंगे ।

सिध्मादिभ्यश्च ॥५।२।९७॥

सिध्मादिभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ *स०*—सिध्मम् आदि येषां ते सिध्मादयस्तेभ्यः, बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—लच्, अन्यतरस्याम्, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सिध्मादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो मत्वर्थे लच् प्रत्ययो विकल्पेन भवति पक्षे मतुप् ॥ *उदा०*—सिध्ममस्यास्तीति सिध्मलः, सिध्मवान्, गडुलः, गडुमान्, मणिलः मणिमान् ॥

भाषार्थः—[*सिध्मादिभ्यः*] सिध्मादि प्रातिपदिकों से [च] भी मत्वर्थ में लच् प्रत्यय विकल्प से होता है। पक्ष में यथाप्राप्त मतुप् होगा॥ 'यह इसका है, यह इसमें है' इसी अर्थ में मतुप् होता है सो मत्वर्थ कहने से यही अर्थ ग्रहण करना चाहिये॥ *उदा०*—सिध्मलः (सिध्म = कुष्ठभेद उससे युक्त) गडुलः (उन्नत घेंटुआ वाला)॥

वत्सांसाभ्यां कामबले ॥५।२।९८॥

वत्सांसाभ्याम् ५।२॥ कामबले ७।१॥ *स०*—वत्सां० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। काम० इत्यत्र च समाहारो द्वन्द्वः॥ *अनु०*—लच्, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—वत्स अंस शब्दाभ्यां यथासङ्ख्यं मत्वर्थे कामबलयोरर्थयोः गम्यमानयोः लच् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०* –वत्सलः, अंसलः॥

भाषार्थः—[*वत्सांसाभ्याम्*] वत्स और अंस प्रातिपदिकों से मत्वर्थ में यथासङ्ख्य करके [*कामबले*] काम और बल अर्थ गम्यमान हो तो लच् प्रत्यय होता है॥ *उदा०*—वत्सलः (छोटों पर स्नेह रखने वाला) अंसलः (बलवान्)॥

फेनादिलच्च ॥५।२।९९॥

फेनात् ५।१॥ इलच् १।१॥ च अ०॥ *अनु०*—लच्, अन्यतरस्याम्, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—फेनशब्दात् मत्वर्थ इलच् प्रत्ययो भवति लच् च विकल्पेन॥ *उदा०*—फेनमस्ति अस्य अस्मिन् वा फेनिलः, फेनलः, फेनवान्॥

भाषार्थः—[*फेनात्*] फेन प्रातिपदिक से मत्वर्थ में [*इलच्*] इलच् [च] तथा लच् प्रत्यय विकल्प से होते हैं। पक्ष में मतुप् होगा सो तीन रूप बनेंगे॥

लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेलचः ॥५।२।१००॥

लोमा······भ्यः ५।३॥ शनेलचः १।३॥ *स०*—लोमन् आदि येषां ते लोमादयः, बहुव्रीहिः। पामन् आदिर्येषां ते पामादयः, बहुव्रीहिः। पिच्छम् आदि येषां ते पिच्छादयः, बहुव्रीहिः। लोमादयश्च पामादयश्च पिच्छा-

दयश्च, लोमा······च्छादयस्तेभ्यः······इतरेतरद्वन्द्वः। शने० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—अन्यतरस्याम्, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—लोमादिभ्यः, पामादिभ्यः, पिच्छादिभ्यश्च त्रिगणस्थेभ्यो यथासङ्ख्यं श, न, इलच् इत्येते प्रत्ययाः भवन्ति विकल्पेन मत्वर्थे ॥ *उदा०*—लोमादिभ्यः—लोमानि अस्य सन्तीति लोमशः पुरुषः, पक्षे लोमवान्। पामादिभ्यः—पामा अस्यास्तीति पामनः, पामवान्। पिच्छादिभ्यः—पिच्छमत्रास्तीति पिच्छिलः, पिच्छवान् ॥

भाषार्थः—[*लोमा···भ्य*] लोमादि, पामादि तथा पिच्छादि इन तीन गणपठित शब्दों से यथासङ्ख्य करके [*शनेलचः*] श, न, तथा इलच् प्रत्यय विकल्प से मत्वर्थ में होते हैं ॥ *उदा०*—लोमशः (अधिक लोम वाला पुरुष) लोमवान्। पामनः (पामा = चम्बल रोग वाला) पामवान्। पिच्छिलः (फिसलन वाला देश) पिच्छवान् ॥

प्रज्ञाश्रद्धार्चाभ्यो णः ॥५।२।१०१॥

प्रज्ञा···भ्यः ५।३॥ णः १।१॥ *स०*—प्रज्ञा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अन्यतरस्याम्, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रज्ञा, श्रद्धा, अर्चा इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो विकल्पेन मतुबर्थे णः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—प्रज्ञाऽस्यास्तीति प्राज्ञः, प्रज्ञावान्, श्राद्धः श्रद्धावान्, आर्चः अर्चावान् ॥

भाषार्थः—[*प्रज्ञा··भ्यः*] प्रज्ञा, श्रद्धा, अर्चा इन प्रातिपदिकों से विकल्प से मतुबर्थ में [*णः*] ण प्रत्यय होता है ॥ पक्ष में मतुप् होगा ही ॥

तपःसहस्राभ्यां विनीनी ॥५।२।१०२॥

तपःसहस्राभ्याम् ५।२॥ विनीनी १।२॥ *स०*—उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तपः, सहस्र इत्येताभ्यां शब्दाभ्यां यथासङ्ख्यं विनि इनि इत्येतौ प्रत्ययौ भवतो मत्वर्थे ॥ *उदा०*—तपोऽस्याऽस्मिन् वा विद्यते तपस्वी, सहस्री ॥

भाषार्थः—[*तपःसहस्राभ्याम्*] तपस् और सहस्र शब्दों से यथासङ्ख्य करके मत्वर्थ में [*विनीनी*] विनि तथा इनि प्रत्यय होते हैं ॥

यहाँ से '*तपः सहस्राभ्याम्*' की अनुवृत्ति ५।२।१०३ तक जायेगी ॥

अण् च ॥५।२।१०३॥

अण् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—तपःसहस्राभ्यां, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तपःसहस्रशब्दाभ्यां मत्वर्थेऽण् च प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—तापसः, साहस्रः ॥

भाषार्थः—तपस् और सहस्र शब्दों से मत्वर्थ में [*अण्*] अण् प्रत्यय [*च*] भी होता है ॥

यहाँ से '*अण्*' की अनुवृत्ति ५।२।१०५ तक जायेगी ॥

सिकताशर्कराभ्यां च ॥५।२।१०४॥

सिकताशर्कराभ्याम् ५।२॥ च अ० ॥ *स०*—सिक० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अण्, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सिकता, शर्करा इत्येताभ्यां प्रातिपदिकाभ्यामण् प्रत्ययो भवति मत्वर्थे ॥ *उदा०*—सैकतो घटः, शार्करं मधु ॥

भाषार्थः—[*सिकताशर्कराभ्याम्*] सिकता, और शर्करा शब्दों से मत्वर्थ में अण् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*सिकताशर्कराभ्याम्*' की अनुवृत्ति ५।२।१०५ तक जायेगी ॥

देशे लुबिलचौ च ॥५।२।१०५॥

देशे ७।१॥ लुबिलचौ १।२॥ च अ० ॥ *स०*—लुबि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—सिकताशर्कराभ्याम्, अन्यतरस्याम्, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सिकताशर्कराशब्दाभ्यां देशेऽभिधेये लुप्, इलच् इत्येतौ प्रत्ययौ विकल्पेन भवतोऽण् च ॥ प्रत्ययस्यादर्शनस्य लुप् संज्ञा, तत्र विशेषाभावात् मतुबादीनामन्यतमस्य लुब् भवति ॥ *उदा०*—सिकता (बालू) अस्मिन् विद्यन्ते

सिकता देशः, सिकतिलः, सैकतः, सिकतावान् । शर्कराः (कंकड़) अस्मिन् विद्यन्ते शर्करा देशः, शर्करिलः, शार्करः, शर्करावान् ॥

भाषार्थः—सिकता और शर्करा शब्दों से [देशे] देश अभिधेय हो तो [लुबिलचौ] लुप् और इलच् तथा अण् प्रत्यय विकल्प से होते हैं, सो ४ रूप बनेंगे ॥ प्रत्यय के अदर्शन की लुप् संज्ञा की है, यहाँ किसी विशेष प्रत्यय का लुप् तो कहा नहीं है, अतः मतुप् आदियों में से किसी का भी लुप् हो जायेगा ॥ सिकता इलच् = यस्येति लोप होकर सिकत् इल = सिकतिलः बन गया ॥

दन्त उन्नत उरच् ॥५।२।१०६॥

दन्तः १।१ पञ्चम्यर्थे प्रथमा ॥ उन्नतः १।१॥ उरच् १।१॥ *अनु०*—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—उन्नतसमानाधिकरणान् दन्तशब्दाद् उरच् प्रत्ययो भवति मत्वर्थे ॥ *उदा०*—दन्ता उन्नताऽस्य सन्ति = दन्तुरः ॥

भाषार्थः—[*उन्नतः*] उन्नतसमानाधिकरण वाले [*दन्तः*] दन्त शब्द से [*उरच्*] उरच् प्रत्यय होता है, मत्वर्थ में ॥ *उदा०*—दन्तुरः (जिसके उन्नत अर्थात् ऊपर को निकले हुये दांत हैं) ॥

ऊषसुषिमुष्कमधो रः ॥५।२।१०७॥

ऊष·····धोः ५।१॥ रः १।१॥ *स०*—ऊष० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—ऊष, सुषि, मुष्क, मधु इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो रः प्रत्ययो भवति मत्वर्थे ॥ *उदा०*—ऊषरं क्षेत्रम्, सुषिरं काष्ठम्, मुष्करः पशुः, मधुरो गुडः ॥

भाषार्थः—[*ऊष···धोः*] ऊष, सुषि, मुष्क, मधु प्रातिपदिकों से मत्वर्थ में [*रः*] र प्रत्यय होता है ॥

द्युद्रुभ्यां मः ॥५।२।१०८॥

द्युद्रुभ्याम् ५।२॥ मः १।१॥ *स०*—द्यु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥

अर्थः—द्यु, द्रु इत्येताभ्यां शब्दाभ्यां मत्वर्थे मः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—द्युमः, द्रुमः ॥

भाषार्थः—[*द्युद्रुभ्याम्*] द्यु तथा द्रु शब्दों से मत्वर्थ में [*मः*] म प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—द्युमः (सूर्य) द्रुमः (वृक्ष) ॥

केशाद्वोऽन्यतरस्याम् ॥५।२।१०९॥

केशात् ५।१॥ वः १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—अन्यतरस्याम्, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—केशशब्दात् मत्वर्थे वः प्रत्ययो भवति विकल्पेन ॥ उपरिष्टाद् योऽन्यतरस्यामनुवर्त्तते तेन मतुप् समुच्चीयतेऽनेन तु वकारो विकल्प्यते, तेन पक्षे इनिठनौ भवतः ॥ *उदा०*—प्रशस्ताः केशा अस्य सन्तीति केशवः, केशी, केशिक· केशवान् ॥

भाषार्थः—[*केशात्*] केश शब्द से मत्वर्थ में [*वः*] व प्रत्यय [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से होता है ॥ इस सूत्र में ऊपर से एक 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति आ रही है, सो उससे पक्ष में मतुप् का समुच्चय करते हैं तथा यहाँ पुनः अन्यतरस्याम् कहने से *अत इनिठनौ* (५।२।११५) से प्राप्त (केश शब्द के अदन्त होने से) इनि तथा ठन् प्रत्यय होते हैं, सो ४ रूप बनेंगे ॥

यहाँ से '*वः*' की अनुवृत्ति ५।२।११० तक जायेगी ॥

गाण्ड्यजगात् संज्ञायाम् ॥५।२।११०॥

गाण्ड्यजगात् ५।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ *स०*—गाण्डी च अजगश्च, गाण्ड्यजगम्, तस्मात् ···· समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—वः, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—गाण्डी, अजग इत्येताभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां संज्ञायाम् विषये मत्वर्थे वः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—गाण्डीवं धनुः, अजगवं धनुः ॥

भाषार्थः—[*गाण्ड्यजगात्*] गाण्डी तथा अजग प्रातिपदिकों से [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में मत्वर्थ में 'व' प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—

गाण्डीवं धनुः (अर्जुन के धनुष का नाम) अजगवं धनुः (शिव के धनुष की संज्ञा) ॥

काण्डाण्डादीरन्नीरचौ ॥५।२।१११॥

काण्डाण्डात् ५।१॥ ईरन्नीरचौ १।२॥ *स०*—काण्डश्च अण्डश्च, काण्डाण्डम् तस्मात्.....समाहारो द्वन्द्वः। ईर० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—काण्ड, अण्ड इत्येताभ्यां शब्दाभ्यां यथासङ्ख्यम् ईरन्, ईरच् इत्येतौ प्रत्ययौ भवत मत्वर्थे॥ *उदा०*—काण्डमस्यास्तीति काण्डीरः, अण्डीरः॥

भाषार्थः—[*काण्डाण्डात्*] काण्ड तथा अण्ड शब्दों से यथासङ्ख्य करके [*ईरन्नीरचौ*] ईरन् तथा ईरच् प्रत्यय मत्वर्थ में होते हैं॥

रजःकृष्यासुतिपरिषदो वलच् ॥५।२।११२॥

रजः.....षदः ५।१॥ वलच् १।१॥ *स०*—रजः० इत्यत्र समाहारो-द्वन्द्वः॥ *अनु०*—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—रजः, कृषि, आसुति, परिषद् इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो वलच् प्रत्ययो भवति मत्वर्थे॥ *उदा०*—रजस्वला स्त्री, कृषीवलः कुटुम्बी, आसुतीवलः शौण्डिकः, परिषद्वलो राजा॥

भाषार्थः—[*रज...षदः*] रजस्, कृषि, आसुति, परिषद् प्रातिपदिकों से मत्वर्थ में [*वलच्*] वलच् प्रत्यय होता है॥ *उदा०*—रजस्वला स्त्री (मासिक धर्म से युक्ता स्त्री) कृषीवलः (कृषि करने वाला किसान) आसुतीवलः (आसुति = मद्य से युक्त, शराब बेचने वाला) परिषद्वलः (विशिष्ट सभाओं से युक्त राजा)॥ कृषीवलः, आसुतीवलः में *वले* (६।३।११६) में 'वल' परे रहते इकार को दीर्घ हुआ है॥

यहाँ से '*वलच्*' की अनुवृत्ति ५।२।११३ तक जायेगी॥

दन्तशिखात् संज्ञायाम् ॥५।२।११३॥

दन्तशिखात् ५।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ *स०*—दन्त० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः॥ *अनु०*—वलच्, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदि-

कात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—दन्तशिखाशब्दाभ्यां वलच् प्रत्ययो भवति मत्वर्थे संज्ञायां विषये ॥ *उदा०*—दन्तावलः सैन्यः, दन्तावलो गजः, शिखावलं नगरम्, शिखावला स्थूणा ॥

भाषार्थः—[*दन्तशिखात्*] दन्त और शिखा शब्दों से [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में वलच् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—दन्तावलः गजः (बड़े दांतों वाला हाथी) शिखावलं नगरम् ॥ दन्तावलः में *वले* (६।३।११६) दीर्घ हुआ है ॥

ज्योत्स्नातमिस्राशृङ्गिणोर्जस्विन्नूर्जस्वलगोमिन्मलिनमलीमसाः ॥५।२।११४॥

ज्यो·····मसाः १।३॥ *स०*—ज्यो० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—ज्योत्स्ना, तमिस्रा, शृङ्गिण, ऊर्जस्विन्, ऊर्जस्वल, गोमिन् मलिन, मलीमस इत्येते शब्दा निपात्यन्ते मत्वर्थे ॥ ज्योत्स्ना इत्यत्र ज्योतिष उपधालोपो नप्रत्ययश्च निपात्यते, ज्योत्स्ना चन्द्रप्रभा ॥ तमिस्रा इत्यत्र तमस उपधाया इकारो रश्च प्रत्ययो निपात्यते तमिस्रं नभः ॥ शृङ्गशब्दाद् इनच् प्रत्ययो निपात्यते, शृङ्गिणः ॥ ऊर्जोऽसुक् आगमो विनिवलचौ च प्रत्ययौ भवतः । ऊर्जस्वी, ऊर्जस्वलः । गोर्मिनि प्रत्ययो निपात्यते गोमी ॥ मलशब्दात्, इनच्, ईमसच् प्रत्ययौ निपात्येते, मलिनः मलीमसः ॥

भाषार्थः—[*ज्यो··मसाः*] ज्योत्स्ना आदि शब्द मत्वर्थ में निपातन किये जाते हैं ॥ ज्योत्स्ना शब्द में ज्योतिष् शब्द से उपधा लोप तथा न प्रत्यय निपातन से किया है ॥ ज्योत्स् न टाप् = ज्योत्स्ना ॥ तमिस्रा में तमस् शब्द की उपधा को इकार तथा 'र' प्रत्यय निपातन है, तमिस् र टाप् = तमिस्रा । शृङ्गिणः में शृङ्ग शब्द से इनच् प्रत्यय निपातन है ॥ ऊर्जस्वी, ऊर्जस्वल शब्दों में असुक् आगम तथा पर्याय से विनि, वलच् प्रत्यय निपातन हैं, ऊर्ज् असुक् विनि = ऊर्ज् अस् विन् = ऊर्जस्वी। ऊर्ज् असुक् वलच्, ऊर्जस्वल = ऊर्जस्वलः ॥ गोमिन् शब्द में गो शब्द से मिनि प्रत्यय निपातन है ॥ मलिन. तथा मलीमस शब्दों में क्रम से इनच् और ईमसच् प्रत्यय निपातन से हैं । मल इनच् यस्येति लोप होकर मलिनः । मल ईमसच् = पूर्ववत् मलीमसः बना ॥

अत इनिठनौ ॥५।२।११५॥

अतः ५।१॥ इनिठनौ १।२॥ स०—इनि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अकारान्तात् प्रातिपदिकाद् मत्वर्थे इनिठनौ प्रत्ययौ भवतः ॥ *उदा०*—दण्डोऽस्यास्तीति दण्डी । ठन्–दण्डिकः। छत्री छत्रिकः। मतुप् तु समुच्चीयत एव—दण्डवान्, छत्रवान् ॥

भाषार्थः—[*अतः*] अकारान्त प्रातिपदिकों से मत्वर्थ में [*इनिठनौ*] इनि और ठन् प्रत्यय होते हैं ॥ दण्ड, छत्र अकारान्त हैं, सो इनि ठन् हो गये हैं 'अन्यतरस्याम्' से मतुप् का समुच्चय तो होता ही है ॥

यहाँ से '*इनिठनौ*' की अनुवृत्ति ५।२।११७ तक जायेगी ॥

व्रीह्यादिभ्यश्च ॥५।२।११६॥

व्रीह्यादिभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ स०—व्रीहिः आदिर्येषां ते व्रीह्यादयस्तेभ्यः...बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—इनिठनौ, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—व्रीह्यादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्य इनिठनौ प्रत्ययौ भवतो मत्वर्थे । मतुप् समुच्चीयत एव ॥ *उदा०*—व्रीहयोऽस्य अस्मिन् वा सन्ति, व्रीही, व्रीहिकः, व्रीहिमान् । मायी, मायिकः, मायावान् ॥

भाषार्थः—[*व्रीह्यादिभ्यः*] व्रीह्यादि शब्दों से [च] भी मत्वर्थ में इनि ठन् प्रत्यय विकल्प से होते हैं । मतुप् का समुच्चय होता ही है ॥

तुन्दादिभ्य इलच्च ॥५।२।११७॥

तुन्दादिभ्यः ५।३॥ इलच् १।१॥ च अ० ॥ स०—तुन्द आदिर्येषां ते तुन्दादयस्तेभ्यः......बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—इनिठनौ, तदस्यास्त्यस्मिन्निति तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तुन्दादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्य इलच् प्रत्ययो भवति, चकाराद् इनिठनौ च । मतुप् तु समुच्चीयत एव ॥ *उदा०*—इलच्–तुन्दिलः । इनि–तुन्दी । ठन्–तुन्दिकः । मतुप्—तुन्दवान्, उदरिलः, उदरी, उदरिकः, उदरवान् ॥

भाषार्थः—[*तुन्दादिभ्यः*] तुन्दादि प्रातिपदिकों से मत्वर्थ में [*इलच्*] इलच् तथा [च] चकार से इनि, ठन् प्रत्यय होते हैं ॥ मतुप् का समुच्चय भी होता है ॥ इस प्रकार चार चार रूप तुन्दादियों से बनते हैं ॥

एकगोपूर्वाट्ठञ् नित्यम् ॥५।२।११८॥

एकगोपूर्वात् ५।१॥ ठञ् १।१॥ नित्यम् १।१॥ *स०*—एकश्च गौश्च एकगावौ, तौ पूर्वौ यस्य, एकगोपूर्वस्तस्मात् द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—एकपूर्वाद् गोपूर्वाच् च प्रातिपदिकात् नित्यं ठञ् प्रत्ययो भवति मत्वर्थे ॥ *उदा०*—एकशतमस्यास्तीति ऐकशतिकः, ऐकसहस्रिकः । गोपूर्वात्— गौशतिकः, गौसहस्रिकः ॥

भाषार्थः—[*एकगोपूर्वात्*] एक जिस शब्द के पूर्व में हो, तथा गो शब्द जिसके पूर्व में हो, ऐसे प्रातिपदिक से [*नित्यम्*] नित्य ही [*ठञ्*] ठञ् प्रत्यय होता है मत्वर्थ में ॥ *उदा०*—ऐकशतिकः (एक सौ रुपये वाला)। गोपूर्वात्—गौशतिकः (सौ गौवों वाला) गौसहस्रिकः (सहस्र गौवों वाला) ॥

यहाँ से 'ठञ्' की अनुवृत्ति ५।२।११९ तक जायेगी ॥

शतसहस्रान्ताच्च निष्कात् ॥५।२।११९॥

शतसहस्रान्तात् ५।१॥ च अ० ॥ निष्कात् ५।१॥ *स०*—शतञ्च सहस्रञ्च, शतसहस्रे, शतसहस्रेऽन्ते यस्य तत् शत····न्तम् तस्मात्··· द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—ठञ् तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—शतान्तात् सहस्रान्ताच्च निष्कशब्दात् ठञ् प्रत्ययो भवति मत्वर्थे ॥ *उदा०*—निष्कशतमस्यास्ति नैष्कशतिकः, नैष्कसहस्रिकः ॥

भाषार्थः—[*शत····त्*] शत शब्द अन्त वाले तथा सहस्र शब्द अन्त वाले [*निष्कात्*] निष्क प्रातिपदिक से [च] भी मत्वर्थ में ठञ् प्रत्यय होता है ॥

रूपादाहतप्रशंसयोर्यप् ॥५।२।१२०॥

रूपात् ५।१॥ आह॰॰॰योः ७।२॥ यप् १।१॥ स०—आह० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—आहतप्रशंसाविशिष्टेऽर्थे वर्त्तमानात् रूपशब्दात् यप् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—आहतं रूपमस्य रूप्यो दीनारः, रूप्यं कार्षापणम्। प्रशंसायाम्—प्रशस्तं रूपमस्यास्ति = रूप्यः पुरुषः ॥

भाषार्थः—[*आहतप्रशंसयोः*] आहत और प्रशंसा अर्थों में वर्त्तमान [*रूपात्*] रूप प्रातिपदिक से [*यप्*] यप् प्रत्यय मत्वर्थ में होता है ॥ सांचे में ठोंककर रूप निखार कर बनाई जाने वाली मुद्राएं आहत कहाती हैं[1]। *उदा०*—रूप्यो दीनारः (सांचे में ठोंक कर बनाया गया दीनार) रूप्यः पुरुषः (प्रशंसित रूप वाला पुरुष) ॥

अस्मायामेधास्रजो विनिः ॥५।२।१२१॥

अस्मायामेधास्रजः ५।१॥ विनिः १।१॥ स०—अस् च माया च मेधा च स्रक् च, अस्मा॰॰॰क् तस्मात्॰॰॰समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—असन्तात् प्रातिपदिकात् माया मेधा स्रक् इत्येतेभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यो विनिः प्रत्ययो भवति मत्वर्थे। मतुप् समुच्चीयत एव ॥ उदा०—असन्तात्-पयोऽस्यास्ति = पयस्वी, पयस्वान्। यशस्वी, यशस्वान्। मायावी, मायावान्। मेधावी मेधावान्। स्रग्वी स्रग्वान् ॥

भाषार्थः—[*अस्मा॰॰॰जः*] अस् अन्त वाले, तथा माया, मेधा स्रज् प्रातिपदिकों से मत्वर्थ में [*विनिः*] विनि प्रत्यय होता है ॥ मतुप् का समुच्चय पूर्ववत् होता ही है।

यहाँ से '*विनिः*' की अनुवृत्ति ५।२।१२२ तक जायेगी ॥

---

१. प्राचीन काल में दो प्रकार से मुद्राएं बनती थीं, सांचे में ठोंक कर और सांचे में ढालकर। सांचे में ठोक कर बनाई गई आहत मुद्राएं अधिक प्राचीन मानी जाती हैं ॥

बहुलं छन्दसि ॥५।२।१२२॥

बहुलम् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ *अनु०*—विनिः, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रातिपदिकाच्छन्दसि विषये मत्वर्थे बहुलं विनिः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अग्ने तेजस्विन् । बहुलग्रहणात् न च भवति—सूर्यो वर्चस्वान् ॥

भाषार्थः—प्रातिपदिकों से [*छन्दसि*] वैदिक प्रयोग विषय में [*बहुलम्*] बहुल करके मत्वर्थ में विनि प्रत्यय होता है ॥ बहुल कहने से तेजस्विन् में विनि हो गया है, तथा वर्चस्वान् में नहीं भी हुआ ॥

ऊर्णाया युस् ॥५।२।१२३॥

ऊर्णायाः ५।१॥ युस् १।१॥ *अनु०*—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—ऊर्णाशब्दात् युस् प्रत्ययो भवति मत्वर्थे ॥ *उदा०*—ऊर्णा विद्यतेऽस्यास्मिन् वा ऊर्णायुः ॥

भाषार्थः—[*ऊर्णायाः*] ऊर्णा प्रातिपदिक से मत्वर्थ में [*युस्*] युस् प्रत्यय होता है ॥ ऊर्णायुः की सिद्धि भाग १ पृ० ८२७ परि० १।४।१६ में देखें ॥

वाचो ग्मिनिः ॥५।२।१२४॥

वाचः ५।१॥ ग्मिनिः १।१॥ *अनु०*—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—वाच्शब्दात् मत्वर्थे ग्मिनिः प्रत्ययो भवति[1] ॥ *उदा०*—प्रशस्ता वाग् विद्यतेऽस्यास्मिन् वा वाग्मी वाग्मिनौ वाग्मिनः ॥

भाषार्थः—[*वाचः*] वाच् प्रातिपदिक से मत्वर्थ में [*ग्मिनिः*] ग्मिनि प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—वाग्मी (धारा प्रवाह शुद्ध भाषा में बोलने के सामर्थ्य वाला) ॥

यहाँ से '*वाचः*' की अनुवृत्ति ५।२।१२५ तक जायेगी ॥

---

१. वाग्मी में ग्मिनि प्रत्यय करने पर दो गकार प्राप्त होते है। अतः कई व्याख्याकार गकार अन्तादेश और मिनि प्रत्यय का विधान मानते हैं। गकार विधान सामर्थ्य से *प्रत्यये भाषायां नित्यचवनम्* से अनुनासिक नही होता ॥

आलजाटचौ बहुभाषिणि ॥५।२।१२५॥

आलजाटचौ १।२॥ बहुभाषिणि ७।१॥ *स०*—आल० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—वाचः, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—वाच्शब्दाद्, आलच्, आटच् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः मत्वर्थे बहुभाषिण्यभिधेये ॥ *उदा०*—वाचालः, वाचाटः ॥

भाषार्थः—वाच् प्रातिपदिक से [*आलजाटचौ*] आलच् और आटच् मत्वर्थ में प्रत्यय होते हैं [*बहुभाषिणि*] बहुत भाषण = बोलने वाला अभिधेय हो तो ॥ जो व्यर्थ[1] की बाते बहुत बड़-बड़ करे वह वाचालः वाचाटः कहा जायेगा ॥

स्वामिन्नैश्वर्ये ॥५।२।१२६॥

स्वामिन् १।१॥ ऐश्वर्ये ७।१॥ *अनु०*—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—ऐश्वर्ये वाच्ये स्वामिन् इति निपात्यते मत्वर्थे । स्वशब्दात् आमिन् प्रत्ययो निपात्यते ॥ *उदा०*—स्वम् = ऐश्वर्यमस्यास्ति स्वामी स्वामिनौ स्वामिनः ॥

भाषार्थः—[*स्वामिन्*] स्वामिन् यह शब्द आमिन् प्रत्ययान्त मत्वर्थ में निपातन किया जाता है [*ऐश्वर्ये*] ऐश्वर्य गम्यमान हो तो ॥

अर्शआदिभ्योऽच् ॥५।२।१२७॥

अर्शआदिभ्यः ५।३॥ अच् १।१॥ *स०*—अर्शस् आदि येषां ते अर्शआदयस्तेभ्यः······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अर्शस् इत्येवमादिभ्यः शब्देभ्यो मत्वर्थेऽच् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अर्शांसि अस्य विद्यन्ते, अर्शसः, उरसः ॥

---

१. यह अर्थ महाभाष्य के '*कुत्सित इति वक्तव्यम्*' इस वार्तिक से लिया गया है, जो उचित भाषण करे, वह वाग्मी होगा ॥

भाषार्थः—[*अर्श*‥*भ्यः*] अर्शस् आदि गण पठित प्रातिपदिकों से मत्वर्थ में [*अच्*]अच् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—अर्शसः (बवासीर रोग वाला) उरसः (बलवान्) ॥

द्वन्द्वोपतापगर्ह्यात्प्राणिस्थादिनिः ॥५।२।१२८॥

द्वन्द्वो‥‥ह्यात् ५।१॥ प्राणिस्थात् ५।१॥ इनिः १।१॥ *स०*—द्वन्द्वो० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । अत इत्यनुवर्त्ततेऽत्र मण्डूकप्लुतगत्या, *अत इनिठनौ* इत्यतः ॥ *अर्थः*—प्राणिस्थवाचिनो द्वन्द्वसंज्ञका उपतापवाचिनः, गर्ह्यवाचिनश्च ये अदन्तास्तेभ्यो मत्वर्थ इनिः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—द्वन्द्वात्—कटकश्च वलयश्च, कटकवलयम्, तदस्यास्तीति कटकवलयिनी, शङ्खनूपुरिणी । उपतापात्—कुष्ठी, किलासी । गर्ह्यात्—ककुदावर्त्ती, काकतालुकी ॥

भाषार्थः—[*द्वन्द्वो*‥*त्*] द्वन्द्व समास, उपताप = रोग, गर्ह्य = निन्द्य इनको कहने वाले [*प्राणिस्थात्*] प्राणि में स्थित जो अदन्त शब्द उनसे मत्वर्थ में [*इनिः*] इनि प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—कटकवलयिनी (कटक = कड़ा और वलय = हाथ पैर के गहनों वाली) शङ्खनूपुरिणी (शङ्ख और नूपुर = बिछुओं वाली) कुष्ठी (कुष्ट रोग वाला) किलासी (सफेद दाग रोग वाला) ककुदावर्त्ती (ककुदस्थ आवर्त रोग वाला बैल) काकतालुकी ॥

यहाँ से '*इनिः*' की अनुवृत्ति ५।२।१२९ तक जायेगी ॥

वातातीसाराभ्यां कुक् च ॥५।२।१२९॥

वाता‥‥भ्यां ५।२॥ कुक् १।१॥ च अ० ॥ *स०*—वाता० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—इनिः, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—वात, अतीसार इत्येताभ्यां शब्दाभ्यां मत्वर्थे इनिः प्रत्ययो भवति तत्सन्नियोगेन च तयोः कुग् आगमो भवति ॥ *उदा०*—वातोऽस्यास्तीति = वातकी, अतीसारकी ॥

भाषार्थः—[*वातातीसाराभ्याम्*] वात और अतिसार शब्दों से मत्वर्थ में इनि प्रत्यय होता है, तथा इन शब्दों को [*कुक्*] कुक् आगम [च]

भी होता है ॥ वात अतीसार रोगवाची शब्द हैं, सो इनसे पूर्व सूत्र से ही इनि प्रत्यय सिद्ध था, यह पुनर्वचन कुक् आगम के लिये है ॥ *आद्यन्तौ टकितौ* (१।१।४५) से अन्त में कुक् होकर वात कुक् इनि = वातकी पूर्ववत् बना है ॥ *उदा०*—वातकी (वात रोग वाला) अतीसारकी (अतीसार = दस्त रोग वाला) ॥

वयसि पूरणात् ॥५।२।१३०॥

वयसि ७।१॥ पूरणात् ५।१॥ *अनु०*—इनिः, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—पूरणप्रत्ययान्तात् प्रातिपदिकाद् वयसि गम्यमाने मत्वर्थे इनिः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—पञ्चमोऽस्यास्ति मासः संवत्सरो वा पञ्चमी उष्ट्रः, नवमी, दशमी ॥

भाषार्थः—[*पूरणात्*] पूरण प्रत्ययान्त शब्दों से [*वयसि*] अवस्था गम्यमान हो तो मत्वर्थ में इनि प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—पञ्चमी उष्ट्रः (पांच मास के वय = अवस्था वाला) ॥

सुखादिभ्यश्च ॥५।२।१३१॥

सुखादिभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ *स०*—सुखम् आदि येषां ते सुखादयस्तेभ्यः······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—इनिः, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सुखादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो मत्वर्थे इनिः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—सुखमस्यास्तीति सुखी, दुःखी ॥

भाषार्थः—[*सुखादिभ्यः*] सुखादि प्रातिपदिकों से [*च*] भी मत्वर्थ में इनि प्रत्यय होता है ॥ सुख जिसको है वह सुखी, दुःख जिसको है, वह दुःखी कहायेगा ॥

धर्मशीलवर्णान्ताच्च ॥५।२।१३२॥

धर्मशीलवर्णान्तात् ५।१॥ च अ० ॥ *स०*—धर्मश्च शीलञ्च वर्णश्च, धर्मशीलवर्णाः, इत्येते अन्ते यस्य स धर्म···न्तः, तस्मात्·····द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—इनिः, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्राति-

पदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—धर्मान्तात् शीलान्तात् वर्णान्ताच्च प्रातिपदिकात् मत्वर्थे इनिः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—ब्राह्मणस्य धर्मः ब्राह्मणधर्मः, सोऽस्यास्तीति ब्राह्मणधर्मी, ब्राह्मणशीली, ब्राह्मणवर्णी ॥

भाषार्थः—[*धर्मशीलवर्णान्तात्*] धर्म शब्द अन्त वाले, शील अन्त वाले, तथा वर्ण अन्त वाले प्रातिपदिकों से [च] भी मत्वर्थ में इनि प्रत्यय होता है ॥

हस्ताज्जातौ ॥५।२।१३३॥

हस्तात् ५।१॥ जातौ ७।१॥ *अनु०*—इनिः, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—हस्तशब्दादिनिः प्रत्ययो भवति, मत्वर्थे जातौ वाच्यायाम् ॥ *उदा०*—हस्तोऽस्यास्तीति, हस्ती, हस्तिनौ, हस्तिनः ॥

भाषार्थः—[*हस्तात्*] हस्त शब्द से मत्वर्थ में इनि प्रत्यय होता है [*जातौ*] जाति वाच्य हो तो ॥ हस्ती हाथी को कहते हैं ॥ हाथी की सूंड के लिये संस्कृत में हस्त और कर का प्रयोग होता है। हस्त से हस्ती और कर से करी प्रयोग बनता है ॥

वर्णाद् ब्रह्मचारिणि ॥५।२।१३४॥

वर्णात् ५।१॥ ब्रह्मचारिणि ७।१॥ *अनु०*—इनिः, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—वर्णशब्दात् तद्ब्रह्मचारिणि वाच्ये मत्वर्थ इनिः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—वर्णोऽस्यास्तीति वर्णी ब्रह्मचारी ॥

भाषार्थः—[*वर्णात्*] वर्ण प्रातिपदिक से [*ब्रह्मचारिणि*] ब्रह्मचारी वाच्य हो तो मत्वर्थ में इनि प्रत्यय होता है ॥

पुष्करादिभ्यो देशे ॥५।२।१३५॥

पुष्करादिभ्यः ५।३॥ देशे ७।१॥ *स०*—पुष्करम् आदि येषां ते पुष्करादयस्तेभ्यः······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—इनिः, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—पुष्करादिभ्यः प्राति-

पदिकेभ्यो मत्वर्थे इनिः प्रत्ययो भवति देशे वाच्ये ॥ उदा०—पुष्करिणी, पद्मिनी ॥

भाषार्थः—[*पुष्करादिभ्यः*] पुष्करादि प्रातिपदिकों से, मत्वर्थ में [*देशे*] देश वाच्य होने पर इनि प्रत्यय होता है ॥ पुष्करिणी और पद्मिनी उस तलैया (छोटे तालाब) को कहते हैं, जिसमें कमल खिले हुए हों ॥

बलादिभ्यो मतुबन्यतरस्याम् ॥५।२।१३६॥

बलादिभ्यः ५।३॥ मतुप् १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ स०—बलम् आदि येषां ते बलादयस्तेभ्यः..... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—इनिः, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—बलादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो मतुप् प्रत्ययो भवति मत्वर्थे अन्यतरस्याम् ॥ अन्यतरस्यां ग्रहणेन पक्षे इनिः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—बलमस्यास्तीति बलवान्, बली । उत्साहवान्, उत्साही ॥

भाषार्थः—[*बलादिभ्यः*] बलादि प्रातिपदिकों से [*मतुप्*] मतुप् प्रत्यय [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से मत्वर्थ में होता है ॥ पक्ष में प्रकरणस्थ ऊपर से आने वाला इनि प्रत्यय होगा ॥

संज्ञायां मन्माभ्याम् ॥५।२।१३७॥

संज्ञायाम् ७।१॥ मन्माभ्याम् ५।२॥ स०—मन् च मश्च, मन्मौ, ताभ्यां..... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—इनिः, तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—मन्नन्तात् मशब्दान्ताच्च प्रातिपदिकात् संज्ञायां विषये मत्वर्थे इनिः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—मन्नन्तात्—प्रथिमा विद्यतेऽस्याः प्रथमिनी, दामिनी । मशब्दान्तात्—होमो विद्यतेऽस्याः होमिनी, सोमिनी ॥

भाषार्थः—[*मन्माभ्याम्*] मन् अन्त वाले, तथा मशब्दान्त प्रातिपदिकों से [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में मत्वर्थ में इनि प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—प्रथमिनी (विस्तार वाली) दामिनी (विद्युत्) होमिनी (होम करने वाली) सोमिनी (सोम यज्ञ करने वाली) ॥

कंशंभ्यां बभयुस्तितुतयसः ॥५।२।१३८॥

कंशंभ्याम् ५।२॥ बभयुस्तितुतयसः १।३॥ *स०*—कम् च शम् च, **कंशमौ** ताभ्यां ''इतरेतरद्वन्द्वः । बभ० इत्यत्रापि इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, **परश्च** ॥ *अर्थः*—कम् शम् इत्येताभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां ब, भ, युस्, ति, तु, त, यस् इत्येते सप्त प्रत्यया भवन्ति मत्वर्थे ॥ *उदा०*—कम् अस्याऽस्मिन् वा विद्यते कम्बः, शम्बः । कम्भः, शम्भः । कंयुः शंयुः । कन्तिः, तन्तिः । कन्तुः, शन्तुः । कन्तः, शन्तः । कम्यः, शम्यः ॥

भाषार्थः—[*कंशंम्भ्याम्*] कम् तथा शम् शब्दों से मत्वर्थ में [*ब*······*यसः*] ब, भ, युस्, ति, तु, त, यस् ये सात प्रत्यय होते हैं ॥ कम् शब्द जल का वाचक तथा शम् शब्द सुख का वाचक है ॥ युस्, तथा यस् में सकार *सिति* च (१।४।१६) से पद संज्ञा करने के लिये है, सो पदसंज्ञा होकर *मोऽनुस्वारः* (८।३।२३) से म को अनुस्वार, तथा *अनुस्वारस्य०* (८।४।५७) से परसवर्ण होकर कय्यंः शय्यंः बनेगा, कन्तिः शन्तिः में भी 'म्' को अनुस्वार तथा परसवर्ण होकर ही 'न्' हुआ है ॥

तुन्दिवलिवटेर्भः ॥५।२।१३९॥

तुन्दि······टेः ५।१॥ भः १।१॥ *स०*—तुन्दि० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तुन्दि, वलि, वटि इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्योः भः प्रत्ययो भवति मत्वर्थे ॥ *उदा०*—तुन्दिरस्यास्तीति तुन्दिभः, वलिभः, वटिभः ॥

भाषार्थः—[*तुन्दिवलिवटेः*] तुन्दि, वलि, वटि प्रातिपदिकों से मत्वर्थ में [*भः*] भ प्रत्यय होता है ॥ तुन्दि बड़ी निकली हुई नाभि को कहते हैं ॥ *उदा०*—तुन्दिभः (बड़े पेट वाला) वलिभः (झुर्रियों वाला) वटिभः (मोदक वाला) ॥

अहंशुभमोर्युस् ॥५।२।१४०॥

अहंशुभमोः ६।२॥ युस् १।१॥ *स०*—अहम्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तदस्यास्त्यस्मिन्निति, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः,

परश्च ॥ *अर्थः*—अहं, शुभम् इत्येताभ्यां शब्दाभ्यां मत्वर्थे युस् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—अहंयुः, शुभंयुः ॥

भाषार्थः—अहं, शुभम् यह अव्यय संज्ञक शब्द हैं, अहं घमण्ड अर्थ में तथा शुभम् कल्याण के अर्थ में होता है ॥ [*अहंशुभमोः*] अहं तथा शुभम् शब्दों से मत्वर्थ में [*युस्*] युस् प्रत्यय होता है ॥ अहंयुः का अर्थ घमण्डी एवं शुभंयुः का कल्याण वाला है ॥ पूर्ववत् *सिति* च (१।४।१६) से पदसंज्ञा होकर अनुस्वारादि हुये हैं ॥

॥ इति द्वितीयः पादः ॥

—:०:—

तृतीयः पादः

प्राग्दिशो विभक्तिः ॥५।३।१॥

प्राक् अ० ॥ दिशः ५।१॥ विभक्तिः १।१॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—इतोऽग्रे *दिग्शब्देभ्यः०* (५।३।२७) इत्यतस्मात् प्राक् वक्ष्यमाणाः प्रत्यया विभक्तिसंज्ञका भवन्तीत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ *उदा०*—ततः, यतः ॥

भाषार्थः—[*प्राक्*] यहाँ से आगे [*दिशः*] *दिग्शब्देभ्यः०* सूत्र से पहले पहले जितने प्रत्यय कहे हैं, उन सबकी [*विभक्तिः*] विभक्ति संज्ञा होती है ॥ तसिल् आदि की विभक्ति संज्ञा होने से *त्यदादीनामः* (७।२।१०२) से विभक्ति परे मानकर अकारादेश हो जाता है। पूरी सिद्धि भाग १ पृ० ७०५ परि० १।१।३७ में देखें ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ५।३।२६ तक जायेगी ॥

किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः ॥५।३।२॥

किं······भ्यः ५।३॥ अद्व्यादिभ्यः ५।३॥ *स०*—किं० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। द्विः आदिर्येषां ते द्व्यादयः, न द्व्यादयः, अद्व्यादयस्तेभ्यः ······बहुव्रीहिगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—प्राग्दिशः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अथः*—प्राक् दिश इति यावत् किं,

सर्वनाम, बहु इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो वक्ष्यमाणाः प्रत्यया भवन्ति द्व्यादीन् वर्जयित्वा ॥ *उदा०*—कुतः, कुत्र । सर्वनामभ्यः—यतः, यत्र । ततः, तत्र । बहुतः, बहुत्र ॥

भाषार्थः—यहाँ से आगे *दिग्शब्दे०* (५।३।२७) तक जितने प्रत्यय कहे हैं वे सब [*किंस*···*भ्यः*] किं सर्वनाम तथा बहु शब्दों से ही होते हैं, [*अद्व्यादिभ्यः*] द्व्यादि शब्दों को छोड़कर ॥ यह भी अधिकार सूत्र है, आगे आगे इसका अधिकार जानना चाहिये । सर्वनाम शब्दों में द्व्यादि भी पढ़े हैं, सो सर्वनाम कहने से प्राप्ति थी निषेध कर दिया । किम् शब्द द्व्यादि के अन्तर्गत आता है, अतः उससे प्रत्यय का निषेध प्राप्त होने से 'किम्' का पृथक् निर्देश किया है ॥ सारी सिद्धि प्रथम भाग पृ० ७०५ परि० १।१।३७ में देखें । कुतः कुत्र में किम् शब्द से विभक्ति संज्ञक तसिल् तथा त्रल् परे रहते *कु तिहोः* (७।२।१०४) से किम् के स्थान में कु आदेश होता है, शेष सब पूर्ववत् होकर कुतः (कहाँ से) कुत्र (कहाँ) बनेगा ॥

इदम इश् ॥५।३।३॥

इदमः ६।१॥ इश् १।१॥ *अनु०*—प्राग्दिशः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् ॥ *अर्थः*—प्राग्दिशीयेषु प्रत्ययेषु परतः इदमः स्थाने इश् आदेशो भवति ॥ *उदा०*—इह ॥

भाषार्थः—*दिग्शब्देभ्यः०* (५।३।२७) सूत्र तक कहे जाने वाले प्रत्ययों के परे रहते [*इदमः*] इदम् के स्थान में [*इश्*] इश् आदेश होता है ॥ *इदमो हः* (५।३।११) से इदम् शब्द से 'ह' प्रत्यय कहा है, उसके परे रहते *अनेकाल्शित्०* (१।१।५४) से पूरे इदम् के स्थान में इश् आदेश होकर इह (यहाँ) बन गया ॥

यहाँ से '*इदमः*' की अनुवृत्ति ५।३।४ तक जायेगी ॥

एतेतौ रथोः ॥५।३।४॥

एतेतौ १।२॥ रथोः ७।२॥ *स०*—उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—इदमः, प्राग्दिशः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् ॥ *अर्थ*—इदमः स्थाने रेफादौ थकारादौ च प्रत्यये परतो यथासङ्ख्यम् एत इत् इत्येतावादेशौ भवतः ॥ *उदा०*—एतर्हि, इत्थम् ॥

भाषार्थः—इदम् शब्द के स्थान में [*रथोः*] रेफादि तथा थकारादि-प्रत्यय के परे रहते यथासङ्ख्य करके [*एतेतौ*] एत् तथा इत् आदेश होते हैं ॥ यहाँ *इदमोर्हिल्* (५।३।१६) से रेफादि र्हिल् प्रत्यय हुआ है, सो प्रकृत सूत्र से एत आदेश होकर एतर्हि बन गया ॥ इत्थम् में *इदमस्थमुः* (५।३।२४) से थमु प्रत्यय हुआ है, सो इत् आदेश थमु के परे रहते होकर इत्थम् (इस प्रकार) बना है ॥

एतदोऽन् ॥५।३।५॥

एतदः ६।१॥ अन् १।१॥ *अनु०*—प्राग्दिशः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् ॥ *अर्थः*—प्राग्दिशीयेषु प्रत्ययेषु परत एतदः स्थानेऽन् आदेशो भवति ॥ *उदा०*—अतः, अत्र ॥

भाषार्थः—प्राग्दिशीय प्रत्ययों के परे रहते [*एतदः*] एतद् के स्थान में [*अन्*] अन् आदेश होता है ॥ अन् अनेकाल् है सो सारे एतद् के स्थान में अन् आदेश होकर; पीछे इस न् का *न लोपः०* (८।२।७) से लोप हो जायेगा। शेष सिद्धि प्रथम भाग परि० १।१।३७ के अतः अत्र के समान ही जानें ॥

सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि ॥५।३।६॥

सर्वस्य ६।१॥ सः १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ दि ७।१॥ *अनु०*—ङ्याप्प्रातिपदिकात् ॥ *अर्थः*—सर्वस्य स्थाने स आदेशो भवति विकल्पेन दकारादौ प्रत्यये परतः ॥ *उदा०*—सर्वस्मिन् काले = सदा, सर्वदा ॥

भाषार्थः—[*सर्वस्य*] सर्व शब्द के स्थान में [*सः*] स आदेश [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से होता है [*दि*] दकारादि प्रत्यय के परे रहते ॥ *सर्वैकान्यकिय०* (५।३।१५) से सर्व शब्द से दा प्रत्यय होता है, उसके परे स आदेश होकर सदा बना, जब आदेश नहीं हुआ तो सर्वदा बना ॥

पञ्चम्यास्तसिल् ॥५।३।७॥

पञ्चम्याः ५।१॥ तसिल् १।१॥ *अनु०*—किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः, विभक्तिः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥

अर्थः—कि, सर्वनाम, बहु इत्येतेभ्यः पञ्चम्यन्तेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यस्तसिल् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—कुतः, यतः, ततः, बहुतः ॥

भाषार्थः—[*पञ्चम्याः*] पञ्चम्यन्त किं सर्वनाम तथा बहु शब्दों से [*तसिल्*] तसिल् प्रत्यय होता है ॥ सिद्धि प्रथम भाग परि० १।१।३७ में देखें ॥

यहाँ से '*तसिल्*' की अनुवृत्ति ५।३।६ तक जायेगी ॥

तसेश्च ॥५।३।८॥

तसेः ६।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—तसिल्, किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् ॥ *अर्थः*—किंसर्वनामबहुभ्यः परस्य तसेः स्थाने तसिलादेशो भवति ॥ *उदा०*—कुर्तः, यर्तः, तर्तः, बहुर्तः ॥

भाषार्थः—*प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः* (५।४।४४) *अपादाने चाहीयरुहोः* (५।४।४५) इनसे तसि प्रत्यय कहा है, उसी के स्थान में यहाँ तसिल आदेश करते हैं ॥

कि सर्वनाम तथा बहु से उत्तर जो तसि उस [*तसेः*] तसि के स्थान में [च] भी तसिल् आदेश होता है ॥ तसिल् आदेश हो जाने पर तसिल् की विभक्ति संज्ञा होने से *कु तिहोः*, *त्यदादीनामः* आदि से विहित कार्य हो जाते हैं, इसीलिये तसिल् आदेश किया है ॥ *लिति च* (६।१।१८७) से लित् स्वर भी तसिल् आदेश होने से होता है ॥

पर्यभिभ्यां च ॥५।३।९॥

पर्यभिभ्याम् ५।२॥ च अ० ॥ *अनु०*—तसिल्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—परि, अभि इत्येताभ्यां शब्दाभ्यां तसिल् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—परितः सर्वत इत्यर्थः । अभित उभयत इत्यर्थः ॥

भाषार्थः—[*पर्यभिभ्याम्*] परि अभि शब्दों से [च] भी तसिल् प्रत्यय होता है ॥ परितः अर्थात् चारों ओर से एवं अभितः का दोनों ओर से अर्थ है ॥

सप्तम्यास्त्रल् ॥५।३।१०॥

सप्तम्याः ५।१॥ त्रल् १।१॥ अनु०—किंसर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तम्यन्तेभ्यः किंसर्वनामबहुभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः त्रल् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—कुत्र, यत्र, तत्र, बहुत्र ॥

भाषार्थः—किं, सर्वनाम और बहु [*सप्तम्याः*] सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से [*त्रल्*] त्रल् प्रत्यय होता है ॥ सिद्धि भाग १ परि० १।१।३७ में देखें ॥

यहाँ से '*सप्तम्याः*' की अनुवृत्ति ५।३।२२ तक जायेगी ॥

इदमो हः ॥५।३।११॥

इदमः ५।१॥ हः १।१॥ अनु०—सप्तम्याः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तम्यन्ताद् इदमः स्थाने हः प्रत्ययो भवति । पूर्वेण त्रल् प्राप्ते हो विधीयते ॥ *उदा०*—इह ॥

भाषार्थः—सप्तम्यन्त [*इदमः*] इदम् शब्द से [*हः*] ह प्रत्यय होता है ॥ सिद्धि ५।३।३ सूत्र पर ही देखें । इश् आदेश होकर 'इ ङि ह', *सुपो धा०* (२।४।७१) से ङि का लुक् होकर 'इह' बन गया है ॥

किमोऽत् ॥५।३।१२॥

किमः ५।१॥ अत् १।१॥ *अनु०*—सप्तम्याः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तम्यन्तात् किमोऽत् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा*—क ॥

भाषार्थ—सप्तम्यन्त [*किम*] किम् शब्द से [*अत्*] अत् प्रत्यय होता है ॥ *क्वाति* (७।२।१०५) से किम् को अत् परे रहते क आदेश होकर क ङि अ = क अ सु = *यस्येति* च, (६।४।१४८) से अकार लोप तथा १।१।३७ से अव्यय संज्ञा एवं सु लुक् होकर क बना है ॥

यहाँ से '*किमः*' की अनुवृत्ति ५।३।१३ तक जायेगी ॥

वा ह च च्छन्दसि ॥५।३।१३॥

वा अ० ॥ ह लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—किमः, सप्तम्याः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः,

परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तम्यन्तात् किमो वा हः प्रत्ययो भवति छन्दसि विषये ॥ *उदा०*—कुह । पक्षे यथाप्राप्तं—कुत्र चिदस्य दूरे, क्व ब्राह्मणस्य वाचकाः ॥

भाषार्थः—सप्तम्यन्त किम् शब्द से [*वा*] विकल्प से [*ह*] ह प्रत्यय होता है [*छन्दसि*] वेद विषय में ॥ पक्ष में यथाप्राप्त त्रल् तथा अत् ही होंगे ॥

इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते ॥५।३।१४॥

इतराभ्यः ५।३॥ अपि अ० ॥ दृश्यन्ते क्रिया० ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—इतराभ्योऽपि विभक्तिभ्यः तसिलादयो दृश्यन्ते । पञ्चमीसप्तम्यपेक्षमितरत्वम् ॥ *उदा०*—स भवान् = ततो भवान्, तत्र भवान् । तं भवन्तम् = ततो भवन्तम्, तत्र भवन्तम् । तेन भवता = ततो भवता, तत्र भवता । तस्मै भवते = ततो भवते, तत्र भवते । तस्माद् भवतः = ततो भवतः, तत्र भवतः ॥ तस्य भवतः = ततो भवतः, तत्र भवतः । तस्मिन् भवति = ततो भवति, तत्र भवति ॥

भाषार्थः—[*इतराभ्यः*] पञ्चमी, सप्तमी से अन्य भी जो विभक्ति तदन्त शब्दों से [*अपि*] भी तसिलादि प्रत्यय [*दृश्यन्ते*] देखे जाते हैं ॥ पञ्चम्यन्त तथा सप्तम्यन्त से तसिल् तथा त्रल् प्रत्यय का विधान है, सो इस सूत्र में पञ्चमी सप्तमी से अन्य जो विभक्तियाँ, उन विभक्त्यन्तों से भी तसिलादि का विधान कर दिया है ॥ यथा स भवान् में सः प्रथमान्त, तं भवन्तं में तं द्वितीयान्त, इसी प्रकार तृतीयान्तादि से भी तसिल् त्रल् प्रत्यय होकर ततः तत्र बने हैं ॥

सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले दा ॥५।३।१५॥

सर्वै·····दः ५।१॥ काले ७।१॥ दा १।१॥ *स०*—सर्वश्च एकश्च अन्यश्च किम् च यत् च तत् च, सर्वै·····तत्, तस्मात्·····समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सप्तम्याः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तम्यन्तेभ्यः सर्व, एक, अन्य किं, यत् तद् इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो दा प्रत्ययो भवति कालार्थे ॥ *उदा०*—सर्वस्मिन् काले

सर्वदा, एकस्मिन् काले एकदा, अन्यस्मिन् काले अन्यदा, कस्मिन् काले कदा, यस्मिन् काले यदा, तस्मिन् काले तदा ॥

भाषार्थः—सप्तम्यन्त [*सर्वै······दः*] सर्व, एक, अन्य, किम्, यत्, तत् प्रातिपदिकों से [*काले*] काल अर्थ में [*दा*] दा प्रत्यय होता है ॥ त्रल् सप्तम्यन्तों से प्राप्त था, उसी का अपवाद है ॥ कदा (कब) में किम् दा 'यहाँ' दा विभक्तिसंज्ञक (५।३।१) प्रत्यय के परे रहते किमः कः (७।२।१०३) से किम् को क आदेश होकर कदा बना है ॥ यदा, तदा की सिद्धि भाग १ परि० १।१।३७ में देखें ॥

यहाँ से '*काले*' की अनुवृत्ति ५।३।२२ तक जायेगी ॥

इदमोर्हिल् ॥५।३।१६॥

इदमः ५।१॥ र्हिल् १।१॥ *अनु०*—काले, सप्तम्याः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तम्यन्ताद् इदमोर्हिल् प्रत्ययो भवति कालेऽर्थे ॥ *उदा०*—अस्मिन् काले एतर्हि ॥

भाषार्थः—सप्तम्यन्त [*इदमः*] इदम् शब्द से [*र्हिल्*] र्हिल् प्रत्यय होता है ॥ *एतेतौ रथोः* (५।३।४) से इदम् को एत आदेश होकर एतर्हि बना है ॥

यहाँ से '*इदमः*' की अनुवृत्ति ५।३।१८ तक जायेगी ॥

अधुना ॥५।३।१७॥

अधुना १।१॥ *अनु०*—इदमः, काले, सप्तम्याः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अधुना इति निपात्यते। सप्तम्यन्तस्य इदमः स्थानेऽश् आदेशो निपात्यते धुना च प्रत्ययः, अथवा इदमऽधुना च प्रत्ययः ॥

भाषार्थः—[*अधुना*] अधुना यह शब्द निपातन किया जाता है ॥ सप्तम्यन्त इदम् शब्द के स्थान में अश् आदेश तथा धुना प्रत्यय निपातन है। अथवा इदम् शब्द से अधुना प्रत्यय करके इदम इश् से इदम् को इश् भाव तथा यस्येति लोप होकर भी अधुना शब्द सिद्ध हो सकता है। अधुना = अब ॥

दानीं च ॥५।३।१८॥

दानीम् १।१॥ च अ० ॥ अनु०—इदमः, काले, सप्तम्याः, तद्धिताः, याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—काले वर्त्तमानात् सप्त-न्ताद् इदमो दानीं प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—अस्मिन् काले ानीम् ॥

भाषार्थः—सप्तम्यन्त इदम् शब्द से [*दानीम्*] दानीम् प्रत्यय [च] होता है ॥ इदानीम् = अब ॥

यहाँ से '*दानीम्*' की अनुवृत्ति ५।३।१६ तक जायेगी ॥

तदो दा च ॥५।३।१९॥

तदः ५।१॥ दा अ०॥ च १।१॥ अनु०—दानीं, काले, सप्तम्याः, द्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—सप्तम्यन्तात् ले वर्त्तमानात् तद्शब्दात् दा प्रत्ययो भवति दानीं च॥ उदा०—स्मिन् काले = तदा, तदानीम् ॥

भाषार्थः—काल अर्थ में वर्त्तमान सप्तम्यन्त [*तदः*] तद् शब्द से ा] दा [च] तथा दानीम् प्रत्यय होते हैं ॥

तयोर्दार्हिलौ च च्छन्दसि ॥५।३।२०॥

तयोः ६।२॥ दार्हिलौ १।२॥ च अ० ॥ छन्दसि ७।१॥ स०—दार्हिलौ, यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—काले, सप्तम्याः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदि-ात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—तयोः = इदमः तदश्च यथासङ्ख्यं दा, ल् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतश्छन्दसि विषये, चकाराद्यथाप्राप्तं च ॥ उदा०—स्मिन् काले इदा, तस्मिन् काले तर्हि । इदानीम्, तदानीम् ॥

भाषार्थः—तयोः पद से इदम् तथा तद् का परामर्ष तद् है ॥ [*तयोः*] न दोनों इदम् और तद् से यथासङ्ख्य करके [*छन्दसि*] वेद षय में, [*दार्हिलौ*] दा और र्हिल् प्रत्यय होते हैं, [च] चकार से थाप्राप्त दानीम् प्रत्यय भी होता है ॥ इदम इश् से इश् भाव हो ही ायेगा ॥

अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम् ॥५।३।२१॥

अनद्यतने ७।१॥ र्हिल् १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—काले, सप्तम्याः, किंसर्वनामबहुभ्यः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—किंसर्वनामबहुभ्यः सप्तम्यन्तेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो र्हिल् प्रत्ययो भवति विकल्पेनानद्यतने कालविशेषे ॥ उदा०—कर्हि, कदा। यर्हि, यदा। तर्हि, तदा ॥

भाषार्थः—किम् सर्वनाम और बहु जो सप्तम्यन्त शब्द उनसे [*र्हिल्*] र्हिल् प्रत्यय [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से होता है [*अनद्यतने*] अनद्यतन काल विशेष को कहना हो तो ॥ पक्ष में दा प्रत्यय हुआ है ॥

सद्यःपरुत्परार्यैषमःपरेद्यव्यद्यपूर्वेद्युरन्येद्युरन्यतरेद्युरितरेद्युरपरेद्युरधरेद्युरुभयेद्युरुत्तरेद्युः ॥५।३।२२॥

सद्यः......रेद्युः, सर्वाणि अव्ययानि ॥ *अनु०*—काले, सप्तम्याः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सद्य आदयः शब्दा निपात्यन्ते। सद्य इत्यत्र समानस्य सभावो द्यश्च[1] प्रत्ययो निपात्यते अहन्यभिधेये, समानेऽहनि सद्यः। परुत् इत्यत्र पूर्वशब्दस्य पर भावः, उत् च प्रत्ययः संवत्सरेऽभिधेये, पूर्वस्मिन् संवत्सरे परुत्। एवं परारीत्यत्र पूर्वतरशब्दस्य परभावः, आरिश्च प्रत्ययः संवत्सरेऽभिधेये। पूर्वतरस्मिन् संवत्सरे परारि। ऐषमः इत्यत्र इदम इश्भावः समसण् च प्रत्ययः संवत्सरेऽभिधेये निपात्यते। णित्वात् वृद्धिर्भवति। इश् समसण् = इ समस् = (अस्मिन् संवत्सरे) ऐषमः। परेद्यवि इत्यत्र परशब्दाद् एद्यविः प्रत्ययोऽहन्यभिधेये निपात्यते। परस्मिन्नहनि परेद्यवि। अद्य इत्यत्र इदमो अश् भावो द्यश्च प्रत्ययोऽहन्यभिधेये। अस्मिन्नहनि अद्य। एवं पूर्वेद्युः अन्येद्युः......इत्यादिषु क्रमेण पूर्व, अन्य, अन्यतर, इतर, अपर, अधर, उत्तर इत्येतेभ्यः शब्देभ्यः एद्युसुच्[2] प्रत्ययो निपात्यतेऽहन्यभिधेये। पूर्वस्मिन् अहनि पूर्वेद्युः। अन्य-

---

१. द्यस् सकारान्त. प्रत्ययो ज्ञेयः।

२. चित्त्वादन्तोदात्तत्वम्। अन्येद्युः, अपरेद्युः इत्यत्रान्तोदात्तत्वं दृश्यते (अन्यशब्देसु स्वरो नोपलभ्यते) ॥

स्मिन्नहनि अन्येद्युः। अन्यतरस्मिन् अहनि अन्यतरेद्युः। इतरस्मिन्नहनि इतरेद्युः। अपरस्मिन् अहनि अपरेद्युः। अधरस्मिन्नहनि अधरेद्युः। उभयोरह्नोः उभयेद्युः। उत्तरस्मिन्नहनि उत्तरेद्युः॥

भाषार्थः—[*सद्यः...रेद्युः*] सद्यः आदि शब्द सप्तम्यन्त प्रातिपदिकों से काल विशेष में निपातन किये जाते हैं॥ सद्यः यहाँ समान शब्द को स भाव तथा द्यस् प्रत्यय दिन अभिधेय होने पर निपातन है। परुत् शब्द में पूर्व शब्द को पर भाव तथा उत् प्रत्यय संवत्सर अभिधेय होने पर निपातन है। परारि शब्द में पूर्वतर शब्द को पर भाव तथा आरि प्रत्यय संवत्सर अभिधेय होने पर निपातन है। ऐषमः शब्द में इदम शब्द से समसण् प्रत्यय संवत्सर अभिधेय होने पर निपातन है। णित् होने से वृद्धि(७।२।११५)तथा षत्व, एवं रुत्व विसर्ग होकर ऐषमः बना है। परेद्यवि शब्द में पर शब्द से एद्यवि प्रत्यय दिन अभिधेय होने पर निपातन है। अद्य शब्द में इदम् शब्द को अश् भाव एवं द्य प्रत्यय दिन अभिधेय होने पर निपातन है। इसी प्रकार आगे पूर्वेद्युः, अन्येद्युः, अन्यतरेद्युः, इतरेद्युः, अपरेद्युः, अधरेद्युः, उभयेद्युः, उत्तरेद्युः में क्रम से पूर्व, अन्य, अन्यतर, इतर, अपर, अधर, उभय, उत्तर शब्दों से दिन अभिधेय होने पर, एद्सुयच् प्रत्यय निपातन है॥

प्रकारवचने थाल्॥५।३।२३॥

प्रकारवचने ७।१॥ थाल् १।१॥ *अनु०*—किंसर्वनामबहुभ्यः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—प्रकारवचने वर्त्तमानेभ्यः किंसर्वनामबहुभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थे थाल् प्रत्ययो भवति॥ उदा०—तेन प्रकारेण तथा, यथा, सर्वथा, बहुभिः प्रकारैः बहुथा॥

भाषार्थः—[*प्रकारवचने*] प्रकारवचन में वर्त्तमान किं सर्वनाम और बहु शब्दों से [*थाल्*] थाल् प्रत्यय होता है॥ *उदा०*—तथा (उस प्रकार) यथा (जिस प्रकार)॥

यहाँ से '*प्रकारवचने*' की अनुवृत्ति ५।३।२६ तक जायेगी॥

इदमस्थमुः॥५।३।२४॥

इदमः ५।१॥ थमुः १।१॥ *अनु०*—प्रकारवचने, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—प्रकारवचने वर्त्तमानाद्

इदंशब्दात् थमुः प्रत्ययो भवति स्वार्थे ॥ उदा०—अनेन प्रकारेण इत्थम् ॥

भाषार्थः—[*इदमः*] इदम् शब्द प्रकारवचन अर्थ में वर्त्तमान हो तो स्वार्थ में [*थमुः*] थमु प्रत्यय होता है ॥ *एतेतौ रथोः* (५।३।४) से इदम् को इत् आदेश होकर इत् + थमु = इत्थम् (इस प्रकार का) बना है ॥

यहाँ से '*थमुः*' की अनुवृत्ति ५।३।२५ तक जायेगी ॥

किमश्च ॥५।३।२५॥

किमः ५।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—थमुः, प्रकारवचने, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रकारवचने वर्त्तमानात् किम्शब्दात् थमुः प्रत्ययो भवति स्वार्थे । *उदा०*—केन प्रकारेण कथम् ॥

भाषार्थः—प्रकारवचन में वर्त्तमान [*किमः*] किम् शब्द से [*च*] भी थमु प्रत्यय होता है ॥ *किमः कः* (७।२।१०३) से किम् को क आदेश होकर कथम् (किस प्रकार) बना है ॥

यहाँ से '*किमः*' की अनुवृत्ति ५।३।२६ तक जायेगी ॥

था हेतौ च च्छन्दसि ॥५।३।२६॥

था १।१॥ हेतौ ७।१॥ च अ० ॥ छन्दसि ७।१॥ *अनु०*—किमः, प्रकारवचने, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—हेतौ प्रकारवचने च वर्त्तमानात् किम्शब्दात् था प्रत्ययो भवति छन्दसि विषये ॥ *उदा०*—हेतौ—कथा ग्रामं न पृच्छसि । प्रकारवचने—कथा देवा आसन् पुराविदः ॥

भाषार्थः—[*हेतौ*] हेतु [*च*] तथा प्रकारवचन अर्थ में वर्त्तमान जो किम् शब्द उससे [*था*] था प्रत्यय होता है [*छन्दसि*] वेद विषय में ॥ *उदा०*—कथा ग्रामं न पृच्छसि (किस हेतु से गाँव को नहीं पूछते) कथा देवा आसन् पुराविदः (पुराविद् = पुरातन इतिहास को जानने वाले विद्वान् कैसे थे) ॥

दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः ॥५।३।२७॥

दिक्शब्देभ्यः ५।३॥ सप्त······भ्यः ५।३॥ दिग्दे···षु ७।३॥ अस्तातिः १।१॥ *स०*—दिशां शब्दाः दिक्शब्दास्तेभ्यः·····षष्ठीतत्पुरुषः ।

उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—दिग्, देश, काल इत्येतेष्वर्थेषु वर्त्तमानेभ्यः सप्तमी-पञ्चमीप्रथमान्तेभ्यो दिक्शब्देभ्य अस्तातिः प्रत्ययो भवति स्वार्थे ॥ *उदा०*—सप्तम्यन्तेभ्यः—पुरस्ताद् वसति, अधस्तात् वसति। पञ्चम्य-न्तेभ्यः—पुरस्तादागतः, अधस्तादागतः। प्रथमान्तेभ्यः—पुरस्ताद् रमणीयम्, अधस्ताद् रमणीयम् ॥

भाषार्थः—[*दिग्देशकालेषु*] दिशा, देश और काल अर्थों में वर्त्तमान जो [*सप्त·····भ्यः*] सप्तमी, पञ्चमी, प्रथमान्त [*दिग्शब्देभ्यः*] दिशावाची प्रातिपदिक उनसे स्वार्थ में [*अस्तातिः*] अस्ताति प्रत्यय होता है ॥ पूर्व और अधर शब्द दिशावाची हैं, उनको अस्ताति प्रत्यय परे रहते, *अस्ताति च* (५।३।४०) से क्रम से पुर् अध् आदेश होकर, पुर् ङि अस्ताति(२।४।७१ से ङि लुक्) पुर् अस्तात् सु, *अव्ययादाप्सुपः* (२।४।८२) से सुब्लुक् होकर पुरस्तात् अधस्तात् बना। *उदा०*—पुरस्तात् वसति (पूर्व दिशा या देश या काल में बसता है) पुरस्तात् आगतः (पूर्व दिशा या देश या काल से आया) पुरस्तात् रमणीयम् (पूर्व दिशा या देश या काल रमणीय है) ॥

यहाँ से '*दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेषु*' की अनुवृत्ति ५।३।४१ तक जायेगी ॥

दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच् ॥५।३।२८॥

दक्षि···भ्याम् ५।२॥ अतसुच् १।१॥ *स०*—दक्षि० इत्यत्रेतरे-तरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—दिक्शब्देभ्यः, सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देश-कालेषु, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमी-पञ्चमीप्रथमान्ताभ्यां दिग्देशकालेषु वर्त्तमानाभ्यां दक्षिण-उत्तर-शब्दा-भ्याम् अतसुच् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—सप्तम्यन्तात्—दक्षिणतो वसति, उत्तरतो वसति। पञ्चम्यन्तात्—दक्षिणत आगतः, उत्तरत आगतः। प्रथमान्तात्—दक्षिणतो रमणीयम्, उत्तरतो रमणीयम् ॥

भाषार्थः—सप्तमी, पञ्चमी और प्रथमान्त, दिग्देश तथा काल अर्थ में वर्त्तमान जो [*दक्षि·····म्*] दक्षिण और उत्तर शब्द उनसे स्वार्थ में [*अतसुच्*] अतसुच् प्रत्यय होता है ॥ दक्षिण अतसुच् = दक्षिण् अतस् = दक्षिणतः ॥

यहाँ से '*अतसुच्*' की अनुवृत्ति ५।३।२९ तक जायेगी ॥

विभाषा परावराभ्याम् ॥५।३।२९॥

विभाषा १।१॥ परा······म् ५।२॥ *स०*—परा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अतसुच् दिग्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेषु, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीपञ्चमीप्रथमान्ताभ्यां दिग्देशकालेषु वर्त्तमानाभ्यां पर, अवर इत्येताभ्यां शब्दाभ्यां विभाषाऽतसुच् प्रत्ययो भवति, पक्षे अस्तातिः ॥ *उदा०*—परतो वसति, परस्ताद् वसति, अवरतो वसति अवस्तात् वसति। परत आगतः, परस्ताद् आगतः। अवरत आगतः अवस्ताद् आगतः। परतो रमणीयम् परस्तात् रमणीयम्, अवरतो रमणीम् अवस्तात् रमणीयम् ॥

भाषार्थः—सप्तमी, पञ्चमी और प्रथमान्त दिग्देशकाल अर्थ में वर्त्तमान [*परावराभ्याम्*] पर अवर शब्दों से [*विभाषा*] विकल्प से स्वार्थ में अतसुच् प्रत्यय होता है। पत्त में ५।३।२७ का अपवाद होने से अस्ताति ही होगा ॥

अञ्चेर्लुक् ॥५।३।३०॥

अञ्चेः ५।१॥ लुक् १।१॥ *अनु०*—दिग्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेषु, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सप्तमीपञ्चमीप्रथमान्तेभ्यो दिग्देशकालेषु वर्त्तमानेभ्योऽञ्चत्यन्तेभ्यो दिग्शब्देभ्य उत्तरस्यास्तातिप्रत्ययस्य लुग् भवति ॥ *उदा०*—प्राच्यां दिशि वसति प्राग्वसति, प्रागागतः, प्राग् रमणीयम् ॥

भाषार्थः—सप्तमीपञ्चमीप्रथमान्त दिग्देशकाल में वर्त्तमान जो [*अञ्चेः*] अञ्चु धातु अन्त वाला दिग्शब्द उससे परे जो अस्ताति प्रत्यय उसका [*लुक्*] लुक् होता है ॥

उपर्युपरिष्टात् ॥५।३।३१॥

उपर्युपरिष्टात् १।१॥ *स०*—उप० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेषु, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—उपरि, उपरिष्टात् इत्येतौ शब्दौ निपात्येते अस्तातेरर्थे। ऊर्ध्वशब्दस्य उपभावः रिल्रिष्टातिलौ

च प्रत्ययौ निपात्येते। ऊर्ध्वायां दिशि वसति उपरि वसति, उपरि आगतः, उपरि रमणीयम्। उपरिष्टात् वसति, उपरिष्टाद् आगतः, उपरिष्टात् रमणीयम्॥

भाषार्थः—[*उपर्युपरिष्टात्*] उपरि और उपरिष्टात् यह शब्द निपातन किये जाते हैं अस्ताति के अर्थ में। ऊर्ध्व शब्द को उप भाव, रिल् तथा रिष्टातिल् प्रत्यय निपातन से किये जाते हैं॥ अस्ताति प्रत्यय, सप्तमीपञ्चमीप्रथमान्त से दिग्देशकाल अर्थ में होता है, सो 'अस्ताति अर्थ में' ऐसा कहने से उपर्युक्त सब ही अर्थ अभिप्रेत होगा॥

पश्चात् ॥५।३।३२॥

पश्चात् १।१॥ *अनु०*—दिग्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेषु, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—पश्चात् इत्ययं शब्दो निपात्यते, अस्तातेरर्थे। अपरशब्दस्य पश्चभावः, आतिश्च प्रत्ययो निपात्यते॥ अपरस्यां दिशि वसति पश्चात् वसति, पश्चादागतः, पश्चात् रमणीयम्॥

भाषार्थः—[*पश्चात्*] पश्चात् यह शब्द निपातन किया जाता है। अपर शब्द को पश्च भाव तथा आति प्रत्यय निपातन से किया जाता है॥ पश्च आति = पश्च् आत् = पश्चात्॥

यहाँ से '*पश्चात्*' की अनुवृत्ति ५।३।३३ तक जायेगी॥

पश्च पश्चा च च्छन्दसि ॥५।३।३३॥

पश्च १।१॥ पश्चा १।१॥ च अ०॥ छन्दसि ७।१॥ *अनु०*—पश्चात्, दिग्दशब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेषु, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—पश्च, पश्चा इत्येतौ शब्दौ निपात्येते छन्दसि विषये, अस्तातेरर्थे चकारात् पश्चाच्च। अपरशब्दस्य पश्च भावः, अकारआकारौ च प्रत्ययौ निपात्येते। पश्च सिंहः, पश्चा सिंहः, पश्चात् सिंहः॥

भाषार्थः—[*पश्च पश्चा*] पश्च, पश्चा शब्द [च] भी [*छन्दसि*] वेद विषय में अस्ताति अर्थ में निपातन किये जाते हैं, चकार से पश्चात्

शब्द भी छन्द में निपातन है। अपर शब्द को पश्च भाव तथा अकार और आकार प्रत्यय निपातन किये हैं। पश्चात् में पूर्ववत् निपातन कार्य हुये हैं ॥

उत्तराधरदक्षिणादातिः ॥५।३।३४॥

उत्त·····णात् ५।१॥ आतिः १।१॥ *स०*—उत्त० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः॥ *अनु०*—दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेषु, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—उत्तर, अधर, दक्षिण इत्येतेभ्यो दिग्शब्देभ्यः आतिः प्रत्ययो भवत्यस्तातेरर्थे॥ *उदा०*—उत्तरस्यां दिशि वसति उत्तरात् वसति, उत्तरादागतः उत्तरात् रमणीयम्। अधरात् वसति, अधरादागतः, अधरात् रमणीयम्। दक्षिणात् वसति, दक्षिणादागतः दक्षिणात् रमणीयम्॥

भाषार्थः—[*उत्त·····णात्*] उत्तर, अधर, दक्षिण इन दिशावाची शब्दों से अस्ताति अर्थ में [*आतिः*] आति प्रत्यय होता है॥ उत्तर आति = उत्तर् आत् = उत्तरात्॥

यहाँ से '*उत्तराधरदक्षिणात्*' की अनुवृत्ति ५।३।३५ तक जायेगी॥

एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः ॥५।३।३५॥

एनप् १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ अदूरे ७।१॥ अपञ्चम्याः ५।१॥ *स०*—अदूरे, अपञ्चम्या उभयत्र नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—उत्तराधरदक्षिणात्, दिग्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेषु, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—उत्तराधरदक्षिणशब्देभ्योऽपञ्चम्यन्तेभ्य एनप् प्रत्ययो भवति विकल्पेन, अदूरे गम्यमानेऽस्तातेरर्थे॥ *उदा०*—उत्तरेण वसति उत्तराद्वसति उत्तरतो वसति। उत्तरेण रमणीयम् उत्तरात् रमणीयम्, उत्तरतो रमणीयम्। अधरेण वसति अधरात् वसति, अधस्तात् वसति। अधरेण रमणीयम् अधरात् रमणीयम् अधस्तात् रमणीयम्। दक्षिणेन वसति, दक्षिणात्, वसति, दक्षिणतो वसति। दक्षिणेन रमणीयम्, दक्षिणात् रमणीयम् दक्षिणतो रमणीयम्॥

भाषार्थः—[*अपञ्चम्याः*] अपञ्चम्यन्त उत्तर अधर दक्षिण दिग्शब्दों से [*एनप्*] एनप् प्रत्यय [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से होता है, [*अदूरे*] अदूर = निकटता गम्यमान हो तो॥

सप्तमी पञ्चमी प्रथमान्त से ही इस प्रकरण में प्रत्यय हो रहे थे सो अपञ्चम्याः निषेध कर दिया कि पञ्चम्यन्तों से न हो, तो शेष सप्तम्यन्त प्रथमान्त से ही होंगे। अन्यतरस्याम् कहने से पक्ष में पूर्व सूत्र से प्राप्त आति प्रत्यय एवं ५।३।२८ से उत्तर दक्षिण शब्दों से अतसुच् भी होगा। अधर शब्द से आति (५।३।३४) तथा अस्ताति (५।३।२७) दोनों ही पक्ष में हुये हैं। जब अस्ताति प्रत्यय अधर शब्द से होगा तब अधर को अध् आदेश भी *अस्ताति* च से हो जायेगा॥ उत्तर एनप् यहाँ *यस्येति* च (६।४।१४८) से अकार लोप तथा णत्व होकर उत्तरेण बना॥

यहाँ से '*अपञ्चम्याः*' की अनुवृत्ति ५।३।३८ तक जायेगी॥

दक्षिणादाच्॥५।३।३६॥

दक्षिणात् ५।१॥ आच् १।१॥ *अनु०*—अपञ्चम्याः, दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेषु, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—अपञ्चम्यन्तात् सप्तमीप्रथमान्तात् दिग्वाचिनो दक्षिणशब्दादस्तातेरर्थे आच् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—दक्षिणा वसति, दक्षिणा रमणीयम्॥

भाषार्थः—पञ्चम्यन्त को छोड़ कर सप्तमीप्रथमान्त [*दक्षिणात्*] दक्षिण दिग् शब्द से [*आच्*] आच् प्रत्यय होता है, अस्ताति अर्थ में॥

यहाँ से '*दक्षिणात्*' की अनुवृत्ति ५।३।३७ तक तथा '*आच्*' की ५।३।३८ तक जायेगी॥

आहि च दूरे॥५।३।३७॥

आहि लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः॥ च अ०॥ दूरे ७।१॥ *अनु०*—दक्षिणादाच्, अपञ्चम्याः, दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेषु, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—अपञ्चम्यन्ताद् दक्षिणशब्दाद् आहि प्रत्ययो भवत्याच् च, अस्तातेरर्थे दूरे वाच्ये॥ *उदा०*—दक्षिणाहि वसति दक्षिणा वसति। दक्षिणाहि रमणीयम्, दक्षिणा रमणीयम्॥

भाषार्थः—अपञ्चम्यन्त अर्थात् सप्तम्यन्त और प्रथमान्त दक्षिणा शब्द से [*आहि*] आहि [*च*] तथा आच् प्रत्यय होते हैं, [*दूरे*] दूर वाच्य

हो तो ॥ उदा०—दक्षिणाहि वसति (दक्षिण देश या दिशा में बसता है) दक्षिणा वसति, दक्षिणाहि रमणीयम् (दक्षिण देश या दिशा रमणीय है) दक्षिणा रमणीयम् ॥ इस प्रकार दक्षिण शब्द से स्वार्थ में कुल ५ प्रत्यय हुये। अतसुच्, आति, एनप्, आच् और आहि। इन सब प्रत्ययों की १।१।३७ से अव्यय संज्ञा होने से २।४।८२ से सर्वत्र सु लुक् हो ही जायेगा ॥

यहाँ से '*आहि दूरे*' की अनुवृत्ति ५।३।३८ तक जायेगी ॥

उत्तराच्च ॥५।३।३८॥

उत्तरात् ५।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—आहि दूरे, आच्, अपञ्चम्याः, दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेषु, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अपञ्चम्यन्ताद् उत्तरशब्दात् आच्, आहि इत्येतौ प्रत्ययौ भवतो दूरे वाच्येऽस्तातेरर्थे ॥ *उदा०*—उत्तरा वसति, उत्तराहि वसति। उत्तरा रमणीयम्, उत्तराहि रमणीयम् ॥

भाषार्थः—[*उत्तरात्*] अपञ्चम्यन्त उत्तर शब्द से [*च*] भी अस्ताति अर्थ में आच् और आहि प्रत्यय होते हैं ॥ पूर्ववत् उत्तर शब्द से भी ५ प्रत्यय होते हैं ॥

पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम् ॥५।३।३९॥

पूर्वा.....णाम् ६।३॥ असि लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ पुरधवः १।३॥ च अ० ॥ एषाम् ६।३॥ *स०*—उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेषु, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—पूर्व, अधर, अवर इत्येतेभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमान्तेभ्यः शब्देभ्योऽसिः प्रत्ययो भवत्यस्तातेरर्थे, तत्सन्नियोगेन चैषां यथाक्रमं पुर्, अध्, अव् इत्येते आदेशा भवन्ति ॥ उदा०—पूर्वस्यां दिशि वसति = पुरो वसति, पुर आगतः, पुरो रमणीयम्। अधो वसति, अध आगतः, अधो रमणीयम्। अवो वसति, अव आगतः, अवो रमणीयम् ॥

भाषार्थः—[*पूर्वा.....म्*] सप्तमीपञ्चमीप्रथमान्त जो पूर्व अधर अवर शब्द उनसे अस्ताति के अर्थ में [*असि*] असि प्रत्यय होता है

[च] और प्रत्यय के साथ साथ [*एषाम्*] पूर्व, अधर, अवर शब्दों को यथासङ्ख्य करके [*पुरधवः*] पुर्, अध्, अव् आदेश होते हैं ॥

यहाँ से '*पूर्वाधरावराणाम् पुरधवः*' की अनुवृत्ति ५।३।४० तक जायेगी ॥

अस्ताति च ॥५।३।४०॥

अस्ताति ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—पूर्वाधरावराणाम् पुरधवः, दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेषु, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अस्ताति प्रत्यये च परतः सप्तमीपञ्चमीप्रथमान्तानां पूर्वादीनां यथाक्रमं पुरादय आदेशा भवन्ति ॥ *उदा०*—पुरस्तात् वसति, पुरस्तादागतः, पुरस्तात् रमणीयम् ॥

भाषार्थः—सप्तमीपञ्चमीप्रथमान्त जो पूर्व, अधर, अवर शब्द उनको [*अस्ताति*] अस्ताति प्रत्यय परे रहते [च] भी पुर् अध् अव् आदेश हो जाते हैं ॥ अस्तात् से सप्तमी में अस्ताति करके निर्देश किया है ॥
यहाँ से '*अस्ताति*' की अनुवृत्ति ५।३।४१ तक जायेगी ॥

विभाषाऽवरस्य ॥५।३।४१॥

विभाषा १।१॥ अवरस्य ६।१॥ *अनु०*—अस्ताति, दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेषु, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, प्रत्यय ॥ *अर्थः*—अस्ताति प्रत्यये परतोऽवरशब्दस्य, अव् आदेशो भवति विकल्पेन ॥ पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्प उच्यते ॥ *उदा०*—अवस्तात् वसति, अवरस्तात् वसति । अवस्तादागतः अवरस्तादागतः । अवस्तात् रमणीयम्, अवरस्तात् रमणीयम् ॥

भाषार्थः—पूर्व सूत्र से नित्य अवादेश की प्राप्ति में यह विकल्प विधान है ॥ सप्तमी पञ्चमी प्रथमान्तदिग्देशकाल वाची [*अवरस्य*] अवर शब्द को [*विभाषा*] विकल्प से अव् आदेश होता है, अस्ताति प्रत्यय परे रहते । पक्ष में अवर ऐसा ही रहेगा ॥

सङ्ख्याया विधार्थे धा ॥५।३।४२॥

सङ्ख्यायाः ५।१॥ विधार्थे ७।१॥ धा १।१॥ *स०*—विधायाः अर्थः विधार्थस्तस्मिन्.....षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिप-

दिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—विधार्थे वर्त्तमानेभ्यः सङ्ख्यावाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो धा प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—एकधा भुङ्क्ते, द्विधा गच्छति, त्रिधा, चतुर्धा ॥

भाषार्थः—[*विधार्थे*] विधा = प्रकार (क्रिया के प्रकार) अर्थ में वर्त्तमान [*सङ्ख्यायाः*] सङ्ख्यावाची प्रातिपदिकों से [*धा*] प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—एकधा भुङ्क्ते (एक प्रकार से खाता है) द्विधा गच्छति (दो प्रकार से जाता है) ॥

यहाँ से '*सङ्ख्यायाः धा*' की अनुवृत्ति ५।३।४२ तक जायेगी ॥

अधिकरणविचाले च ॥५।३।४३॥

अधिकरणविचाले ७।१॥ च० ॥ *स०*—अधिकरणस्य द्रव्यस्य विचालोऽधिकरणविचालस्तस्मिन्.......षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—सङ्ख्यायाः धा, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अधिकरणविचाले गम्यमाने सङ्ख्यावाचिनः प्रातिपदिकाद् धा प्रत्ययो भवति स्वार्थे ॥ *उदा०*—एकं राशिं पञ्चधा कुरु, अष्टधा कुरु, अनेकधा कुरु ॥

भाषार्थः—अधिकरण शब्द यहाँ द्रव्य का वाचक है, उसका जो विचाल अर्थात् अनेक सङ्ख्याओं में बदलना वह अधिकरणविचाल कहलाया ॥ [*अधिकरणविचाले*] द्रव्य का विचाल गम्यमान हो तो सङ्ख्यावाची प्रातिपदिकों से धा प्रत्यय स्वार्थ में होता है ॥ यहां एक राशि = ढेर (द्रव्य) के पाँच भाग कर देना है, सो यही द्रव्य का विचाल = अनेक सङ्ख्याओं में बदलना है अर्थात् १ को ५ में बदल दिया ॥

एकाद्धो ध्यमुञन्यतरस्याम् ॥५।३।४४॥

एकात् ५।१॥ धः ६।१॥ ध्यमुञ् १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—एकशब्दात् परस्य धाप्रत्ययस्य स्थाने ध्यमुञ् आदेशो भवति विकल्पेन ॥ *उदा०*—एकधा राशिं कुरु, ऐकध्यं राशिं कुरु । एकधा भुङ्क्ते ऐकध्यं भुङ्क्ते ॥

भाषार्थः—[*एकात्*] एक शब्द से उत्तर जो [*धः*] धा प्रत्यय
त के स्थान में [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से ध्यमुञ् आदेश होता है ॥
। दो सूत्रों से ही विधार्थ एवं अधिकरण विचाल अर्थ में धा प्रत्यय
विधान है उसी को यहाँ ध्यमुञ् आदेश विकल्प से कर दिया है ॥
मुञ् के ञित् होने से वृद्धि (७।२।११५) होकर ऐकध्यं बना है ॥

यहाँ से '*धः अन्यतरस्याम्*' की अनुवृत्ति ५।३।४६ तक जायेगी ॥

द्वित्र्योश्च धमुञ् ॥५।३।४५॥

द्वित्र्योः ६।२॥ च अ० ॥ धमुञ् १।१॥ *स०*—द्वित्र्योः, इत्यत्रेतरेत-
न्द्वः ॥ *अनु०*—धः, अन्यतरस्याम् तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्,
यय:, परश्च ॥ *अर्थः*—विधार्थेऽधिकरणविचाले च विहितस्य द्वित्र्योः
बन्धिनो धाप्रत्ययस्य धमुञ् आदेशो भवति विकल्पेन ॥ *उदा०*—
धा, द्वैधम् । त्रिधा, त्रैधम् ॥

भाषार्थः—विधार्थ एवं अधिकरण विचाल अर्थ में विहित जो
[*द्वित्र्योः*] द्वि तथा त्रि सम्बन्धी धा प्रत्यय उसको [*च*] भी विकल्प से
[*धमुञ्*] धमुञ् आदेश होता है ॥ द्वि+धा = द्वि धमुञ् = द्वै+धम् सु
हाँ *तद्धितश्चासर्व०* (१।१।३७) से अव्यय संज्ञा एवं २।४।८२ से सु का
क् होकर द्वैधम् बना ॥

यहाँ से '*द्वित्र्योः*' की अनुवृत्ति ५।३।४६ तक जायेगी ॥

एधाच् च ॥५।३।४६॥

एधाच् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—द्वित्र्योः, धः, अन्यतरस्याम्,
द्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वित्र्योः
बन्धिनो धा प्रत्ययस्य विकल्पेन एधाच् आदेशोऽपि भवति ॥
दा०—द्वेधा, द्विधा, द्वैधम् । त्रेधा, त्रिधा, त्रैधम् ॥

भाषार्थः—विधार्थ एवं अधिकरणविचाल अर्थ में विहित जो द्वि त्रि
बन्धी धा प्रत्यय उसको विकल्प से [*एधाच्*] एधाच् आदेश [*च*]
होता है ॥ इस प्रकार एधाच्, धा एवं धमुञ् प्रत्यय लग कर तीन रूप
गे ॥ द्वि+एधाच् *यस्येति च* से इकार लोप होकर द्वेधा रूप बना है ॥

याप्ये पाशप् ॥५।३।४७॥

याप्ये ७।१॥ पाशप् १।१॥ *अर्थः*—याप्ये वर्त्तमानात् प्रातिपदिकात् स्वार्थे पाशप् प्रत्ययो भवति ॥ याप्यः कुत्सित उच्यते ॥ *उदा०*—कुत्सितो वैयाकरणो वैयाकरणपाशः, याज्ञिकपाशः ॥

भाषार्थः—[*याप्ये*] याप्य = निन्दा अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिकों से [*पाशप्*] पाशप् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—वैयाकरणपाशः (निन्दित वैयाकरण) ॥

पूरणाद्भागे तीयादन् ॥५।३।४८॥

पूरणात् ५।१॥ भागे ७।१॥ तीयात् ५।१॥ अन् १।१॥ *अर्थः*—पूरणप्रत्ययो यस्तीयस्तदन्तात् भागे वर्त्तमानात् प्रातिपदिकात् स्वार्थेऽन् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—द्वितीयो भागः, तृतीयो भागः ॥

भाषार्थः—[*पूरणात् तीयात्*] पूरण तीय प्रत्यय अन्त वाले [*भागे*] भाग अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में [*अन्*] अन् प्रत्यय होता है ॥ *द्वेस्तीयः*, *त्रेः सम्प्र०* (५।२।५५) से पूरण प्रत्यय तीय होकर द्वितीय, तृतीय रूप बनता है तदन्त से फिर अन् करेंगे, सो द्वितीयः तृतीयः रूप ही पूर्ववत् बनेगा, केवल स्वर में ही भेद पड़ेगा। अन् करने पर *ञ्नित्या०* (६।१।१९१) से आद्युदात्त स्वर होगा, अन्यथा *आद्युदात्तश्च* (३।१।३) लगकर प्रत्यय स्वर मध्यस्वरित (द्वितीयः) पाता था ॥

यहाँ से '*पूरणात्*' की अनुवृत्ति ५।३।४९ तक '*भागे*' की अनुवृत्ति ५।३।५१ तक तथा '*अन्*' की ५।३।५० तक जायेगी ॥

प्रागेकादशभ्योऽच्छन्दसि ॥५।३।४९॥

प्राक् १।१॥ एकादशभ्यः ५।३॥ अच्छन्दसि ७।१॥ *स०*—न छन्दः अच्छन्दः, तस्मिन्...नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—पूरणाद् भागे अन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्राक् एकादशभ्यः सङ्ख्यावाचिभ्यः पूरणप्रत्ययान्तेभ्यः भागे वर्त्तमानेभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽन् प्रत्ययो भवति स्वार्थे छन्दोविषयं वर्जयित्वा ॥ *उदा०*—पञ्चमः, सप्तमः, नवमः, दशमः ॥

भाषार्थः—पूरणप्रत्ययान्त, भाग अर्थ में वर्त्तमान [एकादशभ्यः प्राक्] एकादश सङ्ख्या से पहले पहले जो सङ्ख्यावाची शब्द, उनसे स्वार्थ में [*अच्छन्दसि*] वेद विषय को छोड़कर अर्थात् केवल भाषा विषय में अन् प्रत्यय होता है ॥ पञ्च, सप्त, नव, दश आदि एकादश से पहले पहले की सङ्ख्या हैं, सो इनसे पूरणप्रत्यय डट् मट् होकर तदन्त से अन् हुआ है । यहाँ भी स्वरार्थ ही अन् प्रत्यय किया है रूप तो पूर्ववत् ही बनेगा ॥

यहाँ से '*अच्छन्दसि*' की अनुवृत्ति ५।३।५० तक जायेगी ॥

षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च ॥५।३।५०॥

षष्ठाष्टमाभ्याम् ५।२॥ ञ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ *स०*—षष्ठा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अच्छन्दसि, भागे, अन् , तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् , प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—भागे वर्त्तमानाभ्यां षष्ठ, अष्टम इत्येताभ्यां शब्दाभ्यां स्वार्थे ञः प्रत्ययो भवति अन् च छन्दोविषयं वर्जयित्वा ॥ *उदा०*—षाष्ठो भागः, षष्ठो भागः । आष्टमः भागः, अष्टमः भागः ॥

भाषार्थः—भाग अर्थ में वर्त्तमान [*षष्ठाष्टमाभ्याम्*] षष्ठ और अष्टम शब्दों से छन्द विषय को छोड़कर [*ञ*] ञ [*च*] तथा अन् प्रत्यय होता है ॥ स्वार्थ में ञ करने से वृद्धि होगी यह विशेष है ॥ षष्ठ अष्टम शब्द पूरणप्रत्ययान्त ही हैं, सो अनावश्यक होने से पूरणात् की अनुवृत्ति नहीं लाये हैं, उसका सम्बन्ध तो है ही ॥ जो षष्ठः अष्टमः (छठा आठवां) का अर्थ है वही षाष्ठः, षष्ठः; आष्टमः, अष्टमः का होगा, क्योंकि ये प्रत्यय स्वार्थ में होते हैं ॥

यहाँ से '*षष्ठाष्टमाभ्याम्*' की अनुवृत्ति ५।३।५१ तक जायेगी ॥

मानपश्वङ्गयोः कन्लुकौ च ॥५।३।५१॥

मानपश्वङ्गयोः ७।२॥ कन्लुकौ १।२॥ च अ० ॥ *स०*—उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—षष्ठाष्टमाभ्याम् , भागे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् , प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठाष्टमाभ्यां यथासङ्ख्यं कन्लुकौ च प्रत्ययौ भवतः मानपश्वङ्गयोर्भागयोरभिधेययोः चकारात् यथाप्राप्तं

अन्त्रौ च ॥ *उदा०*—षष्ठको भागो मानं चेत्तद्भवति[१], षाष्ठः, षष्ठः। अष्टमो भागः पश्वङ्गञ्चेत्तद्भवति आष्टमः, अष्टमः ॥

भाषार्थः—[*मानपश्वङ्गयोः*] मान = माप पश्वङ्ग (पशु का अङ्ग) रूपी षष्ठ और अष्टम शब्दों से यथासङ्ख्य करके [कन्लुकौ] कन् तथा लुक् प्रत्यय होते हैं, भाग अभिधेय हो तो ॥

लुक् प्रत्यय के अदर्शन की संज्ञा है सो ञ अथवा अन् किसी का भी लुक् हो जाता है, क्योंकि किसी विशेष का तो लुक् कहा नहीं है ॥

यहाँ से '*कन्लुकौ*' की अनुवृत्ति ५।३।५२ तक जायेगी ॥

एकादाकिनिच्चासहाये ॥५।३।५२॥

एकात् ५।१॥ आकिनिच् १।१॥ असहाये ७।१॥ *स०*—अस० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—कन्लुकौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—असहायेऽर्थे वर्त्तमानाद् एकशब्दात् स्वार्थ आकिनिच् प्रत्ययो भवति कन्लुकौ च ॥ *उदा०*—एकाकी, एकाकिनौ, एकाकिनः। कन्—एककः। लुक्—एकः ॥

भाषार्थः—[*असहाये*] असहाय = अकेले अर्थ में वर्त्तमान [*एकात्*] एक शब्द से [*आकिनिच्*] आकिनिच्, [*च*] चकार से कन् प्रत्यय तथा लुक् भी होते हैं। यहाँ भी सामान्य रूप से किसी का भी लुक् हो जायेगा ॥ 'एक आकिनिच् = एकाकिन् सु' यहाँ दीर्घ, हल्ङ्यादि लोप तथा नकार लोप होकर एकाकी (अकेला, सहाय हीन) बन गया ॥

भूतपूर्वे चरट् ॥५।३।५३॥

भूतपूर्वे ७।१॥ चरट् १।१॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—भूतपूर्वत्वेऽर्थे वर्त्तमानात् प्रातिपदिकात् स्वार्थे चरट् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—आढ्यो भूतपूर्वः = आढ्यचरः, सुकुमारचरः ॥

---

१. छः व्रीहि (सतुष = छिकल सहित चावल) का एक रत्ती परिमाण होता है (८ तुषरहित चावल = १ रत्ती)।

भाषार्थः—जो समय बीत गया (अतीत) उसे भूतपूर्व कहते हैं ॥ [*भूतपूर्वे*] भूतपूर्व अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से [*चरट्*] चरट् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—आढ्यचरः (जो पहले आढ्य = धनवान् था) सुकुमारचरः (जो पहले सुकुमार था) ॥

यहाँ से 'भूतपूर्वे चरट्' की अनुवृत्ति ५।३।५४ तक जायेगी ॥

षष्ठ्या रूप्य च ॥५।३।५४॥

षष्ठ्याः ५।१॥ रूप्य लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ *अनु०*—भूतपूर्वे चरट्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—षष्ठ्यन्तात् प्रातिपदिकात् रूप्यः प्रत्ययो भवति चरट् च भूतपूर्वेऽर्थे ॥ *उदा०*—देवदत्तस्य भूतपूर्वो गौः देवदत्तरूप्यः, देवदत्तचरः ॥

भाषार्थः—भूतपूर्व अर्थ में [*षष्ठ्याः*] षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से [*रूप्य*] रूप्य [*च*] और चरट् प्रत्यय होते हैं ॥

[*आतिशायिकाः प्रत्ययाः*]

अतिशायने तमबिष्ठनौ ॥५।३।५५॥

अतिशायने ७।१॥ तमबिष्ठनौ १।२॥ *स०*—तम० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अतिपूर्वात् शीङो धातोर्ल्युट् प्रत्ययः अतिशयनम्। अतिशयनमेवातिशायनम् निपातनाद् दीर्घः[1] ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अतिशायनेऽर्थे वर्त्तमानात् प्रातिपदिकात् स्वार्थे तमप् इष्ठन् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः ॥ *उदा०*—सर्वे इमे आढ्या अयमेषामतिशयेनाढ्यः आढ्यतमः, दर्शनीयतमः सुकुमारतमः। सर्वे इमे पटवः अयमेषामतिशयेन पटुः पटिष्ठः, लघिष्ठः, गरिष्ठः ॥

भाषार्थः—[*अतिशायने*] अत्यन्त प्रकर्ष अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में [*तमबिष्ठनौ*] तमप् और इष्ठन् प्रत्यय होते हैं ॥ सब धनवान् हैं, उनमें से यह एक सबसे अधिक धनवान् है, इस प्रकार उसके धन की प्रकर्षता कही जा रही है ॥ *उदा०*—आढ्यतमः (सबसे अधिक धनवान्) पटिष्ठः (सबसे अधिक चतुर) ॥ पटु सु इष्ठन् = यहाँ टेः (६।४।१४३) से पटु के टि भाग का लोप तथा पूर्ववत् सब

१. यद्वा स्वार्थणिजन्तात् शीङ्धातोर्ल्युटि रूपम्।

कार्य होकर 'पट् इष्ठ सु' = पटिष्ठः बना। लघु से लघिष्ठः भी इसी प्रकार जानें। गुरु को *प्रियस्थिरस्फिरोरु०* (६।४।१५७) से गर् आदेश तथा पूर्ववत् सब होकर गरिष्ठः बनेगा॥

यहाँ से *'अतिशायने'* की अनुवृत्ति ५।३।५७ तक तथा *'तमबिष्ठनौ'* की ५।३।५६ तक जायेगी॥

तिङश्च ॥५।३।५६॥

तिङः ५।१॥ च अ०॥ *अनु०*—अतिशायने, तमप्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—अतिशायने द्योत्ये तिङन्तादपि तमप् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—सर्वे इमे पचन्तीत्ययमेषामतिशयेन पचति = पचतितमाम्, जल्पतितमाम्॥

भाषार्थः—अतिशायन द्योतित हो रहा हो तो [*तिङः*] तिङन्त से [च] भी तमप् प्रत्यय होता है॥ *ङ्याप्प्रातिपदिकात्* का अधिकार होने से प्रातिपदिक से ही प्रत्यय प्राप्त थे, तिङन्त से भी विधान कर दिया॥

यहाँ 'इष्ठन्' की अनुवृत्ति ऊपर से आते हुये भी सम्बन्धित नहीं होती, क्योंकि इष्ठन् प्रत्यय गुणवचन प्रातिपदिकों से ही हो ऐसा नियम आगे (५।३।५८) किया है, तिङन्त क्रियावाचक हैं, गुणवचन नहीं हैं॥

यहाँ से तिङः की अनुवृत्ति ५।३।६५ तक जाती है, परन्तु ५८–६५ तथा ६८–७० तक असम्भव होने से संबद्ध नहीं होती॥

द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ ॥५।३।५७॥

द्विवचनविभज्योपपदे ७।१॥ तरबीयसुनौ १।२॥ विभक्तुं योग्यं विभज्यम्, विभज्यं च तदुपपदं च विभज्योपपदम् तत्पुरुषः। द्विवचनं च विभज्योपपदं च द्विवचनविभज्योपपदम्, तस्मिन्.... समाहारो द्वन्द्वः॥ *अनु०*—अतिशायने तिङः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—द्वयोरर्थयोः विभज्ये चोपपदे ङ्याप्प्रातिपदिकात्तिङन्ताच्चाशायने तरबीयसुनौ प्रत्ययौ भवतः। यथासंख्यमत्र न भवति॥ *उदा०*—द्वौ इमौ आढ्यौ अयमनयोरतिशयेन आढ्यः आढ्यतरः, सुकुमारतरः॥ द्वौ इमौ पटू अयमनयोरतिशयेन पटुरिति पटीयान्,

लघीयान् । विभज्योपपदे—माथुराः पाटलिपुत्रकेभ्य आढ्यतराः, सुकुमारतराः, पटीयांसः, लघीयांसः ॥

भाषार्थः—[*द्विवचनविभज्योपपदे*] द्वयर्थ तथा विभज्य = विभाग करने योग्य शब्द उपपद हों तो प्रातिपदिक से तथा तिङन्त से [*तरबीयसुनौ*] तरप् तथा ईयसुन् प्रत्यय होते हैं ॥ द्वौ इमौ आढ्यौ अयमनयोरतिशयेन आढ्यः आढ्यतरः, ये दोनों धनवान् हैं इनमें से यह अधिक धनवान् हैं, यहाँ दोनों धनवान् हैं अतः द्वयर्थता है ही ॥ इसी प्रकार औरों में भी जानें । मथुरा के लोग पाटलिपुत्र वालों से अधिक धनवान् हैं, यहाँ पाटलिपुत्र से मथुरा का विभाग उपपद है सो तरप् ईयसुन् हो गया है ॥

अजादी गुणवचनादेव ॥५।३।५८॥

अजादी १।२॥ गुणवचनात् ५।१॥ एव अ० ॥ गुणमुक्तवान् गुणवचनः, तस्मात् ॥ *स०*—अच् आदिर्ययोस्तौ अजादी, बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अजादी = इष्ठन् ईयसुन् इत्येतौ प्रत्ययौ गुणवचनाद् एव भवतः ॥ *उदा०*—पटीयान्, लघीयान् । पटिष्ठः, लघिष्ठः ॥

भाषार्थः—[*अजादी*] अजादि प्रत्यय अर्थात् इष्ठन् ईयसुन् जो इस प्रकरण में कहे हैं, वे [*गुणवचनात्*]गुणवाची प्रातिपदिक से [*एव*]ही होते हैं ॥ पटु, लघु आदि गुणवाची शब्द हैं ॥ पूर्व सूत्रों से इष्ठन् ईयसुन् का विधान कर आये हैं, यहाँ उसका विषय नियम करते हैं, कि वह गुणवचन प्रातिपदिक से ही हों औरों से नहीं । तरप् तमप् का नियमन होने से वे गुणवचनों से भी हो जाते हैं, यथा पटुतरः पटुतमः, लघुतरः लघुतमः ॥

यहाँ से *अजादी* की अनुवृत्ति ५।३।६५ तक जायेगी ॥

तुश्छन्दसि ॥५।३।५९॥

तुः ५।१॥ छन्दसि ७।१॥ *अनु०*—अजादी, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये त्रन्तात् प्रातिपदिकाद् अजादी प्रत्ययौ भवतः ॥ *उदा०*—आसुतिं करिष्ठः, दोहीयसी धेनुः ॥

भाषार्थः—[*छन्दसि*] वेद विषय में [*तुः*] तृ = तृन्, तृच् अन्त वाले प्रातिपदिकों से अजादी = इष्ठन् ईयसुन् प्रत्यय होते हैं ॥ पूर्व सूत्र से गुणवाची शब्दों से ही अजादि प्रत्यय प्राप्त थे, यहां त्रन्त से भी विधान कर दिया है ॥

प्रशस्यस्य श्रः ॥५।३।६०॥

प्रशस्यस्य ६।१॥ श्रः १।१॥ *अनु०*—अजादी, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रशस्यशब्दस्य स्थानेऽजाद्योः प्रत्यययोः परतः श्र इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—सर्वे इमे प्रशस्याः अयमेषामतिशयेन प्रशस्यः श्रेष्ठः । उभाविमौ प्रशस्यौ अयमनयोरतिशयेन प्रशस्यः = श्रेयान् ॥

भाषार्थः—[*प्रशस्यस्य*] प्रशस्य शब्द के स्थान में अजादि अर्थात् इष्ठन्, ईयसुन् प्रत्यय परे रहते [*श्रः*] श्र आदेश होता है ॥ प्रशस्य इष्ठन् = श्र इष्ठ यहाँ टेः (६।४।१५५) से भसंज्ञक श्र के टि भाग का जो लोप पाया उसका *प्रकृत्यैकाच्* (६।४।१६३) से प्रकृति भाव हो गया, पुनः *आद् गुणः* (६।१।८४) लगकर श्रेष्ठः बना । श्रेयान् में चेता की सिद्धि के समान ही नुमादि समझें ॥

यहाँ से '*प्रशस्यस्य*' की अनुवृत्ति ५।३।६१ तक जायेगी ॥

ज्य च ॥५।३।६१॥

ज्य लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ *अनु०*—प्रशस्यस्य, अजादी, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रशस्यशब्दस्य स्थाने ज्य आदेशोऽपि भवति अजाद्योः प्रत्यययोः परतः ॥ *उदा०*—सर्वे इमे प्रशस्याः, अयमेषामतिशयेन प्रशस्यः ज्येष्ठः, उभाविमौ प्रशस्यौ अयमनयोरतिशयेन प्रशस्यः ज्यायान् ॥

भाषार्थः—प्रशस्य शब्द के स्थान में [*ज्य*] ज्य आदेश [*च*] भी होता है अजादि प्रत्ययों के परे रहते ॥ ज्येष्ठः, ज्यायान् में पूर्ववत् ही टि भाग का लोप प्राप्त होने पर *प्रकृत्यैकाच्* से उसका निषेध हो गया है शेष सब सुस्पष्ट ही है ॥

यहाँ से '*ज्य*' की अनुवृत्ति ५।३।६२ तक जायेगी ॥

वृद्धस्य च ॥५।३।६२॥

वृद्धस्य ६।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—ज्य, अजादी, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—वृद्धशब्दस्य च 'ज्य' आदेशो भवति, अजाद्योः प्रत्यययोः परतः ॥ *उदा०*—सर्वे इमे वृद्धा अयमेषामतिशयेन वृद्धः ज्येष्ठः, उभाविमौ वृद्धावयमनयोरतिशयेन वृद्धः ज्यायान् ॥

भाषार्थः—[*वृद्धस्य*] वृद्ध शब्द के स्थान में [च] भी अजादि प्रत्यय परे रहते, ज्य आदेश होता है ॥ ज्येष्ठः (सबसे अधिक आयु वाला) ज्यायान् (दो में अधिक आयु वाला) ॥

अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ ॥५।३।६३॥

अन्तिकबाढयोः ६।२॥ नेदसाधौ १।२॥ *स०*—उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अजादी, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अन्तिक बाढ इत्येतयोः स्थाने यथासङ्ख्यं नेद, साध इत्येतावादेशौ भवतः अजाद्योः प्रत्यययोः परतः ॥ *उदा०*—सर्वाणीमान्यन्तिकानि इदमेषामतिशयेनान्तिकम् नेदिष्ठम्, उभे इमे अन्तिके इदमनयोरतिशयेनान्तिकम् = नेदीयः । सर्वे इमे बाढमधीयतेऽयमेषामतिशयेन बाढमधीते साधिष्ठम्, उभाविमावतिशयेन बाढमधीयाते अयमनयोरतिशयेन बाढमधीते साधीयः ॥

भाषार्थः—[*अन्तिकबाढयोः*] अन्तिक, बाढ शब्दों को यथासङ्ख्य करके अजादि प्रत्ययों के परे रहते [*नेदसाधौ*] नेद, साध आदेश होते हैं ॥ *उदा०*—नेदिष्ठम् (सबसे अधिक समीप) नेदीयः, साधिष्ठम् (सबसे अधिक अच्छा) साधीयः ॥

युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम् ॥५।३।६४॥

युवाल्पयोः ६।२॥ कन् १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—अजादी, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—युव, अल्प इत्येतयोः स्थाने कन् इत्ययमादेशो भवति विकल्पेन, अजाद्योः प्रत्यययोः परतः ॥ *उदा०*—सर्वे इमे युवानः अयमेषामतिशयेन युवा, कनिष्ठः, यविष्ठः । द्वाविमौ युवानौ, अयमनयोरतिशयेन युवानः कनीयान्, यवीयान् ॥

भाषार्थः—[*युवाल्पयोः*] युव और अल्प के स्थान में [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से अजादि प्रत्ययों के परे रहते [*कन्*] कन् आदेश होता है ॥ जब कन् आदेश पक्ष में नहीं हुआ तो इयसुन् परे रहते *स्थूलदूरयुवह्रस्व०* (६।४।१५६) से युवन् के यणादि = वन् भाग का लोप तथा यु के उ को 'ओ' गुण तथा अवादेश होकर य् अव् इष्ठन् = यविष्ठः ॥ (सबमें अधिक युवा) यवीयान् (दो में अधिक युवा) बन गया ॥

विन्मतोर्लुक् ॥५।३।६५॥

विन्मतोः ६।२॥ लुक् १।१॥ *स०*—विन्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अजादी, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—विनो मतुपश्च लुग् भवति, अजाद्योः प्रत्यययोः परतः ॥ *उदा०*—सर्व इमे स्रग्विणः, अयमेषामतिशयेन स्रग्वी, स्रजिष्ठः। उभाविमौ स्रग्विणौ, अयमनयोरतिशयेन स्रग्वी, स्रजीयान्। मतोः—सर्व इमे त्वग्वन्तः, अयमेषामतिशयेन त्वग्वान् = त्वचिष्ठः। उभाविमौ त्वग्वन्तौ, अयमनयोरतिशयेन त्वग्वान् = त्वचीयान् ॥

भाषार्थः—[*विन्मतोः*] विन् और मतुप् का [*लुक्*] लुक् होता है, अजादि प्रत्ययों के परे रहते ॥ स्रग्वी में स्रज् प्रादिपदिक से विनि प्रत्यय हुआ है, सो इष्ठन् ईयसुन् के परे रहते उसका लोप कर दिया तो स्रज् इष्ठ = स्रजिष्ठः (सबसे अधिक माला वाला) बना। इसी प्रकार त्वग्वान् में त्वच् शब्द से मतुप् हुआ है, उसी का लुक् इष्ठन् ईयसुन् के परे रहते हो गया तो त्वच् इष्ठन् = त्वचिष्ठः (सबसे अच्छी त्वचा वाला) त्वचीयान (दोनों में अच्छी त्वचा वाला) बना। *प्रकृत्यैकाच्* (६।४।१६३) से प्रकृति भाव होने से टेः (६।४।१५५) से टि भाग का लोप भी नहीं होगा ॥

प्रशंसायां रूपप् ॥५।३।६६॥

प्रशंसायाम् ७।१॥ रूपप् १।१॥ *अनु०*—तिङः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रशंसाविशिष्टेऽर्थे वर्त्तमानात् प्रातिपदिकात् तिङन्ताच्च स्वार्थे रूपप् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—प्रशस्तो वैयाकरणो वैयाकरणरूपः, याज्ञिकरूपः। तिङन्तादपि—पचतिरूपम् जल्पतिरूपम् ॥

भाषार्थः—[*प्रशंसायाम्*] प्रशंसा विशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक तथा तिङन्त से स्वार्थ में [*रूपप्*] रूपप् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—वैयाकरणरूपः (अच्छा वैयाकरण) याज्ञिकरूपः (अच्छा याज्ञिक), पचतिरूपम् (अच्छा पकाता है) जल्पतिरूपम् (अच्छा बोलता है) ॥

ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः ॥५।३।६७॥

ईष·····प्तौ ७।१॥ कल्प···यरः १।३॥ *स०*—कल्प० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। ईषच्चासावसमाप्तिश्च, ईषदसमाप्तिः,तस्याम्···कर्मधारयस्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—तिङः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ पदार्थानां सम्पूर्णता समाप्तिः, स्तोकेनासम्पूर्णता, ईषदसमाप्तिस्तस्याम्··॥ *अर्थः*—ईषदसमाप्तावर्थे वर्त्तमानात् प्रातिपदिकात् तिङन्ताच्च कल्पप्, देश्य, देशीयर् इत्येते प्रत्यया भवन्ति ॥ *उदा०*—ईषदसमाप्तः = किञ्चित् न्यूनः पटुः = पटुकल्पः, पटुदेश्यः, पटुदेशीयः, मृदुकल्पः, मृदुदेश्यः, मृदुदेशीयः। तिङन्तात्—पचतिकल्पम्, पचतिदेश्यम्, पचतिदेशीयम् ॥

भाषार्थः—[*ईषदसमाप्तौ*] ईषद् = थोड़ी असमाप्ति अर्थात् किञ्चित् न्यून अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से [*कल्प···रः*] कल्पप्, देश्य, देशीयर् प्रत्यय होते हैं ॥ *उदा०*—पटुकल्पः (पूरा पटु होने में कुछ न्यून) मृदुकल्पः (पूर्ण मृदु में कुछ न्यून) मृदुदेश्यः मृदुदेशीयः। पचतिकल्पम् ('पकाता है' में कुछ न्यूनता है) ॥

यहाँ से '*ईषदसमाप्तौ*' की अनुवृत्ति ५।३।६८ तक जायेगी ॥

विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु ॥५।३।६८॥

विभाषा १।१॥ सुपः ५।१॥ बहुच् १।१॥ पुरस्तात् अ० ॥ तु अ० ॥ *अनु०*—ईषदसमाप्तौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—ईषदसमप्तिविशिष्टेऽर्थे वर्त्तमानात् सुबन्ताद् विभाषा बहुच् प्रत्ययो भवति, स च बहुच् पुरस्तादेव भवति न परतः ॥ *उदा०*—ईषदसमाप्तः लेखः, बहुलेखः, बहुपटुः, बहुमृदुः। पक्षे कल्पबादयो भवन्ति = लेखकल्पः, लेखदेश्यः, लेखदेशीयः ॥

भाषार्थः—ईषदसमाप्ति अर्थ में वर्त्तमान [*सुपः*] सुबन्त से [*विभाषा*] विकल्प से [*बहुच्*] बहुच् प्रत्यय होता है, और वह *परश्च* के नियम से परे न होकर [*पुरस्तात्*] पूर्व में [*तु*] ही (सुबन्त से) होता है ॥ पक्ष में कल्पप् आदि हो जाते हैं ॥ 'लेख सु', 'बहुच् लेख सु' *सुपो धा०* (२।४।७१) लगकर बहुलेखः (लेख में कुछ न्यून) बना ॥ सब प्रत्ययों में बहुच् ही एक ऐसा प्रत्यय है, जो पूर्व में बैठता है, अन्य सब परश्च (३।१।२) के कारण परे ही बैठते हैं ॥

यहाँ से सुपः की अनुवृत्ति ५।३।७१ तक जाती है ॥

प्रकारवचने जातीयर् ॥५।३।६९॥

प्रकारवचने ७।१॥ जातीयर् १।१॥ *अर्थः*—प्रकारविशिष्टेऽर्थे वर्त्तमानात् प्रातिपदिकात् स्वार्थे जातीयर् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—पटुप्रकारः पटुजातीयः, मृदुजातीयः, दर्शनीयजातीयः ॥

भाषार्थः—[*प्रकारवचने*] प्रकार विशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान प्रतिपदिक से स्वार्थ में [*जातीयर्*] जातीयर् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—पटुजातीयः (पटुसदृश) मृदुजातीयः (मृदुसदृश) दर्शनीयजातीयः (दर्शनीय सदृश) ॥

प्रागिवात्कः ॥५।३।७०॥

प्राक् १।१॥ इवात् ५।१॥ कः १।१॥ *अनु०*— सुपः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*- इवे प्रतिकृतौ (५।३।९६) इत्येतस्मात् प्राक् कः प्रत्ययो भवतीत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ *उदा०*— अश्वकः, गर्दभकः ॥

भाषार्थः—[*इवात्*] *इवे प्रतिकृतौ* से [*प्राक्*] पहले पहले [*कः*] क प्रत्यय होता है, यह अधिकार जानना चाहिये ॥ *अज्ञाते* (५।३।७३) से अश्वकः में क हुआ है ॥ सुपः की अनुवृत्ति होने से यहाँ ऊपर से आने वाली '*तिङः*' की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं लगता ॥

अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः ॥५।३।७१॥

अव्ययसर्वनाम्नाम् ६।३॥ अकच् १।१॥ प्राक् १।१॥ टेः ५।१॥ *स०*—अव्ययानि च सर्वनामानि च, अव्य···मानि, तेषाम्·····इत-

रेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—सुपः, प्रागिवात्, तिङश्च, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—अव्ययेभ्यः सर्वनामभ्यस्तिङश्च प्रागिवार्थेऽकच् प्रत्ययो भवति स च टेः प्राग् भवति ॥ उच्चकैः नीचकैः, सर्वके विश्वके, पचतकि जल्पतकि। अस्मिन् सूत्रे प्रातिपदिकात् सुपः इत्युभयमनुवर्त्तते तेन क्वचित् प्रातिपदिकस्य टेः प्राग् अकज् भवति यथा—युवकयोः आवकयोः। क्वचित् सुपः प्राग् भवति। यथा-त्वयका मयका।

भाषार्थः—[*अव्ययसर्वनाम्नाम्*] अव्यय तथा सर्वनामवाची प्रातिपदिकों से एवं तिङन्तों से इवार्थ से पहले पहले [*अकच्*] अकच् प्रत्यय होता है और वह अकच् [*टेः*] टि से [*प्राक्*] पूर्व होता है॥ इस सूत्र में 'प्रातिपदिकात्' तथा 'सुपः' दोनों की अनुवृत्ति है, अतः कहीं प्रातिपदिक के टि भाग से पूर्व अकच् होता है, तो कहीं सुबन्त के टि भाग से पूर्व होता है। जब प्रातिपदिक के टि से पूर्व होगा तो युवयोः आवयोः के ओस् से पूर्व अकच् होकर युवकयोः, आवकयोः बनेगा। जब सुबन्त से पूर्व होगा तो त्वया मया सुबन्त के टि से पूर्व अकच् होकर त्वयका मयका बनेगा॥

यहाँ से आगे *इवे प्रतिकृतौ* (५।३।९६) से पहले पहले इस सूत्र का भी अधिकार जाता है, एवं *प्रागिवात्कः* का भी जाता है, सो अव्यय सर्वनामवाची प्रातिपदिकों से तथा तिङन्तों से अकच् एवं अन्यों से 'क' प्रत्यय *प्रागिवात्कः* तक होगा ऐसा जानना चाहिये॥

कस्य च दः ॥५।३।७२॥

कस्य ६।१॥ च अ० ॥ दः १।१॥ अनु०—अव्ययम्, अकच्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—ककारान्तस्याव्ययस्य प्रातिपदिकस्याकच्सन्नियोगेन दकारादेशो भवति॥ उदा०—धिक्-धकित्। हिरुक्—हिरकुत्। पृथक्—पृथकत्॥

भाषार्थः—[*कस्य*] ककारान्त अव्यय को अकच् प्रत्यय के साथ साथ [*दः*] दकारादेश [*च*] भी होता है॥ अव्ययों को पूर्व सूत्र से अकच् प्रत्यय प्राप्त ही था, उनको यहाँ दकारादेश विधान करते

हैं ॥ सर्वनाम शब्द ककारान्त हैं ही नहीं, अतः सामर्थ्य से यहाँ अव्यय का ही सम्बन्ध लगता है, सर्वनाम का नहीं ॥ *अलोऽन्त्यस्य* (१।१।५१) से अन्तिम अल् 'क्' को 'द्' होगा ॥ 'धिक्' की टि इक् है सो टि से पहले 'अकच्' (५।३।७१) होकर ध् अकच् इक्, क् को द् होकर ध् अक् इद् = धकिद्, चर्त्व होकर धकित् बना। हिरुक् की टि उक् है, सो हिर् अकच् उक् = हिरक् उद् = हिरकुत् बना है ॥ इसी प्रकार पृथक् से पृथ् अकच् अक् = पृथक् अत् = पृथकत् बना है ॥

अज्ञाते ॥५।३।७३॥

अज्ञाते ७।१॥ *स०*—अज्ञाते, इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः, प्रागिवात् कः, तिङः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अज्ञातेऽर्थे वर्त्तमानात् प्रातिपदिकात् तिङन्ताच्च स्वार्थे यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अज्ञातोऽश्वः = अश्वकः, गर्दभकः । उच्चकैः, नीचकैः । सर्वके, विश्वके । पचतकि, जल्पतकि ॥

भाषार्थः—[*अज्ञाते*] अज्ञात अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से तथा तिङन्त से स्वार्थ में यथाविहित (अर्थात् अव्यय सर्वनाम तथा तिङन्तों से अकच् एवं अन्य प्रातिपदिकों से क) प्रत्यय होते हैं ॥ *उदा०*—अश्वकः (जिसका स्वामी अज्ञात हो वह अश्व) पचतकि (जिसकी पाक क्रिया अज्ञात हो) ॥

कुत्सिते ॥५।३।७४॥

कुत्सिते ७।१॥ *अनु०*—अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः, प्रागिवात् कः, तिङः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—कुत्सितेऽर्थे वर्त्तमानात् प्रातिपदिकात् तिङन्ताच्च यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—कुत्सितोऽश्वः अश्वकः, गर्दभकः । अव्ययात्—उच्चकैः, नीचकैः । तिङन्तात्—पचतकि, जल्पतकि ॥

भाषार्थः—[*कुत्सिते*] कुत्सित अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से तथा तिङन्त से यथाविहित (अकच् तथा क) प्रत्यय होते हैं ॥

यहाँ से '*कुत्सिते*' की अनुवृत्ति ५।३।७५ तक जायेगी ॥

संज्ञायां कन् ॥५।३।७५॥

संज्ञायाम् ७।१॥ कन् १।१॥ *अनु०*—प्रागिवात्, कुत्सिते, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—कुत्सितेऽर्थे वर्त्तमानात् प्रातिपदिकात् स्वार्थे कन् प्रत्ययो भवति संज्ञायां गम्यमानायाम् ॥ *उदा०*—कुत्सितः शूद्रः = शूद्रकः, धारकः, पूर्णकः ॥

भाषार्थः—कुत्सित = निन्दित अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से स्वार्थ में [कन्] कन् प्रत्यय होता है [*संज्ञायाम्*] संज्ञा गम्यमान होने पर ॥ तिङन्त से कन् करने पर संज्ञा गम्यमान नहीं होती, अतः यहाँ 'तिङः' का संबन्ध नहीं लगता ॥ *उदा०*—शूद्रकः (निन्दित शूद्र) धारकः (अधर्मी) पूर्णकः (वृक्ष विशेष) ॥

अनुकम्पायाम् ॥५।३।७६॥

अनुकम्पायाम् ७।१॥ *अनु०*—तिङः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अनुकम्पायां गम्यमानायां प्रातिपदिकात् तिङन्ताच्च यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अनुकम्पितः पुत्रः पुत्रकः, वत्सकः, दुर्बलकः । विश्वसितकि, स्वपितकि ॥

भाषार्थः—[*अनुकम्पायाम्*] अनुकम्पा गम्यमान हो तो प्रातिपदिक से तथा तिङन्त से यथाविहित (अव्यय सर्वनाम तथा तिङन्त से अकच् तथा अन्य प्रातिपदिकों से क) प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—दया करके किसी के प्रति उपकार = दुःख निवारण को अनुकम्पा कहते हैं ॥ पुत्रकः (जिसके प्रति दया की गई ऐसा पुत्र) वत्सकः, दुर्बलकः (जिसके प्रति दया की गई ऐसी दुर्बल) ॥ विश्वसितकि (अनुकम्पनीय विश्वास क्रिया करता है) स्वपितकि (अनुकम्पनीय शयन क्रिया करता है) ॥

यहाँ से '*अनुकम्पायाम्*' की अनुवृत्ति ५।३।८२ तक जायेगी ॥

नीतौ च तद्युक्तात् ॥५।३।७७॥

नीतौ ७।१॥ च अ०॥ तद्युक्तात् ५।१॥ *स०*—तया अनुकम्पया युक्तः तद्युक्तः, तस्मात् ···· तृतीयातत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अनुकम्पायाम्, तिङः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—नीतौ च गम्यमानायां, तद्युक्तात् = अनुकम्पायुक्तात् प्रातिपदिकात् तिङन्ताच्च यथा-

विहितं प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—हन्त ते तिलकाः स्युः, हन्त ते धानकाः। तिङन्तात्—एहकि अद्धकि ॥

भाषार्थः—[*नीतौ*] नीति गम्यमान हो तो [च] भी [*तद्युक्तात्*] उससे = अनुकम्पा से सम्बद्ध प्रातिपदिक से तथा तिङन्त से यथाविहित प्रत्यय होता है ॥

नीति नाम साम दान दण्ड और भेद का है। परन्तु अनुकम्पा का सम्बन्ध होने से साम दान दो का ही यहाँ संबन्ध होता है। हन्त ते धानकाः = दयनीय तुम्हारे लिये धान हों अर्थात् किसी दयनीय स्थिति वाले को धान आदि देकर उसे अपने अनुकूल करता है। पूर्व सूत्र में साक्षात् अनुकम्पायुक्त वत्सादि से प्रत्यय का विधान किया है यहाँ जिस वस्तु की दानादि द्वारा अनुकम्पा प्रकट की जा रही है, उससे प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*नीतौ तद्युक्तात्*' की अनुवृत्ति ५।३।८१ तक जायेगी ॥

बह्वचो मनुष्यनाम्नष्ठज्वा ॥५।३।७८॥

बह्वचः ५।१॥ मनुष्यनाम्नः ५।१॥ ठच् १।१॥ वा अ० ॥ *स०*—बहवोः अचो यस्मिन् स बह्वच्, तस्मात् ······ बहुव्रीहिः। मनुष्यस्य-नाम मनुष्यनाम, तस्मात् षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—नीतौ तद्युक्तात्, अनुकम्पायाम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—मनुष्यनामधेयात् बह्वचः प्रातिपदिकाद् अनुकम्पायां नीतौ च तद्युक्तात् ठच् प्रत्ययो वा भवति ॥ *उदा०*—देविकः देवदत्तकः, यज्ञिकः, यज्ञदत्तकः ॥

भाषार्थः—[*बह्वचः*] बहुत अच् वाले [*मनुष्यनाम्नः*] मनुष्यनामधेय प्रातिपदिक से अनुकम्पा गम्यमान होने पर और अनुकम्पा से युक्त नीति-गम्यमान होने पर ठच् प्रत्यय होता है पक्ष में क होगा ॥ जिस पक्ष में ठच् होगा, उस पक्ष में *ठाजादावूर्ध्वं द्वि०* (५।३।३) से देवदत्त यज्ञदत्त के द्वितीय अच् के बाद के भाग अर्थात् दत्त शब्द का लोप होकर देव इक, यज्ञ इक रहा, यस्येति लोप होकर देविकः, यज्ञिकः (अनुकम्पा युक्त देवदत्त) बना ॥ देवदत्त यज्ञदत्त शब्द बह्वच् तथा मनुष्यनामधेय वाला है ही ॥

यहाँ से '*बह्वचः ठज्वा*' की अनुवृत्ति ५।३।८० तक तथा '*मनुष्यनाम्नः*' की ५।३।८४ तक जायेगी ॥

घनिलचौ च ॥५।३।७९॥

घनिलचौ १।२॥ च अ० ॥ *स०*—घनि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—बह्वचो मनुष्यनाम्नष्ठज्वा, नीतौ च तद्युक्ताद्, अनुकम्पायाम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—बह्वचो मनुष्यनामधेयात् प्रातिपदिकात् अनुकम्पायां तद्युक्तान् नीतौ च गम्यमानायाम् घन् इलच् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः, ठच् च भवति विकल्पेन ॥ *उदा०*—घन्—देवियः, इलच्—देविलः । ठच्—देविकः । पक्षे कः—देवदत्तकः ॥

भाषार्थः—बह्वच् मनुष्यनामधेय वाले प्रातिपदिकों से अनुकम्पा और अनुकम्पा से युक्त नीति गम्यमान हो तो [*घनिलचौ*] घन् इलच् [*च*] तथा ठच् प्रत्यय विकल्प से होता है। सो चार रूप बनेंगे ॥

घन् के घ को ७।१।२ से इय् हो ही जायेगा, इस प्रकार घन्, इलच् दोनों ही अजादि प्रत्यय हुए, सो इनके परे रहते भी देवदत्त के दत्त का लोप पूर्ववत् ५।३।८३ से हो जायेगा। शेष सिद्धि पूर्ववत् है ॥

यहाँ से '*घनिलचौ*' की अनुवृत्ति ५।३।८० तक जायेगी ॥

प्राचामुपादेरडज्वुचौ च ॥५।३।८०॥

प्राचाम् ६।३॥ उपादेः ५।१॥ अडज्वुचौ १।२॥ *स०*—उप आदिर्यस्य स उपादिः, तस्मात्...... बहुव्रीहिः । अड० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—घनिलचौ, बह्वचो मनुष्यनाम्नष्ठज्वा नीतौ च तद्युक्तात् अनुकम्पायाम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—उपादेः बह्वचो मनुष्यनाम्नः प्रातिपदिकात् अडच् वुच् घन् इलच् च प्रत्ययाः भवन्ति ठच् च विकल्पेन भवति तद्युक्तान् नीतौ अनुकम्पायां च गम्यमानायाम् प्राचामाचार्याणां मतेन, तेन षड्रूप्य सम्पद्यते ॥ *उदा०*—उपेन्द्रदत्तः कस्यचित् नाम स अनुकम्पितः उपडः, उपकः उपियः उपिलः उपिकः उपेन्द्रदत्तकः ॥

भाषार्थः—[*उपादेः*] उप शब्द आदि वाले बह्वच् मनुष्यनामधेय प्रातिपदिक से नीति और अनुकम्पा गम्यमान होने पर [*अडज्वुचौ*] अडच् वुच् [*च*] तथा घन् इलच् और ठच् प्रत्यय विकल्प से [*प्राचाम्*] प्राग्देशीय आचार्यों के मत में होते हैं। इस प्रकार ६ रूप बना करेंगे ॥

उपेन्द्रदत्त किसी पुरुष का नाम है, सो उससे ये सब प्रत्यय हुये ॥ अडच्, वुच् के परे रहते भी ५।३।८३ से इन्द्रदत्त का लोप होकर उप + अड रहा। यस्येति लोप होकर उपडः, तथा वुच् में उपकः बना। शेष पूर्ववत् ही हैं ॥

जातिनाम्नः कन् ॥५।३।८१॥

जातिनाम्नः ५।१॥ कन् १।१॥ स०—जातेर्नाम जातिनाम, तस्मात् षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—मनुष्यनाम्नः, नीतौ च तद्युक्तात् अनुकम्पायाम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—मनुष्यनामधेयो यो जातिशब्दस्तस्मात् कन् प्रत्ययो भवति नीतावनुकम्पायां च गम्यमानायाम् ॥ उदा०—व्याघ्रकः, सिंहकः ॥

भाषार्थः—मनुष्यनामधेय जो [*जातिनाम्नः*] जातिवाची शब्द उससे [*कन्*] कन् प्रत्यय होता है, नीति तथा अनुकम्पा गम्यमान हो तो ॥ व्याघ्र, सिंह जातिवाची शब्द होते हुए भी यहाँ किसी व्यक्ति विशेष के नाम हैं, सो कन् हो गया है ॥ *उदा०*—व्याघ्रकः (अनुकम्पित व्याघ्र नाम वाला पुरुष) सिंहकः ॥

यहाँ से 'कन्' की अनुवृत्ति ५।३।८२ तक जायेगी ॥

अजिनान्तस्योत्तरपदलोपश्च ॥५।३।८२॥

अजिनान्तस्य ६।१॥ उत्तरपदलोपः १।१॥ च अ० ॥ स०—अजिन शब्दोऽन्ते यस्य स अजिनान्तस्तस्य......बहुव्रीहिः। उत्तरपदस्य लोपः उत्तरपदलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—कन्, मनुष्यनाम्नः, अनुकम्पायाम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—मनुष्यनाम्नः अजिनशब्दान्तात् प्रातिपदिकात् कन् प्रत्ययो भवत्यनुकम्पायां गम्यमानायाम्, उत्तरपदस्य च लोपो भवति ॥ *उदा०*—व्याघ्राजिनो नाम कश्चित् मनुष्यः स अनुकम्पितः, व्याघ्रकः, सिंहकः ॥

भाषार्थः—[*अजिनान्तस्य*] अजिन शब्द अन्त वाले मनुष्यनामधेय प्रातिपदिक से अनुकम्पा गम्यमान होने पर कन् प्रत्यय होता है, और उस अजिनान्त शब्द के [*उत्तरपदलोपः*] उत्तरपद का लोप [*च*] भी हो जाता है ॥

व्याघ्राजिन एवं सिंहाजिन किसी व्यक्ति के नाम हैं, सो इनसे कन् प्रत्यय तथा उत्तरपद अजिन का लोप हो गया, तो 'व्याघ्र् कन्', 'सिंह् कन्' होकर व्याघ्रकः सिंहकः (अनुकम्पित सिंहाजिन नाम वाला) बना ॥ उत्तरपद के ग्रहण से यह लोप सम्पूर्ण उत्तर पद का अदर्शन करता है ॥

यहाँ से '*लोपः*' की अनुवृत्ति ५।३।८४ तक जायेगी ॥

ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः ॥५।३।८३॥

ठाजादौ ७।१॥ ऊर्ध्वम् १।१॥ द्वितीयात् ५।१॥ अचः ५।१॥ *स०*—अच् आदिर्यस्य स अजादिः, बहुव्रीहिः । ठश्च अजादिश्च ठाजादिस्तस्मिन् समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—लोपः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अस्मिन् प्रकरणे यष्ठः अजादिश्च प्रत्ययस्तस्मिन् परतो द्वितीयादच ऊर्ध्वं यच्छब्दरूपं तस्य लोपो भवति ॥ *उदा०*—अनुकम्पितो देवदत्तः देविकः । अजादिः—देवियः, देविलः । उपडः, उपकः, उपियः, उपिलः । ठः—उपिकः ॥

भाषार्थः—इस प्रकरण में अर्थात् ५।३।७८ से यहाँ तक, जो भी [*ठाजादौ*] ठ तथा अजादि प्रत्यय कहे हैं, उनके परे रहते [*द्वितीयात् अचः*] द्वितीय अच् से [*ऊर्ध्वम्*] बाद की जो प्रकृति (शब्दरूप) उसका लोप हो जाता है ॥ जहाँ जहाँ उपर्युक्त उदाहरण आये हैं वहाँ वहाँ इनकी सिद्धि कर ही दी है, सो वहीं देखें । देवदत्त में देव, उपेन्द्रदत्त में उप द्वितीय अच् तक की प्रकृति है, सो इससे बाद के भाग का लोप हो गया । यहाँ भी 'ऊर्ध्वम्' ग्रहण से सम्पूर्ण भाग का लोप होता है ॥

यहाँ से '*ठाजादावूर्ध्वम् अचः*' की अनुवृत्ति ५।३।८४ तक जायेगी ॥

शेवलसुपरिविशालवरुणार्यमादीनां तृतीयात् ॥५।३।८४॥

शेव······दीनाम् ६।३॥ तृतीयात् ५।१॥ *स०*—शेवलश्च सुपरिश्च विशालश्च वरुणश्च अर्यमा च, शेव···र्यमा इत्येते आदयो येषां ते शेव···मादयस्तेषाम्·····द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—ठाजादावूर्ध्वम् अचः, लोपः, मनुष्यनाम्नः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—शेवलसुपरिविशालवरुणार्यमादीनां मनुष्यनामवाचिनां शब्दानां

ठाजादौ प्रत्यये परतस्तृतीयादच ऊर्ध्वं यत् शब्दरूपं तस्य लोपो भवति ॥ उदा०—अनुकम्पितः शेवलदत्तः = शेवलिकः, शेवलियः शेवलिलः । सुपरिकः, सुपरियः सुपरिलः । विशालिकः, विशालियः विशालिलः । वरुणिकः, वरुणियः, वरुणिलः । अर्यमिकः, अर्यमियः, अर्यमिलः ॥

भाषार्थः—[*शेव·····दीनाम्*] शेवल सुपरि, विशाल, वरुण, अर्यमा मनुष्यनामवाची ये शब्द आदि में हैं जिनके ऐसे शब्दों के [*तृतीयात्*] तृतीय अच् के बाद की जो प्रकृति, उसका लोप हो जाता है, ठ और अजादि प्रत्ययों के परे रहते ॥ शेवलदत्त, सुपरिदत्त, विशालदत्त आदि मनुष्यनामवाची शब्द हैं, उनसे पूर्वोक्त सूत्रों से (५।३।७८,७९) ठच्, घन्, इलच् प्रत्यय होकर तृतीय अच् के बाद अर्थात् 'दत्त' का लोप हो गया, तो शेवलिकः आदि रूप बन गये ॥

अल्पे ॥५।३।८५॥

अल्पे ७।१॥ *अनु०*—तिङः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अल्पेऽर्थे वर्त्तमानात् प्रातिपदिकात् तिङन्ताच्च यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अल्पं तैलं = तैलकम्, घृतकम् । सर्वनाम्नः अकच्—सर्वकम्, विश्वकम् । तिङन्तादकच्—पचतकि, जल्पतकि ॥

भाषार्थः—[*अल्पे*] अल्प = थोड़ा अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक तथा तिङन्त से यथाविहित (जिससे जो कह आये हैं) प्रत्यय होते हैं ॥ *उदा०*—तैलकम् (थोड़ा तैल) पचतकि (अल्प पकाता है) ॥

ह्रस्वे ॥५।३।८६॥

ह्रस्वे ७।१॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—ह्रस्वेऽर्थे वर्त्तमानात् प्रातिपदिकाद् यथाविहितं प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—ह्रस्वो वृक्षः = वृक्षकः, प्लक्षकः, स्तम्भकः ॥

भाषार्थः—[*ह्रस्वे*] ह्रस्व अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से यथाविहित प्रत्यय होते हैं ॥ अर्थात् ह्रस्व = छोटे वृक्ष को वृक्षकः, एवं छोटे खम्भे को स्तम्भकः कहेंगे ॥ ह्रस्वार्थ का तिङन्त के साथ योग न होने से यहाँ तिङन्त का उदाहरण नहीं दिया ॥

यहाँ से 'ह्रस्वे' की अनुवृत्ति ५।३।९० तक जायेगी ॥

संज्ञायां कन् ॥५।३।८७॥

संज्ञायाम् ७।१॥ कन् १।१॥ *अनु०*—ह्रस्वे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—ह्रस्वेऽर्थे वर्त्तमानात् प्रातिपदिकात् कन् प्रत्ययो भवति, संज्ञायां गम्यमानायाम् ॥ पूर्वस्यायमपवादः ॥ *उदा०*—ह्रस्वो वंशो वंशकः, वेणुकः, दण्डकः ॥

भाषार्थः—ह्रस्व अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से [*संज्ञायाम्*] संज्ञा गम्यमान हो तो [*कन्*] कन् प्रत्यय होता है ॥ पूर्व सूत्र से प्राप्त 'क' का यह अपवाद है ॥ क तथा कन् में केवल स्वर का ही भेद है ॥ छोटे छोटे बाँस के पेड़ों की वंशकः संज्ञा है ॥

कुटीशमीशुण्डाभ्यो रः ॥५।३।८८॥

कुटी......भ्यः ५।३॥ रः १।१॥ *स०*—कुटी० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—ह्रस्वे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—ह्रस्वार्थे द्योत्ये कुटी, शमी, शुण्डा इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो रः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—ह्रस्वा कुटी कुटीरः, शमीरः, शुण्डारः ॥

भाषार्थः—ह्रस्वत्व द्योत्य हो तो [*कुटीशमीशुण्डाभ्यः*] कुटी, शमी और शुण्डा शब्दों से [*रः*] र प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*— कुटीरः (छोटी कुटी = कुटिया) शमीरः (शमी का छोटा वृक्ष) शुण्डारः (छोटी सूँड) ॥

कुत्वा डुपच् ॥५।३।८९॥

कुत्वाः ५।१॥ डुपच् १।१॥ *अनु०*—ह्रस्वे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—ह्रस्वत्वे द्योत्ये कुतूशब्दाड्डुपच् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—ह्रस्वा कुतूः = कुतुपम् ॥

भाषार्थः—ह्रस्वत्व द्योतित हो तो [*कुत्वाः*] कुतू शब्द से [*डुपच्*] डुपच् प्रत्यय होता है ॥ कुतू डुपच् = कुतू उप, टि भाग का टेः (६।४।१४३) से लोप होकर कुत् उप सु = कुतुपम् (चमड़े का बना चिकनाई रखने का पात्र, यह ऊँट के चर्म का बना होता है) ॥

कासूगोणीभ्यां ष्टरच् ॥५।३।९०॥

कासूगोणीभ्याम् ५।२॥ ष्टरच् १।१॥ *स०*—कासू० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—ह्रस्वे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—कासू गोणी इत्येताभ्यां शब्दाभ्यां ह्रस्वत्वे द्योत्ये ष्टरच् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—ह्रस्वा कासूः कासूतरी गोणीतरी ॥

भाषार्थः—[*कासूगोणीभ्याम्*] कासू तथा गोणी शब्दों से ह्रस्वत्व अर्थ द्योतित हो तो [*ष्टरच्*] प्रत्यय होता है ॥ षित् होने से ४।१।४१ से ङीष् होगा। 'कासू ष्टरच्' यहाँ इत्संज्ञक षकार का लोप होने पर, षकार के योग में जो ष्टरच् के त् को ष्टुत्व होकर ट् हुआ था वह भी हट गया सो तर रहा। कासू तर ङीष् = कासूतरी (लघु शक्ति नाम का अस्त्र) गोणीतरी (आधी बोरी = कट्टा) बना ॥

यहाँ से 'ष्टरच्' की अनुवृत्ति ५।३।९१ तक जायेगी ॥

वत्सोक्षाश्वर्षभेभ्यश्च तनुत्वे ॥५।३।९१॥

वत्सो‧‧‧भ्यः ५।३॥ च अ० ॥ तनुत्वे ७।१॥ *स०*—वत्सो० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—ष्टरच्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—वत्स, उक्षन्, अश्व, ऋषभ इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यस्तनुत्वे द्योत्ये ष्टरच् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—वत्सतरः, उक्षतरः, अश्वतरः, ऋषभतरः ॥

भाषार्थः—[*वत्सो‧‧‧‧‧भ्यः*] वत्स, उक्षन्, अश्व, ऋषभ इन प्रातिपदिकों से [*तनुत्वे*] तनुत्व = अल्पता द्योतित हो रही हो, तो ष्टरच् प्रत्यय होता है ॥ जिस शब्द का जिस गुण के कारण से प्रयोग होता है उसका तनुत्व यहाँ अभिप्रेत है ॥ वत्स यहाँ गाय के बछड़े को कहा है, प्रथम अवस्था तक वत्स कहा जायेगा, उस प्रथम अवस्था को पार कर जो द्वितीय अवस्था में पहुँच गया है, अर्थात् जिसके वत्सत्व धर्म (प्रथम अवस्था) में न्यूनता आ चुकी है उसे वत्सतरः कहेंगे, यही उसका तनुत्व = न्यूनपना है। इसी प्रकार जवान बैल को उक्षन् कहते है, उस युवावस्था को पार कर जो तृतीय अवस्था में पहुँच गया है, वह उक्षतरः कहा जायेगा। युवावस्था को छोड़ देना ही उसका तनुत्व है। अश्वतरः

खच्चर को कहेंगे, अश्व से अश्वा में उत्पन्न अश्व कहाता है परन्तु अश्व से जो गर्दभी में अथवा गर्दभ से अश्वा में उत्पन्न हो वह अश्वतर कहा जाता है, यहाँ अश्व का तनुत्व अन्यजातकता है। ऋषभ बैल को कहते हैं। सो जो बैल भार ढोने में कम सामर्थ्य रखता हो वह ऋषभतर कहा जायेगा, यही उसका तनुत्व है॥

किंयत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच् ॥५।३।९२॥

कियत्तदः ५।१॥ निर्धारणे ७।१॥ द्वयोः ७।२॥ एकस्य ६।१॥ डतरच् १।१॥ *स०*—किं च यच्च तत् च कियत्तत् तस्मात्..... समाहारो द्वन्द्वः॥ *अर्थः*—किम् यद् तद् इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो द्वयोरेकस्य निर्धारणे डतरच् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—कतरो भवतोः कठः। एवं यतरः, ततरः। कतरो भवतोः कारकः, एवं यतरः ततरः। कतरो भवतोः पटुः, एवं यतरः ततरः॥

भाषार्थः—[*कियत्तदः*] किम्, यद्, तद् इन शब्दों से [*द्वयोः, एकस्य, निर्धारणे*] दो में से एक का निर्धारण = पृथक्करण अर्थ में [*डतरच्*] डतरच् प्रत्यय होता है॥ कतरो भवतोः कठः = आप दोनों में से कतरः = कौन कठ है? यहाँ दो में से एक कठ का प्रश्न होने से स्पष्ट ही निर्धारण = पृथक्करण है, सो डतरच् हो गया। इसी प्रकार यतरो भवतोः कठः (आप दोनों में से जो कठ है) ततरो भवतोः कठः (आप दोनों में से वह कठ है) में भी जानें॥ 'किम् डतरच्' यहाँ टेः (६।४।१४३) से टि भाग का लोप होकर क अतर = कतर बना। यद् अतर = य् अतर = यतरः। तद् अतर = त् अतर = ततरः[1]॥

यहाँ से '*कियत्तद*' की अनुवृत्ति ५।३।९३ तक तथा *निर्धारणे एकस्य डतरच्*' की ५।३।९४ तक जायेगी॥

वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच् ॥५।३।९३॥

वा अ०॥ बहूनाम् ६।३॥ जातिपरिप्रश्ने ७।१॥ डतमच् १।१॥ *स०*—जातेः परि (परितः) प्रश्नः जातिपरिप्रश्नस्तस्मिन्..... षष्ठी

---

१. *कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने* (२।१।६३) ज्ञापकात् 'डतरच' उत्तर सूत्र अनुवर्त्तते स च परिप्रश्नविषय एव सम्बध्यते॥

तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—किंयत्तदो निर्धारणे एकस्य, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—जातिपरिप्रश्नविषयेभ्यः किंयत्तदित्येतेभ्यः शब्देभ्यो बहूनां मध्ये एकस्य निर्धारणे गम्यमाने वा डतमच् प्रत्ययो भवति ॥ सर्वनामशब्देभ्योऽकच्प्राप्तेः पक्षे स एव भवति ॥ *उदा०*—कतमो भवतां कठः । यतमो भवतां कठः ततम आगच्छतु । पक्षे—यको भवतां कठः सक आगच्छतु ॥

भाषार्थः—[*जातिपरिप्रश्ने*] जातिपरिप्रश्न अर्थात् जाति को पूछने विषय में किम्, यद्, तद् शब्दों से [*बहूनाम्*] बहुतों में से एक का निर्धारण गम्यमान हो तो [*वा*] विकल्प से [*डतमच्*] डतमच् प्रत्यय होता है ॥ दो में से एक के निर्धारण में पूर्व सूत्र से डतरच् प्रत्यय कहा था, यहाँ बहुतों में से एक के निर्धारण में डतमच् कह दिया ॥ पक्ष में किम् यद् तद् के सर्वनाम होने से ५।३।७१ से अकच् होगा ॥ किम् से अकच् होने पर महाभाष्य के "*कादेशः खल्वप्यवश्यं साकच्कार्थो वक्तव्यः*" (७।२।१०२) इस वचन से उस अकच् सहित किम् को क आदेश *किमः कः* (७।२।१०३) से होगा, सो अकच् पक्ष में भी 'कः' (को भवतां कठः) रूप ही बनेगा ॥ त् अकच् अद् = तकद् सु परि० १।१।५१ के अनुसार द् का अ तथा त का स होकर सकः बना। य् अकच् अद् सु यकः बनेगा। कतमः आदि में कुछ भी विशेष नहीं, केवल टि भाग का ६।४।१४३ से लोप ही करना है ॥ *कतरकतमौ जातिपरिप्रश्ने* (२।१।६३) के ज्ञापक से जातिपरिप्रश्न में डतरच् प्रत्यय भी होता है ॥

यहाँ से '*बहूनां डतमच्*' की अनुवृत्ति ५।३।९४ तक जायेगी ॥

एकाच्च प्राचाम् ॥५।३।९४॥

एकात् ५।१॥ च अ० ॥ प्राचाम् ६।३॥ *अनु०*—बहूनां डतमच्, निर्धारणे एकस्य डतरच्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—एकशब्दात् प्राचामाचार्याणां मतेन डतरच्डतमचौ प्रत्ययौ भवतः स्वस्मिन् विषये ॥ *उदा०*—एकतरो भवतोर्देवदत्तः । एकतमो भवतां देवदत्तः ॥

भाषार्थः—[*एकात्*] एक शब्द से [*च*] भी [*प्राचाम्*] प्राचीन आचार्यों के मत में अपने अपने विषय में अर्थात् दो में से एक के निर्धारण में

डतरच् तथा बहुतों में से एक के निर्धारण में डतमच् प्रत्यय होता है॥ उदा०—एकतरो भवतोर्देवदत्तः (आप दोनों में से एक देवदत्त है) एकतमो भवतां देवदत्तः (आप सबों में एक देवदत्त है) ॥

अवक्षेपणे कन् ॥५।३।९५॥

अवक्षेपणे ७।१॥ कन् १।१॥ अवक्षिप्यते येन तदवक्षेपणम्, तस्मिन् ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अवक्षेपणेऽर्थे वर्त्तमानात् प्रातिपदिकात् कन् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—व्याकरणकेन नाम त्वं गर्वितः, याज्ञिक्यकेन नाम त्वं गर्वितः ॥

भाषार्थः—[*अवक्षेपणे*] अवक्षेपण अर्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से [कन्] कन् प्रत्यय होता है ॥ दूसरे की निन्दा के लिये जिस विषय का निर्देश किया जाय तद्वाचक शब्द से यहां प्रत्यय होता है। '*कुत्सिते*' में उसी से कन् होता है जिसकी निन्दा की जाए। यह दोनों में अन्तर है ॥ *उदा०*—व्याकरणकेन नाम त्वं गर्वितः (व्याकरण ज्ञान के कारण तू अभिमान में हैं) ॥

यहाँ से 'कन्' की अनुवृत्ति ५।३।१०० तक जायेगी ॥

इवे प्रतिकृतौ ॥५।३।९६॥

इवे ७।१॥ प्रतिकृतौ ७।१॥ *अनु०*—कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रतिकृतौ विषय इवार्थे यत् प्रातिपदिकं वर्त्तते तस्मात् कन् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अश्व इवायमश्वप्रतिकृतिरश्वकः, उष्ट्रकः, गर्दभकः ॥

भाषार्थः—[*प्रतिकृतौ*] प्रतिकृति = प्रतिमा, तस्वीर विषयक [*इवे*] इवार्थ में वर्त्तमान प्रातिपदिक से कन् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*इवे*' की अनुवृत्ति ५।३।१११ तक तथा '*प्रतिकृतौ*' की अनुवृत्ति ५।३।१०० तक जायेगी ॥

संज्ञायां च ॥५।३।९७॥

संज्ञायाम् ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—इवे, कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—इवार्थे गम्यमाने संज्ञायां विषये,

प्रातिपदिकात् कन् प्रत्ययो भवति ।। *उदा०*— अश्वकः, उष्ट्रकः, गर्दभकः ।। अप्रतिकृतिविषयार्थत्वान्नेह प्रतिकृतिग्रहणं संबद्ध्यते ।।

भाषार्थः—इवार्थ गम्यमान हो तो [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में [च] भी कन् प्रत्यय होता है ।। अश्व के जो सदृश उसे अश्वकः कहेंगे ।। अप्रतिकृति के लिए यह सूत्र है, अतः यहां प्रतिकृति की अनुवृत्ति संबद्ध नहीं होती ।

यहाँ से '*संज्ञायाम्*' की अनुवृत्ति ५।३।१०० तक जायेगी ।।

लुम्मनुष्ये ।।५।३।९८।।

लुप् १।१।। मनुष्ये ७।१।। *अनु०*—इवे, कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ।। *अर्थः*—इवार्थे संज्ञायाम् विहितस्य कनो मनुष्येऽभिधेये लुब् भवति ।। *उदा०*—चञ्चेव चञ्चा । पूर्वसूत्रविषयकत्वादेवेहापि प्रतिकृतिग्रहणं न संबद्ध्यते ।

भाषार्थः—पूर्व सूत्र से संज्ञा विषय में विहित कन् का [*मनुष्ये*] मनुष्य अभिधेय होने पर [*लुप्*] लुप् होता है ।। चञ्चेव चञ्चा (तृण निर्मित पुरुष = चञ्चा, उसके समान थोड़े से आघात को न सहने वाला व्यक्ति चञ्चा कहाता है, यहाँ *लुपि युक्तवद्व्यक्तिवचने* (१।२।५१) से युक्तवद् भाव होता है । यह सूत्र पूर्व सूत्र विहित प्रत्यय का लोप करता है, अतः यहां भी प्रतिकृति ग्रहण संबद्ध नहीं होता ।

जीविकार्थे चापण्ये ।।५।३।९९।।

जीविकार्थे ७।१।। च अ० । अपण्ये ७।१।। *स०*—जीविकायै इदम् जीविकार्थम्, तस्मिन् ... तत्पुरुषः । न पण्यम् अपण्यम्, तस्मिन्, नञ्तत्पुरुषः । *अनु०*—लुप् मनुष्ये कन् प्रतिकृतौ, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ।। *अर्थः*—जीविकायै या अपण्या मनुष्यप्रतिकृतिः तस्यामभिधेयायां कनो लुब् भवति । *इवे प्रतिकृतौ* (५।३।९६) इत्यनेनोत्पन्नस्य प्रत्ययस्य लुबनेन विधीयते ।। *उदा०*—वासुदेवः, शिवः, स्कन्दः, विष्णुः ।। वासुदेवादीनां मानार्हाणां महापुरुषाणां प्रतिकृतीनां विक्रयः पुराकाले प्रतिषिद्ध आसीद् यथा घृतदुग्धतैलादीनाम् ।। तस्माद् एतेषां

प्रतिकृतय अपण्या = अविक्रेया अभूवन् । ता यत्र तत्र देशदेशान्तरे प्रदर्श्य केचन जीविकामर्जयन्ति स्म[1] । अत एता प्रतिकृतयो जीविकार्थाः सत्योऽपण्या अविक्रेया आसन् ॥

भाषार्थः—[*जीविकार्थे*] जीविकोपार्जन के लिये जो [च *अपण्ये*] न बेचने योग्य मनुष्य की प्रतिकृति उसके अभिधेय होने पर कन् का लुप् होता है ॥ इवे प्रतिकृतौ से उत्पन्न कन् प्रत्यय का यहाँ लुप् विधान किया है ॥ पूजा के योग्य वासुदेवादि महापुरुषों की प्रतिकृतियों का बेचना प्राचीन काल में निषिद्ध था, जिस प्रकार घी दूध तैलादि का निषिद्ध था। इस प्रकार ये प्रतिकृतियाँ अपण्य हुईं। कहीं-कहीं इन्हीं प्रतिकृतियों को दिखाकर कई लोग जीविकोपार्जन करते हैं, अतः ये प्रतिकृतियां अपण्य होते हुये जीविकार्थ भी हो गईं ॥

देवपथादिभ्यश्च ॥५।३।१००॥

देवपथादिभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ *स०*—देवपथ आदिर्येषां ते देवपथादयस्तेभ्यः बहुव्रीहिः । *अनु०*—इवे प्रतिकृतौ, कन्, लुप्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—देवपथादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्य इवार्थे प्रतिकृतावुत्पन्नस्य कनो लुप् भवति ॥ *उदा०*—देवपथः, जलपथः, राजपथः ॥ देवपथादीनां प्रतिकृतयोऽपि देवपथादि-शब्दैर्व्यवह्रियन्ते तत्रोत्पन्नस्य कनो लुब्भवति ॥

भाषार्थः—[*देवपथादिभ्यः*] देवपथादि शब्दों से इवार्थ प्रतिकृति को कहने में उत्पन्न प्रत्यय का [च] भी लुप् होता है ॥ इवे *प्रतिकृतौ*, *संज्ञायाम्* (५।३।९६, ९७) से उत्पन्न प्रत्यय का यहाँ लुप् होता है ॥ देवपथादियों की प्रतिकृतियाँ भी देवपथादि शब्दों द्वारा व्यवहृत की जाती है ॥

---

१. विविध दर्शनीय स्थानो वा पुरुषो की प्रतिकृतियां बालकों को दिखाकर आज कल भी अनेक व्यक्ति जीविकार्जन करते हे। परन्तु यह प्रवृत्ति अब प्रायः उठ गई है। २०-२५ वर्ष पूर्व पर्याप्त थी।

वस्तेर्ढञ् ॥५।३।१०१॥

वस्तेः ५।१॥ ढञ् १।१॥ *अनु०*—इवे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—वस्तिशब्दाद् इवार्थे द्योत्ये ढञ् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—वस्तिरिव = वास्तेयः, वास्तेयी ॥

भाषार्थः—[*वस्तेः*] वस्ति शब्द से इव का अर्थ द्योतित हो रहा हो तो [*ढञ्*] ढञ् प्रत्यय होता है ॥ *टिड्ढाणञ्०* (४।१।१५) से ङीप् होकर वास्तेयी बनेगा ॥ यहाँ से आगे सामान्य करके प्रतिकृति या अप्रतिकृति दोनों विषयों में प्रत्यय होते हैं ॥ *उदा०*—वास्तेयः (नाभि के अधोभाग को आच्छादित करने वाले वस्त्र के समान) ॥

शिलाया ढः ॥५।३।१०२॥

शिलायाः ५।१॥ ढः १।१॥ *अनु०*—इवे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—शिलाशब्दाद् इवार्थे द्योत्ये ढः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—शिला इव शिलेयं दधि ॥

भाषार्थः—[*शिलायाः*] शिला शब्द से इवार्थ में [*ढः*] ढ प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—शिलेयम् दधि (पत्थर के समान दृढ़ जमा हुआ दही) ॥

शाखादिभ्यो यत् ॥५।३।१०३॥

शाखादिभ्यः ५।३॥ यत् १।१॥ *स०*—शाखा आदिर्येषां ते शाखादयस्तेभ्यः······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—इवे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—शाखादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्य इवार्थे यत् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—शाखा इव शाख्यो मनुष्यः (गौणः) मुखम् इव मुख्यः (प्रधानः) ॥

भाषार्थः—[*शाखादिभ्यः*] शाखादि प्रातिपदिकों से इवार्थ में [*यत्*] यत् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*यत्*' की अनुवृत्ति ५।३।१०४ तक जायेगी ॥

द्रव्यं च भव्ये ॥५।३।१०४॥

द्रव्यम् १।१॥ च अ० ॥ भव्ये ७।१॥ *अनु०*—यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थ*—द्रव्यशब्दो निपात्यते, भव्ये अभिधेये। किन्निपात्यते? द्रुशब्दाद् यत् प्रत्ययो निपात्यते भव्येऽभिधेये ॥

भाषार्थः—[*द्रव्यम्*] द्रव्य शब्द निपातन किया जाता है। सो क्या निपातन है? यह कहते हैं—द्रु शब्द से [च] भी [*भव्ये*] भव्य (आत्मवत्त्व = पात्रत्व) अभिधेय होने पर यत् प्रत्यय निपातन है॥ निपातन से इवार्थ संबद्ध नहीं होता॥ *उदा०*—द्रव्योऽयं राजपुत्रः (राजपुत्रादि गुणों का पात्र है, यह राजपुत्र) द्रव्योऽयं माणवकः ॥

कुशाग्राच्छः ॥५।३।१०५॥

कुशाग्रात् ५।१॥ छः १।१॥ *अनु०*—इवे, तद्धिताः, ङ्याप्प्राति-पदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—कुशाग्रशब्दाद्, इवार्थे द्योत्ये छः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—कुशाग्रमिव सूक्ष्मत्वात् कुशाग्रीया बुद्धिः, कुशाग्रीयं वस्त्रम् ॥

भाषार्थः—[*कुशाग्रात्*] कुशाग्र शब्द से इवार्थ में [छः] छ प्रत्यय होता है॥ कुशा (तृण विशेष) का अग्र भाग बड़ा सूक्ष्म तीक्ष्ण नुकीला होता है, ऐसी तीक्ष्ण बुद्धि को कुशाग्रीया बुद्धि कहेंगे॥

यहाँ से 'छः' की अनुवृत्ति ५।३।१०६ तक जायेगी॥

समासाच्च तद्विषयात् ॥५।३।१०६॥

समासात् ५।१॥ च अ० ॥ तद्विषयात् ५।१॥ *स०*—स (इवार्थः) विषयो यस्य स तद्विषयस्तस्मात्.....बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—छः, इवे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तद्विषयात् = इवार्थविषयात् समासात् प्रातिपदिकाद् अपरस्मिन् इवार्थे द्योत्ये छः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—काकागमनमिव तालपतनमिव काकतालम्, इत्येकस्मिन् इवार्थे समासः, अपरस्मिन् इवार्थे छः प्रत्ययः। काकतालमिव यत् कार्यम् तत् काकतालीयम्, अजाकृपाणीयम् अन्धकवर्त्तीयम् ॥

भाषार्थः—तद्विषयात् यहाँ तद् शब्द से प्रकरणस्थ इवार्थ ही लिया है। [*तद्विषयात्*] इवार्थ विषय है जिसका ऐसे [*समासात्*] समास में वर्त्तमान प्रातिपदिक से [च] भी छ प्रत्यय इवार्थ में होता है ॥

तद्विषयात् कहने से एक इवार्थ में तो समास हुआ है यथा काकागमनमिव तालपतनमिव = कौए के आगमन के समान, ताल (पेड़) के गिरने के समान इस एक इवार्थ में काकताल ऐसा समास हुआ। उस काकताल के समान जो कार्य वह काकतालीय कार्य कहायेगा, इस दूसरे इवार्थ में छ प्रत्यय हुआ है, इसी को काकतालीय न्याय कहते हैं ॥

किसी ताल के पेड़ के नीचे यों ही उड़ता हुआ कौआ आकर बैठ गया, उसके बैठते ही अकस्मात् यों ही स्वाभाविक रूप से ही ताल का पेड़ गिर पड़ा, सो उसके गिरते ही कौआ दबकर मर गया। किसी ने कुछ किया नहीं यों ही कौए की मृत्यु हो गई। यह काकतालीय कार्य हुआ। यह एक इवार्थ = उपमार्थ हुआ जिसमें काकताल का समास हुआ। उसी प्रकार कोई व्यक्ति यों ही कहीं पहुँच जाये, उसके वहाँ जाते ही चोर बिना उस व्यक्ति को जाने ही वहाँ पहुँच जायें और वह उसे मार दें तो यह उस व्यक्ति का वहाँ जाना, तथा चोरों का आना और उसका मारा जाना काकतालसदृश हुआ, सो यह मरना काकताल के वध के समान हुआ, यह दूसरा उपमार्थ है जिसमें 'छ' प्रत्यय हुआ। इस प्रकार उस व्यक्ति के वध को काकतालीय वध कहेंगे॥ इसी प्रकार अजाकृपाणीयम् यहाँ अजा का अकस्मात् कृपाण = तलवार के नीचे पड़ना, तलवार का अचानक गिरना, उससे अजा का वध होना, ऐसा आकस्मिक वधयोग अजाकृपाणीय कहाता है। अन्धकवर्तकीयम यहाँ अन्धे का आकस्मिक हाथ फैलाना और बतख़ का उसके हाथ पर बैठना अन्धे के द्वारा उसका पकड़ा जाना, ऐसा आकस्मिक प्राप्ति, योग अन्धकवर्तकीय कहाता है ॥

शर्करादिभ्योऽण् ॥५।३।१०७॥

शर्करादिभ्यः ५।३॥ अण् १।१॥ *स०*—शर्करा आदिर्येषां ते शर्करादयस्तेभ्यः······बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—इवे, तद्धिताः, ङ्याप्प्राति-

पदिकात्, प्रत्यय:, परश्च ॥ अर्थ:—शर्करादिभ्य: प्रातिपदिकेभ्य इवार्थेऽण् प्रत्ययो भवति ॥ उदा० शर्करा इव शार्करम्, कापालिकम् ॥

भाषार्थ:—[*शर्करादिभ्य:*] शर्करादि प्रातिपदिकों से [*अण्*] अण् प्रत्यय होता है इवार्थ में ॥ उदा०—शार्करम् (शर्करा के समान) कापालिकम् (कपाल के समान) ॥

अङ्गुल्यादिभ्यष्ठक् ॥५।३।१०८॥

अङ्गुल्यादिभ्य: ५।३॥ ठक् १।१॥ स०—अङ्गुली आदिर्येषां ते अङ्गुल्यादयस्तेभ्य:······बहुव्रीहि: ॥ *अनु०*—इवे, तद्धिता:, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्यय:, परश्च ॥ *अर्थ:*—अङ्गुल्यादिभ्य: प्रातिपदिकेभ्य इवार्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अङ्गुलीवाङ्गुलिक:, भारुजिक: ॥

भाषार्थ:—[*अङ्गुल्यादिभ्य:*] अङ्गुल्यादि प्रातिपदिकों से इवार्थ में [*ठक्*] ठक् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—आङ्गुलिक: (उँगली के समान) भारुजिक: ॥

एकशालायाष्ठजन्यतरस्याम् ॥५।३।१०९॥

एकशालाया: ५।१॥ ठच् १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—इवे, तद्धिता:, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्यय:, परश्च ॥ *अर्थ:*—एकशालाशब्दाद् इवार्थे ठच् प्रत्ययो भवति विकल्पेन । पक्षेऽनन्तरष्ठक् भवति ॥ *उदा०*—एकशाला इव एकशालिक:, ऐकशालिक:, ॥

भाषार्थ:—[*एकशालाया:*] एकशाला प्रातिपदिक से इवार्थ में [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से [*ठच्*] ठच् प्रत्यय होता है । पक्ष में पूर्व सूत्र में कहा हुआ ठक् होगा । ठक् होने पर वृद्धि ७।२।११८ से होगी यही विशेष है ॥ *उदा०*—एकशालिक: (एकशाला = कमरे के समान छोटा घर) ऐकशालिक: ॥

कर्कलोहितादीकक् ॥५।३।११०॥

कर्कलोहितात् ५।१॥ ईकक् १।१॥ *स०*—कर्क० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्व: ॥ *अनु०*—इवे, तद्धिता:, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्यय:, परश्च ॥

अर्थः—कर्क, लोहित इत्येताभ्यां शब्दाभ्याम् इवार्थे द्योत्य ईकक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—कर्क (शुक्लोऽश्वः) इव कार्क्कीकः, लोहित इव लौहितीकः स्फटिकः ॥

भाषार्थः—[*कर्कलोहितात्*] कर्क (सफेद घोड़ा) लोहित शब्दों से इवार्थ द्योत्य हो तो [*ईकक्*] ईकक् प्रत्यय होता है ॥ कर्क+ईकक् = कर्क ईक = कार्क्कीकः (श्वेत अश्व के समान मूल्यवान्)। लौहितीकः (लाल रंग वाले मणि के समान स्फटिक। स्वयं श्वेत होता हुआ भी स्फटिक रक्तवर्ण वाले आधार के कारण लाल दिखाई देता है वह इस प्रकार कहा जाता है) ॥

प्रत्नपूर्वविश्वेमात्थाल्छन्दसि ॥५।३।१११॥

प्रत्न·····मात् ५।१॥ थाल् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ *स०*—प्रत्न० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—इवे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रत्न, पूर्व, विश्व, इम इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्य इवार्थे थाल् प्रत्ययो भवति, छन्दसि विषये ॥ *उदा०*—प्रत्न इव प्रत्नथा। विश्व इव विश्वथा। इमथा। तं प्रत्नथा पूर्वथा विश्वथेमथा (ऋ०५।४४।१) ॥

भाषार्थः—[*प्रत्न···मात्*] प्रत्न, पूर्व, विश्व, इम प्रातिपदिकों से इवार्थ में [*थाल्*] थाल् प्रत्यय होता है [*छन्दसि*] वेद विषय में ॥

पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात् ॥५।३।११२॥

पूगात् ५।१॥ ञ्यः १।१॥ अग्रामणीपूर्वात् ५।१॥ *स०*—ग्रामणी पूर्वोऽवयवो यस्य स ग्रामणीपूर्वः, न ग्रामणीपूर्वः अग्रामणीपूर्वस्तस्मात् ·····बहुव्रीहिगर्भ नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अग्रामणीपूर्वात् पूगवाचिनः शब्दात् ञ्यः प्रत्ययो भवति स्वार्थे ॥ पूर्व शब्द इहावयववचनः ॥ *उदा०*—लौहध्वज्यः लौहध्वज्यौ लोहध्वजाः, शैब्यः शैब्यौ शिबयः ॥

भाषार्थः—अर्थ और काम में आसक्त पुरुषों के नानाजातीय और अनियत वृत्ति वाले समूह को पूग कहते हैं। [*अग्रामणीपूर्वात्*] ग्रामणी यदि पूर्व अवयव न हो जिसके ऐसे [*पूगात्*] पूगवाची प्रातिपदिक से

[ञ्यः] ञ्य प्रत्यय होता है ॥ लौहध्वज्यः । लोहध्वज नाम का पुरुष पूर्व अवयव = प्रधान है जिसका वह समुदाय भी लोहध्वज कहाता है उसी समुदायवाचक लोहध्वज शब्द से स्वार्थ में ञ्य होता है । इसी प्रकार शैब्यः में शिबिप्रधान समुदाय से ञ्य जानना चाहिए । जहाँ किसी पूग का ग्रामणीवाचक अवयव होगा वहाँ ञ्य नहीं होगा जैसे देवदत्त ग्रामणी अवयव है इस पूग का, इस अर्थ में देवदत्तकाः में *स एषां ग्रामणीः* (५।२।७८) से कन् होता है ॥ *ञ्यादयस्तद्राजाः* (५।३।११९) से यहाँ से लेकर, पाद की समाप्ति पर्यन्त जो प्रत्यय कहे हैं, उनकी तद्राज संज्ञा कही है सो यहाँ 'लोहध्वजाः' बहुवचन में *तद्राजस्य बहुषु०* (२।४।६२) से तद्राज-संज्ञक 'ञ्य' का लुक् हो गया है, ञ्य के हट जाने पर न *लुमताङ्गस्य* के नियम से वृद्धि आदि भी नहीं हुई । इसी प्रकार तद्राज संज्ञा का फल (बहुवचन में प्रत्यय का लुक् होना) अन्यत्र भी यही जानते जायें ॥

यहाँ से '*ञ्यः*' की अनुवृत्ति ५।३।११३ तक जायेगी ॥

व्रातच्फञोरस्त्रियाम् ॥५।३।११३॥

व्रातच्फञोः ६।२॥ अस्त्रियाम् ७।१॥ *स०*—व्रातश्च च्फञ् च, व्रातच्फञौ, तयोः''''''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—ञ्यः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—व्रातवाचिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः च्फञ् प्रत्ययान्तेभ्यश्च स्वार्थे ञ्यः प्रत्ययो भवत्यस्त्रियाम् ॥ *उदा०*—व्रातेभ्यः-कापोतपाक्यः कापोतपाक्यौ कपोतपाकाः । व्रैहिमत्यः व्रैहिमत्यौ व्रीहिमताः । च्फञ्प्रत्ययान्तेभ्यः—कौञ्जायन्यः कौञ्जायन्यौ कौञ्जायनाः, ब्राध्नायन्यः, ब्राध्नायन्यौ, ब्राध्नायनाः ॥

भाषार्थः—जो लोग जीवों को मार मार कर जीविका करें शस्त्रोपजीवी हों उनके संघ को व्रात कहते हैं ॥ [*व्रातच्फञोः*] व्रातवाची तथा च्फञ् प्रत्ययान्त प्रातिपदिकों से स्वार्थ में ञ्य प्रत्यय होता है [*अस्त्रियाम्*] स्त्रीलिङ्ग को छोड़कर ॥ कौञ्जायन्यः की सिद्धि परि० ४।१।९८ में देखें ॥

आयुधजीविसङ्घाञ्ञ्यड्वाहीकेष्वब्राह्मणराजन्यात् ॥५।३।११४॥

आयु''''''ङ्घात् ५।१॥ ञ्यट् १।१॥ वाहीकेषु ७।१॥ अब्राह्मण-राजन्यात् ५।१॥ *स०*—आयुधजीविनां सङ्घः आयुधजीविसङ्घः,

तस्मात्...... षष्ठीतत्पुरुषः। ब्राह्मणश्च राजन्यश्च, ब्रा...न्यम्, न ब्राह्मण-राजन्यम्, अब्रा...न्यम् तस्मात्—द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—वाहीकदेश-विशेषेषु य आयुधजीविसङ्घस्तद्वाचिनो ब्राह्मणराजन्यवर्जितात् प्राति-पदिकात् स्वार्थे ञ्यट् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—कौण्डीबृस्यः, कौण्डी-बृस्यौ, कौण्डीबृसाः। क्षौद्रक्यः, क्षौद्रक्यौ, क्षुद्रकाः। मालव्यः, मालव्यौ, मालवाः॥

भाषार्थः—[*वाहीकेषु*] वाहीक देश विशेष में जो [*आयु.......ङ्घात्*] शस्त्र से जीविका कमाने वाले पुरुषों के समूहवाची प्रातिपदिक [*अब्रा......त्*] ब्राह्मण और राजन्य को छोड़कर उनसे [*ञ्यट्*] ञ्यट् प्रत्यय होता है॥ उदा०—कौण्डीबृस्य(कौण्डीबृस नाम वालों का संघ)॥

यहाँ से '*आयुधजीविसङ्घात्*' की अनुवृत्ति ५।३।११७ तक जायेगी॥

वृकाट्टेण्यण् ॥५।३।११५॥

वृकात् ५।१॥ टेण्यण् १।१॥ *अनु०*—आयुधजीविसङ्घात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—आयुधजीविसङ्घवा-चिनो वृकप्रातिपदिकात् स्वार्थे टेण्यण् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—वार्केण्यः, वार्केण्यौ, वृकाः॥

भाषार्थः—आयुधजीविसङ्घवाची [*वृकात्*] वृक शब्द से [*टेण्यण्*] टेण्यण् प्रत्यय स्वार्थ में होता है॥ वृक+टेण्यण्=वृक् एण्य= वार्केण्यः॥

दामन्यादित्रिगर्त्तषष्ठाच्छः ॥५।३।११६॥

दाम......ष्ठात् ५।१॥ छः १।१॥ *स०*—दामनिरादिर्येषां ते दाम-न्यादयः, त्रिगर्तः षष्ठो येषां ते त्रिगर्तषष्ठाः, दामन्यादयश्च, त्रिगर्त्तषष्ठश्च. दा......ष्ठम् तस्मात्...... बहुव्रीहिगर्भसमाहारो द्वन्द्वः॥ *अनु०*—आयुधजीविसङ्घात्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च। *अर्थः*—दामन्यादिभ्यः त्रिगर्तषष्ठेभ्यश्च आयुधजीविसंघवाचिभ्यः प्रातिप दिकेभ्यः स्वार्थे छः प्रत्ययो भवति। उदा०—दामनीयः दामनीयौ दाम

नयः । औलपीयः औलपीयौ औलपयः । त्रिगर्तषष्ठेभ्यः—कौण्डोपरथीयः कौण्डोपरथीयौ कौण्डोपरथाः, दाण्डकीयः, दाण्डकीयौ, दाण्डकयः ।

भाषार्थः—[*दामन्यादित्रिगर्त्तषष्ठात्*] दामन्यादि गण पठित तथा त्रिगर्त्तषष्ठ शब्द जो आयुधजीविसङ्घवाची उनसे स्वार्थ में [छः] छ प्रत्यय होता है ॥

त्रिगर्तषष्ठ ये गिनाए हैं—कौण्डोपरथ, दाण्डकि, क्रोष्टकि, जालमानि, ब्राह्मगुप्त, जानकि । जानकि का ही दूसरा नाम त्रिगर्त है ॥

पर्श्वादियौधेयादिभ्यामणञौ ॥५।३।११७॥

पर्श्वा.....भ्याम् ५।२॥ अणञौ १।२॥ *स०*—पर्शुः आदिर्येषां ते पर्श्वादयः बहुव्रीहिः । यौधेय आदिर्येषां ते यौधेयादयः बहुव्रीहि । पर्श्वादयश्च यौधेयादयश्च, पर्श्व...दयः ताभ्याम्.....इतरेतरद्वन्द्वः । अण् च अञ् च अणञौ इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—आयुधजीविसङ्घात् तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—आयुधजीविसङ्घवाचिभ्यः पर्श्वादिभ्यः यौधेयादिभ्यश्च प्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थे यथासङ्ख्यमण् अञ् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः ॥ *उदा०*—पार्शवः, पार्शवौ, पर्शवः । आसुरः, आसुरौ, असुराः । यौधेयादिभ्यः—यौधेयः शौभ्रेयः ॥

भाषार्थः—आयुधजीविसङ्घवाची [*पर्श्वा..भ्याम्*] पर्श्वादि तथा यौधेयादि गण पठित शब्दों से स्वार्थ में यथासङ्ख्य करके [*अणञौ*] अण् तथा अञ् प्रत्यय होते हैं ॥ यौधेयः, शौभ्रेयः में अञ् होने से आद्युदात्त स्वर होता है । यौधेयाः शौभ्रेयाः दोनों बहुवचनान्त अन्तोदात्त हैं ॥

अभिजिद्विदभृच्छालावच्छिखावच्छमीवदूर्णावच्छ्रु-मदणो यञ् ॥५।३।११८॥

अभिजिद्......दणः ५।१॥ यञ् १।१॥ *स०*—अभिजिच्च विदभृच्च शालावच्च शिखावच्च शमीवच्च ऊर्णावच्च श्रुमच्च अभिजि...श्रुमतः, इत्येतेषां अभिजिद्...श्रुमताम्, एष सम्बन्धी अण् अभिजिद्...श्रुमदण् तस्मात् द्वन्द्वगर्भषष्ठीतत्पुरुषः । *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः,

परश्च ॥ *अर्थः*—अभिजिदादिभ्योऽणन्तेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थे यञ् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—अभिजितोऽपत्यमित्यण्-आभिजितः, तदन्ताद्यञ्—आभिजित्यः आभिजित्यौ आभिजिताः । वैदभृत्यः वैदभृत्यौ वैदभृताः । शालावत्यः शालावत्यौ शालावताः । शैखावत्यः शैखावत्यौ शैखावताः । शामीवत्यः शामीवत्यौ शामीवताः । और्णावत्यः और्णावत्यौ और्णावताः । श्रौमत्यः श्रौमत्यौ श्रौमताः । अत्रापत्यार्थकोऽण् विवक्षितो नान्यः ॥

भाषार्थः—[*अभिजि···दणः*] अभिजित्, विदभृत्, शालावत्, शिखावत्, शमीवत्, ऊर्णावत्, श्रमत् सम्बन्धी जो अणन्त शब्द अर्थात् इन प्रातिपदिकों से उत्पन्न जो अण् प्रत्यय तदन्त शब्द से स्वार्थ में [*यञ्*] यञ् प्रत्यय होता है ॥ सर्वत्र उदाहरणों में अपत्यार्थक अण् की ही विवक्षा है, सो अभिजित् आदि शब्दों से *तस्यापत्यम्* (४।१।९२) से अण् होकर पश्चात् यञ् प्रकृत सूत्र से हुआ है ॥ स्वार्थ में यञ् प्रत्यय होने से आभिजित्यः आदि का अर्थ अभिजित् का अपत्य इतना ही होगा ॥

ञ्यादयस्तद्राजाः ॥५।३।११९॥

ञ्यादयः १।३॥ तद्राजाः १।३॥ *स०*—ञ्य आदिर्येषां ते ञ्यादयः, बहुव्रीहिः ॥ *अर्थः*—ञ्यादयः प्रत्यया अर्थात् *पूगाञ्ञ्योऽग्रा०* (५।३।११२) इत्यतः प्रभृति ये प्रत्यया विहितास्ते तद्राजसंज्ञा भवन्ति ॥ तद्राजसंज्ञकस्य बहुषु लुग्भवति । तथा चैवोदाहृतम् ॥

भाषार्थः—[*ञ्यादयः*] ञ्यादि प्रत्ययों की, अर्थात् *पूगाञ्ञ्यो०* से लेकर यहाँ तक कहे गये प्रत्ययों की [*तद्राजाः*] तद्राज संज्ञा होती है ॥ तद्राज संज्ञा होने से *तद्राजस्य बहुषु०* (२।४।६२) से बहुवचन में प्रत्यय का लुक् हो जाता है, सो सर्वत्र ऐसा ही दिखा आये हैं ॥

॥ *इति तृतीयः पादः* ॥

—:०:—

चतुर्थः पादः

पादशतस्य सङ्ख्यादेर्वीप्सायां वुन् लोपश्च ॥५।४।१॥

पादशतस्य ६।१॥ सङ्ख्यादेः ६।१॥ वीप्सायाम् ७।१॥ वुन् १।१॥ लोपः १।१॥ च अ० ॥ *स०*—पादश्च शतञ्च, पादशतम् तस्य······ समाहारो द्वन्द्वः। सङ्ख्या आदिर्यस्य स सङ्ख्यादिस्तस्मान्······बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—पादशतान्तस्य सङ्ख्यादेः प्रातिपदिकस्य वीप्सायां गम्यमानायाम् वुन् प्रत्ययो भवति तत्सन्नियोगेन पादशतशब्दयोरन्तस्य लोपो भवति॥ *उदा०*—द्वौ द्वौ पादौ ददाति = द्विपदिकां ददाति। द्वे द्वे शते ददाति = द्विशतिकां ददाति॥

भाषार्थः—[*पादशतस्य*] पाद और शत शब्द अन्त वाले और [*सङ्ख्यादेः*] सङ्ख्यादि प्रातिपदिकों से [*वीप्सायाम्*] वीप्सा गम्यमान हो तो [*वुन्*] वुन् प्रत्यय होता है तथा प्रत्यय के साथ साथ पादशत का [*लोपः*] लोप [*च*] भी होता है॥ *अलोऽन्त्यस्य* (१।१।५१) से पादशत के अन्त अकार का ही लोप होगा॥ 'द्वि औ पाद औ' यहाँ *तद्धितार्थो०* (२।१।५०) से समासादि होकर द्वि पाद = वुन् तथा पाद के अ का लोप होकर द्विपाद् वुन् रहा *पादः पत्* (६।४।१३०) से पद् आदेश होकर, द्विपद् अक टाप् *प्रत्ययस्थात् कात्०* (७।३।४४) लगकर द्विपदिकाम् (पाद = कार्षापण का चतुर्थ भाग, दो दो पाद देता है) द्विशतिकाम् (दो दो सौ देता है) बन गया॥

यहाँ से '*पादशतस्य सङ्ख्यादेः वुन् लोपश्च*' की अनुवृत्ति ५।४।२ तक जायेगी॥

दण्डव्यवसर्गयोश्च ॥५।४।२॥

दण्डव्यवसर्गयोः ७।२॥ च अ० ॥ *स०*—दण्ड० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—पादशतस्य सङ्ख्यादेः वुन् लोपश्च, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—दण्डव्यवसर्गयोर्गम्यमानयोः पादशतान्तस्य सङ्ख्यादेः प्रातिपदिकस्य वुन् प्रत्ययो भवति, अन्तलोपश्च॥

उदा०—दण्डे—द्वौ पादौ दण्डितः द्विपदिकां दण्डितः, द्विशतिकां दण्डितः। व्यवसर्गे—द्वौ पादौ व्यवसृजति द्विपदिकां व्यवसृजति, द्विशतिकां, त्रिशतिकाम् ॥

भाषार्थः—[*दण्डव्यवसर्गयोः*] दण्ड तथा व्यवसर्ग = दान गम्यमान हो तो पाद तथा शतान्त सङ्ख्या आदि वाले प्रातिपदिकों से [च] भी वुन् प्रत्यय होता है, तथा पाद शत के अन्त का लोप भी होता है ॥ *उदा०*— द्विपदिकां दण्डितः (दो पाद दण्ड दिया गया) द्विशतिकाम् (दो सौ दण्ड दिया गया) द्विपदिकां व्यवसृजति (दो पाद दान देता है) द्विशतिकाम् (दो सौ दान देता है) ॥

स्थूलादिभ्यः प्रकारवचने कन् ॥५।४।३॥

स्थूलादिभ्यः ५।३॥ प्रकारवचने ७।१॥ कन् १।१॥ *स०*—स्थूल आदिर्येषां ते स्थूलादयस्तेभ्यः······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*- प्रकारवचने द्योत्ये स्थूलादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः कन् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—स्थूलप्रकारः = स्थूलकः अणुकः, माषकः ॥

भाषार्थः—[*स्थूलादिभ्यः*] स्थूलादि प्रातिपदिकों से [*प्रकारवचने*] प्रकारवचन द्योत्य हो तो [कन्] कन् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—स्थूलकः (स्थूल के समान बलवान्) अणुकः (अणु = व्रीहि विशेष उसके समान छोटा) माषकः (माष के समान मोटे मूँग आदि) ॥

यहाँ से 'कन्' की अनुवृत्ति ५।४।६ तक जायेगी ॥

अनत्यन्तगतौ क्तात् ॥५।४।४॥

अनत्यन्तगतौ ७।१॥ क्तात् ५।१॥ *स०*—अनत्य० इत्यत्र नञ्-तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अनत्यन्तगतौ गम्यमानायां क्तान्तात् प्रातिपदिकात् कन् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—भिन्नकः, छिन्नकः ॥

भाषार्थः—[क्तात्] क्त (प्रत्यय) अन्त वाले प्रातिपदिकों से [*अनत्यन्तगतौ*] अनत्यन्तगति = निरन्तर सम्बन्ध गम्यमान न हो तो कन् प्रत्यय

होता है ॥ *उदा०*—भिन्नकः (बीच बीच में से टूटा हुआ) छिन्नकः (बीच बीच में से कटा हुआ) ॥

यहाँ से '*क्तात्*' की अनुवृत्ति ५।४।५ तक जायेगी ॥

न सामिवचने ॥५।४।५॥

न अ० ॥ सामिवचने ७।१॥ *अनु०*—क्तात्, कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सामिवचन उपपदे क्तान्तात् प्रातिपदिकात् कन् प्रत्ययो न भवति ॥ *उदा०*—सामिकृतम् सामिभुक्तम्। वचनग्रहणात् पर्यायेभ्योऽपि—अर्धकृतम् नेमकृतम् ॥

भाषार्थः—सामि आधे का वाचक शब्द है। [*सामिवचने*] सामिवाची शब्द उपपद हों तो क्तान्त प्रातिपदिक से कन् प्रत्यय [*न*] नहीं होता ॥ सामि आधे का वाचक है उस आधे भाग के साथ सम्बन्ध होने से पूर्व सूत्र से कन् प्राप्त था वचनग्रहण से सामि के पर्याय वाचियों से भी निषेध होता है ॥ *उदा०*—सामिकृतम् (आधा किया) नेमकृतम् (आधा किया) ॥

बृहत्या आच्छादने ॥५।४।६॥

बृहत्याः ५।१॥ आच्छादने ७।१॥ *अनु०*—कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—आच्छादने वर्त्तमानात् बृहतीशब्दात् स्वार्थे कन् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—बृहतिका ॥

भाषार्थः—[*आच्छादने*] आच्छादन=ढकने अर्थ में वर्त्तमान [*बृहत्याः*] बृहती प्रातिपदिक से स्वार्थ में कन् प्रत्यय होता है ॥ बृहतिका (उत्तरीय वस्त्र—स्त्रियों की ओढनी) ॥

अषडक्षाशितंग्वलंकर्मालंपुरुषाध्युत्तरपदात्खः ॥५।४।७॥

अष·····पदात् ५।१॥ खः १।१॥ *स०*—अधि उत्तरपदं यस्य स अध्युत्तरपदः, बहुव्रीहिः। ततोऽषड० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अषडक्ष, आशितंगु, अलंकर्मन्, अलंपुरुष इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽध्युत्तरपदाच्च प्रातिपदिकात् स्वार्थे खः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—न विद्यन्ते षडक्षीणि

यस्मिन् स अषडक्षीणो मन्त्रः, आशिता गावोऽस्मिन्नरण्ये आशितङ्गवीनमरण्यम् । अलंकर्मणेऽलंकर्मीणः । अलंपुरुषाय अलंपुरुषीणः । अध्युत्तरपदात्—राजाधीनः ॥

भाषार्थः—[*अष ..... पदात्*] अषडक्ष आशितंगु अलंकर्म, अलंपुरुष शब्दों से तथा अधिशब्द उत्तरपदवाले प्रातिपदिकों से स्वार्थ में [*खः*] ख प्रत्यय होता है ॥

विभाञ्चेरदिक्स्त्रियाम् ॥५।४।८॥

विभाषा १।१॥ अञ्चेः ५।१॥ अदिक्स्त्रियाम् ७।१॥ *स०*—दिक् चासौ स्त्री च दिक्स्त्री कर्मधारयस्तपुरुषः । न दिक्स्त्री अदिक्स्त्री तस्यां ... नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अञ्चत्यन्तात् प्रातिपदिकात् अदिक्स्त्रियां वर्तमानात् स्वार्थे खः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—प्राक्, प्राचीनम्, अर्वाक् अर्वाचीनम् ।

भाषार्थः—[*अञ्चेः*] अञ्चति उत्तरपद में है जिसके ऐसा जो प्रातिपदिक [*अदिक्स्त्रियाम्*] दिग्वाचक स्त्रीलिङ्ग न हो तो उससे स्वार्थ में [*विभाषा*] विकल्प से ख प्रत्यय होता है ॥

जात्यन्ताच्छ बन्धुनि ॥५।४।९॥

जात्यन्तात् ५।१॥ छ अविभक्त्यन्तनिर्देशः ॥ बन्धुनि ७।१॥ *स०*—जातिरन्ते यस्य स जात्यन्तस्तस्मात् बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—जात्यन्तात् प्रातिपदिकात् बन्धुनि=द्रव्ये वर्त्तमानात् स्वार्थे छः प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—ब्राह्मणजातीयः ब्राह्मण इत्यर्थः, क्षत्रियजातीयः । जातिरस्मिन् बध्यते व्यज्यते तद् बन्धु द्रव्यमिति यावत् । द्वयोर्विभाषयोर्मध्येऽयं विधिरिति कृत्वा नित्यो भवति ॥

भाषार्थः—बन्धु शब्द से जाति जिसमें बद्ध हो वा व्यक्त हो वह द्रव्य कहाता है अर्थात् जाति की अभिव्यक्ति द्रव्याधीन होने से द्रव्य जाति का बन्धु कहाता है ॥ [*जात्यन्तात्*] जाति अन्त में है जिसके ऐसे प्रातिपदिक से [*बन्धुनि*] बन्धु=द्रव्य गम्यमान हो तो स्वार्थ में

[छ] छ प्रत्यय होता है ॥ उदा०—ब्राह्मणजातीयः = (ब्राह्मण जाति वाला अर्थात् ब्राह्मण व्यक्ति) क्षत्रियजातीयः ।

यहाँ से 'छ' की अनुवृत्ति ५।४।१० तक जायेगी ।

स्थानान्ताद्विभाषा सस्थानेनेति चेत् ॥५।४।१०॥

स्थानान्तात् ५।१॥ विभाषा १।१॥ सस्थानेन ३।१॥ इति अ० ॥ चेत् अ० ॥ *स०*—स्थानशब्दः अन्ते यस्य स स्थानान्तस्तस्मात् बहुव्रीहिः ॥ समानं स्थानं यस्य तत् सस्थानं तेन ..... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—छः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*— स्थानान्तात् प्रातिपदिकात् छः प्रत्ययो विभाषा भवति सस्थानेन तुल्येन चेत् स्थानान्तमर्थवद् भवति ॥ *उदा०*—पित्रा तुल्यः पितृस्थानीयः, पितृस्थानः । मातृस्थानीयः, मातृस्थानः ॥

भाषार्थः—[*स्थानान्तात्*] स्थानान्त प्रातिपदिक से छ प्रत्यय [*विभाषा*] विकल्प से होता है [*चेत्*] यदि [*सस्थानेनेति*] सस्थान तुल्य से स्थानान्त अर्थवत् हो ॥

किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे ॥५।४।११॥

किमे.....घात् ५।१॥ आमु लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ अद्रव्यप्रकर्षे ७।१॥ *स०*—किम् च एत् च तिङ् च अव्ययञ्च किमे...यानि, तेभ्यो विहितो यो घः किमे..... घः, तस्मात्.....द्वन्द्वगर्भषष्ठीतत्पुरुषः ॥ अद्र० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—किमः, एकारान्तात्, तिङन्तात्, अव्ययेभ्यश्च विहितो यो घस्तदन्तात् प्रातिपदिकाद् द्रव्यप्रकर्ष आमुः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—किंतराम् किंतमाम् । एकारान्तात्—पूर्वाह्णेतराम्, पूर्वाह्णेतमाम् । तिङन्तात्—पचतितराम् पचतितमाम् । अव्ययेभ्यः— उच्चैस्तराम् उच्चैस्तमाम् ॥

भाषार्थः—[*किमे.....घात्*] किम् एकारान्त तथा अव्ययों से विहित जो घ (तरप् तमप् प्रत्यय) तदन्त से [*आमु*] आमु प्रत्यय होता है [*अद्रव्यप्रकर्षे*] द्रव्य का प्रकर्ष न कहना हो तो ॥ *तरतमपौ घः*

(१।१।२१) से तरप् तमप् की घ संज्ञा कही है, सो वही यहाँ लेना है ॥ किम् तरप् आम् = कितराम् (दो[1] में से अधिक कुत्सित)

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ५।४।१२ तक जायेगी ॥

अमु च च्छन्दसि ॥५।४।१२॥

अमु लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—किमेत्तिङव्ययघादाम्वद्रव्यप्रकर्षे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—किम् एकारान्तात् तिङन्तात् अव्ययेभ्यश्च विहितो यो घः तदन्तात् अद्रव्यप्रकर्षे अमु, आमु च प्रत्ययो भवति छन्दसि विषये ॥ *उदा०*—प्रतरं नयामः । प्रतरां वस्यः ॥

भाषार्थः—किम्, एकारान्त, तिङन्त तथा अव्ययों से विहित जो घ प्रत्यय (तरप् तमप्) तदन्त से अद्रव्यप्रकर्ष अर्थ में [*छन्दसि*] वेद विषय में [*अमु*] अमु [च] तथा आमु प्रत्यय हो जाते हैं ॥

प्रतर् अमु = प्रतरम् । प्रतर् आमु = प्रतराम् । *स्वरादिनिपात०* (१।१।३६) से अव्यय संज्ञा होने से सु का लुक् (२।४।७१) हो जाता है ॥

अनुगादिनष्ठक् ॥५।४।१३॥

अनुगादिनः ५।१॥ ठक् १।१॥ अनुगदतीत्यनुगादी ॥ अनु०—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अनुगादिन्-शब्दात् स्वार्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अनुगादी एव आनुगादिकः ॥

भाषार्थः—[*अनुगादिनः*] अनुगादिन् शब्द से स्वार्थ में [ठक्] ठक प्रत्यय होता है ॥ उदा०—आनुगादिकः (पीछे बोलने वाला) ॥

णचः स्त्रियामञ् ॥५।४।१४॥

णचः ५।१॥ स्त्रियाम् ७।१॥ अञ् १।१॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—णजन्तात् प्रातिपदिकात स्वार्थेऽञ् प्रत्ययो भवति स्त्रियां विषये ॥ *उदा०*—व्यावक्रोशी, व्यावहासी ॥

---

१. यहाँ किम् शब्द कुत्सा मे है । देखो शब्दकल्पद्रुम ॥

भाषार्थः—*कर्मव्यतिहारे णच्०* (३।३।४३) सूत्र से णच् प्रत्यय कहा है, उस [*णचः*] णजन्त प्रातिपदिक से [*अञ्*] अञ् प्रत्यय स्वार्थ में [*स्त्रियाम्*] स्त्रीलिङ्ग में होता है ॥ सिद्धि ३।३।४३ सूत्र पर ही देखें ॥

अणिनुणः ॥५।४।१५॥

अण् १।१॥ इनुणः ५।१॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—इनुणन्तात् प्रातिपदिकात् स्वार्थेऽण् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—सांराविणम्, सांकूटिनम् ॥

भाषार्थः—*अभिविधौ भाव इनुण्* (३।३।४४) सूत्र से इनुण् प्रत्यय कहा है, तदन्त=[*इनुणः*] इनुणन्त शब्द से स्वार्थ में [*अण्*] अण् प्रत्यय होता है ॥ सिद्धि भाग १ पृ० ९०७—३।३।४४ सूत्र पर ही देखें ॥

यहाँ से '*अण्*' की अनुवृत्ति ५।४।१६ तक जायेगी ॥

विसारिणो मत्स्ये ॥५।४।१६॥

विसारिणः ५।१॥ मत्स्ये ७।१॥ *अनु०*—अण्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—विसारिन्शब्दात् स्वार्थेऽण् प्रत्ययो भवति मत्स्येऽभिधेये ॥ *उदा०*—वैसारिणो मत्स्यः ॥

भाषार्थः—[*विसारिणः*] विसारिन् शब्द से स्वार्थ में अण् प्रत्यय होता है [*मत्स्ये*] मत्स्य (मछली) अभिधेय हो तो ॥ *उदा०*—वैसारिणो मत्स्यः (विचरने वाली मछली) ॥

सङ्ख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच् ॥५।४।१७॥

सङ्ख्यायाः ५।१॥ क्रियाभ्यावृत्तिगणने ७।१॥ कृत्वसुच् १।१॥ वर्त्तनं वृत्तिः ॥ अभितः आसमन्तात् वर्त्तनम् अभ्यावृत्तिः, (पौनःपुन्यमित्यर्थः) गतितत्पुरुषः। क्रियाया अभ्यावृत्तिः, क्रियाभ्यावृत्तिः षष्ठीतत्पुरुषः। क्रियाभ्यावृत्तेः गणनम् क्रिया...नम् तस्मिन्...षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—क्रियाभ्यावृत्ति-गणने वर्त्तमानेभ्यः सङ्ख्यावाचिभ्यः शब्देभ्यः स्वार्थे कृत्वसुच् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—पञ्च वारान् भुङ्क्ते पञ्चकृत्वः, सप्तकृत्वः ॥

भाषार्थः—[*क्रि.....णने*] क्रिया के बार बार आवृत्ति=गणन अर्थ में वर्त्तमान [*सङ्ख्यायाः*] सङ्ख्यावाची प्रातिपदिकों से [*कृत्वसुच्*]

कृत्वसुच् प्रत्यय होता है ॥ पञ्चकृत्वः में पाँच बार (दिन में) हुई खाना क्रिया का गणन (गिनना) है, सो सङ्ख्यावाची पञ्चन् शब्द से कृत्वसुच् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*सङ्ख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने*' की अनुवृत्ति ५।४।२० तक जायेगी ॥

द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् ॥५।४।१८॥

द्वित्रिचतुर्भ्यः ५।३॥ सुच् १।१॥ *अनु०*—सङ्ख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वि, त्रि, चतुर् इत्येतेभ्यः सङ्ख्याशब्देभ्यः क्रियाभ्यावृत्तिगणने वर्त्तमानेभ्यः सुच् प्रत्ययो भवति ॥ कृत्वसुचोऽपवादः ॥ *उदा०*—द्विर्भुङ्क्ते, त्रिर्भुङ्क्ते चतुर्भुङ्क्ते ॥

भाषार्थः—[*द्वित्रिचतुर्भ्यः*] द्वि, त्रि, चतुर् इन सङ्ख्यावाची शब्दों से क्रियाभ्यावृत्तिगणन में वर्त्तमान हों तो [सुच्] सुच् प्रत्यय होता है ॥ द्वि + सुच् = द्वि स् = द्विः (दो बार) ॥

यहाँ से 'सुच्' की अनुवृत्ति ५।४।१६ तक जायेगी ॥

एकस्य सकृच्च ॥५।४।१९॥

एकस्य ६।१॥ सकृत् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—सुच्, क्रियाभ्यावृत्तिगणने, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अभ्यावृत्तिस्त्विह न सम्बद्ध्यते, असम्भवात् ॥ *अर्थः*—एकशब्दस्य स्थाने सकृद् आदेशो भवति सुच् च प्रत्ययः क्रियागणनेऽर्थे ॥ *उदा०*—सकृद् भुङ्क्ते, सकृदधीते ॥

भाषार्थः—[*एकस्य*] एक शब्द के स्थान में [*सकृत्*] सकृत् आदेश होता है [च] तथा सुच् प्रत्यय होता है ॥ यह भी कृत्वसुच् का अपवाद है ॥ इस सूत्र में अभ्यावृत्ति की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं बैठता केवल क्रियागणने का ही लगेगा, क्योंकि एक में अभ्यावृत्ति = पौनः पुन्य सम्भव नहीं ॥ सकृत् सुच = सकृत् स् *संयोगान्तस्य लोपः*

(८।२।२३) से स् का लोप होकर सकृद् भुङ्क्ते (एक बार खाता है) ऐसा रहा ॥

विभाषा बहोर्धाऽविप्रकृष्टकाले ॥५।४।२०॥

विभाषा १।१॥ बहोः ५।१॥ धा १।१॥ अविप्रकृष्टकाले ७।१॥ स०—विप्रकृष्टश्चासौ कालश्च विप्रकृष्टकालः, न विप्रकृष्टकालः अविप्रकृष्टकालः, कर्मधारयगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—सङ्ख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—क्रियाभ्यावृत्तिगणने वर्त्तमानाद् बहुशब्दात् विभाषा धा प्रत्ययो भवत्यविप्रकृष्टकाले गम्यमाने ॥ कृत्वसुचोऽपवादः पक्षे सोऽपि भवति ॥ *उदा०*—बहुधा दिवसस्य भुङ्क्ते, बहुकृत्वो दिवसस्य भुङ्क्ते ॥

भाषार्थः—[*अविप्रकृष्टकाले*] अविप्रकृष्टकालिक = आसन्नकालिक (अर्थात् शीघ्र होने वाली) क्रिया की अभ्यावृत्तिगणन अर्थ में वर्त्तमान [*बहोः*] बहु शब्द से [*विभाषा*] विकल्प से [*धा*] धा प्रत्यय होता है ॥ कृत्वसुच् का अपवाद है, सो पक्ष में वह भी होता है ॥ पूर्वसूत्र विहित कृत्वसुच् और सुच् विप्रकृष्ट क्रिया अभ्यावृत्ति के गणन में भी होता है यथा मासस्य पक्षस्य सप्ताहस्य वा पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते, चतुः भुङ्क्ते। धा प्रत्यय समीपवर्ती क्रिया अभ्यावृत्ति के गणन में ही होता है। *उदा०*—बहुधा दिवसस्य भुङ्क्ते (दिन में बहुत बार खाता है) बहुकृत्वः ॥

तत्प्रकृतवचने मयट् ॥५।४।२१॥

तत् १।१॥ प्रकृतवचने ७।१॥ मयट् १।१॥ स०—प्राचुर्येण कृतं प्रकृतम् गतिसमासः ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकात् प्रकृतवचने प्राचुर्येऽर्थे वर्तमानात् मयट् प्रत्ययो भवति स्वार्थे ॥ *उदा०*—अन्नं प्रकृतम् = प्रभूतम् अन्नमयम्, अन्नमयी। अपूपमयम्, अपूपमयी। टकारो ङीबर्थः ॥

द्वितीयोऽर्थः—प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकात् प्रकृतवचनेऽभिधेये मयट् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अन्नमयं भोजनम्, अपूपमयं पर्व। प्रथमार्थे स्वार्थे प्रत्ययः, तेन अन्नस्यैव प्राचुर्यं द्योत्यते। द्वितीयार्थे अन्यार्थे प्रत्ययः। तेन अन्नस्य प्राचुर्यं यत्र तदुच्यते।

भाषार्थः—[*तत्*] प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से जो [*प्रकृतवचने*] प्रकृत = प्रभूत अर्थ में वर्तमान है, उससे स्वार्थ में [*मयट्*] मयट् प्रत्यय होता है ॥ इस सूत्र के दो अर्थ हो सकते हैं सो द्वितीय अर्थ इस प्रकार है- प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से प्रकृत = प्रभूत अर्थ को कहने में मयट् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*— अन्नमयं भोजनम् (जिसमें अन्न की प्रधानता है ऐसा भोजन।) (अपूपमयं पर्व अपूपों की जिसमें अधिकता है वह पर्व)। प्रथम अर्थ में प्रथमा समर्थ की प्रभूतता को कहने में ही प्रत्यय होने से स्वार्थ में होता है। द्वितीय अर्थ में प्रथमासमर्थ प्रातिपदिक से प्रभूत अर्थ को कहने में प्रत्यय होता है, अर्थात् प्रभूत प्रत्ययार्थ बनता है ॥

यहाँ से '*तत्प्रकृतवचने*' की अनुवृत्ति ५।४।२२ तक जाएगी ॥

समूहवच्च बहुषु ॥५।४।२२॥

समूहवत् अ० ॥ च अ० ॥ बहुषु ७।३॥ *अनु०*—तत्प्रकृतवचने, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रथमासमर्थात् प्रातिपदिकात् बहुषुप्रकृतेषूच्यमानेषु समूहवत् प्रत्यया भवन्ति चकारात् मयट् च ॥ *उदा०*— मोदकाः प्राचुर्येण प्रस्तुताः—मौदकिकम् मोदकमयम्। शाष्कुलिकम् शष्कुलीमयम्। द्वितीयेऽर्थे—मौदकिकं मोदकमयं भोजनम्, आपूपिकम् अपूपमयं पर्व।

भाषार्थः—[*बहुषु*] बहुत प्रभूत अर्थ को कहने में प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से [*समूहवत्*] समूह अर्थो (४।२।३६) के अधिकार में जिस प्रकार प्रत्यय कहे हैं वे यहाँ भी हो जाते हैं, तथा [च] चकार से मयट् भी होता है ॥ यहाँ भी दो प्रकार का अर्थ है सो द्वितीय अर्थ इस प्रकार है—प्रथमा समर्थ प्रातिपदिक से बहुत प्रभूत अर्थ अभिधेय हो तो समूह अर्थों में कहे हुये के समान ही यहाँ भी प्रत्यय हो जाते हैं। पूर्व सूत्र में कहे अनुसार ही दोनों अर्थों का भेद समझ लेना चाहिये। द्वितीय अर्थ में—मौदकिकम् मोदकमयं जिस भोजन में मोदकों का प्राचुर्य है उसे कहा जायेगा मौदकिकं, शाष्कुलिकं में समूह अर्थों में कहा *अचित्तहस्ति०* (४।२।४६) से ठक् प्रत्यय होता है ॥

अनन्तावसथेतिहभेषजाञ्ञ्यः ॥५।४।२३॥

अनन्ता.....त् ५।१॥ ञ्यः १।१॥ स०—अनन्ता० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च । अर्थः—अनन्त, आवसथ, इतिह, भेषज इत्येतेभ्यः शब्देभ्यो ञ्यः प्रत्ययो भवति स्वार्थे ॥ उदा०—अनन्तम् एव आनन्त्यम्, आवसथ्यम्, ऐतिह्यम्, भैषज्यम् ॥

भाषार्थः—[*अन.....जात्*] अनन्त, आवसथ, इतिह, भेषज इन शब्दों से स्वार्थ में [*ञ्यः*] ञ्य प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—आनन्त्यम् (अनन्त) आवसथ्यम् (आवसथ = गृह) ऐतिह्यम् (इतिह = इतिहास) भैषज्यम् (भेषज = ओषधि) ॥

देवतान्तात्तादर्थ्ये यत् ॥५।४।२४॥

देवतान्तात् ५।१॥ तादर्थ्ये ७।१॥ यत् १।१॥ तदर्थ एव तादर्थ्यम्, चातुर्वर्ण्यादित्वात् (५।१।१२३) स्वार्थे ष्यञ् ॥ अनु०—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—देवतान्तात् प्रातिपदिकात् (चतुर्थीसमर्थात्) तादर्थ्ये वाच्ये यत् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अग्निदेवतायै इदम् अग्निदेवत्यम् पितृदेवत्यम् ॥

भाषार्थः—[*देवतान्तात्*] देवता अन्त वाले प्रातिपदिक से [*तादर्थ्ये*] तादर्थ्य वाच्य हो तो [*यत्*] यत् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*तादर्थ्ये*' की अनुवृत्ति ५।४।२६ तक तथा '*यत्*' की अनुवृत्ति ५।४।२५ तक जायेगी ॥

पादार्घाभ्यां च ॥५।४।२५॥

पादार्घाभ्याम् ५।२॥ च अ० ॥ *स०*—पादा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तादर्थ्ये, यत्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—पाद, अर्घ इत्येताभ्यां शब्दाभ्यां (चतुर्थीसमर्थाभ्यां) तादर्थ्ये वाच्ये यत् प्रत्ययो भवति । तादर्थ्ये प्रत्ययविधानात् चतुर्थीसमर्थविभक्तिर्लभ्यते ॥ *उदा०*—पादार्थमुदकं पाद्यम् । अर्घार्थमुदकम् अर्घ्यम् ॥

भाषार्थः—[*पादार्घाभ्याम्*] पाद और अर्घ शब्दों से [*च*] भी तादर्थ्य वाच्य हो तो यत् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—पाद्यम् (पैर धोने का जल) अर्घ्यम् (मुँह धोने का जल) ॥

अतिथेर्ञ्यः ॥५।४।२६॥

अतिथेः ५।१॥ ञ्यः १।१॥ *अनु०*—तादर्थ्ये, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तादर्थ्ये वाच्येऽतिथिशब्दात् चतुर्थीसमर्थात् ञ्यः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अतिथये इदम् आतिथ्यम् ॥

भाषार्थः—तादर्थ्य वाच्य हो तो [*अतिथेः*] अतिथि शब्द से [*ञ्यः*] ञ्य प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—आतिथ्यम् (अतिथि के लिए किया गया सेवादि कर्म) ॥

देवात्तल् ॥५।४।२७॥

देवात् ५।१॥ तल् १।१॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—देवशब्दात् स्वार्थे तल् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—देव एव देवता ॥

भाषार्थः—[*देवात्*] देव शब्द से [*तल्*] तल् प्रत्यय होता है, स्वार्थ में ॥

अवेः कः ॥५।४।२८॥

अवेः ५।१॥ कः १।१॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अविशब्दात् स्वार्थे कः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अविरेव अविकः ॥

भाषार्थः—[*अवेः*] अवि शब्द से स्वार्थ में [*कः*] क प्रत्यय होता है ॥ अवि भेड़ को कहते हैं सो अविकः भी भेड़ को कहेंगे ॥

यावादिभ्यः कन् ॥५।४।२९॥

यावादिभ्यः ५।३॥ कन् १।१॥ *स०*—याव आदिर्येषां ते यावादयस्तेभ्यः......बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—यावादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थे कन् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—याव एव याविकः, मणिकः ॥

भाषार्थः—[*यावादिभ्यः*] यावादि प्रातिपदिकों से स्वार्थ में [कन्] कन् प्रत्यय होता है॥ उदा०—यावकः (यव एव यावः, याव एव यावकः = जौ) मणिकः (मणि)॥

यहाँ से 'कन्' की अनुवृत्ति ५।४।३३ तक जायेगी॥

लोहितान्मणौ ॥५।४।३०॥

लोहितात् ५।१॥ मणौ ७।१॥ अनु०—कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—मणौ वर्तमानात् लोहितशब्दात् स्वार्थे कन् प्रत्ययो भवति॥ उदा०—लोहितो मणिः = लोहितकः॥

भाषार्थः—[*मणौ*] मणि विशेष में वर्त्तमान [*लोहितात्*] लोहित शब्द से कन् प्रत्यय स्वार्थ में होता है॥

यहाँ से '*लोहितात्*' की अनुवृत्ति ५।४।३२ तक जायेगी॥

वर्णे चानित्ये ॥५।४।३१॥

वर्णे ७।१॥ च अ०॥ अनित्ये ७।१॥ *अनु०*—लोहितात्, कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—अनित्ये वर्णे वर्त्तमानात् लोहितशब्दात् स्वार्थे कन् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—लोहितकः कोपेन, लोहितकः पीडनेन॥

भाषार्थः—[*अनित्ये*] अनित्य [*वर्णे*] वर्ण में वर्त्तमान लोहित शब्द से [च] भी स्वार्थ में कन् प्रत्यय होता है॥ गुस्से से या पीडन = दबाने से मुख का लाल हो जाना क्षणिक अर्थात् अनित्य है, सो कन् हो गया॥

रक्ते ॥५।४।३२॥

रक्ते ७।१॥ *अनु०*—लोहितात्, कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—रक्ते वर्त्तमानात् लोहितशब्दात् स्वार्थे कन् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—लोहितकः कम्बलः, लोहितकः पटः॥

भाषार्थः—[*रक्ते*] रक्त = रङ्गा हुआ में वर्त्तमान लोहित शब्द से कन् प्रत्यय होता है॥

यहाँ से '*रक्ते*' की अनुवृत्ति ५।४।३३ तक जायेगी॥

कालाच्च ॥५।४।३३॥

कालात् ५।१॥ च अ० ॥ *अनु०*— रक्ते, कन्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ वर्णे चानित्ये इत्यप्यनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या ॥ *अर्थः*—अनित्ये वर्णे, रक्ते च वर्त्तमानात् प्रातिपदिकात् स्वार्थे कन् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अनित्ये वर्णे—कालकं मुखं वैलक्ष्येण । रक्ते—कालकः पटः ॥

भाषार्थः—अनित्य वर्ण, में तथा रक्त = रङ्गा हुआ, में वर्त्तमान [*कालात्*] काल प्रातिपदिक से [*च*] भी कन् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*— कालकं मुखं वैलक्ष्येण (वैलक्ष्य = लज्जा से क्षणिक काला हुआ मुख) कालकः पटः (काले रंग से रङ्गा वस्त्र) ॥

विनयादिभ्यष्ठक् ॥५।४।३४॥

विनयादिभ्यः ५।३॥ ठक् १।१॥ *स०*—विनय आदिर्येषां ते विनयादयस्तेभ्यः······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—विनयादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—विनय एव वैनयिकः, सामयिकः, औपयिकः ॥

भाषार्थः—[*विनयादिभ्यः*] विनयादि प्रातिपदिकों से स्वार्थ में [*ठक्*] ठक् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—वैनयिकः (विनयशील) सामयिकः (समय पर हुआ) औपयिकः (न्याय से मिली वस्तु) ॥

यहाँ से 'ठक्' की अनुवृत्ति ५।४।३५ तक जायेगी ॥

वाचो व्याहृतार्थायाम् ॥५।४।३५॥

वाचः ५।१॥ व्याहृतार्थायाम् ७।१॥ *स०*—व्याहृतः = प्रकाशितोऽर्थो यस्याः सा व्याहृतार्था वाक्, तस्यां······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—ठक्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—व्याहृतार्थायां वाचि वर्त्तमानायां वाक्शब्दात् स्वार्थे ठक् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—वाचिकं कथयति ॥

भाषार्थः—[*व्याहृतार्थायाम्*] व्याहृत = प्रकाशित वाणी अर्थ में वर्तमान [*वाचः*] वाच् शब्द से स्वार्थ में ठक् प्रत्यय होता है ॥ पहले

किसी ने कुछ संदेशा कहा, उस बात को उस संदेशवाहक ने जाकर कहा इसी को व्याहृतार्थ वाणी कहेंगे। *उदा०*—वाचिकं कथयति (संदेशा कहता है) ॥

यहाँ से '*व्याहृतार्थायाम्*' की अनुवृत्ति ५।४।३६ तक जायेगी ॥

तद्युक्तात् कर्मणोऽण् ॥५।४।३६॥

तद्युक्तात् ५।१॥ कर्मणः ५।१॥ अण् १।१॥ *स०*—तया युक्तः तद्युक्तस्तस्मात्……तृतीयातत्पुरुषः ॥ *अनु०*—व्याहृतार्थायाम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तद्युक्तात् = व्याहृतार्थया वाचा युक्तात् कर्मन्शब्दात् स्वार्थेऽण् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—कर्मैव कार्मणम् ॥

भाषार्थः—[*तद्युक्तात्*] उस व्याहृत वाणी से युक्त जो कर्म उस [*कर्मणः*] कर्मन् शब्द से [*अण्*] अण् प्रत्यय स्वार्थ में होता है ॥ संदेशवाणी को सुनकर, जो उसी संदेश के अनुसार काम किया जाता है, उसे कार्मणम् कहेंगे। यही उस 'कर्म' शब्द की तद्युक्तता है, कि उसी प्रकार (संदेशवाणी के अनुसार) काम किया गया ॥

यहाँ से '*अण्*' की अनुवृत्ति ५।४।३८ तक जायेगी ॥

ओषधेरजातौ ॥५।४।३७॥

ओषधेः ५।१॥ अजातौ ७।१॥ *स०*—अजातावित्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अण्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अजातौ वर्त्तमानाद् ओषधिशब्दात् स्वार्थेऽण् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—औषधं पिबन्ति, औषधं ददाति ॥

भाषार्थः—[*अजातौ*] जाति में वर्त्तमान न हो तो [*ओषधेः*] ओषधि शब्द से स्वार्थ में अण् प्रत्यय होता है ॥ यहाँ उदाहरण में ओषधि शब्द द्रव्य में वर्त्तमान है न कि जाति में ॥

प्रज्ञादिभ्यश्च ॥५।४।३८॥

प्रज्ञादिभ्यः ५।३॥ च अ० ॥ *स०*—प्रज्ञ आदिर्येषां ते प्रज्ञादयस्तेभ्यः……बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अण्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रा-

तिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रज्ञादिभ्यः प्रातिपदिकेभ्यः स्वार्थेऽण् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—प्रज्ञ एव प्राज्ञः ॥ वणिगेव वाणिजः ॥

भाषार्थः—[*प्रज्ञादिभ्यः*] प्रज्ञादि प्रातिपदिकों से [च] भी स्वार्थ में अण् प्रत्यय होता है ॥

मृदस्तिकन् ॥५।४।३९॥

मृदः ५।१॥ तिकन् १।१॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—मृत्प्रातिपदिकात् स्वार्थे तिकन् प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—मृदेव मृत्तिका ॥

भाषार्थः—[*मृदः*] मृद् प्रातिपदिक से [*तिकन्*] तिकन् प्रत्यय स्वार्थ में होता है ॥

यहाँ से '*मृदः*' की अनुवृत्ति ५।४।४० तक जायेगी ॥

सस्नौ प्रशंसायाम् ॥५।४।३०॥

सस्नौ १।२॥ प्रशंसायाम् ७।१॥ *अनु०*—मृदः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रशंसाविशिष्टेऽर्थे वर्त्तमानात् मृद्शब्दात् स, स्न इत्येतौ प्रत्ययौ भवतः ॥ उदा०—प्रशस्ता मृद् मृत्सा, मृत्स्ना ॥

भाषार्थः—[*प्रशसायाम्*] प्रशंसाविशिष्टअर्थ में वर्त्तमान मृद् शब्द से [*सस्नौ*] स तथा स्न प्रत्यय होते हैं ॥ उदा०—मृत्सा (उत्तम मिट्टी) मृत्स्ना ॥

यहाँ से '*प्रशंसायाम्*' की अनुवृत्ति ५।४।४१ तक जायेगी ॥

वृकज्येष्ठाभ्यां तिल्तातिलौ च च्छन्दसि ॥५।४।४१॥

वृकज्येष्ठाभ्याम् ५।२॥ तिल्तातिलौ १।२॥ च अ० ॥ छन्दसि ७।१॥ *स०*—उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—प्रशंसायाम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रशंसाविशिष्टेऽर्थे वर्त्तमानाभ्यां वृक, ज्येष्ठ इत्येताभ्यां प्रातिपदिकाभ्यां यथासङ्ख्यं तिल् तातिल् इत्येतौ प्रत्ययौ भवतश्छन्दसि विषये ॥ उदा०—वृकतिः, ज्येष्ठतातिः ॥

भाषार्थः—प्रशंसा विशिष्ट अर्थ में वर्त्तमान [*वृकज्येष्ठाभ्याम्*] वृक तथा ज्येष्ठ शब्दों से यथासङ्ख्य करके [*तिल्तातिलौ*] तिल् तथा तातिल् प्रत्यय [च] भी होते हैं [*छन्दसि*] वेद विषय में ।। *उदा०*—वृकतिः (अधिक आदाता) ज्येष्ठतातिः (अधिक ज्येष्ठ) ।।

बह्वल्पार्थाच्छस् कारकादन्यतरस्याम् ।।५।४।४२।।

बह्वल्पार्थात् ५।१।। शस् १।१।। कारकात् ५।१।। अन्यतरस्याम् ७।१।। *स०*—बहुश्च अल्पश्च बह्वल्पौ, बह्वल्पावर्थौ यस्य स बह्वल्पार्थस्तस्मात्'''द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ।। *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ।। *अर्थः*—बह्वर्थात्, अल्पार्थाच्च कारकाभिधायिनः प्रातिपदिकात् विकल्पेन शस् प्रत्ययो भवति ।। *उदा०*—बहूनि ददाति-बहुशो ददाति, बहुभिर्ददाति-बहुशो ददाति, भूरिशो ददाति । अल्पार्थेभ्यः—अल्पं ददाति-अल्पशो ददाति, अल्पेन ददाति—अल्पशो ददाति, स्तोकशो ददाति ।।

भाषार्थः—[*बह्वल्पार्थात्*] बहु अर्थ वाले तथा अल्प अर्थ वाले [*कारकात्*] कारकाभिधायी शब्दों से [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से [*शस्*] शस् प्रत्यय होता है ।। कारक सामान्य कहने से यहाँ छहों कारक लिये जायेंगे । 'कारकाभिधायी बहु, अल्प' ऐसा कहने से सम्बन्ध सम्बोधन विभक्ति वाले बह्वल्पार्थक शब्दों से शस् प्रत्यय नहीं होगा ।। हमने छहों कारकों में उदाहरण गौरव होने से नहीं दिखाये हैं पाठक सब में समझ लें, रूप तो पूर्ववत् ही बनेंगे, केवल विग्रह वाक्य में ही भेद रहेगा ।। अन्यतरस्याम् कहने से पक्ष में विग्रह वाक्य रहेगा ।।

यहाँ से '*शस्*' की अनुवृत्ति ५।४।४३ तक तथा '*अन्यतरस्याम्*' की ५।४।४९ तक जायेगी ।।

सङ्ख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम् ।।५।४।४३।।

सङ्ख्यैकवचनात् ५।१।। च अ० ।। वीप्सायाम् ७।१।। *स०*—उच्यत इति वचनम्, एकस्य वचनम् एकवचनम्, सङ्ख्या च एकवचनञ्च सङ्ख्यैकवचनम् तस्मात्''''समाहारो द्वन्द्वः ।। *अनु०*—शस्, अन्यतरस्याम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ।। *अर्थः*—सङ्ख्यावाचिभ्यः

प्रातिपदिकेभ्य एकवचनाच्च वीप्सायां द्योत्यायां विकल्पेन शस् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—सङ्ख्यावाचिभ्यः—द्वौ द्वौ मोदकौ ददाति द्विशो ददाति, त्रिशो ददाति। एकवचनात्—कार्षापणं कार्षापणं ददाति कार्षापणशो ददाति, माषशो ददाति, पादशो ददाति ॥

भाषार्थः—[*सङ्ख्यैकवचनात्*] सङ्ख्यावाची प्रातिपदिकों से तथा एकवचन अर्थात् एक अर्थ को कहने वाले प्रातिपदिक से [च] भी विकल्प से [*वीप्सायाम्*] वीप्सा द्योतित हो रही हो तो शस् प्रत्यय होता है ॥ कार्षापण आदि शब्द परिमाणवाचक हैं। परिमाणी के बहुत्व होने पर भी परिमाणरूप में एक ही अर्थ कार्षापण आदि शब्दों से कहा जाता है ॥

प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः ॥५।४।४४॥

प्रतियोगे ७।१॥ पञ्चम्याः ५।१॥ तसिः १।१॥ *स०*—प्रतिना योगः प्रतियोगस्तस्मिन्''' तृतीयातत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अन्यतरस्याम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—कर्मप्रवचनीयसंज्ञकेन प्रतिना योगे या पञ्चमी विहिता तदन्तात् तसिः प्रत्ययोऽन्यतरस्यां भवति ॥ *उदा०*—प्रद्युम्नो वासुदेवतः प्रति, वासुदेवात् प्रति। अभिमन्युरर्जुनतः प्रति, अर्जुनात् प्रति ॥

भाषार्थः—कर्मप्रवचनीयसंज्ञक [*प्रतियोगे*] प्रतिशब्द के योग में जो पञ्चमी का विधान है [*पञ्चम्याः*] तदन्त पञ्चम्यन्त प्रातिपदिक से [*तसिः*] तसि प्रत्यय विकल्प से होता है ॥

प्रतिः प्रतिनिधिप्रतिदानयोः (१।४।६१) से प्रति की कर्मप्रवचनीय संज्ञा तथा *प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात्* (२।३।११) से पञ्चमी विभक्ति कही है उस पञ्चम्यन्त वासुदेव तथा अभिमन्यु शब्दों से इस सूत्र से तसि प्रत्यय हो गया है। 'वासुदेव ङसि तसि' *सुपो धातु०* (२।४।७१) से विभक्ति लुक् होकर वासुदेव तस् सु रहा। *तद्धितश्चासर्ववि०* (१।१।३७) से अव्यय संज्ञा एवं २।४।७१ से विभक्ति लुक् होकर वासुदेवतस् = वासुदेवतः बन गया ॥

यहाँ से '*पञ्चम्याः*' की अनुवृत्ति ५।४।४५ तक तथा '*तसि*' की ५।४।४६ तक जायेगी ॥

अपादाने चाहीयरुहोः ॥५।४।४५॥

अपादाने ७।१॥ च अ० ॥ अहीयरुहोः ६।२॥ स०—अहीय० इत्यत्र पूर्वं द्वन्द्वस्ततो नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—पञ्चम्याः, तसिः अन्यतरस्याम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—अपादाने या पञ्चमी विहिता तदन्तात् तसिः प्रत्ययो विकल्पेन भवति, तच्चेदपादानं हीयरुहोः सम्बन्धि न भवति ॥ उदा०—ग्रामत आगच्छति, ग्रामात् आगच्छति। चोरतो बिभेति, चोरात् बिभेति। अध्ययनत. पराजयते, अध्ययनात् पराजयते ॥

भाषार्थः—[*अपादाने*] अपादान कारक में [च] भी जो पञ्चमी विभक्ति, तदन्त से तसि प्रत्यय विकल्प से होता है, यदि वह अपादान कारक [*अहीयरुहोः*] हीय और रुह् सम्बन्धी न हो तो ॥ सिद्धि पूर्ववत् जानें ॥

अतिग्रहाव्यथनक्षेपेष्वकर्त्तरि तृतीयायाः ॥५।४।४६॥

अतिग्रहाव्यथनक्षेपेषु ७।३॥ अकर्त्तरि ७।१॥ तृतीयायाः ५।१॥ स०—अतिग्र० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। अक० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—तसिः, अन्यतरस्याम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अतिग्रह, अव्यथन, क्षेप इत्येतेषु विषयेषु या तृतीया तदन्तात् विकल्पेन तसिः प्रत्ययो भवति, सा चेत् तृतीया कर्त्तरि न भवति ॥ उदा०—अतिग्रहे—वृत्तेनातिगृह्यते = वृत्ततो अतिगृह्यते, चारित्रेणाति गृह्यते—चारित्रतोऽतिगृह्यते। अव्यथने—वृत्तेन न व्यथते = वृत्ततो न व्यथते, चारित्रेण न व्यथते चारित्रतो न व्यथते। क्षेपे—वृत्तेन क्षिप्तः = वृत्ततः क्षिप्तः, चारित्रेण क्षिप्तः = चारित्रतः क्षिप्तः ॥

भाषार्थः—[*अति‥‥पेषु*] अतिग्रह, अव्यथन, क्षेप इन-इन विषयों में वर्त्तमान जो [*तृतीयायाः*] तृतीया विभक्ति तदन्त शब्द से तसि प्रत्यय होता है यदि वह तृतीया [*अकर्त्तरि*] कर्त्ता में न हुई हो ॥ कर्त्ता में तृतीया का निषेध करने से करण में जो तृतीया हुई होगी तदन्त से ही 'तसि' होगा। विकल्प कहने से विग्रह वाक्य भी पक्ष में रहेगा ॥ अतिग्रह = अन्यों को चरित्रादि के द्वारा अतिक्रमण करके गृहीत होना। अव्यथन = चलायमान = दुःखी न होना। क्षेप = निन्दा ॥ उदा०—वृत्ततोऽतिगृह्यते (वृत्त = उत्तम आचरण से अन्यों का अतिक्रमण करके

गृहीत होना) चारित्रतोऽतिगृह्यते। वृत्ततो न व्यथते (वृत्त = श्रेष्ठ आचार की कठोरता से चलायमान नहीं होता) चारित्रतो न व्यथते। वृत्ततो क्षिप्तः (दुराचार से निन्दित) चारित्रतः क्षिप्तः ॥

यहाँ से '*अकर्त्तरि तृतीयायाः*' की अनुवृत्ति ५।४।४७ तक जायेगी ॥

हीयमानपापयोगाच्च ॥५।४।४७॥

हीयमानपापयोगात् ५।१॥ च अ० ॥ *स०*—हीयमानश्च पापश्च, हीयमानपापे, हीय······भ्यां योगो यस्य हीय······योगस्तस्मात्······ द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः॥ *अनु०*—अकर्त्तरि तृतीयायाः तसिः, अन्यतरस्याम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः परश्च ॥ *अर्थः*—हीयमानेन योगो यस्य पापेन च योगो यस्य तद्वाचिनः शब्दात् परा या तृतीया विभक्तिस्तदन्तात् वा तसिः प्रत्ययो विकल्पेन भवति, सा चेत् तृतीयाऽकर्त्तरि भवति ॥ *उदा०*—हीयमानेन योगात्—वृत्तेन हीयते = वृत्ततो हीयते, चारित्रेण हीयते, चारित्रतो हीयते। पापयोगात्—वृत्तेन पापः = वृत्ततः पापः, चारित्रेण पापः = चारित्रतः पापः ॥

भाषार्थः—[*हीय··त्*] हीयमान (रहित होने वाला) शब्द के साथ योग है जिस शब्द का तथा पाप शब्द के साथ योग (सम्बन्ध) है जिस शब्द का, ऐसे शब्दों से परे [च]भी जो तृतीया विभक्ति, तदन्त से तसि प्रत्यय विकल्प से होता है, यदि वह तृतीया कर्त्ता में न हुई हो तो ॥ वृत्त तथा चरित्र शब्द का हीयमान एवं पाप के साथ योग है सो तदन्त तृतीयान्त से तसि हो गया है ॥ *उदा०*—वृत्ततो हीयते (चरित्र से रहित होता है) वृत्ततः पापः (चरित्र से पापी) ॥

षष्ठ्या व्याश्रये ॥५।४।४८॥

षष्ठ्याः ५।१॥ व्याश्रये ७।१॥ नानापक्षसमाश्रयो व्याश्रयः ॥ *अनु०*—तसिः, अन्यतरस्याम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—व्याश्रये गम्यमाने षष्ठ्यन्तात् प्रातिपदिकात् वा तसिः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—देवा अर्जुनतोऽभवन्, आदित्याः कर्णतोऽभवन् ॥

भाषार्थः—[*व्याश्रये*] व्याश्रय गम्यमान हो तो [*षष्ठ्याः*] षष्ठ्यन्त प्रातिपदिक से विकल्प करके तसि प्रत्यय होता है ॥ भिन्न भिन्न पक्षों के आश्रयण करने को व्याश्रय कहते हैं ॥ *उदा०*—देवा अर्जुनतोऽभवन् (देव अर्जुन के पक्ष में हुए) आदित्याः कर्णतोऽभवन् (आदित्य कर्ण के पक्ष में हुए) ॥

यहाँ से '*षष्ठ्याः*' की अनुवृत्ति ५।४।४९ तक जायेगी ॥

रोगाच्चापनयने ॥५।४।४९॥

रोगात् ५।१॥ च अ० ॥ अपनयने ७।१॥ *अनु०*—षष्ठ्याः, तसिः, अन्यतरस्याम्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—रोगवाचिनः शब्दात् परा या षष्ठी विभक्तिस्तदन्तात् वा तसिः प्रत्ययो विकल्पेन भवत्यपनयने गम्यमाने ॥ अपनयनं प्रतीकारः, चिकित्सा ॥ *उदा०*—प्रवाहिकातः कुरु, कासतः कुरु, छर्दिकातः कुरु ॥

भाषार्थः—[*अपनयने*] अपनयन = चिकित्सा गम्यमान हो तो [*रोगात्*] रोगवाची शब्द से परे जो [च] भी षष्ठी विभक्ति तदन्त प्रातिपदिक से विकल्प करके तसि प्रत्यय होता है ॥ प्रवाहिका, कास आदि रोगवाची शब्द हैं ॥ *उदा०*—प्रवाहिकातः कुरुः (दस्त की चिकित्सा कर) कासतः (खांसी की चिकित्सा कर) छर्दिकातः कुरु (वमन की चिकित्सा कर) ॥

कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्त्तरि च्विः ॥५।४।५०॥

कृभ्वस्तियोगे ७।१॥ संपद्यकर्त्तरि ७।१॥ च्विः १।१॥ *स०*—कृ च भू च अस्ति च कृभ्वस्तयः, कृभ्वस्तिभिर्योगः कृभ्वस्तियोगस्तस्मिन्˙˙˙ द्वन्द्वगर्भतृतीयातत्पुरुषः। संपद्यस्य (श्यना निर्देशः) कर्त्ता संपद्यकर्त्ता तस्मिन्˙˙˙˙˙षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सम्पूर्वस्य पदधातोः कर्त्तरि वर्त्तमानात् प्रातिपदिकात्, कृभ्वस्तिभिर्धातुभिर्योगे च्विः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अशुक्लः शुक्लः संपद्यते तं करोति शुक्ली करोति मलिनम्। शुक्ली भवति। शुक्ली स्यात् ॥

भाषार्थः—[*कृभ्वस्तियोगे*] कृ, भू, तथा अस् धातु के योग में [*संपद्यकर्तरि*] सम् पूर्वक पद धातु के कर्त्ता में वर्त्तमान प्रातिपदिक

से [*च्विः*] च्वि प्रत्यय होता है ॥ उदाहरण में शुक्ल शब्द 'संपद्यते' क्रिया का कर्त्ता भी है तथा कृ, भू एवं अस् के साथ उसका योग है ही सो च्वि हो गया है ॥ शुक्ल च्वि = शुक्ल व् , *अस्य च्वौ* (७।४।३२) से ईत्व एवं *वेरपृक्तस्य* (६।१।६५) से व् का लोप होकर शुक्ली बना पीछे सु का, अव्यय संज्ञा होकर, लोप हो ही जायेगा ॥ *च्विविधावभूततद्भावग्रहणम्* (*वा०* ५।४।५०) महाभाष्य की इस वार्त्तिक के अनुसार च्वि प्रत्यय अभूततद्भाव अर्थात् जो अभूत था = नहीं था तद्भाव = उसका होना गम्यमान होने पर होता है । जैसे उदाहरण में जो शुक्ल नहीं था वह शुक्ल होता है यह अभूततद्भाव है ॥ *उदा०*—शुक्ली करोति (जो सफेद नहीं उसे सफेद करता है) शुक्ली भवति, शुक्ली स्यात् ॥

यहाँ से '*कृभ्वस्तियोगे*' की अनुवृत्ति ५।४।५७ तक '*सपद्यकर्त्तरि*' की ५।४।५२ तक तथा '*च्विः*' की ५।४।५१ तक जायेगी ॥

अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसां लोपश्च ॥५।४।५१॥

अरु······साम् ६।३॥ लोपः १।१॥ च अ० ॥ *स०*—अरु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—कृभ्वस्तियोगे सपद्यकर्त्तरि च्विः, तद्धिताः ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—कृभ्वस्तिभिर्योगे संपद्यकर्त्तरि वर्त्तमानानां अरुस् चक्षुस् चेतस् रहस् रजस् शब्दानामन्तस्य लोपो भवति च्विश्च प्रत्ययो भवति ॥ पूर्वेणैव च्विसिद्धे लोपार्थं पुनर्वचनम् ॥ *उदा०*—अनरुः अरुः संपद्यते तं करोति अरू करोति, अरू भवति, अरू स्यात् । मनस्—उन्मनी करोति, उन्मनी भवति, उन्मनी स्यात् । चक्षुस्—उच्चक्षू करोति, उच्चक्षू भवति, उच्चक्षू स्यात् । चेतस्—विचेती करोति, विचेती भवति, विचेती स्यात् । रहस्—विरही करोति, विरही भवति, विरही स्यात् । रजस्—विरजी करोति, विरजी भवति, विरजी स्यात् ॥

भाषार्थः—संपद्यते के कर्त्ता में वर्त्तमान [*अरुर्म···साम्*] अरुस् मनस्, चक्षुस्, चेतस्, रहस्, रजस् शब्दों के अन्त्य सकार का [*लोपः*] (*अलोन्त्यस्य* १।१।५१) कृ, भू, अस्ति के योग में हो जाता है तथा च्वि प्रत्यय भी होता है ॥

पूर्व सूत्र से ही च्वि प्रत्यय सिद्ध था पुनर्वचन अन्त्य सकार के लोप के लिये है ॥ अरुस्, चक्षुस् को छोड़कर, सर्वत्र सकार लोप करने के

पश्चात् अकारान्त अङ्ग हो जाता है, सो *अस्य च्वौ* (७।४।३२) से ईत्व हो जायेगा ॥ अरू करोति, चक्षू करोति में *च्वौ च* (७।४।२६) से दीर्घ हो जायेगा ॥ *उदा०*—अरू करोति (जो लाल खदिर नहीं उसे लाल खदिर बनाता है) उन्मनी करोति (जो उदास नहीं उसे उदास करता है) उच्चक्षू करोति (जो जागता नहीं उसे जगाता है) विचेती करोति (जिसको चेतना नहीं उसे चेताता है) विरही करोति (जो एकान्त स्थित नहीं उसे एकान्त में करता है) विरजी करोति (जो रजो गुण से रहित उसे रजोगुण युक्त करता है) ॥

विभाषा साति कार्त्स्न्ये ॥५।४।५२॥

विभाषा १।१॥ साति लुप्तप्रथमान्तनिर्देश॰ ॥ कार्त्स्न्ये ७।१॥ *अनु०*—कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्त्तरि, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—संपद्यकर्त्तरि वर्त्तमानात् प्रातिपदिकात् कृभ्वस्तियोगे कार्त्स्न्ये गम्यमाने सातिः प्रत्ययो भवति विभाषा ॥ *उदा०*—अग्निसाद्भवति शस्त्रम्। पक्षे—अग्नीभवति। उदकसाद्भवति लवणम्। पक्षे—उदकी भवति ॥

भाषार्थः—संपद्यते क्रिया के कर्त्ता में वर्त्तमान प्रातिपदिक से कृ, भू, अस्ति के योग में [*कार्त्स्न्ये*] कार्त्स्न्य गम्यमान हो तो [*विभाषा*] विकल्प से[*साति*] साति प्रत्यय होता है। पक्ष में यथाप्राप्त च्वि होगा ॥ कार्त्स्न्य सम्पूर्णता को कहते हैं। अभूतद्भाव का सम्बन्ध यहाँ सर्वत्र जानना चाहिये ॥ *उदा०*—अग्निसाद्भवति (पूरा लोह पिण्ड अग्नि बन जाता है, उदकसाद्भवति लवणम् (पूरा नमक उदक बन जाता है) अग्नी भवति, उदकी भवति ॥

यहाँ से '*विभाषा*' की अनुवृत्ति ५।४।५३ तक तथा '*साति*' की ५।४।५५ तक जायेगी ॥

अभिविधौ संपदा च ॥५।४।५३॥

अभिविधौ ७।१॥ संपदा ३।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—विभाषा, साति, कृभ्वस्तियोगे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अभिविधौ गम्यमाने कृभ्वस्तियोगे, सम्पूर्वात् पदधातुना च योगे विभाषा सातिः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अग्निसात् संपद्यते, अग्नि-

साद्भवति, उदकसात् सम्पद्यते उदकसाद्भवति । पक्षे—अग्नी भवति, उदकी भवति ॥

भाषार्थ.—[*अभिविधौ*]अभिविधि = अभिव्याप्ति गम्यमान हो तो कृभ्वस्तियोग में तथा[*संपदा*] सम् पूर्वक पद धातु के योग में [*च*] भी विकल्प से साति प्रत्यय होता है ॥ पक्ष में च्वि होगा और यह च्वि कृभ्वस्तियोग में ही होगा, न कि 'संपद' के योग में पूर्व सूत्र में कात्स्न्र्य अर्थ में प्रत्यय कहा है और यहाँ अभिविधि में । दोनों में भेद यह है कि जहाँ सम्पूर्ण द्रव्य विकारभाव को प्राप्त हो जाये, वह कात्स्न्र्य होगा । उदकसात्भवति लवणम् का अर्थ होगा नमक पूरा का पूरा जलरूप में परिणत हो गया । अभिविधि में अर्थ होगा जितना भी नमक है वह सब वर्षा में गीला हो जाता है । यहाँ लवण मात्र में अभिव्याप्ति है पूरी तरह उदक होना इष्ट नहीं ॥

यहाँ से '*संपदा*' की अनुवृत्ति ५।४।५५ तक जायेगी ॥

तदधीनवचने ॥५।४।५४॥

तदधीनवचने ७।१॥ *स०*—तस्याधीनं तदधीनं, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ तदधीनस्य वचनम्, तदधीनवचनम् तस्मिन् ····षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—संपदा सातिः कृभ्वस्तियोगे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—तत् पदेन स्वामिसामान्यमुच्यते । स्वामिविशेषवाचिनः प्रातिपदिकात् तदधीनवचने वाच्ये कृभ्वस्तिभिः संपदा च योगे सातिः प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—राजाधीनं करोति = राजसात् करोति, राजसाद्भवति, राजसात् स्यात् । संपदायोगे—राजसात् सम्पद्यते । एवं ब्राह्मणसात् करोति, ब्राह्मणसाद्भवति, ब्राह्मणसात् स्यात्, ब्राह्मणसात् संपद्यते ॥

भाषार्थः—तदधीनवचने में तत् पद से स्वामी सामान्य का ग्रहण है ॥ स्वामिविशेषवाची प्रातिपदिक से [*तदधीनवचने*] ईशितव्य अभिधेय होने पर कृभ्वस्तियोग में तथा संपद के योग में साति प्रत्यय होता है ॥ यहाँ से आगे अभूततद्भाव का सम्बन्ध नहीं लगेगा ॥ *उदा०*—राजसात् करोति (राजा के आधीन करता है = राजा उसका स्वामी होता है) ॥

यहाँ से '*तदधीनवचने*' की अनुवृत्ति ५।४।५५ तक जायेगी ॥

देये त्रा च ॥५।४।५५॥

देये ७।१॥ त्रा १।१॥ च अ० ॥ अनु०—तद्धीनवचने, संपदा, सातिः, कृभ्वस्तियोगे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ देयं = दातव्यम् ॥ *अर्थः*—कृभ्वस्तिभिः संपदा च योगे देये तद्धीने वाच्ये त्रा प्रत्ययो भवति सातिश्च ॥ *उदा०*—ब्राह्मणाधीनं देयं करोति = ब्राह्मणत्रा करोति ब्राह्मणसात् करोति । ब्राह्मणत्रा भवति, ब्राह्मणसात् भवति । ब्राह्मणत्रा स्यात्, ब्राह्मणसात् स्यात् । ब्राह्मणत्रा सम्पद्यते, ब्राह्मणसात् सम्पद्यते ॥

भाषार्थः—देने योग्य जो वस्तु वह देय कहलाती है । यहाँ 'देये' पद तदधीनवचने का विशेषण है ॥ [देये] देय तदधीनवचन वाच्य हो तो कृभ्वस्तियोग तथा सम्पदा योग में [त्रा] त्रा [च] तथा साति प्रत्यय हो जाते हैं ॥ देय = देने योग्य जो वस्तु वह तद् = उसके (ब्राह्मण) के आधीन करता है अर्थात् देता है उसे ब्राह्मणत्रा करोति कहेंगे, सो जिसके आधीन किया जाता है (उसके वाचक शब्द से) प्रत्यय होगा ॥

यहाँ से '*त्रा*' की अनुवृत्ति ५।४।५६ तक जायेगी ॥

देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम् ॥५।४।५६॥

देव······भ्यः ५।३॥ द्विती······म्योः ६।२॥ बहुलम् १।१॥ *स०*—उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—त्रा, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीयासप्तम्यन्तेभ्यः, देव, मनुष्य, पुरुष, पुरु, मर्त्य इत्येतेभ्यः प्रातिपदिकेभ्यो बहुलं त्रा प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—देवान् गच्छति = देवत्रा गच्छति, देवेषु वसति = देवत्रा वसति । मनुष्यान् गच्छति = मनुष्यत्रा गच्छति, मनुष्येषु वसति = मनुष्यत्रा वसति । पुरुषान् गच्छति = पुरुषत्रा गच्छति, पुरुषेषु वसति = पुरुषत्रा वसति । पुरून् गच्छति = पुरुत्रा गच्छति, पुरुषु वसति = पुरुत्रा वसति । मर्त्यान् गच्छति = मर्त्यत्रा गच्छति । मर्त्येषु वसति = मर्त्यत्रा वसति ॥ बहुलवचनादन्यत्रापि भवति—बहुत्रा जीवतो मनः ॥

भाषार्थः—[*द्वितीयासप्तम्योः*] द्वितीया, तथा सप्तमी विभक्त्यन्त [*देव······भ्यः*] देव, मनुष्य, पुरुष, पुरु, तथा मर्त्य शब्दों से [*बहुलम्*]

बहुल करके त्रा प्रत्यय होता है॥ इस सूत्र में 'कृभ्वस्तियोगे' की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं लगता॥

अव्यक्तानुकरणाद्द्व्यजवरार्धादनितौ डाच् ॥५।४।५७॥

अव्यक्तानुकरणात् ५।१॥ द्व्यजवरार्धात् ५।१॥ अनितौ ७।१॥ डाच् १।१॥ *स०*—न व्यक्तमव्यक्तम्। अव्यक्तस्यानुकरणमव्यक्तानुकरणम्, तस्मात् नञ्गर्भषष्ठीतत्पुरुषः। द्वयोरचोः समाहारः द्व्यच्, तद् अवरार्धे यस्य तस्मात् समाहारगर्भबहुव्रीहिः। न इति अनिति तस्मिन् नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—कृभ्वस्तियोगे, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—अव्यक्तानुकरणात् द्व्यजवरार्धात् प्रातिपदिकात् अनितौ परतः डाच् प्रत्ययो भवति कृभ्वस्तियोगे॥ *डाचि बहुलं द्वे भवतः* इति विषयसप्तमी, तेन प्रत्ययोत्पत्तेः प्राक् द्विर्वचनम्। द्विर्वचने कृते यस्यावरार्धं द्व्यच् तस्मात् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—पटपटा करोति, पटपटा भवति, पटपटा स्यात्। दमदमा करोति, दमदमा भवति, दमदमा स्यात्।

भाषार्थः—[*अव्यक्तानुकरणात्*] अव्यक्त शब्द (जिसमें अकारादि वर्ण व्यक्त न हों) के अनुकरण से [*द्व्यजवरार्धात्*] जिसमें अर्धभाग दो अच् वाला हो उससे कृ, भू अस्ति के योग में [*डाच्*] डाच् प्रत्यय होता है यदि [*अनितौ*] इति परे न हो तो॥ प्रथम भाग पृ० ८१७ परि० १।३।६० में पटपटायति की सिद्धि की है, ठीक उसी क्रम से यहाँ भी पटपटा की सिद्धि होगी, तत्पश्चात् १।२।४६ से प्रातिपदिक संज्ञा एवं सु आकर तथा सु का, अव्ययसंज्ञा होने से लोप होकर पटपटा बना पटपटा करोति अर्थात् पटत् पटत् आवाज करता है सो यहाँ अव्यक्त शब्द है ही॥ द्वित्व कर लेने पर प्रत्यय की उत्पत्ति होती है, अतः 'पटत्पटत्' का अर्द्ध भाग 'पटत्' दो अच् वाला है ही सो प्रत्यय हो जाता है॥

यहाँ से 'डाच्' की अनुवृत्ति ५।४।६७ तक जायेगी॥

कृञो द्वितीयतृतीयशम्बबीजात्कृषौ ॥५।४।५८॥

कृञः ५।१॥ द्विती...जात् ५।१॥ कृषौ ७।१॥ *स०*—द्विती० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः॥ *अनु०*—डाच्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः,

परश्च ॥ *अर्थः*—द्वितीय, तृतीय, शम्ब, बीज इत्येतेभ्यः शब्देभ्यः कृञो योगे कृषावभिधेयायां डाच् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—द्वितीया करोति, तृतीया करोति, शम्बा करोति, बीजा करोति ॥

भाषार्थः—[*द्विती᠁जात्*] द्वितीय, तृतीय, शम्ब, बीज इन प्रातिपदिकों से [*कृञः*] कृञ् धातु के योग में [*कृषौ*] कृषि अभिधेय हो तो डाच् प्रत्यय होता है ॥ सर्वत्र उदाहरण में कृञ् का योग है ही ॥ *उदा०*—द्वितीया करोति (दूसरी बार हल चलाता है) तृतीया करोति (तीसरी बार हल चलाता है) शम्बा करोति (दूसरी बार हल चलाता है) बीजा करोति (बीज बोते हुए हल चलाता है) ॥ द्वितीय + डाच् = द्वितीय् आ = द्वितीया करोति ।

यहाँ से 'कृञः' की अनुवृत्ति ५।४।६७ तक तथा 'कृषौ' की ५।४।५९ तक जायेगी ॥

सङ्ख्यायाश्च गुणान्तायाः ॥५।४।५९॥

सङ्ख्यायाः ५।१॥ च अ० ॥ गुणान्तायाः ५।१॥ *स०*—गुण शब्दोऽन्ते = समीपे यस्याः सा सङ्ख्या गुणान्ता, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—कृञः, कृषौ, डाच्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—गुणान्तायाः सङ्ख्यायाः कृञो योगे डाच् प्रत्ययो भवति कृषौ वाच्ये ॥ *उदा०* – द्विगुणा करोति, त्रिगुणा करोति ॥

भाषार्थः—[*गुणान्तायाः*] गुण शब्द अन्त वाले [*सङ्ख्यायाः*] सङ्ख्यावाची शब्द से [*च*] भी कृञ् के योग में कृषि वाच्य हो तो डाच् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—द्विगुणा करोति (दो बार जुताई करता है) ॥

समयाच्च यापनायाम् ॥५।४।६०॥

समयात् ५।१॥ च अ० ॥ यापनायाम् ७।१॥ *अनु०*—कृञः, डाच्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—यापनायां गम्यमानायां समयशब्दात् कृञो योगे डाच् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—समया करोति ॥

भाषार्थः—[*यापनायाम्*] यापना = बिताना गम्यमान हो तो [*समयात्*] समय शब्द से डाच् प्रत्यय होता है कृञ् के योग में ॥ *उदा०*—समया करोति (समय बिता रहा है = काट रहा है) ॥

सपत्रनिष्पत्रादतिव्यथने ॥५।४।६१॥

सपत्रनिष्पत्रात् ५।१॥ अतिव्यथने ७।१॥ *स०*—सपत्र० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—कृञः, डाच्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अतिव्यथनम् = अतिपीडनम् ॥ *अर्थः*—सपत्र, निष्पत्र इत्येताभ्यां शब्दाभ्यामतिव्यथने गम्यमाने कृञो योगे डाच् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—सपत्रा करोति मृगं व्याधः, निष्पत्रा करोति ॥

भाषार्थः—[*सपत्रनिष्पत्रात्*] सपत्र तथा निष्पत्र शब्दों से [*अतिव्यथने*] अतिपीडन गम्यमान हो तो कृञ् के योग में डाच् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—सपत्रा करोति मृगं व्याधः (बाण के पुच्छ भाग पर लगे परों सहित मृग के शरीर में बाण को प्रविष्ट करता है) निष्पत्रा करोति (मृग को इतने वेग से बाण से बींधता है कि शर पत्र सहित दूसरी ओर से निकल जाता है) ॥

निष्कुलान्निष्कोषणे ॥५।४।६२॥

निष्कुलात् ५।१॥ निष्कोषणे ७।१॥ *अनु०*—कृञः, डाच्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—निष्कोषणे वर्त्तमानात् निष्कुलशब्दात् कृञो योगे डाच् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—निष्कुला करोति पशून् ॥

भाषार्थः—[*निष्कोषणे*] निष्कोषण अर्थ में वर्त्तमान [*निष्कुलात्*] निष्कुल शब्द से कृञ् के योग में डाच् प्रत्यय होता है ॥ निष्कोषण अन्दर स्थित अवयवों के बाहर निकालने को कहते हैं ॥ *उदा०*—निष्कुला करोति पशून् (पशुओं को इस तरह मारता है कि उसके आंत आदि अवयव बाहर निकल आते हैं) ॥

सुखप्रियादानुलोम्ये ॥५।४।६३॥

सुखप्रियात् ५।१॥ आनुलोम्ये ७।१॥ *स०*—सुख० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—कृञः, डाच्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—आनुलोम्ये वर्त्तमानाभ्यां सुख प्रिय इत्येताभ्यां शब्दाभ्यां कृञो योगे डाच् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—सुखा करोति, प्रिया करोति ॥

भाषार्थः—[*आनुलोम्ये*] अनुकूलता अर्थ में वर्त्तमान [*सुखप्रियात्*] सुख और प्रिय शब्दों से कृञ् के योग में डाच् प्रत्यय होता है ॥

उदा०—सुखा करोति (स्वामी आदि के चित्त को प्राप्त करता है) प्रिया करोति (प्रिय करता है) ॥

दुःखात् प्रातिलोम्ये ॥५।४।६४॥

दुःखात् ५।१॥ प्रातिलोम्ये ७।१॥ *अनु०*—कृञः, डाच्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—दुखशब्दात् कृञो योगे डाच् प्रत्ययो भवति प्रातिलोम्ये गम्यमाने ॥ *उदा०*—दुखा करोति ॥

भाषार्थः—[*दुःखात्*] दुख शब्द से कृञ् के योग में [*प्रातिलोम्ये*] प्रतिकूलता गम्यमान हो तो डाच् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—दुखा करोति (स्वामी आदि के चित्त को पीडा पहुँचाता है) ॥

शूलात् पाके ॥५।४।६५॥

शूलात् ५।१॥ पाके ७।१॥ *अनु०*—कृञः, डाच्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—पाके विषये शूलशब्दात् कृञो योगे डाच् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—शूला करोति मांसम् । शूलेन पचतीत्यर्थः ॥

भाषार्थः—[*पाके*] पकाना विषय हो तो [*शूलात्*] शूल शब्द से कृञ् के योग में डाच् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—शूला करोति (शूल = लोहे की सलाई में लगाकर मांस पकाता है) ॥

सत्यादशपथे ॥५।४।६६॥

सत्यात् ५।१॥ अशपथे ७।१॥ *स०*—न शपथः अशपथस्तस्मिन्…… नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—कृञः, डाच्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अशपथे वाच्ये सत्यशब्दात् डाच् प्रत्ययो भवति कृञो योगे ॥ *उदा०*—सत्या करोति वणिक् भाण्डम् ॥

भाषार्थः—[*सत्यात्*] सत्य शब्द से [*अशपथे*] शपथ वाच्य न हो तो कृञ् के योग में डाच् प्रत्यय होता है ॥ शपथ अर्थ का वाचक भी सत्य शब्द होता है सो उसका प्रतिषेध कर दिया ॥ *उदा०*—सत्या करोति वणिक् भाण्डम् (बर्तन मुझे खरीदना है ऐसा बनिया सत्य कहता है) ॥

मद्रात् परिवापणे ॥५।४।६७॥

मद्रात् ५।१॥ परिवापणे ७।१॥ अनु०—कृञः, डाच्, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ परिवापणं मुण्डनम् ॥ *अर्थः*—मद्रशब्दात् परिवापणे कृञो योगे डाच् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—मद्रा करोति ॥

भाषार्थः—मद्र शब्द मङ्गल पर्यायवाची तथा परिवाप मुण्डन को कहते हैं ॥ [*मद्रात्*] मद्र शब्द से [*परिवापणे*] मुण्डन वाच्य हो तो कृञ् के योग में डाच् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—मद्रा करोति (शुभ मुण्डन को करता है) ॥

समासान्ताः ॥५।४।६८॥

समासान्ताः १।३॥ *स०*—समासस्य अन्तः समासान्तस्ते समासान्ताः, (प्रत्ययाः) षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अवयववाच्यत्रान्तशब्दः ॥ *अनु०*—तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अधिकारोऽयमापादपरिसमाप्तेः। इतोऽग्रे ये प्रत्यया विहितास्ते समासस्यावयवा भवन्तीति वेदितव्यम् ॥ *उदा०*—अव्ययीभावे प्रयोजनम्—उपराजम्, अधिराजम्। द्विगुसमासे—द्विपुरी, त्रिपुरी। द्वन्द्वसमासे—कोशनिषदिनी, स्रक्त्वचिनी। तत्पुरुषसमासे—विधुरः, प्रधुरः। बहुव्रीहिसमासे—उच्चैर्धुरः, नीचैर्धुरः।

भाषार्थः—यह अधिकार सूत्र है, यहाँ से आगे पाद की समाप्ति पर्यन्त जो जो प्रत्यय विधान करेंगे [*समासान्ताः*] वे सब समास के अवयव, एकदेश होंगे ॥ अन्त शब्द यहाँ अवयव का पर्यायवाची है ॥ सिद्धियाँ परिशिष्ट में देखें तथा वहीं समास के अवयय होने का प्रयोजन समझें ॥

न पूजनात् ॥५।४।६९॥

न अ० ॥ पूजनात् ५।१॥ *अनु०*—समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—पूजनवचनात् प्रातिपदिकाद् उत्तरा ये शब्दास्तेभ्यः समासान्ताः प्रत्यया न भवन्ति ॥ *उदा०*—शोभनः राजा सुराजा, अतिशयितः राजा अतिराजा, सुगौः, अतिगौः ॥

भाषार्थः—[*पूजनात्*] पूजनवाची प्रातिपदिक से समासान्त (समासान्त अधिकार में कहे) प्रत्यय [*न*] नहीं होते ॥ *राजाहः सखिभ्यः०* (५।४।९१) *गोरतद्धितलुकि* (५।४।९२) से राजन् अन्त वाले एवं गौ अन्त वाले शब्दों से टच् प्रत्यय कहा है, सो वह टच् प्रत्यय पूजनवाची 'सु' तथा 'अति' से उत्तर वर्तमान राजन् और गौ शब्द से नहीं हुआ इससे अन्यत्र होगा ॥ *उदा०*—सुराजा (अच्छा राजा) अतिराजा (अच्छा राजा) सुगौः (अच्छी गौ) अतिगौः (अच्छी गौ) ॥ *स्वती पूजायाम्* इस वार्त्तिक से अति पूजार्थक भी है ॥

यहाँ से '*न*' की अनुवृत्ति ५।४।७२ तक जायेगी ॥

किमः क्षेपे ॥५।४।७०॥

किमः ५।१॥ क्षेपे ७।१॥ *अनु०*—न, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—क्षेपे वर्त्तमानो यः किंशब्दस्तस्मात् परेभ्यः समासान्ताः प्रत्यया न भवन्ति ॥ *उदा०*—किंराजा यो न रक्षति, किंसखा योऽभिद्रुह्यति, किंगौर्यो न वहति ॥

भाषार्थः—[*क्षेपे*] क्षेप = निन्दा में वर्त्तमान [*किमः*] किं शब्द से समासान्त प्रत्यय नहीं होते ॥ *राजाहः०* (५।४।९१) *गोरतद्धि०* (५।४।९२) से टच् प्राप्त था, नहीं हुआ ॥ किंराजा आदि में *कि क्षेपे* (२।१।६३) से समास हुआ है ॥

नञस्तत्पुरुषात् ॥५।४।७१॥

नञः ५।१॥ तत्पुरुषात् ५।१॥ *अनु०*—न, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—नञः परे ये शब्दास्तदन्तात् तत्पुरुषात् समासान्ताः प्रत्यया न भवन्ति ॥ *उदा०*—अराजा, असखा, अगौः ॥

भाषार्थः—[*नञस्तत्पुरुषात्*] नञ् तत्पुरुष समास शब्दों से उत्तर जो राजादि शब्द तदन्त से समासान्त प्रत्यय नहीं होता ॥ पूर्ववत् उदाहरण में टच् प्राप्त था, नहीं हुआ ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ५।४।७२ तक जायेगी ॥

पथो विभाषा ॥५।४।७२॥

पथः ५।१॥ विभाषा १।१॥ *अनु०*—नञस्तत्पुरुषात्, न, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—नञः परो यः पथिन्शब्दस्तदन्तात् तत्पुरुषात् समासान्तः प्रत्ययो विभाषा न भवति ॥ *उदा०*—अपथम्, अपन्थाः ॥

भाषार्थः—नञ् से उत्तर जो [*पथः*] पथिन् शब्द तदन्त तत्पुरुष से समासान्त प्रत्यय [*विभाषा*] विकल्प से नहीं होते ॥ पूर्व सूत्र से नित्य निषेध प्राप्त होता था, उसका विकल्प से विधान किया है। अपथम् में *ऋक्पूरब्धूः०* से 'अ' प्रत्यय होकर 'अपथिन् अ' रहा। *नस्तद्धिते* (६।४।१४४) से टि भाग का लोप होकर 'अपथ् अ सु' रहा। *अपथं नपुंसकम्* (२।४।३०) से नपुंसकलिङ्ग होने से सु को अम् (७।१।२४) होकर अपथम् बना ॥ अपन्थाः में अ प्रत्यय नहीं हुआ है, इसकी सिद्धि में विशेष कार्य प्रथम भाग पृ० ७३३ परि० १।१।५५ के पन्थाः की सिद्धि में देखें ॥

बहुव्रीहौ सङ्ख्येये डजबहुगणात् ॥५।४।७३॥

बहुव्रीहौ ७।१॥ सङ्ख्येये ७।१॥ डच् १।१॥ अबहुगणात् ५।१॥ *स०*—बहुश्च गणश्च बहुगण, न बहुगणम् अबहुगणं, तस्मात्······ द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सङ्ख्येये यो बहुव्रीहिर्वर्त्तते तस्मादबहुगणान्तात् प्रातिपदिकात् डच् प्रत्ययो भवति समासान्तः ॥ *उदा०*—उपदशाः, उपविंशाः, उपत्रिंशाः, आसन्नदशाः, अदूरदशाः, अधिकदशाः, द्वित्राः, त्रिचतुराः, द्विदशाः ॥

भाषार्थः—[*सङ्ख्येये*] सङ्ख्येय में वर्त्तमान [*बहुव्रीहौ*] बहुव्रीहि समास जो [*अबहुगणान्तात्*] बहु, गण शब्द अन्त में न हों उससे समासान्त [*डच्*] डच् प्रत्यय होता है ॥ समासान्त डच् प्रत्यय को चित् करने का फल चितः (६।१।१६३) से अन्तोदात्त स्वर का बोध करना ही है, नहीं तो *बहुव्रीहौ०* (६।२।१) से पूर्वपद प्रकृति स्वर ही होता ॥ सिद्धि सारी प्रथम भाग पृ० ८४५ परि० २।२।२५ में देखें ॥

ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे ।।५।४।७४।।

ऋक्पूरब्धूःपथाम् ६।३।। अ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ।। अनक्षे ७।१।। स०—ऋक् च पूर् च अप् च धुर् च पन्थाश्च ऋक्'' न्थानस्तेषां'' इतरेतरद्वन्द्वः । अनक्षे इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ।। अर्थः—ऋक्, पूर्, अप्, धुर्, पथिन् इत्येवमन्तानां समासानाम् अः प्रत्ययो भवति, अक्षसम्बन्धिनी या धूस्तदन्तस्य न भवति ।। उदा०—न ऋचोऽस्य सन्तीति अनृचः । बहवः ऋचोऽस्य सन्तीति बह्वृचः । अर्द्धा ऋक् अस्यास्तीति अर्द्धर्चः । पुर—ललाटपुरम्, नान्दीपुरम् । अप्—द्वीपम्, अन्तरीपम् समीपम् । धुर्—राज्ञः धूः = राजधुरा, महाधुरा । पथिन्—जलपथः ।।

भाषार्थः—[*ऋक्'''''थाम्*] ऋक्, पुर्, अप्, धुर्, पथिन् ये शब्द अन्त में हैं जिस समास के तदन्त से समासान्त [*अ*] अ प्रत्यय होता है, [*अनक्षे*] यदि वह धुर् अक्ष सम्बन्धी न हो तो ।। अनक्षे में (सम्बन्ध) षष्ठी के अर्थ में व्यत्यय से सप्तमी हुई है । चूंकि धुर् शब्द ही अक्ष अर्थ वाला होता है, अन्य ऋक् आदि नहीं, अतः सामर्थ्य से धुर् शब्द के साथ ही अनक्षे निषेध का सम्बन्ध लगता है, अन्य शब्दों के साथ नहीं । अक्ष सम्बन्धी धुर् होने पर अ प्रत्यय नहीं होगा । अक्ष धुरे का वाचक है[1] ।। नञ् ऋच् अ, *तस्मान्नुडचि* (६।३।७२) से नुट् होकर अनृचः बह्वृचः आदि बना । ललाटस्य पुरम्, ललाटपुरम् (नगर विशेष की संज्ञा) में कोई विशेष नहीं है । द्वीपम् अन्तरीपम् की सिद्धि भाग १ पृ० ७२७ परि० १।१।५३ में की है । राजधुरा में टाप् हो ही जायेगा । महती धुरा महाधुरा में पूर्ववत् सब है, केवल महत् के तकार के स्थान में *आन्महतःसमा०* (६।३।४४) से आत्व हुआ है । मह आ धुर् अ टाप् = महाधुरा । जलस्य पथः जलपथः में पूर्ववत् ही "जल ङस् पथिन् अ" समास इत्यादि तथा *नस्तद्धिते* (६।४।१४४) से टि भाग का लोप होकर जलपथः बना है ।।

---

१. नाक्षस्तप्यते भूरि भारः ऋ० १।१६४।१३।।

अच् प्रत्यन्ववपूर्वात् सामलोम्नः ॥५।४।७५॥

अच् १।१॥ प्रत्यन्ववपूर्वात् ५।१॥ सामलोम्नः ५।१॥ *स०*—प्रतिश्च अनुश्च अवश्च प्रत्यन्ववम्, प्रत्यन्वव पूर्वं यस्य तत् प्रत्यन्ववपूर्वम्, तस्मात्.....द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः। साम च लोम च सामलोम तस्मात्.....समाहारो द्वन्द्वः॥ *अनु०*—समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—प्रति, अनु, अव इत्येवंपूर्वात् सामान्तात् लोमान्ताच्च प्रातिपदिकाद् अच् प्रत्ययो भवति समासान्तः॥ *उदा०*—प्रतिसामम्, अनुसामम्, अवसामम्। प्रतिलोमम्, अनुलोमम्, अवलोमम्॥

भाषार्थः—[*प्रत्यन्ववपूर्वात्*] प्रति, अनु, अव पूर्व वाले जो [*साम-लोम्नः*] सामन् और लोमन् प्रातिपदिक उनसे समासान्त [*अच्*] अच् प्रत्यय होता है॥ 'प्रति सामन् अच्' यहाँ पूर्ववत् *नस्तद्धिते* (६।४।१४४) से टि भाग का लोप होगा, शेष पूर्ववत् ही जानें॥

यहाँ से 'अच्' की अनुवृत्ति ५।४।८७ तक जायेगी॥

अक्ष्णोऽदर्शनात् ॥५।४।७६॥

अक्ष्णः ५।१॥ अदर्शनात् ५।१॥ *स०*—अदर्शनादित्यत्र नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—अच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—दर्शनादन्यत्र योऽक्षिशब्दस्तदन्तादच् प्रत्ययो भवति॥ *उदा०*—लवणमक्षि इव लवणाक्षम्, पुष्करमक्षि इव पुष्कराक्षम्॥

भाषार्थः—[*अदर्शनात्*] दर्शन = देखा जाता है जिससे इस विषय से अन्यत्र जो [*अक्ष्णः*] अक्षि शब्द तदन्त से अच् प्रत्यय समासान्त हो जाता है॥ अक्षि शब्द आँख का वाचक है, सो जहाँ मुख्यार्थ वृत्ति से दर्शन अर्थ होगा वहाँ अच् प्रत्यय नहीं होगा। *उपमितं व्याघ्रादिभिः०* (२।१।५५) से लवणाक्षम् आदि में समास हुआ है॥ पूर्ववत् सिद्धि में टि भाग का लोप जानें॥ *उदा०*—लवणाक्षम् पुष्कराक्षम्॥

अचतुरविचतुरसुचतुरस्त्रीपुंसधेन्वनडुहर्क्सामवाङ्मनसाक्षिभ्रुवदारगवोर्वष्ठीवपदष्ठीवनक्तंदिवरात्रिन्दिवाहर्दिवसरजसनिःश्रेयसपुरुषायुषद्व्यायुषत्र्यायुषर्ग्यजुषजातोक्षमहोक्षवृद्धोक्षोपशुनगोष्ठश्वाः॥५।४।७७॥

अचतुर·····गोष्ठश्वाः १।३॥ *स०*—अचतुर० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—अच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थ*—एते शब्दा अच् प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते। आद्यास्त्रयो बहुव्रीहयः, यथा—अविद्यमानानि चत्वारि यस्य सोऽचतुरः। विगतानि चत्वारि यस्य स विचतुरः। शोभनानि चत्वारि यस्य स सुचतुरः। तत एकादशशब्दा द्वन्द्वास्तथा च—स्त्री च पुमांश्च-स्त्रीपुंसौ, धेनुश्च अनड्वांश्च धेन्वनडुहौ, ऋक् च साम च ऋक्सामे, वाक् च मनश्च वाङ्मनसे[1], अक्षि च भ्रुवौ च अक्षिभ्रुवम्, दाराश्च गावश्च दारगवम्, ऊरू च अष्ठीवन्तौ च ऊर्वष्ठीवम्, अत्र टिलोपश्च निपात्यते। नक्तं च दिवा च नक्तंदिवम्, अत्र समासोऽपि निपातनादेव भवति, एतौ सप्तम्यर्थवृत्तावव्ययौ शब्दौ। रात्रौ च दिवा च रात्रिन्दिवम्, अत्र पूर्वपदस्य मान्तत्वमपि निपात्यते। अहनि च दिवा च अहर्दिवम्। वीप्सार्थोऽत्र विद्यते। अहनि अहनि इत्यर्थः। निपातनाद्ध वीप्सार्थे द्वन्द्वः॥ अतः परमेकोऽव्ययीभावः, तत्र *अव्ययं विभक्ति०* (२।१।६) इति साकल्ये समासः सह रजसा = सरजसमभ्यवहरति, रजोऽप्यपरित्यज्याभ्यवहरतीत्यर्थः, *अव्ययीभावे चाकाले* (६।३।७६) इति सहस्य सभावः। अतः परमेकस्तत्पुरुषः—निश्चितं श्रेयो निःश्रेयसम्। ततः षष्ठीसमासः—पुरुषस्यायुः पुरुषायुषम् (वर्षशतं पुरुषायुषं भवति)। अतः परं द्वौ द्विगू—द्वे आयुषी समाहृते द्व्यायुषम् त्र्यायुषम् *सङ्ख्यापूर्वो०* (२।१।५१) इति समासः। अतः परमेको द्वन्द्वः—ऋक् च यजुश्च ऋग्यजुषम्। अतः परं त्रयः कर्मधारयाः, जातश्चासौ उक्षा च जातोक्षः, महांश्चासौ उक्षा च महोक्षः, वृद्धश्चासौ उक्षा वृद्धोक्षः, *नस्तद्धिते* इति टिलोपो भवत्येव। ततः

---

१. यस्य 'वाङ्मनसी शुद्धे' (मनु०) इत्यत्र *विभाषा समासान्तो भवति* (प० ७३) इति परिभाषयाऽचोऽभावः॥

परमेकोऽव्ययीभावः, शुनः समीपमुपशुनम्, *अव्ययं विभक्ति०* इत्यनेन समीपार्थे समासः, *नस्तद्धिते* इत्यनेन श्वन्शब्दस्य टिलोपे प्राप्ते टिलोपाभावः संप्रसारणञ्च निपात्यते। ततः सप्तमीतत्पुरुषः—गोष्ठे श्वा गोष्ठश्वः ॥

भाषार्थः—[*अचतु*······*श्वाः*] अचतुर, विचतुर, सुचतुर, स्त्रीपुंस, धेन्वनडुह, ऋक्साम, वाङ्मनस्, अक्षिभ्रुव, दारगव, ऊर्वष्ठीव, पदष्ठीव, नक्तंदिव, रात्रिंदिव अहर्दिव, सरजस, निश्श्रेयस, पुरुषायुष द्व्यायुष, त्र्यायुष, ऋग्यजुष जातोक्ष महोक्ष, वृद्धोक्ष, उपशुन तथा गोष्ठश्व शब्द अच् प्रत्ययान्त निपातन किये जाते हैं॥ इनमें कहाँ अच् प्रत्यय के अतिरिक्त क्या क्या निपातन है, तथा कहाँ क्या क्या समास है यह सब विग्रह प्रदर्शन पूर्वक संस्कृत अंश में ही दिखा दिया है। सुगम होने से भाषार्थ में दुबारा नहीं लिखा है। अन्य कोई विशेष बात इन निपातनों में नहीं है॥

ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः ॥५।४।७८॥

ब्रह्महस्तिभ्याम् ५।२॥ वर्चसः ५।१॥ *स०*—ब्रह्म० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः, *अनु०*—अच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—ब्रह्म, हस्ति इत्येताभ्यां परो यो वर्चस्शब्दस्तदन्तादच् प्रत्ययो भवति समासान्तः॥ *उदा०*—ब्रह्मणः वर्चः = ब्रह्मवर्चसम्, हस्तिनः वर्चः = हस्तिवर्चसम्॥

भाषार्थः—[*ब्रह्महस्तिभ्याम्*] ब्रह्म और हस्ति शब्द से उत्तर जो [*वर्चसः*] वर्चस् शब्द तदन्त से समासान्त अच् प्रत्यय होता है॥ 'ब्रह्मन् ङस् वर्चस् अच् = ब्रह्म वर्चस् अ सु = ब्रह्मवर्चसम् (ब्राह्मण का तेज) हस्तिवर्चसम् (हाथी का तेज)॥

अवसमन्धेभ्यस्तमसः ॥५।४।७९॥

अवसमन्धेभ्यः ५।३॥ तमसः ५।१॥ *स०*—अवश्च सम् च अन्धश्च अवसमन्धाः तेभ्यः···इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—अच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—अव सम् अन्ध इत्येतेभ्यः परो यस्तमस् शब्दस्तदन्तादच् प्रत्ययो भवति समा-

सान्तः ॥ उदा०—अवहीनं तमः अवतमसम्, सङ्गतं तमः सन्तमसम्, अन्धं तम अन्धतमसम् ॥

भाषार्थः—[*अवसमन्धेभ्यः*] अव, सम्, अन्ध इन शब्दों से उत्तर [*तमसः*] तमस् शब्द से समासान्त अच् प्रत्यय होता है ॥ अवतमसम् (नष्ट हुआ अन्धकार) में *कुगतिप्रादयः* (२।२।१८) से समास हुआ है। सन्तमसम् (सम्यक् छाया हुआ अन्धकार) में भी ऐसा ही जानें। अन्धयतीति अन्धम्, यहाँ णिजन्त से पचादि अच् किया, *णेरनिटि* (६।४।५१) से णिच् का लोप हो ही जायेगा पुनः अन्ध, तमस् का कर्मधारय समास होकर अन्धतमसम् (अत्यन्त गहन अन्धकार जिसमें हाथ को हाथ न सूझे) बना ॥

श्वसोवसीयःश्रेयसः ॥५।४।८०॥

श्वसः ५।१॥ वसीयःश्रेयसः ५।१॥ स०—वसी० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—श्वसःशब्दात् परौ यौ वसीयस्, श्रेयस् इत्येतौ शब्दौ तदन्ताद् अच् प्रत्ययो भवति समासान्तः ॥ *उदा०*—श्वोवसीयम्, श्वःश्रेयसम् ॥

भाषार्थः—[*श्वसः*] श्वस् शब्द से उत्तर [*वसीयःश्रेयसः*] वसीयस् और श्रेयस् शब्दों से समासान्त अच् प्रत्यय होता है ॥ श्वो वसीयः = श्वोवसीयसम् ते भूयात् (कल अति प्रशस्त[1] हो) श्वःश्रेयः = श्वःश्रेयसम् (कल कल्याण हो) यहाँ *मयूरव्यंसकादयश्च* (२।२।७१) से समास हुआ है ॥

अन्ववतप्ताद्रहसः ॥५।४।८१॥

अन्ववतप्तात् ५।१॥ रहसः ५।१॥ स०—अनुश्च अवश्च तप्तश्च, अन्ववतप्तम् तस्मात्''समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अनु, अव, तप्त इत्येतेभ्यः शब्देभ्यः परो यो रहस्शब्दस्तस्मात् समासान्तोऽच्

---

१. वसुशब्दः प्रशस्तवाची, तत ईयसुन्। श्वशब्द उत्तरपदस्य प्रशंसामाशीर्विषयतामाह, शब्दकल्पद्रुम।

प्रत्ययो भवति ॥ उदा०—अनुगतं रहः, अनुरहसम्, अवगतं रहः अवरहसम्, तप्तञ्च तद् रहसश्च तप्तरहसम् ॥

भाषार्थः—[*अन्ववतप्तात्*] अनु, अव, तथा तप्त शब्द से उत्तर जो [*रहसः*] रहस् शब्द तदन्त से समासान्त अच् प्रत्यय होता है ॥

कुगतिप्रादयः (२।२।१८) से अनुरहसम् (एकान्त देश को प्राप्त) अवरहसम् (एकान्त देश को प्राप्त) में समास हुआ है। तप्तरहसम् (तप्त-एकान्त स्थान को प्राप्त) में *विशेषणं०* (२।१।५६) से समास हुआ है ॥

प्रतेरुरसः सप्तमीस्थात् ॥५।४।८२॥

प्रतेः ५।१॥ उरसः ५।१॥ सप्तमीस्थात् ५।१॥ सप्तम्यां तिष्ठतीति सप्तमीस्थः, सुपि स्थः (३।२।४) इति कः प्रत्ययः ॥ *अनु०*—अच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्रतिशब्दात् परो य उरस्शब्दस्तदन्तादच् प्रत्ययो भवति समासान्तः स चेदुरस्शब्दः सप्तमीस्थो भवति = सप्तम्यां वर्त्तते ॥ *उदा०*—उरसि वर्त्तते = प्रत्युरसम् ॥

भाषार्थः—[*प्रतेः*] प्रति शब्द से उत्तर जो [*उरसः*] उरस् शब्द तदन्त से समासान्त अच् प्रत्यय होता है, यदि वह उरस् शब्द [*सप्तमीस्थात्*] सप्तमीस्थ = सप्तमी विभक्ति के अर्थ वाला हो ॥ प्रति सु उरस् ङि अच् = प्रत्युरसम् (हृदय में वर्त्तमान) ॥

अनुगवमायामे ॥५।४।८३॥

अनुगवम् १।१॥ आयामे ७।१॥ *अनु०*—अच्, समासान्ताः, तद्धिताः ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अनुगवमित्यच् प्रत्ययान्तं निपात्यत आयामेऽभिधेये ॥ *उदा०*—अनुगवं यानम् ॥

भाषार्थः—[*अनुगवम्*] अनुगव शब्द अच् प्रत्ययान्त [*आयामे*] आयाम = लम्बाई अभिधेय होने पर निपातन किया जाता है ॥

अनुगु यहाँ *यस्य चायामः* (२।१।१५) से समास होकर गो को *ओर्गुणः* (६।४।१४६) से वान्तादेश होकर अनुगवम् (यानम्) बना है ॥

द्विस्तावा त्रिस्तावा वेदिः ॥५।४।८४॥

द्विस्तावा १।१॥ त्रिस्तावा १।१॥ वेदिः १।१॥ *अनु०*—अच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्विस्तावा त्रिस्तावा इति निपात्यते वेदिश्चेदभिधेया भवति। द्विस्तावती, त्रिस्तावती इत्येताभ्यां शब्दाभ्याम् अच् प्रत्ययः टिलोपः समासश्च निपात्यते। भस्याढे तद्धित इति च ङीपो निवृत्तिः। द्विस्तावा वेदिः, त्रिस्तावा वेदिः ॥

भाषार्थः—[*द्विस्तावा त्रिस्तावा*] द्विस्तावा, त्रिस्तावा ये शब्द [*वेदिः*] वेदि (यज्ञ की वेदि) अभिधेय हो तो निपातन किये जाते हैं ॥

द्विः तावत्, त्रिः तावत् शब्दों से अच् प्रत्यय तावत् के टि भाग का लोप एवं समास भी निपातन से किया जाता है ॥

यज्ञ में जितनी वेदि होती है, विकृति याग में यदि उससे दुगनी या तिगुनी वेदि बनाई जाये, तो उसे द्विस्तावा वेदिः, त्रिस्तावा वेदिः कहेंगे ॥

उपसर्गादध्वनः ॥५।४।८५॥

उपसर्गात् ५।१॥ अध्वनः ५।१॥ *अनु०*—अच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—उपसर्गात् परो योऽध्वन् शब्दस्तदन्तादच् प्रत्ययो भवति समासान्तः ॥ *उदा०*—प्रगतोऽध्वानं = प्राध्वो रथः, प्राध्वं शकटम्, निरध्वम् प्रत्यध्वम् ॥

भाषार्थः—[*उपसर्गात्*] उपसर्ग से उत्तर जो [*अध्वनः*] अध्वन् शब्द तदन्त से समासान्त अच् प्रत्यय होता है ॥

प्र अध्वन् अच् ६।४।१४४ से टि भाग का लोप होकर प्राध्व् अ सु = प्राध्वः बना ॥ *उदा०*—प्राध्वो रथः (रथ) निरध्वम् (मार्ग से निकला हुआ) ॥

तत्पुरुषस्याङ्गुलेः सङ्ख्याव्ययादेः ॥५।४।८६॥

तत्पुरुषस्य ६।१॥ अङ्गुलेः ६।१॥ सङ्ख्याव्ययादेः, ६।१॥ *स०*—सङ्ख्या च अव्ययश्च सङ्ख्याव्ययम्, सङ्ख्याव्ययमादिर्यस्य स सङ्ख्या-

व्ययादिस्तस्य···द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सङ्ख्याव्ययादेः अङ्गुलिशब्दान्तस्य तत्पुरुषस्य अच् प्रत्ययो भवति समासान्तः ॥ *उदा०*—द्वे अङ्गुलीप्रमाणमस्य द्व्यङ्गुलम्, त्र्यङ्गुलम्। अव्ययादेः—निर्गतमङ्गुलिभ्यो निरङ्गुलम्, अत्यङ्गुलम् ॥

भाषार्थः—[*सङ्ख्याव्ययादे*] सङ्ख्या, तथा अव्यय आदि में हैं जिस [*अङ्गुलेः*] अङ्गुलि शब्दान्त [*तत्पुरुषस्य*] तत्पुरुष (समास) के तदन्त से समासान्त अच् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*तत्पुरुषस्य*' की अनुवृत्ति ५।४।१०५ तक तथा '*सङ्ख्याव्ययादेः*' की अनुवृत्ति ५।४।८८ तक जायेगी ॥

अहःसर्वैकदेशसङ्ख्यातपुण्याच्च रात्रेः ॥५।४।८७॥

अहःसर्वै·····ण्यात् ५।१॥ च अ० ॥ रात्रेः ५।१॥ *स०*—अहः० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषस्य, सङ्ख्याव्ययादेः, अच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अहन्, सर्व, एकदेश, सङ्ख्यात, पुण्य सङ्ख्या, अव्यय इत्येतेभ्यः परो यो रात्रिशब्दस्तदन्तात् तत्पुरुषाद् अच् प्रत्ययो भवति समासान्तः ॥ *उदा०*—अहश्च रात्रिश्च—अहोरात्रः, सर्वरात्रः। एकदेशे—पूर्वं रात्रेः पूर्वरात्रः, अपररात्रः। सङ्ख्याता रात्रिः सङ्ख्यातरात्रः, पुण्या रात्रिः पुण्यरात्रः। सङ्ख्याव्ययादेः—द्वे रात्री समाहृते द्विरात्रः, त्रिरात्रः। अतिक्रान्तो रात्रिमतिरात्रः, नीरात्रः ॥

भाषार्थः—[*अहः···ण्यात्*] अहर्, सर्व, एकदेश, (वाचक शब्द) सङ्ख्यात तथा पुण्य इन शब्दों से उत्तर तथा सङ्ख्या और अव्यय से उत्तर [च] भी जो [*रात्रेः*] रात्रि शब्द, तदन्त तत्पुरुष से समासान्त अच् प्रत्यय होता है ॥

अहन् और रात्रि का यहाँ द्वन्द्व समास ही अभीष्ट है न कि तत्पुरुष ॥ एकदेश शब्द से सूत्र में एकदेशवाची शब्द लिया है ॥ अहन् रात्रि अच् यहाँ यस्येति लोप एवं र् *अहनो रुविधौ०* (८।२।६८) वार्तिक से न् को रु *हशि च* (६।१।११०) से उत्वादि होकर अहोरात्रः बना है ॥ द्विरात्रः त्रिरात्रः की सिद्धि भाग १ पृ० ८४६ परि० २।४।२९ में देखें ॥

अह्नोऽह्न एतेभ्यः ॥५।४।८८॥

अह्नः ६।१॥ अह्नः १।१॥ एतेभ्यः ५।३॥ अनु०—तत्पुरुषस्य सङ्ख्याव्ययादेः, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ अर्थः—एतेभ्यः = सङ्ख्याव्ययेभ्यः सर्वादिभ्य उत्तरस्याहन् इत्येतस्य समासान्तोऽह्न इत्ययमादेशो भवति तत्पुरुषे समासे ॥ उदा०—द्वयोरह्नोर्भवः द्व्यह्नः, त्र्यह्नः, । अव्ययात्—अहरतिक्रान्तः अत्यह्नः, निरह्नः । सर्वाह्णः, पूर्वाह्णः, अपराह्णः, सङ्ख्याताह्नः ॥

भाषार्थः—एतेभ्यः से पूर्वोक्त सङ्ख्याव्ययादेः तथा 'अहःसर्वैकदेशसङ्ख्यातपुण्यात्' का ग्रहण है ॥ [*एतेभ्यः*] सङ्ख्यावाची अव्ययवाची तथा सर्व, एकदेश, सङ्ख्यात और पुण्य शब्द से उत्तर [*अह्नः*] अहन् शब्द के स्थान में समासान्त [*अह्नः*] अह्न आदेश होता है तत्पुरुष समास में ॥

सामर्थ्य से अहन् शब्द अहन् शब्द से उत्तर नहीं हो सकता, क्योंकि ये दोनों शब्द ही दिन अर्थ के वाचक हैं अतः अहन् से उत्तर अहन् का उदाहरण नहीं बन सकता । पुण्य शब्द से उत्तर अहन् का भी ५।४।९० सूत्र में प्रतिषेध करेंगे, अतः उसका उदाहरण भी नहीं बन सकता ॥

यहाँ से '*अह्नोऽह्नः*' की अनुवृत्ति ५।४।९० तक जायेगी ॥

न सङ्ख्यादेः समाहारे ॥५।४।८९॥

न अ० ॥ सङ्ख्यादेः ५।१॥ समाहारे ७।१॥ *अनु०*—अह्नोऽह्नः तत्पुरुषस्य, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सङ्ख्यादेः समाहारे वर्त्तमानस्य तत्पुरुषस्याहर् शब्दस्याह्नादेशो न भवति ॥ पूर्वेण प्राप्तः प्रतिषिध्यते ॥ *उदा०*—द्वे अहनी समाहृते द्व्यहः त्र्यहः ॥

भाषार्थः—[*संख्यादेः*] सङ्ख्या आदि वाले [*समाहारे*] समाहार में वर्त्तमान तत्पुरुष समास में अहर् शब्द को अह्न आदेश [*न*] नहीं होता ॥ पूर्व सूत्र से तत्पुरुष समास में अहर् को अह्न आदेश प्राप्त था,

समाहार में वर्त्तमान तत्पुरुष में यहाँ निषेध कर दिया। सिद्धि भाग १ पृ० ७०२ परि० १।१।२९ में देखे॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ५।४।६० तक जायेगी॥

उत्तमैकाभ्यां च ॥५।४।९०॥

उत्तमैकाभ्याम् ५।२॥ च अ०॥ स०—उत्तमै० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—न अह्नोऽह्न, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—उत्तम, एक इत्येताभ्यां परस्याहः शब्दस्याह्नादेशो न भवति तत्पुरुषे समासे॥ अत्र उत्तमशब्दोऽन्त्यवाची, प्रकृतं पुण्यशब्दमाचष्टे॥ *उदा०*—पुण्यम् अहः पुण्याहः, एकम् अहः एकाहः॥

भाषार्थः—[*उत्तमैकाभ्याम्*] उत्तम और एक शब्दों से परे [च] भी तत्पुरुष समास में अहर् शब्द को अह्न आदेश नहीं होता॥५।४।८८ से प्राप्त था निषेध कर दिया॥ उत्तम शब्द यहाँ अन्त्य (अन्त में होने वाले)का वाची है, सो प्रकरणस्थ *अहः सर्वै०* में पुण्य शब्द अन्त में आता है, अतः उत्तम शब्द से पुण्य शब्द का ही निर्देश है। पाणिनि जी ने वैचित्र्य उत्पन्न करने के लिये साफ-साफ पुण्य शब्द न रखकर उत्तम शब्द ही सूत्र में रखा है॥[1] पुण्याहः में *विशेषणं विशे०* (२।१।५६) से समास होगा, तथा एकाहः में *पूर्वकालैकसर्व०* (२।१।४८) से होगा॥

राजाहःसखिभ्यष्टच् ॥५।४।९१॥

राजाहःसखिभ्यः ५।३॥ टच् १।१॥ *स०*—राजा च अहश्च सखा च राजाहःसखायस्तेभ्यः...... इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—तत्पुरुषस्य, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—राजन्, अहन्, सखि इत्येवमन्तात् तत्पुरुषात् टच् प्रत्ययो भवति समासान्तः॥

---

१. कई व्याख्याता उपोत्तम (पुण्य से पूर्ववर्त्ती)से संख्यात शब्द का ग्रहण करने के लिए उत्तम शब्द का निर्देश मानते हैं यथा—संख्याताहः। हमारे विचार में लोक में उत्तमाहः' का प्रयोग होने से (द्र० हैम लिङ्गा०) उत्तम शब्द से स्वरूप और तत्पर्यायभूत पुण्य शब्द का निर्देश जानना चाहिए॥

उदा०—महान् चासौ राजा च महाराजः, मद्रराजः। परमम् अहः परमाहः, उत्तमम् अहः उत्तमाहः। राज्ञः सखा राजसखः, ब्राह्मणसखः ॥

भाषार्थः—[*राजाहःसखिभ्यः*] राजन्, अहन्, सखि ये शब्द अन्त वाले तत्पुरुष समास से समासान्त [टच्] टच् प्रत्यय होता है॥ महत् सु राजन् सु, *आन्महतः०* (६।३।४४) से महत् के न् को आत्व तथा टच् होकर मह आ राजन् टच् रहा। टि भाग का लोप (६।४।१४४) होकर महाराज् अ सु = महाराजः बना। टच् प्रत्यय होने पर महाराज शब्द अकारान्त हो गया नकारान्त नहीं रहा सो इसके रूप पुरुष शब्द के समान चलेंगे, राजन् के समान नहीं, इसी प्रकार सर्वत्र टच् करने से यही लाभ हुआ ऐसा समझें॥ राजसखः में षष्ठीतत्पुरुष समास है। पूर्ववत् समासादि होकर 'राजसखि टच् सु' रहा, यस्येति लोप होकर राजसख् अ सु = राजसखः बना॥

यहाँ से 'टच्' की अनुवृत्ति ५।४।११२ तक जायेगी॥

गोरतद्धितलुकि ॥५।४।९२॥

गोः ५।१॥ अतद्धितलुकि ७।१॥ *स०*—तद्धितस्य लुक् तद्धितलुक्, षष्ठीतत्पुरुषः। न तद्धितलुक् अतद्धितलुक् तस्मिन् ....नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—टच्, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—गोशब्दान्तात् तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवति समासान्तः, स चेत् तत्पुरुषस्तद्धितलुकि न भवति॥ *उदाः*—परमश्चासौ गौश्च परमगवः, उत्तमगवः, पञ्चगवम्, दशगवम्॥

भाषार्थः—[*गोः*]गो शब्दान्त तत्पुरुष समास से समासान्त टच् प्रत्यय होता है, यदि वह तत्पुरुष [*अतद्धितलुकि*] तद्धित लुक् विषयक न हो अर्थात् तद्धित प्रत्यय का लुक् न हुआ हो तो॥

परम सु गो सु यहाँ *तद्धितार्थो०* (२।१।५०) से समास तथा टच् होकर परमगो टच्, *एचोयवायावः* (६।१।७५) लगकर परमगवः (उत्तम गाय) बना॥

अग्राख्यायामुरसः ॥५।४।९३॥

अग्राख्यायाम् ७।१॥ उरसः ५।१॥ *स०*—अग्रस्य प्रधानस्य आख्या अग्राख्या तस्यां······षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—टच्, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—उरःशब्दान्तात् तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवति समासान्तः स चेदुरोऽग्राख्यायां भवति ॥ *उदा०*—अश्वानाम् उरः अश्वोरसम्, हस्त्युरसम् ॥

भाषार्थः—[*अग्राख्यायाम्*] अग्र = प्रधान की आख्या में वर्त्तमान [*उरसः*] उरस् शब्दान्त तत्पुरुष से समासान्त टच् प्रत्यय होता है ॥ शरीर के अवयवों में उर (छाती) एक प्रधान अङ्ग है उसी प्रकार अन्य जो सजातीयों में प्रधान हो वह भी उरः कहाता है। *उदा०*—अश्वोरसम् (अश्वों में प्रधान श्रेष्ठ[1]) हस्त्युरसम् (हाथियों में प्रधान श्रेष्ठ) ॥

अनोश्मायःसरसां जातिसंज्ञयोः ॥५।४।९४॥

अनो······साम् ६।३॥ जातिसंज्ञयोः ७।२॥ *स०*—उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—टच्, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अनस्, अश्मन्, अयस्, सरस् इत्येवमन्तात् तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवति समासान्तः जातौ संज्ञायां च विषये ॥ *उदा०*—जातौ—उपगतं अनः, उपानसम्, अमृतः अश्म अमृताश्म, कालायसम् मण्डूकस्य रसं मण्डूकरसम्। संज्ञायाम्—महत् अनः महानसम्, पिण्डम् अश्म पिण्डाश्म, लोहितायसम जलस्य सरः जलसरसम् ॥

भाषार्थः—[*अनो······साम्*] अनस्, अश्मन्, अयस्, सरस् ये शब्द अन्त में हों जिस तत्पुरुष समास के, तदन्त से [*जातिसंज्ञयोः*] जाति तथा संज्ञा विषय में समासान्त, टच् प्रत्यय होता है ॥

उपानसम् में *कुगतिप्रादयः* (२।२।१८) से समास हुआ है। उप-अनस् टच् सु = उपानसम् (जाति विशेष)। महानसम् (पाकशाला) में

---

१. रावणार्जुनोय काव्य मे इस सूत्र के प्रसङ्ग में 'अश्वोरसम्, हस्त्युरसम् पद सैन्य के विशेषणभूत है वह विचारणीय है ॥

भी *सन्महत्परमो०* (२।१।६०)से समास होगा। अमृताश्म (जाति विशेष) एवं पिण्डाश्म (संज्ञा विशेष) में भी *विशेषणं०*(२।१।५६) से समास हुआ है ॥ कालायसम् (लोह जाति) लोहितायसम् (ताम्र की संज्ञा) में कुछ विशेष नहीं है। मण्डूकसरसम् (अधिक मेढकों वाला तालाब) जलसरसम् (प्रभूत जल वाला तालाव) यहाँ षष्ठी तत्पुरुष समास है ॥

ग्रामकौटाभ्यां च तक्ष्णः ॥५।४।९५॥

ग्रामकौटाभ्याम् ५।२॥ च अ० ॥ तक्ष्णः ५।१॥ *स०*—ग्राम० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—टच्, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—ग्राम, कौट इत्येताभ्यां परो यस्तक्षन्शब्दस्तदन्तात् तत्पुरुषात् टच् प्रत्ययो भवति समासान्तः ॥ *उदा०*—ग्रामस्य तक्षा ग्रामतक्षः। कुट्यां कूटे पर्वते वा भवः कौटः, कौटस्य तक्षा कौटतक्षः ॥

भाषार्थः—[*ग्रामकौटाभ्याम्*] ग्राम तथा कौट शब्दों से उत्तर जो [*तक्ष्णः*] तक्षन् शब्द तदन्त तत्पुरुष से [च] भी समासान्त टच् प्रत्यय होता है ॥ पूर्ववत् टि भाग (६।४।१४४) का लोप होकर ग्रामतक्षः आदि बनेंगे ॥ *उदा०*—ग्रामतक्षः (गांव का बढ़ई) कौटतक्षः (स्वतन्त्र बढ़ई अथवा पहाड़ का बढ़ई) ॥

अतेः शुनः ॥५।४।९६॥

अतेः ५।१॥ शुनः ५।१॥ *अनु०*—टच्, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अतिशब्दात् परो यः श्वन्शब्दस्तदन्तात् तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवति समासान्तः ॥ *उदा०*—अतिक्रान्तः श्वानम् अतिश्वो वराहः, अतिश्वः सेवकः ॥

भाषार्थः—[*अतेः*] अति शब्द से उत्तर जो [*शुनः*] श्वन् शब्द तदन्त तत्पुरुष से समासान्त टच् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—अतिश्वो वराहः (तेज भागने वाला सुवर) अतिश्वः सेवकः (अच्छा स्वामिभक्त नौकर) ॥

यहाँ से '*शुनः*' की अनुवृत्ति ५।४।९७ तक जायेगी ॥

उपमानादप्राणिषु ॥५।४।९७॥

उपमानात् ५।१॥ अप्राणिषु ७।३॥ *स०*—अप्रा० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—शुनः, टच्, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—उपमानवाची यः श्वन् शब्दोऽप्राणिषु वर्त्तते तदन्तात् तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवति समासान्तः॥ *उदा०*—आकर्षः श्वा इव आकर्षश्वः, फलकश्वः॥

भाषार्थः—[*उपमानात्*] उपमानवाची जो श्वन् शब्द [*अप्राणिषु*] प्राणिविशेष का वाचक न हो तो (अर्थात् कुत्ते का वाचक न हो तो) तदन्त तत्पुरुष से समासान्त टच् प्रत्यय होता है॥ उदाहरण में *उपमितं व्याघ्रा०* (२।१।५५) से समास होगा॥ *उदा०*—आकर्षः श्वा इव (खलिहान गत काष्ठ के समान) फलकश्वः (ढाल के समान)॥

यहाँ से '*उपमानात्*' की अनुवृत्ति ५।४।९८ तक जायेगी॥

उत्तरमृगपूर्वाच्च सक्थ्नः ॥५।४।९८॥

उत्तरमृगपूर्वात् ५।१॥ च अ०॥ सक्थ्नः ५।१॥ *स०*—उत्तर० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः॥ *अनु०*—उपमानात्, टच्, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—उत्तर, मृग, पूर्व इत्येतेभ्यः उपमानाच्च परो यः सक्थिशब्दस्तदन्तात् तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवति समासान्तः॥ *उदा०*—उत्तरं सक्थ्नः उत्तरसक्थम्, मृगस्य सक्थि मृगसक्थम्, पूर्वं सक्थ्नः पूर्वसक्थम्॥ उपमानात्—फलकमिव सक्थि = फलकसक्थम्॥

भाषार्थः—[*उत्तरमृगपूर्वात्*] उत्तर, मृग, पूर्व तथा उपमानवाची शब्दों से उत्तर [*च*] भी जो [*सक्थ्नः*] सक्थि शब्द तदन्त तत्पुरुष से समासान्त टच् प्रत्यय होता है॥ उत्तरसक्थम् (उरुका उत्तर भाग) पूर्वसक्थम् (उरुका पूर्व भाग) में पूर्वापर० (२।१।५७) से समास होगा। 'उत्तरसक्थि टच् सु' यहाँ यस्येति लोप होकर उत्तरसक्थम् बना। *उपमानानि०* (२।१।५४) से समास होकर फलकसक्थम् (फलक के समान चौड़ी उरु) में समास हुआ है॥

नावो द्विगोः ॥५।४।९९॥

नावः ५।१॥ द्विगोः ५।१॥ *अनु०*—टच्, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—नौशब्दान्तात् द्विगुसंज्ञकात् तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवति समासान्तः ॥ द्वे नावौ समाहृते द्विनावम्, त्रिनावम्, द्विनावधनः, पञ्च नावः प्रिया यस्य पञ्चनावप्रियः ॥

भाषार्थः—[*नावः*] नौ शब्द अन्त वाले [*द्विगोः*] द्विगु संज्ञक तत्पुरुष समास से समासान्त टच् प्रत्यय होता है ॥ द्विनावधनः की सिद्धि भाग १ पृ० ८४२ परि० २।१।५० के पञ्चगवधनः के समान जानें ॥ द्विनावम् में कोई विशेष नहीं है ॥

यहाँ से '*नावः*' की अनुवृत्ति ५।४।१०० तक तथा '*द्विगोः*' की ५।४।१०१ तक जायेगी ॥

अर्द्धाच्च ॥५।४।१००॥

अर्द्धात् ५।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—नावो द्विगोः, टच्, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अर्द्धशब्दात् परो यो नौशब्दस्तदन्तात् तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवति समासान्तः ॥ *उदा०*—अर्द्धं नावः = अर्द्धनावम् ॥

भाषार्थः—[*अर्द्धात्*] अर्द्ध शब्द से उत्तर [च] भी जो नौ शब्द तदन्त तत्पुरुष से टच् प्रत्यय समासान्त हो जाता है ॥ *अर्द्धं नपुंसकम्* (२।२।२) से अर्द्धनावम् (नौका का आधा) में समास हुआ है ॥

यहाँ से '*अर्द्धात्*' की अनुवृत्ति ५।४।१०१ तक जायेगी ॥

खार्याः प्राचाम् ॥५।४।१०१॥

खार्याः ५।१॥ प्राचाम् ६।३॥ *अनु०*—द्विगोः, अर्द्धात्, टच्, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—खारीशब्दान्तात् द्विगुसंज्ञकात् तत्पुरुषादर्द्धशब्दाच्च परो यः खारीशब्दस्तदन्ताच्च टच् प्रत्ययो भवति समासान्तः प्राचामाचार्याणां

मतेन ॥ उदा०—द्वे खार्यौ समाहृते द्विखारम्, द्विखारि। त्रिखारम्, त्रिखारि। अर्द्धं खार्याः = अर्द्धखारम्, अर्द्धखारि ॥

भाषार्थः—[*खार्याः*] खारी शब्दान्त द्विगुसंज्ञक तत्पुरुष से तथा अर्द्ध शब्द से उत्तर जो खारी शब्द तदन्त से टच् प्रत्यय समासान्त होता है, [*प्राचाम्*] प्राचीन आचार्यों के मत में ॥

प्राचीन आचार्यों के मत में टच् होगा तो द्विखारम् आदि तथा पाणिनि मुनि के मत में नहीं होगा तो द्विखारि आदि प्रयोग बनेंगे, इस प्रकार दो पक्ष बनेंगे॥ 'द्विखारि टच् सु' यस्येति लोप होकर द्विखारम् बना॥ उदा०—द्विखारम् (दो खारी) द्विखारि, अर्द्धखारम् (आधी खारी) अर्द्धखारि ॥

द्वित्रिभ्यामञ्जलेः ॥५।४।१०२॥

द्वित्रिभ्याम् ५।२॥ अञ्जलेः ५।१॥ स०—द्विश्च त्रिश्च द्वित्री, ताभ्याम्......इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—टच्, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वित्रिभ्यां परो योऽञ्जलिशब्दस्तदन्तात् तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवति समासान्तः ॥ *उदा०*—द्वे अञ्जली समाहृतौ द्व्यञ्जलम्, त्र्यञ्जलम् ॥

भाषार्थः—[*द्वित्रिभ्याम्*] द्वि, त्रि से उत्तर जो [*अञ्जलेः*] अञ्जलि शब्द तदन्त तत्पुरुष से समासान्त टच् प्रत्यय होता है ॥ *तद्धितार्थोत्त०* (२।१।५०) से पूर्ववत् समासादि कार्य जानें ॥ उदा०—द्व्यञ्जलम् (दो अञ्जलियाँ) त्र्यञ्जलम् ॥

अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि ॥५।४।१०३॥

अनसन्तात् ५।१॥ नपुंसकात् ५।१॥ छन्दसि ७।१॥ स०—अन् च अश्च अनसौ, इत्येतौ अन्ते यस्य स अनसन्तस्तस्मात्......द्वन्द्वगर्भ-बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—टच्, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्या-प्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अनन्तादसन्ताच्च नपुंसक-लिङ्गात् तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवति समासान्तश्छन्दसि विषये ॥ *उदा०*—अनन्तात्—हस्तिचर्मे जुहोति ऋषभचर्मे जुहोति। असन्तात्—देवच्छन्दसानि, मनुष्यच्छन्दसानि ॥

भाषार्थः—[*नपुंसकात्*] नपुंसकलिङ्ग में वर्त्तमान [*अनसन्तात्*] अनन्त तथा असन्त जो तत्पुरुष उससे समासान्त टच् प्रत्यय होता है [*छन्दसि*] वेद विषय में ॥

हस्तिनः चर्म = हस्तिचर्म, तस्मिन् 'हस्तिचर्मे जुहोति' यहाँ पूर्ववत् चर्मन् के टि भाग का लोप जानें, टच् होने पर अकारान्त शब्द हो जाने से धनम् के समान रूप चलेंगे, ऊपर के सभी उदाहरणों में ऐसा जानें ॥

ब्रह्मणो जानपदाख्यायाम् ॥५।४।१०४॥

ब्रह्मणः ५।१॥ जानपदाख्यायाम् ७।१॥ *स०*—जानपदस्याख्या जानपदाख्या, तस्यां······षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—टच्, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—ब्रह्मन्शब्दान्तात् तत्पुरुषाट्टच् प्रत्ययो भवति समासान्तो, जानपदाख्यायां ॥ *उदा०*—सुराष्ट्रेषु ब्रह्मा = सुराष्ट्रब्रह्मः, अवन्तिब्रह्मः ॥

भाषार्थः—[*ब्रह्मणः*] ब्रह्मन् शब्दान्त तत्पुरुष समास से समासान्त टच् प्रत्यय होता है, [*जानपदाख्यायाम्*] यदि समास के द्वारा ब्रह्मन् शब्द जानपद = जनपद में होने वाले की आख्या वाला हो तो ॥ पूर्ववत् टि लोप उदाहरणों में होगा ॥ *उदा०*—सुराष्ट्रब्रह्मः (सुराष्ट्र जनपद में होने वाला जो ब्रह्मा) अवन्तिब्रह्मः (अवन्ती जनपद में होने वाला ब्रह्मा) ॥

यहाँ से '*ब्रह्मणः*' की अनुवृत्ति ५।४।१०५ तक जायेगी ॥

कुमहद्भ्यामन्यतरस्याम् ॥५।४।१०५॥

कुमहद्भ्याम् ५।२॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *स०*—कुश्च महत् च, कुमहान्तौ ताभ्याम्······इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—ब्रह्मणः, टच्, तत्पुरुषस्य, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—कु, महत् इत्येताभ्यां परो यो ब्रह्मन् शब्दस्तदन्तात् तत्पुरुषाद् विकल्पेन टच् प्रत्ययो भवति समासान्तः ॥ *उदा०*—कुत्सितो ब्रह्मा कुब्रह्मः, पक्षे कुब्रह्मा । महाब्रह्मः, महाब्रह्मा ॥

भाषार्थः—[*कुमहद्भ्याम्*] कु तथा महत् शब्द से परे जो ब्रह्मन् शब्द, तदन्त तत्पुरुष से [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से समासान्त टच

प्रत्यय होता है ॥ कुब्रह्मः में *कुगतिप्रादयः* (२।२।१८) तथा महाब्रह्मः में *विशेषण वि०* (२।१।५६) से समास हुआ है। जब टच् नहीं होगा तो कुब्रह्मा, महाब्रह्मा रूप बनेंगे सो नकारान्त के समान रूप चलेंगे, तथा टच् पक्ष में पूर्ववत् अकारान्त के समान ही रूप जाने ॥

द्वन्द्वाच्चुदषहान्तात् समाहारे ॥५।४।१०६॥

द्वन्द्वात् ५।१॥ चुदषहान्तात् ५।१॥ समाहारे ७।१॥ *स०* – चुश्च दश्च षश्च हश्च, चुदषहम्, चुदषहम् अन्ते यस्य तत् चुदषहान्तम् तस्मात् द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—टच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—चवर्गान्तात्, दकारान्तात्, षकारान्तात् हकारान्ताच्च समाहारे वर्त्तमानात् द्वन्द्वाट्टच् प्रत्ययो भवति समासान्तः ॥ *उदा०*—चवर्गान्तात्—वाक् च त्वक् च वाक्त्वचम्, स्रक् च त्वक् च स्रक्त्वचम्। श्रीस्रजम्, इडूर्जम्, वागूर्जम्। दकारान्तात्—समिद्दृषदम्, संपद्विपदम्। षकारान्तात्—वाग्विप्रुषम्। हकारान्तात्—छत्रोपानहम्, धेनुगोदुहम् ॥

भाषार्थः—[*चुदषहान्तात्*] चवर्गान्त, दकारान्त, षकारान्त हकारान्त जो [*समाहारे द्वन्द्वात्*] समाहार द्वन्द्व में वर्त्तमान शब्द तदन्त से समासान्त टच् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—वाक्त्वचम् (वाणी और त्वचा) श्रीस्रजम् (श्री और माला) इडूर्जम् (वाणी और ऊर्ज) वागूर्जम् (वाणी और ऊर्ज) समिद्दृषदम् (समिधा और पत्थर) वाग्विप्रुषम् (वाणी और वेद) छत्रोपानहम् (छत्र और जूते) ॥

अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः ॥५।४।१०७॥

अव्ययीभावे ७।१॥ शरत्प्रभृतिभ्यः ५।३॥ *स०*—शरत् प्रभृतिर्येषां ते शरत्प्रभृतयस्तेभ्यः''' बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—टच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—शरत्प्रभृतिभ्यः प्रातिपदिकेभ्योऽव्ययीभावे समासे टच् प्रत्ययो भवति समासान्तः ॥ *उदा०*—शरदः समीपम् उपशरदम्। शरदं प्रति प्रतिशरदम्। उपविपाशम्। प्रतिविपाशम् ॥

भाषार्थः—[*अव्ययीभावे*] अव्ययीभाव समास में [*शरत्प्रभृतिभ्यः*] शरदादि प्रातिपदिकों से समासान्त टच् प्रत्यय होता है ॥ उपशरदम् (शरद् ऋतु के समीप) उपविपाशम् (विपाश नदी के समीप) में *अव्ययं वि०* (२।१।६) से समीपार्थ में समास, तथा प्रतिशरदम् (शरद् को अभिमुख करके) प्रतिविपाशम् में *लक्षणेनाभि०* (२।१।१३) से समास हुआ है ॥

यहाँ से '*अव्ययीभावे*' की अनुवृत्ति ५।४।११२ तक जायेगी ॥

अनश्च ॥५।४।१०८॥

अनः ५।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—अव्ययीभावे, टच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अनन्ताद-व्ययीभावाट्टच् प्रत्ययो भवति समासान्तः ॥ *उदा०*—राज्ञः समीपम् उपराजम् अध्यात्मम् प्रत्यात्मम् ॥

भाषार्थः—अव्ययीभाव समास में [*अनः*] अनन्त प्रातिपदिक उससे [*च*] भी समासान्त टच् प्रत्यय होता है ॥ *नस्तद्धिते* से पूर्ववत् टि भाग का लोप होकर उपराजम् आदि प्रयोग बनेंगे ॥

यहाँ से '*अनः*' की अनुवृत्ति ५।४।१०९ तक जायेगी ॥

नपुंसकादन्यतरस्याम् ॥५।४।१०९॥

नपुंसकात् ५।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—अनः, अव्ययीभावे, टच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अन्नन्तं यन्नपुंसकं तदन्तादव्ययीभावाद् विकल्पेन टच् प्रत्ययो भवति समासान्तः ॥ *उदा०*—प्रतिचर्मम्, प्रतिचर्म। उपचर्मम्, उपचर्म ॥

भाषार्थः—[*नपुंसकात्*] नपुंसक लिङ्ग में वर्त्तमान जो अनन्त अव्ययीभाव, तदन्त से समासान्त टच् प्रत्यय [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से होता है ॥ टच् पक्ष में टि भाग (६।४।१४४) का पूर्ववत् लोप होकर अकारान्त धन शब्द के समान रूप चलेंगे। जब टच् नहीं होगा, तो नकारान्त नामन् आदि के समान रूप जानें ॥

यहाँ से '*अन्यतरस्याम्*' की अनुवृत्ति ५।४।११२ तक जायेगी ॥

नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः ॥५।४।११०॥

नदीपौ……भ्यः ५।३॥ स०—नदी० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अन्यतरस्याम्, अव्ययीभावे, टच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—नदी पौर्णमासी आग्रहायणी इत्येवमन्तादव्ययीभावादन्यतरस्यां टच् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—नद्याः समीपम् उपनदम् उपनदि, उपपौर्णमासम् उपपौर्णमासि, उपाग्रहायणम्, उपाग्रहायणि ॥

भाषार्थः—[*नदी…… णीभ्यः*] नदी, पौर्णमासी, आग्रहायणी ये शब्द अन्त में हों जिस अव्ययीभाव समास में तदन्त से विकल्प करके समासान्त टच् प्रत्यय होता है ॥ जब टच् नहीं होगा तो नदी आदि के ईकार को *गोस्त्रियोरुप०* (१।२।४८) से ह्रस्व हो जायेगा, टच् पक्ष में तो *यस्येति* च से लोप ही हो जायेगा ॥

झयः ॥५।४।१११॥

झयः ५।१॥ *अनु०*—अन्यतरस्याम्, अव्ययीभावे, टच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ झय इति प्रत्याहारग्रहणम् ॥ *अर्थः*—झयन्तादव्ययीभावाद् विकल्पेन टच् प्रत्ययो भवति समासान्तः ॥ *उदा०*—उपसमिधम्, उपसमित् । उपदृषदम् उपदृषत् ॥

भाषार्थः—[*झयः*] झयन्त अव्ययीभाव समास से विकल्प से समासान्त टच् प्रत्यय होता है ॥ झय् से यहाँ प्रत्याहार का ग्रहण है ॥ उपसमिध् टच् सु = उपसमिध् अ अम् = उपसमिधम् ॥ जब टच् नहीं हुआ तो ध् को जश्त्व (८।२।३९) चर्त्व (८।४।५५) होकर उपसमित् बना है ॥

गिरेश्च सेनकस्य ॥५।४।११२॥

गिरेः ५।१॥ च अ० ॥ सेनकस्य ६।१॥ *अनु०*—अन्यतरस्याम्, अव्ययीभावे, टच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—गिरिशब्दान्तादव्ययीभावाट्टच् प्रत्ययो

विकल्पेन भवति समासान्तः सेनकस्याचार्यस्य मतेन ॥ *उदा०*—अन्तगिरम् अन्तर्गिरि, उपगिरम् उपगिरि ॥

भाषार्थः—[*गिरेः*] गिरि शब्दान्त अव्ययीभाव समास से [च] भी समासान्त टच् प्रत्यय विकल्प से होता है [*सेनकस्य*] सेनक आचार्य के मत में ॥

बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच् ॥५।४।११३॥

बहुव्रीहौ ७।१॥ सक्थ्यक्ष्णोः ६।२॥ स्वाङ्गात् ५।१॥ षच् १।१॥ *स०*—सक्थ्य० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—स्वाङ्गवाची यः सक्थि-शब्दोऽक्षिशब्दश्च तदन्तात् षच् प्रत्ययो भवति समासान्तो बहुव्रीहौ समासे ॥ *उदा०*—दीर्घं सक्थि यस्य स दीर्घसक्थः, विशाले अक्षिणी यस्य स विशालाक्षः, कल्याणाक्षः, लोहिताक्षः ॥

भाषार्थः—[*स्वाङ्गात्*] स्वाङ्गवाची जो [*सक्थ्यक्ष्णोः*] सक्थि तथा अक्षि शब्द तदन्त से समासान्त [षच्] षच् प्रत्यय होता है, [*बहुव्रीहौ*] बहुव्रीहि समास में ॥ *अनेकमन्य०* (२।२।२४) से सर्वत्र समास होगा। शेष यस्येति लोप आदि पूर्ववत् होंगे।

यहाँ से '*बहुव्रीहौ*' की अनुवृत्ति ५।४।१६० तक तथा '*षच्*' की ५।४।११४ तक जायेगी ॥

अङ्गुलेर्दारुणि ॥५।४।११४॥

अङ्गुलेः ५।१॥ दारुणि ७।१॥ *अनु०*—बहुव्रीहौ, षच्, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अङ्गुलिशब्दान्तात् बहुव्रीहेः षच् प्रत्ययो भवति समासान्तो दारुणि वाच्ये ॥ *उदा०*—द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य = द्व्यङ्गुलं दारु, त्र्यङ्गुलम् दारु, पञ्चाङ्गुलम् ॥

भाषार्थः—[*अङ्गुलेः*] अङ्गुलि शब्दान्त बहुव्रीहि समास से षच् प्रत्यय समासान्त हो जाता है [*दारुणि*] दारु = लकड़ी वाच्य हो तो ॥ *उदा०*—द्व्यङ्गुलं दारु (दो अङ्गुल की लकड़ी) ॥

द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः ॥५।४।११५॥

द्वित्रिभ्याम् ५।२॥ ष लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ मूर्ध्नः ५।१॥ *स०*—द्वित्रि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् , प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्वित्रिभ्यां परो यो मूर्धन् शब्दस्तदन्तात् बहुव्रीहेः षः प्रत्ययो भवति समासान्तः ॥ *उदा०*—द्वौ मूर्धानौ यस्य स द्विमूर्धः, त्रिमूर्धः ॥

भाषार्थः—[*द्वित्रिभ्याम्*] द्वि त्रि से उत्तर जो [*मूर्ध्नः*] मूर्धन् शब्द तदन्त बहुव्रीहि से समासान्त [*ष*] ष प्रत्यय होता है ॥ पूर्ववत् टि भाग का लोप होकर द्विमूर्धः (दो सिर वाला) त्रिमूर्धः बनेंगे ॥

अप्पूरणीप्रमाण्योः ॥५।४।११६॥

अप् १।१॥ पूरणीप्रमाण्योः ६।२॥ *स०*—पूरणी० इत्येत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात् , प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—पूरणीत्यनेन पूरणप्रत्ययान्ताः स्त्रीलिङ्गाः शब्दाः गृह्यन्ते । पूरण्यन्तात् प्रमाण्यन्ताच्च बहुव्रीहेः समासान्तोऽप् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—कल्याणी पञ्चमी आसां रात्रीणां ताः कल्याणीपञ्चमा रात्रयः, कल्याणीदशमा रात्रयः । प्रमाणी—स्त्री प्रमाणी एषां, ताः स्त्रीप्रमाणाः कुटुम्बिनः ॥

भाषार्थः—पूरणी से यहाँ पूरण प्रत्ययान्त (डट् , मट् आदि ५।२। ४८,४६) स्त्रीलिङ्गवाची शब्द लिये गये हैं, तथा प्रमाणी से स्वरूप का ही ग्रहण है ॥ [*पूरणीप्रमाण्योः*] पूरणी अन्त वाले अर्थात् पूरण प्रत्ययान्त जो स्त्रीलिङ्ग शब्द तथा प्रमाणी अन्त वाले, बहुव्रीहि समास से समासान्त [*अप्*] अप् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—कल्याणीपञ्चमा रात्रयः स्त्रीप्रमाणाः कुटुम्बिनः (ऐसे परिवार जिनमें स्त्री भार्या की प्रधानता हो) ॥

यहाँ से '*अप्*' की अनुवृत्ति ५।४।११७ तक जायेगी ॥

अन्तर्बहिर्भ्यां च लोम्नः ॥५।४।११७॥

अन्तर्बहिर्भ्याम् ५।२॥ च अ० ॥ लोम्नः ५।१॥ *स०*—अन्तश्च बहिश्च, अन्तर्बहिसौ ताभ्याम्.....इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अप्, बहु-

ब्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥
अर्थः—अन्तर्, बहिस् इत्येताभ्यां परो यो लोमन् शब्दस्तदन्तात् बहुब्रीहेः समासान्तोऽप् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—अन्तर्गतानि लोमान्यस्याः अन्तर्लोमः प्रावारः, बहिर्लोमः पटः ॥

भाषार्थः—[*अन्तर्बहिर्भ्याम्*]अन्तर्, बहिस् इन शब्दों से उत्तर[च] भी जो [*लोम्नः*] लोमन् शब्द तदन्त बहुब्रीहि से समासान्त अप् प्रत्यय होता है॥ अन्तर्लोमः (जिसके लोम अन्तर को हैं अर्थात् सूक्ष्म हैं) बहिर्लोमः पटः (जिसके लोम बाहर को हैं अर्थात् बड़े हैं) में पूर्ववत् टि भाग (६।४।१४४) का लोप जाने। टि भाग का लोप हो जाने पर अकारान्त शब्द के हो जाने से पुरुष के समान सारे रूप पूर्ववत् होंगे॥

अच् नासिकायाः संज्ञायां नसं चास्थूलात् ॥५।४।११८॥

अच् १।१॥ नासिकायाः ६।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ नसम् १।१॥ च अ० ॥ अस्थूलात् ५।१॥ *स०*—अस्थूलादित्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—बहुब्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥
अर्थः—नासिकान्तात् बहुब्रीहेः समासान्तोऽच् प्रत्ययो भवति नासिकाशब्दस्य च स्थाने नस् आदेशो भवति संज्ञायां विषये, न चेत् स्थूलशब्दात् परा नासिका भवति ॥ *उदा०*—द्रुरिव नासिकाऽस्य द्रुणसः, वद्ध्रीणसः ॥

भाषार्थः—[*नासिकायाः*] नासिका शब्दान्त बहुब्रीहि समास से समासान्त [*अच्*] अच् प्रत्यय होता है [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में, तथा नासिका शब्द के स्थान में [*नसम्*] नस् आदेश [च] भी हो जाता है, यदि [*अस्थूलात्*] स्थूल शब्द से उत्तर नासिका शब्द न हो तो॥ द्रुणसः आदि में नस् के न् को ण् *पूर्वपदात् संज्ञायामगः* (८।४।३) से हुआ है॥ *उदा०* —द्रुणसः (लम्बी नाक वाला) वद्ध्रीणसः ॥

यहाँ से '*अच्*' की अनुवृत्ति ५।४।१२१ तक तथा '*नासिकायाः नसं*' की ५।४।११९ तक जायेगी॥

उपसर्गाच्च ॥५।४।११९॥

उपसर्गात् ५।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—अच्नासिकायाः नसं चास्थूलात् बहुब्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥

अर्थः—उपसर्गात् परो यो नासिकाशब्दस्तदन्ताद् बहुव्रीहेरच् प्रत्ययो भवति, नासिकाशब्दस्य च स्थाने नस् आदेशो भवति ॥ *उदा०*—उन्नता नासिकाऽस्य उन्नसः, प्रणसः ॥

भाषार्थः—[*उपसर्गात्*] उपसर्ग से उत्तर [*च*] भी जो नासिका शब्द तदन्त बहुव्रीहि से समासान्त अच् प्रत्यय होता है, तथा नासिका को नस् आदेश भी हो जाता है ॥ *उपसर्गादनोत्परः* (८।४।२७) से प्रणसः में णत्व हुआ है ॥ *उदा०*—उन्नसः (जिसकी नासिका उन्नत है) प्रणसः (जिसकी नासिका अच्छी है) ॥

सुप्रातसुश्वसुदिवशारिकुक्षचतुरश्रैणीपदाजपद-प्रोष्ठपदाः ॥५।४।१२०॥

सुप्रा......पदाः १।३॥ *स०*—सुप्रात० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अच्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सुप्रात, सुश्व, सुदिव, शारिकुक्ष, चतुरस्र, एणीपद, अजपद, प्रोष्ठपद इत्येते बहुव्रीहिसमासाः शब्दा अच् प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते ॥ *उदा०*—शोभनं प्रातरस्य सुप्रातः, टिलोपश्च निपात्यतेऽत्र । शोभनं श्वोऽस्य सुश्वः, शोभनं दिवाऽस्य सुदिवः, शारेरिव कुक्षिरस्य शारिकुक्षः, चतस्रोऽश्रयो यस्य स चतुरश्रः, एण्या इव पादौ अस्य स एणीपदः, अजस्येव पादावस्य अजपदः, प्रोष्ठ इव पादावस्य प्रोष्ठपदः ॥

भाषार्थः—[*सुप्रा...पदाः*] सुप्रात, सुश्व, सुदिव, शारिकुक्ष, चतुरश्र, एणीपद, अजपद, प्रोष्ठपद बहुव्रीहि समास वाले ये शब्द अच् प्रत्ययान्त निपातन किये जाते हैं ॥ सुप्रातः में प्रातर् के टि भाग का लोप भी निपातन से समझना चाहिये । शेष शब्दों के विग्रह ऊपर दिखा ही दिये हैं, सबमें निपातन से अच् प्रत्यय ही जानें ॥ *उदा०*—सुप्रातः (अच्छा है प्रातः काल जिसका) सुश्वः (अच्छा है कल जिसका) सुदिवः (अच्छा है दिन जिसका) शारिकुक्षः (मैना के समान कुक्षि वाला) चतुरश्रः (चार कोने वाला) एणीपदः (हिरनी के समान जिसके पैर हैं) अजपदः (बकरी के समान जिसके पैर हैं) प्रोष्ठपदः (गौ के समान जिसके पैर हैं) ॥

नञ्दुःसुभ्यो हलिसक्थ्योरन्यतरस्याम् ॥५।४।१२१॥

नञ्दुःसुभ्यः ५।३॥ हलिसक्थ्योः ६।२॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ स०—उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अच् बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—नञ्, दुस्, सु इत्येतेभ्यः परौ यौ हलि, सक्थि इत्येतौ शब्दौ तदन्तात् बहुव्रीहेरच् प्रत्ययो विकल्पेन भवति समासान्तः ॥ *उदा०*—अविद्यमाना हलिरस्य अहलः, अहलिः । दुर्हलः दुर्हलिः । सुहलः सुहलिः । अविद्यमानं सक्थ्यस्य असक्थः असक्थिः । दुःसक्थः दुःसक्थिः । सुसक्थः सुसक्थिः ॥

भाषार्थः—[*नञ्दुःसुभ्यः*] नञ्, दुस्, सु इनसे उत्तर जो [*हलिसक्थ्योः*] हलि तथा सक्थि शब्द तदन्त बहुव्रीहि से समासान्त अच् प्रत्यय [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से होता है ॥ टच् पक्ष में पूर्ववत् यस्येति लोप होकर अहलः आदि प्रयोग बनेंगे जब टच् न होगा तो अहलिः आदि बनेंगे ॥

यहाँ से '*नञ्दुःसुभ्यः*' की अनुवृत्ति ५।४।१२२ तक जायेगी ॥

नित्यमसिच् प्रजामेधयोः ॥५।४।१२२॥

नित्यम् १।१॥ असिच् १।१॥ प्रजामेधयोः ६।२॥ *स०*—प्रजा च मेधा च प्रजामेधे, तयोः.... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—नञ्दुःसुभ्यः बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—नञ्, दुस्, सु इत्येतेभ्यः परौ यौ प्रजामेधाशब्दौ तदन्तात् बहुव्रीहेः नित्यमसिच् प्रत्ययो भवति समासान्तः ॥ *उदा०*—अविद्यमाना प्रजाऽस्य, अप्रजाः दुष्प्रजाः, सुप्रजाः । अविद्यमाना मेधाऽस्य अमेधाः, दुर्मेधाः सुमेधाः ॥

भाषार्थः—नञ्, दुस्, सु इनसे उत्तर जो [*प्रजामेधयोः*] प्रजा तथा मेधा शब्द तदन्त बहुव्रीहि से [*नित्यम्*] नित्य ही [*असिच्*] असिच् प्रत्यय समासान्त होता है ॥

नञ् प्रजा+असिच् = अप्रजा अस् यस्येति लोप होकर अप्रज् अस् सु = अप्रजस् सु यहाँ *अत्वसन्तस्य चाधातोः* (६।४।१४) से दीर्घ होकर तथा हल्ङ्यादि लोप होकर अप्रजास् = अप्रजाः बना । इसी प्रकार

सब उदाहरणों में जानें ॥ उदा०—अप्रजाः (बिना प्रजा वाला) दुष्प्रजाः (खराब प्रजा वाला) सुप्रजाः (अच्छी प्रजा वाला) अमेधाः (बिना बुद्धि वाला) दुर्मेधाः (खराब बुद्धि वाला) सुमेधाः (अच्छी बुद्धि वाला) ॥

यहाँ से '*असिच्*' की अनुवृत्ति ५।४।१२३ तक जायेगी ॥

बहुप्रजाश्छन्दसि ॥५।४।१२३॥

बहुप्रजाः १।१॥ छन्दसि ७।१॥ *अनु०*—असिच्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये बहुप्रजा इति निपात्यते असिच्प्रत्ययान्तः ॥ *उदा०*—बहुप्रजा निर्ऋतिमाविवेश (ऋ० १।१६४।३२) ॥

भाषार्थः—[*छन्दसि*] वेद विषय में [*बहुप्रजाः*] बहुप्रजास् शब्द असिच् प्रत्ययान्त बहुव्रीहि समास में निपातन किया जाता है ॥

धर्मादनिच् केवलात् ॥५।४।१२४॥

धर्मात् ५।१॥ अनिच् १।१॥ केवलात् ५।१॥ *अनु०*—बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—केवलात् पूर्वपदात् यो धर्मशब्दस्तदन्तात् बहुव्रीहेरनिच् प्रत्ययो भवति समासान्तः ॥ *उदा०*—कल्याणो धर्मोऽस्य, कल्याणधर्मा, प्रियधर्मा ॥

भाषार्थः—[*केवलात्*] केवल [*धर्मात्*] धर्म शब्द से अर्थात् केवल पूर्वपद ही जिस धर्म शब्द के पूर्व में हो और कोई पूर्वपद के अतिरिक्त पद न हो तो तदन्त बहुव्रीहि से समासान्त [*अनिच्*] अनिच् प्रत्यय होता है ॥ पूर्ववत् धर्मन् के टि भाग का लोप होकर कल्याणधर्म् अनिच् सु = कल्याणधर्मन् स् *सर्वनाम०* (६।४।८) से दीर्घ तथा हल्ङ्यादि लोप एवं *नलोपः०* (८।२।७) से नकार लोप होकर कल्याणधर्मा (कल्याण है धर्म जिसका) बना ॥

यहाँ से '*अनिच्*' की अनुवृत्ति ५।४।१२६ तक जायेगी ॥

जम्भा सुहरिततृणसोमेभ्यः ॥५।४।१२५॥

जम्भा १।१॥ सुहरि······भ्यः ५।३॥ *स०*—सुहरित० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अनिच्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः,

ङ्याप्प्रातिपदिकात् प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—बहुव्रीहौ समासे सु, हरित, तृण, सोम इत्येतेभ्य उत्तरजम्भा इति अनिच्प्रत्ययान्तं कृतसमासान्तं निपात्यते। जम्भ शब्दोऽभ्यवहार्यवाची दन्तवाची च ॥ *उदा०*—शोभनो जम्भोऽस्य, सुजम्भा देवदत्तः, हरितजम्भा, तृणजम्भा, सोमजम्भा ॥

भाषार्थः—बहुव्रीहि समास में [*सुहरिततृणसोमेभ्यः*] सु, हरित, तृण, सोम इनसे उत्तर, [*जम्भा*] जम्भा शब्द कृतसमासान्त अर्थात् जम्भशब्द से अनिच् करके निपातन किया है ॥ पूर्ववत् जम्भ से अनिच् होकर यस्येति लोप दीर्घ (६।४।८) नकार लोप होकर जम्भा बना है ॥

जम्भा शब्द खाने पीने का वाचक एवं दन्तवाचक भी है सो उदाहरणों में दोनों तरह से अर्थ लगेंगे ॥ *उदा०*—सुजम्भा (अच्छे हैं दाँत जिसके) हरितजम्भा (हरे हैं दाँत जिसके) तृणजम्भा (तृण के समान हैं दाँत जिसके) सोमजम्भा (चन्द्रमा के समान उज्वल हैं दाँत जिसके) ॥

दक्षिणेर्मा लुब्धयोगे ॥५।४।१२६॥

दक्षिणेर्मा १।१॥ लुब्धयोगे ७।१॥ *स०*—लुब्धेन योगः लुब्धयोगस्तस्मिन्‌ ''षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अनिच्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः ॥ ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—बहुव्रीहौ समासे लुब्धयोगे दक्षिणेर्मा अनिच्प्रत्ययान्तं निपात्यते ॥ दक्षिणमीर्ममस्य दक्षिणेर्मा मृगः। इर्मं व्रणमुच्यते ॥

भाषार्थः—बहुव्रीहि समास में [*लुब्धयोगे*] लुब्ध (व्याध, शिकारी) का योग = सम्बन्ध होने पर [*दक्षिणेर्मा*] दक्षिणेर्मा यह शब्द अनिच् प्रत्ययान्त निपातन किया जाता है ॥ ईर्म घाव को कहते हैं। पूर्ववत् दीर्घ, नलोप होकर सिद्धि जानें। दक्षिण भाग में जिस मृग के घाव कर दिया है व्याध ने उस मृग को दक्षिणेर्मा मृगः कहेंगे ॥

इच् कर्मव्यतिहारे ॥५।४।१२७॥

इच् १।१॥ कर्मव्यतिहारे ७।१॥ *अनु०*—बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—कर्मव्यतिहारे

यो बहुव्रीहिस्तस्मादिच् प्रत्ययो भवति ॥ *तत्र तेनेदमिति सरूपे* (२।२।२७) इत्ययं बहुव्रीहिर्गृह्यते ॥ *उदा०*—केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तं केशाकेशि, कचाकचि। मुसलैश्च मुसलैश्च प्रहृत्य इदं युद्धं प्रवृत्तं मुसलामुसलि, दण्डादण्डि ॥

भाषार्थः—[*कर्मव्यतिहारे*] कर्मव्यतिहार में जो बहुव्रीहि समास तदन्त से समासान्त [*इच्*] इच् प्रत्यय होता है ॥ *तत्र तेनेदमिति०* से जो बहुव्रीहि समास किया जाता है, वह यहाँ कर्मव्यतिहार शब्द से लिया गया है ॥ *अन्येषामपि०* (६।३।१३५) से केशाकेशि आदि के पूर्वपद को दीर्घ हुआ है ॥

यहाँ से '*इच्*' की अनुवृत्ति ५।४।१२८ तक जायेगी ॥

द्विदण्ड्यादिभ्यश्च ॥५।४।१२८॥

द्विदण्डयादिभ्यः ४।३॥ च अ० ॥ *स०*—द्विदण्डि आदिर्येषां ते द्विदण्ड्यादयस्तेभ्यः······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—इच्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—द्विदण्ड्यादयः शब्दा इच् प्रत्ययान्ता निपात्यन्ते ॥ *उदा०*—द्वाभ्यां दण्डाभ्यां प्रहरति यः स द्विदण्डि, द्विमुसलि ॥

भाषार्थः—[*द्विदण्डयादिभ्यः*] द्विदण्डि आदि शब्द [*च*] भी इच् प्रत्ययान्त गण में जैसे पठित हैं वैसे ही साधु समझने चाहिये ॥ *उदा०*—द्विदण्डि (दो डण्डों को लेकर जो मारता है) द्विमुसलि ॥

प्रसम्भ्यां जानुनोर्ज्ञुः ॥५।४।१२९॥

प्रसम्भ्याम् ५।२॥ जानुनः ६।१ ज्ञुः १।१॥ *स०*—प्रश्च सम् च प्रसमौ ताभ्यां······इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—प्र सम् इत्येताभ्यामुत्तरस्य जानु शब्दस्य ज्ञुरादेशो भवति समासान्तः बहुव्रीहौ समासे ॥ *उदा०*—प्रकृष्टे जानुनी अस्य प्रज्ञुः, संहते जानुनी अस्य संज्ञुः ॥

भाषार्थः—बहुव्रीहि समास में [*प्रसम्भ्याम्*] प्र, सम् से उत्तर जो [*जानुनः*] जानु शब्द उसको समासान्त [*ज्ञुः*] ज्ञु आदेश होता है ॥

उदा०—प्रज्ञुः (अच्छी हैं जङ्घाएं जिसकी) संज्ञुः (अच्छी हैं जङ्घाएं जिसकी) ॥

यहाँ से 'जानुनोर्ज्ञुः' की अनुवृत्ति ५।४।१३० तक जायेगी ॥

उर्ध्वाद् विभाषा ॥५।४।१३०॥

ऊर्ध्वाद् ५।१॥ विभाषा १।१॥ *अनु०*—जानुनः ज्ञुः, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—ऊर्ध्वशब्दादुत्तरस्य जानुशब्दस्य विभाषा ज्ञुरादेशो भवति समासान्तो बहुव्रीहौ समासे ॥ *उदा०*—ऊर्ध्वे जानुनी अस्य ऊर्ध्वज्ञुः, ऊर्ध्वजानुः ॥

भाषार्थः—[*ऊर्ध्वात्*] ऊर्ध्व शब्द से उत्तर जो जानु शब्द, उसको [*विभाषा*] विकल्प से ज्ञु आदेश समासान्त होता है, बहुव्रीहि समास में ॥ यह आदेश विभाषा है ॥

ऊधसोऽनङ् ॥५।४।१३१॥

ऊधसः ६।१॥ अनङ् १।१॥ *अनु०*—बहुव्रीहौ, समासान्ताः, ॥ *अर्थः*—ऊधः शब्दान्तस्य बहुव्रीहेः समासान्तोऽनङादेशो भवति ॥ *उदा०*—कुण्डमिव ऊधोऽस्याः सा कुण्डोध्नी, घटोध्नी ॥

भाषार्थः—[*ऊधसः*] ऊधस् शब्दान्त बहुव्रीहि को समासान्त, [*अनङ्*] अनङ् आदेश होता है ॥ परि० ४।१।२५ में पूरी सिद्धि देखें ॥

यहाँ से '*अनङ्*' की अनुवृत्ति ५।४।१३३ तक जायेगी ॥

धनुषश्च ॥५।४।१३२॥

धनुषः ६।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—अनङ्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—धनुः शब्दान्तस्य बहुव्रीहेः समासान्तोऽनङ् आदेशो भवति ॥ *उदा०*—शार्ङ्गधनुरस्य शार्ङ्गधन्वा गाण्डीवधन्वा, पुष्पधन्वा, अधिज्यधन्वा ॥

भाषार्थ—[*धनुषः*] धनुष् शब्दान्त बहुव्रीहि को [*च*] भी अनङ् आदेश समासान्त होता है ॥ पूर्ववत् *ङिच्च* (१।१।५२) से अन्त्य अल्

प् के स्थान में अनङ् होकर शार्ङ्गधनु अनङ् = शार्ङ्गधन्वन् सु रहा दीर्घ नकारलोपादि होकर शार्ङ्गधन्वा (सींग का बना हुआ धनुष है जिसका) गाण्डीवधन्वा (गाण्डीव है धनुष जिसका) बना ॥

यहाँ से 'धनुषः' की अनुवृत्ति ५।४।१३३ तक जायेगी ॥

वा संज्ञायाम् ॥५।४।१३३॥

वा अ० ॥ संज्ञायाम् ७।१॥ *अनु०*—धनुषः, अनङ्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—संज्ञायां विषये धनुः शब्दान्तस्य बहुव्रीहेरनङ् आदेशो वा भवति समासान्तः ॥ पूर्वेण नित्यः प्राप्तो विकल्प्यते ॥ *उदा०*—शतं धनुर्यस्य शतधनुः शतधन्वा, दृढं धनुर्यस्य दृढधनुः, दृढधन्वा ॥

भाषार्थः—[*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में धनुष् शब्दान्त बहुव्रीहि को [*वा*] विकल्प से समासान्त अनङ् आदेश होता है ॥ पूर्व सूत्र से नित्य अनङ् प्राप्त था संज्ञा विषय में विकल्प कर दिया। अनङ् पक्ष में पूर्ववत् शतधन्वा (सौ हैं धनुष जिसके) दृढ़धन्वा बनेगा, जब अनङ् न हुआ, तो शतधनुः दृढधनुः बना, इसमें कुछ भी विशेष नहीं है ॥

जायाया निङ् ॥५।४।१३४॥

जायायाः ६।१॥ निङ् १।१॥ *अनु०*—बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थ*—जायाशब्दान्तस्य बहुव्रीहेर्निङ् आदेशो भवति समासान्तः ॥ *उदा०*—युवतिर्जाया यस्य स युवजानिः, वृद्धजानिः ॥

भाषार्थः—[*जायायाः*] जाया शब्दान्त बहुव्रीहि को समासान्त [*निङ्*] निङ् आदेश होता है ॥ 'युवति सु जाया सु' पूर्ववत् समास एवं निङ् अन्त्य अल् (१।१।५२) को होकर युवतिजाय् निङ् रहा। *स्त्रियाः पुंवद्भाषित०* (६।३।३२) से युवति को पुंवद्भाव होने से पुलिङ्ग के समान युवन् रूप रह गया। युवन् जाय् नि, *लोपो व्योर्वलि* (६।१।६४) से य लोप एवं नकारलोप (८।२।७) होकर युवजानि सु = युवजानिः (युवती है स्त्री जिसकी) बना ॥

गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः ॥५।४।१३५॥

गन्धस्य ६।१॥ इत् १।१॥ उत्पूति॰॰॰भ्यः ५।३॥ *स०*—उत्॰ इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—उत्, पूति, सु, सुरभि इत्येतेभ्य उत्तरस्य गन्धशब्दस्येकारादेशो भवति समासान्तः, बहुव्रीहौ समासे॥ *उदा०*—उद्गतो गन्धोऽस्य उद्गन्धिः, पूतिगन्धिः, सुगन्धिः, सुरभिगन्धिः॥

भाषार्थः—[*उत्पूतिसुसुरभिभ्यः*] उत्, पूति, सु, सुरभि इन शब्दों से उत्तर [*गन्धस्य*] गन्ध शब्द को बहुव्रीहि समास में समासान्त [*इत्*] इकारादेश होता है॥ *अलोन्त्यस्य* (१।१।५१) से ध के अ के स्थान में इ होकर उद्गन्धिः आदि रूप बनेंगे॥ *उदा०*—उद्गन्धिः (उठी हुई है गन्ध जिसकी), पूतिगन्धिः (बुरी है गन्ध जिसकी), सुगन्धिः (अच्छी गन्ध वाला), सुरभिगन्धिः (अच्छी गन्ध वाला)॥

यहाँ से '*गन्धस्य इत्*' की अनुवृत्ति ५।४।१३७ तक जायेगी॥

अल्पाख्यायाम् ॥५।४।१३६॥

अल्पाख्यायाम् ७।१॥ *स०*—अल्पस्य आख्या अल्पाख्या, तस्यां॰॰॰षष्ठीतत्पुरुषः॥ *अनु०*—गन्धस्य, इत्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—अल्पाख्यायां यो गन्धशब्दस्तस्येकारादेशो भवति समासान्तो बहुव्रीहौ समासे॥ *उदा०*—सूपोऽल्पोऽस्मिन् भोजने सूपगन्धि भोजनम्, घृतगन्धि॥

भाषार्थः—[*अल्पाख्यायाम्*] अल्प=थोड़े की आख्या होने पर, बहुव्रीहि समास में गन्ध शब्द को समासान्त इकारादेश हो जाता है॥ उदाहरण में गन्ध शब्द अल्प का पर्यायवाची है॥ सूपगन्धि (जिस भोजन में थोड़ी दाल है) आदि में स्वमोर्नपुंसकात् (७।१।२३) से सु का लुक् हुआ है॥

उपमानाच्च ॥५।४।१३७॥

उपमानात् ५।१॥ च अ०॥ *अनु०*—गन्धस्य, इत्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—

उपमानात् परो यो गन्धशब्दस्तस्येकारादेशो भवति समासान्तो बहुव्रीहौ समासे ।। *उदा०*—पद्मस्य इव गन्धोऽस्य, पद्मगन्धिः, उत्पलगन्धिः करीषगन्धिः ।।

भाषार्थः—[*उपमानात्*] उपमानवाची शब्दों से उत्तर जो गन्ध शब्द उसको [च] भी समासान्त इकारादेश हो जाता है बहुव्रीहि समास में ।।

यहाँ से '*उपमानात्*' की अनुवृत्ति ५।४।१३८ तक जायेगी ।।

पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः ।।५।४।१३८।।

पादस्य ६।१।। लोपः १।१।। अहस्त्यादिभ्यः ५।३।। *स०*—हस्ति आदिर्येषां ते हस्त्यादयः, न हस्त्यादयः अहस्त्यादयस्तेभ्यः''''''बहुव्रीहि-गर्भनञ्तत्पुरुषः ।। *अनु०*—उपमानात्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ।। *अर्थः*—उपमानवाचकात् हस्त्या-दिवर्जितात् परस्य पादशब्दस्य लोपो भवति समासांन्तो बहुव्रीहौ समासे ।। *उदा०*—व्याघ्रस्येव पादावस्य व्याघ्रपात् सिंहपात् ।।

भाषार्थः—उपमानवाचक [*अहस्त्यादिभ्यः*] अहस्त्यादियों से उत्तर, (हस्त्यादियों को छोड़कर और किसी शब्द से उत्तर) जो [*पादस्य*] पाद शब्द उसका समासान्त [*लोपः*] लोप हो जाता है ।। *अलोऽन्त्यस्य* (१।१।५१) से पाद के अन्त अकार का ही लोप होगा सो हलन्त शब्दों के समान सब रूप चलेंगे ।।

यहाँ से '*पादस्य लोपः*' की अनुवृत्ति ५।४।१४० तक जायेगी ।।

कुम्भपदीषु च ।।५।४।१३९।।

कुम्भपदीषु ७।३।। च अ० ।। पादस्य लोपः, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ।। *अर्थः*—कुम्भपद्यादिषु गणपठितेषु शब्देषु पादस्य लोपो भवति, कृतसमासान्ता एव इमे निपात्यन्ते ।। *उदा०*—कुम्भ इव पादावस्याः कुम्भपदी, शतपदी ।।

भाषार्थः—कुम्भपदी आदि शब्द कृतसमासान्त अर्थात् पाद शब्द का लोप किये हुये जैसे गण में पढ़े हैं, वैसे ही साधु समझने चाहियें

सूत्रार्थ यों होगा कि—[*कुम्भपदीषु*] कुम्भपदी आदि शब्दों में [च] भी पाद शब्द का (अन्त्य अकार का) लोप निपातन किया जाता है, अर्थात् समुदाय रूप से ये शब्द साधु समझने चाहिये ॥ *पादोऽन्यतरस्याम्* (४।१।८) से ङीप् होकर 'कुम्भपाद् ङीप् सु' रहा। *पादः पत्* (६।४।१३०) से पाद् को पद् आदेश होकर कुम्भपद् ई सु = कुम्भपदी (हाथी के सिर के समान पैर हैं जिसके) बना। इसी प्रकार सब में जानें ॥

सङ्ख्यासुपूर्वस्य ॥५।४।१४०॥

सङ्ख्यासुपूर्वस्य ६।१॥ *स०*—सङ्ख्या च सुश्च सङ्ख्यासुवौ, तौ पूर्वौ यस्य स सङ्ख्यासुपूर्वस्तस्य ..... द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—पादस्य लोपः, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सङ्ख्यापूर्वस्य सुपूर्वस्य च बहुव्रीहेः पादशब्दान्तस्य लोपो भवति समासान्तः ॥ *उदा*—द्वौ पादावस्य द्विपात् त्रिपात्। शोभनौ पादावस्य सुपात् ॥

भाषार्थः—[*सङ्ख्यासुपूर्वस्य*] सङ्ख्या पूर्व वाले तथा सु पूर्व वाले पाद शब्द का समासान्त (अन्त्य का) लोप होता है, बहुव्रीहि समास में ॥

यहाँ से '*सङ्ख्यासुपूर्वस्य*' की अनुवृत्ति ५।४।१४१ तक जायेगी ॥

वयसि दन्तस्य दतृ ॥५।४।१४१॥

वयसि ७।१॥ दन्तस्य ६।१॥ दतृ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ *अनु०*—सङ्ख्यासुपूर्वस्य, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सङ्ख्यापूर्वस्य सुपूर्वस्य च बहुव्रीहेः यो दन्तशब्दस्तस्य समासान्तो दतृ इत्ययमादेशो भवति वयसि गम्यमाने ॥ *उदा०*—द्वौ दन्तावस्य द्विदन्, त्रिदन्, चतुर्दन्। शोभना दन्ता अस्य समस्ता जाताः सुदन् कुमारः ॥

भाषार्थः—सङ्ख्या पूर्व वाले एवं सुपूर्व वाले [*दन्तस्य*] दन्त शब्द को समासान्त [*दतृ*] दतृ आदेश होता है [*वयसि*] अवस्था गम्यमान होने पर बहुव्रीहि समास में ॥ *अनेकाल्०* (१।१।५१) से सारे दन्त के स्थान में दतृ आदेश होगा ॥ दतृ में ऋकार अनुबन्ध उगित् कार्य अर्थात्

उगिदचां सर्व० (७।१।७०) से नुम् करने के लिये है। द्विदन्त् सु संयोगान्त लोप हल्ङ्याब्भ्यो दि लोप होकर द्विदन् (दो हैं दांत जिसके) बना। इसी प्रकार सब में जानें॥ यहाँ 'द्विदन्' से दो दाँत का हो गया है, ऐसी अवस्था की प्रतीति हो रही है॥

यहाँ से '*दन्तस्य दतृ*' की अनुवृत्ति ५।४।१४५ तक जायेगी॥

छन्दसि च ॥५।४।१४२॥

छन्दसि ७।१॥ च अ०॥ *अनु०*—दन्तस्य, दतृ, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—छन्दसि च विषये दन्तशब्दस्य दतृ इत्ययमादेशो भवति समासान्तो बहुव्रीहौ समासे॥ *उदा०*—पत्रदन्तमालभेत, उभयदत आलभते॥

भाषार्थः—[*छन्दसि*] वेद विषय में [*च*] भी दन्त शब्द को दतृ आदेश समासान्त बहुव्रीहि समास में हो जाता है॥

स्त्रियां संज्ञायाम् ॥५।४।१४३॥

स्त्रियाम् ७।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ *अनु०*—दन्तस्य, दतृ, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—बहुव्रीहौ समासे स्त्रियां वाच्यायां दन्तशब्दस्य स्थाने दतृ आदेशो भवति, संज्ञायां विषये॥ *उदा०*—अय इव दन्ता अस्या अयोदती, फालदती॥

भाषार्थः—बहुव्रीहि समास में अन्यपदार्थ यदि [*स्त्रियाम्*] स्त्री वाच्य हो तो दन्त शब्द के स्थान में दतृ आदेश हो जाता है [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में॥ उदाहरणों में *उगितश्च* (४।१।६) से ङीप् होगा॥ *उदा०*—अयोदती (लोहे के समान कठोर दाँत वाली) फालदती (हल के फाल के समान तीक्ष्ण दाँत वाली)॥

विभाषा श्यावारोकाभ्याम् ॥५।४।१४४॥

विभाषा १।१॥ श्यावारोकाभ्याम् ५।२॥ *स०*—श्यावा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—दन्तस्य दतृ, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थ*—श्याव अरोक इत्येताभ्यां परस्य दन्तशब्दस्य विकल्पेन 'दतृ' आदेशो भवति समासान्तो बहुव्रीहौ समासे॥

उदा०—श्यावा दन्ता यस्य स श्यावदन्, श्यावदन्तः, अरोका निर्दीप्ता दन्ता यस्य स अरोकदन्, अरोकदन्तः ॥

भाषार्थः—[*श्यावारोकाभ्याम्*] श्याव, अरोक इनसे उत्तर दन्त शब्द को [*विभाषा*] विकल्प से समासान्त दतृ आदेश होता है बहुव्रीहि समास में ॥ रोक दीप्ति को कहते हैं सो अरोक का अर्थ निर्दीप्ति होगा। उदा०—श्यावदन् (पीले दाँत वाला) श्यावदन्तः, अरोकदन् (मैले दाँत वाला) अरोकदन् ॥

यहाँ से '*विभाषा*' की अनुवृत्ति ५।४।१४५ तक जायेगी ॥

अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्च ॥५।४।१४५॥

अग्रान्त······भ्यः ५।३॥ च अ० ॥ *स०*—अग्र शब्द अन्ते यस्य स अग्रान्तः, बहुव्रीहिः। अग्रान्तश्च शुद्धश्च शुभ्रश्च वृषश्च वराहश्च, अग्रा··· राहास्तेभ्यः···इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—विभाषा, दन्तस्य दतृ, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—अग्रान्त, शुद्ध, शुभ्र, वृष, वराह इत्येतेभ्य उत्तरस्य दन्तस्य स्थाने विभाषा 'दतृ' आदेशो भवति समासान्तो बहुव्रीहौ समासे ॥ उदा०—कुड्मलस्याग्रं कुड्मलाग्रं, कुड्मलाग्राणीव दन्ता यस्य स कुड्मलाग्रदन्, कुड्मलाग्रदन्तः। शुद्धदन् शुद्धदन्तः। शुभ्रदन् शुभ्रदन्तः। वृषदन्, वृषदन्तः। वराहदन्, वराहदन्तः ॥

भाषार्थः—[*अग्रान्त···भ्यः*] अग्र शब्द अन्त में है जिसके, तथा शुद्ध शुभ्र वृष, वराह इनसे उत्तर [च] भी जो दन्त शब्द उसको विकल्प से दतृ आदेश समासान्त होता है, बहुव्रीहि समास में ॥ उदा०—कुड्मलाग्रदन् (कली के समान खिले हुये दाँत वाला) कुड्मलाग्रदन्तः, शुद्धदन् (स्वच्छ दाँत वाला) शुद्धदन्तः, वृषदन् (बैल के समान दाँत वाला) वृषदन्तः, वराहदन् (सुअर के समान दाँत वाला) वराहदन्तः ॥

ककुदस्यावस्थायां लोपः ॥५।४।१४६॥

ककुदस्य ६।१॥ अवस्थायाम् ७।१॥ लोपः १।१॥ *अनु०*—बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—ककुदशब्दान्तस्य बहुव्रीहेर्लोपो भवति अवस्थायां गम्यमानायाम् ॥

उदा०—असंजातं ककुदमस्य असञ्जातककुत् (बाल इत्यर्थः) पूर्णककुत् (मध्यवया इत्यर्थः) उन्नतककुत् (वृद्धवया इत्यर्थः) स्थूलककुत् (बलवान् इत्यर्थः) यष्टिककुत् (नातिस्थूलो नातिकृश इत्यर्थः) ॥

भाषार्थः—[*ककुदस्य*] बहुव्रीहि समास में ककुद शब्दान्त का [*लोपः*] समासान्त, लोप होता है [*अवस्थायाम्*] अवस्था गम्यमान होने पर ॥ *अलोऽन्त्यस्य* (१।१।५१) से अन्त्य अल् 'द' के अ का ही लोप होगा, सो हलन्त शब्दों के समान रूप चलेंगे ॥ बैल के कन्धे का ऊपरी भाग जो थोड़ा ऊपर उठा हुआ होता है, उसे ककुद कहते हैं। यह ककुद जितना ही उन्नत होता है उतना ही बैल की स्वस्थता का चिह्न होता है। जिसके अभी ककुद उत्पन्न नहीं हुआ अर्थात् अभी बछड़ा ही है उसे असञ्जातककुत् कहेंगे। जिसका ककुद बढ़कर पूर्ण हो चुका है, अर्थात् यौवन काल में है उसे पूर्णककुत् कहेंगे ॥ इस प्रकार इन शब्दों से अवस्था की स्पष्ट प्रतीति हा रही है ॥

यहाँ से '*लोपः*' की अनुवृत्ति ५।४।१४९ तक जायेगी ॥

त्रिककुत् पर्वते ॥५।४।१४७॥

त्रिककुत् १।१॥ पर्वते ७।१॥ *अनु०*—लोपः, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—त्रिककुदिति निपात्यते कृतान्त्यलोपः बहुव्रीहौ समासे पर्वतेऽभिधेये ॥ त्रीणि ककुदान्यस्य त्रिककुत् पर्वतः ॥

भाषार्थः—[*पर्वते*] पर्वत को कहना हो तो बहुव्रीहि समास में [*त्रिककुत्*] त्रिककुत् शब्द निपातन किया जाता है। त्रिककुत् में अन्त्य अकार का लोप ही निपातन से किया गया है ॥ तीन शृङ्गों वाला पर्वत त्रिककुत् पर्वतः कहा जायेगा ॥

उद्विभ्यां काकुदस्य ॥५।४।१४८॥

उद्विभ्याम् ५।२॥ काकुदस्य ६।१॥ *स०*—उद्वि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—लोपः, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—उत् वि इत्येताभ्यां परो यो काकुद शब्दस्तस्य

लोपो भवति समासान्तः बहुव्रीहौ समासे ॥ उदा०—उद्गतं काकुदमस्य उत्काकुत्, विकाकुत् ॥

भाषार्थः—[*उद्विभ्याम्*] उत्, तथा वि से उत्तर [*काकुदस्य*] काकुद शब्द का (अन्त्य का) समासान्त लोप होता है बहुव्रीहि समास में ॥ काकुद तालु को कहते हैं ॥ *उदा*०—उत्काकुत् (जिसका उठा हुआ तालु है) विकाकुत् (जिसका तालुस्थान ठीक नहीं है) ॥

यहाँ से '*काकुदस्य*' की अनुवृत्ति ५।४।१४६ तक जायेगी ॥

पूर्णाद्विभाषा ॥५।४।१४९॥

पूर्णात् ५।१॥ विभाषा १।१॥ *अनु*०—काकुदस्य, लोपः, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—पूर्णशब्दात् परस्य काकुदशब्दस्य विभाषा लोपो भवति समासान्तो बहुव्रीहौ समासे ॥ उदा०—पूर्णं काकुदमस्य स पूर्णकाकुत्, पूर्णकाकुदः ॥

भाषार्थः—[*पूर्णात्*] पूर्ण शब्द से उत्तर काकुद का (अन्त्य का) [*विभाषा*] विकल्प से समासान्त लोप होता है, बहुव्रीहि समास में ॥

सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामित्रयोः ॥५।४।१५०॥

सुहृद्दुर्हृदौ १।२॥ मित्रामित्रयोः ७।२॥ *स*०—उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु*०—बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—सुहृद्, दुर्हृद् इति निपात्यते यथासङ्ख्यं मित्रामित्रयोर्वाच्ययोः समासान्तः । सुहृद् इत्यत्र सुशब्दात् परस्य हृदयशब्दस्य हृद् आदेशो निपात्यते, एवं दुर्हृद् इत्यत्र दुर् शब्दात् परस्य हृदयस्य हृद्भावो निपात्यते ॥

भाषार्थः—[*सुहृद्दुर्हृदौ*] सुहृद् तथा दुर्हृद् शब्द निपातन किये जाते हैं समासान्त यथासंख्य करके [*मित्रामित्रयोः*] मित्र तथा अमित्र वाच्य हो तो ॥

सुशब्द से उत्तर हृदय को हृद् आदेश मित्र वाच्य होने पर निपातन किया तो शोभनं हृदयमस्य सुहृद् (मित्र) बना ॥ इसी प्रकार

दुर् शब्द से उत्तर हृदय को हृद् आदेश अमित्र वाच्य होने पर निपातन किया तो बना—दुष्टं हृदयमस्य दुर्हृद् (अमित्र, शत्रु) ॥

उरःप्रभृतिभ्यः कप् ॥५।४।१५१॥

उरःप्रभृतिभ्यः ५।३॥ कप् १।१॥ *स०*— उरःप्रभृतयो येषां ते उरःप्रभृतयस्तेभ्यः······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*— बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—उरःप्रभृत्यन्ताद् बहुव्रीहेः कप् प्रत्ययो भवति समासान्तः ॥ *उदा०*—व्यूढम् उरो यस्य स व्यूढोरस्कः, प्रियसर्पिष्कः, अवमुक्तोपानत्कः ॥

भाषार्थः—[*उरःप्रभृतिभ्यः*] उरस् इत्यादि (गण पठित) अन्त वाले शब्दों से बहुव्रीहि समास में [*कप्*] कप् प्रत्यय होता है ॥ *उदा०*—व्यूढोरस्कः, प्रियसर्पिष्कः (प्रिय है घी जिसको) अवमुक्तोपानत्कः (उतार दिये हैं जूते जिसने) ॥

यहाँ से '*कप्*' की अनुवृत्ति ५।४।१६० तक जायेगी ॥

इनः स्त्रियाम् ॥५।४।१५२॥

इनः ५।१॥ स्त्रियाम् ७।१॥ *अनु०*—कप्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—स्त्रियां विषय इन्नन्ताद् बहुव्रीहेः कप् प्रत्ययो भवति समासान्तः ॥ *उदा०*--बह्वो दण्डिनो यस्यां शालायां स बहुदण्डिका शाला, बहुच्छत्रिका, बहुस्वामिका नगरी ॥

भाषार्थः—[*इनः*] इन् अन्त वा बहुव्रीहि समास से कप् प्रत्यय समासान्त होता है [*स्त्रियाम्*] स्त्रीलिङ्ग विषय में ॥

अत इनिठनौ (५।२।११५) से इनि करके बहुदण्डिन् रहा, पुनः कप् तथा नकारलोप, टाप् एवं *प्रत्ययस्थात् कात्०* (७।३।४४) से इत्व करके बहुदण्डिका (बहुत से दण्डी हैं जिस शाला में) बहुच्छत्रिका आदि बनेंगे ॥

नद्यृतश्च ॥५।४।१५३॥

नद्यृतः ५।१॥ च अ० ॥ *स०*—नदी च ऋत् च नद्यृत् तस्मात्······समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—कप्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्या-

प्यातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—नद्यन्ताद् ऋकारान्ताच्च बहुव्रीहेः कप् प्रत्ययो भवति समासान्तः ॥ *उदा०*—बह्व्यः कुमार्योऽस्मिन् देशे बहुकुमारीको देशः, बहुब्रह्मबन्धूकः । ऋतः—बहवः कर्त्तारो यस्मिन् प्रासादे बहुकर्तृको प्रासादः ॥

भाषार्थः—[*नद्यृतः*]नदीसंज्ञक (१।४।३, ६) तथा ऋकारान्त बहुव्रीहि समास से [*च*] भी समासान्त कप् प्रत्यय होता है ॥ कुमारी की नदी संज्ञा १।४।३ से है ही । 'बह्वी जस्, कुमारी जस् कप्' पूर्ववत् समास इत्यादि तथा *स्त्रियाः पुंवद्०* (६।३।३२) से बह्वी को पुंवद्भाव होकर बहु ऐसा रूप रहा, तब बहुकुमारी कप् सु=बहुकुमारीकः बना ॥ इसी प्रकार औरों में भी जानें ॥

शेषाद्विभाषा ॥५।४।१५४॥

शेषात् ५।१॥ विभाषा १।१॥ *अनु०*—कप्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—यस्माद् बहुव्रीहेः समासान्तो न विहितः स शेषः, तस्मात् शेषाद् विभाषा कप् प्रत्ययो भवति ॥ *उदा०*—बह्व्यः खट्वा यस्मिन् स बहुखट्वको देशः, बहुखट्वाकः बहुखट्वः । बहुमालकः बहुमालाकः बहुमालः । बहुवीणकः बहुवीणाकः बहुवीणः ॥

भाषार्थः—[*शेषात्*]जिस बहुव्रीहि (समास वाले शब्द) से समासान्त (प्रत्यय) नहीं विधान किया है, वह शब्द यहाँ शेष शब्द से कहा गया है, उससे [*विभाषा*] विकल्प करके कप् प्रत्यय होता है ॥

आपोऽन्यतरस्याम् (७।४।१५) से कप् परे रहते आबन्त अङ्ग को विकल्प से ह्रस्व भी कहा है सो ह्रस्व पक्ष में बहुखट्वकः (बहुत खाटें हैं जिस नगरी में) जब ह्रस्व न हुआ तो, बहुखट्वाकः ये दो रूप कप् पक्ष में बनेंगे । जब प्रकृत सूत्र से कप् न हुआ तो *गोस्त्रियोरुप०* (१।२।४८) से ह्रस्व होकर बहुखट्वः बना इस प्रकार कुल तीन रूप बनें । इसी प्रकार सब में जानें ॥

न संज्ञायाम् ॥५।४।१५५॥

न अ० ॥ संज्ञायाम् ७।१॥ *अनु०*—कप्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—संज्ञायां विषये

बहुव्रीहौ समासे कप् प्रत्ययो न भवति। पूर्वेण प्राप्तः प्रतिषिध्यते ॥ उदा०—विश्वे देवा यस्य विश्वदेवः, विश्वयशाः ॥

भाषार्थः—पूर्व सूत्र से जो प्राप्ति थी, उसका यहाँ प्रतिषेध किया है॥ [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में बहुव्रीहि समास में कप् प्रत्यय [*न*] नहीं होता है ॥ विश्वदेव, विश्वयशस् इन बहुव्रीहि शब्दों से किसी समासान्त (प्रत्यय) का विधान नहीं है अतः इनसे शेष होने के कारण पूर्व सूत्र से कप् प्राप्त था निषेध कर दिया। विश्वयशाः में पूर्ववत् 'विश्वयशस् सु' यहाँ *अत्वसन्तस्य*० (६।४।१४) से दीर्घ तथा हल्ङ्यादि लोप होकर विश्वयशाः बना ॥

यहाँ से '*न*' की अनुवृत्ति ५।४।१६० तक जायेगी ॥

ईयसश्च ॥५।४।१५६॥

ईयसः ५।१॥ च अ० ॥ *अनु*०—न, कप्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च॥ *अर्थः*—ईयसन्तात् बहुव्रीहेः कप् प्रत्ययो न भवति समासान्तः ॥ *उदा*०—बह्वः श्रेयांसो यस्य स बहुश्रेयान्, बह्व्यः श्रेयस्यो यस्य स बहुश्रेयसी ॥

भाषार्थः—[*ईयसः*]ईयस् = ईयसुन् अन्तवाले बहुव्रीहि समास से[*च*] भी कप् प्रत्यय नहीं होता ॥ ऊपर के जिस किसी भी सूत्र से जो कप् प्राप्त था सब का प्रतिषेध कर दिया है। बहुश्रेयान् में शेषाद्विभाषा से कप् प्राप्त था उसका प्रतिषेध है, तथा बहुश्रेयसी में *नद्यृतश्च* से नदी लक्षण कप् प्राप्त था उसका प्रतिषेध है। *प्रशस्यस्य श्रः* (५।३।६०) से प्रशस्य को श्र आदेश तथा *द्विवचनवि*० (५।३।५७) से ईयसुन् प्रत्यय होकर श्रेयान् शब्द बना है। शेष पूर्ववत् जानें ॥

वन्दिते भ्रातुः ॥५।४।१५७॥

वन्दिते ७।१॥ भ्रातुः ५।१॥ *अनु*०—न, कप्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—वन्दितेऽर्थे यो भ्रातृशब्दो वर्त्तते तदन्तात् बहुव्रीहेः समासान्तः कप् प्रत्ययो न भवति। वन्दितः स्तुतः पूजित इत्युच्यते ॥ *उदा*०—शोभनो भ्राताऽस्य सुभ्राता ॥

भाषार्थः—[*वन्दिते*] वन्दित अर्थ में वर्त्तमान जो [*भ्रातुः*] भ्रातृ शब्द तदन्त बहुव्रीहि से समासान्त कप् प्रत्यय नहीं होता ॥ वन्दित = स्तुत = पूजित को कहते हैं ॥ *नद्यृतश्च* से ऋकारान्त मानकर कप् प्राप्त था, निषेध कर दिया है ॥ *उदा०*—सुभ्राता (जिसका प्रशंसनीय पूज्य भाई हो वह) ॥

ऋतश्छन्दसि ॥५।४।१५८॥

ऋतः ५।१॥ छन्दसि ७।१॥ *अनु०*— न, कप्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—ऋवर्णान्ताद् बहुव्रीहेः छन्दसि विषये समासान्तः कप् प्रत्ययो न भवति ॥ *उदा०*— हता माताऽस्य हतमाता, हतपिता, हतस्वसा, सुहोता ॥

भाषार्थः—[*ऋतः*] ऋवर्णान्त बहुव्रीहि से [*छन्दसि*] वेद विषय में समासान्त कप् प्रत्यय नहीं होता ॥ पूर्ववत् नद्यृतश्च से प्राप्त कप् का निषेध है ॥

नाडीतन्त्र्योः स्वाङ्गे ॥५।४।१५९॥

नाडीतन्त्र्योः ६।२॥ स्वाङ्गे ७।१॥ *स०*—नाडी० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—न, कप्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थः*—स्वाङ्गे यौ नाडी, तन्त्री इत्येतौ शब्दौ तदन्तात् बहुव्रीहेः समासान्तः कप् प्रत्ययो न भवति ॥ *उदा०*—बह्व्यो नाड्यो यस्य स बहुनाडिः कायः, बह्व्यो तन्त्र्यो यस्यां ग्रीवायां सा बहुतन्त्री ग्रीवा ॥

भाषार्थः—[*स्वाङ्गे*] स्वाङ्ग (अपना अङ्ग) में वर्त्तमान जो [*नाडी-तन्त्र्योः*] नाडी तथा तन्त्री शब्द तदन्त बहुव्रीहि से समासान्त कप् प्रत्यय नहीं होता ॥ तन्त्री शब्द यहाँ धमनी का वाचक है ॥ *नद्यृतश्च* से नदी लक्षण जो कप् प्राप्त था उसी का निषेध है ॥

बह्वी जस्, नाडी जस् यहाँ सब पूर्ववत् ही हुआ है केवल *स्त्रियाः पुंव०* (६।३।३२) से बह्वी को पुंवद्भाव होकर बहुनाडि (बहुत सी नाडियाँ है जिस शरीर में) बहुतन्त्री (बहुत सी धमनी हैं जिस ग्रीवा में) बना है, यही विशेष है ॥

निष्प्रवाणिश्च ॥५।४।१६०॥

निष्प्रवाणिः १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—न, कप्, बहुव्रीहौ, समासान्ताः, तद्धिताः, ङ्याप्प्रातिपदिकात्, प्रत्ययः, परश्च ॥ *अर्थ*—निष्प्रवाणिरिति निपात्यते । *नद्यृतश्चेत्यनेन* नदीलक्षणे कपि प्राप्ते तस्य प्रतिषेधो निपात्यते ॥ प्रोयतेऽस्यामिति प्रवाणी, निर्गता प्रवाणी अस्य निष्प्रवाणिः ॥

भाषार्थः—[*निष्प्रवाणिः*] निष्प्रवाणि इस शब्द में [च] भी *नद्यृतश्च* से नदी लक्षण कप् की जो प्राप्ति थी, उसी का यहाँ निपातन से निषेध किया जाता है ॥

प्रवाणी जुलाहे की शलाका, जिससे कपड़ा बुना जाता है कहते हैं। जिस कपड़े से प्रवाणी हटा दी गई है अर्थात्[1] जो कपड़ा बुना जा चुका है उसे निष्प्रवाणि. पटः (नवीन कपड़ा) कहेंगे ॥ *गोस्त्रियोरुपस०* (१।२।४८) से प्रवाणी को ह्रस्व हुआ है ॥

॥ इति श्रीमत्पदवाक्यप्रमाणज्ञपण्डितब्रह्मदत्तजिज्ञासु-
विरचिते अष्टाध्यायी भाष्ये (प्रथमावृत्तौ)
पञ्चमोऽध्यायःसमाप्तः ॥

---

१. प्रवाणी उस कङ्घी को कहते हैं, जिसे सूत के बीच मे लगाकर कपड़ा बुना जाता है। कपड़ा बुने जाने पर उसे अलग कर दिया जाता है ॥

परिशिष्टम्

परि० स्वौजसमौट्० (४।१।२)

कुमारी (*अविवाहित कन्या*)

कुमार — *अर्थवदधातुर०*, (१।२।४५) *वयसि प्रथमे* (४।१।२०) *प्रत्ययः परश्च* से ङीप् प्रत्यय होकर,

कुमार ङीप् = ई, *यस्येति च* (६।४।१४८)

कुमार ई — *ङ्याप्प्रातिपदिकात्*, *स्वौजसमौट्छष्टा० सुपः* (१।४।१०२) *विभक्तिश्च* (१।४।१०३) *प्रातिपदिकार्थ०* (२।३।४६) *द्व्येक-कयोर्द्विवचनै०* (१।४।२२)

कुमारी सु — *उपदेशेऽजनु०* (१।३।२) *तस्य लोपः अदर्शनं लोपः* (१।१।५९)

कुमारी स् — *अपृक्त एकाल् प्रत्ययः* (१।२।४१) *ऊकालोऽज्झस्व०* (१।२।२७) *हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सु०* (६।१।६६)

कुमारी — बना।

—:०:—

कुमार्यौ

पूर्ववत् कुमारी औ, आकर *प्रथमयोः पूर्वसवर्णः* (६।१।९८) से पूर्व-सवर्ण दीर्घ प्राप्त हुआ तो *दीर्घाज्जसि च* (६।१।१०१) से निषेध हो गया, तब *इको यणचि* (६।१।७४) से यणादेश होकर कुमार्यौ रूप बना॥ *कुमार्यः* में भी 'कुमारी जस्' आकर इसी प्रकार पूर्वसवर्ण दीर्घ निषेध (६।१।१०१) होकर कुमार्यः बना॥ 'कुमारी अम्' *अमि पूर्वः* (६।१।१०३) लगकर कुमारीम् बना। कुमारी औट् पूर्ववत् कुमार्यौ (दो कुमारियों को) बना। कुमारी शस् *प्रथमयोः पूर्व०* (६।१।९८) से पूर्वसवर्ण दीर्घ होकर कुमारीस् रुत्व विसर्ग होकर कुमारीः बन गया। कुमार्या में कुमारी टा, आकर *इकोयणचि* (६।१।७४) लगकर

कुमार्योः बना । कुमारी भ्याम् = कुमारीभ्याम्, कोई नया सूत्र नहीं लगा । कुमारी भिस् = कुमारीभिः बना ।

—:०:—

कुमार्यै (*कुमारी के लिये*)

कुमारी ङे पूर्ववत् होकर, *यू स्त्र्याख्यौ नदी* (१।४।३) से कुमारी की नदी संज्ञा होकर *आण्नद्याः* (७।३।११२) से आट् आगम, *आद्यन्तौ टकितौ* (१।१।४५)

कुमारी आ ए, *आटश्च* (६।१।८७) से वृद्धि होकर

कुमारी ऐ *इको यणचि* (६।१।७४)

कुमार्यै बना ।

कुमारीभ्याम् कुमारीभ्यः पूर्ववत् बनेंगे ।

कुमार्याःमें कुमारी ङसि, पूर्ववत् आकर, कुमार्यै के समान ही सब सूत्र लगाकर कुमारी अस् रहा, कुमारी आ अस् *आटश्च* से वृद्धि तथा यणादेश होकर, कुमार्याः बन गया ।

ङस् में भी पूर्ववत् कुमार्याः ही बना । कुमार्योः में कुमारी ओस् आकर इको यणचि से यणादेश तथा रुत्व विसर्ग होकर कुमार्योः बना कुमारीणाम् में कुमारी आम् आकर, *यू स्त्र्याख्यौ०* (१।४।३) से नदी संज्ञा होकर *ह्रस्वनद्यापो नुट्* (७।१।५४) *आद्यन्तौ टकितौ* (१।१।४५) से नुट् आगम आदि में हुआ तो कुमारी नुट् आम् = कुमारी नाम्, बना । अब *अटकुप्वाङ्०* (८।४।२) से णत्व होकर कुमारीणाम् बन गया ।

—:०:—

कुमार्याम्

कुमारी ङि, पूर्ववत् होकर, *यू स्त्र्याख्यौ०* (१।४।३) *आण्नद्याः* (७।३।११२)

कुमारी आट् ङि, *ङेराम्नद्याम्नीभ्यः* (७।३।११६)

कुमारी आ आम्, *आटश्च*, (६।१।८७) *इको यणचि* (६।१।७४) कुमार्याम् बना।

कुमारीषु में कुमारी सुप् आकर *आदेशप्रत्य०* (८।३।५९) से षत्व हो गया। 'हे कुमारि' यहाँ सम्बोधन में *सम्बोधने च* (२।३।४७) से वही प्रथमा विभक्ति होकर 'कुमारी सु' आया। *अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः* (७।३।१०७) से ह्रस्व और *एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः* (६।१।६७) से सु के स् का लोप होकर कुमारि बना। हे कुमार्यौ हे कुमार्यः प्रथमा विभक्ति के समान जानें कुछ भी विशेष नहीं।

इसी प्रकार सातों विभक्तियों में गौरी तथा शार्ङ्गरवी के रूप जानें॥

खट्वा

खट्वा सु — पूर्ववत् होकर *हल्ङ्याब्भ्यो०* (६।१।६६) से पूर्ववत् सु लोप होकर खट्वा बना।

खट्वा औ — यहाँ *औङ आपः* (७।१।१८) से औ को शी आदेश होकर, खट्वा शी = ई रहा। *आद् गुणः* (६।१।८४) से गुण होकर 'खट्वे' बन गया।

खट्वा जस् — *प्रथमयोः०* (६।१।९८) तथा रुत्व विसर्ग होकर खट्वाः बना।

खट्वा अम् — *अमि पूर्वः* (६।१।१०३) लगकर खट्वाम् बना। पूर्ववत् खट्वे खट्वाः जानें।

खट्वा टा — यहाँ *आङि चापः* (७।३।१०५) से खट्वा के आ को एत्व होकर खट्वे आ रहा, *एचोऽयवायावः* (६।१।७५) से अय् होकर खट्वया बना। खट्वाभ्याम् खट्वाभिः में कुछ विशेष नहीं है।

खट्वायै में खट्वा ङे आकर, *याडापः* (७।३।११३) से याट् आगम होकर 'खट्वा याट् ङे' रहा, *वृद्धिरेचि* (६।१।८५) लगकर खट्वायै बन गया। भ्याम् भ्यस् के रूप पूर्व जैसे हैं। खट्वा ङसि यहाँ भी पूर्ववत् याट् आगम होकर खट्वायास् = खट्वायाः बना।

ङस् में भी खटवायाः बनेगा। खट्वा ओस् यहाँ *आङि चापः* से पूर्ववत् एत्व तथा अयादेश होकर खट्वयोः बन गया। खट्वानाम् में *ह्रस्वनद्यापो०* (७।१।५४) से पूर्ववत् नुट् आगम हुआ है। खट्वा ङि यहाँ पूर्ववत् *ङेराम्नद्या०* से ङि को आम् तथा याट् आगम ७।३।११३ से होकर खट्वायाम् बन गया ॥

खट्वयोः खट्वासु पूर्ववत् जानें। सम्बोधन में खट्वा को सु परे रहते *सम्बुद्धौ च* (७।३।१०६) से एत्व तथा *एङ्ह्रस्वात्०* (६।१।६७) से सम्बुद्धिलोप होकर हे खट्वे बना। शेष हे खट्वे, हे खट्वाः प्रथमा विभक्ति के समान जानें।

इसी प्रकार बहुराजा तथा कारीषगन्ध्या के सप्त विभक्तियों में रूप जानें। दृषद् दृषदौ दृषदः आदि में कहीं कुछ भी विशेष नहीं, सब वे ही सूत्र लगकर, दृषद् औ = दृषदौ, दृषद् जस् = दृषदः आदि बनते जायेंगे दृषद् सु यहाँ *हल्ङ्याब्भ्यो०* (६।१।६६) से स् लोप हो ही जायेगा तथा *वावसाने* (८।४।५५) से द् को त् विकल्प सेहुआ है।

इसी प्रकार सरित् मरुत् वाच् आदि सैकड़ों हलन्त शब्दों की सिद्धि इन्हीं सूत्रों को लगाकर की जा सकती है। कितना सुगम उपाय है ॥

—:०:—

परि० ऋन्नेभ्यो ङीप् (४।१।५)

कर्त्री (*करने वाली*)

डुकृञ्	*भूवादयो०* (१।३।१) *धातोः*, *ण्वुल्तृचौ* (३।१।१३३) *प्रत्ययः*, *परश्च*
कृ तृच्	*आर्धधातुकं०* (३।४।११४) *सार्वधातुका०* (७।३।८४) *अदेङ् गुणः* (१।१।२)
कर्तृ	*कृत्तद्धितसमासाश्च*, (१।२।४६) *ऋन्नेभ्यो ङीप्* से ऋकारान्त होने से ङीप् होकर
कर्तृ ङीप्	अनुबन्ध लोप तथा *इको यणचि* (६।१।७४) से यणादेश
कर्त्री	*ङ्याप्प्रातिपदिकात्* *स्वौजसमौट्०* पूर्ववत् सब सूत्र लगाकर
कर्त्री सु	*हल्ङ्याब्भ्यो०* (६।१।६६)
कर्त्री	

इसी प्रकार हृञ् धातु से तृच् आकर हर्तृ, पुनः ङीप् होकर हर्त्री (हरण करने वाली) बना है ॥

दण्डोऽस्या अस्तीति=दण्डिनी (*दण्ड धारण करने वाली*)

दण्ड *अर्थवदधातु० अत इनिठनौ* (५।२।११५) *प्रत्ययः परश्च*
दण्ड इनि = दण्डिन्, *ऋन्नेभ्यो ङीप्* से नकारान्त होने से ङीप् आया
दण्डिन् ङीप् पूर्ववत् सु आकर लोप होकर
दण्डिनी बना

इसी प्रकार छत्रिणी (छत्र धारण करने वाली) समझें।

—:o:—

परि० उगितश्च (४।१।६)

भवती

भा	*भूवादयो० भातेर्डवतुप्* (उणा०१।६३) से डवतुप् प्रत्यय होकर
भा डवतुप्	अनुबन्ध लोप होकर *डित्करणसामर्थ्यादभस्यापि टेर्लोपः*
भा अवत्	(*वा०* ६।४।१४३) इस वार्त्तिक से टि भाग का लोप हुआ
भ् अवत्	क्त*द्धितसमा०* (१।२।४६) *उगितश्च* से ङीप् डवतुप् के उगित् होने से हो गया
भवत् ङीप्	ङ्याप्प्रा० पूर्ववत् सु आकर *हल्ङ्याब्भ्यो०* से लोप हो गया
भवती	

अतिभवती भी इसी प्रकार जानें ॥

पचन्ती (*पकाती हुई*))

पच् शप् शतृ = पच् अ अत् बनकर शप्श्यनोर्नित्यम् (७।१।८१) से नुम् आगम होकर पच् अ अन्त् बना। *अतो गुणे* (६.१।९४) लगकर

पचन्त् बना। शतृ के उगित् होने से प्रकृत सूत्र से ङीप् होकर पचन्ती बन गया॥ इसी प्रकार यजन्ती की सिद्धि जानें।

—:०:—

परि० पादोऽन्यत० (४।१।८)

द्विपदी (दो पदों वाली)

द्वि औ पाद सु, *अनेकमन्यपदार्थे* (२।२।२४) सुपो धातुप्रा० (२।४।७१)
द्विपाद *सङ्ख्यासुपूर्वस्य* (५।४।१४०)
द्विपाद् *ङ्याप्प्रातिपदि० पादोऽन्यतरस्याम्*
द्विपाद् ङीप् = ई, *यचि भम्* (१।४।१८) *भस्य* (६।४।१२९) *पादः पत्* (६।४।१३०)
द्विपद् ई *ङ्याप्प्राति०* पूर्ववत् सु आकर, *हल्ङ्याब्भ्यो०* से लोप होकर द्विपदी

जब ङीप् नहीं हुआ तो पूर्ववत् सब होकर, द्विपात् बना, ङीप् न आने से भ संज्ञा नहीं हुई अतः *पादः पत्* से पत् आदेश नहीं हुआ यही विशेष है। *खरि च* (८।४।५४) से द् को त् हो गया है। चतुष्पदी में पूर्ववत् ही सब हुआ है केवल चतुर् पाद इस अवस्था में रुत्व विसर्ग होकर चतुः पाद, *विसर्जनीयस्य सः* (८।३।३४) से चतुस्पाद, तथा *नित्यं समासेऽनुत्तरपद०* (८।३।४५) से षत्व होकर चतुष्पाद् पूर्ववत् सब होकर चतुष्पदी बना है॥

—:०:—

परि० न षट्स्वस्रा० (४।१।१०)

पञ्च ब्राह्मण्यः (पाँच ब्राह्मणी)

पञ्चन् *अर्थवदधातु०* (१।२।४५) *ष्णान्ता षट्* (१।१।२३) *ऋन्नेभ्यो ङीप्* से नकारान्त होने से ङीप् प्रत्यय प्राप्त था, तो *न षट्स्वस्रादिभ्यः* से निषेध हो गया तब पूर्ववत् जस् आकर
पञ्चन् जस्

षड्भ्यो लुक् (७।१।२२) *न लोपः प्राति०* (८।२।७)

पञ्च　　स्त्रीलिङ्ग की विवक्षा में अब पुनः नकार लोप हो जाने पर *अजाद्यतष्टाप्* (४।१।४) से स्त्री प्रत्यय टाप् पाया तब उसका भी पुनः *न षट्स्वस्रादिभ्यः* से ही लोप हो गया तो पञ्च ब्राह्मण्यः, ऐसा ही रहा।

इसी प्रकार सप्त आदि में समझें॥

स्वसा (बहिन)

स्वसृ　　पूर्ववत् ऋकारान्त होने से *ऋन्नेभ्यो ङीप्* से ङीप् पाया उसका प्रकृत सूत्र से निषेध हो गया। आगे पूर्ववत् सब सूत्र लगकर सु आया

स्वसृ सु　　*ऋदुशनस्०* (७।१।९४) *ङिच्च* (१।१।५२)

स्वसनङ् = स्वसन् सु, *सर्वनामस्थाने०* (६।४।८) *हल्ङ्याब्भ्यो०*, *न-लोपः* (८।२।७)

स्वसा　　बन गया।

इसी प्रकार दुहितृ से दुहिता (लड़की) ननान्दृ से ननान्दा यातृ से याता (देवरानी) में भी समझें॥

—:०:—

परि० मनः (४।१।११)

दामा

दा　　*भूवादयो० धातोः* (३।१।९१) *आतो मनिन्क्वनिब्व०* (३।२।७४)

दा मनिन् = मन्, *ऋन्नेभ्यो०* से ङीप् प्राप्त हुआ जिसका *मनः* से निषेध

दामन्　　पूर्ववत् सु आकर उपधा दीर्घत्व (६।४।८) तथा सु लोप, नकार लोप होकर

दामा　　बना

पा धातु से इसी प्रकार पामन् बनकर पामा बना। सीमन् शब्द से सीमा भी इसी प्रकार समझें॥

—:०:—

परि० टिड्ढाणञ्० (४।१।१५)

सुपर्णाया अपत्यं स्त्री = **सौपर्णेयी** (*सुपर्णा की सन्तान*)

सुपर्णा ङस् *अर्थवदधातु० तस्यापत्यम्* (४।१।९२) *स्त्रीभ्यो ढक्* (४।१।१२०)

सुपर्णा ङस् ढ, *सुपो धातुप्राति०* (२।४।७१) तथा अङ्ग संज्ञा होकर, *आयनेयीनीयियः०* (७।१।२)

सुपर्णा एय् अ *यचि भम्* (१।४।१८) *यस्येति च* (६।४।१४८) *टिड्ढाणञ्०* से ढ प्रत्ययान्त होने से सौपर्णेय से ङीप् हो गया।

सुपर्ण् एय ङीप्, *यस्येति च, तद्धितेष्व०* (७।२।११७)

सौपर्ण् एय् ङीप्, पूर्ववत् सु आकर

सौपर्णेय् ई सुँ, *हल्ङ्याब्भ्यो०* (६।१।६६)

सौपर्णेयी बना।

विनतायाः अपत्यं स्त्री वैनतेयी (विनता की लड़की) भी इसी प्रकार जानें कुम्भकार शब्द अण् प्रत्ययान्त है जिसकी सिद्धि *कर्मण्यण्* (३।२।१) में दिखा आये हैं अतः प्रकृत सूत्र से ङीप् होकर कुम्भकारी (कुम्हारिन) नगरकारी (नगर बनाने वाली) औपगवी (उपगु की लड़की) बनेगा। उत्सस्यापत्यं स्त्री उदपानस्यापत्यं स्त्री, औत्सी (उत्स की लड़की) औदपानी भी पूर्ववत् समझें। उत्स तथा उदपान शब्दों से *उत्सादिभ्योऽञ्* (४।१।८६) से अञ् प्रत्यय हुआ है अतः औत्स औदपान अञन्त शब्द हैं सो ङीप् हो गया॥

उरुः प्रमाणमस्याः, जानुः प्रमाणमस्याः ऐसा विग्रह करके उरु तथा जानु शब्द से *प्रमाणे द्वयसज्दघ्नञ्०* (५।२।३७) से द्वयसच् प्रत्यय हो गया तो उरुद्वयस् जानुद्वयस् रहा ङीप् होकर उरुद्वयसी (जङ्घा तक) जानुद्वयसी बन गया॥ इसी प्रकार *प्रमाणे द्वयसच्०* से ही दघ्नच् तथा मात्रच् प्रत्यय होकर उरुदघ्नी जानुदघ्नी उरुमात्री जानुमात्री भी बनेगा॥

पञ्च अवयवा अस्याः ऐसा विग्रह करके पञ्चन् शब्द से *संख्याया अव-यवे०* (५।२।४२) से तयप् होकर पञ्चतय बना, ङीप् करके पञ्चतयी (पाँच अवयवों वाली बना, यस्येति लोप सर्वत्र हो ही जायेगा।। अक्षैर्दीव्यति आक्षिकी, (अक्षों से जो खेलता है) शलाकाभिर्दीव्यति शालाकिकी, यहाँ अक्ष तथा शलाका शब्द से *तेन दीव्यति खनति०* (४।४।२) से ठक् प्रत्यय होकर अक्ष भिस् ठक् शलाका भिस् ठक्' इस अवस्था में *सुपो धातु०* (२।४।७१) *ठस्येकः* (७।३।५०) यस्येति लोप तथा *किति* च (७।२।११८) से वृद्धि होकर, आक्षिक् इक, शलाक् इक' बना ङीप् होकर आक्षिकी शालाकिकी बन गया ।। लावणिकी (लवण बेचने वाली) में लवणं पण्यमस्याः ऐसा विग्रह करके लवण शब्द से *लवणाट्ठञ्* (४।४।५२) से ठञ् होकर लवण सु ठञ् रहा, पूर्ववत् सब होकर ङीप् होकर लावणिकी बन गया ।। *त्यदादिषु दृशो०* (३।२।६०) से कञ् प्रत्यय होकर यादृश तादृश शब्द से ङीप् होकर यादृशी तादृशी बना है ।। इत्वरी जित्वरी आदि में *इण्नशजि०* (३।२।१६३) से करप् हुआ है सो ङीप् हो गया ।।

परि० यञश्च (४।१।१६)

गर्गस्य गोत्रापत्यं स्त्री = **गार्गी** (*गर्ग गोत्र में उत्पन्न लड़की*)

गर्ग	*गर्गादिभ्यो यञ्*, (४।१।१०५) *तस्यापत्यम्*, *अपत्यं पौत्र-प्रभृति०* (४।१।१६२)
गर्ग ङस् यञ्	*सुपो धातु०* (२।४।७१) पूर्ववत् वृद्धि यस्येति लोप होकर
गार्ग् य	*यञश्च* (४।१।१६) से स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् होकर
गार्ग्य ङीप्=ई,	*यस्येति* च (६।४।१४८) होकर
गार्ग्य् ई	*हलस्तद्धितस्य* (६।४।१५०) से यकार लोप होकर *तद्धिताः* (४।१।७६) *कृत्तद्धितस०* (२।१।४६)
गार्ग् ई	पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर सु का लोप हो गया
गार्गी	बना।

इसी प्रकार वात्सी की सिद्धि जानें ।।

—:o:—

परि० अपरिमाणबिस्ता० (४।१।२२)

पञ्चभिरश्वैः क्रीता = **पञ्चाश्वा** (*पाँच अश्वों से खरीदी हुई वस्तु*)

पञ्चन् भिस् अश्व भिस् , *तद्धितार्थोत्तरपद०* (२।१।५०) *सुपो धातुप्राति०* (२।४।७१)

पञ्चन्अश्व — *नलोपः प्राति०* (८।२।७) *कृत्तद्धितसमासाश्च* (१।२।४६) *तेन क्रीतम्* (५।१।३६) *प्रत्ययः परश्च*

पञ्चाश्व ठक् — *सङ्ख्यापूर्वो द्विगुः*(२।१।५१)*अध्यर्धपूर्वद्विगोर्लुग०*(५।१।२८)

पञ्चाश्व — अब इस पञ्चाश्व प्रातिपदिक में तद्धित का लुक् हुआ है द्विगु संज्ञक भी है, सो स्त्रीत्व विवक्षित होने पर *द्विगोः* (४।१।२१) से जो ङीप् प्राप्त था, उसका *अपरिमाणबिस्ता०* से अपरिमाणवाची मानकर निषेध हो गया तो *अजाद्यतष्टाप्* (४।१।४) से टाप् हो गया,

पञ्चाश्व टाप् सु, सु का लोप *हल्ङ्याब्भ्यो०* से हो ही जायेगा सो सवर्ण दीर्घ होकर

पञ्चाश्वा — बना।

इसी प्रकार दशाश्वा में भी समझें ॥

द्वे वर्षे भूते ऐसा विग्रह करके द्विवर्षा (जो दो वर्ष की है) त्रिवर्षा बना है। द्वि औ वर्ष औ इस अवस्था में *तमधीष्टो भृतो भूतो०* (५।१।७९) से ठक् प्रत्यय हो गया है, जिसका *चित्तवति नित्यम्* (५।१।८८) से लुक् हो गया, अब पूर्ववत् ही स्त्रीत्व विवक्षा में जो ङीप् प्राप्त था, उसका अपरिमाणवाची प्रातिपदिक मानकर निषेध हो गया तो टाप् होकर द्विवर्षा त्रिवर्षा बना गया ॥

द्वाभ्यां शताभ्यां क्रीता = **द्विशता** (*दो सौ से खरीदी हुई वस्तु*)

द्वि भ्याम् शत भ्याम् , पञ्चाश्वा के समान समासादि सब होकर

द्विशत — *शताच्चेति वक्तव्यम्* इस वार्त्तिक से यत् प्रत्यय होकर (वा० ५।१।३५)

द्विशत यत् — *अध्यर्धपूर्वद्विगो०* (५।१।२८) से पूर्ववत् लुक् होकर

द्विशत — अब पूर्ववत् *द्विगोः* से ङीप् प्राप्त उसका *अपरिमाणबिस्ता०*

से निषेध हुआ, टाप् तथा सब कुछ पूर्ववत् होकर द्विशता, त्रिशता, बना ।

इसी प्रकार द्वौ बिस्तौ पचति द्विबिस्ता यहाँ "द्वि औ बिस्ता औ" इस अवस्था में *सम्भवत्यवहरति०* (५।१।५१) से ठक् हुआ, उसका पूर्ववत् *अध्यर्ध०* (५।१।२८) से लुक् होकर शेष सब पूर्ववत् होकर द्विबिस्ता त्रिबिस्ता बना ।। द्वौ आचितौ पचति द्व्याचिता (५० मन पकाता है) में भी *द्विगोष्ठश्च* (५।१।५३) से ठन् हुआ है जिसका पूर्ववत् ही लुक् होकर तथा शेष सब कार्य भी पूर्ववत् होकर द्व्याचिता त्र्याचिता बना है ।। द्वाभ्यां कम्बल्याभ्यां क्रीता द्विकम्बल्या में पञ्चाश्वा के समान ही तेन क्रीतम् से ठक् आकर उसी के समान सब कार्य हुये ।।

—:o:—

परि० बहुव्रीहेरू० (४।१।२५)

कुण्डमिव ऊधोऽस्या = **कुण्डोध्नी** (*कुण्ड के समान जिसका आयन है*)

कुण्ड सु ऊधस् सु *अनेकमन्य०* (२।२।२४) *सुपो धातु०* (२।४।७१)

कुण्डऊधस् *आद् गुणः* (६।१।८४) *ऊधसोऽनङ्* (५।४।१३१) *ङिच्च* (१।१।५२)

कुण्डोध अनङ् = *अतो गुणे* (६।१।९४) *तद्धिताः* (४।१।७६)

कुण्डोधन् *कृत्तद्धितसमा०* (१।२।४६) अब यह अन्नन्त प्रातिपदिक है सो अनो बहुव्रीहेः से ङीप् का निषेध तथा *डाबुभाभ्या०* से पक्ष में डाप् पाया, तो उन दोनों का अपवाद *बहुव्रीहे-रूधसो ङीष्* से ङीष् हो गया ।

कुण्डोधन् ङीष् अब यहाँ *बहुव्रीहौ प्रकृत्या०* (६।२।१) से पूर्वपद को प्रकृति स्वर पाया, *सतिशिष्टस्वरो बलीयान्* यह परिभाषा लगकर फिर ङीष् का स्वर *आद्युदात्तश्च* (३।१।३) हुआ ।

कुण्डोधन् ई *यचि भम्* (१।४।१८) *भस्य* (६।४।१२९) *अल्लोपोनः* (६।४।१३४)

कुण्डोध्न् ई *अनुदात्तं पदमेकवर्जम्* (६।१।१५२)

कुण्डोध्नी सु ऐसा स्वर रहा अब पूर्ववत् सु आकर उसका लोप हो गया कुण्डो॒ध्नी बना।

इसी प्रकार घ॒टो॑ध्नी में समझें। ङीप् तथा ङीष् में यहीं भेद है कि ङीष् का स्वर *आद्युदात्तश्च* (३।१।३) से आद्युदात्त होता है, तथा ङीप् का स्वर *अनुदात्तौ सुप्पितौ* (३।१।४) से अनुदात्त होता है ॥

—:०:—

परि० सङ्ख्याव्य० (४।१।२६)

द्वे ऊधसी यस्याः सा = द्व्यू॑ध्नी (*दो ऊधस् वाली*)

द्वि औ ऊधस् औ, पूर्ववत् समासादि सब होकर,

द्वि ऊधन् *बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्व०* (६।२।१) से पूर्वपद प्रकृति स्वर पाया तो *फिषोऽन्तोदात्तः* (*फिट्* १) से जो द्वि उदात्त था वही रहा, शेष *अनुदात्तं पदमेकवर्जम्* से निघात होकर

द्वि ऊ॒ध॒न् *इको यणचि* (६।१।७४) *उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितो०* (८।२।४) से अब अनुदात्त को स्वरित हुआ

द्व्यू॑ध॒न् अब *सङ्ख्याव्ययादेर्ङीप्* से ङीप् हुआ

द्व्यू॑ध॒न् ङीप्=ई, *अनुदात्तौ सुप्पितौ* (३।१।४) *अल्लोपोनः* (६।४।१३४)

द्व्यू॑ध्न् ई॒ शेष सब पूर्ववत् होकर

द्व्यू॑ध्नी॒

इसी प्रकार त्रीणि ऊधांसि यस्याः सा त्र्यूध्नी भी बनेगा ॥ अतिगत-मूधो यस्या अत्यू॑ध्नी॒ में *निपाता आद्युदात्ताः* (*फि०* ६६) से अति का अ उदात्त है, शेष सब निघात हो ही जायेगा। *उदात्तादनुदा०* (८।४।६५) से 'ऊ' को स्वरित हो जायेगा ॥ सिद्धि पूर्ववत् है। निर्गतमूधो यस्याः निरू॑ध्नी॒ (जिसका उधस् नहीं रहा) भी इसी प्रकार जानें। यहाँ हमने ङीप्, ङीष् का भेद जनाने के लिये स्वर की सिद्धि कर दी है ङीष् उदात्त तथा ङीप् अनुदात्त रहेगा यही भेद सर्वत्र पाठक समझें ॥

—:०:—

परि० अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा (४।१।५३)

जग्धः (खाया हुआ)

अद *भूवादयो० धातोः निष्ठा*, (३।२।१०२) *प्रत्ययः, परश्च*
क्तक्तवतू० (१।१।२५)

अद् क्त *अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति* (२।४।३६)

जग्ध् त *झषस्तथोर्धोऽधः* (८।२।४०)

जग्ध् ध *झरो झरि सवर्णे* (८।४।६४) से ध् का लोप तथा पूर्ववत् रु

जग् ध् इत्यादि आकर

जग्धः बना।

अब शार्ङ्ग इव जग्धो यस्याः ऐसा विग्रह करके शार्ङ्गजग्धी बना। *अनेकमन्यपदार्थे* (२।२।२४) से समास होकर *अस्वाङ्गपूर्व०* से ङीष् हो गया, जब ङीष् नहीं हुआ तो टाप् हो गया है, शार्ङ्गजग्ध आदि शब्द *जातिकालसुखा०* (६।२।१६६) से अन्तोदात्त हैं॥

पलाण्डुः भक्षितः यया सा पलाण्डुभक्षिती (जिसके द्वारा प्याज खाई गई) यहाँ भी पूर्ववत् समासादि समझें। भक्ष धातु चुरादि गण की है सो *सत्या०*.....*चुरादिभ्यो णिच्* (३।१।२५) से णिच् होकर 'क्त' में भक्षितः रूप बना है, शेष पूर्ववत् है॥

सुरा पीता यया सा सुरापीती (जिसके द्वारा शराब पी ली गई है) यहाँ पा धातु से क्त में *घुमास्थागा०* (६।४।६६) से ईत्व होकर पीत शब्द बना, पश्चात् सुरा शब्द के साथ पूर्ववत् समासादि करके सुरापीती बन गया है॥

—:०:—

परि० वाहः (४।१।६१)

दित्यं वहतीति = दित्यौही

दित्य अम् वह, पूर्ववत् कुम्भकारः की सिद्धि के समान सब समासादि
कार्य होकर *वहश्च* (३।२।६४) से ण्वि प्रत्यय आया

दित्यवह् ण्वि = व्, अनुबन्ध लोप होकर 'व्' बचा, पुनः व् का भी
वेरपृक्तस्य (६।१।६५) से लोप होकर,

दित्यवह् *प्रत्ययलोपे प्रत्ययलक्षणम्* (१।१।६१) से प्रत्यय लक्षण कार्य मानकर, *अत उपधायाः* (७।२।११६) से वृद्धि हुई

दित्यवाह् *कृत्तद्धितसमा०* (१।२।४६) *ङ्याप्प्रातिपदिकात्*, *वाहः*

दित्यवाह् ङीष्, *यचि भम्* (१।४।१८) *भस्य* (६।४।१२९) *वाह ऊठ्* (६।४।१३२) से वकार को ऊठ् सम्प्रसारण संज्ञक होकर

दित्य ऊठ् ह् ई, *एत्येधत्यूठ्सु* (६।१।८६) से पूर्वपर को वृद्धि एकादेश होकर

दित्यौही सु पूर्ववत् सु आकर हल्ङ्याब्भ्यो० से लोप होकर

दित्यौही बना।

इसी प्रकार प्रष्ठं वहति *प्रष्ठौही* बनेगा ॥

—:०:—

परि० इतो मनुष्यजातेः (४।१।६५)

अवन्ती

अवन्ति ङस् *अर्थवदधातुर०* *ङ्याप्प्राति०* *तस्यापत्यम्* (४।१।९२) *वृद्धेत्कोसलाजादा०* (४।१।१६९)

अवन्ति ङस् ञ्यङ्, *सुपो धातुप्राति०* (२।४।७१) *ते तद्राजाः* (४।१।१७२)

अवन्ति य से ञ्यङ् की तद्राज संज्ञा हो गयी, तो *स्त्रियामवन्तिकुन्ति* (४।१।१७४) से तद्राज संज्ञक 'य' का लुक् हो गया, तब *इतो मनुष्यजातेः* से ङीष् होकर,

अवन्ति ङीष् = ई, *यस्येति च* (६।४।१४८) तथा पूर्ववत् सु आकर उसका

अवन्त् ई लोप होकर

अवन्ती बना।

इसी प्रकार कुन्ती में समझें ॥

दक्षस्यापत्यं दाक्षिः (दक्ष की सन्तान) यहाँ भी दक्ष शब्द से *अत इञ्* (४।१।९५) से इञ् तथा वृद्धि आदि होकर दाक्षि बना, अब ङीष् तथा यस्येति लोप होकर दाक्षी प्लाक्षी बन गया, शेष स्वाद्युत्पत्ति आदि पूर्ववत् ही होंगे ॥

—:०:—

परि० यङश्चाप् (४।१।७४)

आम्बष्ठ्या

आम्बष्ठ ङस्, पूर्ववत् *वृद्धेत्कोसला०* (४।१।१६६) से वृद्ध होने से ञ्यङ् प्रत्यय होकर

आम्बष्ठ ङस् ञ्यङ्, *यस्येति* च (६।४।१४८) *वृद्धिर्यस्याचामा०* (१।१।७२)

आम्बष्ठ्य　यङन्त होने से यङश्चाप् से चाप् होकर

आम्बष्ठ्य चाप् = आ, *अकः सवर्णे०* (६।१।९७) तथा सु आकर उसका पूर्ववत् लोप होकर

आम्बष्ठ्या　बना।

इसी प्रकार सौवीर से *सौवीर्या* समझें ॥

कारीषगन्ध्या

करीषस्य गन्ध इव गन्धो यस्य ऐसा विग्रह करके

करीष सु गन्ध सु गन्ध सु, यहाँ *सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य०* (*वा०* २।२।२४) से समास तथा उत्तरपद का लोप हो गया *सुपो धातु०* (२।४।७१) से विभक्ति लोप होकर

करीषगन्ध　*उपमानाच्च* (५।४।१३७) से इत् होकर

करीषगन्धि　बना, अब करीषगन्धेरपत्यं ऐसा विग्रह करके *तस्यापत्यम्* (४।१।९२) से अण् होकर

करीषगन्धि ङस् अण्, *सुपो धातु०* (२।४।७१) *यस्येति* च (६।४।१४८)

करीषगन्ध् अ, *तद्धितेष्वचामादेः* (७।२।११७) से वृद्धि हुई

कारीषगन्ध् अ, अब यह कारीषगन्ध शब्द अणन्त है तथा *संयोगे गुरु* (१।४।११) से उपोत्तम[1] गुरु संज्ञक भी है, सो *अणिञोरनार्ष०* (४।१।७८) से ष्यङ् आदेश (अण् को) हुआ,

कारीषगन्ध् ष्यङ्, अनुबन्ध लोप होकर

कारीषगन्ध्य　*यङश्चाप्* से अब यङन्त होने से चाप् हुआ

---

१. उपोत्तम क्या है, इसकी व्याख्या, *अणिञोरनार्ष०* (४।१।७८) पर ही देखें ॥

कारीषगन्ध्य चाप् = आ, *अकः सवर्णे दीर्घः* (६।१।९७) शेष पूर्ववत् होकर कारीषगन्ध्या बना।

इसी प्रकार वराह, बालाक शब्दों से, अपत्यार्थ विवक्षा में *अत इञ्* होकर वाराहि बालाकि शब्द बने, अब पूर्ववत् इञन्त शब्द होने से ष्यङ् (४।१।७८) आदेश तथा चाप् प्रत्यय करके वाराह्या बालाक्या बन गया॥

—:०:—

परि० गोत्रेऽलुगचि (४।१।८९)

गार्गीयाः

गर्ग शब्द से *गर्गादिभ्यो यञ्* (४।१।१०५) से यञ् होकर गार्ग्य गोत्रापत्य में बनता है। इसके रूप गार्ग्यः गार्ग्यौ गर्गाः ऐसे चलते हैं सर्वत्र बहुवचन में *यञञोश्च* (२।४।६४) से यञ् का लुक् होता है, सो गार्ग्य शब्द से षष्ठी के बहुवचन में यञ् का लुक् होकर गर्गाणाम् (पुरुषाणाम् के समान बना) छात्राः ऐसा विग्रह करके, अजादि प्रत्यय आगे आयेगा, ऐसी विवक्षा में ही गार्ग्य आम्, यहाँ जो *यञञोश्च* से यञ् का लुक् प्राप्त था उसका अलुक् *गोत्रेऽलुगचि* से हो गया, क्योंकि अजादि प्रत्यय आगे आना है। अब वृद्ध संज्ञा (१।१।७२) होने से *वृद्धाच्छः* (४।२।११३) से छ प्रत्यय होकर "गार्ग्य आम् छ" यह स्थिति बनीं। *सुपो धातुप्रा०* (२।४।७१) से विभक्ति का लुक् होकर गार्ग्य छ रहा। छ को *आयनेयीनी०* (७।१।२) से ईय तथा यस्येति लोप होकर *आपत्यस्य च तद्धिते०* (६।४।१५१) से यकार का लोप होकर गार्ग् ईय = गार्गीय, स्वाद्युत्पत्ति होकर गार्गीयाः बन गया॥ इसी प्रकार वात्सीयाः में जानें॥

आत्रेयीयाः

आत्रेयीयाः यहाँ अत्रेरपत्यानि बहूनि (अत्रि के जो बहुत से अपत्य) ऐसा विग्रह करके 'अत्रि ङस्' इस अवस्था में *इतश्चानिञः* (४।१।१२२) से गोत्रापत्य में ढक् होकर आत्रेयः बना। इसके रूप आत्रेयः आत्रेयौ अत्रयः ऐसे चलते हैं। अर्थात् सर्वत्र बहुत्व विवक्षा में *अत्रिभृगुकुत्स०* (२।४।६५) से ढक् का लुक् होता है॥ अतः अत्रीणां छात्राः ऐसा

विग्रह करके, अजादि प्रत्यय की विवक्षा होने पर, आत्रेय आम् इस अवस्था में जो ढक् का लुक् (२।४।७१) पाया उसका प्रकृत सूत्र ने निषेध कर दिया, तो आत्रेय ही रह गया। अब वृद्ध संज्ञा होकर पूर्ववत् छ होकर आत्रेयीयाः बन गया ॥

खारपायणीयाः

खारपायणीयाः यहाँ खरपस्यापत्यानि बहूनि ऐसा विग्रह करके गोत्रापत्य में *नडादिभ्यः फक्* (४।१।९९) से फक् तथा *किति* च (७।२।११८) से वृद्धि, आयन को णत्वादि होकर खारपायण बना। अब खरपाणां छात्राः यहाँ ऐसा विग्रह करके *यस्कादिभ्यो गोत्रे* (२।४।६३) से जो लुक् प्राप्त हुआ, उसका प्रकृत सूत्र से अजादि प्रत्यय की विवक्षा होने के कारण अलुक् हो गया। पश्चात् पूर्ववत् छ होकर खारपायणीयाः बन गया ॥ सर्वत्र प्रत्यय का अलुक् होने से आदि अच् में वृद्धि बनी रहती है, सो *वृद्धिर्यस्या०* (१।१।७२) से वृद्ध संज्ञा होकर छ प्रत्यय हो जाता है ॥

——:००:——

परि० यूनि लुक् (४।१।९०)

फाण्टाहृतस्य छात्राः **फाण्टाहृताः**

इस उदाहरण में मूल प्रकृति फाण्टाहृत है, उससे फाण्टाहृतस्यापत्यं (फाण्टाहृत की जो सन्तान) ऐसा विग्रह करके गोत्रापत्य में (पौत्रप्रभृति अपत्य में ४।१।१६२) अत इञ् (४।१।९५) से इञ् होकर फाण्टाहृतिः बना। अब *गोत्राद्यून्यस्त्रियाम्* (४।१।९४) के नियम के कारण गोत्रप्रत्ययान्त फाण्टाहृति शब्द से फाण्टाहृतेरपत्यं युवा ऐसा विग्रह करके युवापत्य में (४।१।१६३) *फाण्टाहृतिमिमताभ्यां णफिञौ* (४।१।१५०) से ण प्रत्यय आकर 'फाण्टाहृति ङस् ण' ऐसा बना, तब *सुपो धातुप्रा०* (२।४।७१) तथा यस्येति लोप होकर फाण्टाहृत् अ = फाण्टाहृतः ऐसा युवापत्य में रूप बना। अब पुनः फाण्टाहृतस्य (युवापत्य के) छात्राः, ऐसा विग्रह करके, प्राग्दीव्यतीय अजादि प्रत्यय की

विवक्षा की, तो अजादि प्रत्यय आने से पूर्व ही *यूनि लुक्* (४।१।९०) से युवापत्य में आये हुये 'ण' का लुक् हो गया, प्रत्यय का लुक् हो जाने से यस्येति लोप जो अजादि प्रत्यय को मानकर हुआ था वह भी हट गया तो फाण्टाहृति गोत्रापत्य वाला पहले जैसा रूप रह गया तब तस्य छात्राः कहने अर्थ में अजादि प्रत्यय *इञश्च* (४।२।१११) से अण् आकर यस्येति लोप आदि होकर बहुवचन में फाण्टाहृताः बन गया ॥

अचि में विषय सप्तमी मानने के कारण अजादि प्रत्यय आने से पूर्व ही लुक् हो जाता है, तो इञन्त प्रकृति रह जाती है, अतः बाद में इञश्च से इञन्त मानकर अण् हो जाता है ॥

—:o:—

भागवित्ताः

भागवित्तस्यापत्यं, ऐसा विग्रह करके भागवित्त शब्द से गोत्रापत्य में इञ् (४।१।९५) होकर भागवित्तिः (भागवित्त की सन्तान) रूप बना। आगे भागवित्ति शब्द में भागवित्तेरपत्यं युवा ऐसा विग्रह करके युवापत्य में *वृद्धाट्ठक् सौवी०* (४।१।१४८) से ठक् होकर, *ठस्येकः* (७।३।५०) आदि लगकर भागवित्तिकः बन गया, अब पुनः युवप्रत्ययान्त भागवित्तिक शब्द से तस्य छात्राः ऐसा विग्रह करके अजादि प्रत्यय की विवक्षा की तो, अजादि प्रत्यय आने से पूर्व ही प्रकृत सूत्र से युवप्रत्यय ठक् का लुक् हो गया, सो पूर्ववत् इञन्त प्रकृति भागवित्ति रही, अब पूर्ववत् अण् होकर भागवित्ताः बहुवचन में बन गया ॥

तैकायनीयाः यहाँ भी पहले गोत्रापत्य में तिक शब्द से *तिकादिभ्यः फिञ्* (४।१।१५४) से फिञ् होकर आयनादि होकर तैकायनिः बना, पुनः तैकायनेरपत्यं युवा, ऐसा विग्रह करके *फेश्छ च* (४।१।१४९) से छ युवापत्य में लाये तो छ को ईय तथा यस्येति लोप होकर तैकायनीयः युवप्रत्ययान्त रूप बना। अब पुनः तैकायनीय से तस्य छात्राः विग्रह करके अजादि प्रत्यय की विवक्षा की तो युवा प्रत्यय छ का लुक् प्रकृत सूत्र से होकर "तैकायनिः" रूप बच रहा, अब वृद्ध संज्ञक होने से अजादि प्रत्यय *वृद्धाच्छः* (४।२।११३) से छ होकर तैकायनीयाः बन गया ॥

———

गोत्रापत्य में तैकायनिः, युवापत्य में तैकायनीयः तथा तैकायनीय के छात्रों को कहने में तैकायनीयाः बन गया ॥

—:o:—

कापिञ्जलादाः

कापिञ्जलादाः यहाँ भी पूर्ववत् ही कपिञ्जलादस्यापत्यं विग्रह करके, इञ् होकर कापिञ्जलादिः गोत्रापत्य में बना, गोत्रापत्य से पुनः युवापत्य में *कुर्वादिभ्यो ण्यः* (४।१।१५१) से ण्य प्रत्यय होकर कापिञ्जलाद्यः बना। अब कापिञ्जलाद्यस्य छात्राः ऐसा विग्रह करके, अजादि प्रत्यय की विवक्षा में युवप्रत्यय ण्य का लुक् प्रकृत सूत्र से हो गया, तो कापिञ्जलादिः इञन्त प्रकृति रह गया, अब *इञश्च* (४।२।१११) से अण् होकर कापिञ्जलादाः बन गया ॥

—:o:—

ग्लौचुकायनाः

ग्लौचुकायनाः यहाँ पूर्ववत् ग्लुचुकस्यापत्यं विग्रह करके गोत्रापत्य में *प्राचामवृद्धात्* फिन्० (४।१।१६०) से फिन् आकर फ को आयन इत्यादि होकर ग्लुचुकायनिः बना। अब ग्लुचुकायनेरपत्यं युवा ऐसा विग्रह करके युवापत्य में *तस्यापत्यम्* (४।१।९२) से अण् हुआ तो यस्येति लोप होकर ग्लौचुकायनः बन गया। तस्य छात्राः ऐसा विग्रह करके अजादि प्रत्यय की विवक्षा में युव प्रत्यय अण् का यूनि लुक् से लुक् हो गया तो ग्लुचुकायनिः प्रकृति बच रही, सो अजादि शैषिक प्रत्यय *प्राग्दीव्यतोऽण्* (४।१।८३) से अण् हो गया तो ग्लौचुकायनाः बन गया। इस प्रकार गोत्रापत्य में ग्लुचुकायनिः, युवापत्य में ग्लौचुकायनाः तथा ग्लौचुकायन के शिष्यों को कहना हो तो भी ग्लौचुकायनाः बना ॥

—:o:—

परि० फक्फिञोर० (४।१।९१)

गार्गीयाः

गर्ग शब्द से गार्ग्य पूर्ववत् गोत्रापत्य में बनकर, पुनः गार्ग्य से युवापत्य में *यञिञोश्च* (४।१।१०१) से फक् होकर, 'गार्ग्य फक्' फक् को आयनादि होकर गार्ग्यायण युवापत्य में बना। अब युवाप्रत्ययान्त गार्ग्यायण से गार्ग्यायणस्य छात्राः ऐसा विग्रह करके अजादि प्रत्यय की विवक्षा की, तो 'फक्' युवाप्रत्यय का लुक् प्रकृत सूत्र से हो गया तो गार्ग्य प्रकृति बच रही, अब वृद्ध संज्ञा को मानकर अजादि प्रत्यय छ (४।२।११३) हो गया, तो गार्गीयाः परि० ४।१।८९ के समान बन गया। जब युवा प्रत्यय का लुक् नहीं हुआ तो गार्ग्यायण से छ होकर गार्ग्यायणीयाः बन गया॥ इसी प्रकार लुक् पक्ष में वात्सीयाः अलुक् पक्ष में वात्स्यायनीयाः जानें॥

यास्कीयाः

यस्क शब्द से यस्कस्यापत्यं ऐसा विग्रह करके गोत्रापत्य में *शिवादिभ्योऽण्* (४।१।११२) से अण् होकर, वृद्धि, (७।२।११७) पूर्ववत् होकर यास्कः (यस्क की सन्तान) बना। अब यास्क शब्द से युवापत्य को कहने में *अणो द्व्यचः* (४।१।१५६) से फिञ् तथा फिञ् को आयनादि होकर यास्कायनिः बन गया। अब पुनः यास्कायनेः छात्राः ऐसा विग्रह करके अजादि प्रत्यय की विवक्षा की, तो युवप्रत्यय फिञ् का लुक् *फक्फिञो०* से हो गया, पुनः अजादि प्रत्यय छ होकर यास्कीयाः पूर्ववत् बन गया, जब लुक् नहीं हुआ तो यास्कायनीयाः बन गया॥

गोत्रप्रत्ययान्त से ही *गोत्राद्यून्यस्त्रियाम्* (४।१।९४) के नियम से युव प्रत्यय की उत्पत्ति होती है, अतः सर्वत्र सिद्धि में पहले गोत्रापत्य दिखाया है, पुनः युवापत्य पश्चात् अजादि प्रत्यय की विवक्षा यही क्रम सर्वत्र है॥

—:०:—

परि० छन्दोब्राह्मणानि० (४।२।६५)

कठाः

'कठेन प्रोक्तम् अधीयते' ऐसा विग्रह करके कठ तृतीयान्त सुबन्त से पहले *कलापिवैशम्पायनान्तेवासिभ्यश्च* (४।३।१०४) से णिनि प्रत्यय हुआ, और उस णिनि का *कठचरकाल्लुक्* (४।३।१०७) से लुक् हो गया। प्रकृत सूत्र से प्रोक्त प्रत्ययान्त शब्द के स्वतन्त्र प्रयोग की निवृत्ति होकर तद्विषयता = अध्येतृ वेदितृ विषयता हो गई, सो कठेन प्रोक्तमधीयते ऐसा विग्रह होता है। यहाँ प्रोक्त प्रत्ययान्त से अध्येतृ वेदितृ विषय में स्वतन्त्र प्रत्यय नहीं होता[1]। जैसा कि पणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम्, पाणिनीयमधीते पाणिनीयाः। बहुवचन में जस् आकर 'कठाः' रूप बन गया। इस प्रकार कठ के द्वारा प्रोक्त ग्रन्थ को जो पढ़ते एवं जानते हैं वे 'कठ' कहायेंगे।

तैत्तिरीयाः

तित्तिरि शब्द से *तित्तिरिवरतन्तु०* (४।३।१०२) से प्रोक्त अर्थ में छण् होकर छ को 'ईय' एवं वृद्धि आदि कार्य होकर 'तैत्तिरीय' बना यहाँ भी पूर्ववत् तद्विषयता हो जाने से अध्येतृ वेदितृ अर्थ में स्वतन्त्र प्रत्यय नहीं होता अण् होकर बहुवचन तैत्तिरीयाः बन गया। इसी प्रकार वारतन्तवीयाः भी बनेगा।

ताण्डिनः

यहाँ ताण्ड्य यञन्त (४।१।१०५) ऋषिवाची शब्द से प्रोक्तार्थ में *कालापिवैशम्पा०* (४।३।१०४) से णिनि प्रत्यय हुआ है। *आपत्यस्य च तद्धिते०* (६।४।१५१) से ताण्ड्य के 'य' का लोप होकर

---

१. न्यासकार ने इस प्रकरण में प्रोक्तप्रत्ययान्त से अध्येतृ वेदितृ विषय में अण् का विधान करके *प्रोक्ताल्लुक्* (४।२।६३) से लुक् किया है वह ठीक नहीं है।

'ताण्डिन्' बना। यहाँ पर भी प्रोक्त प्रत्ययान्त की तद्विषयता पूर्ववत् समझें। बहुवचन में ताण्डिनः बना।

भाल्लविनः

यहाँ भी भाल्लवि इञन्त शब्द से *पुराण* (४।३।१०५)से णिनि होता है एवं तद्विषयता होने से भाल्लविप्रोक्त ग्रन्थ के अध्येता भाल्लविनः कहाते हैं।

—:०:—

शाट्यायनिनः

यहाँ भी गर्गादि यञन्त शाट्य शब्द से *यञिञोश्च* (४।१।१०१) से फक् होकर 'शाट्यायन' बना। पुनः शाट्यायन शब्द से पूर्ववत् णिनि एवं तद्विषता होकर शाट्यायनिनः बन गया है। ऐतरेय शुभ्रादि ढगन्त शब्द से इसी प्रकार सारे कार्य होकर ऐतरेयिणः की सिद्धि जाने॥

—:००:—

अथ पञ्चमाध्यायपरिशिष्टम्

परि० किमिदम्भ्यां वो घः (५।२।४०)

कियान् (*कितने*)

किम् *अर्थवद०* (१।२।४५) आदि सब सूत्र लगकर

किम् सु *किमिदम्भ्यां वो घः* से वतुप् प्रत्यय तथा वतुप् के व

किम् सु वतुप् को घ होकर, *सुपो धातु०* (२।४।७१)

किम् घतुप् = घत् पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा तथा *आयनेयीनी०* (७।१।२) से घ् को इय् होकर

किम् इय् अत् = किम् इयत्, *इदंकिमोरीश्की* (६।३।८८) से किम् को की आदेश होकर

की इयत् *यस्येति* च (६।४।१४८) *तद्धिताः* (४।१।७६)

क् इयत् = कियत्, *कृत्तद्धित०* (१।२।४६)से प्रातिपदिक संज्ञा तथा पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर

कियत् सु　　*उगिदचां* (७।१।७०) *मिदचो०* (१।१।४६) *सर्वनामस्थाने०* (६।४।८) से दीर्घ होकर .

कियान् त् स् *हल्ङ्या०* (६।१।६६) *संयोगान्तस्य लोपः* (८।२।२३)

कियान्　　बना।

इसी प्रकार इयान् (इतने) की सिद्धि में इदम् सु वतुप् = इदम् घन् रहा। *इदंकिमोरीश्की* (६।३।८८) से इदम् के स्थान में ईश् आदेश *अनेकाल्शित्०* (१।१।५४) लगकर सारे इदम् के स्थान में हुआ, सो ई + घत् यहाँ पूर्ववत् घ् को इय् होकर ई इय् अन्, *यस्येति च* से ईश् के ई का लोप होकर इयत् रहा। अब पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति नुमागम दीर्घादि होकर इयान् बन गया ॥

परि० अञ्चेर्लुक् (५।३।३०)

प्राग् वसति *(प्राची दिशा में रहता है)*

प्र अञ्चु　　*भूवादयो० धातोः, ऋत्विग्दधृक्स्र०* (३।२।५९) से क्विन् प्रत्यय होकर

प्र अञ्चु क्विन् *अनिदितां हल०* (६।४।२४) से अनुनासिक लोप,

प्रअच् क्विन् = व् , *वेरपृक्तस्य* (६।१।६५) *अपृक्त एकाल्प्रत्ययः* (१।२।४१)

प्रअच्　　*अञ्चतेश्चोपसङ्ख्यानम्* (वा० ४।१।६) इस वार्त्तिक से ङीप्

प्र अच् ङीप् *यचि भम्* (१।४।१८) *अचः* (६।४।१३८) से भसंज्ञक अच् के अ का लोप होकर,

प्र च् ई　　*चौ* (६।३।१३६) से पूर्वपद प्र को दीर्घ हुआ,

प्राच् ई = प्राची *ङ्याप्प्रातिपदिकात्* आदि सब पूर्ववत् लगकर ङि विभक्ति आई,

प्राची ङि　　*दिग्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमी०* से अस्ताति प्रत्यय

प्राची ङि अस्ताति *सुपो धातुप्रा०* (२।४।७१) आदि लगकर

प्राची अस्ताति अब *अञ्चेर्लुक्* से इसी अस्ताति का लुक् हुआ,

प्राची　　*लुक्तद्धितलुकि* (१।२।४९) से अस्ताति तद्धित का लुक् होने पर स्त्री प्रत्यय ङीप् का भी लुक् होकर

प्राच् पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर, *तद्धितश्चासर्वविभक्तिः* (१।१।३७) से अव्यय संज्ञा होकर *अव्ययादाप्सुपः* (२।४।८२) से सु का लोप पद संज्ञा होकर *झलां जशोन्ते* (८।२।३९) से जश्त्व होकर

प्राग् वसति बना।

इसी प्रकार सिद्धि पञ्चम्यन्त वा प्रथमान्त में भी जानना ॥

—:०:—

परि० तुश्छन्दसि (५।३।५९)

करिष्ठः

डुकृञ् पूर्ववत् सब होकर, *तृन्* (३।२।१३५) से तृन् प्रत्यय हुआ

कृ तृ पूर्ववत् *सार्वधातु०* (७।३।८४) से गुण *उरण्रपरः* (१।१।५०)

कर्तृ *तुश्छन्दसि, अतिशायने तमबिष्ठनौ,* से प्रकर्ष विवक्षा में इष्ठन् प्रत्यय आया,

कर्तृ इष्ठन् *तुरिष्ठेमेयस्सु* (६।४।१५४) से इष्ठन परे रहते तृ का लोप हुआ

कर् इष्ठ = करिष्ठ, *कृत्तद्धित०* (१।२।४६) आदि लगकर पूर्ववत् स्वाद्युत्पत्ति होकर रुत्व विसर्ग

करिष्ठः बना।

———

दोहीयसी

दुह् तृन् पूर्ववत् कार्य होकर, *पुगन्तलघू०* (७।३।८६) से गुण

दोह् तृ *दादेर्धातोर्घः* (८।२।३२) *झषस्तथोर्धोऽधः* (८।२।४०)

दोघ् धृ *ऋन्नेभ्यो ङीप्* (४।१।५) *स्त्रियाम्* (४।१।३)

दोघ् धृ ङीप् = ई, *झलां जश्झशि* (८।४।५२) *इको यणचि* (६।१।७४)

दोग् ध्र् ई = दोग्ध्री, पूर्ववत् इष्ठन् होकर

दोग्ध्री ईयसुन्, पूर्ववत् *तुरिष्ठेमेयस्सु* से तृ (ध्री) लोप, तृ के लोप होने पर, जिस तृ को मानकर ह् को घत्वादि हुये थे वह

भी निमित्त[1] के हट जाने पर हट गये सो 'ह्' ही रहा
दोह् ईयसुन् = ईयस्, पुनः *उगितश्च* (४।१।६) से ङीप् होकर
दोहीयस् ङीप् = ई, पूर्ववत् सु आकर, हल्ङ्यादि लोप हुआ
दोहीयसी बना।

—:०:—

परि० अव्यय० (५।३।७१)

एहकि

आङ् पूर्वक इण् धातु के लोट् लकार प्रथम पुरुष एकवचन का यह रूप है। सिप् को *सेर्ह्यपिच्च* (३।४।८७) से हि तथा शप् का *अदिप्रभृतिभ्यः शपः* (२।४।७२) से लुक् होकर 'आ इ हि' रहा *आद् गुणः* (६।१।८४) से गुण एकादेश होकर एहि बना। तत्पश्चात् प्रकृत सूत्र से इ से पूर्व अकच् होकर एहकि बना॥ इसी प्रकार अद् धातु से अद्धकि में जानें॥

—:०:—

परि० नीतौ च तद्युक्तात् (५।३।७७)

धानकाः

धानकाः—यहाँ धानक में धान्यार्थक धान शब्द से 'क' प्रत्यय हुआ है। कुछ वैयाकरण लाजा = खील वाचक स्त्रीलिङ्ग धाना शब्द से क प्रत्यय मानते हैं। उनके मत में *केऽणः* (७।४।१३) से, ह्रस्व हो जाता है। *क्वचित् स्वार्थिका अपि प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यतिवर्त्तन्ते* इस परिभाषानुसार स्वार्थिक प्रत्यय होने पर भी पुँल्लिङ्ग में प्रयोग होता है॥

—:०:—

परि० समासान्ताः (५।४।६८)

राज्ञः समीपम् **उपराजम्** (*राजा के समीप*)
उप सु राजन् ङस् पूर्ववत् उपकुम्भम् के समान समीपार्थ में
अव्ययीभाव समासादि होकर।

---

१. इसमें प्रमाण *निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः* यह वैयाकरणों का प्रसिद्ध वचन है॥

उपराजन् *अनश्च* (५।४।१०८) से समासान्त टच् प्रत्यय होकर

उपराजन् टच् पूर्ववत् सु आकर

उपराजन् अ सु *यचि भम्* (१।४।१८) *भस्य* (६।४।१२९) *नस्तद्धिते* (६।४।१४४) से टि भाग का लोप होकर

उपराज् अ सु, अव्ययीभाव संज्ञा उपराज की तो है ही, किन्तु टच् प्रत्यय के समास के अवयव होने के कारण टच् सहित उपराज अव्ययीभाव कहलाया। अतः *नाव्ययीभावादतो०* (२।४।८३) से अकारान्त अव्ययीभाव मानकर सु को अम् हो गया।

उपराज अम् *अमि पूर्वः* (६।१।१०३) से पूर्वरूप होकर

उपराजम् बना।

राजसु अधिकृत्य अधिराजम् में विभक्त्यर्थ में समास होकर शेष सब कार्य पूर्ववत् हुआ है। टच् को समास का अवयव मानने से पूर्ववत् ही लाभ है॥

द्वे पुरौ समाहृते = द्विपुरी

द्वि औ पुर् औ, *तद्धितार्थोत्तर०* (२।१।५०) से समास तथा २।४।७१ से विभक्ति लुक् होकर,

द्विपुर् *ऋक्पूरब्धूःपथा०* (५।४।७४) से समासान्त 'अ' प्रत्यय हुआ,

द्विपुर् अ *कृत्तद्धित०* (१।२।४६) 'अ' के समासान्त अर्थात् द्विपुर् का ही भाग माने जाने से 'द्विपुर् अ' इतना भाग द्विगुसंज्ञक कहाया तो *द्विगोः* (४।१।२१) से अकारान्त द्विगु संज्ञक मानकर ङीप् हुआ,

द्विपुर ङीप् सु, हल्ङ्यादि लोप होकर

द्विपुरी बना।

यदि 'अ' प्रत्यय समास का अवयव न होता, तो द्विपुर् के अकारान्त न होने से ङीप् प्रत्यय न होता।

इसी प्रकार त्रिपुरी में समझें।

कोशश्च निषच्च = कोशनिषदिनी

कोश सु निषत् सु, *चार्थे द्वन्द्वः* (२।२।२९) *सुपो धातु०* (२।४।७१)

कोशनिषद् *द्वन्द्वाच्चुदषहा०* (५।४।१०६) से समासान्त टच् प्रत्यय हुआ

कोशनिषद् टच्, टच् के समासान्त होने से 'कोशनिषद् अ' इतना भाग द्वन्द्व संज्ञक हुआ, सो अकारान्त द्वन्द्व संज्ञक मानकर *द्वन्द्वोपतापगर्ह्यात्०* (५।२।१२८) से इनि प्रत्यय हो गया

कोशनिषद् इनि = इन् *कृत्तद्धित०* (१।२।४६) *ऋन्नेभ्यो ङीप्* (४।१।५)

कोशनिषदिन् ङीप् = ई सु, पूर्ववत् होकर

कोशनिषदिनी बना।

इसी प्रकार स्रक् च त्वक् च *स्रक्त्वचिनी* में भी जानें॥

विगता धूर्यस्य = विधुरः

वि सु धुर् सु बहुव्रीहि समास करके *सुपो धातु०* (२।४।७१)

विधुर् *ऋक्पूरब्धूः०* (५।४।७४) से अ प्रत्यय होकर

विधुर् अ अ के समासान्त होने से 'विधुर् अ' इतना भाग बहुव्रीहि संज्ञक हुआ, तो *बहुव्रीहौ प्र०* (६।२।१) से पूर्वपद प्रकृतिस्वर प्राप्त हुआ, सो *निपाता आद्युदात्ताः* (फिट् ७९) से 'वि' उदात्त हुआ, आगे *अनुदात्तं पदमेकवर्जम्* (६।१।१५२) से शेष निघात तथा *उदात्तादनुदा०* (८।४।६५) से स्वरित होकर एकश्रुति कार्य हुआ।

विधुरः बना।

यदि यह 'अ' प्रत्यय समासान्त न होता तो *आद्युदात्तश्च* (३।१।३) से अ प्रत्यय का आद्युदात्त स्वर होता, उसके सतिशिष्ट होने से विधुर

में उसका ही होता। अब समास का ही भाग हो जाने से प्रत्यय का पृथक् स्वर नहीं लगा॥

इसी प्रकार प्रगता धूर्यस्य, *प्रधुरः* में जानें॥

उच्चैर्धूरस्य = उच्चैर्धुरः यहाँ भी पूर्ववत् बहुव्रीहि समास होकर, अ प्रत्यय समासान्त (५।४।६८) हुआ, सो समास का अवयव होने से *बहुव्रीहौ प्रकृत्या०* (६।२।१) से पूर्वपदप्रकृति स्वर होने के कारण *फिषोऽन्तोदात्तः* (फिट् १) से ऐकार उदात्त हुआ, शेष पूर्ववत् जानें।

यदि अ प्रत्यय समासान्त न होता तो वह प्रत्यय स्वर से उदात्त होता और उसी का स्वर प्रधान होता। अब बहुव्रीहि का ही भाग माना जाने से ऐसा नहीं हुआ॥

—:०:—

परि० तत्पुरुषस्या० (५।४।८६)

द्व्यङ्गुलम् (दो अङ्गुल)

द्वे चामू अङ्गुली च ऐसा विग्रह करके पहले द्वि तथा अङ्गुलि शब्द का कर्मधारय तत्पुरुष (१।२।४२) समास किया। तत्पश्चात् द्व्यङ्गुल शब्द से द्व्यङ्गुली प्रमाणमस्य ऐसा विग्रह करके *प्रमाणे द्वयसज्०* (५।२।३७) से मात्रच् प्रत्यय हुआ, 'द्व्यङ्गुलि मात्रच्' इस अवस्था में *प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम्*(वा० ५।२।३७) इस वार्त्तिक से मात्रच् का लोप हो गया, तब प्रकृत सूत्र से अच् प्रत्यय होकर *यस्येति च* (६।४।१४८) से अङ्गुलि के इकार का लोप होकर द्व्यङ्गुल् अच् सु = द्व्यङ्गुलम् बना॥ त्र्यङ्गुलम् आदि भी इसी प्रकार जानें। निरयङ्गुलम् (जिसके उँगली नहीं है) अत्यङ्गुलम् (जिसकी अधिक उँगली हैं) में समास *कुगतिप्रादयः* (२।२।१८) से होकर शेष इसी प्रकार सब में जानें॥

सिद्धि-प्रदर्शित उदाहरणों की सूची

प्रथम भाग परिशिष्टान्तर्गत

हमने सिद्धि में दो प्रकार रखे हैं, प्रथम तो वे हैं, जिनकी हमने मुख्य रूप से सिद्धि प्रदर्शित की है, तथा दूसरे प्रकार में हमने तत्सदृश जो उदाहरण हैं, उनको 'इसी प्रकार इनकी सिद्धि जानें' ऐसा निर्देश कर दिया है। इस सिद्धि सूची में दोनों प्रकार के उदाहरण हमने सङ्गृहीत कर दिये हैं। भेद करने के लिए जिनकी गौण रूप से सिद्धि है उन उदाहरणों पर हमने गोल (०) चिह्न रख दिया है—

—:o:—

द्वितीय भाग परिशिष्टान्तर्गत

सिद्धि प्रदर्शित उदाहरणों की सूची

श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट अमृतसर

का

सुन्दर सस्ता और प्रामाणिक प्रकाशन

ऋषि दयानन्द कृत–यजुर्वेदभाष्यविवरण

यह ऋषि दयानन्द कृत यजुर्वेद भाष्य के प्रथम [illegible] अध्यायों का संशोधित द्वितीय संस्करण है। इसे महर्षि के हस्तलेखों से मिलान करके तैयार किया गया है। साथ ही आर्षभक्त, वेदों के महान् प्रकाण्ड विद्वान् श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु कृत विवरण है। देवता, छन्द, पदपाठ, स्वर प्रक्रिया, आर्ष प्रमाणों से ऋषि भाष्य की पुष्टि, एवं सायण-महीधर भाष्यों की भूलों का दिग्दर्शन इस ग्रन्थ की विशेषताएं हैं। ग्रन्थ के आरम्भ में [illegible] पृष्ठ की भूमिका है, जिसमें उपर्युक्त वेद-विषयों का गम्भीर और ओजपूर्ण विवेचन है। ग्रन्थ ३२ पौण्ड के २२ × ३६ [illegible] पेजी स्पेशल वैग पेपर पर साफ प्रकार के सुन्दर टाइपों में छापा गया है। संशोधित परिवर्धित द्वितीय संस्करण मूल्य लागत मात्र [illegible]

महर्षि यास्ककृत निरुक्त हिन्दीभाष्यसहित

व्याख्याता श्री पं० भगवद्दत्त जी

आर्यसमाज के प्रौढ़ वैदिक विद्वान् श्री पं० भगवद्दत्तजी इस भाष्य के लेखक हैं। इस भाष्य में निरुक्त की अनेक ग्रन्थियों को बड़े उत्तम ढंग से खोला गया है। राष्ट्र भाषा के माध्यम से निरुक्त के ऊपर यह अपूर्व कार्य हुआ है। यह सुन्दर तथा दृढ़ कागज पर लगभग [illegible] पृष्ठों में पूर्ण हुआ है। मूल्य [illegible]

अष्टाध्यायी-भाष्य

लेखक – श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु

अष्टाध्यायी की यह व्याख्या ऋषि दयानन्द-निर्दिष्ट प्रथमावृत्ति में पठितव्य सम्पूर्ण अंशों पर प्रकाश डालती है। श्री जिज्ञासुजी ने

पाणिनीय व्याकरण का अध्यापन ऋषि-निर्दिष्ट प्रणाली से ही जीवन भर किया। ४५ वर्ष के सुदीर्घ काल के अध्यापन सम्बन्धी अनुभवों के आधार पर यह अत्यन्त सरल व्याख्या लिखी गई है। इस व्याख्या में क्रमशः सूत्र के पदच्छेद-विभक्ति-समास-अनुवृत्ति-अर्थ-उदाहरण पहले संस्कृत में लिखे हैं। तत्पश्चात् हिन्दी में उनका स्पष्टीकरण किया गया है। उदाहरणों की साधनिका अन्त में परिशिष्ट में दी गई है। इस अद्भुत ग्रन्थ के प्रकाशित हो जाने से अष्टाध्यायी-क्रम से पाणिनीय व्याकरण का अध्ययन अध्यापन सर्वथा सुगम हो गया है।

प्रथम भाग मूल्य १२–०० द्वितीय भाग १०–०० तृतीयभाग १९६६ के अन्त तक प्रकाशित होगा।

श्रीमद् वाल्मीकि-रामायण हिन्दी अनुवाद सहित

श्रीमद् वाल्मीकि-रामायण का हिन्दी अनुवाद, जो क्रमशः वेदवाणी में प्रकाशित हो रहा है, अब पृथक् पुस्तकाकार में भी सुलभ है। यह पुस्तक २८ पौण्ड के बढ़िया कागज पर सुन्दर टाइप में मुद्रित है। वाल्मीकि रामायण के प्रक्षिप्त श्लोकों वा श्लोकांशों को भिन्न टाइप में छापा गया है तथा उन पर प्रसिद्ध विद्वान् श्री पं० अखिलानन्दजी झरिया ने संक्षिप्त टिप्पणियाँ दी हैं। हिन्दी अनुवाद के पढ़ने से उपर्युक्त पण्डितजी के रामायण विषयक अगाध पाण्डित्य एवं व्यापक दृष्टि का पता सहज ही लग जाता है। यह पुस्तक रामायण के विषय में एक नया दृष्टिकोण प्रस्तुत करती है। एक बार अवश्य पढ़ें।

अयोध्याकाण्ड—३–५०   अरण्य–किष्किन्धाकाण्ड— ४–५०

ट्रस्ट के अन्य प्रकाशन

१ ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित और स्वकथित
आत्मचरित्र — ००–५०

२, ३ ऋषि दयानन्द के पत्र और विज्ञापन—परिशिष्टसहित
सम्पादक पं० भगवद्दत्तजी बी० ए० — ७–७५

४ उरु ज्योति अर्थात् वैदिक अध्यात्म सुधा
लेखक डा० वासुदेवशरणजी अग्रवाल — ३–००

रामलाल कपूर ट्रस्ट ग्रन्थमाला संख्या ३२

ओ३म्

अष्टाध्यायी-भाष्य-प्रथमावृत्ति

(षष्ठसप्तमाष्टमाध्यायात्मकस्तृतीयो भागः)

लेखिका—

पदवाक्यप्रमाणज्ञ स्व० श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु की अन्तेवासिनी

कु० प्रज्ञादेवी व्याकरणाचार्या

संशोधक—

युधिष्ठिर मीमांसक

प्रकाशक—

प्यारेलाल कपूर

मन्त्री—श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट, अमृतसर

प्रथम संस्करण १५००

माघ, सं० २०२४
जनवरी, सन् १९६८

मूल्य— सजिल्द १०—००
अजिल्द ९—००

ट्रस्ट के उद्देश्य

प्राचीन वैदिक साहित्य का अन्वेषण रक्षा तथा प्रचार
तथा भारतीय संस्कृति, भारतीय शिक्षा, भारतीय विज्ञान
और
चिकित्सा द्वारा जनता की सेवा

स्वर्गीय पूज्य आचार्य श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु द्वारा प्रारब्ध
अष्टाध्यायी-भाष्य का यह भाग
धर्मानुरागी वैदिक धर्म तथा वाङ्मय के भक्त
श्री बाबू देवीचन्दजी मेहरा (बम्बई)
द्वारा प्रदत्त
(८०००) आठ सहस्र रुपए की सात्त्विक सहायता से
प्रकाशित किया गया

मुद्रक—
तारा प्रिंटिंग वर्क्स,
वाराणसी

सम्पादकीय

पाठकों की सेवा में अष्टाध्यायी-भाष्य का तृतीय भाग उपस्थित करते हुए महान् हर्ष हो रहा है। स्वर्गीय पूज्य गुरुवर्य श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु ने इस महान् कार्य को अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में आरम्भ किया था और इसकी पूर्णता के लिए कृतसंकल्प थे, दैवयोग से यह उनके जीवन काल में पूर्ण न हो सका। न केवल मुद्रण ही अपूर्ण रहा, अपितु अष्टाध्यायी-भाष्य के अन्तिम तीन अध्यायों का भाष्य भी वे न लिख सके। हमारे लिए यह कार्य कितना क्लिष्ट और परिश्रमसाध्य था, यह इस विषय के विज्ञ पाठक ही जान सकते हैं। षष्ठ सप्तम अष्टम अध्यायों की व्याख्या लिखकर ग्रन्थ को पूर्ण करना अत्यावश्यक था। अन्यथा ग्रन्थ के अधूरे रह जाने से अष्टाध्यायी के पठन-पाठन की सुगमता के लिए जिस उद्देश्य से पूज्य आचायवर ने यह महान् कार्य आरम्भ किया था, वह पूर्ण न होता, अधूरा ग्रन्थ पठन-पाठन के लिए उपयोगी न होता।

आचार्यवर को भावना के अनुसार इस महान् कार्य को पूर्ण करने का भार उनके शिष्यों पर आ गया था। ऐसे समय में श्री प्रज्ञादेवी व्याकरणाचार्या ने इस ग्रन्थ को पूर्ण करने का भार अपने ऊपर लेकर समस्त शिष्यों को उक्त चिन्ता से मुक्त कर दिया। श्री प्रज्ञादेवीजी का इस ग्रन्थ की रचना में आरम्भ से ही पूर्ण सहयोग रहा था, अतः वे आचार्यवर की भावना और शैली से पूर्णतया विज्ञ थीं। इसलिए उनके द्वारा इस कार्य की पूर्ति होने से ग्रन्थ में एकरूपता भी विद्यमान रही है। रचनाशैली की समानता इतनी पूर्ण है कि यदि इस भाग पर उनका नाम न दिया जाता तो यह कहना भी कठिन होता कि इस भाग की रचना अन्य व्यक्ति ने की है।

इस महान् कार्य की पूर्ति के द्वारा जहाँ श्री प्रज्ञादेवीजी अपने गुरुचरण के ऋण से उऋण हुई, वहाँ अष्टाध्यायी के पठनपाठन में प्रवृत्त छात्रों वा अध्यापकों की भी वे अभिनन्दनीया बनीं।

ग्रन्थ के मुद्रण से पूर्व मैंने इस भाग को भले प्रकार देख लिया है। मैं इस कार्य से पूर्ण सन्तुष्ट हूँ। इसमें यत्रतत्र मैंने कुछ आवश्यक संशोधन वा परिवर्धन भी कर दिए हैं। आशा है, यह भाग भी छात्रों और अध्यापकों के लिए पूर्ववत् ही उपयोगी होगा।

आर्थिक सहयोग

इस भाग के छापने के लिए भी श्री भ्राता महेन्द्रकुमारजी कपूर की प्रेरणा से द्वितीयभाग के प्रकाशन में सहायक माननीय धर्मानुरागी श्री बाबू देवीचन्दजी मेहरा (बम्बई) ने ८०००) आठ सहस्र रुपए की सहायता प्रदान की है। इसके लिए मैं उनका तथा भ्राता महेन्द्रकुमारजी का अत्यन्त आभारी हूँ और आशा करता हूँ कि ऐसे पवित्र विद्यादान रूप कार्य में आगे भी इसी प्रकार सहयोग करते रहेंगे।

श्रीजिज्ञासु स्मारक निधि

श्रीपूज्य आचार्यवर्य की स्मृति में ५००००) पचास सहस्र रुपए की स्मारक निधि स्थापित करने का जो मैंने संकल्प किया था, उसमें श्रीआचार्यवर के भक्तों, शिष्यों वा प्रेमी जनों के सहयोग वा प्रेरणा से अभी तक लगभग ३५७५०) पौने छत्तीस सहस्र रुपया इकट्ठा हो गया है। इसमें माननीय श्री देवीचन्दजी मेहरा ने अष्टाध्यायी भाष्य के द्वितीय-तृतीय भाग के मुद्रण के लिए १३०००) तेरह सहस्र रुपये प्रदान किए और माननीया माता श्री भागवन्तीजी, धर्मपत्नी श्री हरिचन्दजी बत्रा (भिवानी) ने संस्कारविधि और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के मुद्रणार्थ १००००) दस सहस्र रुपए दिए। माननीय राजा श्री गोविन्दलाल बंसीलालजी ने स्वयं तथा अपने भ्राताओं से मिलाकर ३०००) तीन सहस्र रुपए प्रदान किए। शेष रुपया अन्य महानुभावों से प्राप्त हुआ। सभी ने अपनी अपनी श्रद्धा और सामर्थ्य के अनुसार इस निधि को पूर्ण करने में सहयोग दिया है और दे रहे हैं। मैं सभी सहायक महानुभावों के प्रति कृतज्ञ हूँ कि उन्होंने मेरी प्रार्थना पर ध्यान देकर इतना सहयोग प्रदान किया।

शेष द्रव्य—मेरे ५०००० पचास सहस्र रुपए के संकल्प में केवल १४०००) चौदह सहस्र रुपया शेष रहता है। अब दो कार्य मेरे सम्मुख प्रधान रूप से अवशिष्ट हैं। एक तो सत्यार्थप्रकाश

का विशिष्ट संस्करण प्रकाशित करना। दूसरा पूज्य आचार्यवर की लिखी 'संस्कृत पठनपाठन की सरलतम विधि' को जो कि प्रधान रूप से शिक्षकों के लिए लिखी गई है, उसे छात्रों के लिए उपयोगी बनाना और उसका द्वितीय भाग लिखना। सत्यार्थप्रकाश के लिए यद्यपि १५०००) पन्द्रह सहस्र रुपये की आवश्यकता है पुनरपि यदि कोई धर्मानुरागी महानुभाव १००००) दस सहस्र रुपये भी प्रदान कर दें तो यह कार्य कथंचित् हो सकता है। द्वितीय कार्य के लिए भी लगभग ३०००) तीन सहस्र रुपया अपेक्षित है।

विशेष—इस भाग की छपाई का व्यय मंहगाई के कारण पूर्व भागों की अपेक्षा २३% प्रतिशत बढ़ गया है और आबन्धन (जिल्द) का व्यय भी पर्याप्त बढ़ा है। इस भाग की पृष्ठ संख्या भी द्वितीय भाग से लगभग २०० अधिक है, पुनरपि ग्राहकों और विशेषतया अध्ययनार्थियों की वर्तमान आर्थिक कठिनाई को ध्यान में रखते हुए, मूल्य केवल १०-०० रु० ही रखा है।

मुद्रण कार्य में सहयोग

तारायन्त्रालय के अधिपति श्री आनन्दशंकरजी पण्ड्या प्रभृति महानुभावों ने जिस प्रेम-उदारता-परिश्रम और सौजन्य से इस ग्रन्थ को सुन्दर और शीघ्र छापने में, विशेष कर स्वर प्रकरण के उदाहरणों को सस्वर छापने में जो सहायता की है, उसके लिए मैं उनका अतिशय धन्यवाद करता हूँ।

श्री पं० विजयपालजी, विदुषी प्रज्ञादेवी व्याकरणाचार्या, ब्र० वेदप्रकाश आदि और ब्र० सुमेधा ने ग्रन्थ के प्रूफ शोधन के गुरुतर कार्य को सुचारु रूप से सम्पन्न किया है, इसके लिए मैं इन सबके प्रति शुभकामना करता हूँ। वस्तुतः यह कार्य इन्हीं का है और आगे भी इन्हीं को करना है, मैं तो निमित्तमात्र हूं।

पाणिनि महाविद्यालय
मोतीझील, वाराणसी

विदुषां वशंवदः—
युधिष्ठिर मीमांसक

प्राक्कथनम्

अष्टाध्यायी प्रथमावृत्ति के इस तृतीय भाग को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे आज जितना अधिक सन्तोष एवं प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है, उतना ही किसी अभाव-जनित-परिताप से हृदय व्यथित भी हो रहा है। लगभग १९६० के प्रारम्भ में आर्ष पाठविधि के समुद्धारक परम श्रद्धेय पूज्य गुरुवर्य श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी द्वारा इस कार्य का शुभारम्भ किया गया था, किन्तु दुर्भाग्यवश बीच में ही उनके स्वर्गत हो जाने से इस भाग का लेखन कार्य मेरे द्वारा सम्पन्न हुआ। अष्टाध्यायी-भाष्य के लेखन कार्य में मैं प्रारम्भ से ही पू० गुरुवर्य के साथ सहायक रूप में कार्य करती रही। उन दिनों उनकी शारीरिक शक्ति एवं स्वास्थ्य को क्षीण से क्षीणतर होते हुये देख कर मेरे मन को हठात् यह दुश्चिन्ता आलोड़ित करती रहती थी कि 'यह कार्य उनके जीवन-काल में पूर्ण कैसे होगा'? मृत्यु से १ वर्ष पूर्व जम्मू में हुये मरणान्तक हृदय के कष्ट के पश्चात् तो वे स्वयं भी इसकी पूर्त्ति के लिये सशङ्क एवं चिन्तित रहने लगे थे। जम्मू में मृत्यु शैय्या पर पड़े हुये भी पू० गुरुवर्य के मुख पर दो ही वाक्य थे "ओ३म्, अष्टाध्यायी का काम करना"। स्पष्ट है कि ये दोनों ही बातें उनके जीवन की निचोड़ स्वरूप थीं, जिन्हें उन्होंने मृत्यु समकाल में भी स्मरण किया। अष्टाध्यायी के अध्ययन-अध्यापन के प्रति उनकी गहरी आस्था एवं निष्ठा संस्कृत जगत् में छिपी नहीं है? इसी कारण तो अन्त्येष्टि क्रिया में आये हुये शोक सन्तप्त जनों के मुख से उस समय "अष्टाध्यायी का एक युग समाप्त हो गया" ये ही दुखार्त्त शब्द सुने गये। जीवन भर वे आर्ष पाठविधि के प्रचार-रूपी साधना में रत रहे, एवं जीवनोपरान्त भी इस कार्य का विस्तार अधिकाधिक हो यही उनकी अन्तिम कामना रही।

वे शीघ्र ही हम लोगों के बीच से महाप्रयाण कर गये। जीवन की सान्ध्य-वेला में ही हम लोग (हम तीनों, मैं, बहिन सुमेधा, एवं भाई सुद्युम्न) उनके श्रीचरणों में आये। लगभग १० वर्षों का ही उनका सान्निध्य हम लोगों को प्राप्त हो सका, अतः उनके विद्यारूपी उदधि

से कुछ मुक्ता-कण ही हम सब चुन सके, इसका सन्ताप तो अब सदा रहेगा ही !!!

हमारे पूज्य पिता जी स्व० श्री कमलाप्रसाद जी आर्य संस्कृत विद्या के अतीव अनुरागी एवं भक्त थे। अध्यापक पद पर कार्य करते हुये अत्यन्त आथिक हीनावस्था में भी प्राय: ग्रीष्मावकाश के समय वे पू० गुरुजी के श्री चरणों में अध्ययनार्थ उपस्थित हुआ करते थे। यद्यपि हम लोग उस समय स्वल्पायु के ही थे, पुनरपि पारिवारिक अत्यन्त विपन्न दशा का कुछ परिज्ञान होने के कारण हमारी पूज्या माता जी एवं पिताजी ने उस समय कितने आर्थिक कष्ट उठाये, यह सोचकर आज भी मन सिहर उठता है। यह सब होने पर भी हमारे पिताजी को पुस्तकें खरीदने एवं स्वाध्याय का तो जैसे व्यसन ही पड़ गया था। अपने पीछे पैतृक सम्पत्ति के रूप में वे लगभग ५०० पुस्तकें जिनमें महर्षि दयानन्द जी की प्रत्येक पुस्तक व्याकरण में महाभाष्यादि, तथा कुछ ऐसी भी पुस्तकें सम्मिलित हैं, जिनका प्राप्त होना भी सभी पुस्तकालयों में सम्भव नहीं, हम सब के लिये छोड़ गये। आज उन पुस्तकों के पन्ने पलटते हुये मुझे प्रत्येक पृष्ठ में अपनी पू० माता जी एवं पिताजी के परिश्रम जनित स्वेद कणों के दर्शन होते हैं।

रीवाँ राज्य में रहते हुये हमारे पू० पिताजी ने अष्टाध्यायी-पद्धति से व्याकरण सीखने के लिये अति कष्ट उठाया था। ज्येष्ठ की दुपहरी में नङ्गे पैर अथवा पादुका मात्र धारण कर वे ४-५ मील दूर पैदल प्राय: पण्डितजनों से अध्ययन के लिये जाते थे, किन्तु उन सबके सिद्धान्त-कौमुदी पद्धति से पढ़े होने से, अष्टाध्यायी ठीक प्रकार पढ़ा न सकने के कारण वे कभी भी सन्तोष लाभ नहीं कर पाते थे, वे पण्डित जन सूत्रार्थ को तो कभी हृदयङ्गम करा ही नहीं पाते थे, अत: वे अति व्यथित होकर प्राय: कहते थे—'मेरे कुल में एक बार संस्कृत विद्या का प्रवेश हो जाये फिर तो उसे कभी नहीं जानें देंगे'। काश ! कि इस समय वे विद्यमान होते और अपनी इच्छा की पूर्ति देख कर तृप्त हो पाते !! महर्षि दयानन्द सरस्वती का अष्टाध्यायीभाष्य ३ अध्याय तक ही है, इससे आगे का कार्य भी अवश्य होना चाहिये, ऐसी प्रबल इच्छा पिताजी के मन को बहुधा उत्पीड़ित करती थी। वे

मर्माहत से होकर प्रायः कहा करते थे—'वेदभाष्य तो लोग कर ही रहे हैं, अब तो अष्टाध्यायी भाष्य होना चाहिये'। इन्हीं सब पैतृक संस्कारों के वशीभूत मुझे इस कार्य को करने में प्रारम्भ से ही अति रुचि रही है।

विधि का विधान अति विचित्र है !!! पू० गुरुवर्य के जीवन की ४० वर्ष की साध एवं पू० पिताजी के वे अति धूमिल स्वप्न पुस्तक रूप में आज साकार हो गये इसका उस समय चिन्तन भी नहीं हो सकता था। पू० गुरु जी की निर्दिष्ट पद्धत्यनुसार ही इस तृतीय भाग की परिसमाप्ति हुई यह और भी सन्तोष का विषय रहा है। यद्यपि आज शरीरमात्र से दोनों का ही अभाव है, किन्तु उनकी दिवङ्गत आत्माएँ अवश्य इस कार्य से प्रसन्न हो सकेंगी, ऐसा मेरा विश्वास है॥

प्रथमावृत्ति के इस तृतीय भाग में पहले के दो भागों की अपेक्षा कुछ अन्य विशेषतायें भी हैं ऐसा तो मैं नहीं कह सकती, क्योंकि इस प्रथमावृत्ति ग्रन्थ का प्रारूप प्रारम्भ में ही अति विचारपूर्वक पूज्य गुरुजी द्वारा तैयार किया गया था, अतः इस भाग में कुछ न्यूनाधिकता करने का कोई प्रश्न ही नहीं था, पुनरपि इतना तो निःसन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि इसी भाग में स्वर एवं अङ्गाधिकार का विषय विशेषरूप से होने से यह भाग पहले की अपेक्षा अधिक परिश्रम साध्य रहा है। उसमें भी षष्ठाध्याय के स्वर की अपेक्षा अष्टमाध्याय के स्वर एवं प्लुत प्रकरण ने तो मुझे यह सोचने के लिये बाध्य कर दिया कि प्रथमावृत्ति जो हम सब आज तक बिना पुस्तक का आश्रयण किये पढ़ते पढ़ाते रहे हैं, उसमें भी विचार की ऐसी बहुत सी बातें हैं, जिन पर आज तक ध्यान ही नहीं जाता रहा। व्याकरण के व्याख्यान ग्रन्थों में स्वर एवं वेद विषय का कोई भी प्रामाणिक ग्रन्थ अभी तक हमारे सामने न होने से यह कठिनाई और भी अधिक रही है। यतः व्याकरण विषय के प्राचीनतम उदाहरणों की परम्परा के परिरक्षणार्थ उदाहरण हमने सर्वत्र महाभाष्य एवं काशिका (काशिका के अश्लील उदाहरणों को छोड़कर) के अवश्य ही दिये हैं, (यद्यपि इस विषय के अन्य प्रसिद्ध उदाहरण भी दिये जा सकते थे) अतः हमें न्यास एवं पदमञ्जरी व्याख्या ग्रन्थों का ऐसे स्थलों में विशेष रूप से पर्यनुशीलन करना पड़ा है। जिससे हमें यह अनुभव हुआ कि ऐसे स्थलों में न्यास का व्याख्यान प्रायेण अशुद्ध है, पदमञ्जरी का व्याख्यान यद्यपि ऐसे

स्थलों में न्यास की अपेक्षा प्रौढ़ एवं प्रामाणिक है पुनरपि उसके अति संक्षिप्त होने से वह सर्वत्र हमारे कार्य में पूर्णतया उपयोगी न हो सका। ऐसे स्थलों पर बहुविध पुस्तकें देखकर एवं मननपूर्वक हमने विषय के स्वरूप का ठीक २ दिग्दर्शन, बिना विषय को जटिल बनाये सरल भाषा में करने का यत्न किया है। कहीं २ तो प्रथमावृत्ति के विषय से अधिक हो जाने के भय से इङ्गित मात्र ही किया है।

स्वर चिह्न एवं स्वर सिद्धि

प्रत्येक स्वर सूत्र के उदाहरणों में हमने स्वर-चिह्नों का निर्देश किया है। हमारा यह प्रयत्न निस्सन्देह स्वर विषयक क्लिष्टता को दूर करने में परम सहायक होगा। स्वरचिह्न युक्त उदाहरणों के आज तक कहीं[1] पर भी अन्यत्र मुद्रित न होने से यह कार्य सर्वथा नवीन है, एवं मुद्रण की दृष्टि से अक्षरों के साथ स्वरचिह्नों के टाइप ढले न होने से यह कार्य हमारे लिए अत्यन्त कष्ट-साध्य भी रहा है। अति प्रयत्न करने पर भी दो तीन स्थलों में छपते-छपते स्वर चिह्न अथवा अक्षर टूट गये हैं, जिनके लिये हम विवश रहे हैं। इसके अतिरिक्त स्वर सिद्धियों में हमने औणादिक शब्दों को व्युत्पन्न मानकर ही उनमें अष्टाध्यायी के सूत्रों की प्राप्ति दर्शायी है, यह जान लेना चाहिये। फिट् सूत्रों को तो अगातिक गति मानकर ही कहीं २ स्वीकार किया है। न्यास एवं पदमञ्जरी में कहीं कहीं एक ही स्थल पर इस प्रकार की प्रक्रिया का भेद होने से सूत्र प्राप्ति में अन्तर दिखाई देता है।

वैदिक उदाहरण एवं उनके सन्दर्भ

इस प्रथमावृत्ति के पूर्व के दो भागों में भी वैदिक उदाहरणों के सन्दर्भ देने का कार्य किया गया था, अतः हमने इस भाग में भी इस कार्य को बड़े मनोयोग से किया है। वैदिक सन्दर्भों के साथ साथ इस बार काशिका के विभिन्न संस्करणों का भी मिलान करते रहने से यह बात विशेष रूप से सामने आई कि आज तक काशिकादि में वैदिक उदाहरण बहुत अधिक अशुद्ध मुद्रित होते रहे हैं, एवं उनके प्रभूत पाठान्तर विभिन्न संस्करणों में है। ज्यों २ मुझे इस विषय के पाठान्तर मिलते गये त्यों २ शुद्ध मुद्रण की चिन्ता से उदाहरणों के सन्दर्भ खोजने के

१. पाणिनि आफिस इलाहाबाद से प्रकाशित अंग्रेजी वाली काशिका में केवल उदात्त स्वर पर 'उ' चिह्न दिया गया है, किन्तु वह बहुत स्थलों पर अशुद्ध है।

कार्य में मेरा उत्साह बढ़ता गया। केवल न्यास पदमञ्जरी के आधार पर इन उदाहरणों की शुद्धता की प्रामाणिकता नहीं हो सकती, क्योंकि इन ग्रन्थों का पाठ भी अति भ्रष्ट है। इस दृष्टि से हमारे इस कार्य से उदाहरणों की शुद्धता के निर्णय में एक नया प्रकाश पड़ेगा, ऐसा कहा जा सकता है।

हमने ऐसे सम्पूर्ण सन्दर्भ खोज लिये हैं, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सूचियों के आधार पर अनेक उदाहरणों का मूल हमें अभी तक नहीं प्राप्त हो सका है, जिनमें बहुत से वेद की विलुप्त शाखाओं के हो सकते हैं, तथा कुछ उपलब्ध शाखाओं में भी प्राप्त हो सकते हैं ऐसा मेरा विचार है क्योंकि सूचियों के ही आधार पर अनुपलब्ध मूल उदाहरण उपलब्ध शाखाओं में नहीं है, ऐसा विश्वास पूर्वक नहीं कहा जा सकता, अतः ऐसे उदाहरणों पर बहुत कुछ परिश्रम करना अभी शेष है। हमें कतिपय स्थलों पर वैदिक उदाहरणों की उतनी आंशिक आनुपूर्वी, जिससे सूत्र का प्रयोजन सिद्ध हो जाता था मिल गई, पुनरपि प्राचीन उदाहरणों के क्रम भङ्ग होने के भय से हमने वह सन्दर्भ नहीं दिखाया है। तद्यथा—*उर्णम्रदाः पृथिवी विश्वधायसम्, ससूव स्थविरम् विपश्चिताम्* इन उदाहरणों में *उर्णम्रदाः पृथिवी* (अथ० १८।३।४९) *ससूव स्थविरम्* (ऋ० ४।१८।१०) इतना अंश वेद में प्राप्त है। वस्तुतः ऐसे स्थल अभी कुछ विचार कोटि में हैं। वेद का विषय इतना महान् एवं विशाल है कि इसके विषय में तत्क्षण ही इदमित्थमेव कहा ही नहीं जा सकता, अतः हमें भी ऐसे स्थलों में कहीं कहीं पाठविशेष के स्वीकार करने में कोई दृढ़ प्रमाण न होने पर भी किसी पाठ विशेष को रखना पड़ा है। उदाहरणार्थ—*ङ्याप्पोः संज्ञा०* (६।३।६१) के उदाहरण कुमारिदाः प्रर्विदाः के कई पाठान्तर काशिकादि में प्राप्त होते हैं, पर वेद में सभी अनुपलब्ध हैं। काठक सं० एवं आप० श्रौ० आदि में *'कुमारीदाः प्रफर्वीदाः'* ऐसा दीर्घान्त पाठ मिलता है, सम्भव है इस उपलब्ध पाठ का ही ह्रस्वान्त पाठ किसी शाखा का हो जिसके ये सूत्रगत उदाहरण हैं। वेद की कितनी ही शाखाओं के लुप्तप्राय हो जाने से आज तो पाणिनि मुनि प्रणीत *आपो जुषाणो०* (६।१।११४) सूत्र भी बड़ा ही उद्वेजक हो गया है। इस सूत्र में अम्बिके शब्द से पूर्व अम्बे अम्बाले को प्रकृतिभाव कहा है। काशिका में भी 'अम्बे अम्बाले अम्बिके' के लिये 'यजुषी-

दमीदृशमेव पठ्यते' कहा है, किन्तु उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में कहीं पर भी ऐसी आनुपूर्वी उपलब्ध नहीं होती ! हाँ ! मैत्रायणी सं० आदि में 'अम्बे अम्बाल्यम्बिके, अम्बे अम्बिके अम्बाले' ऐसी आनुपूर्वी तो मिलती है। पाणिनि मुनि के सूत्रानुसार उनकी आनुपूर्वी को लुप्तशाखीय ही मानना होगा जो कि काशिका के काल तक प्राप्त रही। अथवा यह भी सम्भावना हो सकती है कि काशिका ने यह आनुपूर्वी किसी प्राचीन वृत्ति-ग्रन्थ से ली हो।

उदाहरणों के अर्थ

उदाहरणों के अर्थ देने का कार्य यद्यपि प्रथम भाग से ही प्रारम्भ किया गया था, किन्तु आगे चलकर पूर्ण रूप से इसका निर्वाह न हो सका था, अतः हमने भी इस भाग में कुछ संशयास्पद स्थलों में ही हिन्दी में अर्थ लिखे हैं, अन्यत्र विग्रहादि से भाव स्पष्ट कर दिया है। हमारा विचार है कि आगे चलकर अष्टाध्यायी के (काशिका-महाभाष्य के) सभी उदाहरणों का एक पाणिनि कोष तैयार किया जावे जो कि व्याकरण ग्रन्थ से पृथक् होने से अधिक उपयुक्त रहेगा।

अनुवृत्ति-अधिकार

इस प्रथमावृत्ति में सूत्रार्थज्ञान में परम सहायक 'अनुवृत्तियाँ' तो सर्वत्र दिखाई ही गई हैं, साथ ही दो तीन अध्याय पर्यन्त जाने वाले लम्बे २ अधिकार एवं उत्कर्षण तथा मण्डूक-प्लुति-न्याय वाली अनुवृत्तियों का भी सर्वत्र दिग्दर्शन कराया गया है, यह कार्य उपयोगी होते हुए अत्यन्त परिश्रम साध्य भी रहा है। सच तो यह है कि सिद्धान्त कौमुदी आदि प्रक्रिया ग्रन्थों में जितना ही अनुवृत्ति वा अधिकार को उपेक्षित करके सूत्रार्थ को अत्यन्त जटिल बना दिया गया उतना ही इस प्रथमावृत्ति में अनुवृत्ति वा अधिकार निर्देश को प्रमुख स्थान देकर सूत्रार्थ को सहज बनाने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में प्राचीन काल के अध्ययन-अध्यापन की सुगम पद्धति को पुनरुज्जीवित किया गया है। इस परिश्रम का आधार लेकर कालान्तर में पृथक् अनुवृत्ति अधिकार वाली अष्टाध्यायी भी पाठकों की सुविधा के लिये मुद्रित की जा सकती है।

इस प्रकार यह निश्चय रूप से कहा जा सकता है कि इस प्रथमावृत्ति ग्रन्थ में प्रथमावृत्ति सम्बन्धी प्रत्येक सूत्र के सातों अङ्गों

(सूत्र का पदच्छेद-विभक्ति-समास-अनुवृत्ति-अधिकार-अर्थ-उदाहरण और सिद्धि) पर जो भी कार्य हुआ है, वह व्याकरण ज्ञान के लिये अति उपादेय एवं अनूठा है, इससे विद्यार्थी तथा अध्यापक दोनों ही उपकृत हो सकेंगे। यह ग्रन्थ प्रक्रिया ग्रन्थों की दुरूहता के कारण लोगों में वर्षों से उत्पन्न हुई 'संस्कृत रटने की ही विद्या है' इस भ्रान्त धारणा को भी समाप्त कर सकेगा, ऐसा मेरा विश्वास है॥

कृतज्ञता प्रकाश

सर्वप्रथम मैं परम पिता परमात्मा की अनन्त अनुकम्पा पर बलिहार जाती हूँ कि जिसकी कृपा के फलस्वरूप यह शुभ कार्य आज परिसमाप्त हो पाया है। तदुपरान्त मैं अपने पितृतुल्य पूज्य गुरुवर्य श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी के असीम उपकारों के प्रति कोटिशः नतमस्तक हूँ, कि जिनकी कृपा के हेतु ही मैं सच्चे माने में मानव कहलाने की अधिकारिणी हुई। इस छोटे से प्रयास को गुरु ऋण से मुक्त होने का साधन बताना तो अति धृष्टता होगी, भला कोई अकिञ्चन अपरिमित धनराशि का मूल्य दे ही क्या सकता है, अतः मेरी दृष्टि में इस कार्य को 'परजनहिताय स्वान्तः सुखाय' समझना ही उचित होगा। इसके अतिरिक्त मैं विद्वद्वर्य पूज्य पं० शुकदेव झा जी, जिनसे मैं व्याकरण के विविध ग्रन्थ पढ़कर बहुविध लाभ प्राप्त करती रही हूँ, एवं जिनकी वात्सल्यपूर्ण कृपादृष्टि की मैं विशेष पात्र हूँ, के प्रति भी अपनी तुच्छ श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित करती हूँ।

पूज्य गुरु जी के निधन के पश्चात् इस कार्य को करने में जिन महानुभावों से मुझे प्रेरणा एवं उत्साह मिला है, उनमें विशेष उल्लेखनीय हैं, पूज्य पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक। इस कार्य की पूर्त्ति के लिये मैंने आपके अन्तस्तल में उतनी ही चिन्ता के दर्शन कई बार किये हैं, जितनी पूज्य गुरु जी में दृष्टिगोचर होती थी। इतना ही नहीं मुद्रण से पूर्व सम्पूर्ण पाण्डुलिपि को देखकर आपने यथावसर संशोधन करने की कृपा की है, तथा कतिपय स्थलों में विद्वत्तापूर्ण टिप्पणियाँ देकर ग्रन्थ के स्वरूप को द्विगुणित कर दिया है। मैं उनकी इस महती कृपा की अत्यन्त ही आभारी हूँ। प्रकाशन सम्बन्धी प्रत्येक प्रकार का भार भी श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट के मुख्य प्रतिनिधि स्वरूप पूज्य पण्डित जी पर ही होने से उस सम्बन्ध

में भी मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता आपके प्रति व्यक्त करती हुई विराम लेती हूँ।

इसके अतिरिक्त मैं श्री पं० विजयपाल जी शास्त्री बी० एस० सी० जिन्होंने पाण्डुलिपि सम्बन्धी कतिपय उचित सुझावों को देने, एवं मुद्रण पत्रादि देखने जैसे कठिन कार्यों में सहयोग किया है की मैं हृदय से अनुगृहीत हूँ। मेरी अनुजा कु० सुमेधा देवी (जो महाभाष्य निरुक्तादि पढ़ चुकी है) ने जिस तत्परता लग्न एवं परिश्रम से इसके मुद्रण पत्र तथा पाण्डुलिपि देखने में अपना अधिकाधिक समय लगाया है, उसके विषय में अधिक कुछ कहना तो अपनी ही स्वात्मप्रशंसा होगी, अतः इसके प्रति मैं अपनी अशेष शुभ कामनायें व्यक्त करके ही विरत होती हूँ।

मेरी पूज्या जननी श्रीमती हरदेवी जी आर्या जिन्होंने हम लोगों के निर्माणार्थ अति कष्ट उठाये हैं, तथा अनुज प्रिय सुद्युम्न जी शास्त्री को भी कदापि इस क्षण विस्मृत नहीं किया जा सकता॥ पूज्य गुरु जी के निधन के पश्चात् सर्वत्र माताओं एवं बहिनों से मुझे जितना अधिक प्रेम विश्वास एवं हार्दिक सम्मान प्राप्त हुआ है, वह मेरे सम्बल को प्रतिक्षण अक्षुण्ण बनाये रखने में परम सहायक रहा है। मेरी ईश्वर से प्रार्थना है कि मेरी बहिनें मुझसे जिस प्रकार की सात्त्विक आशायें रखती हैं, मैं प्रतिपल उसके अनुरूप ही सिद्ध हो सकूँ।

मनुष्य स्वल्पज्ञ है, अतएव इस कार्य को सावधानता से करते हुये भी कहीं २ लेखन एवं मुद्रण सम्बन्धी भूल हो जाना सम्भव ही है, विशेषतः जब कि मैं अन्य शोधादि कार्यों में भी व्यस्त रही हूँ, अतः इसके लिये भी मैं अपने सुज्ञ पाठकों से क्षमा याचना करती हुई आशा करूँगी कि वे यथा समय ऐसी भूलों को मुझे सुझाने का यत्न करेंगे, जिससे वे अगले संस्करण में दूर की जा सकें।

निवेदिका—
कु० प्रज्ञा देवी
पो० आजमतगढ़ पैलेस
मोतीझील वाराणसी १

मकर सङ्क्रान्ति २०२४ वि०
१५ जनवरी १९६८ ई०

अथ षष्ठोऽध्यायः

प्रथमः पादः

[*द्वित्वप्रकरणम्*]

एकाचो द्वे प्रथमस्य ॥६।१।१॥

एकाचः ६।१॥ द्वे १।२॥ प्रथमस्य ६।१॥ *स०*—एकोऽच् यस्मिन् स एकाच्, तस्य एकाचः, बहुव्रीहिः ॥ *अर्थः*—प्रथमस्य एकाचो द्वे भवत इत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ *उदा०*—जजागार, पपाच, इयाय, आर ॥

भाषार्थः—[*प्रथमस्य*] प्रथम [*एकाचः*] एक अच् वाले समुदाय को [*द्वे*] द्वित्व हो जाता है। यह अधिकार ६।१।११ सूत्र तक जानना चाहिये ॥ द्वित्व का अभिप्राय है, एक का दो बार उच्चारण करना ॥

अजादेर्द्वितीयस्य ॥६।१।२॥

अजादेः ६।१॥ द्वितीयस्य ६।१॥ *स०*—अच् आदिर्यस्य सः अजादिः, तस्य······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—एकाचः, द्वे ॥ *अर्थः*—अजादेर्द्वितीयस्य एकाचो द्वे भवत इत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ *उदा०*—अटिटिषति, अशिशिषति, अरिरिषति ॥

भाषार्थः—[*अजादेः*] अच् है आदि में जिसके ऐसे शब्द के [*द्वितीयस्य*] द्वितीय एकाच् समुदाय को द्वित्व होता है ॥ यह अधिकार भी ६।१।११ तक जानना चाहिये ॥

यहाँ 'द्वितीयस्य' ग्रहण सामर्थ्य से 'प्रथमस्य' की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं लगता है ॥

न न्द्राः संयोगादयः ॥६।१।३॥

न अ० ॥ न्द्राः १।३॥ संयोगादयः १।३॥ *स०*—नश्च दश्च रश्च न्द्राः, इतरेतरद्वन्द्वः। संयोगस्य आदिः संयोगादिः, ते······षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अजादेर्द्वितीयस्य, एकाचः, द्वे ॥ *अर्थः*—अजादेर्द्वितीयस्य

एकाचः, संयोगस्याद्यवयवभूता नकारदकाररेफाः न द्विरुच्यन्ते। पूर्वेण प्राप्तं द्वित्वं प्रतिषिध्यते ॥ *उदा०* –उन्दिदिषति, अड्डिडिषति, अर्चिचिषति ॥

भाषार्थः—अजादि के द्वितीय एकाच् समुदाय के [*संयोगादयः*] संयोग के आदि में स्थित जो [*न्द्राः*] न् द् र् उनको द्वित्व [*न*] नहीं होता ॥ पूर्व सूत्र से अजादि के द्वितीय एकाच् को द्वित्व प्राप्त था, यहाँ यदि द्वितीय एकाच् समुदाय के संयोग के आदि वाला अक्षर नकार दकार या रेफ हो तो उसे द्वित्व न हो यह निषेध कर दिया ॥

उन्द् धातु में द्वितीय एकाच् के संयोग का आदि 'न्' है सो उसे द्वित्व न होकर 'दिस् दिस्' द्वित्व होकर उन्दिदिषति (गीला करना चाहता है) बना। अद्ड धातु में भी द् को छोड़कर 'डिस् डिस्' द्वित्व होकर अड्डिडिषति (अभियोग करना चाहता है (बना। *ष्टुना ष्टुः* (८।४।४०) से द् को ड् हो गया है। अर्च धातु से अर्चिचिषति (पूजा करना चाहता है) में भी इसी प्रकार पूर्व सूत्र से प्राप्त रेफ सहित को द्वित्व न होकर, रेफ को छोड़कर 'चिस् चिस्' द्वित्व हुआ है। सन्नन्त की पूरी सिद्धि परिशिष्ट में दिखा दी है ॥

पूर्वोऽभ्यासः ॥६।१।४॥

पूर्वः १।१॥ अभ्यासः १।१॥ *अनु०*—द्वे ॥ द्वे इति प्रथमान्तमत्र षष्ठ्या विपरिणम्यते। *अर्थः*—ये द्वे विहितेऽस्मिन् प्रकरणे तयोर्यः पूर्वः सोभ्याससंज्ञो भवति ॥ *उदा०*—पपाच, पिपक्षति, पापच्यते, जुहोति, अपीपचत् ॥

भाषार्थः—जो इस प्रकरण में द्वित्व कहा है, उन दोनों में जो [*पूर्वः*] पूर्व है उसकी [*अभ्यासः*] अभ्यास संज्ञा होती है ॥

जुहोति की सिद्धि भाग १ परि० १।१।६० में देखें। अपीपचत् की सिद्धि परि० ६।१।११ में देखें। सर्वत्र अभ्यास संज्ञा होने से तत्तत् निर्दिष्ट अभ्यास कार्य हो जाते हैं ॥

उभे अभ्यस्तम् ॥६।१।५॥

उभे १।२॥ अभ्यस्तम् १।१॥ *अनु०*—द्वे ॥ *अर्थः*—ये द्वे विहिते ते उभे समुदितेऽभ्यस्तसंज्ञे भवतः ॥ *उदा०*—ददति, ददत्, दधतु ॥

भाषार्थः—[*उभे*] जो द्वित्व रूप से कहे गए वे दोनों (द्वित्व किये हुये दोनों) [*अभ्यस्तम्*] अभ्यस्त संज्ञक होते हैं ॥

यहाँ से '*अभ्यस्तम्*' की अनुवृत्ति ६।१।६ तक जायेगी ॥

जक्षित्यादयः षट् ॥६।१।६॥

जक्ष् अविभक्तिकनिर्देशः ॥ इत्यादयः ॥१।३॥ षट् १।१॥ *स०*—इति आदिः येषां ते इत्यादयः बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अभ्यस्तम् ॥ *अर्थः*—जक्ष इति धातुरादयश्चान्ये षट् धातवोऽभ्यस्तसंज्ञका भवन्ति ॥ *उदा०*—जक्षति, जाग्रति, दरिद्रति, चकासति, शासति, दीध्यते, वेव्यते, दीध्यत् ॥

भाषार्थः—[*जक्ष्*] जक्ष इस धातु की और [*इत्यादयः*] वह आरम्भ में है जिन [*षट्*] छः धातुओं के उनकी अभ्यस्त संज्ञा होती है ॥ आदि शब्द से यहाँ जक्ष से आगे की, छः धातुओं का ग्रहण है, सो जक्ष को लेकर कुल सात धातुओं की अभ्यस्त संज्ञा होगी ॥

पूर्व सूत्र से द्वित्व किये हुये दोनों की ही अभ्यस्त संज्ञा प्राप्त थी, यहाँ बिना द्वित्व किये हुये सामान्य धातुओं की अभ्यस्त संज्ञा की है ॥

तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य ॥६।१।७॥

तुजादीनाम् ६।३॥ दीर्घः १।१॥ अभ्यासस्य ६।१॥ *स०*—तुज आदिर्येषां ते तुजादयस्तेषां .... बहुव्रीहिः ॥ आदिशब्दः प्रकारवाची, तुजप्रकारा इत्यर्थः ॥ *अर्थः*—तुजादीनां धातूनाम् अभ्यासस्य दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—तूतुजानः । मामहानः । अनड्वान् दाधान । स्वधां मीमाय । दाधार । स तूताव ॥

भाषार्थः—[*तुजादीनाम्*] तुजादि धातुओं के [*अभ्यासस्य*] अभ्यास को [*दीर्घः*] दीर्घ होता है ॥ सूत्र में आदि शब्द प्रकारवाची है, तुज के प्रकार वाली, अर्थात् जिनको दीर्घ कहीं कहा नहीं, पर प्रयोग में देखा जाता है, उनके अभ्यास को दीर्घ होता है ॥

लिटि धातोरनभ्यासस्य ॥६।१।८॥

लिटि ७।१॥ धातोः ६।१॥ अनभ्यासस्य ६।१॥ *स०*—अनभ्यासस्येत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—एकाचो द्वे प्रथमस्य, अजादेर्द्वितीयस्य ॥

रतो धातोरवयवस्यानभ्यासस्य प्रथमस्य एकाचोऽजादे-
थायोगं द्वे भवतः ॥ उदा०—पपाच, पपाठ, प्रोर्णुनाव ॥

[लिटि] लिट् लकार परे रहते [धातोः] धातु का अवयव
अनभ्यास (अर्थात् जिसको पहले किसी और निमित्त
द्वित्व होकर अभ्यास संज्ञा नहीं हुई हो) जो प्रथम एकाच्
ात का अवयव जो द्वितीय एकाच् उसको द्वित्व होता है ॥

पूर्ववत् जानें। ऊर्णुञ् धातु से प्रोर्णुनाव बनेगा।
'ऊ' को द्वित्व नहीं होगा, तथा न न्द्राः संयो०
ो द्वित्व न होकर नु नाव् द्वित्व होकर प्रोर्णुनाव

धातोरनभ्यासस्य" की अनुवृत्ति ६।१।११ तक जायेगी ॥

सन्यङोः ॥६।१।९॥

६।२॥ स०—सँश्च यङ् च सन्यङौ, तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥
रनभ्यासस्य, एकाचो द्वे प्रथमस्य, अजादेर्द्वितीयस्य ॥
ास्य यङन्तस्य चानभ्यासस्य धातोरवयवस्य प्रथमस्यैकाचो-
य वा द्वे भवतः ॥ उदा०—पिपक्षति, पिपतिषति, अरिरि-
ाति। यङन्तस्य—पापच्यते, यायज्यते अटाट्यते, अरार्यते,
।

-[सन्यङोः] सन्नन्त और यङन्त धातु के अनभ्यास अवयव
तथा अजादि के द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है ॥

श्लौ ॥६।१।१०॥

श्लौ ७।१॥ अनु०—धातोरनभ्यासस्य, एकाचो द्वे प्रथमस्य, अजादे-
र्द्वितीयस्य ॥ अर्थः—श्लौ परतोऽनभ्यासस्य धातोरवयवस्य प्रथमस्य
एकाचोऽजादेर्द्वितीयस्य वा एकाचो द्वे भवतः ॥ उदा०—जुहोति,
बिभेति, जिह्रेति ॥

भाषार्थः—[श्लौ] श्लु परे रहते धातु के अनभ्यास अवयव प्रथम
एकाच् तथा अजादि के द्वितीय एकाच् को द्वित्व हो जाता है ॥

जुहोति की सिद्धि परि० १।१।६० में देखें। ञिभी भये धातु से इसी प्रकार बिभेति (डरता है) तथा ह्री लज्जायाम् धातु से जिह्रेति (लज्जा करता है) बनता है ॥

चङि ॥६।१।११॥

चङि ७।१॥ अनु०—धातोरनभ्यासस्य, एकाचो द्वे प्रथमस्य, अजादेर्द्वितीयस्य ॥ *अर्थः*—चङि परतोऽनभ्यासस्य धातोरवयवस्य प्रथमस्यैकाचोऽजादेर्द्वितीयस्य वा द्वे भवतः ॥ *उदा०*—अपीपचत्, अपीपठत्, आटिटत्, आशिशत्, आर्दिदत् ॥

भाषार्थः—[चङि] चङ् परे रहते धातु के अनभ्यास प्रथम एकाच् तथा अजादि के द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है ॥

दाश्वान् साह्वान् मीढ्वांश्च ॥६।१।१२॥

दाश्वान् १।१॥ साह्वान् १।१॥ मीढ्वान् १।१॥ च अ० ॥ *अर्थः*—दाश्वान् साह्वान् मीढ्वानित्येते शब्दा निपात्यन्ते छन्दसि भाषायाञ्च सामान्येन ॥ दाश्वानिति—दाशृ दाने इत्येतस्माद् धातोः क्वसुप्रत्ययो भवति, अद्विर्वचनमनिट्त्वञ्च निपात्यते ॥ दाश्वांसो दाशुषः सुतम् ॥ साह्वानिति षह मर्षणे, धातोः क्वसुप्रत्ययः, परस्मैपदमद्विर्वचनमनिट्त्वं धातोरुपधादीर्घत्वञ्च निपात्यते ॥ साह्वान् बलाहकः ॥ मीढ्वानिति मिह सेचने धातोः क्वसुप्रत्ययः, अद्विर्वचनमनिट्त्वं धातोरुपधादीर्घत्वं ढत्वञ्च निपात्यते ॥ मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृडय ॥

भाषार्थः—[दाश्वान्...न्] दाश्वान् साह्वान् [च] तथा मीढ्वान् ये शब्द छन्द तथा भाषा में सामान्य करके निपातन किये जाते हैं ॥

दाश्वान् में दाशृ दाने धातु से लिट् के स्थान में *क्वसुश्च* (३।२।१०७) सूत्र से क्वसु हुआ है। अब क्वसु को स्थानिवद्भाव से लिट् मानकर जो *लिटि धातो०* (६।१।८) से द्वित्व प्राप्त हुआ, उस द्वित्व का निषेध तथा *वस्वेकाजाद्घसाम्* (७।२।६७) से जो इट् प्राप्त था उसका भी निषेध निपातन से किया जाता है ॥ शेष नुम् आगम दीर्घ आदि कार्य चितवान् की सिद्धि के समान जानें ॥ साह्वान् में षह मर्षणे धातु से पूर्ववत् क्वसु होकर परस्मैपदत्व अद्विर्वचन अनिट्त्व एवं धातु की उपधा को दीर्घत्व निपातन किया गया है। यहाँ षह धातु आत्मनेपदी है।

लः परस्मैपदम् (१।४।९८) से (तङ् और आन=को छोड़कर) सब लादेश परस्मैपद होते हैं इस प्रकार लिट् के स्थान में होने से क्वसु लादेश (लकार) है, सो यह परस्मैपद संज्ञक होने से परस्मैपदी धातु से ही होगा, अतः यहाँ धातु को परस्मैपदत्व का निपातन करना पड़ा ॥

मीढ्वान् में मिह सेचने धातु से पूर्ववत् क्वसु करके अद्विर्वचन अनिटत्व, मिह् के उपधा को दीर्घ तथा हकार का ढकार निपातन है। सूत्र निर्दिष्ट प्रकृत उदाहरण में 'मीढ्वस्' सम्बुद्ध्यन्त पद है। मीढ्वन् यहाँ *मतुवसो रु०* (८।३।१) से न् को रु होकर 'मीढ्वर्' विसर्जनीय होकर मीढ्वः तथा उस विसर्जनीय को पुनः तोकाय परे रहते *विसर्जनीयस्य सः* (८।३।३४) से सत्व होकर 'मीढ्वस्तोकाय' बना है ॥ दाश्वान्स् जस्=दाश्वांसः यह बहुवचन का रूप है ॥

[*संप्रसारणप्रकरणम्*]

ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे ॥६।१।१३॥

ष्यङः ६।१॥ सम्प्रसारणम् १।१॥ पुत्रपत्योः ७।२॥ तत्पुरुषे ७।१॥ *स०*—पुत्रश्च पतिश्च पुत्रपती, तयोः...इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अर्थः*—पुत्र, पति इत्येतयोरुत्तरपदयोः ष्यङः सम्प्रसारणं भवति तत्पुरुषे समासे ॥ *उदा०*—कारीषगन्धीपुत्रः कारीषगन्धीपतिः, कौमुदगन्धीपुत्रः कौमुदगन्धीपतिः ॥

भाषार्थः—[*ष्यङः*] ष्यङ् को [*सम्प्रसारणम्*] सम्प्रसारण होता है, यदि [*पुत्रपत्योः*] पुत्र तथा पति शब्द उत्तरपद में हों तो [*तत्पुरुषे*] तत्पुरुष समास में ॥ यण् के स्थान में इक् करने को (१।१।४४) सम्प्रसारण कहते हैं ॥

कारीषगन्ध्या कौमुदगन्ध्या की सिद्धि परि० ४।१।७४ में दिखा आये हैं, इन शब्दों से आगे कारीषगन्ध्यायाः पुत्रः पतिर्वा, कौमुदगन्ध्यायाः पुत्रः पतिर्वा—ऐसा विग्रह करके षष्ठीतत्पुरुष (२।२।८) समास किया, तब प्रकृत सूत्र से ष्यङ् के 'य' को सम्प्रसारण होकर कारीषगन्धिपुत्रः, बना। *सम्प्रसारणस्य* (६।३।१३७) से दीर्घ होकर कारीषगन्धीपुत्रः कारीषगन्धीपतिः आदि रूप बन गये ॥

यहाँ से 'ष्यङः' की अनुवृत्ति ६।१।१४ तथा 'सम्प्रसारणम्' की ६।१।२१ तक जायेगी ॥

बन्धुनि बहुव्रीहौ ॥६।१।१४॥

बन्धुनि ७।१॥ बहुव्रीहौ ७।१॥ *अनु०*—ष्यङः, सम्प्रसारणम् ॥ *अर्थः*—बन्धुशब्द उत्तरपदे बहुव्रीहौ समासे ष्यङः सम्प्रसारणं भवति ॥ *उदा०*—कारीषगन्ध्या बन्धुरस्य कारीषगन्धीबन्धुः कौमुदगन्धीबन्धुः॥

भाषार्थः—[*बन्धुनि*] बन्धु शब्द उत्तरपद में हो तो [*बहुव्रीहौ*] बहुव्रीहि समास में ष्यङ् को सम्प्रसारण हो जाता है ॥

सिद्धि पूर्ववत् जानें। *अनेकमन्यपदार्थे* (२।२।२४) से यहाँ समास होगा, यही विशेष है ॥ *उदा०*—कारीषगन्धीबन्धुः (कारीषगन्ध्या नाम की स्त्री जिसकी बन्धु है), कौमुदगन्धीबन्धुः ॥

वचिस्वपियजादीनां किति ॥६।१।१५॥

वचिस्वपियजादीनाम् ६।३॥ किति ७।१॥ *स०*—यज आदिर्येषां ते यजादयः, बहुव्रीहिः। वचिश्च स्वपिश्च यजादयश्च वचिस्वपियजादयस्तेषाम्, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सम्प्रसारणम् ॥ *अर्थः*—वचिस्वप्योर्यजादीनां च सम्प्रसारणं भवति किति परतः ॥ *उदा०*—वच्—उक्तः, उक्तवान्। स्वप्—सुप्तः, सुप्तवान्। यज्—इष्टः इष्टवान्। वप्—उप्तः, उप्तवान्। वह्—ऊढः, ऊढवान्। वस्—उषितः, उषितवान्। वेञ्—उतः, उतवान्। व्येञ्—संवीतः, संवीतवान्। ह्वेञ्—हूतः, हूतवान्। वद्—उदितः, उदितवान्। टुओश्वि—शूनः, शूनवान् ॥

भाषार्थः—[*वचिस्वपियजादीनाम्*] वच, ञिष्वप् शये तथा यजादि धातुओं को [*किति*] कित् प्रत्यय के परे रहते सम्प्रसारण हो जाता है। वच् से वच परिभाषणे तथा *ब्रुवो वचिः* (२।४।५३) से विहित वच् आदेश दोनों का ग्रहण है। यजादि के अन्तर्गत यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु से लेकर भ्वादिगण की समाप्तिपर्यन्त धातुओं का ग्रहण है ॥

उक्तः उक्तवान् आदि की सिद्धि परि० १।१।४४ में देखें। ऊढः में वह धातु से क्त प्रत्यय तथा सम्प्रसारण होकर 'उह् त' बना, अब *हो ढः* (८।२।३१) से ह् को 'ढ्' *झषस्तथो०*(८।२।४०) से त् को 'ध' एवं ष्टुत्व

होकर 'उढ् ढ' रहा। *ढो ढे लोपः* (८।३।१३) से एक ढकार का लोप तथा *ढ्रलोपे पूर्वस्य०* (६।३।१०९) से दीर्घ होकर ऊढः बन गया। क्तवतु में ऊढवान् की सिद्धि भी इसी प्रकार जानें। उषितः उषितवान् में *शासिवसि०* (८।३।६०) से षत्व हुआ है। संवीतः हूतः शूनः आदि में *हलः* (६।४।२) से दीर्घ हुआ है। शूनः शूनवान् में *ओदितश्च* (८।२।४५) से निष्ठा को नत्व तथा *आर्धधातुकस्ये०* (७।२।३५) से प्राप्त इट् का *श्वीदितो०* (७।२।१४) से निषेध भी हुआ है॥

यहाँ से *किति'* की अनुवृत्ति ६।१।१६ तक जायेगी॥

ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च ॥६।१।१६॥

ग्रहि……भृज्जतीनाम् ६।३॥ ङिति ७।१॥ च अ०॥ *स०*—ग्रहि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—किति, सम्प्रसारणम्॥ *अर्थः*—ग्रह उपादाने, ज्या वयोहानौ, वेञो वयिरिति वयादेशः, व्यध ताडने, वश कान्तौ व्यच व्याजीकरणे, ओव्रश्चू छेदने, प्रच्छ ज्ञीप्सायां, भ्रस्ज पाके, इत्येतेषां धातूनां सम्प्रसारणं भवति, ङिति किति च परतः॥ *उदा०*—ग्रह-गृहीतः, गृहीतवान्, ङिति—गृह्णाति जरीगृह्यते। ज्या—जीनः, जीनवान्, ङिति—जिनाति, जेजीयते। वय—ऊयतुः, ऊयुः। ङिद्भावात् किदेवात्रोदाह्रियते। व्यध—विद्धः, विद्धवान्। ङिति—विध्यति वेविध्यते। वश—उशितः, उशितवान्। ङिति—उष्टः, उशन्ति। व्यच—विचितः, विचितवान्। ङिति—विचति वेविच्यते। ओव्रश्चू—वृक्णः, वृक्णवान्। ङिति—वृश्चति, वरीवृश्च्यते। प्रच्छ—पृष्टः, पृष्टवान्। ङिति—पृच्छति, परीपृच्छ्यते। भ्रस्ज—भृष्टः, भृष्टवान्। ङिति—भृज्जति, बरीभृज्ज्यते॥

भाषार्थः—[*ग्रहिज्या…भृज्जतीनाम्*] ग्रह उपादाने, ज्या वयोहानौ, वय (वेञो वयिः से जो वय आदेश होता है उसका यहाँ ग्रहण है), व्यध ताडने, वश कान्तौ, व्यच व्याजीकरणे, ओव्रश्चू छेदने, प्रच्छ ज्ञीप्सायां, भ्रस्ज पाके, इन-इन धातुओं को सम्प्रसारण हो जाता है, [*ङिति*] ङित् [*च*] तथा कित् प्रत्यय परे रहते॥ वश धातु को यङ् परे रहते सम्प्रसारण का निषेध *न वशः* (६।१।२०) से करेंगे, अतः उसके यङ् का उदाहरण नहीं दिया।

लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् ॥६।१।१७॥

लिटि ७।१॥ अभ्यासस्य ६।१॥ उभयेषाम् ६।३॥ *अनु०*—सम्प्रसारणम् ॥ *अर्थः*—उभयेषां=वच्यादीनां ग्रहादीनां च लिटि परतोऽभ्यासस्य सम्प्रसारणं भवति॥ *उदा०*—वच्—उवाच, उवचिथ। स्वप्—सुष्वाप, सुष्वपिथ। यज्—इयाज, इयजिथ। टुवप्—उवाप, उवपिथ। ग्रह—जग्राह, जग्रहिथ। ज्या—जिज्यौ, जिज्यिथ। वय—उवाय, उवयिथ। व्यध—विव्याध, विव्यधिथ। वश—उवाश, उवशिथ। व्यच—विव्याच, विव्यचिथ। ओव्रश्चू—वव्रश्च, वव्रश्चिथ। प्रच्छ—पप्रच्छ पप्रच्छिथ। भ्रस्ज—बभ्रज्ज बभ्रज्जिथ। ग्रहिपृच्छतिभृज्जतीनां सम्प्रसारणासंप्रसारणत्व उभयथाऽपि रूपयोरविशेषः॥

भाषार्थः—[*उभयेषाम्*] दोनों के अर्थात् वचि, स्वपि, यजादि तथा ग्रहिज्यादियों के [*अभ्यासस्य*] अभ्यास को सम्प्रसारण हो जाता है, [*लिटि*] लिट् परे रहते॥

विशेषः—लिट् लकार के *असंयोगाल्लिट् कित्* (१।२।५) से कित्वत् होने के कारण, लिट् लकार में अभ्यास को पूर्व दोनों सूत्रों से ही सम्प्रसारण हो सकता था, पुनः इस सूत्र के विधान करने का यह प्रयोजन है कि, जहाँ लिडादेश पित्स्थानी होने के कारण पूर्वोक्त सूत्र से कित्वत् नहीं हो सकता, वहाँ कित् परे न होने पर भी अभ्यास को सम्प्रसारण हो जाय। जैसे णल् तथा थल् तिप् सिप् स्थानी होने से पित् स्थानी हैं, अतः कित्वत् नहीं थे, पुनरपि यहाँ इस सूत्र से सम्प्रसारण हो जाता है॥

लिट् लकार की सिद्धियाँ बहुत बार दिखा आये हैं, उसी प्रकार यहाँ भी समझें, सम्प्रसारण रूप ही एक कार्य यहाँ विशेष है और कुछ नहीं॥ द्वित्व करने के पश्चात् *हलादिः शेषः* (७।४।६०) से पहले ही प्रकृत सूत्र से अभ्यास को सम्प्रसारण होता है। ग्रह प्रच्छ तथा भ्रस्ज धातु को द्वित्व तथा सम्प्रसारण होकर 'गृ ग्रह, पृ प्रच्छ, भृ भ्रस्ज' बना। पुनः *उरत्* (७।४।६६) से अत्व करके 'गर् ग्रह पर् प्रच्छ, भर् भ्रस्ज' बना। हलादि शेष करके जग्राह पप्रच्छ बभ्रज्ज बन गया। बभ्रज्ज यहाँ इतना और विशेष है कि *झलां जश् झशि* (८।४।५२) से भ्रस्ज के स् को द् एवं पुनः द् को श्चुत्व (८।४।३९) होकर ज् हो गया है। यहाँ सम्प्रसारण बिना किये

हलादिः शेषः से अभ्यास के रेफ की निवृत्ति होकर पप्रच्छ बभ्रज्ज रूप बन सकता था, अतः कहा है कि प्रच्छ तथा भ्रस्ज धातु में सम्प्रसारण करने एवं न करने में कोई विशेष नहीं है अर्थात् दोनों में एक जैसा ही रूप बनेगा, सो प्रच्छ, भ्रस्ज से अतिरिक्त धातुओं के लिये ही यह सम्प्रसारण विधान है ॥

स्वापेश्चङि ॥६।१।१८॥

स्वापेः ६।१॥ चङि ७।१॥ *अनु०*—सम्प्रसारणम् ॥ *अर्थः*—स्वापेरिति स्वपधातोर्ण्यन्तस्य ग्रहणम् । तस्य स्वापेः चङि परतः सम्प्रसारणं भवति ॥ *उदा०*—असूषुपत्, असूषुपताम्, असूषुपन् ॥

भाषार्थः—[*स्वापेः*] स्वापि (णिजन्त) धातु को [*चङि*] चङ् परे रहते सम्प्रसारण हो जाता है ॥ स्वप् धातु का स्वापि यह णिजन्त में निर्देश है ॥ परि० ६।१।११ में किये गये अपीपचत् की सिद्धि के समान असूषुपत् की सिद्धि जानें, केवल यहाँ चङ् परे रहते सम्प्रसारण (व को उ) होता है, यही विशेष है । सम्प्रसारण होकर सुप् सुप् द्वित्व होगा शेष सिद्धि परि० ६।१।११ के समान जानें । *आदेशप्रत्यययोः* (८।३।५९) से षत्व हो जायेगा ॥

स्वपिस्यमिव्येञां यङि ॥६।१।१९॥

स्वपिस्यमिव्येञाम् ६।३॥ यङि ७।१॥ *स०*—स्वपि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सम्प्रसारणम् ॥ *अर्थः*—ञिष्वप् शये, स्यमु शब्दे, व्येञ् संवरणे इत्येतेषां धातूनां यङि परतः सम्प्रसारणं भवति ॥ *उदा०*—सोषुप्यते, सेसिम्यते, वेवीयते ॥

भाषार्थः—[*स्वपिस्यमिव्येञाम्*] ञिष्वप् स्यमु व्येञ् इन धातुओं को [*यङि*] यङ् परे रहते सम्प्रसारण हो जाता है ॥ परि० ६।१।९ के समान यङ् की सिद्धि जानें । व्येञ् में व् तथा य् दोनों यण् हैं सो दोनों को ही सम्प्रसारण हो सकता है, पर *न सम्प्रसारणे०* (६।१।३६) से संप्रसारण परे होने पर पूर्व यण् को सम्प्रसारण का निषेध करने से विदित होता है कि पहले पर यण् को सम्प्रसारण होता है, तत्पश्चात् पूर्व य को उक्त सूत्र से सम्प्रसारण का निषेध हो जाता है । इस प्रकार

यहाँ पर यण् 'य्' को सम्प्रसारण होता है। *आदेच उपदेशेऽशिति* (६।१।४४) से आत्व यहाँ हो ही जायेगा।

यहाँ से '*यङि*' की अनुवृत्ति ६।१।२१ तक जायेगी ॥

न वशः ॥६।१।२०॥

न अ० ॥ वशः ६।१॥ *अनु०*—यङि, सम्प्रसारणम् ॥ *अर्थः*—वशेर्धातोर्यङि परतः सम्प्रसारणं न भवति ॥ *उदा०*—वावश्यते वावश्येते वावश्यन्ते।

भाषार्थः—[*वशः*] वश धातु को यङ् परे रहते सम्प्रसारण [*न*] नहीं होता ॥ *ग्रहिज्यावयि०* (६।१।१६) से यङ् ङित् के परे रहते सम्प्रसारण प्राप्त था, उसका निषेध इस सूत्र से हो जाता है ॥

चायः की ॥६।१।२१॥

चायः ६।१॥ की, लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ *अनु०*—यङि ॥ *अर्थः*—चायृ पूजानिशामनयोरित्येतस्य धातोर्यङि परतः 'की' आदेशो भवति ॥ *उदा०*—चेकीयते चेकीयेते चेकीयन्ते ॥

भाषार्थः—[*चायः*] चायृ धातु को यङ् परे रहते [*की*] 'की' आदेश होता है ॥ इस सूत्र में सम्प्रसारण की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं लगता ॥

स्फायः स्फी निष्ठायाम् ॥६।१।२२॥

स्फायः ६।१॥ स्फी, लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ निष्ठायाम् ७।१॥ *अर्थः*—स्फायी वृद्धौ धातोर्निष्ठायां परतः स्फीत्ययमादेशो भवति॥ *उदा०*—स्फीतः, स्फीतवान् ॥

भाषार्थः—[*स्फायः*] स्फायी धातु को [*निष्ठायाम्*] निष्ठा परे रहते [*स्फी*] स्फी यह आदेश हो जाता है ॥ इस सूत्र में भी सम्प्रसारणम् की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं होता ॥

यहाँ से '*निष्ठायाम्*' की अनुवृत्ति ६।१।२८ तक जायेगी ॥

स्त्यः प्रपूर्वस्य ॥६।१।२३॥

स्त्यः ६।१॥ प्रपूर्वस्य ६।१॥ *स०*—प्र पूर्वो यस्य स प्रपूर्वस्तस्य ''बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—निष्ठायाम्, सम्प्रसारणम् ॥ *अर्थः*—प्रपूर्वस्य स्त्याधातोर्निष्ठायां परतः सम्प्रसारणं भवति ॥ *उदा०*—प्रस्तीतः, प्रस्तीतवान् । प्रस्तीमः, प्रस्तीमवान् ॥

भाषार्थः—[*प्रपूर्वस्य*] प्र पूर्व में है, जिस [*स्त्यः*] स्त्या (स्त्यै) धातु के, उसको निष्ठा परे रहते सम्प्रसारण हो जाता है॥ स्त्यै को *आदेच उपदेशे०* (६।१।४४) से आत्व होकर प्र स्त्या त प्रस्तित: = *हलः* (६।४।२) से दीर्घ होकर प्रस्तीतः प्रस्तीतवान् बन गया। प्रस्तीमः, प्रस्तीमवान् में निष्ठा के त को म *प्रस्त्योऽन्यतरस्याम्* (८।२।५४) से विकल्प से हुआ है॥

द्रवमूर्तिस्पर्शयोः श्यः ॥६।१।२४॥

द्रवमूर्त्तिस्पर्शयोः ७।२॥ श्यः ६।१॥ *स०*—द्रवस्य मूर्त्तिः काठिन्यं, द्रवमूर्त्तिः, षष्ठीतत्पुरुषः, द्रवमूर्त्तिश्च स्पर्शश्च द्रवमूर्त्तिस्पर्शौ तयोः''' इतरेतरद्वन्द्वः ॥*अनु०*— निष्ठायाम्, सम्प्रसारणम्॥ *अर्थः*— द्रवमूर्त्तौ = द्रवकाठिन्ये स्पर्शे च वर्त्तमानस्य श्यैङ् गतौ इत्येतस्य धातोः सम्प्रसारणं भवति निष्ठायां परतः॥ *उदा०*—द्रवमूर्त्तौ—शीनं घृतं, शीना वसा, शीनं मेदः। द्रवावस्थायाः काठिन्यं गतम् इत्यर्थः। स्पर्शे—शीतं वर्त्तते, शीतो वायुः, शीतमुदकम्॥

भाषार्थः— [*द्रवमू'''योः*] द्रवमूर्त्ति अर्थात् तरल पदार्थ के काठिन्य में वर्त्तमान तथा स्पर्श अर्थ में वर्त्तमान [*श्यः*] श्यैङ् धातु को सम्प्रसारण हो जाता है निष्ठा के परे रहते॥

श्योऽस्पर्शे (८।२।४७) से अस्पर्श विषय में निष्ठा के त को 'न' हुआ है। शेष आत्व (६।१।४४) दीर्घत्वादि (६।४।२) सब पूर्ववत् ही जानें॥ *उदा०*—शीनं घृतम् (कठोर जमा हुआ घी)। शीना वसा (जमी हुई चर्बी)। शीतं वर्त्तते (शीतल स्पर्श), शीतो वायुः (शीतल स्पर्श युक्त वायु)॥

यहाँ से '*श्यः*' की अनुवृत्ति ६।१।२६ तक जायेगी॥

प्रतेश्च ॥६।१।२५॥

प्रतेः ५।१॥ च अ०॥ *अनु०*—श्यः, निष्ठायाम्, सम्प्रसारणम्॥ *अर्थः*—प्रतेरुत्तरस्य श्याधातोर्निष्ठायां परतः सम्प्रसारणं भवति॥ *उदा०*—प्रतिशीनः, प्रतिशीनवान्॥

भाषार्थः—[*प्रतेः*] प्रति से उत्तर [*च*] भी श्या धातु को निष्ठा परे रहते, सम्प्रसारण हो जाता है॥ पूर्व सूत्र से ही सम्प्रसारण प्राप्त था, यहाँ द्रवमूर्त्ति तथा स्पर्श विषय से अन्यत्र भी सम्प्रसारण हो जावे,

इसलिये यह वचन है ॥ सिद्धि पूर्ववत् ही जानें ॥ उदा०—प्रतिशीनः (पिघला हुआ द्रव्य) प्रतिशीनवान् ॥

विभाषाऽभ्यवपूर्वस्य ॥६।१।२६॥

विभाषा १।१॥ अभ्यवपूर्वस्य ६।१॥ स०—अभिश्च अवश्च, अभ्यवौ, अभ्यवौ पूर्वौ यस्य स अभ्यवपूर्वस्तस्य' 'द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ अनु०-श्यः, निष्ठायाम्, सम्प्रसारणम् ॥ *अर्थः*—अभि, अव इत्येवं पूर्वस्य श्याधातोर्निष्ठायां परतो विभाषा सम्प्रसारणं भवति ॥ *उदा०*—अभिशीनम्, पक्षे—अभिश्यानम् । अवशीनम्, पक्षे—अवश्यानम् ॥ उभयत्र विभाषेयम्, तेन *द्रवमूर्तिस्पर्शयोरपि* सम्प्रसारणं विकल्प्यते ।

भाषार्थः—[*अभ्यवपूर्वस्य*] अभि अव पूर्वक श्या धातु को निष्ठा परे रहते [*विभाषा*] विकल्प से सम्प्रसारण होता है ॥ पक्ष में सम्प्रसारण नहीं भी होगा ॥ सिद्धि पूर्ववत् समझें ॥

यह उभयत्र विभाषा है, अतः अभि अव पूर्वक श्या धातु को इस सूत्र से द्रवमूर्त्तिस्पर्श विवक्षा में भी विकल्प होता है, ऐसा समझना चाहिये ॥

यहाँ से '*विभाषा*' की अनुवृत्ति ६।१।२८ तक जायेगी ॥

शृतं पाके ॥६।१।२७॥

शृतम् १।१॥ पाके ७।१॥ *अनु०*—विभाषा, निष्ठायाम् ॥ *अर्थः*—पाके वाच्ये शृतमिति निपात्यते श्रा पाके इत्येतस्य धातोर्ण्यन्तस्याण्यन्तस्य च क्तप्रत्यये परतः पाकेऽभिधेये शृभावो विभाषा निपात्यते ॥ शृतं क्षीरम्, शृतं हविः ॥ व्यवस्थितविभाषा चेयं तेन क्षीरहविषोर्नित्यं शृभावो भवति अन्यत्र न भवति, यथा—श्राणा यवागूः, श्रपिता यवागूः ॥

भाषार्थः—[*शृतम्*] शृतम् यह शब्द [*पाके*] पाक अभिधेय होने पर निपातन किया जाता है । श्रा पाके धातु चाहे वह ण्यन्त हो या अण्यन्त उसको क्त प्रत्यय के परे रहते विकल्प से पाक अभिधेय होने पर शृभाव निपातन किया जाता है ॥ इस सूत्र में कही विभाषा व्यवस्थित विभाषा है, ऐसा समझना चाहिये ।

व्यवस्थित विभाषा उदाहरण विशेष में विधि, एवं उदाहरण विशेष में ही निषेध करती है, इसलिये यहाँ भी क्षीर तथा हवि विषय में ही

शृ आदेश की विधि तथा अन्यत्र निषेध (शृ आदेश का अभाव) होता है। श्राणा, श्रपिता का प्रयोग क्षीर हवि विषयक पाक से अन्यत्र होता है।

श्राणा में निष्ठा के तकार को नकार *संयोगादेरातो०* (८।२।४१) से हुआ है। ४।१।४ से टाप् हो जायगा। श्रपिता णिजन्त के श्रा धातु से निष्ठा प्रत्यय होकर बना है। *अर्त्तिह्रीव्लीरी०* (७।३।३६) से पुक् आगम हो ही जायगा। *घटादयो मितः* इस धातुपाठ के सूत्र से 'श्रा' के मित् माने जाने से *मितां ह्रस्वः* (६।४।९२) से ह्रस्व भी हो जाता है। श्रा पुक् णिच् त टाप् = श्राप्इ त आ ह्रस्व होकर श्रपिता बन गया ॥

प्यायः पी ॥६।१।२८॥

प्यायः ६।१॥ पी, लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः॥ *अनु०*—विभाषा, निष्ठायाम्॥ *अर्थः*—ओप्यायी वृद्धौ इत्येतस्य धातोर्निष्ठायां परतो विभाषा 'पी' इत्ययमादेशो भवति॥ *उदा०*—पीनं मुखम्, पीनौ बाहू, पीनमुरः। पक्षे न च भवति—आप्यानश्चन्द्रमाः। व्यवस्थितविभाषात्वाद् अनुपसर्गस्य नित्यमादेशः, सोपसर्गस्य तदभावो ज्ञेयः॥

भाषार्थः—[*प्यायः*] ओप्यायी धातु को निष्ठा परे रहते विकल्प से [*पी*] पी आदेश होता है॥ यह भी व्यवस्थित विभाषा है, अतः अनुपसर्ग प्या धातु को नित्य 'पी' आदेश होता है, तथा सोपसर्ग को नहीं होता॥ *ओदितश्च* (८।२।४५) से निष्ठा के त को 'न' पीनं आदि में हुआ है॥

यहाँ से '*प्यायः पी*' की अनुवृत्ति ६।१।२९ तक जायेगी॥

लिड्यङोश्च ॥६।१।२९॥

लिड्यङोः ७।२॥ च अ०॥ *स०*—लिड्यङोरित्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—प्यायः पी॥ *अर्थः*—लिटि यङि च परतः प्यायः 'पी' इत्ययमादेशो भवति॥ *उदा०*—आपिप्ये, आपिप्याते, आपिप्यिरे। यङि—आपेपीयते, आपेपीयेते, आपेपीयन्ते॥

भाषार्थः—[*लिड्यङोः*] लिट् तथा यङ् परे रहते [*च*] भी ओप्यायी धातु को पी आदेश होता है॥

आपिप्ये में द्वित्वादि सब कार्य लिट् लकार में की गई सिद्धियों के सामान हैं, यहाँ केवल 'त' को *लिटस्तझयोरेशिरेच्* (३।४।८१) से एश्

हो जाता है। आपेपीयते भी यङ् की सिद्धि के समान जानें। *गुणो-यङ्लुकोः* (७।४।८२) से अभ्यास को गुण हो ही जायेगा॥

यहाँ से '*लिड्यङोः*' की अनुवृत्ति ६।१।३० तक जायेगी॥

विभाषा श्वेः ॥६।१।३०॥

विभाषा १।१॥ श्वेः ६।१॥ *अनु०*—लिड्यङोः, सम्प्रसारणम्॥ *अर्थः*—लिटि यङि च परतः श्विधातोः सम्प्रसारणं भवति विकल्पेन॥ *उदा०*—लिटि—शुशाव शिश्वाय, शुशुवतुः शिश्वियतुः। यङि—शोशूयते शेश्वीयते॥

भाषार्थः—लिट् तथा यङ् परे रहते [*श्वेः*] टुओश्वि धातु को [*विभाषा*] विकल्प से सम्प्रसारण हो जाता है॥ सिद्धियाँ परि० १।१।४३ में देखें॥

इस सूत्र में उभयत्र विभाषा है। लिट् लकार में कित् प्रत्यय (द्विवचन बहुवचन) परे रहते *वचिस्वपि०* (६।१।१५) से श्वि धातु को नित्य संप्रसारण प्राप्त था और अकित् प्रत्यय (एकवचन) परे रहते सम्प्रसारण नहीं प्राप्त था। यङ् परे रहते भी श्वि को सम्प्रसारण की प्राप्ति नहीं थी। उभयत्र विभाषा में न वा अर्थों में से प्रथम न का अर्थ प्रवृत्त होता है। तदनुसार श्वि को लिट् तथा यङ् परे सम्प्रसारण नहीं होता इस अर्थ द्वारा श्वि को जहाँ कहीं भी (कित् परे रहते धातु को, प्राप्त सम्प्रसारण का निषेध हो गया। (यङ् में तो प्राप्त ही नहीं था अतः यङ् विषय में न की प्रवृत्ति नहीं होती)। तदनन्तर 'वा' के अर्थ की प्रवृत्ति हुई—श्वि धातु को लिट् और यङ् परे विकल्प से सम्प्रसारण होता है॥

यहाँ से '*विभाषा श्वेः*' की अनुवृत्ति ६।१।३१ तक जायेगी॥

णौ च संश्चङोः ॥६।१।३१॥

णौ ७।१॥ च अ०॥ संश्चङोः ७।२॥ *स०*—संश्चङोरित्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—विभाषा श्वेः, सम्प्रसारणम्॥ *अर्थः*—सन्परे चङ्परे च णौ परतः श्वीत्येतस्य धातोर्विभाषा सम्प्रसारणं भवति॥ *उदा०*—सन्परे—शुशावयिषति, शिश्वाययिषति। चङ्परे—अशूशवत् अशिश्वयत्॥

भाषार्थः—[*संश्चङोः*] सन् परे हो, या चङ्परे हो जिस [*णौ*] णिच् के ऐसे णि के परे रहते [च] भी टुओश्वि धातु को विकल्प से सम्प्रसारण हो जाता है ॥

यहाँ से '*णौ च संश्चङोः*' की अनुवृत्ति ६।१।३२ तक जायेगी ॥

ह्वः सम्प्रसारणमभ्यस्तस्य च ॥६।१।३२॥

ह्वः ६।१॥ सम्प्रसारणम् १।१॥ अभ्यस्तस्य ६।१॥ च अ०॥ *अनु०*—णौ च संश्चङोः ॥ *अर्थः*—सन्परे चङ्परे च णौ परतो ह्वः सम्प्रसारणं भवति, अभ्यस्तस्य निमित्तं यो ह्वयतिस्तस्य च सम्प्रसारणं भवति ॥ *उदा०*—जुहावयिषति जुहावयिषतः जुहावयिषन्ति। चङ्परे—अजूहवत्, अजूहवताम्, अजूहवन्। अभ्यस्तस्य—जुहाव जोहूयते, जुहूषति ॥

भाषार्थः—सन्परक चङ्परक णि के परे रहते [*ह्वः*] ह्वेञ् धातु को [*सम्प्रसारणम्*] सम्प्रसारण हो जाता है, तथा [*अभ्यस्तस्य*] अभ्यस्त का निमित्त जो ह्वेञ् धातु उसको [च] भी सम्प्रसारण हो जाता है ॥

विशेषः—'अभ्यस्तस्य च' इस अंश के अर्थ में च से 'ह्वः' का संनियोग होता है, 'अभ्यस्तस्य' तथा 'ह्वः' दोनों षष्ठ्यन्त पद हैं, सो इनका अर्थ "अभ्यस्त के ह्वेञ् धातु को सम्प्रसारण होता है" यह होगा। अब प्रश्न यह है कि अभ्यस्त का ह्वेञ् धातु क्या है, अर्थात् इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है सो उसको बताने के लिये अर्थ में निमित्त शब्द जोड़ा गया है, "अभ्यस्त का निमित्त = कारण जो ह्वेञ्" उसे सम्प्रसारण होता है। ऐसा अर्थ करने से यह लाभ होगा, कि जिस ह्वेञ् धातु में अभ्यस्त बनने का अर्थात् द्वित्व करने का निमित्तमात्र (लिट्, सन्, यङ्, आदि) हो उसको अभ्यस्त बनने से (द्वित्व होने से) पूर्व ही सम्प्रसारण हो जाता है ॥

सिद्धि परि० ६।१।३१ के समान ही जानें। ह्वेञ् को आत्व *आदेच उपदेशे०* (६।१।४४) से हो ही जायेगा॥ जुहाव (लिट्) जोहूयते (यङ्) तथा जुहूषति (सन्) सबमें सिद्धि पूर्ववत् जानें ॥

यहाँ से 'ह्वः' की अनुवृत्ति ६।१।३३ तक तथा '*सम्प्रसारणम्*' की ६।१।३६ तक जायेगी ॥

बहुलं छन्दसि ॥६।१।३३॥

बहुलम् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ *अनु०*—ह्वः सम्प्रसारणम् ॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये ह्वेञ्धातोर्बहुलं सम्प्रसारणं भवति ॥ *उदा०*—इन्द्राग्नी हुवे। देवीं सरस्वतीं हुवे। बहुलग्रहणात् न च भवति—ह्वयामि मरुतः शिवान्। ह्वयामि विश्वान् देवान् ॥

भाषार्थः—[*छन्दसि*] वेद विषय में ह्वेञ् धातु को [*बहुलम्*] बहुल करके सम्प्रसारण होता है ॥

हुवे लट् लकार आत्मनेपद का रूप है। 'ह्वे शप् इट्' यहाँ बहुलं छन्दसि (२।४।७३) से शप् का लुक् होकर तथा प्रकृत सूत्र से सम्प्रसारण होकर हु ए इ रहा सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०४) से पूर्वरूप होकर 'हु इ' रहा। (६।४।७७) से 'हु' के 'उ' को उवङ् होकर 'हुव् इ' रहा। पश्चात् *टित आत्मने०* (३।४।७९) से एत्व होकर हुवे बन गया ॥

यहाँ से '*बहुलम्*' की अनुवृत्ति ६।१।३४ तक तथा '*छन्दसि*' की ६।१।३५ तक जायेगी ॥

चायः की ॥६।१।३४॥

चायः ६।१॥ की लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ *अनु०*—बहुलं छन्दसि ॥ *अर्थः*—चायृधातोः छन्दसि विषये बहुलं कीत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—विधुना निचिक्युः, नान्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम्। न च भवति—अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य (य० ११।१) ॥

भाषार्थः—[*चायः*] चायृ धातु को वेद विषय में बहुल करके [*की*] 'की' आदेश हो जाता है ॥

निचिक्युः यह नि पूर्वक चायृ धातु के लिट् लकार के 'उस्' का रूप है। निचाय्य यहाँ बहुल कहने के कारण 'की' आदेश नहीं होता। निचाय्य रूप क्त्वा को ल्यप् आदेश होकर बना है। नि चाय् क्त्वा = निचाय् ल्यप् = निचाय्य ॥

अपस्पृधेथामानृचुरानृहुश्चिच्युषेतित्याजश्राताः श्रितमाशीराशीर्त्ताः ॥६।१।३५॥

अपस्पृधेथाम् तिङ् ॥ आनृचुः तिङ् ॥ आनृहुः तिङ् ॥ चिच्युषे तिङ् ॥ तित्याज तिङ् ॥ श्राताः १।३॥ श्रितम् १।१॥ आशीर् १।१॥

आशीर्त्ताः १।३।। *अनु०*—छन्दसि, सम्प्रसारणम्।। *अर्थः*—छन्दसि विषये एते शब्दा निपात्यन्ते ।। अपस्पृधेथाम् इत्यत्र स्पर्धधातोर्लङि आथामि द्विर्वचनं रेफस्य सम्प्रसारणम् अकारलोपश्च निपातनात् भवति।। *अपर आह*—अपपूर्वस्य स्पर्धेः लङि, आथामि, सम्प्रसारणमकारलोपश्च निपातनात्। *बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि* (६।४।७५) इत्यडागमो न भवति। अस्मिन् पक्षे द्वित्वस्य नास्त्यावश्यकता ।। इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथाम्। पूर्वस्मिन् पक्षे भाषायाम् अस्पर्धेथाम्, अपरस्मिन् पक्षे अपास्पर्धेथाम् इति भवति। आनृचुः आनृहुरित्यत्र, अर्च पूजायाम्, अर्ह पूजायामित्यनयोः धात्वोः लिटि उसि परतः सम्प्रसारणमकारलोपश्च निपातनाद् भवति ।। य इृग्रा अर्कमानृचुः (ऋ० १।१६।४)। न वसून्यानृहुः। आनर्चुः आनर्हुरिति भाषायाम्।। चिच्युषे, इत्यत्र च्युङ्गतावित्यस्य धातोः लिटि 'से' (*थासः से* ३।४।८०) परतोऽभ्यासस्य सम्प्रसारणमनिट्त्वञ्च निपातनाद् भवति। चुच्युविषे इति भाषायाम्। तित्याजेत्यत्र त्यजधातोः लिटि परतोऽभ्यासस्य सम्प्रसारणं निपात्यते। तित्याज। तत्याजेति भाषायाम्।। श्राता इत्यत्र श्रीञ् धातोर्निष्ठायां परतः श्राभावो निपात्यते ।। श्रातास्त इन्द्रसोमाः।। श्रितमित्यत्र तस्यैव श्रीञ्धातोः निष्ठायां परतो ह्रस्वत्वं निपात्यते ।। सोमो गौरी अधिश्रितः।। आशीरित्यत्रापि तस्यैव आङ्पूर्वस्य श्रीञ्धातोः क्विपि परतः शीरादेशो निपात्यते।। तामाशीरा दुहन्ति ।। आशीर्त्ता इत्यत्रापि आङ्पूर्वस्य श्रीञ्धातोः निष्ठायां परतः शीभावो निष्ठायाश्च *रदाभ्यां नि०* (८।२।४२) इत्यनेन नत्वे प्राप्तेऽभावो निपात्यते ।। क्षीरैर्मध्यत आशीर्त्तः ।।

भाषार्थः—वेद विषय में [*अपस्पृ.....शीर्त्ताः*] अपस्पृधेथाम् आदि शब्द निपातन किये जाते हैं ।। अपस्पृधेथाम् यहाँ स्पर्ध धातु से लङ् लकार में आथाम् होकर स्पर्ध को द्विर्वचन तथा रेफ को सम्प्रसारण, एवं धातु के 'प्' से उत्तरवर्ती 'अ' का लोप भी निपातन से होता है ।। स्पर्ध अ आथाम्, द्वित्व होकर, स्पर्ध् स्पर्ध् अ आथाम् रहा, *शर्पूर्वाः खयः* (७।४।६१) लगकर एवं सम्प्रसारण तथा 'प' के 'अ' का लोप होकर प स्प् ऋध् अ आथाम् रहा। *आतो ङितः* (७।२।८१) से 'आ' को इय् एवं *आद् गुणः* (६।१।८४) से गुण एकादेश तथा *लोपो व्योर्वलि* (६।१।६४) से य् का लोप और अडागम होकर अपस्पृधेथाम् बना ।। कई लोगों का मत है कि अप पूर्वक स्पर्ध धातु से लङ् लकार में आथाम् परे रहते

सम्प्रसारण तथा अकार लोप ही निपातन है। इस पक्ष में स्पर्ध को द्वित्व करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। *बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि* (६।४।७५) से इस पक्ष में अट् आगम का अभाव भी हो जायेगा।। शेष पहले के समान ही सिद्धि जानें।। भाषा में द्वित्व सम्प्रसारण तथा अकार लोप निपातन से नहीं होगा, अतः प्रथम पक्ष में 'अस्पर्धेथाम्' और द्वितीय पक्ष में 'अपास्पर्धेथाम्' रूप बनेगा। आनृचुः आनृहुः में अर्च पूजायाम् अर्ह पूजायाम् धातु से लिट् लकार के उस् परे रहते रेफ को सम्प्रसारण तथा अकार लोप निपातन से किया जाता है।। अर्च् लिट् = अर्च् झि = अर्च उस् = ६।१।८ से द्वित्व होकर अर्च् अर्च् उस् = अ अर्च् उस् रहा। *अत आदेः* (७।४।७०) से अभ्यास को दीर्घ तथा *तस्मान्नुड् द्विहलः* (७।४।७१) से नुट् आगम होकर आ नुट् अर्च् उस् = आन् अर्च् उस् रहा। निपातन से अर्च् के अ का लोप तथा सम्प्रसारण होकर आन् ऋच् उस् = आनृचुः बन गया। इसी प्रकार आनृहुः में जानें।। भाषा में सम्प्रसारण तथा अकारलोप नहीं होगा तो आनर्चुः आनर्हुः बनेगा।।

चिच्युषे में च्युङ् गतौ धातु से लिट् लकार के 'से' (*थासः से*) परे रहते अभ्यास को सम्प्रसारण तथा अनिट्त्व निपातन किया जाता है।। च्यु च्यु से = निपातन से सम्प्रसारण होकर च् इ उ च्यु से = चि च्यु से = चिच्युषे बन गया। *आर्धधातुकस्येड्०* (७।२।३५) से इट् आगम प्राप्त था निपातन से अनिट्त्व भी कर दिया गया। भाषा में चुच्युविषे बनेगा।।

तित्याज में त्यज हानौ धातु से लिट् के णल् परे रहते अभ्यास को सम्प्रसारण निपातन किया गया है।। भाषा में तत्याज ही बनेगा।। श्राता यहाँ श्रीञ् धातु को निष्ठा (क्त) परे रहते श्रा भाव निपातन है।। श्रातास्त इन्द्रसोमाः।।

श्रितम् यहाँ श्रीञ् धातु को निष्ठा परे रहते ह्रस्वत्व निपातन है। श्रिता नो गृहाः।।

आशीर् में आङ् पूर्वक श्रीञ् धातु को क्विप् परे रहते शीर् आदेश निपातन है। तामाशीरा दुहन्ति।।

आशीर्त्ता यहाँ भी आङ् पूर्वक श्रीञ् धातु को निष्ठा परे रहते शीर् भाव तथा *रदाभ्यां निष्ठातो०* (८।२।४२) से प्राप्त निष्ठा के त को न का अभाव निपातन किया गया है। त्रीरैमेध्यत आशीर्त्तः (ऋ.८।२।९)।।

न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् ॥६।१।३६॥

न अ० ॥ सम्प्रसारणे ७।१॥ सम्प्रसारणम् १।१॥ *अर्थः*—सम्प्रसारणे परतः पूर्वस्य यणः सम्प्रसारणं न भवति ॥ *उदा०*—व्यध—विद्धः । व्यच—विचितः । व्येञ्—संवीतः ॥

भाषार्थः—[*सम्प्रसारणे*] सम्प्रसारण परे रहते [*सम्प्रसारणम्*] सम्प्रसारण [न] नहीं होता ॥ वाक्य तथा वर्ण दोनों की सम्प्रसारण संज्ञा होती है, यह बात *इग्यणः०* (१।१।४४) सूत्र में कही गई है। जहाँ सम्प्रसारण कहा हो वहाँ यदि दो यण् हों तो दोनों को सम्प्रसारण होना चाहिये पर इष्ट ऐसा है नहीं, अतः सम्प्रसारणसंज्ञक इक् के परे रहते पूर्व यण् को सम्प्रसारण नहीं होता, अर्थात् पहले पर वाले यण् को इक् होगा उसके परे रहने पर पूर्व को निषेध हो जायेगा। व्यध व्यच आदि में व् य् दोनों सम्प्रसारण भावी यण् थे, सो प्रकृत सूत्र से पूर्व यण् को सम्प्रसारण का निषेध होता है। पर यण् (य) को सम्प्रसारण ६।१।१६ से हो गया ॥

व्यध क्त = विध् त = *झषस्तथो०* (८।२।४०) लगकर विध् ध् रहा। *झलां जश् झशि* (८।४।५२) से ध् को द् होकर विद्धः बन गया है ॥

यहाँ से '*न सम्प्रसारणम्*' की अनुवृत्ति ६।१।४३ तक जायेगी।

लिटि वयो यः ॥६।१।३७॥

लिटि ७।१॥ वयः ६।१॥ यः ६।१॥ *अनु०*—न सम्प्रसारणम् ॥ *अर्थः*—लिटि परतो वयो यकारस्य सम्प्रसारणं न भवति ॥ *उदा०*—उवाय, ऊयतुः, ऊयुः ॥

भाषार्थः—[*लिटि*] लिट् लकार परे रहते [*वयः*] वय् के [*यः*] यकार को सम्प्रसारण नहीं होता ॥ *लिट्य०* (६।१।१७) *ग्रहिज्या०* (६।१।१६) से सम्प्रसारण प्राप्त था, जिसमें पूर्व सूत्र के ज्ञापन से प्रथम पर यण् को (य् को) सम्प्रसारण प्राप्त हुआ, उसका यह निषेध सूत्र है। यकार को सम्प्रसारण का निषेध

---

१. सम्प्रसारण परे रहते पूर्व यण् को सम्प्रसारण के निषेध से ज्ञापन होता है कि जहाँ सम्प्रसारणभावी एक से अधिक यण् होते हैं, वहाँ प्रथम पर यण् को सम्प्रसारण होता है।

हो जाने पर 'व्' को सम्प्रसारण होता है । सिद्धि परि० २।४।४१ में देखें ॥

यहाँ से '*वयो यः*' की अनुवृत्ति ६।१।३८ तक तथा '*लिटि*' को ६।१।३९ तक जायेगी ॥

वश्चास्यान्यतरस्यां किति ॥६।१।३८॥

वः १।१॥ च अ० ॥ अस्य ६।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ किति ७।१॥ *अनु०*—लिटि वयो यः ॥ *अर्थः*—अस्य वयो यकारस्य किति लिटि परतो विकल्पेन वकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—ऊवतुः, ऊवुः, ऊयतुः, ऊयुः ॥

भाषार्थः—[*अस्य*] इस वय् के यकार को [*किति*] कित् लिट् परे रहते [*वः*] वकारादेश [*च*] भी [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प करके हो जाता है ॥ *असंयोगाल्लिट् कित्* (१।२।५) से अतुस् उस् कित्वत् हैं ही, सो ऊवतुः ऊवुः ऊयतुः ऊयुः दो रूप बनें ॥ सूत्र में 'अस्य' निर्देश पूर्व सूत्र द्वारा जिस यकार को सम्प्रसारण का निषेध किया है उसका है अतः निषेध किये हुए सम्प्रसारण वाले यकार के स्थान पर होने वाले वकार को भी सम्प्रसारण नहीं होता ॥ सिद्धि परि० २।४।४१ में देख लें ॥

वेञः ॥६।१।३९॥

वेञः ६।१॥ *अनु०*—लिटि, न सम्प्रसारणम् ॥ *अर्थः*—वेञ् तन्तु-सन्ताने, इत्यस्य धातोर्लिटि परतः सम्प्रसारणं न भवति ॥ *उदा०*—ववौ, ववतुः, ववुः ॥

भाषार्थः—[*वेञः*] वेञ् धातु को लिट् परे रहते सम्प्रसारण नहीं होता ॥ *वचिस्वपियजा०* (६।१।१५) से कित् परे रहते सम्प्रसारण प्राप्त था, तथा पित् स्थानी णल् थल् में भी *लिट्यभ्यासस्यो०* (६।१।१७) से सम्प्रसारण प्राप्त था, उन दोनों का यह निषेध सूत्र है ॥

यहाँ से '*वेञः*' की अनुवृत्ति ६।१।४० तक जायेगी ॥

ल्यपि च ॥६।१।४०॥

ल्यपि ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—वेञः, न सम्प्रसारणम् ॥ *अर्थः*—ल्यपि च परतो वेञः सम्प्रसारणं न भवति ॥ *उदा०*—प्रवाय, उपवाय ॥

भाषार्थः—[*ल्यपि*] ल्यप् परे रहते [*च*] भी वेञ् को सम्प्रसारण नहीं होता ॥ स्थानिवत् से ल्यप् कित् माना गया, सो कित् परे होने से

वचिस्वपियजा० (६।१।१५) से सम्प्रसारण प्राप्त था, उसका निषेध हो गया। *आदेच उप०* (६।१।४४) से वेञ् को आत्व हो ही जायेगा॥

यहाँ से '*ल्यपि*' की अनुवृत्ति ६।१।४३ तक जायेगी॥

ज्यश्च ॥६।१।४१॥

ज्यः ६।१॥ च अ०॥ *अनु०*—ल्यपि, न सम्प्रसारणम्॥ *अर्थः*—ज्याधातोर्ल्यपि परतः सम्प्रसारणं न भवति॥ *उदा०*—प्रज्याय, उपज्याय॥

भाषार्थः—ल्यप् परे रहते [*ज्यः*] ज्या धातु को [*च*] भी सम्प्रसारण नहीं होता॥ *ग्रहिज्या०* (६।१।१६) से सम्प्रसारण प्राप्त था, निषेध कर दिया॥

व्यश्च ॥६।१।४२॥

व्यः ६।१॥ च अ०॥ *अनु०*—ल्यपि, न सम्प्रसारणम्॥ *अर्थः*—व्येञ्धातोर्ल्यपि परतः सम्प्रसारणं न भवति॥ *उदा०*—प्रव्याय॥

भाषार्थः—[*व्यः*] व्येञ् धातु को [*च*] भी ल्यप् परे रहते सम्प्रसारण नहीं होता॥ व्येञ् को आत्व ६।१।४४ से हो ही जायेगा॥ पूर्ववत् सम्प्रसारण प्राप्त था निषेध कर दिया॥

यहाँ से '*व्यः*' की अनुवृत्ति ६।१।४३ तक जायेगी॥

विभाषा परेः ॥६।१।४३॥

विभाषा १।१॥ परेः ५।१॥ *अनु०*—व्यः, ल्यपि, न सम्प्रसारणम्॥ *अर्थः*—परेरुत्तरस्य व्येञ्धातोर्ल्यपि परतो विभाषा सम्प्रसारणं न भवति॥ *उदा०*—परिवीय यूपम्। पक्षे—परिव्याय॥

भाषार्थः—[*परेः*] परि उपसर्ग से उत्तर व्येञ् धातु को [*विभाषा*] विकल्प करके सम्प्रसारण नहीं होता॥ परि व्या ल्यप् = *न सम्प्रसारणे०* (६।१।३६) के नियम से 'य्' को सम्प्रसारण ६।१।१५ से हुआ। परि व् इ आ य = परिविय = *हलः* (६।४।२) से दीर्घ होकर परिवीय बन गया॥

[आत्वप्रकरणम्]

आदेच उपदेशेऽशिति ॥६।१।४४॥

आत् १।१॥ एचः ६।१॥ उपदेशे ७।१॥ अशिति ७।१॥ *स०*—श् इत् यस्य स शित्, न शित् अशित् तस्मिन्‌......बहुव्रीहिगर्भनञ्-तत्पुरुषः ॥ *अर्थः*—उपदेशावस्थायां य एजन्तो धातुस्तस्याकारादेशो भवति शिति प्रत्यये परतस्तु न भवति । *उदा०*—ग्लै—ग्लाता, ग्लातुम्, ग्लातव्यम् । शो—निशाता, निशातुम्, निशातव्यम् ॥

भाषार्थः—[*उपदेशे*] उपदेश अवस्था में जो [*एचः*] एजन्त धातु उसको [*आत्*] आकारादेश हो जाता है, [*अशिति*] शित् प्रत्यय परे हो तो नहीं होता ॥ *अलोऽन्त्यस्य* (१।१।५१) से अन्तिम अल् एच् को ही आत्व होता है ॥ यहाँ *लिटि धातो०* (६।१।८) से धातोः की अनुवृत्ति मण्डूकप्लुति से जाननी चाहिये ॥

यहाँ से '*आदेचः*' की अनुवृत्ति ६।१।५६ तक तथा '*उपदेशे*' की ६।१।६२ तक जायेगी ॥

न व्यो लिटि ॥६।१।४५॥

न अ० ॥ व्यः ६।१॥ लिटि ७।१॥ *अनु०*—आदेच उपदेशे ॥ *अर्थः*—व्येञ्धातोरेचः स्थाने लिटि परत आकारादेशो न भवति ॥ *उदा०*—संविव्याय, संविव्ययिथ ॥

भाषार्थः—उपदेश में एजन्त जो [*व्यः*] व्येञ् धातु उसको [*लिटि*] लिट् परे रहते आकारादेश [*न*] नहीं होता ॥ पूर्ववत् द्वित्वादि होकर 'व्ये व्ये णल्' रहा । *लिट्यभ्यासस्यो०* (६।१।१७) एवं *न सम्प्रसारणे०* (६।१।३६) के नियम से अभ्यास के पर यण् य् को सम्प्रसारण होकर 'वि व्ये अ' रहा । णल् को मानकर ए को ऐ वृद्धि तथा आयादेश होकर संविव्याय बना । संविव्ययिथ में *इडत्यर्त्तिव्ययतीनाम्* (७।२।६६) से इट् आगम हो जाता है ॥

स्फुरतिस्फुलत्योर्घञि ॥६।१।४६॥

स्फुरतिस्फुलत्योः ६।२॥ घञि ७।१॥ *स०*—स्फुरति० इत्यत्रेतरेतर-द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—आदेचः ॥ *अर्थः*—स्फुर स्फुल संचलने इत्येतयोः धात्वो-

रेचः स्थान आकारादेशो भवति घञि परतः ॥ उदा०—विस्फार विस्फालः । विष्फारः विष्फालः ॥

भाषार्थः—[*स्फुरतिस्फुलत्योः*] स्फुर तथा स्फुल धातुओं के एच् वे स्थान में [*घञि*] घञ् परे रहते आकारादेश हो जाता है ॥ स्फुर स्फुर को गुण कर लेने पर जो एच् होता है उसको आत्व इस सूत्र से होता है क्योंकि उपदेशावस्था में तो एच् है नहीं, अतः उपदेश की अनुवृत्ति यह एवं इसी प्रकार अन्यत्र जहाँ उपदेश में एच् न हो सम्बद्ध नहीं होती । उदाहरणों में विकल्प से षत्व *स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्निविभ्यः* (८।३।७६ से होता है ॥

क्रीङ्जीनां णौ ॥६।१।४७॥

क्रीङ्जीनाम् ६।३॥ णौ ७।१॥ *स०*-क्री च इङ् च जिश्च क्रीङ्जयस्तेषां इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—आदेचः ॥ *अर्थः*—डुक्रीञ् इङ् जि इत्येतेष धातूनामेचः स्थान आकारादेशो भवति णौ परतः ॥ *उदा०*—क्रापयति अध्यापयति, जापयति ॥

भाषार्थः—[*क्रीङ्जीनाम्*] डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये, इङ् अध्ययने, जि जये इन धातुओं के एच् के स्थान में [*णौ*] णिच् परे रहते आकारादेश हो जाता है ॥ भाग १ परि० ३।३।१६६ के अध्यापय के समान ह अध्यापयति की सिद्धि में 'अध्यापि' धातु बनाकर शप् तिप् लाकर सिद्धि जानें ॥ शेष क्री तथा जि को भी गुण होकर प्रकृत सूत्र से आत्व करवे पुक् आगम करके पूर्ववत् सिद्धि जानें ॥

यहाँ से '*णौ*' की अनुवृत्ति ६।१।४८ तक जायेगी ॥

सिध्यतेरपारलौकिके ॥६।१।४८॥

सिध्यतेः ६।१॥ अपारलौकिके ७।१॥ परलोकः प्रयोजनमस्येति पारलौकिकः । *प्रयोजनम्* (५।१।१०८) इति ठक्, अनुशतिकादित्वाद्ध (७।३।२०) उभयपदवृद्धिः ॥ *स०*—अपारलौ० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः । *अनु०*—णौ, आदेचः ॥ *अर्थः*—अपारलौकिकेऽर्थे वर्त्तमानस्य षिधु धातोरेचः स्थाने णौ परत आकारादेशो भवति ॥ उदा०—अन्नं साध यति, ग्रामं साधयति ॥

भाषार्थः—[*सिध्यतेः*] 'षिधु हिंसासंराध्योः' धातु यदि [*अपारलौकिके*] अपारलौकिक अर्थ में वर्त्तमान हो तो उसके एच् के स्थान में णिच् परे रहते आकारादेश हो जाता है॥ अन्नं साधयति (अन्न को पकाता है) यहाँ उदाहरणों में परलोक को सिद्ध करना अर्थ नहीं है, अतः आत्व हो गया है। सिध् को सेध् गुण करके आत्व होता है॥

मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च ॥६।१।४९॥

मीनातिमिनोतिदीङाम् ६।३॥ ल्यपि ७।१॥ च अ०॥ *स०*—मीनातीत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—आदेच उपदेशे॥ *अर्थः*—मीञ् हिंसायाम्, डुमिञ् प्रक्षेपणे, दीङ् क्षये इत्येतेषां धातूनां ल्यपि विषये चकारादेचश्च विषय उपदेश एवाकारादेशो भवति॥ *उदा०*—प्रमाता प्रमातुं प्रमातव्यम्। ल्यपि—प्रमाय। डुमिञ्—निमाता निमातुं निमातव्यम्। ल्यपि—निमाय। दीङ्—उपदाता उपदातुम् उपदातव्यम्। ल्यपि—उपदाय।

भाषार्थः—[*मीनातिमिनोतिदीङाम्*] मीञ् डुमिञ् तथा दीङ् धातुओं को [*ल्यपि*] ल्यप् परे रहते [च] तथा एच् के विषय में भी उपदेश अवस्था में ही आत्व हो जाता है॥ एच् विषय में ही अर्थात् एच् बनने की सम्भावना होने पर ही आत्व विधान करने से *अलोऽन्त्यस्य* (१।१।५१) से अन्तिम अल् को आत्व एच् बनने से पूर्व ही हो जाता है[1]। तृच् तुमुन् तव्य प्रत्यय के परे रहते गुण सम्भव है, अतः ये एच् विषयक हैं सो इनका विषय उपस्थित होगा यह मानकर पूर्व ही आत्व हो जाता है। ल्यप् स्थानिवत् से कित् है अतः यहाँ गुण सम्भव नहीं सो ल्यप् का पृथक् ग्रहण है॥

यहाँ से '*ल्यपि*' की अनुवृत्ति ६।१।५० तक जायेगी॥

विभाषा लीयतेः ॥६।१।५०॥

विभाषा १।१॥ लीयतेः ६।१॥ अनु०—ल्यपि, आदेच उपदेशे॥

---

१. इसका फल यह है कि 'उपदायो वर्तते' में इकारान्तलक्षण (३।३।५६) अच् नहीं होता, घञ् होता है 'ईषदुपदानम्' में *आतो युच्* (३।३।१२८) से आकारान्त लक्षण युच् हो जाता है॥

अर्थः—लीङ् श्लेषणे ली श्लेषणे इति द्वयोरपि ग्रहणम्। लीयतेर्धातो-र्ल्यपि च, एचश्च विषय उपदेश एव विभाषाऽऽकारादेशो भवति॥ *उदा०*—विलाता, विलातुम्, विलातव्यम्। ल्यपि—विलाय। पक्षे—विलेता, विलेतुम्, विलेतव्यम्। ल्यपि—विलीय॥

भाषार्थः—लीङ् श्लेषणे तथा ली श्लेषणे दोनों धातुओं का यहाँ ग्रहण है। [*लीयतेः*] ली धातु को ल्यप् परे रहते तथा एच् विषय में [*विभाषा*] विकल्प से उपदेश अवस्था में ही आत्व हो जाता है॥ पूर्व सूत्र के समान यहाँ भी एच् विषय में *अलोऽन्त्यस्य* से आत्व होगा ऐसा जानें॥

यहाँ से '*विभाषा*' की अनुवृत्ति ६।१।५५ तक जायेगी॥

खिदेश्छन्दसि ॥६।१।५१॥

खिदेः ६।१॥ छन्दसि ७।१॥ *अनु०*—विभाषा, आदेचः॥ *अर्थः*—खिद दैन्ये धातोरेचः स्थाने छन्दसि विषये विकल्पेन आकारादेशो भवति॥ *उदा०*—चित्तं चखाद, चित्तं चिखेद॥

भाषार्थः—[*खिदेः*] खिद धातु के एच् के स्थान में [*छन्दसि*] वेद विषय में विकल्प से आत्व होता है॥ प्रथम खिद धातु को लिट् में गुण होकर प्रकृत सूत्र से आत्व करने पर द्वित्व एवं अभ्यास कार्य करके चखाद बन गया, पक्ष में चिखेद रहा॥

अपगुरो णमुलि ॥६।१।५२॥

अपगुरः ६।१॥ णमुलि ७।१॥ *स०*—अपात् गुर् अपगुर् तस्मात्... पञ्चमीतत्पुरुषः॥ *अनु०*—विभाषा, आदेचः॥ *अर्थः*—अपपूर्वस्य गुरी उद्यमने धातोर्णमुलि परत एचः स्थाने विभाषा आकारादेशो भवति॥ *उदा०*—अपगारमपगारम्। अपगोरमपगोरम्॥

भाषार्थः—[*अपगुरः*] अप पूर्वक गुरी उद्यमने धातु के एच् के स्थान में [*णमुलि*] णमुल् परे रहते विकल्प से आत्व हो जाता है॥ उदाहरण में *आभीक्ष्ण्ये णमुल्च* (३।४।२२) से णमुल् प्रत्यय तथा *आभीक्ष्ण्ये द्वे भवतः* (वा० ८।१।१२) वार्त्तिक से 'अपगारम्' को द्वित्व हुआ है॥

चिस्फुरोर्णौ ॥६।१।५३॥

चिस्फुरोः ६।२॥ णौ ७।१॥ स०—चिश्च स्फुर् च चिस्फुरौ तयोः··· इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—विभाषा आदेचः ॥ अर्थः—चि स्फुर इत्येतयोः धात्वोरेचः स्थाने णौ परत विकल्पेनाकारादेशो भवति ॥ उदा०—चापयति, चाययति । स्फारयति, स्फोरयति ॥

भाषार्थः—[*चिस्फुरोः*] चि तथा स्फुर धातुओं के एच् के स्थान में [*णौ*] णिच् परे रहते विकल्प से आत्व हो जाता है ॥ आत्व पक्ष में 'चापयति' में *अर्तिह्रीव्ली०* (७।३।३६) से पुक् आगम तथा अनात्व पक्ष में चि को चै वृद्धि एवं आयादेश होकर 'चायि अ ति' रहा । पश्चात् गुण एवं अयादेश होकर चाययति बना ॥

यहाँ से '*णौ*' की अनुवृत्ति ६।१।५६ तक जायेगी ॥

प्रजने वीयतेः ॥६।१।५४॥

प्रजने ७।१॥ वीयतेः ६।१॥ अनु०—णौ, विभाषा, आदेचः ॥ *अर्थः*—प्रजनेऽर्थे वर्त्तमानस्य 'वी' इत्यस्य धातोर्णौ परत विकल्पेनाकारादेशो भवति ॥ उदा०—पुरो वातो गाः प्रवापयति । प्रवाययति ॥

भाषार्थः—[*प्रजने*] प्रजन अर्थ में वर्त्तमान [*वीयतेः*] वी धातु के एच् के स्थान में विकल्प से आकारादेश हो जाता है, णिच् परे रहते ॥ पूर्ववत् आत्व पक्ष में पुक् आगम तथा अनात्व पक्ष में वृद्धि आदि कार्य जानें ॥ उदा०—पुरो वातो गाः प्रवापयति (पूर्व दिशा का वायु गौओं को गर्भ धारण कराता है) । प्रवाययति ॥

बिभेतेर्हेतुभये ॥६।१।५५॥

बिभेतेः ६।१॥ हेतुभये ७।१॥ स०—हेतोर्भयम् हेतुभयम्, तस्मिन् पञ्चमीतत्पुरुषः ॥ अनु०—णौ, विभाषा, आदेचः ॥ *अर्थः*—हेतुभयेऽर्थे वर्त्तमानस्य 'ञिभी भये' इत्यस्य धातोरेचः स्थाने णौ परतो विकल्पेनाकारादेशो भवति । स्वतन्त्रस्य कर्त्तुः प्रयोजकः (१।४।५५) हेतुरिह गृह्यते ॥ उदा०—मुण्डो भापयते, मुण्डो भीषयते । जटिलो भापयते, जटिलो भीषयते ॥

भाषार्थः—स्वतन्त्र कर्त्ता का जो प्रयोजक वह 'हेतु' शब्द से यहाँ लिया गया है, ऐसा साक्षात् हेतु जहाँ भय का कारण बन रहा हो उस

अर्थ में अर्थात् [*हेतुभये*] हेतु से भय अर्थ में वर्त्तमान [*बिभेतेः*] ञिभी धातु के एच् के स्थान में णिच् परे रहते विकल्प से आत्व होता है ॥ भीषयते की सिद्धि भाग १ पृ० ७१५ में देखें। यह अनात्व पक्ष का रूप है, आत्व पक्ष में पुक् आगम होगा, शेष भीषयते के समान जानें ॥

यहाँ से 'हेतुभये' की अनुवृत्ति ६।१।५६ तक जायेगी ॥

नित्यं स्मयतेः ॥६।१।५६॥

नित्यम् १।१॥ स्मयतेः ६।१॥ *अनु०*—हेतुभये, णौ, आदेचः ॥ *अर्थः*—हेतुभयेऽर्थे स्मिङ् ईषद्धसने इत्यस्य धातोरेचः स्थाने णौ परतो नित्यमात्वं भवति ॥ *उदा०*—मुण्डो विस्मापयते, जटिलो विस्मापयते ॥

भाषार्थः—हेतुभय अर्थ में वर्त्तमान [*स्मयतेः*] स्मिङ् धातु के एच् के स्थान में णिच् परे रहते [*नित्यम्*] नित्य ही आत्व हो जाता है ॥ यहाँ भी हेतु शब्द का पूर्ववत् अर्थ समझें ॥ विस्मापयते में *भीस्म्योर्हेतुभये* (१।३।६८) से आत्मनेपद तथा पूर्ववत् पुक् का आगम होता है ॥

सृजिदृशोर्झल्यमकिति ॥६।१।५७॥

सृजिदृशोः ६।२॥ झलि ७।१॥ अम् १।१॥ अकिति ७।१॥ *स०*—सृजि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। अकितीत्यत्र नञ्तत्पुरुषः॥ *अर्थः*—सृज विसर्गे, दृशिर् प्रेक्षणे, इत्येतयोः धात्वोरमागमो भवति झलादावकिति प्रत्यये परतः ॥ *उदा०*—स्रष्टा, स्रष्टुम्, स्रष्टव्यम्। द्रष्टा, द्रष्टुम्, द्रष्टव्यम् ॥

भाषार्थः—[*सृजिदृशोः*] सृज और दृशिर् धातु को [*अकिति*] कित् भिन्न [*झलि*] झलादि प्रत्यय परे हो तो [*अम्*] अम् आगम होता है ॥ दृश् तृच् यहाँ अम् आगम *मिदचो०* (१।१।४६) से अन्त्य अच् से परे होकर सृ अम् ज् तृ रहा यणादेश तथा *व्रश्चभ्रस्ज०* (८।२।३६) से षत्व एवं ष्टुत्व होकर 'स्र ष्टृ' रहा। शेष कार्य तृजन्त की सिद्धि के समान होकर स्रष्टा (बनाने वाला) बना। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानें ॥

यहाँ से '*झल्यमकिति*' की अनुवृत्ति ६।१।५८ तक जायेगी ॥

अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम् ॥६।१।५८॥

अनुदात्तस्य ६।१॥ च अ० ॥ ऋदुपधस्य ६।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ स०—ऋकार उपधा यस्य स ऋदुपधस्तस्य......बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—झल्यमकिति, उपदेशे ॥ *अर्थः*—उपदेशेऽनुदात्तस्य ऋकारोपधस्य धातोर्झलादावकिति प्रत्यये परतो विकल्पेनामागमो भवति ॥ *उदा०*—त्रप्ता, तर्पिता, तर्प्ता । द्रप्ता, दर्पिता दर्प्ता ॥

भाषार्थः—उपदेश में जो [*अनुदात्तस्य*] अनुदात्त [*च*] तथा [*ऋदुपधस्य*] ऋकार उपधा वाली धातु उसको अम् आगम [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से अकित् झलादि प्रत्यय परे रहते हो जाता है ॥ तृप दृप धातु को *रधादिभ्यश्च* (७।२।४५) से इट् भी विकल्प से होता है सो पक्ष में तर्पिता, दर्पिता रूप बनेगा। जब अम् आगम होगा तो त्रप्ता द्रप्ता तथा जब पक्ष में अम् तथा इट् नहीं होगा तो गुण होकर तर्प्ता दर्प्ता बनेगा। तृप् दृप् धातुएं ऋकारोपध तथा अनिट् हैं।

शीर्षंश्छन्दसि ॥६।१।५९॥

शीर्षन् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ *अर्थः*—शीर्षन् इति निपात्यते छन्दसि विषये। न पुनरयमादेशः शिरःशब्दस्य, किन्तु शिरःशब्देन समानार्थको भिन्नोऽयं शब्दः ॥[1] *उदा०*—शीर्ष्णा हि तत्र सोमं क्रीतं हरन्ति। यत्ते शीर्ष्णो दौर्भाग्यम् ॥

भाषार्थः—[*शीर्षन्*] शीर्षन् शब्द [*छन्दसि*] वेद विषय में निपातन किया जाता है ॥ शिरस् शब्द का पर्यायवाची यह शीर्षन् शब्द पृथक् निपातित है, न कि शिरस् को शीर्षन् आदेश निपातित किया है ॥ शीर्ष्णा यह तृतीयान्त तथा शीर्ष्णः षष्ठ्यन्त का रूप है। *अल्लोपोऽनः* (६।४।१३४) से यहाँ अकार लोप हुआ है ॥

यहाँ से '*शीर्षन्*' की अनुवृत्ति ६।१।६० तक जायेगी ॥

ये च तद्धिते ॥६।१।६०॥

ये ७।१॥ च अ० ॥ तद्धिते ७।१॥ *अनु०*—शीर्षन् ॥ *अर्थः*—यका-

---

१. आदेशनिपातने वेदे शिरसः प्रयोगो न स्यात्। दृश्यते च तस्यापि प्रयोग इति कृत्वा प्रकृत्यन्तरं निपात्यते।

रादौ तद्धिते परतः शिरःशब्दस्य शीर्षन्नादेशो भवति। आदेशोऽयमिष्यते शिरःशब्दस्य[1] ॥ *उदा०*—शीर्षण्यो हि मुख्यो भवति। शीर्षण्यः स्वरः ॥

भाषार्थः—[*ये*] यकारादि [*तद्धिते*] तद्धिते के परे रहते [*च*] भी शिरस् को शीर्षन् आदेश हो जाता है॥ इस सूत्र में शीर्षन् भिन्न शब्द इष्ट नहीं किन्तु शिरस् को शीर्षन् आदेश इष्ट है॥ शिरसि भवः शीर्षण्यः यहाँ *शरीरावयवाच्च* (४।३।५५) से यत् तद्धित प्रत्यय हुआ है। *नस्तद्धिते* से यहाँ टिलोप *ये चाभावकर्मणोः* (६।४।१६८) से प्रकृतिभाव होने के कारण नहीं होता॥

पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नासञ्छ-स्प्रभृतिषु ॥६।१।६१॥

पद्दन्नो......सन्, सर्वे पृथक् पृथक् लुप्तप्रथमान्तनिर्दिष्टाः ॥ शस्प्रभृतिषु ७।३॥ *स०*—शस् प्रभृतयः = प्रकाराः येषां ते शस्प्रभृतयस्तेषु... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—मण्डूकप्लुतगत्या 'छन्दसि' इत्यनुवर्त्तते ॥ *अर्थः*—पाद, दन्त, नासिका, मास, हृदय, निशा, असृज्, यूष, दोष, यकृत्, शकृत् उदक आस्य इत्येतेषां स्थाने यथासङ्ख्यं पद्, दत्, नस्, मास्, हृत्, निश्, असन्, यूषन्, दोषन्, यकन्, शकन्, उदन्, आसन् इत्येते आदेशा भवन्ति, छन्दसि विषये शस्प्रभृतिषु प्रत्ययेषु परतः ॥ आदेशानुरूपप्रकृत्याक्षेपात् स्थानिनः परिज्ञानं भवति॥ *उदा०*—पद्—निपद्श्चतुरो जहि। पदा वर्त्तय गोदुहम्। दत्—या दतो धावति तस्यै श्यावदन्। नस्—सूकरस्त्वखनन्नसा। मास्—मासि त्वा पश्यामि चक्षुषा। हृत—हृदा पूतेन मनसा जातवेदसम्। निश्—अमावास्यायां निशि यजेत। असन्—असिक्तोऽस्नावरोहति। यूषन्—या पात्राणि यूष्ण आसेचनानि। दोषन्—यत्ते दोष्णो दौर्भाग्यम्। यकन्—यक्नोऽवद्यति। शकन्—शक्नोऽवद्यति। उदन्—उद्नो दिव्यस्य नावा ते। आस्य—आसनि किं लभे मधूनि॥

भाषार्थः—यहाँ स्थानी का निर्देश नहीं किया गया, केवल आदेश गिनाये हैं, सो अर्थ के अनुसार आदेश के अनुरूप स्थानी का आक्षेप कर

१. आदेशविधानात् 'शिरस्यः' इति प्रयोगो न भवति। केशेषु तु 'वा केशेषु' इति वार्त्तिकेन शीर्षण्यः शिरस्य इत्युभयं भवति।

लिया जायेगा, अतः सूत्रार्थ होगा—पाद, दन्त, नासिका, मास, हृदय, निशा, असृज्, यूष, दोष, यकृत्, शकृत्, उदक, आस्य इन के स्थान में यथासङ्ख्य करके [पद्दन्नो...सन्] पद्, दत्, नस्, मास्, हृत्, निश्, असन्, यूषन्, दोषन्, यकन्, शकन्, उदन्, आसन्, ये आदेश [शस्प्रभृतिषु] शस् प्रकार वाले अर्थात् शस् से आगे के प्रत्ययों के परे रहते वेद विषय में हो जाते हैं ॥ यूष्णः, दोष्णः, यक्नः शक्नः उद्नः ये षष्ठ्यन्त पद हैं, *अल्लोपोनः* (६।४।१३४)से यहाँ अकार लोप हुआ है। णत्वादि कार्य पूर्ववत् जान लें। अस्ना (३।१) यहाँ *अल्लोपोनः* से लोप जानें। आसनि (७।१) यहाँ *विभाषा ङिश्योः* (६।४।१३६) से पक्ष में अकार लोप नहीं हुआ है। शेष पद षष्ठ्यन्त तृतीयान्त एवं सप्तम्यन्त हैं, सो सुस्पष्ट ही हैं ॥

धात्वादेः षः सः ॥६।१।६२॥

धात्वादेः ६।१॥ षः ६।१॥ सः १।१॥ *स०*—धातोरादिः धात्वादिस्तस्य''षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—उपदेशे ॥ *अर्थः*—धात्वादेः षकारस्य स्थाने उपदेशावस्थायां सकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—षह—सहते। षिच—सिञ्चति ॥

भाषार्थः—[धात्वादेः] धातु के आदि के [षः] षकार के स्थान में उपदेश अवस्था में [सः] सकार आदेश होता है ॥ सिञ्चति में *शे मुचादीनाम्* (७।१।५९) से नुम् आगम होता है, पश्चात् श्चुत्व होकर सिञ्चति बनता है ॥

यहाँ से 'धात्वादेः' की अनुवृत्ति ६।१।६३ तक जायेगी ॥

णो नः ॥६।१।६३॥

णः ६।१॥ नः १।१॥ *अनु०*—धात्वादेः उपदेशे ॥ *अर्थः*—धात्वादेर्णकारस्य स्थाने उपदेशावस्थायां नकार आदेशो भवति ॥ *उदा०*—णीञ्—नयति। णम—नमति। णह—नह्यति।

भाषार्थः—धातु के आदि के [णः] णकार के स्थान में उपदेश में [नः] नकार आदेश होता है ॥ णह दिवादिगण की धातु है ॥

लोपो व्योर्वलि ॥६।१।६४॥

लोपः १।१॥ व्योः ६।२॥ वलि ७।१॥ *स०*—वश्च यश्च व्यौ तयोः''

इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अर्थः*—वकारयकारयोर्लोपो भवति वलि परतः ॥ उदा०—दिव्—दिदिवान् दिदिवांसौ दिदिवांसः । ऊयी–ऊतम् । क्नूयी—क्नूतम् । गौधेरः । पचेरन् यजेरन् । जीरदानुः । आस्रेमाणम् ॥

भाषार्थः—[*व्योः*] वकार और यकार का [*वलि*] वल् परे रहते [*लोपः*] लोप होता है ॥ दिदिवान् क्वसु का रूप है सो वस् के परे रहते दिव् के वकार का लोप हो जायेगा । तथा *सान्तमहतः संयोगस्य* (६।४।१०) से दीर्घ होगा । शेष सिद्धि क्तवतु प्रत्ययान्त के समान जानें । क्त के परे ऊयी क्नूयी के यकार का लोप होता है । गौधेरः पचेरन् जीरदानुः आस्रेमाणम् की सिद्धियां भाग १ पृ. ७५३—५४ में देखें ॥

यहाँ से '*लोपः*' की अनुवृत्ति ६।१।६८ तक जायेगी ॥

वेरपृक्तस्य ॥६।१।६५॥

वेः ६।१॥ अपृक्तस्य ६।१॥ *अनु०*—लोपः ॥ *अर्थः*—अपृक्तस्य वेः लोपो भवति ॥ *उदा०*—ब्रह्महा, भ्रूणहा । घृतस्पृक्, तैलस्पृक् । अर्द्धभाक्, पादभाक्, तुरीयभाक् ॥

भाषार्थः—[*अपृक्तस्य*] अपृक्तसंज्ञक [*वेः*] वि का लोप होता है ॥ 'वि' का सामान्यरूप से निर्देश है, अतः क्विप् क्विन् तथा ण्वि आदि सभी का ग्रहण हो जाता है । ब्रह्महा भ्रूणहा में *ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषुक्विप्* (३।२।८७) से क्विप् प्रत्यय जानें, सिद्धि तत्सूत्र पर ही देखें । घृतस्पृक्, तैलस्पृक् अर्द्धभाक् इत्यादि की सिद्धि भाग १ पृ. ७८९–९० में देखें । वि के अनुनासिक इकार का लोप करने पर वह अपृक्तसंज्ञक होता है ।

हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल् ॥६।१।६६॥

हल्ङ्याब्भ्यः ५।३॥ दीर्घात् ५।१॥ सुतिसि १।१॥ अपृक्तम् १।१॥ हल् १।१॥ *स०*—हल् च ङी च आप् च हल्ङ्यापस्तेभ्यः······इतरेतरद्वन्द्वः । सुश्च तिश्च सिश्च सुतिसि, समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—लोपः । *अर्थः*—हलन्ताद् ङ्यन्ताद् आबन्ताच्च दीर्घात् परं सु, ति, सि इत्येतदपृक्तं हल् लुप्यते ॥ *उदा०*—*हलन्तात् सुलोपः*—राजा, तक्षा उखास्रत्, पर्णध्वत् । *ङ्यन्तात्*—कुमारी, गौरी, शार्ङ्गरवी । *आबन्तात्*—खट्वा, बहुराजा, कारीषगन्ध्या । तिलोपः सिलोपश्च हलन्तादेव

तिलोपस्तावत्—अबिभर्भवान्, अजागर्भवान् । सिलोपः—अभिनोऽत्र, अच्छिनोऽत्र ॥

भाषार्थः—[*हल्ङ्याब्भ्यः*] हलन्त ङ्यन्त तथा आबन्त जो [*दीर्घात्*] दीर्घ उनसे उत्तर [*सुतिसि*] सु, ति तथा सि जो [*अपृक्तम्*] अपृक्त [*हल्*] हल् उनका लोप होता है ॥

यहाँ से '*हल्*' की अनुवृत्ति ६।१।६७ तक जायेगी ॥

एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः ॥६।१।६७॥

एङ्ह्रस्वात् ५।१॥ सम्बुद्धेः ६।१॥ *स०*—एङ् च ह्रस्वश्च एङ्ह्रस्वं तस्मात्······समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—हल्, लोपः ॥ *अर्थः*—एङन्तात् ह्रस्वान्ताच्च प्रातिपदिकादुत्तरस्य हल् लुप्यते स चेत् सम्बुद्धेर्भवति ॥ *उदा०*—एङन्तात्—हे अग्ने, हे वायो । ह्रस्वान्तात्—हे देवदत्त, हे नदि, हे वधु, हे कुण्ड ॥

भाषार्थः—[*एङ्ह्रस्वात्*] एङन्त प्रातिपदिक से उत्तर तथा ह्रस्वान्त से उत्तर हल् का लोप होता है, यदि वह हल् [*सम्बुद्धेः*] सम्बुद्धि का हो तो ॥

शेश्छन्दसि बहुलम् ॥६।१।६८॥

शेः ६।१॥ छन्दसि ७।१॥ बहुलम् १।१॥ *अनु०*—लोपः ॥ *अर्थः*—शि इत्येतस्य बहुलं छन्दसि विषये लोपो भवति ॥ *उदा०*—या क्षेत्रा, या वना । यानि क्षेत्राणि, यानि वनानि ॥

भाषार्थः—[*शेः*] शि का [*बहुलम्*] बहुल करके [*छन्दसि*] वेद विषय में लोप हो जाता है ॥ *जश्शसोः शिः* (७।१।२०) से जो शि होता है उसका यहाँ लोप विधान है । लोप करने के पश्चात् प्रत्ययलक्षण से *नपुंसकस्य झलचः* (७।१।७२) से नुम् होकर तथा *सर्वनामस्थाने०* (६।४।८) से दीर्घ होकर 'या न्' रहा । पश्चात् *नलोपः०* (८।२।७) से नकार लोप होकर 'या' बना । बहुल कहने से जिस पक्ष में शि लोप नहीं होगा तो पूर्ववत् *त्यदादीनामः* (७।२।१०२) आदि लगकर 'यानि' बना ॥

[*तुक्प्रकरणम्*]

ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ॥६।१।६९॥

ह्रस्वस्य ६।१॥ पिति ७।१॥ कृति ७।१॥ तुक् १।१॥ *अर्थः*—पिति

कृति परतो ह्रस्वस्य तुगागमो भवति ॥ *उदा०*—अग्निचित्, सोमसुत्। प्रकृत्य, प्रहृत्य, उपस्तुत्य ॥

भाषार्थः—[*ह्रस्वस्य*] ह्रस्व को [*पिति कृति*] पित् कृत् परे रहते [तुक्] तुक् आगम होता है ॥ भाग १ पृ० ७५६ में अग्निचित् सोमसुत् की सिद्धि देखें, तथा भाग १ पृ० ७२६ में प्रकृत्य आदि की सिद्धि देखें ॥

यहाँ से '*ह्रस्वस्य*' की अनुवृत्ति ६।१।७१ तक तथा 'तुक्' की ६।१।७२ तक जायेगी ॥

संहितायाम् ॥६।१।७०॥

संहितायाम् ७।१॥ *अर्थः*—अधिकारोऽयमनुदात्तं *पदमेकवर्जमिति* यावत्, प्रागेस्तस्मात् सूत्राद् यद् वक्ष्यति तत् संहितायामित्येवं वेदितव्यम्। विषयसप्तमीयम् ॥ *उदा०*—वक्ष्यति इको *यणचि*—दध्यत्र, मध्वत्र ॥

भाषार्थः—यह अधिकार सूत्र है, *अनुदात्तं पदमेक०* (६।१।१५२) से पहले २ तक जायेगा, अतः इस सूत्र पर्यन्त जितने कार्य कहे जायेंगे वे सब संहिता के विषय में होंगे। 'संहितायाम्' में विषय सप्तमी है ॥ *परः सन्निकर्षः०* (१।४।१०८) से संहिता संज्ञा होती है ॥

छे च ॥६।१।७१॥

छे ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—संहितायाम्, ह्रस्वस्य तुक् ॥ *अर्थः*—छकारे परतः संहितायां विषये ह्रस्वस्य तुगागमो भवति ॥ *उदा०*—इच्छति, गच्छति ॥

भाषार्थः—[छे] छकार परे रहते [च] भी ह्रस्व को संहिता के विषय में तुक् का आगम होता है ॥ गम् के मकार को *इषुगमि०* (७।३।७७) से छत्व होकर तुक् आगम तथा श्चुत्व होकर गच्छति बनेगा। इसी प्रकार इषु धातु में भी छत्व, तुक् आगम एवं श्चुत्व होकर इच्छति बना है ॥

यहाँ से 'छे' की अनुवृत्ति ६।१।७२ तक जायेगी ॥

आङ्माङोश्च ॥६।१।७२॥

आङ्माङोः ६।२॥ च अ० ॥ *स०*—आङ्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—छे, संहितायाम्, तुक् ॥ *अर्थः*—आङो माङश्च छकारे परतस्तुगागमो भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—ईषच्छाया = आच्छाया । आच्छादयति । आच्छायायाः । आच्छायम् । माच्छैत्सीत् । माच्छिदत् ॥

भाषार्थः—[*आङ्माङोः*] आङ् तथा माङ् को [च] भी छकार परे रहते तुक् आगम होता है, संहिता के विषय में ॥ आङ् के ईषत्, (थोड़ा), क्रियायोग, मर्यादा तथा अभिविधि ये चार अर्थ हैं, तथा माङ् प्रतिषेधवाची है, सो इन अर्थों में तुक् आगम होता है । तुक् करने के पश्चात् श्चुत्व हो ही जायेगा ॥ *उदा०*—आच्छाया (थोड़ी छाया), आच्छादयति (ढकता है), आच्छायायाः (छाया से पूर्व २), आच्छायम् (छाया तक), माच्छैत्सीत् (नहीं काटा) ॥

दीर्घात् पदान्ताद्वा ॥६।१।७३॥

दीर्घात् ५।१॥ पदान्तात् ५।१॥ वा अ० ॥ *स०*—पदस्य अन्तः पदान्तस्तस्मात्''षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—छे, संहितायाम्, तुक् ॥ *अर्थः*—दीर्घादुत्तरो यश्छकारस्तस्मिन् पूर्वस्य तस्यैव दीर्घस्य तुगागमो भवति, पदान्ताच्च दीर्घादुत्तरो यश्छकारस्तस्मिन् पूर्वस्य तस्यैव पदान्तस्य दीर्घस्य च विकल्पेन तुगागमो भवति ॥ *उदा०*—दीर्घात्—ह्रीच्छति, म्लेच्छति, अपचाच्छायते, विचाच्छायते । पदान्तात्—कुटीच्छाया, कुटीछाया । कुवलीच्छाया, कुवलीछाया ॥

भाषार्थः—[*दीर्घात्*] दीर्घ से उत्तर जो छकार है उसके परे रहते पूर्व वाले दीर्घ को नित्य तुक् का आगम होता है, तथा जो [*पदान्तात्*] पदान्त में दीर्घ हो उससे उत्तर छकार परे रहते पूर्व पदान्त दीर्घ को [*वा*] विकल्प से तुक् आगम होता है, संहिता के विषय में, अर्थात् जो अपदान्त में दीर्घ है उसे नित्य तुक् आगम तथा पदान्त दीर्घ को विकल्प से तुक् आगम होता है ॥ ह्रीच्छति आदि अपदान्त दीर्घ हैं, अतः नित्य तुक् हुआ है, तथा कुटीच्छाया पदान्त दीर्घ है, सो विकल्प से तुक् हुआ है ॥

[सन्धिप्रकरणम्]

इको यणचि ॥६।१।७४॥

इकः ६।१॥ यण् १।१॥ अचि ७।१॥ *अनु०*—संहितायाम्॥ *अर्थः*—इकः स्थाने यणादेशो भवत्यचि परतः संहितायां विषये ॥ *उदा०*—दध्यत्र, मध्वत्र, कर्त्रर्थम्, हर्त्रर्थम्, ऌ+आकृतिः = लाकृतिः ॥

भाषार्थः—[इकः] इक् = इ, उ, ऋ, ऌ के स्थान में यथासङ्ख्य करके [यण्] य्, र्, ल्, व् आदेश होते हैं [अचि] अच् परे रहते संहिता के विषय में॥

यहाँ से '*अचि*' की अनुवृत्ति ६।१।१२१ तक जायेगी॥

एचोऽयवायावः ॥६।१।७५॥

एचः ६।१॥ अयवायावः १।३॥ *स०*—अय् च अव् च आय् च आव् च अयवायावः, इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—अचि, संहितायाम्॥ *अर्थः*—एचः स्थाने अय्, अव्, आय्, आव् इत्येते आदेशाः यथा-सङ्ख्यम् अचि परतो भवन्ति, संहितायां विषये ॥ *उदा०*—चयनम्, लवनम्, चायकः, लावकः ॥

भाषार्थः—[एचः] एच् = ए, ओ, ऐ, औ के स्थान में क्रमशः [अयवायावः] अय्, अव्, आय्, आव् आदेश अच् परे रहते होते हैं संहिता के विषय में॥ चे अन = चयनम्। लो+अन = लवनम्। चै अक = चायकः। लौ अक = लावकः॥

यहाँ से '*एचः*' की अनुवृत्ति ६।१।७७ तक जायेगी॥

वान्तो यि प्रत्यये ॥६।१।७६॥

वान्तः १।१॥ यि ७।१॥ प्रत्यये ७।१॥ *स०*—वकारोऽन्ते यस्य स वान्तः, बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—एचः, अचि, संहितायाम्॥ *अर्थः*—यकारादौ प्रत्यये परतः संहितायां विषय एचः स्थाने वान्तादेशो भवति ॥ *उदा०*—बाभ्रव्यः, माण्डव्यः, शङ्कव्यं दारु, पिचव्यः कार्पासः, नाव्यो ह्रदः ॥

भाषार्थः—[यि] यकारादि [प्रत्यये] प्रत्ययों के परे रहते एच् के स्थान में संहिता विषय में [वान्तः] वकार अन्त वाले अर्थात् ओकार के स्थान में अव् तथा औकार के स्थान में आव् आदेश होते हैं॥ अय्,

आय् आदेश यकारान्त हैं, अतः वे नहीं होते ॥ बभ्रु शब्द से *मधुबभ्र्वो०* (४।१।१०६) से यञ् प्रत्यय तथा मण्डु शब्द से *गर्गादिभ्यो०* (४।१।१०५) से यञ् प्रत्यय हुआ है। गुण होकर ओकार को अव् आदेश प्रकृत सूत्र से हुआ है। शङ्कव्यं, पिचव्यः में *उगवादिभ्यो यत्* (५।१।२) से यत् प्रत्यय हुआ है। नौ शब्द से *नौवयोधर्म०* (४।४।९१) से यत् प्रत्यय हुआ है ॥

यहाँ से '*वान्तः*' की अनुवृत्ति ६।१।७७ तक तथा '*यि प्रत्यये*' की ६।१।८० तक जायेगी ॥

धातोस्तन्निमित्तस्यैव ॥६।१।७७॥

धातोः ६।१॥ तन्निमित्तस्य ६।१॥ एव अ० ॥ *स०*—स निमित्तं यस्य, स तन्निमित्तस्तस्य ..... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—वान्तो यि प्रत्यये, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—तन्निमित्तः = यकारादिप्रत्ययनिमित्त एव यो धातोरेच् तस्य यकारादौ प्रत्यये परतो वान्तादेशो भवति, संहितायां विषये ॥ *उदा०*—लव्यम्, पव्यम्। अवश्यलाव्यम्, अवश्यपाव्यम् ॥

भाषार्थः—[*तन्निमित्तस्य*] तत् निमित्तक अर्थात् यकारादि प्रत्यय निमित्तक [*एव*] ही जो [*धातोः*] धातु का एच् उसको यकारादि प्रत्यय के परे रहते वान्त आदेश संहिता विषय में होता है ॥ लव्यम् में *अचो यत्* (३।१।९७) से यत् तथा अवश्यलाव्यम् में *ओरावश्यके* (३।१।१२६) से ण्यत् हुआ है ॥

यहाँ से '*धातोः*' की अनुवृत्ति ३।१।८० तक जायेगी ॥

क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे ॥६।१।७८॥

क्षय्यजय्यौ १।२॥ शक्यार्थे ७।१॥ *स०*—क्षय्य० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। शक्यश्चासौ अर्थः शक्यार्थस्तस्मिन् ..... कर्मधारयः ॥ *अनु०*—धातोः, यि प्रत्यये, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—क्षय्य जय्य इत्येतयोः शब्दयोः क्षि जि इत्येतयोः धात्वोः शक्यार्थे गम्यमाने यति प्रत्यये परतः एकारस्य स्थानेऽयादेशो निपात्यते संहितायां विषये ॥ *उदा०*—शक्यः क्षेतुं क्षय्यः। शक्यो जेतुं जय्यः ॥

भाषार्थः—[*क्षय्यजय्यौ*] क्षय्य जय्य ये शब्द निपातित हैं, अर्थात् क्षि जि धातु से यत् प्रत्यय परे रहते [*शक्यार्थे*] शक्य अर्थ में एकार

के स्थान में अयादेश निपातन है संहिता विषय में॥ *अचो यत्* (३।१।९७) से यत् प्रत्यय हुआ है॥ *उदा०*—क्षय्यः (नष्ट किया जा सकता है), जय्यः (जीता जा सकता है)॥

क्रय्यस्तदर्थे ॥६।१।७९॥

क्रय्यः १।१॥ तदर्थे ७।१॥ *स०*—तस्य अर्थः, तदर्थस्तस्मिन्'''षष्ठीतत्पुरुषः॥ *अनु०*—धातोः, यि प्रत्यये, संहितायाम्॥ *अर्थः*—क्रय्यः इत्यत्र क्रीणातेर्धातोस्तदर्थे = क्रयार्थेऽभिधेये यति प्रत्यये परतोऽयादेशो निपात्यते संहितायां विषये॥ *उदा०*—क्रय्यो गौः, क्रय्यः कम्बलः॥

भाषार्थः—[*क्रय्यः*] क्रय्य शब्द में डुक्रीञ् धातु से [*तदर्थे*] उस अर्थ में अर्थात् क्रयार्थ अभिधेय होने पर यत् प्रत्यय के परे रहते अयादेश निपातित किया जाता है संहिता विषय में॥ *उदा०*—क्रय्यो गौः (क्रय के लिये जो गौ), क्रय्यः कम्बलः (क्रय के लिये जो कम्बल)॥ पूर्ववत् यत् प्रत्यय जानें॥

भय्यप्रवय्ये च च्छन्दसि ॥६।१।८०॥

भय्यप्रवय्ये १।२॥ च अ०॥ छन्दसि ७।१॥ *स०*—भय्य० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—धातोः, यि प्रत्यये, संहितायाम्॥ *अर्थः*—ञिभीधातोः प्रपूर्वस्य च वीधातोः यति प्रत्यये परतश्छन्दसि विषयेऽयादेशो निपात्यते संहितायां विषये॥ *उदा०*—भय्यं किलासीत्, वत्सतरी प्रवय्या॥

भाषार्थः—[*भय्यप्रवय्ये*] भय्य तथा प्रवय्य शब्द [*च*] भी [*छन्दसि*] वेद विषय में निपातन किये जाते हैं। ञिभी धातु से तथा प्रपूर्वक वी धातु से यत् प्रत्यय परे रहते अयादेश निपातित है संहिता विषय में। भय्यः यहाँ कृत्यल्यु० (३।३।११३) से अपादान में यत् प्रत्यय पूर्ववत् जानें। बिभेत्यस्मादिति भय्यम्। प्रवय्या स्त्रीलिङ्ग में ही निपातन है॥

एकः पूर्वपरयोः ॥६।१।८१॥

एकः १।१॥ पूर्वपरयोः ६।२॥ *स०*—पूर्व० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—संहितायाम्॥ *अर्थः*—अधिकारोऽयम्, *ख्यत्यात्* उत् (६।१।१०७) इति यावत्। तत्र पर्यन्तं यद्वक्ष्यति तत्र पूर्वस्य परस्य द्वयोरपि स्थाने

एकादेशो भवतीति वेदितव्यम् ॥ वक्ष्यति *आद् गुणः* (६।१।८४) इति तत्राचि पूर्वस्यावर्णाच्च परस्य द्वयोरपि स्थाने गुण एको भवति ॥ तद्यथा—खट्वेन्द्रः, मालेन्द्रः ॥

भाषार्थः—यह अधिकार सूत्र है, *ऋत उत्* (६।१।१०७) तक जायेगा। यहाँ से आगे ६।१।१०७ तक जो भी कहेंगे, उस विषय में [*पूर्वपरयोः*] पूर्व और पर दोनों के स्थान में [*एकः*] एक आदेश होगा, ऐसा जानना चाहिये ॥ जैसे कि *आद् गुणः* आगे कहेंगे सो वहाँ अच् से पूर्व अवर्ण तथा अवर्ण से उत्तर अच् दोनों के स्थान में गुण एकादेश होता है ॥

अन्तादिवच्च ॥६।१।८२॥

अन्तादिवत् अ० ॥ च अ० ॥ *स०*—अन्तश्च आदिश्च अन्तादी, इतरेतरद्वन्द्वः। ताभ्यां तुल्यमन्तादिवत् *तेन तुल्यं०* (५।१।११४) इति वतिप्रत्ययः ॥ *अनु०*—एकः पूर्वपरयोः ॥ *अर्थः*—अतिदेशोऽयम्। एकः पूर्वपरयोरिति योऽयमेकादेशो विधीयते स एकादेशः पूर्वस्यान्तवद्भवति परस्य चादिवद् भवति ॥ *उदा०*—ब्रह्मबन्धूः, वृक्षौ ॥

भाषार्थः—*एकः पूर्वपरयोः* के अधिकार में जो पूर्व पर को एकादेश कहा है वह एकादेश पूर्व से कार्य पड़ने पर पूर्व के [*अन्तादिवत्*] अन्त के समान माना जाये [च] तथा पर से कार्य पड़ने पर, पर के आदि के समान माना जाये ॥ यह अतिदेश सूत्र है ॥ 'ब्रह्मबन्धूः' यहाँ ब्रह्मबन्धु + ऊङ् (४।१।६६) ऐसी स्थिति में 'उ' तथा 'ऊ' दोनों के स्थान में सवर्ण दीर्घ एकादेश हुआ है। अब यहाँ 'ब्रह्मबन्धु' की तो प्रातिपदिक (१।२।४५) संज्ञा है तथा ऊङ् अप्रातिपदिक (प्रत्यय) है। इन दोनों अर्थात् प्रातिपदिक का अवयव उकार तथा अप्रातिपदिक ऊकार के स्थान में हुआ दीर्घ एकादेश प्रातिपदिक का अवयव कैसे माना जाये? अतः प्रकृत सूत्र से दीर्घ एकादेश को पूर्व का अन्त अर्थात् प्रातिपदिक का अन्तवत् मानकर स्वाद्युत्पत्ति हुई। वृक्षौ यहाँ भी वृक्ष का अकार असुप् है तथा औ सुप् है। इन दोनों असुप् अकार तथा सुप् औकार के स्थानमें हुआ एकादेश (६।१।८५) 'औ' प्रकृत सूत्र से सुप् (औकार का) आदिवत् माना गया, जिससे *सुप्तिङन्तं पदम्* (१।४।१४) से सुबन्त मानकर पद संज्ञा हो गई ॥

दो स्थानियों के स्थान में एक आदेश *एकः पूर्वपरयोः* के अधिकार में होता है, सो वह पूर्व स्थानी के अन्त के समान माना जावे या पर के आदि के समान माना जावे इसलिये यह सूत्र बनाया है ॥

षत्वतुकोरसिद्धः ॥६।१।८३॥

षत्वतुकोः ७।२॥ असिद्धः १।१॥ *स०*—षत्व० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । न सिद्धः, असिद्धः, नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—एकः पूर्वपरयोः ॥ *अर्थः*—षत्वे तुकि च कर्त्तव्ये एकादेशोऽसिद्धो भवति, सिद्धकार्यं न करोतीत्यर्थः ॥ *उदा०*—षत्वविधौ—कोऽसिचत् । कोऽस्य, योऽस्य, कोऽस्मै, योऽस्मै । तुग्विधौ—अधीत्य, प्रेत्य ॥

भाषार्थः—[*षत्वतुकोः*] षत्व और तुक् विधि करने में एकादेश [*असिद्धः*] असिद्ध होता है, अर्थात् सिद्ध के समान कार्य नहीं होते ॥ एकादेश को मानकर कोई कार्य प्राप्त हो रहा हो वह न हो, तथा स्थानी को मानकर जो कार्य प्राप्त नहीं हो रहा है वह हो जावे यही असिद्धत्व विधान का प्रयोजन है ॥ किम् शब्द से सु आकर तथा उसे असिचत् परे रहते *अतो रोर०* (६।१।१०९) से उत्व एवं *आद् गुणः* (६।१।८४) से गुण एकादेश होकर 'को असिचत्' रहा । अब *एङः पदान्तादति* (६।१।१०५) से पूर्वरूप एकादेश होकर कोऽसिचत् बन गया, तब ओकार को *अन्तादिवच्च* से पर (तिङन्त का) का आदिवत् माना गया, अतः इण् ओकार से उत्तर सिच् (धातु) के सकार को *आदेश-प्रत्यययोः* (८।३।५९) से आदेश का सकार होने से (षिच् के ष को स आदेश *धात्वादेः षः सः* (६।१।६२) से होता है) षत्व पाया, वह षत्वविधि में पूर्वरूप एकादेश के प्रकृत सूत्र से असिद्ध होने से नहीं होता, क्योंकि असिद्ध होने से 'को असिचत्' ऐसा रूप षत्वकार्य करने में दीखेगा, तो इण् ओकार से उत्तर अकार का व्यवधान होने से षत्व नहीं होगा । को अस्य, यो अस्य, को अस्मै, यो अस्मै यहाँ भी पूर्ववत् पूर्वरूप एकादेश करके असिद्ध होने से प्रत्यय के सकार को षत्व नहीं हुआ ऐसा जानें । यहाँ आदेश लक्षण प्रतिषेध कार्य हुआ है ॥ अधीत्य यहाँ 'अधि इण्' को सवर्णदीर्घ हुआ है तथा प्रेत्य में 'प्र इण्' को *आद्गुणः* से गुण एकादेश हुआ है । अब यहाँ क्त्वा को ल्यप् कर देने के पश्चात् *ह्रस्वस्य पिति०* (६।१।६९) से तुक् आगम नहीं होता,

क्योंकि ह्रस्व से उत्तर पित् कृत् नहीं है, तब प्रकृत सूत्र से एकादेश तुक् विधि में असिद्ध माना गया तो 'अधि इ य, प्र इ य' ऐसा ही रूप तुक् करने में समझा गया। अतः ह्रस्व मिल जाने से ल्यप् को तुक् आगम हो गया। यहाँ स्थानीलक्षण कार्य हुआ है।

आद् गुणः ॥६।१।८४॥

आत् ५।१॥ गुणः १।१॥ अनु०—एकः पूर्वपरयोः, अचि, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अचि पूर्वो योऽवर्णः, अवर्णाच्च परो योऽच् तयोः द्वयोः पूर्वपरयोः स्थान एको गुणादेशो भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—तव + इदम् = तवेदम्। खट्वा + इन्द्रः = खट्वेन्द्रः, मालेन्द्रः। तव + ईहते = तवेहते, खट्वेहते। तव + उदकं = तवोदकम्, खट्वोदकम्। तव + ऋश्यः = तवर्श्यः, खट्वर्श्यः। तवल्कारः, खट्वल्कारः ॥

भाषार्थः—[*आत्*] अवर्ण से उत्तर जो अच् तथा अच् परे रहते जो पूर्व अवर्ण इन दोनों पूर्वपर के स्थान में अर्थात् अवर्ण और अच् के स्थान में [*गुणः*] गुण एकादेश होता है संहिता विषय में ॥ खट्वल्कारः तवल्कारः में *ऌकारस्य लपरत्वं वक्ष्यामि* (*महाभा०* १।१।६) इस भाष्यवचन से ऌ के स्थान में लपर आदेश होता है। यहाँ आत् पञ्चमी और अचि सप्तमी है। *तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य* (१।१।६५) के नियम से अच् से पूर्व जो आत् वह षष्ठी विभक्ति में परिणत हो जाता है और आत् में जो पञ्चमी है वह *तस्मादित्युत्तरस्य* (१।१।६६) के नियम से अचि को षष्ठी रूप में बदल देता है। यद्यपि *विप्रतिषेधे परं०* (१।४।२) के नियम से *तस्मादित्युत्तरस्य* (१।१।६६) का नियम बलवान् होना चाहिए परन्तु यहाँ 'पूर्वपरयोः' की अनुवृत्ति होने से दोनों के स्थान में आदेश होता है।

यहाँ से '*आत्*' की अनुवृत्ति ६।१।६३ तक जायेगी ॥

वृद्धिरेचि ॥६।१।८५॥

वृद्धिः १।१॥ एचि ७।१॥ अनु०—आत्, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अवर्णात् परो य एच् एचि च परतो योऽवर्णस्तयोः पूर्वपरयोः स्थाने वृद्धिरेकादेशो भवति संहितायां विषये ॥ पूर्वस्यापवादोऽयम् ॥ *उदा०*—ब्रह्म + एडका = ब्रह्मैडका, खट्वैडका। ब्रह्म +

ऐतिकायनः = ब्रह्मैतिकायनः, खट्वैतिकायनः। ब्रह्म + ओदनः = ब्रह्मौदनः, खट्वौदनः। ब्रह्म + औपगवः = ब्रह्मौपगवः, खट्वौपगवः॥

भाषार्थः—अवर्ण से उत्तर जो एच् तथा [*एचि*] एच् परे रहते जो अवर्ण इन दोनों पूर्व पर के स्थान में अर्थात् अवर्ण तथा एच् के स्थान में [*वृद्धिः*] वृद्धि एकादेश होता है संहिता के विषय में॥ पूर्व सूत्र से अच् परे रहते गुण एकादेश प्राप्त था, यहाँ एच् परे रहते तदपवाद वृद्धि एकादेश का विधान है॥

यहाँ से '*वृद्धिः*' की अनुवृत्ति ६।१।८६ तक तथा '*एचि*' की अनुवृत्ति ६।१।८६ तक जायेगी॥

एत्येधत्यूठ्सु ॥६।१।८६॥

एत्येधत्यूठ्सु ७।३॥ *स०*—एतिश्च एधतिश्च ऊठ् च एत्येधत्यूठस्तेषु ... इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—वृद्धिरेचि, अचि, आत्, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—अवर्णात् परो य इण् गतौ इत्येतस्य एच्, एध वृद्धौ, ऊठ् इत्येतयोश्च योऽच्, इत्येतेषां पूर्वो योऽवर्णस्तयोः पूर्वपरयोरवर्णाचोः स्थाने वृद्धिरेकादेशो भवति, संहितायां विषये॥ *उदा०*—उपैति, उपैषि, उपैमि। उपैधते, प्रैधते। प्रष्ठौहः, प्रष्ठौहा, प्रष्ठौहे॥

भाषार्थः—यहाँ 'एच्' इण् धातु का ही विशेषण बन सकता है, क्योंकि 'एध' धातु तो सर्वदा एच् आदि वाला ही है, तथा ऊठ् एच् आदि वाला हो ही नहीं सकता॥

[*एत्येधत्यूठ्सु*] इण् गतौ धातु के एच् से पूर्व तथा 'एध्' एवं ऊठ् के अच् से पूर्व जो अवर्ण तथा उस अवर्ण से उत्तर जो इण् का एच् एवं एध तथा ऊठ् का अच् इन दोनों के पूर्व पर के स्थान में संहिता के विषय में वृद्धि एकादेश होता है॥ इण् धातु गुण करने पर एजादि हो जाता है॥ ऊठ् परे रहते *आद् गुणः* (६।१।८४) से गुण प्राप्त है, तथा एति एधति परे रहते *एङि पररूपम्* (६।१।९१) से पररूप प्राप्त है, यह सूत्र इन दोनों का अपवाद है॥ उप + एति = उपैति। उप + एधते = उपैधते। प्रष्ठौहः यहाँ प्रष्ठ उपपद रहते 'वह' धातु से *वहश्च* (३।२।६४) से ण्वि प्रत्यय हुआ है। वह् को वाह् वृद्धि तथा ण्वि का सर्वापहारी लोप होकर 'प्रष्ठवाह्'

बना। ङस् विभक्ति आकर *वाह ऊठ्* (६।४।१३२) से सम्प्रसारणसंज्ञक ऊठ्, वाह् के यण् के स्थान में अर्थात् व् को होकर 'प्रष्ठ ऊठ् आह् ङस्' *सम्प्रसारणाच्च* लगकर प्रष्ठ ऊह् अस् रहा। अब प्रकृत सूत्र से वृद्धि एकादेश होकर प्रष्ठौहः बन गया। 'टा' विभक्ति में प्रष्ठौहा तथा 'ङे' में प्रष्ठौहे बनता है ॥

आटश्च ॥६।१।८७॥

आटः ५।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—वृद्धिः, एकः पूर्वपरयोः, अचि, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—आटः परो योऽच्, अचि च पूर्वो य आट् तयोः पूर्वपरयोराडचोः स्थाने वृद्धिरेकादेशो भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—ऐक्षिष्ट, ऐक्षत, ऐक्षिष्यत। औभीत्। आर्ध्नोत्। औब्जीत् ॥

भाषार्थः—[*आटः*] आट् से उत्तर [च] भी जो अच् तथा अच् से पूर्व जो आट् इन दोनों आट् तथा अच् के (पूर्व पर के) स्थान में वृद्धि एकादेश होता है संहिता के विषय में ॥ लुङ् लकार में आट् ईक्ष् इट् सिच् त' रहा। प्रकृत सूत्र से वृद्धि एकादेश होकर ऐक्षिस्त रहा। षत्व ष्टुत्व होकर ऐक्षिष्ट बन गया। लङ् लकार में आट् ईक्ष् शप् त = ऐक्षत तथा लृङ् में ऐक्षिष्यत जानें। उभ धातु से औभीत्, तथा उब्ज धातु से औब्जीत् की सिद्धि भाग १ परि० १।१।१ में दर्शाई हुई अलावीत् की सिद्धि के समान जानें। ऋधु धातु से लङ् लकार में *स्वादिभ्यः श्नुः* (३।१।७३) से श्नु विकरण करके आर्ध्नोत् की सिद्धि जानें। यहाँ रपरत्व विशेष है। सर्वत्र *आडजादीनाम्* (६।४।७२) से हुये आट् को वृद्धि एकादेश होता है ॥

उपसर्गादृति धातौ ॥६।१।८८॥

उपसर्गात् ५।१॥ ऋति ७।१॥ धातौ ७।१॥ *अनु०*—वृद्धिः, आत्, एकः पूर्वपरयोः, अचि, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अवर्णान्तादुपसर्गाद् ऋकारादौ धातौ परतः पूर्वपरयोः स्थाने वृद्धिरेकादेशो भवति संहितायां विषये ॥ *आद् गुणः* इत्यस्यापवादोऽयम् ॥ *उदा०*—उप + ऋच्छति = उपार्च्छति। प्र + ऋच्छति = प्रार्च्छति। उप + ऋध्नोति = उपार्ध्नोति ॥

भाषार्थः—अवर्णान्त [*उपसर्गात्*] उपसर्ग से परे जो [*ऋति धातौ*] ऋकारादि धातु इन दोनों के पूर्व पर के स्थान में अर्थात् अवर्ण एवं धातु के

ऋकार के स्थान में संहिता के विषय में वृद्धि एकादेश होता है ॥ *आद् गुणः* का अपवाद यह सूत्र है । वृद्धि एकादेश करने पर रपरत्व हो ही जायेगा ॥

यहाँ से *'उपसर्गात् धातौ'* की अनुवृत्ति ६।१।६१ तक तथा *'ऋति'* की ६।१।८६ तक जायेगी ॥

वा सुप्यापिशलेः ॥६।१।८९॥

वा अ० ॥ सुपि ७।१॥ आपिशलेः ६।१॥ *अनु०*—उपसर्गादृति धातौ, वृद्धिः, आत्, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—सुबन्तावयव ऋकारादौ धातौ परतोऽवर्णान्तादुपसर्गात् पूर्वपरयोः स्थाने संहितायां विषये आपिशलेराचार्यस्य मतेन वृद्धिरेकादेशो वा भवति ॥ *उदा०*—उपर्षभीयति, उपार्षभीयति । उपल्कारीयति, उपाल्कारीयति ॥

भाषार्थः—[*सुपि*] सुबन्त अवयव वाले ऋकारादि धातु के परे रहते अवर्णान्त उपसर्ग से उत्तर पूर्व पर के स्थान में अर्थात् अवर्ण एवं ऋकार के स्थान में संहिता विषय में [*आपिशलेः*] आपिशलि आचार्य के मत में [*वा*] विकल्प से वृद्धि एकादेश होता है ॥ पक्ष में *आद् गुणः* से गुण एकादेश होगा ॥ सुबन्त धातु कभी नहीं हो सकता अतः सुबन्तावयव = सुबन्त से बना नामधातु ऐसा अभिप्राय जानना चाहिये । *ऋकारऌकारयोः सवर्णसंज्ञा वक्तव्या (वा० १।१।६)* वार्त्तिक से ऋकार ऌकार की परस्पर सवर्ण संज्ञा कही है, अतः ऋकार से ऌकार का भी ग्रहण होकर उपल्कारीयति आदि उदाहरण बनेंगे । यहाँ *'ऌकारस्य लपरत्वं वक्ष्यामि' (महाभा० १।१।६)* इस भाष्य वचन से ऌकार को लपर भी हो जाता है ॥ ऋषभमिच्छतीति ऋषभीयति की सिद्धि भाग १ पृष्ठ ८५७ के पुत्रीयति के समान जानें । 'अम्' विभक्ति के बीच में आने से 'ऋषभीय' सुबन्तावयव वाला धातु है, 'उप' अवर्णान्त उपसर्ग से उत्तर वृद्धि एकादेश हो गया है । इसी प्रकार ऌकारमिच्छति ऌकारीयति में भी जानें ॥

ओतोऽम्शसोः ॥६।१।९०॥

आ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ ओतः ५।१॥ अम्शसोः ७।२॥ *स०*—अम्

च शश्च अमृशसौ, तयोः.....इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ अर्थः—ओकारान्ताद् अमि शसि च परतः पूर्वपरयोः स्थाने आकार एकादेशो भवति संहितायां विषये ॥ उदा०—गां पश्य, गाः पश्य, द्यां पश्य, द्याः पश्य ॥

भाषार्थः—[ओतः] ओकारान्त से [अम्शसोः] अम् तथा शस् विभक्ति के परे रहते पूर्व पर के स्थान में अर्थात् ओकार और अम् शस् के अकार के स्थान में [आ] आकार एकादेश संहिता विषय में होता है ॥ गो अम् = आकार एकादेश होकर गाम् द्याम् बना । शस् में गाः द्याः बन गया ॥

एङि पररूपम् ॥६।१।९१॥

एङि ७।१॥ पररूपम् १।१॥ अनु०—उपसर्गात् धातौ, आत्, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ अर्थः—अवर्णान्तादुपसर्गाद् एङादौ धातौ परतः पूर्वपरयोः स्थाने पररूपमेकादेशो भवति संहितायां विषये ॥ उदा०—उप+एलयति = उपेलयति, प्रेलयति । उप+ओषति = उपोषति, प्रोषति ॥

भाषार्थः—अवर्णान्त उपसर्ग के पश्चात् [एङि] एङ् (ए ओ) आदि वाले धातु के परे रहते पूर्व पर के स्थान में [पररूपम्] पररूप (अर्थात् पर का जो रूप) एकादेश होता है ॥ वृद्धिरेचि (६।१।८५) का यह अपवाद सूत्र है ॥ उप एलयति यहाँ पर का रूप 'ए' अर्थात् 'अ' तथा 'ए' को 'ए' ही हो गया । प्रोषति में 'ओ' हो गया ॥

यहाँ से 'पररूपम्' की अनुवृत्ति ६।१।९६ तक जायेगी ॥

ओमाङोश्च ॥६।१।९२॥

ओमाङोः ७।२॥ च अ० ॥ स०—ओम् च आङ् च ओमाङौ, तयोः.....इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—पररूपम्, आत्, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ अर्थः—ओमि आङि च परतोऽवर्णान्तात् पूर्वपरयोः स्थाने पररूपमेकादेशो भवति संहितायां विषये ॥ उदा०—कन्या + ओम् = कन्योम् इत्यवोचत् । आ + ऊढा = ओढा, अद्य + ओढा = अद्योढा, कदोढा । तदोढा ॥

भाषार्थः—अवर्ण के पश्चात् [ओमाङोः] ओम् तथा आङ् परे रहते [च] भी पूर्व पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है, संहिता

विषय में ॥ *वृद्धिरेचि* (६।१।८५) का यह अपवाद सूत्र है ॥ आ + ऊढा यहाँ पहले आङ् के आ तथा ऊढा के ऊ को *आद् गुणः* से गुण एकादेश करके ओढा बनाया । तत्पश्चात् 'आङ् एवं अनाङ् का एकादेश पूर्व का अन्तवत् होकर आङ् के ग्रहण से गृहीत, हो जाता है' इस न्याय से ओढा में आङ् माना गया तो कढा के 'आ' और 'ओढा' के 'ओ' के स्थान में पररूप अर्थात् 'ओ' हो गया ॥

उस्यपदान्तात् ॥६।१।९३॥

उसि ७।१॥ अपदान्तात् ५।१॥ *स०*—पदस्य अन्तः पदान्तः, न पदान्तः अपदान्तस्तस्मात्......पूर्वं षष्ठीतत्पुरुषस्ततो नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—पररूपम्, आत्, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अपदान्तादवर्णाद् उसि परतः पूर्वपरयोः स्थाने पररूपमेकादेशो भवति संहितायां विषये ॥ आद्गुणापवादः ॥ *उदा०*—भिन्द्या+उस् भिन्द्युः, छिन्द्युः । अदा+उस् = अदुः, अयुः ॥

भाषार्थः—[*अपदान्तात्*] अपदान्त अवर्ण से उत्तर [*उसि*] उस् परे रहते पूर्व पर के (अवर्ण और उस् के उ के) स्थान में पररूप एकादेश होता है, संहिता विषय में ॥ भिदिर् धातु से विधिलिङ् में श्नम् विकरण, यासुट् आगम एवं झि होकर 'भि श्नम् द् यासुट् झि = भिनद् यास् झि' रहा । *झेर्जुस्* (३।४।१०८) से झि को जुस् *श्नसोरल्लोपः* (६।४।१११) से 'न' के अकार का लोप एवं *लिङः सलोपो०* (७।२।७९) से यासुट् के सकार का लोप होकर 'भिन्द्या उस्' रहा । अब प्रकृत सूत्र से पररूप एकादेश होकर भिन्द्युः बन गया । डुदाञ् धातु से लुङ् में अदुः की सिद्धि, *गातिस्था०* (२।४।७७) से सिच् लुक् एवं *आतः* (३।४।११०) से झि को जुस् होकर जानें । या धातु से लङ् में अयुः बना है । *लङः शाकटाय०* (३।४।१११) से यहाँ झि को जुस् हुआ है ॥ *आद् गुणः* का यह अपवाद सूत्र है ॥

यहाँ से '*अपदान्तात्*' की अनुवृत्ति ६।१।९४ तक जायेगी ॥

अतो गुणे ॥६।१।९४॥

अतः ५।१॥ गुणे ७।१॥ *अनु०*—अपदान्तात्, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अपदान्तादकारात् गुणे परतः पूर्वपरयोः स्थाने

पररूपमेकादेशो भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—पचन्ति, यजन्ति, पठन्ति, पचे, यजे ॥

भाषार्थः—अपदान्त [*अतः*] अकार से उत्तर [*गुणे*] गुण अर्थात् गुणसंज्ञक अ, ए, ओ के परे रहते पूर्व पर के स्थान में संहिता विषय में पररूप एकादेश होता है ॥ पचन्ति यजन्ति की सिद्धि भाग १ पृ० ६७० तथा पचे की पृ० ६७१ में देखें। पचन्ति में *अकः सवर्णे०* (६।१।९७) की प्राप्ति थी तथा पचे में *वृद्धिरेचि* (६।१।८५) की प्राप्ति थी, तदपवाद यह सूत्र है ॥

अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ ॥६।१।९५॥

अव्यक्तानुकरणस्य ६।१॥ अतः ५।१॥ इतौ ७।१॥ *स०*—अव्यक्तस्य अनुकरणम् अव्यक्तानुकरणं, तस्य······षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अव्यक्तमपरिस्फुटवर्णं, तस्याव्यक्तानुकरणस्य योऽच्छब्दस्तस्मादितौ परतः पूर्वपरयोः स्थाने पररूपमेकादेशो भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—पटत् + इति = पटिति। घटत् + इति = घटिति। झटत् + इति = झटिति। छमत्+इति = छमिति ॥

भाषार्थः—[*अव्यक्तानुकरणस्य*] अव्यक्त के अनुकरण का जो [*अतः*] 'अत्' शब्द उससे उत्तर [*इतौ*] इति शब्द परे रहते पूर्व 'अत्' तथा पर 'इ' के स्थान में पररूप एकादेश होता है संहिता विषय में ॥ अव्यक्त अपरिस्फुट = अनभिव्यक्त वर्ण को कहते हैं, किन्तु अव्यक्त का जो अनुकरण = प्रतिशब्द, नकल वह परिस्फुट अभिव्यक्त वर्ण वाला होगा, क्योंकि वह अव्यक्त की ध्वनि की सदृशता को लेकर किसी शब्द विशेष से व्यक्त किया जायेगा। यथा वस्त्रादि प्रक्षालन के समय जो पटत् पटत् अव्यक्त वर्ण वाली ध्वनि निकलती है उसका अनुकरण किसी ने सादृश्य से 'पटत्' इस व्यक्त वर्ण से किया ॥ अव्यक्तानुकरण 'पटत्' के पूरे 'अत्' भाग को इति परे रहते पूर्व पर को पररूप प्रकृत सूत्र से हो गया तो पर का रूप पट् इ ति = पटिति झटिति आदि बन गये ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ६।१।९६ तक जायेगी ॥

नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा ॥६।१।९६॥

न अ० ॥ आम्रेडितस्य ६।१॥ अन्त्यस्य ६।१॥ तु अ० ॥ वा अ० ॥

अनु०—अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—आम्रेडितसंज्ञकस्याऽव्यक्तानुकरणस्य योऽच्छब्द इतौ परतस्तस्य पररूपं न भवति, परम् इतौ परतस्तस्याम्रेडितस्य योऽन्त्यस्तकारस्तस्य विकल्पेन पररूपमेकादेशो भवति ॥ *उदा०*—पटत्पटदिति, पटत्पटेति करोति ॥

भाषार्थः—[*आम्रेडितस्य*] आम्रेडित संज्ञक जो अव्यक्तानुकरण का 'अत्' शब्द उसे 'इति' परे रहते पररूप एकादेश [*न*] नहीं होता, [*तु*] किन्तु जो उस आम्रेडित का [*अन्त्यस्य*] अन्त्य तकार उसको [*वा*] विकल्प से पररूप एकादेश होता है, संहिता विषय में ॥ पूर्वसूत्र से 'अत्' शब्द को पररूप प्राप्त था उसका निषेध करके अन्त्य तकार को विकल्प से विधान कर दिया ॥ 'पटत् पटत्' ऐसा द्वित्व *नित्यवीप्सयोः* (८।१।४) से होता है । *तस्य परमाम्रेडितम्* (८।१।२) से परवाले पटत् की आम्रेडित संज्ञा हो गई, तो इति परे रहते 'त्' को पररूप कर देने से 'पटत्पट इति' ऐसा रहा । तब *आद् गुणः* (६।१।८४) लग कर पटत्पटेति बन गया ॥

अकः सवर्णे दीर्घः ॥६।१।९७ ॥

अकः ५।१॥ सवर्णे ७।१॥ दीर्घः १।१॥ *अनु०*—अचि, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अक उत्तरस्य सवर्णेऽचि परतः पूर्वपरयोः स्थाने दीर्घ एकादेशो भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—दण्ड + अग्रम् = दण्डाग्रम् दधीन्द्रः, मधूदके, होतृ + ऋश्यः = होतॄश्यः ॥

भाषार्थः—[*अकः*] अक् (प्रत्याहार) से उत्तर [*सवर्णे*] सवर्ण अच् परे हो तो पूर्व और पर के स्थान में [*दीर्घः*] दीर्घ एकादेश संहिता विषय में होता है ॥ दण्ड + अग्रम् में दोनों अकार परस्पर सवर्ण हैं सो दीर्घ एकादेश हो गया है । इसी प्रकार औरों में जानें ॥

यहाँ से '*अकः*' की अनुवृत्ति ६।१।१०३ तक तथा '*दीर्घः*' की ६।१।१०२ तक जायेगी ॥

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः ॥६।१।९८॥

प्रथमयोः ७।२॥ पूर्वसवर्णः १।१॥ *स०*—पूर्वस्य सवर्णः पूर्वसवर्णः, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अकः दीर्घः, एकः पूर्वपरयोः, अचि संहितायाम् ॥ *अर्थः*—प्रथमायां द्वितीयायां च विभक्तावचि अकः उत्तरस्य

पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशो भवति ॥ उदा०—अग्नी, वायू । वृक्षाः, प्लक्षाः । वृक्षान् प्लक्षान् ॥

भाषार्थः—अक् प्रत्याहार के पश्चात् [*प्रथमयोः*] प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के अच् के परे रहते पूर्व पर के स्थान में [*पूर्वसवर्णः*] पूर्व जो वर्ण उसका सवर्ण दीर्घ एकादेश हो जाता है ॥ यहाँ '*प्रथमयोः*' द्विवचनान्त कहने से प्रथमा तथा द्वितीया दोनों विभक्ति ले ली जाती हैं । 'अचि' की अनुवृत्ति आने से प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति के तीनों वचनों में जो अजादि प्रत्यय होगा वहीं यह सूत्र प्रवृत्त होगा ॥ 'अग्नि औ' यहाँ पूर्व वर्ण 'इ' है, सो पूर्व पर के स्थान में पूर्व सवर्ण दीर्घ 'ई' एकादेश हो गया । इसी प्रकार 'वायु औ' = वायू में जानें । द्वितीया विभक्ति के द्विवचन में भी ये ही रूप हैं । जस् विभक्ति परे रहते वृक्षाः तथा शस् में वृक्षान् बनेगा ॥

यहाँ से '*पूर्वसवर्णः*' की अनुवृत्ति ६।१।१०२ तक जायेगी ॥

तस्माच्छसो नः पुंसि ॥६।१।९९॥

तस्मात् ५।१॥ शसः ६।१॥ नः १।१॥ पुंसि ७।१॥ *अनु०*—पूर्वसवर्णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—तस्मात् पूर्वसवर्णदीर्घादुत्तरस्य शसोऽवयवस्य सकारस्य नकारादेशो भवति पुंसि ॥ *उदा०*—वृक्षान्, अग्नीन्, वायून्, कर्तॄन्, षण्डकान्, स्थूरकान्, अररकान् ॥

भाषार्थः—[*तस्मात्*] पूर्व सूत्र से दीर्घ किये हुये पूर्वसवर्ण दीर्घ से उत्तर [*शसः*] शस् के अवयव सकार को [*नः*] नकार आदेश [*पुंसि*] पुँल्लिङ्ग में होता है ॥ '*शसः*' में षष्ठी अवयव सम्बन्ध में होने से सकार के स्थान में नकार होता है ॥

नादिचि ॥६।१।१००॥

न अ० ॥ आत् ५।१॥ इचि ७।१॥ *अनु०*—पूर्वसवर्णः, दीर्घः, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अवर्णादुत्तरस्य इचि परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वसवर्णदीर्घो न भवति ॥ *उदा०*—वृक्षौ, प्लक्षौ । खट्वे, कुण्डे ॥

भाषार्थः—[*आत्*] अवर्ण से उत्तर [*इचि*] इच् प्रत्याहार परे रहते पूर्व पर के स्थान में पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश [*न*] नहीं होता ॥ वृक्ष + औ यहाँ इच् प्रत्याहार 'औ' के परे रहते पूर्वसवर्ण दीर्घ का जो कि *प्रथमयोः*

पूर्वसवर्णः से प्राप्त था निषेध होकर *वृद्धिरेचि* (६।१।८५) लगकर वृ बन गया। इसी प्रकार खट्वा औ = खट्वा शी (७।१।१८) = खट्वे जानें ॥

यहाँ से '*इचि*' की अनुवृत्ति ६।१।१०२ तक तथा '*न*' की ६।१।१० तक जायेगी ॥

दीर्घाज्जसि च ॥६।१।१०१॥

दीर्घात् ५।१॥ जसि ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—न इचि, पूर्वसवर्ण दीर्घः, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—दीर्घात् परः जसि इचि परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशो न भवति ॥ *उदा०*—कुमार्यौ, कुमार्यः । ब्रह्मबन्ध्वौ, ब्रह्मबन्ध्वः ॥

भाषार्थः—[*दीर्घात्*] दीर्घ वर्ण से उत्तर [*जसि*] जस् तथा [च चकार से इच् परे रहते पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश नहीं होता ॥ पूर्वसू में अवर्ण से उत्तर ही कहा था, यहाँ दीर्घ से उत्तर कहने से दीर्घ 'ईका ऊकार' से उत्तर निषेध हो गया। पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश व निषेध होने पर यणादेश होकर कुमार्यौ इत्यादि रूप बनते हैं ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ६।१।१०२ तक जायेगी ॥

वा छन्दसि ॥६।१।१०२॥

वा अ० ॥ छन्दसि ७।१॥ *अनु०*—दीर्घाज्जसि च, इचि, पूर्वसवर्णः दीर्घः, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—दीर्घात् परो जसि इचि च परतः पूर्वपरयोः स्थाने छन्दसि विषये पूर्वसवर्णदीर्घो वा भवति। *उदा०*—मारुतीश्चतस्रः । पिण्डीः । मारुत्यश्चतस्रः । पिण्ड्यः । वाराही उपानही । वाराह्यौ, उपानह्यौ ॥

भाषार्थः—दीर्घ से उत्तर जस् तथा इच् प्रत्याहार परे रहते [*छन्दसि*] वेद विषय में पूर्वपर के स्थान में पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश [*वा*] विकल्प से होता है ॥ पूर्व सूत्र से नित्यनिषेध प्राप्त था उसका विकल्प करने से यहाँ विकल्प से पूर्वसवर्ण दीर्घ होता है ॥ मारुतीः, पिण्डीः आदि में जस् परे रहते पूर्वसवर्ण दीर्घ हुआ है, तथा मारुत्यः पिण्ड्यः आदि

में पक्ष में पूर्वसवर्ण दीर्घ नहीं हुआ, सो यणादेश हो गया। 'औ' परे रहते वाराही उपानही के वाराह्यौ उपानह्यौ रूप बने हैं॥

अमि पूर्वः ॥६।१।१०३॥

अमि ७।१॥ पूर्वः १।१॥ *अनु०*—अकः, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—अक उत्तरस्यामि परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपमेकादेशो भवति॥ *उदा०*—वृक्षम्, प्लक्षम्, अग्निम्, वायुम्॥

भाषार्थः—अक् प्रत्याहार से उत्तर [*अमि*] अम् विभक्ति परे रहते [*पूर्वः*] पूर्वरूप एकादेश होता है॥ वृक्ष+अम्, यहाँ पूर्व 'क्ष्' का उत्तरवर्ती 'अ' है सो दोनों के स्थान में पूर्वरूप अकार एकादेश हो गया है। अग्निम् में 'इ' तथा वायुम् में 'उ' है सो इकार उकार एकादेश हुआ है॥

यहाँ से '*पूर्वः*' की अनुवृत्ति ६।१।१०६ तक जायेगी॥

सम्प्रसारणाच्च ॥६।१।१०४॥

सम्प्रसारणात् ५।१॥ च अ०॥ *अनु०*—पूर्वः, एकः पूर्वपरयोः, अचि, संहितायाम्॥ *अर्थः*—सम्प्रसारणादचि परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपमेकादेशो भवति संहितायां विषये॥ *उदा०*—यजि—इष्टम्। वपि—उप्तम्। ग्रहि—गृहीतम्॥

भाषार्थः—[*सम्प्रसारणात्*] सम्प्रसारण संज्ञक वर्ण से उत्तर अच् परे हो तो [च] भी पूर्व पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है, संहिता के विषय में॥

वाक्य तथा वर्ण दोनों की सम्प्रसारण संज्ञा होने से यहाँ 'सम्प्रसारण संज्ञक वर्ण से उत्तर' यह अर्थ होता है॥ सिद्धियाँ भाग १ पृ० ७१४ में देखें॥

एङः पदान्तादति ॥६।१।१०५॥

एङः ५।१॥ पदान्तात् ५।१॥ अति ७।१॥ *स०*—पदस्य अन्तः पदान्तस्तस्मात्''षष्ठीतत्पुरुषः॥ *अनु०*—पूर्वः, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—पदान्तादेङ उत्तरस्य अति परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपमेकादेशो भवति संहितायां विषये॥ *उदा०*—अग्नेऽत्र, वायोऽत्र॥

भाषार्थः—[*पदान्तात्*] पदान्त में जो [*एङः*] एङ् प्रत्याहार है उसके पश्चात् जो [*अति*] अकार उन दोनों पूर्व पर के स्थान में संहिता के विषय में पूर्वरूप एकादेश होता है ॥ अग्ने + अत्र = अग्नेऽत्र, वायो + अत्र = वायोऽत्र यहाँ पूर्वरूप एकादेश हो गया है। अकार को पूर्वरूप हुआ है, यह दिखाने के लिये 'ऽ' ऐसा चिह्न रखा जाता है ॥[1]

यहाँ से '*एङः, अति*' की अनुवृत्ति ६।१।११८ तक जायेगी ॥

ङसिङसोश्च ६।१।१०६॥

ङसिङसोः ६।२॥ च अ० ॥ *स०*—ङसि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। *अनु०*—एङः अति, पूर्वः, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—एङ उत्तरयोर्ङसिङसोरति परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपमेकादेशो भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—अग्नेः, वायोः ॥

भाषार्थः—एङ् से उत्तर [*ङसिङसोः*] ङसि तथा ङस् का अकार हो तो [*च*] भी पूर्वपर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश संहिता के विषय में होता है ॥ अग्नि + ङसि यहाँ *घेर्ङिति* (७।३।१११) से अग्नि को गुण होकर अग्ने + अस् रहा। अब प्रकृत सूत्र से पूर्वरूप होकर अग्नेः बना। ङस् परे रहते भी इसी प्रकार जानें तथा वायु से इसी प्रकार वायोः की सिद्धि जानें ॥

यहाँ से '*ङसिङसोः*' की अनुवृत्ति ६।१।१०८ तक जायेगी ॥

ऋत उत् ॥६।१।१०७॥

ऋतः ५।१॥ उत् १।१॥ *अनु०*—ङसिङसोः, अति, एकः पूर्वपरयोः संहितायाम् ॥ *अर्थः*—ऋकारान्तादुत्तरयोर्ङसिङसोरति परतः पूर्वपरयोः स्थाने उकार एकादेशो भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—पितुः, होतुः।

भाषार्थः—[*ऋतः*] ऋकार से उत्तर ङसि तथा ङस् का अकार परे हो तो पूर्वपर के स्थान में संहिता के विषय में [*उत्*] उकार एकादेश

---

१. यह साम्प्रतिक व्यवहार है। वैदिक वाङ्मय में जहाँ दो अच् अव्यवहित प्रयुक्त होते हैं, उसे 'विवृति' कहते हैं। ऐसे दो अव्यवहित स्वरों के मध्य में 'ऽ' चिह्न प्रयुक्त होता है। अतः इसका वास्तविक नाम विवृति चिह्न है। यथा—कर्मणऽआप्यायध्वमघ्न्याऽइन्द्राय (य० १।१)।

होता है ॥ होतृ + ङसि = होतृ अस् यहाँ ऋकार एवं अकार दोनों के स्थान में उकारादेश करने से उरण् रपरः (१।१।५०) से रपरत्व भी होकर होतु र् स् रहा। रात्सस्य (८।२।२४) से संयोगान्त सकार का लोप होकर होतु र् रहा। रेफ को विसर्जनीय होकर होतुः पितुः बन गया ॥

यहाँ से 'उत्' की अनुवृत्ति ६।१।११० तक जायेगी ॥

ख्यत्यात् परस्य ॥६।१।१०८॥

ख्यत्यात् ५।१॥ परस्य ६।१॥ स०—ख्यश्च त्यश्च ख्यत्यं तस्मात् ..... समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—उत्, ङसिङसोः, अति, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—ख्य् त्य् इत्येताभ्यां परस्य ङसिङसोरतः स्थाने उकारादेशो भवति ॥ उदा०—सख्युः । पत्युः ॥

भाषार्थः—[*ख्यत्यात्*] ख्य् और त्य् से [*परस्य*] परे ङसि तथा ङस् के अकार के स्थान में उकार आदेश होता है, संहिता के विषय में ॥ सखि तथा पति शब्द को ङसि एवं ङस् विभक्ति परे रहते यणादेश होकर 'सख्य् अस्, पत्य् अस्' रहा। अब यहाँ ख्य् तथा त्य् से परे अकार को उकार होकर सख्युः, पत्युः बन गया ॥

अतो रोरप्लुतादप्लुते ॥६।१।१०९॥

अतः ५।१॥ रोः ६।१॥ अप्लुतात् ५।१॥ अप्लुते ७।१॥ स०—अप्लुतात् अप्लुत, उभयत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—उत्, अति, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अप्लुतादकारादुत्तरस्याप्लुतेऽति[1] परतः रो रेफस्योकारादेशो भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—वृक्षोऽत्र, प्लक्षोऽत्र ॥

भाषार्थः—[*अप्लुतात्*] अप्लुत [*अतः*] अकार से उत्तर [*अप्लुते*] अप्लुत अकार परे रहते [*रोः*] रु के रेफ को उकार आदेश होता है संहिता के विषय में ॥ 'वृक्ष रु अत्र = वृक्ष र् अत्र' यहाँ 'क्ष्' का उत्तरवर्ती

---

१. 'अतः अति' दोनों में तपर होने के कारण ह्रस्व अकार का ही ग्रहण होगा, प्लुत का हो ही नहीं सकता फिर भी 'अप्लुतात्, अप्लुते' ग्रहण इस लिए है कि अष्टमाध्याय पाद २ सूत्र ८२–१०८ तक जो प्लुत विधान है वह इस प्रकरण के प्रति 'पूर्वत्रासिद्धम्' (८।२।१) के नियम से असिद्ध होने पर एकमात्रिक मात्रा जाने पर भी प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति न हो।

'अ' प्लुत भिन्न है, तथा अत्र का 'अ' भी प्लुत भिन्न अकार है, अतः रु के रेफ को उत्व होकर 'वृक्ष उ अत्र' बना। पश्चात् *आद् गुणः* (६।१।८४) से गुण होकर 'वृक्षो अत्र' पश्चात् *एङः पदान्तादति* (६।१।१०५) लगकर वृक्षोऽत्र बन गया॥

यहाँ से '*अतः रोः*' की अनुवृत्ति ६।१।११० तक जायेगी॥

हशि च ॥६।१।११०॥

हशि ७।१॥ च अ०॥ *अनु०*—अतः रोः, उत्, संहितायाम्॥ *अर्थः*—हशि च परतोऽत उत्तरस्य रोरुकारादेशो भवति संहितायां विषये॥ *उदा०*—पुरुषो याति, पुरुषो हसति, पुरुषो वदति॥

भाषार्थः—[*हशि*] हश् प्रत्याहार परे रहते [*च*] भी अकार से उत्तर रु के रेफ को उकारादेश होता है संहिता के विषय में॥ पूर्व सूत्र से अकार परे रहते ही प्राप्त था, हश् परे रहते भी विधान कर दिया॥ पुरुष सु = पुरुष रु = पुरुष र् याति, उत्व तथा *आद् गुणः* (६।१।८४) लगकर पुरुषो याति बन गया॥

प्रकृत्यान्तःपादम् ॥६।१।१११॥

प्रकृत्या ३।१॥ अन्तःपादम् अ०॥ *स०*—अन्तः = मध्ये पादस्य अन्तःपादम् तस्मिन् अन्तःपादम्, अव्ययीभावः। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः (२।१।६)॥ ततः सप्तम्यामुत्पन्नस्य ङेस्*तृतीयासप्तम्यो०* (२।४।८४) इत्यनेनाम्भावः॥ अन्तःशब्दोऽव्ययमधिकरणभूतं मध्यममाचष्टे। *अनु०*—एङः अति, संहितायाम्॥ *अर्थः*—पादमध्यस्थेऽति परत एङ् प्रकृत्या भवति, संहिताकार्यं न भवतीत्यर्थः॥ एङ इति यत् पञ्चम्यन्तमनुवर्त्तते तदर्थादिह प्रथमान्तेन विपरिणम्यते॥ *उदा०*—ते अग्रे अश्वमायुञ्जन्। ते अस्मिन् जवमादधुः। सुजाते अश्वसूनृते (ऋ० ५।७९।१)। उपप्रयन्तो अध्वरम् (ऋ० १।७४।१)। शिरो अपश्यम्। अध्वर्यो अद्रिभिः सुतम्॥

भाषार्थः—[*अन्तःपादम्*] पाद के मध्य में वर्त्तमान अकार के परे रहते एङ् को [*प्रकृत्या*] प्रकृतिभाव हो जाता है, अर्थात् जैसा है वैसे ही रहता है सन्धि-कार्य नहीं होते॥ अन्तः अव्यय शब्द यहाँ मध्यवाची है, *अव्ययं विभक्ति०* (२।१।६) से विभक्त्यर्थ में अन्तःपादम् में समास हुआ

है। समास करने के पश्चात् उत्पन्न सप्तमी विभक्ति के एकवचन को *अव्ययादाप्सुपः* (२।४।८२) से लुक् न होकर *तृतीयासप्तम्यो०* (२।४।८४) से 'अम्' होता है ॥ ऊपर से आ रहा 'एङः' पञ्चम्यन्त पद यहाँ अर्थ के अनुसार प्रथमा विभक्ति में बदल जाता है ॥ उपर्युक्त सारे उदाहरणों में पाद के मध्य में अकार है, अतः 'ते, सुजाते, उपप्रयन्तो' आदि के एङ् को प्रकृतिभाव हो जाता है अर्थात् *एङः पदान्तादति* (६।१।१०५) से प्राप्त पूर्वरूप नहीं होता ॥

विशेषः—यद्यपि इस प्रकरण में 'छन्दसि' का निर्देश नहीं है तथापि इस प्रकरण के अधिकांश सूत्र वेदविषयक ही हैं, क्योंकि लौकिक पादबद्ध पद्यों में यह कार्य नहीं देखा जाता है। सूत्र ६।१।११८ में पठित 'सर्वत्र' पद से भी यही ध्वनित होता है ॥

यहाँ से '*प्रकृत्या*' की अनुवृत्ति ६।१।१२६ तक तथा '*अन्तःपादम्*' की ६।१।११२ तक जायेगी ॥

अव्यादवद्यादवक्रमुरव्रतायमवन्त्ववस्युषु च ॥६।१।११२॥

अव्या...स्युषु ७।३॥ च अ० ॥ *स०*—अव्या० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—प्रकृत्या, अन्तःपादम्, एङः अति, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अव्यात्, अवद्यात्, अवक्रमुः, अव्रत, अयम्, अवन्तु, अवस्यु इत्येतेष्वति परतोऽन्तःपादमेङ् प्रकृत्या भवति ॥ उदा०—अग्निः प्रथमो वसुभिर्नो अव्यात्। मित्रमहो अवद्यात् (ऋ० ४।४।१५)। मा शिवासो अवक्रमुः (ऋ० ७।३२।२७)। ते नो अव्रताः। शतधारो अयंमणिः। ते नो अवन्तु पितरः। कुशिकासो अवस्यवः (ऋ० ३।४२।९) ॥

यद्यप्यत्र पूर्वसूत्रेणैव प्रकृतिभावः सिद्धस्तथापि 'अव्यात्' आदिषु परतः पुनः प्रकृतिभावविधानाज्ज्ञाप्यते यत् पूर्वसूत्रेऽवकारयकारपरेऽति प्रकृतिभावो विधीयत इति ॥

भाषार्थः—[*अव्या...स्युषु*] अव्यात्, अवद्यात्, अवक्रमुः, अव्रत, अयम्, अवन्तु, अवस्यु इन शब्दों में जो अकार उसके परे रहते पाद के मध्य में जो एङ् उसको [च] भी प्रकृति भाव हो जाता है, अर्थात् सन्धि नहीं होती ॥

यद्यपि इस सूत्र के उदाहरणों में पूर्वसूत्र से प्रकृतिभाव प्राप्त था पुनरपि इस सूत्र की रचना से ज्ञात होता है कि पूर्वसूत्र में वकार यकार

परे हैं जिस अकार के, उसके परे प्रकृति भाव नहीं होता। सूत्र ६।१।११८ में पठित 'सर्वत्र' पद से भी यह भाव प्रकट होता है, एङः पदान्ता० (६।१।१०५) से प्राप्त सन्धि कार्य उदाहरणों में नहीं हुआ है ॥

यजुष्युरः ॥६।१।११३॥

यजुषि ७।१॥ उरः १।१॥ अनु०—प्रकृत्या, एङः अति, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—यजुषि विषये एङन्त उरः शब्दोऽति परतः प्रकृत्या भवति ॥ उदा०—उरो अन्तरिक्षम् ॥

भाषार्थः—[*यजुषि*] यजुर्वेद विषय में [*उरः*] उरः शब्द जो एङन्त उसे प्रकृतिभाव होता है, अकार परे रहते ॥ 'उरस्' के स् को पहले रुत्व करके पश्चात् *अतो रोरप्लु०* (६।१।१०९) से 'रु' को 'उ' हुआ। तत्पश्चात् *आद् गुणः* (६।१।८४) लगकर 'उरो' एङन्त बन गया, तब अन्तरिक्षम् का अकार परे रहते प्रकृतिभाव हो गया ॥

यहाँ से 'यजुषि' की अनुवृत्ति ६।१।११७ तक जायेगी ॥

आपोजुषाणोवृष्णोवर्षिष्ठेअम्बेअम्बाले अम्बिकेपूर्वे ॥६।१।११४॥

आपो, जुषाणो, वृष्णो, वर्षिष्ठे, अम्बे, अम्बाले इत्येतान्यनुकरणपदान्यविभक्त्यन्तानि। अम्बिकेपूर्वे १।२॥ स०—अम्बिकेशब्दात् पूर्वे, अम्बिकेपूर्वे, पञ्चमीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—यजुषि, प्रकृत्या, अति, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—आपो, जुषाणो, वृष्णो, वर्षिष्ठे इत्येतानि पदानि अम्बिकेशब्दात् पूर्वे अम्बे अम्बाले इत्येते च पदे तानि यजुषि अति परतः प्रकृत्या भवन्ति ॥ उदा०—आपो अस्मान् मातरः शुन्धयन्तु (य० ४।२)। जुषाणो अप्तुराज्यस्य (य० ५।३५)। वृष्णो अंशुभ्यां गभस्तिपूतः (य० ७।१) वर्षिष्ठे अधिनाके। अम्बे अम्बाले अम्बिके ॥

भाषार्थः—[*आपो*...*अम्बिकेपूर्वे*] आपो, जुषाणो, वृष्णो, वर्षिष्ठे, ये पद तथा अम्बिके शब्द से पूर्व अम्बे अम्बाले ये दो पद यजुर्वेद में पठित होने पर अकार परे रहते प्रकृतिभाव से रहते हैं ॥ सर्वत्र एङः पदान्ता० (६।१।१०५) से प्राप्त सन्धिकार्य नहीं होता ॥ आपो

जुषाणो आदि सारे पद अनुकरणरूप अविभक्त्यन्त सूत्र में पढ़े हुये हैं ।

अङ्ग इत्यादौ च ॥६।१।११५॥

अङ्गे ७।१॥ इत्यादौ ७।१॥ च अ० ॥ *स०*—इति = अङ्गशब्दः, तस्यादिः, तस्मिन्...षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—यजुषि, प्रकृत्या, एङः अति, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—यजुषि विषये अङ्गशब्दे य एङ् स अति परतः प्रकृत्या भवति, तदादौ चाति परतो यः कश्चिद् एङ्पूर्वः सोऽपि प्रकृत्या भवति ॥ *उदा०*—ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे अङ्गे निदीध्यत् (य० ६।२०) । ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे अङ्गे अशोचिषम् ॥

भाषार्थः—यजुर्वेद विषय में [*अङ्गे*] अङ्ग शब्द में जो एङ् उसको अकार के परे रहते प्रकृतिभाव हो जाता है, [*च*] तथा [*इत्यादौ*] उस अङ्ग शब्द के आदि में जो अकार उसके परे रहते पूर्व एङ् को (किसी शब्द में स्थित) प्रकृतिभाव होता है, अर्थात् सन्धि नहीं होती ॥ इति शब्द से यहाँ अङ्ग शब्द का ही प्रत्यवमर्षण किया गया है ॥ चकार से दो वाक्यार्थ होते हैं, प्रथम तो अङ्ग शब्द के एङ् को प्रकृतिभाव होता है, किसी शब्द में स्थित अकार के परे रहते अर्थात् अङ्ग शब्द में स्थित ही अकार परे हो यह आवश्यक नहीं, अतः 'अङ्गे अशोचिषम्' में प्रकृतिभाव सिद्ध हो जाता है । द्वितीय वाक्यार्थ में कहा कि तदादि = अङ्ग शब्द के अकार के परे रहते कोई भी एङ् पूर्व हो उसे प्रकृतिभाव होता है, अर्थात् यह आवश्यक नहीं रहा कि अङ्ग शब्द का ही एङ् हो, किसी भी शब्द में स्थित एङ् हो, अतः 'प्राणो अङ्गे' में 'प्राणो' के ओकार को प्रकृतिभाव सिद्ध हो जाता है ॥

अनुदात्ते च कुधपरे ॥६।१।११६॥

अनुदात्ते ७।१॥ च अ०॥ कुधपरे ७।१॥ *स०*—कुश्च धश्च कुधौ, कुधौ परौ यस्मात् स कुधपरस्तस्मात्...द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—यजुषि, प्रकृत्या, एङः अति, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—यजुषि विषयेऽनुदात्ते चाति कवर्गधकारपरे परत एङ् प्रकृत्या भवति ॥ *उदा०*—अयं सो अग्निः (य० १२।४७) । अयं सो अध्वरः ॥

भाषार्थः—यजुर्वेद विषय में [*कुधपरे*] कु = कवर्ग धकार परक [*अनु-*

दात्ते] अनुदात्त अकार के परे रहते [च] भी एङ् को प्रकृतिभाव होता है ॥ अग्नि शब्द की स्वर सिद्धि भाग १ पृ.७७५ में देखें। यह अनुदात्तादि शब्द है, तथा अकार के परे कवर्ग 'ग्' है ही, अतः प्रकृतिभाव हो गया है। अध्वर शब्द भी प्रातिपदिक स्वर से अन्तोदात्त है, अतः अनुदात्तं० (६।१।१५२) लगकर अनुदात्तादि है, अकार से परे धकार है ही, अतः प्रकृतिभाव हो गया है ॥

यहाँ से '*अनुदात्ते*' की अनुवृत्ति ६।१।११७ तक जायेगी ॥

अवपथासि च ॥६।१।११७॥

अवपथासि ७।१॥ च अ०॥ *अनु०*—अनुदात्ते, यजुषि, प्रकृत्या, एङः अति, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अवपथाःशब्दे योऽनुदात्तोऽकारः तस्मिन् परत एङ् प्रकृत्या भवति यजुषि विषये ॥ *उदा०*—त्री रुद्रेभ्यो अवपथाः ॥

भावार्थः—[*अवपथासि*] अवपथाः शब्द में [च] भी जो अनुदात्त अकार उसके परे रहते यजुर्वेद विषय में एङ् को प्रकृतिभाव होता है ॥ वप धातु से लङ् लकार में थास् परे रहते अट् आगम होकर 'अवपथाः' रूप बना है। *तिङ्ङतिङः* (८।१।२८) से अतिङ् 'रुद्रेभ्यो' से उत्तर निघात होता है, अतः अनुदात्त अकार परे है, सो रुद्रेभ्यो का ओकार प्रकृतिवत् रह गया, सन्धि नहीं हुई ॥ चकार 'अनुदात्ते' पद के अनुकर्षणार्थ है ॥

सर्वत्र विभाषा गोः ॥६।१।११८॥

सर्वत्र अ०॥ विभाषा १।१॥ गोः ६।१॥ *अनु०*—प्रकृत्या, एङः अति, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—सर्वत्र = छन्दसि भाषायां चाति परतो गोरेङ् प्रकृत्या भवति विभाषा॥ *उदा०*—गो अग्रम्, गोऽग्रम्। छन्दसि—अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः पशवो गोश्वाः ॥

भावार्थः—[*सर्वत्र*] सर्वत्र = छन्द तथा भाषा विषय दोनों में [*गोः*] गो शब्द के एङ् को [*विभाषा*] विकल्प से अकार परे रहते प्रकृतिभाव होता है ॥

यहाँ से '*गोः*' की अनुवृत्ति ६।१।१२० तक तथा '*विभाषा*' की अनुवृत्ति ६।१।११९ तक जायेगी ॥

अवङ् स्फोटायनस्य ॥६।१।११९॥

अवङ् १।१॥ स्फोटायनस्य ६।१॥ अनु०—गोः, विभाषा, अचि, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—स्फोटायनस्याचार्यस्य मतेनाचि परतो गोरवङादेशो भवति, विकल्पेन ॥ *उदा०*—गवाग्रम्, गोऽग्रम् । गवाजिनम्, गोऽजिनम् । गवोदनम्, गवौदनम् । गवोष्ट्रम्, गवुष्ट्रम् ॥

भाषार्थः—अच् परे रहते गो को [*अवङ्*] अवङ् आदेश [*स्फोटायनस्य*] स्फोटायन आचार्य के मत में विकल्प से होता है ॥ 'अवङ्' में वकारोत्तरवर्ती अकार निरनुनासिक है । *ङिच्च* (१।१।५२) से अन्तिम अल् 'ओ' को 'अवङ्' होकर गव अग्रम् = गवाग्रम् बना है । जिस पक्ष में अवङ् आदेश नहीं हुआ तो *एङः पदान्तादति* (६।१।१०५) से पूर्वरूप होकर गोऽग्रम् बन गया ॥

यहाँ से '*अवङ्*' की अनुवृत्ति ६।१।१२० तक जायेगी ॥

इन्द्रे च ॥६।१।१२०॥

इन्द्रे ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—अवङ्, गोः, अचि, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—इन्द्रशब्दस्थेऽचि परतो गोरवङादेशो भवति ॥ *उदा०*—गवेन्द्रः । गवेन्द्रयज्ञस्वरुः[1] ॥

भाषार्थः—[*इन्द्रे*] इन्द्र शब्द में स्थित अच् के परे रहते [*च*] भी गो को अवङ् आदेश होता है ॥

प्रथमसूत्र से अवङ् प्राप्त था पुनः इन्द्र शब्द के परे उसका विधान करने से ज्ञापित होता है कि इस सूत्र में विभाषा की अनुवृत्ति नहीं आती ॥

प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् ॥६।१।१२१॥

प्लुतप्रगृह्याः १।३॥ अचि ७।१॥ नित्यम् १।१॥ *स०*—प्लुताश्च प्रगृह्याश्च प्लुतप्रगृह्याः, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—प्रकृत्या, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—प्लुताश्च प्रगृह्याश्चाचि प्रकृत्या भवन्ति नित्यम् ॥ *उदा०*—प्लुताः—देवदत्ता ३ अत्र न्वसि । यज्ञदत्ता ३ इदमानय । प्रगृह्याः—अग्नी इति । वायू इति । खट्वे इति । माले इति ॥

---

१. 'चरु' इति पाठान्तरम् । यूपव्रश्चने प्रथमं निष्पतितः शकलः 'स्वरु' नाम्ना-व्यवह्रियते याज्ञिकैः ।

भाषार्थः—[*प्लुतप्रगृह्याः*] प्लुत तथा प्रगृह्यसंज्ञक शब्दों को [*अचि*] अच् परे रहते [*नित्यम्*] नित्य ही प्रकृतिभाव हो जाता है ॥ 'अग्नी इति' इत्यादि की सिद्धि भाग १ परि० १।१।११ पृ० ६८४ में देखें। देवदत्ता ३ इत्यादि में प्लुत दूराद्धूते च (८।२।८४) से हुआ है। प्रकृतिभाव होने से सवर्णदीर्घ नहीं हुआ है ॥

यहाँ से '*अचि*' की अनुवृत्ति ६।१।१२६ तक जायेगी ॥

आङोऽनुनासिकश्छन्दसि बहुलम् ॥६।१।१२२॥

आङः ६।१॥ अनुनासिकः १।१॥ छन्दसि ७।१॥ बहुलम् १।१॥ *अनु०*—अचि, प्रकृत्या, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—आङोऽचि परतः संहितायां छन्दसि विषयेऽनुनासिकादेशो बहुलं भवति, स च प्रकृत्या भवति ॥ *उदा०*—अभ्रआँ अपः। गभीरआँ उग्रपुत्रे जिघांसत ॥

भाषार्थः—[*आङः*] आङ् को अच् परे रहते संहिता विषय में [*अनुनासिकः*] अनुनासिक आदेश [*छन्दसि*] वेद विषय में [*बहुलम्*] बहुल करके होता है, तथा उस अनुनासिक को प्रकृतिभाव भी होता है ॥ बहुल ग्रहण से आङ् के अतिरिक्त भी अनुनासिक आदेश और प्रकृतिभाव देखा जाता है। यथा—सवायँ एवा रात्र्युषसे (ऋ० १।११३।१) ॥

इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ॥६।१।१२३॥

इकः १।३॥ असवर्णे ७।१॥ शाकल्यस्य ६।१॥ ह्रस्वः १।१॥ च अ०॥ *स०*—न सवर्णोऽसवर्णस्तस्मिन् नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अचि, प्रकृत्या, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—असवर्णेऽचि परत इकः शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन प्रकृत्या भवन्ति, ह्रस्वश्च तस्येकः स्थाने भवति ॥ *उदा०*—दधि अत्र, मधु अत्र, कुमारि अत्र, किशोरि अत्र, इको *यणचि* इत्यपि भवति विधानसामर्थ्यात्, तेन पक्षे दध्यत्र मध्वत्र कुमार्यत्र किशोर्यत्र इति यणादेशा भवन्ति ॥

भाषार्थः—[*असवर्णे*] असवर्ण अच् परे हो तो [*इकः*] इक् को [*शाकल्यस्य*] शाकल्य आचार्य के मत में प्रकृतिभाव हो जाता है, [*च*] तथा उस इक् के स्थान में [*ह्रस्वः*] ह्रस्व भी हो जाता है ॥ इको *यणचि* के आरम्भसामर्थ्य से पक्ष में यणादेश भी होकर दध्यत्र आदि उदाहरण बनते हैं। कुमारी, किशोरी को ह्रस्व होकर 'कुमारि अत्र, किशोरि अत्र' बना है। असवर्ण अच् सर्वत्र अत्र का 'अ' परे है ही ॥

यहाँ से '*शाकल्यस्य ह्रस्वश्च*' की अनुवृत्ति ६।१।१२४ तक जायेगी ॥

ऋत्यकः ॥६।१।१२४॥

ऋति ७।१॥ अकः १।३॥ अनु०—शाकल्यस्य ह्रस्वश्च, प्रकृत्या, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—ऋकारे परतः शाकल्यस्याचार्यस्य मतेनाकः प्रकृत्या भवन्ति, ह्रस्वश्च तस्याकः स्थाने भवति ॥ *उदा०*—खट्व+ऋश्यः, माल+ऋश्यः, कुमारि ऋश्यः, होतृ ऋश्यः। पक्षे यथायथमादेशा भवन्ति ॥

भाषार्थः—[*ऋति*] ऋकार परे रहते [*अकः*] अक् को शाकल्य आचार्य के मत में प्रकृतिभाव होता है, तथा उस अक् को ह्रस्व भी हो जाता है ॥ पूर्वसूत्र में असवर्ण कहा था यहाँ सवर्ण अच् परे रहते भी हो जाये, जैसे कि होतृ ऋश्यः यहाँ है, तथा पूर्वसूत्र में इक् कहा है यहाँ अनिक् खट्व ऋश्यः आदि में भी हो जावे इसलिये यह सूत्र है। पक्ष में खट्वर्श्यः, मालर्श्यः, कुमार्यृश्यः, होतृश्यः इत्यादि प्रयोग भी होते हैं।

अप्लुतवदुपस्थिते ॥६।१।१२५॥

अप्लुतवत् अ० ॥ उपस्थिते ७।१॥ स०—अप्लु० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अर्थः*—उपस्थितं नाम अनार्ष इतिकरणः। अनार्षे इतौ परतः प्लुतोऽप्लुतवद् भवति। तेन प्लुतकार्यं प्रकृतिभावो न भवति ॥ उदा०—सुश्लोका३ इति = सुश्लोकेति। सुमङ्गला३ इति = सुमङ्गलेति ॥

भाषार्थः—उपस्थित अनार्ष अर्थात् जो वेद से अन्यत्र आया 'इति' पद है, उसे कहते हैं ॥ [*उपस्थिते*] अनार्ष इति के परे रहते प्लुत को [*अप्लुतवत्*] अप्लुतवत् = अप्लुत के समान हो जाता है ॥ अप्लुतवत कहने से प्लुतकार्य *प्लुतप्रगृह्या०* (६।१।१२१) से कहा हुआ प्रकृतिभाव नहीं होता, अतः सन्धिकार्य हो जाता है ॥ दूराद्धूते च (८।२।८४) से 'सुश्लोका३' आदि में प्लुत हुआ है ॥

यहाँ से '*अप्लुतवत्*' की अनुवृत्ति ६।१।१२६ तक जायेगी ॥

ई३ चाक्रवर्मणस्य ॥६।१।१२६॥

ई३ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ चाक्रवर्मणस्य ६।१॥ *अनु०*—अप्लुतवत्, अचि ॥ *अर्थः*—अचि परत ई३कारः प्लुतश्चाक्रवर्मणस्याचार्यस्य मतेनाप्लु-

तवद्भवति ॥ उदा०—अस्तु हीत्यब्रवीत् । चिनु हीदम् । चाक्रवर्मणग्रहणात् पक्षे—अस्तु ही३ इत्यब्रवीत् । चिनु ही३ इदम् ॥

भाषार्थः—प्लुत [ई३] 'ई३' को अच् परे रहते [*चाक्रवर्मणस्य*] चाक्रवर्मण आचार्य के मत में अप्लुतवत् हो जाता है ॥ पूर्ववत् प्रकृतिभाव न होना ही अप्लुतवत् विधान का प्रयोजन है ॥ चाक्रवर्मण ग्रहण विकल्पार्थ है, अतः पाणिनि मुनि के मत में प्रकृतिभाव ही होता है ॥ उपस्थित (अनार्ष इति) अनुपस्थित दोनों विषयों में यह विकल्प करता है, अतः यह उभयत्र विभाषा है ॥

दिव उत् ॥६।१।१२७॥

दिवः ६।१॥ उत् १।१॥ *अनु०*—एङः पदान्तादतीत्यतः पदग्रहणमनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या ॥ *अर्थः*—दिवः पदस्य उकारादेशो भवति ॥ दिव इति प्रातिपदिकं गृह्यते, न धातुः ॥ *उदा०* – दिवि कामो यस्य स द्युकामः । द्युमान् । विमलद्यु दिनम् । द्युभ्याम् । द्युभिः ॥

भाषार्थः—[*दिवः*] दिव पद को [*उत्*] उकारादेश होता है ॥ *अलोन्त्यस्य* (१।१।५१) से अन्तिम अल् 'व्' के स्थान में उकारादेश होता है । *येन विधिस्त०* (१।१।७१) से तदन्त विधि होने से पदान्त में स्थित दिव् के वकार को ही उकारादेश होता है ॥ द्युकामः की सिद्धि भाग१ पृ.७३४ में देखें । इसी प्रकार और सिद्धियाँ भी हैं ॥

एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि ॥६।१।१२८॥

एतत्तदोः ६।२॥ सुलोपः १।१॥ अकोः ६।२॥ अनञ्समासे ७।१॥ हलि ७।१॥ *स०*—एतच्च तच्च एतत्तदौ तयोः''' इतरेतरद्वन्द्वः । सोर्लोपः, सुलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः । न विद्यते 'क' ययोस्तौ अकौ, तयोः''' बहुव्रीहिः । नञः समासः नञ्समासः, षष्ठीतत्पुरुषः । न नञ्समासोऽनञ्समासस्तस्मिन्''' नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अनञ्समासे वर्त्तमानयोरककारयोरेतत्तदोः सुलोपो भवति संहितायां विषये हलि परतः ॥ *उदा०*—एतद्—एष ददाति, एष भुङ्क्ते । तद्—स ददाति, स भुङ्क्ते ॥

भाषार्थः—[*अकोः*] ककार जिनमें नहीं है तथा जो [*अनञ्समासे*] नञ् समास में वर्त्तमान नहीं हैं, ऐसे जो [*एतत्तदोः*] एतद् तथा तद्,

उनके [*सुलोपः*] सु का लोप हो जाता है [*हलि*] हल् परे रहते, संहिता के विषय में ॥ अकच् प्रत्यय करने पर ककार सहित एतद् तद् हो जाते हैं, अतः 'अकोः' से उनका निषेध है ॥ सः की सिद्धि भाग१ पृ० ७२४ तथा ७३४ में देखें। हल् परे यहाँ सु का लोप हो गया है, यही विशेष है। सः के समान ही एतद् के मध्य तकार को सकार एवं द् को अत्व तथा *आदेशप्रत्य०* (८।३।५९) से षत्व करके 'एषः' बनता है ॥

यहाँ से '*सुलोपः*' की अनुवृत्ति ६।१।१३० तक तथा '*हलि*' की अनुवृत्ति ६।१।१२९ तक जायेगी ॥

स्यश्छन्दसि बहुलम् ॥६।१।१२९॥

स्यः षष्ठ्यर्थे प्रथमा ॥ छन्दसि ७।१॥ बहुलम् १।१॥ *अनु०*—सुलोपः, हलि, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—स्य इत्येतस्य छन्दसि विषये हलि परतो बहुलं सोर्लोपो भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—उत स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपि कक्ष आसनि (ऋ० ४।४०।४)। एष स्य ते मधुमाँ इन्द्र सोमः। बहुलवचनात् न च भवति—यत्र स्यो निपतेत् ॥

भाषार्थः—'स्यः' यह षष्ठी के अर्थ में प्रथमा है। [*स्यः*] स्य शब्द के सु का [*छन्दसि*] वेद विषय में हल् परे रहते [*बहुलम्*] बहुल करके लोप हो जाता है, संहिता के विषय में ॥

सोऽचि लोपे चेत् पादपूरणम् ॥६।१।१३०॥

सः षष्ठ्यर्थे प्रथमा ॥ अचि ७।१॥ लोपे ७।१॥ चेत् अ० ॥ पादपूरणम् १।१॥ *स०*—पादस्य पूरणं निष्पत्तिः पादपूरणं, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—सुलोपः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—स इत्येतस्याचि परतः सुलोपो भवति संहितायाम्, लोपे सति चेत्पादः पूर्येत ॥ *उदा०*—सेन्दू राजा क्षयति चर्षणीनाम्। सौषधीरनुरुध्यसे। सैष दाशरथी रामः, सैष राजा युधिष्ठिरः। पादशब्देनेह सामान्येन ऋक्पादः श्लोकपादश्चोभौ गृह्येते ॥

भाषार्थः—[*सः*] 'सः' के सु का लोप [*अचि*] अच् परे रहते होता है [*चेत्*] यदि [*लोपे*] लोप होने पर [*पादपूरणम्*] पाद की पूर्त्ति (निष्पत्ति) हो रही हो ॥ पादशब्द से यहाँ ऋङ् मन्त्र (पद्यमन्त्र)

और श्लोक दोनों के पादों का ग्रहण होता है ॥ तद् के प्रथमा एकवचन का 'सः' अनुकरण है तथा पूर्ववत् षष्ठी का लुक् हुआ है ॥ सु का लोप कर देने पर *आद् गुणः* (६।१।८४) एवं *वृद्धिरेचि* (६।१।८५) लगाकर स इन्दु = सेन्दुः, स ओषधीः = सौषधीः बनने से एक मात्रा उसी में मिलकर पादपूर्त्ति हो जाती है, अन्यथा १ मात्रा बढ़ने से पादव्यवस्था ठीक न बनती ॥

[सुट्प्रकरणम्]

सुट् कात् पूर्वः ॥६।१।१३१॥

सुट् १।१॥ कात् ५।१॥ पूर्वः १।१॥ *अनु०*—संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अधिकारोऽयम्, *पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्* (६।१।१५१) इति यावत् । इत उत्तरं ककारात् पूर्वः सुडागमो भवतीत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ *उदा०*—वक्ष्यति *सम्परिभ्यां०* (६।१।१३२) संस्कर्त्ता, संस्कर्त्तुम्, संस्कर्त्तव्यम् ॥

भाषार्थः—यह अधिकार सूत्र है, *पारस्करप्रभृतीनि०* (६।१।१५१) तक जायेगा । [कात्] ककार से [पूर्वः] पूर्व [सुट्] सुट् का आगम होता है, ऐसा आगे के सूत्रों में अर्थ होता जायेगा ॥ सम् सुट् कर्त्ता = सम् स् कर्त्ता यहाँ *संपुंकानां सत्वम्* (भाष्य वार्त्तिक ८।३।५) से सम् के म् को स् होकर 'स स् स्कर्त्ता' रहा । *अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा* (८।३।२) से पक्ष में स् से पूर्व वर्ण अकार को अनुनासिक तथा दूसरे पक्ष में *अनुनासिकात् परोऽनुस्वारः* (८।३।४) से अनुस्वार आगम होकर संस्कर्त्ता बना ॥ *अयोगवाहानामट्सु०* (हयवरट्) इस भाष्यवार्त्तिक से अनुस्वार अट् प्रत्याहार में माना गया तो हल् से उत्तर माना जाने से *झरो झरि सवर्णे* (८।४।६४) से एक सकार का पक्ष में लोप हो गया तब संस्कर्त्ता एक सकार वाला प्रयोग भी बना । अयोगवाहों को सामान्य करके महाभाष्य में (हयवरट्) अच् एवं हल् दोनों में ही माना है, सो अचों में मानकर अच् से उत्तर *अनचि च* (८।४।४६) से पक्ष में 'सं स् स् कर्त्ता' (द्विसकारक अवस्था में) यहाँ स् को द्वित्व होकर संस्स्कर्त्ता प्रयोग भी बनेगा । इस प्रकार सकार लोप एवं द्वित्व भी पाक्षिक होकर एक सकार, दो सकार तथा तीन सकार के भेद से प्रयोगत्रय सिद्ध होते हैं, ऐसा जानें । हमने मूल उदाहरणों में एक सकार ही रखा है ॥ इसी प्रकार संस्कर्त्तुम् आदि की व्यवस्था जानें ॥

सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे ॥६।१।१३२॥

सम्परिभ्याम् ५।२॥ करोतौ ७।१॥ भूषणे ७।१॥ *स०*—सम्परिभ्याम् इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सुट् कात् पूर्वः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—सम्, परि, इत्येताभ्यां भूषणेऽर्थे करोतौ परतः सुट् कात् पूर्वो भवति संहितायाम् ॥ *उदा०*—संस्कर्त्ता, संस्कर्त्तुम्, संस्कर्त्तव्यम् । परिष्कर्त्ता, परिष्कर्त्तुम्, परिष्कर्त्तव्यम् ।

भाषार्थः—[*भूषणे*] भूषण अर्थ में [*सम्परिभ्याम्*] सम् तथा परि उपसर्ग से उत्तर [*करोतौ*] कृ धातु के परे रहते ककार से पूर्व सुट् का आगम होता है, संहिता विषय में ॥ परिष्कर्त्ता (परिष्कार करने वाला) आदि में सुट् के 'स्' को *परिनिविभ्यः सेव०* (८।३।७०) से षत्व हुआ है । संस्कर्त्ता (संस्कार करने वाला) की सिद्धि पूर्व सूत्र में देखें ॥

यहाँ से '*सम्परिभ्याम्*' की अनुवृत्ति ६।१।१३३ तक तथा '*करोतौ*' की ६।१।१३४ तक जायेगी ॥

समवाये च ॥६।१।१३३॥

समवाये ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—सम्परिभ्याम्, करोतौ, सुट् कात् पूर्वः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—समवायेऽर्थे करोतौ परतः संपरिभ्यां परः कात् पूर्वः सुडागमो भवति संहितायाम् ॥ समवायः = समुदायः ॥ *उदा०*—तत्र नः संस्कृतम्, तत्र नः परिष्कृतम् ॥

भाषार्थः—[*समवाये*] समुदाय अर्थ में [*च*] भी कृ धातु परे हो तो सम् तथा परि से उत्तर ककार से पूर्व सुट् का आगम होता है, संहिता विषय में ॥ *उदा०*—तत्र नः संस्कृतम् (वहाँ हमारा समुदाय) । तत्र नः परिष्कृतम् ॥

उपात् प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु ॥६।१।१३४॥

उपात् ५।१॥ प्रति......हारेषु ७।३॥ *स०*—प्रतियत्न० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—करोतौ, सुट् कात् पूर्वः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—प्रतियत्न, वैकृत, वाक्याध्याहार इत्येतेष्वर्थेषु गम्यमानेषु करोतौ परतः उपाद् उत्तरः कात् पूर्वः सुडागमो भवति संहितायां विषये ॥ विकृतमेव वैकृतं, स्वार्थे प्रज्ञादित्वादण् ॥ *उदा०*—प्रतियत्ने—एधोदकस्य

उपस्कुरुते, काण्डं गुडस्योपस्कुरुते । वैकृते—उपस्कृतं भुङ्क्ते, उपस्कृतं गच्छति । वाक्याध्याहारे—उपस्कृतं जल्पति, उपस्कृतमधीते ॥

भाषार्थः—[*प्रति·····रेषु*] प्रतियत्न (किसी गुण को किसी और गुण में बदलना), वैकृत (विकृत) तथा वाक्याध्याहार अर्थ गम्यमान हो तो कृ धातु के परे रहते [*उपात्*] उप उपसर्ग से उत्तर ककार से पूर्व सुट् का आगम संहिता विषय में होता है ॥ गम्यमान अर्थ को भी सहजता से समझाने के लिये शब्दों द्वारा उपादान कर देना वाक्याध्याहार कहाता है । जैसे कि उपस्कृतं जल्पति यहाँ 'गम्यमान अर्थ के बोधक शब्दों का प्रयोग करते हुए वार्त्ता करता है' यह अर्थ है । अतिव्याप्ति आदि दोष हटाने के लिए वाक्याध्याहार = उपस्कार की आवश्यकता होती है ॥

एधोदकस्योपस्कुरुते उदाहरण के लिये २।३।५३, तथा १।३।३२ सूत्र देखें ॥

यहाँ से '*उपात्*' की अनुवृत्ति ६।१।१३६ तक जायेगी ॥

किरतौ लवने ॥६।१।१३५॥

किरतौ ७।१॥ लवने ७।१॥ *अनु०*—उपात्, सुट् कात् पूर्वः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—लवनविषये किरतौ धातौ परतः उपादुत्तरः सुट् कात् पूर्वो भवति संहितायाम् ॥ *उदा०*—उपस्कारं मद्रका लुनन्ति, उपस्कारं काश्मीरका लुनन्ति ॥

भाषार्थः—[*लवने*] काटने विषय में [*किरतौ*] कॄ विक्षेपे धातु के परे रहते उप से उत्तर ककार से पूर्व सुट् का आगम संहिता के विषय में होता है ॥ उपस्कारं में कॄ धातु से णमुल् प्रत्यय *कृत्यल्युटो बहुलम्* (३।३।११३) में कहे हुये बहुलवचन से होता है ॥ *उदा०*—उपस्कारं मद्रका लुनन्ति (फैंक २ कर मद्र के लोग काटते हैं), उपस्कारं काश्मीरका लुनन्ति ॥

यहाँ से '*किरतौ*' की अनुवृत्ति ६।१।१३७ तक जायेगी ॥

हिंसायां प्रतेश्च ॥६।१।१३६॥

हिंसायाम् ७।१॥ प्रतेः ५।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—किरतौ, उपात्, सुट् कात् पूर्वः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—उपात् प्रतेश्चोत्तरः किरतौ धातौ

परतो हिंसायां विषये सुट् कात् पूर्वो भवति संहितायाम् ॥ उदा०—उपस्कीर्णं हन्त ते वृषल भूयात् । प्रतिस्कीर्णं हन्त ते वृषल भूयात् ॥

भाषार्थः—उप [*च*] तथा [*प्रतेः*] प्रति उपसर्ग से उत्तर कॄ धातु के परे रहते [*हिंसायाम्*] हिंसा विषय में ककार से पूर्व सुट् आगम होता है, संहिता विषय में ॥ उपस्कीर्ण आदि में निष्ठा का तकार परे रहते *ॠत इद्धातोः* (७।१।१००) से इत्व एवं रपरत्व (१।१।५०) होकर 'उप सुट् किर् त' रहा । *रदाभ्यां निष्ठातो०* (८।२।४२) से त को न एवं *हलि च* (८।२।७७) से दीर्घत्व तथा *रषाभ्यां०* (८।४।१) से णत्व होकर उपस्कीर्ण बन गया ॥ *उदा०*—उपस्कीर्णं हन्त ते वृषल भूयात् (ऐ वृषल तेरा नाश हो), प्रतिस्कीर्णं हन्त ते वृषल भूयात् ॥

अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने ॥६।१।१३७॥

अपात् ५।१॥ चतुष्पाच्छकुनिषु ७।३॥ आलेखने ७।१॥ *स०*—चतुष्पादश्च शकुनयश्च चतुष्पाच्छकुनयस्तेषु ... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—किरतौ, सुट् कात् पूर्वः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अपादुत्तरः किरतौ परतश्चतुष्पाच्छकुनिषु यदालेखनं तस्मिन् विषये कात् पूर्वः सुडागमो भवति संहितायाम् ॥ *उदा०*—अपस्किरते वृषभो हृष्टः, अपस्किरते कुक्कुटो भक्ष्यार्थी, अपस्किरते श्वा आश्रयार्थी ॥

भाषार्थः—[*अपात्*] अप उपसर्ग से उत्तर [*चतुष्पाच्छकुनिषु*] चतुष्पाद् अर्थात् चार पैर वाले जैसे बैल, कुत्ता आदि, तथा शकुनि अर्थात् पक्षी मोर मुर्गा आदि में जो [*आलेखने*] आलेखन=कुरेदना हो तो उस विषय में संहिता में ककार से पूर्व सुट् का आगम होता है ॥ *उदा०*—अपस्किरते वृषभो हृष्टः (बैल आनन्दित होकर जमीन पैरों से कुरेदता है) अपस्किरते कुक्कुटो भक्ष्यार्थी (मुर्गा भक्ष्य पाने की इच्छा से जमीन कुरेदता है), अपस्किरते श्वा आश्रयार्थी (कुत्ता बैठने की जगह बनाने के लिये जमीन कुरेदता है) ॥ अपस्किरते में पूर्ववत् *तुदादिभ्यः शः* (३।१।७७) से श, प्रत्यय तथा इत्व रपरत्व हुआ है ॥

कुस्तुम्बुरूणि जातिः ॥६।१।१३८॥

कुस्तुम्बुरूणि १।३॥ जातिः १।१॥ *अनु०*—सुट्, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—कुस्तुम्बुरूणीति सुडागमो निपात्यते जातिश्चेद्भवति ॥ कुस्तुम्बु-

रुर्नामौषधिर्जातिविशेषः, तत्फलान्यपि कुस्तुम्बुरूणि ॥ सूत्रे नपुंसकलिङ्ग बहुवचनञ्चातन्त्रम् ॥

भाषार्थः—[*कुस्तुम्बुरूणि*] कुस्तुम्बुरु शब्द में तकार से पूर्व सुट् आगम निपातन किया जाता है, यदि वह [*जातिः*] जाति अर्थ वाला हो तो ॥ कुस्तुम्बुरु किसी औषधि जाति विशेष का नाम है। उसके फल भी 'कुस्तुम्बुरूणि फलानि' कहे जाते हैं ॥ सूत्र में जो नपुंसकलिङ्ग एवं बहुवचन से निर्देश किया है, वह अविवक्षित है, अतः कुस्तुम्बुरुरोषधिः, कुस्तुम्बुरूणि फलानि यहाँ पुँल्लिङ्ग एकवचन, एवं नपुंसकलिङ्ग बहुवचन दोनों के साथ सुट् निपातित है ॥

अपरस्पराः क्रियासातत्ये ॥६।१।१३९॥

अपरस्पराः १।३॥ क्रियासातत्ये ७।१॥ *स०*—क्रियायाः सातत्यं क्रियासातत्यं तस्मिन्'''षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—सुट्, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—क्रियासातत्ये गम्यमाने अपरस्परा इति सुट् निपात्यते ॥ *उदा०*—अपरे च परे च = अपरस्पराः सार्था गच्छन्ति ॥

भाषार्थः—[*क्रियासातत्ये*] क्रिया का निरन्तर होना गम्यमान हो तो [*अपरस्पराः*] 'अपरस्पराः' इस शब्द में सुट् आगम निपातन किया जाता है ॥ *उदा०*—अपरस्पराः सार्था गच्छन्ति (सार्थ लोग निरन्तर गमन करते हैं) ॥ प्राचीन काल में देशान्तर से सामान लाने ले जाने के लिए वैश्यों का जो समूह चलता था वह सार्थ कहाता था और उनका नेता 'सार्थवाह' कहाता था ॥

गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणेषु ॥६।१।१४०॥

गोष्पदम् १।१॥ सेविता'''णेषु ७।३॥ *स०*—सेवितञ्च असेवितञ्च प्रमाणञ्च सेवि'''णानि, तेषु'''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सुट् संहितायाम् ॥ *अर्थः*—गोष्पदमिति सुट् निपात्यते, षत्वं च तस्य सेवितेऽसेविते प्रमाणे च विषये ॥ *उदा०*—गावः पद्यन्ते यस्मिन् देशे स गोभिः सेवितो देशो गोष्पदो देशः। असेविते—अगोष्पदान्यरण्यानि। प्रमाणे —गोष्पदमात्रं क्षेत्रम्, गोष्पदपूरं वृष्टो देवः ॥

भाषार्थः—[*गोष्पदम्*] गोष्पद इस शब्द में सुट् आगम तथा उसको षत्व [*सेवि'''णेषु*] सेवित, असेवित तथा प्रमाण विषय में निपातन

किया जाता है ।। गौएं जिस देश में गमन करती हैं, फिरती हैं वह गौओं से सेवित देश 'गोष्पदो देशः' कहलायेगा । इसी प्रकार जिन जङ्गलों में गौओं के गमन का अत्यन्ताभाव है, ऐसा गौओं से असेवित अरण्य अगोष्पद अरण्य कहा जायेगा । 'गोष्पदपूरं' गीली भूमि में बने गौ के खुर के चिह्न भरने के बराबर वर्षा हुई यहाँ स्पष्ट प्रमाण विषय है । यहाँ णमुल् प्रत्यय ३।४।३२ से हुआ है ।।

आस्पदं प्रतिष्ठायाम् ।।६।१।१४१।।

आस्पदम् १।१।। प्रतिष्ठायाम् ७।१।। *अनु०*—सुट्, संहितायाम् ।। *अर्थः*—आस्पदमिति सुट् निपात्यते प्रतिष्ठायामर्थे ।। प्राणधारणाय कालक्षेपाय यत् स्थानं तत् प्रतिष्ठाशब्देनोच्यते ।। *उदा०*—आस्पदमनेन लब्धम् ।।

भाषार्थः—[*प्रतिष्ठायाम्*] प्रतिष्ठा अर्थ में [*आस्पदम्*] आस्पद शब्द में सुट् आगम निपातन है ।। प्राणधारण अर्थात् समय बिताने के लिये जो स्थान उसे प्रतिष्ठा कहते हैं ।। आस्पदं में जो आङ् है, वह *आङ् मर्यादावचने* (१।४।८८) से कर्मप्रवचनीयसंज्ञक है । *पञ्चम्यपाङ्०* (२।३।१०) से पाद शब्द से पञ्चमी तथा *आङ् मर्यादाभिविध्योः* (२।१।१२) से अव्ययीभाव समास होने से विभक्ति का लुक् (२।४।८२) होकर आस्पदम् बना है ।। *उदा०*—आस्पदमनेन लब्धम् (कालक्षेपणार्थ इसने स्थान प्राप्त कर लिया अर्थात् पद के अनुरूप योग्यता नहीं है) ।।

आश्चर्यमनित्ये ।।६।१।१४२।।

आश्चर्यम् १।१।। अनित्ये ७।१।। *अनु०*—सुट्, संहितायाम् ।। *स०*—अनित्य इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ।। *अर्थः*—अनित्येऽर्थे आश्चर्यमिति सुट् निपात्यते ।। *उदा०*—आश्चर्यं यदि स भुञ्जीत, आश्चर्यं यदि सोऽधीयीत ।।

भाषार्थः—[*अनित्ये*] अनित्य अर्थात् अद्भुतत्व विषय में [*आश्चर्यम्*] आश्चर्य शब्द में सुट् निपातन है ।। लोक में जो बात अदृष्टपूर्व हो, पहले न हुई हो, वह अनित्यता से व्याप्त होती है, उसी को अद्भुत[1] कहा जाता है, अतः यहाँ भी अनित्य का अर्थ अद्भुत है ।। चरेराङि

---

१. अद्भुतमभूतम् । निरुक्त अ० १ खं० ६ ।

चातुरौ (वा० ३।१।१००) इस वार्त्तिक से यहाँ यत् प्रत्यय हुआ है। श्चुत्व होकर आश्चर्यम् बन गया ॥

वर्चस्केऽवस्करः ॥६।१।१४३॥

वर्चस्के ७।१॥ अवस्करः १।१॥ *अनु०*—सुट्, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—वर्चस्केऽभिधेयेऽवस्कर इति सुट् निपात्यते ॥ वर्चस्कमन्नमलम् ॥ *उदा०*—अवस्करोऽन्नमलम् ॥

भाषार्थः—[*वर्चस्के*] अन्न का मल = कचरा अभिधेय हो तो [*अवस्करः*] अवस्कर शब्द में सुट् निपातन किया जाता है ॥ कुत्सितं वर्चः = वर्चस्कः यहाँ *कुत्सिते* (५।३।७४) से कन् प्रत्यय हुआ है, सो वर्चस्क का अर्थ अन्न का मल है ॥ अव पूर्वक कृ धातु से ऋदोरप् (३।३।५७) से अप् प्रत्यय तथा निपातन से सुट् करके अवस्कर बनता है ॥

अपस्करो रथाङ्गम् ॥६।१।१४४॥

अपस्करः १।१॥ रथाङ्गम् १।१॥ *स०*—रथस्य अङ्गम् रथाङ्गम, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—सुट्, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अपस्कर इति सुट् निपात्यते रथाङ्गं चेत्तद्भवति ॥ *उदा०*—अपस्करो रथावयवः ॥

भाषार्थः—[*अपस्करः*] अपस्कर शब्द सुट् सहित निपातन किया जाता है, यदि उससे [*रथाङ्गम्*] रथ का अङ्ग = अवयव कहा जा रहा हो तो ॥ पूर्ववत् अपस्कर की सिद्धि है ॥

विष्किरः शकुनौ वा ॥६।१।१४५॥

विष्किरः १।१॥ शकुनौ ७।१॥ वा अ० ॥ *अनु०*—सुट् कात् पूर्वः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—विष्किर इति सुट् निपात्यते शकुनावभिधेये विकल्पेन ॥ *उदा०*—विष्किरः, विकिरः ॥

भाषार्थः—[*विष्किरः*] विष्किर इस में ककार से पूर्व सुट् [*शकुनौ*] शकुनि = पक्षी को कहा जा रहा हो तो [*वा*] विकल्प से निपातन किया जाता है ॥

ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे ॥६।१।१४६॥

ह्रस्वात् ५।१॥ चन्द्रोत्तरपदे ७।१॥ मन्त्रे ७।१॥ *स०*—चन्द्रश्चासौ उत्तरपदश्च चन्द्रोत्तरपदं तस्मिन्''''कर्मधारयस्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—सुट्,

संहितायाम् ॥ *अर्थः*—ह्रस्वात् परः चन्द्रशब्दोत्तरपदे सुडागमो भवति मन्त्रविषये संहितायां विषये ॥ *उदा०*—सुश्चन्द्रो युष्मान् ॥

भाषार्थः—[*ह्रस्वात्*] ह्रस्व से उत्तर [*चन्द्रोत्तरपदे*] चन्द्र शब्द उत्तरपद में हो तो सुट् का आगम होता है, [*मन्त्रे*] मन्त्र विषय में संहिता में ॥ सुश्चन्द्रः में *कुगतिप्रादयः* (२।२।१८) से समास हुआ है। सुट् कर लेने पर *स्तोः श्चुना०* (८।४।३९) से श्चुत्व हो ही जायेगा ॥

प्रतिष्कशश्च कशेः ॥६।१।१४७॥

प्रतिष्कशः १।१॥ च अ० ॥ कशेः ६।१॥ *अनु०*—सुट्, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—प्रतिपूर्वस्य कश गतिशासनयोरित्येतस्य धातोः सुट् निपात्यते तस्य च षत्वम् ॥ *उदा०*—ग्राममद्य प्रवेक्ष्यामि भव मे त्वं प्रतिष्कशः ॥

भाषार्थः—[*प्रतिष्कशः*] प्रतिष्कश शब्द प्रति पूर्वक [*कशेः*] कश धातु को सुट् आगम [*च*] भी तथा उसी सुट् के सकार को षत्व निपातन करके सिद्ध किया है ॥ प्रतिष्कशः में पचाद्यच् हुआ है ॥ *उदा०*—ग्राममद्य प्रवेक्ष्यामि भव मे त्वं प्रतिष्कशः (मैं ग्राम में आज प्रवेश करूँगा अतः तुम मेरे पुरोयायी = अग्रगन्ता अथवा सहायक बनो) ॥

प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रावृषी ॥६।१।१४८॥

प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रौ १।२॥ ऋषी १।२॥ *स०*—प्रस्क० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सुट्, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—प्रस्कण्व, हरिश्चन्द्र इति सुट् निपात्यते, ऋषी चेदभिधेयौ भवतः ॥ *उदा०*—प्रस्कण्व ऋषिः, हरिश्चन्द्र ऋषिः ॥

भाषार्थः—[*प्रस्क...न्द्रौ*] प्रस्कण्व तथा हरिश्चन्द्र शब्द में [*ऋषी*] ऋषि अभिधेय हों तो सुट् निपातन है ॥ ये दोनों ऋषि के नाम हैं, अन्य किसी के नाम होने पर सुट् नहीं होगा ॥

मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः ॥६।१।१४९॥

मस्क.....रिणौ १।२॥ वेणुपरिव्राजकयोः ७।२॥ *स०*—उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सुट्, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—मस्कर, मस्करिन्

इत्येतौ शब्दौ यथासङ्ख्यं वेणौ परिव्राजके चाभिधेये निपात्येते। मस्कर इत्यत्र माङो ह्रस्वत्वं करणेऽच् प्रत्ययः, मा क्रियते येन प्रतिषिध्यते = निवार्यते स मस्करः, सुडागमश्च वेणावभिधेये निपात्यते। मस्करी इत्यत्र माङ् पूर्वात् करोतेरिनिप्रत्ययः सुडागमो माङो ह्रस्वत्वञ्च निपात्यते, परिव्राजकेऽभिधेये। मा कुरुत कर्माणि शान्तिर्वः श्रेयसी इति स आहातो मस्करी परिव्राजकः॥

भाषार्थः—[*मस्करमस्करिणौ*] मस्कर तथा मस्करिन् शब्द यथासंख्य करके [*वेणुपरिव्राजकयोः*] वेणु (बाँस) तथा परिव्राजक (संन्यासी) अभिधेय हो तो निपातन किये जाते हैं॥ वेणु (= दण्ड) को कहने में मस्कर शब्द में सुट् आगम एवं करण में अच् प्रत्यय तथा माङ् को ह्रस्वत्व निपातित है॥ जिसके द्वारा हटाया = निवारण किया जाता है, उसे मस्कर कहते हैं। मस्करी यहाँ माङ् पूर्वक कृ धातु से इनि प्रत्यय तथा सुट् आगम एवं माङ् को ह्रस्वत्व निपातन है। जो कहता है कि (प्रेय = सकाम = भवोत्पादक) कर्म मत करो, शान्ति (= भवोच्छेद) ही तुम्हारे लिये श्रेयस्कर है वह परिव्राजक मस्करी है॥

कास्तीराजस्तुन्दे नगरे ॥६।१।१५०॥

कास्तीराजस्तुन्दे १।२॥ नगरे ७।१॥ स०—कास्ती० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—सुट्, संहितायाम्॥ *अर्थः*—कास्तीर, अजस्तुन्द इत्येतौ शब्दौ सुट् सहितौ नगरेऽभिधेये निपात्येते॥ *उदा०*—कास्तीरं नाम नगरम्। अजस्तुन्दं नाम नगरम्॥

भाषार्थः—[*कास्तीराजस्तुन्दे*] कास्तीर तथा अजस्तुन्द शब्द में [*नगरे*] नगर अभिधेय हो तो अर्थात् किसी नगर के नाम हों तो सुट् आगम निपातन किया जाता है॥

पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम् ॥६।१।१५१॥

पारस्करप्रभृतीनि १।३॥ च अ०॥ संज्ञायाम् ७।१॥ *स०*—पारस्करः प्रभृतिर्येषां तानि पारस्करप्रभृतीनि, बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—सुट् संहितायाम्॥ *अर्थः*—पारस्करप्रभृतीनि च शब्दरूपाणि सुटसहितानि निपात्यन्ते संज्ञायां विषये॥ *उदा०*—पारस्करो देशः, कारस्करो वृक्षः, रथं पाति (रक्षति) रथस्पा नदी॥

भाषार्थः—[*पारस्करप्रभृतीनि*] पारस्कर इत्यादि शब्दों में [*च*] भी सुट् आगम [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में निपातन किया जाता है ॥ जहाँ सुट् आगम दिखाई पड़े, किन्तु किसी सूत्र से विहित न हो, उसे पारस्करगण में पढ़ा समझ लेना चाहिये। पारस्कर आदि शब्द रूढि संज्ञाओं के वाचक हैं ॥ *उदा०*—पारस्करः (किसी देश की संज्ञा है), कारस्करः (किसी वृक्ष की संज्ञा है), रथस्पा (नदी विशेष की संज्ञा है) ॥

[*स्वरप्रकरणम्*]

अनुदात्तं पदमेकवर्जम् ॥६।१।१५२॥

अनुदात्तम् १।१॥ पदम् १।१॥ एकवर्जम् १।१॥ *स०*—एकं वर्जयित्वा एकवर्जम्, उपपदतत्पुरुषः। *द्वितीयायाञ्च* (३।४।५३) इति णमुल् प्रत्ययः॥ अनुदात्ता अस्य सन्तीति अनुदात्तम् *अर्शआदिभ्यो०* (५।२।१२७) इत्यस्याकृतिगणत्वादत्राच् प्रत्ययो मत्वर्थे॥ *अर्थः*—स्वरविधिविषयकं परिभाषासूत्रमिदम्। यस्मिन् पदे यस्योदात्तः स्वरितो वा विधीयते तमेकमचं वर्जयित्वा तस्मिन् पदे वर्त्तमाना अचोऽनुदात्ता भवन्ति॥ *उदा०*—गोपायति, धूपायति। गोपायतं नः (ऋ० ६।७४।५)। कर्त्तव्यम्॥

भाषार्थः—स्वरविधिविषयक यह परिभाषा सूत्र है। जिस एक पद में उदात्त या स्वरित विधान किया है, उसी के [*एकवर्जम्*] एक (अच) को छोड़कर शेष [*पदम्*] पद [*अनुदात्तम्*] अनुदात्त अच् वाला हो जाता है॥

स्वर अचों को ही होता है, किन्तु पद में तो हल् और अच् दोनों ही होते हैं, अतः यहाँ 'अनुदात्तम्' पद में मत्वर्थीय अकार प्रत्यय किया है, सो अर्थ होगा "एक को छोड़कर शेष अनुदात्त अच् वाला पद होता है"। अब यहाँ यह प्रश्न है कि किस एक को छोड़ना है? तो यह बात भी सूत्र से ही स्पष्ट हो जाती है, क्योंकि शेष को जब अनुदात्त विधान करते हैं, तो अनुदात्त से भिन्न को ही तो छोड़ना होगा, और वे अनुदात्त से भिन्नस्वर उदात्त अथवा स्वरित ही हैं,। अर्थात् जहाँ कहीं भी स्वरविधान (उदात्त या स्वरित का) कर रहे हों वहाँ यह परिभाषा सूत्र उपस्थित हो जायेगा, तो उस उदात्त या स्वरित को छोड़कर उस पद के

शेष अचों को अनुदात्त कर देगा। पद शब्द भी यहाँ *सुप्तिङन्तं०* (१।४।१४) वाला पारिभाषिक नहीं लेना, अपितु 'पद्यते गम्यतेऽर्थो येन तत्पदम्' यह अन्वर्थ लेना है। यहाँ कोई पद को प्रधान मानकर यह अर्थ न समझ ले कि 'एकपद अनुदात्त अच् वाला होता है, वाक्यस्थ एक पद को छोड़कर अर्थात् किसी पद को अनुदात्त विधान करें और किसी अन्य पद को छोड़कर'। अतः हमने सूत्रार्थ में 'जिस एक पद में उदात्त या स्वरित विधान हो, उसी पद के' ऐसा लिखकर यह बात स्पष्ट की है। वस्तुतः ऐसा ही सूत्रार्थ व्याख्यान से निकलता है, उसे हमने सहेतुक स्पष्ट करने का यत्न किया है। कुछ शङ्का समाधान का विषय बन जाने से यहाँ इतना लिखना ही पर्याप्त रहेगा॥

गोपायति में 'गोपाय' *सनाद्यन्ता धातवः* (३।१।३२) से धातुसंज्ञक है, जो कि *धातोः* (६।१।१५६) से अन्तोदात्त है अर्थात् 'य' का 'अ' उदात्त है सो गोपाय में 'य' को छोड़ कर 'गोपा' प्रकृत सूत्र से अनुदात्त हो गया शप् और तिप् पित् होने से अनुदात्त हैं, शप् के अ का 'य' के 'अ' के साथ हुआ एकादेश भी *एकादेश उदात्तेनोदात्तः* (८।२।५) से उदात्त ही रहेगा एवं ति *उदात्तादनुदा०* (८।४।६५) से स्वरित हो गया। कर्त्तव्यम् में तव्य *तित् स्वरितम्* (६।१।१८) से अन्तस्वरित है। स्वरसिद्धियाँ भाग १ परि० १।२।२८-३६, एवं अन्यत्र भी कई स्थलों में बहुत स्पष्ट रूप से की हैं, अतः पाठक स्वरसिद्धि की मूलभूत प्रक्रियायें वहीं देख लें, यहाँ विस्तार भय से पुनः पुनः नहीं लिखी जावेंगी। इन सिद्धियों में '*सति शिष्टस्वरो बलीयान्*' इस भाष्यवचन को जो कि इसी सूत्र में कहा है, सर्वत्र ध्यान में रखना चाहिये। सति शिष्टः स्वरः = अर्थात् पीछे आने वाला स्वर बलवान् होता है, जैसे कि किसी स्थल में धातुस्वर हो जाने के पश्चात् कोई प्रत्यय आया तो धातु का अन्तोदात्त स्वर न होकर प्रत्यय का आद्युदात्त स्वर रहेगा, क्योंकि वह पीछे आया है। इसकी विवेचना पूर्व स्वरसिद्धि स्थलों में भी हो चुकी है, देख लें॥

कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः ॥६।१।१५३॥

कर्षात्वतः ६।१॥ घञः ६।१॥ अन्तः १।१॥ उदात्तः १।१॥ *स०*—आद् अस्यास्तीत्यात्वान्, कर्षश्च आत्वांश्च कर्षात्वत् तस्य······समाहारो

द्वन्द्वः ॥ अर्थः—कर्षतेर्धातोराकारवतश्च घञन्तस्यान्त उदात्तो भवति ॥ उदा०—कर्षः । आकारवतो घञन्तस्य—पाकः, त्यागः, रागः, दायः धायः ॥

भाषार्थः—[कर्षात्वतः] कृष विलेखने धातु (भ्वा०) तथा आकारवान् जो [घञः] घञन्त शब्द उनके [अन्त उदात्तः] अन्त को उदात्त होता है ॥ घञ् ञित् है, अतः ञ्नित्यादि० (६।१।१९१) से आद्युदात्त प्राप्त था उसका अपवाद यह सूत्र है । कर्ष घञन्त शब्द आकारवान् नहीं है, अतः अलग से उसे पढ़ा है । अन्तोदात्त होकर अनुदात्तं पद० (६।१ १५२) से अन्तोदात्त शेष रह कर अनुदात्त शेष हो जायेगा । पाकः आदि की सिद्धि भाग १ पृ० ६५७ में देखें ॥ दायः धायः में आतो युक्० (७।३।३३) से युक् आगम हुआ है ॥

यहाँ से 'अन्तः' की अनुवृत्ति ६।१।१६१ तक तथा 'उदात्तः' की ६।१।२१७ तक जायेगी ॥

उञ्छादीनां च ॥६।१।१५४॥

उञ्छादीनाम् ६।३॥ च अ० ॥ स०—उञ्छ आदिर्येषां त उञ्छादयस्तेषां······बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अन्त उदात्तः ॥ अर्थः—उञ्छ इत्येवमादीनां शब्दानामन्त उदात्तो भवति ॥ उदा०—उञ्छः, म्लेच्छः, जञ्जः, जल्पः, जपः, व्यधः ॥

भाषार्थः—[उञ्छादीनाम्] उञ्छादि शब्दों को [च] भी अन्तोदात्त हो जाता है ॥ उञ्छ से लेकर जल्प तक पढ़े शब्द घञन्त हैं अतः ञ्नित्या० (६।१।१९१) से आद्युदात्त प्राप्त था, तथा जपः व्यधः व्यधजपोर० (३।३।६१) से अप् प्रत्ययान्त हैं अतः धातु स्वर से आद्युदात्तत्व प्राप्त था, तदपवाद यह सूत्र है ॥

अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः ॥६।१।१५५॥

अनुदात्तस्य ६।१॥ च अ० ॥ यत्र अ० ॥ उदात्तलोपः १।१॥ स०—उदात्तस्य लोपः, उदात्तलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—उदात्तः ॥ अर्थः—यत्र=यस्मिन्ननुदात्ते परतः उदात्तस्य लोपो भवति तस्यानुदात्तस्यादिरुदात्तो भवति ॥ उदा०—कुमारी, पथः, पथा पथे, कुमुद्वान्, नड्वान्, वेतस्वान् ॥ देवीं वाचम् (ऋ० ८।१००।११) ॥

भाषार्थः—[*यत्र*] जिस (अनुदात्त) के परे रहते [*उदात्तलोपः*] उदात्त का लोप होता है, उस [*अनुदात्तस्य*] अनुदात्त को [च] भी आदि उदात्त हो जाता है ॥ यहाँ 'अन्तः' की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं है अतः व्याख्यान से आदि को उदात्त होता है ॥ कुमार शब्द *फिषोऽन्त उदात्तः* (*फिट्०* १) से अन्तोदात्त है, आगे ङीप् आया, जो कि ३।१।४ से अनुदात्त है। अब उस ङीप् अनुदात्त के परे रहते उदात्त 'र' के उत्तरवर्ती 'अ' का लोप हो गया तो प्रकृत सूत्र से उस 'ई' अनुदात्त को उदात्त हो गया। कुमारी की सिद्धि भाग १ पृ० ७७३ में देखें, स्वर यहाँ दिखा दिया है। देवीं यहाँ भी इसी प्रकार है। पथः आदि में पथिन् शब्द अन्तोदात्त पूर्ववत् है तथा शस् टा, एवं ङे विभक्तियाँ पूर्ववत् अनुदात्त है, सो *भस्य टेर्लोपः* (७।१।८८) से टि भाग 'इन्' का अनुदात्त परे लोप हुआ, अतः प्रकृत सूत्र से अनुदात्त विभक्तियाँ उदात्त हो गईं। *कुमुदनडवे०* (४।२।८६) से कुमुद, नड तथा वेतस शब्दों से ड्मतुप् प्रत्यय हुआ है, पूर्ववत् प्रातिपदिक अन्तोदात्त एवं प्रत्यय अनुदात्त है। पुनः डित् प्रत्यय मानकर टि भाग (जो कि उदात्त था) का लोप हुआ तो प्रकृत सूत्र से अनुदात्त के परे रहते उदात्त का लोप होने से मतुप् के मकारोत्तरवर्ती अकार को उदात्त हो गया॥ सूत्रार्थ में आदि कहने से मा हि धुक्षाताम्, मा हि धुक्षाथाम् में क्स के उदात्त अकार का लोप (७।३।७२) से होने पर आताम् आथाम् के आदि को होता है अन्यथा अन्त को होता ॥

धातोः ॥६।१।१५६॥

धातोः ६।१॥ *अनु०*—अन्त उदात्तः ॥ *अर्थः*—धातोरन्त उदात्तो भवति ॥ *उदा०*—पचति, पठति, ऊर्णोति, गोपायतं नः (ऋ० ६।७४।४), असि सत्यः (ऋ० १।८७।४) ॥

भाषार्थः—[*धातोः*] धातु को अन्त उदात्त होता है ॥ पच् पठ् धातु में एक ही अच् है, अतः आदि या अन्त एक ही होने से प का अ उदात्त है। शप् एवं तिप् पित् होने से अनुदात्त हैं, पश्चात् शप् के अ को स्वरित हो जाता है। ऊर्णुञ् में दो अच् होने से अन्त का उदात्त है। अदादिगणस्थ होने से शप् का लुक् होकर ऊर्णोति में 'ओ' उदात्त है। गोपायतं (लोट्) में तम् (३।४।१०१) परे रहते 'गोपाय'

धातु का य उदात्त है। पश्चात् *तास्यनुदात्तेन्ङि०* (६।१।१८०) से 'तम्' को अनुदात्त होकर *उदात्तादनुदा०* (८।४।६५) से स्वरित हो जाता है। असि में अस् का अकार सिप् परे रहते उदात्त है। *तासस्त्यो०* (७।४।५०) से अस् के सकार का लोप हुआ है ॥

चितः ॥६।१।१५७॥

चितः षष्ठ्यर्थे प्रथमा ॥ *स०*—चकार इत् यस्य स चित्, बहुव्रीहिः। ततश्चिद् अस्यास्तीति चितः मत्वर्थीयोऽच् ॥ *अनु०*—अन्त उदात्तः ॥ *अर्थः*—चितोऽन्तोदात्तो भवति ॥ *उदा०*—भङ्गुरम्, भासुरम्, कुण्डिनाः ॥

भाषार्थः—[*चितः*] चित् है जिस समुदित शब्द में उस शब्द को अन्तोदात्त होता है ॥ चित् यहाँ मत्वर्थीय अकार प्रत्यय मानकर 'चकार इत् वाला जो समुदित शब्द' ऐसा अर्थ किया गया है ॥ भङ्गुरम् आदि में *भञ्जभासमिदो घुरच्* (३।२।१६१) से घुरच् चित् प्रत्यय हुआ है। कुण्डिनाः की सिद्धि भाग १ पृ० ८५७ में देखें। कुण्डिन् को कुण्डिनच् आदेश होता है, अतः चित् होने से कुण्डिनाः प्रकृत सूत्र से अन्तोदात्त है, अन्यथा मध्योदात्त कुण्डिनी को हुआ कुण्डिनच् आदेश भी मध्योदात्त होता ॥

यहाँ से '*चितः*' की अनुवृत्ति ६।१।१५८ तक जायेगी ॥

तद्धितस्य ॥६।१।१५८॥

तद्धितस्य ६।१॥ *अनु०*—चितः, अन्त उदात्तः ॥ *अर्थः*—चितस्तद्धितस्यान्त उदात्तो भवति ॥ *उदा०*—कौञ्जायनाः, भौञ्जायनाः ॥

भाषार्थः—[*तद्धितस्य*] तद्धित जो चित् प्रत्यय उसको अन्तोदात्त हो जाता है ॥ *गोत्रे कुञ्जादि०* (४।१।९८) से च्फञ् चित् तद्धित प्रत्यय हुआ है। कौञ्जायन्यः की सिद्धि भाग १ पृ० ८०२ में देखें ॥

च्फञ् में परत्वात् ञित् स्वर को बाधने के लिए यह पृथक् सूत्र है। बहुपटवः में 'बहुच्' प्रत्यय के पूर्व होने पर भी पूर्व सूत्र में *चितः* मत्वर्थीय अच् प्रत्यय मानने से यहाँ भी अन्तोदात्त होता है।

यहाँ से '*तद्धितस्य*' की अनुवृत्ति ६।१।१५९ तक जायेगी ॥

कितः ॥६।१।१५९॥

कितः ६।१॥ स०—ककार इत् यस्य स कित्, तस्य कितः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—तद्धितस्य, अन्त उदात्तः ॥ अर्थः—कितस्तद्धितस्यान्त उदात्तो भवति ॥ प्रत्ययस्वरापवादोऽयम् ॥ उदा०—नाडायनः चारायणः आक्षिकः, शालाकिकः ॥

भाषार्थः—तद्धित संज्ञक जो [कितः] कित् प्रत्यय उसको अन्तोदात्त होता है ॥ नडादिभ्यः फक् (४।१।९९) से नाडायनः चारायणः में फक् कित् प्रत्यय हुआ है, 'फ' को आयन होकर उसे अन्तोदात्त होता है। आक्षिकः आदि में तेन दीव्यति० (४।४।२) से ठक् प्रत्यय हुआ है। ठ् को को इक् आदेश करके अन्तोदात्त हो जायेगा ॥

तिसृभ्यो जसः ॥६।१।१६०॥

तिसृभ्यः ५।३॥ जसः ६।१॥ अनु०—अन्त उदात्तः ॥ अर्थः—तिसृभ्य उत्तरस्य जसोऽन्त उदात्तो भवति ॥ उदा०—तिस्रस्तिष्ठन्ति, तिस्रो द्यावः सवितुः (ऋ० १।३५।६) ॥

भाषार्थः—[तिसृभ्यः] तिसृ शब्द से उत्तर [जसः] जस् को अन्तोदात्त होता है ॥ त्रिचतुरोः स्त्रियां० (७।२।९९) से स्त्रीलिङ्ग में त्रि को तिसृ आदेश होता है, उसी का यहाँ ग्रहण है ॥ त्रि शब्द प्रातिपदिक (फिट्० १) स्वर से अन्तोदात्त है, अतः उसका आदेश तिसृ भी अन्तोदात्त हुआ, अब तिसृ जस् यहाँ उदात्त के स्थान में यणादेश हुआ, अतः उदात्तस्वरितयो० (८।२।४) से अनुदात्त (३।१।३) जस् के अ को स्वरित प्राप्त था, तदपवाद यह सूत्र है ॥

चतुरः शसि ॥६।१।१६१॥

चतुरः ६।१॥ शसि ७।१॥ अनु०—अन्त उदात्तः ॥ अर्थः—चतुरः शसि परतोऽन्त उदात्तो भवति ॥ उदा०—चतुरः पश्य ॥

भाषार्थः—[चतुरः] चतुर् शब्द को अन्तोदात्त होता है [शसि] शस् परे रहते ॥ चतुर् शब्द चतेरुरन् (उणा० ५।५९) से उरन् प्रत्ययान्त होने से ञ्नित्यादि० (६।१।१९१) से आद्युदात्त था, उसको शस् परे रहते अन्तोदात्त विधान कर दिया है ॥

सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः ॥६।१।१६२॥

सौ ७।१॥ एकाचः ५।१॥ तृतीयादिः १।१॥ विभक्तिः १।१॥ स०—एकोऽच् यस्मिन् स एकाच् तस्मात्... बहुव्रीहिः । तृतीया आदिर्यस्याः सा तृतीयादिः बहुव्रीहिः ॥ अनु०—उदात्तः ॥ *अर्थः*—साविति सप्तमीबहुवचनस्य ग्रहणम् । सौ य एकाच् शब्दस्तस्मात् परा तृतीयादिर्विभक्तिरुदात्ता भवति ॥ उदा०—वाचा, वाग्भ्याम्, वाग्भिः, वाग्भ्यः । याता, याद्भ्याम्, याद्भिः । वाचा विरूपनित्यया (ऋ० ८।७५।६) ॥

भाषार्थः—'सु' से यहाँ सप्तमीबहुवचन के सुप् का ग्रहण है न कि प्रथमा एकवचन का ॥ [*सौ*] सु के परे रहते जो [*एकाचः*] एक अच् वाला शब्द उससे परे जो [*तृतीयादिः*] तृतीया विभक्ति से लेकर आगे की [*विभक्तिः*] विभक्तियाँ उनको उदात्त होता है ॥ वाच् शब्द का सप्तमी बहुवचन में वाक्षु तथा यात् का यात्सु बनता है, इस प्रकार सु परे रहते ये एकाच् शब्द हैं, अतः तृतीयादि विभक्तियाँ टा, भ्याम् भिस्, भ्यस् आदि उदात्त हो गई ॥

यहाँ से '*एकाचः तृतीयादिः*' की अनुवृत्ति ६।१।१६३ तक तथा '*विभक्तिः*' की ६।१।१७८ तक जायेगी ॥

अन्तोदात्तादुत्तरपदादन्यतरस्यामनित्यसमासे ॥६।१।१६३॥

अन्तोदात्तात् ५।१॥ उत्तरपदात् ५।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ अनित्यसमासे ७।१॥ स०—नित्यः समासः नित्यसमासः, कर्मधारयस्तत्पुरुषः ॥ *अनु*०—एकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—नित्याधिकारे यः समासो विहितस्तस्मादन्यत्रानित्यसमासे यदुत्तरपदमन्तोदात्तमेकाच् ततः परा तृतीयादिर्विभक्तिर्विकल्पेनोदात्ता भवति ॥ उदा०—परमवाचा, परमवाचे । परमत्वचा, परमत्वचे ॥ पक्षे समासस्यान्तोदात्तत्वमेव ॥

भाषार्थः—[*अनित्यसमासे*] नित्य अधिकार में कहे हुये समास से अन्यत्र जो अनित्यसमास उसमें जो [*अन्तोदात्तात्*] अन्तोदात्त-एकाच् [*उत्तरपदात्*] उत्तरपद उससे उत्तर तृतीयादि विभक्ति [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से उदात्त होती है ॥ नित्य अधिकार का अभिप्राय है कि "नित्यम्" पद के अधिकार में कहे, तद्यथा *कुगतिप्रादयः*, (२।२।

१९) आदि। जिसका स्वपद विग्रह न हो वह भी नित्य समास कहा जाता है, परन्तु वह यहाँ नहीं लिया गया। अतः नित्य अधिकार से अन्यत्र जो भी समास हो चाहे उसका स्वपद विग्रह हो या न हो सबको विभक्ति को विकल्प से उदात्त होगा। त्वच्, वाच् शब्द एकाच् अन्तोदात्त उत्तरपद उदाहरण में हैं ही। परमवाचा इत्यादि में *सन्महत्परमोत्त०* (२।१।६०) से समास हुआ है, जो कि नित्याधिकार में नहीं है॥ उदाहरणों में जब विभक्ति को उदात्त नहीं होगा तो समास अन्तोदात्त (६।१।२१७) होगा॥

यहाँ से '*अन्तोदात्तात्*' की अनुवृत्ति ६।१।१७१ तक जायेगी॥

अञ्चेश्छन्दस्यसर्वनामस्थानम् ॥६।१।१६४॥

अञ्चेः ५।१॥ छन्दसि ७।१॥ असर्वनामस्थानम् १।१॥ *स०*—असर्व इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—विभक्तिः, उदात्तः॥ *अर्थः*—अञ्चेः परा ऽसर्वनामस्थानविभक्तिरुदात्ता भवति छन्दसि विषये॥ *उदा०*—इन्द्रो दधीचो अस्थभिः (ऋ० १।८४।१३)॥

भाषार्थः—[*अञ्चेः*] अञ्चु धातु से उत्तर [*छन्दसि*] वेद विषय में [*असर्वनामस्थानम्*] सर्वनामस्थानभिन्न विभक्ति को उदात्त होता है। दध्यञ्चतीति तस्य दधीचः, यहाँ *ऋत्विग्दधृक्०* (३।२।५९) से दधि उपपद रहते अञ्चु धातु से क्विन् प्रत्यय हुआ है। अनुनासिक लोप तथा ङस् परे रहते *अचः* (६।४।१३८) से अकार लोप *चौ* (६।३।१३८) से दीर्घ होकर दधीच् अस् = दधीचः बना है॥

यहाँ से '*असर्वनामस्थानम्*' की अनुवृत्ति ६।१।१६९ तक जायेगी॥

ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः ॥६।१।१६५॥

ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्यः ५।३॥ *स०*—ऊठ् च इदञ्च पदादयश्च अप् च पुम् च रै च द्यौश्च ऊडि...दिवस्तेभ्यः...इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—असर्वनामस्थानम्, अन्तोदात्तात्, विभक्तिः, उदात्तः॥ *अर्थः*—ऊठ् इदम् पदादि, अप्, पुम्, रै, दिव् इत्येतेभ्य उत्तरासर्वनामस्थानविभक्तिरुदात्ता भवति॥ *उदा०*—ऊठ्—प्रष्ठौहः, प्रष्ठौहा। इदम्—आभ्याम्। एभिर्नृभिर्नृतमः। पदादिः—निपद्श्चतुरो जहि, या दुते

धावति । पद्भ्यां भूमिः, दद्भिर्न जिह्वा, अहरहर्जायते मासिर्मासि (ऋ० १०।५२।३) मर्नश्चिन्मे हृद आ । अप्– अपः पश्य, अद्भ्यां, अद्भिः, अपां फेनेन (ऋ०८।१४।१३) पुम्—पुंसः, पुंसा, पुंसे, अभ्रातेव पुंसः (ऋ० १।१२४।७), रै—रायः पश्य, राया वयम् (ऋ० ४।४२।१०) रायो धर्त्ता (ऋ० ५।१५।१) दिव्—दिवः पश्य, उप त्वाग्ने दिवे दिवे (ऋ० १।१।७) ॥

भाषार्थः—[ऊडि॰॰॰भ्यः] ऊठ्, इदम्, पदादि, अप्, पुम्, रै तथा दिव् शब्दों से उत्तर असर्वनामस्थान विभक्ति उदात्त होती है, अर्थात् सु से लेकर औट् तक की विभक्तियों को छोड़कर शेष विभक्तियाँ उदात्त होती हैं ॥ अन्तोदात्तात् की अनुवृत्ति का यहाँ यही लाभ है कि अन्वादेश में जो कि अनुदात्त (२।४।३२) होता है वहाँ विभक्ति को उदात्तत्व न हो । पदादि से यहाँ *पद्दन्नोमास्०* (६।१।६१) वाले आदेश पद् से लेकर निश् पर्यन्त लिये जाते हैं ॥ प्रष्ठौहः (२।३) की सिद्धि ६।१।८६ सूत्र पर देखें । आभ्याम् की सिद्धि भाग१ पृ० ६६३ में देखें । एभिः यहाँ केवल *बहुवचने०* (७।३।१०३) से अ को ए हो जाता है । शेष सब स्पष्ट सिद्धियाँ हैं ॥ मासिर्मासि, दिवेदिवे में *नित्यवीप्सयोः* (८।१।४) से द्विर्वचन और पर आम्रेडितसंज्ञक को *अनुदात्तं च* (८।१।३) से सर्वानुदात्त होता है ॥

अष्टनो दीर्घात् ॥६।१।१६६॥

अष्टनः ५।१॥ दीर्घात् ५।१॥ *अनु०*—असर्वनामस्थानम्, विभक्तिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—दीर्घान्तादष्टनोऽसर्वनामस्थानविभक्तिरुदात्ता भवति ॥ *उदा०*—अष्टाभिर्दशभिः (ऋ० २।१८।४), अष्टाभ्यः ॥

भाषार्थः—[*दीर्घात्*] दीर्घ अन्त वाला जो [*अष्टनः*] अष्टन् शब्द उससे उत्तर असर्वनामस्थान विभक्ति उदात्त होती है ॥ *अष्टन आ विभक्तौ* (७।२।८४) से अष्टन् के अन्तिम अल् (१।१।५१) न् को आत्व होकर 'अष्टा' दीर्घान्त हो जाता है, तब प्रकृत सूत्र से असर्वनामस्थान विभक्ति उदात्त हो गई ॥ अष्टन् शब्द *घृतादीनां च* (फिट्० २१) से अन्तोदात्त है अतः 'अन्तोदात्तात्' की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं लगाया ॥

शतुरनुमो नद्यजादी ॥६।१।१६७॥

शतुः ५।१॥ अनुमः ५।१॥ नद्यजादी १।२॥ स०—अच् आदिर्यस्याः सा अजादिः, बहुव्रीहिः। नदी च अजादिश्च नद्यजादी, इतरेतरद्वन्द्वः। अनुम इत्यत्र बहुव्रीहिः॥ अनु०—असर्वनामस्थानम्, अन्तोदात्तात्, विभक्तिः, उदात्तः॥ *अर्थः*—अनुम् यः शतृप्रत्ययस्तदन्तादन्तोदात्तात् परा नदी, अजाद्यसर्वनामस्थानविभक्तिश्चोदात्ता भवति॥ *उदा०*—नदी—तुदती, नुदती, लुनती। पुनती, अच्छा एवं प्रथमा जानती। अजाद्यसर्वनामस्थानविभक्तिः—तुदता, नुदता, लुनता, पुनता, तुदते, तुदतः॥

भाषार्थः—[*अनुमः*] नुम् (आगम) रहित जो अन्तोदात्त [*शतुः*] शतृ प्रत्ययान्त शब्द तदन्त से परे [*नद्यजादी*] नदी संज्ञक प्रत्यय, तथा अजादि असर्वनामस्थान विभक्ति को उदात्त होता है॥ तुदती, नुदती आदि में *उगितश्च* (४।१।६) से ङीप् प्रत्यय तथा उस ङीप् की *यू स्त्र्याख्यौ०* (१।४।३) से नदी संज्ञा होती है। तुदती, नुदती, में *तुदादिभ्यः शः* (३।१।७७) से श (विकरण) प्रत्यय तथा अन्यों में श्ना (३।१।८१) प्रत्यय हुआ है। श्ना के 'आ' का लोप *श्नाभ्यस्तयो०* (६।४।११२) से होता है। शतृप्रत्ययान्त शब्दों की सिद्धि का प्रकार भाग १ पृ० ९०० में देखें। तुदता तुदते आदि में अजादि टा, ङे आदि विभक्तियों को उदात्त हुआ है॥

यहाँ से '*नद्यजादी*' की अनुवृत्ति ६।१।१६९ तक जायेगी॥

उदात्तयणो हल्पूर्वात् ॥६।१।१६८॥

उदात्तयणः ५।१॥ हल्पूर्वात् ५।१॥ स०—उदात्तस्य यण् उदात्तयण्, तस्मात्... षष्ठीतत्पुरुषः। हल् पूर्वो यस्य स हल्पूर्वस्तस्मात्... बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—नद्यजादी, असर्वनामस्थानम्, विभक्तिः, उदात्तः॥ *अर्थः*—उदात्तस्थाने यो यण् हल्पूर्वस्तस्मात् परा नदी अजादिरसर्वनामस्थान-विभक्तिश्चोदात्ता भवति॥ *उदा०*—कर्त्री, हर्त्री, चोदयित्री सूनृतानाम् (ऋ० १।३।११) एषा नेत्री (ऋ० ७।७६।७), कर्त्रा, हर्त्रा, प्रलवित्रे॥

भाषार्थः—[*हल्पूर्वात्*] हल् पूर्व में है जिसके ऐसा जो [*उदात्तयणः*] उदात्त के स्थान में यण् उससे परे नदी संज्ञक प्रत्यय को तथा अजादि असर्वनामस्थान विभक्ति को उदात्त होता है॥ कर्त्री,

चोदयित्री आदि सब शब्द तृच् प्रत्ययान्त हैं, अतः *चितः* (६।१।१५७) से अन्तोदात्त हैं। उस तृजन्त से परे *ऋन्नेभ्यो ङीप्* (४।१।५) से नदीसंज्ञक ङीप् प्रत्यय हुआ, अब यहाँ उदात्त ऋकार के स्थान में यण् हुआ है, तथा उदात्त यण् से पूर्व हल् है ही सो ङीप् को उदात्त हो गया। इसी प्रकार अजादि असर्वनामस्थान विभक्ति के उदाहरण कर्त्रा हर्त्रा आदि समझें। *उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य* (८।२।४) से स्वरित की प्राप्ति में यह सूत्र है॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ६।१।१६६ तक जायेगी॥

नोङ्धात्वोः ॥६।१।१६९॥

न अ०॥ ऊङ्धात्वोः ६।२॥ *स०*—ऊङ् च धातुश्च ऊङ्धातू, तयोः····इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—उदात्तयणो हल्पूर्वात्, अजादी, असर्वनामस्थानम्, विभक्तिः, उदात्तः॥ *अर्थः*—ऊङो धातोश्च य उदात्तस्थाने यण् हल्पूर्वस्तस्मात् पराऽजाद्यसर्वनामस्थानविभक्तिर्नोदात्ता भवति॥ *उदा०*—ऊङ्—ब्रह्मबन्ध्वा, ब्रह्मबन्ध्वे, वीरबन्ध्वा, वीरबन्ध्वे। धातुयणः—सकुल्ल्वा, सकुल्ल्वे, सेत्पृश्निः सुभ्वे३[1] (ऋ०६।६६।३)॥

भाषार्थः—[*ऊङ्धात्वोः*] ऊङ् तथा धातु का जो उदात्त के स्थान में हुआ यण्, हल् पूर्व वाला हो तो उससे उत्तर अजादि असर्वनामस्थान विभक्ति को उदात्त [*न*] नहीं होता॥

पूर्व सूत्र से प्राप्त था निषेध कर दिया॥ यहाँ ऊङ् तथा धातु से परे 'नदी' सम्भव नहीं, अतः केवल 'अजादी' की अनुवृत्ति का सम्बन्ध

---

१ जात्य (स्वभाव से) *तित्स्वरितम्* (६।१।१७९) से, क्षैप्र (यण् सन्धि होने पर) *उदात्तस्वरितयो०* (८।२।४) से, प्रश्लेष (सवर्ण दीर्घ) और अभिनिहित (एङ् से परे अकार को पूर्वरूप) सन्धि के कारण *स्वरितो वानुदात्ते०* (८।२।६) से जो स्वरित होता है उससे परे यदि संहिता में उदात्त अक्षर होता है तो स्वरित का कम्प से उच्चारण होता है। स्वरित की पूर्व आधी मात्रा उदात्त होती है (अष्टा० १।२।६२), अतः ह्रस्व में आधा भाग और दीर्घ में तीन भाग अनुदात्त होते हैं। उसे व्यक्त करने के लिए ऐसे स्वरितों से परे १ और ३ संख्या का लेखन किया जाता है। अतः वेद में ऐसे स्थलों पर ३ का अंक देखकर प्लुत का भ्रम नहीं करना चाहिए।

लगाया है ॥ ब्रह्मा बन्धुरस्याः ऐसा विग्रह करके ब्रह्मबन्धु में बहुव्रीहि समास हुआ। आगे ऊङुतः (४।१।६६) से ऊङ् प्रत्यय हुआ जो कि प्रत्ययस्वर से उदात्त है, अब अनुदात्त उकार के साथ उदात्त ऊङ् का दीर्घ एकादेश हुआ जो कि *एकादेश उदात्तेनोदात्तः* (८।२।५) से उदात्त ही हुआ। तत्पश्चात् अनुदात्त 'टा' एवं ङे विभक्ति के परे रहते उदात्त ऊकार को यणादेश हुआ, अतः पूर्व सूत्र से विभक्ति को उदात्त प्राप्त हुआ, पर ऊङ् का यण् होने से प्रकृत सूत्र से निषेध होकर *उदात्तस्वरितयो०* (८।२।४) से विभक्ति को स्वरित हो गया, शेष को अनुदात्त (६।१।१५२) हो ही जायेगा। सकृल्लू शब्द क्विबन्त है, यहाँ सकृत् उपपद रहते लूञ् धातु है, जो कि धातु स्वर से उदात्त है, तत्पश्चात् विभक्ति परे रहते पूर्ववत् 'लू' के उदात्त ऊकार के स्थान में यण् हो गया, शेष पूर्ववत् जानें। यह धातु के उदात्त यण् का उदाहरण है ॥

ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप् ॥६।१।१७०॥

ह्रस्वनुड्भ्याम् ५।२॥ मतुप् १।१॥ *स०*—ह्रस्व० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अन्तोदात्तात्, उदात्तः ॥ *अर्थः*—ह्रस्वान्तादन्तोदात्तान्नुटश्च परो मतुब् उदात्तो भवति ॥ *उदा०*—अ॒ग्निमा॑न्, वा॒युमा॑न्, क॒र्तृमा॑न्, ह॒र्तृमा॑न्। नुटः—अ॒क्ष॒ण्वता॑, शी॒र्ष॒ण्वता॑, अ॒क्ष॒ण्वन्तः॒ कर्ण॑वन्तः॒ सखा॑यः (ऋ० १०।७१।७) ॥

भाषार्थः—अन्तोदात्त [*ह्रस्वनुड्भ्याम्*] ह्रस्वान्त तथा नुट् से उत्तर [*मतुप्*] मतुप् को उदात्त होता है ॥ *तदस्यास्त्य०* (५।२।९४) से मतुप् प्रत्यय होता है, तथा 'अक्षण्वता' आदि में *अनो नुट्* (८।२।१६) से नुट् आगम होता है। अग्नि आदि शब्द प्रातिपदिक स्वर से अन्तोदात्त हैं। अक्षि शब्द से मतुप् तथा *छन्दस्यपि दृश्यते* (७।१।७६) से अनङ् होकर अक्षनङ् मत् = अक्षन् मत् रहा। पश्चात् नुट् आगम तथा पूर्व नकार का *नलोपः०* (८।२।७) से लोप होकर अक्षण्वता तृतीया एकवचन में बना। इसी प्रकार *शीर्षंश्छन्दसि* (६।१।५९) से शीर्षन् निपातन करके पूर्ववत् शीर्षण्वता बनेगा। णत्व *अट्कुप्वाङ्०* (८।४।२) से हो जायेगा ॥

यहाँ से '*ह्रस्वः*' तथा '*मतुप्*' की अनुवृत्ति ६।१।१७१ तक जायेगी ॥

नामन्यतरस्याम् ॥६।१।१७१॥

नाम् १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ अनु०—ह्रस्वः, मतुप्, अन्तोदात्तात् विभक्तिः, उदात्तः ॥ 'अर्थवशाद् विभक्तिविपरिणाम' इति न्यायेन प्रथमान्तो मतुप् सप्तम्यन्तेन विपरिणम्यते ॥ *अर्थः*—मतुपि यो ह्रस्वस्तदन्तादन्तोदात्तात् विकल्पेन नाम् उदात्तो भवति ॥ *उदा०*—अग्नीनाम् । पक्षे—अग्नीनाम् । वायूनाम्, वायूनाम् । चेतन्ती सुमतीनाम् (ऋ० १।३।११)॥

भाषार्थः—अर्थानुरोध से अनुवर्त्यमान प्रथमान्त मतुप् सप्तमी में बदल जाता है ॥ मतुप् प्रत्यय के परे रहते जो ह्रस्वान्त अन्तोदात्त शब्द उससे उत्तर [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से [*नाम्*] नाम् को उदात्त हो जाता है ॥ यहाँ मतुप् प्रत्यय को ह्रस्व का विशेषण इसलिये बनाया है कि मतुप् के परे रहते जो ह्रस्व रहा हो, नाम् परे रहते चाहे दीर्घ भी हो जावे तो भी नाम् को विकल्प से उदात्तत्व हो जावे ॥ इस प्रकार प्रकृत उदाहरणों में मतुप् परे रहते अग्नि, वायु आदि शब्द ह्रस्वान्त हैं, किन्तु नाम् परे रहते ये दीर्घान्त (६।४।३) हो गये हैं तो भी उदात्तत्व प्रकृत सूत्र से हो जाता है । पक्ष में प्रातिपदिक स्वर से ईकार ऊकार उदात्त होते हैं ॥

यहाँ से '*नाम्*' की अनुवृत्ति ६।१।१७२ तक जायेगी ।

ङ्याश्छन्दसि बहुलम् ॥६।१।१७२॥

ङ्याः ५।१॥ छन्दसि ७।१॥ बहुलम् १।१॥ *अनु०*—नाम्, विभक्तिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये ङ्यन्तात् परो नाम् उदात्तो भवति बहुलम् ॥ *उदा०*—देवसेनानामभिभञ्जतीनाम् (ऋ० १०।१०३।८) बह्वीनां पिता (ऋ० ६।७५।५) । न च भवति बहुलवचनात्—सङ्गमे च नदीनाम् (यजु० २६।१५) ॥

भाषार्थः—[*छन्दसि*] वेद विषय में [*ङ्याः*] ङ्यन्त शब्द से उत्तर [*बहुलम्*] बहुल करके नाम् (विभक्ति) को उदात्त होता है ॥ भञ्जती बह्वी आदि ङ्यन्त शब्द हैं । बहुल कहने से कहीं नहीं भी होता ॥

षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः ॥६।१।१७३॥

षट्त्रिचतुर्भ्यः ५।३॥ हलादिः १।१॥ *स०*—षट् च त्रयश्च चत्वारश्च षट्त्रिचत्वारस्तेभ्यः 'इतरेतरद्वन्द्वः । हल् आदिर्यस्याः सा हलादिः, बहु-

व्रीहिः ॥ अनु०—विभक्तिः, उदात्तः ॥ अर्थः—षट्संज्ञकेभ्यस्त्रि चतुर् इत्येताभ्यां च परा हलादिर्विभक्तिरुदात्ता भवति ॥ उदा०—षट्संज्ञकेभ्यः—षड्भिः, षड्भ्यः, षण्णाम्, पञ्चानाम्, सप्तानाम्, आषड्भिर्हूयमानः (ऋ० २।१८।४) । त्रि—त्रिभिः, त्रिभ्यः, त्रयाणाम्, त्रिभिष्ट्वं देव (ऋ० ६।६७।२६) । चतुर्—चतुर्णाम् ॥

भाषार्थः—[*षट्त्रिचतुर्भ्यः*] षट्संज्ञक शब्दों से उत्तर तथा त्रि चतुर् शब्दों से उत्तर [*हलादिः*] हलादि विभक्ति को उदात्त होता है ॥ *ष्णान्ता षट्* (१।१।२३) से षट् संज्ञा होती है ॥

यहाँ से '*षट्त्रिचतुर्भ्यः*' की अनुवृत्ति ६।१।१७५ तक जायेगी ॥

झल्युपोत्तमम् ॥६।१।१७४॥

झलि ७।१॥ उपोत्तमम् १।१॥ अनु०—षट्त्रिचतुर्भ्यः, विभक्तिः, उदात्तः ॥ अर्थः—षट्त्रिचतुर्भ्यं उत्पन्ना या झलादिर्विभक्तिस्तदन्ते पद उपोत्तममुदात्तं भवति ॥ उदा०—पञ्चभिस्तपस्तपति । सप्तभिः परान् जयति । तिसृभिश्च वहसे त्रिंशता । अध्वर्युभिः पञ्चभिः ॥

भाषार्थः—षट्संज्ञक, त्रि तथा चतुर् शब्द से उत्पन्न जो [*झलि*] झलादि विभक्ति तदन्त शब्द में [*उपोत्तमम्*] उपोत्तम को उदात्त होता है ॥ उपोत्तम क्या है इसके परिज्ञान के लिये भाग २ पृ० ४० सूत्र ४।१।७८ देखें ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ६।१।१७५ तक जायेगी ॥

विभाषा भाषायाम् ॥६।१।१७५॥

विभाषा १।१॥ भाषायाम् ७।१॥ अनु०—झल्युपोत्तमम्, षट्त्रिचतुर्भ्यः, विभक्तिः, उदात्तः ॥ अर्थः—षट्त्रिचतुर्भ्यो या झलादिर्विभक्तिस्तदन्ते पद उपोत्तममुदात्तं भवति विकल्पेन भाषायां विषये ॥ उदा०—पञ्चभिः पञ्चभिः । सप्तभिः, सप्तभिः । तिसृभिः, तिसृभिः । चतसृभिः, चतसृभिः ॥

भाषार्थः—षट्संज्ञक, त्रि तथा चतुर् शब्द से उत्पन्न जो झलादि विभक्ति तदन्त शब्द का उपोत्तम [*विभाषा*] विकल्प से [*भाषायाम्*] भाषा विषय में उदात्त होता है ॥ पूर्व सूत्र से नित्य प्राप्ति में विकल्पार्थ

यह वचन है, पक्ष में षट्त्रिच० (६।१।१७३) से विभक्ति उदात्त होती है ॥

विशेषः—इस सूत्र से स्पष्ट है कि पाणिनि के काल में संस्कृत लोक-भाषा (= बोल चाल की भाषा) थी और उसमें स्वरों का भी प्रयोग होता था। इस विषय में अ० ४।२।७३ से लोक व्यवहृत दात्त गौप्त आदि प्रयोगों में स्वरभेद के लिए प्रत्ययान्तर (= अञ्) का विधान करना भी ज्ञापक है ॥

न गोश्वन्साववर्णराडङ्क्रुङ्कृद्भ्यः ॥६।१।१७६॥

न अ० ॥ गोश्व ''द्भ्यः ५।३॥ स०—सौ अवर्णम्, साववर्णम्, सप्तमी-तत्पुरुषः। गौश्च श्वा च साववर्णञ्च राट् च अङ् च क्रुङ् च कृत् च गोश्व''' कृतस्तेभ्यः''' इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अर्थः*—गो, श्वन्, साववर्ण = सौ प्रथमैकवचने यदवर्णान्तं, राड्, अङ्, क्रुङ्, कृद् इत्येतेभ्यो यदुक्तं तन्न भवति ॥ उदा०—गवा, गवे, गोभ्याम्, गवां शता (ऋ० १।१२२।७), सुगुना, सुगवे, सुगुभ्याम्। श्वन्—शुना, शुने, श्वभ्याम्, शुनश्चिच्छेपम् (ऋ० ५।२।७) परमशुना, परमशुने। साववर्णः—येभ्यः, तेभ्यः, केभ्यः, तेभ्यो द्युम्नम् (ऋ० ५।७६।७) तेषां पाहि श्रुधी हवम् (ऋ० १।२।१)। राट् (क्विबन्त)—राजा, परमराजे। अङ्—प्राञ्चा, प्राङ्भ्याम्। क्रुङ्—क्रुञ्चा, परमक्रुञ्चा। कृत्—कृता, परमकृता ॥

भाषार्थः—[*गो''कृद्भ्यः*] गो, श्वन्, साववर्ण = सु प्रथमा के एकवचन के परे रहते जो अवर्णान्त शब्द, अङ्, क्रुङ् तथा कृत् से जो कुछ भी ऊपर (स्वरविधान) कह आये हैं, वह [न] नहीं होता ॥ 'राट्' यह राज् धातु के क्विबन्त का रूप है। अङ् भी अञ्चु के क्विबन्त का रूप है। क्रुङ् क्विन्नन्त (३।२।५९) है। कृत् भी डुकृञ् अथवा कृती छेदने धातु के क्विबन्त का रूप सूत्र में निर्दिष्ट है ॥ गवा, गवे आदि में *सावेकाचस्तृतीया०* (६।१।१६२) से विभक्ति को उदात्तत्व प्राप्त था उसका निषेध हो गया, प्रातिपदिकस्वर से गो उदात्त रहा। शोभना गावोऽस्येति तेन सुगुना इत्यादि में *अन्तोदात्तादुत्तर०* (६।१।१६३) की प्राप्ति थी, प्रकृत सूत्र से निषेध होकर *नञ्सुभ्याम्* (६।२।१७१) से उत्तरपद को प्राप्त अन्तोदात्तत्व स्वर ही रह गया। शुना परमशुना आदि में भी इसी प्रकार प्राप्ति एवं निषेध समझें। श्वयुव-

मघोना० (६।४।१३३) से यहाँ सम्प्रसारण होता है। यद्, तद् आदि शब्द सु परे रहते अवर्णान्त हैं, यहाँ सावेकाच० (६।१।१६२) से प्राप्ति थी।। राजा, परमराजे में पूर्ववत् जानें। परमक्रुञ्चा, परमकृता शब्द समास स्वर से अन्तोदात्त हैं।।

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ६।१।१७८ तक जायेगी।।

दिवो झल् ।।६।१।१७७।।

दिवः ५।१।। झल् १।१।। अनु०—न, विभक्तिः, उदात्तः।। *अर्थः*—दिवः परा झलादिर्विभक्तिर्नोदात्ता भवति।। *उदा०*—द्युभ्याम्, द्युभिः, द्युभिरक्तुभिः (ऋ० १।३४।८)।।

भाषार्थः—[*दिवः*] दिव् शब्द से परे [*झलि*] झलादि विभक्ति उदात्त नहीं होती।। *सावेकाचस्तृ०* (६।१।१६२) तथा *ऊडिदम्पदाद्यप्पु०* (६।१।१६५) से प्राप्ति थी, निषेध कर दिया, तो प्रातिपदिक स्वर से आद्युदात्त ही हुआ।।

यहाँ से 'झल्' की अनुवृत्ति ६।१।१७८ तक जायेगी।।

नृ चान्यतरस्याम् ।।६।१।१७८।।

नृ लुप्तपञ्चम्यन्तनिर्देशः।। च अ०।। अन्यतरस्याम् ७।१।। अनु०—झल्, न, विभक्तिः, उदात्तः।। *अर्थः*—नृ इत्येतस्मात् परा झलादिर्विभक्तिर्विकल्पेन नोदात्ता भवति।। *उदा०*—नृभिः। पक्षे—नृभिः। नृभ्यः, नृभ्यः। नृभ्याम्, नृभ्याम्, नृभिर्येमानः।।

भाषार्थः—[*नृ*] नृ से परे [*च*] भी झलादि विभक्ति को [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से उदात्त नहीं होता, अर्थात् होता है।। *सावेकाचस्तृ०* (६।१।१६२) से विभक्ति को उदात्तत्व प्राप्त हुआ, अतः विकल्पार्थ यह वचन है। एक पक्ष में प्रातिपदिक स्वर एवं पक्ष में विभक्ति को उदात्तत्व होगा।।

तित्स्वरितम् ।।६।१।१७९।।

तित् १।१।। स्वरितम् १।१।। स०—तकार इत् यस्येति तित्, बहुव्रीहिः।। *अर्थः*—तित्स्वरितं भवति।। *उदा०*—चिकीर्ष्यम्, जिहीर्ष्यम्, कार्यम्, हार्यम्।।

भाषार्थः—[*तित्*] तकार इत् संज्ञक है जिसका उसको [*स्वरितम्*] स्वरित होता है ॥ चिकीर्ष जिहीर्ष सन्नन्त धातु से *अचो यत्* (३।१।९७) से यत् प्रत्यय तथा *अतो लोपः* (६।४।४८) से ष के अ का लोप हुआ है। यत् तित् है, अतः स्वरित होकर शेष को अनुदात्त (६।१।१५२) हो जाता है। कार्यम् हार्यम् में *ऋहलोर्ण्यत्* (३।१।१२४) से ण्यत् प्रत्यय हुआ है ॥ प्रत्यय आद्युदात्तत्व का यह अपवाद है ॥

तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्त-महन्विङोः ॥६।१।१८०॥

तास्य···शात् ५।१॥ लसार्वधातुकम् १।१॥ अनुदात्तम् १।१॥ अहन्विङोः ६।२॥ स०—अनुदात्त इत् यस्य स अनुदात्तेत्, बहुव्रीहिः। ङकार इत् यस्य स ङित् बहुव्रीहिः। अत् चासौ उपदेशश्च अदुपदेशः, कर्मधारयस्तत्पुरुषः। तासिश्च अनुदात्तेत् च ङित् च अदुपदेशश्च तास्य··देशम् तस्मात्··समाहारो द्वन्द्वः। लस्य सार्वधातुकम्, लसार्वधातुकम्, षष्ठीतत्पुरुषः। ह्नुश्च इङ् च ह्नुविङौ, इतरेतरद्वन्द्वः। न ह्नुविङौ अह्नुविङौ, तयोः,··नञ्तत्पुरुषः॥ *अर्थः*—तासेरनुदात्तेतो ङितोऽकारान्तोपदेशाच्च परं लसार्वधातुकमनुदात्तं भवति, ह्नुङ्, इङ् इत्येताभ्यां परं वर्जयित्वा ॥ उदा०—तासेः—कर्त्ता, कर्त्तारौ कर्त्तारः। अनुदात्तेतः—आस—आस्ते, वस—वस्ते। ङितः—षूङ्—सूते, शीङ्—शेते। अदुपदेशात्—तुदतः, नुदतः, पचतः, पठतः॥

भाषार्थः—[*तास्य···शात्*] तासि प्रत्यय, अनुदात्तेत् धातु, ङित् धातु तथा उपदेश में जो अवर्णान्त इन से उत्तर [*लसार्वधातुकम्*] लकार के स्थान में जो सार्वधातुक संज्ञक तिप् इत्यादि प्रत्यय वे [*अनुदात्तम्*] अनुदात्त होते हैं, [*अह्नुविङोः*] ह्नुङ् तथा इङ् धातु को छोड़कर। इनके ङित् होने से प्राप्त था, निषेध कर दिया ॥ प्रत्यय स्वर *आद्युदात्तश्च* (३।१।३) का यह अपवाद सूत्र है॥ कर्त्तारौ कर्त्तारः में कृ को धातु स्वर के पश्चात् तस् झि प्रत्यय स्वर से उदात्त हुए, पुनः तास् विकरण प्रत्यय स्वर से उदात्त प्राप्त हुआ तब '*सति शिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधते*' (पीछे होने वाला विकरणस्वर लसार्वधातुक स्वर को नहीं बाधता) न्याय से रौ रः उदात्त प्राप्त हुए। तब इस सूत्र (तास्यनुदात्ते०) ने लसार्वधातुक को अनुदात्त का विधान किया।

रौ रः के अनुदात्त होने पर तास् प्रत्यय स्वर से उदात्त हुआ। 'कर्त्ता' आत्मनेपद एकवचन में प्रकृत सूत्र से 'ते' अनुदात्त हुआ, तदादेश 'डा' भी अनुदात्त है 'डा' के डित् होने से तास् का टिलोप होने पर उदात्तनिवृत्तिस्वर से 'डा' उदात्त हो जाता है। आस, वस धातु अनुदात्तेत् हैं, सो पूर्ववत् लसार्वधातुकानुदात्तत्व तथा धातुस्वर से उदात्त होकर पश्चात् अनुदात्त को स्वरित हो गया। तुद, नुद धातुस्वर से उदात्त हैं। तस् प्रत्ययस्वर से उदात्त हुआ। पश्चात् *तुदादिभ्यः शः* (३।१।७७) से श विकरण हुआ वह उपदेशावस्था में अकारान्त है। पूर्ववत् सतिशिष्ट विकरण स्वर से 'तस्' स्वर की बाधा न होने पर अदु-पदेश श को मानकर उसे इस सूत्र से अनुदात्त हो गया। इस प्रकार सतिशिष्ट स्वर के नियम से 'श' को विकरण स्वर होने पर 'तु' और 'तः' अनुदात्त हुए। पश्चात् 'तः' स्वरित हो गया। पचतः पठतः में शप् को अदुपदेश मानकर 'तस्' अनुदात्त हुआ। शप् स्वयं पित् होने से अनुदात्त है अतः यह पद धातुस्वर से आद्युदात्त हुआ॥

यहाँ से '*लसार्वधातुकम्*' की अनुवृत्ति ६।१।१८६ तक जायेगी।

आदिः सिचोऽन्यतरस्याम् ॥६।१।१८१॥

आदिः १।१॥ सिचः ६।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ अनु०—उदात्तः॥ *अर्थः*—सिजन्तस्य विकल्पेनादिरुदात्तो भवति॥ उदा०—मा हि कार्ष्टाम्, मा हि कार्ष्टाम्। मा हि लाविष्टाम्, मा हि लाविष्टाम्॥

भाषार्थः—[*सिचः*] सिच् अन्त वाले को [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से [*आदिः*] आद्युदात्त होता है॥ कार्ष्टाम् एक पक्ष में प्रकृत सूत्र से आद्युदात्त तथा पक्ष में प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त है, इसी प्रकार लाविष्टाम् पक्ष में आद्युदात्त एवं पक्ष में सिच् को हुआ इट् आगम सिच् का भाग माना जाने से सिच् के चित् होने से चित् स्वर से उदात्त होता है। उदाहरणों में *हि च* (८।१।३४) से निघात का प्रतिषेध हो जाता है॥

यहाँ से '*आदिः अन्यतरस्याम्*' की अनुवृत्ति ६।१।१८२ तक जायेगी॥

स्वपादिहिंसामच्यनिटि ॥६।१।१८२॥

स्वपादिहिंसाम् ६।३॥ अचि ७।१॥ अनिटि ७।१॥ स०—स्वप आदिर्येषां ते स्वपादयः, बहुव्रीहिः। स्वपादयश्च हिंश्च स्वपादिहिंसस्तेषां'''इतरेतरद्वन्द्वः। अनिटि इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—आदिः, अन्यतरस्याम्, लसार्वधातुकम्, उदात्तः॥ *अर्थः*—स्वपादीनां हिंसेश्च अजादावनिटि लसार्वधातुके परतो विकल्पेनादिरुदात्तो भवति॥ *उदा०*—स्वपन्ति, स्वपन्ति। श्वसन्ति, श्वसन्ति। हिंसन्ति, हिंसन्ति॥

भाषार्थः—[*स्वपादिहिंसाम्*] स्वपादि धातुओं के तथा हिंस धातु के [*अचि*] अजादि [*अनिटि*] अनिट् लसार्वधातुक परे हो तो विकल्प से आदि को उदात्त हो जाता है॥ लसार्वधातुकम् प्रथमान्त पद जो यहाँ आ रहा था, वह 'अचि अनिटि' के सम्बन्ध से सप्तमी में बदल जाता है॥ झि को अन्ति आदेश करने पर अजादि लसार्वधातुक हो जाता है, अतः स्वपन्ति आदि में पक्ष में आद्युदात्त एवं पक्ष में प्रत्यय स्वर से मध्योदात्त होता है। हिंसन्ति की सिद्धि भाग १ पृ० ८०९ में देखें॥

यहाँ से '*अच्यनिटि*' की अनुवृत्ति ६।१।१८३ तक जायेगी॥

अभ्यस्तानामादिः ॥६।१।१८३॥

अभ्यस्तानाम् ६।३॥ आदिः १।१॥ *अनु०*—अच्यनिटि, लसार्वधातुकम्, उदात्तः॥ *अर्थः*—अभ्यस्तानामनिट्यजादौ लसार्वधातुके परत आदिरुदात्तो भवति॥ *उदा०*—दर्दति, दधति, जक्षति, जक्षतु, जाग्रति, जाग्रतु। ये ददति प्रिया वसु (ऋ० ७।३२।१५)॥

भाषार्थः—अजादि अनिट् लसार्वधातुक परे हो तो [*अभ्यस्तानाम्*] अभ्यस्त संज्ञक के [*आदिः*] आदि को उदात्त होता है॥ जक्षति की सिद्धि परि० ६।१।६ में देखें॥ सर्वत्र इसी प्रकार 'अति' अजादि प्रत्यय परे है॥

यहाँ से '*अभ्यस्तानाम्*' की अनुवृत्ति ६।१।१८६ तक तथा '*आदिः*' की ६।१।१८५ तक जायेगी॥

अनुदात्ते च ॥६।१।१८४॥

अनुदात्ते ७।१॥ च अ०॥ स०—अविद्यमानमुदात्तमस्मिन् इत्यनुदात्तम्, तस्मिन्'''बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—अभ्यस्तानाम्, आदिः, लसार्वधातुकम्,

उदात्तः ॥ *अर्थः*—अविद्यमानोदात्ते च लसार्वधातुके परतोऽभ्यस्तसंज्ञकानामादिरुदात्तो भवति ॥ *उदा०*—दर्दाति, जहाति, दधाति, जिहीते, मिमीते । दधासि रत्नं द्रविणं च दाशुषे (ऋ० १।९४।१४) ॥

भाषार्थः—[*अनुदात्ते*] जिसमें उदात्त अविद्यमान है, ऐसे लसार्वधातुक के परे रहते [च] भी अभ्यस्तसंज्ञक के आदि को उदात्त होता है ॥ डुदाञ् आदि धातुएँ जुहोत्यादि गण में पठित हैं, अतः द्वित्व होकर *उभे अभ्यस्तम्* (६।१।५) से अभ्यस्त संज्ञा हो जायेगी । भाग १ पृ० ७५५ में प्रदर्शित जुहोति की सिद्धि के समान ही सिद्धि प्रकार जानें । ओहाक् त्यागे का 'हा' शेष रहकर जहाति, माङ् से *भृञामित्* (७।४।७६) से अभ्यास को इत्व होकर मिमीते, एवं इसी प्रकार ओहाङ् से जिहीते की सिद्धि जानें । सर्वत्र अविद्यमान उदात्त वाला सार्वधातुक परे है ही ॥ अनुदात्त में बहुव्रीहि समास इस लिए माना गया है कि 'मा हि स्म दधात्' में तिप् के इकार के लोप होने पर भी हो जावे, क्योंकि यहाँ भी 'त्' उदात्त रहित है ।

सर्वस्य सुपि ॥६।१।१८५॥

सर्वस्य ६।१॥ सुपि ७।१॥ *अनु०*—आदिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—सुपि परतः सर्वशब्दस्यादिरुदात्तो भवति ॥ *उदा०*—सर्वः, सर्वौ, सर्वे । सर्वे नन्दन्ति यशसा ॥

भाषार्थः—[*सुपि*] सुप् परे रहते [*सर्वस्य*] सर्व शब्द के आदि को उदात्त होता है ॥ उणादि १।१५३ से सर्व शब्द अन्तोदात्त निपातित है, उसे सुप् परे रहते आद्युदात्त कह दिया ॥

भीह्रीभृहुमदजनधनदरिद्राजागरां प्रत्ययात् पूर्वं पिति ॥६।१।१८६॥

भीह्री.....गराम् ६।३॥ प्रत्ययात् ५।१॥ पूर्वम् १।१॥ पिति ७।१॥ *स०*—भीह्री० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । पकार इत् यस्य स पित्, तस्मिन् पिति बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अभ्यस्तानाम्, लसार्वधातुकम्, उदात्तः ॥ *अर्थः*—भी, ह्री, भृ, हु, मद, जन, धन, दरिद्रा, जागृ इत्येतेषामभ्यस्तानां पिति लसार्वधातुके परतः प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तं भवति ॥ *उदा०*—बिभेति । जिह्रेति । बिभर्त्ति । जुहोति, योऽग्निहोत्रं जुहोति । ममत्तु नः

परिज्मा (ऋ० १।१२२।३)। जुजनंदिन्द्रम्। दुधनंत् (ऋ० १०।७३।१)। दुरिद्राति। जागर्त्ति॥

भाषार्थः—[*भीह्री.....गराम्*] भी, ह्री, भृ, हु, मद, जन, धन, दरिद्रा तथा जागृ धातु के अभ्यस्त को [*पिति*] पित् लसार्वधातुक परे रहते [*प्रत्ययात्*] प्रत्यय से [*पूर्वम्*] पूर्व को उदात्त होता है॥ *अनुदात्ते च* (६।१।१८४) से अभ्यस्त को आद्युदात्त प्राप्त था, यहाँ प्रत्यय से पूर्व उदात्त कह दिया, अतः 'तिप्' पित् लसार्वधातुक प्रत्यय के परे रहते उससे पूर्व को उदात्त हुआ है॥ बिभर्त्ति में अभ्यास को *भृञामित्* से इत्व हुआ है। शेष में पूर्ववत् द्वित्व एवं अभ्यास कार्य जानें। ममत्तु मदी हर्षे धातु के लोट् का रूप है, दिवादि गण की होने से श्यन् विकरण होना चाहिये, किन्तु *बहुलं छन्दसि* (२।४।७६) से श्लु होकर द्वित्वादि कार्य हुये हैं। जन, धन धातु से जजनत्, दधनत् लेट् के रूप हैं। लेट् की सिद्धि का प्रकार भाग १ परि० ३।१।३४ में देखें। शेष द्वित्वादि कार्य यहाँ होंगे ही॥

यहाँ से '*प्रत्ययात् पूर्वम्*' की अनुवृत्ति ६।१।१८७ तक जायेगी॥

लिति॥६।१।१८७॥

लिति ७।१॥ *स०*—ल् इत् यस्य स लित् तस्मिन् लिति, बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—प्रत्ययात् पूर्वम्, उदात्तः॥ *अर्थः*—लिति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तं भवति॥ *उदा०*—चिकीर्षकः, जिहीर्षकः॥

भाषार्थः—[*लिति*] ल् जिसका (प्रत्यय का) इत् संज्ञक हो, ऐसे प्रत्यय से पूर्व को उदात्त होता है॥ सिद्धि भाग १ पृ० ७४३ परि० १।१।५७ में देखें॥

आदिर्णमुल्यन्यतरस्याम्॥६।१।१८८॥

आदिः १।१॥ णमुलि ७।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—उदात्तः॥ *अर्थः*—णमुलि परतो विकल्पेनादिरुदात्तो भवति॥ *उदा०*—लोलूयंलोलूयम्, पक्षे—लोलूयंलोलूयम्॥

भाषार्थः—[*णमुलि*] णमुल् परे रहते (पूर्व धातु को) [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से [*आदिः*] आदि को उदात्त होता है॥ लोलूय यङन्त धातु से णमुल् प्रत्यय करके 'लोलूयम्' को प्रकृत सूत्र से एक

बार आद्युदात्त एवं एक बार *लिति* (६।१।१८७) सूत्र से प्रत्यय (णमुल्) से पूर्व को उदात्त होकर मध्योदात्त स्वर रहा। तत्पश्चात् णमुलन्त को *आभीक्ष्ण्ये द्वे भवतः* (वा० ८।१।१२) इस वार्त्तिक से द्वित्व हो गया पश्चात् *तस्य परमाम्रेडितम्* (८।१।२) से द्वित्व किये हुये द्वितीय लोलूय को की आम्रेडित संज्ञा हो गई, और उसको *अनुदात्तं च* (८।१।३) से अनुदात्त भी हो गया। पश्चात् पूर्वपदस्थ स्वरित को मानकर समस्त अनुदात्तों को एक श्रुति स्वर हो गया।

यहाँ से '*आदिः, अन्यतरस्याम्*' की अनुवृत्ति ६।१।१६० तक जायेगी॥

अचः कर्त्तृयकि ॥६।१।१८९॥

अचः ६।१॥ कर्त्तृयकि ७।१॥ *स०*—कर्त्तरि विहितो यक् कर्त्तृयक्, तस्मिन्......सप्तमीतत्पुरुषः॥ *अनु०*—आदिः, अन्यतरस्याम्, उदात्तः, 'अदुपदेशात्' (६।१।१८०) इत्यत्र यत् समस्तमुपदेशग्रहणं तस्यैकदेशमात्रमनुवर्त्तते[1] मण्डूकप्लुतगत्या॥ *अर्थः*—कर्त्तृवाचिनि सार्वधातुके विहितो यो यक् तस्मिन् परत उपदेशे अजन्ता ये धातवस्तेषां विकल्पेनादिरुदात्तो भवति॥ *उदा०*—लूयते केदारः स्वयमेव। लूयते केदारः स्वयमेव। स्तीर्यते केदारः स्वयमेव, स्तीर्यते केदारः स्वयमेव॥

भाषार्थः—[*कर्त्तृयकि*] कर्त्तृवाची सार्वधातुक के परे रहते विहित जो यक् प्रत्यय उस यक् के परे रहते उपदेश में [*अचः*] अजन्त जो धातुएँ उनके आदि को विकल्प से उदात्त हो जाता है॥ कर्मकर्त्ता (जहाँ कर्म कर्त्ता बन जाता है) स्थल में कर्त्तृवाची सार्वधातुक के परे रहते कर्मवद्भाव से यक् विधान *सार्वधातुके यक्* (३।१।६७) से होता है, अतः कर्मकर्त्ता में ही प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति होगी॥ जब पक्ष में लूयते आदि को आद्युदात्त नहीं हुआ, तब *तास्यनुदात्ते०* (६।१।१८०) से लसार्वधातुक को निघात करके प्रत्यय स्वर से यक् को ही उदात्तत्व होता है॥

थलि च सेटीडन्तो वा ॥६।१।१९०॥

थलि ७।१॥ च अ०॥ सेटि ७।१॥ इट् १।१॥ अन्तः १।१॥ वा

---

१. द्रष्टव्या-क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्त्तत इति परिभाषा।

अ० ॥ *अनु०*—आदिः, अन्यतरस्याम्, उदात्तः ॥ *अर्थः*—सेटि थलि इट् वा उदात्तो भवति, अन्तो वाऽऽदिर्वाऽन्यतरस्याम् ॥ *उदा०*—लुलविथ, लुलविथ, लुलविथ, लुलविथ, पर्यायेण चत्वारः स्वराः ॥

भाषार्थः—[*सेटि थलि*] सेट् थल् परे रहते [*इट्*] इट् को अन्यतरस्याम्=विकल्प से उदात्त होता है एवं [*च*] चकार से आदि को, [*अन्तः*] अन्त को [*वा*] विकल्प से होता है ॥

यहाँ चकार भिन्न क्रम (=अस्थान में) है। इसका सम्बन्ध होगा—थलि सेटि इट् च अन्तो वा। इस प्रकार सेट् थल् परे रहते अनुवर्त्तमान अन्यतरस्याम् जुड़कर इट् को उदात्त करेगा, पक्ष में च से समुच्चीयमान आदि को, तत्पश्चात् 'अन्तो वा' से अन्त को उदात्त विकल्प से होगा, पक्ष में यथाप्राप्त लित् स्वर होगा। इस प्रकार चार स्वर पर्याय से होंगे ॥

ञ्नित्यादिर्नित्यम् ॥६।१।१९१॥

ञ्निति ७।१॥ आदिः १।१॥ नित्यम् १।१॥ *स०*—ञ्श्च नश्चेति ञ्नौ, ञ्नावितावस्य ञ्नित् तस्मिन् ञ्निति, बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—उदात्तः ॥ *अर्थः*—ञिति निति च नित्यमादिरुदात्तो भवति ॥ *उदा०*—गार्ग्यः, वात्स्यः। नित्—वासुदेवकः, अर्जुनकः, यस्मिन्विश्वानि पौंस्या, सुते दधिष्व नश्चनः ॥

भाषार्थः—[*ञ्निति*] ञकार और नकार इत् संज्ञक है जिनका ऐसे प्रत्ययों के परे रहते [*नित्यम्*] नित्य ही [*आदिः*] आदि को उदात्त होता है ॥ गार्ग्यः वात्स्यः में *गर्गादिभ्यो यञ्* (४।१।१०५) से यञ् प्रत्यय हुआ है, जो कि ञित् है। पौंस्या में पुंस् शब्द से *गुणवचनब्राह्म०* (५।१।१२३) से ष्यञ् हुआ है। वासुदेवकः, अर्जुनकः में *वासुदेवार्जुना०* (४।३।९८) से वुन् प्रत्यय हुआ है। चनः में चायृ धातु से नुट् आगम एवं असुन् प्रत्यय हुआ है ॥ प्रत्यय स्वर का अपवाद यह सूत्र है ॥

यहाँ से '*आदिः*' की अनुवृत्ति ६।१।२१० तक जायेगी ॥

आमन्त्रितस्य च ॥६।१।१९२॥

आमन्त्रितस्य ६।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—आदिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—आमन्त्रितस्यादिरुदात्तो भवति ॥ *उदा०*—देवदत्त! देवदत्तौ! देवदत्ताः!

भाषार्थः—[*आमन्त्रितस्य*] आमन्त्रितसंज्ञक के [*च*] भी आदि को उदात्त होता है ॥ सम्बोधन की *सामन्त्रितम्* (२।३।४८) से आमन्त्रित संज्ञा होती है ॥

पथिमथोः सर्वनामस्थाने ॥६।१।१९३॥

पथिमथोः ६।२॥ सर्वनामस्थाने ७।१॥ *स०*—पन्थाश्च मन्थाश्च पथिमन्थानौ तयोः''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—आदिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—पथिमथोः सर्वनामस्थाने परत आदिरुदात्तो भवति ॥ *उदा०*—पन्थाः, पन्थानौ, पन्थानः, अयं पन्थाः (ऋ० ४।१८।१) मन्थाः, मन्थानौ, मन्थानः ॥

भाषार्थः—[*पथिमथोः*] पथिन् तथा मथिन् शब्द को [*सर्वनामस्थाने*] सर्वनामस्थान परे रहते आदि उदात्त हो जाता है ॥ *मन्थः* (उणा० ४।११) से इनि प्रत्ययान्त मथिन् शब्द तथा *पतः स्थ च* (उणा० ४।१२) से इनि प्रत्ययान्त पथिन् शब्द सिद्ध होते हैं। अब ये शब्द प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त थे, अतः इन्हें सर्वनामस्थान परे रहते आद्युदात्त कह दिया है ॥ पन्थाः की सिद्धि भाग १ पृ० ७७३ में देखें। इसी प्रकार मन्थाः भी समझें ॥

अन्तश्च तवै युगपत् ॥६।१।१९४॥

अन्तः १।१॥ च अ० ॥ तवै लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ युगपत् अ० ॥ *अनु०*—आदिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—तवैप्रत्ययान्तस्य शब्दस्यान्तश्चादिश्च युगपद् उदात्तो भवति ॥ *उदा०*—कर्त्तवै, हर्त्तवै ॥

भाषार्थः—[*तवै*] तवै प्रत्ययान्त शब्द का [*अन्तः*] अन्त [*च*] और आदि को [*युगपत्*] एक साथ उदात्त होता है ॥ *कृत्यार्थे तवैकेन्केन्य०* (३।४।१४) से कृ हृ धातुओं से तवै प्रत्यय हुआ है ॥ युगपत् इसलिये कहा है कि *अनुदात्तं पद०* (६।१।१५२) से पद में एक को छोड़कर शेष अनुदात्त हो जाते हैं, सो एक ही पद में एक साथ दो उदात्त रह ही नहीं सकते अतः युगपत् कहकर दो के उदात्तत्व का विधान कर दिया। मध्य के अनुदात्त को *नोदात्तस्व०* (८।४।६६) से स्वरित का निषेध हो जाने से *उदात्तादनु०* (८।४।६५) से स्वरित नहीं होता ॥

क्षयो निवासे ॥६।१।१९५॥

क्षयः १।१॥ निवासे ७।१॥ *अनु०*—आदिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—क्षयशब्द आद्युदात्तो भवति निवासेऽभिधेये ॥ *उदा०*—क्षियन्ति निवसन्त्यस्मिन् = क्षयः, स्वे क्षये शुचिव्रतः ॥

भाषार्थः—[*क्षयः*] क्षय शब्द आद्युदात्त होता है, [*निवासे*] निवास अभिधेय होने पर ॥ क्षय शब्द *पुंसि संज्ञायाम्०* (३।३।११८) से घप्रत्ययान्त है, अतः प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त प्राप्त था, आद्युदात्त विधान कर दिया ॥ निवास = घर अर्थ से अन्यत्र क्षयः (= नाश) होगा ।

जयः करणम् ॥६।१।१९६॥

जयः १।१॥ करणम् १।१॥ *अनु०*—आदिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—करणवाची जयशब्द आद्युदात्तो भवति ॥ *उदा०*—जयन्ति तेनेति जयः = अश्वादिः ॥

भाषार्थः—[*करणम्*] करणवाची [*जयः*] जय शब्द आद्युदात्त होता है ॥ पूर्ववत् ही जय शब्द में करण कारक में घ प्रत्यय होने से अन्तोदात्तत्व प्राप्त था, आद्युदात्त कह दिया ॥ अन्यत्र जयः (= जीतना) अन्तोदात्त होगा ॥

वृषादीनां च ॥६।१।१९७॥

वृषादीनाम् ६।३॥ च अ० ॥ *स०*—वृष आदिर्येषां ते वृषादयस्तेषां ...बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—आदिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—वृषादीनां शब्दानामादिरुदात्तो भवति ॥ *उदा०*—वृषः, जनः, ज्वरः, ग्रहः, हयः गयः । वाजेभिर्वाजिनीवती (ऋ० १।३।१०) ॥

भाषार्थः—[*वृषादीनाम्*] वृषादि शब्दों के [*च*] भी आदि को उदात्त होता है ॥ वृषादि गण आकृतिगण है । इनमें वृष शब्द *इगुपध०* (३।१।१३५) से कप्रत्ययान्त तथा अन्य सब शब्द पचाद्यच् (३।१।१३४) प्रत्ययान्त हैं, अतः अन्तोदात्त स्वर प्राप्त था । वाज शब्द घञन्त है, उसे *कर्षात्वतो०* (६।१।१५३) से अन्तोदात्त प्राप्त था, आद्युदात्त कह दिया, आगे भिस् विभक्ति आकर वाजेभिः बना ॥

संज्ञायामुपमानम् ॥६।१।१९८॥

संज्ञायाम् ७।१॥ उपमानम् १।१॥ *अनु०*—आदिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—उपमानशब्दः संज्ञायामाद्युदात्तो भवति॥ *उदा०*—चञ्चा, वद्ध्रिका, खरकुटी, दासी ॥

भाषार्थः—[*उपमानम्*] उपमानवाची शब्द को [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में आद्युदात्त होता है॥ *संज्ञायाम्* (५।३।९७) से चञ्चा आदि शब्दों में कन् प्रत्यय होकर *लुम्मनुष्ये* (५।३।९८) से लुप् होता है। ये सभी उपमानवाची शब्द हैं। इन सब में अपना मूल स्वर अन्तोदात्त है। जब ये शब्द उपमानवाचक होते हुए किसी के लिये संज्ञा रूप से प्रवृत्त होते हैं, तब इस सूत्र का विषय होता है॥

यहाँ से '*संज्ञायाम्*' की अनुवृत्ति ६।१।१९९ तक जायेगी॥

निष्ठा च द्व्यजनात् ॥६।१।१९९॥

निष्ठा १।१॥ च अ० ॥ द्व्यच् १।१॥ अनात् १।१॥ *स०*—द्वौ अचौ यस्मिन् तत् द्व्यच्, बहुव्रीहिः। न आत् अनात्, नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—संज्ञायाम्, आदिः, उदात्तः॥ *अर्थः*—निष्ठान्तं च द्व्यच् संज्ञायां विषये आद्युदात्तं भवति, न त्वाकारः॥ *उदा०*—दत्तः, गुप्तः, बुद्धः॥

भाषार्थः—[*निष्ठा*] निष्ठान्त शब्द जो [*द्व्यच्*] दो अचों वाला उसको [च] भी आदि को उदात्त होता है, [*अनात्*] आकार को छोड़कर, अर्थात् उदात्तभावी आकार न हो॥ दत्तः की सिद्धि भाग १ पृ० ९१२ में देखें। गुप्तः गुपू रक्षणे धातु से तथा बुद्धः बुध अवगमने धातु से बना है। दत्त आदि शब्द निष्ठान्त द्व्यच् हैं, अतः आद्युदात्त हो गया है॥ प्रत्ययस्वर (३।१।३) का अपवाद यह सूत्र है॥

शुष्कधृष्टौ ॥६।१।२००॥

शुष्कधृष्टौ १।२॥ *स०*—शुष्क० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—आदिः, उदात्तः॥ *अर्थः*—शुष्क धृष्ट इत्येतावाद्युदात्तौ भवतः॥ *उदा०*—शुष्कः। अतसं न शुष्कम् (ऋ० ४।४।४), धृष्टः॥

भाषार्थः—[*शुष्कधृष्टौ*] शुष्क तथा धृष्ट शब्द को आद्युदात्त होता है। पूर्व सूत्र से ही सिद्ध था, पुनः असंज्ञा विषय में भी हो जाये इसलिये यह सूत्र है॥ शुष शोषणे धातु से शुषः कः (८।२।५१) से निष्ठा

'क' आदेश करके शुष्कः शब्द बनता है। धृष्टः में ञिधृषा धातु है, निष्ठा को ष्टुत्व करके धृष्टः बन जायेगा ॥

आशितः कर्त्ता ॥६।१।२०१॥

आशितः १।१॥ कर्त्ता १।१॥ *अनु०*—आदिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—आशितशब्दः कर्त्तृवाची आद्युदात्तो भवति ॥ *उदा०*—आशितो देवदत्तः ॥ कृषन्नित्फाल आशितम् (ऋ० १०।११७।७) ॥

भाषार्थः—[*कर्त्ता*] कर्त्तृवाची [*आशितः*] आशित शब्द को आद्युदात्त होता है ॥ 'आङ् पूर्वक अश भोजने धातु से कर्त्ता कारक में क्त निपातन से हो' ऐसा भाष्य में कथित होने से यहाँ कर्त्ता में क्त हुआ है ॥ 'अश' धातु सकर्मक है कर्म की अविवक्षा होने पर धातु अकर्मक हो जाती है अतः कर्त्ता में क्त हुआ ॥ *थाथघञ्क्ता०* (६।२।१४३) से अन्तोदात्त की प्राप्ति थी, आद्युदात्त कह दिया ॥

रिक्ते विभाषा ॥६।१।२०२॥

रिक्ते ७।१॥ विभाषा १।१॥ *अनु०*—आदिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—रिक्तशब्दे विभाषा आदिरुदात्तो भवति ॥ *उदा०*—रिक्तः, रिक्तः ॥

भाषार्थः—[*रिक्ते*] रिक्त शब्द में [*विभाषा*] विकल्प से आद्युदात्तत्व होता है ॥ रिचिर् विरेचने धातु से क्त में रिक्तः बना है ॥

यहाँ से '*विभाषा*' की अनुवृत्ति ६।१।२०३ तक जायेगी ॥

जुष्टार्पिते च च्छन्दसि ॥६।१।२०३॥

जुष्टार्पिते १।२॥ च अ० ॥ छन्दसि ७।१॥ *स०*—जुष्टा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—विभाषा, आदिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—जुष्ट अर्पित इत्येते शब्दरूपे विकल्पेन छन्दसि विषये आद्युदात्ते भवतः ॥ *उदा०*—जुष्टः, जुष्टः । अर्पितः, अर्पितः ॥

भाषार्थः—[*जुष्टार्पिते*] जुष्ट तथा अर्पित इन शब्दों को [*च*] भी [*छन्दसि*] वेद विषय में विकल्प से आद्युदात्त होता है ॥ प्रत्यय स्वर का अपवाद यह सूत्र है, अतः पक्ष में प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त ही होता है ॥

यहाँ से '*जुष्टार्पिते*' की अनुवृत्ति ६।१।२०४ तक जायेगी ॥

नित्यं मन्त्रे ॥६।१।२०४॥

नित्यम् १।१॥ मन्त्रे ७।१॥ *अनु०*—जुष्टार्पिते, आदिः, उदात्तः। *अर्थः*—जुष्ट अर्पित इत्येते शब्दरूपे मन्त्रविषये नित्यमाद्युदात्ते भवतः। उदा०—जुष्टं देवानाम्, अर्पितं पितॄणाम् ॥

भाषार्थः—जुष्ट अर्पित इन शब्दों को [*मन्त्रे*] मन्त्र विषय में [*नित्यम्*] नित्य ही आद्युदात्त होता है॥ छन्द से वेद ब्राह्मण आदि का ग्रहण होता है तथा मन्त्र से केवल मन्त्रों का ही। परन्तु गौणी वृत्ति से मन्त्र शब्द से ब्राह्मण और उपनिषद् में आये विशिष्ट वचनों का भी ग्रहण होता है॥

युष्मदस्मदोर्ङसि ॥६।१।२०५॥

युष्मदस्मदोः ६।२॥ ङसि ७।१॥ *स०*—युष्मद् च अस्मद् च युष्मदस्मदी, तयो···इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—आदिः, उदात्तः॥ *अर्थः*—युष्मद् अस्मद् इत्येतयोः शब्दयोः ङसि परत आदिरुदात्तो भवति॥ *उदा०*—तव स्वम्, मम स्वम्। महिषस्तवनो मम ॥

भाषार्थः—[*युष्मदस्मदोः*] युष्मद् अस्मद् शब्दों के आदि को [*ङसि*] ङस् परे रहते उदात्त होता है॥ *युष्यसिभ्यां मदिक्* (उणा० १।१३९) इस उणादि से युष्मद् अस्मद् शब्द मदिक् प्रत्ययान्त हैं, अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त हैं, उन्हें ङस् परे आद्युदात्त कह दिया॥ तव मम की सिद्धि भाग१ पृ० ८४३ में देखें॥

यहाँ से '*युष्मदस्मदोः*' की अनुवृत्ति ६।१।२०६ तक जायेगी॥

ङयि च ॥६।१।२०६॥

ङयि ७।१॥ च अ०॥ *अनु०*---युष्मदस्मदोः, आदिः, उदात्तः॥ *अर्थः*—ङयि च परतो युष्मदस्मदोरादिरुदात्तो भवति॥ *उदा०*—तुभ्यम्, मह्यम्। तुभ्यं हिन्वानः (ऋ० २।३६।१), मह्यं वातः पवताम्॥

भाषार्थः—[*ङयि*] ङे विभक्ति परे रहते [*च*] भी युष्मद् अस्मद् को आद्युदात्त होता है॥ *तुभ्यमह्यौ ङयि* (७।२।९५) से ङे परे रहते युष्मद् अस्मद् को क्रमशः तुभ्य मह्य आदेश होकर तथा 'ङे' को *ङे प्रथमयोरम्* (७।१।२८) से अम् आदेश होकर तुभ्यम् मह्यम् बनते हैं॥

यतोऽनावः ॥६।१।२०७॥

यतः ६।१॥ अनावः ५।१॥ स०—न नौः, अनौः तस्मात्,...नञ्तत्पुरुषः ॥। अनु०—आदिः, उदात्तः । *निष्ठा च द्व्य०* (६।१।१९९) इत्यतः 'द्व्यच्' अनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या ॥ *अर्थः*—यत्प्रत्ययान्तस्य द्व्यच आदिरुदात्तो भवति, न चेत् नौशब्दात् परो भवति ॥ *उदा०*—चेयम्, जेयम् युञ्जन्त्यस्य काम्या (ऋ० १।६।२) ॥

भाषार्थः—[*यतः*] यत् प्रत्ययान्त जो दो अचों वाले शब्द उनको आद्युदात्त होता है, [*अनावः*] नौ शब्द को छोड़कर, अर्थात् यत् प्रत्ययान्त जो दो अचों वाला 'नाव्यम्' शब्द है उसे आद्युदात्त न हो ॥ काम्या में *कमेर्णिङ्* (३।१।३०) से णिङ् प्रत्यय होकर 'कामि' धातु बन गई, तब *अचो यत्* (३।१।९७) से यत् प्रत्यय हुआ है । *णेरनिटि* (६।४।५१) से णिङ् के 'इ' का लोप हो ही जायेगा ॥ यह सूत्र *तित्स्वरितम्* (६।१।१७९) का अपवाद है ॥

ईडवन्दवृशंसदुहां ण्यतः ॥६।१।२०८॥

ईडवन्दवृशंसदुहाम् ६।३॥ ण्यतः ६।१॥ स०—ईडवन्द० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—आदिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—ईड, वन्द, वृ, शंस, दुह इत्येतेषां यो ण्यत् तदन्तस्यादिरुदात्तो भवति ॥ *उदा०*—ईड्यम् । ईड्यो नूतनैरुत (ऋ० १।१।२) । वन्द्यम् । आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्च (ऋ० १०।११०।३) । वार्यम् । श्रेष्ठं नो धेहि वार्यम् (ऋ० १०।२४।२) । शंस्यम्, उक्थमिन्द्राय शंस्यम् (ऋ० १।१०।५) । दोह्या धेनुः ॥

भाषार्थः—[*ईड...दुहाम्*] ईड, वन्द, वृ, शंस, दुह इन धातुओं का जो [*ण्यतः*] ण्यत्, तदन्त शब्द को आद्युदात्त होता है ॥ *ऋहलोर्ण्यत्* (३।१।१२४) से ण्यत् प्रत्यय सर्वत्र हुआ है । *तित्स्वरितम्* (६।१।१७९) की प्राप्ति थी, तदपवाद है ॥

विभाषा वेण्विन्धानयोः ॥६।१।२०९॥

विभाषा १।१॥ वेण्विन्धानयोः ६।२॥ स०—वेण्वि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—आदिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—वेणु इन्धान इत्येतयोर्विकल्पेनादिरुदात्तो भवति ॥ *उदा०*—वेणुः, वेणुः । इन्धानः, इन्धानः, इन्धानः । इन्धानो अग्निम् (ऋ० २।२५।१) ॥

भाषार्थः—[*वेरिवन्धानयोः*] वेणु, इन्धान इन शब्दों के आदि को [*विभाषा*] विकल्प से उदात्त होता है ॥ वेणु शब्द *अजिवृरीभ्यो नित्* (उणा० ३।३८) से णु प्रत्ययान्त है। नित्वत् होने से *ञ्नित्यादिर्नि०* (६।१।१९१) से पक्ष में आद्युदात्त भी होता है। ञिइन्धी धातु से इन्धान शब्द भी *ताच्छील्यवयो०* (३।२।१२९) से चानश् प्रत्ययान्त है, अतः पक्ष में *चितः* (६।१।१५७) से अन्तोदात्त होगा। यदि इन्धान शब्द को शानच् प्रत्ययान्त मानें तो शानच् के परे रहते श्नम् विकरण होगा तो इ न न्ध् आन इस अवस्था में *श्नान्नलोपः* (६।४।२३) से 'न्' का लोप होगा। '*सति शिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधते*' से शानच् को चित् होने से अन्तोदात्त प्राप्त होगा, किन्तु '*तन्मध्यपतितस्तद्ग्रहणेन गृह्यते*' (किसी धातु या प्रातिपदिक के मध्य में पड़ा शब्द जिसके मध्य में पड़ा है उसके ग्रहण से गृहीत होता है) न्याय से धात्वन्तर्गत मानकर इन्ध के अनुदात्तेत् होने से *तास्यनुदात्तेत्०* (६।१।१८०) से लसार्वधातुक अनुदात्त होगा और श्नम् विकरण प्रत्यय स्वर से उदात्त होगा। पुनः श्नम् विकरण के अकार का लोप *श्नसोरल्लोपः* (६।४।१११) से अनुदात्त 'आन' के परे रहते हो जाता है, अतः *अनुदात्तस्य च यत्रो०* (६।१।१५५) द्वारा उदात्त निवृत्ति स्वर से मध्योदात्त स्वर होगा। दोनों प्रकार के चिह्न उपर्युक्त उदाहरणों में दिखा दिये हैं। चानश् शानच् दोनों में इसी प्रकार सिद्धि होगी, केवल स्वर में उपर्युक्त भेद रहेगा ॥

यहाँ से '*विभाषा*' की अनुवृत्ति ६।१।२१० तक जायेगी ॥

त्यागरागहासकुहश्वठक्रथानाम् ॥६।१।२१०॥

त्याग''नाम् ६।३॥ *स०*—त्याग० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—विभाषा, आदिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—त्याग, राग, हास, कुह, श्वठ, क्रथ इत्येतेषामादिरुदात्तो भवति विकल्पेन ॥ *उदा०*—त्यार्गः, त्यागः। रार्गः, रागः। हार्सः, हासः, कुर्हः, कुहः। श्वठः, श्वठः। क्रथः, क्रथः ॥

भाषार्थः—[*त्याग''नाम्*] त्याग, राग, हास, कुह, श्वठ, क्रथ इन शब्दों के आदि को विकल्प से उदात्त होता है ॥ त्याग, राग, हास घञन्त शब्द हैं, अतः *कर्षात्वतो घञो०* (६।१।१५३) से अन्तोदात्त प्राप्त था जो कि पक्ष में हो गया। कुह, श्वठ, क्रथ भी *पचाद्यच्* (३।१।१३४) प्रत्ययान्त हैं, अतः पक्ष में प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त होता है ॥

उपोत्तमं रिति ॥६।१।२११॥

उपोत्तमम् १।१॥ रिति ७।१॥ स०—रेफ इत् यस्य स रित्, तस्मिन् रिति, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—उदात्तः ॥ सौवर्यः सप्तम्यस्तदन्तसप्तम्यो भवन्तीति नियमात् रिदन्तस्य इत्यर्थो भवति ॥ अर्थः—रिदन्तस्य उपोत्तममुदात्तं भवति ॥ उदा०—करणीयम्, हरणीयम्, पटुजातीयः, मृदुजातीयः ॥

भाषार्थः—[रिति] रेफ इत् वाले शब्द के [उपोत्तमम्] उपोत्तम को उदात्त होता है ॥ करणीयं हरणीयं में अनीयर् (३।१।९६) रित् प्रत्यय हुआ है, अतः तदन्त शब्द का उपोत्तम उदात्त हुआ है। पटुजातीयः आदि में प्रकारवचने जातीयर् (५।३।६९) से जातीयर् रित् प्रत्यय हुआ है ॥ तीन या तीन से अधिक स्वरों वाले शब्दों का अन्त्य अक्षर उत्तम कहाता है, उसके समीप वाला पूर्व वर्ण उपोत्तम होता है। देखें भाग २ सूत्र ४।१।७८ ॥

यहाँ से 'उपोत्तमम्' की अनुवृत्ति ६।१।२१२ तक जायेगी ॥

चङ्यन्यतरस्याम् ॥६।१।२१२॥

चङि ७।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ अनु०—उपोत्तमम्, उदात्तः ॥ अर्थः—चङन्तस्याऽन्यतरस्यामुपोत्तममुदात्तं भवति ॥ उदा०—मा हि चीकरताम्, मा हि चीकरताम् ॥

भाषार्थः—[चङि] चङन्त शब्द के उपोत्तम को [अन्यतरस्याम्] विकल्प करके उदात्त होता है ॥ अचीकरत् की सिद्धि भाग १ पृ० ८२३ में की है। ठीक उसी प्रकार यहाँ द्विवचन तस् को तस्थस्थ०(३।४।१०१) से ताम् आदेश होकर तथा न माङ्योगे (६।४।७४) से अट् का निषेध होकर 'चीकरताम्' बना है। चीकरताम् के 'हि' से उत्तरवर्ती तिङन्त होने से, तिङ्ङतिङः (८।१।२८) से प्राप्त निघात का हि च (८।१।३४) से प्रतिषेध होता है। ताम् लसार्वधातुक को चङ् को अदुपदेश मानकर तास्यनुदात्ते० (६।१।१८०) से अनुदात्त हो गया, तब प्रत्यय स्वर से चङ् का अ जो 'र्' में मिला है, उसको ही उदात्त प्राप्त था, प्रकृत सूत्र ने चङन्त अर्थात् 'चीकर' इतने शब्द के उपोत्तम को उदात्त कह दिया अतः 'क' का 'अ' उदात्त हो गया; पक्ष में र प्रत्यय स्वर से उदात्त होगा ही ॥

मतोः पूर्वमात्संज्ञायां स्त्रियाम् ॥६।१।२१३॥

मतोः ५।१॥ पूर्वम् १।१॥ आत् १।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ स्त्रियाम् ७।१॥ *अनु०*—उदात्तः ॥ *अर्थः*—मतोः पूर्वो य आकार स उदात्तो भवति, तच्चेत् मत्वन्तं शब्दरूपं स्त्रीलिङ्गे संज्ञा स्यात् ॥ *उदा०*—उदुम्बरावती, पुष्करावती, वीरणावती, शरावती ॥

भाषार्थः—[*मतोः*] मतुप् से [*पूर्वम्*] पूर्व [*आत्*] आकार को उदात्त होता है, यदि वह मत्वन्त शब्द [*स्त्रियाम्*] स्त्रीलिङ्ग में [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषयक हो तो ॥ उदुम्बरावती आदि शब्द स्त्रीलिङ्ग में हैं, तथा किन्हीं नदियों की ये संज्ञायें हैं, अतः मतुप् से पूर्व आकार को उदात्त हो गया है। मतुप् के म् को व् *संज्ञायाम्* (८।२।११) से हुआ है ॥ चातुरर्थिक *नद्यां मतुप्* (४।४।८४) से मतुप् हुआ है। मतुप् परे रहते पूर्व को *मतौ बह्वचो०* (६।३।११७) से दीर्घ हुआ है। शरावती में *शरादीनां च* (६।३।११८) से होता है ॥ ङीप् (४।१।६) के पित् होने से अनुदात्तत्व है ॥

यहाँ से '*संज्ञायाम्*' की अनुवृत्ति ६।१।२१५ तक जायेगी ॥

अन्तोऽवत्याः ॥६।१।२१४॥

अन्तः १।१॥ अवत्याः ६।१॥ *अनु०*—संज्ञायाम्, उदात्तः ॥ *अर्थः*—अवतीशब्दान्तस्य संज्ञायां विषयेऽन्त उदात्तो भवति ॥ *उदा०*—अजिरवती, खदिरवती, हंसवती, कारण्डवती ॥

भाषार्थः—[*अवत्याः*] अवती शब्दान्त को संज्ञा विषय में [*अन्तः*] अन्त उदात्त होता है ॥ उपर्युक्त उदाहरण संज्ञा विषय में हैं, तथा अवती शब्द अन्त में है ही ॥ ङीप् प्रत्यय के पित् होने से अनुदात्तत्व प्राप्त था उसे इस सूत्र से उदात्त कह दिया ॥

यहाँ से '*अन्तः*' की अनुवृत्ति ६।१।२१७ तक जायेगी ॥

ईवत्याः ॥६।१।२१५॥

ईवत्याः ६।१॥ *अनु०*—अन्तः, संज्ञायाम्, उदात्तः ॥ *अर्थः*—ईवतीशब्दान्तस्यान्त उदात्तो भवति संज्ञायां विषये ॥ *उदा०*—अहीवती, कृषीवती, मुनीवती ॥

भाषार्थः—[*ईवत्याः*] ईवती शब्दान्त शब्द को संज्ञा विषय में अन्त

उदात्त होता है ॥ पूर्ववत् म को व तथा *शरादीनां* च (६।३।११८) से दीर्घत्व जानें ॥ पूर्ववत् अनुदात्तत्व की प्राप्ति थी, उदात्त कह दिया ॥

चौ ॥६।१।२१६॥

चौ ७।१॥ *अनु०*—अन्तः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—अञ्चतेः नकाराकारलोपं कृत्वा 'चौ' इति निर्देशः ॥ चौ परतः पूर्वस्यान्त उदात्तो भवति ॥ *उदा०*—दधीचः पश्य, दधीचा, दधीचे । मधूचः, मधूचा, मधूचे ॥

भाषार्थः—अञ्चु धातु के अकार नकार का लोप करके जो 'चु' रूप रहता है, उसका यहाँ सप्तमी से निर्देश है ॥ [चौ] चु परे रहते पूर्व को अन्त उदात्त होता है ॥ दध्यञ्चन्तीति तान् दधीचः । यहाँ दधि उपपद रहते अञ्चु धातु से क्विन् (३।२।५९) हुआ है । *गतिकारकोपपदात्०* (६।२।१३२) से उत्तरपद प्रकृति स्वर होने पर अञ्चु का अ धातुस्वर से उदात्त है, *अनिदितां०* (६।४।२४) से नकार लोप हो गया, तथा क्विन् का सर्वापहारी लोप होकर अजादि असर्वनामस्थान शस्, टा आदि विभक्ति परे रहते अञ्चु के उदात्त अकार का *अचः* (६।४।१३८) से लोप हो गया । *अनुदात्तौ०* (३।१।४) से विभक्ति अनुदात्त थी, अतः अनुदात्त विभक्ति परे रहते उदात्त 'अ' का लोप होने से *अनुदात्तस्य०* (६।१।१५५) से उदात्त निवृत्ति स्वर अर्थात् विभक्ति को उदात्त प्राप्त था, तदपवाद यह सूत्र है । इसी प्रकार मधूचः आदि में समझें ॥ चु से पूर्व दधि एवं मधु है, सो उसके अन्त इकार उकार को उदात्त तथा चौ (६।३।१३६) से दीर्घ हो गया ॥

समासस्य ॥६।१।२१७॥

समासस्य ६।१॥ *अनु०*—अन्तः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—समासस्यान्त उदात्तो भवति ॥ *उदा०*—राजपुरुषः, ब्राह्मणकम्बलः, कन्यास्वनः, पटहशब्दः, नदीघोषः, राजदृषत्, ब्राह्मणसमित् ॥

भाषार्थः—[*समासस्य*] समास का अन्त उदात्त होता है ॥ समास के भिन्न भिन्न पदों को पृथक् २ स्वर प्राप्त होते हैं, इस सूत्र से समास का एक ही स्वर अन्तोदात्त विधान कर दिया, अन्यथा राजपुरुषः आदि में यथाप्राप्त 'राजन्' पद का अलग स्वर एवं 'पुरुष' का अलग स्वर होता, अब सब हटकर अन्तोदात्त ही होगा ॥ उदात्तादि स्वर अचों का ही धर्म है, अतः जो अच् अन्त में होगा उसे ही स्वर होगा, अन्त में हल् होने

पर उसे नहीं होगा, जैसा कि 'ब्राह्मणसमित्' आदि में है। यहाँ त् के अन्त में होने पर भी त् के हल् होने से मि के 'इ' को उदात्त होगा, त् को नहीं हो सकता ॥

विशेष:—आगे छठे अध्याय का सम्पूर्ण द्वितीय पाद इस 'समासस्य' सूत्र का ही अपवादरूप कहेंगे ॥

॥ इति प्रथमः पादः ॥

—:o:—

द्वितीयः पादः

[प्रकृतिस्वरप्रकरणम्]

बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥६।२।१॥

बहुव्रीहौ ७।१॥ प्रकृत्या ३।१॥ पूर्वपदम् १।१॥ *अर्थः*—बहुव्रीहौ समासे पूर्वपदस्य यः स्वरः स प्रकृत्या भवति, न विकारमनुदात्तत्वमापद्यत इत्यर्थः ॥ *उदा०*—कार्ष्णोत्तरासङ्गाः, यूपवलजः, ब्रह्मचारिपरिस्कन्दः, स्नातकपुत्रः, अध्यापकपुत्रः, श्रोत्रियपुत्रः, मनुष्यनाथः, सत्यश्चित्र-श्रवस्तमः ॥

भाषार्थः—[*बहुव्रीहौ*] बहुव्रीहि समास में [*पूर्वपदम्*] पूर्वपद को [*प्रकृत्या*] प्रकृति स्वर होता है ॥ 'समासस्य' से समास को अन्तोदात्त होकर शेष पद अनुदात्त (६।१।१५२) होने से पूर्वपद को अनुदात्तत्व ही होता, अब प्रकृतिस्वर विधान करने से, पूर्वपद का समास करने से पूर्व जो स्वर था वही हो जावेगा, अन्तोदात्तत्व (६।१।२१७) नहीं होगा ॥

यहाँ से '*प्रकृत्या*' की अनुवृत्ति ६।२।६३ तक तथा '*पूर्वपदम्*' की ६।२।१०९ तक जायेगी ॥

उदाहरणों में पूर्वपद के स्वरों की सिद्धि परिशिष्ट में देखें।

तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीया-कृत्याः ॥६।२।२॥

तत्पुरुषे ७।१॥ तुल्यार्थ०······कृत्याः १।३॥ *स०*—तुल्योऽर्थो यस्य तत् तुल्यार्थम्, बहुव्रीहिः। तुल्यार्थश्च तृतीया च सप्तमी च उपमानञ्च

अव्ययञ्च द्वितीया च कृत्याश्च तुल्या०·····कृत्याः, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—तत्पुरुषे समासे तुल्यार्थं, तृतीयान्तं, सप्तम्यन्तम्, उपमानवाचि, अव्ययं, द्वितीयान्तं, कृत्यान्तं च यत् पूर्वपदं तत् प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—तुल्यार्थ—तुल्यश्वेतः, तुल्यलोहितः, तुल्यमहान्, सदृक्श्वेतः, सदृक्लोहितः, सदृक्महान्, सदृशश्वेतः, सदृशलोहितः सदृशमहान्। तृतीया—शङ्कुलाखण्डः, किरिकाणः। सप्तमी—अक्षशौण्डः पानशौण्डः। उपमानवाची—शस्त्रीश्यामा, कुमुदश्येनी, हंसगद्गदा, न्यग्रोधपरिमण्डला, दूर्वाकाण्डश्यामा, शरकाण्डगौरी। अव्यय—अब्राह्मणः, अवृषलः, कुब्राह्मणः, कुवृषलः, निर्वाराणसिः, निष्कौशाम्बिः, अतिखट्वः, अतिमालः। द्वितीया—मुहूर्त्तसुखम्, मुहूर्त्तरमणीयम्, सर्वरात्रकल्याणी सर्वरात्रशोभना। कृत्य—भोज्योष्णम्, भोज्यलवणम्, पानीयशीतम्, हरणीयचूर्णम् ॥

भाषार्थः—[*तत्पुरुषे*] तत्पुरुष समास में [*तुल्यार्थ·····कृत्याः*] तुल्य अर्थ वाले, तृतीयान्त सप्तम्यन्त उपमानवाची अव्यय द्वितीयान्त तथा कृत् प्रत्ययान्त जो पूर्वपद में स्थित शब्द हैं, उन्हें प्रकृति स्वर होता है ॥ अव्यय से यहाँ नञ् कु और निपातों का ही ग्रहण होता है, अव्यय सामान्य का नहीं। पूर्वपद का स्वर परिशिष्ट में देखें।

यहाँ से '*तत्पुरुषे*' की अनुवृत्ति ६।२।२४ तक जायेगी ॥

वर्णो वर्णेष्वनेते ॥६।२।३॥

वर्णः १।१॥ वर्णेषु ७।३॥ अनेते ७।१॥ *स०*—न एतोऽनेतस्तस्मिन्,····नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—वर्णवाचिनि उत्तरपदे एतशब्दवर्जिते तत्पुरुषे समासे वर्णवाचि पूर्वपदं प्रकृत्या भवति ॥ *उदा०*—कृष्णसारङ्गः, लोहितसारङ्गः, कृष्णकल्माषः, लोहितकल्माषः ॥

भाषार्थः—[*वर्णेषु*] वर्णवाची शब्द के उत्तरपद में रहते [*वर्णः*] वर्णवाची पूर्वपद को तत्पुरुष समास में प्रकृतिस्वर हो जाता है, [*अनेते*] एत शब्द यदि उत्तरपद में न हो तो ॥ एत शब्द भी वर्णवाची है, अतः उसका निषेध कर दिया ॥ कृषेर्वर्णे (*उणा० ३।४*) इस उणादि सूत्र से कृष्ण शब्द नक् प्रत्ययान्त है, अतः प्रत्यय स्वर से उदाहरणों में पूर्वपद स्थित कृष्ण शब्द अन्तोदात्त रहा। रुहे रश्च लो वा (*उणा० ३।९४*)

से लोहित शब्द तन् प्रत्ययान्त है, अतः *ञ्नित्या०* (६।१।१९१) से आद्युदात्त है। उदाहरणों में *वर्णो वर्णेन* (२।१।६८) से समास हुआ है ॥

गाधलवणयोः प्रमाणे ॥६।२।४॥

गाधलवणयोः ७।२॥ प्रमाणे ७।१॥ *स०*—गाधश्च लवणञ्च गाधलवणे तयोः······इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—प्रमाणवाचिनि तत्पुरुषे समासे गाध लवण इत्येतयोः उत्तरपदयोः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—शम्बंगाधमुदकम्, अरित्रंगाधमुदकम्, गोलंवणम्, अश्वंलवणम् ॥

भाषार्थः—[*प्रमाणे*] प्रमाणवाची तत्पुरुष समास में [*गाधलवणयोः*] गाध लवण इन शब्दों के उत्तरपद रहते पूर्वपद को प्रकृति स्वर होता है ॥ *शमेर्बन्* (*उणा०* ४।९४) से शम्ब शब्द बन् प्रत्ययान्त है, अतः नित् स्वर से आद्युदात्त है। अरित्र शब्द *अर्तिलूधू०* (३।२।१८४) से इत्र प्रत्ययान्त है, अतः प्रत्ययस्वर से मध्योदात्त है। गो शब्द *गमेर्डोः* (*उणा०* २।६७) से डो प्रत्ययान्त प्रत्ययस्वर से उदात्त है। अश्व शब्द *अशुप्रुषिलटि०* (*उणा०* १।१५१) से क्वन् प्रत्ययान्त होने से (६।१।१९१) आद्युदात्त है। पूर्वपद के सारे स्वर दर्शा दिये हैं, प्रकृति स्वर होने से यही स्वर होंगे ॥ *उदा०*—शम्बंगाधमुदकम्, अरित्रंगाधमुदकम् (नौका के डाँडे भर गहरा जल), गोलंवणम् (जितना नमक गाय को दिया जाता है उतना नमक)। अश्वंलवणम् (जितना नमक घोड़े को दिया जाता है उतना नमक) सर्वत्र उदाहरणों में प्रमाण की प्रतीति हो रही है, षष्ठी समासवाले ये शब्द हैं ॥

दायाद्यं दायादे ॥६।२।५॥

दायाद्यम् १।१॥ दायादे ७।१॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ दातव्यो दायः, भागो अंश इत्यर्थः। दायमादत्ते इति दायादः, मूलविभुजादित्वात् (वा० ३।२।५) कप्रत्ययः। दायादस्य भावो दायाद्यम् ॥ *अर्थः*—दायाद शब्द उत्तरपदे तत्पुरुषे समासे दायाद्यवाचि पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—विद्यादायादः, धनंदायादः ॥

भाषार्थः—[*दायादे*] दायाद शब्द उत्तरपद रहते तत्पुरुष समास में

[*दायाद्यम्*] दायाद्य वाची पूर्वपद को प्रकृति स्वर होता है ॥ *संज्ञायां समजनिषद०* (३।३।९९) से विद्या शब्द क्यप् प्रत्ययान्त है। उस सूत्र में उदात्त की अनुवृत्ति आने से क्यप् उदात्त है, अतः विद्या शब्द अन्तोदात्त रहा। *कृपृवृजिमन्दिनिधाञ्भ्यः क्युः* (*उणा०* २।८१) इससे उणादि कार्य बहुल से होने से केवल धाञ् धातु से भी क्यु प्रत्यय होकर धन शब्द बनता है, अतः प्रत्ययस्वर से धन शब्द आद्युदात्त है। क्यु परे रहते 'धा' के आ का *आतो लोप इटि च* (६।४।६४) से लोप तथा यु को अन (७।१।१) हो ही जायेगा ॥ पूर्वजों से प्राप्त करने योग्य वस्तु दायाद्य कहाती है। *उदा०*—विद्यादायादः (विद्या रूपी भाग का लेने वाला), धनदायादः (धन रूपी भाग का लेने वाला) ॥

प्रतिबन्धि चिरकृच्छ्रयोः ॥६।२।६॥

प्रतिबन्धि १।१॥ चिरकृच्छ्रयोः ७।२॥ *स०*—चिर० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—चिरकृच्छ्रयोरुत्तरपदयोः प्रतिबन्धिवाचि पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति, तत्पुरुषे समासे ॥ *उदा०*—गमनचिरम्, गमनकृच्छ्रम्। व्याहरणचिरम्, व्याहरणकृच्छ्रम् ॥

भाषार्थः—[*चिरकृच्छ्रयोः*] चिर तथा कृच्छ्र शब्द उत्तरपद परे रहते तत्पुरुष समास में [*प्रतिबन्धि*] प्रतिबन्धिवाची पूर्वपद को प्रकृति स्वर होता है ॥ जो कार्य की सिद्धि को बाँध देता है अर्थात् रोकता है उसे प्रतिबन्धी कहते हैं। प्रतिपूर्वक बन्ध से *आवश्यकाध०* (३।३।१७०) से आवश्यक अर्थ में णिनि हुआ है। गमनचिरम् आदि उदाहरणों में चिरकाल एवं कष्ट से गमन तथा व्याहरण (बोलना) होने से कार्यसिद्धि नहीं हो रही है, शीघ्र गमन तथा व्याहरण से हो सकती थी, अतः चिरकालभावी गमन और व्याहरण कार्यप्रतिबन्धी हैं। इस प्रकार प्रतिबन्धिवाची पूर्वपद है ही ॥ गमनञ्च यच्चिरं च यहाँ सर्वत्र कर्मधारय समास है ॥ गमन व्याहरण शब्द ल्युडन्त हैं, अतः *लिति* (६।१।१८७) से प्रत्यय से पूर्व को उदात्त हुआ है ॥

पदेऽपदेशे ॥६।२।७॥

पदे ७।१॥ अपदेशे ७।१॥ *स०*—अपदेश इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—अपदेशवाचिनि तत्पुरुषे

समासे पदशब्द उत्तरपदे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—मूत्रपदेन प्रस्थितः, उच्चारपदेन प्रस्थितः ॥

भाषार्थः—[*अपदेशे*] अपदेशवाची तत्पुरुष समास में [*पदे*] पद शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ॥ अपदेश व्याज बहाने को कहते हैं ॥ मूत्र शब्द *सिविमुच्योष्टेरू च* (उणा० ४।१६३) से ष्ट्रन प्रत्ययान्त है अतः नित् (६।१।१९१) स्वर से आद्युदात्त है। उच्चार शब्द घञन्त है, अतः *थाथघञ्क्ता०* (६।२।१४३) से अन्तोदात्त है ॥ उदा०—मूत्रपदेन प्रस्थितः (लघुशंका करने के बहाने चला गया)। उच्चारपदेन प्रस्थितः (शौच करने के बहाने चला गया) ॥

निवाते वातत्राणे ॥६।२।८॥

निवाते ७।१॥ वातत्राणे ७।१॥ स०—वातस्य त्राणं वातत्राणं तस्मिन् ... षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—वातत्राणवाचिनि तत्पुरुषे समासे निवातशब्द उत्तरपदे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—कुट्येव निवातं कुटीनिवातं, शमीनिवातं, कुड्यनिवातम् ॥

भाषार्थः—[*वातत्राणे*] वातत्राणवाची तत्पुरुष समास में [*निवाते*] निवात शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को प्रकृति स्वर होता है ॥ कुटी शमी शब्द गौरादिगण पठित होने से ङीषन्त (४।१।४१) हैं, अतः प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त हुये। कुड्य शब्द *कवतेर्ड्यक्* से ड्यक् प्रत्ययान्त अन्तोदात्त है अथवा *कवतेर्यत् डकिच्च*[1] (उणा० ८।२०) से यत् प्रत्ययान्त होने से *यतोऽनावः* (६।१।२०७) से आद्युदात्त भी कोई कोई मानते हैं। *उदा०*—कुटीनिवातम् (कुटी की आड़)। शमीनिवातम् (शमी की आड़) कुड्यनिवातम् (दीवार की आड़)। सर्वत्र दीवार या कुटी की आड़ होने से वातत्राण अर्थात् हवा से बचाव होता है, अतः कुड्य आदि से होने

---

१. दशपादी उणादिवृत्ति में 'कवतेर्यत् डुक् च' पाठ है उसी की सङ्ख्या यहाँ दी गई है। काशिका में उपर्युक्त दोनों कवतेर्यत् डकिच्च एवं कवतेर्ड्यक् पा... इत्येके, अपरे करके कहे हैं। न्यास में यहाँ पर 'ड्यक् प्रत्ययान्तोऽन्तोदात्त इत्यप... इति। ते कवतेर्ड्यगिति सूत्रमधीयते' कहा है ॥

वाले निवात अर्थ में लक्षणा से वर्तमान कुड्य आदि शब्दों का निवात शब्द के साथ समानाधिकरण तत्पुरुष समास होता है ॥

शारदेऽनार्तवे ॥६।२।९॥

शारदे ७।१॥ अनार्तवे ७।१॥ *स०*—अनार्तव इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ ऋतौ भवम्, आर्तवम् ॥ *अर्थः*—अनार्तववाचिनि शारदशब्द उत्तरपदे तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—रज्जुंशारदमुदकम्, दृषत्शारदाः सक्तवः ॥ शारदशब्दः प्रत्यग्रवाची ॥

भाषार्थः—[*अनार्तवे*] अनार्तववाची [*शारदे*] शारद शब्द उत्तरपद रहते तत्पुरुष समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है ॥ ऋतु में जो होने वाला उसे आर्तव कहते हैं, यहाँ आर्तववाची शारद शब्द परे रहते निषेध कर दिया है। उदाहरणों में प्रत्यग्र = नवीनवाची शारद शब्द है। रज्जु शब्द में *सृजेरसुम् च* (*उणा०* १।१५) से सृज् धातु को असुम् आगम तथा सृज् के आदि सकार का लोप, एवं उ प्रत्यय होता है। असुम् आगम अन्त्य अच् से परे होकर 'सृ असुम् ज् उ = ऋ अस् ज् उ रहा। यणादेश एवं *झलां जश् झशि* (८।४।५२) से स् को जश्त्व दकार होकर तथा *स्तोः श्चुना श्चुः* से श्चुत्व होकर रज्जु बन गया। *सृजेरसुम् च* सूत्र में नित् की अनुवृत्ति आने से रज्जु शब्द *ञ्नित्या०* (६।१।१९१) से आद्युदात्त हो गया। दृषद् शब्द *दृणातेः षुक्०* (*उणा०* १।१३१) से अदिक् प्रत्ययान्त होने से अन्तोदात्त है। द् को त् *खरि च* (८।४।५४) से होगा ॥ उदा०—रज्जुंशारदमुदकम् (रस्सी से खींचकर तत्काल निकाला गया जल), दृषत्शारदाः सक्तवः (शिला पर या चक्की में पीसकर तत्क्षण बनाया हुआ सत्तू) ॥

अध्वर्युकषाययोर्जातौ ॥६।२।१०॥

अध्वर्युकषाययोः ७।२॥ जातौ ७।१॥ *स०*—अध्व० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—अध्वर्यु कषाय इत्येतयोरुत्तरपदयोः जातिवाचिनि तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं

भवति ॥ उदा०—प्राच्याध्वर्युः, कठाध्वर्युः, कालापाध्वर्युः, सर्पिर्मण्ड
षायम्, उमापुष्पकषायम्, दौवारिककषायम् ॥

भाषार्थः—[*अध्वर्युकषाययोः*] अध्वर्यु तथा कषाय शब्द उत्तरपद र
[*जातौ*] जातिवाची तत्पुरुष समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो ज
है ॥ प्राच्य शब्द *द्युप्रागपागु०* (४।२।१००) से यत् प्रत्ययान्त होने
यतोऽनावः (६।१।२०७) से आद्युदात्त है। कठ शब्द पचाद्यच् प्रत्यय
होने से प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। पश्चात् णिनि प्रत्यय एवं
होता है, पूरी सिद्धि भाग २ पृ० ५४७ में देखें। कालाप शब्द भी
प्रत्ययान्त प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। पूरी सिद्धि भाग २
४।३।१०८ पर देखें। ये तीनों समानाधिकरण समास हैं। सर्पिर्म
उमापुष्प शब्द षष्ठीसमास हैं, अतः *समासस्य* (६।१।२१७)
अन्तोदात्त हुआ है, पुनः इनका कषाय के साथ समास हुआ
प्रकृतिस्वर होने पर क्रमशः अन्तिम अक्षर 'ड' 'प' ही पूर्ववत् उ
रहे। दौवारिक शब्द भी *तत्र नियुक्तः* (४।४।६९) से ठक् प्रत्ययान्त
से *कितः* (६।१।१५९) से अन्तोदात्त है ॥

सदृशप्रतिरूपयोः सादृश्ये ॥६।२।११॥

सदृशप्रतिरूपयोः ७।२॥ सादृश्ये ७।१॥ *स०*—सदृश० इत्यत्रेतरे
द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—सदृश प्रति
इत्येतयोरुत्तरपदयोः सादृश्यवाचिनि तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृति
भवति ॥ *उदा०*—मातृसदृशः, पितृसदृशः। पितृप्रतिरूपः, मातृप्रतिरूप

भाषार्थः—[*सदृशप्रतिरूपयोः*] सदृश प्रतिरूप ये शब्द उत्तरप
हों तो [*सादृश्ये*] सादृश्यवाची तत्पुरुष समास में पूर्वपद प्रकृति
होता है ॥ पितृ मातृ शब्द *नप्तृनेष्टृत्वष्टृ०* (*उणा०* २।९५) इस उण
सूत्र से अन्तोदात्त निपातित हैं। *पूर्वसदृश०* (२।१।३०) से मातृस
पितृसदृशः में समास हुआ है। *तुल्यार्थैरतु०* (२।३।७२) से समा
षष्ठी तथा तृतीया विभक्ति होंगी जिनका लुक् (२।४।७१) होगा ॥

द्विगौ प्रमाणे ॥६।२।१२॥

द्विगौ ७।१॥ प्रमाणे ७।१॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपद
अर्थः—प्रमाणवाचिनि तत्पुरुषे समासे द्विगावुत्तरपदे पूर्वपदं प्रकृति

भवति ॥ उदा०—सप्तसमाः प्रमाणमस्येति विग्रहे मात्रच् (५।२।३७) प्रत्ययः, तस्य *प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम्* (*वा०*५।२।३७) इत्यनेन लुक्, ततः प्राच्यश्चासौ सप्तसमश्च इति = प्राच्यसप्तसमः कर्मधारयः । गान्धारिसप्तसमः ॥

भाषार्थः—[*प्रमाणे*] प्रमाणवाची तत्पुरुष समास में [*द्विगौ*] द्विगु उत्तरपद रहते पूर्वपद प्रकृतिस्वर होता है ॥ सप्तसम *संख्यापूर्वो द्विगुः* (२।१।५१) से द्विगु संज्ञक है, अतः द्विगु उत्तरपद में है । प्राच्य शब्द *अध्वर्युकषाय०* (६।२।१०) में कहे अनुसार आद्युदात्त है । गान्धारि शब्द *कर्दमादीनां च* (*फिट्०* ५६) से आद्युदात्त तथा पक्ष में मध्योदात्त भी है ॥

गन्तव्यपण्यं वाणिजे ॥६।२।१३॥

गन्तव्यपण्यम् १।१॥ वाणिजे ७।१॥ *स०*—गन्तव्य० इत्यत्र समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—वाणिजशब्द उत्तरपदे तत्पुरुषे समासे गन्तव्यवाचि पण्यवाचि च पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—मद्रवाणिजः, काश्मीरवाणिजः, गान्धारिवाणिजः । पण्य-गोवाणिजः, अश्ववाणिजः ॥

भाषार्थः—[*वाणिजे*] वाणिजशब्द उत्तरपद रहते तत्पुरुष समास में [*गन्तव्यपण्यम्*] गन्तव्यवाची (जाने योग्य स्थान) तथा पण्यवाची (क्रयविक्रय योग्य वस्तु) जो पूर्वपद स्थित शब्द उन्हें प्रकृतिस्वर हो जाता है ॥ मद्र शब्द *स्फायितञ्चि०* (*उणा०* २।१३) से रक् प्रत्ययान्त होने से प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त है । गान्धारि शब्द का स्वर पूर्व कह आये हैं । काश्मीर शब्द *पृषोदरादीनि०* (६।३।१०७) से मध्योदात्त है । गो और अश्व शब्द की सिद्धि सूत्र ६।२।४ में देखें । *उदा०*—मद्रवाणिजः (मद्र जनपद का व्यापारी) । पण्य-गोवाणिजः (गाय का व्यापारी) वणिक् के लिए मद्र देश गन्तव्य है एवं गौ भी पण्य = क्रयविक्रय योग्य है, अतः गन्तव्य एवं पण्यवाची पूर्वपद शब्द हुए ॥

मात्रोपज्ञोपक्रमच्छाये नपुंसके ॥६।२।१४॥

मात्रो''छाये ७।१॥ नपुंसके ७।१॥ *स०*—मात्रो० इत्यत्र समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—मात्रा, उपज्ञा,

उपक्रम, छाया इत्येतेषूत्तरपदेषु नपुंसकवाचिनि तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ।। उदा—भिक्षामात्रम् न ददाति याचितः, समुद्रमात्रं न सरोऽस्ति किंचन । उपज्ञा-पाणिनोपज्ञमकालकं[1] व्याकरणम्, व्याड्युपज्ञं दुष्करणम्, आपिशल्युपज्ञं गुरुलाघवम् । उपक्रम—आढ्योपक्रमं प्रासादः, दर्शनीयोपक्रमम्, सुकुमारोपक्रमम्, नन्दोपक्रमाणि मानानि[2] । छाया—इषुच्छायम्, धनुश्छायम् ।।

भाषार्थः—[*नपुंसके*] नपुंसकवाची तत्पुरुष समास में [*मात्रो···छाये*] मात्रा, उपज्ञा उपक्रम तथा छाया शब्द उत्तरपद हों तो पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ।।

आढ्य आदि शब्दों का स्वर परिशिष्ट में देखें ।।

सुखप्रिययोर्हिते ।।६।२।१५।।

सुखप्रिययोः ७।२।। हिते ७।१।। *स०*—सुख० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ।। *अर्थः*—हितवाचिनि तत्पुरुषे समासे सुख प्रिय इत्येतयोरुत्तरपदयोः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ।। *उदा०*—गमनसुखम्, वचनसुखम्, व्याहरणसुखम् । प्रिय—गमनप्रियम्, वचनप्रियम्, व्याहरणप्रियम् ।।

भाषार्थः—[*हिते*] हितवाची तत्पुरुष समास में [*सुखप्रिययोः*] सुख तथा प्रिय शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है ।। उदाहरणों में कर्मधारय तत्पुरुष समास है । गमन वचन आदि शब्द ल्युडन्त हैं, अतः *लिति* (६।१।१८७) से प्रत्यय से पूर्व को उदात्तत्व इन शब्दों में है । गमनसुखम् आदि परिणाम में हितकारी हैं, अतः हितवाची तत्पुरुष समास कहाया ।।

यहाँ से '*सुखप्रिययोः*' की अनुवृत्ति ६।२।१६ तक जायेगी ।।

---

१. पाणिन शब्द भी पाणिनि का पर्याय है यथा दाशरथ और दाशरथि, काशकृत्स्न और काशकृत्स्नि ।।

२. इस उदाहरण का यह भाव नहीं कि नन्द से पूर्व मान=तौल का व्यवहार होता ही नहीं था, अपितु इसका अभिप्राय नन्द द्वारा प्रारब्ध किसी विशिष्ट मान=तौल से है । आयुर्वेद के ग्रन्थों में कलिङ्गमान और मागधमान प्रसिद्ध हैं । इनमें मागधमान नन्दोपक्रम है ।।

प्रीतौ च ॥६।२।१६॥

प्रीतौ ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—सुखप्रिययोः, तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—प्रीतौ गम्यमानायां सुख प्रिय इत्येतयोरुत्तरपदयोस्तत्पुरुषे समासे प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—ब्राह्मणसुखं पायसम्, छात्रप्रियोऽनध्यायः, कन्याप्रियो मृदङ्गः ॥

भाषार्थः—[*प्रीतौ*] प्रीति गम्यमान हो रही हो तो सुख तथा प्रिय उत्तरपद रहते [च] भी तत्पुरुष समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है ॥ ब्रह्मणोऽपत्यं ऐसा विग्रह करके ब्रह्मन् शब्द से अण् प्रत्यय (४।१।८२) हुआ है । इसी प्रकार छात्र शब्द भी *छत्रादिभ्यो णः* (४।४।६२) से ण प्रत्ययान्त है, अतः ये दोनों शब्द प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त हैं । कन्या शब्द *तिल्यशिक्य०* (फिट्० ७६) से स्वरितान्त है ॥ *उदा०*—ब्राह्मणसुखं पायसम् (ब्राह्मणों को खीर प्रिय होती है) । छात्रप्रियोऽनध्यायः (छात्र को अवकाश प्रिय होता है) । कन्याप्रियो मृदङ्गः (कन्या को मृदङ्ग बजाना प्रिय है) ॥

स्वं स्वामिनि ॥६।२।१७॥

स्वम् १।१॥ स्वामिनि ७।१॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—स्वामिन्शब्द उत्तरपदे तत्पुरुषे समासे स्ववाचि पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—गोस्वामी, अश्वस्वामी, धनस्वामी ॥

भाषार्थः—[*स्वामिनि*] स्वामिन् शब्द उत्तरपद रहते तत्पुरुष समास में [स्वम्] स्ववाचि पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है ॥ गो अश्व शब्द की सिद्धि सूत्र ६।२।४ तथा धन की ६।२।५ में देखें । जिसके कारण स्वामित्व बना हो वह स्व है । गोस्वामी (गायों का स्वामी) आदि उदाहरणों में गौ इत्यादि स्व हैं ॥

पत्यावैश्वर्ये ॥६।२।१८॥

पत्यौ ७।१॥ ऐश्वर्ये ७।१॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—ऐश्वर्यवाचिनि तत्पुरुषे समासे पतिशब्द उत्तरपदे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—सेनापतिः, नरपतिः, धान्यपतिः । दमूना गृहपतिर्दमे (ऋ० १।६०।४) ॥

भाषार्थः—[*ऐश्वर्ये*] ऐश्वर्यवाची तत्पुरुष समास में [*पत्यौ*] पति शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है ॥ सेनापति (सेना का पति = स्वामी) यहाँ सेना शब्द 'सह इनेन वर्त्तते' ऐसा विग्र करके बहुव्रीहि समासवाला है, अतः *बहुव्रीहौ प्रकृत्या०* (६।२।१) से पूर्वपद प्रकृति स्वर होने से *निपाता आद्युदात्ताः* (फिट् ८०) से आद्यु दात्त है । नरपतिः यहाँ नर शब्द में नॄ धातु से *ऋदोरप्* (३।३।५७) से अ प्रत्यय हुआ है, अप् को पित् स्वर से अनुदात्त (३।१।४) तथा धातु नॄ के उदात्त होने से यह आद्युदात्त शब्द है ॥ धान्य शब्द ण्यत् प्रत्ययान्त हो से *तित् स्वरितम्* (६।१।१७९) से स्वरितान्त है । गृहपतिः में गृह शब *गेहे कः* (३।१।१४४) से क प्रत्ययान्त है, अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदा है । सर्वत्र षष्ठी तत्पुरुष समास है ॥

यहाँ से '*पत्यावैश्वर्ये*' की अनुवृत्ति ६।२।२० तक जायेगी ॥

न भूवाक्चिद्दिधिषु ॥६।२।१९॥

न अ० ॥ भूवाक्चिद्दिधिषु १।१॥ *स०*—भूश्च वाक् च चित् च दिधिषू च भूवा॰॰॰षु, समाहारो द्वन्द्वः । *ह्रस्वो नपुंसके०* (१।२।४७) इत्य नेन ह्रस्वः ॥ *अनु०*—पत्यावैश्वर्ये, तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*— ऐश्वर्यवाचिनि तत्पुरुषे समासे पतिशब्द उत्तरपदे भू, वाक्, चित् दिधिषू इत्येतानि पूर्वपदानि प्रकृतिस्वराणि न भवन्ति । पूर्वेण प्राप्त प्रतिषिध्यते ॥ *उदा०*—भूपतिः, वाक्पतिः, चित्पतिः, दिधिषूपतिः

भाषार्थः—ऐश्वर्यवाची तत्पुरुष समास में पति शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद [*भूवाक्चिद्दिधिषु*] भू, वाक्, चित् तथा दिधिषू शब्दों को प्रकृतिस्वर [न] नहीं होता ॥ पूर्वसूत्र से प्रकृतिस्वर प्राप्त होने पर य निषेध है । पूर्व सूत्र भी *समासस्य* (६।१।२१७) का अपवाद है, अत प्रकृतिस्वर का निषेध होने पर सर्वत्र उदाहरणों में समासस्य से अन्तो दात्त ही हुआ । सर्वत्र षष्ठीतत्पुरुष समास है ॥ *उदा०*—भूपतिः (पृथ्वी का स्वामी, राजा) । वाक्पतिः (वाणी का स्वामी) । चित्पतिः (ज्ञान का स्वामी) । दिधिषूपतिः (पुनर्विवाहिता स्त्री का पति) ॥

वा भुवनम् ॥६।२।२०॥

वा अ० ॥ भुवनम् १।१॥ *अनु०*—पत्यावैश्वर्ये, तत्पुरुषे, प्रकृत्य

पूर्वपदम् ॥ अर्थः—ऐश्वर्यवाचिनि तत्पुरुषे समासे पतिशब्द उत्तरपदे भुवनशब्दः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—भुवनपतिः, भुवनपतिः ॥

भाषार्थः—ऐश्वर्यवाची तत्पुरुष समास में पति शब्द उत्तरपद रहते [*भुवनम्*] भुवन शब्द पूर्वपद को [*वा*] विकल्प से प्रकृतिस्वर हो जाता है ॥ भुवन शब्द *भूसूधूभ्रस्जि०* (*उणा०* २।८०) इस उणादि से क्युन् प्रत्ययान्त है। यहाँ पूर्वसूत्र से क्युन् की अनुवृत्ति है, अतः नित्स्वर से भुवन शब्द आद्युदात्त है। जब पक्ष में प्रकृति स्वर नहीं होगा तो *समासस्य* (६।१।२१७) से अन्तोदात्त होगा ॥ *उदा०*—भुवनपतिः (लोकों का स्वामी) ॥

आशङ्काबाधनेदीयस्सु संभावने ॥६।२।२१॥

आशङ्काबाधनेदीयस्सु ७।३॥ संभावने ७।१॥ स०—आशङ्का० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—आशङ्क, अबाध, नेदीयस् इत्येतेषूत्तरपदेषु संभावनवाचिनि तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—आशङ्क—गमनाशङ्कं वर्त्तते, वचनाशङ्कम्, व्याहरणशङ्कम्। अबाध—गमनाबाधम्, वचनाबाधम्, व्याहरणाबाधम्। नेदीयस्—गमननेदीयः, वचननेदीयः, व्याहरणनेदीयः ॥

भाषार्थः—[*आशङ्काबाधनेदीयस्सु*] आशङ्क, आबाध, नेदीयस् इन शब्दों के उत्तरपद रहते [*संभावने*] संभावनवाची तत्पुरुष समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है ॥ आङ् पूर्वक शङ्क धातु से घञन्त होकर आशङ्क शब्द बनता है अथवा *गुरोश्च हलः* (३।३।१०३) से शकि धातु से अकार प्रत्यय होकर जानें ॥ गमन वचन शब्द ल्युडन्त हैं अतः लित्स्वर होगा ॥ *उदा०*—आशङ्क-गमनाशङ्कं वर्तते (जाने में आशङ्का है)। वचनाशङ्कम् (बोलने में आशंका है)। गमनाबाधम् (जाने में रुकावट की संभावना है)। गमननेदीयः (जाना अति निकट है, ऐसी संभावना है)॥

पूर्वे भूतपूर्वे ॥६।२।२२॥

पूर्वे ७।१॥ भूतपूर्वे ७।१॥ *स०*—भूतः पूर्वम् भूतपूर्वस्तस्मिन्... सुप्सुपेति समासः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—पूर्वशब्द उत्तरपदे भूतपूर्ववाचिनि तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—आढ्यो भूतपूर्वः आढ्यपूर्वः, दर्शनीयपूर्वः, सुकुमारपूर्वः ॥

भाषार्थः—[*पूर्वे*] पूर्व शब्द उत्तरपद रहते [*भूतपूर्वे*] भूतपूर्ववाची

तत्पुरुष समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है ॥ आढ्य, दर्शनी सुकुमार की सिद्धि परि० ६।२।१४ में देखें । *विशेषणं विशेष्येण* (२।१।५६) से समास हुआ है ॥

सविधसनीडसमर्यादसवेशसदेशेषु सामीप्ये ॥६।२।२३॥

सविध०···शेषु ७।३॥ सामीप्ये ७।१॥ *स०*—सविध० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—सविध, सनीड समर्याद, सवेश, सदेश इत्येतेषूत्तरपदेषु सामीप्यवाचिनि तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—सविध-मद्रसंविधम् गान्धारिसविधम्, काश्मीरसविधम् । सनीड-मद्रसनीडम्, गान्धारि सनीडम् काश्मीरसनीडम् । समर्याद-मद्रसमर्यादम्, गान्धारि समर्यादम्, काश्मीरसमर्यादम् । सवेश-मद्रसवेशम् गान्धारिसवेशम् काश्मीरसवेशम् । सदेश-मद्रसदेशम्, गान्धारिसदेशम्, काश्मीरसदेशम् ।

भाषार्थः—[*सविध···शेषु*] सविध, सनीड, समर्याद, सवेश, सदेश इन शब्दों के उत्तरपद रहते [*सामीप्ये*] सामीप्यवाची तत्पुरुष समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ॥ मद्र, गान्धारि, काश्मीर शब्दों का स्वर ६।२।१३ सूत्र पर देखें ॥ *उदा०*—मद्रसंविधम् (मद्र जनपद के समीप)। गान्धारिसनीडम् (कन्दहार जनपद के समीप)। काश्मीर-समर्यादम् (काश्मीर की सीमा से मिला हुआ)। मद्रसवेशम् (मद्र के समान वेश वाला, समान वेश समीपवर्ती देशों में ही होता है)। मद्र-संदेशम् (मद्र से सटा हुआ)। सर्वत्र उदाहरणों में षष्ठी समास है और सामीप्य अर्थ जाना जाता है ॥

विस्पष्टादीनि गुणवचनेषु ॥६।२।२४॥

विस्पष्टादीनि १।३॥ गुणवचनेषु ७।३॥ *स०*—विस्पष्ट आदिर्येषां तानि विस्पष्टादीनि···बहुव्रीहिः ॥ गुणमुक्तवान् गुणवचनस्तेषु···उपपदतत्पुरुष-समासः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—गुणवचनेषूत्तर-पदेषु तत्पुरुषे समासे विस्पष्टादीनि पूर्वपदानि प्रकृतिस्वराणि भवन्ति ॥ *उदा०*—विस्पष्टं कटुकमिति विस्पष्टकटुकम्, विचित्रकटुकम्, व्यक्तक-टुकम् । विस्पष्टलवणम्, विचित्रलवणम्, व्यक्तलवणम् ॥

भाषार्थः—[*गुणवचनेषु*] गुण को कहने वाले शब्दों के उत्तरपद रहते [*विस्पष्टादीनि*] विस्पष्टादि पूर्वपद स्थित शब्दों को तत्पुरुष समास में

प्रकृति स्वर होता है ॥ उदाहरणों में योगविभाग करके सुप् सुपा से समास हुआ है। या विस्पष्ट शब्द *गतिरनन्तरः* (६।२।४९) से आद्युदात्त है। विचित्र शब्द में *तत्पुरुषे तुल्यार्थ०* (६।२।२) से पूर्वपद प्रकृतिस्वर होता है, अतः *निपाता आद्युदात्ताः* (*फिट्० ८०*) से 'वि' उदात्त है। व्यक्त शब्द विपूर्वक अञ्जू धातु से निष्ठा में बना है, अतः *गतिरनन्तरः* (६।२।४६) से आद्युदात्त है। 'वि अक्त' यहाँ वि उदात्त तथा 'अ' अनुदात्त है। इस प्रकार यणादेश करने पर *उदात्तस्वरितयो०* (८।२।४) से 'व्य' का अ स्वरित हो गया शेष अनुदात्त रहा। कटुक शब्द तीखे चरपरे अर्थ का वाचक है ॥

श्रज्यावमकन्पापवत्सु भावे कर्मधारये ॥६।२।२५॥

श्रज्या०···त्सु ७।३॥ भावे ७।१॥ कर्मधारये ७।१॥ *स०*—श्रश्च ज्यश्च अवमश्च कन् च पापवांश्च, श्रज्या···वन्तस्तेषु···इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—श्र, ज्य, अवम, कन् इत्येतेषु पापशब्दवति चोत्तरपदे कर्मधारये समासे भाववाचि पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—श्र-गमनश्रेष्ठम्, गमनश्रेयः। ज्य-वचनज्येष्ठम्, वचनज्यायः। अवम-गमनावमम्, वचनावमम् कन्-गमनकनिष्ठम्, गमनकनीयः। पापवत्—गमनपापिष्ठम्, गमनपापीयः ॥

भाषार्थ :—[*श्रज्या···त्सु*] श्र, ज्य, अवम, कन् तथा पापवान् शब्द के उत्तरपद रहते [*कर्मधारये*] कर्मधारय समास में [*भावे*] भाववाची पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ॥ गमनादि शब्द ल्युडन्त हैं, अतः *लिति* (६।१।१८७) से प्रत्यय से पूर्व को सर्वत्र उदात्त हुआ ॥ प्रशस्य को श्र आदेश *प्रशस्यस्य श्रः* (५।३।६०) से तथा *ज्य च* (५।३।६१) से ज्य आदेश भी होता है। *युवाल्पयोः०* (५।३।६४) से कन् आदेश होता है। पापीयः पापिष्ठः में पापवत् से *विन्मतोर्लुक्* (५।३।६५) से मतुप् का लुक् होता है। उसी का यहाँ ग्रहण है ॥

यहाँ से 'कर्मधारये' की अनुवृत्ति ६।२।२८ तक जायेगी ॥

कुमारश्च ॥६।२।२६॥

कुमारः १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—कर्मधारये, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥

अर्थः—कुमारशब्दः पूर्वपदं कर्मधारये समासे प्रकृतिस्वरं भवति ॥
उदा०—कुमारश्रमणा[1], कुमारकुलटा, कुमारतापसी ॥

भाषार्थः—पूर्वपद स्थित [*कुमारः*] कुमार शब्द को [च] भी कर्मधारय समास में प्रकृतिस्वर होता है ॥ कुमार शब्द में कुमार क्रीडायाम् धातु से पचाद्यच् हुआ है, अतः प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त है ॥

यहाँ से '*कुमारः*' की अनुवृत्ति ६।२।२८ तक जायेगी ॥

आदिः प्रत्येनसि ॥६।२।२७॥

आदिः १।१॥ प्रत्येनसि ७।१॥ *स०*—प्रतिगतमेनः यस्य स प्रत्येनाः, तस्मिन् ..... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—कुमारः, कर्मधारये, प्रकृत्या पूर्वपदम् । *अर्थः*—प्रत्येनसि उत्तरपदे कर्मधारये समासे कुमारशब्दस्यादिरुदात्तो भवति ॥ *उदा०*—कुमारप्रत्येनाः ॥

भाषार्थः—[*प्रत्येनसि*] प्रत्येनस् शब्द उत्तरपद रहते कर्मधारय समास में कुमार शब्द को [*आदिः*] आदि उदात्त होता है ॥ यहाँ सामर्थ्य से "उदात्त" का ग्रहण समझना चाहिये । वस्तुतः सूत्र का आशय इस प्रकार है—'कुमार शब्द को पूर्व सूत्र से प्रकृति स्वर होकर जो स्वर प्राप्त था, वही स्वर इस सूत्र में आदि को विधान किया जाता है । इस प्रकार अन्त के उदात्तत्व का आदि में विधान किया है । *उदा०*—कुमारप्रत्येनाः (पाप रहित कुमार) ॥

यहाँ से '*आदिः*' की अनुवृत्ति ६।२।२८ तक जायेगी ॥

---

१. यहाँ *कुमारः श्रमणादिभिः* (२।१।६९) से कर्मधारय समास होता है पाश्चात्य विद्वान् इस सूत्र में श्रमण शब्द का प्रयोग देखकर कहते हैं कि पाणिनि बुद्ध के पीछे का है क्योंकि श्रमण शब्द बौद्ध संन्यासी के लिए प्रयुक्त होता है वस्तुतः यह कथन अयुक्त है । पाश्चात्यों के मतानुसार भी बुद्ध के जन्म से पूर्व प्रोक्त शतपथ ब्राह्मण में संन्यासी के लिए श्रमण शब्द का प्रयोग मिलता है यह दूसरी बात है कि संन्यासी श्रमण परिव्राट् आदि समानार्थक पूर्वप्रसिद्ध शब्दों में से बौद्धों ने 'श्रमण' शब्द को अपना लिया । यही बात निर्वाण शब्द के संबन्ध में भी समझनी चाहिये ।

पूगेष्वन्यतरस्याम् ॥६।२।२८॥

पूगेषु ७।३॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—आदिः, कुमारः, कर्मधारये, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—पूगवाचिनि उत्तरपदे कर्मधारये समासे कुमार-शब्दस्य विकल्पेनादिरुदात्तो भवति ॥ *उदा०*—कुमारचातकाः, कुमार-चातकाः, कुमारलोहध्वजाः, कुमारलोहध्वजाः ॥

भाषार्थः—[*पूगेषु*] पूगवाची शब्द उत्तरपद रहते कर्मधारय समास में कुमार शब्द को [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से आदि को उदात्त होता है ॥ जब आद्युदात्त नहीं होगा तो पूर्ववत् अन्तोदात्त होगा । 'पूग' शब्द का अर्थ ५।३।११२ में देखें। चातकादि शब्द *पूगाञ्ञ्योऽग्रामणी०* (५।३।११२) से ञ्य प्रत्ययान्त हैं, जिसका *तद्राजस्य बहुषु०* (२।४।६२) से लुक् हो गया है ॥

इगन्तकालकपालभगालशरावेषु द्विगौ ॥६।२।२९॥

इगन्त·····वेषु ७।३॥ द्विगौ ७।१॥ *स०*—इक् अन्ते यस्य स इगन्तः, बहुव्रीहिः। इगन्तश्च कालश्च कपालश्च भगालश्च शरावश्च, इगन्त·····रावास्तेषु·····इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—प्रकृत्या, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—द्विगौ समासे इगन्ते कालवाचिनि चोत्तरपदे कपाल, भगाल, शराव इत्येतेषु चोत्तरपदेषु पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—इगन्तस्य—पञ्चारत्निः, दशारत्निः। काल—पञ्चमास्यः, दशमास्यः, पञ्चवर्षः, दशवर्षः। कपाल—पञ्चकपालः, दशकपालः। भगाल—पञ्चभगालः, दशभगालः। शराव—पञ्चशरावः, दशशरावः ॥

भाषार्थः—[*द्विगौ*] द्विगु समास में [*इगन्त·····वेषु*] इगन्त उत्तरपद रहते, तथा कालवाची, एवं कपाल भगाल शराव इन शब्दों के उत्तरपद रहते पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ॥ पञ्चकपालः की सिद्धि भाग १ पृ० ८४० में देखें। इसी प्रकार और उदाहरणों में भी तद्धितार्थ में समास और द्विगु संज्ञा हुई है ऐसा जानें। पञ्चशरावः, पञ्चभगालः आदि की सिद्धि ठीक उसी प्रकार होगी। पञ्चारत्निः यहाँ पञ्चारत्नयः प्रमाणमस्य, ऐसा विग्रह करके पूर्ववत् समास होकर *प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम्* (वा० ५।२।३७) से मात्रच् का लुक् हुआ है। पञ्चमास्यः आदि में *द्विगोर्यप्* (५।१।८१) से यप् हुआ है। पञ्चवर्षः यहाँ

प्राग्वतेष्ठञ् (५।१।१८) से उत्पन्न ठञ् का *वर्षाल्लुक् च* (५।१।८८) से लुक् हुआ है। सर्वत्र पूर्वपद स्थित पञ्च, दश शब्द *त्र संख्याया* (फिट्० २८) से आद्युदात्त हैं।

यहाँ से "*इगन्तकालकपालभगालशरावेषु*" की अनुवृत्ति ६।२।३० तक तथा '*द्विगौ*' की ६।२।३१ तक जायेगी॥

बह्वन्यतरस्याम् ॥६।२।३०॥

बहु १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—इगन्तकालकपालभगालशरावेषु द्विगौ, प्रकृत्या पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—द्विगौ समासे इगन्तादिषूत्तरपदेषु बहुशब्दः पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति॥ पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्प्यते॥ *उदा०*—बह्वरत्निः, बह्वरत्निः, बहुमास्यः, बहुमास्यः, बहुकपालः, बहुकपालः, बहुभगालः, बहुभगालः, बहुशरावः, बहुशरावः॥

भाषार्थः—द्विगु समास में इगन्तादि उत्तरपद रहते पूर्वपद में स्थित [बहु] बहु शब्द को [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प करके प्रकृतिस्वर होता है॥ बहु शब्द *लंघिबंह्योर्नलोपश्च* (उणा० १।२९) से कु प्रत्ययान्त है अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है, बह्वरत्निः में यणादेश होकर प्रकृति स्वर पक्ष में *उदात्तस्वरितयोर्यणः०* (८।४।६५) से 'ह्व' को स्वरित होगा। पक्ष में *समासस्य* (६।१।२१७) से समास को अन्तोदात्तत्व होगा॥

यहाँ से '*अन्यतरस्याम्*' की अनुवृत्ति ६।२।३१ तक जायेगी॥

दिष्टिवितस्त्योश्च ॥६।२।३१॥

दिष्टिवितस्त्योः ७।२॥ च अ०॥ *स०*—दिष्टि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—अन्यतरस्याम्, द्विगौ, प्रकृत्या पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—द्विगौ समासे दिष्टि वितस्ति इत्येतयोरुत्तरपदयोर्विकल्पेन पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति॥ *उदा०*—पञ्चदिष्टिः, पञ्चदिष्टिः पञ्चवितस्तिः, पञ्चवितस्तिः॥

भाषार्थः—द्विगु समास में [*दिष्टिवितस्त्योः*] दिष्टि, वितस्ति शब्दों के उत्तरपद रहते [च] भी विकल्प करके पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है॥ पञ्च की सिद्धि ६।२।२९ सूत्र में देखें। पक्ष में *समासस्य* से अन्तोदात्त होगा॥

सप्तमी सिद्धशुष्कपक्वबन्धेष्वकालात् ॥६।२।३२॥

सप्तमी १।१॥ सिद्धशुष्कपक्वबन्धेषु ७।३॥ अकालात् ५।१॥ *स०*—

सिद्ध० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । अकालादित्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—सिद्ध, शुष्क, पक्व, बन्ध इत्येतेषूत्तरपदेष्व-कालवाचि सप्तम्यन्तं पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—सांकाश्यसिद्धः-काम्पिल्यसिद्धः । शुष्क-ऊकशुष्कः, निधनशुष्कः । पक्व-कुम्भीपक्वः, कलशीपक्वः, भ्राष्ट्रपक्वः । बन्ध-चक्रबन्धः, चारकबन्धः ॥

भाषार्थः—[सिद्ध...न्धेषु] सिद्ध, शुष्क, पक्व, बन्ध ये शब्द उत्तरपद परे रहते [*अकालात्*] अकालवाची पूर्व पद स्थित [*सप्तमी*] सप्तम्यन्त को प्रकृतिस्वर होता है ॥ सांकाश्य, काम्पिल्य शब्द *वुञ्छण्०* (४।२।७९) से ण्य प्रत्ययान्त हैं, अतः प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त हैं । फिट् सूत्र में *सांकाश्यकाम्पिल्य०* (*फिट्०* ६५) से पक्ष में मध्योदात्त भी कहा है, अतः यह स्वर भी होगा । *सृवृभूशुषि०* (*उणा०* ३।४०) सूत्र में कहा कक् प्रत्यय बहुल से अव धातु से भी होकर ऊक शब्द बनेगा । *ज्वरत्वर०* (६।४।२०) से ऊठ् हो जायेगा । इस प्रकार ऊक शब्द प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त है । निधन शब्द *कृपॄवृजिमन्दि०* (*उणा०* २।८१) से क्यु प्रत्ययान्त होने से प्रत्यय स्वर से मध्योदात्त है । धा के आ का *आतो लोप०* (६।४।६४) से लोप तथा यु को अन हो ही जायेगा । कुम्भी कलशी शब्द ङीषन्त (४।१।४१) होने से अन्तोदात्त हैं । भ्राष्ट्र शब्द *अस्त्रिगमि०* (*उणा०* ४।१६०) से ष्ट्रन् प्रत्ययान्त आद्युदात्त (६।१।१९१) है । चक्र शब्द *कृञादीनां के द्वे भवतः०* (*वा०* ६।१।१२) से क प्रत्ययान्त सिद्ध किया है, अतः अन्तोदात्त है । चारक शब्द ण्वुल् प्रत्ययान्त है अतः लित् स्वर से आद्युदात्त है ॥

परिप्रत्युपापा वर्ज्यमानाहोरात्रावयवेषु ॥६।२।३३॥

परिप्रत्युपापाः १।३॥ वर्ज्यमानाहोरात्रावयवेषु ७।३॥ *स०*—परि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रौ, अहोरात्रयोरवयवाः अहो-रात्रावयवाः, पूर्वं द्वन्द्वः, ततः षष्ठीतत्पुरुषः । वर्ज्यमानश्च अहोरात्रा-वयवाश्च, वर्ज्यमानाहोरात्रावयवाः, तेषु,...इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—परि, प्रति, उप, अप इत्येते पूर्वपदभूता वर्ज्यमानवाचिनि अहोरात्रावयववाचिनि चोत्तरपदे प्रकृतिस्वरा भवन्ति ॥ *उदा०*—परि त्रिगर्तं वृष्टो देवः, परिसौवीरम्, परिसार्वसेनि । प्रति-प्रति पूर्वाह्णम्, प्रत्यपराह्णम्, प्रतिपूर्वरात्रम्, प्रत्यपररात्रम् । उप-उपपूर्वाह्णम्,

उपापराह्णम्, उपपूर्वरात्रम्, उपापररात्रम्। अप-अपत्रिगर्त्तं वृष्टो देवः, अपसौवीरम्, अपसार्वसेनि॥

भाषार्थः—पूर्वपद स्थित [*परिप्रत्युपापाः*] परि, प्रति, उप, अप इन शब्दों को [*वर्ज्य...वेषु*] वर्ज्यमान तथा दिन एवं रात्रि के अवयववाची शब्दों के उत्तरपद रहते प्रकृतिस्वर हो जाता है॥ सर्वत्र पूर्वपद स्थित परि प्रति आदि *निपाता आद्युदात्ताः, उपसर्गाश्चाभिवर्जम्* (फिट्० ८०,८१) से आद्युदात्त हैं॥ उदा०—परित्रिगर्तं वृष्टो देवः (कांगड़ा देश को छोड़ कर चारों ओर वर्षा हुई)। प्रतिपूर्वाह्णम् (हर दोपहर के पहले)। प्रत्यपररात्रम् (हर रात के पिछले पहर)। उपपूर्वरात्रम् (रात के पहिले पहर के लगभग)। अपत्रिगर्त्तम् (कांगड़ा को छोड़ कर)। *अपपरी वर्जने* (१।४।८७) से अप परि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है। *विभाषाऽपपरिबहिरञ्चवः०* (२।१।११) से अव्ययीभाव समास होता है॥ परि प्रति उप अप में परि और अप वर्जनार्थक होने से इनका ही वर्ज्यमान उत्तरपद के साथ समास होता है॥

राजन्यबहुवचनद्वन्द्वेऽन्धकवृष्णिषु ॥६।२।३४॥

राजन्यबहुवचनद्वन्द्वे ७।१॥ अन्धकवृष्णिषु ७।३॥ स०—राजन्याश्चैतानि बहुवचनानि राजन्यबहुवचनानि, तेषां द्वन्द्वः, राजन्यबहुवचनद्वन्द्वः तस्मिन्...कर्मधारयगर्भषष्ठीतत्पुरुषः। अन्धकाश्च वृष्णयश्च अन्धकवृष्णयस्तेषु...इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—प्रकृत्या पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—राजन्यवाचिनां बहुवचनान्तानां यो द्वन्द्वोऽन्धकवृष्णिषु वर्त्तते तत्र पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति॥ *उदा०*—श्वाफल्कचैत्रकाः, चैत्रकरोधकाः, शिनिवासुदेवाः॥

भाषार्थः—[*राजन्यबहुवचनद्वन्द्वे*] राजन्य = क्षत्रियवाची जो बहुवचनान्त शब्द हैं, उनका द्वन्द्व [*अन्धकवृष्णिषु*] अन्धक तथा वृष्णि वंश को को कहने में वर्त्तमान हो तो पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है॥ श्वाफल्क तथा चैत्रक शब्द *ऋष्यन्धक०* (४।१।११४) से अणन्त हैं, अतः अन्तोदात्त हैं। *वहिश्रिश्रुयु०* (*उणा०* ४।५१) सूत्र में कहा 'नि' प्रत्यय बहुल से शीङ् धातु से भी होता है एवं धातु को ह्रस्व और प्रत्यय को नित्वत् होकर शिनिः बनता है। नित् होने से यह शब्द आद्युदात्त है। श्वाफल्कचैत्रकाः आदि अन्धकवंशवाची बहुवचनान्त शब्द हैं, तथा

शिनिवासुदेव वृष्णिवाची हैं ॥ उदा०—श्वाफल्कचैत्रकाः (श्वफल्क तथा चैत्रक की सन्तान), शिनिवासुदेवाः (शिनि तथा वसुदेव की सन्तान)।

यहाँ से 'द्वन्द्वे' की अनुवृत्ति ६।२।३७ तक जायेगी ॥

सङ्ख्या ॥६।२।३५॥

सङ्ख्या १।१॥ *अनु०*—द्वन्द्वे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—द्वन्द्वसमासे सङ्ख्यावाचि पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ एकश्च दश च एकादश, द्वादश, त्रयोदश ॥

भाषार्थः—द्वन्द्वसमास में [*सङ्ख्या*] सङ्ख्यावाची पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ॥ *आन्महतः स०* (६।३।४४) सूत्र के योगविभाग से एकादश में आत्व, एवं द्वादश में *द्व्यष्टनः सङ्ख्यायाम०* (६।३।४५) से आत्व होता है। *त्रेस्त्रयः* (६।३।४६) से त्रि को त्रयस् आदेश अन्तोदात्त होता है। एक शब्द *इण्भीकापाशल्य०* (*उणा० ३।४३*) से कन् प्रत्ययान्त है, तथा नित् स्वर से आद्युदात्त है। द्वि शब्द प्रातिपदिक स्वर से उदात्त है ही ॥

आचार्योपसर्जनश्चान्तेवासी ॥६।२।३६॥

आचार्योपसर्जनः १।१॥ च अ० ॥ अन्तेवासी १।१॥ *स०*—आचार्य उपसर्जनम् अप्रधानं यस्मिन् स आचार्योपसर्जनः, बहुव्रीहिः ॥ अन्ते वसतीति अन्तेवासी ॥ *अनु०*—द्वन्द्वे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—आचार्योपसर्जनान्तेवासिनां यो द्वन्द्वस्तत्र पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—आपिशलपाणिनीयाः, पाणिनीयरौढीयाः, रौढीयकाशकृत्स्नाः ॥

भाषार्थः—[*आचार्योपसर्जनः*] आचार्य है अप्रधान जिसमें ऐसे [*अन्तेवासी*] शिष्यवाची शब्दों का जो द्वन्द्व उनके पूर्वपद को [*च*] भी प्रकृति स्वर होता है ॥ आपिशलस्यापत्यम् आपिशलिः *अत इञ्* (४।१।९५) से यहाँ इञ् प्रत्यय हुआ। आपिशलिना प्रोक्तमापिशलम्, यहाँ आपिशलि शब्द से *इञश्च* (४।२।१११) से अण् हुआ। तदधीयते ये अन्तेवासिनः तेऽप्यापिशलाः। उस आपिशल नाम के ग्रन्थ को जो छात्र पढ़ते हैं वे छात्र भी आपिशल कहायेंगे, क्योंकि *तदधीते तद्वेद* (४।२।५८) से उत्पन्न अण् का *प्रोक्ताल्लुक्* (४।२।६३) से लुक् हो जाता है। पाणिनीयः की सिद्धि भी भाग २ सूत्र ४।२।६३ में देखें। इस प्रकार इन दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति करके आपिशलाश्च पाणिनीयाश्च आपिशलपाणिनीयाः

यहाँ द्वन्द्व समास किया तो प्रकृत सूत्र से पूर्वपद प्रकृतिस्वर प्रत्ययस्वर से (अण् को) अन्तोदात्त हुआ। 'पाणिनीयरौढीयाः' यहाँ पाणिनीय शब्द प्रत्यय स्वर से मध्योदात्त है। रौढस्यापत्यं रौढिः यहाँ *अत इञ्* से इञ् हुआ। पश्चात् रौढेराचार्यस्य छात्राः रौढीयाः यहाँ *वृद्धाच्छः* (४।२।११३) से छ प्रत्यय हुआ है। ततः पूर्ववत् द्वन्द्व समास हुआ। रौढीयकाशकृत्स्नाः में भी पूर्ववत् रौढीय शब्द प्रत्ययस्वर से मध्योदात्त है। काशकृत्स्निना प्रोक्तं काशकृत्स्नं यहाँ अण् (४।३।१०१) प्रत्यय हुआ है। तदधीयते काशकृत्स्नाः यहाँ पूर्ववत् अण् (४।२।५८) का लुक् (४।२।६३) हुआ है। शेष पूर्ववत् है। सर्वत्र आपिशलपाणिनीयाः आदि उदारणों में आपिशलि आदि प्रोक्त ग्रन्थ के अध्ययन करने वाले छात्रों के वाचक हैं, आपिशलि आदि आचार्य का अर्थ इनमें अप्रधान रूप से द्योतित होता है॥ *उदा०*—आपिशलपाणिनीयाः (आचार्य आपिशल तथा पाणिनि के छात्र)॥

कार्त्तकौजपादयश्च ॥६।२।३७॥

कार्त्तकौजपादयः १।३॥ च अ०॥ *स०*—कार्त्तकौजप आदिर्येषां ते कार्त्तकौजपादयः, बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—द्वन्द्वे, प्रकृत्या पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—कार्त्तकौजपादयो ये द्वन्द्वास्तेषु पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति॥ *उदा०*—कार्त्तकौजपौ, सावर्णिमाण्डूकेयौ, अवन्त्यश्मकाः, पैलश्यापर्णेयाः॥

भाषार्थः—[*कार्त्तकौजपादयः*] कार्त्तकौजपादि जो द्वन्द्व समास वाले शब्द उनके पूर्वपद को [च] भी प्रकृतिस्वर हो जाता है॥ कृतस्यापत्यं कार्त्तः कुजपस्यापत्यं कौजपः, यहाँ अण् प्रत्यय होकर दोनों का द्वन्द्व समास हुआ है। प्रकृतिस्वर होकर कार्त्त शब्द प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। सावर्णि शब्द भी इञन्त होने से (६।१।१९१) आद्युदात्त है। माण्डूकेयः मण्डूकस्यापत्यं विग्रह करके ढक् *च मण्डूकात्* (४।१।१२०) सूत्र से ढक् प्रत्ययान्त है। अवन्त्यश्मकाः यहाँ अवन्ति शब्द से अवन्तेरपत्यानि बहूनि ऐसा विग्रह करके ञ्यङ् (४।१।१६९) प्रत्यय हुआ, उसका *तद्राजस्य०* (२।४।६२) से लुक् हो गया। पुनः अवन्तीनां निवासो जनपदः अवन्तयः यहाँ चातुरर्थिक (४।२।६६) अण् हुआ है। उसका *जनपदे लुप्* (४।२।८०) से लुप् हो गया है। इसी प्रकार अश्मकाः में समझें। अब दोनों का द्वन्द्व समास हो गया, तब प्रकृतिस्वर होकर *वृतादीनां च*

(*फिट्०* २१) से अवन्ति शब्द अन्तोदात्त हुआ, यणादेश करने पर *उदात्त-स्वरितयोर्यणः०* (८।२।४) से 'य' स्वरित हो गया। पैल शब्द में पीलाया अपत्यं पैलः (४।१।११८) अण् हुआ है। ततः युवापत्य में *अणो द्व्यचः* (४।१।१५६) से उत्पन्न फिञ् का *पैलादिभ्यश्च* (२।४।५९) से लुक् हुआ है। श्यापर्ण शब्द से भी बिदादिगण पठित होने से अण् हुआ, स्त्रीलिङ्ग में ङीप् (४।२।७३) होकर श्यापर्णी हुआ। उससे युवा अर्थ में *स्त्रीभ्यो ढक्* (४।१।१२०) से ढक् प्रत्यय होकर यह युवप्रत्ययान्त है। इस प्रकार द्वन्द्व करने पर पैल शब्द प्रकृत सूत्र से प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त रहा॥

महान् व्रीह्यपराह्णगृष्टीष्वासजाबालभारभारत-हैलिहिलरौरवप्रवृद्धेषु ॥६।२।३८॥

महान् १।१॥ व्रीह्य...द्धेषु ७।३॥ *स०*—व्रीह्य० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—प्रकृत्या पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—व्रीहि, अपराह्ण, गृष्टि, इष्वास, जाबाल भार, भारत, हैलिहिल, रौरव, प्रवृद्ध इत्येतेषूत्तरपदेषु महानित्येतत्पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति॥ *उदा०*—महाव्रीहिः, महापराह्णः, महागृष्टिः, महेष्वासः, महाजाबालः, महाभारः, महाभारतः, महाहैलिहिलः, महारौरवः, महाप्रवृद्धः॥

भाषार्थः—[*व्रीह्य...द्धेषु*] व्रीहि, अपराह्ण, गृष्टि, इष्वास, जाबाल, भार, भारत, हैलिहिल, रौरव, प्रवृद्ध इन शब्दों के उत्तरपद रहते पूर्वपद स्थित [*महान्*] महान् शब्द को प्रकृतिस्वर होता है॥ महत् शब्द *वर्तमाने पृषद्बृहन्०* (*उणा०* २।८४) में निपातन से अन्तोदात्त है। *सन्महत्०* (२।१।६०) से सर्वत्र समास हुआ जानें॥ *उदा०*—महाव्रीहिः (धान्य विशेष का नाम)। महापराह्णः (अपराह्ण का अन्तिम भाग)। महागृष्टिः (डीलडौल में बड़ी एक बार ब्यायी हुई गाय)। महेष्वासः (बहुत बड़ा धनुर्धर)। महाजाबालः (ऋषि विशेष की संज्ञा)। महाभारः (बहुत बोझ)। महाभारतः (इस नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ)। महाहैलिहिलः (बहुत खिलाड़ी)। महारौरवः (नरक विशेष की संज्ञा)। महाप्रवृद्धः (बहुत वृद्ध)॥

यहाँ से '*महान्*' की अनुवृत्ति ६।२।३८ तक जायेगी॥

क्षुल्लकश्च वैश्वदेवे ॥६।२।३९॥

क्षुल्लकः १।१॥ च अ०॥ वैश्वदेवे ७।१॥ *अनु०*—महान्, प्रकृत्या

पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—वैश्वदेव उत्तरपदे क्षुल्लक इत्येतत्पूर्वपदं महांश्च प्रकृ
स्वरं भवति ॥ *उदा०*—क्षुल्लकवैश्वदेवम्, महावैश्वदेवम् ॥ क्षुधं लाती
क्षुल्लः; तस्मात् कः (३।२।२) । क्षुल्लशब्दः क्षुद्रपर्यायः[1] ॥

भाषार्थः—[*वैश्वदेवे*] वैश्वदेव शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद स्थि
[*क्षुल्लकः*] क्षुल्लक [*च*] तथा महान् शब्द को प्रकृतिस्वर होता है ॥ क्षु
शब्द से ह्रस्व (५।३।८६) अर्थ में क प्रत्यय होकर क्षुल्लक शब्द बना
अतः प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त है । महान् शब्द में पूर्ववत् स्वर जा
ये दोनों यज्ञविशेषों की संज्ञाएं हैं ॥

उष्ट्रः सादिवाम्योः ॥६।२।४०॥

उष्ट्रः १।१॥ सादिवाम्योः ७।२॥ *स०*—सादि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः
अनु०—प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—सादि, वामि इत्येतयोरुत्तरपदयोः
उष्ट्र इत्येतत्पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—उष्ट्रसादि, उष्ट्रवामि
उष्ट्रसादी, उष्ट्रवामी ॥

भाषार्थः—[*सादिवाम्योः*] सादि तथा वामि शब्द उत्तरपद रह
पूर्वपद स्थित [*उष्ट्रः*] उष्ट्र शब्द को प्रकृतिस्वर होता है ॥ उष्ट्र श
उषिखनिभ्यां कित् (*उणा०* ४।१६२) से ष्ट्रन् प्रत्ययान्त है, अ
नित्स्वर से आद्युदात्त है । यहाँ सद वम धातु से (उणा० ४।१२५) इ
प्रत्ययान्त का नपुंसक लिङ्ग में प्रयोग है । उष्ट्र उपपद होने पर सद वम धा
से णिनि होकर उष्ट्रसादी उष्ट्रवामी प्रयोग होते हैं । सूत्र में सामा
निर्देश होने से दोनों का ग्रहण इष्ट है । पूर्व में षष्ठी समास होने से स
समासान्त स्वर का अपवाद है, उत्तर में कृत् स्वर का ॥

गौः सादसादिसारथिषु ॥६।२।४१॥

गौः १।१॥ सादसादिसारथिषु ७।३॥ *स०*—साद० इत्यत्रेतरेत
द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—साद सादि सारथि इत्येते

---

१. पाश्चात्त्य विद्वान् क्षुद्रपर्याय क्षुल्लक शब्द को क्षुद्रक का अपभ्रंश मा
हैं और उस अपभ्रंश का संस्कृत में प्रवेश हो गया है ऐसा स्वीकार करते है
परन्तु उनका यह कथन अज्ञानमूलक है क्योंकि जिस समय अपभ्रंशों की उत्प
भी नहीं हुई थी उस काल में प्रोक्त वैदिकग्रन्थों में क्षुल्लक शब्द का प्रयोग उपल
होता है ।

त्तरपदेषु गो इत्येतत्पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—गोः सादः गोसादः, गोः सादिः गोसादिः, गाः सादयतीति गोसादी, गोसारथिः ॥

भाषार्थः—[*सादसादिसारथिषु*] साद, सादि, सारथि, इन शब्दों के उत्तरपद रहते, पूर्वपद स्थित [*गोः*] गो शब्द को प्रकृति स्वर हो जाता है ॥ गौ की सिद्धि सूत्र ६।२।१७ में देखें ॥ उदा०—गोसादः (बैल को संताप देने वाला), गोसादिः (बैल का सवार), गाः सादयतीति गोसादी (गोघातक), गोसारथिः (बैलों का सारथि) ॥

कुरुगार्हपतरिक्तगुर्वसूतजरत्यश्लीलदृढरूपा पारेवडवा तैतिलकद्रूः पण्यकम्बलो दासीभाराणां च ॥६।२।४२॥

कुरुगार्हपत, रिक्तगुरु इत्येतौ लुप्तप्रथमान्तनिर्दिष्टौ ॥ असूतजरती १।१॥ अश्लीलदृढरूपा १।१॥ पारेवडवा १।१॥ तैतिलकद्रूः १।१॥ पण्यकम्बलः १।१॥ सर्वत्र सुब्व्यत्ययेन षष्ठीस्थाने प्रथमा वेदितव्या ॥ दासीभाराणाम् ६।३॥ च अ० ॥ *अनु०*—प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—कुरुगार्हपत, रिक्तगुरु, असूतजरती, अश्लीलदृढरूपा, पारेवडवा, तैतिलकद्रू, पण्यकम्बल इत्येतेषां सप्तानां समासानां दासीभारादीनाञ्च पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—कुरूणां गार्हपतं कुरुगार्हपतम् । रिक्तो गुरुः रिक्तगुरुः, रिक्तगुरुः, असूता जरती असूतजरती । अश्लीला दृढरूपा अश्लीलदृढरूपा । पारेवडवा इव पारेवडवा । तैतिलानां कद्रूः तैतिलकद्रूः । पण्यकम्बलः । दासीभारादीनां—दास्याः भारः दासीभारः देवहूतिः, देवजूतिः, देवसूतिः, देवनीतिः ॥

भाषार्थः—[*कुरुगार्हपत···पण्यकम्बलः*] कुरुगार्हपत, रिक्तगुरु, असूतजरती, अश्लीलदृढरूपा, पारेवडवा, तैतिलकद्रू, पण्यकम्बल इन सात समास किये हुये शब्दों के [च] तथा [*दासीभाराणाम्*] दासीभारादि शब्दों के पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ॥ दासीभाराणाम् में बहुवचन दासीभारादि गण के द्योतन के लिये है । कुरुगार्हपतम् यहाँ कुरु शब्द *कृग्रोरुच्च* (उणा० १।२४) से कुप्रत्ययान्त है, अतः प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त है । रिक्त शब्द *रिक्ते विभाषा* (६।१।२०२) से विकल्प से से आद्युदात्त एवं अन्तोदात्त है । असूत अश्लील शब्द में *तत्पुरुषे तुल्यार्थ०* (६।२।२) से पूर्वपद प्रकृतिस्वर होने पर *निपाता आद्युदात्ताः* (फिट्० ८०) से नञ् उदात्त है । पारेवडवा यहाँ निपातन से इवार्थ

में समास तथा विभक्ति का अलुक् जानें। *घृतादीनां च* (फिट्० २१) से पार शब्द अन्तोदात्त है। तितिलिनोऽपत्यं तैतिलः, यहाँ तैतिल शब्द अणन्त (४।१।६२) होने से अन्तोदात्त है। पण्यकम्बलः यहाँ पण्य शब्द *अवद्यपण्य०* (३।१।१०१) में यत् प्रत्ययान्त निपातन है, अतः *यतोऽनावः* (६।१।२०७) से यह शब्द आद्युदात्त है। *दंसेष्टटनौ न आ च* (उणा० ५।१०) से दंस धातु से ट प्रत्यय तथा न को आकारादेश होकर 'दास' शब्द प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। टित् होने से *टिड्ढाणञ्०* (४।१।१५) से ङीप् होकर दासी बनेगा। अतः उदात्तनिवृत्तिस्वर से यह अन्तोदात्त शब्द है। देवहूतिः आदि में देव शब्द पचाद्यच् प्रत्ययान्त है, अतः अन्तोदात्त है॥ *उदा०*—कुरुगार्हपतम् (कुरु जनपद के गृहपतियों की संस्था)। रिक्तगुरुः (खाली रहने पर भी भारी)। असूतजरती (सन्तानोत्पत्ति न होने पर भी वृद्धा)। अश्लीलदृढरूपा (श्री = कान्ति से रहित होने पर भी स्थिर रूप वाली)। पारेवडवा (उस तरफ घोड़ी के समान)। तैतिलकद्रूः। पण्यकम्बलः (बिकाऊ कम्बल)। दासीभारः (दासी के वहन करने योग्य भार)॥

चतुर्थी तदर्थे ॥६।२।४३॥

चतुर्थी १।१॥ तदर्थे ७।१॥ *स०*—तस्मै (= चतुर्थ्यन्तार्थाय) इदम्, तदर्थम्, तस्मिन् तदर्थे, चतुर्थीतत्पुरुषः॥ *अनु०*—प्रकृत्या पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—चतुर्थ्यन्तं पूर्वपदं तदर्थ उत्तरपदे प्रकृतिस्वरं भवति॥ *उदा०*—यूपदारु, कुण्डलहिरण्यम्, रथदारु, वल्लीहिरण्यम्॥

भाषार्थः—[*चतुर्थी*] चतुर्थी पूर्वपद को [*तदर्थे*] तदर्थ = चतुर्थ्यन्तार्थ के उत्तरपद रहते प्रकृतिस्वर होता है॥ यूपदारु आदि शब्द में चतुर्थी तत्पुरुष समास है, अतः अर्थ होगा—'यूप के लिये जो लकड़ी'। अब यहाँ चतुर्थ्यन्त के अर्थ = यूप के लिए दारु है, सो चतुर्थ्यन्तार्थ दारु शब्द उत्तरपद में हुआ। इसी प्रकार औरों में जानें। यूप की सिद्धि परि० ६।२।१ में देखें। कुडि धातु से *वृषादिभ्यश्चित्* (उणा० १।१०६) से बाहुलक से कुण्डल शब्द कल प्रत्ययान्त एवं चित् है, अतः चित् स्वर (६।१।१५७) से अन्तोदात्त है। रथ शब्द *हनिकुषिनी०* (उणा० २।२) से क्थन् प्रत्ययान्त होने से नित् स्वर से आद्युदात्त है। वल्ली शब्द गौरादित्वात् (४।१।४१) ङीष् प्रत्ययान्त अन्तोदात्त (३।१।३) है॥

यहाँ से '*चतुर्थी*' की अनुवृत्ति ६।२।४५ तक जायेगी।

स्तस्मिन्.....बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—गतिः, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—अनिगन्तो गतिर्वप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परतः प्रकृतिस्वरो भवति ॥ *उदा०*—प्राङ्, प्राञ्चौ, प्राञ्चः, परांङ्, परांञ्चौ, परांञ्चः ॥

भाषार्थः—[*अनिगन्तः*] इक् अन्त में नहीं है जिसके, ऐसे गतिसंज्ञक को [*वप्रत्यये*] वप्रत्ययान्त [*अञ्चतौ*] अञ्चु धातु के परे रहते प्रकृतिस्वर होता है ॥ प्राङ् की सिद्धि भाग १ परि० ३।२।५९ पृ० ८६२ में देखें । इसी प्रकार पराङ् भी बनेगा । प्र परा अनिगन्त गति हैं, अञ्चु धातु क्विन् प्रत्ययान्त है । क्विन् का व् शेष रह जाता है, अतः वप्रत्ययान्त अञ्चु परे है ही । प्रकृतिस्वर कहने से पूर्ववत् आद्युदात्त हो जायेगा, *स्वरितो वानुदात्ते०* (८।२।६) से पक्ष में स्वरितत्व भी होता है ।

यहाँ से '*अञ्चतौ वप्रत्यये*' की अनुवृत्ति ६।२।५३ तक जायेगी ॥

न्यधी च ॥६।२।५३॥

न्यधी १।२॥ च अ० ॥ *स०*—निश्च अधिश्च न्यधी, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—अञ्चतौ वप्रत्यये, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—नि अधि इत्येतौ चाञ्चतौ वप्रत्यये परतः प्रकृतिस्वरौ भवतः ॥ *उदा०*—न्यंङ्, न्यंञ्चौ, न्यंञ्चः, अध्यंङ्, अध्यंञ्चौ, अध्यंञ्चः, अधीचः, अधीचा ॥

भाषार्थः—वप्रत्ययान्त अञ्चु के परे रहते [*न्यधी*] नि अधि को [च] भी प्रकृतिस्वर होता है ॥ नि अधि इगन्त हैं, अतः पूर्वसूत्र से प्राप्त नहीं था, यहाँ विधान कर दिया ॥ न्यङ् यहाँ नि पूर्ववत् उदात्त था, यणादेश करने पर *उदात्तस्वरितयोर्यणः०* (८।२।४) से 'य' का 'अ' स्वरित हो गया । अधि का अ पूर्ववत् उदात्त है । अधीचः अधीचा में '*चौ*' (६।१।२१६) प्राप्त था उसका यह अपवाद है ॥

ईषदन्यतरस्याम् ॥६।२।५४॥

ईषत् अ० ॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—ईषदित्येतत् पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—ईषत्कडारः, ईषत्कडारः, ईषत्पिङ्गलः ईषत्पिङ्गलः ॥

भाषार्थः—पूर्वपद स्थित [*ईषत्*] ईषत् को [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है ॥ ईषत् शब्द प्रातिपदिकस्वर से अन्तोदात्त है,

समासे अनिष्ठान्तं पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—श्रेणिकृताः, ऊककृताः, पूगकृताः, निधनकृताः ॥

भाषार्थः—क्तान्त उत्तरपद रहते [*कर्मधारये*] कर्मधारय समास में [*अनिष्ठा*] अनिष्ठान्त पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है ॥ श्रेणि शब्द *वहिश्रिश्रुयुद्रु०* (*उणा०* ४.५१) से नि प्रत्ययान्त है, यहाँ नित् की अनुवृत्ति आने से श्रेणि शब्द नित् स्वर से आद्युदात्त है। 'ऊक' तथा 'निधन' की सिद्धि सूत्र ६।२।३२ में देखें। पूग शब्द *छापूखडिभ्यो गक्* (*दशपा०* ३।६६) से गक् प्रत्ययान्त होने से अन्तोदात्त है ॥

अहीने द्वितीया ॥६।२।४७॥

अहीने ७।१॥ द्वितीया १।१॥ *स०*—अहीन इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—क्ते, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—अहीनवाचिनि समासे क्तान्त उत्तरपदे द्वितीयान्तं पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—कष्टश्रितः, त्रिशकलपतितः, ग्रामगतः ॥

भाषार्थः—[*अहीने*] अहीनवाची समास में क्तान्त उत्तरपद रहते [*द्वितीया*] द्वितीयान्त पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ॥ कष्ट शब्द क्त-प्रत्ययान्त होने से प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। *कृच्छ्रगहनयोः कषः* (७।२।२२) से यहाँ इट् का प्रतिषेध हुआ है। त्रीणि शकलान्यस्य त्रिशकलः यहाँ बहुव्रीहि समास हुआ है, अतः पूर्वपद प्रकृतिस्वर होने पर प्रातिपदिक स्वर से त्रि उदात्त है, पश्चात् त्रिशकल का पतित के साथ द्वितीया तत्पुरुष समास हुआ, सो प्रकृत सूत्र से प्रकृतिस्वर हो गया। ग्राम शब्द *ग्रसेरा च* (*उणा०* १।१४३) से मन् प्रत्ययान्त है, यहाँ मन् की अनुवृत्ति १।१४० से आ रही है। इस प्रकार नित् स्वर से आद्युदात्त यह शब्द है। कष्टश्रितः = कष्ट को प्राप्त हुआ २ यहाँ सर्वत्र उत्तरपदार्थ का पूर्वपदार्थ से पृथक्त्व न होने से अहीन अर्थ है ॥

तृतीया कर्मणि ॥६।२।४८॥

तृतीया १।१॥ कर्मणि ७।१॥ *अनु०*—क्ते, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—कर्मवाचिनि क्तान्त उत्तरपदे तृतीयान्तं पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—अहिहतः, वज्रहतः, महाराजहतः, नखनिर्भिन्ना, दात्रलूना॥

भाषार्थः—[*कर्मणि*] कर्मवाची क्तान्त उत्तरपद रहते [*तृतीया*] तृतीयान्त पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है ।। अहि शब्द *आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च* (*उणा०* ४।१३८) से आङ्पूर्वक हन् धातु से इण् प्रत्ययान्त है । यहाँ ४।१३४ से डित् की अनुवृत्ति भी होने से टि भाग का लोप एवं आङ् को ह्रस्वत्व होकर अहिः बना । अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त यह शब्द है[1] । वज्र शब्द *ऋज्रेन्द्राग्रवज्र०* (*उणा०* २।२८) से रक् प्रत्ययान्त निपातन है, अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है । महाराज शब्द भी *राजाहःसखि०* (५।४।९१) से टच् प्रत्ययान्त होने से अन्तोदात्त है । नास्य खमस्तीति नखः यहाँ बहुव्रीहि समास हुआ है अतः *नञ्सुभ्याम्* (६।२।१७१) से अन्तोदात्त यह शब्द है *नभ्राण्नपान्नवेदा०* (६।३।७३) में 'नख' के नञ् को प्रकृतिभाव होने के कारण *नलोपो नञः* (८।१।७१) से नकार का लोप नहीं होता । दात्र शब्द *दाम्नीशस०* (३।२।१८२) से ष्ट्रन् प्रत्ययान्त है, अतः नित् स्वर से आद्युदात्त है ।।

यहाँ से '*कर्मणि*' की अनुवृत्ति ६।२।४९ तक जायेगी ।।

गतिरनन्तरः ।। ६।२।४९।।

गतिः १।१।। अनन्तरः १।१।। *स०*—अविद्यमानम् अन्तरम् यस्य सः अनन्तरः, बहुव्रीहिः ।। *अनु०*—कर्मणि, क्ते, प्रकृत्या पूर्वपदम् ।। *अर्थः*—कर्मवाचिनि क्तान्त उत्तरपदे अनन्तरो गतिः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ।। *उदा०*—प्रकृतः, प्रहृतः ।।

भाषार्थः—कर्मवाची क्तान्त उत्तरपद रहते पूर्वपदस्थ [*अनन्तरः*] अनन्तर अर्थात् अव्यवहित [*गतिः*] गति को प्रकृतिस्वर होता है ।। उदाहरण में कृत, हृत शब्द क्तान्त हैं, उनसे अव्यवहित पूर्व 'प्र' गति है । *गतिश्च* (१।४।५९) से 'प्र' की गति संज्ञा होती है । इस प्रकार प्रकृतिस्वर होने पर *उपसर्गाश्चाभिवर्जम्* (*फिट्०* ८०) से 'प्र' उदात्त होता है ।।

यहाँ से '*गतिः*' की अनुवृत्ति ६।२।५२ तक तथा '*अनन्तरः*' की ६।२।५१ तक जायेगी ।।

---

१. केचित्तु आद्युदात्तमिच्छन्ति, ते पूर्वसूत्रादुदात्तग्रहणमनुवर्तयन्ति । द्र० दशपादी उणा० १।६७ ।।

तादौ च निति कृत्यतौ ॥६।२।५०॥

तादौ ७।१॥ च अ० ॥ निति ७।१॥ कृति ७।१॥ अतौ ७।१॥ स०—तकार आदिर्यस्य स तादिः, तस्मिन् बहुव्रीहिः। नकार इत् यस्य स नित् तस्मिन्......बहुव्रीहिः। न तुः, अतुस्तस्मिन्......नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—गतिरनन्तरः, प्रकृत्या पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—तुशब्दवर्जिते च तकारादौ निति कृति परतः गतिरनन्तरः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति॥ *उदा०*—प्रकर्त्ता, प्रकर्त्तुम्, प्रकृतिः॥

भाषार्थः—[*अतौ*] तु शब्द को छोड़कर [*तादौ*] तकारादि एवं [*निति*] नकार इत् संज्ञक है जिसका ऐसे [*कृति*] कृत् के परे रहते [च] भी अनन्तर पूर्वपद गति को प्रकृतिस्वर होता है॥ प्रकर्त्ता में तृन् प्रत्यय हुआ है, तथा प्रकर्त्तुम् में तुमुन्, एवं प्रकृतिः में क्तिन् हुआ है। तीनों प्रत्यय नित्, कृत् संज्ञक एवं तकारादि हैं। अतः प्रकृतिस्वर होकर पूर्ववत् 'प्र' उदात्त हो गया॥

तवै चान्तश्च युगपत् ॥६।२।५१॥

तवै लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः॥ च अ०॥ अन्तः १।१॥ च अ०॥ युगपत् अ०॥ *अनु०*—गतिरनन्तरः, प्रकृत्या पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—तवैप्रत्ययस्य अन्त उदात्तो भवति गतिश्चानन्तरः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति युगपच्चैतदुभयं स्यात्॥ *उदा०*—अन्वेतवै, परिस्तरितवै, परिपातवै, अभिचरितवै॥

भाषार्थः—[*तवै*] तवै प्रत्यय को [*अन्तः*] अन्त उदात्त [च] भी होता है, [च] तथा अनन्तर पूर्वपद गति को भी प्रकृतिस्वर [*युगपत्*] एक साथ होता है॥ *अनुदात्तं पदमेकवर्जम्* (६।१।१५२) परिभाषा के कारण पद में एक अच् को ही उदात्त प्राप्त था, अतः यहाँ युगपत् कह कर एक साथ दो उदात्त कह दिये॥ प्रकृति स्वर में पूर्ववत् उपसर्ग को आद्युदात्त होगा। *उपसर्गाश्चाभिवर्जम्* (फिट्० ८०) में अभि को छोड़ कर आद्युदात्त विधान किया है, *अतः* अभिचरितवै में 'अभि' आद्युदात्त न होकर प्रातिपदिक स्वर से अन्तोदात्त है॥ 'त्वै' सर्वत्र उदात्त है॥

अनिगन्तोऽञ्चतौ वप्रत्यये ॥६।२।५२॥

अनिगन्तः १।१॥ अञ्चतौ ७।१॥ वप्रत्यये ७।१॥ स०—न विद्यते इक् अन्ते यस्य सः अनिगन्तः, बहुव्रीहिः। वकारः प्रत्ययो यस्य स वप्रत्यय-

स्तस्मिन्‌ ''' बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—गतिः, प्रकृत्या पूर्वपदम्‌ ॥ *अर्थः*—अनिगन्तो गतिर्वप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परतः प्रकृतिस्वरो भवति ॥ *उदा०*—प्राङ्‌, प्राञ्चौ, प्राञ्चः, पराङ्‌, पराञ्चौ, पराञ्चः ॥

भाषार्थः—[*अनिगन्तः*] इक्‌ अन्त में नहीं है जिसके, ऐसे गतिसंज्ञक को [*वप्रत्यये*] वप्रत्ययान्त [*अञ्चतौ*] अञ्चु धातु के परे रहते प्रकृतिस्वर होता है ॥ प्राङ्‌ की सिद्धि भाग १ परि० ३।२।५९ पृ० ८९२ में देखें । इसी प्रकार पराङ्‌ भी बनेगा । प्र परा अनिगन्त गति हैं, अञ्चु धातु क्विन्‌ प्रत्ययान्त है । क्विन्‌ का व्‌ शेष रह जाता है, अतः वप्रत्ययान्त अञ्चु परे है ही । प्रकृतिस्वर कहने से पूर्ववत्‌ आद्युदात्त हो जायेगा, *स्वरितो वानुदात्ते०* (८।२।६) से पक्ष में स्वरितत्व भी होता है ।

यहाँ से '*अञ्चतौ वप्रत्यये*' की अनुवृत्ति ६।२।५३ तक जायेगी ॥

न्यधी च ॥६।२।५३॥

न्यधी १।२॥ च अ० ॥ *स०*—निश्च अधिश्च न्यधी, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अञ्चतौ वप्रत्यये, प्रकृत्या पूर्वपदम्‌ ॥ *अर्थः*—नि अधि इत्येतौ चाञ्चतौ वप्रत्यये परतः प्रकृतिस्वरौ भवतः ॥ *उदा०*—न्यङ्‌, न्यञ्चौ, न्यञ्चः, अध्यङ्‌, अध्यञ्चौ, अध्यञ्चः, अधीचः, अधीचा ॥

भाषार्थः—वप्रत्ययान्त अञ्चु के परे रहते [*न्यधी*] नि अधि को [*च*] भी प्रकृतिस्वर होता है ॥ नि अधि इगन्त हैं, अतः पूर्वसूत्र से प्राप्त नहीं था, यहाँ विधान कर दिया ॥ न्यङ्‌ यहाँ नि पूर्ववत्‌ उदात्त था, यणादेश करने पर *उदात्तस्वरितयोर्यणः०* (८।२।६) से 'य' का 'अ' स्वरित हो गया । अधि का अ पूर्ववत्‌ उदात्त है । अधीचः अधीचा में '*चौ*' (६।१।२१६) प्राप्त था उसका यह अपवाद है ॥

ईषदन्यतरस्याम्‌ ॥६।२।५४॥

ईषत्‌ अ० ॥ अन्यतरस्याम्‌ ७।१॥ *अनु०*—प्रकृत्या पूर्वपदम्‌ ॥ *अर्थः*—ईषदित्येतत्‌ पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—ईषत्कडारः, ईषत्कडारः, ईषत्पिङ्गलः ईषत्पिङ्गलः ॥

भाषार्थः—पूर्वपद स्थित [*ईषत्*] ईषत्‌ को [*अन्यतरस्याम्‌*] विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है ॥ ईषत्‌ शब्द प्रातिपदिकस्वर से अन्तोदात्त है,

पक्ष में *समासस्य* (६।१।२१७) का अपवाद होने से समास को अन्तोदात्त होगा। *ईषदकृता* (२।२।७) से यहाँ समास होता है ॥

यहाँ से '*अन्यतरस्याम्*' की अनुवृत्ति ६।२।६३ तक जायेगी ॥

हिरण्यपरिमाणं धने ॥६।२।५५॥

हिरण्यपरिमाणम् १।१॥ धने ७।१॥ स०—हिरण्यञ्च तत् परिमाणञ्च हिरण्यपरिमाणम्, कर्मधारयस्तत्पुरुषः ॥ अनु०—अन्यतरस्याम्, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—हिरण्यपरिमाणवाचि पूर्वपदं धनशब्द उत्तरपदे विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—द्वे सुवर्णे परिमाणमस्येति द्विसुवर्णम्, द्विसुवर्णमेव धनं द्विसुवर्णधनम्, द्विसुवर्णधनम् ॥

भाषार्थः—[*हिरण्यपरिमाणम्*] हिरण्य और परिमाण दोनों अर्थों को कहने वाले पूर्वपद को [*धने*] धन शब्द उत्तरपद रहते विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है ॥ सुवर्ण शब्द सोने का वाचक है, तथा सोने के तौल = १६ माषा के परिमाण को भी कहता है, अतः सुवर्णशब्द परिमाण और सोना दोनों का वाचक हुआ ॥ *द्विसुवर्ण* यहाँ *तद्धितार्थो०* (२।१।५१) से समास होता है, अतः *समासस्य* से अन्तोदात्त होगा। *प्राग्वतेष्ठञ्* (५।१।१८) से जो ठञ् प्रत्यय होता है उसका *अध्यर्ध०* (५।१।२८) से लुक् हो जाता है पश्चात् धन शब्द के साथ कर्मधारय समास हुआ तब प्रकृतिस्वर होकर 'र्ण' ही उदात्त रहा ॥ *उदा०*—द्विसुवर्णधनम् (दो सुवर्ण = ३२ माषा धन) ॥

प्रथमोऽचिरोपसंपत्तौ ॥६।२।५६॥

प्रथमः १।१॥ अचिरोपसंपत्तौ ७।१॥ *स०*—न चिरा अचिरा नञ्तत्पुरुषः। अचिरा उपसंपत्तिः = उपश्लेषः, सम्बन्धः अचिरोपसंपत्तिः तस्मिन्......कर्मधारयतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अन्यतरस्याम्, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—अचिरोपसंपत्तौ गम्यमानायां प्रथमशब्दः पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—प्रथमवैयाकरणः, प्रथमवैयाकरणः ॥

भाषार्थः—[*अचिरोपसम्पत्तौ*] अचिरकाल उपसम्पत्ति = सम्बन्ध गम्यमान हो तो [*प्रथमः*] प्रथम पूर्वपदस्थित शब्द को विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है ॥ प्रथम शब्द *प्रथेरमच्* (*उणा०* ५।६८) से अमच् प्रत्य-

यान्त है, अतः चित् स्वर से अन्तोदात्त है। पक्ष में समास अन्तोदात्तत्व होगा ॥ उदा०—प्रथमवैयाकरणः (व्याकरण का नवीन विद्वान्) पहले पहल पढ़ने से यहाँ अचिरोपसम्पत्ति गम्यमान है ॥ *पूर्वापरप्रथम०* (२।१।५८) से उदाहरण में समास हुआ है ॥

कतरकतमौ कर्मधारये ॥६।२।५७॥

कतरकतमौ १।२॥ कर्मधारये ७।१॥ *स०*—कतर० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अन्यतरस्याम्, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—कतर कतम इत्येते पूर्वपदे विकल्पेन प्रकृतिस्वरे भवतः कर्मधारये समासे ॥ *उदा०*—कतरकठः, कतरकठः। कतमकठः, कतमकठः ॥

भाषार्थः—पूर्वपद स्थित [*कतरकतमौ*] कतर तथा कतम शब्द को [*कर्मधारये*] कर्मधारय समास में विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है ॥ कतर शब्द *किंयत्तदो०* (५।४।९२) से डतरच् प्रत्ययान्त है, तथा कतम *वा बहूनां जाति०*(५।४।९३) से डतमच् प्रत्ययान्त है, अतः दोनों शब्द चित् स्वर से अन्तोदात्त हैं। पक्ष में समास का अन्तोदात्तत्व होगा ही ॥ यहाँ *कतरकतमौ०* (२।१।६३) से समास हुआ है ॥

यहाँ से '*कर्मधारये*' की अनुवृत्ति ६।२।५९ तक जायेगी ॥

आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः ॥६।२।५८॥

आर्यः १।१॥ ब्राह्मणकुमारयोः ७।२॥ *स०*—ब्राह्मण० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—कर्मधारये, अन्यतरस्याम्, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—ब्राह्मणकुमारशब्दयोरुत्तरपदयोरार्यशब्दः पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति कर्मधारये समासे ॥ *उदा०*—आर्यब्राह्मणः, आर्यब्राह्मणः, आर्यकुमारः, आर्यकुमारः ॥

भाषार्थः—[*ब्राह्मणकुमारयोः*] ब्राह्मण तथा कुमार शब्द उत्तरपद रहते कर्मधारय समास में पूर्वपद स्थित [*आर्यः*] आर्य शब्द को विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है ॥ आर्य शब्द *ऋहलोर्ण्यत्* (३।१।१२४) से ण्यत् प्रत्ययान्त है, अतः *तित्स्वरितम्* (६।१।१७९) से अन्त स्वरित है। पक्ष में पूर्ववत् स्वर होगा ॥

यहाँ से '*ब्राह्मणकुमारयोः*' की अनुवृत्ति ६।२।५९ तक जायेगी ॥

राजा च ॥६।२।५९॥

राजा १।१॥ च अ०॥ *अनु०*—ब्राह्मणकुमारयोः, कर्मधारये, अन्यतरस्याम्, प्रकृत्या पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—ब्राह्मणकुमारयोरुत्तरपदयोः कर्मधारये समासे राजा च पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति॥ *उदा०*—राजब्राह्मणः, राजब्राह्मणः। राजकुमारः, राजकुमारः॥

भाषार्थः—ब्राह्मण तथा कुमार शब्द उत्तरपद रहते कर्मधारय समास में पूर्वपद स्थित [*राजा*] राजन् शब्द को [*च*] भी विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है॥ राजन् शब्द *युवृषितक्षि०* (*उणा०* १।१५६) से कनिन् प्रत्ययान्त है, अतः नित्स्वर से आद्युदात्त है॥

यहाँ से '*राजा*' की अनुवृत्ति ६।२।६० तक जायेगी॥

षष्ठी प्रत्येनसि ॥६।२।६०॥

षष्ठी १।१॥ प्रत्येनसि ७।१॥ *स०*—प्रतिगतमेनः पापं यस्य स प्रत्येनाः तस्मिन्...बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—राजा, अन्यतरस्याम्, प्रकृत्या पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—षष्ठ्यन्तो राजशब्दः पूर्वपदं प्रत्येनस्युत्तरपदे विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति॥ *उदा०*—राज्ञःप्रत्येनाः, राज्ञःप्रत्येनाः। राजप्रत्येनाः, राजप्रत्येनाः॥

भाषार्थः—[*षष्ठी*] षष्ठ्यन्त पूर्वपद स्थित राजन् शब्द को [*प्रत्येनसि*] प्रत्येनस् शब्द उत्तरपद रहते विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है॥ पूर्ववत् स्वर सिद्धि जानें॥ पूर्व के दो उदाहरणों 'राज्ञःप्रत्येनाः' में *षष्ठ्या आक्रोशे* (६।३।१९) से आक्रोश में षष्ठी का अलुक् हुआ है, तथा जब आक्रोश अर्थ की विवक्षा नहीं होगी तो षष्ठी का लुक् होकर दो उदाहरण 'राजप्रत्येनाः' बनेंगे। अलुक् एवं स्वरभेद से कुल ४ उदाहरण बने हैं॥

क्ते नित्यार्थे ॥६।२।६१॥

क्ते ७।१॥ नित्यार्थे ७।१॥ *स०*—नित्यः अर्थो यस्य स नित्यार्थस्तस्मिन्...बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—अन्यतरस्याम्, प्रकृत्या पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—क्तान्त उत्तरपदे, नित्यार्थे समासे पूर्वपदमन्यतरस्यां प्रकृतिस्वरं भवति॥ *उदा०*—नित्यप्रहसितः, नित्यप्रहसितः। सततप्रहसितः, सततप्रहसितः॥

भाषार्थः—[*क्ते*] क्तान्त उत्तरपद रहते [*नित्यार्थे*] नित्य अर्थ है जिसका ऐसे समास में विकल्प से पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ॥ नित्य शब्द *त्यब्नेर्ध्रुवे* (वा० ४।२।१०३) इस वार्त्तिक से 'त्यप्' प्रत्ययान्त है, अतः पित् होने से 'य' अनुदात्त तथा 'नि' *उपसर्गा०* (*फिट्०* ८०) से उदात्त है। सतत शब्द में जब भाव में क्त होगा तो *थाथघञ्०* (६।२।१४३) से अन्तोदात्त होगा तथा जब कर्म में क्त होगा, तो *गतिरनन्तरः* (६।२।४९) से पूर्वपद प्रकृतिस्वर होगा ॥ पक्ष में पूर्ववत् अन्तोदात्त स्वर है ॥ *कालाः* (२।१।२७) सूत्र से यहाँ द्वितीया तत्पुरुष समास हुआ है ॥ *उदा०*—नित्यप्रहसितः (सदा हँसता हुआ)। सततप्रहसितः (पूर्ववत्) सर्वत्र यहाँ नित्यार्थ है ही ॥

ग्रामः शिल्पिनि ॥६।२।६२॥

ग्रामः १।१॥ शिल्पिनि ७।१॥ *अनु०*—अन्यतरस्याम्, प्रकृत्या पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—ग्रामशब्दः पूर्वपदं शिल्पिवाचिन्युत्तरपदे विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—ग्रामनापितः, ग्रामनापितः। ग्रामकुलालः, ग्रामकुलालः ॥

भाषार्थः—[*शिल्पिनि*] शिल्पिवाची उत्तरपद रहते [*ग्रामः*] ग्राम पूर्वपद को विकल्प से प्रकृतिस्वर हो जाता है ॥ ग्राम शब्द का स्वर ६।२।४७ सूत्र में देखें ॥ उदाहरणों में षष्ठीतत्पुरुष समास है। पक्ष में पूर्ववत् अन्तोदात्त स्वर है ॥ *उदा०*—ग्रामनापितः (गाँव का नाई), ग्रामकुलालः (गाँव का कुम्हार) ॥ यहाँ उत्तरपद नापित, कुलाल शब्द शिल्पी = कारीगरवाची हैं ही ॥

यहाँ से '*शिल्पिनि*' की अनुवृत्ति ६।२।६३ तक जायेगी ॥

राजा च प्रशंसायाम् ॥६।२।६३॥

राजा १।१॥ च अ० ॥ प्रशंसायाम् ७।१॥ *अनु०*—शिल्पिनि, अन्यतरस्याम्, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—शिल्पिवाचिन्युत्तरपदे राजशब्दः पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति प्रशंसायां गम्यमानायाम् ॥ *उदा०*—राजनापितः, राजनापितः, राजकुलालः, राजकुलालः ॥

भाषार्थः—[*प्रशंसायाम्*] प्रशंसा गम्यमान हो तो शिल्पिवाची शब्द उत्तरपद रहते [*राजा*] राजन् पूर्वपद वाले शब्द को [*च*] भी विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है ॥ राजन् शब्द का स्वर सूत्र ६।२।५९ में देखें। पक्ष

में अन्तोदात्तत्व होगा ही। उदाहरणों में कर्मधारय समास है। राजा के गुण का अध्यारोप उत्तरपद में किया जा रहा है, अतः उत्तरपदार्थ की प्रशंसा गम्यमान होती है। षष्ठीसमास मानने पर भी राजा का नाई होने से प्रशंसा प्रतीत होती है, अतः दोनों समास हो सकते हैं ॥ उदा०—राजनापितः (राजा नाई अर्थात् निपुण नाई, अथवा राजा का नाई), राजकुलालः ॥

[पूर्वपदाद्युदात्तप्रकरणम्]

आदिरुदात्तः ॥६।२।६४॥

आदिः १।१॥ उदात्तः १।१॥ *अनु०*—पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—आदिरुदात्त इत्ययमधिकारो वेदितव्यः, इत उत्तरं यद्वक्ष्यामस्तत्र पूर्वपदस्यादिरुदात्तो भवति ॥ *उदा०*—स्तूपे॑शाणः, मुकु॑टेकार्षापणम् ॥

भाषार्थः—यह अधिकार सूत्र है। यहाँ से आगे जो कुछ कहेंगे उसके पूर्वपद के [*आदिः*] आदि को [*उदात्तः*] उदात्त होता है, ऐसा जानना चाहिये ॥ उदाहरण में *सप्तमीहारिणौ०* (६।२।६५) से पूर्वपद आद्युदात्त हुआ है ॥

यहाँ से '*आदिः*' की अनुवृत्ति ६।२।९१ तक तथा '*उदात्तः*' की ६।२।१९८ तक जायेगी ॥

सप्तमीहारिणौ धर्म्येऽहरणे ॥६।२।६५॥

सप्तमीहारिणौ १।२॥ धर्म्ये ७।१॥ अहरणे ७।१॥ *स०*—सप्तमी च हारी च सप्तमीहारिणौ, इतरेतरद्वन्द्वः। अहरण इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—आदिरुदात्तः पूर्वपदम् ॥ हारीत्यावश्यके (३।३।१७०) णिनिः ॥ *अर्थः*—हरणशब्दवर्जिते धर्म्यवाचिनि उत्तरपदे सप्तम्यन्तं हारिवाचि च पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ *उदा०*—स्तूपे॑शाणः, मुकु॑टेकार्षापणम्, हले॑द्विपदिका, हले॑त्रिपदिका, दृषदिमाषकः। हारिणि-याज्ञि॑काश्वः, वैया॑करणहस्ती, मातु॑लाश्वः, पितृ॑व्यगवः ॥

भाषार्थः—[*अहरणे*] हरण शब्द को छोड़कर [*धर्म्ये*] धर्म्यवाची शब्दों के परे रहते [*सप्तमीहारिणौ*] सप्तम्यन्त तथा हारिवाची पूर्वपद को आद्युदात्त होता है ॥ धर्मादनपेतमनुगतं धर्म्यम्, *धर्म्यपथ्यर्थ०*

(४।४।६२) से यहाँ यत् प्रत्यय होता है। कुल या देश की परम्परा के अनुसार जो किसी को देने योग्य वस्तु हो उसे धर्म्य कहते हैं। देय वस्तु को जो अवश्य स्वीकार करता है उसे 'हारी' कहते हैं॥ स्तूपेशाणः, मुकुटेकार्षापणम् हलेद्विपदिका आदि में शाण कार्षापण और पाद शब्द प्राचीन काल के विशेष सिक्कों के वाचक हैं। स्तूपनिर्माण के समय, मुकुट = राज्यारोहण के समय, एकहल से जोतने योग्य भूमि पर लगने वाला जो धर्मानुकूल कर है वह स्तूपेशाणः आदि शब्दों से कहा जाता है। इन उदाहरणों में सप्तम्यन्त पूर्वपद में है तथा धर्म्यवाची (कुल परम्परा या देश परम्परा से देने योग्य वस्तुवाची) उत्तरपद में है। यहाँ सर्वत्र *संज्ञायाम्* (२।१।४३) से समास तथा *कारनाम्नि च०* (६।३।८) से सप्तमी विभक्ति का अलुक् हुआ है। याज्ञिकाश्वः (यज्ञ कराने वाले को दक्षिणा में दिया जाने वाला घोड़ा), वैयाकरणहस्ती (वैयाकरण को उपहार में दिया जाने वाला हाथी) आदि उदाहरणों में हारिवाची याज्ञिक तथा वैयाकरण (चूँकि इनको देय वस्तु स्वीकार है, अतः ये हारिवाची हैं) पूर्वपद में हैं, धर्म्य उत्तरपद में है ही। धर्म्य तथा हारी से यहाँ स्वरूप का ग्रहण न होकर अर्थ का ग्रहण है॥ ये सब सूत्र भी *समासस्य* के अपवाद हैं॥

युक्ते च ॥६।२।६६॥

युक्ते ७।१॥ च अ०॥ *अनु०*—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—युक्तवाचिनि च समासे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति॥ *उदा०*—गोबल्लवः, अश्वबल्लवः। गोमणिन्दः, अश्वमणिन्दः। गोसङ्ख्यः, अश्वसङ्ख्यः॥

भाषार्थः—[*युक्ते*] युक्तवाची समास में [च] भी पूर्वपद को आद्युदात्त होता है। बल्लव शब्द गाय के पालक का वाचक है, इस प्रकार गाय के पालन आदि कर्म में अच्छे प्रकार तत्पर होने से यहाँ युक्तत्व अर्थ है॥

विभाषाऽध्यक्षे ॥६।२।६७॥

विभाषा १।१॥ अध्यक्षे ७।१॥ *अनु०*—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—अध्यक्षशब्द उत्तरपदे पूर्वपदं विकल्पेनाद्युदात्तं भवति॥ *उदा०*—गवाध्यक्षः, गवाध्यक्षः। अश्वाध्यक्षः, अश्वाध्यक्षः॥

भाषार्थः—[*अध्यक्षे*] अध्यक्ष शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को [*विभाषा*] विकल्प से आद्युदात्त होता है ॥ *समासस्य* का अपवाद होने से पक्ष में अन्तोदात्त होगा ॥ *उदा०*—गवाध्यक्षः (गाय का निरीक्षक) ॥

यहाँ से '*विभाषा*' की अनुवृत्ति ६।२।६८ तक जायेगी ॥

पापं च शिल्पिनि ॥६।२।६८॥

पापम् १।१॥ च अ० ॥ शिल्पिनि ७।१॥ *अनु०*—विभाषा, आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—शिल्पिवाचिन्युत्तरपदे पापशब्दः पूर्वपदं विभाषाऽऽद्युदात्तं भवति ॥ *उदा०*—पापनापितः, पापनापितः । पापकुलालः, पापकुलालः ॥

भाषार्थः—[*शिल्पिनि*] शिल्पिवाची शब्द उत्तरपद रहते [*पापम्*] पाप शब्द को [*च*] भी विकल्प से आद्युदात्त होता है ॥ पक्ष में पूर्ववत् अन्तोदात्तत्व होगा । *पापाणके कुत्सितैः* (२।१।५३) से उदाहरणों में समानाधिकरण समास हुआ है ॥ पापनापितः का अर्थ है बुरा नाई, जो क्षौर को ठीक प्रकार से न कर सके ॥

गोत्रान्तेवासिमाणवब्राह्मणेषु क्षेपे ॥६।२।६९॥

गोत्रा······णेषु ७।३॥ क्षेपे ७।१॥ *स०*—गोत्रञ्च अन्तेवासी च माणवश्च ब्राह्मणश्च गोत्रा······ह्मणास्तेषु······इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—क्षेपवाचिनि समासे गोत्रवाचिनि, अन्तेवासिवाचिनि, चोत्तरपदे माणवब्राह्मणयोश्चोत्तरपदयोः पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ *उदा०*—गोत्र—जङ्घावात्स्यः, भार्यासौश्रुतः वशाब्राह्मकृतेयः । अन्तेवासी - कुमारीदाक्षाः, ओदनपाणिनीयाः, घृतरौढीयाः, कम्बलचारायणीयाः । माणव—भिक्षामाणवः । ब्राह्मण—दासीब्राह्मणः, वृषलीब्राह्मणः, भयब्राह्मणः ॥

भाषार्थः—[*क्षेपे*] क्षेप = निन्दावाची समास में [*गोत्रान्तेवासिमाणवब्राह्मणेषु*] गोत्रवाची, अन्तेवासिवाची तथा माणव एवं ब्राह्मण शब्दों के उत्तरपद रहते पूर्वपद को आद्युदात्त होता है ॥ सर्वत्र उदाहरणों में जिस किसी हेतु से निन्दा प्रकट की जा रही है, अतः निन्दावाची समास है ॥ उदा०—जङ्घावात्स्यः (श्राद्ध इत्यादि में जाने पर जहाँ

वात्स्य गोत्र वाले के ही पादप्रक्षालनादि कार्य किये जाते हों, वहाँ कोई अवात्स्य जाकर कहे कि 'मैं वात्स्य हूँ' ताकि उसका भी पादप्रक्षालन हो, तो उसे जङ्घावात्स्यः कहकर पुकारेंगे, यही यहाँ निन्दा है), भार्यासौश्रुतः (भार्या की प्रधानता वाला सुश्रुत का अपत्य) भार्याप्रधानः सौश्रुतः भार्यासौश्रुतः। यहाँ *शाकपार्थिवा०* (*वा०* २।१।५९) वार्त्तिक से समास तथा उत्तरपद (प्रधान) का लोप हुआ है। वशाब्राह्मकृतेयः (वशा वन्ध्या स्त्री को कहते हैं, अतः अर्थ होगा वन्ध्या स्त्री की प्रधानता वाला ब्रह्मकृत का अपत्य, यही यहाँ क्षेप है)। यहाँ ब्रह्मकृत शब्द शुभ्रादि गण में पठित होने से *शुभ्रादिभ्यश्च* (४।१।१२३) से ढक् प्रत्यय हुआ है। भार्यासौश्रुतः के समान यहाँ भी समास जानें। कुमारीदाक्षाः (कन्या प्राप्ति की इच्छा से दाक्षि = व्याडि के प्रोक्त संग्रह ग्रन्थ को पढ़ने वाले) भिक्षामाणवः (भिक्षा प्राप्ति की आशा से ब्रह्मचर्य से रहने वाला), दासीब्राह्मणः (दासी जिसकी भार्या है ऐसा ब्राह्मण), भयब्राह्मणः (दण्ड के भय से ब्राह्मण बनने वाला)। दासीब्राह्मणः, वृषलीब्राह्मणः भयब्राह्मणः में *कर्त्तृकरणे०* (२।१।३१) से बहुल से (कृत् न होने पर भी) समास हुआ है, तथा अन्यों में '*सुप् सुपा*' के योगविभाग से समास जानें ॥

अङ्गानि मैरेये ॥६।२।७०॥

अङ्गानि १।३॥ मैरेये ७।१॥ *अनु०*—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥
अर्थः—मैरेयशब्द उत्तरपदे तदङ्गवाचीनि पूर्वपदान्याद्युदात्तानि भवन्ति ॥ मद्यविशेषो मैरेयः। अङ्गशब्दश्च उपादानकारणवाची ॥
उदा०—गुडमैरेयः, मधुमैरेयः ॥

भाषार्थः—[*मैरेये*] मैरेय शब्द उत्तरपद रहते उसके [*अङ्गानि*] अङ्ग = उपादानकारणवाची पूर्वपद को आद्युदात्त होता है ॥ मैरेय मद्य विशेष का वाचक है। अङ्ग शब्द का यहाँ उपादान कारण अर्थ है अर्थात् जिससे मैरेय बनाई जाए। उत्तरपद मैरेय होने से पूर्वपद अङ्ग शब्द से मैरेय का ही अङ्ग = उपादान कारण लिया गया है। गुडमैरेयः आदि में गुड़ की शराब, शहद की शराब अर्थ होने से गुड एवं मधु मैरेय के उपादन कारणवाची पूर्वपद स्थित शब्द हैं ॥

भक्ताख्यास्तदर्थेषु ॥६।२।७१॥

भक्ताख्याः १।३॥ तदर्थेषु ७।३॥ *स०*—भक्तस्याख्या भक्ताख्याः...

षष्ठीतत्पुरुषः। तेभ्य इमानि, तदर्थानि तेषु''चतुर्थीतत्पुरुषः॥ अनु०-आदिरुदात्तः, पूर्वपदम्॥ अर्थः—भक्तवाचिनः शब्दास्तदर्थेषूत्तरपदेष्वाद्युदात्ता भवन्ति॥ उदा०—भिक्षाकंसः, श्राणाकंसः, भाजीकंसः॥

भाषार्थः—भक्त अन्न को कहते हैं। आख्या ग्रहण अन्न के पर्याय एवं तद्विशेष का ग्रहण हो इसलिये है॥ [भक्ताख्याः] अन्न की आख्य वाले शब्दों को [तदर्थेषु] तदर्थ (अन्न के लिये) जो (पात्रादि तद्वाची) शब्द के उत्तरपद रहते आद्युदात्त होता है॥ उदा०—भिक्षाकंसः (भिक्षा का पात्र), श्राणाकंसः (लप्सी का पात्र) भाजीकंसः (माँड का पात्र)। भिक्षा आदि शब्द अन्नविशेषवाची हैं, कंस (=कांसी का बना पात्र) तदर्थ शब्द है ही॥

गोबिडालसिंहसैन्धवेषूपमाने ॥६।२।७२॥

गोबिडालसिंहसैन्धवेषु ७।३॥ उपमाने ७।१॥ स०—गोबि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम्॥ अर्थः—गो, बिडाल, सिंह, सैन्धव इत्येतेषूपमानवाचिषूत्तरपदेषु पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति॥ उदा०—धान्यं गौरिव धान्यगवः, हिरण्यगवः। भिक्षाबिडालः। तृण-सिंहः, काष्ठसिंहः। सक्तुसैन्धवः, पानसैन्धवः॥

भाषार्थः—[गोबि''वेषु] गो, बिडाल, सिंह, सैन्धव इन [उपमाने] उपमानवाची शब्दों के उत्तरपद रहते पूर्वपद को आद्युदात्त होता है॥ उदाहरणों में उपमितं व्याघ्रा० (२।१।५५) से समास होता है[1]॥ धान्य-गवः यहाँ गोरतद्धित० (५।४।९२) से समासान्त टच् प्रत्यय हुआ है, अतः चित् स्वर प्राप्त था पूर्वपद आद्युदात्त कह दिया। अन्यत्र समास को अन्तोदात्तत्व ही प्राप्त था तदपवाद है॥ उदा०—धान्यगवः (गाय के समान ऊँची अन्नराशि), हिरण्यगवः (गौ के अवयव विशेष के समान स्वर्ण)। भिक्षाबिडालः (बिलार की तरह भिक्षा अर्थात् अति न्यून)। तृणसिंहः (सिंह की तरह घास का ढेर)। सक्तुसैन्धवः (नमक की तरह सफेद पिसा हुआ सत्तू)॥

---

१. व्याघ्रादिगण में 'सिंह' शब्द साक्षात् पठित है शेष गो बिडाल सैन्धव का आकृतिगणत्व से समावेश होता है॥

अके जीविकार्थे ॥६।२।७३॥

अके ७।१॥ जीविकार्थे ७।१॥ *स०*—जीविकाया अर्थः इदं, जीविकार्थः तस्मिन्''' षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—जीविकाशब्देन तद्वान् अत्र लक्ष्यते। जीविकार्थवाचिनि समासे अकप्रत्ययान्तशब्द उत्तरपदे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ *उदा०*—दन्तलेखकः, नखलेखकः, अवस्करशोधकः, रमणीयकारकः ॥

भाषार्थः—[*जीविकार्थे*] जीविकार्थवाची समास में [*अके*] अकप्रत्ययान्त शब्द के उत्तरपद रहते पूर्वपद को आद्युदात्त होता है ॥ उदाहरणों में *नित्यं क्रीडा०* (२।२।१७) से समास होता है ॥ सिद्धि तत्सूत्र पर ही देखें ॥ जीविका शब्द से यहाँ तद्वान् का ग्रहण है जो उदाहरणों से स्पष्ट है ॥

यहाँ से 'अके' की अनुवृत्ति ६।२।७४ तक जायेगी ॥

प्राचां क्रीडायाम् ॥६।२।७४॥

प्राचाम् ६।३॥ क्रीडायाम् ७।१॥ *अनु०*—अके, आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—प्राग्देशनिवासिनां या क्रीडा तद्वाचिनि समासे अकप्रत्ययान्त उत्तरपदे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ *उदा०*—उद्दालकपुष्पभञ्जिका, वीरणपुष्पप्रचायिका, शालभञ्जिका, तालभञ्जिका ॥

भाषार्थः—[*प्राचाम्*] प्राग्देश निवासियों की जो [*क्रीडायाम्*] क्रीडा तद्वाची समास में अकप्रत्ययान्त शब्द के उत्तरपद रहते पूर्वपद को आद्युदात्त होता है ॥ *उदा०*—उद्दालकपुष्पभञ्जिका (प्राच्य भारत की एक क्रीडा जिसमें लसौड़े के फूल तोड़े वा कुचले जाते हैं)। इसी प्रकार अन्यों का भी अर्थ समझें ॥यहाँ भी *नित्यं क्रीडा०* (२।२।१७) से ही समास हुआ है। सिद्धि तत्सूत्र पर ही देखें ॥

अणि नियुक्ते ॥६।२।७५॥

अणि ७।१॥ नियुक्ते ७।१॥ *अनु०*—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—अणन्त उत्तरपदे नियुक्तवाचिनि समासे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ *उदा०*—छत्रधारः, तूणीरधारः, कमण्डलुग्राहः, भृङ्गारधारः ॥

भाषार्थः—[*अणि*] अणन्त शब्द उत्तरपद रहते [*नियुक्ते*] नियुक्त-

वाची समास में पूर्वपद को आद्युदात्त होता है ॥ *कर्मण्यण्* (३।२।१) से अण् प्रत्यय हुआ है ॥ *उदा०*—छत्रधारः (छत्र धारण करने वाला)। तूणीरधारः (बाण रखने के कोश=इषुधि को धारण करनेवाला)। कमण्डलुग्राहः (कमण्डलु लेने वाला)। भृङ्गारधारः ॥

यहाँ से '*अणि*' की अनुवृत्ति ६।२।७७ तक जायेगी ॥

शिल्पिनि चाकृञः ॥६।२।७६॥

शिल्पिनि ७।१॥ च अ० ॥ अकृञः ६।१॥ *स०*—अकृञ इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अणि, आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—अणन्त उत्तरपदे शिल्पिवाचिनि समासे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति, स चेदण् कृञो न भवति ॥ *उदा०*—तन्तुवायः, तुन्नवायः, बालवायः ॥

भाषार्थः—[*शिल्पिनि*] शिल्पिवाची समास में [*च*] भी अणन्त उत्तरपद रहते पूर्वपद को आद्युदात्त होता है, यदि वह अण् [*अकृञः*] कृञ् का न हो, अर्थात् अणन्त शब्द कृञ् धातु से न बना हो तो ॥ *ह्वावामश्च* (३।२।२) से तन्तुवायः आदि में अण् प्रत्यय हुआ है, उसी सूत्र में सिद्धि देखें ॥ *उदा०*—तन्तुवायः (जुलाहा), तुन्नवायः (दर्जी), बालवायः (ऊनी वस्त्र बुनने वाला) ॥

यहाँ से '*अकृञः*' की अनुवृत्ति ६।२।७७ तक जायेगी ॥

संज्ञायां च ॥६।२।७७॥

संज्ञायाम् ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—अकृञः, अणि, आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—अकृञोऽणन्त उत्तरपदे संज्ञायां विषये पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ *उदा०*—तन्तुवायो नाम कीटः, बालवायो नाम पर्वतः ॥

भाषार्थः—[*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में [*च*] भी अणन्त उत्तरपद रहते पूर्वपद को आद्युदात्त होता है, यदि वह अण् कृञ् का न हो तो ॥ पूर्व सूत्र में शिल्पि विषय में कहा था, यहाँ संज्ञा में भी कह दिया ॥ तन्तुवाय रेशम के कीट का नाम है, तथा बालवाय पर्वत विशेष की संज्ञा है ॥

गोतन्तियवं पाले ॥६।२।७८॥

गोतन्तियवम् १।१॥ पाले ७।१॥ *स०*—गो० इत्यत्र समाहारद्वन्द्वः ॥

अनु०—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—गो, तन्ति, यव इत्येतानि पूर्वपदानि पालशब्द उत्तरपद आद्युदात्तानि भवन्ति ॥ *उदा०*—गोपालः, तन्तिपालः, यवपालः ॥

भाषार्थः—पूर्वपद स्थित [*गोतन्तियवम्*] गो, तन्ति, यव इन शब्दों को [*पाले*] पाल शब्द उत्तरपद रहते आद्युदात्त होता है ॥ *उदा०*—गोपालः (ग्वाला)। तन्तिपालः (राज्य की गायों के बड़े झुण्ड की देख-भाल करने वाला)। यवपालः (जौ की रखवाली करने वाला) ॥

णिनि ॥६।२।७९॥

णिनि ७।१॥ *अनु०*—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—णिनन्त उत्तरपदे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ *उदा०*—फलहारी, पर्णहारी ॥

भाषार्थः—[*णिनि*] णिनन्त उत्तरपद रहते पूर्वपद को आद्युदात्त होता है ॥ उदाहरणों में *व्रते* (३।२।८०) से णिनि प्रत्यय हुआ है ॥

यहाँ से '*णिनि*' की अनुवृत्ति ६।२।८० तक जायेगी ॥

उपमानं शब्दार्थप्रकृतावेव ॥६।२।८०॥

उपमानम् १।१॥ शब्दार्थप्रकृतौ ७।१॥ एव अ० ॥ *स०*—शब्दोऽर्थः यस्य स शब्दार्थः बहुव्रीहिः। शब्दार्थः प्रकृतिर्यस्य स शब्दार्थ-प्रकृतिः, तस्मिन्... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—णिनि, आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—शब्दार्थप्रकृतावेव णिनन्त उत्तरपद उपमानवाचि पूर्वपद-माद्युदात्तं भवति ॥ *उदा०*—उष्ट्रक्रोशी, ध्वाङ्क्षरावी, खरनादी ॥

भाषार्थः—[*शब्दार्थप्रकृतौ*] शब्दार्थवाली प्रकृति है जिन णिनन्त शब्दों की, उनके उत्तरपद रहते [*एव*] ही [*उपमानम्*] उपमानवाची पूर्वपद को आद्युदात्त होता है ॥ उष्ट्रक्रोशी में क्रुश आह्वाने धातु से *कर्त्तर्यु-पमाने* (३।२।७९) से णिनि प्रत्यय हुआ है। इसी प्रकार रु शब्दे से पूर्ववत् णिनि होकर ध्वाङ्क्षरावी एवं णद अव्यक्ते शब्दे से खरनादी बना ॥ *उदा०*—उष्ट्रक्रोशी (ऊँट की तरह बलबलाने वाला)। ध्वाङ्क्षरावी (कौवे की तरह काँव काँव करने वाला)। खरनादी (गधे की तरह रेंकने वाला)। सभी उदाहरणों में क्रोशी आदि णिनन्त शब्द शब्दार्थप्रकृति वाले हैं, उपमानवाची पूर्वपद हैं ही ॥

युक्तारोह्यादयश्च ॥६।२।८१॥

युक्तारोह्यादयः १।३॥ च अ० ॥ स०—युक्तारोही आदिर्येषां ते युक्तारोह्यादयः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—युक्तारोह्यादयश्च समासा आद्युदात्ता भवन्ति ॥ उदा०—युक्तारोही, आगतरोही, आगतयोधी ॥

भाषार्थः—[*युक्तारोह्यादयः*] युक्तारोही आदि समस्त शब्दों को [च] भी आद्युदात्त होता है ॥ सभी उदाहरण णिनि प्रत्ययान्त हैं । *णिनि* (६।२।७९) से ही आद्युदात्त सिद्ध था, पुनः यह सूत्र नियमार्थ है, अर्थात् जहाँ युक्त इत्यादि शब्द ही पूर्वपद में हों तथा आरोही इत्यादि ही उत्तरपद में हों वहीं आद्युदात्त हो, विपरीत होने पर समास का अन्तोदात्तत्व ही होगा ॥

दीर्घकाशतुषभ्राष्ट्रवटं जे ॥६।२।८२॥

दीर्घ···वटम् १।१॥ जे ७।१॥ स०—दीर्घश्च काशश्च तुषश्च भ्राष्ट्रश्च वटश्च, दीर्घ···वटम्, समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—दीर्घान्तं पूर्वपदं काश, तुष, भ्राष्ट्र, वट इत्येतानि च पूर्वपदानि जे उत्तरपदे आद्युदात्तानि भवन्ति ॥ *उदा०*—दीर्घान्तम्—कुटी॑जः, शमी॑जः । काश॑जः, तुष॑जः, भ्राष्ट्र॑जः, वट॑जः ॥

भाषार्थः—[*दीर्घ·····वटम्*] दीर्घान्त पूर्वपद को तथा काश, तुष, भ्राष्ट्र वट इन पूर्वपद स्थित शब्दों को [जे] 'ज' उत्तरपद रहते आद्युदात्त होता है ॥ उदाहरणों में *सप्तम्यां जनेर्डः* (३।२।९७) से ड प्रत्यय हुआ है ॥ *उदा०*—कुटीजः (कुटी में उत्पन्न होने वाला), शमीजः (शमी वृक्ष में उत्पन्न होने वाला), काशजः (सरकण्डे में उत्पन्न होने वाला), तुषजः (भूसी में उत्पन्न होने वाला), भ्राष्ट्रजः (भाड़ में उत्पन्न) वटजः (बरगद में उत्पन्न) ॥ *गतिकारकोपपदात् कृत्* (६।२।१३९) का यह सूत्र अपवाद है ।

यहाँ से 'जे' की अनुवृत्ति ६।२।८३ तक जायेगी ॥

अन्त्यात् पूर्वं बह्वचः ॥६।२।८३॥

अन्त्यात् ५।१॥ पूर्वम् १।१॥ बह्वचः ६।१॥ स०—बहवोऽचो यस्मिन् स बह्वच् तस्य·····बहुव्रीहिः । अन्ते भवोऽन्त्यः तस्मात्····· ॥

अनु०—जे, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—जे उत्तरपदे बह्वचः पूर्वपदस्यान्त्यात् पूर्वमुदात्तं भवति ॥ *उदा०*—उपसरंजः, मन्दुरंजः, आमलकींजः ॥

भाषार्थः—'ज' उत्तरपद रहते [*बह्वचः*] बहुत अच् वाले पूर्वपद के [*अन्त्यात्*] अन्त्य अक्षर से [*पूर्वम्*] पूर्व को उदात्त होता है ॥ उपसरजः यहाँ 'उपसर' पूर्वपद है, उसका अन्त्य अक्षर 'र' है अतः उससे पूर्व 'स' को उदात्त होगा। इसी प्रकार सबमें जानें। बहुत अच् वाला पूर्वपद सबमें है ही ॥ *गतिकारको०* (६।२।१३९) के ये सब भी अपवाद हैं ॥

ग्रामेऽनिवसन्तः ॥६।२।८४॥

ग्रामे ७।१॥ अनिवसन्तः १।१॥ *स०*—अनिव० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—ग्रामशब्द उत्तरपदे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति, तच्चेद् पूर्वपदं निवसद्वाचि न भवति ॥ निवसन्त इत्यत्र निपूर्वात् वसेः *तॄभूवहिवसि०* (*उणा०* ३।१२८) इत्यनेनौणादिकः कर्तरि झच् प्रत्ययः ॥ *उदा०*—मल्लानां ग्रामः मल्लग्रामः, वणिंग्ग्रामः, देवस्य ग्रामः देवग्रामः, देवस्वामिक इत्यर्थः ॥

भाषार्थः—[*ग्रामे*] ग्राम शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को आद्युदात्त होता है, यदि पूर्वपद [*अनिवसन्तः*] अनिवसन्तवाची = निवास करने वाले को न कहता हो तो ॥ निवसतीति निवसन्तः यहाँ कर्त्ता में वस धातु से औणादिक झच् प्रत्यय हुआ है। पश्चात् नञ्समास करके 'अनिवसन्तः' बना। पूर्वपदों के अनिवसन्त = निवास करने वाले न होने से मल्लग्रामः वणिग्ग्रामः में ग्राम शब्द समुदाय का वाचक है, अतः मल्लग्रामः का अर्थ होगा 'मल्लों का समूह'। देवग्रामः का अर्थ है देव है स्वामी (निवासी नहीं) जिसका, ऐसा ग्राम ॥

घोषादिषु च ॥६।२।८५॥

घोषादिषु ७।३॥ च अ० ॥ *स०*—घोष आदिर्येषां ते घोषादयस्तेषु बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—घोषादिषु चोत्तरपदेषु पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ *उदा०*—दाक्षिंघोषः, दाक्षिंकटः, दाक्षिंह्रदः ॥

भाषार्थः—[*घोषादिषु*] घोषादि शब्दों के उत्तरपद रहते [च] २ पूर्वपद को आद्युदात्त होता है ॥ उदाहरणों में षष्ठी समास है ॥

छात्र्यादयः शालायाम् ॥६।२।८६॥

छात्र्यादयः १।३॥ शालायाम् ७।१॥ *स०*—छात्रिः आदिर्येषां ते छात्र्यादयः, बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—शालायामुत्तरपदे छात्र्यादयः शब्दा आद्युदात्ता भवन्ति ॥ *उदा०*—छात्रिशाला, पैलिशाला[1], भाण्डिशाला । व्याडिशाला, आपिशलिशाला ।

भाषार्थः—[*शालायाम्*] शाला शब्द उत्तरपद रहते [*छात्र्यादयः*] छात्रि आदि शब्दों को आद्युदात्त होता है ॥ छात्रि आदि सभी शब्द अपत्यार्थक इञ् प्रत्ययान्त हैं । 'शाला' शब्द 'पदेषु पदैकदेशान्' नियम से पाठशाला अर्थ का वाचक है । पूर्वपद सभी आचार्य विशेष के वाचक हैं, अतः इनका अर्थ होगा तत्तद् आचार्यों के गुरुकुल ॥[2]

प्रस्थेऽवृद्धमकर्क्यादीनाम् ॥६।२।८७॥

प्रस्थे ७।१॥ अवृद्धम् १।१॥ अकर्क्यादीनाम् ६।३॥ *स०*—अवृद्ध-मित्यत्र नञ्तत्पुरुषः । कर्की आदिर्येषां ते कर्क्यादयः, बहुव्रीहिः । न कर्क्यादयोऽकर्क्यादयस्तेषाम्, ... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—प्रस्थशब्द उत्तरपदे कर्क्यादिवर्जितमवृद्धं पूर्वपद-माद्युदात्तं भवति ॥ *उदा०*—इन्द्रप्रस्थः, कुण्डप्रस्थः, ह्रदप्रस्थः, सुवर्णप्रस्थः ॥

---

१. कई ग्रन्थों में 'पेलिशाला' उदाहरण मिलता है, वह अशुद्ध है इञन्त होने से 'पैलि' पूर्वपद होना चाहिए। पैलि ऋग्वेद प्रवक्ता आचार्य पैल का ही नामान्तर है । काशिका में कहीं २ ऐलिशाला पाठ है ॥

२. छान्दोग्य उपनिषद् (५।११।१) में 'एते महाशाला महाश्रोत्रियाः' पाठ है इसमें महाशाला का अर्थ 'बड़ी अध्ययनशाला = गुरुकुल हैं जिनके' अर्थ ही है । आचार्यशंकर ने महाशाला का अर्थ 'बड़ी शाला = गृह हैं जिनके' किया है, वह चिन्त्य है । यहां 'महाश्रोत्रिय' विशेषण होने से अन्तेवासियों की संख्या का आधिक्य होना भी स्पष्ट है । इतना ही नहीं, ऋषि लोग साधारण कुटियों में निवास करते थे न कि बड़े-बड़े भवनों में, इस दृष्टि से भी महाशाला में शालाशब्द गृह का वाचक नहीं है ॥

भाषार्थः—[*प्रस्थे*] प्रस्थ शब्द उत्तरपद रहते [*अकर्क्यादीनाम्*] कर्क्यादि गणस्थ तथा [*अवृद्धम्*] वृद्ध संज्ञक शब्दों को छोड़कर पूर्वपद को आद्युदात्त होता है॥ वृद्ध से अभिप्राय है जिनकी *वृद्धिर्यस्या०* (१।१।७२) आदि से वृद्ध संज्ञा हुई हो उन शब्दों को छोड़कर, और कर्की आदि गणस्थ शब्दों को छोड़कर पूर्वपद आद्युदात्त होता है॥ अकर्क्यादीनाम् एवं अवृद्धम् में पृथक् विभक्तियां वैचित्र्यार्थ हैं॥

यहाँ से '*प्रस्थे*' की अनुवृत्ति ६।२।८८ तक जायेगी॥

मालादीनां च ॥६।२।८८॥

मालादीनाम् ६।३॥ च अ०॥ *स०*—माला आदिर्येषां ते मालादयस्तेषां... बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—प्रस्थे, आदिरुदात्तः, पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—प्रस्थ उत्तरपदे मालादीनां पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति॥ *उदा०*—मा॑लाप्रस्थः, शा॑लाप्रस्थः॥

भाषार्थः—प्रस्थ शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद स्थित [*मालादीनाम्*] मालादि शब्दों को [च] भी आद्युदात्त होता है॥ माला इत्यादि शब्द वृद्ध संज्ञक हैं अतः पूर्व सूत्र से निषेध प्राप्त था यहाँ विधान कर दिया।

अमहन्नवं नगरेऽनुदीचाम् ॥६।२।८९॥

अमहन्नवम् १।१॥ नगरे ७।१॥ अनुदीचाम् ६।३॥ *स०*—महत् च नवञ्च महन्नवम् समाहारो द्वन्द्वः। न महन्नवम् अमहन्नवम्, नञ्तत्पुरुषः। न उदञ्चः अनुदञ्चस्तेषाम् ... नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—नगरशब्द उत्तरपदे महत् नव इत्येतौ शब्दौ वर्जयित्वा पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति, तच्चेत् उदीचां न भवति॥ *उदा०*—सु॑ह्मनगरम्, पु॑ण्ड्रनगरम्॥

भाषार्थः—[*नगरे*] नगर शब्द उत्तरपद रहते [*अमहन्नवम्*] महत् तथा नव शब्द को छोड़ कर पूर्वपद को आद्युदात्त होता है, यदि वह नगर [*अनुदीचाम्*] उदीच्य प्रदेश का न हो॥ उदाहरणों में षष्ठी समास है॥

अर्मे चावर्णं द्व्यच् त्र्यच् ॥६।२।९०॥

अर्मे ७।१॥ च अ०॥ अवर्णम् १।१॥ द्व्यच् १।१॥ त्र्यच् १।१॥ *स०*—द्वौ अचौ यस्मिन् स द्व्यच्, बहुव्रीहिः। त्रयोऽचो यस्मिन् स

त्र्यच्, बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—अर्मशब्द उत्तरपदे द्व्यच् त्र्यच् चावर्णान्तं पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ *उदा०*—द्व्यच्—दत्तार्मम्, गुप्तार्मम् । त्र्यच्—कुक्कुटार्मम्, वायसार्मम् ॥

भाषार्थः—[*अर्मे*] अर्म शब्द उत्तरपद रहते [*च*] भी [*अवर्णम्*] अवर्णान्त जो [*द्व्यच्त्र्यच्*] दो अचों वाले तथा तीन अचों वाले पूर्व पदस्थित शब्द उन्हें आद्युदात्त होता है ॥ दत्तार्मम् आदि किसी नगर की संज्ञायें हैं ॥ सर्वत्र षष्ठी समास है ॥

यहाँ से 'अर्मे' की अनुवृत्ति ६।२।९१ तक जायेगी ॥

न भूताधिकसंजीवमद्राश्मकज्जलम् ॥६।२।९१॥

न अ० ॥ भूता''लम् १।१॥ *स०*—भूतञ्च अधिकञ्च संजीवञ्च मद्राश्च अश्म च कज्जलञ्च, भूता''लम्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अर्मे, आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—भूत, अधिक, संजीव, मद्र, अश्मन्, कज्जल इत्येतानि पूर्वपदानि अर्मशब्द उत्तरपद आद्युदात्तानि न भवन्ति ॥ *उदा०*—भूतार्मम्, अधिकार्मम्, संजीवार्मम्, मद्रार्मम्, अश्मार्मम्, कज्जलार्मम् ॥

भाषार्थः—[*भूता''लम्*] भूत, अधिक, संजीव, मद्र, अश्मन, कज्जल इन पूर्वपद स्थित शब्दों को अर्म शब्द उत्तरपद रहते आद्युदात्त [*न*] नहीं होता है । भूत, अधिक आदि शब्द दो अच् वाले तथा तीन अच् वाले हैं, अतः पूर्वसूत्र से पूर्वपदाद्युदात्तत्व प्राप्त था उसका निषेध कर दिया । पूर्वपदाद्युदात्त का निषेध हो जाने पर समासान्तोदात्तत्व हो गया । सभी उदाहरण नगर विशेषवाची हैं, एवं सर्वत्र षष्ठी समास है ॥

मद्र तथा अश्म का पृथक् २ एवं समास करके भी ग्रहण है अतः 'मद्राश्मार्मम्' प्रयोग भी बनता है ॥

[*पूर्वपदान्तोदात्तप्रकरणम्*]

अन्तः ॥६।२।९२॥

अन्तः १।१॥ *अनु०*—उदात्तः पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—अधिकारोऽयम् । इत ऊर्ध्वं यदनुक्रमिष्यामस्तत्र पूर्वपदस्यान्त उदात्तो भवतीति वेदितव्यम् ॥ *उदा०*—वक्ष्यति—*सर्वं गुणकार्त्स्न्ये*—सर्वश्वेतः, सर्वकृष्णः ॥

भाषार्थः—यह अधिकार सूत्र है। ६।२।१०९ तक इसका अधिकार जायेगा। जहाँ तक यह जायेगा, वहाँ २ पूर्वपद के [*अन्तः*] अन्त को उदात्त होता जायेगा॥

सर्वं गुणकार्त्स्न्ये ॥६।२।९३॥

सर्वम् १।१॥ गुणकार्त्स्न्ये ७।१॥ *स०*—गुणस्य कार्त्स्न्यं गुणकार्त्स्न्यं, तस्मिन्''' षष्ठीतत्पुरुषः॥ *अनु०*—अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—गुणकार्त्स्न्ये वर्त्तमानः सर्वशब्दः पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति॥ *उदा०*—सर्वश्वेतः, सर्वकृष्णः, सर्वमहान्॥

भाषार्थः—[*गुणकार्त्स्न्ये*] गुणों की सम्पूर्णता अर्थ में वर्त्तमान पूर्वपदस्थित [*सर्वम्*] सर्व शब्द को अन्तोदात्त होता है॥ गुण का कार्त्स्न्य अर्थात् गुण का सर्वत्र सम्पूर्णता से होना। उदाहरणों में *पूर्वकालैकसर्व०* (२।१।४८) से समास हुआ है॥ *उदा०*—सर्वश्वेतः (सारा सफेद) सर्वमहान् (सर्वश्रेष्ठ)॥

संज्ञायां गिरिनिकाययोः ॥६।२।९४॥

संज्ञायाम् ७।१॥ गिरिनिकाययोः ७।२॥ *स०*—गिरिश्च निकायश्च गिरिनिकायौ तयोः''''''इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—गिरि निकाय इत्येतयोरुत्तरपदयोः संज्ञायां विषये पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति॥ *उदा०*—अञ्जनागिरिः, भञ्जनागिरिः। निकाये—शापिण्डिनिकायः, मौण्डिनिकायः, चिखिल्लिनिकायः॥

भाषार्थः—[*गिरिनिकाययोः*] गिरि तथा निकाय शब्द उत्तरपद रहते [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है॥ अञ्जनागिरिः (एक पर्वत का नाम) आदि में षष्ठीतत्पुरुष समास है। अञ्जन भञ्जन शब्द को *वनगिर्योः संज्ञायाम्०* (६।३।११५) से दीर्घत्व हुआ है। शापिण्डि मौण्डि शब्द *अत इञ्* (४।१।९५) से इञ् प्रत्ययान्त हैं, तथा चिखिल्लि शब्द मत्वर्थीय इनि प्रत्ययान्त है॥

कुमार्यां वयसि ॥६।२।९५॥

कुमार्याम् ७।१॥ वयसि ७।१॥ *अनु०*—अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—वयसि गम्यमाने कुमार्यामुत्तरपदे पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति॥ *उदा०*—वृद्धा चासौ कुमारी च = वृद्धकुमारी, जरती चासौ कुमारी च = जरत्कुमारी॥

भाषार्थः—[*वयसि*] अवस्था गम्यमान हो तो [*कुमार्याम्*] कुमारी शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है॥ *विशेषणं विशेष्येण०* (२।१।५६) से वृद्धकुमारी (वृद्ध जो कुमारी) में समास हुआ है, तथा *पूर्वकालैक०* (२।१।४८) से जरत्कुमारी में समास हुआ है। *पुंवत्कर्मधारय०* (६।३।४०) से वृद्धा एवं जरती को पुंवद्भाव हुआ है॥[1]

उदकेऽकेवले ॥६।२।९६॥

उदके ७।१॥ अकेवले ७।१॥ *स०*—अके० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—उदकशब्द उत्तरपदे अकेवलवाचिनि समासे पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति॥ अकेवलं मिश्रं द्रव्यान्तरसम्पृक्तमित्यर्थः॥ *उदा०*—गुडमिश्रमुदकं = गुडोदकम्, गुडो॑दकम्। तिलोदकम्, तिलो॑दकम्॥

भाषार्थः—[*अकेवले*] अकेवलवाची = मिश्रित अर्थ के बोधक समास में [*उदके*] उदक शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है॥ अकेवल अर्थात् जो केवल नहीं = मिश्रित मिला हुआ॥ *समानाधिकरणाधिकारे शाकपार्थि०* (वा०२।१।५९) इस वार्त्तिक से उदाहरणों में कर्मधारय समास एवं उत्तरपद मिश्र शब्द का लोप हुआ है। गुड एवं उदक का एकादेश होने से *स्वरितो वानुदात्ते पदादौ* (८।२।६) से पक्ष में 'ओ' को स्वरितत्व भी होता है॥

द्विगौ क्रतौ ॥६।२।९७॥

द्विगौ ७।१॥ क्रतौ ७।१॥ *अनु०*—अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—क्रतुवाचिनि समासे द्विगावुत्तरपदे पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति॥ *उदा०*—गर्गाणां त्रिरात्रः = गर्गत्रिरात्रः, चरकत्रिरात्रः, कुसुरविन्दसप्तरात्रः॥

---

१. कुमारी शब्द में *वयसि प्रथमे* (४।१।२०) से प्रथमवयः अर्थ में ङीप् प्रत्यय होता है उसका वृद्धा और जरती (अन्त्य अवस्था वाचक) शब्दों के साथ सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता। इस लिए कुमारी शब्द लक्षणा से 'पुरुष सहभाव को अप्राप्त' अर्थ को कहता है। उस अवस्था में अर्थ होगा 'जिसका पुरुष के साथ सहशय्यात्व नहीं हुआ' ऐसी वृद्धा वा जरती कुमारी। यदि यहाँ कुमारी शब्द का प्रधान अर्थ स्वीकार करें तब वृद्धा वा जरती शब्द में लक्षणा मानकर (वृद्धा इव वृद्धा, जरती इव जरती) अर्थ होगा, कुमारी प्रथम वयः वाली होते हुए भी रोगादि के कारण वृद्धा वा जरती के समान प्रतीयमाना, अर्थ होगा।

भाषार्थः—[*क्रतौ*] क्रतुवाची समास में [*द्विगौ*] द्विगु उत्तरपद रहते पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है ॥ सर्वत्र उदाहरणों में षष्ठी समास है। क्रतु यज्ञ को कहते हैं। सर्वत्र त्रिरात्र, सप्तरात्र शब्द द्विगुसंज्ञक परे हैं। तिसृणां रात्रीणां समाहारः त्रिरात्रः यहाँ पहले *तद्धितार्थो०* (२।१।५०) से समास और *अहः सर्वैक०* (५।४।८७) से समासान्त अच् प्रत्यय होता है। पश्चात् गर्ग शब्द के साथ षष्ठीसमास होगा। इसी प्रकार सप्तरात्रः में जानें ॥ ये क्रतु विशेषों की संज्ञाएँ हैं।

सभायां नपुंसके ॥६।२।९८॥

सभायाम् ७।१॥ नपुंसके ७।१॥ *अनु०*—अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—सभाशब्द उत्तरपदे नपुंसकलिङ्गे समासे पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति ॥ *उदा०*—गोपालसभम्, पशुपालसभम्, स्त्रीसभम्, दासीसभम् ॥

भाषार्थः—[*नपुंसके*] नंपुसक लिङ्ग वाले समास में [*सभायाम्*] सभा शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है ॥ उदाहरणों में सर्वत्र षष्ठी समास है, एवं *सभाऽराजा०* (२।४।२३) से नंपुसकलिङ्ग होता है ॥

पुरे प्राचाम् ॥६।२।९९॥

पुरे ७।१॥ प्राचाम ६।३॥ *अनु०*—अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—पुरशब्द उत्तरपदे प्राचां देशे पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति ॥ *उदा०*—ललाटपुरम्, काञ्चीपुरम्, शिवदत्तपुरम्, कार्णिपुरम्, नार्मपुरम् ॥

भाषार्थः—[*पुरे*] पुर शब्द उत्तरपद रहते [*प्राचाम्*] प्राच्य भारत के देशों को कहने में पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है ॥ सर्वत्र उदाहरणों में षष्ठीसमास है, एवं सभी प्राच्य भारत के भिन्न-भिन्न ग्रामों के वाचक शब्द हैं। प्रयाग से पूर्व के देश प्राग्देश कहे जाते हैं ॥

यहाँ से 'पुरे' की अनुवृत्ति ६।२।१०१ तक जायेगी ॥

अरिष्टगौडपूर्वे च ॥६।२।१००॥

अरिष्टगौडपूर्वे ७।१॥ च अ० ॥ *स०*—अरिष्टं च गौडश्च अरिष्टगौडौ, तौ पूर्वौ यस्य स अरिष्टगौडपूर्वस्तस्मिन्''' द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—पुरे, अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—अरिष्ट गौड इत्येवं

पूर्वे समासे पुरशब्द उत्तरपदे पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति ॥ *उदा०*—अरिष्टपुरम्, अरिष्टं श्रितोऽरिष्टश्रितस्तस्य पुरम् = अरिष्टश्रितपुरम्, गौडपुरम्, गौडानां भृत्याः गौडभृत्यास्तेषां पुरं = गौडभृत्यपुरम् ॥

भाषार्थः—[*अरिष्टगौडपूर्वे*] अरिष्ट तथा गौड शब्द पूर्व हैं जिस समास में उसके पूर्वपद को [च] भी पुर शब्द उत्तरपद रहते अन्तोदात्त होता है ॥ प्राग्देशवाची न होने से पूर्व सूत्र से प्राप्त नहीं था, कह दिया ॥

न हास्तिनफलकमार्देयाः ॥६।२।१०१॥

न अ० ॥ हास्ति···र्देयाः १।३॥ *स०*—हास्तिन० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—पुरे, अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—हास्तिन, फलक, मार्देय इत्येतानि पूर्वपदानि पुरशब्द उत्तरपदे नान्तोदात्तानि भवन्ति ॥ पुरे प्राचामिति प्राप्ते प्रतिषिध्यते ॥ *उदा०*—हास्तिनपुरम्, फलकपुरम्, मार्देयपुरम् ॥

भाषार्थः—[*हास्ति···देयाः*] हास्तिन, फलक तथा मार्देय इन पूर्वपदस्थित शब्दों को पुर शब्द उत्तरपद रहते अन्तोदात्त [न] नहीं होता ॥ '*पुरे प्राचाम्*' (६।२।९९) से प्राग्देश होने से प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया। सभी सूत्रों के *समासस्य* का अपवाद होने से पूर्वपदान्तोदात्तत्व का निषेध प्रकृत सूत्र से हो जाने पर समास अन्तोदात्तत्व ही होता है ॥ हस्तिनो राज्ञोऽपत्यानि हास्तिनाः इत्यण्, मृदोरपत्यानि मार्देयाः यहाँ *शुभ्रादिभ्यश्च* (४।१।१२३) से ढक् प्रत्यय हुआ है। पश्चात् 'पुर' के साथ षष्ठी समास हुआ ॥

हास्तिनपुर से हस्तिनापुर पृथक् है। हास्तिनपुर प्राग्देशीय है और हस्तिनापुर मध्यदेशीय गंगा तट पर है ॥

कुसूलकूपकुम्भशालं बिले ॥६।२।१०२॥

कुसूलकूपकुम्भशालम् १।१॥ बिले ७।१॥ *स०*—कुसूल० इत्यत्र समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—कुसूल, कूप, कुम्भ, शाला इत्येतानि पूर्वपदानि बिलशब्द उत्तरपदे अन्तोदात्तानि भवन्ति ॥ *उदा०*—कुसूलबिलम्, कूपबिलम्, कुम्भबिलम्, शालाबिलम् ॥

भाषार्थः—[*बिले*] बिल शब्द उत्तरपद रहते [*कुसूल...लम्*] कुसूल, कूप, कुम्भ, शाला इन पूर्वपद स्थित शब्दों को अन्तोदात्त होता है ॥ *उदा०*—कुसूलबिलम् (कुठले का मुँह)। कूपबिलम् (कुएं का मुँह)। कुम्भबिलम् (घड़े का मुँह)। शालाबिलम् (मकान का द्वार) सर्वत्र षष्ठी समास हैं ॥

दिक्शब्दा ग्रामजनपदाख्यानचानराटेषु ॥६।२।१०३॥

दिक्शब्दाः १।३॥ ग्राम...टेषु ७।३॥ *स०*—दिशि दृष्टाः शब्दाः दिग्शब्दाः, उत्तरपदलोपी सप्तमीतत्पुरुषः। ग्राम० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—ग्रामजनपदाख्यानवाचिषूत्तरपदेषु चानराटशब्दे चोत्तरपदे दिक्शब्दाः पूर्वपदान्यन्तोदात्तानि भवन्ति ॥ *उदा०*—ग्राम—पूर्वेषुकामशमी, अपरेषुकामशमी, पूर्वकृष्णमृत्तिका, अपरकृष्णमृत्तिका। जनपद—पूर्वपञ्चालाः, अपरपञ्चालाः। आख्यान—पूर्वाधिरामम्, पूर्वयायातम्, अपरयायातम् ॥ चानराट—पूर्वचानराटम्, अपरचानराटम् ॥

भाषार्थः—[*ग्राम...टेषु*] ग्राम, जनपद तथा आख्यानवाची शब्दों के उत्तरपद रहते तथा चानराट शब्द के उत्तरपद रहते [*दिक्शब्दाः*] दिशावाची पूर्वपदस्थित शब्दों को अन्तोदात्त होता है ॥ पूर्वेषुकामशमी अपरेषुकामशमी (किसी ग्राम का नाम) में *दिक्सङ्ख्ये०* (२।१।४६) से समास हुआ है, सिद्धि वहीं देखें। एवम् पूर्वकृष्णमृत्तिका अपरकृष्णमृत्तिका (ये भी देश के नाम हैं) यहाँ भी *दिक्संख्ये०* (२।१।४९)[1] से समास हुआ है। पूर्वपञ्चालाः आदि में भी *दिक्संख्ये०* से समास हुआ है ॥ पूर्वाधिरामम् (राम को अधिकृत करके लिखा गया ग्रन्थ अधिराम, उसका पूर्व भाग)। अधिराम आदि शब्द आख्यानवाची (कथावाची) हैं। चानराट शब्द का स्वरूप से ग्रहण है, शेष के तद्वाची शब्द लिये गये हैं ॥

यहाँ से '*दिक्शब्दाः*' की अनुवृत्ति ६।२।१०५ तक जायेगी ॥

---

१. यद्यपि पूर्वकृष्णमृत्तिका अपरकृष्णमृत्तिका पूर्वपञ्चालाः अपरपञ्चालाः में '*पूर्वापराधरो०*' (२।२।१) से भी समास हो सकता है तथापि यहाँ पूर्वेषुकामशमी इत्यादि के समान देश की संज्ञा होने और एकदेश मात्र अर्थ अभिप्रेत न होने से *दिक्संख्ये संज्ञायाम्* (२।१।४६) से ही समास करना चाहिये ॥

आचार्योपसर्जनश्चान्तेवासिनि ॥६।२।१०४॥

आचार्योपसर्जनः १।१॥ सुपां स्थाने सुर्भवतीति (७।१।३९) सप्तम्यै-कवचनस्य स्थाने प्रथमैकवचनम् ॥ च अ०॥ अन्तेवासिनि ७।१॥ स०—आचार्य उपसर्जनं (अप्रधानं) यस्य(अन्तेवासिनः)स आचार्योपसर्जनः,बहुव्रीहिः ॥ अनु०–दिक्शब्दाः, अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—आचार्योपसर्जनान्तेवासिवाचिन्युत्तरपदे दिक्शब्दाः पूर्वपदानि अन्तोदात्तानि भवन्ति ॥ उदा०—पूर्वपाणिनीयाः,अपरपाणिनीयाः। पूर्वकाशकृत्स्नाः, अपरकाशकृत्स्नाः ॥

भाषार्थः—[*आचार्योपसर्जनः*] आचार्य है उपसर्जन = अप्रधान जिसका ऐसा जो [*अन्तेवासिनि*] अन्तेवासी, उसको कहने वाले शब्द के परे रहते [च] भी दिशा अर्थ में प्रयुक्त होनेवाले पूर्वपद शब्दों को अन्तोदात्त होता है ॥ *सुपां सुलुक्०* (७।१।३९) सूत्र से सुपों के स्थान में भिन्न सुपों का आदेश होता है, अतः उस सूत्र से 'आचार्योपसर्जनः' में सप्तमी एकवचन के स्थान में 'प्रथमा एकवचन' का आदेश हो गया है ॥ पाणिनेश्छात्राः पाणिनीयाः, पूर्वे च ते पाणिनीयाश्च पूर्वपाणिनीयाः (पाणिनि के पूर्व छात्र) यहाँ पाणिनीय शब्द से पाणिनि के अन्तेवासी प्रधान रूप से कहे जा रहे हैं, पाणिनि आचार्य तो तद्विशेषण है अतः उपसर्जन है। इसी प्रकार काशकृत्स्नस्येमे छात्राः काशकृत्स्नाः (४।१।८३), पूर्वे च ते काशकृत्स्नाश्च पूर्वकाशकृत्स्नाः यहाँ भी जानें ॥ *पूर्वापर०*(२।१।५७) से सर्वत्र समास हुआ जानें ॥ पाणिनि आचार्य ने अपने जीवन काल में जितने छात्र पढ़ाये, उनमें एक देश जिन्हें पूर्वकाल में पढ़ाया पूर्वपाणिनीयाः और जिन्हें अपरकाल में पढ़ाया वे अपरपाणिनीयाः कहाए। पूर्वसूत्र में दिशि दृष्टाः शब्दाः अर्थ करने से यहाँ पूर्वादि काल में प्रयुक्त शब्दों को भी कार्य हो जाता है ॥

उत्तरपदवृद्धौ सर्वं च ॥६।२।१०५॥

उत्तरपदवृद्धौ ७।१॥ सर्वम् १।१॥ च अ० ॥ *स०*—उत्तरपदस्येत्यधिकृत्य या विहिता वृद्धिः सा उत्तरपदवृद्धिः, तस्यां ... षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—दिक्शब्दाः, अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थ*—उत्तरपदाधिकारविहिता या वृद्धिः तद्वति शब्द उत्तरपदे सर्वशब्दो दिक्शब्दाश्च पूर्वपदा-

न्यन्तोदात्तानि भवन्ति॥ उदा०—सर्व—सर्वपाञ्चालकः । दिक्शब्दाः—पूर्वपाञ्चालकः, उत्तरपाञ्चालकः ॥

भाषार्थः—[उत्तरपदवृद्धौ] *उत्तरपदस्य* (७।३।१०) सूत्र के अधिकार में कही हुई जो वृद्धि उस वृद्धि किये हुए शब्द के परे रहते [*सर्वम्*] सर्व शब्द [च] तथा दिक्शब्द पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है॥ सूत्रस्थित 'उत्तरपद' शब्द में स्वरित का चिह्न होने से 'उत्तरपदस्य अधिकार में कही हुई वृद्धि' ऐसा अर्थ ले लिया गया है। सर्वपाञ्चालकः के उत्तरपद पाञ्चालक में *सुसर्वार्धा०* (७।३।१२) से वृद्धि हुई है। अन्य उदाहरणों में *दिशोऽमद्राणाम्* (७।३।१३) से उत्तरपद को वृद्धि हुई है। ये दोनों सूत्र *उत्तरपदस्य* (७।३।१०) के अधिकार में कहे हुए हैं, अतः उत्तरपद वृद्धि किये हुए = तद्वान् शब्द परे होने से प्रकृत सूत्र से पूर्वपद अन्तोदात्त हो गया। सर्वपाञ्चालकः में *विशेषणं विशेष्येण०* (२।१।५७) तथा अन्य उदाहरणों में *तद्धितार्थोत्तरपद समाहारे च* (२।१।५०) से भवादि अर्थ में समास और *अवृद्धादपि बहुवचन०* (४।१।१२४) से तदन्त विधि से वुञ् प्रत्यय हुआ है॥

बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम् ॥६।२।१०६॥

बहुव्रीहौ ७।१॥ विश्वम् १।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ अनु०—अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—बहुव्रीहौ समासे संज्ञायाम् विषये विश्वशब्दः पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति॥ *उदा०*—विश्वदेवः, विश्वयशाः, विश्वमहान्। विश्वकर्मा विश्वदेवः (ऋ० ८।९८।२)॥

भाषार्थः—[*बहुव्रीहौ*] बहुव्रीहि समास में [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में पूर्वपद [*विश्वम्*] विश्व शब्द को अन्तोदात्त होता है॥ *बहुव्रीहौ प्रकृत्या०* (६।२।१) से पूर्वपद प्रकृतिस्वर की प्राप्ति थी, इससे पूर्वपद को अन्तोदात्त कह दिया। ये सब किसी की संज्ञायें हैं॥

यहाँ से '*बहुव्रीहौ*' की अनुवृत्ति ६।२।११९ तक तथा '*संज्ञायाम्*' की ६।२।१०८ तक जायेगी॥

उदराश्वेषुषु ॥६।२।१०७॥

उदराश्वेषुषु ७।३॥ *स०*—उदरा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—बहुव्रीहौ संज्ञायाम्, अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम्॥ *अर्थः*—उदर,

अश्व, इषु इत्येतेषूत्तरपदेषु बहुव्रीहौ समासे संज्ञायाम् विषये पूर्वप मन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—वृकोदरः, दामोदरः, हर्यश्वः, यौवनाश्‍ सुवर्णपुंखेषुः, महेषुः ॥

भाषार्थः—[उदराश्वेषुषु] उदर, अश्व, इषु इनके उत्तरपद रह बहुव्रीहि समास में संज्ञा विषय में पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है पूर्ववत् यह सूत्र भी प्रकृतिस्वर का अपवाद है ॥ उदा०—वृकोद (भेड़िये के समान पेट है जिसका, यह पाण्डव भीमसेन की संज्ञा है हर्यश्वः (हरि = हरणशील शीघ्रगामी अश्व हैं जिसके, यह इन्द्र की संज्ञा है सुवर्णपुंखेषुः (सुवर्णमय पुंख = पर वाले बाण हैं जिसके) महेषुः (महा हैं इषु जिसके) ॥ हर्यश्वः में 'य' को *उदात्तस्वरितयो०* (८।२।४) स्वरित हुआ है।

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ६।२।१०८ तक जायेगी ॥

क्षेपे[1] ॥६।२।१०८॥

क्षेपे ७।१॥ *अनु०*—उदराश्वेषुषु, बहुव्रीहौ संज्ञायाम्, अन्तः, उदात्तः पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—क्षेपे गम्यमाने उदर अश्व इषु इत्येतेषूत्तरपदेषु बहुव्रीहौ समासे संज्ञायां विषये पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति ॥ *उदा०*—कुण्डोदरः, घटोदरः । कटुकाश्वः, स्यन्दिताश्वः । अनिघातेषुः, चलाचलेषुः ॥

भाषार्थः—[क्षेपे] क्षेप = निन्दा गम्यमान होने पर उदर अश्व इषु उत्तरपद रहते बहुव्रीहि समास में संज्ञा विषय में पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है ॥ उदा०—कुण्डोदरः (कुण्ड के समान है पेट जिसका), कटुकाश्वः (चपल है अश्व जिसका), स्यन्दिताश्वः (स्यन्दनशील = धीमीगति से चलने वाला अश्व है जिसका), अनिघातेषुः (जिसका बाण मारने वाला न हो), चलाचलेषुः (जिसका बाण अस्थिर हो अर्थात् निशाना ठीक न हो) ॥

---

१. महाभाष्य में उदराश्वेषुषु क्षेपे दोनों सूत्र एक साथ पढ़े हैं, इसे देखकर ऐसा नहीं समझना चाहिये कि इनको यहाँ पृथक् क्यों पढ़ा, क्योंकि भाष्य में इनके सहनिर्देश का तात्पर्य केवल 'क्षेपे' में उदराश्वेषुषु की अनुवृत्ति प्रदर्शन करना है। भाष्यकार ने इनका योग-विभाग करके अपना मत कहीं नहीं रखा है। व्याख्या की दृष्टि से ये सूत्र पृथक् ही होने चाहियें ॥

नदी बन्धुनि ॥६।२।१०९॥

नदी १।१॥ बन्धुनि ७।१॥ *अनु०*—बहुव्रीहौ, अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—बहुव्रीहौ समासे बन्धुन्युत्तरपदे नद्यन्तं पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति ॥ *उदा०*—गार्गीबन्धुः, वात्सीबन्धुः ॥

भाषार्थः—बहुव्रीहि समास में [*बन्धुनि*] बन्धु शब्द उत्तरपद रहते [*नदी*] नद्यन्त पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है ॥ गार्गी, वात्सी शब्द *यू स्त्र्याख्यौ नदी* (१।४।३) से नदीसंज्ञक हैं ॥ *उदा०*—गार्गीबन्धुः (गार्गी है बन्धु जिसकी)। जो गार्गी जैसी महाविदुषी ऋषिका के बन्धुत्व मात्र से अपना श्रेष्ठत्व व्यक्त करना चाहता है वह गार्गीबन्धुः कहा जायेगा ॥

निष्ठोपसर्गपूर्वमन्यतरस्याम् ॥६।२।११०॥

निष्ठा १।१॥ उपसर्गपूर्वम् १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *स०*—उपसर्गः पूर्वो यस्य (पूर्वपदस्य) तत् उपसर्गपूर्वम्, बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—बहुव्रीहौ, अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ *अर्थः*—बहुव्रीहौ समासे निष्ठान्तमुपसर्गपूर्वं पूर्वपदं विकल्पेनान्तोदात्तं भवति ॥ *उदा०*—प्रधौतमुखः, प्रधौतमुखः । प्रक्षालितमुखः, प्रक्षालितमुखः ॥

भाषार्थः—बहुव्रीहि समास में [*उपसर्गपूर्वम्*] उपसर्ग पूर्व वाले [*निष्ठा*] निष्ठान्त पूर्वपद को [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से अन्तोदात्त होता है ॥ मुख शब्द यदि यहाँ स्वाङ्गवाची लिया जाये तो पक्ष में प्रधौतमुखः आदि *मुखं स्वाङ्गम्* (६।२।१६६) से अन्तोदात्त होंगे, यदि अस्वाङ्गवाची ग्रहण हो तो *गतिरनन्तरः* (६।२।४९) से उपरिनिर्दिष्ट पूर्वपद प्रकृतिस्वर होगा ॥

[*उत्तरपदाद्युदात्तप्रकरणम्*]

उत्तरपदादिः ॥६।२।१११॥

उत्तरपदादिः १।१॥ *स०*—उत्तरपदस्यादिः उत्तरपदादिः, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—उदात्तः ॥ *अर्थः*—अधिकारोऽयम् । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्तत्रोत्तरपदस्यादिरुदात्तो भवतीति वेदितव्यम् ॥ *उदा०*—वक्ष्यति—*कर्णो वर्णलक्षणात्*, शुक्लकर्णः, कृष्णकर्णः ॥

भाषार्थः—यह अधिकार सूत्र है। जहाँ तक जायेगा वहाँ त [*उत्तरपदादिः*] उत्तरपद के आदि को उदात्त होता जायेगा ॥

यहाँ से 'उत्तरपद' की अनुवृत्ति ६।२।१९९ तक तथा '*आदिः*' व ६।२।१४२ तक जायेगी ॥

कर्णो वर्णलक्षणात् ॥६।२।११२॥

कर्णः १।१॥ वर्णलक्षणात् ५।१॥ *स०*—वर्ण० इत्यत्र समाहारद्वन्द्वः। *अनु०*—उत्तरपदादिः, बहुव्रीहौ, उदात्तः॥ *अर्थः*—वर्णवाचिनो लक्षणवाचिनश्च परः कर्णशब्द उत्तरपदमाद्युदात्तं भवति बहुव्रीहौ समासे॥ उदा०—शुक्लकर्णः, कृष्णकर्णः। लक्षणात्—दात्राकर्णः, शङ्कूकर्णः॥

भाषार्थः—बहुव्रीहि समास में [*वर्णलक्षणात्*] वर्णवाची तथा लक्षणवाची से परे उत्तरपद स्थित [*कर्णः*] कर्ण शब्द को आद्युदात्त होता है॥ पूर्ववत् ६।२।१ से पूर्वपद प्रकृतिस्वर प्राप्त था, तदपवाद है। *कर्णे लक्षणस्या०* (६।३।११३) से 'दात्रा शङ्कु' में दीर्घ होता है॥ *उदा०*—शुक्लकर्णः (सफेद हैं कान जिसके)। दात्राकर्णः (दराँती से चिह्नित कान वाला कोई पशु) शङ्कूकर्णः॥

यहाँ से '*कर्णः*' की अनुवृत्ति ६।२।११३ तक जायेगी॥

संज्ञौपम्ययोश्च ॥६।२।११३॥

संज्ञौपम्ययोः ७।२॥ च अ०॥ *स०*—संज्ञौ० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—कर्णः, उत्तरपदादिः, बहुव्रीहौ, उदात्तः॥ उपमायाः भावः औपम्यम्॥ *अर्थः*—संज्ञायाम् औपम्ये च यो बहुव्रीहिस्तत्र कर्णशब्द उत्तरपदमाद्युदात्तं भवति॥ *उदा०*—*संज्ञायाम्*—कुञ्चिकर्णः, मणिकर्णः। औपम्ये—गोकर्णौ इव कर्णौ यस्य = गोकर्णः, खरकर्णः॥

भाषार्थः—[*संज्ञौपम्ययोः*] संज्ञा तथा उपमा विषय में वर्त्तमान जो बहुव्रीहि वहाँ [च] भी उत्तरपद कर्ण शब्द को आद्युदात्त होता है॥ उदाहरणों में *सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च०* (वा० २।२।२४) से समास और कर्ण शब्द का लोप होता है।

यहाँ से '*संज्ञौपम्ययोः*' की अनुवृत्ति ६।२।११५ तक जायेगी॥

कण्ठपृष्ठग्रीवाजङ्घं च ॥६।२।११४॥

कण्ठपृष्ठग्रीवाजङ्घम् १।१॥ च अ० ॥ *स०*—कण्ठ० इत्यत्र समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—संज्ञौपम्ययोः, उत्तरपदादिः, बहुव्रीहौ, उदात्तः ॥ *अर्थः*—संज्ञौपम्ययोर्यो बहुव्रीहिर्वर्त्तते तत्र कण्ठ, पृष्ठ, ग्रीवा, जङ्घा इत्येतानि उत्तरपदान्याद्युदात्तानि भवन्ति ॥ *उदा०*—कण्ठः संज्ञायाम्—शितिकण्ठः, नीलकण्ठः । औपम्ये—खरकण्ठ इव कण्ठो यस्य स खरकण्ठः, उष्ट्रकण्ठः । पृष्ठः संज्ञायाम्—काण्डपृष्ठः, नाकपृष्ठः । औपम्ये—गोपृष्ठः, अजपृष्ठः । ग्रीवा संज्ञायाम्—सुग्रीवः, नीलग्रीवः, दशग्रीवः । औपम्ये—गोग्रीवः, अश्वग्रीवः । जङ्घा संज्ञायाम्—नाडीजङ्घः तालजङ्घः । औपम्ये—गोजङ्घः, अश्वजङ्घः, एणीजङ्घः ॥

भाषार्थः—संज्ञा तथा औपम्य विषय में वर्त्तमान बहुव्रीहि समास में [*कण्ठपृष्ठग्रीवाजङ्घम्*] कण्ठ, पृष्ठ, ग्रीवा, जङ्घा इन उत्तरपद स्थित शब्दों को [च] भी आद्युदात्त होता है ॥ पूर्ववत् यहाँ भी पूर्वपद प्रकृति स्वर प्राप्त था, तदपवाद है ॥

शृङ्गमवस्थायां च ॥६।२।११५॥

शृङ्गम् १।१॥ अवस्थायाम् ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—संज्ञौपम्ययोः, उत्तरपदादिः, बहुव्रीहौ, उदात्तः ॥ *अर्थः*—अवस्थायां संज्ञौपम्ययोश्च बहुव्रीहौ समासे शृङ्गशब्दः उत्तरपदमाद्युदात्तं भवति ॥ *उदा०*—उद्गते शृङ्गे यस्य स उद्गतशृङ्गः । द्वे अंगुली प्रमाणमनयोः ते द्व्यङ्गुले, द्व्यङ्गुले शृङ्गे यस्य स द्व्यङ्गुलशृङ्गः, त्र्यङ्गुलशृङ्गः । संज्ञायाम्—ऋष्यशृङ्गः । औपम्ये—गोशृङ्गः, मेषशृङ्गः ॥

भाषार्थः—[*अवस्थायाम्*] अवस्था गम्यमान होने पर [च] तथा संज्ञा एवं उपमा विषय में बहुव्रीहि समास में उत्तरपद [*शृङ्गम्*] शृङ्ग शब्द को आद्युदात्त होता है ॥ दो अङ्गुल तथा तीन अङ्गुल एवं उद्गत सींग देखकर बछड़े आदि की अवस्था की प्रतीति होती है । द्व्यङ्गुलम् यहाँ *प्रमाणे द्वयसज्०* (५।२।३७) से उत्पन्न मात्रच् प्रत्यय का *प्रमाणे लो०* (*वा०* ५।२।३७) से लुक् होता है । *तत्पुरुषस्याङ्गुलेः०* (५।४।८६) से समासान्त अच् प्रत्यय होता है एवं *तद्धितार्थोत्तर०* (२।१।५०) से तद्धितार्थ में समास होता है ॥

नञो जरमरमित्रमृताः ॥६।२।११६॥

नञः ५।१॥ जरमरमित्रमृताः १।३॥ *स०*—जरमर० इत्यत्रेतरेतर द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—उत्तरपदादिः, बहुव्रीहौ, उदात्तः ॥ *अर्थः*—नञः परा जर, मर, मित्र, मृत इत्येतानि उत्तरपदानि बहुव्रीहौ समासे आद्यु दात्तानि भवन्ति ॥ *उदा०*—न विद्यते जरः यस्य स अजरः, अमरः अमित्रः, अमृतः ॥

भाषार्थः—[*नञः*] नञ् से उत्तर [*जरमरमित्रमृताः*] जर, मर, मित्र, मृत इन उत्तरपद स्थित शब्दों को बहुव्रीहि समास में आद्युदात्त होता है ॥ यह सूत्र *नञ्सुभ्याम्* (६।२।१७१) का अपवाद है ॥

सोर्मनसी अलोमोषसी ॥६।२।११७॥

सोः ५।१॥ मनसी १।२॥ अलोमोषसी १।२॥ *स०*—मन्[1] च अश्च मनसी इतरेतरद्वन्द्वः । लोम च उषश्च लोमोषसी[2], न लोमोषसी अलोमोषसी, द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—उत्तरपदादिः, बहुव्रीहौ, उदात्तः ॥ *अर्थः*—सोरुत्तरं मन्नन्तम् असन्तं चोत्तरपदं बहुव्रीहौ समासे आद्युदात्तं भवति, लोमोषसी वर्जयित्वा ॥ *उदा०*—मन्नन्तम्—सुकर्म्मा, सुधर्म्मा, सुप्रथिमा, सुकर्माणः सुरुचः (ऋ० ४।२।१७) वक्षदनिमानः सुब्रह्माः (ऋ० ४।२२।७)। असन्तम्—सुपयाः, सुयशाः, सुस्रोताः, शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः (ऋ० १०।८५।४४) ॥

भाषार्थः—[*सोः*] सु से उत्तर [*मनसी*] मन् अन्त वाले तथा अस् अन्त वाले उत्तरपद शब्दों को बहुव्रीहि समास में आद्युदात्त होता है, [*अलोमोषसी*] लोमन् तथा उषस् शब्द को छोड़ कर ॥ लोमन् अन्नन्त एवं उषस् असन्त है, अतः प्राप्ति थी, निषेध कर दिया ॥ पूर्ववत् *नञ्सु०* का अपवाद है ॥

यहाँ से '*सोः*' की अनुवृत्ति ६।२।१२० तक जायेगी ॥

---

१. स्वरूपनिर्देशार्थमविभक्त्यन्तं प्रयुक्तम्, अन्यथा मा च आश्चेति निर्देशे स्वरूपज्ञानं न स्यात् ।

२. प्रातिपदिकापेक्षं नपुंसकत्वम् ।

क्रत्वादयश्च ॥६।२।११८॥

क्रत्वादयः १।३॥ च अ० ॥ स०—क्रतुः आदिर्येषां ते क्रत्वादयः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—सोः, उत्तरपदादिः, बहुव्रीहौ, उदात्तः ॥ अर्थः—सोरुत्तरे क्रत्वादयः बहुव्रीहौ समासे आद्युदात्ताः भवन्ति ॥ उदा०—सुक्रतुः, सुदृशीकः ॥

भाषार्थः—'सु' से उत्तर [*क्रत्वादयः*] क्रत्वादि उत्तरपद शब्दों को [च] भी आद्युदात्त होता है ॥ यह भी *नञ्सुभ्याम्* का अपवाद है ॥

आद्युदात्तं द्व्यच्छन्दसि ॥६।२।११९॥

आद्युदात्तम् १।१॥ द्व्यच् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ स०—द्वौ अचौ यस्मिन् स द्व्यच्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—सोः, उत्तरपदादिः, बहुव्रीहौ, उदात्तः ॥ *अर्थः*—बहुव्रीहौ समासे सोरुत्तरं यदाद्युदात्तं द्व्यच् उत्तरपदं तदाद्युदात्तमेव भवति छन्दसि विषये ॥ उदा०—स्वश्वास्त्वा सुरथा मर्जयेम (ऋ० ४।४।८) ॥

भाषार्थः—बहुव्रीहि समास में सु से उत्तर जो [*द्व्यच्*] दो अच् वाला [*आद्युदात्तम्*] आद्युदात्त शब्द उसे [*छन्दसि*] वेद विषय में आद्युदात्त ही होता है ॥ *नञ्सुभ्याम्* (६।२।१७१) से उत्तरपद को अन्तोदात्त प्राप्त था, प्रकृत सूत्र से आद्युदात्त को आद्युदात्त ही हो गया। उदाहरण में अश्व तथा रथ शब्द उणादि से नित् प्रत्ययान्त व्युत्पादित हैं अतः नित् स्वर से आद्युदात्त थे ॥

यहाँ से '*छन्दसि*' की अनुवृत्ति ६।२।१२० तक जायेगी ॥

वीरवीर्यौ च ॥६।२।१२०॥

वीरवीर्यौ १।२॥ च अ० ॥ स०—वीर० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—छन्दसि, सोः, उत्तरपदादिः, बहुव्रीहौ, उदात्तः ॥ *अर्थः*—बहुव्रीहौ समासे सोरुत्तरौ वीर वीर्य इत्येतौ च शब्दौ छन्दसि विषय आद्युदात्तौ भवतः ॥ उदा०—सुवीरेण ते। सुवीर्यस्य पतयः स्याम (ऋ० ४।५१।१०) ॥

भाषार्थः—बहुव्रीहि समास में सु से उत्तर [*वीरवीर्यौ*] वीर तथा वीर्य उत्तरपद शब्दों को [च] भी वेद विषय में आद्युदात्त होता है ॥ पूर्ववत् *नञ्सुभ्याम्* का अपवाद जानें ॥

कूलतीरतूलमूलशालाक्षसममव्ययीभावे ॥६।२।१२१॥

कूल॰॰॰सम्म् १।१॥ अव्ययीभावे ७।१॥ *स॰*—कूलञ्च तीरञ्च तूलश्च मूलञ्च शाला च अक्षञ्च समञ्च कूल॰॰॰समम्, समाहारो द्वन्द्वः। *अनु॰*—उत्तरपदादिः, उदात्तः॥ *अर्थः*—कूल, तीर, तूल, मूल, शाला अक्ष, सम इत्येतान्युत्तरपदान्यव्ययीभावसमासे आद्युदात्तानि भवन्ति। *उदा॰*—परिकूलम्, उपकूलम्। परितीरम्, उपतीरम्। परितूलम्, उपतूलम्। परिमूलम्, उपमूलम्। परिशालम्, उपशालम्। उपाक्षम्, पर्यक्षम्। सुषमम्, विषमम्, निषमम्, दुःषमम्॥

भाषार्थः—[*कूल॰॰॰समम्*] कूल, तीर, तूल, मूल, शाला, अक्ष, सम, इन उत्तरपद शब्दों को [*अव्ययीभावे*] अव्ययीभाव समास में आद्युदात्त होता है॥ सुषमम् इत्यादि शब्द तिष्ठद्गु गण में पठित हैं, अतः *तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च* (२।१।१६) से समास होता है। *सुषामादिषु च* (८।३।९८) से षत्व होगा। कूलस्य समीपम् उपकूलम् इत्यादि में *अव्ययं-विभक्ति॰* (२।१।६) से अव्ययीभाव समास हुआ है। परिकूलम् इत्यादि में परि शब्द *अपपरी वर्जने* (१।४।८७) से कर्मप्रवचनीय संज्ञक है, अतः *पञ्चम्यपाङ्॰* (२।३।१०) से कूल शब्द में पञ्चमी होगी, एवं *अपपरिबहि॰* (२।१।११) से अव्ययीभाव समास होगा, ततः अन्तर्वर्त्तिनी विभक्ति का लुक् हो ही जायेगा॥

कंसमन्थशूर्पपाय्यकाण्डं द्विगौ ॥६।२।१२२॥

कंस॰॰॰काण्डम् १।१॥ द्विगौ ७।१॥ *स॰*—कंस॰ इत्यत्र समाहार-द्वन्द्वः॥ *अनु॰*—उत्तरपदादिः उदात्तः॥ *अर्थः*—कंस, मन्थ, शूर्प, पाय्य, काण्ड इत्येतानि उत्तरपदानि द्विगौ समास आद्युदात्तानि भवन्ति॥ *उदा॰*—द्विकंसः, त्रिकंसः। द्विमन्थः त्रिमन्थः। द्विशूर्पः, त्रिशूर्पः। द्विपाय्यः, त्रिपाय्यः। द्विकाण्डः, त्रिकाण्डः॥

भाषार्थः—[*कंस॰॰॰काण्डम्*] कंस, मन्थ, शूर्प, पाय्य, काण्ड इन उत्तरपद शब्दों को [*द्विगौ*] द्विगु समास में आद्युदात्त होता है॥

तत्पुरुषे शालायां नपुंसके ॥६।२।१२३॥

तत्पुरुषे ७।१॥ शालायाम् ७।१॥ नपुंसके ७।१॥ *अनु॰*—उत्तर-पदादिः, उदात्तः॥ *अर्थः*—नपुंसकलिङ्गे शालाशब्दान्ते तत्पुरुषे समासे उत्तरपदमाद्युदात्तं भवति॥ *उदा॰*—ब्राह्मणशालम्, क्षत्रियशालम्॥

भाषार्थः—[*नपुंसके*] नपुंसकलिङ्ग वाले [*शालायाम्*] शाला शब्दान्त [*तत्पुरुषे*] तत्पुरुष समास में उत्तरपद को आद्युदात्त होता है ॥ *विभाषा सेनासुरा०* (२।४।२५) से जिस पक्ष में नपुंसकलिङ्गता होगी, उस पक्ष में प्रकृत सूत्र से स्वर होगा ॥ *समासस्य* के ही सब अपवाद जानें ॥

यहाँ से '*तत्पुरुषे*' की अनुवृत्ति ६।२।१३७ तक तथा '*नपुंसके*' की ६।२।१२५ तक जायेगी ॥

कन्था च ॥६।२।१२४॥

कन्था १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, नपुंसके, उत्तरपदादिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—कन्थाशब्दान्ते तत्पुरुषे नपुंसकलिङ्गे उत्तरपदमाद्युदात्तं भवति ॥ *उदा०*—सौशमिकन्थम्, आह्वरकन्थम्, चप्यकन्थम् ॥

भाषार्थः—नपुंसकलिङ्ग [*कन्था*] कन्थान्त तत्पुरुष समास में [च] भी उत्तरपद को आद्युदात्त होता है ॥ *संज्ञायां कन्थोशी०* (२।४।२०) से उदाहरणों में नपुंसकलिङ्गता हुई है ॥

यहाँ से '*कन्था*' की अनुवृत्ति ६।२।१२५ तक जायेगी ॥

आदिश्चिहणादीनाम् ॥६।२।१२५॥

आदिः १।१॥ चिहणादीनाम् ६।३॥ *स०*—चिहण आदिर्येषां ते चिहणादयस्तेषां.....बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—कन्था, तत्पुरुषे नपुंसके, उदात्तः ॥ *अर्थः*—नपुंसकलिङ्गे कन्थान्ते तत्पुरुषे समासे चिहणादीनामादिरुदात्तो भवति ॥ *उदा०*—चिहणकन्थम्, मडरकन्थम् ॥

भाषार्थः—नपुंसकलिङ्ग कन्थान्त तत्पुरुष समास में [*चिहणादीनाम्*] चिहणादि गणपठित शब्दों के [*आदिः*] आदि को उदात्त होता है ॥ पूर्वसूत्र से उत्तरपद को आद्युदात्तत्व प्राप्त था, इस सूत्र ने पूर्वपद को आद्युदात्तत्व कर दिया ॥ आदि की अनुवृत्ति होने पर पुनः आदिग्रहण से पूर्वपद चिहणादि को आद्युदात्त होता है ॥

चेलखेटकटुककाण्डं गर्हायाम् ॥६।२।१२६॥

चेलखेटकटुककाण्डम् १।१॥ गर्हायाम् ७।१॥ *स०*—चेलञ्च खेटञ्च कटुकञ्च काण्डञ्च, चेल...काण्डम्, समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे,

उत्तरपदादिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—चेल, खेट, कटुक, काण्ड इत्येतान्युत्तरपदानि तत्पुरुषे समासे आद्युदात्तानि भवन्ति, गर्हायां गम्यमानायाम् ॥ *उदा०*—पुत्रश्चेलमिव = पुत्रचेलम्, भार्याचेलम् । उपानत्खेटम्, नगरखेटम् । दधिकटुकम्, उदश्वित्कटुकम् । भूतकाण्डम्, प्रजाकाण्डम् ॥

भाषार्थः—[*चेल*.....*काण्डम्*] चेल, खेट, कटुक, काण्ड इन उत्तरपद स्थित शब्दों को तत्पुरुष समास में [*गर्हायाम्*] निन्दा गम्यमान होने पर आद्युदात्त होता है ॥ *उपमितं व्याघ्रादिभिः०* (२।१।५५) से सर्वत्र उदाहरणों में समास हुआ है ॥ *उदा०*—पुत्रचेलम् (कुपुत्र, जो फटे वस्त्र के समान दूर करने योग्य हो), उपानत्खेटम् (खराब जूता), दधिकटुकम् (कड़वा दही), भूतकाण्डम् (कष्टदायक प्रजा) ॥

चीरमुपमानम् ॥६।२।१२७॥

चीरम् १।१॥ उपमानम् १।१॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—तत्पुरुषे समासे उपमानवाचि चीरमुत्तरपदमाद्युदात्तं भवति ॥ *उदा०*—वस्त्रं चीरमिव वस्त्रचीरम्, पटचीरम्, कम्बलचीरम् ॥

भाषार्थः—तत्पुरुष समास में [*उपमानम्*] उपमानवाची [*चीरम्*] चीर उत्तरपद शब्द को आद्युदात्त होता है ॥ पूर्ववत् समास जानें ॥ *उदा०*—वस्त्रचीरम् (लम्बे आकार में फाड़ी गई पट्टी के समान कम चौड़ा वस्त्र) ॥

पललसूपशाकं मिश्रे ॥६।२।१२८॥

पललसूपशाकम् १।१॥ मिश्रे ७।१॥ *स०*—पललञ्च सूपश्च शाकञ्च पललसूपशाकम्, समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—मिश्रवाचिनि तत्पुरुषे समासे पलल, सूप, शाक इत्येतान्युत्तरपदान्याद्युदात्तानि भवन्ति ॥ *उदा०*—गुडेन मिश्रं पललं = गुडपललम्, घृतपललम् । घृतसूपः, मूलकसूपः । घृतशाकम्, मुद्गशाकम् ॥

भाषार्थः—[*मिश्रे*] मिश्रवाची तत्पुरुष समास में [*पललसूपशाकम्*] पलल, सूप, शाक इन उत्तरपदस्थित शब्दों को आद्युदात्त होता है । *भक्ष्येण मिश्रीकरणम्* (२।१।३४) से उदाहरणों में समास हुआ है ॥

उदा०—गुडपललम् (गुड़ मिला हुआ मांस), घृतसूपः (घी मिली हुई दाल), मूलकसूपः (मूली मिली हुई दाल), घृतशाकम् (घी मिला हुआ शाक), मुद्गशाकम् (मूंग मिला हुआ शाक) ॥

कूलसूदस्थलकर्षाः संज्ञायाम् ॥६।२।१२९॥

कूलसूदस्थलकर्षाः १।३॥ संज्ञायाम् ७।१॥ *स०*—कूलञ्च सूदश्च स्थलञ्च कर्षश्च कूल.....कर्षाः, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—कूल, सूद, स्थल, कर्ष इत्येतान्युत्तरपदानि तत्पुरुषे समासे आद्युदात्तानि भवन्ति संज्ञायां विषये ॥ उदा०—दाक्षिकूलम्, माहकिकूलम् । देवसूदम्, भाजीसूदम् । दाण्डायनस्थली, माहकिस्थली । दाक्षिकर्षः ॥

भाषार्थः—[*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में [*कूल.....कर्षाः*] कूल, सूद, स्थल, कर्ष इन उत्तरपदस्थित शब्दों को तत्पुरुष समास में आद्युदात्त होता है ॥ सभी उदाहरण ग्राम विशेष के नाम हैं । स्थल शब्द में *जानपदकुण्ड०* (४।१।४२) से ङीष् हुआ है । चारों ओर की भूमि से स्वयंसिद्ध (अकृत्रिम) उच्च सम भूमि 'स्थली' कहाती है ॥

अकर्मधारये राज्यम् ॥६।२।१३०॥

अकर्मधारये ७।१॥ राज्यम् १।१॥ *स०*—न कर्मधारयः अकर्मधारयस्तस्मिन्..... नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—कर्मधारयवर्जिते तत्पुरुषे समासे राज्यमुत्तरपदमाद्युदात्तं भवति ॥ उदा०—ब्राह्मणराज्यम्, क्षत्रियराज्यम् ॥

भाषार्थः—[*अकर्मधारये*] कर्मधारय वर्जित तत्पुरुष समास में उत्तरपद [*राज्यम्*] राज्य शब्द को आद्युदात्त होता है ॥ उदाहरणों में षष्ठीसमास है ॥

यहाँ से '*अकर्मधारये*' की अनुवृत्ति ६।२।१३१ तक जायेगी ॥

वर्ग्यादयश्च ॥६।२।१३१॥

वर्ग्यादयः १।३॥ च अ० ॥ *स०*—वर्ग्य आदिर्येषां ते वर्ग्यादयः, बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अकर्मधारये, तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः, उदात्तः ॥

अर्थः—अकर्मधारये तत्पुरुषे समासे वर्ग्यादीन्युत्तरपदान्याद्युदात्ता भवन्ति ॥ उदा०—वासुदेववर्ग्यः, वासुदेवपक्ष्यः, अर्जुनवर्ग्यः अर्जुनपक्ष्यः ॥

भाषार्थः—कर्मधारय वर्जित तत्पुरुष समास में [*वर्ग्यादयः*] वर्ग्यादि उत्तरपद शब्दों को [*च*] भी आद्युदात्त होता है ॥ *दिगादिभ्यो* (४।३।५४) से यत् प्रत्यय करके वर्ग्य इत्यादि शब्द सिद्ध होते हैं। उदा०—वासुदेववर्ग्यः (वासुदेव के वर्ग का), अर्जुनपक्ष्यः ॥

पुत्रः पुम्भ्यः ॥६।२।१३२॥

पुत्रः १।१॥ पुम्भ्यः ५।३॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—पुंशब्देभ्य उत्तरः पुत्रशब्द उत्तरपदं तत्पुरुषे समासे आद्युदात्तं भवति ॥ उदा०—कौनटिपुत्रः, दामकपुत्रः, माहिषकपुत्रः ॥

भाषार्थः—तत्पुरुष समास में [*पुम्भ्यः*] पुंलिङ्गवाची शब्द से उत्तर उत्तरपद [*पुत्रः*] पुत्र शब्द को आद्युदात्त होता है ॥ उदा०—कौनटि-पुत्रः, (कौनटि का पुत्र) ॥

यहाँ से 'पुत्रः' की अनुवृत्ति ६।२।१३३ तक जायेगी ॥

नाचार्यराजर्त्विक्संयुक्तज्ञात्याख्येभ्यः ॥६।२।१३३॥

न अ० ॥ आचार्य...ख्येभ्यः ५।३॥ *स०*—आचार्यश्च राजा च ऋत्विक् च संयुक्तश्च ज्ञातिश्च आचार्य...ज्ञातयः, एता आख्या येषां ते आचार्य...ख्याः, तेभ्यः...द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ अनु०—पुत्रः, तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः उदात्तः ॥ *अर्थः*—आचार्य, राजा, ऋत्विक, संयुक्त, ज्ञाति, इत्येतेषां या आख्या तद्वाचिभ्यः परः पुत्रशब्दो नाद्युदात्तो भवति ॥ उदा०—आचार्याख्येभ्यः—आचार्यपुत्रः, उपाध्यायपुत्रः शाकटायनपुत्रः। राजा-ख्येभ्यः—राजपुत्रः, ईश्वरपुत्रः, नन्दपुत्रः,। ऋत्विगाख्येभ्यः—ऋत्वि-क्पुत्रः, याजकपुत्रः, होतुःपुत्रः। संयुक्ताख्येभ्यः—सम्बन्धिपुत्रः, श्यालपुत्रः। ज्ञात्याख्येभ्यः—ज्ञातिपुत्रः, भ्रातुष्पुत्रः ॥

भाषार्थः—[*आचार्य...ख्येभ्यः*] आचार्य, राजन, ऋत्विक्, संयुक्त तथा ज्ञाति की आख्या वाले शब्दों से उत्तर पुत्र शब्द को तत्पुरुष समास में आद्युदात्त [*न*] नहीं होता है ॥ पूर्व सूत्र से प्राप्ति थी, निषेध कर

दिया, अतः *समासस्य* (६।१।२१७) से अन्तोदात्त ही होता है ।। आख्या ग्रहण तत्पर्याय एवं तद् विशेषवाचियों के ग्रहणार्थ है। यथा उपाध्यायपुत्रः इस उदाहरण में उपाध्याय शब्द आचार्य का पर्यायवाची है, एवं शाकटायनपुत्रः में शाकटायन शब्द आचार्यविशेषवाची है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी समझ लें ।। *ऋतो विद्यायोनिसंबन्धे०* (६।३।२१) से होतुःपुत्रः, भ्रातुष्पुत्रः में षष्ठी का अलुक् हुआ है। *कस्कादिषु च* (८।३।४८) से भ्रातुष्पुत्रः में षत्व जानें।। संयुक्त स्त्री के संबन्धी 'साला' आदि को कहते हैं, तथा ज्ञाति शब्द माता-पिता संबन्धी बन्धु बान्धवों का वाचक है।।

चूर्णादीन्यप्राणिषष्ठ्याः ।।६।२।१३४।।

चूर्णादीनि १।३।। अप्राणिषष्ठ्याः ५।१।। *स०*—चूर्ण आदिर्येषां तानि चूर्णादीनि, बहुव्रीहिः। न प्राणी, अप्राणी नञ्तत्पुरुषः। अप्राणिनः षष्ठी अप्राणिषष्ठी, तस्याः''पञ्चमीतत्पुरुषः ।। *अनु०*—तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः, उदात्तः ।। *अर्थः*—अप्राणिवाचिनः षष्ठ्यन्तात् पराणि चूर्णादीन्युत्तरपदानि तत्पुरुषे समास आद्युदात्तानि भवन्ति ।। *उदा०*—मुद्गस्य चूर्णं = मुद्गचूर्णम्, मसूरचूर्णम् ।।

भाषार्थः—[*अप्राणिषष्ठ्याः*] प्राणिभिन्न षष्ठ्यन्त शब्द से उत्तर तत्पुरुष समास में [*चूर्णादीनि*] चूर्णादि उत्तरपद शब्दों को आद्युदात्त होता है ।। उदा :—मुद्गचूर्णम् (मूँग का आटा), मसूरचूर्णम् (मसूर का आटा)। मूद्ग, मसूर अप्राणिवाची षष्ठ्यन्त शब्द हैं ।।

यहाँ से '*अप्राणिषष्ठ्याः*' की अनुवृत्ति ६।२।१३५ तक जायेगी।।

षट् च काण्डादीनि ।।६।२।१३५।।

षट् १।३।। च अ० ।। काण्डादीनि १।३।। *स०*-काण्ड आदिर्येषाम् तानि काण्डादीनि, बहुव्रीहिः ।। *अनु०*—अप्राणिषष्ठ्याः, तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः, उदात्तः ।। *अर्थः*—पूर्वोक्तानि षट् काण्डादीन्युत्तरपदानि अप्राणिवाचिनः षष्ठ्यन्तात् पराण्याद्युदात्तानि भवन्ति ।। उदा०—दर्भकाण्डम्, शरकाण्डम्। दर्भचीरम्, कुशचीरम्। तिलपललम्, मुद्गसूपः, मूलकशाकम्। नदीकूलम्, समुद्रकूलम् ।।

भाषार्थः—अप्राणिवाची षष्ठ्यन्त शब्द से उत्तर पूर्वोक्त [*षट्*] छः [*काण्डादीनि*] काण्डादि उत्तरपद शब्दों को [*च*] भी आद्युदात्त होता है ॥ *चेलखेटकटुककाण्ड०* (६।२।१२६) में पढ़े हुये काण्ड शब्द से से लेकर *कूलसूदस्थल०* (६।२।१२९) के कूल शब्द तक काण्ड, चीर, पलल, सूप, शाक, कूल ये ६ शब्द काण्डादि से गृहीत हैं ॥ इन शब्दों को पूर्वोक्त सूत्रों से ही अप्राणिवाची षष्ठ्यन्त से उत्तर भी आद्युदात्त प्राप्त ही था, पुनः कथन इसलिये है कि जहाँ गर्हा में आद्युदात्त कहा है वहाँ अगर्हा में भी प्रकृत सूत्र से हो जाये, तथा जहाँ उपमानवाची से कहा है वहाँ अनुपमान में, जहाँ मिश्र एवं संज्ञा विषय में कहा है वहाँ अमिश्र, एवं असंज्ञा में भी हो जाये ॥

कुण्डं वनम् ॥६।२।१३६॥

कुण्डम् १।१॥ वनम् १।१॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः, उदात्तः ॥ *अर्थः*—तत्पुरुषे समासे वनवाचि कुण्डमित्येतदुत्तरपद माद्युदात्तं भवति ॥ *उदा०*—दर्भकुण्डम्, शरकुण्डम् ॥

भाषार्थः—[*वनम्*] वनवाची [*कुण्डम्*] कुण्ड उत्तरपद शब्द को तत्पुरुष समास में आद्युदात्त होता है ॥ कुण्ड शब्द यहाँ सादृश्य से वन अर्थ में वर्त्तमान है । जिस प्रकार कुण्ड जल इत्यादि का आश्रय स्थान है, उसी प्रकार वन भी किसी का आश्रय है यही यहाँ सादृश्य है ॥ *उदा०*—दर्भकुण्डम् (दर्भ का वन) । शरकुण्डम् (सरकण्डे का वन) ॥

प्रकृत्या भगालम् ॥६।२।१३७॥

प्रकृत्या ३।१॥ भगालम् १।१॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, उत्तरपदम्,[1] ॥ *अर्थः*—भगालवाच्युत्तरपदं तत्पुरुषे समासे प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—कुम्भीभगालम्, कुम्भीकपालम्, कुम्भीनदालम् ॥

भाषार्थः—[*भगालम्*] भगालवाची उत्तरपद को तत्पुरुष समास में [*प्रकृत्या*] प्रकृति स्वर होता है ॥ *लघावन्ते द्वयोश्च बह्वषो गुरुः* (फिट्० ४२) से भगाल कपाल आदि शब्द मध्योदात्त हैं । भगाल से यहाँ तद्-

१. क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते इति नियमेन उत्तरपदमेवानुवर्तते ।

वाचियों का भी ग्रहण है ॥ उदा०—कुम्भीभगालम् (घड़े का आधा टुकड़ा) । इसी प्रकार अन्यों के भी अर्थ जानें ॥

यहाँ से 'प्रकृत्या' की अनुवृत्ति ६।२।१४२ तक जायेगी ॥

शितेर्नित्याबह्वज् बहुव्रीहावभसत् ॥६।२।१३८॥

शितेः ५।१॥ नित्याबह्वच् १।१॥ बहुव्रीहौ ७।१॥ अभसत् १।१॥ स०—बह्वोऽचो यस्मिन् तत् बह्वच्, बहुव्रीहिः । न बह्वच् अबह्वच्, नञ्तत्पुरुषः। नित्यम् अबह्वच्, नित्याबह्वच्, *अत्यन्त०* (२।१।२६) इत्यनेन द्वितीया-तत्पुरुषः । न भसत् अभसत्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—प्रकृत्या, उत्तरपदम् ॥ *अर्थः*—शितेः परं नित्यं यदबह्वच्कमुत्तरपदं भसच्छब्दवर्जितं तत् प्रकृत्या भवति, बहुव्रीहौ समासे ॥ उदा०—शितिपादः, शित्यंसः, शित्योष्ठः ॥

भाषार्थः—[*शितेः*] शिति शब्द से उत्तर [*नित्याबह्वच्*] नित्य ही जो अबह्वच् उत्तरपद स्थित शब्द उसको [*बहुव्रीहौ*] बहुव्रीहि समास में प्रकृति स्वर होता है [*अभसत्*] भसत् शब्द को छोड़कर ॥ भसत् शब्द भी नित्य अबह्वच् है, अतः प्राप्ति थी, निषेध कर दिया । पाद शब्द *वृषादीनां च* (६।१।१९७) से आद्युदात्त है । अंस शब्द *अमेः सन्* (*उणा०* (५।२१) से सन् प्रत्ययान्त है, एवं ओष्ठ शब्द भी *उषिकुषिगार्तिभ्यस्थन्* (*उणा०* २।४) से थन् प्रत्ययान्त है अतः दोनों ही शब्द नित्स्वर से आद्युदात्त हैं ॥ *बहुव्रीहौ प्रकृत्या०* (६।२।१) से बहुव्रीहि समास में पूर्व-पद प्रकृतिस्वर प्राप्त था, तदपवाद यहाँ उत्तरपद प्रकृतिस्वर कह दिया ॥

गतिकारकोपपदात् कृत् ॥६।२।१३९॥

गतिकारकोपपदात् ५।१॥ कृत् १।१॥ स०—गतिश्च कारकञ्च उपपदञ्च गतिकारकोपपदं तस्मात् ''समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—प्रकृत्या, तत्पुरुषे, उत्तरपदम् ॥ *अर्थः*—गतेः कारकाद् उपपदाच्च परं कृदन्तमुत्तरपदं तत्पुरुषे समासे प्रकृतिस्वरं भवति ॥ *उदा०*—गतेः—प्रकारकः, प्रहारकः, प्रकरणम्, प्रहरणम् । कारकात्—इध्मं प्रवृश्च्यते येन स इध्मप्र-व्रश्चनः, पलाशशातनः, श्मश्रुकल्पनः । उपपदात्—ईषत्करः, दुष्करसुकरः ॥

भाषार्थः—[*गतिकारकोपपदात्*] गति, कारक तथा उपपद से उत्तर [*कृत्*] कृदन्त उत्तरपद को तत्पुरुष समास में प्रकृतिस्वर होता है ॥ सर्वत्र उदाहरणों में कृदन्त 'कारकः' आदि को *लिति* (६।१।१८७) से

प्रत्यय से पूर्व को उदात्त है। पलाशशातनः में शद्लृ णिजन्त धातु के द् को त् *शदेरगतौ तः* (७।३।४२) से होता है। *णेरनिटि* (६।४।५१) से णिच् का लोप हो ही जायेगा। इध्म, पलाश आदि कर्म कारक से उत्तर यहाँ कृदन्त प्रव्रश्चनः आदि हैं। परन्तु प्रव्रश्चन आदि कृत् के योग में कर्म में षष्ठी होकर *'कृद्योगा च षष्ठी समस्यते'* (*वा०* २।२।८) से षष्ठी समास होता है।

उभे वनस्पत्यादिषु युगपत् ॥६।२।१४०॥

उभे १।२।। वनस्पत्यादिषु ७।३।। युगपत् १।१।। *स०*—वनस्पतिः आदिर्येषां ते वनस्पत्यादयस्तेषु···बहुव्रीहिः।। *अनु०*—प्रकृत्या॥ *अर्थः*—वनस्पत्यादिषु समासेषु उभे पूर्वोत्तरपदे युगपत् प्रकृतिस्वरे भवतः ॥ *उदा०*—वनस्पतिः, बृहतां पतिः = बृहस्पतिः ॥

भाषार्थः—[*वनस्पत्यादिषु*] वनस्पत्यादि समस्त शब्दों में [*उभे*] दोनों = पूर्व तथा उत्तरपद को [*युगपत्*] एक साथ प्रकृतिस्वर होता है ॥ *अनुदात्तं पद०* (६।१।१५२) के कारण एक साथ उदात्तत्व प्राप्त नहीं था, अतः युगपत् कह दिया ॥ वनस्पति में वन शब्द *नब्विषयस्या०* (*फिट्* २६) से आद्युदात्त है, एवं पति शब्द भी *पातेर्डतिः* (*उणा०* ४।५७) से डति प्रत्ययान्त होने से प्रत्ययस्वर से आद्युदात्त है। प्रत्यय के डित् होने से पा के आ (टिभाग) का लोप हो ही जायेगा। *पारस्करप्रभृतीनि* च० (६।१।१५१) से सुट् का आगम वनस्पति शब्द में हुआ है। बृहस्पति शब्द में *वर्त्तमाने पृषत्बृहन्०* (*उणा०* २।८४) से यद्यपि अन्तोदात्तत्व निपातन है, तथापि उसे आद्युदात्त निपातन भी कई मानते हैं। *तद्बृहतोः करपत्योः०* (*वा०* ६।१।१५१) इस वार्त्तिक से बृहत् के तकार का लोप और सुट् का आगम होता है ॥

यहाँ से *'उभे युगपत्'* की अनुवृत्ति ६।२।१४२ तक जायेगी ॥

देवताद्वन्द्वे च ॥६।२।१४१॥

देवताद्वन्द्वे ७।१।। च अ०।। *स०*—देवतानां द्वन्द्वः देवताद्वन्द्वः, तस्मिन्···षष्ठीतत्पुरुषः ।। *अनु०*—उभे युगपत्, प्रकृत्या, ।। *अर्थः*—देव-

तावाचिनां यो द्वन्द्वस्तत्र युगपदुभे पूर्वोत्तरपदे प्रकृतिस्वरे भवतः॥ उदा०—इन्द्रासोमौ, इन्द्रावरुणौ, इन्द्राबृहस्पती ॥

भाषार्थः—[*देवताद्वन्द्वे*] देवतावाची शब्दों का जो द्वन्द्व समास उसमें [च] भी एक साथ दोनों अर्थात् पूर्व और उत्तरपद को प्रकृतिस्वर होता है॥ उदाहरणों में *देवताद्वन्द्वे* च (६।३।२४) से आनङ् आदेश होता है। इन्द्र शब्द *ऋज्रेन्द्राग्र०* (*उणा०* २।२८) से रन् प्रत्यायान्त निपातित है, अतः नित्स्वर से आद्युदात्त है। सोम शब्द *अर्त्तिस्तुसुहु०* (*उणा०* १।१४०) से मन् प्रत्ययान्त है, अतः यह भी नित्स्वर से आद्युदात्त है। वरुण शब्द *कृवृदारिभ्य उनन्* (*उणा०* ३।५३) से उनन् प्रत्ययान्त है, अतः यह भी नित्स्वर से आद्युदात्त है। बृहस्पति शब्द की व्युत्पत्ति ६।२।१४० में की ही है, तदनुसार बृहस्पति में दो उदात्त एवं इन्द्र का एक उदात्त लेकर इन्द्राबृहस्पती में तीन वर्ण उदात्त हुए॥

यहाँ से '*देवताद्वन्द्वे*' की अनुवृत्ति ६।२।१४२ तक जायेगी॥

नोत्तरपदेऽनुदात्तादावपृथिवीरुद्रपूषमन्थिषु ॥६।२।१४२॥

न अ० ॥ उत्तरपदे ७।१॥ अनुदात्तादौ ७।१॥ अपृथिवीरुद्रपूषमन्थिषु ७।३॥ स०—अनुदात्त आदौ (प्रारम्भे) यस्य स अनुदात्तादिः, तस्मिन् ··· बहुव्रीहिः। पृथिवी च रुद्रश्च पूषा च मन्थी च पृथिवी···मन्थिनः, न पृथिवी···थिनः अपृ···थिनः, तेषु···द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—देवताद्वन्द्वे, उभे युगपत्, प्रकृत्या॥ *अर्थः*—अनुदात्तादौ उत्तरपदे पृथिवीरुद्रपूषमन्थिवर्जिते देवताद्वन्द्वे युगपद् उभे प्रकृतिस्वरे न भवतः॥ उदा०—इन्द्राग्नी, इन्द्रावायू॥

भाषार्थः—देवतावाची द्वन्द्व समास में [*अनुदात्तादौ*] अनुदात्तादि [*उत्तरपदे*] उत्तरपद रहते [*अपृ···थिषु*] पृथिवी, रुद्र, पूषन्, मन्थी को छोड़कर एक साथ पूर्व तथा उत्तरपद को उदात्त [*न*] नहीं होता है॥ पूर्व सूत्र से प्राप्ति थी, निषेध कर दिया॥ 'अग्निम्' की स्वर सिद्धि भाग १ पृ० ७७५ में देखें। वायु शब्द भी *कृवापाजिमि०* (*उणा०* १।१) से उणादि प्रत्ययान्त है, अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। इस प्रकार अग्नि,

वायु शब्द अनुदात्त आदि वाले हैं, अतः इनके परे रहते प्रकृति स्
नहीं हुआ। देवताद्वन्द्व है ही, अतः प्रकृत सूत्र से निषेध होने
समासस्य (६।१।२१७) से अन्तोदात्तत्व ही हुआ॥

अन्तः ॥६।२।१४३॥

अन्तः १।१॥ *अनु०*—उत्तरपदस्य[1], उदात्तः॥ *अर्थः*—अधिका
ऽयम्। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्तत्र समासस्योत्तरपदस्यान्त उदा
भवति॥ *उदा०*—वक्ष्यति-*थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्*—सुनीथः, अवभृथः

भावार्थः—यह अधिकार सूत्र है। पाद की समाप्ति पर्यन्त इसका
अधिकार जायेगा, अतः सर्वत्र समास के उत्तरपद का [*अन्तः*] अन
उदात्त होता है ऐसा अर्थ होता जायेगा॥

समासस्य (६।१।२१७) से समास के अन्त को उदात्त प्राप्त ही था
पुनः आगे के सभी सूत्र विभिन्न सूत्रों के अपवाद स्वरूप अन्तोदा
त्तत्व का विधान करते हैं, ऐसा सर्वत्र जानें। कौन किसका अपवाद
है यह यथास्थान दर्शाते जायेंगे॥

थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम् ॥६।२।१४४॥

थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम् ६।३॥ *स०*—थाथ० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥
अनु०—अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः। *गतिकारकोपपदात् कृत्* इत्यतः
'गतिकारकोपपदात्' इत्यप्यनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या॥ *अर्थः*—गतिकार-
कोपपदात्परेषां थ, अथ, घञ्, क्त, अच्, अप्, इत्र, क इत्येवमन्ता-
नामुत्तरपदानामन्त उदात्तो भवति॥ *उदा०*—थ—सुनीथः, अवभृथः।
अथ—आवसथः, उपवसथः। घञ्—प्रभेदः, काष्ठभेदः, रज्जुभेदः।
क्त—दूरादागतः, विशुष्कः, आतपशुष्कः। अच्—प्रक्षयः, प्रजयः।
अप्—प्रलवः, प्रसवः। इत्र—प्र वित्रम्, प्रसवित्रम्। क—गोवृषः, खरी-
वृषः, प्रवृषः, प्रहृषः॥

---

१. 'उत्तरपदादिः' इस समस्त पद से केवल 'उत्तरपद' की अनुवृत्ति आ रही है। 'उत्तरपदस्य आदिः' ऐसा विग्रह करने पर 'उत्तरपदस्य' षष्ठ्यन्त पद ही बन जाता है, अतः हमने उत्तरपद न रख कर सर्वत्र 'उत्तरपदस्य' ऐसा ही अनुवृत्ति में प्रदर्शित किया है, क्योंकि अविभक्तिक पद का प्रयोग साधु नहीं॥

भाषार्थः—गति कारक और उपपद से उत्तर [*थाथघञ्क्ताजबित्र-काणाम्*] थ, अथ, घञ्, क्त, अच्, अप्, इत्र तथा क प्रत्ययान्त शब्दों को अन्तोदात्त होता है ॥

हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन् (*उणा०* २।२) से सुनीथः शब्द क्थन् प्रत्ययान्त है, एवं अवभृथः शब्द भी *अवे भृञः* (*उणा०* २।३) से क्थन् प्रत्ययान्त है, अतः *गतिकार०* (६।२।१३८) से उत्तरपद प्रकृति-स्वरत्व (नित्स्वर से आद्युदात्तत्व) प्राप्त था ॥ आवसथः, उपवसथः यहाँ *उपसर्गे वसेः* (*उणा०* ३।११६) से अथ प्रत्यय हुआ है ॥ यहाँ भी एवं घञन्त काष्ठभेदः आदि में भी पूर्ववत् *गतिकार०* (६।२।१३८) की प्राप्ति जानें ॥ दूरादागतः यहाँ *स्तोकान्तिक०* (२।१।३८) से समास तथा *पञ्चम्याः स्तो०* (६।३।२) से पञ्चमी का अलुक् हुआ है ॥ विशुष्कः यहाँ निष्ठा के 'त' को *शुषः कः* (८।२।५१) से क आदेश हुआ है। यहाँ दोनों स्थलों में *गतिरनन्तरः* (६।२।४९) की प्राप्ति थी ॥ आतपशुष्कः में *सिद्धशुष्कपक्वबन्धैश्च* (२।१।४१) से समास हुआ है तथा कृत्स्वर का अपवाद *सप्तमी सिद्धशुष्कपक्वबन्धेष्व०* (६।१।३२) से पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व प्राप्त था। प्रक्षयः, प्रजयः में क्षय जय शब्द अच् प्रत्ययान्त हैं, जिन को *गतिकारकोपपदात्०* (६।२।१३८) से प्रकृतिस्वर होकर क्रमशः *क्षयो निवासे* (६।१।१९५) *जयः करणम्* (६।१।१९६) से आद्युदात्तत्व प्राप्त था तदपवाद अन्तोदात्तत्व कह दिया ॥ शेष प्रलवः, प्रलवित्रम् इत्यादि में भी *गतिकारको०* (६।२।१३८) की प्राप्ति थी तदपवाद कह दिया। प्रलवित्रम् में *अर्त्तिलूधू०* (३।२।१८४) से इत्र प्रत्यय एवं प्रलवः में *ऋदोरप्* (३।३।५७) से अप् हुआ है ॥ गोवृषः, खरीवृषः यहाँ कप्रकरणे *मूलविभुजादि०* (वा० ३।२।५) इस वार्त्तिक से क प्रत्यय हुआ है। प्रवृषः, प्रहृषः में *इगुपधज्ञा०* (३।१।१३५) से क प्रत्यय हुआ है। *गतिकारकोपपदात्०* से प्रकृतिस्वर होने से वृष शब्द को *वृषादीनां च* (६।१।१९७) से आद्यु-दात्तत्व प्राप्त था तदपवाद कह दिया ॥

यह सूत्र भिन्न-भिन्न प्रयोगों के प्राप्त होने पर जिन-जिन सूत्रों का अपवाद बनता है, उनको हमने ऊपर दिखा ही दिया है। स्वर विषय का यह मुख्य सूत्र है ॥

सूपमानात् क्तः ॥६।२।१४५॥

सूपमानात् ५।१॥ क्तः १।१॥ *स०*—सुश्च उपमानञ्च सूपमा॰ तस्मात्.....समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः* सोः उपमानाच्च परं क्तान्तमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति ॥ *उदा०*—सुकृतम्, सुभुक्तम्, सुपीतम्, ऋतस्य योनौ सुकृतस्य (ऋ० १०।८५।२४)। उपम नात्—वृकैरिवावलुप्तम् वृकावलुप्तम्, शशप्लुतम्, सिंहविनर्दितम्

भाषार्थः—[*सूपमानात्*] सु तथा उपमानवाची से उत्तर [*क्तः*] क्तान्त उत्तरपदको अन्तोदात्त होता है ॥ सुकृतम् आदि में *गतिरनन्तर* (६।२।४९) की प्राप्ति थी, एवं वृकावलुप्तम् आदि में *तृतीया कर्मणि* (६।२।४८) की प्राप्ति थी, तदपवाद कह दिया। सर्वत्र *कर्तृकरणे कृता॰* (२।१।३१) से समास हुआ है। लुप्लृ छेदने से अवलुप्तम् एवं प्लुङ गतौ से प्लुतम् तथा नर्द शब्दे से विनर्दितम् बना है ॥
यहाँ से '*क्तः*' की अनुवृत्ति ६।२।१४९ तक जायेगी ॥

संज्ञायामनाचितादीनाम् ॥६।२।१४६॥

संज्ञायाम् ७।१॥ अनाचितादीनाम् ६।३॥ *स०*—आचित आदिर्येषां ते आचितादयः, न आचितादयोऽनाचितादयस्तेषां......बहुव्रीहिगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—क्तः, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः। गतिकारकोपपदात् इत्यप्यनुवर्तते ॥ *अर्थः*—गतिकारकोपपदात् परं क्तान्तमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति संज्ञायां विषय आचितादीन् वर्जयित्वा ॥ *उदा०*—संभूतो रामायणः, उपहूतः शाकल्यः, परिजग्धः कौण्डिन्यः। कारकादुपपदाच्च—धनुर्भिः खाता धनुष्खाता नदी, कुद्दालखातं नगरम्, हस्तिमृदिता भूमिः ॥

भाषार्थः—गति, कारक तथा उपपद से उत्तर क्तान्त उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में [*अनाचितादीनाम्*] आचितादि शब्दों को छोड़कर ॥ संभूतः आदि में कर्म में क्त हुआ है, अतः *गतिरनन्तरः* (६।२।४९) की प्राप्ति थी तदपवाद है ॥ संभूतः आदि शब्द रामायण इत्यादि की संज्ञायें हैं। धनुष्खाता आदि में *कर्तृकरणे कृता॰* (२।१।३१) से समास हुआ है। *जनसनखन॰* (६।४।४२)

से खन् को आत्व हुआ है। *तृतीया कर्मणि* (६।२।४८) से इन तीनों उदाहरणों में पूर्वपद को प्रकृति स्वर प्राप्त था, तदपवाद यह अन्तोदात्त विधान है ॥

यहाँ से *'संज्ञायाम्'* की अनुवृत्ति ६।२।१४८ तक जाती है ॥

प्रवृद्धादीनां च ॥६।२।१४७॥

प्रवृद्धादीनाम् ६।३॥ च अ०॥ *स०*—प्रवृद्ध आदिर्येषां ते प्रवृद्धादयस्तेषां...बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—क्तः, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—प्रवृद्धादीनां च क्तान्तमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति ॥ *उदा०*—प्रवृद्धं यानम्, प्रवृद्धो वृषलः, प्रयुक्ताः सक्तवः ॥

भाषार्थः—[*प्रवृद्धादीनाम्*] प्रवृद्धादियों के क्तान्त उत्तरपद को [च] भी अन्तोदात्त होता है। पूर्व सूत्र में संज्ञा विषय में कहा है, यहाँ असंज्ञा में भी होगा। पूर्ववत् *गतिरनन्तरः* की प्राप्ति थी तदपवाद है ॥

कारकाद्दत्तश्रुतयोरेवाशिषि ॥६।२।१४८॥

कारकात् ५।१॥ दत्तश्रुतयोः ६।२॥ एव अ०॥ आशिषि ७।१॥ *स०*—दत्त० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—संज्ञायाम्, क्तः, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—आशिषि गम्यमानायां संज्ञायां विषये कारकादुत्तरयोर्दत्तश्रुतयोरेव क्तान्तयोरन्त उदात्तो भवति ॥ *उदा०*—देवा एनं देयासुः = प्रार्थितैर्देवैर्दत्तः = देवदत्तः। विष्णुरेनं श्रूयाद् विष्णुश्रुतः ॥

भाषार्थः—संज्ञा विषय में [*आशिषि*] आशीर्वाद गम्यमान हो तो [*कारकात्*] कारक से उत्तर [*दत्तश्रुतयोः*] दत्त तथा श्रुत क्तान्त शब्दों को [*एव*] ही अन्त उदात्त होता है ॥ *संज्ञायामनाचि०* (६।२।१४५) से सभी क्तान्तों को अन्तोदात्तत्व प्राप्त था, उसी का यहाँ नियम कर दिया कि 'यदि कारक से उत्तर हो तो दत्त एवं श्रुत को ही हो'। दत्त, श्रुत से अन्यत्र *तृतीया कर्मणि* (६।२।४८) से पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व ही होगा ॥ इस प्रकार कारक का नियम कर दिया ॥ *क्तिच्क्तौ च संज्ञा०* (३।३।१७४) से आशीः विषय में उदाहरणों में क्त प्रत्यय हुआ है। दो दद् घोः (७।४।४६) से दा को दद् आदेश होता है। किसी व्यक्ति विशेष की ये संज्ञायें हैं ॥

यहाँ से '*कारकात्*' की अनुवृत्ति ६।२।१५१ तक जायेगी ॥

इत्थम्भूतेन कृतमिति च ॥६।२।१४९॥

इत्थम्भूतेन ३।१॥ कृतम् १।१॥ इति अ० ॥ च अ० ॥ इमं प्रकार-मापन्नः इत्थम्भूतस्तेन ...... ॥ *अनु०*—कारकात्, क्तः, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—इत्थम्भूतेन कृतमित्येतस्मिन्नर्थे यः समासो वर्त्तते तत्र क्तान्तमुत्तरपदं कारकात् परमन्तोदात्तं भवति ॥ *उदा०*—सुप्तप्रलपितम्, उन्मत्तप्रलपितम्, प्रमत्तगीतम्, विपन्नश्रुतम् ॥

भाषार्थः—[*इत्थम्भूतेन*] इस प्रकार को प्राप्त हुए के द्वारा [*कृतम्*] किया गया [*इति*] इस अर्थ में जो समास वहाँ [*च*] भी क्तान्त उत्तरपद को कारक से परे अन्तोदात्त होता है ॥ सुप्तत्व प्रकार को प्राप्त हुआ हुआ यह इत्थम्भूत है, तथा उस सुप्त के द्वारा प्रलाप किया गया यह 'कृतम्' है, इस प्रकार सुप्तप्रलपितम् में 'इत्थम्भूतेन कृतम्' अर्थ में समास है। इसी प्रकार सबमें जानें ॥ *तृतीया कर्मणि* (६।२।४८) का अपवाद यह सूत्र भी है ॥

अनो भावकर्मवचनः ॥६।२।१५०॥

अनः १।१॥ भावकर्मवचनः १।१॥ *स०*—भावश्च कर्म च भावकर्मणी, तयोर्वचनः भावकर्मवचनः द्वन्द्वगर्भषष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—कारकात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—कारकात् परं भाववचनं कर्मवचनं चानप्रत्ययान्तमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति ॥ *उदा०*—ओदनभोजनं सुखम्, पयःपानं सुखम्, चन्दनप्रियङ्गुकालेपनं सुखम्। कर्मवचनम्—राजभोजनाः शालयः, राजाच्छादनानि वासांसि ॥

भाषार्थः—[*भावकर्मवचनः*] भाव तथा कर्मवाची [*अनः*] अनप्रत्ययान्त उत्तरपद को कारक से उत्तर अन्तोदात्तत्व होता है ॥ 'भोजन' आदि शब्द अन (यु को अन होकर) प्रत्ययान्त हैं। सर्वत्र कर्म में षष्ठी होकर समास हुआ है ॥ *गतिकारकोपपदात्०* (६।२।१३८) का अपवाद यह सूत्र है ॥

मन्क्तिन्व्याख्यानशयनासनस्थानयाजकादिक्रीताः ॥६।२।१५१॥

मन्क्ति...क्रीताः १।३॥ स०—याजक आदिर्येषां ते याजकादयः, बहुव्रीहिः । मन् च क्तिन् च व्याख्यानञ्च शयनञ्च आसनञ्च स्थानञ्च याजकादयश्च क्रीतश्च मन्क्ति...क्रीताः, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—कारकात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—कारकात्परं मन्नन्तं क्तिन्नन्तं, व्याख्यान, शयन, आसन, स्थान इत्येतानि याजकादयः क्रीतशब्दश्चोत्तरपदमन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—मन्—रथस्य वर्त्म रथवर्त्म, शकटवर्त्म[1] । क्तिन्—पाणिनिकृतिः, आपिशलिकृतिः । व्याख्यान–ऋगयनव्याख्यानम्, छन्दोव्याख्यानम् । शयन—राजशयनम्, ब्राह्मणशयनम् । आसन—राजासनम्, ब्राह्मणासनम् । स्थान—गोस्थानम्, अश्वस्थानम् । याजकादि—ब्राह्मणयाजकः, क्षत्रिययाजकः, ब्राह्मणपूजकः, क्षत्रियपूजकः । क्रीत—गवा क्रीतः = गोक्रीतः, अश्वक्रीतः ॥

भाषार्थः—कारक से उत्तर [*मन्क्ति...क्रीताः*] मन्प्रत्ययान्त, क्तिन्प्रत्ययान्त, एवं व्याख्यान, शयन, आसन, स्थान तथा याजकादिगण पठित शब्द एवं क्रीत शब्द उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है ॥ सर्वत्र षष्ठी समास हुआ है । ब्राह्मणयाजकः आदि में *याजकादिभिश्च* (२।२।९) से समास हुआ है । *गतिकारकोपपदात्*० (६।२।१३८) का अपवाद यह सूत्र है । गोक्रीतः अश्वक्रीतः में तृतीया समास है, अतः यहाँ *तृतीया कर्मणि* (६।२।४८) की प्राप्ति थी तदपवाद है ॥ व्याख्यान में करण में, तथा शयन आसन स्थान में अधिकरण में ल्युट् हुआ है भाव एवं कर्म में ल्युट् नहीं हुआ है अतः पूर्व सूत्र से प्राप्त नहीं था, कह दिया ॥

सप्तम्याः पुण्यम् ॥६।२।१५२॥

सप्तम्याः ५।१॥ पुण्यम् १।१॥ अनु०—अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—सप्तम्यन्तात् परं पुण्यमित्येतदुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—अध्ययने पुण्यम् = अध्ययनपुण्यम्, वेदे पुण्यम् = वेदपुण्यम् ॥

---

१ रथवर्त्म आदि उदाहरणों में कर्तृकर्मणोः कृति से कर्म में षष्ठी होने से कारक से उत्तरवर्त्मादि कृदन्त होता है ।

भाषार्थः—[*सप्तम्याः*] सप्तम्यन्त से परे [*पुण्यम्*] पुण्य उत्तरप शब्द को अन्तोदात्त होता है ॥ *तत्पुरुषे तुल्यार्थ०* (६।२।२) से पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व प्राप्त था, तदपवाद है ॥

ऊनार्थकलहं तृतीयायाः ॥६।२।१५३॥

ऊनार्थकलहम् १।१॥ तृतीयायाः ५।१॥ *स०*—ऊनोऽर्थो यस्य स ऊनार्थः, बहुव्रीहिः। ऊनार्थश्च कलहश्च ऊनार्थकलहम्, समाहारो द्वन्द्वः। अनु०—अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—तृतीयान्तात् पराण्यूनार्थान्युत्तरपदानि कलहशब्दश्चान्तोदात्तानि भवन्ति ॥ *उदा०*—माषोनम्, कार्षापणोनम्, माषविकलम्, कार्षापणविकलम्। असिकलहः, वाक्कलहः ॥

भाषार्थः—[*तृतीयायाः*] तृतीयान्त शब्द से परे [*ऊनार्थकलहम्*] ऊनार्थवाची एवं कलह शब्द उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है ॥ ऊन कम का वाचक है ॥ उदाहरणों में *पूर्वसदृशसमो०* (२।१।३०) से समास हुआ है ॥ यहाँ भी *तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया०* (६।२।२) से पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व प्राप्त था, तदपवाद है ॥

यहाँ से '*तृतीयायाः*' की अनुवृत्ति ६।२।१५४ तक जायेगी ॥

मिश्रं चानुपसर्गमसन्धौ ॥६।२।१५४॥

मिश्रम् १।१॥ च अ०॥ अनुपसर्गम् १।१॥ असन्धौ ७।१॥ *स०*—अनुप०, असन्धौ उभयत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—तृतीयायाः, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—तृतीयान्तात्परं मिश्र इत्येतदनुपसर्गमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति, असन्धौ गम्यमाने ॥ *उदा०*—गुडमिश्राः, तिलमिश्राः, सर्पिर्मिश्राः ॥

भाषार्थः—तृतीयान्त से परे [*अनुपसर्गम्*] अनुपसर्ग [*मिश्रम्*] मिश्र शब्द उत्तरपद को [*च*] भी अन्तोदात्त होता है [*असन्धौ*] असन्धि गम्यमान हो तो ॥ उदाहरणों में *पूर्वसदृश०* (२।१।३०) से समास हुआ है ॥ यह सूत्र भी *तत्पुरुषे तुल्यार्थ०* (६।२।२) का अपवाद है ॥ सन्धि पणबन्ध को कहते हैं। उदाहरणों में असन्धि अर्थात् पणबन्ध का अभाव है, क्योंकि 'गुड़ मिला हुआ, तिल मिला हुआ' ऐसा उदाहरणों का अर्थ है ॥

नञो गुणप्रतिषेधे संपाद्यर्हहितालमर्थास्तद्धिताः ॥६।२।१५५॥

नञः ५।१॥ गुणप्रतिषेधे ७।१॥ संपाद्यर्हहितालमर्थाः १।३॥ तद्धिताः १।३॥ स०—गुणस्य प्रतिषेधः, गुणप्रतिषेधस्तस्मिन्''''षष्ठीतत्पुरुषः। सम्पादी च अर्हश्च हितञ्च अलञ्च सम्पाद्यर्हहितालम्, इत्येतान्यर्थाः येषां तद्धितानां ते संपा''''र्थाः, द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः॥ अनु०—अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः॥ *अर्थः*—सम्पदादि, अर्ह, हित, अलम् इत्येवमर्था ये तद्धितास्तदन्तान्युत्तरपदानि गुणप्रतिषेधे वर्त्तमानात् नञः पराण्यन्तोदात्तानि भवन्ति॥ *उदा०*—कर्णवेष्टकाभ्यां सम्पादि मुखं = कार्णवेष्टकिकम्, न कार्णवेष्टकिकम्, अकार्णवेष्टकिकम्। अर्ह—छेदमर्हति छैदिकः, न छैदिकः, अच्छैदिकः। हित—वत्सेभ्यो हितो वत्सीयः, न वत्सीयः अवत्सीयः॥ अलम्—सन्तापाय प्रभवति सान्तापिकः, न सान्तापिकः असान्तापिकः॥

भाषार्थः—[*गुणप्रतिषेधे*] गुण के प्रतिषेध अर्थ में वर्त्तमान [*नञः*] नञ् से उत्तर [*संपाद्यर्हहितालमर्थाः*] संपादि, अर्ह, हित, अलम् अर्थ हैं जिन [*तद्धिताः*] तद्धितों के तदन्त (तद्धित प्रत्ययान्त) उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है॥ यह सूत्र भी *तत्पुरुषे तुल्यार्थ०* (६।२।२) का अपवाद है॥ कार्णवेष्टकिकम् यहाँ *सम्पादिनि* (५।१।६८) से सम्पादि अर्थ में ठञ् तद्धित प्रत्यय हुआ है। उस सम्पादि गुण का प्रतिषेध नञ् से होता है, अतः गुणप्रतिषेध अर्थ में वर्त्तमान नञ् है ही। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में जिस हित आदि अर्थ में तद्धित प्रत्यय हुआ है, उसी गुण का प्रतिषेध नञ् से हो रहा है, ऐसा जानें॥ छैदिकः में *आर्हादगो०*[1] (५।१।१९) से ठक् हुआ है। वत्सीयः में *प्राक् क्रीताच्छः* (५।१।१) से छ तथा सान्तापिकः में *तस्मै प्रभवति०* (५।१।१००) से ठञ् तद्धित हुआ है। पश्चात् नञ् समास हो ही जायेगा॥

यहाँ से '*नञः*' की अनुवृत्ति ६।२।१६१ तक तथा '*गुणप्रतिषेधे तद्धिताः*' की ६।२।१५६ तक जायेगी॥

---

१. आ अर्हात् यहाँ अभिविधि में आङ् है अतः अर्ह अर्थ में भी ठक् प्रत्यय ही होता है।

ययतोश्चातदर्थे ॥६।२।१५६॥

ययतोः ६।२॥ च अ० ॥ अतदर्थे ७।१॥ स०—यश्च यत् च ययतौ तयोः ''इतरेतरद्वन्द्वः । तस्मै इदं तदर्थम्, चतुर्थीतत्पुरुषः न तदर्थम् अतदर्थं तस्मिन् ''नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—नञः गुणप्रतिषेधे तद्धिताः, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—गुणप्रतिषेधे वर्त्तमानात् नञः परौ य, यत् इत्येतौ यौ तद्धितावतदर्थे वर्त्तेते तदन्तस्योत्तरपदस्यान्त उदात्तो भवति ॥ उदा०—य—पाशानां समूहः पाश्या, न पाश्या अपाश्या, अतृण्या । यत्—दन्तेषु भवं दन्त्यं, न दन्त्यम् अदन्त्यम्, अकर्ण्यम् ।

भावार्थः—गुणप्रतिषेध अर्थ में जो नञ् उससे उत्तर [अतदर्थे] अतदर्थ में वर्त्तमान जो [ययतोः] य तथा यत् तद्धित प्रत्यय तदन्त उत्तरपद को [च] भी अन्त उदात्त होता है ॥ पूर्ववत् तत्पुरुषे तुल्यार्थ० का अपवाद है तथा उदाहरणों में गुणप्रतिषेधादि भी पूर्व कहे अनुसार जानें । उदाहरणों में य यत् प्रत्यय 'पाश के लिये, या दन्त के लिये' इन अर्थों में नहीं हुये हैं, अतः अतदर्थ हैं ॥ पाशादिभ्यो यः (४।२।४८) से 'य' तथा शरीरावयवाच्च (४।३।५५) से 'यत्' प्रत्यय हुआ है ॥

अच्कावशक्तौ ॥६।२।१५७॥

अच्कौ १।२॥ अशक्तौ ७।१॥ स०—अच् च कश्च अच्कौ, इतरेतरद्वन्द्वः । न शक्तिरशक्तिस्तस्याम् ''नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—नञः, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—नञः परमच्प्रत्ययान्तं कप्रत्ययान्तं चोत्तरपदमशक्तौ गम्यमानायामन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—अपचः, अजयः । कः—अविक्षिपः, अविलिखः ॥

भावार्थः—नञ् से उत्तर [अच्कौ] अच्प्रत्ययान्त तथा कप्रत्ययान्त उत्तरपद को [अशक्तौ] अशक्ति गम्यमान हो तो अन्तोदात्त होता है ॥ अपचः (जो पकाने में असमर्थ है) में पचाद्यच् हुआ है, तथा अविलिखः में इगुपधज्ञा० (३।१।१३५) से क प्रत्यय हुआ है ॥ 'नञ्' अव्यय है, अतः इस नञ् के अधिकार में सर्वत्र तत्पुरुषे तुल्यार्थ० की प्राप्ति थी, तदपवाद ये सूत्र हैं ॥

यहाँ से 'अच्कौ' की अनुवृत्ति ६।२।१५८ तक जायेगी ॥

आक्रोशे च ॥६।२।१५८॥

आक्रोशे ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—अच्कौ, नञः, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—नञः परमच्प्रत्ययान्तं कप्रत्ययान्तञ्चोत्तरपदमाक्रोशे गम्यमानेऽन्तोदात्तं भवति ॥ *उदा०*—अपचोऽयं जाल्मः, अपठोऽयं जाल्मः । कः—अविक्षिपः, अविलिखः ॥

भाषार्थः—नञ् से उत्तर [*आक्रोशे*] आक्रोश गम्यमान होने पर [च] भी अच्प्रत्ययान्त तथा कप्रत्ययान्त उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है ॥ अपचः अपठः में आक्रोश यही है, कि वह पकाने एवं पढ़ने में शक्त = समर्थ है तो भी किसी कारण से पका नहीं सकता, पढ़ नहीं सकता अतः उसकी 'अपचोऽयं जाल्मः' कहकर भर्त्सना की जा रही है । इसी प्रकार अन्यों में समझें ॥ शक्ति गम्यमान होने पर भी हो जावे अतः यह सूत्र है ॥

यहाँ से '*आक्रोशे*' की अनुवृत्ति ६।२।१५९ तक जायेगी ॥

संज्ञायाम् ॥६।२।१५९॥

संज्ञायाम् ७।१॥ *अनु०*—आक्रोशे, नञः, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—नञः परमाक्रोशे गम्यमाने संज्ञायां वर्त्तमानमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति ॥ *उदा०*—अदेवदत्तः, अयज्ञदत्तः, अविष्णुमित्रः ॥

भाषार्थः—नञ् से परे आक्रोश गम्यमान हो तो [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में वर्त्तमान उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है ॥ जो देवदत्त नामधारी होते हुये भी तदनुकूल कार्य नहीं करता उसके प्रति अदेवदत्तः कहकर आक्रोश प्रकट किया जाता है ॥

कृत्योकेष्णुच्चार्वादयश्च ॥६।२।१६०॥

कृत्यो···दयः १।३॥ च अ० ॥ *स०*—चारु आदिर्येषां ते चार्वादयः, बहुव्रीहिः । कृत्यश्च उकश्च इष्णुच् च चार्वादयश्च कृत्यो···दयः, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—नञः, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—नञ उत्तरे कृत्य, उक, इष्णुच् इत्येवमन्ताश्चार्वादयश्चान्तोदात्ता भवन्ति ॥ *उदा०*—कृत्य—अकर्त्तव्यम्, अकरणीयम् । उक—अनागामुकम्,

अनपलाषुकम् । इष्णुच्—अनलङ्करिष्णुः, अनिराकरिष्णुः, अनाढ्यम्भविष्णुः, असुभगम्भविष्णुः । चार्वादयः—अचारुः, असाधुः, अयौधिक अवदान्यः ॥

भाषार्थः—नञ् से उत्तर [*कृत्यो···दयः*] कृत्य संज्ञक एवं उक, इष्णुच् प्रत्ययान्त तथा चार्वादि गणपठित उत्तरपद शब्दों को [च] भी अन्तोदात्त होता है ॥ *लषपतपद०* (३।२।१५४) से उकञ् (उक) प्रत्यय तथा *अलंकृञ्०* (३।२।१३६) से इष्णुच् प्रत्यय होता है। इष्णुच् से खिष्णुच् का भी ग्रहण है, जो कि *आढ्यसुभग०* (३।२।५६) से अनाढ्यम्भविष्णुः आदि में हुआ है। कृत्य से कृत्यसंज्ञक अनीयर् आदि प्रत्यय लिये गये हैं ॥

विभाषा तृन्नन्नतीक्ष्णशुचिषु ॥६।२।१६१॥

विभाषा १।१॥ तृन्नन्नतीक्ष्णशुचिषु ७।३॥ *स०*—तृन्नन्न० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—नञः, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—नञ उत्तरेषु तृन्नन्त, अन्न, तीक्ष्ण, शुचि इत्येतेषूत्तरपदेषु विभाषाऽन्त उदात्तो भवति ॥ *उदा०*—अकर्त्ता, अकर्त्ता। अनन्नम्, अनन्नम्। अतीक्ष्णम्, अतीक्ष्णम्। अशुचिः, अशुचिः ॥

भाषार्थः—नञ् से उत्तर [*तृन्नन्नतीक्ष्णशुचिषु*] तृन् प्रत्ययान्त एवं अन्न, तीक्ष्ण तथा शुचि उत्तरपद शब्दों को [*विभाषा*] विकल्प से अन्तोदात्त होता है ॥ पक्ष में *तत्पुरुषे तुल्यार्थ०* (६।२।२) से अव्यय पूर्वपद को प्रकृतिस्वरत्व अर्थात् *निपाता आद्युदात्ताः* (*फिट्० ८०*) से आद्युदात्तत्व होता है ॥ अकर्त्ता में तच्छील अर्थ में तृन् प्रत्यय हुआ है ॥

बहुव्रीहाविदमेतत्तद्भ्यः प्रथमपूरणयोः क्रियागणने ॥६।२।१६२॥

बहुव्रीहौ ७।१॥ इदमेतत्तद्भ्यः ५।३॥ प्रथमपूरणयोः ६।२॥ क्रियागणने ७।१॥ *स०*—इदम् च एतद् च तद् च इदमेतत्तदस्तेभ्यः··· इतरेतरद्वन्द्वः। प्रथमञ्च पूरणञ्च प्रथमपूरणे, तयोः·····इतरेतरद्वन्द्वः।

क्रियायाः गणनं क्रियागणनम्, तस्मिन्......षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—बहुव्रीहौ समासे इदम्, एतद्, तद् इत्येतेभ्य उत्तरस्य क्रियागणने वर्त्तमानस्य प्रथमशब्दस्य पूरणप्रत्ययान्तस्य च शब्दस्यान्तोदात्तो भवति ॥ उदा०—इदं प्रथमं गमनं भोजनं वा यस्य स इदंप्रथमः । इदंद्वितीयः, इदंतृतीयः । एतत्प्रथमः । एतद्द्वितीयः एतत्तृतीयः । तत्प्रथमः । तद्द्वितीयः, तत्तृतीयः ॥

भाषार्थः—[*बहुव्रीहौ*] बहुव्रीहि समास में [*इदमेतत्तद्भ्यः*] इदम्, एतत्, तद् इनसे उत्तर [*क्रियागणने*] क्रिया के गणन में वर्त्तमान [*प्रथमपूरणयोः*] प्रथम तथा पूरण प्रत्ययान्त शब्दों को अन्तोदात्त होता है ॥ प्रथम शब्द का यहाँ स्वरूप से ग्रहण है, तथा पूरण से *द्वेस्तीयः*, *त्रेः संप्रसारणं च* (५।२।५५) से विहित जो पूरण अर्थ में प्रत्यय तदन्त शब्द लिये गये हैं ॥ यह उसका प्रथम गमन है अथवा द्वितीय तृतीय गमन है, यहाँ स्पष्ट क्रियागणन है ही ॥

बहुव्रीहौ प्रकृत्या० (६।२।१) से पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व प्राप्त था तदपवाद है । यहाँ से आगे जहाँ तक 'बहुव्रीहौ' का अधिकार है, वहाँ तक के सभी सूत्र '*बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्*' के अपवाद होंगे, ऐसा जानें ॥

यहाँ से '*बहुव्रीहौ*' की अनुवृत्ति ६।२।१७७ तक जायेगी ॥

संख्यायाः स्तनः ॥६।२।१६३॥

संख्यायाः ५।१॥ स्तनः १।१॥ अनु०—बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य उदात्तः ॥ *अर्थः*—संख्यायाः परः स्तनशब्दो बहुव्रीहौ समासेऽन्तोदात्तो भवति ॥ उदा०—द्विस्तना, त्रिस्तना, चतुःस्तना ॥

भाषार्थः—[*संख्यायाः*] संख्या शब्द से उत्तर [*स्तनः*] स्तन शब्द को बहुव्रीहि समास में अन्तोदात्त होता है ॥ उदा०—द्विस्तना (दो स्तनों वाली) ॥

यहाँ से '*संख्यायाः स्तनः*' की अनुवृत्ति ६।२।१६४ तक जायेगी ॥

विभाषा छन्दसि ॥६।२।१६४॥

विभाषा १।१॥ छन्दसि ७।१॥ *अनु०*—संख्यायाः स्तनः, बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये बहुव्रीहौ समासे संख्यायाः परः स्तनशब्दो विकल्पेनान्तोदात्तो भवति ॥ *उदा०*—द्विस्तनां कुर्याद् वामदेवः । द्विस्तनां करोति द्यावापृथिव्योर्दोहाय चतुःस्तनां करोति पशूनां दोहाय (तै० सं० ५।१।६।४) । चतुःस्तनां करोति ॥

भाषार्थः—[*छन्दसि*] वेद विषय में संख्या शब्द से परे स्तन शब्द को बहुव्रीहि समास में [*विभाषा*] विकल्प से अन्तोदात्त होता है ॥ पक्ष में द्वि (फिट्० १) चतुर् (उणा० ५।५८) शब्द प्रकृतिस्वर होने से आद्युदात्त हैं ॥

संज्ञायां मित्राजिनयोः ॥६।२।१६५॥

संज्ञायाम् ७।१॥ मित्राजिनयोः ६।२॥ *स०*—मित्रा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—संज्ञायां विषये बहुव्रीहौ समासे मित्र, अजिन इत्येतयोरुत्तरपदयोरन्त उदात्तो भवति ॥ *उदा०*—देवमित्रः, ब्रह्ममित्रः । वृकाजिनः, कूलाजिनः, कृष्णाजिनः ॥

भाषार्थः—[*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में [*मित्राजिनयोः*] मित्र तथा अजिन उत्तरपद को बहुव्रीहि समास में अन्तोदात्त होता है ॥ देवमित्र आदि किन्हीं की संज्ञाएँ हैं ॥

व्यवायिनोऽन्तरम् ॥६।२।१६६॥

व्यवायिनः ५।१॥ अन्तरम् १।१॥ *अनु०*—बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—व्यवायी = व्यवधाता । व्यवधातृवाचिनः परमन्तरमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति बहुव्रीहौ समासे ॥ *उदा०*—वस्त्रमन्तरं व्यवधायकं यस्य स वस्त्रान्तरः, पटान्तरः, कम्बलान्तरः ॥

भाषार्थः—[*व्यवायिनः*] व्यवधायकवाची शब्द से उत्तर [*अन्तरम्*] अन्तर उत्तरपद शब्द को बहुव्रीहि समास में अन्तोदात्त होता है ॥ वस्त्र तथा पट आदि शब्द व्यवधायकवाची हैं ॥ *उदा०*—वस्त्रान्तरः (वस्त्र है व्यवधायक जिसका), पटान्तरः ॥

मुखं स्वाङ्गम् ॥६।२।१६७॥

मुखम् १।१॥ स्वाङ्गम् १।१॥ *अनु०*—बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—स्वाङ्गवाचि मुखमुत्तरपदं बहुव्रीहौ समासेऽन्तोदात्तं भवति ॥ स्वमङ्गं स्वाङ्गम् ॥ उदा०—गौरमुखः, भद्रमुखः ॥

भाषार्थः—[*स्वाङ्गम्*] स्वाङ्ग (अपना अङ्ग) वाची [*मुखम्*] मुख शब्द उत्तरपद को बहुव्रीहि समास में अन्तोदात्त होता है ॥ उदा०—गौरमुखः (गोरे मुख वाला) ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ६।२।१६८ तक जायेगी ॥

नाव्ययदिक्शब्दगोमहत्स्थूलमुष्टिपृथुवत्सेभ्यः ॥६।२।१६८॥

न अ० ॥ अव्यय.....त्सेभ्यः ५।३॥ *स०*—दिशां शब्दाः दिक्शब्दाः, षष्ठीतत्पुरुषः । अव्यय० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—मुखं स्वाङ्गम्, बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—अव्यय, दिक्शब्द, गो, महत्, स्थूल, मुष्टि, पृथु, वत्स इत्येतेभ्यः परं स्वाङ्गवाचि मुखमुत्तरपदं बहुव्रीहौ समासे नान्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—अव्यय—उच्चैर्मुखः, नीचैर्मुखः । दिक्शब्द—प्राङ्मुखः, प्रत्यङ्मुखः । गोमुखः । महामुखः । स्थूलमुखः । मुष्टिमुखः । पृथुमुखः । वत्समुखः ॥

भाषार्थः—बहुव्रीहि समास में [*अव्यय.....त्सेभ्यः*] अव्यय, दिक्शब्द, गो, महत्, स्थूल, मुष्टि, पृथु, वत्स इनसे उत्तर स्वाङ्गवाची मुख शब्द उत्तरपद को अन्तोदात्त [न] नहीं होता ॥ पूर्व सूत्र से प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया, अतः *बहुव्रीहौ प्रकृत्या०* (६।२।१) से सर्वत्र पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व ही होता है, जो इस प्रकार है—उच्चैः नीचैः शब्द स्वरादि गण में अन्तोदात्त निपातन पढ़े हुये हैं । प्राङ् तथा प्रत्यङ् शब्द को *अनिगन्तोञ्चतौ०* (६।२।५२) से पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व की प्राप्ति थी, सो वहीं इसकी सिद्धि की है । गो की सिद्धि सूत्र ६।२।४ में तथा महत् की ६।२।३८ में देखें । स्थूल शब्द से पचाद्यच् होता है, अतः प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त होता है । मुष धातु से क्तिच् प्रत्ययान्त मुष्टि शब्द बनता है, अतः अन्तोदात्त है । पृथु शब्द *प्रथिम्रदि०* (उणा० १।२८) से कु

प्रत्ययान्त है, अतः अन्तोदात्त है। वत्स शब्द *वृतॄवदिवचिवसि०* (*उणा०* ३।६२) से स प्रत्ययान्त है, अतः अन्तोदात्त है॥

निष्ठोपमानादन्यतरस्याम् ॥६।२।१६९॥

निष्ठोपमानात् ५।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *स०*—निष्ठा च उपमानञ्च निष्ठोपमानं, तस्मात् ''समाहारद्वन्द्वः॥ *अनु०*—मुखं स्वाङ्गम्, बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः॥ *अर्थः*—बहुव्रीहौ समासे निष्ठान्तादुपमानवाचिनश्च स्वाङ्गं मुखमुत्तरपदं विकल्पेनान्तोदात्तं भवति॥ *उदा०*—प्रक्षालितमुखः, प्रक्षालितमुखः प्रक्षालितमुखः। उपमानात्—सिंहमुखः, सिंहमुखः। व्याघ्रमुखः, व्याघ्रमुखः॥

भाषार्थः—बहुव्रीहि समास में [*निष्ठोपमानात्*] निष्ठान्त तथा उपमानवाची से उत्तर स्वाङ्ग मुख शब्द उत्तरपद को [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से अन्तोदात्त होता है॥ *मुखं स्वाङ्गम्* (६।२।१६७) से नित्य अन्तोदात्तत्व की प्राप्ति थी, विकल्प कह दिया, अतः पक्ष में *बहुव्रीहौ०* (६।२।१) से प्रकृतिस्वरत्व होने से *निष्ठोपसर्ग०* (६।२।११०) से पूर्वपद अन्तोदात्तत्व होगा। वहाँ पर भी विकल्प कहा है, अतः पक्ष में *गतिरनन्तरः* (६।२।४९) से 'प्र' उदात्त होगा। ६।२।११० में मुख शब्द से स्वाङ्ग और अस्वाङ्ग दोनों लिये जाते हैं, अतः स्वाङ्गवाची से जब विकल्प से यह स्वर न होगा तब ६।२।११० से विकल्प से पूर्वपद प्रकृति स्वर होकर अन्तोदात्त होगा, और जो विकल्पांश बचा उसमें गतिस्वर भी हो जाता है। इस प्रकार तीन स्वर प्रक्षालितमुखः में होंगे॥ सिंह शब्द भी पचाद्यच् प्रत्ययान्त है, अतः पक्ष में प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त होगा। हिंस धातु का *पृषोदरादीनि०* (६।३।१०७) से वर्णविपर्यय होकर सिंह हो जावेगा। वि आङ् पूर्वक घ्रा धातु से *आतश्चोपसर्गे* (३।१।१३६) से क प्रत्यय होकर व्याघ्र शब्द बनता है, अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्तत्व पक्ष में होगा॥

जातिकालसुखादिभ्योऽनाच्छादनात् क्तोऽकृतमितप्रतिपन्नाः ॥६।२।१७०॥

जातिकालसुखादिभ्यः ५।३॥ अनाच्छादनात् ५।१॥ क्तः १।१॥ अकृतमितप्रतिपन्नाः १।३॥ *स०*—सुख आदिर्येषां ते सुखादयः, बहुव्रीहिः। जातिश्च

कालश्च सुखादयश्च जाति'''दयस्तेभ्यः'''इतरेतरद्वन्द्वः। न आच्छादनमनाच्छादनं तस्मात्'''नञ्तत्पुरुषः। कृतश्च मितश्च प्रतिपन्नश्च कृतमितप्रतिपन्नाः, न कृतमितप्रतिपन्नाः अकृतमितप्रतिपन्नाः, द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः॥ अर्थः—बहुव्रीहौ समासे आच्छादनवर्जितात् जातिवाचिनः कालवाचिनः सुखादिभ्यश्च परं क्तान्तमुत्तरपदं कृतमितप्रतिपन्नान् वर्जयित्वाऽन्तोदात्तं भवति॥ उदा०—जाति—सारङ्गः (चातकः) जग्धो येन सः = सारङ्गजग्धः, पलाण्डुभक्षितः। काल—मासः जातो यस्य सः = मासजातः, संवत्सरजातः, द्व्यहजातः, त्र्यहजातः। सुखादिभ्यः—सुखं जातं यस्य स = सुखजातः, दुःखजातः, तृप्रजातः॥

भाषार्थः—[*अनाच्छादनात्*] आच्छादनवाची शब्द को छोड़कर जो [*जातिकालसुखादिभ्यः*] जातिवाची शब्द, तथा कालवाची एवं सुखादि शब्द उनसे उत्तर [*क्तः*] क्तान्त उत्तरपद को [*अकृतमितप्रतिपन्नाः*] कृत, मित, तथा प्रतिपन्न शब्दों को छोड़कर अन्तोदात्त होता है, बहुव्रीहि समास में॥ कृत मित आदि भी क्तान्त हैं, अतः इस सूत्र से प्राप्त था निषेध कर दिया॥ पूर्ववत् यहाँ भी (६।२।१) पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व प्राप्त था॥ *सुखादि* से ३।१।१८ में पठित गण लिया जाता है॥

यहाँ से '*जातिकालसुखादिभ्यः*' की अनुवृत्ति ६।२।१७१ तक जायेगी॥

वा जाते ॥६।२।१७१॥

वा अ०॥ जाते ७।१॥ अनु०—जातिकालसुखादिभ्यः, बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः॥ *अर्थः*—जातिकालसुखादिभ्यः परं जातशब्द उत्तरपदं विकल्पेनान्तोदात्तं भवति बहुव्रीहौ समासे॥ उदा०—जाति—दन्तजातः, दन्तजातः। स्तनजातः, स्तनजातः। काल—मासजातः, मासजातः। संवत्सरजातः, संवत्सरजातः। सुखादिभ्यः—सुखजातः, सुखजातः। दुःखजातः, दुःखजातः॥

भाषार्थः—जातिवाची, कालवाची तथा सुखादियों से उत्तर [*वा*] विकल्प से [*जाते*] जात शब्द उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है, बहुव्रीहि समास में॥ पक्ष में पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व होगा, जो इस प्रकार होगा—दन्त

शब्द दम धातु से हसिमृग्रिण्वामि० (उणा० ३।८६) से तन् प्रत्ययान्त बना है, अतः नित्स्वर से आद्युदात्त है। स्तन धातु चुरादिगण में अदन्त पढ़ा है, उस से घञ् प्रत्यय होकर स्तन शब्द बनता है। अतो लोपः (६।४।४८) से अकार लोप हो ही जायेगा। घञ् के ञित् होने से स्तनशब्द भी ञ्नित्या० (६।१।१९१) से आद्युदात्त है। मास शब्द भी घञन्त है अतः आद्युदात्त है। संवत्सर शब्द सम्पूर्वाच्चित् (उणा० ३।७२) से सरन् प्रत्ययान्त है, चित्वत् माना जाने से चितः (६।१।१५७) से अन्तोदात्त है। सुपूर्वक खन धातु से अन्येष्वपि दृश्यते (३।२।१०१) से 'ड' प्रत्यय होकर, तथा डित् होने से टिभाग का लोप होकर सुख शब्द बनता है, जो कि प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। इसी प्रकार दुःख शब्द में समझें ॥

नञ्सुभ्याम् ॥६।२।१७२॥

नञ्सुभ्याम् ५।२॥ स०—नञ् च सुश्च, नञ्सू, ताभ्याम्...इतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः॥ अर्थः—बहुव्रीहौ समासे नञ्सुभ्यां परमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—न विद्यन्ते यवा यस्मिन् सः = अयवो देशः, अव्रीहिः, अमाषः। सुयवः, सुव्रीहिः, सुमाषः ॥

भाषार्थः—बहुव्रीहि समास में [नञ्सुभ्याम्] नञ् तथा सु से परे उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है ॥

यहाँ से 'नञ्सुभ्याम्' की अनुवृत्ति ६।२।१७४ तक जायेगी ॥

कपि पूर्वम् ॥६।२।१७३॥

कपि ७।१॥ पूर्वम् १।१॥ अनु०—नञ्सुभ्याम्, बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—नञ्सुभ्यां कपि परतः पूर्वमन्तोदात्तं भवति बहुव्रीहौ समासे ॥ उदा०—अकुमारीको देशः, अब्रह्मबन्धूकः, सुकुमारीकः, सुब्रह्मबन्धूकः ॥

भाषार्थः—नञ् तथा सु से उत्तर उत्तरपद के [कपि] कप् के परे रहते उससे (कप् से) [पूर्वम्] पूर्व को उदात्त होता है ॥ शेषाद्विभाषा (५।४।१५४) से समासान्त कप् होता है। पूर्व सूत्र से कप् को ही अन्तोदात्तत्व प्राप्त था, कप् से पूर्व को कह दिया ॥

यहाँ से 'कपि' की अनुवृत्ति ६।२।१७४ तक जायेगी ॥

ह्रस्वान्तेऽन्त्यात् पूर्वम् ॥६।२।१७४॥

ह्रस्वान्ते ७।१॥ अन्त्यात् ५।१॥ पूर्वम् १।१॥ *स०*—ह्रस्वोऽन्तो यस्य उत्तरपदस्य तद् ह्रस्वान्तम् तस्मिन्'''बहुव्रीहिः ॥ अन्ते भवम् अन्त्यम् ॥ *अनु०*—कपि, नञ्सुभ्याम्, बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—बहुव्रीहौ समासे नञ्सुभ्यां परे ह्रस्वान्त उत्तरपदेऽन्त्यात्पूर्वमुदात्तं भवति कपि परतः ॥ *उदा०*—अयवको देशः, अव्रीहिकः अमाषकः । सुयवकः सुव्रीहिकः, सुमाषकः ॥

भाषार्थः—नञ् तथा सु से उत्तर बहुव्रीहि समास में [*ह्रस्वान्ते*] ह्रस्वान्त उत्तरपद में [*अन्त्यात्*] अन्त्य से [*पूर्वम्*] पूर्व को उदात्त होता है, कप् परे रहते ॥ अयवकः यहाँ यव ह्रस्वान्त शब्द उत्तरपद है, अतः उससे पूर्व 'य' को उदात्त होता है । यव शब्द से परे कप् है ही । इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी जानें । पूर्व सूत्र से कप् से पूर्व उदात्त प्राप्त था, यहाँ ह्रस्वान्त उत्तरपद से पूर्व को कहा है ॥

बहोर्नञ्वदुत्तरपदभूम्नि ॥६।२।१७५॥

बहोः ५।१॥ नञ्वत् अ०॥ उत्तरपदभूम्नि ७।१॥ *स०*—उत्तरपदस्य भूमा (बहुत्वं) उत्तरपदभूमा तस्मिन्'''षष्ठीतत्पुरुषः ॥ नञ् इव नञ्वत् ॥ *अनु०*—बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—उत्तरपदार्थस्य बहुत्वे यो बहुशब्दो वर्त्तते तस्मात् नञ्वत् स्वरो भवति ॥ *उदा०*—नञ्सुभ्यामित्युक्तं बहोरपि तथा भवति—बहुयवो देशः, बहुव्रीहिः, बहुतिलः । कपि पूर्वमित्युक्तं बहोरपि तथा भवति—बहुकुमारीकः, बहुब्रह्मबन्धूकः । ह्रस्वान्तेऽन्त्यात् पूर्वमित्युक्तं बहोरपि तथा भवति—बहुयवको देशः, बहुव्रीहिकः, बहुमाषकः, । नञो जरमरमित्रमृता इत्युक्तं बहोरपि तथा भवति—बहुजरः, बहुमरः, बहुमित्रः, बहुमृतः ॥

भाषार्थः—[*उत्तरपदभूम्नि*] उत्तरपदार्थ के भूम्नि = बहुत्व को कहने में वर्त्तमान जो [*बहोः*] बहु शब्द उससे [*नञ्वत्*] नञ् के समान स्वर होता है, अर्थात् *नञ्सुभ्याम्* आदि सूत्रों से नञ् से उत्तर जो भी स्वरविधान किया है, वह स्वर बहु से उत्तर भी हो जावे । *नञ्सुभ्याम्* से उत्तरपद को अन्तोदात्त कहा है, अतः वह अन्तोदात्तत्व बहु से उत्तर

भी हो जायेगा। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी जान लें, ऊपर स्व
दर्शा ही दिया है ॥

यहाँ से 'बहोः' की अनुवृत्ति ६।२।१७६ तक जायेगी ॥

न गुणादयोऽवयवाः ॥६।२।१७६॥

न अ०॥ गुणादयः १।३॥ अवयवाः १।३॥ स०—गुण आदिर्येषा
ते गुणादयः, बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—बहोः, बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्
उदात्तः ॥ *अर्थः*—बहोरुत्तरे बहुव्रीहौ समासेऽवयववाचिनो गुणाद
नान्तोदात्ता भवन्ति ॥ *उदा०*—बहुगुणा रज्जुः, बह्वक्षरं पदम्, बहुच्छन्द
मानम्, बहुसूक्तः, बह्वध्यायः ॥

भाषार्थः—बहु से उत्तर, बहुव्रीहि समास में [*अवयवाः*] अवयववा
[*गुणादयः*] गुणादि गण पठित शब्दों को अन्तोदात्त [*न*] नहीं होता
पूर्व सूत्र के अतिदेश से प्राप्ति थी निषेध कर दिया, अतः *बहुव्रीहौ प्रकृत्या*
(६।२।१) से पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व ही होता है। *लङ्घिबंह्योर्नलोप*
(*उणा०* १।२६) से बहु शब्द कु प्रत्ययान्त होने से प्रत्ययस्वर
अन्तोदात्त है। बह्वक्षरम् एवं बह्वध्यायः यहाँ उदात्त 'उ' के स्थान
जो यण् हुआ है उससे परे अनुदात्त अकार को *उदात्तस्वरितयोर्यणः*
(८।२।४) से स्वरित होता है ॥ बहुगुणा रज्जुः का अर्थ है, बहुत अवय
= लड़ वाली रस्सी। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी गुणादि श
अवयव अर्थों में हैं ॥

उपसर्गात् स्वाङ्गं ध्रुवमपर्शु ॥६।२।१७७॥

उपसर्गात् ५।१॥ स्वाङ्गम् १।१॥ ध्रुवम् १।१॥ अपर्शु १।१॥ स०-
न पर्शु अपर्शु नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्
उदात्तः ॥ *अर्थः*—बहुव्रीहौ समासे उपसर्गादुत्तरं पर्शुवर्जितं स्वाङ्गं ध्रु
मन्तोदात्तं भवति ॥ *उदा०*—सततं यस्य प्रगतं पृष्ठं भवति स प्रपृ
प्रोदरः, प्रललाटः ॥

भाषार्थः—बहुव्रीहि समास में [*उपसर्गात्*] उपसर्ग से उत्तर [*अपर्*
पर्शु वर्जित [*ध्रुवम्*] ध्रुव [*स्वाङ्गम्*] स्वाङ्ग को अन्तोदात्त होता है

ध्रुव कहते हैं, एकरूपता से सदैव रहने को। पीठ उदर आदि ध्रुव स्वाङ्ग हैं। पर्शु पसली की हड्डी को कहते हैं, अतः स्वाङ्ग होने से प्राप्ति थी निषेध कर दिया ॥

यहाँ से 'उपसर्गात्' की अनुवृत्ति ६।२।१६५ तक जायेगी।

वनं समासे ॥६।२।१७८॥

वनम् १।१॥ समासे ७।१॥ अनु०—उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—समासमात्र उपसर्गादुत्तरं वनमित्येतदुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—प्रवणे यष्टव्यम्। निर्वणे प्रणिधीयते ॥

भाषार्थः—[समासे] समास मात्र में उपसर्ग से उत्तर [वनम्] वन उत्तरपद शब्द को अन्तोदात्त होता है॥ प्रकृष्टं वनं प्रवणं तस्मिन् प्रवणे, निर्गतो वनादिति निर्वणं तस्मिन् निर्वणे यहाँ प्रनिरन्तःशरे० (८।४।५) से णत्व होता है॥ 'प्रकृष्टं वनम्' आदि व्युत्पत्ति मात्र है, प्रवण का अर्थ एक ओर नीची भूमि है। यज्ञ-वेदिका प्राक्प्रवण = पूर्वदिशा में नीची बनाने का विधान है। इसी प्रकार 'निर्वण' का अर्थ है चारों ओर सम भूमि ॥

यहाँ से 'वनम्' की अनुवृत्ति ६।२।१७६ तक जायेगी ॥

अन्तः ॥६।२।१७९॥

अन्तः अ० ॥ अनु०—वनम्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—अन्तश्शब्दादुत्तरं वनमन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—अन्तर् वनं यस्मिन् अन्तर्वणो देशः ॥

भाषार्थः—[अन्तः] अन्तर् शब्द से उत्तर वन शब्द को अन्तोदात्त होता है॥ 'अन्तर्' अव्यय शब्द स्वरादिगण (१।१।३६) में पढ़ा है॥ पूर्ववत् प्रनिरन्तः शरे० (८।४।५) से यहाँ भी णत्व जानें॥ जिस देश के मध्य में वन हो वह देश अन्तर्वण कहाता है, यहाँ बहुव्रीहि समास है॥

अन्तश्च ॥६।२।१८०॥

अन्तः १।१॥ च अ० ॥ अनु०—उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य उदात्तः ॥ अर्थः—उपसर्गात् परश्चान्तशब्दोऽन्तोदात्तो भवति ॥ उदा०—प्रान्तः, पर्यन्तः ॥

भाषार्थः—उपसर्ग से उत्तर [*अन्तः*] अन्त शब्द को [च] भी अन्तोदात्त होता है। उदाहरणों में बहुव्रीहि अथवा प्रादि समास भी हो सकता है ॥

यहाँ से '*अन्तः*' की अनुवृत्ति ६।२।१८१ तक जायेगी ॥

न निविभ्याम् ॥६।२।१८१॥

न अ० ॥ निविभ्याम् ५।२॥ *स०*—निवि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अन्तः, उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—नि, वि इत्येताभ्यामुपसर्गाभ्यां परोऽन्तशब्दो नान्तोदात्तो भवति ॥ पूर्वेण प्राप्तिः प्रतिषिध्यते ॥ *उदा०*—न्यन्तः, व्यन्तः ॥

भाषार्थः—[*निविभ्याम्*] नि तथा वि उपसर्ग से उत्तर अन्त शब्द को अन्तोदात्त [*न*] नहीं होता ॥ उपसर्ग से उत्तर कहने से पूर्व सूत्र से प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया ॥ *बहुव्रीहौ प्रकृत्या०* (६।२।१) से पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व होकर नि, वि *उपसर्गाश्चा०* (*फिट्०* ८०) से आद्युदात्त हैं, पश्चात् यणादेश करने पर *उदात्तस्वरि०* (८।२।४) से 'अ' को स्वरितत्व हो जायेगा। जब न्यन्तः, व्यन्तः में प्रादि तत्पुरुष समास मानें तब भी *तत्पुरुषे तुल्यार्थ०* (६।२।२) से पूर्वपद प्रकृतिस्वर होकर यही स्वर रहेगा ॥

परेरभितोभावि मण्डलम् ॥६।२।१८२॥

परेः ५।१॥ अभितोभावि १।१॥ मण्डलम् १।१॥ *अनु०*—उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अभितः = उभयतो भावो = भवनमस्यास्तीति = अभितोभावि, मत्वर्थे इनिप्रत्ययः ॥ *अर्थः*—परेरुपसर्गादुत्तरमभितोभाविवचनं मण्डलञ्चोत्तरपदमन्तोदात्तं भवति ॥ *उदा०*—अभितोभावि—परिकूलम्, परितीरम्। मण्डलम्—परिमण्डलम् ॥

भाषार्थः—[*परेः*] परि उपसर्ग से उत्तर [*अभितोभावि*] अभितोभावि-वाची तथा [*मण्डलम्*] मण्डल शब्द को अन्तोदात्त होता है ॥ अभितोभावि अर्थात् दोनों ओर से भावि = होना जिसका स्वभाव है, इस अर्थ को कथन करने वाले शब्द को अन्तोदात्त होता है। यथा कूल, तीर शब्द दोनों ओर होने के स्वभाव वाले होते हैं, अर्थात् दोनों ओर

ही होते हैं। मण्डल शब्द अभितोभाविवचन नहीं है, अतः पृथक् कह दिया॥ उदाहरणों में बहुव्रीहि या तत्पुरुष मानने पर पूर्ववत् पूर्वपद-प्रकृतिस्वरत्व प्राप्त था तदपवाद है। यदि अव्ययीभाव समास मानें तो भी *परिप्रत्युपापा०* (६।२।३३) से पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व की प्राप्ति में यह विधान है॥ अभितोभावि में नपुंसकलिङ्ग निर्देश है॥

प्रादस्वाङ्गं संज्ञायाम् ॥६।२।१८३॥

प्रात् ५।१॥ अस्वाङ्गम् १।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ *स०*—अस्वा० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः॥ *अर्थः*—प्रादुत्तरमस्वाङ्गवाच्युत्तरपदमन्तोदात्तं भवति संज्ञायां विषये॥ *उदा०*—प्रको॒ष्ठम, प्रगृ॒हम्, प्रद्वा॒रम्॥

भाषार्थः—[*प्रात्*] प्र उपसर्ग से उत्तर [*अस्वाङ्गम्*] अस्वाङ्गवाची उत्तरपद को [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में अन्तोदात्त होता है॥ *उदा०*—प्रकोष्ठम् (कमरा), प्रगृहम् (घर के पीछे का खुला स्थान), प्रद्वारम् (घर के सामने का स्थान)॥

निरुदकादीनि च॥६।२।१८४॥

निरुदकादीनि १।३॥ च अ०॥ *स०*—निरुदक आदिर्येषाम् तानि······बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः॥ *अर्थः*—निरुदकादीनि च शब्दरूपाण्यन्तोदात्तानि भवन्ति॥ *उदा०*—निष्क्रान्तमुदकमस्मात् निष्क्रान्तमुदकादिति वा = नि॒रु॒द॒कम्, नि॒रु॒प॒लम्॥

भाषार्थः—[*निरुदकादीनि*] निरुदकादि गण पठित शब्दों को [*च*] भी अन्तोदात्त होता है॥ उदाहरणों में बहुव्रीहि समास अथवा (प्रादि) तत्पुरुष समास है, अतः पूर्ववत् प्रकृतिस्वर की प्राप्ति थी, तदपवाद है॥

अभेर्मुखम् ॥६।२।१८५॥

अभेः ५।१॥ मुखम् १।१॥ *अनु०*—उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य उदात्तः॥ *अर्थः*—अभेरुत्तरं मुखमित्येतदुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति॥ *उदा०*—अ॒भि॒मु॒खः॥

भाषार्थः—[*अभेः*] अभि उपसर्ग से उत्तर [*मुखम्*] मुख उत्तरपद स्थित शब्द को अन्तोदात्त होता है॥ पूर्ववत् प्रादि अथवा बहुव्रीहि

समास अभिमुख (सामने) शब्द में जानें ॥ *उपसर्गात् स्वाङ्ग*० (६।२।१७६) से ही सिद्ध था पुनर्वचन बहुव्रीहि से भिन्न समास, स्वाङ्गवाची मुख शब्द जहां न हो, यथा-अभिमुखा शाला, तथा अध्रुव अर्थ के लिए है ॥

यहाँ से '*मुखम्*' की अनुवृत्ति ६।२।१८६ तक जायेगी ॥

अपाच्च ॥६।२।१८६॥

अपात् ५।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—मुखम्, उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—अपाच्चोत्तरं मुखमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति ॥ *उदा०*—अपगतं मुखमस्मात् अपगतं मुखादिति वा = अपमुखः । अपमुखम् ॥

भाषार्थः—[*अपात्*] अप उपसर्ग से उत्तर [*च*] भी मुख उत्तरपद शब्द को अन्तोदात्त होता है ॥ पूर्ववत् बहुव्रीहि एवं प्रादि तत्पुरुष समास अपमुखः में जानें। अव्ययीभाव समास भी अप मुखात् = अपमुखम् यहाँ *अपपरिबहिरञ्चवः*० (२।१।११) से हो सकता है, इस पक्ष में भी *परिप्रत्युपापा*० (६।२।३३) से पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व प्राप्त था तदपवाद यह होगा ॥

यहाँ से '*अपात्*' की अनुवृत्ति ६।२।१८७ तक जायेगी ॥

स्फिगपूतवीणाञ्जोऽध्वकुक्षिसीरनामनाम च ॥६।२।१८७॥

स्फिगपूत······नाम १।१॥ च अ० ॥ *स०*—सीरस्य नाम सीरनाम षष्ठीतत्पुरुषः । स्फिगश्च पूतश्च वीणा च अञ्जस् च अध्वा च कुक्षिश्च सीरनाम च नाम च स्फिग······नाम, समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अपात्, उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—अपादुत्तराणि स्फिग, पूत, वीणा, अञ्जस्, अध्वन्, कुक्षि इत्येतानि सीरनामानि नामन् शब्दश्चोत्तरपदान्यन्तोदात्तानि भवन्ति ॥ *उदा०*—अपस्फिगम्, अपपूतम्, अपवीणम्, अपाञ्जः, अपाध्वा, अपकुक्षिः, अपसीरः, अपहलम्, अपलाङ्गलम्, अपनाम ॥

भाषार्थः—अप उपसर्ग से उत्तर [*स्फिग····नाम*] स्फिग, पूत, वीणा, अञ्जस्, अध्वन्, कुक्षि तथा सीरनाम = हल के वाची शब्दों को एवं नाम

शब्द को [च] भी अन्तोदात्त होता है ॥ सीर हल को कहते हैं ॥ पूर्व-वत् तत्पुरुष बहुव्रीहि या अव्ययीभाव समास उदाहरणों में जानें ॥ अपाध्वा में जब *उपसर्गादध्वनः* (५।४।८५) से समासान्त अच् प्रत्यय नहीं होगा, तब इस सूत्र का उदाहरण बनेगा, अन्यथा अच् प्रत्यय के चित् होने से चित्स्वर से ही अन्तोदात्तत्व हो जाता । समासान्त प्रत्यय इसी ज्ञापक से विकल्प से होते हैं ॥

अधेरुपरिस्थम् ॥६।२।१८८॥

अधेः ५।१॥ उपरिस्थम् १।१॥ *अनु०*—उपसर्गात्, अन्तः, उत्तर-पदस्य, उदात्तः ॥ उपरि तिष्ठतीति उपरिस्थः ॥ *अर्थः*—अधेरुत्तरमुपरि-स्थवाचि शब्दरूपमन्तोदात्तं भवति ॥ *उदा०*—अधिदन्तः, अधिकर्णः, अधिकेशः ॥

भाषार्थ—[*अधेः*] अधि उपसर्ग से उत्तर [*उपरिस्थम्*] उपरिस्थ-वाची उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है ॥ ऊपर बैठने वाला उपरिस्थ कहाता है, जैसे दाँत के ऊपर जो दाँत निकल आता है उसे अधि-दन्त कहते हैं क्योंकि वह उपरिस्थ है । इसी प्रकार कान के ऊपर जो निकला हुआ कान वह अधिकर्ण, एवं केश के ऊपर जो केश (अर्थात् एक रोम से निकले दो केशों में एक) अधिकेश कहाता है ॥

अनोरप्रधानकनीयसी ॥६।२।१८९॥

अनोः ५।१॥ अप्रधानकनीयसी १।२॥ *स०*—अप्रधानञ्च कनीयश्च अप्रधानकनीयसी, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—उपसर्गात्, अन्तः, उत्तर-पदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—अनोः परमप्रधानवाच्युत्तरपदं कनीयश्शब्द-श्चान्तोदात्तो भवति ॥ *उदा०*—अनुगतो ज्येष्ठमनुज्येष्ठः, अनुमध्यमः । कनीयस्—अनुगतः कनीयाननुकनीयान् ॥

भाषार्थः—[*अनोः*] अनु उपसर्ग से उत्तर [*अप्रधानकनीयसी*] अप्र-धानवाची उत्तरपद को तथा कनीयस् शब्द को अन्तोदात्त होता है ॥ अनुज्येष्ठः (ज्येष्ठ के पीछे चलने वाला) यहाँ उत्तरपद ज्येष्ठ शब्द समासार्थ में अप्रधान है, तथा उसके पीछे चलनेवाला पूर्वपद जो 'अनुगत' शब्द वह प्रधान है, अतः यहाँ अप्रधानवाची उत्तरपद है । इसी प्रकार

अनुमध्यमः में जानें। अनुकनीयान् = (पीछे चलने वाला छोटा भाई) यहाँ उत्तरपद कनीयान् प्रधान है, अप्रधान नहीं, अतः कनीयान् का पृथक् ग्रहण किया है ॥ जहाँ कनीयान् अप्रधान होगा तब विग्रह होगा अनुगतः कनीयांसम् अनुकनीयान्। इसमें अप्रधानवाची मानकर इस सूत्र से अन्तोदात्त होगा ॥

यहाँ से '*अनोः*' की अनुवृत्ति ६।२।१९० तक जायेगी ॥

पुरुषश्चान्वादिष्टः ॥६।२।१९०॥

पुरुषः १।१॥ च अ० ॥ अन्वादिष्टः १।१॥ *अनु०*—अनोः, उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अनु = पश्चात् आदिष्टः, अन्वादिष्टः, कथितानुकथितः, अन्वाचितोऽप्रधानशिष्टो वा ॥ *अर्थः*—अनोः परोऽन्वादिष्टवाची पुरुषशब्दोऽन्तोदात्तो भवति ॥ *उदा०*—अन्वादिष्टः पुरुषः अनुपुरुषः ॥

भाषार्थः—अनु उपसर्ग से उत्तर [*अन्वादिष्टः*] अन्वादिष्टवाची [*पुरुषः*] पुरुष शब्द को [*च*] भी अन्तोदात्त होता है ॥ कथन करने के पश्चात् कुछ और कहा जाये, अथवा उस कथन में गौण कथन हो उसे अन्वादिष्ट कहते हैं, यथा किसी ने कहा कि 'तुम भिक्षा भी करो गौ भी लाओ' यहाँ गौ का लाना पश्चात् कथन अथवा गौण कथन होने से अन्वादिष्ट है ॥

अतेरकृत्पदे ॥६।२।१९१॥

अतेः ५।१॥ अकृत्पदे १।२॥ *स०*—न कृत् अकृत्, नञ्तत्पुरुषः। अकृत् च पदञ्च अकृत्पदे, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—अतेः परमकृदन्तं पदशब्दश्चोत्तरपदमन्तोदात्तं भवति ॥ *उदा०*—अङ्कुशमतिक्रान्तः = अत्यङ्कुशो नागः, अतिकशोऽश्वः। पदशब्दः—अतिपदा शक्वरी ॥

भाषार्थः—[*अतेः*] अति उपसर्ग से उत्तर [*अकृत्पदे*] अकृदन्त तथा पद शब्द को अन्तोदात्त होता है ॥ उदाहरणों में क्रान्तादि अर्थों में तत्पुरुष समास हुआ है ॥

नेरनिधाने ॥६।२।१९२॥

नेः ५।१॥ अनिधाने ७।१॥ स०—न निधानमनिधानम्, तस्मिन् नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—नेः परमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवत्यनिधानेऽर्थे ॥ निधानमप्रकाशता, तदभावोऽनिधानं प्रकाशता ॥ उदा०—निर्गतं मूलं निमूलम्, न्यक्षम्, नितृणम् ॥

भाषार्थः—[नेः] नि उपसर्ग से उत्तर उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है, [*अनिधाने*] प्रकाशन अर्थ में ॥ जिसका मूल निकला हुआ है वह निमूल कहाता है, इसी प्रकार बाहर निकले अक्ष और तृण, न्यक्ष नितृण कहाते हैं। यहाँ स्पष्ट अनिधान = प्रकाशन अर्थ है। नि उपसर्ग यहाँ अनिधान अर्थ को कहता है ॥

प्रतेरंश्वादयस्तत्पुरुषे ॥६।२।१९३॥

प्रतेः ५।१॥ अंश्वादयः १।३॥ तत्पुरुषे ७।१॥ स०—अंशु आदिर्येषां ते अंश्वादयः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—प्रतेः परास्तत्पुरुषे समासेऽश्वादयोऽन्तोदात्ता भवन्ति ॥ उदा०—प्रतिगतोंऽशुः = प्रत्यंशुः, प्रतिजनः, प्रतिराजा ॥

भाषार्थः—[*प्रतेः*] प्रति उपसर्ग से उत्तर [*तत्पुरुषे*] तत्पुरुष समास में [*अंश्वादयः*] अंश्वादि गण पठित शब्दों को अन्तोदात्त होता है ॥

यहाँ से '*तत्पुरुषे*' की अनुवृत्ति ६।२।१९६ तक जायेगी ॥

उपाद् द्व्यजजिनमगौरादयः ॥६।२।१९४॥

उपात् ५।१॥ द्व्यजजिनम् १।१॥ अगौरादयः १।३॥ स० – द्वौ अचौ यस्मिन् स द्व्यच् बहुव्रीहिः। द्व्यच् च अजिनञ्च द्व्यजजिनम्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ गौर आदिर्येषां ते गौरादयः, न गौरादयोऽगौरादयः, बहुव्रीहिगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०* – तत्पुरुषे, उपसर्गात्, अन्तः उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—उपात् परं द्व्यजजिनं च तत्पुरुषे समासेऽन्तोदात्तं भवति, गौरादीन् वर्जयित्वा ॥ उदा०—द्व्यच्—उपगतो देवम् = उपदेवः, उपसोमः, उपेन्द्रः, उपहोडः। अजिन—उपाजिनम् ॥

भाषार्थः—[*उपात्*] उप उपसर्ग से उत्तर [*द्व्यजजिनम्*] दो अच्

वाले शब्दों को तथा अजिन शब्द को तत्पुरुष समास में अन्तोदा होता है, [अगौरादयः] गौरादि शब्दों को छोड़कर ॥ गौरादि श द्व्यच् हैं, अतः प्राप्ति थी, निषेध कर दिया। उदाहरणों में कुगतिप्राद (२।२।२८) से तत्पुरुष समास हुआ है ॥

सोरवक्षेपणे ॥६।२।१९५॥

सोः ५।१॥ अवक्षेपणे ७।१॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, उपसर्गात्, अन्तः उत्तरपदस्य, उदात्तः, ॥ *अर्थः*—सोः परमुत्तरपदं तत्पुरुषे समासेऽन्तो दात्तं भवति, अवक्षेपणे गम्यमाने ॥ *उदा०*—इह खल्विदानीं सुस्थण्डिले सुस्फिगाभ्यां सुप्रत्यवसितः ॥

भाषार्थः—[*सोः*] सु उपसर्ग से उत्तर उत्तरपद को तत्पुरुष समास में अन्तोदात्त होता है, [*अवक्षेपणे*] निन्दा गम्यमान हो तो ॥ सुस्थण्डिल आदि में *स्वती पूजायाम्* (*भा०*२।२।१८) इस वचन से सु अति का पूजा अर्थ में समास होता है, उदाहरणों में सु अच्छे अर्थ में ही है, किन्तु वाक्यार्थ से निन्दा की प्रतीति होती है, सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ है— "यहाँ अब आप अच्छी समृद्धि से अच्छे स्थान में विराजमान दूसरे देश से लौटकर बैठे हैं।" तात्पर्य यह है कि कोई कायर अनर्थ उपस्थित होने पर भी सुखपूर्वक बैठा रहे उसे इस प्रकार चिढ़ाया जा रहा है, यही यहाँ निन्दा है ॥

विभाषोत्पुच्छे ॥६।२।१९६॥

विभाषा १।१॥ उत्पुच्छे ७।१॥ *अनु०*—तत्पुरुषे, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ *अर्थः*—तत्पुरुषे समास उत्पुच्छशब्दे विभाषाऽन्त उदात्तो भवति ॥ उत्क्रान्तः पुच्छात् उत्पुच्छः उत्पुच्छः । पुच्छमुदस्यति उत्पुच्छयति, उत्पुच्छयतेरच् उत्पुच्छः, अस्यामपि व्युत्पत्तौ पूर्ववत् स्वरः ॥

भाषार्थः—तत्पुरुष समास में [*उत्पुच्छे*] उत्पुच्छ शब्द को [*विभाषा*] विकल्प से अन्तोदात्तत्व होता है ॥

उदाहरणों में दो प्रकार से व्युत्पत्ति दर्शाई है, सो प्रथम व्युत्पत्ति पक्ष में तो *तत्पुरुषे तुल्यार्थ०* से अव्यय पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व प्राप्त था अन्तोदात्तत्व प्राप्त नहीं था, अप्राप्त अन्तोदात्तत्व विकल्प से विधान कर

दिया। द्वितीय व्युत्पत्ति में 'उत्पुच्छय' धातु से एरच् (३।३।५६) से अच् प्रत्यय होकर उत्पुच्छः बना है, अतः *थाथघञ्०* (६।२।१४३) से नित्य अन्तोदात्तत्व प्राप्त था, उसका विकल्प कह दिया। इस प्रकार सूत्रोक्त 'विभाषा' उभयत्र विभाषा है। पक्ष में अव्यय स्वर से 'उ' उदात्त रहेगा ही॥

यहाँ से '*विभाषा*' की अनुवृत्ति ६।२।१६८ तक जायेगी॥

द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्धसु बहुव्रीहौ ॥६।२।१९७॥

द्वित्रिभ्याम् ५।२॥ पाद्दन्मूर्धसु ७।३॥ बहुव्रीहौ ७।१॥ *स०*—द्वित्रि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। पाद् च दत् च मूर्धा च पाद्दन्मूर्धानः, तेषु... इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—विभाषा, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः॥ *अर्थः*—बहुव्रीहौ समासे द्वि, त्रि इत्येताभ्यां पराणि पाद्, दत्, मूर्धन् इत्येतान्युत्तरपदान्यन्तोदात्तानि भवन्ति विकल्पेन॥ *उदा०*—द्वौ पादा-वस्य द्विपात्, द्विपात्। त्रिपात्, त्रिपात्। द्विदन्, द्विदन्। त्रिदन्, त्रिदन्। द्विमूर्धा, द्विमूर्धा। त्रिमूर्धा, त्रिमूर्धा। द्विमूर्धः, त्रिमूर्धः, द्विमूर्धः, त्रिमूर्धः॥

भाषार्थः—[*द्वित्रिभ्याम्*] द्वि तथा त्रि से उत्तर [*पाद्दन्मूर्धसु*] पाद्, दत्, मूर्धन् इन शब्दों के उत्तरपद रहते [*बहुव्रीहौ*] बहुव्रीहि समास में विकल्प से अन्तोदात्त होता है॥ पाद् शब्द समासान्त अकार लोप (५।४।१३८) किया हुआ सूत्र में निर्दिष्ट है, एवं दन्त शब्द भी समासान्त दत् आदेश (५।४।१४१) किया हुआ निर्दिष्ट है। किन्तु मूर्धन् अकृतसमासान्त निर्दिष्ट है, अतः सामान्य करके मूर्धन् शब्द का दोनों प्रकार से ग्रहण है, एवं पाद् दत् समासान्त ही लिये जायेंगे। द्विमूर्धा, त्रिमूर्धा में समासान्त प्रत्यय नहीं हुआ है, एवं द्विमूर्धः, त्रिमूर्धः में *द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः* (५।४।११५) से समासान्त ष प्रत्यय हुआ है। इन दोनों प्रकार के उदाहरणों में प्रकृत सूत्र से विकल्प से अन्तोदात्त होता है। पक्ष में *बहुव्रीहौ प्रकृत्या०* (६।२।१) से पूर्वपद प्रकृतिस्वरत्व ही होता है, अतः *फिषोऽन्त-उदात्तः* (*फिट्०* १) से द्वि त्रि उदात्त हैं॥

यहाँ से '*बहुव्रीहौ*' की अनुवृत्ति ६।२।१९८ तक जायेगी॥

सक्थं चाक्रान्तात् ॥६।२।१९८॥

सक्थम् १।१॥ च अ० ॥ अक्रान्तात् ५।१॥ स०—क्रशब्दोऽन्तो यस्य स क्रान्तः बहुव्रीहिः। न क्रान्तोऽक्रान्तस्तस्मात् ''नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—बहुव्रीहौ, विभाषा, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः॥ अर्थः—अक्रान्तात् परः सक्थशब्दोऽन्तोदात्तो भवति बहुव्रीहौ समासे विकल्पेन ॥ उदा०—गौरसक्थः, गौरसंक्थः। श्लक्ष्णसक्थः, श्लक्ष्णसंक्थः ॥

भाषार्थः—[अक्रान्तात्] क्र अन्त में नहीं है जिसके ऐसे अक्रान्त शब्द से उत्तर [सक्थम्] सक्थ शब्द को [च] भी विकल्प से अन्तोदात्त होता है बहुव्रीहि समास में ॥ सक्थ शब्द बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः० (५।४।११३) से समासान्त षच् प्रत्ययान्त सूत्र में निर्दिष्ट है, अतः उदाहरणों में समासान्त ही गृहीत होगा ॥ गौर शब्द प्रज्ञादित्वात् (५।४।३८) अण् प्रत्ययान्त है, अतः अन्तोदात्त है। श्लक्ष्ण शब्द भी श्लिषेरच्चोपधायाः (उणा० ३।१९) से क्स्न प्रत्ययान्त होने से अन्तोदात्त है, अतः पक्ष में अन्तोदात्त रहेगा। पक्ष में पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व (६।१।१) होकर यही स्वर रहेंगे ॥

यहाँ से 'सक्थम्' की अनुवृत्ति ६।२।१९९ तक जायेगी ॥

परादिश्छन्दसि बहुलम् ॥६।२।१९९॥

परादिः १।१॥ छन्दसि ७।१॥ बहुलम् १।१॥ स०—परस्य आदिः परादिः, षष्ठीतत्पुरुषः॥ अनु०—सक्थम्, उत्तरपदस्य, उदात्तः॥ अर्थः—छन्दसि विषये उत्तरपदस्य सक्थशब्दस्यादिरुदात्तो भवति बहुलम्॥ परशब्देनात्र सक्थशब्द एव गृह्यते॥ उदा०—अञ्जिसक्थम् आलभेत, त्वाष्ट्रौ लोमसक्थौ। बहुलवचनात् पदान्तरे समासान्तरे च भवति, ऋजुबाहुः इति बहुव्रीहिः। वाक्पतिः, चित्पतिरिति षष्ठीसमासौ ॥

भाषार्थः—[छन्दसि] वेद विषय में उत्तरपद [परादिः] पर के = सक्थ शब्द के, आदि को [बहुलम्] बहुल करके अन्तोदात्त होता है॥ पर शब्द से यहाँ पूर्व सूत्र निर्दिष्ट सक्थ शब्द का ही ग्रहण है॥ बहुल कहने से यहाँ सक्थ शब्द से अन्य शब्द में भी उत्तरपद के आदि को उदात्त होता है एवं बहुव्रीहि समास में ही सक्थ शब्द को समासान्त

होता है, अतः 'बहुव्रीहौ' की अनुवृत्ति न आने पर भी बहुव्रीहि समास में ही परादि को उदात्त प्राप्त था, बहुल कहने से अन्य समासों में भी हो जाता है ॥

॥ इति द्वितीयः पादः ॥

—:०:—

तृतीयः पादः

[अलुक्प्रकरणम्]

अलुगुत्तरपदे ॥६।३।१॥

अलुक् १।१॥ उत्तरपदे ७।१॥ स०—न लुक् अलुक् नञ्तत्पुरुषः ॥ अर्थः—अलुगिति उत्तरपद इति चेत्येतदधिकृतं वेदितव्यम्, यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामोऽलुगुत्तरपद इत्येवं तद् वेदितव्यम् ॥ उदा०— वक्ष्यति पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः, स्तोकान्मुक्तः, अल्पान्मुक्तः ॥

भाषार्थः—[अलुगुत्तरपदे] 'अलुक्' तथा 'उत्तरपदे' इन दोनों पदों का अधिकार आगे के सूत्रों में जाता है, अतः यह अधिकार सूत्र है ॥

यहाँ से 'अलुक्' का अधिकार ६।३।२३ तक तथा 'उत्तरपदे' का ६।३।१३८ तक जायेगा ॥

पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः ॥६।३।२॥

पञ्चम्याः ६।१॥ स्तोकादिभ्यः ५।३॥ स०—स्तोक आदिर्येषां ते स्तोकादयः, तेभ्यः······बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अलुग् उत्तरपदे ॥ अर्थः— स्तोकादिभ्यः परस्याः पञ्चम्या अलुग् भवति उत्तरपदे परतः ॥ उदा०—स्तोकान्मुक्तः, अल्पान्मुक्तः, अन्तिकादागतः, अभ्याशादागतः, दूरादागतः, विप्रकृष्टादागतः, कृच्छ्रान्मुक्तः ॥

भाषार्थः—[स्तोकादिभ्यः] स्तोकादिओं से उत्तर [पञ्चम्याः] पञ्चमी विभक्ति का उत्तरपद परे रहते अलुक् अर्थात् लुक् नहीं होता है ॥

स्तोकादि से *स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि०* सूत्र में कहे हुये स्तोक अन्ति आदि शब्द ही गृहीत हैं ॥ *स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन* (२।१।३८) से उदाहरणों में समास हुआ है, तथा *करणे च स्तोकाल्प०* (२।३।३३) से पञ्चमी विभक्ति होती है, जिसका समास कर लेने पर *सुपो धातु* (२।४।७१) से लुक् प्राप्त था, अलुक् कर दिया। इसी प्रकार संपूर्ण अलुक् प्रकरण को *सुपो धातु०* (२।४।७१) का ही अपवाद समझना चाहिये ॥

ओजःसहोम्भस्तमसस्तृतीयायाः ॥६।३।३॥

ओजःसहोम्भस्तमसः ५।१॥ तृतीयायाः ६।१॥ *स०*—ओजश्च सहश्च अम्भश्च तमश्च ओजःसहोम्भस्तमः, तस्मात्......समाहारद्वन्द्वः। *अनु०*—अलुग् उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—ओजस्, सहस्, अम्भस्, तमस् इत्येतेभ्य उत्तरस्यास्तृतीयाया अलुग् भवति उत्तरपदे परतः ॥ *उदा०*—ओजसाकृतम्, सहसाकृतम्, अम्भसाकृतम्, तमसाकृतम् ॥

भाषार्थः—[*ओजःसहोम्भस्तमसः*] ओजस्, सहस्, अम्भस् तथा तमस् शब्द से उत्तर [*तृतीयायाः*] तृतीया विभक्ति का उत्तरपद परे रहते अलुक् हो जाता है ॥ पूर्ववत् लुक् की प्राप्ति में अलुक् विधान है, यह बात सर्वत्र समझते जायें ॥

यहाँ से '*तृतीयायाः*' की अनुवृत्ति ६।३।६ तक जायेगी ॥

मनसः संज्ञायाम् ॥६।३।४॥

मनसः ५।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ *अनु०*—तृतीयायाः, अलुग् उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—मनस उत्तरस्यास्तृतीयायाः संज्ञायां विषयेऽलुग् भवति ॥ *उदा०*—मनसादत्ता, मनसागुप्ता, मनसासंगता ॥

भाषार्थः—[*मनसः*] मनस् शब्द से उत्तर [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में तृतीया विभक्ति का अलुक् होता है ॥ मनसागुप्ता आदि किसी के नाम विशेष हैं ॥

यहाँ से '*मनसः*' की अनुवृत्ति ६।३।५ तक जायेगी ॥

आज्ञायिनि च ॥६।३।५॥

आज्ञायिनि ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—मनसः, तृतीयायाः, अलुगुत्तरपदे ॥ *अर्थः*—मनस उत्तरस्यास्तृतीयाया अलुग्भवति आज्ञायिन्युत्तरपदे ॥ *उदा०*—मनसा आज्ञातुं शीलमस्य मनसाज्ञायी ॥

भाषार्थः—[*आज्ञायिनि*] आज्ञायी शब्द के उत्तरपद रहते [*च*] भी मनस् शब्द से उत्तर तृतीया का अलुक् होता है ॥ असंज्ञार्थ इस सूत्र का आरम्भ है ॥ आङ् पूर्वक ज्ञा धातु से तच्छील अर्थ में णिनि एवं *आतो युक् चिण्कृतोः* (७।३।३३) से युक् आगम होकर आज्ञायी शब्द बनता है ॥ *उदा०*—मनसाज्ञायी (मन से जानने के स्वभाव वाला) ॥

आत्मनश्च ॥६।३।६॥

आत्मनः ५।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—अलुग्, उत्तरपदे, तृतीयायाः ॥ *अर्थः*—आत्मनश्च उत्तरस्यास्तृतीयाया अलुग् भवति उत्तरपदे परतः ॥ *उदा०*—आत्मनापञ्चमः, आत्मनाषष्ठः ॥

भाषार्थः—[*आत्मनः*] आत्मन्शब्द से परे [*च*] भी तृतीया का अलुक् होता है उत्तरपद परे रहते ॥ उदाहरणों में *तृतीया०* (२।१।३०) के योगविभाग से समास होता है । यह अलुक् पूरण प्रत्ययान्त उत्तरपद परे रहते ही होता है ॥

यहाँ से '*आत्मनः*' की अनुवृत्ति ६।३।७ तक जायेगी ॥

वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्याः परस्य च ॥६।३।७॥

वैयाकरणाख्यायाम् ७।१॥ चतुर्थ्याः ६।१॥ परस्य ६।१॥ च अ० ॥ *स०*—वैयाकरणस्याख्या वैयाकरणाख्या, तस्याम्.....षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अलुगुत्तरपदे, आत्मनः ॥ *अर्थः*—यया संज्ञया वैयाकरणा एव व्यवहरन्ति तस्याम् परस्य आत्मनश्च उत्तरस्याः चतुर्थ्या अलुग्भवति ॥ *उदा०*—परस्मैपदम्, परस्मैभाषा । आत्मनेपदम्, आत्मनेभाषा ॥

भाषार्थः—जिस संज्ञा से वैयाकरण ही व्यवहार करते हैं [*वैयाकरणाख्यायाम्*] उसको कहने में जो [*परस्य*] पर शब्द तथा [*च*] चकार से आत्मन् शब्द से उत्तर भी [*चतुर्थ्याः*] चतुर्थी विभक्ति का अलुक् होता है ॥

हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम् ॥६।३।८॥

हलदन्तात् ५।१॥ सप्तम्याः ६।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ *स०*—हल् च अत् च हलत्, समाहारो द्वन्द्वः । हलत् अन्ते यस्य स हलदन्तस्तस्मात्... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अलुगुत्तरपदे ॥ *अर्थः*—हलन्तादन्ताच्चोत्तरस्याः

सप्तम्याः संज्ञायामलुग् भवति ॥ उदा०—युधिष्ठिरः, त्वचिसार अदन्तात्—अरण्येतिलकाः, अरण्येमाषकाः, वनेकिंशुकाः, वनेहरिद्रक वनेबल्वजकाः ॥

भाषार्थः—[*हलदन्तात्*] हलन्त तथा अकारान्त शब्द से उत्त [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में [*सप्तम्याः*] सप्तमी का अलुक् होता है उदाहरणों में *संज्ञायाम्* (२।१।४३) से समास होता है। युधिष्ठिर *गवियुधिभ्यां स्थिरः* (८।३।९५) से षत्व होता है। युध् त्वच् हलन्त शब्द हैं, एवं अरण्य आदि अदन्त शब्द हैं ॥

यहाँ से '*हलदन्तात्*' की अनुवृत्ति ६।३।१२ तथा तथा '*सप्तम्या*' की ६।३।१९ तक जायेगी।

कारनाम्नि च प्राचां हलादौ ॥६।३।८॥

कारनाम्नि ७।१॥ च अ० ॥ प्राचाम् ६।३॥ हलादौ ७।१॥ स०—कारस्य नाम कारनाम, तस्मिन्⋯षष्ठीतत्पुरुषः। हल् आदिर्यस्य स हलादिस्तस्मिन्⋯ बहुव्रीहिः ॥ अनु०—हलदन्तात् सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे ॥ *अर्थः*—प्राचां देशे यत् कारनाम तत्र हलादावुत्तरपदे हलदन्तादुत्तरस्याः सप्तम्या अलुग्भवति ॥ *उदा०*—स्तूपेशाणः, दृषदिमाषकः, हलेद्विपदिका, हलेत्रिपदिका ॥

भाषार्थः—[*प्राचाम्*] प्राच्यदेशों में जो [*कारनाम्नि*] करों के नाम वाले शब्द उनमें [च] भी [*हलादौ*] हलादि शब्द के परे रहते हलन्त तथा अदन्त शब्दों से उत्तर सप्तमी विभक्ति का अलुक् होता है ॥ पूर्व सूत्र से ही अलुक् सिद्ध था पुनः इस सूत्र का आरम्भ नियमार्थ है। इस प्रकार तीन नियम यहाँ होते हैं, प्रथम—कारनाम में ही, द्वितीय—प्राच्य देश में व्यवहृत नामों में ही, तृतीय—हलादि शब्द परे रहते ही अलुक् हो ॥

स्तूपेशाणः आदि भिन्न २ करों की संज्ञायें हैं। इस विषय में 'पाणिनि कालीन भारतवर्ष' हिन्दी सं० पृ० ४१० देखें ॥

मध्याद् गुरौ ॥६।३।१०॥

मध्यात् ५।१॥ गुरौ ७।१॥ *अनु०*—सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे ॥ *अर्थः*—मध्यादुत्तरस्याः सप्तम्या गुरावुत्तरपदेऽलुग्भवति ॥ उदा०—मध्येगुरुः ॥

भाषार्थः—[*मध्यात्*] मध्य शब्द से उत्तर [*गुरौ*] गुरु शब्द उत्तरपद रहते सप्तमी विभक्ति का अलुक् होता है ॥

अमूर्धमस्तकात् स्वाङ्गादकामे ॥६।३।११॥

अमूर्धमस्तकात् ५।१॥ स्वाङ्गात् ५।१॥ अकामे ७।१॥ *स०*—मूर्धा च मस्तकञ्च मूर्धमस्तकम्, समाहारो द्वन्द्वः । न मूर्धमस्तकम् अमूर्धमस्तकम् तस्मात्''''''नञ्तत्पुरुषः । न कामोऽकामस्तस्मिन्''''''नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—हलदन्तात्, सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे ॥ *अर्थः*—मूर्धमस्तकवर्जिताद् हलदन्तात् स्वाङ्गादुत्तरस्याः सप्तम्या अकाम उत्तरपदेऽलुग्भवति ॥ *उदा०*—कण्ठेकालः, उरसिलोमा, उदरेमणिः ॥

भाषार्थः—[*अमूर्धमस्तकात्*] मूर्धन् तथा मस्तक वर्जित हलन्त एवं अदन्त [*स्वाङ्गात्*] स्वाङ्गवाची शब्दों से उत्तर सप्तमी का [*अकामे*] काम भिन्न शब्द उत्तरपद रहते अलुक् होता है ॥ मूर्धा एवं मस्तक स्वाङ्गवाची शब्द हैं, अतः स्वाङ्ग कहने से प्राप्त था 'अमूर्धमस्तकात्' कहकर निषेध कर दिया ॥ उदाहरणों में *सप्तम्युपमानपूर्वपदस्यो०* (*वा०* २।२।२४) इस वार्त्तिक से बहुव्रीहि समास हुआ है ॥

बन्धे च विभाषा ॥६।३।१२॥

बन्धे ७।१॥ च अ० ॥ विभाषा १।१॥ *अनु०*—हलदन्तात् सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे ॥ *अर्थः*—बन्धशब्द उत्तरपदे हलदन्तादुत्तरस्याः सप्तम्या विभाषाऽलुग् भवति ॥ *उदा०*—हस्तेबन्धः, हस्तबन्धः । चक्रेबन्धः, चक्रबन्धः ॥

भाषार्थः—[*बन्धे*] बन्ध शब्द उत्तरपद रहते [*च*] भी हलन्त तथा अदन्त शब्द से उत्तर सप्तमी का [*विभाषा*] विकल्प करके अलुक् होता है ॥ बहुव्रीहि समास में पूर्व सूत्र से नित्य अलुक् प्राप्त था, तथा तत्पुरुष में *नेन्सिद्धबध्नातिषु च* (६।३।१८) से निषेध प्राप्त था, उभयत्र विकल्प कह दिया है ॥

तत्पुरुषे कृति बहुलम् ॥६।३।१३॥

तत्पुरुषे ७।१॥ कृति ७।१॥ बहुलम् १।१॥ *अनु०*—सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे ॥ *अर्थः*—तत्पुरुषे समासे कृदन्त उत्तरपदे बहुलं सप्तम्या अलुग्-

भवति ॥ उदा०—स्तम्बेरमः, कर्णेजपः । बहुलवचनादिह न भवति कुरुचरः, मद्रचरः ॥

भाषार्थः—[*तत्पुरुषे*] तत्पुरुष समास में [*कृति*] कृदन्त उत्तर रहते [*बहुलम्*] बहुल करके सप्तमी का अलुक् होता है ॥ *स्तम्बकर्णयो* (३।२।१३) से स्तम्बेरमः कर्णेजपः में अच् प्रत्यय हुआ है, तथा कुरुच मद्रचरः में चरेष्टः (३।२।१६) से ट प्रत्यय हुआ है । *उपपदमति* (२।२।१६) से तत्पुरुष समास होगा ॥

प्रावृट्शरत्कालदिवां जे ॥६।३।१४॥

प्रावृट्शरत्कालदिवाम् ६।३॥ जे ७।१॥ *स०*—प्रावृट्० इत्यत्रेतरेतर द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे ॥ *अर्थः*—प्रावृट्, शरत्, काल दिव् इत्येतेषां सप्तम्याः ज उत्तरपदेऽलुग्भवति ॥ *उदा०*—प्रावृषिजः, शरदिजः, कालेजः, दिविजः ॥

भाषार्थः—[*प्रावृट्शरत्कालदिवाम्*] प्रावृट्, शरत्, काल, दिव् इन शब्दों की सप्तमी का [*जे*] ज उत्तरपद रहते अलुक् होता है ॥ पूर्वसूत्र का ही विस्तार इस सूत्र में है ॥ उदाहरणों में *सप्तम्यां जनेर्डः* (३।२।९७) से ड प्रत्यय हुआ है ॥

यहाँ से 'जे' की अनुवृत्ति ६।३।१५ तक जायेगी ॥

विभाषा वर्षक्षरशरवरात् ॥६।३।१५॥

विभाषा १।१॥ वर्षक्षरशरवरात् ५।१॥ *स०*—वर्ष० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—जे, सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे ॥ *अर्थः*—वर्ष, क्षर, शर, वर इत्येतेभ्य उत्तरस्याः सप्तम्या ज उत्तरपदे विभाषाऽलुग्भवति ॥ उदा०-वर्षेजः, वर्षजः । क्षरेजः, क्षरजः । शरेजः, शरजः । वरेजः, वरजः ॥

भाषार्थः—[*वर्षक्षरशरवरात्*] वर्ष, क्षर, शर, वर इन शब्दों से उत्तर सप्तमी का ज [illegible] रहते [*विभाषा*] विकल्प से अलुक् होता है ॥
[illegible] से नित्य अलुक् प्राप्त था विकल्प कह दिया ॥
[illegible] में जानें ॥

[illegible]नुवृत्ति ६।३।१७ तक जायेगी ॥

घकालतनेषु कालनाम्नः ॥६।३।१६॥

घकालतनेषु ७।३॥ कालनाम्नः ५।१॥ स०—घकाल० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। कालस्य नाम कालनाम तस्मात्...षष्ठीतत्पुरुषः॥ अनु०—विभाषा, सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे॥ अर्थः—कालनाम्न उत्तरस्याः सप्तम्याः घसंज्ञके प्रत्यये कालशब्दे तनप्रत्यये च परतो विभाषाऽलुग्भवति॥ उदा०—घ—पूर्वाह्णेतरे, पूर्वाह्णतरे, पूर्वाह्णेतमे, पूर्वाह्णतमे। काल—पूर्वाह्णेकाले, पूर्वाह्णकाले। तन—पूर्वाह्णेतने, पूर्वाह्णतने॥

भाषार्थः—[*कालनाम्नः*] काल के नामवाची शब्दों से उत्तर सप्तमी का [*घकालतनेषु*] घसंज्ञक प्रत्यय, काल शब्द तथा तन प्रत्यय के उत्तरपद रहते विकल्प करके अलुक् होता है॥ तरप् तमप् घसंज्ञक (१।१।२१) प्रत्यय हैं, तथा तन से तुट् आगम सहित ट्यु ट्युल् प्रत्यय (४।३।२३) लिये गये हैं। अह्नः पूर्वं पूर्वाह्णः यहाँ *पूर्वापरा०* (२।२।१) से समास तथा *राजाहःसखि०* (५।४।९१) से समासान्त टच् प्रत्यय, तथा *अह्नोऽह्न एतेभ्यः* (५।४।८८) से अह्न आदेश एवं *अह्नोऽदन्तात्* (८।४।७) से णत्व हुआ है। पश्चात् अनयोरेषु चातिशयेन पूर्वाह्णे पूर्वाह्णेतरे (७।१) तथा पूर्वाह्णेतमे (७।१) तरप् तमप् प्रत्यय होकर बनेंगे॥ तरप् तमप् स्वार्थिक प्रत्यय हैं, अतः प्रातिपदिकगत सप्तम्यर्थ दर्शाने के लिये तरप् तमप् प्रत्ययान्त से सप्तमी का उदाहरण दिया है। काल शब्द के साथ समानाधिकरण समास होने से वहां भी सप्तम्यन्त का उदाहरण युक्त है। तन प्रत्ययान्त में सप्तम्यन्त निर्देश साहचर्य से है॥

शयवासवासिष्वकालात् ॥६।३।१७॥

शयवासवासिषु ७।३॥ अकालात् ५।१॥ स०—शयश्च वासश्च वासी च शयवासवासिनस्तेषु...इतरेतरद्वन्द्वः। अकालादित्यत्र नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—विभाषा, सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे॥ अर्थः—शय, वास, वासिन् इत्येतेषूत्तरपदेष्वकालवाचिन उत्तरस्याः सप्तम्या विभाषाऽलुग्भवति॥ उदा०—खेशयः, खशयः। ग्रामेवासः, ग्रामवासः। ग्रामेवासी, ग्रामवासी॥

भाषार्थः—[*शयवासवासिषु*] शय, वास तथा वासिन् शब्दों के उत्तरपद रहते [*अकालात्*] कालवाचियों से भिन्न शब्दों से उत्तर सप्तमी का

विकल्प से अलुक् होता है ॥ *अधिकरणे शेतेः* (३।२।१५) से खेशयः में अच् प्रत्यय हुआ है ॥

नेन्सिद्धबध्नातिषु च ॥६।३।१८॥

न अ०॥ इन्सिद्धबध्नातिषु ७।३॥ च अ०॥ *स०*—इन् च सिद्धश्च बध्नातिश्च इन्सिद्धबध्नातयस्तेषु इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे ॥ *अर्थः*—इन्नन्त उत्तरपदे सिद्धशब्दे बध्नातौ च परतः सप्तम्या अलुग् न भवति ॥ उदा०—इन्—स्थण्डिलशायी, स्थण्डिलवर्त्ती । सिद्ध—सांकाश्यसिद्धः, काम्पिल्यसिद्धः । बध्नाति—चक्रबद्धः, चारबद्धः ॥

भाषार्थः—[*इन्सिद्धबध्नातिषु*] इन्नन्त, सिद्ध तथा बध्नाति उत्तरपद रहते [*च*] भी सप्तमी का अलुक् [*न*] नहीं होता ॥ *तत्पुरुषे कृति०* (६।३।१३) से प्राप्त था निषेध कर दिया ॥ बध्नाति से बन्ध (क्र्या०) धातु से निष्पन्न रूप लिये जायेंगे । उदाहरण में 'बद्धः' निष्ठान्त है, अतः *अनिदितां०* (६।४।२४) से नकार लोप हो ही जायेगा ॥

यहाँ से '*न*' की अनुवृत्ति ६।३।१९ तक जायेगी ॥

स्थे च भाषायाम् ॥६।३।१९॥

स्थे ७।१॥ च अ० ॥ भाषायाम् ७।१॥ *अनु०*—न, सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे ॥ *अर्थः*—स्थे चोत्तरपदे भाषायां सप्तम्या अलुग् न भवति ॥ *उदा०*—समस्थः, विषमस्थः, कूटस्थः, पर्वतस्थः ॥

भाषार्थः—[*स्थे*] स्थ शब्द के उत्तरपद रहते [*च*] भी [*भाषायाम्*] भाषा विषय में सप्तमी का अलुक् नहीं होता है ॥ पूर्ववत् प्राप्ति थी निषेध कर दिया ॥

षष्ठ्या आक्रोशे ॥६।३।२०॥

षष्ठ्याः ५।१॥ आक्रोशे ७।१॥ *अनु०*—अलुगुत्तरपदे ॥ *अर्थः*—आक्रोशे गम्यमाने उत्तरपदे परतः षष्ठ्या अलुग् भवति ॥ *उदा०*—चौरस्यकुलम्, वृषलस्यकुलम् ॥

भाषार्थः—[*आक्रोशे*] आक्रोश गम्यमान होने पर उत्तरपद परे रहते [*षष्ठ्याः*] षष्ठी विभक्ति का अलुक् होता है ॥ चौरस्यकुलम् = यह चोर का कुल है, ऐसा कहकर आक्रोश प्रकट किया जा रहा है ॥

यहाँ से '*षष्ठ्याः*' की अनुवृत्ति ६।३।२३ तक तथा '*आक्रोशे*' की ६।३।२१ तक जायेगी ॥

पुत्रेऽन्यतरस्याम् ॥६।३।२१॥

पुत्रे ७।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—षष्ठ्या आक्रोशे, अलुगुत्तरपदे ॥ *अर्थः*—पुत्रशब्द उत्तरपद आक्रोशे गम्यमाने विकल्पेन षष्ठ्या अलुग् भवति ॥ *उदा०*—दास्याःपुत्रः, दासीपुत्रः । वृषल्याःपुत्रः, वृषलीपुत्रः ॥

भाषार्थः—[*पुत्रे*] पुत्र शब्द उत्तरपद रहते आक्रोश गम्यमान होने पर [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प करके षष्ठी का अलुक् होता है ॥ 'दासी का पुत्र है' ऐसा कहकर आक्रोश प्रकट किया जा रहा है ॥

ऋतो विद्यायोनिसंबन्धेभ्यः ॥६।३।२२॥

ऋतः ५।१॥ विद्यायोनिसंबन्धेभ्यः ५।३॥ *स०*—विद्या च योनिश्च विद्यायोनी, इतरेतरद्वन्द्वः । विद्यायोनिकृतः सम्बन्धो येषां ते विद्यायोनिसम्बन्धास्तेभ्यः'''बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—षष्ठ्याः, अलुगुत्तरपदे ॥ *अर्थः*—विद्यासंबन्धवाचिभ्यो योनिसंबन्धवाचिभ्यश्च ऋकारान्तेभ्य उत्तरस्याः षष्ठ्या अलुग् भवति ॥ *उदा०*—विद्यासम्बन्धवाचिभ्यः—होतुरन्तेवासी पितुरन्तेवासी । योनिसंबन्धवाचिभ्यः—होतुःपुत्रः, पितुःपुत्रः ॥

भाषार्थः—[*विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः*] विद्यासंबन्धवाची अर्थात् विद्याकृत संबन्ध है जिनका एवं योनिकृत संबन्ध है जिनका तद्वाची [*ऋतः*] ऋकारान्त शब्दों से उत्तर षष्ठी का उत्तरपद परे रहते अलुक् होता है ॥ 'होता का शिष्य' यहाँ होता से शिष्य का विद्याकृत संबन्ध है तथा 'होता का पुत्र' यहाँ योनिकृत संबन्ध है । इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी जानें ॥

यहाँ से '*ऋतः*' की अनुवृत्ति ६।३।२३ तक तथा '*विद्यायोनिसंबन्धेभ्यः*' की ६।३।२४ तक जायेगी ॥

विभाषा स्वसृपत्योः ॥६।३।२३॥

विभाषा १।१॥ स्वसृपत्योः ७।२॥ *स०*—स्वसा च पतिश्च स्वसृपती तयोः'''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—ऋतो विद्यायोनिसंबन्धेभ्यः, षष्ठ्याः, अलुगुत्तरपदे ॥ *अर्थः*—स्वसृ पति इत्येतयोरुत्तरपदयोः विद्यायोनिसंब-

न्धवाचिभ्य ऋकारान्तेभ्य उत्तरस्याः षष्ठ्या विकल्पेनालुग् भवति ॥ उदा०—मातुःष्वसा, मातुःस्वसा, मातृष्वसा। पितुःष्वसाः, पितुःस्वसा, पितृष्वसा। दुहितुःपतिः, दुहितृपतिः। ननान्दुःपतिः, ननान्दृपतिः ॥

भाषार्थः—[*स्वसृपत्योः*] स्वसृ तथा पति शब्द के उत्तरपद रहते विद्या तथा योनिसंबन्धवाची ऋकारान्त शब्दों से उत्तर षष्ठी का [*विभाषा*] विकल्प से अलुक् होता है ॥ मातुःष्वसा, मातुःस्वसा आदि में विकल्प से षत्व *मातुःपितुर्भ्यां०* (८।३।८५) से होता है, तथा मातृष्वसा पितृष्वसा में नित्य षत्व *मातृपितृभ्यां०* (८।३।८४) से हुआ है ॥ स्वसृ तथा पति शब्द के उत्तरपद रहते विद्यासंबन्धवाची उदाहरण संभव ही नहीं, अतः केवल योनिसंबन्धवाची के उदाहरण दिये गये हैं ॥

आनङ् ऋतो द्वन्द्वे ॥६।३।२४॥

आनङ् १।१॥ ऋतः ६।१॥ द्वन्द्वे ७।१॥ *अनु०*—विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—ऋकारान्तानां विद्यायोनिसम्बन्धवाचिनां यो द्वन्द्वस्तत्र पूर्वपदस्यानङ् आदेशो भवत्युत्तरपदे परतः ॥ *उदा०*—विद्यासम्बन्धवाचिभ्यः—होतापोतारौ, नेष्टोद्गातारौ, प्रशास्ताप्रतिहर्त्तारौ। योनिसम्बन्धेभ्यः—मातापितरौ, याताननान्दरौ ॥

भाषार्थः—[*ऋतः*] ऋकारान्त विद्या तथा योनि सम्बन्धवाची शब्दों के [*द्वन्द्वे*] द्वन्द्व समास में उत्तरपद परे रहते [*आनङ्*] आनङ् आदेश होता है ॥ होतापोतारौ यहाँ पूर्वपद होतृ के अन्त्य अल् (१।१।५१) 'ऋ' के स्थान में आनङ् होकर 'होत् आनङ् पोतृ औ = होतान् पोतारौ' रहा। *नलोपः०* (८।२।७) से नकार लोप होकर होतापोतारौ बन गया। पोतृ को 'औ' परे रहते *ऋतो ङिसर्व०* (७।३।११०) से गुण, रपरत्व तथा *अप्तृन्तृच्०* (६।४।११) से दीर्घ हो ही जायेगा ॥

यहाँ से '*आनङ्*' की अनुवृत्ति ६।३।२५ तक जायेगी ॥

देवताद्वन्द्वे च ॥६।३।२५॥

देवताद्वन्द्वे ७।१॥ च अ० ॥ *स०*—देवतानां द्वन्द्वः देवताद्वन्द्वस्तस्मिन्......षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—आनङ्, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—देवतावाचिनां यो द्वन्द्वस्तत्रोत्तरपदे पूर्वपदस्यानङादेशो भवति ॥ इन्द्रासोमौ, इन्द्रावृहस्पती ॥

भाषार्थः—[*देवताद्वन्द्वे*] देवतावाची शब्दों के द्वन्द्व समास में [*च*] भी उत्तरपद परे रहते पूर्वपद को आनङ् आदेश होता है॥ सिद्धि पूर्ववत् जानें॥ इन्द्र वरुणादि शब्द देवतावाची हैं॥

यहाँ से '*देवताद्वन्द्वे*' की अनुवृत्ति ६।३।३० तक जायेगी॥

ईदग्नेः सोमवरुणयोः ॥६।३।२६॥

ईत् १।१॥ अग्नेः ६।१॥ सोमवरुणयोः ७।२॥ *स०*—सोम० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—देवताद्वन्द्वे, उत्तरपदे॥ *अर्थः*—देवताद्वन्द्वे सोम वरुण इत्येतयोरुत्तरपदयोरग्नेरीकारादेशो भवति॥ *उदा०*—अग्नीषोमौ, अग्नीवरुणौ॥

भाषार्थः—देवतावाची द्वन्द्व समास में [*सोमवरुणयोः*] सोम तथा वरुण शब्द उत्तरपद रहते [*अग्नेः*] अग्नि शब्द को [*ईत्*] ईकारादेश होता है॥ पूर्ववत् अन्त्य अल् को ईकारादेश होता है॥ *अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः* (८।३।८२) से अग्नीषोमौ में षत्व होता है॥

यहाँ से '*अग्नेः*' की अनुवृत्ति ६।३।२७ तक जायेगी॥

इद् वृद्धौ ॥६।३।२७॥

इत् १।१॥ वृद्धौ ७।१॥ *अनु०*—अग्नेः, देवताद्वन्द्वे, उत्तरपदे॥ *अर्थः*—देवताद्वन्द्वे कृतवृद्धावुत्तरपदे ऽग्नेरिकारादेशो भवति॥ *उदा०*—आग्निवारुणीम् अनड्वाहीमालभेत। आग्निमारुतं कर्म क्रियते॥

भाषार्थः—देवताद्वन्द्व में [*वृद्धौ*] वृद्धि किया हुआ शब्द उत्तरपद में हो तो अग्नि शब्द को [*इत्*] इकारादेश होता है॥ वृद्धि से यहाँ वृद्धि किया हुआ शब्द लिया गया है॥ अग्नीवरुणौ देवते अस्य ऐसा विग्रह करके *सास्य देवता* (४।२।२३) से अण् प्रत्यय होकर आग्निवारुणीम् बना है। *देवताद्वन्द्वे च* (७।३।२१) से यहाँ उभयपदवृद्धि होती है। ङीप् प्रत्यय *टिड्ढाणञ्०* (४।१।१५) से हो ही जायेगा। *ईदग्नेः०* (६।३।२६) से ईत्व प्राप्त था, तदपवाद है। इसी प्रकार आग्निमारुतम् में जानें॥ यहाँ ६।३।२५ से आनङ् प्राप्त था, तदपवाद है॥

दिवो द्यावा ॥६।३।२८॥

दिवः ६।१॥ द्यावा १।१॥ *अनु०*—देवताद्वन्द्वे, उत्तरपदे॥ *अर्थः*—

देवताद्वन्द्व उत्तरपदे परतो दिव् इत्येतस्य द्यावा इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—द्यावाक्षामा, द्यावाभूमी ॥

भाषार्थः—देवताद्वन्द्व में उत्तरपद परे रहते पूर्वपद [*दिवः*] दिव् शब्द को [*द्यावा*] द्यावा आदेश होता है ॥ *अनेकाल्शित्*० (१।१।५४) से सम्पूर्ण दिव् के स्थान में 'द्यावा' आदेश होगा ॥

यहाँ से '*दिवो द्यावा*' की अनुवृत्ति ६।३।२८ तक जायेगी ॥

दिवसश्च पृथिव्याम् ॥६।३।२९॥

दिवसः १।१॥ च अ०॥ पृथिव्याम् ७।१॥ *अनु*०—दिवो द्यावा, देवताद्वन्द्वे, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—पृथिव्यामुत्तरपदे देवताद्वन्द्वे दिवो दिवस् इत्ययमादेशो भवति, चकाराद् द्यावा च ॥ *उदा*०—दिवस्-पृथिव्यौ, द्यावापृथिव्यौ ॥

भाषार्थः—[*पृथिव्याम्*] पृथिवी शब्द उत्तरपद रहते देवताद्वन्द्व में दिव् शब्द को [*दिवसः*] दिवस् आदेश होता है [*च*] तथा चकार से द्यावा आदेश भी हो जाता है। पूर्ववत् आनङ् प्राप्त था तदपवाद है। 'दिवस' के 'स' में अकार निर्देश, सकार के रुत्वादि विकारों के अभावार्थ है ॥

उषासोषसः ॥६।३।३०॥

उषासा १।१॥ उषसः ६।१॥ *अनु*०—देवताद्वन्द्वे, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—उषस् शब्दस्य उषासा इत्ययमादेशो भवति, देवताद्वन्द्व उत्तरपदे ॥ *उदा*०—उषाश्च सूर्यश्च = उषासासूर्यम्, उषासानक्ता ॥

भाषार्थः—देवताद्वन्द्व में उत्तरपद परे रहते [*उषसः*] उषस् शब्द को [*उषासा*] उषासा आदेश होता है ॥ यह भी आनङ् (६।३।२५) का अपवाद सूत्र है ॥

मातरपितरावुदीचाम् ॥६।३।३१॥

मातरपितरौ १।२॥ उदीचाम् ६।३॥ *अर्थः*—उदीचामाचार्याणां मतेन मातरपितरौ इति निपात्यते। मातृशब्दस्य अरङ् आदेशो निपातनेन भवति ॥

भाषार्थः—[*उदीचाम्*] उदीच्य आचार्यों के मत में [*मातरपितरौ*] मातरपितरौ यह शब्द निपातन किया जाता है। मातृ शब्द को अरङ् आदेश निपातन से होता है ॥ *ङिच्च* (१।१।५२) से अन्त्य अल् 'ऋ' को अरङ् होगा ॥

पितरामातरा च च्छन्दसि ॥६।३।३२॥

पितरामातरा १।२॥ च अ०॥ छन्दसि ७।१॥ *अर्थः*—पितरामातरा इति छन्दसि विषये निपात्यते। निपातनेन पूर्वपदस्य अराङ् आदेशो भवति ॥

भाषार्थः—[*पितरामातरा*] पितरामातरा यह शब्द [*च*] भी [*छन्दसि*] वेद विषय में निपातन किया जाता है। निपातन से पूर्वपद पितृ शब्द को अराङ् आदेश होता है ॥ उत्तरपद में 'औ' विभक्ति को *सुपां सुलुक्*० (७।१।३९) से आकारादेश एवं मातृ शब्द को *ऋतो ङि*० (७।३।११०) से गुण होकर 'पितरामातरा' बन ही जयेगा ॥

[*पुंवद्भावप्रकरणम्*]

स्त्रियाः पुंवद् भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु ॥६।३।३३॥

स्त्रियाः ६।१॥ पुंवत् अ०॥ भाषितपुंस्कादनूङ् लुप्तषष्ठीकम् ॥ समानाधिकरणे ७।१॥ स्त्रियाम् ७।१॥ अपूरणीप्रियादिषु ७।३॥ *स०*—न ऊङ् अनूङ्, नञ्तत्पुरुषः। भाषितः पुमान् यस्मिन्नर्थे (समानायामाकृतावेकस्मिन् प्रवृत्तिनिमित्ते) स भाषितपुंस्कस्तस्मात्'' 'बहुव्रीहिः। भाषितपुंस्कादनूङ् यस्मिन् स्त्रीशब्दे स भाषितपुंस्कादनूङ्, बहुव्रीहिः। *सुपो धातु*० (२।४।७१) इत्यनेन पञ्चम्याः लुकि प्राप्ते निपातनादत्रालुग्भवति। प्रिया आदिर्येषां ते प्रियादयः, बहुव्रीहिः। पूरणी च प्रियादयश्च पूरणीप्रियादयः''''इतरेतरद्वन्द्वः। न पूरणीप्रियादयः, अपूरणीप्रियादयस्तेषु '' 'नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु*०—उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—यस्मात् भाषितपुंस्कात् पर ऊङ् न कृतस्तस्य स्त्रीशब्दस्य पुंशब्दस्येव रूपं भवति, पूरणीप्रियादिवर्जिते स्त्रीलिङ्गे समानाधिकरण उत्तरपदे ॥ *उदा*०—दर्शनीया भार्या यस्य स दर्शनीयभार्यः, श्लक्ष्णचूडः, दीर्घजङ्घः ॥

भाषार्थः—[*भाषितपुंस्कादनूङ्*] एक ही अर्थ में अर्थात् एक ही

प्रवृत्ति निमित्त को लेकर भाषित = कहा है पुँल्लिङ्ग को जिस शब्द ने, ऐसे ऊङ् वर्जित भाषितपुंस्क [*स्त्रियाः*] स्त्री शब्द के स्थान में [*पुंवत्*] पुँल्लिङ्गवाची शब्द के समान रूप हो जाता है, [*अपूरणीप्रियादिषु*] पूरणी तथा प्रियादिवर्जित [*स्त्रियाम्*] स्त्रीलिङ्ग [*समानाधिकरणे*] समानाधिकरण उत्तरपद हो तो ॥

जिस अर्थ धर्म को लेकर जो शब्द प्रयोग किया जाता है वह अर्थ धर्म उसका प्रवृत्तिनिमित्त होता है, यथा मनुष्यत्व धर्म रहने के कारण किसी को मनुष्य कहा गया तो यह मनुष्यत्व धर्म, मनुष्य शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त है। इसी प्रकार दर्शनीयभार्यः यहाँ दर्शनीय शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त दर्शनीयत्व है, इस दर्शनीयत्व अर्थ को लेकर ही यह दर्शनीय शब्द दर्शनीय, दर्शनीया पुंल्लिङ्ग एवं स्त्रीलिङ्ग दोनों में समान रूप से प्रयुक्त होता है, अतः समास करने में जो 'समानायामाकृतावेकस्मिन् प्रवृत्तिनिमित्ते भाषितपुंस्कः' कहा था वह सङ्गत हो गया। दर्शनीया में प्रयुक्त स्त्रीलिङ्ग शब्द दर्शनीयत्व प्रवृत्ति निमित्त को लेकर दर्शनीय रूप में पुंस्त्व को भी कहता है उसी से स्त्रीलिङ्ग में टाप् होकर बना है। दर्शनीयत्व प्रवृत्ति दोनों में समान है। ऊङ् न होने से ऊङ् वर्जित है ही, एवं स्त्रीलिङ्ग पूरणीप्रियादिवर्जित समानाधिकरण वाला भार्या शब्द उत्तरपद में भी है, अतः दर्शनीया शब्द पुंल्लिङ्ग के समान हो गया अर्थात् 'दर्शनीय' शब्द बन गया। इसी प्रकार श्लक्ष्णा चूडा यस्य स श्लक्ष्णचूडः, दीर्घा जङ्घा यस्य स दीर्घजङ्घः यहाँ भी जानें। भार्या, चूडा, जङ्घा को *गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य* (१।२।४८) से ह्रस्व हो ही जायेगा॥ पूरणी से स्त्रीलिङ्ग वाले पूरण प्रत्ययान्त शब्द लिये गये हैं, तथा 'प्रियादि' गण पठित शब्द हैं॥

इस सूत्र का सम्पूर्ण विषय प्रत्युदाहरणों से ही स्पष्ट हो पाता है, जो कि द्वितीयावृत्ति का विषय है॥

यहाँ से '*स्त्रियाः अनूङ्*' की अनुवृत्ति ६।३।४१ तक तथा '*पुंवत्*' की ६।३।४० तक एवं '*भाषितपुंस्कात्*' की ६।३।४२ तक जायेगी॥

तसिलादिष्वाकृत्वसुचः ॥६।३।३४॥

तसिलादिषु ७।३॥ आ अ० ॥ कृत्वसुचः ५।१॥ *स०*—तसिल् आदिर्येषां ते तसिलादयस्तेषु बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—स्त्रियाः पुंवद्-

भाषितपुंस्कादनूङ् ॥ *अर्थः*—तसिलादिषु कृत्वसुजन्तेषु परेषु भाषित-पुंस्कादनूङ् स्त्रियाः पुंवद् भवति ॥ *उदा०*—तस्याः शालायाः = ततः ॥ तस्याम् = तत्र । यस्याः = यतः । यस्याम् = यत्र ॥

भाषार्थः—[*तसिलादिषु*] तसिलादि प्रत्ययों से लेकर [*आकृत्वसुचः*] कृत्वसुच् पर्यन्त कहे गये जो प्रत्यय उनके परे रहते ऊङ् वर्जित भाषि-तपुंस्क स्त्रीशब्द को पुंवत् हो जाता है ॥ इन उदाहरणों में भी जिन स्त्रीलिङ्ग सा या शब्दों के रूप में प्रयुक्त तद् यद् शब्द प्रयुक्त हुए हैं, वे शब्द उसी अर्थ में पुँलिङ्ग में भी प्रयुक्त होते हैं अतः वे भाषित-पुंस्क (पुँलिङ्ग को कहनेवाले) हैं । तसिल् से *पञ्चम्यास्तसिल्* (५।३।७) में कहा हुआ तसिल् यहाँ लिया गया है, तथा कृत्वसुच् से *संख्यायाः क्रियाभ्या०* (५।४।१७) में कथित कृत्वसुच् लिया गया है, अतः *पञ्च-म्यास्तसिल्* से लेकर *संख्यायाः क्रियाभ्या०* तक कहे हुए सभी प्रत्यय तसिलादियों से गृहीत है ॥ पूर्व सूत्र से उत्तरपद परे रहते ही पुंवद्-भाव कहा था, यहाँ उत्तरपद का अभाव होने से अनुत्तरपदार्थ यह आरम्भ है ॥

क्यङ्मानिनोश्च ॥६।३।३५॥

क्यङ्मानिनोः ७।२॥ च अ० ॥ *स०*—क्यङ् च मानिन् च क्यङ्-मानिनौ तयोः ''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्काद-नूङ्, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—क्यङि परतो मानिनि च भाषितपुंस्कादनूङ् स्त्रियाः पुंवद् भवति ॥ *उदा०*—एनी, एतायते, श्येनी, श्येतायते । मानिनि—दर्शनीयमानी अयमस्याः = दर्शनीयमानिनीयमस्याः ॥

भाषार्थः—[*क्यङ्मानिनोः*] क्यङ् तथा मानिन् परे रहते [च] भी ऊङ् वर्जित भाषितपुंस्क स्त्रीशब्द को पुंवद्भाव हो जाता है ॥ मानिनि ग्रहण यहाँ अस्त्र्यर्थ तथा असमानाधिकरणार्थ है, अतः 'अयमस्याः' करके पुँलिङ्ग का भी उदाहरण दिया है ॥

एत श्येत शब्दों से *वर्णादनुदात्तात्०* (४।१।३९) से ङीप् एवं त को न होकर एनी श्येनी बना । अब एनीवाचरति श्येनीवाचरति ऐसा विग्रह करके *कर्तुः क्यङ् सलोपश्च* (३।१।११) से क्यङ् होकर *अकृत्सार्व०* (७।४।२५) से दीर्घ होकर एतायते श्येतायते बन गया । प्रकृत सूत्र से पुंवद्भाव होने से ङीप् एवं तत्सन्नियोगशिष्ट नकार हट गया । दर्शनी-

थामिमां मन्यतेऽयमिति दर्शनीयमानी। यहाँ *मनः* (३।२।८२) से मन धातु से णिनि प्रत्यय हुआ है ॥

न कोपधायाः ॥६।३।३६॥

न अ० ॥ कोपधायाः ६।१॥ *स०*—ककार उपधा यस्याः सा कोपधा तस्याः'''बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—भाषितपुंस्कादनूङ् कोपधायाः स्त्रियाः पुंवद्भावो न भवति ॥ *उदा०*—पाचिकाभार्यः, कारिकाभार्यः, वृजिकाभार्यः, मद्रिकाभार्यः। मद्रिकाकल्पा। मद्रिकायते, वृजिकायते। मद्रिकामानिनी, वृजिकामानिनी ॥

भाषार्थः—[*कोपधायाः*] ककार उपधावाले स्त्री शब्द को पुंवद्भाव [*न*] नहीं होता ॥ पूर्व सूत्रों से प्राप्ति थी उन सबका प्रतिषेध है ॥ पाचक कारक ण्वुलन्त शब्दों से टाप् तथा *प्रत्ययस्थात्०* (७।३।४४) से इत्त्व होकर पाचिका कारिका बना। अब यहाँ पाचिका कारिका शब्द पूर्ववत् भाषितपुंस्क हैं, अतः *स्त्रियाः पुंवद्भाषित०* (६।३।३३) से पुंवद्भाव प्राप्त था, ककार उपधा में होने से प्रकृतसूत्र से निषेध हो गया। मद्रिकाकल्पा में *तसिलादिष्वा०* (६।३।३४) से पुंवद्भाव प्राप्त था, एवं मद्रिकायते आदि में *क्यङ्मानिनोश्च* से प्राप्त था, निषेध हो गया। *मद्रवृज्योः कन्* (४।२।१३०) से मद्रिका वृजिका में कन् प्रत्यय हुआ है ॥

यहाँ से '*न*' की अनुवृत्ति ६।३।४० तक जायेगी ॥

संज्ञापूरण्योश्च ॥६।३।३७॥

संज्ञापूरण्योः ६।२॥ च अ० ॥ *स०*—संज्ञा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—न, स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—संज्ञायाः पूरण्याश्च भाषितपुंस्कादनूङ् स्त्रियाः पुंवद्भावो न भवति ॥ *उदा०*—दत्ताभार्यः गुप्ताभार्यः, दत्तापाशा गुप्तापाशा, दत्तायते गुप्तायते, दत्तामानिनी गुप्तामानिनी। पूरण्याः—पञ्चमीभार्यः दशमीभार्यः, पञ्चमीपाशा दशमीपाशा, पञ्चमीयते दशमीयते, पञ्चमीमानिनी दशमीमानिनी ॥

भाषार्थः—[*संज्ञापूरण्योः*] संज्ञावाची तथा पूरणी प्रत्ययान्त भाषितपुंस्क स्त्री शब्दों को [*च*] भी पुंवद्भाव नहीं होता ॥ पूर्ववत् क्रमशः

उदाहरणों में पूर्वसूत्रों से पुंवद्भाव प्राप्त था, निषेध कर दिया ॥ दत्ता गुप्ता में *क्तिच्क्तौ०* (३।३।१७४) से क्त प्रत्यय हुआ है। दत्तादिति दत्तः गोपायताद् इति गुप्तः। स्त्रीलिङ्ग में टाप् होकर दत्ता गुप्ता बने। दत्तः दत्ता, गुप्तः गुप्ता दोनों में प्रवृत्तिनिमित्त दान और गोपन एक ही है, अतः दत्ता गुप्ता भाषितपुंस्क शब्द हैं। इसी प्रकार पञ्चमः पञ्चमी दशमः दशमी में पञ्चमत्व दशमत्व प्रवृत्ति का निमित्त समान है।

वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे ॥६।३।३८॥

वृद्धिनिमित्तस्य ६।१॥ च अ० ॥ तद्धितस्य ६।१॥ अरक्तविकारे ७।१॥ *स०*—वृद्धेर्निमित्तं यस्मिन् स वृद्धिनिमित्तस्तद्धितस्तस्य...... बहुव्रीहिः। रक्तं च विकारश्च रक्तविकारं न रक्तविकारमरक्तविकारं तस्मिन्......द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—न, स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—अरक्तेऽर्थेऽविकारे चार्थे यो विहितो वृद्धिनिमित्तस्तद्धितस्तदन्तस्य स्त्रीशब्दस्य पुंवद् न भवति ॥ *उदा०*—स्रौघ्नीभार्यः, माथुरीभार्यः, स्रौघ्नीपाशा, माथुरीपाशा, स्रौघ्नीयते, माथुरीयते, स्रौघ्नीमानिनी, माथुरीमानिनी ॥

भाषार्थः—[*वृद्धिनिमित्तस्य*] वृद्धि का निमित्त=कारण है जिस [*तद्धितस्य*] तद्धित में ऐसा तद्धित यदि [*अरक्तविकारे*] रक्त तथा विकार अर्थ में न विहित हो तो तदन्त स्त्री शब्द को [च] भी पुंवद्भाव नहीं होता ॥ पूर्ववत् प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया ॥ वृद्धि के निमित्त ञित् णित् तथा कित् (७।२।११५) प्रत्यय ही हैं। स्रौघ्नी, माथुरी शब्दों में *तत्र भवः* (४।३।५३) से वृद्धि निमित्तक अण् तद्धित प्रत्यय हुआ है। अरक्तविकार अर्थ में विहित है ही, अतः *टिड्ढाणञ्०* (४।१।१५) से हुये ङीप् प्रत्ययान्त शब्दों को पुंवद्भाव प्राप्त था, प्रकृत सूत्र से प्रतिषेध हो गया ॥

स्वाङ्गाच्चेतः ॥६।३।३९॥

स्वाङ्गात् ५।१॥ च अ० ॥ ईतः ६।१॥ *अनु०*—न, स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—स्वाङ्गादुत्तरो य ईकारस्तदन्तायाः स्त्रियाः न पुंवद् भवति ॥ *उदा०*—दीर्घकेशीभार्यः, दीर्घकेशीपाशा, श्लक्ष्णकेशीपाशा, दीर्घकेशीयते, श्लक्ष्णकेशीयते ॥

भाषार्थः—[*स्वाङ्गात्*] स्वाङ्गवाची शब्द से उत्तर [*च*] भी जो [*ईतः*] ईकार तदन्त स्त्रीशब्द को पुंवद्भाव नहीं होता॥ दीर्घकेशी आदि में *स्वाङ्गाच्चोपसर्जनाद०* (४।१।५४) से ङीष् हुआ है॥

जातेश्च ॥६।३।४०॥

जातेः ६।१॥ च अ०॥ *अनु०*—न, स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्, उत्तरपदे॥ *अर्थः*—जातेश्च स्त्रियाः पुंवद् न भवति॥ *उदा०*—कठीभार्यः, बह्वृचीभार्यः, कठीपाशा, बह्वृचीपाशा, कठीयते, बह्वृचीयते॥

भाषार्थः—[*जातेः*] जातिवाची स्त्रीलिङ्ग शब्दों को [*च*] भी पुंवद्भाव नहीं होता॥ कठ तथा बह्वृच शब्दों से *जातेरस्त्रीविषया०* (४।१।६३) से ङीष् हुआ है॥

पुंवत् कर्मधारयजातीयदेशीयेषु ॥६।३।४१॥

पुंवत् अ०॥ कर्मधारयजातीयदेशीयेषु ७।३॥ *स०*—कर्मधारय० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—स्त्रियाः भाषितपुंस्कादनूङ्॥ *अर्थः*—कर्मधारये समासे जातीय देशीय इत्येतयोश्च प्रत्यययोः परतः भाषितपुंस्कादनूङ् स्त्रियाः पुंवद् भवति॥ प्रतिषेधार्थोऽयमारम्भः॥ *उदा०*—*न कोपधायाः* इत्युक्तं तत्रापि भवति—पाचकवृन्दारिका, पाचकजातीया, पाचकदेशीया। *संज्ञापूरण्योश्चे*त्युक्तं तत्रापि भवति—दत्तवृन्दारिका, दत्तजातीया, दत्तदेशीया। पूरण्याः—पञ्चमवृन्दारिका, पञ्चमजातीया, पञ्चमदेशीया। *वृद्धिनिमित्तस्य च०* इत्युक्तं तत्रापि भवति—स्रौघ्नभार्या, स्रौघ्नजातीया, स्रौघ्नदेशीया। *स्वाङ्गाच्चेत* इत्युक्तं तत्रापि भवति—श्लक्ष्णमुखवृन्दारिका, श्लक्ष्णमुखजातीया श्लक्ष्णमुखदेशीया। *जातेश्चे*त्युक्तं तत्रापि भवति—कठवृन्दारिका, कठजातीया, कठदेशीया॥

भाषार्थः—[*कर्मधा॰॰येषु*] कर्मधारय समास में तथा जातीय एवं देशीय प्रत्ययों के परे रहते ऊङ्वर्जित भाषितपुंस्क स्त्री शब्द को [*पुंवत्*] पुंवद्भाव हो जाता है॥ कर्मधारय समास में *स्त्रियाः पुंवद्भाषित०* से ही पुंवद्भाव प्राप्त था तथा जातीय देशीय प्रत्ययों के परे रहते भी *तसिलादिष्वा०* (६।३।३४) से प्राप्त था ही, पुनर्वचन *न कोपधायाः* से लेकर *जातेश्च* तक जितने प्रतिषेध वचन कहे हैं, उनमें भी कर्मधारय समास एवं जातीय देशीय प्रत्ययों के परे रहते पुंवद्भाव प्राप्त हो जाये इसलिये

है, जैसा कि उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट ही है ॥ *प्रकारवचने जातीयर्* (५।३।६९) से जातीयर् प्रत्यय तथा *ईषदसमाप्तौ०* (५।३।६७) से देशीयर् प्रत्यय होता है ॥

घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ङ्योऽनेकाचो ह्रस्वः ॥६।३।४२॥

घरूप···तेषु ७।३॥ ङ्यः ६।१॥ अनेकाचः ६।१॥ ह्रस्वः १।१॥ *स०*—घरूप० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । न एकः अनेकः···नञ्तत्पुरुषः । अनेकः अच् यस्मिन् स अनेकाच्, तस्य···बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—भाषितपुंस्कात्, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—भाषितपुंस्कात् परो यो ङीप्रत्ययस्तदन्तस्यानेकाचो ह्रस्वो भवति घ रूप कल्प चेलट् ब्रुव गोत्र मत हत इत्येतेषु परतः ॥ *उदा०*—घ—ब्राह्मणितरा ब्राह्मणितमा । रूप—ब्राह्मणिरूपा । कल्प—ब्राह्मणिकल्पा । चेलट्—ब्राह्मणिचेली । ब्रुव—ब्राह्मणिब्रुवा । गोत्र—ब्राह्मणिगोत्रा । मत—ब्राह्मणिमता । हत—ब्राह्मणिहता ॥

भाषार्थः—भाषितपुंस्क शब्द से उत्तर जो [*ङ्यः*] ङी तदन्त [*अनेकाचः*] अनेकाच् शब्द को [*ह्रस्वः*] ह्रस्व हो जाता है [*घरूप···तेषु*] घ, रूप, कल्प, चेलट्, ब्रुव, गोत्र मत तथा हत शब्दों के परे रहते ॥ घ से घ संज्ञक तरप् तमप् (१।१।२१) प्रत्यय लिये गये हैं, तथा रूप से रूपप् प्रत्यय (५।३।६६) एवं कल्प से कल्पप् (५।३।६७) प्रत्यय लिया गया है । चेलट् आदि शब्द हैं, प्रत्यय नहीं । ब्रुवतीति ब्रुवः यहाँ पचाद्यच् हुआ है । चेलट्, ब्रुव, गोत्र शब्द कुत्सार्थवाची हैं, अतः *कुत्सितानि कुत्सनैः* (२।१।५२) से समास हुआ है । मत, हत में *विशेषणं वि०* (२।१।५६) से समास हुआ है ॥ ब्राह्मण शब्द ब्राह्मणत्वरूप प्रवृत्तिनिमित्त को लेकर पुँल्लिङ्ग को कहता है, इसलिये भाषितपुंस्क है, इस तदन्त अनेकाच् से उत्तर ङीप् को प्रकृत सूत्र से ह्रस्व हो जाता है ॥

यहाँ से *'घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ह्रस्वः'* की अनुवृत्ति ६।३।४४ तक जायेगी ॥

नद्याः शेषस्यान्यतरस्याम् ॥६।३।४३॥

नद्याः ६।१॥ शेषस्य ६।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु, ह्रस्वः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—घादिषु परतो नद्याः

शेषस्य विकल्पेन ह्रस्वो भवति ॥ अङी च या नदी ङ्यन्तं च यदेकाच्, स शेषः ॥ उदा०—ब्रह्मबन्धुतरा, ब्रह्मबन्धूतरा । वीरबन्धुतरा, वीरबन्धूतरा । स्त्रितरा, स्त्रीतरा, स्त्रितमा, स्त्रीतमा ॥

भाषार्थः—[*नद्याः*] नदी संज्ञक [*शेषस्य*] शेष (पूर्व सूत्र से शेष) शब्दों को [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प करके घादियों के परे रहते ह्रस्व होता है ॥ पूर्व सूत्र में जिसको ह्रस्व कहा है उससे जो शेष नदी संज्ञक शब्द उसे यहाँ ह्रस्व होगा । पूर्व सूत्र में ङ्यन्त कहा था अतः यहाँ शेष कहने से अङ्यन्त जो नदी संज्ञक वे लिये जायेंगे, जैसे 'ब्रह्मबन्धू' शब्द, तथा वहाँ अनेकाच् कहा था, यहाँ एकाच् ङ्यन्त शब्द भी शेष कहने से ले लिये जायेंगे, जैसे 'स्त्री' शब्द ॥ इसी प्रकार ब्रह्मबन्धुरूपा ब्रह्मबन्धूरूपा आदि कल्प चेलट् ब्रुवगोत्र मत हत के उदाहरण भी यहाँ जानने चाहिए ॥

यहाँ से '*नद्याः*' '*अन्यतरस्याम्*' की अनुवृत्ति ६।३।४४ तक जायेगी ॥

उगितश्च ॥६।३।४४॥

उगितः ५।१॥ च अ० ॥ *स०*—उक् इत् यस्य स उगित् तस्मात्... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—नद्याः, अन्यतरस्याम्, घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु, ह्रस्वः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—उगितः परा या नदी तदन्तस्य घादिषु परतो विकल्पेन ह्रस्वो भवति ॥ *उदा०*—श्रेयसितरा, श्रेयसीतरा । विदुषितरा, विदुषीतरा ॥

भाषार्थः—[*उगितः*] उगित् शब्द से परे जो नदी तदन्त शब्द को [*च*] भी घादियों के परे रहते विकल्प करके ह्रस्व होता है ॥ श्रेयस् में ईयसुन् प्रत्यय हुआ है, अतः यह शब्द उगित् है । उगित् होने से *उगितश्च* (४।१।६) से ङीप् तथा प्रकृत सूत्र से उस ङीप् को ह्रस्व हो जाता है ॥ इसी प्रकार रूप कल्पादि के भी उदाहरण यहाँ जानने चाहिये ॥

आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः ॥६।३।४५॥

आत् १।१॥ महतः ६।१॥ समानाधिकरणजातीययोः ७।२॥ *स०*—समाना० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—समानाधिकरण उत्तरपदे जातीये च प्रत्यये परतो महत आकारादेशो भवति । *उदा०*—महादेवः, महाब्राह्मणः, महाबाहुः, महाबलः । जातीय—महाजातीयः ॥

भाषार्थः—[*समानाधिकरणजातीययोः*] समानाधिकरण उत्तरपद रहते तथा जातीय प्रत्यय परे रहते [*महतः*] महत् शब्द को [*आत्*] आकारादेश होता है ॥ महादेवः आदि में महान् तथा देव आदि का समानाधिकरण होने से कर्मधारय समास (२।१।६०) है ॥

यहाँ से 'आत्' की अनुवृत्ति ६।३।४६ तक जायेगी ॥

द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः ॥६।३।४६॥

द्व्यष्टनः ६।१॥ संख्यायाम् ७।१॥ अबहुव्रीह्यशीत्योः ६।२॥ *स०*—द्वौ च अष्ट च द्व्यष्ट, तस्य ''समाहारद्वन्द्वः । बहुव्रीहिश्च अशीतिश्च बहुव्रीह्यशीती न बहुव्रीह्यशीती अबहुव्रीह्यशीती तयोः ''द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—आत्, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—द्वि अष्टन् इत्येतयोराकारादेशो भवति, संख्यायामुत्तरपदेऽबहुव्रीह्यशीत्योः ॥ *उदा०*—द्वादश, द्वाविंशतिः, द्वात्रिंशत् । अष्टादश, अष्टाविंशतिः, अष्टात्रिंशत् ॥

भाषार्थः—[*द्व्यष्टनः*] द्वि तथा अष्टन् शब्दों को आकारादेश होता है, [*संख्यायाम्*] संख्या उत्तरपद में हो तो [*अबहुव्रीह्यशीत्योः*] बहुव्रीहि समास को तथा अशीति उत्तरपद को छोड़कर ॥ द्वादश इत्यादि में द्वौ च दश च ऐसा विग्रह करके द्वन्द्व समास हुआ है । अथवा द्वाभ्यामधिका दश ऐसा विग्रह करके *शाकपार्थिवादीना०* (*वा०* २।१।५६) इस वार्त्तिक से उत्तरपदलोपी तत्पुरुष समास हुआ है ॥

यहाँ से '*संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः*' की अनुवृत्ति ६।३।४८ तक जायेगी ॥

त्रेस्त्रयः ॥६।३।४७॥

त्रेः ६।१॥ त्रयः १।१॥ *अनु०*—संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—त्रि इत्येतस्य शब्दस्य त्रयस् आदेशो भवति, संख्यायामुत्तरपदेऽबहुव्रीह्यशीत्योः ॥ *उदा०*—त्रयोदश, त्रयोविंशतिः, त्रयस्त्रिंशत् ॥

भाषार्थः—[*त्रेः*] त्रि शब्द को [*त्रयः*] त्रयस् आदेश होता है, संख्या उत्तरपद रहते, बहुव्रीहि समास तथा अशीति को छोड़कर ॥ त्रयस् के सकार को *ससजुषो रुः* (८।२।६६) से रुत्व *हशि च* (६।१।११०) से उत्व एवं *आद् गुणः* (६।१।८४) से पूर्वपर के स्थान में ओकार होकर त्रयोदश आदि प्रयोग बन गये ॥

यहाँ से 'त्रयः' की अनुवृत्ति ६।३।४८ तक जायेगी ॥

विभाषा चत्वारिंशत्प्रभृतौ सर्वेषाम् ॥६।३।४८॥

विभाषा १।१॥ चत्वारिंशत्प्रभृतौ ७।१॥ सर्वेषाम् ६।३॥ स०—चत्वारिंशत् प्रभृति यस्य तत् चत्वारिंशत्प्रभृति, तस्मिन्''बहुव्रीहिः । अनु०—संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः, उत्तरपदे ॥ अर्थः—चत्वारिंशत् प्रभृतौ संख्यायामुत्तरपदेऽबहुव्रीह्यशीत्योः सर्वेषाम् द्व्यष्टन् त्रि इत्येतेष यदुक्तं तद्विभाषा भवति ॥ उदा०—द्विचत्वारिंशत्, द्वाचत्वारिंशत् त्रिपञ्चाशत्, त्रयःपञ्चाशत् । अष्टचत्वारिंशत्, अष्टाचत्वारिंशत् । अष्ट पञ्चाशत्, अष्टापञ्चाशत् ॥

भाषार्थः—[*सर्वेषाम्*] सबको अर्थात् द्वि अष्टन् तथा त्रि को जो कुछ भी कह आये हैं वह [*चत्वारिंशत्प्रभृतौ*] चत्वारिंशत् आदि संख्या उत्तर पद रहते बहुव्रीहि, अशीति को छोड़कर [*विभाषा*] विकल्प करके हो ॥

हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु ॥६।३।४९॥

हृदयस्य ६।१॥ हृत् १।१॥ लेखयदण्लासेषु ७।३॥ स०—लेख इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु*०—उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—हृदयस्य हृत् इत्ययमादेशो भवति लेख, यत्, अण्, लास इत्येतेषु परतः ॥ *उदा*०—हृद लिखतीति हृल्लेखः । यत्–हृदयस्य प्रियं हृद्यम् । अण्–हृदयस्येदं हार्दम् लास–हृदयस्य लासो हृल्लासः ॥

भाषार्थः—[*हृदयस्य*] हृदय शब्द को [*हृत्*] हृत् आदेश होता [*लेखयदण्लासेषु*] लेख, यत्, अण् तथा लास परे रहते ॥ यत् तः अण् प्रत्यय हैं, एवं लेख लास शब्द हैं । हार्दम् यहाँ *तस्येदम्* (४।३।१२० से अण् प्रत्यय हुआ है, एवं हृद्यम् में *हृदयस्य प्रियः* (४।४।९५) से य हुआ है । हृल्लासः में *तोर्लि* (८।४।५९) से त् को ल् हुआ है ॥

यहाँ से '*हृदयस्य हृत्*' की अनुवृत्ति ६।३।५१ तक जायेगी ॥

वा शोकष्यञ्रोगेषु ॥६।३।५०॥

वा अ०॥ शोकष्यञ्रोगेषु ७।३॥ *स*०—शोक० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः *अनु*०—हृदयस्य हृत्, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—शोक, ष्यञ्, रोग इत्येते परतः हृदयस्य विकल्पेन हृत् इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा*०—हृच्छोकः हृदयशोकः । ष्यञ्—सौहार्दम्, सौहृदयम् । रोग—हृद्रोगः, हृद रोगः ॥

भाषार्थः—[*शोकष्यञ्रोगेषु*] शोक, ष्यञ् तथा रोग के परे रहते हृदय शब्द को हृत् आदेश [*वा*] विकल्प करके होता है ॥ ष्यञ् से प्रत्यय गृहीत है ॥ शोभनं हृदयमस्य स सुहृदयस्तस्यभावः कर्म वा सौहार्दम्, यहाँ सुहृदय शब्द से *गुणवचन ब्रा०* (५।१।१२३) से ष्यञ् हुआ, तब उस ष्यञ् के परे रहते हृदय को प्रकृत सूत्र से हृत् आदेश हो गया। हृत् आदेश पक्ष में *हृद्भगसिन्ध्वन्ते०* (७।३।१९) से उभयपद वृद्धि होती है। जब पक्ष में हृत् आदेश नहीं होगा तो ष्यञ् परे रहते *तद्धितेष्वचा०* (७।२।११७) से आदि अच् को वृद्धि हो जायेगी तथा *यस्येति च* (६।४।१४८) से अकार लोप होगा। हृच्छोकः में *स्तोः श्चुना श्चुः* (८।४।३९) से त् को च् तथा *शश्छोटि* (८।४।६२) से श् को छ् हुआ है ॥

पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु ॥६।३।५१॥

पादस्य ६।१॥ पद लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ आज्यातिगोपहतेषु ७।३॥ *स०*—आज्या० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—पादस्य 'पद' इत्ययमादेशो भवति आजि, आति, ग, उपहत इत्येतेषूत्तरपदेषु ॥ *उदा०*—पादाभ्यामजतीति = पदाजिः, पादाभ्यामततीति = पदातिः, पादाभ्यां गच्छतीति = पदगः, पादेनोपहतः = पदोपहतः ॥

भाषार्थः—[*पादस्य*] पाद शब्द को [*पद*] 'पद' आदेश होता है, [*आज्यातिगोपहतेषु*] आजि, आति, ग, उपहत उत्तरपद रहते ॥ आजि, आति में औणादिक (उणा० ४।१३१) इण् प्रत्यय हुआ है। यह 'पद' आदेश अकारान्त होता है, अतएव अगले सूत्र में दकारान्त पद् आदेश का विधान किया है।

यहाँ से '*पादस्य*' की अनुवृत्ति ६।३।५५ तक जायेगी ॥

पद्यत्यतदर्थे ॥६।३।५२॥

पद् १।१॥ यति ७।१॥ अतदर्थे ७।१॥ *स०*—तस्मै इदम् तदर्थम्, न तदर्थम् अतदर्थं, तस्मिन्'''चतुर्थीतत्पुरुषगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—पादस्य, उत्तरपदे ॥ अर्थः—अतदर्थे यति प्रत्यये परतः पादस्य 'पद्' इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—पादौ विध्यन्ति = पद्याः शर्कराः, पद्याः कण्टकाः ॥

भाषार्थः—[*अतदर्थे*] अतदर्थ [*यति*] यत् प्रत्यय के परे रहते पाद

शब्द को [पद्] पद् आदेश हो जाता है ॥ *विध्यत्यधनुषा* (४।४।८३) से पाद शब्द से यत् प्रत्यय हुआ है, पश्चात् 'पाद' को प्रकृत सूत्र से पद् आदेश होकर 'पद्याः' बन गया। यह यत् प्रत्यय विध्यति अर्थ में हुआ है, अतः अतदर्थ है ही ॥

यहाँ से 'पद्' शब्द की अनुवृत्ति ६।३।५५ तक जायेगी ॥

हिमकाषिहतिषु च ॥६।३।५३॥

हिमकाषिहतिषु ७।३॥ च अ० ॥ *स०*—हिमं च काषी च हतिश्च हिमकाषिहतयस्तासु ''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—पद्, पादस्य, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—हिम, काषिन्, हति इत्येतेषूत्तरपदेषु पादशब्दस्य पदित्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—पद्धिमम्, अथ पत्काषिणो यान्ति, पादाभ्यां हन्यते = पद्धतिः ॥

भाषार्थः—[*हिमकाषिहतिषु*] हिम, काषिन्, हति इनके उत्तरपद रहते [च] भी पाद शब्द को पद् आदेश होता है ॥ पादस्य हिमं शीतं = पद्धिमम् में षष्ठीसमास है, तथा ह् को ध् *झयो होऽन्यतरस्याम्* (८।४।६१) से पूर्वसवर्णादेश होने से हुआ है। पादौ कषन्तीति पत्काषिणः में *सुप्यजातौ०* (३।२।७८) से णिनि तथा *खरि च* (८।४।५४) से द् को त् हुआ है ॥

ऋचः शे ॥६।३।५४॥

ऋचः ६।१॥ शे ७।१॥ *अनु०*—पद्, पादस्य, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—ऋक्सम्बन्धिनः पादशब्दस्य शे परतः पद् इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—पच्छो गायत्रीं शंसति ॥

भाषार्थः—[*ऋचः*] ऋचा सम्बन्धी पाद शब्द को [*शे*] श परे रहते पद् आदेश होता है ॥ शस् प्रत्यय का अवयवभूत जो 'श' उसका यहाँ ग्रहण है। पच्छः में *सङ्ख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्* (५।४।४३) से शस् प्रत्यय हुआ है। श्चुत्व होकर त् को च् तथा *शश्छोऽटि* (८।४।६२) से छत्व होकर पच्छः बनता है ॥ गायत्री ऋचा सम्बन्धी पाद शब्द के स्थान में यहाँ पद् आदेश हुआ है ॥

वा घोषमिश्रशब्देषु ॥६।३।५५॥

वा अ० ॥ घोषमिश्रशब्देषु ७।३॥ *स०*—घोष० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—पद्, पादस्य, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—घोष, मिश्र, शब्द, इत्येतेषूत्त

पदेषु पादशब्दस्य पदित्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—पद्घोषः, पादघोषः । पन्मिश्रः, पादमिश्रः । पच्छब्दः, पादशब्दः ॥

भाषार्थः—[*घोषमिश्रशब्देषु*] घोष, मिश्र तथा शब्द उत्तरपद रहते पाद शब्द को [*वा*] विकल्प करके पद् आदेश होता है ॥ घोष तथा शब्द के साथ पाद शब्द का षष्ठीसमास है, तथा मिश्र के साथ *पूर्वसदृश०* (२।१।३०) से तृतीया समास है, ऐसा जानें ॥ पच्छब्दः में पूर्ववत् सन्धिकार्य है, एवं पन्मिश्रः में त् को न् *यरोऽनुनासिके०* (८।४।४४) से हुआ है ॥

उदकस्योदः संज्ञायाम् ॥६।३।५६॥

उदकस्य ६।१॥ उदः १।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ *अनु०*—उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—उदकशब्दस्य 'उद' इत्ययमादेशो भवति, संज्ञायां विषय उत्तरपदे परतः ॥ *उदा०*—उदमेघो नाम, यस्य औदमेघिः[1] पुत्रः । उदवाहो नाम, यस्य औदवाहिः[1] पुत्रः ॥

भाषार्थः—[*उदकस्य*] उदक शब्द को [*उदः*] उद आदेश होता है [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में, उत्तरपद परे रहते ॥ उदमेघ, उदवाह ये किसी व्यक्ति के नाम हैं । यहाँ उदक को उद आदेश हुआ है । उदमेघः यहाँ षष्ठीसमास है, तथा उदकं वहतीति उदवाहः यहाँ उपपद तत्पुरुष समास है ॥

यहाँ से '*उदकस्योदः*' की अनुवृत्ति ६।३।५९ तक जायेगी ॥

पेषंवासवाहनधिषु च ॥६।३।५७॥

पेषंवासवाहनधिषु ७।३॥ च अ० ॥ *स०*—पेषं० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—उदकस्योदः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—पेषं, वास, वाहन, धि इत्येतेषु चोत्तरपदेषु उदकशब्दस्य उद इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—उदपेषं पिनष्टि । वास—उदकस्य वासः = उदवासः । वाहन—उदकस्य वाहनः = उदवाहनः । धि—उदकं धीयतेऽस्मिन् = उदधिः ॥

---

१ औदमेघि औदवाहि नाम के व्यक्तियों को देखकर ज्ञात होता है कि उनके पिता का नाम उदमेघ और उदवाह था, यह उदाहरणों का भाव है ।

भाषार्थः—[पेषंवासवाहनधिषु] पेषं, वास, वाहन तथा धि शब्द के उत्तरपद रहते [च] भी उदक को उद आदेश होता है ॥ 'पेषं' में स्नेहने पिषः (३।४।३८) से णमुल् प्रत्यय हुआ है । उदधिः यहाँ *कर्मण्यधिकरणे* च (३।३।९३) से उदक उपपद रहते धा धातु से कि प्रत्यय हुआ है, धा के आ का लोप *आतो लोप इटि* च (६।४।६४) से हो ही जायेगा ॥

एकहलादौ पूरयितव्येऽन्यतरस्याम् ॥६।३।५८॥

एकहलादौ ७।१॥ पूरयितव्ये ७।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *स०*—एको हल् आदिर्यस्य स एकहलादिस्तस्मिन्······त्रिपदबहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—उदकस्योदः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—पूरयितव्यवाचिन्येकहलादावुत्तरपदे विकल्पेनोदकशब्दस्य उद इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—उदकुम्भः, उदककुम्भः । उदपात्रम्, उदकपात्रम् ।

भाषार्थः—[*पूरयितव्ये*] जिसको पूर्ण (भरा) किया जाना चाहिये, तद्वाची [*एकहलादौ*] एक = असहाय हल् है आदि में जिसके ऐसे शब्द के उत्तरपद रहते [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प करके उदक को उद आदेश होता है ॥ एक शब्द यहाँ सङ्ख्यावाची न होकर असहायवाची है, सो अर्थ होगा असहाय अर्थात् तुल्यजातीयक कोई और हल् आदि में न हो एक अकेला ही हल् आदि में हो । पूरयितव्य अर्थात् पूर्ण किये जाने योग्य, सो उदकुम्भः में कुम्भ शब्द पूरयितव्य एक हल् आदि वाला भी है, अतः विकल्प से उदक को उद आदेश हो गया ॥

यहाँ से '*अन्यतरस्याम्*' की अनुवृत्ति ६।३।६० तक जायेगी ॥

मन्थौदनसक्तुबिन्दुवज्रभारहारवीवधगाहेषु च ॥६।३।५९॥

मन्थौ······हेषु ७।३॥ च अ० ॥ *स०*—मन्थौ० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अन्यतरस्याम्, उदकस्योदः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—मन्थ, ओदन, सक्तु, बिन्दु, वज्र, भार, हार, वीवध, गाह इत्येतेषूत्तरपदेषूदकस्य उद इत्ययमादेशो विकल्पेन भवति ॥ *उदा०*—उदकेन मन्थः = उदमन्थः, उदकमन्थः । उदकेनौदनः = उदौदनः, उदकौदनः । उदकेन सक्तुः = उदसक्तुः, उदकसक्तुः । उदकस्य बिन्दुः = उदबिन्दुः, उदकबिन्दुः । उदकस्य वज्रः = उदवज्रः, उदकवज्रः । उदकं बिभर्ति = उदभारः, उदकभारः । उदकं

हरति = उदहारः, उदकहारः । उदकस्य वीवधः = उदवीवधः, उदकवीवधः । उदकं गाहते = उदगाहः, उदकगाहः ॥

भाषार्थः—[*मन्थौ*······*हेषु*] मन्थ, ओदन, सक्तु, बिन्दु, वज्र, भार, हार, वीवध, गाह इन शब्दों के उत्तरपद रहते [*च*] भी उदक को उद आदेश विकल्प करके होता है ॥

इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य ॥६।३।६०॥

इकः ६।१॥ ह्रस्वः १।१॥ अङ्यः ६।१॥ गालवस्य ६।१॥ *स०*— न ङी अङी, तस्य अङ्यः, नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अन्यतरस्याम्, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—अङ्यन्तस्येगन्तस्योत्तरपदे ह्रस्वो भवति विकल्पेन गालवस्याचार्यस्य मतेन ॥ *उदा०*—ग्रामणिपुत्रः, ग्रामणीपुत्रः । ब्रह्मबन्धुपुत्रः, ब्रह्मबन्धूपुत्रः ॥

भाषार्थः—[*अङ्यः*] ङी अन्त में नहीं है जिसके ऐसा जो [*इकः*] इक् अन्त वाला शब्द उसको [*गालवस्य*] गालव आचार्य के मत में विकल्प से [*ह्रस्वः*] ह्रस्व होता है, उत्तरपद परे रहते ॥ ग्रामणी तथा ब्रह्मबन्धू शब्द इगन्त एवं अङ्यन्त हैं, अतः ह्रस्व हो गया है ॥

यहाँ से 'ह्रस्वः' की अनुवृत्ति ६।३।६५ तक जायेगी ॥

एक तद्धिते च ॥६।३।६१॥

एक लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ तद्धिते ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—ह्रस्वः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*— एकशब्दस्य तद्धिते उत्तरपदे च परतः ह्रस्वो भवति ॥ *उदा०*—एकस्याः भावः एकत्वम्, एकता । उत्तरपदे—एकस्याः क्षीरम् एकक्षीरम्, एकदुग्धम् ॥

भाषार्थः—[*एक*] एक शब्द को [*तद्धिते*] तद्धित [*च*] तथा उत्तरपद परे रहते ह्रस्व होता है ॥ सामर्थ्य से यहाँ स्त्रीलिङ्ग विशिष्ट एक शब्द का ग्रहण है क्योंकि दीर्घ को ही ह्रस्व विधान सम्भव है ॥ एकत्वं, एकता में त्व तल् तद्धित परे हैं ॥

ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम् ॥६।३।६२॥

ङ्यापोः ६।२॥ संज्ञाछन्दसोः ७।२॥ बहुलम् १।१॥ *स०*—ङी च आप् च ङ्यापौ तयोः···इतरेतरद्वन्द्वः ॥ संज्ञा च छन्दश्च संज्ञाछन्दसी

तयोः''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—ह्रस्वः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—ङ्यन्तस्य आबन्तस्य च उत्तरपदे परतः संज्ञायां विषये छन्दसि विषये च बहुलं ह्रस्वो भवति ॥ *उदा०*—ङ्यन्तस्य संज्ञायाम्—रेवतिपुत्रः, रोहिणिपुत्रः, भरणिपुत्रः ॥ बहुलवचनान्न च भवति—नान्दीकरः, नान्दीघोषः, नान्दीविशालः। ङ्यन्तस्य छन्दसि—कुमारीं ददति = कुमारिदाः, उर्वीं ददति = उर्विदाः। न च भवति-फाल्गुनीपौर्णमासी, जगतीच्छन्दः। आबन्तस्य संज्ञायाम्—शलवहम्, शिलप्रस्थम्। न च भवति—लोमकागृहम्, लोमकाषण्डम्। आबन्तस्य छन्दसि-अजक्षीरेण जुहोति। ऊर्णम्रदा पृथिवी विश्वधायसम्। न च भवति—ऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति ॥

भाषार्थः—[*ङ्यापोः*] ङ्यन्त तथा आबन्त शब्दों को [*संज्ञाछन्दसोः*] संज्ञा तथा छन्द विषय में उत्तरपद परे रहते [*बहुलम्*] बहुल करके ह्रस्व होता है ॥ बहुल कहने से जहाँ नहीं होता वे उदाहरण ऊपर दर्शा दिये हैं ॥

यहाँ से '*ङ्यापोः बहुलम्*' की अनुवृत्ति ६।३।६३ तक जायेगी ॥

त्वे च ॥६।३।६३॥

त्वे ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—ङ्यापोः बहुलम्, ह्रस्वः ॥ *अर्थः*—त्वप्रत्यये परतो ङ्यापोर्बहुलं ह्रस्वो भवति ॥ *उदा०*—तदजाया भावः = अजत्वम्, तद्रोहिण्या भावो रोहिणित्वम्। बहुलवचनात्—अजात्वम्, रोहिणीत्वम् ॥

भाषार्थः—[*त्वे*] त्व प्रत्यय परे रहते [*च*] भी ङ्यन्त तथा आबन्त शब्द को बहुल करके ह्रस्व होता है ॥

इष्टकेषीकामालानां चिततूलभारिषु ॥६।३।६४॥

इष्टकेषीकामालानाम् ६।३॥ चिततूलभारिषु ७।३॥ *स०*—इष्टकेषी०, चिततूल० इत्युभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—ह्रस्वः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—इष्टका, इषीका, माला इत्येतेषां यथासङ्ख्यं चित, तूल, भारिन् इत्येतेषूत्तरपदेषु ह्रस्वो भवति ॥ *उदा०*—इष्टकचितम्। इषीकतूलम्। मालां भर्त्तुं शीलमस्याः = मालभारिणी कन्या ॥

भाषार्थः—[*इष्टकेषीकामालानाम्*] इष्टका, इषीका, माला इन तीन

शब्दों को [*चिततूलभारिषु*] चित, तूल तथा भारिन् शब्दों के उत्तरपद रहते यथासङ्ख्य करके ह्रस्व हो जाता है ॥

खित्यनव्ययस्य ॥६।३।६५॥

खिति ७।१॥ अनव्ययस्य ६।१॥ *स०*—ख् इत् यस्य स खित् तस्मिन्‌ ''बहुव्रीहिः। अनव्य० इत्यत्र नञ्‌तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—ह्रस्वः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—खिदन्त उत्तरपदेऽनव्ययस्य ह्रस्वो भवति ॥ *उदा०*—कालिंमन्या, हरिणिंमन्या ॥

भाषार्थः—[*खिति*] ख् इत् संज्ञक है जिसका ऐसे शब्द के उत्तरपद रहते [*अनव्ययस्य*] अव्यय भिन्न शब्द को ह्रस्व हो जाता है ॥ कालीमात्मानं मन्यते = कालिंमन्या, यहाँ *आत्ममाने खश्च* (३।२।८३) से मन धातु से खश् प्रत्यय हुआ है जो कि खित् है, अतः मन्या खिदन्त परे रहते काली को ह्रस्व हो गया है ॥ मुम् आगम भी *अरुर्द्विषद०* (६।३।६६) से हो जायेगा। मन्या में *दिवादिभ्यः श्यन्* (३।१।६९) से श्यन् विकरण हुआ है। इसी प्रकार हरिणिंमन्या में जानें ॥

यहाँ से '*खिति*' की अनुवृत्ति ६।३।६७ तक तथा '*अनव्ययस्य*' की ६।३।६६ तक जायेगी ॥

अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् ॥६।३।६६॥

अरुर्द्विषदजन्तस्य ६।१॥ मुम् १।१॥ *स०*—अच् अन्ते यस्य स अजन्तः, बहुव्रीहिः। अरुश्च द्विषत् च अजन्तश्च अरुर्द्विषदजन्तं तस्य'' समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—खित्यनव्ययस्य, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—अरुस् द्विषत् इत्येतयोरजन्तानामनव्ययानाञ्च खिदन्त उत्तरपदे मुमागमो भवति ॥ *उदा०*—अरुन्तुदः, द्विषन्तपः। अजन्तानाम्—कालिंमन्या, हरिणिंमन्या ॥

भाषार्थः—[*अरुर्द्विषदजन्तस्य*] अरुस् द्विषत् तथा अव्यय भिन्न अजन्त शब्दों को खिदन्त उत्तरपद रहते [*मुम्*] मुम् आगम होता है ॥ अरुन्तुदः यहाँ *विध्वरुषोस्तुदः* (३।२।३५) से खश् प्रत्यय हुआ है, एवं द्विषन्तपः में *द्विषत्परयोस्तापेः* (३।२।३९) से खच् प्रत्यय हुआ है, दोनों ही खित् प्रत्यय हैं। पूरी सिद्धि उपर्युक्त सूत्रों में ही देखें। अजन्त के उदाहरण की सिद्धि पूर्व सूत्र में दर्शा दी है ॥

यहाँ से 'मुम्' की अनुवृत्ति ६।३।७१ तक जायेगी ॥

इच एकाचोऽम्प्रत्ययवच्च ॥६।३।६७॥

इचः ६।१॥ एकाचः ६।१॥ अम् १।१॥ प्रत्ययवत् अ०॥ च अ०॥ स०—एकोऽच् यस्मिन् स एकाच्, तस्य''बहुव्रीहिः ॥ अनु०—खिति, उत्तरपदे ॥ अर्थः—खिदन्त उत्तरपदे इजन्तस्य एकाचोऽमागमो भवति, स च 'अम्' प्रत्ययवच्च = द्वितीयैकवचनवच्च भवति ॥ उदा०—गांमन्यः, स्त्रींमन्यः, स्त्रियंमन्यः, नरंमन्यः, श्रियंमन्यः, भ्रुवंमन्यः ॥

भाषार्थः—खिदन्त उत्तरपद रहते [*इचः*] इजन्त [*एकाचः*] एकाच् को [*अम्*] अम् आगम हो जाता है और वह अम् [*प्रत्ययवत्*] प्रत्यय के समान [च] *भी* माना जाता है अर्थात् द्वितीया के एकवचन में जो 'अम्' प्रत्यय है तद्वत् ही इस 'अम्' में कार्य होंगे। प्रत्ययवत् माने जाने से गांमन्यः यहाँ *औतोम्शसोः* (६।१।९०) से पूर्व पर के स्थान में आकार एकादेश हो जाता है, तथा स्त्रियंमन्यः यहाँ *वाम्शसोः* (६।४।८०) से इयङादेश विकल्प करके होता है। जिस पक्ष में इयङ् नहीं हुआ तब *अमि पूर्वः* (६।१।१०३) से पूर्वसवर्ण एकादेश होकर स्त्रींमन्यः बन गया। इसी प्रकार प्रत्ययवत् अम् को मानने से नरंमन्यः यहाँ नृ को *ऋतोङि-सर्व०* (७।३।११०) से गुण एवं श्रियंमन्यः भ्रुवंमन्यः में *अचि श्नुधातु०* (६।४।७७) से (अम् को अजादि प्रत्ययवत् मानकर) क्रमशः इयङ् उवङ् आदेश होता है ॥ पूर्ववत् सर्वत्र खिदन्त उत्तरपद है ही ॥

वाचंयमपुरन्दरौ च ॥६।३।६८॥

वाचंयमपुरन्दरौ १।२॥ च अ०॥ स०—वाचंयम० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—मुम् ॥ अर्थः—वाचंयम पुरन्दर इत्यत्र मुमागमो निपात्यते ॥ उदा०—वाचंयम आस्ते। पुरं दारयतीति पुरंदरः ॥

भाषार्थः—[*वाचंयमपुरन्दरौ*] वाचंयम पुरन्दर इन शब्दों में [च] भी मुम् आगम निपातन किया जाता है। वाचंयमः में *वाचि यमो व्रते* (३।२।४०) से खच् तथा पुरन्दरः में *पूःसर्वयोर्दारिसहोः* (३।२।४१) से खच् प्रत्यय होता है ॥

कारे सत्यागदस्य ॥६।३।६९॥

कारे ७।१॥ सत्यागदस्य ६।१॥ स०—सत्यश्च अगदश्च सत्यागदम्,

तस्य'' 'समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—मुम्, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—कारशब्द उत्तरपदे सत्य, अगद इत्येतयोर्मुमागमो भवति ॥ *उदा०*—सत्यं करोतीति सत्यङ्कारः, अगदङ्कारः ॥

भाषार्थः—[*कारे*] कार शब्द उत्तरपद रहते [*सत्यागदस्य*] सत्य तथा अगद शब्द को मुम् आगम हो जाता है ॥ मुम् के 'म्' को अनुस्वार (८।३।२४) तथा परसवर्ण (८।४।५७) होकर 'ङ्' हो जायेगा ॥

श्येनतिलस्य पाते ञे ॥६।३।७०॥

श्येनतिलस्य ६।१॥ पाते ७।१॥ ञे ७।१॥ *स०*—श्येनश्च तिलश्च श्येनतिलम्, तस्य'' 'समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—मुम्, उत्तरपदे ॥*अर्थः*—श्येन तिल इत्येतयोः ञे प्रत्यये पातशब्द उत्तरपदे मुमागमो भवति ॥ *उदा०*—श्येनपातोऽस्यां क्रीडायां श्यैनम्पाता मृगया, तैलम्पाता ॥

भाषार्थः—[*श्येनतिलस्य*] श्येन तथा तिल शब्द को [*पाते*] पात शब्द के उत्तरपद रहते तथा [*ञे*] ञ प्रत्यय के परे रहते मुम् आगम होता है ॥ *घञः सास्यां क्रियेति ञः* (४।२।५७) से घञन्त तिलपात एवं श्येनपात शब्दों से ञ प्रत्यय हुआ है, अतः ञ प्रत्यय परे है ही, एवं पात शब्द भी उत्तरपद है। ञ के ञित् होने से आदि को (७।२।११७) वृद्धि हो ही जायेगी ॥

रात्रेः कृति विभाषा ॥६।३।७१॥

रात्रेः ६।१॥ कृति ७।१॥ विभाषा १।१॥ *अनु०*—मुम्, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—कृदन्त उत्तरपदे रात्रिशब्दस्य विभाषा मुमागमो भवति ॥ *उदा०*—रात्रिञ्चरः । रात्रिचरः, रात्रिमटः, रात्र्यटः ॥

भाषार्थः—[*कृति*] कृदन्त उत्तरपद रहते [*रात्रेः*] रात्रि शब्द को [*विभाषा*] विकल्प करके मुम् आगम होता है ॥ चर धातु से रात्रि उपपद रहते *चरेष्टः* (३।२।१६) से कृत्संज्ञक ट प्रत्यय हुआ है, एवं अट धातु से पचाद्यच् हुआ है, इस प्रकार कृदन्त उत्तरपद उदाहरणों में है ही। रात्र्यटः में यणादेश हो गया है ॥

नलोपो नञः ॥६।३।७२॥

नलोपः १।१॥ नञः ६।१॥ *स०*—नकारस्य लोपः नलोपः षष्ठी-

तत्पुरुषः ॥ अनु०—उत्तरपदे ॥ अर्थः—नञो नकारस्य लोपो भवत्युत्तर-पदे परतः ॥ उदा०—अब्राह्मणः, अवृषलः, असुरापः, असोमपः ॥

भाषार्थः—[*नञः*] नञ् के [*नलोपः*] नकार का लोप हो जाता है, उत्तरपद परे रहते ॥ न् हल् का लोप करने पर 'अ' शेष रहेगा ॥

यहाँ से '*नञः*' की अनुवृत्ति ६।३।७६ तक जायेगी ॥

तस्मान्नुडचि ॥६।३।७३॥

तस्मात् ५।१॥ नुट् १।१॥ अचि ७।१॥ अनु०—नञः, उत्तरपदे ॥ अर्थः—तस्मात् लुप्तनकारात् नञः नुट् आगमो भवति अजादावुत्तरपदे ॥ उदा०—अनजः, अनश्वः ॥

भाषार्थः—[*तस्मात्*] उस लुप्त हुए नकार वाले नञ् से उत्तर [*नुट्*] नुट् का आगम [*अचि*] अजादि शब्द के उत्तरपद रहते होता है ॥ 'तस्मात्' से यहाँ प्रकृत *नलोपो नञः* से कहा हुआ लुप्त नकार वाला नञ् ही निर्दिष्ट है ॥ न+अजः = अ+अजः यहाँ नुट् आगम होकर अनजः अनश्वः बन गया ॥

नभ्राण्नपान्नवेदानासत्यानमुचिनकुलनखनपुंसकनक्षत्रनक्र-नाकेषु प्रकृत्या ॥६।३।७४॥

नभ्राण्न···केषु ७।३॥ प्रकृत्या ३।१॥ स०—नभ्राण्न० इत्यत्रेतरेतर-द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—नञः ॥ अर्थः—नभ्राट्, नपात्, नवेदा, नासत्या, नमुचि, नकुल, नख, नपुंसक, नक्षत्र, नक्र, नाक इत्येतेषु नञ् प्रकृत्या भवति ॥ *उदा०*—न भ्राजते = नभ्राट् । न पातीति नपात् । न वेत्तीति नवेदाः । सत्सु साधवः सत्याः, न सत्या असत्याः, न असत्याः नासत्याः । न मुञ्चतीति नमुचिः । नास्य कुलमस्तीति नकुलः । नास्य खमस्तीति नखम् । न स्त्री न पुमान् = नपुंसकम् । न क्षरति क्षीयते इति वा नक्षत्रम् । न क्रामतीति नक्रः । नास्मिन् अकमिति नाकम् ॥

भाषार्थः—[*नभ्राण्न···नाकेषु*] नभ्राट्, नपात्, नवेदा, नासत्या, नमुचि, नकुल, नख, नपुंसक, नक्षत्र, नक्र, नाक इन शब्दों में जो नञ् उसे [*प्रकृत्या*] प्रकृतिभाव हो जाता है, अर्थात् *नलोपो नञः*, *तस्मान्नुडचि* सूत्रों की प्रवृत्ति नहीं होती ॥ नभ्राट् में भ्राजृ धातु से *भ्राजभास०* (३।२।१७७) से क्विप् एवं *व्रश्चभ्रस्ज०* (८।२।३६) से षत्व जश्त्व चर्त्व

होकर टकार हुआ। नपात् में पात् शत्रन्त है। नवेदाः में विद् धातु औणादिक असुन् प्रत्ययान्त है। जो सज्जनों में असाधु नहीं हैं वे नासत्याः कहे जायेंगे। नमुचिः यहाँ औणादिक (उणा० ४।१२०) 'कि' प्रत्यय हुआ है। नपुंसकम् यहाँ स्त्रीपुंस को पुंसक भाव निपातन से होता है। नक्रः यहाँ क्रम धातु से ड प्रत्यय निपातन से होता है। टि भाग का लोप होकर 'न क्र् अ = नक्र' बन गया। कम् सुख को कहते हैं, अतः अकम् दुःख होगा, पुनः नञ् समास करने पर अकम् का विपरीत नाकम् स्वर्ग कहा जायेगा॥

यहाँ से '*प्रकृत्या*' की अनुवृत्ति ६।३।७६ तक जायेगी॥

एकादिश्चैकस्य चादुक् ॥६।३।७५॥

एकादिः १।१॥ च अ०॥ एकस्य ६।१॥ च अ०॥ आदुक् १।१॥ *स०*—एक आदिर्यस्य स एकादिः, बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—प्रकृत्या, नञः॥ *अर्थः*—एकादिर्नञ् प्रकृत्या भवति, एकशब्दस्य च आदुक् आगमो भवति॥ *उदा०*—एकेन न विंशतिः एकान्नविंशतिः, एकादूनविंशतिः। एकान्नत्रिंशत्, एकादूनत्रिंशत्॥

भाषार्थः—[*एकादिः*] एक है आदि में जिसके ऐसे नञ् को [*च*] भी प्रकृतिभाव होता है [*च*] तथा [*एकस्य*] एक शब्द को [*आदुक्*] आदुक् का आगम होता है॥ विंशति शब्द से पहले नञ् समास होता है, पश्चात् एक शब्द के साथ तृतीया तत्पुरुष समास होता है। 'एक आदुक् न विंशति' यहाँ प्रकृतिभाव होकर तथा द् को *यरोऽनुनासिके०* (८।४।४४) से अनुनासिक आदेश होकर एकान्नविंशतिः बन गया। पक्ष में जब अनुनासिक नहीं हुआ तो एकादूनविंशतिः ही रहा॥

नगोऽप्राणिष्वन्यतरस्याम् ॥६।३।७६॥

नगः १।१॥ अप्राणिषु ७।३॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *स०*—न प्राणिनो ऽप्राणिनस्तेषु ······ नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—प्रकृत्या, नञः, उत्तरपदे॥ *अर्थः*—अप्राणिषु वर्त्तमानो यो नगशब्दस्तत्र नञ् प्रकृत्या विकल्पेन भवति॥ *उदा०*—न गच्छन्तीति = नगाः वृक्षाः, अगाः वृक्षाः, नगाः पर्वताः अगाः पर्वताः॥

भाषार्थः—[*अप्राणिषु*] प्राणि भिन्न अर्थ में वर्त्तमान जो [*नगः*]

नग शब्द उसके नञ् को प्रकृतिभाव [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प करके होता है ॥ *डप्रकरणे अन्येष्वपि०* (*वा०* ३।२।४८) इस वार्त्तिक से गम धातु से ड प्रत्यय होकर नगः बना है ॥

सहस्य सः संज्ञायाम् ॥६।३।७७॥

सहस्य ६।१॥ सः १।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ *अनु०*—उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—सहशब्दस्य स इत्ययमादेशो भवति संज्ञायां विषये ॥ *उदा०*—सह अश्वत्थेन = साश्वत्थम्, सपलाशम्, सशिंशपम् ॥

भाषार्थः—[*सहस्य*] सह शब्द को [*सः*] स आदेश [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में होता है ॥ *तेन सहेति तुल्ययोगे* (२।२।२८) से उदाहरणों में बहुव्रीहि समास हुआ है ॥

यहाँ से '*सहस्य*' की अनुवृत्ति ६।३।८२ तक तथा '*सः*' की अनुवृत्ति ६।३।८८ तक जायेगी ॥

ग्रन्थान्ताधिके च ॥६।३।७८॥

ग्रन्थान्ताधिके ७।१॥ च अ० ॥ *स०*--ग्रन्थस्यान्तः ग्रन्थान्तः, षष्ठीतत्पुरुषः । ग्रन्थान्तश्च अधिकञ्च ग्रन्थान्ताधिकं, तस्मिन्……समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सहस्य, सः उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—ग्रन्थान्तेऽधिके च वर्त्तमानस्य सहशब्दस्य स इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—सकलं ज्योतिषमधीते, समुहूर्त्तम् । अधिके—सद्रोणा खारी, समाषः कार्षापणः, सकाकिणीको माषः ॥

भाषार्थः—[*ग्रन्थान्ताधिके*] ग्रन्थ के अन्त एवं अधिक अर्थ में वर्त्तमान सह शब्द को [*च*] भी स आदेश होता है ॥ कला काल विशेष का नाम है । तत्सहचरित जो ग्रन्थ वह कलया सह वर्त्तते सकलम् (कला पर्यन्त) कहा जायेगा । इसी प्रकार समुहूर्त्तम् में जानें । अर्थात् ग्रन्थ में जहां कला वा मुहूर्त्त का वर्णन है वहां तक ग्रन्थ पढ़ा । सद्रोणा खारी का अर्थ है, द्रोण से अधिक खारी । सर्वत्र पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है ॥

द्वितीये चानुपाख्ये ॥६।३।७९॥

द्वितीये ७।१॥ च अ० ॥ अनुपाख्ये ७।१॥ *अनु०*—सहस्य सः, उत्तरपदे ॥ द्वयोः सहयुक्तयोरप्रधानो यः स द्वितीयः । उपाख्यायते

प्रत्यक्षत उपलभ्यते यः स उपाख्यः । उपाख्यादन्योऽनुपाख्यः, अनुमेय इत्यर्थः ॥ *अर्थः*—अनुमेये द्वितीये च सहस्य स इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—साग्निः कपोतः, सपिशाचा वात्या, सराक्षसीका शाला ॥

भाषार्थः—दो में जो अप्रधान हो वह यहाँ द्वितीय शब्द से कहा गया है क्योंकि प्रधान तथा अप्रधान दोनों के होने पर अप्रधान को ही 'द्वितीय' कहा जाता है। प्रत्यक्ष उपलभ्यमान को उपाख्य तथा उससे अन्य अर्थात् अनुमेय (अनुमान किया जाने योग्य) को अनुपाख्य कहेंगे ॥ [*द्वितीये*] अप्रधान [*अनुपाख्ये*] अनुमेय को कहने में [च] भी सह को स आदेश हो जाता है ॥ साग्निः आदि में पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है। कपोत आग खाता है, ऐसी लौकिक प्रसिद्धि है, अतः जहाँ २ कपोत है, वहाँ २ आग भी होगी ऐसा अनुपाख्य अनुमेय हुआ। जहाँ २ आग है वहाँ २ कपोत अवश्य होगा, ऐसा अनुमान नहीं हो सकता, किन्तु जहाँ २ कपोत है वहाँ २ आग होगी ऐसा अनुमान होता है, इससे कपोत की प्रधानता सिद्ध होती है, तथा अग्नि की अप्रधानता। इस प्रकार अग्नि अनुपाख्य एवं द्वितीय = अप्रधान दोनों ही है, सो सह को स भाव हो गया। इसी प्रकार वात्या[1] (आँधी) से पिशाच अनुमेय एवं द्वितीय = अप्रधान भी है अतः सपिशाचा, सराक्षसीका बन गया ॥

अव्ययीभावे चाकाले ॥६।३।८०॥

अव्ययीभावे ७।१॥ च अ० ॥ अकाले ७।१॥ *स०*—न कालोऽकालस्तस्मिन् ...... नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—सहस्य सः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—अव्ययीभावे च समासेऽकालवाचिन्युत्तरपदे सहस्य स इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—सचक्रं धेहि, सधुरं प्राज ॥

---

१. कपोत का मांस अत्युष्ण होता है। पक्षाघात (लकवा मारना) सदृश वात प्रधान रोगों में मांसाशियों को कपोतमांस पथ्यरूप में दिया जाता है। उससे पक्षाघात रोग में सद्यः लाभ होता है। अत एव लोक में प्रसिद्धि है कि कपोत अग्नि खाता है। इसी प्रकार वात्या (= बबूला) आदि में फँस जाने के कारण निर्बल प्रकृति के पुरुष को कभी कभी उन्माद रोग हो जाता है इसी से लोक में प्रसिद्धि है वात्या (बबूला) में पिशाच का वास होता है। तद्वत् सराक्षसीका शाला भी मलिन शाला को कहेंगे ॥

भाषार्थः—[*अव्ययीभावे*] अव्ययीभाव समास में [च] भी [*अकाले*] अकालवाची शब्दों के उत्तरपद रहते सह को स आदेश होता है। सचक्रं सधुरं में *अव्ययं विभक्तिसमीप०* (२।१।६) से अव्ययीभाव समास हुआ है। सधुरं में *ऋक्पूरब्धूः०* (५।४।७४) से समासान्त अकार प्रत्यय हुआ है॥

वोपसर्जनस्य ॥६।३।८१॥

वा अ० ॥ उपसर्जनस्य ६।१॥ *अनु०*—सहस्य, सः ॥ *अर्थः*—यस्य समासस्य सर्वेऽवयवाः उपसर्जनीभूतास्तदवयवस्य सहशब्दस्य वा स इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—सपुत्रः, सहपुत्रः, सच्छात्रः, सहच्छात्रः ॥

भाषार्थः—जिस समास के सारे अवयव [*उपसर्जनस्य*] उपसर्जन हैं, तदवयव = उसके अवयव सह शब्द को [*वा*] विकल्प से 'स' आदेश होता है॥ यहाँ 'उपसर्जनस्य' पद सह शब्द का विशेषण न होकर पूरे समास के पदों का विशेषण है, अतः 'जिसके सारे अवयव उपसर्जन हैं' ऐसा अर्थ होगा। इस प्रकार बहुव्रीहि समास में ही समास के सारे पद उपसर्जन होते हैं, अतः यह विधि बहुव्रीहि समास में ही होगी॥

प्रकृत्याऽऽशिषि ॥६।३।८२॥

प्रकृत्या ३।१॥ आशिषि ७।१॥ *अनु०*—सहस्य ॥ *अर्थः*—आशिषि विषये सहशब्दः प्रकृत्या भवति ॥ *उदा०*—स्वस्ति देवदत्ताय सहपुत्राय सहच्छात्राय सहामात्याय ॥

भाषार्थः—[*आशिषि*] आशीर्वाद विषय में सह शब्द को [*प्रकृत्या*] प्रकृतिभाव हो जाता है॥ पूर्व सूत्र से प्राप्ति थी यहाँ प्रकृतिभाव कहने से आशीर्वाद विषय में स आदेश नहीं हुआ॥

समानस्य छन्दस्यमूर्द्धप्रभृत्युदर्केषु ॥६।३।८३॥

समानस्य ६।१॥ छन्दसि ७।१॥ अमूर्द्धप्रभृत्युदर्केषु ७।३॥ *स०*—मूर्द्धा च प्रभृतिश्च उदर्कश्च मूर्धप्रभृत्युदर्काः, इतरेतरद्वन्द्वः। न मूर्धप्रभृत्युदर्काः अमूर्द्धप्रभृत्युदर्कास्तेषु ...... नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—सः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये समानशब्दस्य 'स' इत्ययमादेशो भवति

मूर्धन्, प्रभृति, उदर्क इत्येतान्युत्तरपदानि वर्जयित्वा ॥ *उदा०*—अनुभ्राता सगर्भ्यः । अनुसखा सयूथ्यः । यो नः सनुत्यः ॥

भाषार्थः—[*छन्दसि*] वेद विषय में [*समानस्य*] समान शब्द को 'स' आदेश हो जाता है [*अमूर्धप्रभृत्युदर्केषु*] मूर्धन्, प्रभृति, उदर्क उत्तरपद में न हों तो ॥ समानो गर्भः = सगर्भः, तत्र भवः सगर्भ्यः, सयूथ्यः, सनुत्यः । यहाँ *सगर्भसयूथ०* (४।४।११४) से यत् प्रत्यय हुआ है, एवं सर्वत्र *पूर्वापरप्रथम०* (२।१।५०) से समास भी जानें ॥

यहाँ से '*समानस्य*' की अनुवृत्ति ६।३।८८ तक जायेगी ॥

ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचन-बन्धुषु ॥६।३।८४॥

ज्योतिर्ज·····बन्धुषु ७।३॥ *स०*—ज्योतिश्च, जनपदश्च रात्रिश्च नाभिश्च नाम च गोत्रञ्च रूपञ्च स्थानञ्च वर्णश्च वयश्च वचनञ्च बन्धुश्च ज्योतिर्ज·····बन्धवस्तेषु·····इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—समानस्य, सः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—ज्योतिस्, जनपद, रात्रि, नाभि, नाम, गोत्र, रूप, स्थान, वर्ण, वयस्, वचन, बन्धु इत्येतेषूत्तरपदेषु समानस्य स इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—समानं ज्योतिरस्य = सज्योतिः, सजनपदः, सरात्रिः, सनाभिः, सनामा, सगोत्रः, सरूपः, सस्थानः, सवर्णः, सवयाः, सवचनः, सबन्धुः ॥

भाषार्थः—[*ज्योतिर्ज·····बन्धुषु*] ज्योतिस्, जनपद, रात्रि, नाभि, नाम, गोत्र, रूप, स्थान, वर्ण, वयस्, वचन, बन्धु इन शब्दों के उत्तरपद रहते समान को स आदेश हो जाता है ॥ सनामा यहाँ *सर्वनामस्थाने०* (६।४।८) से तथा सवयाः यहाँ *अत्वसन्तस्य०* (६।४।१४) से दीर्घ हुआ है ॥

चरणे ब्रह्मचारिणि ॥६।३।८५॥

चरणे ७।१॥ ब्रह्मचारिणि ७।१॥ *अनु०*—समानस्य, सः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—ब्रह्मचारिण्युत्तरपदे चरणे गम्यमाने समानस्य स इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—समानो ब्रह्मचारी सब्रह्मचारी । समाने ब्रह्मणि व्रतचारी = सब्रह्मचारी ॥

भाषार्थः—[*चरणे*] चरण गम्यमान[1] हो तो [*ब्रह्मचारिणि*] ब्रह्मचा उत्तरपद रहते समान शब्द को स आदेश हो जाता है ॥ ब्रह्म वेद कहते हैं, उसके अध्ययन के लिये जो व्रत वह भी ब्रह्म कहाता है, उ व्रत में जो चले वह ब्रह्मचारी होगा। *व्रते* (३।२।८०) से णिनि प्रत्य हुआ है। इस प्रकार समान ब्रह्म (वेद) में जो व्रत करे वह सब्रह्मचा होगा ॥

तीर्थे ये ॥६।३।८६॥

तीर्थे ७।१॥ ये ७।१॥ अनु०—समानस्य, सः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—यप्रत्यये परतस्तीर्थशब्द उत्तरपदे समानस्य स इत्ययमादेशो भवति। उदा०—सतीर्थ्यः ॥

भाषार्थः—[*तीर्थे*] तीर्थ शब्द उत्तरपद में हो तो [*ये*] य प्रत्यय परे रहते समान शब्द को स आदेश होता है ॥ समान का तीर्थ शब्द के साथ कर्मधारय समास होकर *समानतीर्थे वासी* (४।४।१०७) से यत् प्रत्यय होता है, पश्चात् समान को स आदेश हो ही जायेगा ॥

यहाँ से 'ये' की अनुवृत्ति ६।३।८७ तक जायेगी ॥

---

१. ब्रह्म नाम वेद का है। यदि यहाँ ब्रह्म शब्द से प्रधान ऋग्वेदादि चार वेदों का ही ग्रहण माना जाए तो ऋग्वेद की समस्त शाखाओं के अध्येता परस्पर सब्रह्मचारी होंगे, पर यह इष्ट नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म से वेद की तत् तत् शाखा का ही ग्रहण किया जाए तो केवल उस उस शाखा के अध्येता ही परस्पर सब्रह्मचारी होंगे, परन्तु इतने ही अर्थ में सब्रह्मचारी पद प्रयुक्त नहीं होता। अतः सूत्रकार ने "चरणे" विशेष पद पढ़ा है। एक मूल शाखा की अवान्तर शाखाओं का समूह चरण कहाता है। जैसे ऋग्वेद की शाकल आदि मुख्य पाँच शाखाएँ हुईं। उनकी फिर अवान्तर शाखाएँ हुईं, वे सब अवान्तर शाखाएँ शाकल आदि मुख्य चरण शब्द से व्यवहृत होती हैं। इसी प्रकार वाजसनेय मुख्य विभाग की १५ माध्यन्दिन काण्व आदि अवान्तर शाखाएँ हुईं, ये सभी वाजसनेय चरण नाम से व्यवहृत होती हैं। इसी प्रकार तैत्तिरीय मैत्रायणी काठक आदि भी चरण शब्द हैं न कि शाखामात्र। इस प्रकार वाजसनेय चरण अन्तर्गत किन्हीं भी भिन्न भिन्न शाखाओं के अध्येता भी एक चरणान्तर्गत होने से परस्पर सब्रह्मचारी कहाते हैं ॥

विभाषोदरे ॥६।३।८७॥

विभाषा १।१॥ उदरे ७।१॥ *अनु०*—ये, समानस्य, सः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—उदरशब्द उत्तरपदे यप्रत्यये परतः समानशब्दस्य विभाषा स इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—सोदर्यः, समानोदर्यः ॥

भाषार्थः—[*उदरे*] उदर शब्द उत्तरपद रहते य प्रत्यय परे हो तो समान शब्द को स आदेश [*विभाषा*] विकल्प करके होता है ॥ समानोदर्यः में *समानोदरे शयित ओ चोदात्तः* (४।४।१०८) से यत् प्रत्यय तथा सोदर्यः में *सोदराद्यः* (४।४।१०९) से य प्रत्यय हुआ है ॥

दृग्दृशवतुषु ॥६।३।८८॥

दृग्दृशवतुषु ७।३॥ *स०*—दृक्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—समानस्य, सः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—दृक्, दृश, वतु इत्येतेषूत्तरपदेषु समानस्य स इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—सदृक्, सदृशः ॥

भाषार्थः—[*दृग्दृशवतुषु*] दृक्, दृश, वतु इनके उत्तरपद रहते समान शब्द को स आदेश हो जाता है ॥ *समानान्ययोश्चेति वक्तव्यम्* (वा० ३।२।६०) इस वार्त्तिक से समान उपपद रहते भी किन् तथा कञ् प्रत्यय होता है, अतः सदृक्, सदृशः बन गया। वतुप् प्रत्यय *यत्तदेतेभ्यः परिमाणे०* (५।२।३९) से यत् तद् एवं एतद् से ही होता है, अतः समान शब्द से उत्तर वतुप् सम्भव न होने से यहाँ वतुप् परे का उदाहरण नहीं दिया है। इस प्रकार वतुप् ग्रहण उत्तरार्थ है ॥

यहाँ से '*दृग्दृशवतुषु*' की अनुवृत्ति ६।३।९० तक जायेगी ॥

इदङ्किमोरीश्की ॥६।३।८९॥

इदङ्किमोः ६।२॥ ईश्की लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ *स०*— इदम् च किम् च इदम्किमौ, तयोः ''इतरेतरद्वन्द्वः। ईश्० इत्यत्रापि इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—दृग्दृशवतुषु, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—इदम्, किम् इत्येतयोः ईश्, की इत्येतौ यथासंख्यमादेशौ भवतः दृग्दृशवतुषु परतः ॥ *उदा०*—ईदृक्, ईदृशः, इयान्। कीदृक्, कीदृशः, कियान् ॥

भाषार्थः—[*इदंकिमोः*] इदम् तथा किम् को यथासंख्य करके [*ईश्की*] ईश् तथा की आदेश हो जाते हैं, दृग् दृश तथा वतुप् परे

रहते ॥ ईदृक् ईदृशः कीदृक् कीदृशः में कञ् तथा क्विन् प्रत्यय पूर्व सूत्रानुसार जानें । इयान् कियान् की सिद्धि भाग २ परि० ५।२।४० पृ० ५४८ में देखें ॥

आ सर्वनाम्नः ॥६।३।९०॥

आ १।१॥ सर्वनाम्नः ६।१॥ *अनु०*—दृग्दृशवतुषु, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—सर्वनाम्नः आकारादेशो भवति दृग्दृशवतुषु परतः ॥ *उदा०*—तादृक्, तादृशः, तावान् । यादृक्, यादृशः, यावान् ॥

भाषार्थः-[*सर्वनाम्नः*] सर्वनाम संज्ञक शब्दों को [*आ*] आकारादेश होता है, दृग् दृश तथा वतुप् परे रहते ॥ *अलोऽन्त्यस्य* (१।१।५१) से तद् यद् के अन्तिम अल् को आकारादेश होता है । पूर्ववत् कञ्, क्विन् प्रत्यय होंगे ॥

यहाँ से '*सर्वनाम्नः*' की अनुवृत्ति ६।३।९१ तक जायेगी ॥

विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतौ वप्रत्यये ॥६।३।९१॥

विष्वग्देवयोः ६।२॥ च अ०॥ टेः ६।१॥ अद्रि लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ अञ्चतौ ७।१॥ वप्रत्यये ७।१॥ *स०*—विष्वक्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । वः प्रत्ययो यस्मात् स वप्रत्ययस्तस्मिन्...बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—सर्वनाम्नः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—विष्वक् देव इत्येतयोः सर्वनाम्नश्च टेः अद्रीत्ययमादेशो भवति, अञ्चतौ वप्रत्ययान्त उत्तरपदे ॥ *उदा०*—विष्वगञ्चतीति विष्वद्र्यङ्, देवद्र्यङ् । सर्वनाम्नः—तद्र्यङ्, यद्र्यङ् ॥

भाषार्थः—[*विष्वग्देवयोः*] विष्वग् एवं देव शब्दों के [*च*] तथा सर्वनाम शब्दों के [*टेः*] टि को [*अद्रि*] अद्रि आदेश होता है, [*वप्रत्यये*] वप्रत्ययान्त [*अञ्चतौ*] अञ्चु धातु के परे रहते ॥ क्विप्, क्विन् का जो 'व' उसी का यहाँ वप्रत्यय से अभिप्राय है ॥ अञ्चु धातु से *ऋत्विग्दधृक्०* (३।२।५९) से क्विन् प्रत्यय होकर 'अङ्' बना है, इसकी सिद्धि भाग १ परि० ३।२।५९ में देखें । अब इस वप्रत्ययान्त अञ्चु के परे रहते विष्वक् के टि भाग 'अक्' को तथा देव के टि भाग 'अ' को 'अद्रि' आदेश होकर 'विष्व् अद्रि अङ् तथा देव् अद्रि अङ्' रहा । यणादेश होकर विष्वद्र्यङ् देवद्र्यङ् बन गया । तद् यद् से भी इसी प्रकार तद्र्यङ्, यद्र्यङ् की सिद्धि जानें ॥

यहाँ से '*अञ्चतौ वप्रत्यये*' की अनुवृत्ति ६।३।९४ तक जायेगी ॥

समः समि ॥६।३।९२॥

समः ६।१॥ समि लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ *अनु०*—अञ्चतौ वप्रत्यये, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—सम् इत्येतस्य समि इत्ययमादेशो भवति वप्रत्ययान्तेऽञ्चता वुत्तरपदे ॥ *उदा०*—सम्यङ्, सम्यञ्चौ, सम्यञ्चः ॥

भाषार्थः—[*समः*] सम् को [*समि*] समि आदेश होता है, वप्रत्ययान्त अञ्चु धातु के उत्तरपद रहते ॥ पूर्ववत् सिद्धि जानें ॥

तिरसस्तिर्यलोपे ॥६।३।९३॥

तिरसः ६।१॥ तिरि लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ अलोपे ७।१॥ *स०*—अलोप इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अञ्चतौ वप्रत्यये, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—तिरस् इत्येतस्य तिरि इत्ययमादेशो भवति वप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परतोऽलोपे सति ॥ *उदा०*—तिर्यङ्, तिर्यञ्चौ, तिर्यञ्चः ॥

भाषार्थः—[*तिरसः*] तिरस् को [*तिरि*] तिरि आदेश वप्रत्ययान्त अञ्चु के उत्तरपद रहते होता है, यदि इसका = अञ्चु का [*अलोपे*] लोप न हुआ हो तो ॥ तिरश्चा इत्यादि में अञ्चु के 'अ' का लोप *अचः* (६।४।१३८) से होता है, अतः 'अलोपे' कहकर इसी विषय का प्रतिषेध किया है ॥

सहस्य सध्रिः ॥६।३।९४॥

सहस्य ६।१॥ सध्रिः १।१॥ *अनु०*—अञ्चतौ वप्रत्यये, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—सहस्य सध्रिरित्ययमादेशो भवति वप्रत्ययान्तेऽञ्चतावुत्तरपदे ॥ *उदा०*—सध्र्यङ्, सध्र्यञ्चौ, सध्र्यञ्चः, सध्रीचः ॥

भाषार्थः—[*सहस्य*] सह शब्द को [*सध्रिः*] सध्रि आदेश वप्रत्ययान्त अञ्चु के उत्तरपद रहते होता है ॥ सध्रीचः में *अचः* (६।४।१३८) से अञ्चु के अ का लोप तथा चौ (६।३।१३६) से पूर्वपद को दीर्घ हुआ है ॥

यहाँ से '*सहस्य*' की अनुवृत्ति ६।३।९५ तक जायेगी ॥

सध मादस्थयोश्छन्दसि ॥६।३।९५॥

सध लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ मादस्थयोः ७।२॥ छन्दसि ७।१॥ *स०*—मादः इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सहस्य, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—माद स्थ इत्येतयोरुत्तरपदयोश्छन्दसि विषये सहस्य सध इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—सधमादो द्युम्न्य एकास्ताः । सधस्थाः ॥

भाषार्थः—[*मादस्थयोः*] माद तथा स्थ उत्तरपद रहते [*छन्दसि*] वेद विषय में सह शब्द को [*सध*] सध आदेश होता है ॥

द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् ॥६।३।९६॥

द्व्यन्तरुपसर्गेभ्यः ५।३॥ अपः ६।१॥ ईत् १।१॥ *स०*—द्विश्च[1] अन्तश्च उपसर्गश्च द्व्यन्तरुपसर्गास्तेभ्यः''' इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—द्वि अन्तर् इत्येताभ्यामुपसर्गाच्चोत्तरस्य 'अप्' इत्येतस्य ईकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—द्वीपम्, अन्तरीपम् । उपसर्गात्—नीपम्, वीपम्, समीपम् ॥

भाषार्थः—[*द्व्यन्तरुपसर्गेभ्यः*] द्वि अन्तर् तथा उपसर्ग से उत्तर [*अपः*] अप् शब्द को [*ईत्*] ईकारादेश हो जाता है ॥ *आदेः परस्य* (१।१।५३) से अप् के अकार को ई होता है। सिद्धियाँ भाग १ परि० १।१।५३ पृ० ७२७ में देखें ॥

यहाँ से '*अपः*' की अनुवृत्ति ६।३।९७ तक जायेगी ॥

ऊदनोर्देशे ॥६।३।९७॥

ऊत् १।१॥ अनोः ५।१॥ देशे ७।१॥ *अनु०*—अपः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—अनोः उत्तरस्य अप् इत्येतस्य ऊकारादेशो भवति देशे वाच्ये ॥ *उदा०*—अनुगता आपोऽस्मिन् = अनूपो देशः ॥

भाषार्थः—[*अनोः*] अनु से उत्तर अप् शब्द को [*ऊत्*] ऊकारादेश होता है [*देशे*] देश को कहने में ॥ पूर्ववत् अप् के अ को ऊकार होता है ॥

---

१. शब्दस्वरूपापेक्षोऽयं प्रयोगः ।

अषष्ठ्यतृतीयास्थस्यान्यस्य दुगाशीराशास्थास्थितोत्सुकोतिकारकरागच्छेषु ॥६।३।९८॥

अषष्ठ्यतृतीयास्थस्य ६।१॥ अन्यस्य ६।१॥ दुक् १।१॥ आशी'''गच्छेषु ७।३॥ स०—न षष्ठी अषष्ठी, न तृतीया अतृतीया, नञ्तत्पुरुषः। अषष्ठी च अतृतीया च अषष्ठ्यतृतीये, तयोः तिष्ठतीति अषष्ठ्यतृतीयास्थः, तस्य'''''इतेरतरद्वन्द्वगर्भतत्पुरुषः। आशीरा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—उत्तरपदे॥ *अर्थः*—आशिस्, आशा, आस्था, आस्थित, उत्सुक, ऊति, कारक, राग, छ इत्येतेषु परतः अषष्ठीस्थस्य अतृतीयास्थस्य चान्यशब्दस्य 'दुक्' आगमो भवति॥ *उदा०*—अन्या आशीः = अन्यदाशीः। अन्या आशा = अन्यदाशा। अन्या आस्था = अन्यदास्था। अन्य–आस्थितः = अन्यदास्थितः। अन्य उत्सुकः = अन्यदुत्सुकः। अन्या ऊतिः = अन्यदूतिः। अन्यः कारकः = अन्यत्कारकः। अन्यो रागः = अन्यद्रागः। अन्यस्मिन् भवः = अन्यदीयः॥

भाषार्थः—[*आशी''गच्छेषु*] आशिस्, आशा, आस्था, आस्थित, उत्सुक, ऊति, कारक, राग, छ इनके परे रहते [*अषष्ठ्यतृतीयास्थस्य*] अषष्ठी स्थित तथा अतृतीयास्थित [*अन्यस्य*] अन्य शब्द को [दुक्] दुक् आगम होता है॥ अन्य दुक् आशीः = अन्यदाशीः। इसी प्रकार सबमें जानें। अन्यदीयः यहाँ *गहादिभ्यश्च* (४।२।१३७) से छ प्रत्यय हुआ है॥

यहाँ से '*अषष्ठ्यतृतीयास्थस्य अन्यस्य* दुक्' की अनुवृत्ति ६।३।९९ तक जायेगी॥

अर्थे विभाषा ॥६।३।९९॥

अर्थे ७।१॥ विभाषा १।१॥ *अनु०*—अषष्ठ्यतृतीयास्थस्य अन्यस्य दुक्, उत्तरपदे॥ *अर्थः*—अर्थशब्द उत्तरपदेऽषष्ठीस्थस्यातृतीयास्थस्यान्यस्य विभाषा दुगागमो भवति॥ *उदा०*—अन्यस्मै इदम् = अन्यदर्थम्। अन्यार्थम्॥

भाषार्थः—[*अर्थे*] अर्थ शब्द उत्तरपद में हो तो अषष्ठीस्थ तथा अतृतीयास्थ अन्य शब्द को [*विभाषा*] विकल्प करके दुक् आगम होता है॥

कोः कत्तत्पुरुषेऽचि ॥६।३।१००॥

कोः ६।१॥ कत् १।१॥ तत्पुरुषे ७।१॥ अचि ७।१॥ *अनु०*—उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—अजादावुत्तरपदे तत्पुरुषे समासे कु इत्येतस्य कदित्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—कुत्सितोऽजः = कदजः, कदश्वः कदुष्ट्रः, कदन्नम् ॥

भाषार्थः—[*कोः*] कु को [*तत्पुरुषे*] तत्पुरुष समास में [*अचि*] अजादि शब्द उत्तरपद हो तो [*कत्*] कत् आदेश होता है ॥ *कुगतिप्रादयः* (२।२।१८) से कदजः आदि में समास हुआ है । *झलां जशोऽन्ते* (८।२।३९) से जश्त्व होकर त् को द् हो ही जायेगा ॥

यहाँ से '*कोः*' की अनुवृत्ति ६।३।१०७ तक तथा '*कत्*' की ६।३।१०२ तक जायेगी ॥

रथवदयोश्च ॥६।३।१०१॥

रथवदयोः ७।२॥ च अ० ॥ *स०*—रथ० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—कोः, कत्, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—रथ वद इत्येतयोश्चोत्तरपदयोः कोः कदित्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—कद्रथः, कद्वदः ॥

भाषार्थः—[*रथवदयोः*] रथ तथा वद शब्द उत्तरपद में हो तो [*च*] भी कु को कत् आदेश होता है ॥

तृणे च जातौ ॥६।३।१०२॥

तृणे ७।१॥ च अ० ॥ जातौ ७।१॥ अनु०—कोः, कत्, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—तृणशब्द उत्तरपदे कोः कदादेशो भवति जातावभिधेयायाम् ॥ *उदा०*— कत्तृणा नाम जातिः ॥

भाषार्थः—[*तृणे*] तृण शब्द उत्तरपद में हो तो [*च*] भी कु को कत् आदेश होता है [*जातौ*] जाति अभिधेय होने पर ॥

का पथ्यक्षयोः ॥६।३।१०३॥

का १।१॥ पथ्यक्षयोः ७।२॥ *स०*—पथ्य० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—कोः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—पथिन् अक्ष इत्येतयोरुत्तरपदयोः कोः

का इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—कुत्सितः पन्थाः = कापथः, कुत्सिते-अक्षिणी अस्य = काक्षः ॥

भाषार्थः—[*पथ्यक्षयोः*] पथिन् तथा अक्ष शब्द उत्तरपद हो तो कु शब्द को [*का*] का आदेश होता है ॥ कापथः में *ऋक्पूरब्धूः०* (५।४।७४) से समासान्त 'अ' प्रत्यय तथा काक्षः में *बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः०* (५।४।११३) से समासान्त षच् प्रत्यय हुआ है। का पथिन् अ = *नस्तद्धिते* (६।४।१४४) से टि भाग का लोप होकर कापथः काक्षः बन गया ॥

यहाँ से '*का*' की अनुवृत्ति ६।३।१०७ तक जायेगी ॥

ईषदर्थे ॥६।३।१०४॥

ईषदर्थे ७।१॥ *स०*—ईषदः अर्थः ईषदर्थस्तस्मिन्''षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—का, कोः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—ईषदर्थे वर्त्तमानस्य कोः का इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—ईषन्मधुरम् = कामधुरम्, कालवणम् ॥

भाषार्थः—[*ईषदर्थे*] ईषत् (थोड़ा) के अर्थ में वर्त्तमान कु शब्द को 'का' आदेश हो जाता है ॥ पूर्ववत् *कुगतिप्रादयः* (२।२।१८) से तत्पुरुष समास उदाहरणों में जानें ॥

विभाषा पुरुषे ॥६।३।१०५॥

विभाषा १।१॥ पुरुषे ७।१॥ *अनु०*— का, कोः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—पुरुषशब्द उत्तरपदे कोः का इत्ययमादेशो विकल्पेन भवति ॥ *उदा०*—कापुरुषः, कुपुरुषः ॥

भाषार्थः—[*पुरुषे*] पुरुष शब्द उत्तरपद हो तो [*विभाषा*] विकल्प से कु शब्द को 'का' आदेश हो जाता है ॥ जब का आदेश नहीं होगा तो कु ही रहेगा ॥ यहाँ भी तत्पुरुष समास पूर्ववत् जानें ॥

यहाँ से '*विभाषा*' की अनुवृत्ति ६।३।१०७ तक जायेगी ॥

कवं चोष्णे ॥६।३।१०६॥

कवम् १।१॥ च अ०॥ उष्णे ७।१॥ *अनु०*—विभाषा, का, कोः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—उष्णशब्द उत्तरपदे कोः कवमित्ययमादेशो भवति, का च विकल्पेन ॥ *उदा०*—कवोष्णम्, कोष्णम्, कदुष्णम् ॥

भाषार्थः—[*उष्णे*] उष्ण शब्द उत्तरपद रहते कु शब्द को [*कवम्*] कव आदेश [च] भी होता है, एवं विकल्प से का आदेश भी होता है ॥ 'कव' आदेश होकर कवोष्णम् तथा 'का' होकर कोष्णम् एवं पक्ष में जब 'का' आदेश नहीं हुआ तो अजादि उष्ण शब्द के परे रहते *कोः कत्तत्*० (६।३।१००) से कत् आदेश होकर कदुष्णम् बन गया ॥

यहाँ से '*कवम्*' की अनुवृत्ति ६।३।१०७ तक जायेगी ॥

पथि च च्छन्दसि ॥६।३।१०७॥

पथि ७।१॥ च अ०॥ छन्दसि ७।१॥ *अनु०*—विभाषा, कवम्, का, कोः, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—पथिन् शब्द उत्तरपदे छन्दसि विषये कोः कव, का इत्येतावादेशौ विकल्पेन भवतः ॥ *उदा०*—कवपथः, कापथः, कुपथः ॥

भाषार्थः—[*पथि*] पथिन् शब्द उत्तरपद रहते [च] भी [*छन्दसि*] वेद विषय में कु को 'कव' तथा 'का' आदेश विकल्प करके होते हैं ॥ पक्ष में जब कव एवं का आदेश नहीं होंगे तो कु ही रह कर 'कुपथः' बनेगा ॥

पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् ॥६।३।१०८॥

पृषोदरादीनि १।३॥ यथोपदिष्टम् अ०॥ *स०*—पृषोदर आदिः येषाम् तानि पृषोदरादीनि, बहुव्रीहिः। यानि यानि (शिष्टैः) उपदिष्टानि यथोपदिष्टम्, *यथाऽसादृश्ये* (२।१।७) इति वीप्सायामव्ययीभावः॥ *अर्थः*—पृषोदरप्रकाराणि शब्दरूपाणि शिष्टैर्यथोच्चारितानि तथैव साधूनि भवन्ति॥ दिशिरत्रोच्चारणक्रियः, उपदिष्टान्युच्चारितानीत्यर्थः॥ उदा०—पृषद् उदरं यस्य तत् पृषोदरम्। पृषद् उद्वानं यस्य तत् पृषोद्वानम्। उभयत्र तकारलोपः। वारिवाहको बलाहकः। पूर्वपदस्य वारिशब्दस्य 'ब' आदेशः उत्तरपदादेश्च लत्वम्। जीवनस्य मूतः जीमूतः। अत्र वनशब्दस्य लोपः। शवानां शयनं श्मशानम्। अत्र शवशब्दस्य 'श्म' आदेशः, शयनशब्दस्यापि 'शान' आदेशः॥

भाषार्थः—[*पृषोदरादीनि*] पृषोदर इत्यादि शब्दरूप (शिष्टों के द्वारा) [*यथोपदिष्टम्*] जिस प्रकार उच्चरित हैं वैसे ही साधु माने जाते हैं ॥ अर्थात् जहाँ लोप-आगम-वर्ण विकार-वर्णविपर्यय आदि देखा जाये, किन्तु शास्त्र

द्वारा उसका विधान न हो, ऐसे शब्दों को भी शिष्ट पुरुषों द्वारा उच्चरित होने के कारण साधु समझना चाहिये ॥ शिष्ट कौन होते हैं? इस विषय में इसी सूत्र के महाभाष्य में कहा है—एतस्मिन्नार्यनिवासे ये ब्राह्मणाः कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणाः किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्यायाः पारगास्तत्र भवन्तः शिष्टाः ॥

अर्थात् इस आर्य निवास (आर्यावर्त देश) में रहनेवाले कुम्भीधान्य (जो घर में घड़ाभर ही अन्न रखते हैं) लोभरहित, बिना किसी कारण के अर्थात् निष्काम भाव से जो किसी विद्या में पारङ्गत हैं ऐसे व्यक्ति शिष्ट कहाते हैं।

धर्मशास्त्रों में शिष्ट का लक्षण षडङ्गवेदवित् किया है ऐसे महाविद्वान् शिष्टपुरुषों द्वारा प्रयुक्त शब्दों के यथार्थ ज्ञान के लिए ही भगवान् पाणिनि ने अष्टाध्यायी बनाई। इसीलिए महाभाष्य में कहा है—*शिष्टपरिज्ञानार्थाऽष्टाध्यायी* (६।३।१०७)[1]।

उपर्युक्त उदाहरणों में कहां किसका लोप वा आगम आदेश आदि हुआ है यह दर्शा दिया है ॥

संख्याविसायपूर्वस्याह्नस्याहनन्यतरस्याम् ङौ ॥६।३।१०९॥

संख्याविसायपूर्वस्य ६।१॥ अह्नस्य ६।१॥ अहन् १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ ङौ ७।१॥ *स०*—संख्या च विश्च सायश्च संख्याविसायम्, इत्येतत् पूर्वं यस्य स संख्याविसायपूर्वस्तस्य "द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ *अर्थः*—संख्या, वि, साय इत्येवंपूर्वस्य अह्न शब्दस्य स्थाने अहन् इत्ययमादेशो भवति विकल्पेन, ङौ परतः ॥ *उदा०*—द्वयोरह्नोर्भवः द्व्यह्नः

---

१. आजकल के वैयाकरण महाभाष्यकार के 'शिष्टपरिज्ञानार्था अष्टाध्यायी' नियम को न मानकर ऋषिकृत ग्रन्थों में प्रयुक्त शब्दों की विवेचना भी अष्टाध्यायी के आधार पर करते हैं और जो शब्द अष्टाध्यायी के नियमों से सिद्ध नहीं होते उन्हें आर्ष प्रयोग अर्थात् असाधु प्रयोग मानते हैं। वस्तुतः यह प्रक्रिया शास्त्रविरुद्ध है। आर्ष शब्द सभी साधु हैं उनका साधुत्व इसी सूत्र से समझ लेना चाहिये।

तस्मिन् द्व्यह्नि द्व्यहनि । त्र्यह्नि त्र्यहनि । व्यपगतमह्नो व्यह्नः तस्मिन् व्यह्नि व्यहनि । सायमह्नः = सायाह्नः । सायाह्नि, सायाहनि ॥ यद् 'अहन्' आदेशो न तदा द्व्यह्ने त्र्यह्ने सायाह्ने इति ॥

भाषार्थः—[*संख्याविसायपूर्वस्य*] संख्या, वि तथा साय पूर्व वाले [*अह्नस्य*] अह्न शब्द को [*अहन्*] अहन् आदेश [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प करके होता है [*ङौ*] ङि परे रहते ॥ द्वयोरह्नोर्भवः द्व्यह्नः त्र्यह्नः में *तद्धितार्थोत्तर०* (२।१।५०) से समास, भवार्थ में उत्पन्न औत्सर्गिक अण् का *द्विगोर्लुगनपत्ये* (४।१।८८) से लुक् ५।४।८८ से अह्नादेश होगा, तथा द्व्यह्न त्र्यह्न से पुनः सप्तमी विभक्ति आने पर 'अह्न' को अहन् आदेश, *विभाषा ङिश्योः*(६।४।१३६) से विकल्प से अकार लोप होकर द्व्यह्नि द्व्यहनि बनेगा। सायाह्न में इसी सूत्र के ज्ञापक से एकदेशी समास जानना चाहिए ॥

[*दीर्घप्रकरणम्*]

ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ॥६।३।११०॥

ढ्रलोपे ७।१॥ पूर्वस्य ६।१॥ दीर्घः १।१॥ अणः ६।१॥ *स०*—ढकारश्च रेफश्च ढ्रौ, तयोर्लोपो यस्मिन् स ढ्रलोपस्तस्मिन्······द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ *अर्थः*—ढ्रलोपे पूर्वस्याणो दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—ढलोपे—लीढम्, मीढम्, उपगूढम्, मूढः । रलोपे—नीरक्तम्, अग्नी रथः, इन्दू रथः, पुना रक्तं वासः, प्राता राजक्रयः ॥

भाषार्थः—[*ढ्रलोपे*] ढकार एवं रेफ का लोप हुआ है जिसमें उसके [*पूर्वस्य*] पूर्व [*अणः*] अण् को [*दीर्घः*] दीर्घ होता है ॥ लिह् आस्वादने धातु से क्त होकर *हो ढः* (८।२।३१) *झषस्तथो०* (८।२।४०) *ष्टुना ष्टुः* (८।४।४०) लगकर 'लिढ् ढ' रहा। अब *ढो ढे लोपः* (८।३।१३) से एक ढ् का लोप होने से ढलोप से पूर्व अण् 'इ' को प्रकृत सूत्र से दीर्घ होकर लीढम् बन गया। इसी प्रकार मिह् सेचने से मीढम्, गुह् से उपगूढम्, मुह् से मूढः बनेगा। नीरक्तम् यहाँ 'निर् रक्तम्' ऐसी स्थिति में *कुगतिप्रा०* (२।२।१८) से समास तथा निर् के रेफ का *रो रि* (८।३।१४) से लोप हुआ है, अतः प्रकृत सूत्र से दीर्घ हो गया। इसी प्रकार अग्निस् = अग्निर् रथः, इन्दुर् रथः, सर्वत्र रेफ का लोप होकर दीर्घ हुआ है, ऐसा जानें ॥

यहाँ से 'ढ्रलोपे' की अनुवृत्ति ६।३।१११ तक 'पूर्वस्य' की ६।३।११२ तक एवं 'दीर्घः' की ६।४।१८ तक तथा 'अणः' की ६।४।२ तक जायेगी ॥

सहिवहोरोदवर्णस्य ॥६।३।१११॥

सहिवहोः ६।२॥ ओत् १।१॥ अवर्णस्य ६।१॥ स०—सहिश्च वहश्च सहिवहौ तयोः......इतरेतरद्वन्द्वः। अश्चासौ वर्णश्च, अवर्णस्तस्य...... कर्मधारयस्तत्पुरुषः ॥ अनु०—ढ्रलोपे ॥ अर्थः—ढ्रलोपे सह् वह् इत्येतयोरवर्णस्यौकार आदेशो भवति ॥ उदा०—सोढा, सोढुम्, सोढव्यम्। वोढा, वोढुम्, वोढव्यम् ॥

भाषार्थः—ढकार और रेफ का लोप होने पर [*सहिवहोः*] सह तथा वह् धातु के [*अवर्णस्य*] अवर्ण को [*ओत्*] ओकारादेश होता है ॥ पूर्ववत् लीढम् के समान सिद्धि जानें ॥

साढ्यै साढ्वा साढेति निगमे ॥६।३।११२॥

साढ्यै अ० ॥ साढ्वा अ० ॥ साढा १।१॥ इति अ० ॥ निगमे ७।१॥ अर्थः– साढ्यै साढ्वा साढा इति निगमे निपात्यन्ते। साढ्यै इत्यत्र सहेः क्त्वाप्रत्ययः, क्त्वाप्रत्ययस्य ध्यैभावः, ओत्वाभावश्च निपात्यते। साढ्यै समन्तात्। साढ्वा इत्यत्र पूर्ववत् क्त्वाप्रत्यय ओत्वाभावश्च निपात्यते। साढ्वा शत्रून्। साढा इति तृनि[1] रूपमेतत्, ओत्वाभावश्च पूर्ववत् ॥

भाषार्थः—[*साढ्यै साढ्वासाढेति*] साढ्यै साढ्वा तथा साढा ये शब्द [*निगमे*] वेद में निपातन किये जाते हैं ॥ साढ्यै यहाँ क्त्वाप्रत्यय को ध्यैभाव तथा ओत्व जो कि *सहिवहो०* (६।३।१११) से प्राप्त था उसका अभाव निपातन है। साढ्वा में क्त्वा प्रत्यय है ही ओत्वाभाव पूर्ववत् है। साढा यह तृन् का रूप है, यहाँ भी ओत्वाभाव निपातित है। *ढ्रलोपे पूर्वस्य०* (६।३।१०९) से सर्वत्र दीर्घ हो ही जायेगा ॥

---

१. तृचीति काशिका। उभयथाऽपि शक्यमिह विज्ञातुम्, यद्युभयप्रत्ययस्वर उपलभ्येत वेदे।

संहितायाम् ॥६।३।११३॥

संहितायाम् ७।१॥ *अर्थः*—संहितायामित्यधिकारः, आपादपरिसमाप्तेः ॥ *उदा०*—वक्ष्यति—*द्व्यचोऽतस्तिङः* (६।३।१३४) इति—विद्मा हि, वा सत्पतिं शूर गोनाम् ॥

भाषार्थः—[*संहितायाम्*] संहितायाम् यह अधिकार सूत्र है, पाद की समाप्ति पर्यन्त जायेगा ॥ उदाहरण में विद्मा को दीर्घ हुआ है ॥ संहितायाम् कहने से पदपाठ में तथा अवग्रह में दीर्घत्व नहीं रहेगा, यही प्रयोजन है । इसी प्रकार अन्य सूत्रों में भी 'संहितायाम्' अधिकार का प्रयोजन जान लेना चाहिये ॥

कर्णे लक्षणस्याविष्टाष्टपञ्चमणिभिन्नच्छिन्नच्छिद्रस्रुवस्वस्तिकस्य ॥६।३।११४॥

कर्णे ७।१॥ लक्षणस्य ६।१॥ अविष्टा...कस्य ६।१॥ *स०*—अविष्टाष्ट० इत्यत्र पूर्वं द्वन्द्वस्ततो नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—पूर्वस्य दीर्घः, अणः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—विष्ट, अष्टन्, पञ्चन्, मणि, भिन्न, छिन्न, छिद्र, स्रुव, स्वस्तिक इत्येतान् शब्दान् वर्जयित्वा कर्णशब्द उत्तरपदे लक्षणवाचिनोऽणो दीर्घो भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—दात्राकर्णः, द्विगुणाकर्णः, त्रिगुणाकर्णः, द्व्यङ्गुलाकर्णः, त्र्यङ्गुलाकर्णः ॥

भाषार्थः—[*अविष्टाष्ट...कस्य*] विष्ट, अष्टन्, पञ्चन्, मणि, भिन्न, छिन्न, छिद्र, स्रुव, स्वस्तिक इन शब्दों को छोड़कर [*कर्णे*] कर्ण शब्द उत्तरपद रहते [*लक्षणस्य*] लक्षणवाची शब्दों के अण् को दीर्घ होता है संहिता के विषय में ॥ जिससे लक्षित किया जाये वह लक्षण होता है । दात्रमिव दात्रम् । दात्रं कर्णे यस्य स दात्राकर्णः, अर्थात् दरांती का चिह्न जिसके कान पर है, वह दात्राकर्णः है सो दात्र उसका लक्षण है । अतः लक्षणवाची माना जाने से दीर्घ हो गया है । इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी बहुव्रीहि समासादि सब कुछ जानें ॥

नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ ॥६।३।११५॥

नहिवृ...निषु ७।३॥ क्वौ ७।१॥ *स०*—नहि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥

ानु०—पूर्वस्य दीर्घोऽणः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—नहि, वृति, वृषि, व्यधि, चि, सहि, तनि, इत्येतेषु क्विप्प्रत्ययान्तेषूत्तरपदेषु पूर्वस्याणो दीर्घो ावति संहितायां विषये ॥ उदा०—नहि—उपानत्, परीणत्। वृति-ोवृत्, उपावृत्। वृषि—प्रावृट्, उपावृट्। व्यधि-मर्माविंत्, हृदया-ात्, श्वावित्। रुचि-नीरुक्, अभीरुक्। सहि-ऋतीषट्। तनि-तरीतत्॥

भाषार्थः—[*नहि*···*तनिषु*] नहि, वृति, वृषि, व्यधि, रुचि, सहि, नि इन [*कौ*] क्विप्प्रत्ययान्त शब्दों के उत्तरपद रहते पूर्व अण् को ार्घ हो जाता है संहिता के विषय में॥ उपानत् यहाँ नह् धातु के ह् को हो धः (८।२।३४) से धत्व हुआ है, पश्चात् जश्त्व (८।२।३८) एवं चर्त्व ८।४।५५) होकर उप नत् प्रकृत सूत्र से दीर्घ होकर उपानत् बना है। परिणह्य-ाति परीणत् यहाँ *उपसर्गादसमासे०* (८।४।१४) से णत्व ही विशेष हुआ । *संपदादिभ्यः क्विप्* (वा० ३।३।९४) इस वार्त्तिक से क्विप् हुआ । नीवृत् यहाँ *अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते* (३।२।७५) से क्विप् हुआ है। सी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी क्विप् जानें। प्रावृट् यहाँ वृष् धातु े ष् को जश्त्व डकार एवं चर्त्व टकार हुआ है। मर्मावित् यहाँ व्यध ातु को *ग्रहिज्या०* (६।१।१६) से संप्रसारण होता है। नीरुक् यहाँ रुच् ातु के च् को क् *चोः कुः* (८।२।३०) से हो जाता है। ऋतीषट् यहाँ हेः *पृतनर्ताभ्यां च* (८।३।१०९) को योगविभाग करके षत्व होता है। रीतत् यहाँ *गमादीनामिति वक्तव्यम्* (वा० ६।४।४०) इस वार्त्तिक से तन े अनुनासिक का लोप हो जाता है॥

वनगिर्योः संज्ञायां कोटरकिंशुलकादीनाम् ॥६।३।११६॥

वनगिर्योः ७।२॥ संज्ञायाम् ७।१॥ कोटरकिंशुलकादीनाम् ६।३॥ ०—वन० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। कोटरश्च किंशुलकश्च कोटरकिंशुलकौ, ौ आदी येषां ते कोटरकिंशुलकादयस्तेषाम्···द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः॥ *अनु०*—र्वस्य दीर्घोऽणः, उत्तरपदे, संहितायाम्॥ *अर्थः*—वन गिरि इत्येतयोरुत्तर दयोर्यथासंख्यं कोटरादीनाम् किंशुलकादीनां च दीर्घो भवति, संज्ञायां ाषये ॥ *उदा०*—वने कोटरादीनाम्—कोटरावणम्, मिश्रकावणम्, ाध्रकावणम्, सारिकावणम्। गिरौ किंशुलकादीनाम्—किंशुलकागिरिः ाञ्जनागिरिः॥

भाषार्थः—[*वनगिर्योः*] वन तथा गिरि शब्द उत्तरपद रहते यथासंख्य करके [*कोट*...*दीनाम्*] कोटरादि एवं किंशुलकादि गणपठित शब्दों को [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में दीर्घ होता है ॥ अर्थात् वन परे रहते कोटरादियों को एवं गिरि परे रहते किंशुलकादियों को दीर्घ हो जाता है ॥ मिश्रकावणम् आदि में वन शब्द के नकार को *वनं पुरगामिश्रका०* (८।४।४) से णत्व होता है तथा सर्वत्र षष्ठीसमास है ॥

यहाँ से '*संज्ञायाम्*' की अनुवृत्ति ६।३।११९ तक जायेगी ॥

वले ॥६।३।११७॥

वले ७।१॥ *अनु०*—संज्ञायाम्, पूर्वस्य दीर्घोणः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—वले परतः संज्ञायां विषये पूर्वस्याणो दीर्घो भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—आसुतीवलः, दन्तावलः, कृषीवलः ॥

भाषार्थः—[*वले*] वल परे रहते पूर्व अण् को दीर्घ हो जाता है ॥ संज्ञा को कहने में ॥ वल से वलच् प्रत्यय लिया गया है, जो कि *रजःकृष्यासुति०* (५।२।११२) से होता है ॥

मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम् ॥६।३।११८॥

मतौ ७।१॥ बह्वचः ६।१॥ अनजिरादीनाम् ६।३॥ *स०*—बहवोऽचो यस्मिन् स बह्वच् तस्य...बहुव्रीहिः । अजिर आदिर्येषां ते अजिरादयः, न अजिरादयोऽनजिरादयस्तेषाम्...बहुव्रीहिगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—संज्ञायाम्, पूर्वस्य दीर्घोणः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अजिरादिवर्जितस्य बह्वचो मतौ परतोऽणोदीर्घो भवति संज्ञायां विषये ॥ *उदा०*—उदुम्बरावती, मशकावती, वीरणावती, पुष्करावती, अमरावती ॥

भाषार्थः—[*अनजिरादीनाम्*] अजिरादियों को छोड़ कर [*मतौ*] मतुप् परे रहते [*बह्वचः*] बह्वच् शब्दों के अण् को दीर्घ होता है संज्ञा विषय में ॥ उदाहरणों में *नद्यां मतुप्* (४।२।८४) से मतुप् होता है । उदुम्बर मशक आदि शब्द बह्वच् हैं ही ॥

यहाँ से '*मतौ*' की अनुवृत्ति ६।३।११९ तक जायेगी ॥

शरादीनां च ॥६।३।११९॥

शरादीनाम् ६।३॥ च अ० ॥ *स०*—शरा० इत्यत्र बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—

मतौ, संज्ञायाम्, पूर्वस्य, दीर्घोऽणः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—शरादीनां च मतौ दीर्घो भवति, संज्ञायां विषये ॥ *उदा०*—शरावती, वंशावती ॥

भाषार्थः—[*शरादीनाम्*] शरादियों को [च] भी संज्ञा विषय में मतुप् परे रहते दीर्घ होता है ॥ पूर्ववत् मतुप् प्रत्यय होकर *संज्ञायाम्* (८।२।११) से मतुप् के म को वत्व हुआ है ।

इको वहेऽपीलोः ॥६।३।१२०॥

इकः ६।१॥ वहे ७।१॥ अपीलोः ६।१॥ *स०*—अपीलोः इत्यत्र नञ्-तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—दीर्घः, उत्तरपदे, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—पीलुवर्जि-तस्य इगन्तस्य पूर्वपदस्य वह उत्तरपदे दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—ऋषीवहम्, कपीवहम्, मुनीवहम् ॥

भाषार्थः—[*अपीलोः*] पीलु शब्द को छोड़कर जो [*इकः*] इगन्त पूर्वपद वाले शब्द उनको [*वहे*] 'वह' शब्द के उत्तरपद रहते दीर्घ होता है ॥ वह शब्द पचाद्यजन्त है । ऋषीवहम् आदि में षष्ठीसमास हुआ है ॥

उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् ॥६।३।१२१॥

उपसर्गस्य ६।१॥ घञि ७।१॥ अमनुष्ये ७।१॥ बहुलम् १।१॥ *स०*—अमनुष्य इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—पूर्वस्य, दीर्घोऽणः, उत्तरपदे, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—घञन्त उत्तरपदेऽमनुष्येऽभिधेय उपसर्गस्याणो बहुलं दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—वीक्लेदः, वीमार्गः, अपामार्गः । न च भवति बहुलवचनात्—प्रसेवः, प्रसारः ॥

भाषार्थः—[*घञि*] घञन्त उत्तरपद रहते [*अमनुष्ये*] अमनुष्य अभिधेय होने पर [*उपसर्गस्य*] उपसर्ग के अण् को [*बहुलम्*] बहुल करके दीर्घ होता है ॥ वीक्लेदः वीमार्गः यहाँ क्लिद् तथा मृजूष् धातु से *अकर्त्तरि च कारके०* (३।३।१९) से घञ् हुआ है । वीमार्गः यहाँ मृजू धातु को *मृजेर्वृद्धिः* (७।२।११४) से वृद्धि एवं *चजोः कु०* (७।३।५२) से कुत्व हुआ है ॥

यहाँ से '*उपसर्गस्य*' की अनुवृत्ति ६।३।१२३ तक जायेगी ॥

इकः काशे ॥६।३।१२२॥

इकः ६।१॥ काशे ७।१॥ *अनु०*—उपसर्गस्य, दीर्घः, उत्तरपदे संहितायाम् ॥ *अर्थः*—इगन्तस्य उपसर्गस्य काशशब्द उत्तरपदे दीर्घ भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—नीकाशः, वीकाशः, अनूकाशः ॥

भाषार्थः—[*इकः*] इगन्त उपसर्ग को [*काशे*] काश शब्द उत्तरपद रहते दीर्घ होता है संहिता के विषय में ॥ काशृ दीप्तौ धातु से पचाद्य करके काश शब्द बना है ॥

यहाँ से 'इकः' की अनुवृत्ति ६।३।१२३ तक जायेगी ॥

दस्ति ॥६।३।१२३॥

दः ६।१॥ ति ७।१॥ *अनु०*—इकः, उपसर्गस्य, दीर्घः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—दा इत्येतस्य यस्तकारादिरादेशस्तस्मिन् परत इगन्तस्योपसर्गस्य दीर्घो भवति ॥ *उदा०*— नीत्तम्, वीत्तम्, परीत्तम् ॥

भाषार्थः—[*दः*] दा के स्थान में हुआ जो [*ति*] तकारादि आदेश उस के परे रहते इगन्त उपसर्ग को दीर्घ होता है ॥ नि दा क्त = यहाँ *अच उपसर्गात्तः* (७।४।४७) से दा धातु के अन्त्य अल् (१।१।५१) को तकारा देश होकर नि द् त् त रहा । *खरि च* (८।४।५४) से द् को त् एवं *झरो झरि सवर्णे* (८।४।६४) से एक तकार का लोप तथा प्रकृत सूत्र से दीर्घ होकर नीत्तम् वीत्तम् आदि बना ॥ 'दः' यहाँ स्थानि-आदेश संबन्ध में षष्ठी है, अतः 'दा के स्थान में जो तकारादि आदेश' ऐसा अर्थ किया है ॥

अष्टनः संज्ञायाम् ॥६।३।१२४॥

अष्टनः ६।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ *अनु०*-पूर्वस्य, दीर्घोऽणः, संहितायाम्, उत्तरपदे ॥ *अर्थः*—अष्टन् इत्येतस्य उत्तरपदे परतः संज्ञायां विषये दीर्घ भवति ॥ *उदा०*—अष्टौ वक्राण्यस्य = अष्टावक्रः, अष्टाबन्धुरः, अष्टापदम् ।

भाषार्थः—[*अष्टनः*] अष्टन् शब्द को उत्तरपद परे रहते [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में दीर्घ होता है ॥ *नलोपः प्राति०* (८।२।७) से नकार लोप हो ही जायेगा ॥

यहाँ से 'अष्टनः' की अनुवृत्ति ६।३।१२५ तक जायेगी ॥

छन्दसि च ॥६।३।१२५॥

छन्दसि ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—अष्टनः, पूर्वस्य, दीर्घोणः, उत्तरपदे संहितायाम् ॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये अष्टन् इत्येतस्य दीर्घो भवति, उत्तरपदे परतः ॥ *उदा०*—आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत् । अष्टाहिरण्या दक्षिणा । अष्टापदी देवता सुमती ॥

भाषार्थः—[*छन्दसि*] वेद विषय में [च] भी अष्टन् शब्द को दीर्घ हो जाता है, उत्तरपद परे रहते ॥ अष्टसु कपालेषु संस्कृतमष्टाकपालम् यहाँ *संस्कृतम्* (४।४।३) से अण् होकर उसका *द्विगोर्लुगनपत्ये* (४।१।८८) से लुक् हुआ है । अष्टौ पादा अस्या अष्टापदी यहाँ *पादस्य लोपो०* (५।४।१३८) से पाद शब्द के अ का लोप हुआ है, तथा *पादोऽन्यतरस्याम्* (४।१।८) से ङीप् हुआ है । अष्टाहिरण्या यहाँ अष्टौ हिरण्यानि परिमाणमस्य इस तद्धितार्थ में समास तथा *तदस्य परिमाणम्* (५।१।५६) से उत्पन्न प्रत्यय का *अध्यर्द्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम्* (५।१।२८) से लुक् होता है ॥

चितेः कपि ॥६।३।१२६॥

चितेः ६।१॥ कपि ७।१॥ *अनु०*—पूर्वस्य, दीर्घोणः संहितायाम्, ॥ *अर्थः*—कपि परतश्चितिशब्दस्य दीर्घो भवति संहितायां विषये॥ *उदा०*—एका चितिरस्य = एकचितीकः, द्विचितीकः, त्रिचितीकः ॥

भाषार्थः—[*कपि*] कप् परे रहते [*चितेः*] चिति शब्द को दीर्घ हो जाता है, संहिता विषय में ॥ *स्त्रियाःपुंवद्०* (६।३।३२) से उदाहरणों में पुंवद्भाव हुआ है, तथा *शेषाद्विभाषा* (५।४।१५४) से कप् प्रत्यय होता है ॥

विश्वस्य वसुराटोः ॥६।३।१२७॥

विश्वस्य ६।१॥ वसुराटोः ७।२॥ *स०*—वसु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—पूर्वस्य, दीर्घोणः, उत्तरपदे, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—विश्व इत्येतस्य वसु, राट् इत्येतयोरुत्तरपदयोः दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—विश्वं वसु यस्य स विश्वावसुः । विश्वस्मिन् राजते इति विश्वाराट् ॥

भाषार्थः—[*वसुराटोः*] वसु तथा राट् उत्तरपद रहते [*विश्वस्य*] विश्व शब्द को दीर्घ हो जाता है ॥ विश्वाराट् यहाँ राज् धातु से सत्सूद्विष०

(३।२।६१) से क्विप् हुआ है। सिद्धि (३।२।६१) इसी सूत्र के परिशि में देखें ॥

यहाँ से '*विश्वस्य*' की अनुवृत्ति ६।३।१२९ तक जायेगी ॥

नरे संज्ञायाम् ॥६।३।१२८॥

नरे ७।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ *अनु०*—विश्वस्य, पूर्वस्य, दीर्घोण: उत्तरपदे, संहितायाम् ॥ *अर्थ:*—नरशब्द उत्तरपदे संज्ञायां विषये विश्व शब्दस्य दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—विश्वानरो नाम यस्य वैश्वानरि: पुत्र: ।

भाषार्थ:—[*नरे*] नर शब्द उत्तरपद रहते [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में विश्व शब्द को दीर्घ होता है ॥

मित्रे चर्षौ ॥६।३।१२९॥

मित्रे ७।१॥ च अ०॥ ऋषौ ७।१॥ *अनु०*—विश्वस्य, पूर्वस्य, दीर्घोण: उत्तरपदे, संहितायाम् ॥ *अर्थ:*—ऋषावभिधेये मित्रे चोत्तरपदे विश्वस्य दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—विश्वामित्रो नाम ऋषि: ॥

भाषार्थ:—[*मित्रे*] मित्र शब्द उत्तरपद रहते [*च*] भी [*ऋषौ*] ऋषि अभिधेय होने पर विश्व शब्द को दीर्घ हो जाता है ॥

मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ ॥६।३।१३०॥

मन्त्रे ७।१॥ सोमा······स्य ६।१॥ मतौ ७।१॥ *स०*—सोम० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्व: ॥ अनु०—पूर्वस्य, दीर्घोण:, संहितायाम् ॥ *अर्थ:*—सोम, अश्व, इन्द्रिय, विश्वदेव्य इत्येतेषां मतुप् प्रत्यये परतो दीर्घो भवति मन्त्रविषये संहितायाम् ॥ *उदा०*—सोमावती, अश्वावती, इन्द्रियावती, विश्वदेव्यावती ॥

भाषार्थ:—[*सोमा······स्य*] सोम, अश्व, इन्द्रिय, विश्वदेव्य इन शब्दों को [*मतौ*] मतुप् प्रत्यय परे रहने पर दीर्घ हो जाता है, [*मन्त्रे*] मन्त्र विषय में ॥ उदाहरणों में *उगितश्च* (४।१।६) से ङीप् होगा ॥

यहाँ से '*मन्त्रे*' की अनुवृत्ति ६।३।१३१ तक जायेगी ॥

ओषधेश्च विभक्तावप्रथमायाम् ॥६।३।१३१॥

ओषधे: ६।१॥ च अ० ॥ विभक्तौ ७।१॥ अप्रथमायाम् ७।१॥ *स०*—

प्र० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—मन्त्रे, संहितायाम्, पूर्वस्य, ोर्घोणः ॥ *अर्थः*—अप्रथमायां विभक्तौ परत ओषधिशब्दस्य दीर्घो भवति न्त्रविषये ॥ *उदा०*—ओषधीभिरपीपतत् । नमः पृथिव्यै नम ोषधीभ्यः ॥

भाषार्थः—मन्त्र विषय में [*अप्रथमायाम्*] प्रथमा भिन्न [*विभक्तौ*] वेभक्ति के परे रहते [*ओषधेः*] ओषधि शब्द को [*च*] भी दीर्घ हो ाता है ॥

ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम् ॥६।३।१३२॥

ऋचि ७।१॥ तुनु······णाम् ६।३॥ *स०*—तुनु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—संहितायाम्, दीर्घोणः ॥ *अर्थः*—ऋचि विषये तु, नु, घ, मक्षु, ाङ्, कु, त्र, उरुष्य इत्येतेषां शब्दानां दीर्घो भवति संहितायाम् वेषये ॥ *उदा०*—आ तू न इन्द्र वृत्रहन् (ऋ० ४।३२।१) । नु—नू करणे ा—उत वा घा स्यालात् (ऋ० १।१०६।२) । मक्षु—मक्षू गोमन्तमीमहे (ऋ० ८।३३।३) तङ्—भरता जातवेदसम् (ऋ० १०।१७६।२) । कु— कूमनः । त्र— अत्रा गौः । उरुष्य—उरुष्या णोऽग्नेः ॥

भाषार्थः—[*तुनु······णाम्*] तु, नु, घ, मक्षु, तङ्, कु, त्र, उरुष्य इन शब्दों को [*ऋचि*] ऋचा विषय में दीर्घ हो जाता है संहिता विषय में॥ लोट् लकार में *लोटो लङ्वत्* (३।४।८५) से लङ्वत् अतिदेश कर के मध्यम- पुरुष बहुवचन 'थ' को *तस्थस्थमिपां तांतंतामः* (३।४।१०१) से जो 'त' आदेश होता है, तथा उसको लङ्वत् होने से ङित् माना जाता है, उस 'थ' का यहाँ 'तङ्' से ग्रहण है ॥ अत्रा यह त्रलन्त (५।३।१०) का रूप है। *एतदोऽन्* (५।३।५) से त्रल् प्रत्यय करने पर अन् आदेश हुआ है। उरुष्या यहाँ पहले आत्मन उरुमिच्छति ऐसा विग्रह करके उरु शब्द से *सुप आत्मनः क्यच्* (३।१।८) से क्यच् प्रत्यय किया। पश्चात् *सर्वप्राति- पदिकेभ्यो लालसायासुग्वक्तव्यः* (वा० ७।१।५१) इस वार्त्तिक से सुक् आगम होकर उरु सुक् क्यच्=उरु स् य रहा। *सुषामादिषु च* (८।३।९८) से षत्व होकर लोट् मध्यमपुरुष एकवचन में *अतो हेः* (६।४।१०५) से हि का लुक् एवं दीर्घत्व होकर 'उरुष्या' बना है ॥

यहाँ से '*ऋचि*' की अनुवृत्ति ६।३।१३५ तक जायेगी ॥

इकः सुञि ॥६।३।१३३॥

इकः ६।१॥ सुञि ७।१॥ *अनु०*—ऋचि, उत्तरपदे, संहितायाम् दीर्घः ॥ *अर्थः*—इगन्तस्य सुञि परतो ऋग्विषये दीर्घो भवति संहित याम् विषये ॥ *उदा०*—अभी षु णः सखीनाम् (ऋ० ४।३१।३) । ऊ ऊ षु ण ऊतये ॥

भाषार्थः—[*इकः*] इगन्त शब्द को [*सुञि*] सुञ् परे रहते ऋच विषय में दीर्घ हो जाता है संहिता विषय में ॥ सुञ् यह निपात लि गया है । *सुञः* (८।३।१०७) से सुञ् के सु को षत्व हुआ है । उससे पू इगन्त 'अभि' एवं 'उ' को प्रकृत सूत्र से दीर्घ हुआ है । न को ण नः *धातुस्थो०* (८।४।२६) से जानें ॥

द्व्यचोऽतस्तिङः ॥६।३।१३४॥

द्व्यचः ६।१॥ अतः ६।१॥ तिङः ६।१॥ *स०*—द्वौ अचौ यस्मिन् स द्व्यच्, तस्य द्व्यचः, बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—ऋचि, उत्तरपदे, संहितायाम् दीर्घः ॥ *अर्थः*—द्व्यचस्तिङन्तस्य अत ऋग्विषये दीर्घो भवति संहिताय विषये ॥ *उदा०*—विद्मा हि त्वा सत्पतिं शूरगोनाम् । विद्मा स तस्य पितरम् ॥

भाषार्थः—[*द्व्यचः*] दो अच् वाले [*तिङः*] तिङन्त के [*अतः*] अकार को ऋचा विषय में दीर्घ होता है संहिता विषय में ॥ विद्म यह लोट् लकार के 'मस्' का रूप है, उसे दीर्घ होकर विद्मा बना है ।

निपातस्य च ॥६।३।१३५॥

निपातस्य ६।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—ऋचि, उत्तरपदे, संहितायाम्, दीर्घोऽणः ॥ *अर्थः*—ऋग्विषये निपातस्य च दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—एवा ते । अच्छा ते ॥

भाषार्थः—ऋचा विषय में [*निपातस्य*] निपात को [*च*] भी दीर्घ हो जाता है ॥ एव अच्छ चादि गण (१।४।५७) में पठित हैं, अतः निपात हैं ॥

अन्येषामपि दृश्यते ॥६।३।१३६॥

अन्येषाम् ६।३॥ अपि अ० ॥ दृश्यते क्रियापदम् ॥ *अनु०*—दीर्घोणः, उत्तरपदे, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अन्येषामपि दीर्घो दृश्यते ॥ यस्य दीर्घो न विहितः, दृश्यते च प्रयोगे, सः अनेन सूत्रेण शिष्टप्रयोगादनुगन्तव्यः ॥ *उदा०*—केशाकेशि, कचाकचि, नारकः, पूरुषः ॥

भाषार्थः—[*अन्येषाम्*] अन्यों को (शब्दों को) [*अपि*] भी दीर्घ [*दृश्यते*] देखा जाता है, अर्थात् जिनको सूत्रों से दीर्घत्व नहीं कहा किन्तु देखा जाता है, ऐसे शब्दों को भी शिष्ट प्रयोग मान कर साधु समझना चाहिये ॥ कचाकचि, केशाकेशि में *तत्र तेने०* (२।२।२७) से समास तथा इच् *कर्म०* (५।४।१२७) से समासान्त इच् प्रत्यय होता है ॥

चौ ॥६।३।१३७॥

चौ ७।१॥ *अनु०*—पूर्वस्य, दीर्घोणः, उत्तरपदे, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—चौ परतः पूर्वस्याणो दीर्घो भवति ॥ चौ इत्यनेन अञ्चतिर्लुप्तनकारो गृह्यते ॥ *उदा०*—दधीचः पश्य, दधीचा, दधीचे, मधूचः पश्य, मधूचा मधूचे ॥

भाषार्थः—[*चौ*] चु परे रहते पूर्व अण् को दीर्घ होता है ॥ चु से यहाँ नकार लोप की हुई अञ्चु धातु का ग्रहण है ॥ *अनिदितां०* (६।४।२४) से अञ्च् के नकार का लोप एवं *अचः* (६।४।१३८) से अकार लोप होकर अञ्चु का चू शेष रहता है। क्विन् प्रत्यय *ऋत्विग्दधृ०* (३।२।५९) से होता ही है। सो 'दधि च् शस्' = दीर्घ होकर दधीचः बन गया। इसी प्रकार मधूचः आदि में जानें ॥

संप्रसारणस्य ॥६।३।१३८॥

संप्रसारणस्य ६।१॥ *अनु०*—पूर्वस्य, दीर्घोणः, उत्तरपदे, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—संप्रसारणान्तस्य पूर्वपदस्याण उत्तरपदे परतो दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—कारीषगन्धीपुत्रः, कारीषगन्धीपतिः, कौमुदगन्धीपुत्रः, कौमुदगन्धीपतिः ॥

भाषार्थः—[*संप्रसारणस्य*] सम्प्रसारणान्त पूर्वपद के अण् को उत्तरपद परे रहते दीर्घ होता है ॥ कारीषगन्ध्या की सिद्धि भाग २ परि० ४।१।७४ पृ०

५४१ में की गई है, अतः उसे वहीं समझ लें। आगे कारीषगन्ध्यायाः पुत्रः, कारीषगन्ध्यायाः पतिः विग्रह करके कारीषगन्धीपुत्रः आदि बना है जिसकी सिद्धि *ष्यङः सम्प्रसारणं०* (६।१।१३) में स्पष्ट रूप से देखें कारीषगन्धि आदि शब्द सम्प्रसारणान्त हैं, अतः पुत्र पति शब्द उत्तरपद रहते प्रकृत सूत्र से दीर्घ हो गया है ॥

यहाँ से '*सम्प्रसारणस्य*' की अनुवृत्ति ६।४।२ तक जायेगी ॥

॥ *इति तृतीयः पादः* ॥

—:o:—

चतुर्थः पादः

अङ्गस्य ॥६।४।१॥

अङ्गस्य ६।१॥ *अर्थः*—अधिकारोऽयम् आसप्तमाध्यायपरिसमाप्तेः। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामोऽङ्गस्य इत्येवं तद्वेदितव्यम् ॥ *उदा०*—वक्ष्यति–*हलः*। हूतः, जीनः, संवीतः ॥

भाषार्थः—[*अङ्गस्य*] 'अङ्गस्य' यह अधिकार सूत्र है। सप्तमाध्याय की समाप्ति (७।४।९७) पर्यन्त इसका अधिकार जायेगा सो आगे के सभी सूत्रों में यह बैठता जायेगा ॥ 'अङ्गस्य' में सम्बन्ध सामान्य में षष्ठी है ॥ *यस्मात् प्रत्ययविधि०* (१।४।१३) से अङ्गसंज्ञा होती है। हूतः संवीतः की सिद्धि सूत्र ६।१।१५ में तथा जीनः की परि० ६।१।१६ में देखें ॥

हलः ॥६।४।२॥

हलः ५।१॥ *अनु०*—अङ्गस्य, सम्प्रसारणस्य, दीर्घः, अणः ॥ *अर्थः*—अङ्गावयवाद् हलः परं यत् सम्प्रसारणम् अण् तदन्तस्याङ्गस्य दीर्घो भवति ॥ उदा०—हूतः, जीनः, संवीतः ॥

भाषार्थः—अङ्ग का अवयव जो [*हलः*] हल् उससे उत्तर जो सम्प्रसारण अण् तदन्त अङ्ग को दीर्घ होता है ॥ अर्थ करने में दो बार अङ्ग ग्रहण 'अङ्ग' शब्द की आवृत्ति करके किया है ॥ ह्वेञ् से 'हु त' बन जाने पर अङ्ग जो 'हु' उसका हल् अवयव 'ह्' है, उस ह् से उत्तर 'उ' सम्प्रसारण संज्ञक है, अतः तदन्त 'हु' अङ्ग को दीर्घ हो गया। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में सूत्रार्थ घटा लें ॥

'अणः' की अनुवृत्ति ६।३।१०६ से यहाँ तक आने पर भी उपयोगिता की दृष्टि से अर्थ में यहीं विशेषरूप से प्रदर्शित की है जो कि द्वितीयावृत्ति में समझ आ जायेगी ॥

नामि ॥६।४।३॥

नामि ७।१॥ अनु०—अङ्गस्य, दीर्घः ॥ *अर्थः*—नामि परतोऽङ्गस्य दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—अग्नीनाम्, वायूनाम्, कर्तॄणाम् ॥

भाषार्थः—[*नामि*] नाम् परे रहते अङ्ग को दीर्घ हो जाता है ॥ नाम् से नुट् आगम किया हुआ षष्ठी बहुवचन का आम् अभिप्रेत है। *ह्रस्वनद्यापो नुट्* (७।१।५४) से नुट् आगम होता है ॥

यहाँ से '*नामि*' की अनुवृत्ति ६।४।७ तक जायेगी ॥

न तिसृचतसृ ॥६।४।४॥

न अ० ॥ तिसृचतसृ लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ (सुपां सुलुक्० ७।१।३९ इत्यनेन) ॥ *स०*—तिसृ० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—नामि, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ *अर्थः*—तिसृ, चतसृ इत्येतयोर्नामि परतो दीर्घो न भवति ॥ *उदा०*—तिसृणाम्, चतसृणाम् ॥

भाषार्थः—[*तिसृचतसृ*] तिसृ, चतसृ अङ्ग को नाम् परे रहते दीर्घ [*न*] नहीं होता ॥ पूर्व सूत्र से प्राप्ति थी प्रतिषेध कर दिया। त्रि तथा चतुर् को स्त्रीलिङ्ग में *त्रिचतुरोः स्त्रियां०* (७।२।९९) से तिसृ चतसृ आदेश होता है, उसी का यहाँ ग्रहण है ॥

यहाँ से '*तिसृचतसृ*' की अनुवृत्ति ६।४।५ तक जायेगी ॥

छन्दस्युभयथा ॥६।४।५॥

छन्दसि ७।१॥ उभयथा अ० ॥ *अनु०*—तिसृचतसृ नामि, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये तिसृ चतसृ इत्येतयोर्नामि परतः उभयथा दृश्यते, दीर्घश्चादीर्घश्चेत्यर्थः ॥ *उदा०*—तिसृणाम् मध्यन्दिने, तिसॄणाम् मध्यन्दिने । चतसृणाम् मध्यन्दिने, चतसॄणाम् मध्यन्दिने ॥

भाषार्थः—[*छन्दसि*] वेद विषय में तिसृ चतसृ अङ्ग को [*उभयथा*] दोनों प्रकार से अर्थात् दीर्घ एवं अदीर्घ दोनों ही देखा जाता है ॥

यहाँ से '*छन्दस्युभयथा*' की अनुवृत्ति ६।४।६ तक जायेगी ॥

नृ च ॥६।४।६॥

नृ लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ *अनु०*—छन्दस्युभयथा, नामि, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ *अर्थः*—नृ इत्येतस्य अङ्गस्य नामि परत उभयथा भवति छन्दसि विषये ॥ *उदा०*—त्वं नृणां नृपते, त्वं नॄणां नृपते ॥

भाषार्थः—[*नृ*] नृ अङ्ग को [*च*] भी नाम् परे रहते वेद विषय में दोनों प्रकार से अर्थात् दीर्घ एवं अदीर्घ देखा जाता है ॥

नोपधायाः ॥६।४।७॥

न अविभक्त्यन्तं पदम् ॥ उपधायाः ६।१॥ *अनु०*—नामि, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ *अर्थः*—नान्तस्याङ्गस्योपधायाः नामि परतो दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—पञ्चानाम्, सप्तानाम्, नवानाम्, दशानाम् ॥

भाषार्थः—[*न*] नकारान्त अङ्ग की [*उपधायाः*] उपधा को नाम् परे रहते दीर्घ होता है ॥ पञ्चन्, सप्तन् आदि नकारान्त अङ्ग हैं, अतः उनकी उपधा (१।१।६४) को दीर्घ हो गया है । *षट्चतुर्भ्यश्च* (७।१।५५) से पञ्चानाम् आदि में आम् को नुट् आगम हुआ है । पञ्चन् नुट् आम् = पञ्चन् नाम् यहाँ *नलोपः०* (८।२।७) से नकार लोप होकर पञ्चानाम् बन गया ॥

यहाँ से '*न*' की अनुवृत्ति ६।४।१० तक तथा '*उपधायाः*' की ६।४।१८ तक जायेगी ॥

सर्वनामस्थाने चासंबुद्धौ ॥६।४।८॥

सर्वनामस्थाने ७।१॥ च अ० ॥ असंबुद्धौ ७।१॥ स०—असंबुद्धावित्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—नोपधायाः, नामि, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ अर्थः—सम्बुद्धिभिन्ने सर्वनामस्थाने च परतो नान्तस्याङ्गस्योपधायाः दीर्घो भवति ॥ उदा०—राजा, राजानौ, राजानः, राजानम्, राजानौ । सामानि तिष्ठन्ति, सामानि पश्य ॥

भाषार्थः—[असम्बुद्धौ] सम्बुद्धिभिन्न [सर्वनामस्थाने] सर्वनामस्थान विभक्ति परे रहते [च] नान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ हो जाता है ॥ सब सिद्धियाँ भाग १ परि० १।१।४२ पृ० ७११ में देखें । सामानि यहाँ 'शि' की शि सर्व० (१।१।४१) से सर्वनामस्थान संज्ञा है ॥

यहाँ से 'सर्वनामस्थाने' की अनुवृत्ति ६।४।११ तक तथा 'असम्बुद्धौ' की ६।४।१४ तक जायेगी ॥

वा षपूर्वस्य निगमे ॥६।४।९॥

वा अ०॥ षपूर्वस्य ६।१॥ निगमे ७।१॥ स०—षः पूर्वो यस्मात् स षपूर्वस्तस्य···बहुव्रीहिः ॥ अनु०—सर्वनामस्थाने, असम्बुद्धौ, नोपधायाः, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ अर्थः—निगमविषये नोपधायाः षपूर्वस्याऽसंबुद्धौ सर्वनामस्थाने परतो वा दीर्घो भवति ॥ उदा०—स तक्षाणं तिष्ठन्तमब्रवीत् (मै०सं० २।४।१, काठ० १२।१०) । स तक्षणं तिष्ठन्तमब्रवीत् । ऋभुक्षाणमिन्द्रम् । ऋभुक्षणमिन्द्रम् ॥

भाषार्थः—[निगमे] वेद विषय में नकारान्त अङ्ग के उपधाभूत [षपूर्वस्य] षकार है पूर्व में जिससे ऐसे अच् को सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान के परे रहते [वा] विकल्प से दीर्घ होता है ॥ तक्षन्, ऋभुक्षिन् शब्दों में 'क्ष' के 'अ' को विकल्प से दीर्घ हुआ है, क्योंकि इस अकार से पूर्व ष् है, एवं नकार की उपधा है । ऋभुक्षिन् में पहले इतोत्सर्वना० (७।१।८६) से इकार को अत्व होकर पश्चात् अ को दीर्घ हुआ है ॥

सान्तमहतः संयोगस्य ॥६।४।१०॥

सान्त लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ महतः ६।१॥ संयोगस्य ६।१॥ स०—सोऽन्ते यस्य स सान्तस्तस्य···बहुव्रीहिः ॥ अनु०—सर्वनामस्थानेऽ-

सम्बुद्धौ, नोपधायाः, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ *अर्थः*—सकारान्तस्य संयोगस्य महतश्च यो नकारस्तस्योपधाया दीर्घो भवति असंबुद्धौ सर्वनामस्थाने परतः ॥ *उदा०*—श्रेयान्, श्रेयांसौ, श्रेयांसः । श्रेयांसि, पयांसि, यशांसि । महतः-महान्, महान्तौ, महान्तः ॥

भाषार्थः—[*सान्त*] सकारान्त [*संयोगस्य*] संयोग का और [*महतः*] महत् शब्द का जो नकार उसकी उपधा को दीर्घ होता है, संबुद्धि भिन्न सर्वनामस्थान विभक्ति के परे रहने पर ॥ पयांसि यशांसि की सिद्धि भाग १ परि १।१।४६ पृ० ७१७ में देखें । श्रेयान् महान् आदि में सकार तकार का लोप *संयोगान्तस्य०* (८।२।२३) से होगा ॥

अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तॄणाम् ॥६।४।११॥

अप्तृन्तृच्'''णाम् ६।३॥ *स०*—अप्तृन्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सर्वनामस्थानेऽसम्बुद्धौ, उपधायाः, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ *अर्थः*—अप्, तृन्, तृच्, स्वसृ, नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, होतृ, पोतृ, प्रशास्तृ इत्येतेषामङ्गानामुपधायाः सम्बुद्धिभिन्ने सर्वनामस्थाने परतो दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—अप्-आपः । तृन्-कर्त्ता, कर्त्तारौ, कर्त्तारः, कर्त्तारम्, कर्त्तारौ । तृच्-कर्त्ता कर्त्तारौ सर्वमग्रे पूर्ववत् । स्वसृ—स्वसा, स्वसारौ । नप्तृ—नप्ता, नप्तारौ । नेष्टृ—नेष्टा, नेष्टारौ । त्वष्टृ—त्वष्टा, त्वष्टारौ । क्षत्तृ-क्षत्ता, क्षत्तारौ । होतृ—होता, होतारौ । पोतृ—पोता, पोतारौ । प्रशास्तृ—प्रशास्ता, प्रशास्तारौ ॥

भाषार्थः—[*अप्तृ'''तॄणाम्*] अप्, तृन्, तृच् प्रत्ययान्त, स्वसृ, नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, होतृ, पोतृ, प्रशास्तृ इन अङ्गों की उपधा को दीर्घ होता है, सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे रहते ॥ तृन् तथा तृच् प्रत्ययों में रूप की दृष्टि से कोई भेद नहीं स्वर का भेद है ॥ भाग १ परि० १।१।२ के चेता नेता के समान सिद्धियाँ जानें ॥

इन्हन्पूषार्यम्णां शौ ॥६।४।१२॥

इन्हन्पूषार्यम्णाम् ६।३॥ शौ ७।१॥ *स०*—इन्ह० इत्यत्रेतरेतर द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—उपधायाः, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ *अर्थः*—इन्, हन्, पूषन्, अर्यमन्

इत्येवमन्तानामङ्गानामुपधायाः शौ परतो दीर्घो भवति नान्यत्र ॥ उदा०—इन्—बहुदण्डीनि, बहुच्छत्रीणि। हन्—बहुवृत्रहाणि, बहुभ्रूणहाणि। पूषन्—बहुपूषाणि। अर्यमन्—बह्वर्यमाणि ॥

भाषार्थः—[*इन्हन्पूषार्यम्णाम्*] इन्प्रत्ययान्त हन् पूषन् अर्यमन् इन अङ्गों की उपधा को [*शौ*] शि विभक्ति परे रहते ही दीर्घ होता है ॥ दण्डिन् छत्रिन् शब्दों में मत्वर्थक इनि (५।२।११५) प्रत्यय हुआ है। सर्वत्र बहु शब्द के साथ बहुव्रीहि समास हुआ है ॥ सिद्धि भाग १ परि० १।१।४१ के कुण्डानि के समान है। णत्व भी ८।४।२ से तथा बहुवृत्रहाणि में ८।४।१२ से हो जायेगा ॥

यहाँ से *इन्हन्पूषार्यम्णाम्*' की अनुवृत्ति ६।४।१३ तक जायेगी ॥

सौ च ॥६।४।१३॥

सौ ७।१॥ च अ०॥ *अनु०*—इन्हन्पूषार्यम्णाम्, असम्बुद्धौ, उपधायाः, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ *अर्थः*—सावसम्बुद्धौ परतः इन्हन्पूषार्यम्णामुपधाया दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—दण्डी, वृत्रहा, पूषा, अर्यमा ॥

भाषार्थः—सम्बुद्धिभिन्न [*सौ*] सु विभक्ति परे रहते [*च*] भी इन्, हन्, पूषन्, अर्यमन् अङ्गों की उपधा को दीर्घ होता है ॥ *नलोपः०* (८।२।७) से नकार लोप उदाहरणों में हो ही जायेगा ॥

यहाँ से '*सौ*' की अनुवृत्ति ६।४।१४ तक जायेगी ॥

अत्वसन्तस्य चाधातोः ॥६।४।१४॥

अत्वसन्तस्य ६।१॥ च अ० ॥ अधातोः ६।१॥ *स०*—अतुश्च अस्च अत्वसौ तावन्ते यस्य स अत्वसन्तस्तस्य ...... द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः। न धातुरधातुस्तस्य ...... नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—सौ, असम्बुद्धौ, उपधायाः, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ *अर्थः*—धातुभिन्नस्य अत्वन्तस्य असन्तस्य चाङ्गस्योपधायाः सावसम्बुद्धौ परतो दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—डवतु—भवान्। क्तवतु—कृतवान्। मतुप्—गोमान्, यवमान्। असन्तस्य—सुपयाः, सुयशाः, सुस्रोताः ॥

भाषार्थः—[*अधातोः*] धातु भिन्न [*अत्वसन्तस्य*] अतु तथा अस्

अन्त वाले अङ्ग की उपधा को [च] भी दीर्घ होता है संबुद्धिभिन्न सु विभक्ति परे रहते। भवान् शब्द में *भातेर्डवतुप्* (*उणा० १।६३*) से डवतुप् प्रत्यय हुआ है। डवतुप् का अवतु शेष रहेगा, इस प्रकार भवत् शब्द अतु अन्त वाला है। शेष सिद्धि भाग १ परि० १।१।५ के कृतवान् के समान जानें। सुपयस् सुयशस् से सुपयाः सुयशाः आदि बनेंगे॥

अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति ॥६।४।१५॥

अनुनासिकस्य ६।१॥ क्विझलोः ७।२॥ क्ङिति ७।१॥ *स०*—क्विझलोः इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। कश्च ङश्च क्ङौ, क्ङौ इतौ यस्य स क्ङित् तस्मिन्''' द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः॥ *अनु०*—उपधायाः, अङ्गस्य, दीर्घः॥ *अर्थः*—अनुनासिकान्तस्याङ्गस्योपधाया दीर्घो भवति क्विप्रत्यये परतो झलादौ च क्ङिति॥ *उदा०*—प्रशान्, प्रतान्। झलादौ किति—शान्तः, शान्तवान्, शान्त्वा, शान्तिः। ङिति—शंशान्तः, तन्तान्तः॥

भाषार्थः—[*अनुनासिकस्य*] अनुनासिकान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ होता है [*क्विझलोः*] क्वि तथा झलादि [*क्ङिति*] कित् ङित् परे रहते॥ प्रशान् प्रतान् में शमु तथा तमु धातु से क्विप् (३।२।७६) प्रत्यय हुआ है एवं *मो नो धातोः* (८।२।६४) से म् को न् होता है। शान्तः शान्तवान् में निष्ठा प्रत्यय एवं शान्तिः में झलादि क्तिन् प्रत्यय हुआ है। शंशान्तः तन्तान्तः यहाँ भी पूर्ववत् यङन्त शमु तथा तमु धातुओं से झलादि ङित् तस् प्रत्यय हुआ है। सिद्धि भाग १ परि० २।४।७४ के पापठीति के समान ही है, केवल यहाँ *नुगतोऽनुनासि०* (७।४।८५) से अभ्यास को नुक् आगम होता है, अतः अभ्यास को दीर्घ नहीं होता, यही विशेष है, तस् परे रहते तो प्रकृत सूत्र से दीर्घ होगा ही॥

यहाँ से '*क्विझलोः*' की अनुवृत्ति ६।४।२१ तक तथा '*क्ङिति*' की ६।४।१९ तक जायेगी॥

अज्झनगमां सनि ॥६।४।१६॥

अज्झनगमाम् ६।३॥ सनि ७।१॥ *स०*—अच् च हनश्च गम् च अज्झनगमः, तेषां'''इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—झलि, अङ्गस्य, दीर्घः॥ *अर्थः*—अजन्तानामङ्गानां हनिगम्योश्च झलादौ सनि परतो दीर्घो भवति॥

उदा०—अजन्तानाम्—चिचीषति, तुष्टूषति, चिकीर्षति, जिहीर्षति। हन्—जिघांसति। गम्—अधिजिगांसते॥

भाषार्थ:—[*अज्झनगमाम्*] अजन्त अङ्ग तथा हन् एवं गम् अङ्ग को झलादि [*सनि*] सन् परे रहने पर दीर्घ होता है॥ चिचीषति आदि की सिद्धि भाग १ परि० १।२।६ पृ० ७६८ में देखें। अधिजिगांसते की सिद्धि भाग १ सूत्र २।४।४८ में देखें। इङादेश जो गमि वह यहाँ लिया गया है। हन् धातु से जिघांसति की सिद्धि में कुछ भी विशेष नहीं है। केवल यहाँ *अभ्यासाच्च* (७।३।५५) से अभ्यास से उत्तर ह् को कुत्व घ् हुआ है। अभ्यास को चुत्व आदि पूर्ववत् हो जायेंगे॥

यहाँ से '*सनि*' की अनुवृत्ति ६।४।१७ तक जायेगी॥

तनोतेर्विभाषा ॥६।४।१७॥

तनोते: ६।१॥ विभाषा १।१॥ *अनु०*—सनि, झलि, अङ्गस्य, दीर्घ:॥ *अर्थ:*—तनोतेरङ्गस्य झलादौ सनि परतो विभाषा दीर्घो भवति॥ *उदा०*—तितांसति, तितंसति॥

भाषार्थ:—[*तनोते:*] तन् अङ्ग को झलादि सन् परे रहते [*विभाषा*] विकल्प से दीर्घ होता है॥ सिद्धियाँ पूर्ववत् सन्नन्त की सिद्धियों के समान हैं॥

यहाँ से '*विभाषा*' की अनुवृत्ति ६।४।१८ तक जायेगी॥

क्रमश्च क्त्वि ॥६।४।१८॥

क्रम: ६।१॥ च अ०॥ क्त्वि ७।१॥ *अनु०*—विभाषा, झलि, उपधाया:, अङ्गस्य, दीर्घ:॥ *अर्थ:*—क्रमेरङ्गस्य उपधाया विभाषा दीर्घो भवति झलादौ क्त्वा प्रत्यये परत:॥ *उदा०*—क्रन्त्वा, क्रान्त्वा॥

भाषार्थ:—[*क्रम:*] क्रम अङ्ग की उपधा को [*च*] भी झलादि [*क्त्वि*] क्त्वा प्रत्यय परे रहते विकल्प से दीर्घ होता है॥

च्छ्वो: शूडनुनासिके च ॥६।४।१९॥

च्छ्वो: ६।२॥ शूठ् १।१॥ अनुनासिके ७।१॥ च अ०॥ *स०*—च्छश्च वश्च च्छ्वौ तयो: च्छ्वो:, इतरेतरद्वन्द्व:। शश्च ऊठ् च शूठ्,

समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—क्झिलोः क्ङिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—च्छ्
इत्येतयोः स्थाने यथासंख्यं श् ऊठ् इत्येतौ आदेशौ भवतोऽनुनासिका
प्रत्यये परतः, क्वौ झलादौ च क्ङिति ॥ उदा०—अनुनासिके प्रत्यये-
प्रश्नः, विश्नः । वकारस्य ऊठ्-स्योनः । क्वौ छस्य-शब्दप्राट्, गोविट् । वक
रस्य क्वौ—अक्षद्यूः हिरण्यद्यूः । झलादौ किति छस्य—पृष्टः पृष्टवान्
पृष्ट्वा । वकारस्य झलादौ किति—द्यूतः, द्यूतवान्, द्यूत्वा ॥

भाषार्थः—[च्छ्वोः] च्छ् और व् के स्थान में यथासंख्य करके [शूठ्
श् और ऊठ् आदेश होते हैं [अनुनासिके] अनुनासिकादि प्रत्यय प
रहते [च] तथा क्वि और झलादि कित् ङित् प्रत्ययों के परे रहते
तुक् सहित जो छकार उसको यहाँ शकारादेश होता है ॥

यहाँ से 'च्छ्वोः अनुनासिके' की अनुवृत्ति ६।४।२१ तक तथा 'शूठ
की ६।४।२० तक जायेगी ॥

ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च ॥६।४।२०॥

ज्वरत्वरस्रिव्यविमवाम् ६।१॥ उपधायाः ६।१॥ च अ० ॥ स०—
ज्वर० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—छ्वोः अनुनासिके शूठ्, क्झिलोः
अङ्गस्य ॥ अर्थः—ज्वर, त्वर, स्रिवि, अव, मव इत्येतेषामङ्गानां वकारस
उपधायाश्च स्थाने ऊठ् इत्ययमादेशो भवति क्वौ परतो झलादावनुनासिकादौ
च प्रत्यये परतः ॥ उदा०—ज्वर क्वौ—जूः जुरौ, जुरः । झलादौ—जूर्ति
जूर्णः, जूर्णवान् । त्वर—तूः तुरौ, तुरः । तूर्तिः तूर्णः, तूर्णवान् । स्रिवि-
स्रूः, स्रुवौ, स्रुवः । स्रूतिः, स्रूतः, स्रूतवान् । अव—ऊः, उवौ, उवः
मव—मूः, मुवौ, मुवः । अनुनासिके—अवतेर्मनिन्प्रत्यये—ओम् ॥

भाषार्थः—[ज्वर...वाम्] ज्वर, त्वर, स्रिवि, अव, मव इन अङ्गों के
वकार [च] तथा [उपधायाः] उपधा के स्थान में ऊठ् आदेश होता है
क्वि तथा झलादि एवं अनुनासिकादि प्रत्ययों के परे रहते ॥

इस सूत्र में काशिका में क्ङिति की अनुवृत्ति भी लाये हैं, जो कि
ठीक नहीं, क्योंकि अक्ङित् स्थल में भी इस सूत्र की प्रवृत्ति देखी जाती
है । यथा—अव धातु से सितनिगमि० (उणा० १।६९) से तुन् प्रत्यय
करके ओतुः में । 'अनुनासिके' की अनुवृत्ति तो लानी ही चाहिये

क्योंकि अव धातु से *अवतेष्टिलोपश्च* (उणा० १।१४२) से अनुना-सिकादि मन् प्रत्यय के परे रहते प्रकृत सूत्र से उपधा एवं वकार को ऊठ् होकर मन् के टि का लोप होकर 'ओम्' शब्द सिद्ध होता है ॥ इस प्रकार अनुनासिकादि का एक उदाहरण ही सुलभ होने से दिखा दिया है, अन्यत्र भी इसी प्रकार हो सकता है ॥

जूः, जुरौ आदि में पूर्ववत् क्विप् प्रत्यय हुआ है। ज्वर् त्वर् (ञित्वरा) की उपधा 'व' का 'अ' है अतः उसको एवं व् को ऊठ् होकर ज् ऊठ् र् = जूर् = जूः बन गया। तूर्णः में इट् निषेध भी पक्ष में रुष्य-मत्वर० (७।२।२८) से हुआ है। इसी प्रकार स्रिव् अव् मव् की उपधा क्रमशः इ, अ एवं म का अ है, अतः उपधा एवं वकार के स्थान में ऊठ् होकर स्रूः आदि प्रयोग बन गये। जूर्त्तिः आदि में झलादि क्तिन् आदि प्रत्यय परे हैं ही ॥ सामर्थ्य से यहाँ 'च्छ्वोः शूठ्' की अनुवृत्ति आने पर भी च्छ् एवं श् का सम्बन्ध सूत्रार्थ में नहीं बैठता, वकार एवं ऊठ् का ही लगता है ॥

राल्लोपः ॥६।४।२१॥

रात् ५।१॥ लोपः १।१॥ *अनु०*—छ्वोः, अनुनासिके, क्विझलोः, क्ङिति, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—रेफात् परयोः छ्वोर्लोपो भवति क्वौ झलादौ क्ङिति अनुनासिके च प्रत्यये परतः ॥ *उदा०*—क्वौ—मुर्छा—मूः, मुरौ, मुरः। झलादौ—मूर्त्तः, मूर्त्तवान् मूर्त्तिः। हुर्छा—हूः, हुरौ, हुरः। हूर्णः, हूर्णवान्, हूर्त्तिः। वकारस्य तुर्वी—तूः, तुरौ, तुरः। तूर्णः, तूर्णवान्, तूर्त्तिः। धुर्वी—धूः, धुरौ, धुरः। धूर्णः, धूर्णवान्, धूर्त्तिः ॥

भाषार्थः—[*रात्*] रेफ से उत्तर छकार और वकार का [*लोपः*] लोप हो जाता है क्वि तथा झलादि कित् ङित् अनुनासिकादि प्रत्ययों के परे रहते ॥ रेफ से उत्तर छकार को तुक् किसी सूत्र से विहित नहीं, अतः असम्भव होने से यहाँ रेफ से उत्तर केवल छकार का ही लोप होता है न कि तुक् सहित का ॥ मुर्छा हुर्छा = मुर्छ् हुर्छ् धातुओं के छ् का लोप क्विप् परे रहते होकर मुर् हुर् रहा। शेष मूः आदि की सिद्धि भाग १ परि० ३।२।१७७ के धूः के समान जानें ॥ मूर्त्तः मूर्त्तवान् में *रदाभ्यां निष्ठातो०* (८।२।४२) से प्राप्त निष्ठा के नत्व का अभाव न *ध्याख्यापॄमूर्च्छि०* (८।२।५७) से होता है। *आदितश्च* (७।२।१६) से

इट् प्रतिषेध तथा *हलि च* (८।२।७७) से दीर्घत्व भी होगा। हूर्णः
वान् भी निष्ठा को नत्व करके इसी प्रकार बनेंगे ॥

असिद्धवदत्राभात् ॥६।४।२२॥

असिद्धवत् अ० ॥ अत्र अ० ॥ आ अ० ॥ भात् ५।१॥ स०—न सि
असिद्धः, नञ्तत्पुरुषः ॥ असिद्धेन तुल्यं वर्त्तत इत्यसिद्धवत्। सिद्धशब्दं
निष्पन्नवचनः, यथा 'सिद्ध ओदनः' इति ॥ आ भात् इत्यत्राभि
'आङ्' ॥ *अर्थः*—आभात् अर्थाद् भाधिकारपर्यन्तमापादपरिसमा
सिद्धवदित्यधिकारो वेदितव्यः समानाश्रये ॥ आभीयं शास्त्रं निष्पन्न
आभसंशब्दनाद् यदुच्यते तस्मिन् कर्त्तव्ये सिद्धकार्यं = स्वकार्यं
करोतीत्यर्थः ॥ सूत्रे 'अत्र' शब्दोपादानं समानाश्रयत्वप्रतिपत्त्यर्थं
समान एक आश्रयो निमित्तं यस्य तत् समानाश्रयम् ॥ *उदा०*—
शाधि। आगहि, जहि ॥

भाषार्थः—'आभात्' यहाँ आङ् अभिविधि में है, अतः 'आभ
से '*भस्य*' (६।४।१२६) का अधिकार जहाँ तक जाता है, अर्थात् 'पाद
समाप्ति पर्यन्त' ऐसा अर्थ होगा ॥

[*आभात्*] भस्य के अधिकार पर्यन्त अर्थात् इस अध्याय की सम
पर्यन्त [*अत्र*] समानाश्रय अर्थात् एक ही निमित्त होने पर आभीय
[*असिद्धवत्*] सिद्ध के समान नहीं होता, अर्थात् आभीय कार्य के
पर भी वह न होने जैसा इस सूत्र से माना जाता है ॥ 'अत्र' का ग्र
यहाँ समानाश्रयत्व द्योतन के लिये है। समान = एक ही आश्रय = निमि
है जिसका वह समानाश्रय हुआ। द्वितीयावृत्ति में प्रत्युदाहरण से
बात सुस्पष्ट हो जायेगी ॥ 'असिद्धवत्' यह अधिकार पाद की सम
पर्यन्त जानना चाहिये ॥

अस भुवि तथा शासु अनुशिष्टौ धातु के लोट् मध्यम पुरुष के
शाधि रूप हैं, अतः सिप् प्रत्यय आकर एवं सिप् को *सेर्ह्यपिच्च* (३।४।८७
हि आदेश तथा शप् का *अदिप्रभृतिभ्यः०* (२।४।७२) से लुक् होकर
हि, शास् हि रहा। अस् के अ का *श्नसोरल्लोपः* (६।४।१११)
लोप होकर स् हि रहा। *घ्वसोरेद्धावभ्या०* (६।४।११९) से उस
को भी एकार होकर 'ए हि'। इसी प्रकार *शा हौ* (६।४।३५) से श

के स्थान में 'शा' आदेश करने से 'शा हि' रहा। अब यहाँ दोनों स्थलों में *हुझल्भ्यो हेर्धिः* (६।४।१०१) से हि को धि प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि झल् से उत्तर 'हि' नहीं है, किन्तु जब प्रकृत सूत्र से आभीय कार्य धित्व करने में, आभीय कार्य एत्व (६।४।११९) एवं शा भाव (६।४।३५) असिद्ध अर्थात् अनिष्पन्न के समान माने गये तो *हुझल्भ्यो हेर्धिः* की दृष्टि में 'स् हि, शास् हि' ऐसा रूप ही दिखा, अतः एत्व शाभाव कर लेने पर भी हुझल्भ्यो० से झलन्त से उत्तर 'धि' होकर एधि, शाधि सिद्ध हो गये॥ आगहि जहि भी पूर्ववत् ही गम् तथा हन् के लोट् के रूप हैं। गम् के अनुनासिक का लोप *अनुदात्तोपदे०* (६।४।३७) से हुआ है, तथा शप् का *बहुलं छन्दसि* (२।४।७३) से लुक् हो जायेगा। हन् को भी हि परे रहते *हन्तेर्जः* (६।४।३६) से ज आदेश हो जायेगा सो आगहि जहि ऐसे रूप बने, किन्तु यहाँ *अतो हेः* (६।४।१०५) से 'ग' तथा 'ज' अदन्त अङ्ग से उत्तर हि का लुक् भी प्राप्त हुआ जो कि इष्ट नहीं, तब प्रकृत सूत्र से आभीय कार्य *अतो हेः* की दृष्टि में आभीय कार्य अनुनासिक लोप एवं ज भाव असिद्ध हो गये, तो 'आ गम् हि, हन् हि' ऐसा रूप ही *अतो हेः* को दिखा, अब हि का लुक् करने में गम् हन् तो अदन्त हैं नहीं, अतः *अतो हेः* से हि का लुक् भी नहीं हुआ, यही इस सूत्र का प्रयोजन है॥

श्नान्नलोपः ॥६।४।२३॥

श्नात् ५।१॥ नलोपः १।१॥ *स०*—नकारस्य लोपः नलोपः षष्ठीतत्पुरुषः॥ *अर्थः*—श्नादुत्तरस्य नकारस्य लोपो भवति॥ श्नादित्यनेन श्नम् उत्सृष्टमकारो गृह्यते॥ *उदा०*—अनक्ति, भनक्ति, हिनस्ति॥

भाषार्थः—[*श्नात्*] श्न से उत्तर [*नलोपः*] नकार का लोप हो जाता है॥ श्न से यहाँ श्नम् (३।१।७८) का ग्रहण है॥ अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु धातु से अनक्ति, भञ्जो आमर्दने से भनक्ति, हिसि हिंसायाम् से हिनस्ति बनता है। हिसि धातु में *इदितो* नुम्० (७।१।५८) से नुम् आगम होकर हिन्स् बना है। शेष कार्य भाग १ परि० १।१।४३ के भिनत्ति की सिद्धि के समान जानें। अ श्नम् अ्ज् ति = अन ञ् ज् ति यहाँ प्रकृत सूत्र से श्नम् से उत्तर न् (जो कि ज् के योग से 'ञ्' हो गया है) का लोप हो गया। पश्चात् *चोः कुः* (८।२।३०) से ज् को ग्

एवं *खरि च* (८।४।५४) से क् होकर अनक्ति बन गया। भर्ना
हिनस्ति में भी यही प्रक्रिया जानें ॥

यहाँ से '*नलोपः*' की अनुवृत्ति ६।४।३३ तक जायेगी ॥

अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति ॥६।४।२४॥

अनिदिताम् ६।३॥ हलः ६।१॥ उपधायाः ६।१॥ क्ङिति ७।१
स०—इकार इत् येषां त इदितः, बहुव्रीहिः। न इदितोऽनिदितस्ते
नञ्तत्पुरुषः। कश्च ङश्च क्ङौ, क्ङौ इतौ यस्य स क्ङित् तस्मिन्
द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—नलोपः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अनिदित
मङ्गानां हलन्तानामुपधाया नकारस्य लोपो भवति किति ङिति च प्रत्य
परतः ॥ *उदा०*—किति—स्रस्तः, ध्वस्तः। स्रस्यते, ध्वस्यते। ङिति-
सनीस्रस्यते, दनीध्वस्यते ॥

भाषार्थः—[*अनिदिताम्*] इकार जिनका इत् संज्ञक नहीं है, ऐ
[*हलः*] हलन्त अङ्ग की [*उपधायाः*] उपधा के नकार का लोप होता
[*क्ङिति*] कित् ङित् प्रत्ययों के परे रहते ॥ स्रन्सु ध्वन्सु धातुएँ अनिदि
तथा हलन्त हैं, अतः इनके उपधा नकार का लोप हो गया है। क्त
स्रस्तः एवं कर्म में यक् परे रहते स्रस्यते रूप बना है। यङ् परे रह
नलोप होकर सनीस्रस्यते रूप बनेगा। इसकी सिद्धि भाग १ परि
३।१।२२ में प्रदर्शित पापच्यते के समान ही है। केवल यहाँ *नीग्वञ्चुस्रन्*
ध्वन्सु० (७।४।८४) से अभ्यास को 'नीक्' का आगम होता है य
विशेष है। नीक् का 'नी' शेष रहेगा ॥

यहाँ से '*उपधायाः*' की अनुवृत्ति ६।४।३४ तक जायेगी ॥

दंशसञ्जस्वञ्जां शपि ॥६।४।२५॥

दंशसञ्जस्वञ्जाम् ६।३॥ शपि ७।१॥ *स०*—दंश० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः
अनु०—उपधायाः, नलोपः, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—दन्श, सञ्ज, ष्वञ्ज इत्येतेष
मङ्गानामुपधाया नकारस्य लोपो भवति शपि परतः ॥ *उदा०*—दशति
सजति। परिष्वजते ॥

भाषार्थः—[*दंशसञ्जस्वञ्जाम्*] दन्श, सञ्ज, ष्वञ्ज इन अङ्गों की उपध

नकार का लोप होता है [*शपि*] शप् प्रत्यय परे रहते ॥ षञ्ज एवं ष्वञ्ज के ष् को धात्वादेः षः सः (६।१।६२) से स्, पुनः उपसर्ग से उत्तर *उपसर्गात् सुनोति*० (८।३।६५) से षत्व होकर परिष्वजते बनता है ॥

यहाँ से '*शपि*' की अनुवृत्ति ६।४।२६ तक जायेगी ॥

रञ्जेश्च ॥६।४।२६॥

रञ्जेः ६।१॥ च अ०॥ *अनु*०—शपि, उपधायाः, नलोपः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—रञ्जेश्च उपधाया नकारस्य लोपो भवति शपि परतः ॥ *उदा*०—रजति, रजतः, रजन्ति ॥

भाषार्थः—[*रञ्जेः*] रञ्ज् अङ्ग की उपधा के नकार का [*च*] भी लोप होता है, शप् परे रहते ॥

यहाँ से '*रञ्जेः*' की अनुवृत्ति ६।४।२७ तक जायेगी ॥

घञि च भावकरणयोः ॥६।४।२७॥

घञि ७।१॥ च अ०॥ भावकरणयोः ७।२॥ *स*०—भाव० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु*०—रञ्जेः, उपधायाः, नलोपः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—भावकरणवाचिनि घञि च परतो रञ्जेरुपधाया नकारस्य लोपो भवति ॥ *उदा*०—भावे-आश्चर्यो रागः, विचित्रो रागः । करणे-रज्यतेऽनेनेति रागः ॥

भाषार्थः—[*भावकरणयोः*] भाववाची तथा करणवाची [*घञि*] घञ् के परे रहते [*च*] भी रञ्ज् धातु की उपधा नकार का लोप होता है ॥ करण में *हलश्च* (३।३।१२१) से घञ् होता है ॥

यहाँ से '*घञि*' की अनुवृत्ति ६।४।२९ तक जायेगी ॥

स्यदो जवे ॥६।४।२८॥

स्यदः १।१॥ जवे ७।१॥ *अनु*०—घञि, उपधायाः, नलोपः ॥ *अर्थः*—जवेऽभिधेये घञि परतः स्यद इति निपात्यते । निपातनेन स्यन्देर्नलोपो वृद्ध्यभावश्च भवति ॥ *उदा*०—गवां स्यदः = गोस्यदः, अश्वस्यदः ॥

भाषार्थः—[*जवे*] जव = वेग अभिधेय हो तो घञ् परे रहते [*स्यदः*] स्यद शब्द निपातन किया जाता है । स्यन्दू धातु के न् का लोप तथा

अत उपधायाः (७।२।११६) से प्राप्त वृद्धि का अभाव यहाँ निपातन से होता है ॥ *भावे* (३।३।१८) से घञ् हो ही जायेगा ॥

अवोदैधौद्मप्रश्रथहिमश्रथाः ॥६।४।२९॥

अवो······श्रथाः १।३॥ स०—अवोदै० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—घञि, उपधायाः, नलोपः ॥ *अर्थः*—अवोद, एध, ओद्म, प्रश्रथ, हिमश्रथ इत्येते निपात्यन्ते । अवोद इत्यत्र अवपूर्वस्य उन्देः घञि नलोपो निपात्यते । अवोदः । एध इत्यत्र इन्धेर्घञि नलोपो गुणश्च निपात्यते । एधः । ओद्म इत्यत्र उन्देरौणादिके (उणा० १।१४०) मन्प्रत्यये परतो नलोपो गुणश्च निपात्यते । ओद्मः । प्रश्रथ इत्यत्र प्रपूर्वस्य श्रन्थेर्घञि नलोपो वृद्ध्यभावश्च निपात्यते । प्रश्रथः । हिमश्रथ इत्यत्र हिमपूर्वस्य श्रन्थेर्घञि नलोपो वृद्ध्यभावश्च निपात्यते ॥

भाषार्थः—[*अवो······श्रथाः*] अवोद, एध, ओद्म, प्रश्रथ, हिमश्रथ ये शब्द निपातन किये जाते हैं ॥ अवोद यहाँ अव पूर्वक उन्द धातु के नकार का लोप घञ् परे रहते निपातन किया गया है । एध यहाँ इन्ध धातु के न् का लोप एवं गुण घञ् परे रहते निपातन से किया गया है । *न धातुलोप०* (१।१।४) से गुण का निषेध प्राप्त था, निपातन से प्राप्त करा दिया । ओद्म यहाँ उन्द धातु से *अर्तिस्तुसु०* (*उणा०* १।१४०) इस उणादि सूत्र से बाहुलक से हुये मन् प्रत्यय के परे रहते नलोप एवं गुण निपातन से किया जाता है । प्रश्रथ यहाँ प्रपूर्वक श्रन्थ धातु से घञ् परे रहते नलोप एवं *अत उपधायाः* (७।२।११६) से प्राप्त वृद्धि का अभाव निपातन से होता है । हिमश्रथ यहाँ हिम पूर्वपद रहते श्रन्थ धातु से घञ् परे रहते पूर्ववत् नलोप एवं वृद्ध्यभाव निपातन है ॥

नाञ्चेः पूजायाम् ॥६।४।३०॥

न अ० ॥ अञ्चेः ६।१॥ पूजायाम् ७।१॥ *अनु०*—उपधायाः, नलोपः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—पूजायामर्थे अञ्चेरङ्गस्योपधायाः नकारस्य लोपो न भवति ॥ *उदा०*—अञ्चिता अस्य गुरवः । अञ्चितमिव शिरो वहति ॥

भाषार्थः—[*पूजायाम्*] पूजा अर्थ में [*अञ्चेः*] अञ्चु अङ्ग की उपधा

नकार का लोप [*न*] नहीं होता है ॥ *अनिदितां हल०* (६।४।२४) से नकार लोप प्राप्त था इस सूत्र से निषेध कर दिया ॥ अञ्चिताः यहाँ *मतिबुद्धि०* (३।२।१८८) से क्त प्रत्यय होता है। *अञ्चेः पूजायाम्* (७।२।५३) से इट् आगम भी यहाँ होता है ॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ६।४।३२ तक जायेगी ॥

क्त्वि स्कन्दिस्यन्दोः ॥६।४।३१॥

क्त्वि ७।१॥ स्कन्दिस्यन्दोः ६।२॥ *स०*—स्कन्दि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—न, उपधायाः, नलोपः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—स्कन्द, स्यन्द इत्येतयोर्नकारलोपो न भवति क्त्वाप्रत्यये परतः ॥ *उदा०*—स्कन्त्वा, स्यन्त्वा । स्यन्देरूदित्वात् पक्षे इडागमः—स्यन्दित्वा ॥

भाषार्थः—[*स्कन्दिस्यन्दोः*] स्कन्द तथा स्यन्द के नकार का लोप [*क्त्वि*] क्त्वा प्रत्यय परे रहते नहीं होता ॥ पूर्ववत् *अनिदितां हल०* (६।४।२४) से प्राप्ति थी निषेध कर दिया। स्यन्दू धातु ऊदित् है, अतः *स्वरतिसूति०* (७।२।४४) से पक्ष में इट् आगम होकर स्कन्दित्वा रूप भी बनता है। इट् पक्ष में *न क्त्वा सेट्* (१।२।१८) से कित् का प्रतिषेध होने पर अकित् माना जाने से स्वयमेव नलोप का अभाव रहेगा ॥ स्कन्त्वा आदि में *खरि च* (८।४।५४) से द् को चर्त्व होकर *झरो झरि०* (८।४।६४) से एक त् का लोप होता है ॥

यहाँ से '*क्त्वि*' की अनुवृत्ति ६।४।३२ तक जायेगी ॥

जान्तनशां विभाषा ॥६।४।३२॥

जान्तनशाम् ६।३॥ विभाषा १।१ ॥ *स०*—ज अन्ते येषाम् ते जान्ताः, जान्ताश्च नश्च जान्तनशस्तेषाम्.......बहुव्रीहिगर्भेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—क्त्वि, न, उपधायाः, नलोपः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—जान्तानामङ्गानां नशेश्च क्त्वाप्रत्यये परतो विभाषा नकारलोपो न भवति ॥ *उदा०*—रञ्ज्—रङ्क्त्वा, रक्त्वा । भञ्ज्—भङ्क्त्वा, भक्त्वा । नश्—नंष्ट्वा, नष्ट्वा ॥

भाषार्थः—[*जान्तनशाम्*] जकारान्त अङ्ग के तथा नश् के नकार का लोप [*विभाषा*] विकल्प करके नहीं होता, अर्थात् होता है ॥ पूर्ववत् प्राप्ति थी, विकल्प विधान कर दिया ॥ भङ्क्त्वा आदि में ज् को चोः कुः

(८।२।३०) एवं *खरि च* (८।४।५४) से क् होता है। न् को परसवर्णा होकर ङ् हो ही जायेगा। नश् धातु को क्त्वा परे रहते *मस्जिनशोर्झलि* (७।१।६०) से जो नुम् आगम होता है, उसी का यहाँ विकल्प से लो होता है। *व्रश्चभ्रस्ज०* (८।२।३६) से श् को ष् एवं ष्टुत्व होकर नंष्ट्वा नष्ट्वा बनता है॥

यहाँ से '*विभाषा*' की अनुवृत्ति ६।४।३३ तक जायेगी॥

भञ्जेश्च चिणि ॥६।४।३३॥

भञ्जेः ६।१॥ च अ०॥ चिणि ७।१॥ *अनु०*—विभाषा, उपधायाः, नलोपः, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—चिणि परतो भञ्जेश्च विभाषा नकारलोपो भवति॥ *उदा०*—अभाजि, अभञ्जि॥

भाषार्थः—[*भञ्जेः*] भञ्ज् अङ्ग के नकार का लोप [च] भी विकल्प से होता है [*चिणि*] चिण् प्रत्यय परे रहते॥ चिण् प्रत्यय कित् ङित् नहीं है, अतः नलोप की प्राप्ति ही नहीं थी, अतः यह अप्राप्त विभाषा है॥ *चिण् भावकर्मणोः* (३।१।६६) से चिण् प्रत्यय होता है। अभाजि में *अत उपधायाः* (७।२।११६) से वृद्धि हो जायेगी॥

शास इदङ्हलोः ॥६।४।३४॥

शासः ६।१॥ इत् १।१॥ अङ्हलोः ७।२॥ *स०*—अङ्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—उपधायाः, अङ्गस्य। क्ङिति इत्यप्यनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या॥ *अर्थः*—शास उपधाया इकारादेशो भवति, अङि परतो हलादौ च क्ङिति॥ *उदा०*—अङ्—अन्वशिषत्, अन्वशिषताम्। हलादौ किति—शिष्टः, शिष्टवान्। ङिति—तौ शिष्टः, वयं शिष्मः॥

भाषार्थः—[*शासः*] शास् अङ्ग की उपधा को [*इत्*] इकारादेश हो जाता है [*अङ्हलोः*] अङ् तथा हलादि कित् ङित् प्रत्यय परे रहते॥ भाग १ परि० ३।१।५६ पृ० ८८१ में अशिषत् की सिद्धि देखें। यहाँ अनुपूर्वक प्रयोग है। निष्ठा में शिष्टः शिष्टवान् एवं तस् मस् में शिष्टः शिष्मः बने हैं। *सार्वधातुकमपित्* (१।२।४) से तस् मस् ङित् हैं, अतः हलादि ङित् प्रत्यय परे है ही। *शासिवसि०* (८।३।६०) से षत्व एवं ष्टुत्व ही विशेष है। शास् की उपधा 'आ' को सर्वत्र इत्व हुआ है॥

यहाँ से 'शासः' की अनुवृत्ति ६।४।३५ तक जायेगी ॥

शा हौ ॥६।४।३५॥

शा १।१॥ हौ ७।१॥ अनु०—शासः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—शासोऽङ्गस्य स्थाने हौ परतः शा इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—अनुशाधि, प्रशाधि ॥

भाषार्थः—शास् अङ्ग के स्थान में [*हौ*] हि परे रहते [*शा*] शा यह आदेश होता है ॥ सिद्धि *असिद्धवदत्राभात्* (६।४।२२) सूत्र में देखें ॥

यहाँ से 'हौ' की अनुवृत्ति ६।४।३६ तक जायेगी ॥

हन्तेर्जः ॥६।४।३६॥

हन्तेः ६।१॥ जः १।१॥ अनु०—हौ, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—हन्तेरङ्गस्य स्थाने ज इत्ययमादेशो भवति हौ परतः ॥ उदा०—जहि शत्रून् ॥

भाषार्थः—[*हन्तेः*] हन् अङ्ग के स्थान में हि परे रहते [*जः*] ज यह आदेश होता है ॥ सिद्धि *असिद्धवद०* सूत्र में ही देखें ॥

अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति ॥६।४।३७॥

अनुदा...दीनाम् ६।३॥ अनुनासिक लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ लोपः १।१॥ झलि ७।१॥ क्ङिति ७।१॥ स०—अनुदात्त उपदेशे येषां ते अनुदात्तोपदेशाः, बहुव्रीहिः । तनोतिरादिर्येषां ते तनोत्यादयः, बहुव्रीहिः । अनुदात्तोपदेशाश्च वनतिश्च तनोत्यादयश्च अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादयस्तेषां...इतरेतरद्वन्द्वः । क्ङिति इत्यत्र पूर्ववत् समासो ज्ञेयः ॥ *अनु०*—अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—उपदेशे अनुदात्तानाम् अनुनासिकान्तानां वनतेः तनोत्यादीनां चाङ्गानां झलादौ क्ङिति प्रत्यये परतोऽनुनासिकस्य लोपो भवति ॥ उदा०—अनुदात्तोपदेशानाम्—यम्—यत्वा, यतः, यतवान्, यतिः । रमु—रत्वा, रतः, रतवान्, रतिः । वनतेः—वतिः । तनोत्यादीनाम्—ततः, ततवान्, क्षणु-क्षतः, क्षतवान्, ऋणु-ऋतः, ऋतवान्, । ङिति-अतत, अतथाः ॥

भाषार्थः—[*अनु...दीनाम्*] उपदेश में जो अनुदात्त अनुनासिकान्त उनके तथा वन एवं तनोत्यादि अङ्गों के [*अनुनासिक*] अनुनासिक का

[*लोपः*] लोप होता है, [*झलि क्ङिति*] झलादि कित् ङित् प्रत्ययों के परे रहते ॥ अनुनासिक का संबन्ध लोप के साथ और अनुदात्तोपदेश के साथ भी लगाना इष्ट है, अतः 'अनुनासिक' पद लुप्तविभक्तिक माना गया है। अनुदात्तोपदेश का विशेषण 'अनुनासिकानाम्' न बनाने पर युक्त में म लोप प्राप्त होगा ॥ वन धातु से क्तिन् में वतिः रूप बना है। क्तिच् में तो *न क्तिचि दीर्घश्च* (६।४।३९) से अनुनासिक लोप निषेध कहा है अतः क्तिच् का रूप नहीं हो सकता। अतत, अतथाः की सिद्धि भाग १ सूत्र २।४।७९ में देखें। त तथा थास् *सार्वधातुकमपित्* (१।२।४) से ङित् हैं ॥

यहाँ से '*अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम्*' की अनुवृत्ति ६।४।३९ तक तथा '*अनुनासिक लोपः*' की ६।४।४० तक जायेगी ॥

वा ल्यपि ॥६।४।३८॥

वा अ०॥ ल्यपि ७।१॥ *अनु०*—अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम्, अनुनासिक लोपः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामङ्गानां ल्यपि परतो विकल्पेन अनुनासिकलोपो भवति ॥ इयं व्यवस्थितविभाषा, तेन मान्तानां विकल्पेन लोपो भवति नान्तानां तु नित्यमेव ॥ *उदा०*—प्रयत्य, प्रयम्य, प्ररत्य, प्ररम्य, प्रणत्य, प्रणम्य, आगत्य, आगम्य, आहत्य, प्रमत्य, प्रवत्य, वितत्य, प्रक्षत्य ॥

भाषार्थः—अनुदात्तोपदेश, वनति तथा तनोत्यादि अङ्गों के अनुनासिक का लोप [*ल्यपि*] ल्यप् परे रहते [*वा*] विकल्प करके होता है ॥ यह व्यवस्थित विभाषा है, अतः मकारान्तों का विकल्प से लोप होता है नकारान्तों का नित्य ही लोप देखा जाता है ॥ सिद्धियां भाग १ परि० १।१।५५ के प्रकृत्य के समान जानें ॥

न क्तिचि दीर्घश्च ॥६।४।३९॥

न अ० ॥ क्तिचि ७।१॥ दीर्घः १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम्, अनुनासिक लोपः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—क्तिचि परतोऽनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामङ्गानामनुनासिक लोपः दीर्घश्च न भवति ॥ *उदा०*—यन्तिः, वन्तिः, तन्तिः ॥

भाषार्थः—[*क्तिचि*] क्तिच् परे रहते अनुदात्तोपदेश, वनति तथा तनोत्यादि अङ्गों के अनुनासिक का लोप [*च*] तथा [*दीर्घः*] दीर्घ [*न*] नहीं होता है ॥ अनुनासिक लोप का प्रतिषेध कर देने पर *अनुनासिकस्य क्विझलोः०* (६।४।१५) से जो दीर्घत्व प्राप्त था उसका भी इस सूत्र से प्रतिषेध कर दिया गया ॥ *क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्* (३।३।१७४) से क्तिच् प्रत्यय होता है ॥

गमः क्वौ ॥६।४।४०॥

गमः ६।१॥ क्वौ ७।१॥ *अनु०*—अनुनासिक लोपः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—क्वौ परतो गमोऽनुनासिक लोपो भवति ॥ *उदा०*—अङ्गगत्, कलिङ्गगत्, अध्वानं गच्छन्तीति = अध्वगतो हरयः ॥

भाषार्थः—[*क्वौ*] क्वि परे रहते [*गमः*] गम् के अनुनासिक का लोप होता है ॥ झलादि प्रत्यय परे न होने से ६।४।३७ से अनुनासिक लोप प्राप्त नहीं था अतः विधान कर दिया है ॥ उदाहरणों में *क्विप् च* (३।२।७६) से क्विप् प्रत्यय तथा तुक् आगम पूर्ववत् होगा ॥

विड्वनोरनुनासिकस्यात् ॥६।४।४१॥

विड्वनोः ७।२॥ अनुनासिकस्य ६।१॥ आत् १।१॥ *स०*—विड्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अनुनासिकान्तस्याङ्गस्य विटि वनि च प्रत्यये परत आकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—अब्जाः, गोजाः, ऋतजाः, अद्रिजाः, गोषा इन्द्रो नृषा असि, कूपखाः, शतखाः, सहस्रखाः, दधिक्राः, अग्रेगा उन्नेतॄणाम् । वन्—विजावा, अग्रेजावा ॥

भाषार्थः—[*विड्वनोः*] विट् तथा वन् प्रत्यय परे रहते [*अनुनासिकस्य*] अनुनासिकान्त अङ्ग को [*आत्*] आकार आदेश होता है ॥ सिद्धियाँ भाग १ सूत्र ३।२।६७ में देखें । विजावा अग्रेजावा में वनिप् प्रत्यय *अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते* (३।२।७५) से होता है । सिद्धि भी उसी प्रकरण में देखें ॥

यहाँ से '*आत्*' की अनुवृत्ति ६।४।४५ तक जायेगी ॥

के तृच् का रूप है। *न पदान्त०* (१।१।५७) सूत्र के परिशिष्ट में धातु से चिकीर्ष बनाने की प्रक्रिया देखें। यहाँ तृच् आर्धधातुक के रहते 'ष' के 'अ' का *अतो लोपः* (६।४।४८) से लोप हुआ है। यङ् में भि धातु से 'बेभिद्य' रूप बन कर तृच् आर्धधातुक परे रहते *यस्य ह* से [1]यकार का लोप हुआ है, पश्चात् इट् आगमादि होकर बेभिदि रूप बन गया। कारणा हारणा की सिद्धि भाग १ सूत्र ३।३।१०७ में देखें

भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम् ॥६।४।४७॥

भ्रस्जः ६।१॥ रोपधयोः ६।२॥ रम् १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *स०* रेफश्च उपधा च रोपधे तयोः''' इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—आर्धधातु अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—भ्रस्जो रेफस्योपधायाश्च स्थाने रमागमो विकल्प भवति, आर्धधातुके परतः ॥ *उदा०*—भ्रष्टा, भर्ष्टा। भ्रष्टुम्, भर्ष्टुम् भ्रष्टव्यम्, भर्ष्टव्यम्। भ्रज्जनम्, भर्ज्जनम् ॥

भाषार्थः—[*भ्रस्जः*] भ्रस्ज धातु के [*रोपधयोः*] रेफ तथा उप के स्थान में [*रम्*] रम् आगम [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से होता आर्धधातुक परे रहने पर ॥ रेफ एवं उपधा सकार के स्थान में रम् मि *चोऽन्त्यात् परः* (१।१।४६) से अन्त्य अच् अ से परे होकर भ् अ जू तृच् = भ र् ज् तृ रहा। *व्रश्चभ्रस्ज०* (८।२।३६) से ज् को ष् ष्टुत्व होकर भर्ष्टा बना। पक्ष में जब रम् आगम नहीं हुआ तो स्क *संयोगा०* (८।२।२९) से सकार लोप एवं पूर्ववत् षत्व ष्टुत्व हो भ्रष्टा बन गया। भ्रज्जनम् भर्ज्जनम् में स् को *झलां जश् झ* (८।४।५२) से दकार एवं श्चुत्व होकर 'ज्' हो गया है ॥ रम् के र अकार उच्चारणार्थ रखा है[2] ॥

---

१. वस्तुतः यस्य हलः से अकार सहित 'य' सम्पूर्ण का लोप होता है, य् वर्ण का लोप होता है ये दोनों ही पक्ष माने गये हैं। किन्तु य् लोप करके पु अतो लोपः से लोप करने में प्रक्रिया गौरव होने 'य' समुदाय का ही लोप मान श्रेयस्कर है ॥

२. यहाँ रोपधयोः में षष्ठी विभक्ति होने से रम् आगम रेफ एवं उपधा के स्थ में भी होता है, तथा रम् में मित् होने से अन्त्य अच् भ्र के अ से परे भी होता है ये दोनों ही व्यवस्था षष्ठीनिर्देश एवं मित्करण इन दोनों बातों का सार्थक्य क के लिये एक ही साथ हो जाती हैं ॥

अतो लोपः ॥६।४।४८॥

अतः ६।१॥ लोपः १।१॥ *अनु०*—आर्धधातुके, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अकारान्तस्याङ्गस्य आर्धधातुके परतो लोपो भवति ॥ *उदा०*—चिकीर्षिता, चिकीर्षितुम्, चिकीर्षितव्यम् । धिनोति, कृणोति ॥

भाषार्थः—[*अतः*] अकारान्त अङ्ग का आर्धधातुक परे रहते [*लोपः*] लोप हो जाता है ॥ चिकीर्षिता आदि की सिद्धि ६।४।४६ सूत्र में ही देखें। धिनोति कृणोति की सिद्धि भाग १ परि० ३।१।८० में देखें। यहाँ 'उ' आर्धधातुक के परे रहते 'अ' का लोप हुआ है ॥

यहाँ से '*लोपः*' की अनुवृत्ति ६।४।५४ तक जायेगी ॥

यस्य हलः ॥६।४।४९॥

यस्य ६।१॥ हलः ५।१॥ *अनु०*—लोपः, आर्धधातुके ॥ *अर्थः*—हल उत्तरस्य यशब्दस्य आर्धधातुके लोपो भवति ॥ *उदा०*—बेभिदिता, बेभिदितुम्, बेभिदितव्यम् ॥

भाषार्थः—[*हलः*] हल् से उत्तर [*यस्य*] 'य' का लोप होता है आर्धधातुक परे रहते ॥ सिद्धि ६।३।४६ सूत्र में देखें ॥

यहाँ से '*हलः*' की अनुवृत्ति ६।४।५० तक जायेगी ॥

क्यस्य विभाषा ॥६।४।५०॥

क्यस्य ६।१॥ विभाषा १।१॥ *अनु०*—हलः, लोपः, आर्धधातुके ॥ *अर्थः*—हल उत्तरस्य क्यस्य विभाषा लोपो भवति ॥ *उदा०*—समिधमात्मन इच्छति, समिद् इवाचरतीति वा = समिध्यिता, समिधिता । दृषद्यिता, दृषदिता ॥

भाषार्थः—हल् से उत्तर [*क्यस्य*] क्य का [*विभाषा*] विकल्प से आर्धधातुक परे रहते लोप होता है ॥ क्य से सामान्य करके क्यच् क्यङ् का ग्रहण होता है ॥ *सुप आत्मनः०* (३।१।८) से क्यच् एवं *कर्तुः क्यङ्०* (३।१।११) से क्यङ् होता है ॥

णेरनिटि ॥६।४।५१॥

णेः ६।१॥ अनिटि ७।१॥ स०—न इट् यस्मिन्, तदनि तस्मिन् अनिटि, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—लोपः, आर्धधातुके, अङ्गस्य अर्थः—अनिडादावार्धधातुके णेर्लोपो भवति ॥ उदा०—अततक्षत अररक्षत्, आटिटत्, आशिशत् । कारणा, हारणा । कारकः, हारकः कार्यते, हार्यते । ज्ञीप्सति ॥

भाषार्थः—[*अनिटि*] अनिडादि आर्धधातुक परे रहते [*णेः*] णि व लोप होता है ॥ अततक्षत्, अररक्षत् की सिद्धि भाग १ परि० १।४ पृ० ८२१ में देखें । आटिटत्, आशिशत् की सिद्धि परि० १।१।५ पृ० ७५२ में देखें । कारणा हारणा की सिद्धि ३।३।१०७ सूत्र में देखें कारकः हारकः में णिच् लोप ही विशेष है । कार्यते हार्यते णिजन्त कर्म के रूप हैं । *अचो ञ्णिति* (७।२।११५) से कृ हृ को वृद्धि हुई है ज्ञीप्सति यहाँ ज्ञा धातु से णिच् एवं *अर्तिह्री०* (७।३।३६) से पुक् आग होकर ज्ञापि धातु बनी । ततः *मारणतोषणनिशामनेषु ज्ञा* (धातुपाठ भ्वा० से ज्ञा की मित् संज्ञा होकर *मितां ह्रस्वः* (६।४।९२) से ह्रस्व हो गय पश्चात् सन् प्रत्यय एवं द्वित्वादि होकर 'ज ज्ञप् इ स' रहा । णेरनि से णिलोप एवं *सनीवन्तर्ध०* (७।२।४९) से इट् आगम का अभाव होव 'ज ज्ञप् स' रहा । *आप्ज्ञप्यृधामीत्* (७।४।५५) से ज्ञप् के अ को ईत्व ए *अत्र लोपोऽभ्या०* (७।४।५८) से अभ्यास लोप होकर 'ज्ञीप् स' बना आगे ज्ञीप्सति बन गया ॥

यहाँ से '*णेः*' की अनुवृत्ति ६।४।५७ तक जायेगी ॥

निष्ठायां सेटि ॥६।४।५२॥

निष्ठायाम् ७।१॥ सेटि ७।१॥ स०—इटा सह सेट्, तस्मिन्.... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—णेः, लोपः ॥ *अर्थः*—सेटि निष्ठायां परतो णेर्लो भवति ॥ उदा०—कारितम्, हारितम्, गणितम्, लक्षितम् ॥

भाषार्थः—[*सेटि*] सेट् [*निष्ठायाम्*] निष्ठा परे रहते णि का लोप जाता है ॥ गण तथा लक्ष धातु चुरादि गण की हैं, अतः *सत्या* *चुरादिभ्यो णिच्* (३।१।२५) से णिच् हो गया ॥

जनिता मन्त्रे ॥६।४।५३॥

जनिता १।१॥ मन्त्रे ७।१॥ *अनु०*—णेः, लोपः ॥ *अर्थः*—मन्त्रविषये इडादौ तृचि परतः 'जनिता' इति निपात्यते ॥ *उदा०*—यो नः पिता जनिता (ऋ० १०।८२।३) ॥

भाषार्थः—[*मन्त्रे*] मन्त्र विषय में इडादि तृच् परे रहते [*जनिता*] जनिता यह निपातन है ॥ *णेरनिटि*(६।४।५१)से अनिट् आर्धधातुक परे रहते ही णिलोप प्राप्त था, इडादि आर्धधातुक में भी हो जाये अतः निपातन किया है ॥ जनिता में जो वृद्धि करके 'जान्' बना था उसे *जनीजृष्०* (धा० पा०) से मित् होकर *मितां ह्रस्वः* (६।४।९२) से ह्रस्व हो गया है ॥

शमिता यज्ञे ॥६।४।५४॥

शमिता १।१॥ यज्ञे ७।१॥ *अनु०*—णेः, लोपः ॥ *अर्थः*—यज्ञकर्मणि इडादौ तृचि परतः 'शमिता' इति निपात्यते ॥ *उदा०*—शृतं हविः शमितः ॥

भाषार्थः—[*यज्ञे*] यज्ञ कर्म में इडादि तृच् परे रहते [*शमिता*] 'शमिता' यह निपातन किया जाता है॥ पूर्ववत् इडादि परे णिलोप प्राप्त नहीं था निपातन कर दिया ॥ 'शमितः' यह तृच्प्रत्ययान्त सम्बुद्ध्यन्त शब्द है । पूर्ववत् ह्रस्वत्व आदि जानें ॥

अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु ॥६।४।५५॥

अय् १।१॥ आम॰॰॰ष्णुषु ७।३॥ *स०*—आम० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—णेः, आर्धधातुके ॥ *अर्थः*—आम्, अन्त, आलु, आय्य, इत्नु, इष्णु इत्येतेषु परतो णेरयादेशो भवति ॥ *उदा०*—आम्—कारयाञ्चकार, हारयाञ्चकार । अन्त–गण्डयन्तः, मण्डयन्तः । आलु–स्पृहयालुः, गृहयालुः । आय्य–स्पृहयाय्यः, गृहयाय्यः । इत्नु—स्तनयित्नुः । इष्णु—पोषयिष्णवः ॥

भाषार्थः—[*आम॰॰॰ष्णुषु*] आम्, अन्त, आलु, आय्य, इत्नु, इष्णु इनके परे रहते णि को [*अय्*] अय् आदेश होता है ॥ *णेरनिटि* से णि का लोप प्राप्त था, तदपवाद अय् आदेश कह दिया ॥

यहाँ से '*अय्*' की अनुवृत्ति ६।४।५७ तक जायेगी ॥

ल्यपि लघुपूर्वात् ॥६।४।५६॥

ल्यपि ७।१॥ लघुपूर्वात् ५।१॥ स०—लघु पूर्वो यस्मात् स लघुपूर्वस्तस्मात्.....बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अय्, णेः, आर्धधातुके ॥ *अर्थः*—लघुपूर्वादुत्तरस्य णेः स्थाने ल्यपि परतो अयादेशो भवति ॥ उदा०—प्रशमय्य गतः, संदमय्य गतः, प्रबेभिदय्य गतः, प्रगणय्य गतः ॥

भाषार्थः—[*लघुपूर्वात्*] लघु है पूर्व में जिससे ऐसे वर्ण से उत्तर णि के स्थान में [*ल्यपि*] ल्यप् परे रहते अयादेश हो जाता है ॥ प्रशमय्य आदि में पूर्ववत् मित् होने से *मितां ह्रस्वः* (६।४।६२) से उपधा को ह्रस्व हो जाता है। 'प्र शम् णि ल्यप्' यहाँ शम् अङ्ग के अन्त में म् वर्ण है, उससे पूर्व 'अ' लघु है, अतः 'लघुपूर्व में है जिस वर्ण से' यह कथन सङ्गत हो जाता है ॥ प्रबेभिदय्य यह यङन्त के णिजन्त का रूप है। *यस्य हलः* (६।४।४९) से यहाँ यङ् के य का लोप हुआ है। प्रगणय्य गण सङ्ख्याने धातु से बना है। गण धातु चुरादि गण में अदन्त पढ़ी है, अतः पूर्ववत् अकार लोप हो जायेगा ॥

यहाँ से '*ल्यपि*' की अनुवृत्ति ६।४।५६ तक जायेगी ॥

विभाषाऽपः ॥६।४।५७॥

विभाषा १।१॥ आपः ५।१॥ *अनु०*—ल्यपि, अय्, णेः, आर्धधातुके ॥ *अर्थः*—ल्यपि परत आप उत्तरस्य णेर्विकल्पेनायादेशो भवति ॥ उदा०—प्रापय्य गतः, प्राप्य गतः ॥

भाषार्थः—[*आपः*] आप् से उत्तर ल्यप् परे रहते [*विभाषा*] विकल्प से णि के स्थान में अयादेश होता है ॥ आप्लृ लम्भने (चुरादि) आप्लृ व्याप्तौ (स्वादि) इन दोनों धातुओं का यहाँ आप् से ग्रहण है। स्वादि गण की आप्लृ से *हेतुमति च* (३।१।२६) से णिच् होगा ॥

युप्लुवोर्दीर्घश्छन्दसि ॥६।४।५८॥

युप्लुवोः ६।२॥ दीर्घः १।१॥ छन्दसि ७।१॥ स०—युप्लु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—ल्यपि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये यु प्लु इत्येतयोर्ल्यपि परतो दीर्घो भवति ॥ उदा०—दान्त्यनुपूर्वं वियूय । यत्रा नो दक्षिणा परिप्लूय ॥

भाषार्थः—[*छन्दसि*] वेद विषय में [*युप्लुवोः*] यु मिश्रणे तथा प्लुङ गतौ धातु को [*दीर्घः*] दीर्घ होता है ल्यप् परे रहते ॥

यहाँ से '*दीर्घः*' की अनुवृत्ति ६।४।६१ तक जायेगी ॥

क्षियः ॥६।४।५९॥

क्षियः ६।१॥ *अनु०*—दीर्घः, ल्यपि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—ल्यपि परतः क्षियश्च दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—प्रक्षीय ॥

भाषार्थः—[*क्षियः*] क्षि क्षये अथवा क्षि निवासगत्योः धातु को दीर्घ होता है, ल्यप् परे रहते ॥

यहाँ से '*क्षियः*' की अनुवृत्ति ६।४।६१ तक जायेगी ॥

निष्ठायामण्यदर्थे ॥६।४।६०॥

निष्ठायाम् ७।१॥ अण्यदर्थे ७।१॥ *स०*—ण्यतोऽर्थः ण्यदर्थः, षष्ठीतत्पुरुषः । न ण्यदर्थोऽण्यदर्थस्तस्मिन्''' नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—क्षियः, दीर्घः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—ण्यदर्थो भावकर्मणी, ताभ्यामन्यत्र या निष्ठा तस्यां क्षियो दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—आक्षीणः, प्रक्षीणः, परिक्षीणः, प्रक्षीणमिदं देवदत्तस्य ॥

भाषार्थः—[*अण्यदर्थे*] ण्यत् के अर्थ से भिन्न अर्थ में वर्त्तमान जो [*निष्ठायाम्*] निष्ठा उसके परे रहते क्षि अङ्ग को दीर्घ हो जाता है ॥ ण्यत् प्रत्यय *कृत्याः* (३।१।९५) से कृत्यसंज्ञक होता है, अतः *तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः* (३।४।७०) से ण्यत् का अर्थ भाव तथा कर्म है, इस प्रकार 'अण्यदर्थे' कहने से 'भाव तथा कर्म से अन्यत्र' ऐसा अर्थ होगा ॥ यहाँ अकर्मक क्षि धातु होने से *गत्यार्थाकर्म०* (३।४।७२) से कर्त्ता में क्त प्रत्यय होता है । प्रक्षीणमिदं यहाँ *क्तोऽधिकरणे०* (३।४।७६) से अधिकरण में क्त हुआ है । निष्ठा को नत्व *क्षियो दीर्घात्* (८।२।४६) से तथा *अट्कुप्वाङ्०* (८।४।२) से णत्व होता है ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ६।४।६१ तक जायेगी ॥

वाऽऽक्रोशदैन्ययोः ॥६।४।६१॥

वा० अ०॥ आक्रोशदैन्ययोः ७।२॥ *स०*—आक्रोश० इत्यत्रेतरेतर-

द्वन्द्वः ॥ अनु०—निष्ठायामण्यदर्थे, क्षियः, दीर्घः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—क्षि
निष्ठायामण्यदर्थे विकल्पेन दीर्घो भवति, आक्रोशे दैन्ये च गम्यमाने
उदा०—आक्रोशे—क्षितायुरेधि, क्षीणायुरेधि । दैन्ये-क्षितकः, क्षीणक
क्षितोऽयं तपस्वी, क्षीणोऽयं तपस्वी ॥

भावार्थः—क्षि अङ्ग को अण्यदर्थ निष्ठा के परे रहते [*आक्रो
दैन्ययोः*] आक्रोश तथा दैन्य गम्यमान होने पर [*वा*] विकल्प से दी
होता है ॥ क्षितायुः = क्षीण उम्र वाला तू एधि=हो जा, यह य
आक्रोश है । पूर्ववत् कर्त्ता में क्त जानें । दीर्घ पक्ष में पूर्ववत् णत्व
होता है । क्षीणकः आदि में क्षीण बनाकर आगे *अनुकम्पायाम्* (५।३।७
से 'क' प्रत्यय हुआ है ॥

स्यसिच्सीयुट्तासिषु भावकर्म्मणोरुपदेशेऽज्झनग्रहदृशां वा चिण्वदिट् च ॥६।४।६२॥

स्य···सिषु ७।३॥ भावकर्म्मणोः ७।२॥ उपदेशे ७।१॥ अज्झ···दृ
६।३॥ वा अ०॥ चिण्वत् अ०॥ इट् १।१॥ च अ०॥ *स०*—स्यश्च सि
सीयुट् च तासिश्च स्य···तासयस्तेषु···। भावश्च कर्म च भावकर्म
तयो···। अच् च हनश्च ग्रहश्च दृश् च अज्झ···दृशस्तेषाम्···। सर्वत्रे
तरद्वन्द्वः ॥ चिणीव चिण्वत् *तत्र तस्येव*(५।१।११५) इति सप्तमीसमर्थ
वतिः ॥ *अनु०*—अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—स्य, सिच्, सीयुट्, तासि इत्ये
परतो भावकर्मविषयेषु उपदेशेऽजन्तानामङ्गानां हन, ग्रह, दृश इत्येतेषां
चिण्वत् कार्यं विकल्पेन भवति, इडागमश्च ॥ चिण्वद्भावविधानेन स
विधानात् यदा चिण्वत्कार्यं तदैव इडागमः॥ उदा०—स्येऽजन्ताना
चायिष्यते, चेष्यते, अचायिष्यत अचेष्यत । दायिष्यते, दास्यते, अ
यिष्यत, अदास्यत । शामिष्यते, शमिष्यते, शमयिष्यते, अशामिष्यत, अश
ष्यत, अशमयिष्यत । हन्—घानिष्यते, हनिष्यते, अघानिष्यत, अह
ष्यत । ग्रह—ग्राहिष्यते, ग्रहीष्यते, अग्राहिष्यत, अग्रहीष्यत । दृश्
दर्शिष्यते, द्रक्ष्यते, अदर्शिष्यत, अद्रक्ष्यत । सिचि-अजन्तानाम्—अ
यिषाताम्, अचेषाताम्। अदायिषाताम्, अदिषाताम् । अशामिषाता
अशमिषाताम्, अशमयिषाताम् । हन्—अघानिषाताम्, अवधिषाता
अहसाताम् । ग्रह्—अग्राहिषाताम्, अग्रहीषाताम् । दृश्—अदर्शिषाता

ग्रहक्षाताम्। सीयुटि-अजन्तानाम्—चायिषीष्ट, चेषीष्ट, दायिषीष्ट, ासीष्ट, शामिषीष्ट, शमिषीष्ट, शमयिषीष्ट। हन्—घानिषीष्ट, वधिषीष्ट। ग्रह्—ग्राहिषीष्ट, ग्रहिषीष्ट। दृश्—दर्शिषीष्ट, दृक्षीष्ट। तासावजन्तानाम्—चायिता, चेता, दायिता, दाता, शामिता, शमिता, शमयिता। हन्—घानिता, हन्ता। ग्रह्—ग्राहिता, ग्रहीता। दृश्—दर्शिता, द्रष्टा॥

भाषार्थः—[*भावकर्मणोः*] भाव तथा कर्म विषयक [*स्य*···*सिषु*] स्य, सिच्, सीयुट् और तास् के परे रहते [*उपदेशे*] उपदेश में [*अज्झन*··*शाम्*] अजन्त धातुओं तथा हन्, ग्रह् एवं दृश् धातुओं को [*चिण्वत्*] चिण्वत् = चिण् के समान [*वा*] विकल्प से कार्य होता है, [*च*] तथा [*इट्*] इट् आगम भी होता है॥ चिण्वत् कार्य के साथ इट् का विधान होने से जिस पक्ष में चिण्वत् कार्य होता है, उसी पक्ष में इट् आगम होता है, ऐसा जानना चाहिये॥ इट् आगम स्य, सिच्, सीयुट् तास् को होता है, अङ्ग को नहीं॥ इस सूत्र से जो इट् का आगम होता है वह आभात् प्रकरणान्तर्गत होने से *णेरनिटि* (६।४।५१) की दृष्टि में असिद्ध माना जाने से 'शामिष्यते शमिष्यते' आदि णिजन्त प्रयोगों में णि का लोप हो जाता है। सप्तमाध्यायस्थ इडागम होने पर णिलोप नहीं हो सकता, यथा 'शमयिष्यते'। यह इस णि विधान का वैशिष्ट्य है॥ सिद्धियाँ परिशिष्ट में देखें॥

दीङो युडचि क्ङिति ॥६।४।६३॥

दीङः ५।१॥ युट् १।१॥ अचि ७।१॥ क्ङिति ७।१॥ *स०*—'क्ङिति' इत्यस्य विग्रहः पूर्ववज्ज्ञेयः॥ *अनु०*—अङ्गस्य, आर्धधातुके॥ *अर्थः*—अजादौ क्ङिति प्रत्यये परतो दीङो युडागमो भवति॥ *उदा०*—उपदिदीये, उपदिदीयाते, उपदिदीयिरे॥

भाषार्थः—[*अचि*] अजादि [*क्ङिति*] कित् ङित् प्रत्ययों के परे रहते [*दीङः*] दीङ् धातु से उत्तर [*युट्*] युट् का आगम होता है॥ परि० १।२।६ पृ० ७६४ के ईधे के समान सिद्धि की प्रक्रिया समझें। यहाँ 'दीङः' में पञ्चमी होने से दीङ् धातु से उत्तर अजादि प्रत्यय को युट् आगम होता है ऐसा जानें॥

यहाँ से '*अचि*' की अनुवृत्ति ६।४।६४ तक तथा '*क्ङिति*' की ६।४।६८ तक जायेगी ॥

आतो लोप इटि च ॥६।४।६४॥

आतः ६।१॥ लोपः १।१॥ इटि ७।१॥ च अ०॥ अनु०—अचि, क्ङिति, आर्धधातुके, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—आकारान्तस्याङ्गस्य इडादावार्धधातुके क्ङिति चाजादावार्धधातुके परतो लोपो भवति ॥ *उदा०*—इडादावार्धधातुके—पपिथ, तस्थिथ । कित्यजादौ—पपतुः पपुः, तस्थतुः तस्थुः, गोदः, कम्बलदः । ङिति—प्रदा, प्रधा ॥

भाषार्थः—[*इटि*] इडादि आर्धधातुक [च] तथा अजादि कित् ङित् आर्धधातुक प्रत्ययों के परे रहते [*आतः*] आकारान्त अङ्ग का [*लोपः*] लोप होता है ॥ इट् का पृथक् ग्रहण अक्ङिदर्थ है ॥ पा तथा स्था धातु से लिट् लकार में सिप् को थल् (३।४।८२) तथा *ऋतो भारद्वाजस्य* (७।२।६३) के नियम से इट् आगम होकर 'प पा इ थ' रहा । प्रकृत सूत्र से अन्त्य आ (१।१।५१) का लोप होकर पपिथ तस्थिथ बन गया । पपतुः पपुः की सिद्धि परि० १।१।५८ पृ० ७४९ में देखें । गोदः कम्बलदः में *आतोऽनुपसर्गे कः* (३।२।३) से क प्रत्यय हुआ है । प्रदा प्रधा में *आतश्चोपसर्गे* (३।३।१०६) से अङ् ङित् प्रत्यय हुआ है । आकार लोप एवं टाप् होकर प्रदा प्रधा बनता है ॥

यहाँ से '*आतः*' की अनुवृत्ति ६।४।६८ तक जायेगी ॥

ईद्यति ॥६।४।६५॥

ईत् १।१॥ यति ७।१॥ *अनु०*—आतः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—आकारान्तस्याङ्गस्य ईकारादेशो भवति यति परतः ॥ *उदा०*—देयम्, धेयम्, हेयम्, स्थेयम् ॥

भाषार्थः—आकारान्त अङ्ग को [ईत्] ईकारादेश होता है [*यति*] यत् प्रत्यय परे रहते ॥ *अचो यत्* (३।१।९७) से यत् प्रत्यय होता है । ३।१।९७ सूत्र के ही परिशिष्ट में गेयम् की सिद्धि के समान यहाँ सिद्धि जानें ॥

यहाँ से 'ईत्' की अनुवृत्ति ६।४।६६ तक जायेगी ॥

घुमास्थागापाजहातिसां हलि ॥६।४।६६॥

घुमा······साम् ६।३॥ हलि ७।१॥ *स०*—घु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—ईत्, क्ङिति, आर्धधातुके, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—घुसंज्ञकानामङ्गानां मा, स्था, गा, पा, हा, सा इत्येतेषां च हलादौ क्ङित्यार्धधातुके परत ईकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—घु—दीयते, धीयते। देदीयते, देधीयते। मा—मीयते, मेमीयते। स्था—स्थीयते, तेष्ठीयते। गा—गीयते, जेगीयते।[1] अध्यगीष्ट, अध्यगीषाताम्। पा—पीयते, पेपीयते। हा—हीयते, जेहीयते। सा—अवसीयते, अवसेषीयते॥

भाषार्थः—[*घुमा······साम्*] घुसंज्ञक मा, स्था, गा, पा, ओहाक् त्यागे तथा षो अन्तकर्मणि इन अङ्गों को [*हलि*] हलादि कित् ङित् आर्धधातुक के परे रहते ईकारादेश होता है॥ दीयते धीयते यहाँ कर्म में लकार हुआ है। देदीयते यह यङन्त का रूप है। इसी प्रकार मीयते मेमीयते आदि में जानें। अध्यगीष्ट की सिद्धि भाग १ परि० १।२।१ में देखें। जहाति से यहाँ ओहाक् त्यागे का ग्रहण है। षो धातु को *धात्वादेः०* (६।१।६२) से स तथा *आदेच उप०* (६।१।४४) से आत्व होता है। तेष्ठीयते यहाँ *शर्पूर्वाः खयः* (७।४।६१) से अभ्यास का खय् शेष रहता है॥

यहाँ से '*घुमास्थागापाजहातिसाम्*' की अनुवृत्ति ६।४।६९ तक जायेगी॥

एर्लिङि ॥६।४।६७॥

एः १।१॥ लिङि ७।१॥ *अनु०*—घुमास्थागापाजहातिसाम्, क्ङिति, आर्धधातुके, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—क्ङित्यार्धधातुके लिङि परतः घुमास्थागापाजहातिसामङ्गानां एकारादेशो भवति॥ *उदा०*—देयात्, मेयात्, धेयात्, स्थेयात्, गेयात्, पेयात्, अवसेयात्॥

भाषार्थः—कित् ङित् [*लिङि*] लिङ् आर्धधातुक परे रहते घु, मा, स्था, गा, पा, हा तथा सा इन अङ्गों को [*एः*] एकारादेश हो जाता है॥

---

१. 'गामादाग्रहणेष्वविशेषः' इति परिभाषया इङादेशोऽपि गृह्यते।

आशीर्लिङ् ३।४।११६ से आर्धधातुक और *किदाशिषि* (३।४।१०४) से कित् होता है सो उसी के उदाहरण हैं। अन्य कोई विशेष सिद्धि में नहीं है। मेयात् मा माने का रूप है ॥ ङित् की अनुवृत्ति होने पर भी असम्भव होने से उसके उदाहरण नहीं बनते ॥

यहाँ से '*एर्लिङि*' की अनुवृत्ति ६।४।६८ तक जायेगी ॥

वान्यस्य संयोगादेः ॥६।४।६८॥

वा अ० ॥ अन्यस्य ६।१॥ संयोगादेः ६।१॥ *स०*—संयोग आदिर्यस्य स संयोगादिस्तस्य……बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—एर्लिङि, आतः, आर्धधातुके, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—घ्वादिभ्योऽन्यस्य संयोगादेराकारान्तस्याङ्गस्य क्ङित्यार्धधातुके लिङि परत एत्वं भवति विकल्पेन ॥ *उदा०*—ग्लेयात्, ग्लायात्, म्लेयात्, म्लायात् ॥

भाषार्थः—घु, मा, स्था से [*अन्यस्य*] अन्य जो [*संयोगादेः*] संयोग आदि वाला आकारान्त अङ्ग उसको कित् ङित् लिङ् आर्धधातुक परे रहते [*वा*] विकल्प से एकारादेश होता है ॥ ग्लै म्लै धातु संयोगादि हैं, इनको पूर्ववत् आत्व तथा *अलोन्त्यस्य* (१।१।५१) से यासुट् परे अन्त्य अल् को एत्व होता है ॥ 'अन्यस्य' यहाँ प्रकृत में कहे घु मा स्था आदि की अपेक्षा से ही रखा है, अतः 'घ्वादियों से जो अन्य' यह अर्थ हुआ है ॥

न ल्यपि ॥६।४।६९॥

न अ० ॥ ल्यपि ७।१॥ *अनु०*—घुमास्थागापाजहातिसाम्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—ल्यपि प्रत्यये परतो घुमास्थागापाजहातिसां यदुक्तं तन्न भवति ॥ *उदा०*—प्रदाय, प्रधाय, प्रमाय, प्रस्थाय, प्रगाय, प्रपाय, प्रहाय, अवसाय ॥

भाषार्थः—घु, मा, स्था आदियों को [*ल्यपि*] ल्यप् परे रहते जो कुछ कहा है वह [*न*] नहीं होता ॥ *घुमास्था०* (६।४।६६) से ईत्व कहा था उसीका निषेध कर दिया ॥

यहाँ से '*ल्यपि*' की अनुवृत्ति ६।४।७० तक जायेगी ॥

मयतेरिदन्यतरस्याम् ॥६।४।७०॥

मयतेः ६।१॥ इत् १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—ल्यपि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—मयतेरङ्गस्य इकारादेशो भवति, ल्यपि परतोऽन्यतरस्याम् ॥ उदा०—अपमित्य, अपमाय ॥

भाषार्थः—[*मयतेः*] मेङ् प्रणिदाने अङ्ग को [*इत्*] इकारादेश [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प करके होता है ल्यप् परे रहते ॥ अपमित्य अपमाय यहाँ *उदीचां माङो०* (३।४।१९) से क्त्वा' प्रत्यय हुआ है, शेष सिद्धि परि० १।१।५५ के प्रकृत्य के समान जानें ॥

लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः ॥६।४।७१॥

लुङ्लङ्लृङ्क्षु ७।३॥ अट् १।१॥ उदात्तः १।१॥ *स०*—लुङ्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—लुङ् लङ् लृङ् इत्येतेषु परतोऽङ्गस्य 'अट्' आगमो भवति, उदात्तश्च स भवति ॥ *उदा०*—लुङ्—अकार्षीत्, अहार्षीत्। लङ्—अकरोत्, अहरत्। लृङ्—अकरिष्यत्, अहरिष्यत् ॥

भाषार्थः—[*लुङ्लङ्लृङ्क्षु*] लुङ्, लङ् तथा लृङ् के परे रहते अङ्ग को [*अट्*] अट् का आगम होता है, और वह अट् [*उदात्तः*] उदात्त भी होता है ॥ अकार्षीत् अहार्षीत् की सिद्धि भाग १ परि० १।१।१ पृ० ६६६ में की है। अकरिष्यत् की सिद्धि भी परि० १।४।१३ में देखें। अट् कृ उ ति=अकर् उ त्=अकरोत् बना। इसी प्रकार शप् विकरण होकर अहरत् बना ॥

यहाँ से '*लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः*' की अनुवृत्ति ६।४।७५ तक जायेगी ॥

आडजादीनाम् ॥६।४।७२॥

आट् १।१॥ अजादीनाम् ६।३॥ *स०*—अच् आदिर्येषां तानि अजादीनि तेषाम् ''बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—लुङ्लङ्लृङ्क्षु, उदात्तः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अजादीनामङ्गानां 'आट्' आगमो भवति, लुङ्लङ्लृङ्क्षु परत उदात्तश्च स भवति ॥ *उदा०*—लुङ्—ऐक्षिष्ट, ऐहिष्ट, औब्जीत्,

औम्भीत्। लङ्—ऐक्षत, ऐहत, औब्जत्, औम्भत्। लृङ्—ऐक्षिष्यत, ऐहिष्यत, औब्जिष्यत्, औम्भिष्यत्॥

भाषार्थः—[*अजादीनाम्*] अच् आदि वाले अङ्ग को [*आट्*] आट् का आगम होता है, लुङ् लङ् लृङ् इनके परे रहते, और वह आट् उदात्त भी होता है॥ सम्पूर्ण सिद्धियाँ *आटश्च* (६।१।८७) सूत्र में देखें॥

यहाँ से '*आट्*' की अनुवृत्ति ६।४।७५ तक जायेगी॥

छन्दस्यपि दृश्यते ॥६।४।७३॥

छन्दसि ७।१॥ अपि अ०॥ दृश्यते क्रियापदम्॥ *अनु०*—आट्, उदात्तः, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये आडागमो दृश्यते यत्र विहितस्ततोऽन्यत्रापि दृश्यत इत्यर्थः॥ आडजादीनामित्युक्तमनजादीनामपि दृश्यते॥ *उदा०*—सुरुचो वेन आवः। आनक्। आयुनक्॥

भाषार्थः—[*छन्दसि*] वेद विषय में [*अपि*] भी आट् आगम [*दृश्यते*] देखा जाता है॥ अर्थात् *आडजादीनाम्* से अजादियों से आट् आगम कहा है, अनजादियों से भी देखा जाता है॥ आवः की सिद्धि भाग १ परि० २।४।८० में देखें, तथा णश् धातु से आनक् की सिद्धि भी प्रणक् के समान वहीं देखें। युजिर् योगे से लङ् में श्नम् विकरण होकर आयुनक् बनेगा। चोः कुः (८।२।३०) से कुत्व गकार एवं चर्त्व होकर ककार हुआ है॥

न माङ्योगे ॥६।४।७४॥

न अ०॥ माङ्योगे ७।१॥ *स०*—माङो योगः माङ्योगस्तस्मिन्... षष्ठीतत्पुरुषः॥ *अनु०*—लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वट्, आट्, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—लुङ्लङ्लृङ्क्षु परतो यौ अट् आट् आगमावुक्तौ तौ माङ्योगे न भवतः॥ *उदा०*—मा भवान् कार्षीत्, मा भवान् हार्षीत्। मा स्म करोत्, मा स्म हरत्। मा भवान् ईहिष्ट। मा स्म भवान् ईहत। मा स्म भवान् ईक्षत॥

भाषार्थः—लुङ् लङ् लृङ् परे रहते जो अट् आट् आगम कहे हैं वे [*माङ्योगे*] माङ् के योग में [*न*] नहीं होते॥ मा भवान् 'कार्षीत्' 'ईहिष्ट' यहाँ *माङि लुङ्* (३।३।१७५) से लुङ् हुआ है, तथा मा स्म 'करोत्, ईहत, ईक्षत' यहाँ *स्मोत्तरे लङ्च* (३।३।१७६) से लङ् हुआ है। ईह् इट् सिच् त=ईहिष्त=ईहिष्ट बन गया॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ६।४।७५ तक जायेगी॥

बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि ॥६।४।७५॥

बहुलम् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ अमाङ्योगे ७।१॥ अपि अ० ॥ स०—माङो योगः माङ्योगः, षष्ठीतत्पुरुषः, न माङ्योगोऽमाङ्योगस्तस्मिन्…… नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः, आट्, अङ्गस्य, माङ्योगे, न ॥ अर्थः—लुङ्लङ्लृङ्क्षु छन्दसि विषये माङ्योगेऽपि बहुलमडाटौ भवतः, अमाङ्योगेऽपि न भवतः ॥ उदा०—अमाङ्योगे—जनिष्ठा उग्रः (ऋ० १०।७३।१) काममूनयीः। काममर्दयीत्। माङ्योगे—मा वः क्षेत्रे परबीजान्यवाप्सुः। मा अभित्थाः। मा आवः ॥

भाषार्थः—लुङ् लङ् लृङ् परे रहने पर [छन्दसि] वेद विषय में माङ् का योग होने पर अट् आट् आगम [बहुलम्] बहुल करके होते हैं और [अमाङ्योगे] माङ् का योग न होने पर [अपि] भी नहीं होते। जन् धातु से लुङ् में थास् विभक्ति आकर जनिष्ठाः बना है। यहाँ माङ् का योग न होने पर भी अट् आगम नहीं हुआ है। काममूनयीः, अर्दयीत् की सिद्धि सूत्र ३।१।५१ में देखें। डुवप् धातु से अवाप्सुः की सिद्धि परि० ३।४।१०९ के अकार्षुः के समान जानें। यहाँ माङ् के योग में पूर्व सूत्र से अट् आगम प्राप्त नहीं था, इस सूत्र से बहुल कहने से हो गया। भिद् धातु से थास् में अभित्थाः बना है। यहाँ झलो झलि (८।२।२६) से सिच् का लोप होता है। आवः की सिद्धि पूर्वोक्त प्रदर्शित परिशिष्ट में देखें ॥

यहाँ से 'बहुलं छन्दसि' की अनुवृत्ति ६।४।७६ तक जायेगी ॥

इरयो रे ॥६।४।७६॥

इरयोः ६।२॥ रे लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ अनु०—बहुलं छन्दसि ॥ अर्थः—इरे इत्येतस्य छन्दसि विषये बहुलं रे इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—गर्भं प्रथमं दध्र आपः (ऋ० १०।८२।५)। यास्यऽपरिदध्रे। न च भवति बहुलवचनात्—परमाया धियोऽग्निकर्माणि चक्रिरे ॥

भाषार्थः—[इरयोः] इरे के स्थान में वेद में बहुल करके [रे] रे आदेश होता है॥ इरे से यहाँ लिटस्तझयो० (३।४।८१) वाला इरेच् गृहीत है। 'दधा इरे' यहाँ रे भाव कर लेने पर अनजादि परे होने से

आतो लोप इटि च (६।४।६४) से आकारलोप नहीं प्राप्त था, सो *असिद्धवदत्राभात्* (६।४।२२) से असिद्ध होने से (इरे मानकर) हो जाता है ॥

विशेषः—'इरयोः' में द्विवचन इसलिये निर्दिष्ट है कि रे भाव कर लेने के पश्चात् सेट् धातुओं को इट् आगम होने पर जो पुनः 'इरे' रूप बन जाता है, उसको भी इस सूत्र से पुनः 'रे' भाव हो जाये, अर्थात् जो 'झ' के स्थान में इरेच् तथा जो बाद में 'रे' को इट् आगम करके 'इरे' बना हुआ रूप दोनों को रे भाव हो जाये। इस प्रकार यहाँ इरेश्च इरेश्च = इरयोः ऐसा एकशेष (१।२।६४) करके निर्देश है ॥

अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ ॥६।४।७७॥

अचि ७।१॥ श्नुधातुभ्रुवाम् ६।३॥ य्वोः ६।२॥ इयङुवङौ १।२॥ *स०*—श्नुश्च धातुश्च भ्रूश्च श्नुधातुभ्रुवस्तेषां ''। इश्च उश्च यू तयोः ''। इयङ् च उवङ् च इयङुवङौ। सर्वत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—श्नुप्रत्ययान्तस्य इवर्णोवर्णान्तधातोः भ्रू इत्येतस्य चाङ्गस्य इयङ् उवङ् इत्येतावादेशौ भवतोऽचि परतः ॥ *उदा०*—श्नुप्रत्ययान्तस्य—आप्नुवन्ति, राध्नुवन्ति, शक्नुवन्ति। इवर्णोवर्णान्तस्य धातोः—चिक्षियतुः, चिक्षियुः, लुलुवतुः, लुलुवुः, नियौ, नियः, लुवौ, लुवः, । भ्रू—भ्रुवौ, भ्रुवः ॥

भाषार्थः—[*श्नुधातुभ्रुवाम्*] श्नु प्रत्ययान्त अङ्ग तथा [*य्वोः*] इवर्णान्त उवर्णान्त धातु एवं भ्रू शब्द को [*इयङुवङौ*] इयङ् उवङ् आदेश होते हैं [*अचि*] अच् परे रहते ॥ यहाँ 'य्वोः' इवर्ण उवर्ण, धातु का ही विशेषण है, क्योंकि श्नु भ्रू तो उवर्णान्त हैं ही। *अलोन्त्यस्य* (१।१।५१) से इवर्ण के स्थान में इयङ् तथा उवर्ण के स्थान में उवङ् यथासंख्य करके होता है। आप्नुवन्ति आदि श्नुप्रत्ययान्त अङ्ग हैं। णी तथा लू धातु से क्विप् में नियौ, नियः, लुवौ, लुवः बना है ॥

यहाँ से '*अचि*' की अनुवृत्ति ६।४।१०० तक तथा '*य्वोः*' की ६।४।७८ तक एवं '*इयङुवङौ*' की ६।४।८० तक जायेगी ॥

अभ्यासस्यासवर्णे ॥६।४।७८॥

अभ्यासस्य ६।१॥ असवर्णे ७।१॥ *स०*—अस० इत्यत्र नञ्-

तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अचि, य्वोः, इयङुवङौ ॥ *अर्थः*—इवर्णान्तस्योवर्णान्तस्याभ्यासस्य असवर्णेऽचि परत इयङ् उवङ् इत्येतावादेशौ भवतः ॥ *उदा०*—इयेष, उवोष, इयर्त्ति ॥

भाषार्थः—इवर्णान्त उवर्णान्त [*अभ्यासस्य*] अभ्यास को [*असवर्णे*] सवर्ण भिन्न अच् परे रहते इयङ् उवङ् आदेश होते हैं ॥ उवोष की सिद्धि परि० ३।१।३८ पृ० ८७२ में देखें, तद्वत् इषु धातु से इयेष की सिद्धि जानें। ऋ गतौ धातु से *जुहोत्यादिभ्यः श्लुः* (२।४।७५) से शप् को श्लु एवं द्वित्वादि करके लट् लकार में इयर्त्ति की सिद्धि जानें। अभ्यास को उरत् (७।४।६६) से अत्व, रपरत्व तथा *अर्त्तिपिपर्त्योश्च* (७।४।७७) से इत्व होकर 'इ ऋ ति' रहा। अब इयङ् होकर इय् ऋ ति = गुण होकर इयर्त्ति बन गया। *अचो रहाभ्यां०* (८।४।४५) से त् को द्वित्व भी हो जाता है ॥

स्त्रियाः ॥६।४।७९॥

स्त्रियाः ६।१॥ *अनु०*—अचि, इयङ् ॥ *अर्थः*—स्त्री इत्येतस्य अजादौ प्रत्यये परत इयङादेशो भवति ॥ *उदा०*—स्त्रियौ, स्त्रियः ॥

भाषार्थः—[*स्त्रियाः*] स्त्री शब्द को अजादि प्रत्यय परे रहते इयङ् आदेश होता है ॥ पूर्ववत् ईकार को इयङ् होता है ॥

यहाँ से '*स्त्रियाः*' की अनुवृत्ति ६।४।८० तक जायेगी ॥

वाऽम्शसोः ॥६।४।८०॥

वा अ० ॥ अम्शसोः ७।२॥ *स०*—अम्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—स्त्रियाः, इयङ् ॥ *अर्थः*—अमि शसि च परतः स्त्रियाः वा इयङादेशो भवति ॥ *उदा०*—स्त्रीं पश्य, स्त्रियं पश्य। शस्—स्त्रीः पश्य, स्त्रियः पश्य ॥

भाषार्थः—[*अम्शसोः*] अम् तथा शस् विभक्ति परे रहते स्त्री शब्द को [*वा*] विकल्प से इयङ् आदेश होता है ॥

इणो यण् ॥६।४।८१॥

इणः ६।१॥ यण् १।१॥ *अनु०*—अचि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—इणोऽङ्गस्य यणादेशो भवति अचि परतः ॥ *उदा०*—यन्ति, यन्तु, आयन् ॥

भाषार्थः—[*इणः*] इण् अङ्ग को [*यण्*] यणादेश होता है, अच् परे रहते ॥ *अचिश्नुधातु०* (६।४।७७) का यह अपवाद है ॥ यन्ति लट् प्रथम पुरुष बहुवचन, यन्तु लोट् बहुवचन, एवं आयन् लङ् बहुवचन का रूप है। आयन् में *असिद्धवद०* (६।४।२२) से यण् के असिद्धवत् होने से *आडजादीनाम्* (६।४।७२) से आट् आगम हुआ है। *अदिप्रभृतिभ्यः०* (२।४।७२) से शप् का लुक् हुआ है ॥

यहाँ से '*यण्*' की अनुवृत्ति ६।४।८७ तक जायेगी ॥

एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य ॥६।४।८२॥

एः ६।१॥ अनेकाचः ६।१॥ असंयोगपूर्वस्य ६।१॥ *स०*—न एकः अनेकः, नञ्तत्पुरुषः। अनेकोऽच् यस्मिन् स अनेकाच् तस्य ...... बहुव्रीहिः। अविद्यमानः संयोगः पूर्वो यस्मात् स असंयोगपूर्वस्तस्य ...... बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—अचि, यण्, अङ्गस्य। *अचि श्नुधातु०* (६।४।७७) इत्यतः 'धातोः' इत्यनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या॥ *अर्थः*—धातोरवयवः संयोगः पूर्वो यस्मादिवर्णान्न भवति तदन्तस्याङ्गस्यानेकाचोऽचि परतो यणादेशो भवति॥ *उदा०*—निन्यतुः, निन्युः, उन्न्यौ, उन्न्यः, ग्रामण्यौ, ग्रामण्यः॥

भाषार्थः—धातु का अवयव जो [*असंयोगपूर्वस्य*] संयोग, वह पूर्व में नहीं है जिस [*एः*] इवर्ण के तदन्त [*अनेकाचः*] अनेक अच् वाले अङ्ग को अच् परे रहते यणादेश होता है॥ 'नी नी अतुस्' यहाँ धातु का अवयव जो 'ई' उससे पूर्व संयोग नहीं है, तथा 'नी नी' अङ्ग अनेकाच् भी है, अतः अच् परे रहते यणादेश हो गया है। यहाँ 'असंयोगपूर्व' को धातु के अवयव इवर्ण का विशेषण बनाना है, न कि अङ्ग का। इससे 'उत्+नी' में त्न् का संयोग होने पर भी धातु भाग जो 'नी' उसका अवयव रूप संयोग नहीं है, क्योंकि त् उपसर्ग का अवयव है॥ *अचि श्नुधातु०* (६।४।७७) का अपवाद यह सूत्र है॥

यहाँ से '*अनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य*' की अनुवृत्ति ६।४।८७ तक जायेगी॥

ओः सुपि ॥६।४।८३॥

ओः ६।१॥ सुपि ७।१॥ *अनु०*—अनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य, अचि,

यण्, अङ्गस्य । धातोः इत्यनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या ॥ *अर्थः*—धात्ववयवः संयोगः पूर्वो यस्मादुवर्णान्न भवति तदन्तस्याङ्गस्यानेकाचोऽजादौ सुपि परतो यणादेशो भवति ॥ *उदा०*—खलप्वौ, खलप्वः । शतस्वौ, शतस्वः । सकृल्ल्वौ, सकृल्ल्वः ।

भाषार्थः—धातु का अवयव जो संयोग वह पूर्व में नहीं है जिस [*ओः*] उवर्ण के, तदन्त अनेकाच् अङ्ग को अजादि [*सुपि*] सुप् परे रहते यणादेश होता है ॥ खलं पुनातीति खलपूः यहाँ *अन्येभ्योऽपि०* (३।२।१७८) से तथा शतं सूत इति शतसूः यहाँ *सत्सूद्विष०* (३।२।६१) से क्विप् प्रत्यय हुआ है । यहाँ भी धात्ववयव संयोग उवर्ण से पूर्व नहीं है, तथा खलपूः, शतसूः अनेकाच् अङ्ग हैं । सकृल्लू यहाँ सकृत् के त् को *तोर्लि* (८।४।५९) से परसवर्ण ल् हुआ है । यहाँ भी संयोग धातु का अवयव नहीं है ॥

यहाँ से '*सुपि*' की अनुवृत्ति ६।४।८५ तक जायेगी ॥

वर्षाभ्वश्च ॥६।४।८४॥

वर्षाभ्वः ६।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—सुपि, अचि, यण्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—वर्षाभू इत्येतस्याङ्गस्य अजादौ सुपि परतो यणादेशो भवति ॥ *उदा०*—वर्षाभ्वौ वर्षाभ्वः ॥

भाषार्थः—[*वर्षाभ्वः*] वर्षाभू इस अङ्ग को [*च*] भी अजादि सुप् परे रहते यणादेश होता है ॥

न भूसुधियोः ॥६।४।८५॥

न अ० ॥ भूसुधियोः ६।२॥ *स०*—भू० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सुपि, अचि, यण्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—भू, सुधी इत्येतयोरङ्गयोर्यणादेशो न भवति अजादौ सुपि परतः ॥ *उदा०*—प्रतिभुवौ, प्रतिभुवः, सुधियौ, सुधियः ॥

भाषार्थः—[*भूसुधियोः*] भू तथा सुधी अङ्ग को यणादेश [*न*] नहीं होता, अजादि सुप् परे रहते ॥ प्रतिभू शब्द से *भुवः संज्ञा०* (३।२।१७९) से क्विप् हुआ है । 'भू' को *ओः सुपि* से यणादेश की प्राप्ति थी, तथा

'सुधी' को *एरनेकाचो०* (६।४।८२) से यण् प्राप्त था, निषेध कर दिया, तब यथाप्राप्त *अचि श्नुधातु०* (६।४।७७) से इयङ् उवङ् आदेश ही होता है ॥

यहाँ से '*भूसुधियोः*' की अनुवृत्ति ६।४।८६ तक जायेगी ॥

छन्दस्युभयथा ॥६।४।८६॥

छन्दसि ७।१॥ उभयथा अ० ॥ *अनु०*—भूसुधियोः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये भू सुधी इत्येतयोरङ्गयोरुभयथा दृश्यते ॥ *उदा०*—वने॑षु चि॒त्रं वि॒भ्वं॑ वि॒शे (ऋ० ४।६।१), विशे विभुवम् । सुध्यो हव्यमग्ने, सुधियो हव्यमग्ने ॥

भाषार्थः—भू सुधी इन अङ्गों को [*छन्दसि*] वेद विषय में [*उभयथा*] दोनों प्रकार से देखा जाता है, अर्थात् यणादेश होता भी है एवं नहीं भी होता। जब यणादेश नहीं होगा तो इयङ् उवङ् हो ही जायेंगे ॥

हुश्नुवोः सार्वधातुके ॥६।४।८७॥

हुश्नुवोः ६।२॥ सार्वधातुके ७।१॥ *स०*—हुश्च श्नुश्च हुश्नुवौ तयोः······इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य, अचि, यण्, अङ्गस्य । *ओः सुपि* (६।४।८३) इत्यतः 'ओः' इत्यनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या ॥ *अर्थः*—हु इत्येतस्य श्नुप्रत्ययान्तस्य चानेकाचोऽङ्गस्य योऽसंयोगपूर्व उकारस्तस्य स्थाने यणादेशो भवति अजादौ सार्वधातुके परतः ॥ *उदा०*—जुह्वति, जुह्वतु । श्नुप्रत्ययान्तस्य—सुन्वन्ति, सुन्वन्तु ॥

भाषार्थः—[*हुश्नुवोः*] हु तथा श्नुप्रत्ययान्त अनेकाच् अङ्ग को संयोगपूर्व में नहीं है जिससे ऐसा जो उवर्ण उसको अजादि [*सार्वधातुके*] सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते यणादेश होता है ॥ पूर्ववत् इयङ् उवङ् का अपवाद यह सूत्र भी है ॥ असंयोगपूर्व उवर्ण का, तथा अनेकाच् अङ्ग का विशेषण है । वह उवर्ण हु एवं श्नुप्रत्यय का ही होना चाहिये ॥

जुहोति की सिद्धि भाग १ परि० १।१।६० में की है, तद्वत् बहुवचन में झि को *अदभ्यस्तात्* (७।१।४) से अत् आदेश होकर जुह्वति जुह्वतु की सिद्धि जानें । सुन्वन्ति सुन्वन्तु की सिद्धि भाग १ परि० १।१।५ पृ० ६७०–६८० में देखें ॥

भुवो वुग् लुङ्लिटोः ॥६।४।८८॥

भुवः ६।१॥ वुक् १।१॥ लुङ्लिटोः ७।२॥ *स०*—लुङ्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अचि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—भुवोऽङ्गस्य वुक् आगमो भवति लुङि लिटि चाजादौ प्रत्यये परतः ॥ *उदा०*—लुङि—अभूवन्, अभूवम् । लिटि—बभूव, बभूवतुः, बभूवुः ॥

भाषार्थः—[*भुवः*] भू अङ्ग को [*वुक्*] वुक् आगम होता है [*लुङ्लिटोः*] लुङ् तथा लिट् अजादि प्रत्यय के परे रहते ॥ बभूव की सिद्धि भाग १ परि० १।२।६ में देखें। अभूवन् अभूवम् की सिद्धि में कुछ भी विशेष नहीं है, लुङ् लकार में सिद्धि बहुत बार दिखा ही आये हैं। 'अन्ति' तथा अम् (मिप् के स्थान में हुआ) अजादि प्रत्यय परे हैं ही। *गातिस्थाघु०* (२।४।७७) से यहाँ सिच् लुक् होता है ॥

ऊदुपधाया गोहः ॥६।४।८९॥

ऊत् १।१॥ उपधायाः ६।१॥ गोहः ६।१॥ *अनु०*—अचि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—गोहोऽङ्गस्योपधाया ऊकारादेशो भवति, अजादौ प्रत्यये परतः ॥ *उदा०*—निगूहति, निगूहकः, निगूही, निगूहं निगूहम्, निगूहन्ति ॥

भाषार्थः—[*गोहः*] गोह् अङ्ग की [*उपधायाः*] उपधा को [*ऊत्*] ऊकारादेश होता है अजादि प्रत्यय परे रहते ॥ गुहू संवरणे धातु को यहाँ गुण करके 'गोह' निर्देश किया है, अतः जहाँ गुहू को गोह् ऐसा रूप बनेगा, वहीं ऊकारादेश होगा ॥ निगूही में *सुप्यजातौ०* (३।२।७८) से णिनि हुआ है। निगूहं निगूहम् में *आभीक्ष्ण्ये०* (३।४।२२) से णमुल् तथा *आभीक्ष्ण्ये०* (वा० ८।१।१२) से द्वित्व हुआ है। शेष स्पष्ट ही हैं ॥

यहाँ से 'ऊत्' की अनुवृत्ति ६।४।६१ तक तथा '*उपधायाः*' की ६।४।१०० तक जायेगी ॥

दोषो णौ ॥६।४।९०॥

दोषः ६।१॥ णौ ७।१॥ *अनु०*—ऊत्, उपधायाः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—दोष उपधाया ऊकार आदेशो भवति णौ परतः ॥ *उदा०*—दूषयति, दूषयतः, दूषयन्ति ॥

भाषार्थः—[*दोषः*] दोष अङ्ग की उपधा को ऊकार आदेश होता है [*णौ*] णि परे रहते ॥ दुष वैकृत्ये धातु को गुण करके दोष यह निर्देश है ॥

यहाँ से '*णौ*' की अनुवृत्ति ६।४।९४ तक तथा '*दोषः*' की ६।४।९१ तक जायेगी ॥

वा चित्तविरागे ॥६।४।९१॥

वा अ० ॥ चित्तविरागे ७।१॥ *स०*—चित्तस्य विरागः = अप्रीतता चित्तविरागस्तस्मिन्''॥ *अनु०*—दोषो णौ, ऊत्, उपधायाः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—चित्तविरागेऽर्थे दोष उपधाया वा ऊकारादेशो भवति णौ परतः ॥ *उदा०*—चित्तं दूषयति, चित्तं दोषयति । प्रज्ञां दूषयति, प्रज्ञां दोषयति ॥

भाषार्थः—[*चित्तविरागे*] चित्त के विराग = अप्रीति = विकार अर्थ में दोष अङ्ग की उपधा को णि परे रहते [*वा*] विकल्प से ऊकारादेश होता है ॥ चित्तं दूषयति का तात्पर्य है—चित्त को विमुख करता है ॥

मितां ह्रस्वः ॥६।४।९२॥

मिताम् ६।३॥ ह्रस्वः १।१॥ *स०*—म् इत् येषां ते मितस्तेषाम्''' बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—णौ, उपधायाः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—मितामङ्गानामुपधाया ह्रस्वो भवति णौ परतः ॥ *उदा०*—घटयति, व्यथयति, जनयति, रजयति, शमयति, ज्ञपयति ॥

भाषार्थः—[*मिताम्*] मित् अङ्ग की उपधा को [*ह्रस्वः*] ह्रस्व होता है, णि परे रहते ॥ धातुपाठ के अन्तर्गत भ्वादिगण में मित् धातुयें कौन २ हैं यह बताया है यथा—*घटादयो मितः*, *जनीजॄष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च* इत्यादि । इन्हीं सूत्रों से ये सब धातुयें मित् होकर प्रकृत सूत्र से इनके उपधा को ह्रस्व हो जाता है, अर्थात् *अत उपधायाः* से हुई वृद्धि को ह्रस्व होता है ॥

यहाँ से '*मिताम्*' की अनुवृत्ति ६।४।९३ तक जायेगी ॥

चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम् ॥६।४।९३॥

चिण्णमुलोः ७।२॥ दीर्घः १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *स०*—चिण्०

इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—मिताम्, णौ, उपधायाः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—मितामङ्गानामुपधायाः चिण्परे णमुल्परे च णौ परतो दीर्घो भवति विकल्पेन ॥ उदा०— अशमि, अशामि, अतमि, अतामि । शमं-शमम्, शामंशामम्, तमंतमम् तामंतामम् ॥

भाषार्थः—मित् अङ्ग की उपधा को [*चिण्णमुलोः*] चिण्परक तथा णमुल्परक णि परे रहते [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से [*दीर्घः*] दीर्घ होता है ॥ शम् धातु से णिच् होकर तथा च्लि के स्थान में *चिण् भाव०* (३।१।६६) से चिण् होकर अ शाम् इ चिण् त रहा । *णेरनिटि* (६।४।५१) से णि लोप तथा प्रकृत सूत्र से दीर्घविकल्प एवं *चिणो लुक्* (६।४।१०४) से त लोप होकर अशमि, अशामि बना । शमंशमम् आदि में *आभीक्ष्ण्ये०* (३।४।२२) से णमुल् हुआ है । णि लोप पूर्ववत् हो ही जायेगा ॥

खचि ह्रस्वः ॥६।४।९४॥

खचि ७।१॥ ह्रस्वः १।१॥ अनु०—णौ, उपधायाः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अङ्गस्योपधायाः खच्परे णौ परतो ह्रस्वो भवति ॥ *उदा०*—द्विषन्तपः, परन्तपः, पुरन्दरः ॥

भाषार्थः—[*खचि*] खच्परक णि परे रहते अङ्ग की उपधा को [*ह्रस्वः*] ह्रस्व होता है ॥ द्विषन्तपः परन्तपः में *द्विषत्परयोस्तापेः* (३।२।३९) से खच् प्रत्यय एवं पुरन्दरः में *पूः सर्वयोर्दा०* (३।२।४१) से खच् प्रत्यय होता है । सिद्धि तत्तत् सूत्रों में ही देखें ॥

यहाँ से '*ह्रस्वः*' की अनुवृत्ति ६।४।९७ तक जायेगी ॥

ह्लादो निष्ठायाम् ॥६।४।९५॥

ह्लादः ६।१॥ निष्ठायाम् ७।१॥ अनु०—ह्रस्वः, उपधायाः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—निष्ठायां परतः ह्लादोऽङ्गस्योपधाया ह्रस्वो भवति ॥ *उदा०*—प्रह्लन्नः, प्रह्लन्नवान् ॥

भाषार्थः—[*ह्लादः*] ह्लाद अङ्ग की उपधा को [*निष्ठायाम्*] निष्ठा परे रहते ह्रस्व हो जाता है ॥ उदाहरणों में *रदाभ्यां०* (८।२।४२) से निष्ठा के तकार एवं दकार को 'न्' हुआ है । *श्वीदितो०* (७।२।१४) से इट् निषेध भी हो जाता है ॥

छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य ॥६।४।९६॥

छादेः ६।१॥ घे ७।१॥ अद्व्युपसर्गस्य ६।१॥ स०—द्वौ उपसर्गौ यस्मिन् स द्व्युपसर्गः, बहुव्रीहिः। न द्व्युपसर्गः अद्व्युपसर्गस्तस्मिन्''' नञ्-तत्पुरुषः॥ *अनु०*—ह्रस्वः, उपधायाः, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—अद्व्युपसर्गस्य छादेरङ्गस्योपधायाः घप्रत्यये परतो ह्रस्वो भवति॥ *उदा०*—उरश्छदः, प्रच्छदः, दन्तच्छदः॥

भाषार्थः—[*अद्व्युपसर्गस्य*] दो उपसर्गों से युक्त नहीं है जो ऐसे [*छादेः*] छादि अङ्ग की उपधा को [*घे*] घ प्रत्यय परे रहने पर ह्रस्व होता है॥ उरश्छदः आदि की सिद्धि भाग १ परि० ३।३।११८ में देखें। इन उदाहरणों में कहीं पर भी दो उपसर्गों से युक्त छादि अङ्ग नहीं है॥

यहाँ से 'छादेः' की अनुवृत्ति ६।४।९७ तक जायेगी॥

इस्मन्त्रन्क्विषु च ॥६।४।९७॥

इस्मन्त्रन्क्विषु ७।३॥ च अ०॥ *स०*—इस्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—छादेः, ह्रस्वः, उपधायाः, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—छादेरङ्गस्योपधाया इस्, मन्, त्रन्, क्वि इत्येतेषु परतो ह्रस्वो भवति॥ *उदा०*—छदिः, छद्म, छत्रम्, धामच्छत्, उपच्छत्॥

भाषार्थः—[*इस्मन्त्रन्क्विषु*] इस्, मन्, त्रन्, क्वि इन प्रत्ययों के परे रहते [*च*] भी छादि अङ्ग की उपधा को ह्रस्व होता है॥ छदिः यहाँ *अर्चिशुचिहुसृपिछादि०* (*उणा०* २।१०८) इस उणादि से इसि प्रत्यय हुआ है। छद्म में *सर्वधातुभ्यो मनिन्* (*उणा०* ४।१४५) से मनिन् हुआ है। छत्रम् में *सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्* (*उणा०* ४।१५९) से ष्ट्रन् प्रत्यय हुआ है। ष्ट्रन् का 'त्र' शेष रह जाता है। षकार (जिसके योग से ष्टुत्व हुआ था) के हट जाने से ष्टुत्व भी हट जाता है, सो ट् का त्र रूप रहेगा। धामच्छत् में *क्विप् च* (३।२।७६) से क्विप् होता है। णि का लोप पूर्ववत् *णेरनिटि* (६।४।५१) से होगा॥

गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि ॥६।४।९८॥

गमहनजनखनघसाम् ६।३॥ लोपः १।१॥ क्ङिति ७।१॥ अनङि ७।१॥ *स०*—गमहन० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। कश्च ङश्च कङौ, कङौ इतौ यस्य

स क्ङित् तस्मिन्'''द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः। न अङ् अनङ् तस्मिन्'''नञ्-तत्पुरुषः॥ *अनु०*—अचि, उपधायाः, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—गम, हन, जन, खन, घस् इत्येतेषामङ्गानामुपधाया लोपो भवति, अजादौ क्ङिति अनङि परतः॥ *उदा०*—गम-जग्मतुः, जग्मुः। हन-जघ्नतुः, जघ्नुः। जन-जज्ञे, जज्ञाते, जज्ञिरे। खन-चख्नतुः, चख्नुः। घस्-जक्षतुः, जक्षुः, अक्षन्नमीमदन्त पितरः॥

भाषार्थः—[*गम'''साम्*] गम, हन, जन, खन, घस् इन अङ्गों की उपधा का [*लोपः*] लोप हो जाता है, [*अनङि*] अङ् भिन्न अजादि [*क्ङिति*] कित् ङित् प्रत्यय परे हो तो॥ अङ् प्रत्यय अजादि एवं ङित् है, अतः उपधा लोप प्राप्त था निषेध कर दिया॥ भाग १ परि० १।१।५७ पृ० ७४८-४९ में जक्षतुः जक्षुः एवं 'अक्षन्' की सिद्धि देखें, तथा जग्मतुः जग्मुः की परि० १।१।५८ में देखें। इसी प्रकार जघ्नतुः चख्नतुः बनेंगे। जघ्नतुः में *अभ्यासाच्च* (७।३।५५) से अभ्यास को कुत्व होता है। जज्ञे में *स्तोः श्चुना श्चुः* (८।४।३९) से श्चुत्व हुआ है। आत्मनेपद में *लिटस्तझयो०* (३।४।८१) आदि हो जायेंगे॥

यहाँ से '*लोपः*' की अनुवृत्ति ६।४।१०० तक तथा '*क्ङिति*' की अनुवृत्ति ६।४।१२६ तक जायेगी॥

तनिपत्योश्छन्दसि ॥६।४।९९॥

तनिपत्योः ६।२॥ छन्दसि ७।१॥ *स०*—तनि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—लोपः, क्ङिति, उपधायाः, अचि, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—तनि, पति इत्येतयोश्छन्दसि विषये उपधाया लोपो भवति, अजादौ क्ङिति प्रत्यये परतः॥ *उदा०*—वितत्निरे कवयः (ऋ० १।१६४।५)। शकुना इव पप्तिम (ऋ० ६।१०७।२०)॥

भाषार्थः—[*तनिपत्योः*] तन् तथा पत् अङ्ग की उपधा का लोप होता है, [*छन्दसि*] वेद विषय में अजादि कित् ङित् प्रत्यय परे रहते॥ तन् तन् इरेच् = त तन् इरे, उपधा अकार का लोप होकर वितत्निरे बना। पत् पत् म = प प् त् म, इडागम होकर पप्तिम बना॥

यहाँ से '*छन्दसि*' की अनुवृत्ति ६।४।१०० तक जायेगी॥

घसिभसोर्हलि च ॥६।४।१००॥

घसिभसोः ६।२॥ हलि ७।१॥ च अ० ॥ *स०*—घसि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—छन्दसि, लोपः, क्ङिति, उपधायाः, अचि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—घसि भस इत्येतयोश्छन्दसि विषये उपधाया लोपो भवति, हलादौ अजादौ च क्ङिति प्रत्यये परतः ॥ *उदा०*—सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे (य० १८।९)। बब्धां ते हरी धानाः (नि० ५।१२)। अजादौ–बप्सति॥

भाषार्थः—[*घसिभसोः*] घस् तथा भस् अङ्ग की उपधा का लोप [*हलि*] हलादि [*च*] तथा अजादि कित् ङित् प्रत्यय परे रहते होता है वेद विषय में ॥ सग्धिः तथा बब्धाम् की सिद्धि परि० १।१।५७ में देखें ॥ भस् धातु से झि को अत् आदेश (७।१।४) तथा श्लौ (६।१।१०) से भस् को द्वित्व एवं अभ्यास कार्य होकर 'बभस् अति' रहा, उपधा लोप होकर तथा *खरि च* (८।४।५४) से भ् को चर्त्व पकार होकर बप्सति बन गया ॥

यहाँ से '*हलि*' की अनुवृत्ति ६।४।१०१ तक जायेगी ॥

हुझल्भ्यो हेर्धिः ॥६।४।१०१॥

हुझल्भ्यः ५।३॥ हेः ६।१॥ धिः १।१॥ *स०*—हुश्च झलश्च हुझलस्तेभ्यः··· इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—हलि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—हु इत्येतस्मात् झलन्तेभ्यश्चोत्तरस्य हलादेर्हेः स्थाने 'धि' इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—जुहुधि । झलन्तेभ्यः—भिन्द्धि, छिन्द्धि ॥

भाषार्थः—[*हुझल्भ्यः*] हु तथा झलन्त से उत्तर हलादि [*हेः*] हि के स्थान में [*धिः*] धि आदेश होता है ॥ जुहुधि की सिद्धि परि० ३।३।१६६ पृ० ९११ में देखें । भि श्नम् द् हि = भि न द् हि यहाँ *श्नसोरल्लोपः* (६।४।१११) से न के अ का लोप एवं हि को धि होकर भिन्द्धि छिन्द्धि बन गया ॥

यहाँ से '*हेर्धिः*' की अनुवृत्ति ६।४।१०३ तक जायेगी ॥

श्रुशृणुपॄकृवृभ्यश्छन्दसि ॥६।४।१०२॥

श्रुशृणुपॄकृवृभ्यः ५।३॥ छन्दसि ७।१॥ *स०*—श्रुशृणु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—हेर्धिः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—श्रु, शृणु, पॄ, कृ, वृ इत्येतेभ्य

य छन्दसि विषये हेर्धिरादेशो भवति ॥ उदा०—श्रुधी हवम्
१।२।१) शृणुधी गिरः (ऋ० ८।८४।३) रायस्पूर्द्धि (ऋ० १।३६।१२)
कृधि (ऋ० ८।७५।११) अपावृधि ॥

भाषार्थः—[श्रुशृणुपृकृवृभ्यः] श्रु, शृणु, पृ, कृ तथा वृ से उत्तर
सि] वेद विषय में हि को धि आदेश होता है ॥ श्रुधि में शप्
न्दस लोप होता है। इसी प्रकार पूर्द्धि, कृधि, वृधि में भी शप् लुक् होता
शप् के अभाव में अन्यविकरण नहीं होते। शृणुधी में श्रुवः शृ च
।७४) से शृ आदेश तथा श्नु प्रत्यय होता है। अन्येषामपि दृश्यते
।१३५) से श्रुधी शृणुधी में धि को दीर्घ हुआ है। पूर्द्धि में पृ धातु
उदोष्ठ्यपू० (७।१।१०२) से उत्व रपरत्व तथा हलि च (८।२।७७)
ार्घ होता है। उरु अस्माकं कृधि उरुणस्कृधि यहाँ बहुवचनस्य०
।२१) से अस्माकं को नस् आदेश तथा नश्च धातु० (८।४।२६) से
हुआ है। उरुणः के विसर्जनीय को यहाँ कृधि परे रहते कःकरत्०
३।५०) से सत्व हुआ है ॥ अपावृधि वृञ् अथवा वृङ् का रूप है।
का मानने पर व्यत्यय से परस्मैपद छन्द में होगा ॥

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति ६।३।१०२ तक जायेगी ॥

अङितश्च ॥६।४।१०३॥

अङितः ६।१॥ च० अ० ॥ स०—ङ इत् यस्य स ङित्, न ङित्
ङित् तस्य' 'बहुव्रीहिगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—छन्दसि, हेर्धिः ॥
ः—अङितश्च हेर्धिरादेशो भवति छन्दसि विषये ॥ उदा०—सोमं
न्धि (ऋ० १।९१।१३) अस्मभ्यं तद्धर्यश्व प्रयन्धि। युयोध्यस्मज्जुहु-
ामेनः (य० ४०। १६) ॥

भाषार्थः—[अङितः] अङित् हि को [च] भी धि आदेश होता है,
विषय में ॥ वा छन्दसि (३।४।८८) से हि को विकल्प से अपित्
ा है, सो अपित् पक्ष में 'हि' सार्वधातुकमपित् (१।२।४) से ङित्वत्
गा तथा पित् पक्ष में ङित् नहीं होगा, इस प्रकार जिस पक्ष में ङित्
ीं होगा उसी पक्ष में अङित् हि के होने से इस सूत्र की प्रवृत्ति
गी ॥ रम धातु से रारन्धि बना है। यहाँ व्यत्यय से परस्मैपद होता
, तथा बहुलं छन्दसि (२।४।७६) से शप् को श्लु एवं तुजादीनां दीर्घो०

(६।१।७) से अभ्यास को दीर्घ होता है। *अनुदात्तोपदेश०* (६।४।३७) से 'हि' के अङित् होने से ही मकार लोप नहीं होता। प्रयन्धि यहाँ यम के शप् का *बहुलं छन्दसि* (२।४।७३) से लुक् होता है। युयोधि यहाँ शप् को श्लु होने से द्विर्वचन तथा पित् पक्ष में अङित् होने से गुण होता है॥

चिणो लुक् ॥६।४।१०४॥

चिणः ५।१॥ लुक् १।१॥ *अनु०*—अङ्गस्य॥ *अर्थः*—चिण उत्तरस्य प्रत्ययस्य लुग् भवति॥ *उदा०*—अकारि, अहारि, अलावि, अपाचि॥

भाषार्थः—[*चिणः*] चिण् से उत्तर प्रत्यय का [*लुक्*] लुक् (अदर्शन) होता है॥ *प्रत्ययस्य लुक्०* (१।१।६०) से प्रत्यय के अदर्शन की ही लुक् संज्ञा कही है, अतः यहाँ लुक् कहने से प्रत्यय का ही अदर्शन समझा जायेगा। *चिण् भाव०* (३।१।६६) से उदाहरणों में चिण् हुआ है, उस चिण् से उत्तर त का प्रकृत सूत्र से लुक् हो जाता है॥

यहाँ से 'लुक्' की अनुवृत्ति ६।४।१०६ तक जायेगी॥

अतो हेः ॥६।४।१०५॥

अतः ५।१॥ हेः ६।१॥ *अनु०*—लुक्, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—अकारान्तादङ्गादुत्तरस्य हेर्लुक् भवति॥ *उदा०*—पच, पठ, गच्छ, धाव॥

भाषार्थः—[*अतः*] अकारान्त अङ्ग से उत्तर [*हेः*] हि का लुक् हो जाता है॥ विभक्ति विपरिणाम होकर अर्थानुसार 'अङ्गस्य' पञ्चमी विभक्ति में बदल जाता है॥

यहाँ से 'हेः' की अनुवृत्ति ६।४।१०६ तक जायेगी॥

उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् ॥६।४।१०६॥

उतः ५।१॥ च अ०॥ प्रत्ययात् ५।१॥ असंयोगपूर्वात् ५।१॥ *स०*—अविद्यमानः संयोगः पूर्वो यस्मात् स असंयोगपूर्वस्तस्मात्''बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—हेः, लुक्, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—असंयोगपूर्वो यः प्रत्ययोकारस्तदन्तादङ्गात्परस्य हेर्लुक भवति॥ *उदा०*—चिनु, सुनु, कुरु॥

भाषार्थः—[*असंयोगपूर्वात्*] संयोग पूर्व में नहीं है जिससे ऐसा जो

[*उतः*] उकार तदन्त [*प्रत्ययात्*] जो प्रत्यय, तदन्त अङ्ग से उत्तर [*च*] भी हि का लुक् हो जाता है ॥ कुरु में कृ को गुण रपरत्व कर लेने पर *अत उत्सार्वधातुके* (६।४।११०) से उत्व होता है ॥

यहाँ 'असंयोगपूर्व' उकार का विशेषण है न कि उकारान्त प्रत्यय का इसलिए 'आप्नुहि' में नु प्रत्ययावयव उकार से पूर्व प् न् का संयोग होने से हि का लुक् नहीं होता। उकारान्त प्रत्यय का विशेषण बनाने पर 'नु' प्रत्यय से पूर्व संयोग न होने के कारण यहाँ भी लुक् प्राप्त हो जाता, अतः असंयोगपूर्वग्रहण उकार का विशेषण माना गया है ॥

यहाँ से '*उतः प्रत्ययात्*' की अनुवृत्ति ६।४।११० तक तथा '*असंयोगपूर्वात्*' की ६।४।१०७ तक जायेगी ॥

लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः ६।४।१०७॥

लोपः १।१॥ च अ० ॥ अस्य ६।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ म्वोः ७।२॥ *स०*—मश्च वश्च म्वौ, तयोः...इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—उतः प्रत्ययात्, असंयोगपूर्वात्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—असंयोगपूर्वो योऽयमुकारो तदन्तस्य प्रत्ययस्य लोपो भवति विकल्पेन, मकारादौ वकारादौ च प्रत्यये परतः ॥ *उदा०*—सुन्वः, सुनुवः, तन्वः, तनुवः। सुन्मः, सुनुमः, तन्मः, तनुमः ॥

भाषार्थः—असंयोगपूर्व [*अस्य*] इस उकारान्त प्रत्यय का [*लोपः*] लोप [*च*] भी [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से होता है [*म्वोः*] मकारादि तथा वकारादि प्रत्ययों के परे रहते ॥ सुनुतः की सिद्धि परि० १।१।५ में की है तद्वत् वस् मस् परे रहते यहाँ भी जानें। *अलोन्त्यस्य* (१।१।५१) के नियम से प्रत्यय के अन्त्य उकार का लोप होता है। तन्वः तन्मः में उकारमात्र ही विकरण है उसका लोप होता है ॥ सामर्थ्य से असंयोगपूर्वात् आदि पद भी षष्ठ्यन्त में यहाँ बदल जाते हैं ॥

यहाँ से '*लोपः*' की अनुवृत्ति ६।४।१०९ तक तथा '*म्वोः*' की ६।४।१०८ तक जायेगी ॥

नित्यं करोतेः ॥६।४।१०८॥

नित्यम् १।१॥ करोतेः ५।१॥ *अनु०*—लोपः, म्वोः, उतः प्रत्ययात्,

अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—वकारमकारादौ प्रत्यये परतः करोतेरुत्तरस्य उकारप्रत्ययस्य नित्यं लोपो भवति ॥ *उदा०*—कुर्वः, कुर्मः ॥

भाषार्थः—वकारादि मकारादि प्रत्यय परे रहते [*करोतेः*] कृ अङ्ग से उत्तर उकार प्रत्यय का [*नित्यम्*] नित्य ही लोप हो जाता है ॥ पूर्ववत् उकार का लोप, एवं *अत उत्सार्व०* (६।४।११०) से उत्व होगा। कर् उ मस् = कुरु मस् = कुर्मः ॥

यहाँ से '*नित्यम्*' की अनुवृत्ति ६।४।१०६ तक तथा '*करोतेः*' की ६।४।११० तक जायेगी ॥

ये च ॥६।४।१०९॥

ये ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—नित्यम् करोतेः, लोपः, उतः प्रत्ययात्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—यकारादौ च प्रत्यये परतः करोतेरुत्तरस्योकारस्य प्रत्ययस्य नित्यं लोपो भवति ॥ *उदा०*—कुर्यात्, कुर्याताम्, कुर्युः ॥

भाषार्थः—[*ये*] यकारादि प्रत्यय परे रहते [*च*] भी कृ अङ्ग से उत्तर उकार प्रत्यय का नित्य ही लोप होता है ॥ कृ उ यासुट् सुट् ति = कर् उ यास् स् त् यहाँ उत्व (६।४।११०) तथा उकार लोप होकर कुर् या स् स् त् रहा, पश्चात् *लिङः सलोपो०* (७।२।७६) से दोनों सकारों का लोप होकर कुर्यात् आदि रूप बने। कुर्युः में *झेर्जुस्* (३।४।१०८) एवं *उस्यपदान्तात्* (६।१।६३) सूत्र विशेष लगेंगे ॥

अत उत्सार्वधातुके ॥६।४।११०॥

अतः ६।१॥ उत् १।१॥ सार्वधातुके ७।१॥ *अनु०*—करोतेः, उतः प्रत्ययात्, क्ङिति, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—उकारप्रत्ययान्तस्य करोतेरकारस्य स्थाने उकार आदेशो भवति, क्ङिति सार्वधातुके परतः ॥ *उदा०*—कुरुतः, कुर्वन्ति ॥

भाषार्थः—उकारप्रत्ययान्त कृ अङ्ग के [*अतः*] अकार के स्थान में [*उत्*] उकारादेश हो जाता है, कित् ङित् [*सार्वधातुके*] सार्वधातुक परे रहते ॥ कृ को गुण रपरत्व करने पर 'अ' के स्थान में उत्व होता है ॥ सिद्धियाँ परि० १।२।४ में देखें ॥

यहाँ से '*सार्वधातुके*' की अनुवृत्ति ६।४।११८ तक जायेगी ॥

श्नसोरल्लोपः ॥६।४।१११॥

श्नसोः ६।२॥ अल्लोपः १।१॥ स०—श्नश्च अश्च श्नसौ (शकन्ध्वादिवत् पररूपम्) तयोः' ' 'इतरेतरद्वन्द्वः। अतो लोपः, अल्लोपः, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—सार्वधातुके, क्ङिति, ॥ *अर्थः*—श्नस्यास्तेश्चाकारस्य लोपो भवति सार्वधातुके क्ङिति परतः ॥ *उदा०*—रुन्धः, रुन्धन्ति । भिन्तः, भिन्दन्ति । अस्तेः—स्तः, सन्ति ॥

भाषार्थः—[*श्नसोः*] श्नम् प्रत्यय तथा अस् धातु के [*अल्लोपः*] अकार का लोप होता है, कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते ॥ परि० १।१।४६ के रुणद्धि के समान रुन्धः में सब कार्य जानें, केवल यहाँ श्न के अ का लोप तस् ङित् सार्वधातुक परे रहते होता है। नकार को अनुस्वार (८।३।२४) तथा परसवर्ण (८।४।५८) हो कर पुनः नकार होता है अतः न् के असिद्ध (८।२।१) होने से णत्व भी नहीं होता है। स्तः सन्ति की सिद्धि परि० १।१।५७ में देखें ॥

यहाँ से '*लोपः*' की अनुवृत्ति ६।४।११२ तक जायेगी ॥

श्नाभ्यस्तयोरातः ॥६।४।११२॥

श्नाभ्यस्तयोः ६।२॥ आतः ६।१॥ स०—श्ना० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—लोपः, सार्वधातुके, क्ङिति, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—श्ना इत्येतस्य अभ्यस्तानाञ्चाङ्गानामाकारस्य लोपो भवति सार्वधातुके क्ङिति परतः ॥ *उदा०*—लुनते, लुनताम्, अलुनत । अभ्यस्तानाम्—मिमते, मिमताम्, अमिमत । संजिहते, संजिहताम्, समजिहत ॥

भाषार्थः—[*श्नाभ्यस्तयोः*] श्ना तथा अभ्यस्तसंज्ञक के [*आतः*] आकार का लोप होता है, कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते ॥ यद्यपि कित् ङित् सामान्य सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते आकार का लोप कहा है, तथापि उत्तर सूत्र में हलादि कित् ङित् सार्वधातुक में ईकारादेश का विधान होने से यहाँ अजादि सार्वधातुक में ही यह विधि जाननी चाहिये ॥ परि० १।३।१४ भाग १ में व्यतिलुनते की सिद्धि की है, तद्वत् लुनते, (बहुवचन) लुनताम्, (लोट् में *आमेतः* ३।४।९० लगकर) की सिद्धि जानें। माङ् माने धातु को श्लौ (६।१।१०) से द्वित्व एवं अभ्यास को *भृञामित्* (७।४।७६) से इत्व होकर 'मि मा अ ते' रहा। उभे *अभ्यस्तम्*

(६।१।५) से अभ्यस्त संज्ञा होकर प्रकृत सूत्र से आकार लोप करके मिमते बन गया। इसी प्रकार मिमताम्, अमिमत (लङ्) तथा ओहाङ् गतौ धातु से संजिहते आदि भी समझें॥

यहाँ से '*श्नाभ्यस्तयोः*' की अनुवृत्ति ६।४।११३ तक तथा '*आतः*' की ६।४।११४ तक जायेगी॥

ई हल्यघोः ॥६।४।११३॥

ई लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः॥ हलि ७।१॥ अघोः ६।१॥ *स०*—न घुः अघुः, तस्य...नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—श्नाभ्यस्तयोः, आतः, सार्वधातुके, क्ङिति, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—घुवर्जितानां श्नान्तानामङ्गानामभ्यस्तानाञ्च आतः स्थाने ईकारादेशो भवति हलादौ क्ङिति सार्वधातुके परतः॥ *उदा०*—लुनीतः पुनीतः, लुनीथः पुनीथः, लुनीते पुनीते। अभ्यस्तानाम्—मिमीते, मिमीषे, मिमीध्वे, संजिहीते, संजिहीध्वे॥

भाषार्थः—[*अघोः*] घु संज्ञक को छोड़ कर जो श्नान्त अङ्ग एवं अभ्यस्तसंज्ञक अङ्ग उनके आकार के स्थान में [ई] ईकारादेश होता है [*हलि*] हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते॥ भाग १ परि० १।३।१८ में परिक्रीणीते की सिद्धि की है, तद्वत् लुनीते पुनीते आदि भी जानें। परस्मैपद में तस् थस् हलादि ङित् (१।२।४) सार्वधातुक परे रहते लुनीतः लुनीथः आदि की सिद्धि जानें। मिमीते आदि में पूर्ववत् द्वित्वादि कार्य होगा॥

यहाँ से '*हलि*' की अनुवृत्ति ६।४।११६ तक जायेगी॥

इद्दरिद्रस्य ॥६।४।११४॥

इत् १।१॥ दरिद्रस्य ६।१॥ *अनु०*—हलि, आतः, सार्वधातुके, क्ङिति, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—दरिद्रातेरातो हलादौ क्ङिति सार्वधातुके परत इकारादेशो भवति॥ *उदा०*—दरिद्रितः, दरिद्रिथः, दरिद्रिवः, दरिद्रिमः॥

भाषार्थः—[*दरिद्रस्य*] दरिद्रा धातु के आकार[1] के स्थान में [इत्] इकारादेश होता है, हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते॥

---

१. आकार की अनुवृत्ति के बिना भी अलोन्त्यस्य के नियम से अन्त्य आकार को ही ईकारादेश होगा, अतः अनुवृत्ति स्पष्टार्थ है।

यहाँ से 'इत्' की अनुवृत्ति ६।४।११६ तक जायेगी ॥

भियोऽन्यतरस्याम् ॥६।४।११५॥

भियः ६।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—इत्, हलि, सार्वधातुके, क्ङिति, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—भी इत्येतस्याङ्गस्य विकल्पेन इकारादेशो भवति, हलादौ क्ङिति सार्वधातुके परतः ॥ *उदा०*—बिभितः बिभीतः, बिभिथः, बिभीथः, बिभिवः बिभीवः, बिभिमः बिभीमः ॥

भाषार्थः—[*भियः*] भी अङ्ग को [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प करके हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते इकारादेश होता है ॥ पक्ष में दीर्घ ही रहेगा । अभ्यास कार्य एवं द्वित्व पूर्ववत् जानें । अन्त्य अल् 'ई' को इकार आदेश होगा ॥

यहाँ से '*अन्यतरस्याम्*' की अनुवृत्ति ६।४।११७ तक जायेगी ॥

जहातेश्च ॥६।४।११६॥

जहातेः ६।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—अन्यतरस्याम्, इत्, हलि, सार्वधातुके, क्ङिति, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—जहातेश्च इकारादेशो भवति विकल्पेन हलादौ क्ङिति सार्वधातुके परतः ॥ *उदा०*—जहितः, जहीतः, जहिथः, जहीथः ॥

भाषार्थः—[*जहातेः*] ओहाक् त्यागे अङ्ग को [*च*] भी इकारादेश विकल्प से होता है, हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते ॥ ई *हल्यघोः* से अभ्यस्त के अ को नित्य ईत् प्राप्त था, सो इत् अभाव पक्ष में ईत् ही होता है । भाग १ पृ० ७५५ के जुहोति के समान द्वित्वादि कार्य जानें ॥

यहाँ से '*जहातेः*' की अनुवृत्ति ६।४।११८ तक जायेगी ॥

आ च हौ ॥६।४।११७॥

आ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ हौ ७।१॥ *अनु०*—जहातेः, इत्, अन्यतरस्याम् ॥ *अर्थः*—जहातेराकारश्चान्तादेशो अन्यतरस्यां भवति इकारश्च हौ परतः ॥ *उदा०*—जहाहि, जहिहि, जहीहि ॥

भाषार्थः—ओहाक् अङ्ग को [*आ*] आकार आदेश विकल्प से होता है [*च*] तथा इकार आदेश भी विकल्प से होता है [*हौ*] हि परे

रहते ॥ पूर्वसूत्र में इकारादेश विकल्प से कहा है, यहाँ आकारादेश का भी विकल्प से विधान किया, अतः पक्ष में पूर्ववत् ईकारादेश (६।४।११३) होकर तीन रूप बनते हैं ॥

लोपो यि ॥६।४।११८॥

लोपः १।१॥ यि ७।१॥ *अनु०*-जहातेः, सार्वधातुके, क्ङिति ॥ *अर्थः*—जहातेर्लोपो भवति यकारादौ क्ङिति सार्वधातुके परतः ॥ *उदा०*—जह्यात्, जह्याताम्, जह्युः ॥

भाषार्थः—ओहाक् अङ्ग का [*लोपः*] लोप होता है [*यि*] यकारादि कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते ॥ *अलोऽन्त्यस्य* (१।१।५१) से अन्त्य आकार का लोप हो जायेगा ॥

घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च ॥६।४।११९॥

घ्वसोः ६।२॥ एत् १।१॥ हौ ७।१॥ अभ्यासलोपः १।१॥ च अ० ॥ *स०*—घ्वसोः इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । अभ्यासस्य लोपः अभ्यासलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अङ्गस्य, क्ङिति ॥ *अर्थः*—घुसंज्ञकानामङ्गानामस्तेश्च एकारादेशो भवति हौ क्ङिति परतोऽभ्यासलोपश्च ॥ *उदा०*—देहि, धेहि । अस्तेः—एधि ॥

भाषार्थः—[*घ्वसोः*] घुसंज्ञक अङ्ग को एवं अस् को [*एत्*] एकारादेश [*च*] तथा [*अभ्यासलोपः*] अभ्यास का लोप होता है [*हौ*] हि क्ङित् परे रहते ॥ हि ङित् सार्वधातुक है । देहि धेहि की सिद्धि भाग १ परि० १।१।१९ में देखें, तथा एधि की सिद्धि *असिद्धवदत्रा०* (६।४।२२) सूत्र में देखें ॥

यहाँ से '*एत् अभ्यासलोपश्च*' की अनुवृत्ति ६।४।१२६ तक जायेगी ॥

अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि ॥६।४।१२०॥

अतः ६।१॥ एकहल्मध्ये ७।१॥ अनादेशादेः ६।१॥ लिटि ७।१॥ *स०*—एकश्च एकश्च एकौ । एकौ च तौ हलौ च एकहलौ, कर्मधारयस्तत्पुरुषः । एकहलोर्मध्यः एकहल्मध्यः, तस्मिन् षष्ठीतत्पुरुषः । अविद्यमान आदेश आदिर्यस्य स

अनादेशादिस्तस्य''बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—एत्, अभ्यासलोपश्च, क्ङिति, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—लिटि परतः अनादेशादेरङ्गस्य एकहल्मध्ये=असहाययोर्हलोर्मध्ये योऽकारस्तस्य एकारादेशो भवति, अभ्यासलोपश्च लिटि क्ङिति परतः ॥ *उदा०*—रेणतुः, रेणुः, येमतुः, येमुः, पेचतुः, पेचुः, देमतुः, देमुः ॥

भाषार्थः—लिट् परे रहते [*अनादेशादेः*] अनादेशादि अङ्ग के (अर्थात् लिट् परे जिस अङ्ग के आदि को आदेश नहीं हुआ है) [*एकहल्मध्ये*] एक=असहाय=(अकेले दो) हलों के बीच में वर्त्तमान जो [*अतः*] अकार उसको एकारादेश तथा अभ्यासलोप हो जाता है कित् ङित् [*लिटि*] लिट् परे रहते ॥ एक शब्द यहाँ असहायवाची है ॥ रण धातु को द्वित्वादि होकर 'र रण अतुस्' रहा। अब यहां 'रण्' अङ्ग के आदि 'र' को लिट् को मानकर आदेश नहीं हुआ है, अतः यह अनादेशादि अङ्ग है, एवं 'रण्' के र का अ, र् तथा ण् इन असहाय हलों के बीच में है। इस प्रकार अकार के एकहल्मध्य होने से अभ्यास लोप एवं अकार को एत्व प्रकृत सूत्र से हो गया है। इसी प्रकार येमतुः आदि में जानें ॥ 'लिटि' पद की आवृत्ति करने से एक 'लिटि' का संबन्ध 'अनादेशादेः' के साथ होता है और दूसरे का 'क्ङिति' के साथ। अनादेशादेः के साथ लिटि का संबन्ध इसलिए किया जाता है कि जो धातु को आदि आदेश लिट् निमित्तक नहीं होते सामान्य होते हैं उनमें निषेध न हो। यथा षध=सध—सेधतुः, सेधुः, णम=नम—नेमतुः नेमुः ये सत्व नत्व सामान्य आदेश हैं।

यहाँ से '*अतः लिटि*' की अनुवृत्ति ६।४।१२६ तक तथा '*एकहल्मध्ये अनादेशादेः*' की ६।४।१२१ तक जायेगी ॥

थलि च सेटि ॥६।४।१२१॥

थलि ७।१॥ च अ० ॥ सेटि ७।१॥ *अनु०*—अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि, एत्, अभ्यासलोपश्च, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—थलि च सेटि परतोऽनादेशादेरङ्गस्यासहाययोर्हलोर्मध्ये वर्त्तमानस्याकारस्य स्थाने एकारादेशो भवत्यभ्यासलोपश्च ॥ *उदा०*—पेचिथ, शेकिथ ॥

भाषार्थः—[*सेटि*] सेट् [*थलि*] परे रहते [*च*] भी अनादेशादि

अङ्ग के दो असहाय हलों के मध्य में वर्त्तमान जो अकार उसके स्थान में एकार आदेश हो जाता है, तथा अभ्यास का लोप होता है ॥ पेचिथ शेकिथ की सिद्धि परि० ३।४।११५ में देखें ॥ थल् कित् ङित् नहीं है, अतः इस सूत्र का आरम्भ अकिङदर्थ है ॥

यहाँ से '*थलि च सेटि*' की अनुवृत्ति ६।४।१२६ तक जायेगी ॥

तॄफलभजत्रपश्च ॥ ६।४।१२२॥

तॄफलभजत्रपः ६।१॥ च अ० ॥ *स०*—तॄ च फलश्च भजश्च त्रपश्च तॄ... त्रपम् तस्य... समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—थलि च सेटि, अतः लिटि, एत्, अभ्यासलोपश्च, क्ङिति, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—तॄ, फल, भज, त्रप इत्येतेषामङ्गानामकारस्य स्थाने एकारादेशो भवति अभ्यासलोपश्च क्ङिति लिटि परतस्थलि च सेटि ॥ *उदा०*—तेरतुः, तेरुः, तेरिथ । फेलतुः फेलुः फेलिथ । भेजतुः, भेजुः, भेजिथ । त्रेपे, त्रेपाते, त्रेपिरे ॥

भाषार्थः—[*तॄफलभजत्रपः*] तॄ, फल, भज, त्रप इन अङ्गों के अकार के स्थान में [च] भी एकारादेश तथा अभ्यासलोप होता है, कित् ङित् लिट् परे रहते तथा सेट् थल् परे रहते ॥ तेरतुः में तॄ को गुण *ऋच्छत्यॄताम्* (७।४।११) से होता है, अतः *न शसदद०* (६।४।१२६) से तॄ को अभ्यासलोप तथा एत्व प्रतिषेध प्राप्त था, यहाँ विधान कर दिया । फल से फल निष्पत्तौ एवं ञिफला विशरणे दोनों का ग्रहण होता है । फल तथा भज को अभ्यास कार्य होकर 'प ब' आदि को ये आदेश होते हैं, अतः आदेशादि होने से अप्राप्ति थी तथा त्रप धातु में आकार अनेक हल्मध्य वाला है, अतः उसे पूर्वसूत्र से प्राप्ति नहीं थी, सो सर्वत्र विधान कर दिया ॥

राधो हिंसायाम् ॥ ६।४।१२३॥

राधः ६।१॥ हिंसायाम् ७।१॥ *अनु०*—थलि च सेटि, अतः लिटि, एत्, अभ्यासलोपश्च, क्ङिति, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—हिंसायामर्थे राधोऽङ्गस्यावर्णस्य स्थाने एकार आदेशो भवति, अभ्यासलोपश्च लिटि क्ङिति परतस्थलि च सेटि ॥ *उदा०*—अपरेधतुः, अपरेधुः, अपरेधिथ ॥

भाषार्थः—[*हिंसायाम्*] हिंसा अर्थ में वर्त्तमान [*राधः*] राध अङ्ग

के अवर्ण के स्थान में एकार आदेश तथा अभ्यासलोप होता है, कित् ङित् लिट् परे रहते तथा सेट् थल् परे रहते ॥ ६।४।१२० से अकार के स्थान में एत्व प्राप्त था, आकार के स्थान में प्राप्त नहीं था, अतः कह दिया। यहाँ तपरत्वनिर्दिष्ट 'अतः' की अनुवृत्ति होने पर भी राध में ह्रस्व अकार का संभव न होने से दीर्घ आकार को ही एत्व होता है ॥

वा जॄभ्रमुत्रसाम् ॥६।४।१२४॥

वा अ० ॥ जॄभ्रमुत्रसाम् ६।३॥ *स०*—जॄ च भ्रमुश्च त्रस् च जॄभ्रमुत्रसस्तेषाम्...इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—थलि च सेटि, अतः लिटि, एत् अभ्यासलोपश्च, क्ङिति, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—जॄ, भ्रमु, त्रस्, इत्येतेषामङ्गानामतः स्थाने एकारादेशो वा भवति, अभ्यासलोपश्च क्ङिति लिटि परतस्थलि च सेटि ॥ *उदा०*—जेरतुः, जेरुः, जेरिथ। पक्षे न भवति—जजरतुः, जजरुः, जजरिथ। भ्रेमतुः भ्रेमु भ्रेमिथ। पक्षे—बभ्रमतुः, बभ्रमुः, बभ्रमिथ। त्रेसतुः, त्रेसुः, त्रेसिथ। पक्षे—तत्रसतुः, तत्रसुः, तत्रसिथ ॥

भाषार्थः—[*जॄभ्रमुत्रसाम्*] जॄ, भ्रमु, त्रस् इन अङ्गों के अकार के स्थान में एत्व तथा अभ्यासलोप [*वा*] विकल्प से होता है, कित् ङित् लिट् परे रहते तथा सेट् थल् परे रहते ॥ पूर्ववत् जॄ को *ऋच्छत्यॄताम्* से गुण होता है, अतः *न शसदद०* से गुणकृत अकार होने से निषेध प्राप्त था विधान कर दिया। इसी प्रकार भ्रम् धातु के आदेशादि और अनेक हल्मध्य होने से, एवं त्रस् में अनेकहल्मध्य अकार होने से एत्वाभ्यासलोप प्राप्त नहीं था सो विकल्प से प्राप्त करा दिया ॥

यहाँ से '*वा*' की अनुवृत्ति ६।४।१२५ तक जायेगी ॥

फणां च सप्तानाम् ॥६।४।१२५॥

फणाम् ६।३॥ च अ० ॥ सप्तानाम् ६।३॥ *अनु०*—वा, अतः लिटि, थलि च सेटि, एत् अभ्यासलोपश्च, क्ङिति, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—फणादीनां सप्तानां धातूनामवर्णस्य स्थाने वा एकार आदेशो भवति, अभ्यासलोपश्च लिटि क्ङिति परतस्थलि च सेटि ॥ *उदा०*—फेणतुः, फेणुः, फेणिथ। पक्षे—पफणतुः, पफणुः, पफणिथ। राजृ—रेजतुः, रेजुः, रेजिथ। पक्षे—रराजतुः, रराजुः, रराजिथ। टुभ्राजृ—भ्रेजे, भ्रेजाते,

भ्रेजिरे । पक्षे— बभ्राजे, बभ्राजाते, बभ्राजिरे । टुभ्राशृ—भ्रेशे, भ्रेशाते, भ्रेशिरे । पक्षे – बभ्राशे, बभ्राशाते, बभ्राशिरे । टुभ्लाशृ—भ्लेशे, भ्लेशाते, भ्लेशिरे । पक्षे—बभ्लाशे, बभ्लाशाते, बभ्लाशिरे । स्यमु—स्येमतुः, स्येमुः, स्येमिथ । पक्षे—सस्यमतुः, सस्यमुः, सस्यमिथ । स्वन—स्वेनतुः, स्वेनुः, स्वेनिथ । पक्षे—सस्वनतुः, सस्वनुः, सस्वनिथ ॥

भाषार्थः—[*फणाम्*] फण आदि [*सप्तानाम्*] सात (अर्थात् फण से लेकर कुल सात) धातुओं के अवर्ण के स्थान में [*च*] भी विकल्प से एत्व तथा अभ्यास लोप होता है, कित् ङित् लिट् तथा सेट् थल् परे रहते ॥ बहुवचन निर्देश से यहाँ आदि अर्थ लिया जाता है अतः 'फणादि जो सात धातुएँ' ऐसा अर्थ होगा । कहीं आदेशादि एवं कहीं पर अनेकहल्मध्य और कहीं दीर्घ आकार होने से एत्वाभ्यास लोप की प्राप्ति नहीं थी, सो विधान कर दिया ॥

न शसददवादिगुणानाम् ॥६।४।१२६॥

न अ० ॥ शसददवादिगुणानाम् ६।३॥ *स०*—वकार आदिर्यस्य स वादिः, बहुव्रीहिः । शसश्च ददश्च वादिश्च गुणश्च शसददवादिगुणास्तेषाम् इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—थलि च सेटि, अतः लिटि, एत् अभ्यासलोपश्च, क्ङिति, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—शस, दद इत्येतयोर्वकारादीनां च धातूनां गुणशब्देनाभिनिर्वृत्तस्य च योऽकारस्तस्य स्थाने एकारादेशोऽभ्यासलोपश्च न भवति, लिटि क्ङिति थलि च सेटि परतः ॥ *उदा०*—विशशसतुः, विशशसुः, विशशसिथ । दददे, ददद‍ाते ददद‍िरे । वादीनाम्—ववमतुः, ववमुः, ववमिथ । गुणस्य—विशशरतुः, विशशरुः, विशशरिथ, लुलविथ, पुपविथ ॥

भाषार्थः—[*शसददवादिगुणानाम्*] शस दद तथा वकार आदि वाली एवं गुण ऐसा उच्चारण करके गुणादेश द्वारा निष्पन्न जो अकार उसके स्थान में एत्व तथा अभ्यासलोप कित् ङित् लिट् एवं थल् परे रहते [*न*] नहीं होता है ॥ 'गुण' शब्द से यहाँ 'गुण करके जो निष्पन्न अकार' ऐसा अर्थ अभिप्रेत है । यथा शृ को गुण करके जो शर् का अकार हुआ उसको एत्व अभ्यासलोप नहीं होता, एवं लू को गुण तथा अवादेश करके जो अकार निष्पन्न हुआ उसको भी नहीं होता ॥ *अत एकहल्०* (६।४।१२०) से सर्वत्र प्राप्ति थी, निषेध कर दिया ॥

अर्वणस्त्रसावनञः ॥६।४।१२७॥

अर्वणः ६।१॥ तृ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ असौ ७।१॥ अनञः ५।१॥ स०—असौ, अनञ इत्युभयत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—नञा रहितस्य अर्वन् इत्येतस्याङ्गस्य तृ इत्ययमादेशो भवति, सुश्चेत्ततः परो न भवति ॥ *उदा०*—अर्वन्तौ, अर्वन्तः, अर्वन्तम्, अर्वन्तौ, अर्वतः, अर्वता अर्वद्भ्याम्, अर्वद्भिः । अर्वती, आर्वतम् ॥

भाषार्थः—[*अर्वणः*] अर्वन् अङ्ग को [*तृ*] तृ आदेश होता है, यदि अर्वन् शब्द से परे [*असौ*] सु न हो, तथा वह अर्वन् अङ्ग [*अनञः*] नञ् से उत्तर भी न हो ॥ *अलोन्त्यस्य* से अन्त्य अल् न् को तृ आदेश होकर अर्वतृ रहा । ऋकार की इत् संज्ञा होने से *उगिदचां०* (७।१।७०) से नुम् आगम होकर अर्वन्त् औ = अर्वन्तौ बना । *उगितश्च* (४।१।६) से ङीप् होकर अर्वती, तथा अपत्यार्थ विवक्षा में अण् होकर आर्वतम् बन गया ॥

यहाँ से 'तृ' की अनुवृत्ति ६।४।१२८ तक जायेगी ॥

मघवा बहुलम् ॥६।४।१२८॥

मघवा, सुब्व्यत्ययेनात्र षष्ठ्यर्थे प्रथमा ॥ बहुलम् १।१॥ *अनु०*—तृ, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—मघवन् इत्येतस्याङ्गस्य बहुलं तृ इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—मघवान्, मघवन्तौ, मघवन्तः, मघवन्तम्, मघवन्तौ, मघवतः, मघवता । मघवती, माघवतम् । बहुलवचनात् न च भवति—मघवा मघवानौ, मघवानः मघवानम् मघवानौ मघोनः मघोना इत्यादयः । स्त्रियाम्—मघोनी, माघवनम् ॥

भाषार्थः—[*मघवा*] मघवन् अङ्ग को [*बहुलम्*] बहुल करके तृ आदेश होता है ॥ मघवान् की सिद्धि में नुमादि कार्य परि० १।१।५ में प्रदर्शित चितवान् के समान जानें । जब तृ आदेश नहीं होगा तो परि० १।१।४२ में प्रदर्शित 'राजा' के समान मघवा की सिद्धि होगी । मघवती माघवतम् में पूर्ववत् कार्य जानें ॥

भस्य ॥६।४।१२९॥

भस्य ६।१॥ *अर्थः*—अधिकारोऽयम् आ अध्यायपरिसमाप्तेः । यदित

ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामो भस्य इत्येवं तद् वेदितव्यम् ॥ उदा०—वक्ष्यति *पादः पत्*—द्विपदः पश्य, द्विपदा कृतम् ॥

भाषार्थः—भस्य यह अधिकार सूत्र है। अध्याय की समाप्ति पर्यन्त (६।४।१७५) जायेगा, अतः आगे [*भस्य*] भ संज्ञक को ऐसा अर्थ सर्वत्र सूत्रों में होता जायेगा ॥ *यचि भम्* (१।४।१८) से यकारादि अजादि सर्वनामस्थान भिन्न स्वादि प्रत्ययों के परे रहते पूर्व की भ संज्ञा कही है, अतः द्विपदः द्विपदा में शस् एवं टा परे रहते पूर्व की भ संज्ञा होकर *पादः पत्* से पाद् शब्द को पद् आदेश हो गया है ॥

पादः पत् ॥६।४।१३०॥

पादः ६।१॥ पत् १।१॥ *अनु०*—भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—पाद्शब्दान्तस्याङ्गस्य भस्य पद् इत्ययमादेशो भवति॥ *उदा०*—द्विपदः पश्य, द्विपदा, द्विपदे, द्विपदिकां ददाति, त्रिपदिकां ददाति, वैयाघ्रपद्यः ॥

भाषार्थः—भसंज्ञक [*पादः*] पाद् शब्द को [*पत्*] पत् आदेश हो जाता है ॥ पाद् शब्द यहाँ अकार लोप किया हुआ लिया गया है। द्वौ पादौ अस्य द्विपाद् , यहाँ *संख्यासुपूर्वस्य* (५।४।१४०) से 'पाद' के 'द' के 'अ' का लोप होता है। द्विपदिकाम् यहाँ *पादशतस्य०* (५।४।१) से वुन् प्रत्यय एवं द के अ का लोप होता है। वैयाघ्रपद्यः यहाँ *पादस्य लोपो०* (५।४।१३८) से अकार लोप हुआ है, इस प्रकार सर्वत्र हलन्त पाद् शब्द है। वैयाघ्रपद्यः में यञ् (४।१।१०५) परे रहते पाद् की भ संज्ञा है, सो पत् आदेश हो गया ॥ समास में ही पाद के अकार का सर्वत्र लोप होता है, अतः 'पाद्शब्दान्त' ऐसा अर्थ किया है। '*निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति*' इस नियम से सूत्र में निर्दिष्ट शब्द पाद् को ही पत् आदेश होगा न कि सम्पूर्ण तदन्त शब्द को ॥

वसोः सम्प्रसारणम् ॥६।४।१३१॥

वसोः ६।१॥ सम्प्रसारणम् १।१॥ *अनु०*—भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—वस्वन्तस्याङ्गस्य भस्य सम्प्रसारणं भवति ॥ *उदा०*—विदुषः पश्य। विदुषा, विदुषे। पेचुषः पश्य, पेचुषा, पेचुषे। ययुषः ॥

भाषार्थः—[*वसोः*] वसु अन्त वाले भसंज्ञक अङ्ग को [*सम्प्रसारणम्*]

सम्प्रसारण होता है ॥ विद ज्ञाने धातु से शतृ (३।२।१२४) प्रत्यय होकर 'विद् शतृ शस्' रहा। *विदेः शतुर्वसुः* (७।१।३६) से शतृ के स्थान में १।१।५४ से वसु आदेश होकर 'विद् वस् शस्' रहा। अब भ संज्ञा होकर सम्प्रसारण एवं (८।३।५९) षत्व होकर विदुषः बना। इसी प्रकार पच् धातु से लिट् होकर तथा लिट् के स्थान में *क्वसुश्च* (३।२।१०७) से क्वसु होकर पच् क्वसु रहा। लिट्स्थानी क्वसु होने से लिट् के सब कार्य द्वित्वादि होकर 'प पच् वस्' रहा। *अत एकहल्०* (६।४।१२०) से अभ्यास लोप एवं एत्व होकर 'पेच् वस् शस्' रहा। सम्प्रसारण होकर पेचुषः बन गया। या से क्सु होकर या या क्सु = य या वसु शस् = य या उस् अस् यहाँ *आतो लोप इटि च* (६।४।६४) से आकारलोप होकर ययुषः बना। सम्प्रसारण हो जाने पर वलादि आर्धधातुक न होने से ७।२।६७ से इट् नहीं होता ॥

यहाँ से '*सम्प्रसारणम्*' की अनुवृत्ति ६।४।१३३ तक जायेगी ॥

वाह ऊठ् ॥६।४।१३२॥

वाहः ६।१॥ ऊठ् १।१॥ *अनु०*—सम्प्रसारणम्, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—वाह् इत्येवमन्तस्याङ्गस्य भस्य ऊठ् इत्येतत् सम्प्रसारणं भवति ॥ *उदा०*—प्रष्ठौहः, प्रष्ठौहा, प्रष्ठौहे। दित्यौहः, दित्यौहा, दित्यौहे ॥

भाषार्थः—[*वाहः*] वाह् अन्त वाले भसंज्ञक अङ्ग को सम्प्रसारण-संज्ञक [ऊठ्] ऊठ् होता है। ऊठ् के सम्प्रसारणसंज्ञक होने से जिस प्रकार सम्प्रसारण 'यण्' के स्थान में होता है, उसी प्रकार ऊठ् भी यण् के स्थान में अर्थात् 'व्' को होता है, अन्यथा *अलोऽन्त्यस्य* से अन्त्य अल् को होता। सिद्धियाँ *एत्येधत्यूठ्सु* (६।१।८६) सूत्र में देखें ॥

श्वयुवमघोनामतद्धिते ॥६।४।१३३॥

श्वयुवमघोनाम् ६।३॥ अतद्धिते ७।१॥ *स०*—श्वा च युवा च मघवा च श्वयुवमघवानस्तेषां ˙˙इतरेतरद्वन्द्वः। अतद्धित इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—सम्प्रसारणम्, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—श्वन्, युवन्, मघवन् इत्येतेषां भसंज्ञकानामङ्गानामतद्धिते प्रत्यये परतः सम्प्रसारणं भवति ॥ *उदा०*—शुनः, शुना, शुने। यूनः, यूना, यूने। मघोनः, मघोना, मघोने ॥

भाषार्थः—[*श्वयुवमघोनाम्*] श्वन्, युवन्, मघवन् इन भसंज्ञक अङ्गों को [*अतद्धिते*] तद्धित भिन्न प्रत्यय परे रहते संप्रसारण होता है ॥ युवन् के व् को सम्प्रसारण 'उ' होकर सवर्णदीर्घत्व होता है, तथा मघवन् को सम्प्रसारण होकर *आद् गुणः* (६।१।८४) से गुण एकादेश हो जाता है। सम्प्रसारण करने पर *सम्प्रसारणाच्च* (६।१।१०४) सूत्र लग ही जायेगा ॥

अल्लोपोऽनः ॥६।४।१३४॥

अल्लोपः १।१॥ अनः ६।१॥ *स०*—अतो लोपोऽल्लोपः, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः* –अन इत्येवमन्तस्याङ्गस्य भस्य अकारलोपो भवति ॥ *उदा०*—राज्ञः पश्य, राज्ञा, राज्ञे। तक्ष्णः, तक्ष्णा, तक्ष्णे ॥

भाषार्थः—[*अनः*] अन् है अन्त में जिसके ऐसे भसंज्ञक अङ्ग के [*अल्लोपः*] अकार का लोप होता है ॥ राजन् शस् यहाँ अकार लोप होने पर श्चुत्व (८।४।३९) होकर राज्ञः बना। तक्षन् शस् = तक्ष्न् अस् = तक्ष्णः णत्व होकर बन गया ॥

यहाँ से '*अत्*' की अनुवृत्ति ६।४।१३८ तक, तथा '*लोपः*' की ६।४।१४५ तक एवं '*अनः*' की ६।४।१३७ तक जायेगी ॥

षपूर्वहन्धृतराज्ञामणि ॥६।४।१३५॥

षपूर्वहन्धृतराज्ञाम् ६।३॥ अणि ७।१॥ *स०*—षकारः पूर्वो यस्मिन् स षपूर्वः, बहुव्रीहिः। षपूर्वश्च हन् च धृतराजा च षपूर्वहन्धृतराजानस्तेषाम् ' 'इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अल्लोपोनः, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—षकारपूर्वस्य हनो धृतराज्ञश्च अङ्गस्य भस्य अनोऽकारस्य अणि परतो लोपो भवति ॥ *उदा०*—षपूर्व—उक्ष्णोऽपत्यम् = औक्ष्णः, ताक्ष्णः। हन्—भ्रूणं हतवान् = भ्रौणघ्नः। धृतराजन्—धार्तराज्ञः ॥

भाषार्थः—[*षपूर्वहन्धृतराज्ञाम्*] षकार पूर्व में है जिसके ऐसा जो अन्, तथा हन् एवं धृतराजन् भ संज्ञक अङ्ग उसके अकार का लोप होता है, [*अणि*] अण् परे रहते ॥ *अन्* (६।४।१६७) से प्रकृतिभाव होने से *अल्लोपोऽनः* से अकारलोप प्राप्त नहीं था, इसलिये यह सूत्र है ॥ उक्षन् तक्षन् शब्द षकार पूर्व अन् वाले हैं, अतः अपत्यार्थक (४।१।९२)

अण् के परे रहते अकार लोप हो गया है। भ्रौणघ्नः में ब्रह्मभ्रूण० (३।२।८७) से क्विप् करके पश्चात् अण् (४।१।६२) हुआ है। हो हन्तेर्ञ्णि० (७।३।५४) से यहाँ ह् को कुत्व भी हो जाता है। धृतराजन् शब्द में भी बहुव्रीहि समास होकर पूर्ववत् अण् प्रत्यय परे अकार लोप एवं श्चुत्व होकर धार्तराज्ञः बना है ॥

विभाषा ङिश्योः ॥६।४।१३६॥

विभाषा १।१॥ ङिश्योः ७।२॥ स०—ङिश्योः इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—अल्लोपोनः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—ङि शी इत्येतयोः परतः अन्नन्तस्याङ्गस्य विकल्पेनाकारलोपो भवति ॥ *उदा०*—ङि—राज्ञि, राजनि, साम्नि, सामनि। शी—साम्नी, सामनी॥

भाषार्थः—[*ङिश्योः*] ङि तथा शी विभक्ति परे रहते अन् अन्त वाले अङ्ग के अकार का लोप [*विभाषा*] विकल्प से हो जाता है॥ 'सामन् औ' यहाँ *नपुंसकाच्च* (७।१।१९) से औ को शी तथा म के अ का लोप होकर साम्नी बना। पक्ष में सामनी बनेगा॥

न संयोगाद्वमन्तात् ॥६।४।१३७॥

न अ० ॥ संयोगात् ५।१॥ वमन्तात् ५।१॥ स०—वश्च मश्च वमौ, वमौ अन्ते यस्य स वमन्तः, तस्मात्...द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अल्लोपोनः, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—वकारान्तात् मकारान्तात् संयोगादुत्तरस्य अनोऽकारस्य लोपो न भवति ॥ *उदा०*—वकारान्तात्—पर्वणा, पर्वणे, अथर्वणा, अथर्वणे। मकारान्तात्—चर्मणा, चर्मणे ॥

भाषार्थः—[*वमन्तात्*] वकार तथा मकार अन्त में है जिसके ऐसे [*संयोगात्*] संयोग से उत्तर (तदन्त भसंज्ञक) अन् के अकार का लोप [*न*] नहीं होता॥ पर्वन् अथर्वन् में र् तथा व् का संयोग है उससे उत्तर जो अन् उसका लोप नहीं हुआ। इसी प्रकार चर्मन् में र् तथा म् का संयोग है। *अल्लोपोऽनः* से प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया॥

अचः ॥६।४।१३८॥

अचः ६।१॥ अनु०—अल्लोपः, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अच इत्यय-

मञ्चतिर्लुप्तनकारो गृह्यते, तदन्तस्याञ्चतेर्भस्य अकारस्य लोपो भवति ॥ उदा०—दधीचः पश्य, दधीचा, दधीचे। मधूचः पश्य, मधूचा, मधूचे ॥

भाषार्थः—अञ्चु धातु के नकार का लोप करके अचः यह निर्देश किया गया है ॥ भसंज्ञक लुप्तनकार वाले [अचः] अञ्चु के अकार का लोप होता है ॥ सिद्धियाँ ६।३।१३६ सूत्र में देखें ॥

यहाँ से '*अचः*' की अनुवृत्ति ६।४।१३८ तक जायेगी ॥

उद ईत् ॥६।४।१३९॥

उदः ५।१॥ ईत् १।१॥ *अनु०*—अचः, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—उद उत्तरस्य भसंज्ञकस्याच ईकारादेशो भवति॥ *उदा०*—उदीचः, उदीचा, उदीचे ॥

भाषार्थः—[*उदः*] उत् (उपसर्ग) से उत्तर भसंज्ञक (अञ्चु) अच् को [*ईत्*] ईकारादेश होता है ॥ *आदेः परस्य* (१।१।५३) से आदि अक्षर 'अ' को 'ई' होगा ।

आतो धातोः ॥६।४।१४०॥

आतः ६।१॥ धातोः ६।१॥ *अनु०*—लोपः, भस्य, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—आकारान्तो यो धातुस्तदन्तस्य भस्याङ्गस्य लोपो भवति ॥ *उदा०*—कीलालपः पश्य, कीलालपा, कीलालपे, शुभंयः पश्य, शुभंया, शुभंये ॥

भाषार्थः—[*आतः*] आकारान्त जो [*धातोः*] धातु तदन्त भसंज्ञक अङ्ग के आकार का लोप होता है ॥ यहाँ आकारान्त पा या धातुओं से *आतो मनिन्क्व०* (३।२।७४) से विच् प्रत्यय उदाहरणों में होता है, अतः उदाहरणों में आकारान्त धातु के आकार का (१।१।५१) लोप प्रकृत सूत्र से हुआ है ॥

मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः ॥६।४।१४१॥

मन्त्रेषु ७।३॥ आङि ७।१॥ आदेः ६।१॥ आत्मनः ६।१॥ *अनु०*—लोपः, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—आङि परतो मन्त्रेषु आत्मन आदेर्लोपो भवति॥ *उदा०*—त्मना देवेषु (ऋ० ७।७।१) त्मना सोमेषु ॥

भाषार्थः—[*मन्त्रेषु*] मन्त्र विषय में [*आङि*] आङ् (टा) परे रहते [*आत्मनः*] आत्मन् शब्द के [*आदेः*] आदि का (आकार का) लोप होता है ॥ पूर्वाचार्यों की टा तृतीया एकवचन के लिये 'आङ्' यह संज्ञा है ॥

ति विंशतेर्डिति ॥६।४।१४२॥

ति लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ विंशतेः ६।१॥ डिति ७।१॥ अनु०—लोपः, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—भसंज्ञकस्य विंशतेस्तिशब्दस्य डिति प्रत्यये परतो लोपो भवति ॥ उदा०—विंशत्या क्रीतः = विंशकः । विंशतिरधिकाऽस्मिन् = विंशं शतम् । विंशतेः पूरणो विंशः । एकविंशः ॥

भाषार्थः—भसंज्ञक [*विंशतेः*] विंशति अङ्ग के [*ति*] ति का [*डिति*] डित् प्रत्यय परे रहते लोप होता है ॥ विंशकः में *विंशतित्रिंशद्भ्यां०* (५।१।२४) से ड्वुन् डित् प्रत्यय हुआ है, तथा विंशम् में *शदन्तविंशतेश्च* (५।२।४६) से ड प्रत्यय हुआ है, एवं विंशः, एकविंशः में *तस्य पूरणे डट्* (५।२।४८) से डट् प्रत्यय हुआ है ॥

यहाँ से '*डिति*' की अनुवृत्ति ६।४।१४३ तक जायेगी ॥

टेः ॥६।४।१४३॥

टेः ६।१॥ *अनु०*—डिति, लोपः, भस्य अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—भसंज्ञकस्याङ्गस्य टेर्लोपो भवति, डिति प्रत्यये परतः ॥ उदा०—कुमुद्वान्, नड्वान् , वेतस्वान्, उपसरजः, मन्दुरजः, त्रिंशता क्रीतः त्रिंशकः ॥

भाषार्थः—भसंज्ञक अङ्ग की [टेः] टि का लोप होता है, डित् प्रत्यय के परे रहते ॥ कुमुद्वान् नड्वान् में *कुमुदनडवेत०* (४।२।८६) से ड्मतुप् प्रत्यय होता है, अतः कुमुद के टि (१।१।६३) भाग 'अ' का लोप होता है । सिद्धि उसी प्रकरण में देखें । उपसरजः में *सप्तम्यां जनेर्डः* (३।२।९७) से ड प्रत्यय हुआ है । त्रिंशकः में पूर्ववत् ड्वुन् प्रत्यय हुआ है ॥

यहाँ से 'टेः' की अनुवृत्ति ६।४।१४५ तक जायेगी ॥

नस्तद्धिते ॥६।४।१४४॥

नः ६।१॥ तद्धिते ७।१॥ अनु०—टेः, लोपः, भस्य अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—

नकारान्तस्य भसंज्ञकस्याङ्गस्य टेर्लोपो भवति तद्धिते परतः ॥ उ
अग्निशर्मणोऽपत्यम् = आग्निशर्म्मिः, औडुलोमिः ॥

भाषार्थः—[*नः*] नकारान्त भसंज्ञक अङ्ग के टि भाग का लो
है [*तद्धिते*] तद्धित परे रहते ॥ अग्निशर्मन् तथा उडुलोमन् ः
बाह्वादिभ्यश्च (४।१।९६) से इञ् तद्धित प्रत्यय हुआ है, अतः उस
रहते टि भाग 'अन्' का लोप हो गया है ॥

यहाँ से '*तद्धिते*' की अनुवृत्ति ६।४।१४९ तक जायेगी ॥

अह्नष्टखोरेव ॥६।४।१४५॥

अह्नः ६।१॥ टखोः ७।२॥ एव अ० ॥ *स०*—टश्च खश्च
तयोः ··· इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तद्धिते, टेर्लोपः, भस्य, अङ्गस्य ॥ अः
अहन् इत्येतस्याङ्गस्य टखोरेव परतः टेर्लोपो भवति ॥ *उदा०*—द्व
त्र्यहः । खे—द्वे अह्नी अधीष्टो भृतो भूतो भावी वा द्व्यहीनः, त्र्य
अह्नां समूहः क्रतुः = अहीनः क्रतुः ॥

भाषार्थः—[*अह्नः*] अहन् इस अङ्ग के टि भाग को [*टखोः*]
तथा ख तद्धित प्रत्यय परे रहते [*एव*] ही लोप होता है ॥ नान्त ह
से पूर्व सूत्र से ही टिलोप प्राप्त था, नियमार्थ यह सूत्र है अथ
ट ख परे ही लोप होगा, अन्य किसी के परे नहीं होगा ॥

द्व्यहः त्र्यहः की सिद्धि भाग १ परि० २।१।२२ में देखें । द्व्यही
में *रात्र्यहः०* (५।१।८६) से ख प्रत्यय होता है, तथा अहीनः में *अह*
खः क्रतौ (*वा०* ४।२।४१) इस वार्त्तिक से ख प्रत्यय होता है ॥

ओर्गुणः ॥६।४।१४६॥

ओः ६।१॥ गुणः १।१॥ *अनु०*—तद्धिते, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—
उवर्णान्तस्याङ्गस्य भस्य गुणो भवति तद्धिते परतः ॥ *उदा०*—
बाभ्रव्यः, माण्डव्यः, शङ्कव्यं दारु, पिचव्यः कार्प्पासः, कमण्डलव्या
मृत्तिका, परशव्यः, औपगवः, कापटवः ॥

भाषार्थः—[*ओः*] उवर्णान्त भसंज्ञक अङ्ग को [*गुणः*] गुण होता
है, तद्धित परे रहते ॥ बाभ्रव्यः, माण्डव्यः की सिद्धि भाग २ सूत्र

४।१।१०६ में देखें। शङ्कव्यम् आदि में उगवादिभ्यो यत् (५।१।२) से यत् प्रत्यय होगा, सिद्धि बाभ्रव्यः के समान है। औपगवः, कापटवः की सिद्धि परि० १।१।१ पृ० ६६२ में देखें॥

यहाँ से 'ओः' की अनुवृत्ति ६।४।१४७ तक जायेगी॥

ढे लोपोऽकद्र्वाः ॥६।४।१४७॥

ढे ७।१॥ लोपः १।१॥ अकद्र्वाः ६।१॥ स०—अकद्र्वा इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—ओः, तद्धिते, भस्य, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—कद्रूवर्जितस्योवर्णान्तस्याङ्गस्य भस्य ढे परतो लोपो भवति॥ *उदा०*—कामण्डलेयः, जाम्बेयः, माद्रबाहेयः, शैतिबाहेयः॥

भाषार्थः—[*अकद्र्वाः*] कद्रू को छोड़कर जो उवर्णान्त भसंज्ञक अङ्ग उसका [*ढे*] ढ तद्धित प्रत्यय परे रहते [*लोपः*] लोप होता है॥ कामण्डलेयः में *चतुष्पाद्भ्यो ढञ्* (४।१।१३५) से ढञ् प्रत्यय हुआ है। मद्रबाहु शब्द से *बाह्वन्तात्०* (४।१।६७) से ऊङ् प्रत्यय करके तदन्त से *स्त्रीभ्यो ढक्* (४।१।१२०) से ढक् हुआ है॥ अन्त्य अल् का लोप सर्वत्र जानें। जम्बू शृगाल का तथा कमण्डलु शितिबाहु शब्द पशु विशेष के वाचक हैं।

यहाँ से '*लोपः*' की अनुवृत्ति ६।४।१५६ तक जायेगी॥

यस्येति च ॥६।४।१४८॥

यस्य ६।१॥ ईति ७।१। च अ०॥ *स०*—इश्च अश्च यम्, (यणादेशे कृते) तस्य ''समाहारद्वन्द्वः॥ *अनु०*—लोपः, तद्धिते, भस्य, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—इवर्णान्तस्य अवर्णान्तस्य चाङ्गस्य भस्य ईकारे तद्धिते च परतो लोपो भवति॥ *उदा०*—इवर्णान्तस्य ईकारे—दाक्षी, प्लाक्षी, सखी। इवर्णान्तस्य तद्धिते—दुलि = दौलेयः,। बलि = बालेयः, अत्रि = आत्रेयः। अवर्णान्तस्य ईकारे—कुमारी, गौरी, शार्ङ्गरवी। अवर्णान्तस्य तद्धिते—दाक्षिः, प्लाक्षिः, चौडिः, बालाकिः, सौमित्रिः॥

भाषार्थः—[*यस्य*] इवर्णान्त तथा अवर्णान्त भसंज्ञक अङ्ग का लोप होता है [*ईति*] ईकार [*च*] तथा तद्धित के परे रहते॥ पूर्ववत् अन्त्य वर्ण का लोप होगा॥ दाक्षी प्लाक्षी में *इतो मनुष्यजातेः* (४।१।६५) से

ङीष् होता है, सो ङीष् परे इकार लोप हुआ है ॥ सखी शब्द *सख्यशि०* (४।१।६२) से ङीष् प्रत्ययान्त निपातित है। दौलेयः आ में *इतश्चानिञः* (४।१।१२२) से ढक् प्रत्यय हुआ है। कुमारी आदि सिद्धि भाग २ परि० ४।१।२ में देखें। दाक्षिः आदि में *अत इ* (४।१।९५) से इञ् तथा बालाकिः सौमित्रिः में *बाह्वादिभ्यश्च* (४।१।९ से इञ् हुआ है, सो उसके परे प्रकृत सूत्र से अवर्ण का लोप हुआ है ॥

यहाँ से '*ईति*' की अनुवृत्ति ६।४।१५० तक जायेगी ॥

सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधायाः ॥६।४।१४९॥

सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानाम् ६।३॥ यः ६।१॥ उपधायाः ६।१॥ *स०*—सूर्य इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—ईति, तद्धिते, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अङ्ग भसंज्ञकस्योपधायकारस्य लोपो भवति ईति परतस्तद्धिते च स चेद्यकारः सू तिष्य, अगस्त्य मत्स्य इत्येतेषां सम्बन्धी भवति ॥ *उदा०*—सौरी बलाका तिष्य—तैषमहः, तैषी रात्रिः। अगस्त्य—आगस्ती, आगस्तीयः। मत्स्य- मात्सी ॥

भाषार्थः—भसंज्ञक अङ्ग के [*उपधायाः*] उपधा [*यः*] यकार का लो होता है, ईकार तथा तद्धित के परे रहते यदि वह 'य्' [*सूर्य...नाम* सूर्य, तिष्य, अगस्त्य तथा मत्स्य सम्बन्धी हो ॥ उदाहरणों में पहि अवर्ण का लोप *यस्येति* च (६।४।१४८) से होगा, पीछे 'य्' का प्रकृत सू से होगा ॥ *असिद्धवदत्राभात्* के नियम से अकारलोप के असिद्ध होने 'य्' से परे ई वा तद्धित नहीं रहता, अतः उपधा ग्रहण किया है। सि परिशिष्ट में देखें ॥

यहाँ से '*यः*' की अनुवृत्ति ६।४।१५२ तक तथा '*उपधायाः*' व ६।४।१५० तक जायेगी ॥

हलस्तद्धितस्य च ॥६।४।१५०॥

हलः ५।१॥ तद्धितस्य ६।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—उपधायाः, यः, ईति भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—हल उत्तरस्य भसंज्ञकस्याङ्गस्योपधाभूत तद्धितयकारस्य ईति परतो लोपो भवति ॥ *उदा०*—गार्गी, वात्सी ॥

भाषार्थः—[*हलः*] हल् से उत्तर भसंज्ञक अङ्ग के उपधाभूत [*तद्धितस्य* तद्धित यकार का [*च*] भी ईकार परे रहते लोप होता है ॥ सिद्धि भाग २ परि

४।१।१६ में देखें। वहाँ गार्ग्य् का य् तद्धित का एवं हल् से उत्तर है। 'य्' का लोप करते समय अलोप असिद्ध (६।१।२२) हो जाता है, अतः य् की उपधा संज्ञा होगी ॥

यहाँ से 'हलः' की अनुवृत्ति ६।४।१५२ तक जायेगी ॥

आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति ॥६।४।१५१॥

आपत्यस्य ६।१॥ च अ०॥ तद्धिते ७।१॥ अनाति ७।१॥ स०—न आत् अनात् तस्मिन्,''नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—हलः, यः, लोपः, भस्य, अङ्गस्य॥ अपत्यस्य इदम् आपत्यम्, तस्य''॥ *अर्थः*—हल उत्तरस्य भसंज्ञकस्याङ्गस्य आपत्ययकारस्यानाकारादौ तद्धिते परतो यलोपो भवति॥ *उदा०*—गर्गाणां समूहो = गार्गकम्, वात्सकम्॥

भावार्थः—हल् से उत्तर भसंज्ञक अङ्ग के [*आपत्यस्य*] अपत्य सम्बन्धी यकार का [च] भी [*अनाति*] अनाकारादि [*तद्धिते*] तद्धित परे रहते लोप होता है॥ गार्ग्य वात्स्य यञन्त शब्द से *गोत्रोक्षोष्ट्रो०* (४।२।३८) से वुञ् तद्धित प्रत्यय होता है, सो उसके परे रहते य् का लोप हो गया। अकार का यस्येति लोप हो ही जायेगा। यञ् प्रत्यय (४।१।१०५) अपत्य अर्थ में ही हुआ है, अतः अपत्य सम्बन्धी यकार है ही॥

यहाँ से '*आपत्यस्य*' की अनुवृत्ति ६।४।१५२ तक तथा '*तद्धिते*' की ६।४।१५३ में जायेगी॥

क्यच्व्योश्च ॥६।४।१५२॥

क्यच्व्योः ७।२॥ च अ०॥ *स०*—क्य० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—आपत्यस्य, हलः, लोपः, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—हल उत्तरस्य अङ्गस्यापत्ययकारस्य क्य च्वि इत्येतयोश्च परतो लोपो भवति॥ *उदा०*—वात्सीयति, गार्गीयति, वात्सीयते, गार्गीयते। च्वौ—गार्गीभूतः, वात्सीभूतः॥

भावार्थः—हल् से उत्तर अङ्ग के अपत्य सम्बन्धी यकार का [*क्यच्व्योः*] क्य तथा च्वि परे रहते [च] भी लोप होता है॥ पूर्ववत् य्

अपत्य सम्बन्धी है ॥ गार्गीयति, वात्सीयति की सिद्धि परि० ३।४।७१ के पुत्रीयति के समान जानें ॥ गार्गीयते वात्सीयते में कर्त्तुः क्यङ्० (३।१।११) से क्यङ् हुआ है, अतः ङित् होने से आत्मनेपद हो गया। गार्गीभूतः में कृभ्वस्तियोगे० (५।४।५०) से च्वि होता है, सिद्धि वहीं देखें ॥ 'क्य' से क्यच् तथा क्यङ् दोनों ही सामान्य निर्देश से गृहीत हैं ॥

बिल्वकादिभ्यश्छस्य लुक् ॥६।४।१५३॥

बिल्वकादिभ्यः ५।३॥ छस्य ६।१॥ लुक् १।१॥ *स०*—बिल्वक आदिर्येषां ते बिल्वकादयस्तेभ्यः'' बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—तद्धिते, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—बिल्वकादिभ्य उत्तरस्य भसंज्ञकस्य छस्य तद्धिते परतो लुक् भवति ॥ *उदा०*—बिल्वा यस्यां सन्ति बिल्वकीया, तस्यां भवाः बैल्वकाः। वैणुकीयाः = वैणुकाः। वेत्रकीयाः = वैत्रकाः ॥

भाषार्थः—[*बिल्वकादिभ्यः*] बिल्वकादि शब्दों से उत्तर भसंज्ञक [*छस्य*] छ का [*लुक्*] लुक् (अदर्शन) होता है ॥ बिल्वादि शब्द नडादि गण में पठित हैं, सो *नडादीनां कुक् च* (४।२।९०) से कुक् आगम करके सूत्र में बिल्वक् निर्देश किया है। 'छ' प्रत्यय करने पर बिल्वकीया वेणुकीया बना, पश्चात् *तत्र भवः* (४।३।५३) से अण् करके उस अण् तद्धित के परे रहते छ अर्थात् ईय् का लुक् हो गया तो आदि अच् को वृद्धि आदि कार्य होकर बैल्वकाः, वैणुकाः, वैत्रकाः बन गये ॥

तुरिष्ठेमेयस्सु ॥६।४।१५४॥

तुः ६।१॥ इष्ठेमेयस्सु ७।३॥ *स०*—इष्ठश्च इमा च ईयश्च इष्ठेमेयसस्तेषु'' इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—लोपः, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—तृ इत्येतस्य भस्याङ्गस्य इष्ठन् इमनिच् ईयसुन् इत्येतेषु परतो लोपो भवति ॥ *उदा०*—इष्ठन्—आसुतिं करिष्ठः, विजयिष्ठः, वहिष्ठः। ईयसुन्—दोहीयसी धेनुः ॥

भाषार्थः—[*तुः*] तृ का लोप होता है [*इष्ठेमेयस्सु*] इष्ठन् इमनिच् तथा ईयसुन् परे रहते ॥ नकार लोप करके 'इष्ठेमेयस्सु' निर्देश किया है। इमनिच् ग्रहण उत्तरार्थ है, क्योंकि तृन्नन्त से '*तुश्छन्दसि*' (५।३।५९)

से इष्ठन् ईयसुन् का ही विधान है, न कि इमनिच् का। अतः यहाँ इष्ठन् ईयसुन् के ही उदाहरण दिये हैं॥ करिष्ठः, दोहीयसी की सिद्धि भाग २ परि० ५।२।५९ में देखें। इसी प्रकार इष्ठन् परे रहते विजेतृ से विजयिष्ठः एवं वोढृ से वहिष्ठः बना है॥

यहाँ से 'इष्ठेमेयस्सु' की अनुवृत्ति ६।४।१६३ तक जायेगी॥

टेः ॥६।४।१५५॥

टेः ६।१॥ *अनु०*—इष्ठेमेयस्सु, लोपः, भस्य, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—इष्ठेमेयस्सु परतः भसंज्ञकस्याङ्गस्य टेर्लोपो भवति॥ *उदा०*—पटु—पटिष्ठः, पटिमा, पटीयान्। लघु—लघिष्ठः, लघिमा, लघीयान्॥

भाषार्थः—इष्ठन् इमनिच् तथा ईयसुन् परे रहते भसंज्ञक अङ्ग के [टेः] टि भाग का लोप होता है। सिद्धियाँ भाग २ सूत्र ५।३।५५ एवं ५७ में देखें। ईयसुन् = ईयस् के परे रहते नुम् आगमादि कार्य परि० १।१।१ के चितवान् के सदृश हो ही जायेंगे॥

स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः ॥६।४।१५६॥

स्थूल···णाम् ६।३॥ यणादिपरम् १।१॥ पूर्वस्य ६।१॥ च अ०॥ गुणः १।१॥ *स०*—स्थूल० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। यण् आदिर्यस्य तद् यणादि, बहुव्रीहिः। यणादि च अदः परञ्च यणादिपरम्, कर्मधारयस्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—इष्ठेमेयस्सु, लोपः, भस्य, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—स्थूल, दूर, युव, ह्रस्व, क्षिप्र, क्षुद्र इत्येतेषां यणादिपरं लुप्यते, इष्ठेमेयस्सु परतः, पूर्वस्य च गुणो भवति॥ *उदा०*- स्थूल—स्थविष्ठः, स्थवीयान्। दूर—दविष्ठः, दवीयान्। युवन्—यविष्ठः, यवीयान्। ह्रस्व—ह्रसिष्ठः, ह्रसीयान्, ह्रसिमा। क्षिप्र—क्षेपिष्ठः, क्षेपीयान्, क्षेपिमा। क्षुद्र—क्षोदिष्ठः, क्षोदीयान्, क्षोदिमा॥

भाषार्थः—[*स्थूल···णाम्*] स्थूल, दूर, युव, ह्रस्व, क्षिप्र, क्षुद्र इन अङ्गों के [*यणादिपरम्*] परे जो यणादि भाग उस का लोप होता है

इष्ठन् इमनिच् तथा ईयसुन् परे रहते [च] तथा उस यणादि से [पूर्वस्य] पूर्व को [गुणः] गुण होता है ॥ स्थूल दूर आदि में पर जो ल र आदि यणादि (शब्द) उनका लोप तथा पूर्व इक् के स्थान में (१।१।३) गुण होकर स्थो इष्ठ = स्थविष्ठः बनता है। पर यणादि का लोप इसलिये कहा कि युव ह्रस्व शब्दों के पूर्ववाले यणादि यु एवं र का लोप न हो जाये। ह्रस्व क्षिप्र क्षुद्र शब्द पृथ्वादि गण में पढ़े हैं, अतः *पृथ्वादिभ्यः०* (५।१।१२१) से इमनिच् हुआ है। इस प्रकार इन्हीं शब्दों के इमनिच् परे का उदाहरण हैं, अन्यों का नहीं। ह्रस्व शब्द में यणादि पर से पूर्व इक् न होने से गुण नहीं हुआ है। ईयसुन् परे रहते पूर्ववत् नुमादि होकर सिद्धि जानें ॥

प्रियस्थिरस्फिरोरुबहुलगुरुवृद्धतृप्रदीर्घवृन्दारकाणां प्रस्थस्फवर्बंहिगर्वर्षित्रब्द्राघिवृन्दाः ॥६।४।१५७॥

प्रिय...णाम् ६।३॥ प्रस्थ...वृन्दाः १।३॥ *स०*—उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—प्रिय, स्थिर, स्फिर, उरु, बहुल, गुरु, वृद्ध, तृप्र, दीर्घ, वृन्दारक इत्येतेषामङ्गानां स्थाने प्र, स्थ, स्फ, वर्, बंहि, गर्, वर्षि त्रप्, द्राघि, वृन्द इत्येते यथासंख्यमादेशा भवन्ति, इष्ठेमेयस्सु परतः ॥ *उदा०*—प्रिय-प्रेष्ठः, प्रेमा, प्रेयान्। स्थिर-स्थेष्ठः, स्थेयान्। स्फिर-स्फेष्ठः, स्फेयान्। उरु-वरिष्ठः, वरिमा, वरीयान्। बहुल—बंहिष्ठः, बंहिमा, बंहीयान्। गुरु—गरिष्ठः, गरिमा, गरीयान्। वृद्ध-वर्षिष्ठः, वर्षीयान्। तृप्र-त्रपिष्ठः, त्रपीयान्। दीर्घ-द्राघिष्ठः, द्राघिमा, द्राघीयान्। वृन्दारक-वृन्दिष्ठः, वृन्दीयान् ॥

भाषार्थः—[*प्रिय.....णाम्*] प्रिय, स्थिर, स्फिर, उरु, बहुल, गुरु, वृद्ध, तृप्र, दीर्घ, वृन्दारक इन अङ्गों को [*प्रस्थ.....वृन्दाः*] प्र, स्थ, स्फ, वर्, बंहि, गर्, वर्षि, त्रप्, द्राघि, वृन्द ये आदेश यथासंख्य करके हो जाते हैं, इष्ठन् इमनिच् तथा ईयसुन् परे रहते ॥ प्रिय, उरु, गुरु, बहुल तथा दीर्घ शब्द पृथ्वादि गण में पढ़े हैं, अतः उनके ही इमनिच् परे का उदाहरण दिखाया है, अन्यों का नहीं॥ बंहि के इकार का टेः (६।४।१५५) से लोप होता है। प्रेष्ठः में टेः की प्रवृत्ति *प्रकृत्यैकाच्* (६।४।१६३) से प्रकृतिवत् होने से नहीं होती, सो *आद् गुणः* (६।१।८४) लगकर प्रेष्ठः बनता है ॥

बहोर्लोपो भू च बहोः ॥६।४।१५८॥

बहोः ५।१॥ लोपः १।१॥ भू लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ बहोः ६।१॥ *अनु०*—इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—बहोरुत्तरेषामिष्ठेमेयसां लोपो भवति, तस्य च बहोः स्थाने भू इत्ययमादेशो भवति॥ *उदा०*—भूयान्, भूमा ॥

भाषार्थः—[*बहोः*] बहु शब्द से उत्तर इष्ठन् इमनिच् तथा ईयसुन् का [*लोपः*] लोप होता है, और उस [*बहोः*] बहु के स्थान में [*भू*] भू आदेश [च] भी होता है ॥ यहाँ 'इष्ठेमेयस्सु' षष्ठ्यन्त में बदल जाता है। बहु शब्द पृथ्वादि गण में पढ़ा है। इष्ठन् परे का उदाहरण यहाँ इसलिये नहीं दिखाया है क्योंकि वह अगले सूत्र का उदाहरण बन जाता है, अतः वहीं देखें ॥ *आदेः परस्य* (१।१।५३) से ईयसुन् इमनिच् के इवर्ण का ही लोप हुआ है। भू यस् = भूयान् ॥ *अनेकाल्०* (१।१।५४) से सम्पूर्ण बहु को भू आदेश होगा ॥

यहाँ से '*बहोः भू च बहोः*' की अनुवृत्ति ६।४।१५६ तक जायेगी ॥

इष्ठस्य यिट् च ॥६।४।१५९॥

इष्ठस्य ६।१॥ यिट् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—बहोः भू च बहोः, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—बहोः परस्य इष्ठन् इत्येतस्य यिट् आगमो भवति, बहोश्च भूरादेशो भवति ॥ *उदा०*—भूयिष्ठः ॥

भाषार्थः—बहु शब्द से उत्तर [*इष्ठस्य*] इष्ठन् को [*यिट्*] यिट् आगम होता है [च] तथा बहु शब्द को भू आदेश भी होता है ॥ यिट् में इकार उच्चारणार्थ है। टित् होने से इष्ठन् के आदि को यिट् होकर भू य् इष्ठ = भूयिष्ठः बन गया ॥

ज्यादादीयसः ॥६।४।१६०॥

ज्यात् ५।१॥ आत् १।१॥ ईयसः ६।१॥ *अनु०*—भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—ज्यात् उत्तरस्य ईयस आकार आदेशो भवति ॥ *उदा०*—ज्यायान् ॥

भाषार्थः—[*ज्यात्*] ज्य अङ्ग से उत्तर [*ईयसः*] ईयस् को [*आत्*] आकार आदेश होता है ॥ पूर्ववत् आदि अक्षर ईयसुन् के 'ई' को

आकारादेश होगा। ज्य च (५।३।६१) से प्रशस्य शब्द को ज्य आदेश होता है। ज्य आ यस् = ज्यायान् ॥

र ऋतो हलादेर्लघोः ॥६।४।१६१॥

रः १।१॥ ऋतः ६।१॥ हलादेः ६।१॥ लघोः ६।१॥ स०—हल् आदिर्यस्य तद् हलादि, तस्य……बहुव्रीहिः ॥ अनु०—इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—हलादेरङ्गस्य भस्य लघोः ऋकारस्य स्थाने र आदेशो भवति, इष्ठेमेयस्सु परतः ॥ *उदा०*—प्रथिष्ठः, प्रथिमा, प्रथीयान्। म्रदिष्ठः, म्रदिमा, म्रदीयान् ॥

भाषार्थः—[*हलादेः*] हल् आदि वाले भसंज्ञक अङ्ग के [*लघोः*] लघु [*ऋतः*] ऋकार के स्थान में [*र*] र आदेश होता है, इष्ठन् इमनिच् तथा ईयसुन् परे रहते॥ पृथु मृदु का ऋकार ह्रस्वं लघु (१।४।१०) से लघु संज्ञक एवं हल् आदि वाला है, सो र आदेश हो गया। यहाँ अकारविशिष्ट 'र' का ग्रहण है। सिद्धियाँ ५।१।१२१ सूत्र में ही देखें॥

यहाँ से '*र ऋतः*' की अनुवृत्ति ६।४।१६२ तक जायेगी ॥

विभाषर्जोश्छन्दसि ॥६।४।१६२॥

विभाषा १।१॥ ऋजोः ६।१॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—र ऋतः, इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये ऋजु इत्येतस्याङ्गस्य ऋतः स्थाने विभाषा र आदेशो भवति, इष्ठेमेयस्सु परतः ॥ *उदा०*—रजिष्ठमेति पन्थानम्। त्वं रजिंष्ठमनुं नेषि (ऋ० १।९१।१)। पक्षे—त्वमृजिष्ठः ॥

भाषार्थः—[*ऋजोः*] ऋजु अङ्ग के ऋकार के स्थान में [*विभाषा*] विकल्प से र आदेश होता है [*छन्दसि*] वेद विषय में, इष्ठन् इमनिच् ईयसुन् परे रहते॥ वेद का यथाप्राप्त इष्ठन् परे का ही उदाहरण यहाँ दिया है॥ ऋजु इष्ठ यहाँ टेः (६।४।१५५) से टि का लोप एवं ऋ को र होकर रजिष्ठः बन गया॥

प्रकृत्यैकाच् ॥६।४।१६३॥

प्रकृत्या ३।१॥ एकाच् १।१॥ स०—एकोऽच् यस्मिन् तद् एकाच् बहुव्रीहिः ॥ अनु०—इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—एकाच् यद्

भसंज्ञकमङ्गं तत् प्रकृत्या भवति इष्ठेमेयस्सु परतः ॥ *उदा०*—स्रजिष्ठः, स्रजीयान्, स्रजयति[1]। स्रुचिष्ठः, स्रुचीयान्, स्रुचयति[1] ॥

भाषार्थः—[*एकाच्*] एक अच् वाला भसंज्ञक अङ्ग [*प्रकृत्या*] प्रकृति से रह जाता है, इष्ठन् इमनिच् ईयसुन् परे रहते ॥ *अस्मायामेधा०* (५।२।१२१) से स्रग्विन् में विनि प्रत्यय होकर पश्चात् इष्ठन् आदि प्रत्यय हुये हैं। इष्ठन् आदि के परे *विन्मतोर्लुक्* (५।३।६५) से विन् का लुक् हुआ है। इस प्रकार स्रज् शब्द इष्ठनादि के परे एक अच् वाला है, अतः प्रकृतिभाव हो गया। प्रकृतिभाव होने से *टेः* (६।४।१५५) से जो टिभाग का लोप प्राप्त था वह नहीं हुआ। इसी प्रकार स्रुग्वत् मतुप् प्रत्ययान्त शब्द से स्रुचिष्ठः आदि की सिद्धि जानें ॥

यहाँ से '*प्रकृत्या*' की अनुवृत्ति ६।४।१७० तक जायेगी ॥

इनण्यनपत्ये ॥६।४।१६४॥

इन् १।१॥ अणि ७।१॥ अनपत्ये ७।१॥ *स०*—अन० इत्यत्र नञ्-तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अनपत्यार्थेऽणि परत इन्नन्तं भसंज्ञकाङ्गं प्रकृत्या भवति ॥ *उदा०*—सांकूटिनम्, सांराविणम्, सांमार्जिनम्। स्रग्वी-स्रग्विण इदं स्राग्विणम्, *तस्येदमित्यण्* ॥

भाषार्थः—[*अनपत्ये*] अपत्य अर्थ से भिन्न अर्थ में वर्त्तमान [*अणि*] अण् प्रत्यय के परे रहते [*इन्*] इन्नन्त भसंज्ञक अङ्ग को प्रकृतिभाव हो जाता है ॥ सिद्धियाँ परि० ३।३।४४ पृ० ६०७ में देखें। यहाँ अण् अपत्य अर्थ में नहीं आया है। इसी प्रकार मृजूष् धातु से सांमार्जिनम् भी समझें ॥ *नस्तद्धिते* (६।४।१४४) की प्राप्ति में यह सूत्र है ॥

यहाँ से '*इन्*' की अनुवृत्ति ६।४।१६६ तक तथा '*अणि*' की ६।४।१७१ तक जायेगी ॥

गाथिविदथिकेशिगणिपणिनश्च ॥६।४।१६५॥

गाथि···नः १।३॥ च अ० ॥ *स०*—गाथी च विदथी च केशी च गणी च पणी च, गाथि···नः, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—इन्, अणि,

---

१. *णाविष्ठवत् प्रातिपदिकस्य* (वा० ६।४।१५५) से णिच् को इष्ठवत् कार्य होता है, अतः ये उदाहरण दिए हैं ॥

इष्ठन् इमनिच् तथा ईयसुन् परे रहते [च] तथा उस यणादि से [*पूर्वस्य*] पूर्व को [*गुणः*] गुण होता है॥ स्थूल दूर आदि में पर जो ल र आदि यणादि (शब्द) उनका लोप तथा पूर्व इक् के स्थान में (१।१।३) गुण होकर स्थो इष्ठ = स्थविष्ठः बनता है। पर यणादि का लोप इसलिये कहा कि युव ह्रस्व शब्दों के पूर्ववाले यणादि यु एवं र का लोप न हो जाये। ह्रस्व क्षिप्र क्षुद्र शब्द पृथ्वादि गण में पढ़े हैं, अतः *पृथ्वादिभ्यः०* (५।१।१२१) से इमनिच् हुआ है। इस प्रकार इन्हीं शब्दों के इमनिच् परे का उदाहरण है, अन्यों का नहीं। ह्रस्व शब्द में यणादि पर से पूर्व इक् न होने से गुण नहीं हुआ है। ईयसुन् परे रहते पूर्ववत् नुमादि होकर सिद्धि जानें॥

प्रियस्थिरस्फिरोरुबहुलगुरुवृद्धतृप्रदीर्घवृन्दारकाणां प्रस्थस्फवर्बंहिगर्वर्षित्रब्द्राघिवृन्दाः ॥६।४।१५७॥

प्रिय...णाम् ६।३॥ प्रस्थ...वृन्दाः १।३॥ *स०*—उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—प्रिय, स्थिर, स्फिर, उरु, बहुल, गुरु, वृद्ध, तृप्र, दीर्घ, वृन्दारक इत्येतेषामङ्गानां स्थाने प्र, स्थ, स्फ, वर्, बंहि, गर्, वर्षि त्रप्, द्राघि, वृन्द इत्येते यथासंख्यमादेशा भवन्ति, इष्ठेमेयस्सु परतः॥ *उदा०*—प्रिय-प्रेष्ठः, प्रेमा, प्रेयान्। स्थिर-स्थेष्ठः, स्थेयान्। स्फिर-स्फेष्ठः, स्फेयान्। उरु-वरिष्ठः, वरिमा, वरीयान्। बहुल—बंहिष्ठः, बंहिमा, बंहीयान्। गुरु—गरिष्ठः, गरिमा, गरीयान्। वृद्ध-वर्षिष्ठः, वर्षीयान्। तृप्र-त्रपिष्ठः, त्रपीयान्। दीर्घ-द्राघिष्ठः, द्राघिमा, द्राघीयान्। वृन्दारक-वृन्दिष्ठः, वृन्दीयान्॥

भाषार्थः—[*प्रिय.....णाम्*] प्रिय, स्थिर, स्फिर, उरु, बहुल, गुरु, वृद्ध, तृप्र, दीर्घ, वृन्दारक इन अङ्गों को [*प्रस्थ.....वृन्दाः*] प्र, स्थ, स्फ, वर्, बंहि, गर्, वर्षि, त्रप्, द्राघि, वृन्द ये आदेश यथासंख्य करके हो जाते हैं, इष्ठन् इमनिच् तथा ईयसुन् परे रहते॥ प्रिय, उरु, गुरु, बहुल तथा दीर्घ शब्द पृथ्वादि गण में पढ़े हैं, अतः उनके ही इमनिच् परे का उदाहरण दिखाया है, अन्यों का नहीं॥ बंहि के इकार का टेः (६।४।१५५) से लोप होता है। प्रेष्ठः में टेः की प्रवृत्ति *प्रकृत्यैकाच्* (६।४।१६३) से प्रकृतिवत् होने से नहीं होती, सो *आद् गुणः* (६।१।८४) लगकर प्रेष्ठः बनता है॥

बहोर्लोपो भू च बहोः ॥६।४।१५८॥

बहोः ५।१॥ लोपः १।१॥ भू लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ बहोः ।१॥ *अनु०*—इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—बहोरुत्तरेषामि-मेयसां लोपो भवति, तस्य च बहोः स्थाने भू इत्ययमादेशो भवति ॥ दा०—भूयान्, भूमा ॥

भाषार्थः—[*बहोः*] बहु शब्द से उत्तर इष्ठन् इमनिच् तथा ईयसुन् ा [*लोपः*] लोप होता है, और उस [*बहोः*] बहु के स्थान में [*भू*] भू ादेश [*च*] भी होता है ॥ यहाँ 'इष्ठेमेयस्सु' षष्ठ्यन्त में बदल जाता ै। बहु शब्द पृथ्वादि गण में पढ़ा है। इष्ठन् परे का उदाहरण यहाँ सलिये नहीं दिखाया है क्योंकि वह अगले सूत्र का उदाहरण बन जाता ै, अतः वहीं देखें ॥ *आदेः परस्य* (१।१।५३) से ईयसुन् इमनिच् के वर्ण का ही लोप हुआ है। भू यस् = भूयान् ॥ *अनेकाल्०* (१।१।५४) े सम्पूर्ण बहु को भू आदेश होगा ॥

यहाँ से '*बहोः भू च बहोः*' की अनुवृत्ति ६।४।१५८ तक जायेगी ॥

इष्ठस्य यिट् च ॥६।४।१५९॥

इष्ठस्य ६।१॥ यिट् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—बहोः भू च बहोः, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—बहोः परस्य इष्ठन् इत्येतस्य यिट् आगमो भवति, बहोश्च भूरादेशो भवति ॥ उदा०—भूयिष्ठः ॥

भाषार्थः—बहु शब्द से उत्तर [*इष्ठस्य*] इष्ठन् को [*यिट्*] यिट् आगम होता है [*च*] तथा बहु शब्द को भू आदेश भी होता है ॥ यिट् में इकार उच्चारणार्थ है। टित् होने से इष्ठन् के आदि को यिट् होकर भू य् इष्ठ = भूयिष्ठः बन गया ॥

ज्यादादीयसः ॥६।४।१६०॥

ज्यात् ५।१॥ आत् १।१॥ ईयसः ६।१॥ *अनु०*—भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—ज्यात् उत्तरस्य ईयस आकार आदेशो भवति ॥ उदा०—ज्यायान् ॥

भाषार्थः—[*ज्यात्*] ज्य अङ्ग से उत्तर [*ईयसः*] ईयस् को [*आत्*] आकार आदेश होता है ॥ पूर्ववत् आदि अक्षर ईयसुन् के 'ई' को

आकारादेश होगा। ज्य च (५।३।६१) से प्रशस्य शब्द को ज्य आदेश होता है। ज्य आ यस् = ज्यायान् ॥

र ऋतो हलादेर्लघोः ॥६।४।१६१॥

रः १।१॥ ऋतः ६।१॥ हलादेः ६।१॥ लघोः ६।१॥ स०—हल् आदिर्यस्य तद् हलादि, तस्य……बहुव्रीहिः॥ अनु०—इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—हलादेरङ्गस्य भस्य लघोः ऋकारस्य स्थाने र आदेशो भवति, इष्ठेमेयस्सु परतः॥ *उदा०*—प्रथिष्ठः, प्रथिमा, प्रथीयान्। म्रदिष्ठः, म्रदिमा, म्रदीयान्॥

भाषार्थः—[*हलादेः*] हल् आदि वाले भसंज्ञक अङ्ग के [*लघोः*] लघु [*ऋतः*] ऋकार के स्थान में [*र*] र आदेश होता है, इष्ठन् इमनिच् तथा ईयसुन् परे रहते॥ पृथु मृदु का ऋकार ह्रस्वं लघु (१।४।१०) से लघु संज्ञक एवं हल् आदि वाला है, सो र आदेश हो गया। यहाँ अकारविशिष्ट 'र' का ग्रहण है। सिद्धियाँ ५।१।१२१ सूत्र में ही देखें॥

यहाँ से 'र *ऋतः*' की अनुवृत्ति ६।४।१६२ तक जायेगी॥

विभाषर्जोश्छन्दसि ॥६।४।१६२॥

विभाषा १।१॥ ऋजोः ६।१॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—र ऋतः, इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये ऋजु इत्येतस्याङ्गस्य ऋतः स्थाने विभाषा र आदेशो भवति, इष्ठेमेयस्सु परतः॥ *उदा०*—रजिष्ठमेति पन्थानम्। त्वं रजिष्ठमनु नेषि (ऋ० १।९१।१)। पक्षे—त्वमृजिष्ठः॥

भाषार्थः—[*ऋजोः*] ऋजु अङ्ग के ऋकार के स्थान में [*विभाषा*] विकल्प से र आदेश होता है [*छन्दसि*] वेद विषय में, इष्ठन् इमनिच् ईयसुन् परे रहते॥ वेद का यथाप्राप्त इष्ठन् परे का ही उदाहरण यहाँ दिया है॥ ऋजु इष्ठ यहाँ टेः (६।४।१५५) से टि का लोप एवं ऋ को र होकर रजिष्ठः बन गया॥

प्रकृत्यैकाच् ॥६।४।१६३॥

प्रकृत्या ३।१॥ एकाच् १।१॥ स०—एकोऽच् यस्मिन् तद् एकाच् बहुव्रीहिः॥ अनु०—इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—एकाच् यद्

नसंज्ञकमङ्गं तत् प्रकृत्या भवति इष्ठेमेयस्सु परतः ॥ उदा०—स्रजिष्ठः, स्रजीयान्, स्रजयति[1]। स्रुचिष्ठः, स्रुचीयान्, स्रुचयति[1] ॥

भाषार्थः—[एकाच्] एक अच् वाला भसंज्ञक अङ्ग [प्रकृत्या] प्रकृति से रह जाता है, इष्ठन् इमनिच् ईयसुन् परे रहते ॥ अस्मायामेधा० (५।२।१२१) से स्रग्विन् में विनि प्रत्यय होकर पश्चात् इष्ठन् आदि प्रत्यय हुये हैं। इष्ठन् आदि के परे विन्मतोर्लुक् (५।३।६५) से विन् का लुक् हुआ है। इस प्रकार स्रज् शब्द इष्ठनादि के परे एक अच् वाला है, अतः प्रकृतिभाव हो गया। प्रकृतिभाव होने से टेः (६।४।१५५) से जो टिभाग का लोप प्राप्त था वह नहीं हुआ। इसी प्रकार स्रुग्वत् मतुप् प्रत्ययान्त शब्द से स्रुचिष्ठः आदि की सिद्धि जानें ॥

यहाँ से 'प्रकृत्या' की अनुवृत्ति ६।४।१७० तक जायेगी ॥

इनण्यनपत्ये ॥६।४।१६४॥

इन् १।१॥ अणि ७।१॥ अनपत्ये ७।१॥ स०—अन० इत्यत्र नञ्-तत्पुरुषः ॥ अनु०—प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अनपत्यार्थेऽणि परत इन्नन्तं भसंज्ञकाङ्गं प्रकृत्या भवति ॥ उदा०—सांकूटिनम्, सांराविणम्, सांमार्जिनम्। स्रग्वी-स्रग्विण इदं स्राग्विणम्, तस्येदमित्यण् ॥

भाषार्थः—[अनपत्ये] अपत्य अर्थ से भिन्न अर्थ में वर्त्तमान [अणि] अण् प्रत्यय के परे रहते [इन्] इन्नन्त भसंज्ञक अङ्ग को प्रकृतिभाव हो जाता है ॥ सिद्धियाँ परि० ३।३।४४ पृ० ६०७ में देखें। यहाँ अण् अपत्य अर्थ में नहीं आया है। इसी प्रकार मृजूष् धातु से सांमार्जिनम् भी समझें॥ नस्तद्धिते (६।४।१४४) की प्राप्ति में यह सूत्र है ॥

यहाँ से 'इन्' की अनुवृत्ति ६।४।१६६ तक तथा 'अणि' की ६।४।१७१ तक जायेगी ॥

गाथिविदथिकेशिगणिपणिनश्च ॥६।४।१६५॥

गाथि···नः १।३॥ च अ० ॥ स०—गाथी च विदथी च केशी च गणी च पणी च, गाथि···नः, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—इन्, अणि,

---

१. णाविष्ठवत् प्रातिपदिकस्य (वा० ६।४।१५५) से णिच् को इष्ठवत् कार्य होता है, अतः ये उदाहरण दिए हैं ॥

प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—गाथिन्, विदथिन्, केशिन्, गणिन्, पणिन् इत्येते च अणि परतः प्रकृत्या भवन्ति ॥ *उदा०*—गाथिनोऽपत्यम् = गाथिनः, वैदथिनः, कैशिनः, गाणिनः, पाणिनः ॥

भाषार्थः—[*गाथि*...*नः*] गाथिन्, विदथिन्, केशिन्, गणिन्, पणिन् इन अङ्गों को [च] भी अण् परे रहते प्रकृतिभाव हो जाता है ॥ ये शब्द मत्वर्थीय इनि (५।२।११५) प्रत्ययान्त हैं ॥ इन्नन्त होने से पूर्व सूत्र से ही प्रकृतिभाव सिद्ध था, यहाँ अपत्यार्थक अण् परे रहते भी हो जाये इसलिये यह सूत्र है ॥ सर्वत्र *तस्यापत्यम्* (४।१।९२) से अण् प्रत्यय हुआ है ॥ पूर्ववत् *नस्तद्धिते* (६।४।१४४) से टिलोप प्राप्त था तदपवाद है ॥

संयोगादिश्च ॥६।४।१६६॥

संयोगादिः १।१॥ च अ० ॥ *स०*—संयोग आदिर्यस्य स संयोगादिः, बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—इन्, अणि, प्रकृत्या ॥ *अर्थः*—संयोगादिश्च इन् अणि परतः प्रकृत्या भवति ॥ *उदा०*—शङ्खिनोऽपत्यं शाङ्खिनः, माद्रिणः, वाज्रिणः ॥

भाषार्थः—[*संयोगादिः*] संयोग आदि में है जिस 'इन्' के उसको [च] भी अण् परे रहते प्रकृतिभाव हो जाता है ॥ इस सूत्र का भी आरम्भ अपत्यार्थक अण् परे रहते भी हो जाये इसलिये है ॥ पूर्ववत् शङ्खिन् आदि इनिप्रत्ययान्त हैं, तदन्त से अण् प्रत्यय अपत्यार्थ में हुआ है । पूर्ववत् यहाँ भी टिलोप प्राप्त था ॥ शङ्खिन्, मद्रिन्, वज्रिन् में 'इन्' से पूर्व संयोग (ङ् ख् आदि का) है ही ॥

अन् ॥६।४।१६७॥

अन् १।१॥ *अनु०*—अणि, प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अन्नन्तं भसंज्ञकमङ्गमणि परतः प्रकृत्या भवति ॥ *उदा०*—सामनः, वैमनः, सौत्वनः, जैत्वनः ॥

भाषार्थः—[*अन्*] अन् अन्त वाले, भसंज्ञक अङ्ग को अण् परे रहते प्रकृतिभाव हो जाता है ॥ सामान्य अण् (अपत्यार्थक हो या अनपत्यार्थक) परे रहते यह विधि है ॥ सामनः, वैमनः में *तस्येदम्* (४।३।१२०)

अण् हुआ है। षुञ् धातु से सुयजो० (३।२।१०३) से ङ्वनिप् एवं ।१।६९ से तुक् आगम होकर सुत्वन् बना, तत्पश्चात् तस्यापत्यम् ।१।९२) से अण् होकर सौत्वनः बन गया। इसी प्रकार जि धातु से येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३।२।७५) से क्वनिप् होकर जित्वन् बनता है। वत् नस्तद्धिते से टिलोप प्राप्त था तदपवाद है॥

यहाँ से 'अन्' की अनुवृत्ति ६।४।१७० तक जायेगी॥

ये चाभावकर्मणोः ॥६।४।१६८॥

ये ७।१॥ च अ० ॥ अभावकर्मणोः ७।२॥ स०—भावश्च कर्म च वकर्मणी, न भावकर्मणी अभावकर्मणी, तयोः······द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पु-ः ॥ अनु०—अन्, प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य। आपत्यस्य च तद्धितेऽति (६।४।१५१) इत्यतः 'तद्धिते' इत्यनुवर्तते मण्डूकप्लुतगत्या॥ र्थः—यकारादौ च तद्धिते परतोऽभावकर्मणोरर्थयोरन् प्रकृत्या भवति॥ दा०—सामसु साधुः सामन्यः, वेमन्यः॥

भाषार्थः—[अभावकर्मणोः] भाव तथा कर्म से भिन्न अर्थ में वर्तमान ये] यकारादि तद्धित के परे रहते [च] भी अन्नन्त भसंज्ञक अङ्ग को कृतिभाव हो जाता है॥ सिद्धि तत्र साधुः (४।४।९८) सूत्र में देखें॥

आत्माध्वानौ खे ॥६।४।१६९॥

आत्माध्वानौ १।२॥ खे ७।१॥ स०—आत्मा च अध्वा च आत्मा-वानौ, इतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य॥ अर्थः—आत्मन् अध्वन् इत्येतावङ्गौ खे प्रत्यये परतः प्रकृत्या भवतः॥ दा०—आत्मने हितः = आत्मनीनः। अध्वानमलङ्गामी = अध्वनीनः॥

भाषार्थः—[आत्माध्वानौ] आत्मन् तथा अध्वन् भसंज्ञक अङ्गों को खे] ख प्रत्यय परे रहते प्रकृतिभाव होता है॥ आत्मनीनः में आत्मन्विश्व० (५।१।९) से ख प्रत्यय होता है, तथा अध्वनीनः में अध्वनो त्खौ (५।२।१६) से ख होता है, उसके परे रहते पूर्ववत् (६।४।१४४) टिलोप प्राप्त था, प्रकृतिभाव कह दिया॥

न मपूर्वोऽपत्येऽवर्म्मणः ॥६।४।१७०॥

न अ० ॥ मपूर्वः १।१॥ अपत्ये ७।१॥ अवर्म्मणः ६।१॥ स०—मकार:

पूर्वो यस्य (अनः) स मपूर्वः, बहुव्रीहिः। न वर्म्मा अवर्म्मा, तस्य······ नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अन् , अणि, प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अपत्यार्थकेऽणि परतो वर्म्मणो वर्जितस्य मपूर्वोऽन् प्रकृत्या न भवति ॥ *उदा०*—सुषाम्णोऽपत्यं सौषामः, चान्द्रसामः ॥

भाषार्थः—[*अपत्ये*] अपत्यार्थक अण् के परे रहते [*अवर्मणः*] वर्म्मन् शब्द को छोड़कर जो [*मपूर्वः*] मकार पूर्व वाला अन् उसको प्रकृतिभाव [*न*] नहीं होता ॥ अन् (६।४।१६७) से प्रकृतिभाव प्राप्त था निषेध कर दिया तो यथाप्राप्त सुषामन् चन्द्रसामन् के टि (अन्) का लोप *नस्तद्धिते* से अण् (४।१।९२) परे रहते हो गया। सुषामन् चन्द्रसामन् शब्दों के अन् से पूर्व मकार है ही। वर्म्मन् में भी मकार पूर्व था, अतः निषेध कर दिया ॥

यहाँ से '*अपत्ये*' की अनुवृत्ति ६।४।१७१ तक जायेगी ॥

ब्राह्मोऽजातौ ॥६।४।१७१॥

ब्राह्मः १।१॥ अजातौ ७।१॥ *स०*—न जातिः अजातिः, तस्मिन्, नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अपत्ये ॥ *अर्थः*—ब्राह्म इति निपात्यते, अपत्ये जातौ न ॥ योगविभागोऽत्र कर्त्तव्यः। अजातावित्यनेन 'अपत्ये' इति सम्बध्यते न तु निपातनेन। तेन ब्राह्म इत्यत्र टिलोपो निपात्यतेऽनपत्येऽणि। ततोऽजातौ—अपत्ये जातावणि ब्रह्मणः टिलोपो न भवत्ययमर्थः सम्पद्यते ॥ *उदा०*—ब्राह्मो गर्भः, ब्राह्मम् अस्त्रम्, ब्राह्मं हविः ॥ अपत्ये जातौ न भवति—ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः ॥

भाषार्थः—[*ब्राह्मः*] ब्राह्म शब्द में टिलोप निपातन किया जाता है, अपत्य [*अजातौ*] जाति अर्थ को छोड़कर ॥ इस सूत्र में योगविभाग करके महाभाष्यादि में इष्ट अर्थ का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है—'*ब्राह्मः*' ब्राह्म शब्द में टिलोप अपत्य अण् के परे रहते निपातन से होता है। पश्चात् '*अजातौ*' कहा सो उसमें पूर्व सूत्रोक्त 'अपत्ये' की अनुवृत्ति आकर अर्थ हुआ 'अपत्यार्थक जाति में ब्रह्मन् के टि का लोप नहीं होता'। अर्थात् 'अपत्ये' का सम्बन्ध अजातौ से लगेगा न कि ब्राह्मः निपातन के साथ। सो ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः यहाँ अपत्यार्थक जाति को

ने में टिलोप नहीं हुआ[1] ॥ अनपत्य अर्थ में ब्राह्म के टि का लोप ति अजाति सर्वत्र होगा, किन्तु 'अपत्य अर्थ में जाति में नहीं' यह तेषेध कर दिया ॥

ब्राह्म निपातन के साथ 'अपत्ये' अनुवृत्ति का सम्बन्ध न करने से । सूत्र से प्रकृतिभाव का निषेध ब्राह्म में नहीं प्राप्त हुआ, अर्थात् *अन्* ।४।१६७) से प्रकृतिभाव ही प्राप्त हुआ, अतः टिलोपार्थ यह वन है ॥

कार्म्मस्ताच्छील्ये ॥६।४।१७२॥

कार्म्मः १।१॥ ताच्छील्ये ७।१॥ *अनु०*—अङ्गस्य, भस्य ॥ *अर्थः*— ार्म्म इति ताच्छील्ये णे टिलोपो निपात्यते ॥ *उदा०*—कर्म्म- ोलः = कार्म्मः ॥

भाषार्थः—[*कार्म्मः*] कार्म्म इस शब्द में [*ताच्छील्ये*] ताच्छील्यार्थक । परे रहते टिलोप निपातन किया जाता है ॥ *छत्रादिभ्यो णः* ४।४।६२) से कर्मन् शब्द से ण प्रत्यय होता है । टि भाग = अन् का ोप प्रकृत सूत्र से हो गया है ॥

औक्षमनपत्ये ॥६।४।१७३॥

औक्षम् १।१॥ अनपत्ये ७।१॥ *स०*—अन० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—भस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अनपत्येऽणि औक्षमिति टिलोपो निपात्यते ॥ *उदा०*—औक्षं पदम् ॥

भाषार्थः—[*अनपत्ये*] अनपत्यार्थक अण् परे रहते [*औक्षम्*] औक्षम् यहाँ टिलोप निपातन किया जाता है ॥ उक्षन् शब्द से *तस्येदम्* (४।३।१२०) से अण् प्रत्यय एवं टिलोप होकर औक्षम् बना है ॥

दाण्डिनायनहास्तिनायनाथर्वणिकजैह्माशिनेयवाशिनायनिभ्रौण- हत्यधैवत्यसारवैक्ष्वाकमैत्रेयहिरण्मयानि ॥६।४।१७४॥

दाण्डि' 'यानि १।३॥ *स०*—दाण्डि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अर्थः*—

---

१. ब्रह्मभिर्ब्राह्मणैर्विरचितानि वेदव्याख्यानानि ब्राह्मणानि । यहाँ अपत्यार्थक जाति न होने से टि का लोप प्राप्त होता है उसका अभाव *छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि* (४।२।६५) इत्यादि सूत्रों में ग्रन्थविशेषवाचक ब्राह्मण शब्द के निपातन से होता है ॥

दाण्डिनायन, हास्तिनायन, आथर्वणिक, जैह्माशिनेय, वाशिनायनि, भ्रौणहत्य, धैवत्य, सारव, ऐक्ष्वाक, मैत्रेय, हिरण्मय इत्येतानि शब्द-रूपाणि निपात्यन्ते ॥ दण्डिन्, हस्तिन् इत्येतौ शब्दौ नडादिषु पठ्येते (४।१।९९) तयोरायने परतः प्रकृतिभावो निपात्यते। दण्डिनोऽपत्यं दाण्डिनायनः, हस्तिनोऽपत्यं हास्तिनायनः ॥ अथर्वन् शब्दो वसन्तादिषु पठ्यते। अथर्वणमधीते यः स आथर्वणिकः, *वसन्तादिभ्यष्ठक्* (४।२।६२) इत्यनेन ठक्प्रत्ययः। अत्रापि इके परतः प्रकृतिभावो निपात्यते ॥ जिह्माशिनोऽपत्यं जैह्माशिनेयः, शुभ्रादित्वाड्ढक् (४।१।१२३) ढक्प्रत्ययो निपातनाच्च प्रकृतिभावः ॥ वाशिनोऽपत्यं वाशिनायनिः, *उदीचां वृद्धाद०* (४।१।१५७) इत्यनेन फिञ्प्रत्ययः, प्रकृतिभावश्च निपातनात् ॥ भ्रौण-हत्य, धैवत्य इत्यत्र भ्रूणहन् धीवन् इत्येतयोः ष्यञि परतस्तकारादेशो निपात्यते। भ्रूणघ्नो भावः भ्रौणहत्यम्, धीव्नो भावः धैवत्यम् ॥ सारव इत्यत्र सरयू इत्येतस्य अणि परतो यूशब्दस्य स्थाने व इत्ययमादेशो निपात्यते। सरय्वां भवं सारवमुदकम् ॥ ऐक्ष्वाक इति आद्युदात्तो अन्तोदात्तश्च निपात्यते, उकारलोपश्च। इक्ष्वाकोरपत्यं ऐक्ष्वाकः, *जनपदशब्दा०* (४।१।१६६) इत्यनेन अञ्, अथवा इक्ष्वाकुषु जनपदेषु भवः ऐक्ष्वाकः, *कोपधादण्* (४।२।१३१) इत्यण् प्रत्ययः, अत्रापि उकार-लोपो निपातनात्। मित्रयुशब्दो गृष्ट्यादिषु पठ्यते तत्र *गृष्ट्यादिभ्यश्च* (४।१।१३६) इत्यनेन ढञ्, ततो ढञि परतः *केकयमित्रयु०* (७।३।२) इत्यनेन यकारादेः स्थाने प्राप्तस्य इयादेशस्यापवादो युलोपो निपात्यते। मित्रयोरपत्यम् मैत्रेयः इति ॥ हिरण्मयम् इत्यत्र हिरण्यस्य मयटि (४।३।१४१) परतो यादिलोपो निपात्यते। हिरण्यस्य विकारः हिरण्मयः ॥

भाषार्थः—[*दाण्डि···यानि*] दाण्डिनायन, हास्तिनायन, आथर्वणिक, जैह्माशिनेय, वाशिनायनि, भ्रौणहत्य, धैवत्य, सारव, ऐक्ष्वाक, मैत्रेय, हिरण्मय ये शब्द निपातन किये जाते हैं ॥

दण्डिन् हस्तिन् शब्द नडादि गण में पढ़े हैं अतः *नडादिभ्यः फक्* से फक् प्रत्यय हुआ है। निपातन से आयन् परे रहते यहाँ प्रकृति-भाव होता है, अर्थात् ६।४।१४४ से टिलोप नहीं होता। दाण्डिनायनः, हास्तिनायनः ॥ आथर्वणिक यहाँ अथर्वन् शब्द वसन्तादिगण में पठित है, अतः *वसन्तादिभ्यः०* से ठक् प्रत्यय हुआ है। ठ को इक होकर, इक

परे प्रकृतिभाव निपातन है। अथर्वन् ऋषि के द्वारा प्रोक्त ग्रन्थ भी अथर्वन् उपचार से कहा जायेगा, अतः उस ग्रन्थ को पढ़ने वाला आथर्वणिक कहायेगा। जैह्माशिनेय यहाँ जिह्माशिन् शब्द से *शुभ्रादिभ्यश्च* से ढक् होकर उसके परे प्रकृतिभाव निपातन है॥ वाशिनायनिः यहाँ वाशिन् शब्द से *उदीचां वृद्धा०* से फिञ् प्रत्यय हुआ है, पूर्ववत् प्रकृतिभाव निपातन है॥ भ्रौणहत्य धैवत्य यहाँ भ्रूणहन् धीवन् इन शब्दों को ष्यञ् (५।१।१२३) प्रत्यय परे रहते तकारादेश निपातन से होता है। *अलोन्त्यस्य* से अन्त्य अल् न् को 'त्' होगा॥ सारव यहाँ सरयू शब्द के 'यू' के स्थान में व आदेश अण् परे रहते निपातन है॥ ऐक्ष्वाक शब्द सूत्र में एकश्रुति में पढ़ा है सो उसे आद्युदात्त एवं अन्तोदात्त तथा उकारलोप निपातन से होता है। जब इक्ष्वाकु शब्द से *जनपदशब्दात्०* सूत्र से अञ् होता है तो निपातन से एकश्रुति हटकर यथाप्राप्त (६।१।१९१) आद्युदात्त स्वर होता है, तथा *कोपधादण्* से अण् करने पर यथाप्राप्त (३।१।३) अन्तोदात्त स्वर होगा। दोनों पक्षों में उकारलोप होगा ही॥ मैत्रेय यहाँ मित्रयु शब्द से *गृष्ट्यादिभ्यश्च* से ढञ् करके उस ढञ् के परे रहते यादि = 'य्' आदि वाले अर्थात् 'य्' को जो *केकयमित्रयु०* से इय् आदेश प्राप्त था उसको बाधकर यहाँ 'यु' का लोप निपातन से होता है। मित्रयु ढ = मित्र एय = यस्येति लोपादि होकर मैत्रेयः बना॥ हिरण्मय यहाँ हिरण्य शब्द के 'य' का मयट् परे रहते लोप निपातन है॥

ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानि च्छन्दसि ॥६।४।१७४॥

ऋत्व्य...यानि १।३॥ छन्दसि ७।१॥ *स०*—ऋत्व्य० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अर्थः*—ऋत्व्य, वास्त्व्य, वास्त्व, माध्वी, हिरण्यय इत्येतानि शब्दरूपाणि निपात्यन्ते छन्दसि विषये॥ ऋतु वास्तु इत्येतयोः यति (४।४।११०) परतो यणादेशो निपात्यते। ऋतौ भवम् ऋत्व्यम्, वास्तौ भवं वास्त्व्यम्॥ वास्त्वमिति वस्तुशब्दस्य अणि परतो यणादेशो निपात्यते। वस्तुनि भवो वास्त्वः॥ माध्वी इत्यत्र मधुशब्दस्य अणि परतो स्त्रियां यणादेशो निपात्यते। माध्वी॑र्नः स॒न्त्वोष॑धीः (ऋ० १।९०।६)॥ हिरण्ययम् इत्यत्र हिरण्यशब्दाद् विहितस्य मयटो मशब्दस्य लोपो निपात्यते। हि॒र॒ण्यये॑न सवि॒ता रथे॒न (ऋ० १।३५।२)॥

भाषार्थः—[*ऋत्व्य*···*यानि*] ऋत्व्य, वास्त्व्य, वास्त्व, माध्वी, हिरण्यय ये शब्दरूप निपातन किये जाते हैं [*छन्दसि*] वेद विषय में ॥ ऋतु वास्तु इन शब्दों को यत् परे रहते यणादेश निपातन से ऋत्व्यम्, वास्त्व्यम् शब्दों में किया गया है। *भवे छन्दसि* से यहाँ यत् प्रत्यय होता है ॥ वास्त्व यहाँ भी अण् (४।३।५३) परे रहते यणादेश निपातन है। *ओर्गुणः* (६।४।१४६) से गुण प्राप्त था यणादेश कह दिया ॥ माध्वी यहाँ मधु शब्द से अण् (४।३।१२०) परे रहते स्त्रीलिङ्ग में यणादेश निपातन है। पूर्ववत् गुण प्राप्ति थी यणादेश कह दिया ॥ हिरण्यय यहाँ हिरण्य शब्द से विहित मयट् (४।३।१४१) के मकार का लोप निपातन से होता है ॥

॥ *इति षष्ठोऽध्यायः* ॥

अथ सप्तमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

युवोरनाकौ ॥७।१।१॥

युवोः[1] ६।२॥ अनाकौ १।२॥ स०—युश्च वुश्च युवु, तस्य······ समाहारद्वन्द्वः। अनश्च अकश्च अनाकौ, इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*— अङ्गस्य॥ *अर्थः*—अङ्गसम्बन्धिनोः यु वु इत्येतयोः स्थाने यथासङ्ख्यम् अन अक इत्येतावादेशौ भवतः॥ *उदा०*—नन्दनः, रमणः, सायन्तनः, चिरन्तनः। अक—कारकः, हारकः, वासुदेवकः, अर्जुनकः॥

भाषार्थः—अङ्ग सम्बन्धी [*युवोः*] यु तथा वु के स्थान में [*अनाकौ*] अन तथा अक आदेश यथासङ्ख्य करके हो जाते हैं॥ नन्दनः रमणः की सिद्धि भाग १ सूत्र ३।१।१३४ में देखें। सायन्तनम्, चिरन्तनम् में *सायंचिरं०* (४।३।२३) से ट्यु प्रत्यय तथा तुट् आगम होता है। ट्यु का यु शेष रहेगा, तथा उसे अन आदेश हो जायेगा। कारकः हारकः की सिद्धि परि० १।१।१ में देखें। वासुदेवकः अर्जुनकः में *वासुदेवार्जुनाभ्यां०* (४।३।९८) से वुन् प्रत्यय होता है॥

आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् ॥७।१।२॥

आयनेयीनीयियः १।३॥ फढखछघाम् ६।३॥ प्रत्ययादीनाम् ६।३॥ स०—आयन् च एय् च ईन् च ईय् च इय् च आयनेयीनीयियः। फश्च ढश्च खश्च छश्च घ् च फढखछघस्तेषाम्······उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः।

---

१. 'युवोः' इति निर्देशे द्वौ पक्षौ, समाहारद्वन्द्वो वा स्यात् इतरेतरयोगो वा। तत्र समाहारद्वन्द्वपक्षे नपुंसकस्य झलचः (७।१।७२) इत्यनेनागमशासनस्यानित्यत्वात् नुम् आगमो न भवति। तेन 'युवुनः' इति न निर्दिष्टः। इतरेतरपक्षे तु 'युव्वोः' इति भवितव्यम्, तन्न भवति छान्दसत्वात्। छान्दसोऽत्र वर्णलोपो द्रष्टव्यः। यद्वा '*ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः*' (१।२।२७) इति पुंस्त्वनिर्देशात् समाहारस्य नपुंसकत्वं प्रायिकमिति द्रष्टव्यम्, तथा सत्यञ्जसा रूपं सिध्यति॥

प्रत्ययस्य आदयः प्रत्ययादयस्तेषाम्....षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—प्रत्ययादीनां फ्, ढ्, ख्, छ्, घ् इत्येतेषां स्थाने यथासङ्ख्यम् आयन्, एय्, ईन्, ईय्, इय् इत्येते आदेशा भवन्ति ॥ फादिवर्णेषूच्चारणार्थोऽकारोऽन्त्यवर्जम् ॥ *उदा०*—'फ' इत्येतस्य आयन् आदेशो भवति । *नडादिभ्यः फक्*—नाडायनः, चारायणः । ढस्य एय् आदेशो भवति । *स्त्रीभ्यो ढक्*—सौपर्णेयः, वैनतेयः । खस्य ईन् आदेशो भवति । *कुलात्खः*—आढ्यकुलीनः, श्रोत्रियकुलीनः । छस्य ईय् आदेशो भवति । *वृद्धाच्छः*—गार्गीयः, वात्सीयः । 'घ' इत्येतस्य इय् आदेशो भवति । *क्षत्राद् घः*—क्षत्रियः ॥

भाषार्थः—[*प्रत्ययादीनाम्*] प्रत्यय के आदि के जो फ्, ढ्, ख्, छ् तथा घ् उनको यथासङ्ख्य करके [*आयनेयीनीयियः*] आयन्, एय्, ईन्, ईय् तथा इय् आदेश होते हैं ॥ ये आदेश फ् इत्यादि हल् मात्र के स्थान में होते हैं, इनमें अकार उच्चारणार्थ है ॥

यहाँ से '*प्रत्ययस्यादेः*'[1] की अनुवृत्ति ७।१।५ तक जायेगी ॥

झोऽन्तः ॥७।१।३॥

झः ६।१॥ अन्तः १।१॥ *अनु०*—प्रत्ययस्यादेः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—प्रत्ययस्यादेरवयवस्य झस्य स्थाने अन्त इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—कुर्वन्ति, सुन्वन्ति, चिन्वन्ति । पतिभिः सह शयान्तै ॥ जरन्तः, वेशन्तः ॥

भाषार्थः—प्रत्यय के आद्यवयव [*झः*] झ् के स्थान में [*अन्तः*] अन्त् आदेश होता है ॥ 'अन्त' के त में अ उच्चारणार्थ है, वस्तुतः 'अन्त्' आदेश होता है ॥ कुर्वन्ति में *अत उत् सार्व०* (६।४।११०) से उत्व होता है । चिन्वन्ति, सुन्वन्ति की सिद्धि परि० १।१।५ में देखें । शयान्तै लेट् का रूप है, इसकी सिद्धि भाग १ परि० ३।४।९६ के गृह्यान्तै के समान जानें । जरन्तः, वेशन्तः में *जृविशिभ्यां झच्* (*उणा०* ३।१२६) से झच् प्रत्यय हुआ है, उस झ् को अन्त् आदेश हो जाता है ॥

यहाँ से '*झः*' की अनुवृत्ति ७।१।८ तक जायेगी ॥

---

१. अर्थवशात् वचनव्यत्ययेन 'प्रत्ययादेः' अनुवृत्तिर्द्रष्टव्या ।

अदभ्यस्तात् ॥७।१।४॥

अत् १।१॥ अभ्यस्तात् ५।१॥ अनु०—झः, प्रत्ययस्यादेः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अभ्यस्तादङ्गादुत्तरस्य प्रत्ययस्यादेरवयवस्य झकारस्य स्थाने 'अत्' इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—ददति, ददतु । दधति, दधतु । जक्षति, जक्षतु । जाग्रति, जाग्रतु ॥

भाषार्थः—[*अभ्यस्तात्*] अभ्यस्त अङ्ग से उत्तर प्रत्यय के आद्यवयव झकार के स्थान में [*अत्*] अत् आदेश हो जाता है ॥ ददति जक्षति आदि की सिद्धियाँ परि० ६।१।५ एवं ६।१।६ में देखें ॥

यहाँ से '*अत्*' की अनुवृत्ति ७।१।८ तक जायेगी ॥

आत्मनेपदेष्वनतः ॥७।१।५॥

आत्मनेपदेषु ७।३॥ अनतः ५।१॥ *स०*—न अत् अनत्, तस्मात् नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अत्, झः, प्रत्ययस्यादेः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अनकारान्तादङ्गादुत्तरस्य आत्मनेपदेषु वर्त्तमानस्य प्रत्ययस्यादेर्झकारस्य स्थाने 'अत्' इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—चिन्वते, चिन्वताम्, अचिन्वत । लुनते, लुनताम्, अलुनत । पुनते, पुनताम्, अपुनत ॥

भाषार्थः—[*अनतः*] अनकारान्त अङ्ग से उत्तर [*आत्मनेपदेषु*] आत्मनेपद में वर्त्तमान जो प्रत्यय का आदि झकार उसके स्थान में अत् आदेश होता है ॥ परि० १।१।५ के चिन्वन्ति के समान चिन्वते में सब कार्य जानें । केवल यहाँ आत्मनेपद के झ को अत् ए *टित आत्मने०* (३।४।७९) से एत्व होता है । चि नु अते = चिन्वते । 'चि नु' यह अनकारान्त अङ्ग है ही । चिन्वताम् यहाँ *आमेतः* (३।४।९०) से लोट् के 'ए' को आम् हुआ है, शेष झ् को अत् हो ही जायेगा । अचिन्वत लङ् का रूप है । लुनते आदि की सिद्धि परि० १।३।१४ के व्यतिलुनते के समान जानें ॥

शीङो रुट् ॥७।१।६॥

शीङः ५।१॥ रुट् १।१॥ अनु०—अत्, झः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—

शीङोऽङ्गादुत्तरस्य झकारादेशस्यातो रुट् आगमो भवति ॥ *उदा०*—शेरते, शेरताम्, अशेरत ॥

भाषार्थः—[*शीङः*] शीङ् अङ्ग से उत्तर झकार के स्थान में हुआ जो अत् आदेश उसको [*रुट्*] रुट् का आगम होता है ॥ शी शप् झ अदादिगणस्थ होने से शप् का लुक् होकर शी अत् अ रहा । *आद्यन्तौ टकितौ* (१।१।४५) से अत् के आदि को रुट् आगम तथा *शीङः सार्व-धातुके०* (७।४।२१) से शीङ् को गुण होकर शे रुट् अते = शेरते बन गया। इसी प्रकार शेरताम् (लोट्) अशेरत (लङ्) में जानें ॥

यहाँ से 'रुट्' की अनुवृत्ति ७।१।८ तक जायेगी ॥

वेत्तेर्विभाषा ॥७।१।७॥

वेत्तेः ५।१॥ विभाषा १।१॥ *अनु०*—रुट्, अत्, झः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—वेत्तेरङ्गादुत्तरस्य झादेशस्यातो विकल्पेन रुट् आगमो भवति ॥ *उदा०*—संविद्रते संविदते । संविद्रताम् संविदताम् । समविद्रत, समविदत ॥

भाषार्थः—[*वेत्तेः*] विद् अङ्ग से उत्तर झ के स्थान में हुआ जो अत् आदेश उसको [*विभाषा*] विकल्प से रुट् आगम होता है ॥ यह अप्राप्त विभाषा है । *समो गम्यृ०* (१।३।२९) सूत्रस्थ '*समो गमादिषु विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसंख्यानम्*' वार्त्तिक से संविद्रते आदि में आत्मने-पद तथा शप् का लुक् पूर्ववत् होगा ॥

बहुलं छन्दसि ॥७।१।८॥

बहुलम् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ *अनु०*—रुट्, अत्, झः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये झादेशस्यातो बहुलं रुडागमो भवति ॥ *उदा०*—देवा अदुह्र (मै० ४।२।१) गन्धर्वाप्सरसो अदुह्र (मै० ४।२।१३) । न च भवति—अदुहत । झादेशस्यातोऽन्यत्रापि बहुलवचनाद् भवति—अदृश्रमस्य केतवः (ऋ० १।५०।३) ॥

भाषार्थः—[*छन्दसि*] वेद विषय में झादेश अत् को [*बहुलम्*] बहुल करके रुट् का आगम होता है ॥ अट् दुह् शप् झ यहाँ शप् का लुक् एवं झ को अत् होकर 'अदुह् अत' रहा । रुट् आगम एवं *लोपस्त*

आत्मने० (७।१।४१) से 'त्' का लोप होकर अदुह् रुट् अ = अदुह र् अ = अतोगुणे पररूप होकर अदुह्र बना। बहुल कहने से रुट् अभाव होकर अदुहत बना एवं झादेश अत् से अन्यत्र भी बहुलवचन से रुट् होकर 'अदृश्रम्' लुङ् के उत्तम पुरुष के एकवचन में बना है। यहाँ इरितो वा (३।१।५७) से च्लि को अङ् होता है, इसी को रुट् का आगम हुआ है॥

अतो भिस ऐस् ॥७।१।९॥

अतः ५।१। भिसः ६।१॥ ऐस् १।१॥ अनु०—अङ्गस्य॥ अर्थः—अदन्तादङ्गादुत्तरस्य भिसः स्थाने ऐस् इत्ययमादेशो भवति॥ उदा०—वृक्षैः, प्लक्षैः॥

भाषार्थः—[*अतः*] अकारान्त अङ्ग से उत्तर [*भिसः*] भिस् के स्थान में [*ऐस्*] ऐस् आदेश होता है॥ परि० १।१।५४ के 'पुरुषैः' के समान सिद्धियाँ जानें॥

यहाँ से '*अतः*' की अनुवृत्ति ७।१।१७ एवं '*भिस ऐस्*' की अनुवृत्ति ७।१।११ तक जायेगी॥

बहुलं छन्दसि ॥७।१।१०॥

बहुलम् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ *अनु०*—अतो भिस ऐस्, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये अकारान्तादङ्गादुत्तरस्य बहुलं भिस ऐस् आदेशो भवति॥ *उदा०*—अत इत्युक्तम् अनतोपि भवति—नद्यैः। अकारान्तादपि न भवति—भद्रं कर्णेभिः (यजु० २५।२१)। देवेभिः सर्वेभिः प्रोक्तम्॥

भाषार्थः—[*छन्दसि*] वेद विषय में अकारान्त अङ्ग से उत्तर [*बहुलम्*] बहुल करके भिस् को ऐस् आदेश होता है॥ बहुल कहने से अनकारान्त अङ्ग से उत्तर भी भिस् को ऐस् हो जाता है, एवं अकारान्त कर्ण देव आदियों से उत्तर भी नहीं होता॥

नेदमदसोरकोः ॥७।१।११॥

न अ०॥ इदमदसोः ६।२॥ अकोः ६।२॥ *स०*—इदम् च अदस् च इदमदसौ तयोः·····इतरेतरद्वन्द्वः। अविद्यमानः ककारो ययोस्तौ

अकौ तयोः······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—भिस ऐस्, अङ्गस्य *अर्थः*—इदम् अदस् इत्येतयोरककारयोर्भिस ऐस् न भवति ॥ *उदा०*- एभिः, अमीभिः ॥

भाषार्थः—[*अकोः*] ककार रहित [*इदमदसोः*] इदम् अदस् के भि को ऐस् [*न*] नहीं होता ॥ एभिः की सिद्धि में भाग १ परि० १।१।२ के आभ्याम् के अनुसार सब कार्य होकर 'अ भिस्' रहा। यहाँ अदन्त अङ्ग से उत्तर भिस् को ऐस् प्राप्त था निषेध हो गया, तो *बहुवचने झल्येत्* (७।३।१०३) से अ को एत्व होकर एभिः बन गया। अमीभिः की सिद्धि परि० १।१।१२ में प्रदर्शित अमी के समान जानें, केवल यहाँ भिस् परे है एवं वहाँ जस् परे था, यही भेद है। *बहुवचने०* से जो यहाँ एत्व हुआ था, उसी को ईकारादेश (८।२।८१) होकर अमीभिः बना है ॥

टाङसिङसामिनात्स्याः ॥७।१।१२॥

टाङसिङसाम् ६।३॥ इनात्स्याः १।३॥ *स०*—टाश्च ङसिश्च ङश्च टाङसिङसस्तेषाम्·····। इन् च आत् च स्यश्च इनात्स्याः। उभयत्रे-तरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अतः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अदन्तादङ्गादुत्तरेषां टा, ङसि, ङस् इत्येतेषां स्थाने यथासङ्ख्यं इन, आत्, स्य इत्येते आदेशा भवन्ति ॥ *उदा०*—टा-वृक्षेण, प्लक्षेण। ङसि-वृक्षात्, प्लक्षात्। ङस्-वृक्षस्य, प्लक्षस्य ॥

भाषार्थः—अदन्त अङ्ग से उत्तर [*टाङसिङसाम्*] टा, ङसि, ङस् के स्थान में क्रमशः [*इनात्स्याः*] इन्, आत्, स्य आदेश होते हैं ॥ वृक्षेण प्लक्षेण की सिद्धि परि० १।१।५५ के केन के समान जानें, केवल यहाँ *अट्कुप्वाङ्०* (८।४।२) से णत्व करना ही विशेष है। वृक्ष आत् = सवर्ण दीर्घ होकर वृक्षात् बना ॥

ङेर्यः ॥७।१।१३॥

ङेः ६।१॥ यः १।१॥ *अनु०*—अतः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अकारान्ता-दङ्गादुत्तरस्य ङे इत्येतस्य स्थाने य इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*— वृक्षाय, प्लक्षाय ॥

भाषार्थः—अकारान्त अङ्ग से उत्तर [ङेः] 'ङे' के स्थान में [यः] 'य' आदेश होता है ॥ सिद्धियाँ परि० १।१।५५ के पुरुषाय के समान जानें ॥

यहाँ से 'ङेः' की अनुवृत्ति ७।१।१४ तक जायेगी ॥

सर्वनाम्नः स्मै ॥७।१।१४॥

सर्वनाम्नः ५।१॥ स्मै १।१॥ *अनु०*—ङेः, अतः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अकारान्तात् सर्वनाम्न उत्तरस्य ङेः स्थाने स्मै इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—सर्वस्मै, विश्वस्मै, यस्मै, कस्मै, तस्मै ॥

भाषार्थः—अकारान्त [*सर्वनाम्नः*] सर्वनाम अङ्ग से उत्तर 'ङे' के स्थान में [*स्मै*] स्मै आदेश होता है ॥ किम् शब्द को *किमः कः* (७।२।१०३) से 'क' आदेश तथा तद् यद् को *त्यदादीनामः* (७।२।१०२) से अत्त्व कर लेने पर अदन्त अङ्ग मिल जाता है, अतः स्मै आदेश हो गया, शेष सब पूववत् है। *सर्वादीनि सर्व०* (१।१।२६) से सर्वनाम संज्ञा होती है ॥

यहाँ से '*सर्वनाम्नः*' की अनुवृत्ति ७।१।१७ तक जायेगी ॥

ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ ॥७।१।१५॥

ङसिङ्योः ६।२॥ स्मात्स्मिनौ १।२॥ *स०*—ङसिश्च ङिश्च ङसिङी तयोः⋯। स्मात् च स्मिन् च स्मात्स्मिनौ, उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सर्वनाम्नः, अतः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अकारान्तात् सर्वनाम्न उत्तरयोः ङसि ङि इत्येतयोः स्थाने यथासङ्ख्यं स्मात् स्मिन् इत्येतावादेशौ भवतः ॥ *उदा०*—सर्वस्मात्, विश्वस्मात्, यस्मात्, तस्मात्, कस्मात्। ङि—सर्वस्मिन्, विश्वस्मिन्, यस्मिन् , तस्मिन्, कस्मिन् ॥

भाषार्थः—अकारान्त सर्वनाम अङ्ग से उत्तर [*ङसिङ्योः*] ङसि तथा ङि के स्थान में क्रमशः [*स्मात्स्मिनौ*] स्मात् तथा स्मिन् आदेश होते हैं ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।१।१६ तक जायेगी ॥

पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा ॥७।१।१६॥

पूर्वादिभ्यः ५।३॥ नवभ्यः ५।३॥ वा अ० ॥ *स०*—पूर्व आदिर्येषां ते

पूर्वादयस्तेभ्यः ...... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ, सर्वनाम्नः, अतः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—पूर्वादिभ्यो नवभ्यः सर्वनाम्न उत्तरयोर्ङसिङ्योः स्थाने स्मात् स्मिन् इत्येतावादेशौ विकल्पेन भवतः ॥ *उदा०*—पूर्वस्मात्, पूर्वस्मिन् । पक्षे—पूर्वात्, पूर्वे । एवमग्रे—परस्मात्, परस्मिन् । परात्, परे । अवर—अवरस्मात्, अवरस्मिन् । अवरात्, अवरे । दक्षिण—दक्षिणस्मात्, दक्षिणस्मिन् । दक्षिणात्, दक्षिणे । उत्तर—उत्तरस्मात्, उत्तरस्मिन् । उत्तरात्, उत्तरे । अपर—अपरस्मात्, अपरस्मिन् । अपरात्, अपरे । अधर—अधरस्मात्, अधरस्मिन् । अधरात्, अधरे । स्वस्मात्, स्वस्मिन् । स्वात्, स्वे । अन्तर—अन्तरस्मात्, अन्तरस्मिन् । अन्तरात्, अन्तरे ॥

भाषार्थः—[*पूर्वादिभ्यः*] पूर्व है आदि में जिनके ऐसे (गणपठित) [*नवभ्यः*] नौ ९ सर्वनामों से उत्तर ङसि तथा ङि के स्थान में क्रमशः स्मात् तथा स्मिन् आदेश [*वा*] विकल्प से होते हैं ॥ पक्ष में जब स्मात् आदेश नहीं होगा तो *टाङसि०* (७।१।१२) से 'आत्' आदेश होकर पूर्वात् आदि रूप बनेंगे, तथा जब स्मिन् आदेश नहीं हुआ तो *आद् गुणः* (६।१।८४) से गुण एकादेश होकर पूर्वे आदि रूप बन गये ॥

जसः शी ॥७।१।१७॥

जसः ६।१॥ शी लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ *अनु०*—सर्वनाम्नः, अतः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अकारान्तात् सर्वनाम्नोऽङ्गाद् उत्तरस्य जसः स्थाने शी इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—सर्वे, विश्वे, ये, के, ते ॥

भाषार्थः—अकारान्त सर्वनाम अङ्ग से उत्तर [*जसः*] जस् के स्थान में [*शी*] 'शी' आदेश होता है ॥ सर्वे आदि की सिद्धियाँ परि० १।१।२६ में देखें । पूर्ववत् ये, के, ते में 'क' आदेश एवं अत्व कर लेने पर अदन्त अङ्ग हो जाता है ॥

यहाँ से '*शी*' की अनुवृत्ति ७।१।१९ तक जायेगी ॥

औङ आपः ॥७।१।१८॥

औङः ६।१॥ आपः ५।१॥ *अनु०*—शी, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—आबन्तादङ्गादुत्तरस्य औङः स्थाने शी इत्ययमादेशो भवति ॥ औङ् इति औ, औट्

इत्येतयोः पूर्वाचार्याणां संज्ञा ॥ उदा०—खट्वे तिष्ठतः, खट्वे पश्य। बहुराजे, कारीषगन्ध्ये ॥

भाषार्थः—[*आपः*] आबन्त अङ्ग से उत्तर [*औङः*] औङ् = औ तथा औट् के स्थान में शी आदेश होता है ॥ औङ् यह औ तथा औट् की पूर्वाचार्यों की संज्ञा है ॥ खट्वे आदि की सिद्धि भाग १ परि० १।१।११ के माले के समान जानें ॥

यहाँ से '*औङः*' की अनुवृत्ति ७।१।१६ तक जायेगी ॥

नपुंसकाच्च ॥७।१।१९॥

नपुंसकात् ५।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—औङः, शी, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—नपुंसकादङ्गादुत्तरस्य औङः स्थाने शी इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—कुण्डे तिष्ठतः, कुण्डे पश्य ॥

भाषार्थः—[*नपुंसकात्*] नपुंसक अङ्ग से उत्तर [*च*] भी औङ् (औ, औट्) के स्थान में शी आदेश होता है ॥ कुण्ड औ = कुण्ड शी गुण एकादेश (६।१।८४) होकर कुण्डे बना ॥

यहाँ से '*नपुंसकात्*' की अनुवृत्ति ७।१।२० तक जायेगी ॥

जश्शसोः शिः ॥७।१।२०॥

जश्शसोः ६।२॥ शिः १।१॥ *स०*—जश् च शश्च जश्शसौ, तयोः··· इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—नपुंसकात्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—नपुंसकादङ्गादुत्तरयोर्जश्शसोः स्थाने शि इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—कुण्डानि तिष्ठन्ति, कुण्डानि पश्य, दधीनि, मधूनि, त्रपूणि, जतूनि ॥

भाषार्थः—नपुंसक लिङ्ग वाले अङ्ग से उत्तर [*जश्शसोः*] जस् और शस् के स्थान में [*शिः*] शि आदेश होता है ॥ सिद्धियाँ भाग १ परि० १।१।४१ में देखें ॥

यहाँ से '*जश्शसोः*' की अनुवृत्ति ७।१।२२ तक जायेगी ॥

अष्टाभ्य औश् ॥७।१।२१॥

अष्टाभ्यः ५।३॥ औश् १।१॥ *अनु०*—जश्शसोः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—

अष्टाभ्य उत्तरयोर्जश्शसोः स्थाने 'औश्' इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*— अष्टौ तिष्ठन्ति, अष्टौ पश्य ॥

भाषार्थः—आत्त्व किये हुये [*अष्टाभ्यः*] अष्टन् शब्द से उत्तर जस् और शस् के स्थान में [*औश्*] औश् आदेश होता है ॥ सूत्र में 'अष्टाभ्यः' ऐसा दीर्घ निर्देश होने से *अष्टन आ विभक्तौ* (७।२।८४) से जहाँ आत्त्व होकर अष्टन् को दीर्घ अष्टा हो जाता है उस दीर्घ किये हुये अष्टन् से उत्तर ही जस् शस् को औश् होता है ऐसा ज्ञापित होता है ॥ अष्टन् जस् = अन्त्य अल् को *अष्टन आ०* (७।२।८४) से आत्त्व होकर अष्टा जस् = अष्टा औ = अष्टौ बन गया ॥

षड्भ्यो लुक् ॥७।१।२२॥

षड्भ्यः ५।३॥ लुक् १।१॥ *अनु०*—जश्शसोः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*— षट्संज्ञकेभ्य उत्तरयोर्जश्शसोर्लुग् भवति ॥ *उदा०*—षट् तिष्ठन्ति, षट् पश्य, पञ्च, सप्त, नव, दश ॥

भाषार्थः—[*षड्भ्यः*] षट्संज्ञक से उत्तर जस् शस् का [*लुक्*] लुक् होता है ॥ सिद्धियाँ भाग १ परि० १।१।२३ में देखें ॥

यहाँ से '*लुक्*' की अनुवृत्ति ७।१।२३ तक जायेगी ॥

स्वमोर्नपुंसकात् ॥७।१।२३॥

स्वमोः ६।२॥ नपुंसकात् ५।१॥ *स०*—सुश्च अम् च स्वमौ, तयोः''' इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—लुक्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—नपुंसकादङ्गादुत्तरयोः सु अम् इत्येतयोर्लुक् भवति ॥ *उदा०*—दधि तिष्ठति, दधि पश्य । मधु तिष्ठति, मधु पश्य । त्रपु, जतु ॥

भाषार्थः—[*नपुंसकात्*] नपुंसक लिङ्ग वाले अङ्ग से उत्तर [*स्वमोः*] सु और अम् (द्वितीया एकवचन) का लुक् होता है ॥

यहाँ से '*स्वमोः*' की अनुवृत्ति ७।१।२६ तक तथा '*नपुंसकात्*' की अनुवृत्ति ७।१।२४ तक जायेगी ॥

अतोऽम् ॥७।१।२४॥

अतः ५।१॥ अम् १।१॥ *अनु०*—स्वमोर्नपुंसकात्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—

अदन्तान्नपुंसकादङ्गादुत्तरयोः स्वमोः स्थाने 'अम्' इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—कुण्डं तिष्ठति, कुण्डं पश्य, वनम् , पीठम् ॥

भाषार्थः—[*अतः*] अकारान्त नपुंसक लिङ्ग वाले अङ्ग से उत्तर सु और अम् के स्थान में [*अम्*] अम् आदेश होता है ॥ अम् होकर *अमि पूर्वः* (६।१।१०३) से पूर्वरूप एकादेश उदाहरणों में हो जायेगा ॥

अद्ड् डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः ॥७।१।२५॥

अद्ड् १।१॥ डतरादिभ्यः ५।३॥ पञ्चभ्यः ५।३॥ *स०*—डतर आदिर्येषां ते डतरादयस्तेभ्यः''' बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—स्वमोः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः परयोः स्वमोः 'अद्ड्' इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—कतरत्तिष्ठति, कतरत्पश्य । कतमत् तिष्ठति, कतमत्पश्य । इतरत् , अन्यतरत् , अन्यत् ॥

भाषार्थः—[*डतरादिभ्यः*] डतर आदि में है जिनके ऐसे सर्वादि गण पठित [*पञ्चभ्यः*] पाँच शब्दों से परे सु तथा अम् को [*अद्ड्*] अद्ड् आदेश होता है ॥ कतर सु, कतर अद्ड् = डित् होने से *डित्सामर्थ्यादभस्या०* (वा० ६।४।१४३) से टिलोप होकर कतर् अद् रहा । *वावसाने* (८।४।५५) से चर्त्व होकर कतरत् बन गया ॥

यहाँ से '*अद्ड्*' की अनुवृत्ति ७।१।२६ तक जायेगी ॥

नेतराच्छन्दसि ॥७।१।२६॥

न अ० ॥ इतरात् ५।१॥ छन्दसि ७।१॥ *अनु०*—अद्ड् , स्वमोः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—इतरशब्दादुत्तरयोः स्वमोः स्थाने 'अद्ड्' इत्ययमादेशो न भवति छन्दसि विषये ॥ *उदा०*—इतरमितरमण्डमजायत । वार्त्रघ्नमितरम् ॥

भाषार्थः—[*इतरात्*] इतर शब्द से उत्तर सु तथा अम् के स्थान में [*छन्दसि*] वेद विषय में अद्ड् आदेश [*न*] नहीं होता है ॥ पूर्व सूत्र से प्राप्ति थी, वेद विषय में निषेध कर दिया तो *अतोऽम्* (७।१।२४) से अम् आदेश ही हो गया ॥

युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् ॥७।१।२७॥

युष्मदस्मद्भ्यम् ५।२॥ ङसः ६।१॥ अश् १।१॥ *स०*—युष्म० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—युष्मद् अस्मद् इत्ये-

ताभ्यामङ्गाभ्यामुत्तरस्य ङसः स्थाने 'अश्' इत्ययमादेशो भवति॥ उदा०—तव स्वम्, मम स्वम्॥

भाषार्थः—[*युष्मदस्मद्भ्याम्*] युष्मद् तथा अस्मद् अङ्ग से उत्तर [*ङसः*] ङस् के स्थान में [*अश्*] अश् आदेश होता है॥ तव मम की सिद्धि भाग १ परि० २।२।१६ पृ० ८४४ में देखें॥ युष्मद् अस्मद् के मपर्यन्त को तव मम आदेश ७।२।९६ से होकर शेष बचे 'अद्' भाग का लोप *शेषे लोपः* (७।२।९०) से हो जाता है, ऐसा जानें॥

यहाँ से '*युष्मदस्मद्भ्याम्*' की अनुवृत्ति ७।१।३३ तक जायेगी॥

ङे प्रथमयोरम् ॥७।१।२८॥

ङे, लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः॥ प्रथमयोः ६।२॥ अम् १।१॥ *अनु०*—युष्मदस्मद्भ्याम्, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—युष्मदस्मद्भ्यामङ्गाभ्यामुत्तरस्य ङे इत्येतस्य प्रथमाद्वितीययोश्च विभक्त्योः स्थाने 'अम्' इत्ययमादेशो भवति॥ *उदा०*—ङे—तुभ्यं दीयते, मह्यं दीयते। प्रथमयोः—त्वम् युवाम् यूयम्, त्वाम् युवाम्। अहम् आवाम् वयम्, माम् आवाम्॥

भाषार्थः—युष्मद् तथा अस्मद् अङ्ग से उत्तर [*ङे*] ङे विभक्ति के स्थान में तथा [*प्रथमयोः*] प्रथमा एवं द्वितीया विभक्ति के स्थान में [*अम्*] अम् आदेश होता है॥ 'प्रथमयोः' इस द्विवचन निर्देश से प्रथमा एवं द्वितीया विभक्ति ली गई है। प्रथमा च प्रथमा च ते प्रथमे तयोः प्रथमयोः ऐसा एकशेष (१।२।६४) करके निर्देश है॥ द्वितीया बहुवचन में इस सूत्र का अपवादस्वरूप आगे नकारादेश कहा है, अतः यहाँ उसका उदाहरण नहीं दिया॥

शसो न ॥७।१।२९॥

शसः ६।१॥ न लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः॥ *अनु०*—युष्मदस्मद्भ्याम्, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—युष्मदस्मद्भ्यामुत्तरस्य शसो 'न्' इत्ययमादेशो भवति॥ *उदा०*—युष्मान् ब्राह्मणान्, अस्मान् ब्राह्मणान्। युष्मान् ब्राह्मणीः, अस्मान् ब्राह्मणीः। युष्मान् कुलानि, अस्मान् कुलानि॥

भाषार्थः—युष्मद् अस्मद् अङ्ग से उत्तर [*शसः*] शस् के स्थान में [*न*] नकारादेश होता है॥ 'न' में अ उच्चारणार्थ है, वस्तुतः 'न्'

आदेश होता है ॥ शस् परे युष्मद् अस्मद् के अन्त्य अल् (१।१।५१) को *द्वितीयायां च* (७।२।८७) से आत्व तथा प्रकृत सूत्र से *आदेःपरस्य* (१।१।५३) लगकर शस् के आदि को न् होकर युष्म आ न् स्, अस्म आ न् स् रहा। *संयोगान्तस्य लोपः* (८।२।२३) से स् का लोप होकर युष्मान् अस्मान् बन गया ॥

भ्यसोभ्यम् ॥७।१।३०॥

भ्यसः ६।१॥ भ्यम्[1] १।१ (अभ्यम् इत्यपि पदच्छेदः सम्भवति) ॥ *अनु०*—युष्मदस्मद्भ्याम्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—युष्मदस्मद्भ्यामुत्तरस्य भ्यसः स्थाने भ्यम् (अभ्यम् इति वा) आदेशो भवति ॥ *उदा०*—युष्मभ्यं दीयते। अस्मभ्यं दीयते ॥

भाषार्थः—युष्मद् अस्मद् अङ्ग से उत्तर [*भ्यसः*] भ्यस् के स्थान में [*भ्यम्*] भ्यम् अथवा अभ्यम् आदेश होता है ॥ 'युष्मद् भ्यस्, अस्मद् भ्यस्, यहाँ प्रकृतसूत्र से भ्यम् आदेश एवं *शेषे लोपः* (७।२।६०) से अन्त्य द् (१।१।५१) का लोप होकर युष्मभ्यम् अस्मभ्यम् बन गया। अथवा अभ्यम् आदेश एवं *शेषे लोपः* से टि (अद् भाग का) लोप करके युष्म् अभ्यम् = युष्मभ्यम् अस्मभ्यम् बन गया ॥

यहाँ से '*भ्यसः*' की अनुवृत्ति ७।१।३१ तक जायेगी ॥

पञ्चम्या अत् ॥७।१।३१॥

पञ्चम्याः ६।१॥ अत् १।१॥ *अनु०*—भ्यसः, युष्मदस्मद्भ्याम्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—युष्मदस्मद्भ्यामुत्तरस्य पञ्चम्या भ्यसः स्थाने 'अत्' इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—युष्मद् गच्छन्ति। अस्मद् गच्छन्ति ॥

---

१. 'भ्यम्' अथवा 'अभ्यम्' दोनों प्रकार से ही यहाँ पदच्छेद हो सकता है। ये दोनों पक्ष ही भाष्य में हैं, एवं भाष्याभिमत हैं। अर्थात् यदि 'भ्यम्' आदेश मानेंगे तो *शेषे लोपः* (७।२।६०) से युष्मद् अस्मद् के टि का लोप नहीं, किन्तु अन्त्य द् का लोप इष्टसिद्ध्यर्थ मानना पड़ेगा एवं यदि 'अभ्यम्' आदेश मानें तो *शेष लोपः* से टिलोप होता है ऐसा मानना होगा, अन्त्य का नहीं। इन दोनों प्रकारों में जो भी दोष आते हैं, उनका परिहार भाष्य में कर दिया गया है। विस्तार के लिये वहीं देखें ॥

भाषार्थः—युष्मद् अस्मद् अङ्ग से उत्तर [*पञ्चम्याः*] पञ्चमी विभक्ति के भ्यस् के स्थान में [*अत्*] अत् आदेश होता है ॥ युष्मद् भ्यस् यहाँ *शेषे लोपः* से टिलोप एवं अत् आदेश हो कर युष्मत् अस्मत् बन गया ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।१।३२ तक जायेगी ॥

एकवचनस्य च ॥७।१।३२॥

एकवचनस्य ६।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—पञ्चम्या अत्, युष्मदस्मद्भ्याम्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—युष्मदस्मद्भ्यामुत्तरस्य पञ्चम्या एकवचनस्य च स्थाने अत् इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—त्वत्, मत् ॥

भाषार्थः—युष्मद् अस्मद् अङ्ग से उत्तर पञ्चमी [*एकवचनस्य*] एकवचन (ङसि) के स्थान में [*च*] भी अत् आदेश होता है ॥ युष्मद् अस्मद् के मपर्यन्त के स्थान में *त्वमावेकवचने* (७।२।९७) से त्व म आदेश एवं पूर्ववत् टिलोप (अद् भाग) होकर त्व अत् म अत् रहा। *अतो गुणे* (६।१।९४) से पररूप होकर त्वत् मत् बना ॥

साम आकम् ॥७।१।३३॥

सामः ६।१॥ आकम् १।१॥ *अनु०*—युष्मदस्मद्भ्याम्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—युष्मदस्मद्भ्यामुत्तरस्य सामः स्थाने आकम् इत्ययमादेशो भवति ॥ साम इत्यनेन षष्ठीबहुवचनमागतसुट्कं परिगृह्यते ॥ *उदा०*—युष्माकम्, अस्माकम् ॥

भाषार्थः—युष्मद् तथा अस्मद् अङ्ग से उत्तर [*सामः*] साम् के स्थान में [*आकम्*] आकम् आदेश होता है ॥ 'साम्' से सुट् सहित जो षष्ठी बहुवचन आम् है उसका ग्रहण है, अर्थात् *आमि सर्वनाम्नः सुट्* (७।१।५२) से आम् को सुट् का आगम होकर जो साम् रूप बनता है उसके स्थान में प्रकृत सूत्र से आकम् आदेश हो जाता है। पूर्ववत् अद् भाग का लोप होकर युष्माकम् अस्माकम् बन गया ॥

आत औ णलः ॥७।१।३४॥

आतः ५।१॥ औ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ णलः ६।१॥ *अनु०*—

अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—आकारान्तादङ्गादुत्तरस्य णलः स्थाने औकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—पपौ, तस्थौ, जग्लौ, मम्लौ ॥

भाषार्थः—[*आतः*] आकारान्त अङ्ग से उत्तर [*णलः*] णल् के स्थान में [*औ*] औकारादेश हो जाता है ॥ 'पा णल्' यहाँ प्रथम प्रकृत सूत्र से णल् के स्थान में औ होकर पा औ रहा, तब *वृद्धिरेचि* (६।१।८५) से वृद्धि एकादेश होकर 'पौ' बन गया पश्चात् *द्विर्वचनेऽचि* (१।१।५८) से रूपातिदेश स्थानिवत् होकर पा पौ द्वित्व हुआ, ततः *ह्रस्वः* (७।४।५९) से ह्रस्व होकर पपौ बन गया। यही क्रम अन्यों में भी जानें। तस्थौ में *शर्पूर्वाः खयः* (७।४।६१) से अभ्यास का खय् शेष रहता है। जग्लौ में *कुहोश्चुः* (७।४।६२) से अभ्यास को चुत्व होता है ॥

तुह्योस्तातङाशिष्यन्यतरस्याम् ॥७।१।३५॥

तुह्योः ६।२॥ तातङ् १।१॥ आशिषि ७।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *स०*—तुह्योः इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—आशिषि विषये तु हि इत्येतयोः तातङ् आदेशो भवति, विकल्पेन ॥ *उदा०*—जीवताद् भवान्, जीवतात् त्वम्। पक्षे—जीवतु भवान्, जीव त्वम् ॥

भाषार्थः—[*आशिषि*] आशीर्वाद विषय में [*तुह्योः*] तु और हि के स्थान में [*तातङ्*] तातङ् आदेश होता है [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प करके ॥ *एरुः* (३।४।८६) तथा *सेर्ह्यपिच्च* (३।४।८७) लगकर जो 'तु हि' बने थे उनको ही यहाँ तातङ् आदेश होगा, तातङ् में ङित्करण गुण वृद्धि के प्रतिषेध के लिये चरितार्थ होने से *'ङिच्च'* (१।१।५२) से अन्तादेश न होकर *अनेकाल्०* (१।१।५४) से सबके स्थान में आदेश हो जाता है। पक्ष में नहीं होगा तो जीवतु, जीव बनेगा। जीव में *अतो हेः* (६।४।१०५) से हि का लुक् होता है ॥

विदेः शतुर्वसुः ॥७।१।३६॥

विदेः ५।१॥ शतुः ६।१॥ वसुः १।१॥ *अनु०*—अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—विद ज्ञाने इत्येतस्माद्धातोरुत्तरस्य शतुर्वसुरादेशो भवति ॥ *उदा०*—विद्वान्, विद्वांसौ, विद्वांसः ॥

भाषार्थः—[*विदेः*] विद ज्ञाने धातु से उत्तर [*शतुः*] शतृ के स्थान

से [*वसुः*] वसु आदेश होता है ॥ 'विद् शतृ' यहाँ शतृ को वसु आदेश होकर एवं अन्य नुमागमादि कार्य परि० १।१।५ के चितवान् के समान होकर विद्वान् बन गया। आगे विद्वान्स् औ = विद्वान्सौ, *नश्चापदान्तस्य०* (८।३।२४) से अनुस्वार होकर विद्वांसौ विद्वांसः बन गये ॥

समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् ॥७।१।३७॥

समासे ७।१॥ अनञ्पूर्वे ७।१ ॥ क्त्वः ६।१॥ ल्यप् १।१॥ *स०*—न नञ् अनञ्, नञ्तत्पुरुषः । अनञ् पूर्वो (अवयवो) यस्मिन् सोऽनञ्पूर्वः तस्मिन् ''बहुव्रीहिः ॥ *अर्थः*—अनञ्पूर्वे समासे क्त्वा इत्येतस्य स्थाने ल्यप् इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—प्रकृत्य, प्रहृत्य, पार्श्वतःकृत्य, नानाकृत्य, द्विधाकृत्य ॥

भाषार्थः—[*अनञ्पूर्वे*] नञ् भिन्न पूर्व (अवयव) है जिसमें ऐसे [*समासे*] समास में [*क्त्वः*] क्त्वा के स्थान में [*ल्यप्*] ल्यप् आदेश होता है ॥ प्रकृत्य प्रहृत्य की सिद्धि भाग १ परि० १।१।५५ में देखें । पार्श्वतःकृत्य में *स्वाङ्गे तस्०* (३।४।६१) से क्त्वा प्रत्यय होता है, तथा नानाकृत्य द्विधाकृत्य में *नाधार्थप्रत्यये०* (३।४।६२) से क्त्वा होगा, एवं *क्त्वा च* (२।२।२२) से यहाँ समास भी जानें ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।१।३८ तक जायेगी ॥

क्त्वापि च्छन्दसि ॥७।१।३८॥

क्त्वा लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ अपि अ० ॥ छन्दसि ७।१॥ *अनु०*—समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् ॥ *अर्थः*—अनञ्पूर्वे समासे क्त्वा इत्येतस्य स्थाने क्त्वा इत्ययमादेशो भवति, ल्यबपि भवति छन्दसि विषये ॥ *उदा०*—कृष्णं वासो यजमानं परिधापयित्वा । प्रत्यञ्चमर्कं प्रत्यर्पयित्वा । ल्यबपि भवति—उद्धृत्य जुहोति ॥

भाषार्थः—अनञ्पूर्व वाले समास में क्त्वा के स्थान में [*क्त्वा*] क्त्वा आदेश होता है तथा ल्यप् आदेश [*अपि*] भी [*छन्दसि*] वेद विषय में होता है ॥ धा तथा ऋ धातु से *हेतुमति च* (३।१।२६) से णिच् एवं *अर्त्तिह्री०* (७।३।३६) से पुक् करके धापि = धापय् इत्वा = धापयित्वा अर्पयित्वा = प्रत्यर्पयित्वा बना है। उत्हृत्य = यहाँ *झयो होऽन्य०* (८।४।६१) से ह् को क् होकर उद्धृत्य बना है ॥

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति ७।१।५० तक जायेगी ॥

सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः ॥७।१।३९॥

सुपाम् ६।३॥ सुलु······जालः १।३॥ स०—सुश्च लुक् च पूर्वसवर्णश्च आश्च आत् च शेश्च याश्च डाश्च ड्याश्च याच् च आल् च, सुलुक्······जालः, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—छन्दसि ॥ अर्थः—छन्दसि विषये सुपां स्थाने सु, लुक्, पूर्वसवर्ण, आ, आत्, शे, या, डा, ड्या, याच्, आल् इत्येते आदेशा भवन्ति ॥ उदा०—सु—अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थाः (ऋ० १०।८५।२३) पन्थान इति प्राप्ते । लुक्—आर्द्रे चर्मन् (तै० ७।५।९।३), रोहिते चर्मन् (काठ० २४।२) चर्मणीति प्राप्ते । हविर्द्धाने यत्सुन्वन्ति तत्सामिधेनीरन्वाह, यस्मिन् सुन्वन्ति तस्मिन् सामिधेनीरिति प्राप्ते । पूर्वसवर्णः—धीती मती सुष्टुती । धीत्या मत्या सुष्टुत्या इति प्राप्ते । आ—उभा यन्तारौ । उभौ यन्तारौ इति प्राप्ते । आत्—न ताद् ब्राह्मणाद् निन्दामि । तान् ब्राह्मणान् इति प्राप्ते । शे—न युष्मे वाजबन्धवः (ऋ० ८।६८।१९) अस्मे इन्द्राबृहस्पती (ऋ० ४।४९।४) यूयं वयमिति प्राप्ते । या—उरुया धृष्णुया, उरुणा धृष्णुनेति प्राप्ते । डा—नाभा पृथिव्याम् (ऋ० १।१४३।४) नाभौ पृथिव्यामिति प्राप्ते । ड्या—अनुष्ट्या च्यावयतात् । अनुष्टुभेति प्राप्ते । याच्—साधुया (ऋ० १।४६।११) साधु इति (नपुंसकलिङ्गे) प्राप्ते । आल्—वसन्ता यजेत । वसन्ते इति प्राप्ते ॥

भाषार्थः—[*सुपाम्*] सुपों के स्थान में [*सुलुक्······जालः*] सु, लुक्, पूर्वसवर्ण, आ, आत्, शे, या, डा, ड्या, याच्, आल् ये आदेश होते हैं, वेद विषय में ॥ पन्थाः यहाँ जस् सुप् के स्थान में सु आदेश हो गया है, अन्यथा बहुवचन में पन्थानः प्राप्त था । पन्थाः की सिद्धि परि० १।१।५५ में देखें ॥ चर्मन्, यद्, तद् में सप्तमी एकवचन ङि का लुक् हुआ है । धीती मती सुष्टुती में धीति मति सुष्टुति से परे तृतीया एकवचन 'टा' को पूर्वसवर्ण आदेश अर्थात् पूर्व जैसे इकार था वैसे टा का भी 'इ' हो गया पश्चात् दोनों इकारों को सवर्णदीर्घ (६।१।९७) होकर धीती आदि बन गया ॥ उभ शब्द से परे 'औ' को 'आ' आदेश तथा *प्रथमयोः०* (६।१।९८) से पूर्वसवर्ण एकादेश होकर 'उभा' बनता है ॥ ताद्

ब्राह्मणात् में शस्[1] के स्थान में आत् हुआ है ॥ युष्मे यहाँ सप्तमी बहुवचन सु को शे आदेश हुआ है। 'अस्मे' की सिद्धि परि० १।१।१३ में देखें, तद्वत् यह भी है ॥ उरुया धृष्णुया यहाँ 'टा' के स्थान में याच् हुआ है ॥ नाभि शब्द से परे ङि को 'डा' आदेश होकर नाभा बनता है। डित् होने से टि भाग का लोप होता है ॥ अनुष्टुप् से परे 'टा' को ड्या आदेश एवं टिलोप होकर अनुष्ट्या बनता है ॥ साधु शब्द से परे प्रथमा एकवचन सु को याच् आदेश होकर साधुया बनता है ॥ वसन्ता यहाँ ङि के स्थान में आल् आदेश हुआ है ॥

अमो मश् ॥७।१।४०॥

अमः ६।१॥ मश् १।१॥ *अनु०*—छन्दसि ॥ *अर्थः*—अमः स्थाने मश् आदेशो भवति छन्दसि विषये। 'अम्' इति मिबादेशो गृह्यते ॥ *उदा०*—वधीं वृत्रम् (ऋ० १।१६५।८) क्रमीं वृक्षस्य शाखाम् ॥

भाषार्थः—[*अमः*] अम् के स्थान में [*मश्*] मश् आदेश होता है वेद विषय में ॥ *तस्थस्थ०* (३।४।१०१) से जो मिप् के स्थान में अम् आदेश होता है वह यहाँ लिया गया है ॥ मश् में अकार उच्चारणार्थ है, तथा शित्-करण सर्वादेशार्थ (१।१।५४) है ॥ हन् धातु से लुङ् में 'वधीम्' बना है। *बहुलं छन्दस्य०* (६।४।७५) से अट् आगम का अभाव यहाँ हुआ है, तथा *लुङि च* (२।४।४३) से हन् को वध आदेश होता है। शेष कार्य परि० १।१।१ के अलावीत् के समान होकर वध् इ ई अम् रहा। अम् को मश् होकर वधी म् = वधीम् बन गया। इसी प्रकार क्रमु धातु से 'क्रमीम्' बना है, केवल यहाँ *स्नुक्रमोर०* (७।२।३६) से इट् आगम ही विशेष है ॥

लोपस्त आत्मनेपदेषु ॥७।१।४१॥

लोपः १।१॥ तः ६।१॥ आत्मनेपदेषु ७।३॥ *अनु०*—छन्दसि ॥ *अर्थः*—आत्मनेपदेषु यस्तकारस्तस्य छन्दसि विषये लोपो भवति ॥ *उदा०*—देवा अदुह, गन्धर्वाप्सरसो अदुह। अदुहतेति प्राप्ते। दुहामश्विभ्याम् पयो अघ्न्येयम्, दक्षिणतः शये ॥

भाषार्थः—वेद विषय में [*आत्मनेपदेषु*] आत्मनेपद में जो [*तः*] 'तकार उसका [*लोपः*] लोप हो जाता है ॥ सिद्धि परिशिष्ट में देखें ॥

---

१. न्यासे 'द्वितीयैकवचनस्यात्' इति पाठः।

ध्वमो ध्वात् ॥७।१।४२॥

ध्वमः ६।१॥ ध्वात् १।१॥ *अनु०*—छन्दसि ॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये ध्वमः स्थाने ध्वात् इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—अन्तरेवोष्माणं वारयध्वात् (ऐ० ब्रा० २।६) वारयध्वमिति प्राप्ते ॥

भाषार्थः—वेद विषय में [*ध्वमः*] ध्वम् के स्थान में [*ध्वात्*] ध्वात् आदेश होता है ॥ वृङ् अथवा वृञ् धातु से हेतुमति च से णिच् करके लोट् का वारयध्वात् रूप है । वारि शप् ध्वम्=गुण अयादेश तथा ध्वात् होकर वारयध्वात् बन गया ॥

यजध्वैनमिति च ॥७।१।४३॥

यजध्वैनम्[1] १।१॥ इति अ० ॥ च अ० ॥ *अनु०*—छन्दसि ॥ *अर्थः*—यजध्वैनमिति निपात्यते । यजध्वम् इत्यस्य एनम् इत्येतस्मिन् परतो मकारलोपो निपात्यते ॥ *उदा०*—यजध्वैनं प्रियमेधाः (ऋ० ८।२।३७) यजध्वमेनमिति प्राप्ते ॥

भाषार्थः—[*यजध्वैनम्*] यजध्वैनम् [*इति*] यह शब्द [*च*] भी निपातन किया जाता है । एनम् परे रहते यजध्वम् के मकार का लोप निपातित है । यजध्वमेनम् प्राप्त था, यजध्वैनम् हो गया ॥

तस्य तात् ॥७।१।४४॥

तस्य ६।१॥ तात् १।१॥ *अनु०*—छन्दसि ॥ *अर्थः*—लोट्मध्यमपुरुष-बहुवचनस्य तशब्दस्य स्थाने छन्दसि विषये तात् इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—गात्रं गात्रमस्या नूनं कृणुतात् (ऐ० ब्रा० २।६) कृणुत इति प्राप्ते । ऊवध्यगोहं पार्थिवं खनतात् (ऐ० ब्रा० २।६) खनत इति प्राप्ते । अस्नारक्षः संसृजतात् (ऐ० ब्रा० २।६) संसृजतेति प्राप्ते । सूर्यं चक्षुर्गमयतात् (ऐ० ब्रा० २।६) गमयतेति प्राप्ते ॥

भाषार्थः—'त' से यहाँ लोट् के मध्यम पुरुष में जो *तस्थस्थमिपां०* (३।४।१०१) से किया हुआ त आदेश वह लिया गया है ॥ लोट्मध्यमपुरुष-बहुवचन का जो [*तस्य*] त उसके स्थान में [*तात्*] तात् आदेश वेद

---

१. काशिकाकार ने 'यजध्वैनम्' पाठ माना है । पदमञ्जरीकार ने 'यजध्वैनम्' पाठान्तर बताया है । सिद्धान्तकौमुदी में 'यजध्वैनम्' पाठ को प्रामादिक कहा है ।

विषय में होता है ॥ कृणुतात् में *धिन्विकृण्व्यो०* (३।१।८०) सूत्र लगता है। पूरी सिद्धि की प्रक्रिया परि० ३।१।८० के कृणोति की सिद्धि में ही देख लें। ससृंजतात् में *तुदादिभ्यः शः* (३।१।७७) से श हुआ है तथा गमयतात् में णिजन्त से लोट् हुआ जानें ॥

यहाँ से '*तस्य*' की अनुवृत्ति ७।१।४५ तक जायेगी ॥

तप्तनप्तनथनाश्च ॥७।१।४५॥

तप्तनप्तनथनाः १।३॥ च अ० ॥ *स०*—तप्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—तस्य, छन्दसि ॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये तस्य स्थाने तप्, तनप्, तन, थन इत्येते आदेशाः भवन्ति ॥ *उदा०*—तप्—शृणोत ग्रावाणः शृणुतेति प्राप्ते। सुनोत, सुनुत इति प्राप्ते। तनप्- संवरत्रा दधातन (ऋ०८।१०।५) धत्तेति प्राप्ते। तन—ऋभवस्तं जुजुष्टन (ऋ० ४।३६।७) जुषध्वमिति प्राप्ते। थन—यदिष्ठन। यदिच्छतेति प्राप्ते ॥

भाषार्थः—त के स्थान में [*तप्तनप्तनथनाः*] तप्, तनप्, तन, थन ये आदेश [*च*] भी छन्द विषय में होते हैं ॥ पूर्ववत् 'त' लोट्मध्यम-पुरुषबहुवचन का लिया गया है ॥ शृणोत में *श्रुवः शृ च* (३।१।७४) से श्नु प्रत्यय एवं शृ आदेश हुआ है। तप् के पित् होने से *सार्वधातु०* (१।२।४) से ङित्वत् न होने से गुण हो गया है। सुनोत में श्नु (३।१।७३) विकरण हुआ है। दधातन में *श्लौ* (६।१।१०) से द्वित्व हुआ है। जुजुष्टन यहाँ जुष धातु से *बहुलं छन्दसि* (२।४।७६) से श को श्लु आदेश हुआ है, पश्चात् द्वित्व एवं तन आदेश होकर ष्टुत्व हुआ है। यद् इष्टन यहाँ इषु धातु के श विकरण का *बहुलं छन्दसि* (२।४।७३) से लुक् हुआ है। इष् थन = ष्टुत्व होकर इष्टन बन गया ॥

इदन्तो मसि ॥७।१।४६॥

इदन्तः १।१॥ मसि लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ *स०*—इत् अन्तोऽवयवो यस्य स इदन्तः, बहुव्रीहिः ॥ अन्त शब्दोऽत्रावयववचनः ॥ *अनु०*—छन्दसि ॥ *अर्थः*—मस् इत्ययं शब्द इकारान्तो भवति छन्दसि विषये ॥ मसि इत्यत्र इकार उच्चारणार्थः ॥ *उदा०*—पुनस्त्वां दीपयामसि 'दीपयामः' इति प्राप्ते। शलभं भञ्जयामसि 'भञ्जयामः' इति प्राप्ते। त्वयि रात्रिं वासयामसि 'वासयामः' इति प्राप्ते ॥

भाषार्थः—वेदविषय में [*मसि*] मस् (सकारान्त शब्द) [*इदन्तः*] = इकार अन्त = अवयव वाला हो जाता है, अर्थात् मस् को इकार म होता है, और वह अन्त को होता है ॥ दीपी, भञ्ज तथा वस धातु यन्त से लट् में दीपयामसि आदि प्रयोग बने हैं ॥

क्त्वो यक् ॥७।१।४७॥

क्त्वः ६।१॥ यक् १।१॥ *अनु०*—छन्दसि ॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये ा इत्येतस्य यक् आगमो भवति ॥ *उदा०*—दत्वाय सविता धियः त्वा' इति प्राप्ते ॥

भाषार्थः—वेद विषय में [*क्त्वः*] क्त्वा को [*यक्*] यक् आगम ा है ॥ दत्वा यहाँ *आद्यन्तौ टकितौ* (१।१।४५) से अन्त में यक् आगम कर दत्वा यक् = दत्वाय बन गया ॥

इष्ट्वीनमिति च ॥७।१।४८॥

इष्ट्वीनम् १।१॥ इति अ० ॥ च अ० ॥ *अनु०*—छन्दसि ॥ *अर्थः*—दसि विषये इष्ट्वीनमिति शब्दो निपात्यते । यजेः क्त्वाप्रत्ययान्तस्य नन्तादेशो निपात्यते ॥ *उदा०*—इष्ट्वीनं देवान् । इष्ट्वा देवान् इति प्ते ॥

भाषार्थः—वेद विषय में [*इष्ट्वीनम्*] इष्ट्वीनम् [*इति*] यह क्त्वाप्रत्य-न्तशब्द [*च*] भी निपातन किया जाता है ॥ यज् से क्त्वा प्रत्यय करके इष्ट्वा ८० १।१।४४ के इष्टः के समान बनता है, उसको यहाँ ईनम् अन्तादेश पातन किया जाता है । इष्ट्व ईनम् = इष्ट्वीनम् बना ॥

स्नात्व्यादयश्च ॥७।१।४९॥

स्नात्व्यादयः १।३॥ च अ० ॥ *स०*—स्नात्वी आदिर्येषां ते स्नात्व्या-दः, बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—छन्दसि ॥ *अर्थः*—स्नात्वी इत्येवमादयः ब्दाः छन्दसि विषये निपात्यन्ते, निपातनाद् ईकारान्तादेशो भवति ॥ दा०—स्नात्वी मलादिव (मै० ३।११।१०) 'स्नात्वा' इति प्राप्ते । पीत्वी मस्य वावृधे (ऋ० ३।४०।७) 'पीत्वा' इति प्राप्ते ॥

भाषार्थः—[*स्नात्व्यादयः*] स्नात्वी इत्यादि शब्द [*च*] भी वेद षय में निपातन किये जाते हैं । ईकार अन्तादेश ही यहाँ निपातन है ॥

आज्जसेरसुक् ॥७।१।५०॥

आत् ५।१॥ जसेः ६।१॥ असुक् १।१॥ *अनु०*—छन्दसि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अवर्णान्तादङ्गादुत्तरस्य जसेरसुक् आगमो भवति छन्दसि विषये ॥ *उदा०* —ब्राह्मणासः (ऋ० ७।१०३।८-८)। पितरः सोम्यासः (ऋ० १०।१५।१) ब्राह्मणाः, सोम्याः इति प्राप्ते ॥

भाषार्थः—वेद विषय में [*आत्*] अवर्णान्त अङ्ग से उत्तर [*जसेः*] जस् को [*असुक्*] असुक् आगम होता है ॥ पूर्ववत् जस् के अन्त को असुक् होकर ब्राह्मण जस् असुक् = ब्राह्मण अस् अस् रहा । *प्रथमयोः पूर्वसवर्णः* (६।१।६८) लगकर ब्राह्मणास् अस् = रुत्व विसर्जनीय होकर ब्राह्मणासः बन गया ॥

यहाँ से '*आत्*' की अनुवृत्ति ७।१।५२ तक तथा '*असुक्*' की ७।१।५१ तक जायेगी ॥

अश्वक्षीरवृषलवणानामात्मप्रीतौ क्यचि ॥७।१।५१॥

अश्वक्षीरवृषलवणानाम् ६।३॥ आत्मप्रीतौ ७।१॥ क्यचि ७।१॥ *स०*—अश्व० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । आत्मनः प्रीतिः आत्मप्रीतिस्तस्याम् '' षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—असुक्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अश्व, क्षीर, वृष, लवण इत्येतेषामङ्गानामात्मप्रीतिविषये क्यचि परतोऽसुक् आगमो भवति ॥ *उदा०*—आत्मनोऽश्वमिच्छति = अश्वस्यति वडवा । क्षीरस्यति माणवकः । वृषस्यति गौः । लवणस्यत्युष्ट्रः ॥

भाषार्थः—[*अश्वक्षीरवृषलवणानाम्*] अश्व, क्षीर, वृष, लवण इन अङ्गों को [*क्यचि*] क्यच् परे रहते [*आत्मप्रीतौ*] आत्मा की प्रीति विषय में असुक् आगम होता है ॥ अश्व क्यच् यहाँ अङ्ग को असुक् (१।१।४५) होकर अश्व असुक य = अश्व अस् य रहा । *अतो गुणे* (६।१।९४) से पररूपत्व एवं धातु संज्ञा (३।१।३२) होकर अश्वस्यति बन गया । इसी प्रकार सबमें जानें । सर्वत्र *सुप आत्मनः क्यच्* (३।१।८) से क्यच् हुआ है अतः आत्मप्रीति (अपने को जो प्रिय) विषय है ॥ *उदा०*—अश्वस्यति वडवा (घोड़ी अश्व को चाहती है) क्षीरस्यति माणवकः (बालक दूध चाहता है) इत्यादि सब इसी प्रकार हैं ॥

आमि सर्वनाम्नः सुट् ॥७।१।५२॥

आमि ७।१॥ सर्वनाम्नः ५।१॥ सुट् १।१॥ *अनु०*—आत्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अवर्णान्तात् सर्वनाम्न उत्तरस्यामः सुट् आगमो भवति ॥ उदा०—सर्वेषाम्, विश्वेषाम्, येषाम्, तेषाम्, सर्वासाम्, यासाम्, तासाम् ॥

भाषार्थः—अवर्णान्त [*सर्वनाम्नः*] सर्वनाम से उत्तर [*आमि*] आम् को [*सुट्*] सुट् का आगम होता है ॥ *तस्मादित्युत्तरस्य* (१।१।६६) से सर्वनाम से उत्तर 'आमि' का [1]षष्ठी विभक्ति में परिवर्त्तन होकर 'आम्' को सुट् होता है यह अर्थ हुआ है ॥ सर्वेषाम् विश्वेषाम् की सिद्धि परि० १।१।२६ में देखें। यद् तद् को त्यदाद्यत्व होकर इसी प्रकार येषाम् तेषाम् बनेगा। स्त्रीलिङ्ग में टाप् होकर यद् टाप् सुट् आम् रहा। त्यदाद्यत्व होकर य अ आ स् आम् = यासाम् आदि बनेगा ॥ ह्रस्वान्तों से *ह्रस्वनद्यापो०* (७।१।५४) से नुट् की प्राप्ति थी सुट् कह दिया ॥

यहाँ से '*आमि*' की अनुवृत्ति ७।१।५७ तक जायेगी ॥

त्रेस्त्रयः ॥७।१।५३॥

त्रेः ६।१॥ त्रयः १।१॥ *अनु०*—आमि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—त्रि इत्येतस्याङ्गस्य त्रय इत्ययमादेशो भवत्यामि परतः ॥ *उदा०*—त्रयाणाम् ॥

भाषार्थः—[*त्रेः*] त्रि अङ्ग को [*त्रयः*] त्रय आदेश आम् परे रहते होता है ॥ त्रि आम् = त्रय आम् यहाँ *ह्रस्वनद्यापो०* (७।१।५४) से नुट् आगम होकर त्रय नुट् आम् रहा। *सुपि च* (७।३।१०२) से दीर्घत्व एवं णत्व (८।४।२) होकर त्रयाणाम् बन गया ॥

ह्रस्वनद्यापो नुट् ॥७।१।५४॥

ह्रस्वनद्यापः ५।१॥ नुट् १।१॥ *स०*—ह्रस्वश्च नदी च आप् च ह्रस्वनद्याप् तस्मात्......समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—आमि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—ह्रस्वान्तात् नद्यन्तात् आबन्ताच्चाङ्गादुत्तरस्यामो नुट् आगमो भवति ॥ *उदा०*—ह्रस्वान्तात्—वृक्षाणाम्, प्लक्षाणाम्, अग्नीनाम्, वायूनाम्, कर्तॄणाम्, हर्तॄणाम्। नद्यन्तात्—कुमारीणाम्, किशोरीणाम्,

---

1. इस बात की विशेष व्याख्या महाभाष्य में देखें ॥

गौरीणाम्, शार्ङ्गरवीणाम्, लक्ष्मीणाम्, ब्रह्मबन्धूनाम्, वीरबन्धूनाम
आबन्तात्—खट्वानाम्, मालानाम्, बहुराजानाम्, कारीषगन्ध्यानाम्

भाषार्थः—[*ह्रस्वनद्यापः*] ह्रस्वान्त नद्यन्त तथा आप् अन्त वाले अ
से उत्तर आम् को [नुट्] नुट् का आगम होता है ॥ अकारान्तों में सु
च (७।३।१०२) से तथा अन्यत्र *नामि* (६।४।३) से दीर्घत्व हुआ जानें
कुमारी किशोरी आदि की *यू स्त्र्याख्यौ नदी* (१।४।३) से नदी संज्ञा है
बहुराजा में *डाबुभाभ्या०* (४।१।१३) से डाप् हुआ है ॥

यहाँ से 'नुट्' की अनुवृत्ति ७।१।५७ तक जायेगी ॥

षट्चतुर्भ्यश्च ॥७।१।५५॥

षट्चतुर्भ्यः ५।३॥ च अ० ॥ *स०*—षट् च चत्वारश्च षट्चत्वा
रस्तेभ्यः······इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—नुट्, आमि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—
षट्संज्ञकेभ्यश्चतुःशब्दाच्चोत्तरस्यामो नुट् आगमो भवति ॥ *उदा०*—
षण्णाम्, पञ्चानाम्, सप्तानाम्, नवानाम्, दशानाम्। चतुर्णाम् ॥

भाषार्थः—[*षट्चतुर्भ्यः*] षट्संज्ञक तथा चतुर् शब्द से उत्तर [च]
भी आम् को नुट् का आगम होता है ॥ षष् नुट् आम् = षष् नाम् यहाँ
झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से जश्त्व होकर षड् नाम् रहा। *यरोऽनुना०*
(८।४।४४) से अनुनासिक होकर षण् नाम् हुआ तथा ष्टुत्व होकर षण्णाम
बन गया। पञ्चानाम् आदि की सिद्धि ६।४।७ सूत्र में देखें। *ष्णान्ता षट्*
(१।१।२३) से षट् संज्ञा है ही ॥

श्रीग्रामण्योश्छन्दसि ॥७।१।५६॥

श्रीग्रामण्योः ६।२॥ छन्दसि ७।१॥ *स०*—श्रीश्च ग्रामणीश्च श्रीग्रामण्यौ
तयोः······इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—नुट्, आमि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—श्री,
ग्रामणी इत्येतयोश्छन्दसि विषये आमो नुडागमो भवति ॥ *उदा०*—
श्रीणामुदारो धरुणो' रयीणाम् (ऋ० १०।४५।५)। अन्यत्र सूतग्राम-
णीनाम् ॥

भाषार्थः—[*श्रीग्रामण्योः*] श्री तथा ग्रामणी अङ्ग के आम् को
[*छन्दसि*] वेद विषय में नुट् आगम होता है ॥ श्री शब्द की *वामि*
(१।४।५) से विकल्प से नदी संज्ञा प्राप्त है, सो जब नदी संज्ञा नहीं होगी

तो ह्रस्वनद्या० (७।१।५४) से नुट् नहीं हो सकेगा, अतः नित्य ही नुट् हो इसलिये श्री का ग्रहण है। सूताश्च ग्रामण्यश्च सूतग्रामण्यस्तेषाम् सूतग्रामणीनाम् यहाँ इतरेतरद्वन्द्व समास है। इतरेतरद्वन्द्व में ह्रस्व न होने से पूर्ववत् नुट् प्राप्ति नहीं थी तदर्थ यह वचन है॥

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति ७।१।५७ तक जायेगी॥

गोः पादान्ते ॥७।१।५७॥

गोः ५।१॥ पादान्ते ७।१॥ स०—पादस्य अन्तः पादान्तस्तस्मिन्... षष्ठीतत्पुरुषः॥ अनु०—छन्दसि, नुट्, आमि, अङ्गस्य॥ अर्थः—छन्दसि विषये गोः इत्येतस्माद् ऋक्पादान्ते वर्त्तमानादुत्तरस्यामो नुडागमो भवति॥ उदा०—विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनाम् (ऋ० १०।४७।१)॥

भाषार्थः—वेद विषय में [*पादान्ते*] ऋचा के पाद के अन्त में वर्त्तमान [*गोः*] गो शब्द से उत्तर आम् को नुट् का आगम होता है॥ यहाँ छन्द का अधिकार होने से ऋचा का पादान्त ही लिया जायेगा, न कि श्लोक का पादान्त॥ उपर्युक्त मन्त्रखण्ड मन्त्र के तीसरे पाद का है, उसमें 'गो' शब्द पाद के अन्त में है ही, सो नुट् हो गया है॥

इदितो नुम् धातोः ॥७।१।५८॥

इदितः ६।१॥ नुम् १।१॥ धातोः ६।१॥ स०—इत् इत् यस्य स इदित्, तस्य...बहुव्रीहिः॥ अर्थः—इदितो धातोर्नुमागमो भवति॥ उदा०—कुडि—कुण्डिता, कुण्डितुम्, कुण्डितव्यम्, कुण्डा। हुडि—हुण्डिता, हुण्डितुम्, हुण्डितव्यम्, हुण्डा॥

भाषार्थः—[*इदितः*] इकार इत् संज्ञक है जिसका ऐसे [*धातोः*] धातु को [*नुम्*] नुम् का आगम होता है॥ कुण्डा, हुण्डा की सिद्धि परि० १।४।११ में देखें, शेष सब स्पष्ट ही है॥ यह नुमागम प्रत्ययोत्पत्ति से पूर्व ही होता है, अत एव नुम् होने पर *संयोगे गुरु* (१।४।११) से गुरु संज्ञा होकर *गुरोश्च हलः* (३।३।१०३) से स्त्रीलिंग में अङ् प्रत्यय हो जाता है॥

यहाँ से 'नुम्' की अनुवृत्ति ७।१।८३ तक जायेगी॥

शे मुचादीनाम् ॥७।१।५९॥

शे ७।१॥ मुचादीनाम् ६।३॥ *स०*—मुच् आदिर्येषां ते मुचादयस्तेषाम्...बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—नुम्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—शे प्रत्यये परतो मुचादीनामङ्गानां नुमागमो भवति ॥ *उदा०*—मुच्लृ—मुञ्चति। लुप्लृ—लुम्पति। विद्लृ—विन्दति। लिपि—लिम्पति। षिच्—सिञ्चति। कृती—कृन्तति। खिद—खिन्दति। पिश—पिंशति ॥

भाषार्थः—[*शे*] श प्रत्यय परे रहते [*मुचादीनाम्*] मुचादि धातुओं को नुम् आगम होता है ॥ मुञ्चति की सिद्धि परि० १।१।४६ पृ० ७१६ में देखें। इसी प्रकार अन्यों में भी जानें ॥

मस्जिनशोर्झलि ॥७।१।६०॥

मस्जिनशोः ६।२॥ झलि ७।१॥ *स०*—मस्जि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—नुम्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—मस्जि, नशि इत्येतयोरङ्गयोर्झलादौ प्रत्यये परतो नुमागमो भवति ॥ *उदा०*—मङ्क्ता, मङ्क्तुम्, मङ्क्तव्यम्। नंष्टा, नंष्टुम्, नंष्टव्यम् ॥

भाषार्थः—[*मस्जिनशोः*] टुमस्जो शुद्धौ तथा णश अदर्शने धातु को [*झलि*] झलादि प्रत्यय परे रहते नुम् आगम होता है ॥ टुमस्जो = मस्ज तृच् यहाँ *मस्जेरन्त्यात् पूर्वं नुममिच्छन्त्यनुषङ्गसंयोगादिलोपार्थम्* (वा० १।१।४६) इस वार्त्तिक से अन्त्य अल् से पूर्व को नुम् आगम हुआ, अर्थात् *मिदचोन्त्यात्परः* (१।१।४६) से अन्त्य अच् म के अ से परे नुम् की प्राप्ति थी, इस वार्त्तिक से अन्त्य से पूर्व कहने से ज् से पूर्व नुम् हुआ। मस् नुम् ज् तृच् = मस्न्ज् तृ यहाँ *स्कोः संयोगाद्योरन्ते च* (८।२।२९) से सकार लोप एवं *चोः कुः* (८।२।३०) से जकार को कुत्व तथा *खरि च* (८।४।५४) से चर्त्व होकर मन्क्ता रहा। अब *नश्चाऽपदान्त०* (८।३।२४) से नकार को अनुस्वार एवं *अनुस्वारस्य०* (८।४।५७) से परसवर्ण होकर मङ्क्ता बन गया, *एकाच उपदेशे०* (७।२।१०) से यहाँ इट् निषेध होता है ॥ नंष्टा यहाँ *रधादिभ्यश्च* (७।२।४५) से जिस पक्ष में इट् नहीं हुआ, उस पक्ष में नुम् तथा *व्रश्चभ्रस्ज०* (८।२।३६) से षत्व एवं ष्टुत्व होकर नंष्टा बना है। इट् पक्ष में झलादित्व का अभाव होने से नुम् नहीं हुआ ॥

रधिजभोरचि ॥७।१।६१॥

रधिजभोः ६।२॥ अचि ७।१॥ *स०*—रधि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—नुम्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अजादौ प्रत्यये परतो रधि जभि इत्येतयोरङ्गयोर्नुमागमो भवति ॥ *उदा०*—रन्धयति, रन्धकः, साधुरन्धी, रन्धंरन्धम्, रन्धो वर्त्तते। जभि—जम्भयति, जम्भकः, साधुजम्भी, जम्भञ्जम्भम्, जंभो वर्त्तते ॥

भाषार्थः—[*अचि*] अजादि प्रत्यय परे रहते [*रधिजभोः*] रध हिंसासंराध्योः तथा जभ गात्रविनामे अङ्ग को नुम् आगम होता है॥ रन्धयति, जम्भयति में णिच् (३।१।२६) होकर लट् प्रत्यय हुआ है। रन्धकः में ण्वुल् तथा रन्धी में *सुप्यजातौ णिनि०* (३।२।७८) से णिनि हुआ है। रन्धंरन्धम् यहाँ *आभीक्ष्ण्ये०* (३।४।२२) से णमुल् तथा *आभीक्ष्ण्ये द्वे भवतः* (*वा०* ८।१।१२) से द्वित्व हुआ है। रन्धः में *भावे* (३।३।१८) से घञ् हुआ है। इसी प्रकार जम्भकः आदि में जानें॥

यहाँ से '*अचि*' की अनुवृत्ति ७।१।६४ तक जायेगी॥

नेट्यलिटि रधेः ॥७।१।६२॥

न अ० ॥ इटि ७।१॥ अलिटि ७।१॥ रधेः ६।१॥ *स०*—न लिट् अलिट् तस्मिन्''नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—नुम्, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—इडादावलिटि प्रत्यये परतो रधेरङ्गस्य नुमागमो न भवति॥ *उदा०*—रधिता, रधितुम्, रधितव्यम्॥

भाषार्थः—[*अलिटि*] लिट्भिन्न [*इटि*] इडादि प्रत्यय परे रहते [*रधेः*] रध अङ्ग को नुम् आगम [*न*] नहीं होता॥ पूर्व सूत्र से प्राप्ति थी, निषेध कर दिया। *रधादिभ्यश्च* (७।२।४५) से पक्ष में जब इट् आगम होता है तभी ये उदाहरण बनेंगे॥

रभेरशब्लिटोः ॥७।१।६३॥

रभेः ६।१॥ अशब्लिटोः ७।२॥ *स०*—शप् च लिट् च शब्लिटौ, इतरेतरद्वन्द्वः। न शब्लिटौ अशब्लिटौ तयोः''नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—अचि, नुम्, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—शब्लिडवर्जितेऽजादौ प्रत्यये परतो रभेरङ्गस्य

नुमागमो भवति॥ उदा०—आरम्भयति, आरम्भकः, साध्वारम्भी, मारम्भम्, आरम्भो वर्त्तते॥

भाषार्थः—[*अशब्लिटोः*] शप् तथा लिट् वर्जित अजादि प्र परे रहते [*रभेः*] रभ राभस्ये अङ्ग को नुम् आगम होता है। (७।१।६१) सिद्धियों के सूत्र जानें। नुम् को अनुस्वार एवं पर पूर्ववत् ही होगा॥

यहाँ से '*अशब्लिटोः*' की अनुवृत्ति ७।१।६४ तक जायेगी॥

लभेश्च ॥७।१।६४॥

लभेः ६।१॥ च अ०॥ *अनु०*—अशब्लिटोः, अचि, नुम्, अ *अर्थः*—लभेरङ्गस्य च शब्लिड्वर्जितेऽजादौ प्रत्यये परतो भवति॥ *उदा०*—लम्भयति, लम्भकः, साधुलम्भी, लम्भंलम्भम्।

भाषार्थः—शप् तथा लिट्वर्जित अजादि प्रत्ययों के प [*लभेः*] डुलभष् प्राप्तौ अङ्ग को [*च*] भी नुम् आगम होता है॥ पूर्ववत् हैं॥

यहाँ से '*लभेः*' की अनुवृत्ति ७।१।६९ तक जायेगी॥

आङो यि ॥७।१।६५॥

आङः ५।१॥ यि ७।१॥ *अनु०*—लभेः, नुम्, अङ्गस्य॥ लभेर्यकारादिप्रत्ययविषय आङ उत्तरस्य नुमागमो भवति॥ उ आलम्भ्या गौः, आलम्भ्या वडवा॥

भाषार्थः—[*यि*] यकारादि प्रत्यय के विषय में लभ अङ्ग को [*आ* से उत्तर नुम् आगम होता है॥ यि में विषय सप्तमी मानने से प करके पश्चात् *ऋहलोर्ण्यत्* (३।१।१२४) से ण्यत् होता है। नुम् पर अदुपधत्व न होने से *पोरदुपधात्* (३।१।९८) से यत् न हो ही हो, यही विषय सप्तमी का प्रयोजन है॥

यहाँ से '*यि*' की अनुवृत्ति ७।१।६६ तक जायेगी॥

उपात् प्रशंसायाम् ॥७।१।६६॥

उपात् ५।१॥ प्रशंसायाम् ७।१॥ *अनु०*—यि, लभेः, नुम्, अ

अर्थः—प्रशंसायां गम्यमानायामुपादुत्तरस्य लभेरङ्गस्य यकारादिप्रत्यय-विषये नुमागमो भवति ॥ *उदा०*—उपलम्भ्या भवता विद्या, उपलम्भ्यानि धनानि ॥

भाषार्थः—[*प्रशंसायाम्*] प्रशंसा गम्यमान होने पर [*उपात्*] उप उपसर्ग से उत्तर लभ अङ्ग को यकारादि प्रत्यय के विषय में नुम् आगम होता है ॥ पूर्ववत् ण्यत् प्रत्यय उदाहरणों में जानें। उपलम्भ्या भवता विद्या 'आप से विद्या प्राप्त करने योग्य है' अर्थात् आप विद्या प्राप्त कराने में समर्थ हैं, ऐसा कहकर प्रशंसा व्यक्त की जा रही है ॥

उपसर्गात् खल्घञोः ॥७।१।६७॥

उपसर्गात् ५।१॥ खल्घञोः ७।२॥ *स०*—खल्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—लभेः, नुम्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—खल्घञोः परत उपसर्गादुत्तरस्य लभेर्नुमागमो भवति ॥ *उदा०*—ईषत्प्रलम्भः, सुप्रलम्भः, दुष्प्रलम्भः। घञि—प्रलम्भः, विप्रलम्भः ॥

भाषार्थः—[*खल्घञोः*] खल् तथा घञ् प्रत्ययों के परे रहते [*उपसर्गात्*] उपसर्ग से उत्तर लभ अङ्ग को नुम् आगम होता है ॥ ईषद्दुःसुषु० (३।३।१२६) से खल् प्रत्यय होता है। दुष्प्रलम्भः में इदुदुपधस्य० (८।३।४१) से षत्व हुआ है ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।१।६८ तक जायेगी ॥

न सुदुर्भ्यां केवलाभ्याम् ॥७।१।६८॥

न अ० ॥ सुदुर्भ्याम् ५।२॥ केवलाभ्याम् ५।२॥ *स०*—सुश्च दुर् च सुदुरौ, ताभ्याम् ..... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—उपसर्गात् खल्घञोः, लभेः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—सु दुर् इत्येताभ्यां केवलाभ्याम् = उपसर्गान्तर-रहिताभ्यां लभेर्नुम् न भवति, खल्घञोः परतः ॥ *उदा०*—सुदुर्लभम्, सुलभम्, दुर्लभम्। घञि—सुलाभः, दुर्लाभः ॥

भाषार्थः—[*केवलाभ्याम्*] केवल [*सुदुर्भ्याम्*] सु तथा दुर् उपसर्गों से उत्तर लभ धातु को खल् तथा घञ् प्रत्यय परे रहते नुम् आगम [*न*] नहीं होता है ॥ केवल ग्रहण इसलिये है कि कोई अन्य उपसर्ग सु दुर् से पूर्व एवं उत्तर में न हो ॥

विभाषा चिण्णमुलोः ॥७।१।६९॥

विभाषा १।१॥ चिण्णमुलोः ७।२॥ *स०*—चिण्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—लभेः, नुम्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—लभेरङ्गस्य चिण् णमुल् इत्येतयोः परतो विकल्पेन नुम् भवति ॥ *उदा०*—चिण्—अलाभि, अलम्भि । णमुल्—लाभंलाभम्, लम्भंलम्भम् ॥

भाषार्थः—लभ अङ्ग को [*चिण्णमुलोः*] चिण् तथा णमुल् प्रत्यय परे रहते [*विभाषा*] विकल्प से नुम् आगम होता है ॥ अलाभि अलम्भि में *चिण् भाव०* (३।१।६६) से चिण् हुआ है, एवं णमुल् प्रत्यय पूर्ववत् जानें ॥

उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः ॥७।१।७०॥

उगिदचाम् ६।३॥ सर्वनामस्थाने ७।१॥ अधातोः ६।१॥ *स०*—उक् इत् येषां ते उगितः, बहुव्रीहिः । उगितश्च अच्च उगिदचस्तेषाम्...... इतरेतरद्वन्द्वः । न धातुरधातुस्तस्य...नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—नुम्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—धातुवर्जितानामुगितामङ्गानामञ्चतेश्च नुमागमो भवति, सर्वनामस्थाने परतः ॥ *उदा०*—भवतु-भवान्, भवन्तौ, भवन्तः । ईयसुन्—श्रेयान्, श्रेयांसौ, श्रेयांसः । शतृ—पचन्, पचन्तौ, पचन्तः । अञ्चतेः—प्राङ्, प्राञ्चौ, प्राञ्चः ॥

भाषार्थः—[*अधातोः*] धातुवर्जित [*उगिदचाम्*] उक् इत्संज्ञक है जिनका ऐसे अङ्ग को तथा अञ्चु धातु को [*सर्वनामस्थाने*] सर्वनामस्थान परे रहते नुम् आगम होता है ॥ भवान् की सिद्धि ६।४।१४ सूत्र में देखें । यहाँ डवतुप् प्रत्यय उगित् है । श्रेयान् यहाँ ईयसुन् परे रहते *प्रशस्यस्य श्रः* (५।३।६०) से श्र आदेश, ६।४।१० से दीर्घ तथा *प्रकृत्यैकाच्* (६।४।१६३) से प्रकृतिभाव हुआ है ॥ पचन् आदि की सिद्धि परि० ३।२।१२४ के पचन्तम् आदि के समान जानें । प्राङ् की सिद्धि परि० ३।२।५९ पृ० ८६२ में देखें । सर्वत्र सर्वनामस्थान परे है ही ॥

यहाँ से '*सर्वनामस्थाने*' की अनुवृत्ति ७।१।७२ तक जायेगी ॥

युजेरसमासे ॥७।१।७१॥

युजेः ६।१॥ असमासे ७।१॥ *स०*—अस० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—सर्वनामस्थाने, नुम्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—युजेरङ्गस्यासमासे सर्वनामस्थाने परतो नुमागमो भवति ॥ *उदा०*—युङ्, युञ्जौ, युञ्जः ॥

भाषार्थः—[*असमासे*] असमास में [*युजेः*] युजि अङ्ग को सर्वनाम-स्थान परे रहते नुम् आगम होता है ॥ युङ् की सिद्धि पूर्ववत् परि० ३।२।५९ में देखें ॥

नपुंसकस्य झलचः ॥७।१।७२॥

नपुंसकस्य ६।१॥ झलचः ६।१॥ *स०*—झल् च अच् च झलच्, तस्य ''समाहारद्वन्द्वः ॥ अनु०—सर्वनामस्थाने, नुम्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—झलन्तस्य अजन्तस्य च नपुंसकस्य सर्वनामस्थाने परतो नुमागमो भवति ॥ *उदा०*—झलन्तस्य उदश्विन्ति, शकृन्ति, यशांसि, पयांसि । अजन्तस्य—कुण्डानि, वनानि, त्रपूणि, जतूनि ॥

भाषार्थः—[*झलचः*] झलन्त तथा अजन्त [*नपुंसकस्य*] नपुंसक लिङ्ग वाले अङ्ग को सर्वनामस्थान विभक्ति परे रहते नुम् आगम होता है ॥ यशांसि पयांसि की सिद्धि परि० १।१।४६ तथा कुण्डानि वनानि की परि० १।१।४१ में देखें । इसी प्रकार शकृत् से शकृन्ति, उदश्वित् से उदश्विन्ति में जानें ॥

यहाँ से '*नपुंसकस्य*' की अनुवृत्ति ७।१।७७ तक जायेगी ॥

इकोऽचि विभक्तौ ॥७।१।७३॥

इकः ६।१॥ अचि ७।१॥ विभक्तौ ७।१॥ *अनु०*—नपुंसकस्य, नुम्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—इगन्तस्य नपुंसकस्याङ्गस्याजादौ विभक्तौ परतो नुमागमो भवति ॥ *उदा०*—त्रपुणी, जतुनी, तुम्बुरुणी । त्रपुणे, जतुने, तुम्बुरुणे ॥

भाषार्थः—[*इकः*] इक् अन्त वाले नपुंसक अङ्ग को [*अचि*] अजादि [*विभक्तौ*] विभक्ति परे रहते नुम् आगम होता है ॥ त्रपु नुम् औ यहाँ औ को *नपुंसकाच्च* (७।१।१९) से शी आदेश होकर त्रपु न् शी = त्रपुणी णत्व होकर बन गया । त्रपु जतु आदि शब्द इगन्त हैं ही । त्रपुणे आदि में ङे विभक्ति परे है ॥

यहाँ से '*इकः*' की अनुवृत्ति ७।१।७४ तक तथा '*अचि विभक्तौ*' की ७।१।७५ तक जायेगी ॥

तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद् गालवस्य ॥७।१।७४॥

तृतीयादिषु ७।३॥ भाषितपुंस्कम् १।१॥ पुंवत् अ० ॥ गालवस्य

६।१॥ स०—तृतीया आदिर्येषां ताः तृतीयादयस्तासु ''बहुव्री
भाषितः पुमान् येन (समानायामाकृतौ एकस्मिन् प्रवृत्तिनिमित्ते,
भाषितपुंस्कम् बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—इकोऽचि विभक्तौ, नुम्, अङ्गस
अर्थः—तृतीयादिष्वजादिषु विभक्तिषु भाषितपुंस्कं नपुंसकम् इ
मङ्गं गालवस्याचार्यस्य मतेन पुंवद् भवति ॥ यथा पुंसि ह्रस्वनु
भवतस्तद्वदत्रापि न भवत इत्यर्थः ॥ *उदा०*—ग्रामण्या ब्राह्मणकु
ग्रामणिना ब्राह्मणकुलेन, ग्रामण्ये ब्राह्मणकुलाय, ग्रामणिने ब्राह्मणकु
ग्रामण्यो ब्राह्मणकुलात्, ग्रामणिनो ब्राह्मणकुलात्, ग्रामण्यो ब्राह्
कुलस्य, ग्रामणिनो ब्राह्मणकुलस्य, ग्रामण्योर्ब्राह्मणकुलयोः, ग्रामणि
र्ब्राह्मणकुलयोः, ग्रामण्यां ब्राह्मणकुलानाम्, ग्रामणीनां ब्राह्मणकुलाना
ग्रामण्यां ब्राह्मणकुले, ग्रामणिनि ब्राह्मणकुले । शुचिना ब्राह्मणकुलेन
शुचये ब्राह्मणकुलाय, शुचिने ब्राह्मणकुलाय, शुचेर्ब्राह्मणकुलात्, शुचि
ब्राह्मणकुलात्, शुचेर्ब्राह्मणकुलस्य, शुचिनो ब्राह्मणकुलस्य शुच्योर्ब्राह्
कुलयोः शुचिनोर्ब्राह्मणकुलयोः, शुचौ ब्राह्मणकुले, शुचिनि ब्राह्मणकुले ।

भाषार्थः—[*तृतीयादिषु*] तृतीया विभक्ति से लेकर आगे की अजा
विभक्तियों के परे रहते [*भाषितपुंस्कम्*] भाषितपुंस्क नपुंसक लि
वाले इगन्त अङ्ग को [*गालवस्य*] गालव आचार्य के मत में [*पुंव*
पुंवद्भाव हो जाता है ॥ जिस प्रकार पुँल्लिङ्ग में ह्रस्व (१।२।४७) त
नुम् (७।१।७३) नहीं होते, तद्वत् पुंवद्भाव करने से यहाँ भी पुंवद्भ
पक्ष में नहीं होंगे, यही पुंवद्भाव का फल है ॥ भाषितपुंस्क
व्याख्या ६।३।३२ सूत्र में कर आये हैं, वहीं देखें ॥ 'गालव आचार्य
मत में' कहने से अन्य आचार्यों के मत में पुंवद्भाव नहीं होगा, सो
पक्ष बनेंगे, तद्वत् उदाहरण प्रदर्शित कर दिये हैं ॥

पुंवद्भाव पक्ष में ग्रामण्या ब्राह्मणकुलेन यहाँ नुम् एवं ह्रस्व न
हुआ है । *एरनेकाचो०* (६।४।८२) से यणादेश हो गया है ॥ अपुंवद्भा
पक्ष में ग्रामणी को *ह्रस्वो नपुंसके०* से ह्रस्वत्व हो जायेगा । ग्रामणिन
शुचिना यहाँ *आङो ना०* (७।३।११९) से टा को नाभाव हो गया है । इस
प्रकार आगे की विभक्तियों में भी सिद्धियाँ समझले जायें । पुंवद्भाव पक्ष
में शुचये शुचेः आदि में *घेर्ङिति* (७।३।१११) से गुण हुआ है
अपुंवद्भाव पक्ष में शुचिने आदि में नुम् ७।१।७३ सूत्र से हो ह

जायेगा ॥ ग्रामणी तथा शुचि शब्द एक ही प्रवृत्तिनिमित्त को लेकर पुंल्लिङ्ग को भी कहते हैं, अतः भाषितपुंस्क शब्द हैं ही ॥

यहाँ से '*तृतीयादिषु*' की अनुवृत्ति ७।१।७५ तक जायेगी ॥

अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः ॥७।१।७५॥

अस्थि.....णाम् ६।३॥ अनङ् १।१॥ उदात्तः १।१॥ स०—अस्थि च दधि च सक्थि च अक्षि च अस्थि.....क्षीणि तेषां...इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तृतीयादिषु, अचि विभक्तौ, नपुंसकस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अस्थि, दधि, सक्थि, अक्षि इत्येतेषां नपुंसकानामङ्गानां तृतीयादिष्वजादिषु विभक्तिषु परतोऽनङ् इत्ययमादेशो भवति, स चोदात्तो भवति ॥ *उदा०*—अस्थ्ना, अस्थ्ने, अस्थ्नः, इत्येवमादयः । दध्ना, दध्ने, दध्नः । सक्थ्ना, सक्थ्ने, सक्थ्नः । अक्ष्णा, अक्ष्णे, अक्ष्णः ॥

भाषार्थः—[*अस्थि.....क्ष्णाम्*] अस्थि, दधि, सक्थि, अक्षि इन नपुंसक लिङ्ग वाले अङ्गों को तृतीयादि अजादि विभक्तियों के परे रहते [*अनङ्*] अनङ् आदेश होता है, और वह [*उदात्तः*] उदात्त होता है ॥ *इकोऽचि विभक्तौ* (७।१।७३) से नुम् प्राप्त था अनङ् कह दिया ॥ अस्थि आदि शब्द *नब्विषयस्या०* (फिट्० २६) से आद्युदात्त हैं, सो शेष को अनुदात्त (६।१।१५२) होने से अनुदात्त 'इ' के स्थान में अनुदात्त अनङ् स्थानिवत् से प्राप्त था, उदात्त कह दिया ॥ *ङिच्च* (१।१।५२) से अन्त्य अल् को अनङ् होकर अस्थ् अनङ् टा = अस्थन् आ रहा । *अल्लोपोऽनः* (६।४।१३४) से उदात्त अकार का लोप होकर अस्थ्ना बन गया । उदात्त का लोप होने पर उदात्तनिवृत्तिस्वर (६।१।१५५) से विभक्ति उदात्त हुई, शेष को अनुदात्त हो गया । इसी प्रकार सब में जानें ॥

यहाँ से '*अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णाम् उदात्तः*' की अनुवृत्ति ७।१।७७ तक तथा '*अनङ्*' की ७।१।७६ तक जायेगी ॥

छन्दस्यपि दृश्यते ॥७।१।७६॥

छन्दसि ७।१॥ अपि अ० ॥ दृश्यते क्रियापदम् ॥ *अनु०*—अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः, नपुंसकस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णां छन्दस्यप्यनङ् दृश्यते । यत्र विहितस्ततोऽन्यत्रापि दृश्यत

इत्यर्थः ॥ *उदा॰*—अचीत्युक्तमनजादावपि दृश्यते—इन्द्रो दधी अस्थभिः (ऋ॰ १।८४।१३) भद्रं पश्येमाक्षभिः (यजु॰ २५।२१ तृतीयादिष्वित्युक्तमतृतीयादिष्वपि दृश्यते-अक्षाण्युत्कृत्य जुहोति विभ वित्युक्तमविभक्तावपि दृश्यते—अक्षण्वता लाङ्गलेन। अस्थन्व यदनस्था बिभर्त्ति ॥

भाषार्थः—अस्थि दधि आदि अङ्गों को [*छन्दसि*] वेद विषय [*अपि*] भी अनङ् [*दृश्यते*] देखा जाता है, अर्थात् जहाँ विधान कि गया है, उससे अन्यत्र भी देखा जाता है। यथा पूर्वसूत्र में अजा परे कहा है अनजादि परे भी देखा जाता है। तृतीयादि कहा अतृतीयादि में भी होता है, एवं विभक्तौ कहा है अविभक्ति परे भ देखा जाता है। सभी उदाहरण ऊपर दिखा दिये हैं ॥ अक्षाणि उत्कृत्य यहाँ अक्षाणि में द्वितीयाबहुवचन है। अस्थभिः आदि में अनङ् करके नकार लोप *नलोपः॰* (८।२।७) से हुआ है। अक्षण्वता यहाँ विभक्ति से भिन्न मतुप् परे रहते भी अनङ् होकर 'अक्षन् मत्' रहा। *अनो नुट्* (८।२।१६) से मतुप् को नुट् आगम तथा *मादुपधा॰* (८।२।९) से मतुप् को वत्व होकर 'अक्षन् न् वत् टा' रहा। पूर्ववत् अनङ् वाले न् का लोप एवं णत्व होकर अक्षण्वता एवं अस्थन्वन्तम् (२।१) बन गया ॥

यहाँ से '*छन्दसि*' की अनुवृत्ति ७।१।७७ तक जायेगी ॥

ई च द्विवचने ॥७।१।७७॥

ई लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ॰ ॥ द्विवचने ७।१॥ *अनु॰*—छन्दसि, अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णाम् उदात्तः, नपुंसकस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये द्विवचने परतोऽस्थ्यादीनामीकारादेशो भवति स चोदात्तः ॥ *उदा॰*—अक्षी ते इन्द्र पिङ्गले कपेरिव। अक्षीभ्याम् ते नासिकाभ्याम् (ऋ॰ १०।१६३।१) ॥

भाषार्थः—[*द्विवचने*] द्विवचन विभक्ति परे रहते वेद विषय में अस्थि आदि शब्दों को [*ई*] ईकारादेश होता है, [*च*] और वह उदात्त होता है ॥ अक्षि औ यहाँ *नपुंसकाच्च* (७।१।१९) से औ को शी आदेश तथा प्रकृत सूत्र से अन्त्य अल् को 'ई' होकर अक्ष् ई शी रहा। अब *प्रथमयोः पूर्वसवर्णः* (६।१।९८) से प्राप्त पूर्वसवर्ण दीर्घ का निषेध *दीर्घाज्जसि च*

(६।१।१०१) से हुआ, तो *वा छन्दसि* (६।१।१०२) से पुनः प्राप्त करा दिया गया सो पूर्वसवर्ण दीर्घ होकर 'अक्षी' बना। भ्याम् परे रहते भी ईकार होकर अक्षीभ्याम् बनेगा ॥

नाभ्यस्ताच्छतुः ॥७।१।७८॥

न अ० ॥ अभ्यस्तात् ५।१॥ शतुः ६।१॥ अनु०—नुम्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अभ्यस्तादङ्गादुत्तरस्य शतुर्नुम्न भवति ॥ *उदा०*—ददत्, ददतौ, ददतः। दधत्, दधतौ, दधतः। जक्षत्, जक्षतौ, जक्षतः। जाग्रत्, जाग्रतौ, जाग्रतः ॥

भाषार्थः—[*अभ्यस्तात्*] अभ्यस्त अङ्ग से उत्तर [*शतुः*] शतृ को नुम् का आगम [*न*] नहीं होता है ॥ *उगिदचां०* (७।१।७०) से नुम् आगम प्राप्त था निषेध कर दिया। ददत् दधत् में दा धा के आ का लोप *श्नाभ्यस्तयोरातः* (६।४।११२) से हुआ है। दा दा शतृ = द दा अत् = द द् अत् = ददत् बन गया। जक्षत् जाग्रत् में *जक्षित्यादयः षट्* (६।१।६) से अभ्यस्त संज्ञा हुई है ॥

यहाँ से '*अभ्यस्तात्*' की अनुवृत्ति ७।१।७९ तक तथा '*शतुः*' की ७।१।८१ तक जायेगी ॥

वा नपुंसकस्य ॥७।१।७९॥

वा अ० ॥ नपुंसकस्य ६।१॥ अनु०—अभ्यस्ताच्छतुः, नुम्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अभ्यस्तादङ्गादुत्तरो यः शतृप्रत्ययस्तदन्तस्य नपुंसकस्य वा नुमागमो भवति ॥ *उदा०*—ददति कुलानि, ददन्ति कुलानि। दधति, दधन्ति कुलानि। जक्षति, जक्षन्ति। जाग्रति, जाग्रन्ति ॥

भाषार्थः—अभ्यस्त अङ्ग से उत्तर जो शतृ प्रत्यय तदन्त [*नपुंसकस्य*] नपुंसक शब्द को [*वा*] विकल्प से नुम् आगम होता है ॥ 'ददत् जस्' पूर्ववत् होकर नपुंसक लिङ्ग में *जश्शसोः०* (७।१।२०) से जस् को शि होकर ददति बन गया, पक्ष में नुम् होकर ददन्ति बन गया। इसी प्रकार अन्यों में भी जानें ॥

यहाँ से '*वा*' की अनुवृत्ति ७।१।८० तक जायेगी ॥

आच्छीनद्योर्नुम् ॥७।१।८०॥

आत् ५।१॥ शीनद्योः ७।२॥ नुम् १।१॥ स०—शीनद्योः इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—वा, नुम्, शतुः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अवर्णान्तादङ्गादुत्तरस्य शतुर्वा नुमागमो भवति शीनद्योः परतः ॥ *उदा०*—शौ-तुदती कुले, तुदन्ती कुले । याती कुले, यान्ती कुले । करिष्यती कुले, करिष्यन्ती कुले । नद्याम्—तुदती ब्राह्मणी, तुदन्ती ब्राह्मणी । याती ब्राह्मणी, यान्ती ब्राह्मणी । करिष्यती ब्राह्मणी, करिष्यन्ती ब्राह्मणी ॥

भाषार्थः—[*आत्*] अवर्णान्त अङ्ग से उत्तर [*शीनद्योः*] शी तथा नदी परे रहते शतृ प्रत्यय को विकल्प से [*नुम्*] नुम् आगम होता है ॥ तुद् श अत् = तुदत् औ यहाँ *नपुंसकाच्च* (७।१।१९) से शी आदेश होकर तुदत् शी = तुदती बन गया ॥ पक्ष में तुदन्ती बना । नदी परे के उदाहरणों में स्त्रीलिङ्ग में तुदत् से ङीप् प्रत्यय *उगितश्च* (४।१।६) से हुआ है सो एकवचन में तुदती बना । *यू स्त्र्याख्यौ नदी* (१।४।३) से नदी संज्ञा हो ही जायेगी ॥

यहाँ से '*शीनद्योः*' की अनुवृत्ति ७।१।८१ तक जायेगी ॥

शप्श्यनोर्नित्यम् ॥७।१।८१॥

शप्श्यनोः ६।२॥ नित्यम् १।१॥ *स०*—शप्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—शीनद्योः, शतुः, नुम्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—शप् श्यन् इत्येतयोः शतुः शीनद्योः परतो नित्यं नुमागमो भवति ॥ *उदा०*—शौ–पचन्ती कुले, दीव्यन्ती कुले, सीव्यन्ती कुले । नद्याम्–पचन्ती ब्राह्मणी । दीव्यन्ती ब्राह्मणी, सीव्यन्ती ॥

भाषार्थः—[*शप्श्यनोः*] शप् तथा श्यन् का जो शतृ प्रत्यय उसको [*नित्यम्*] नित्य ही नुम् का आगम होता है ॥ पचन्ती कुले में पूर्ववत् शी प्रत्यय हुआ है, एवं पच् के भ्वादिगणस्थ होने से शप् विकरण हुआ है, इस प्रकार शप् सम्बन्धी शतृ है । दीव्यन्ती में श्यन् विकरण हुआ है । नदी परे वाले उदाहरणों में पूर्ववत् ङीप हुआ जानें ॥

सावनडुहः ॥७।१।८२॥

सौ ७।१॥ अनडुहः ६।१॥ *अनु०*—नुम्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—सौ

परतोऽनडुहोऽङ्गस्य नुमागमो भवति ॥ उदा०—अनड्वान्, हे अनड्वन् ॥

भाषार्थः—[*सौ*] सु परे रहते [*अनडुहः*] अनडुह् अङ्ग को नुम् आगम होता है ॥ अनडुह् सु यहाँ *मिदचोऽन्त्यात् परः* (१।१।४६) से अन्त्य अच् से परे प्रकृत सूत्र से नुम् होकर अनडु नुम् ह् स् रहा। अब *चतुरनडुहोरामुदात्तः* (७।१।९८) से अनडुह् को आम् आगम पूर्ववत् अन्त्य अच् से परे होकर 'अनडु आम् नुम् ह् स् = अनडु आम् न् ह् स्' रहा। हल्ङ्यादि लोप, यणादेश एवं संयोगान्तलोप (८।२।२३) होकर अनड्वान् बना। सम्बुद्धि में *अम् सम्बुद्धौ* (७।१।९९) से आम् का अपवाद अम् आगम होगा, अतः हे अनड्वन् बनेगा ॥

यहाँ से '*सौ*' की अनुवृत्ति ७।१।८५ तक जायेगी ॥

दृक्स्ववःस्वतवसां छन्दसि ॥७।१।८३॥

दृक्स्ववःस्वतवसाम् ६।३॥ छन्दसि ७।१॥ *स०*—दृक्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सौ, नुम्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—दृक्, स्ववस्, स्वतवस् इत्येतेषामङ्गानां सौ परतो नुमागमो भवति, छन्दसि विषये ॥ उदा०—ईदृङ्, तादृङ्, यादृङ्, सदृङ्, स्ववान्। स्वतँवाँ पायुरग्ने (ऋ० ४।२।६) ॥

भाषार्थः—[*दृक्स्ववःस्वतवसाम्*] दृक्, स्ववस्, स्वतवस् इन अङ्गों को [*छन्दसि*] वेद विषय में सु परे रहते नुम् आगम होता है ॥ भाग १ के ३।२।६ सूत्र में यादृक्, तादृक् की सिद्धि की है, तद्वत् सब कार्य यहाँ हुआ है। केवल नुम् आगम विशेष होकर यादृ न् श् रहा संयोगान्त लोप होकर यादृन् रहा, अब *क्विन्प्रत्ययस्य०* (८।२।६२) से कुत्व हुआ, अर्थात् आन्तर्य से न् को ङ् हुआ। ईदृङ् कीदृङ् में भी इसी प्रकार जानें, केवल यहाँ इदम् को 'ईश्' तथा किम् को 'की' आदेश हुआ है ऐसा जानें। स्वव नुम् स् सु = स्ववन्स् स् यहाँ हल्ङ्यादि लोप संयोगादिलोप तथा दीर्घत्व (६।४।१४) होकर स्ववान् बन गया। इसी प्रकार स्वतवान् में समझें। संहिता पाठ में 'स्वतवाँः पायुः' *स्वतवान्पायौ* (८।३।११) से नकार को रु तथा रु को विसर्जनीय होकर बनेगा। *अत्रानुनासिकः पूर्वस्य०* (८।३।२) से पूर्व को अनुनासिक आदेश हो ही जायेगा। पदपाठ में स्वतवान् पायुः रहेगा ॥

दिव औत् ॥७।१।८४॥

दिवः ६।१॥ औत् १।१॥ *अनु०*—सौ, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—दिव् इत्येतस्य प्रातिपदिकस्य सौ परत औत् इत्ययमादेशो भवति। *उदा०*—द्यौः ॥

भाषार्थः—[*दिवः*] दिव् अङ्ग को सु परे रहते [*औत्*] औकारादेश होता है ॥ सिद्धि भाग १ परि० १।१।५१ में देखें ॥

पथिमथ्यृभुक्षामात् ॥७।१।८५॥

पथिमथ्यृभुक्षाम् ६।३॥ आत् १।१॥ *स०*—पन्थाश्च मन्थाश्च ऋभुक्षाश्च पथिमथ्यृभुक्षाणस्तेषाम् ....इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सौ, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—पथिन्, मथिन् ऋभुक्षिन् इत्येतेषामङ्गानां सौ परत आकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—पन्थाः, मन्थाः, ऋभुक्षाः ॥

भाषार्थः—[*पथिमथ्यृभुक्षाम्*] पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् इन अङ्गों को सु परे रहते [*आत्*] आकारादेश होता है ॥ पन्थाः की सिद्धि परि० १।१।५५ में देखें। इसी प्रकार अन्यों में भी समझें। केवल ऋभुक्षाः में *थो न्थः* (७।१।८७) नहीं लगेगा यह विशेष है ॥

यहाँ से '*पथिमथ्यृभुक्षाम्*' की अनुवृत्ति ७।१।८८ तक जायेगी ॥

इतोऽत्सर्वनामस्थाने ॥७।१।८६॥

इतः ६।१॥ अत् १।१॥ सर्वनामस्थाने ७।१॥ *अनु०*—पथिमथ्यृभुक्षाम्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—पथिन्, मथिन्, ऋभुक्षिन् इत्येतेषामिकारस्य स्थाने अकारादेशो भवति, सर्वनामस्थाने परतः ॥ *उदा०*—पन्थाः, पन्थानौ, पन्थानः, पन्थानम्, पन्थानौ। मन्थाः, मन्थानौ, मन्थानः, मन्थानम्, मन्थानौ। ऋभुक्षाः, ऋभुक्षाणौ, ऋभुक्षाणः, ऋभुक्षाणम्, ऋभुक्षाणौ ॥

भाषार्थः—पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् अङ्गों के [*इतः*] इकार के स्थान में [*अत्*] अकारादेश होता है [*सर्वनामस्थाने*] सर्वनामस्थान परे रहते ॥ सिद्धियाँ पूर्ववत् जानें। 'सु' से अन्यत्र पूर्व सूत्र से आकारादेश नहीं होगा, अतः पथिन् औ यहाँ इकार को अकार होकर एवं न्थ आदेश

होकर पन्थन् औ रहा। *सर्वनामस्थाने०* (६।४।८) से दीर्घ होकर पन्थानौ आदि प्रयोग बनेंगे ॥

यहाँ से '*सर्वनामस्थाने*' की अनुवृत्ति ७।१।९८ तक जायेगी ॥

थो न्थः ॥७।१।८७॥

थः ६।१॥ न्थः १।१॥ *अनु०*—सर्वनामस्थाने, पथिमथोः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—पथिमथोस्थकारस्य स्थाने 'न्थ' इत्ययमादेशो भवति सर्वनामस्थाने परतः ॥ *उदा०*—पन्थाः, पन्थानौ, पन्थानः, पन्थानम्, पन्थानौ। मन्थाः, मन्थानौ, मन्थानः, मन्थानम्, मन्थानौ ॥

भाषार्थः—पथिन् तथा मथिन् अङ्ग के [*थः*] थकार के स्थान में [*न्थः*] न्थ आदेश होता है ॥

विशेषः—सामर्थ्य से यहाँ 'ऋभुक्षिन्' की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं लगता, क्योंकि इस शब्द में थकार है ही नहीं, जिसके स्थान में न्थ आदेश हो ॥

भस्य टेर्लोपः ॥७।१।८८॥

भस्य ६।१॥ टेः ६।१॥ लोपः १।१॥ *अनु०*—पथिमथ्यृभुक्षाम्, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—पथ्यादीनां भसंज्ञकानां टेर्लोपो भवति ॥ *उदा०*—पथः, पथा, पथे। मथः, मथा, मथे। ऋभुक्षः, ऋभुक्षा, ऋभुक्षे ॥

भाषार्थः—पथिन्, मथिन् तथा ऋभुक्षिन् [*भस्य*] भसंज्ञक अङ्गों की [*टेः*] टि का [*लोपः*] लोप होता है ॥ पथिन् ङस् यहाँ *यचि भम्* (१।४।१८) से पथिन् की भ संज्ञा होकर प्रकृत सूत्र से टि भाग का लोप हो गया तो पथ् अस् = पथः बन गया। इसी प्रकार सबमें जानें ॥

पुंसोऽसुङ् ॥७।१।८९॥

पुंसः ६।१॥ असुङ् १।१॥ *अनु०*—सर्वनामस्थाने, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—पुंस इत्येतस्याङ्गस्य सर्वनामस्थाने परतोऽसुङ् इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—पुमान्, पुमांसौ, पुमांसः, पुमांसम्, पुमांसौ ॥

भाषार्थः—[*पुंसः*] पुंस् अङ्ग के स्थान में सर्वनामस्थान परे रहते

[*असुङ्*] असुङ् आदेश होता है ॥ पुम्स् सु यहाँ *ङिच्च* (१।१।५ अन्त्य अल् स् को असुङ् होकर पुम् असुङ् सु = पुमस् स् रहा । *उगि* (७।१।७०) से नुम् एवं *सान्तमहत:०* (६।४।१०) से दीर्घ होकर पुमा स् स् = पुमान् स् स् रहा । हल्ङ्यादि लोप एवं संयोगान्त लोप पुमान् बना । इसी प्रकार पुमांसौ आदि जानें ॥

गोतो णित् ॥७।१।९०॥

गोत: ५।१॥ णित् १।१॥ *स०*—णकार इत् यस्य स णित्, व्रीहि: ॥ *अनु०*—सर्वनामस्थाने, अङ्गस्य ॥ *अर्थ:*—गोशब्द सर्वनामस्थानं णित् भवति ॥ *उदा०*—गौ:, गावौ, गाव:, गाम्, गावौ

भाषार्थ:—[*गोत:*] गो शब्द से उत्तर सर्वनामस्थान वि [*णित्*] णित्वत् होती है, अर्थात् णित् के समान कार्य हो जाते यह अतिदेश सूत्र है ॥ गो सु यहाँ सु को णित्वत् अतिदेश हो *अचो ञ्णिति* (७।२।११५) से गो अङ्ग को वृद्धि होकर गौ स् बना । विसर्जनीय होकर गौ: बन गया । औ औट् तथा जस् परे रहते इसी प्रकार जानें, केवल वहाँ *एचोयवायाव:* (६।१।७५) से आव् अ होगा । अम् परे रहते *औतोऽम्शसो:* (६।१।९०) से आकारादेश ह है ॥ णित् के साथ सामानाधिकरण्य होने से 'सर्वनामस्थाने' पद प्रथमान्त में बदल जाता है ॥

यहाँ से '*णित्*' की अनुवृत्ति ७।१।९२ तक जायेगी ॥

णलुत्तमो वा ॥७।१।९१॥

णल् १।१॥ उत्तम: १।१॥ वा अ० ॥ *अनु०*—णित् ॥ *अर्थ:*—उत्त णल् विकल्पेन णित् भवति ॥ *उदा०*—अहं चकर, अहं चकार, पपच, अहं पपाच ॥

भाषार्थ:—[*उत्तम:*] उत्तम पुरुष का जो [*णल्*] णल् उसको [विकल्प से णित्वत् होता है ॥ णित् पक्ष में पूर्ववत् कृ तथा पच् वृद्धि तथा अणित् पक्ष में वृद्धि नहीं होगी यही विशेष है । सिद्धि का प्रकार परि० ६।१।१ में देखें ॥

सख्युरसंबुद्धौ ॥७।१।९२॥

सख्यु: ५।१॥ असंबुद्धौ ७।१॥ *स०*—न संबुद्धिरसंबुद्धिस्तस्याम्

नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—णित्, सर्वनामस्थाने, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—असंबुद्धौ यः सखिशब्दस्तस्मात् परं सर्वनामस्थानं णित् भवति ॥ *उदा०*—सखायौ, सखायः, सखायम्, सखायौ ॥

भाषार्थः—[*असंबुद्धौ*] संबुद्धि परे नहीं है जिससे ऐसे [*सख्युः*] सखि शब्द से उत्तर सर्वनामस्थान विभक्ति णित्वत् होती है ॥ पूर्ववत् णित् होने से सखि को वृद्धि होकर सखै औ रहा। आयादेश होकर सखायौ बन गया ॥

यहाँ से '*सख्युः*' की अनुवृत्ति ७।१।९३ तक तथा '*असंबुद्धौ*' की ७।१।९५ तक जायेगी ॥

अनङ् सौ ॥७।१।९३॥

अनङ् १।१॥ सौ ७।१॥ *अनु०*—सख्युरसंबुद्धौ, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—सखि इत्येतस्याङ्गस्य सौ परतोऽनङ् इत्ययमादेशो भवति, स चेत् सुशब्दः संबुद्धेर्न स्यात् ॥ *उदा०*—सखा ॥

भाषार्थः—सखि अङ्ग को संबुद्धिभिन्न [*सौ*] सु परे रहते [*अनङ्*] अनङ् आदेश होता है ॥ *ङिच्च* (१।१।५२) से अन्त्य अल् को अनङ् होगा ॥ सख् अनङ् सु = सखन् स् यहाँ *सर्वनामस्थाने०* (६।४।८) से दीर्घ एवं हल्ङ्याादि लोप तथा नलोप होकर सखा बन गया ॥

यहाँ से '*अनङ् सौ*' की अनुवृत्ति ७।१।९४ तक जायेगी ॥

ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च ॥७।१।९४॥

ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसाम् ६।३॥ च अ० ॥ *स०*—ऋच्च उशनश्च पुरुदंसश्च अनेहश्च ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसस्तेषाम्......इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अनङ् सौ, असंबुद्धौ, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—ऋकारान्तानामङ्गानाम्, उशनस्, पुरुदंसस्[1], अनेहस् इत्येतेषां चाङ्गानामसंबुद्धौ सौ परतोऽनङादेशो भवति ॥ *उदा०*—ऋत्—कर्त्ता, हर्त्ता, माता, पिता, भ्राता। उशना। पुरुदंसा। अनेहा ॥

---

१. अष्टाध्याय्यां 'पुरुदंशस्' पाठान्तरं दृश्यते। वैदिकवाङ्मये 'पुरुदंसस्' पदस्यैवोपलम्भादस्माभिः दन्त्यसकारवान् पाठ एवाहृतः। धातुपाठे दंश दंस उभावपि धातू पठ्येते, तन्मूलक एवायं पाठभेदः स्यादित्यनुमीयते ॥

भाषार्थः—[*ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसाम्*] ऋकारान्त अङ्ग को त
उशनस्, पुरुदंसस्, अनेहस् अङ्गों को [च] भी संबुद्धिभिन्न सु
रहते अनङ् आदेश होता है ।। कर्त्ता हर्त्ता की सिद्धि भाग १ प
१।१।२ में देखें । इसी प्रकार मातृ पितृ शब्द से माता पिता बने।
उशनस् आदि में भी अन्त्य सकार को अनङ् होकर उशान अनङ
रहा । *अतो गुणे* (६।१।६४) आदि लगकर पूर्ववत् उशना आदि बन गये

तृज्वत् क्रोष्टुः ।।७।१।९५।।

तृज्वत् अ० ।। क्रोष्टुः १।१।। *अनु०*—सर्वनामस्थाने, असंबु:
अङ्गस्य ।। तृचा तुल्यं वर्त्तते इति तृज्वत्, *तेन तुल्यं०* (५।१।११४) इ
वतिः ।। *अर्थः*—सर्वनामस्थानेऽसंबुद्धौ परतस्तुन्प्रत्ययान्तः क्रोष्टुश
स्तृज्वत् भवति ।। रूपातिदेशोऽयम् ।। तृजन्तस्य यद् रूपं तद
भवतीत्यर्थः ।। *उदा०*—क्रोष्टा, क्रोष्टारौ, क्रोष्टारः, क्रोष्टारम्, क्रोष्टारौ

भाषार्थः—संबुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे रहते तुन् प्रत्यया
[*क्रोष्टुः*] क्रोष्टु शब्द को [*तृज्वत्*] तृचवत् हो जाता है । अर्थात् त
प्रत्यय में जो रूप इस शब्द का होगा तद्वत् सर्वनामस्थान परे रहते तु
प्रत्ययान्त (उणा १।६६) इस क्रोष्टु को भी अतिदिष्ट हो जाता है, इ
प्रकार सर्वनामस्थान परे रहते तृच् के समान इस शब्द के रूप चलेंगे
यह रूपातिदेश सूत्र है, सो क्रोष्टु को क्रोष्टृ ऐसा रूप अतिदेश सर्वना
स्थान परे रहते होकर सब कार्य आगे परि० १।१।२ के चेता के सम
हो गये । क्रोष्टारौ, क्रोष्टारः में *ऋतो ङि०* (७।३।११०) से गुण त
अप्तृन्तृच्० (६।४।११) से दीर्घ होता है ।।

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।१।९७ तक जायेगी ।।

स्त्रियां च ।।७।१।९६।।

स्त्रियाम् ७।१।। च अ० ।। *अनु०*—तृज्वत् क्रोष्टुः, अङ्गस्य
अर्थः—स्त्रियां च क्रोष्टुशब्दस्य तृज्वत् भवति ।। असर्वनामस्थानार्थो
यमारम्भः ।। *उदा०*—क्रोष्ट्री, क्रोष्ट्रीभ्याम्, क्रोष्ट्रीभिः ।।

भाषार्थः—[*स्त्रियाम्*] स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान क्रोष्टु शब्द को [च] भ
तृजन्त शब्द के समान अतिदेश हो जाता है ।। असर्वनामस्थान प

रहते भी हो जाये इसलिये इस सूत्र का आरम्भ है ॥ क्रोष्टु को तृज्वत् रूप अतिदेश क्रोष्टृ ऋकारान्त बना लेने पर *ऋन्नेभ्यो ङीप्* (४।१।५) से ङीप् एवं यणादेश होकर क्रोष्ट्री आदि रूप बन गये ॥

विभाषा तृतीयादिष्वचि ॥७।१।९७॥

विभाषा १।१॥ तृतीयादिषु ७।३॥ अचि ७।१॥ *स०*—तृतीया आदिर्येषां ते तृतीयादयस्तेषु.......बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—तृज्वत् क्रोष्टुः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—तृतीयादिष्वजादिषु विभक्तिषु परतो क्रोष्टुर्विभाषा तृज्वत् भवति ॥ *उदा०*—क्रोष्ट्रा, क्रोष्टुना । क्रोष्ट्रे, क्रोष्टवे । क्रोष्टुः, क्रोष्टोः । क्रोष्टरि, क्रोष्टौ । क्रोष्ट्रोः, क्रोष्ट्वोः ॥

भाषार्थः—[*तृतीयादिषु*] तृतीयादि [*अचि*] अजादि विभक्तियों के परे रहते क्रोष्टु शब्द को [*विभाषा*] विकल्प से तृज्वत् अतिदेश होता है ॥ इस प्रकार तृतीयादि अजादि विभक्ति परे रहते दो २ रूप बनेंगे ॥ तृज्वत् पक्ष में यणादेश होकर 'टा' परे रहते क्रोष्ट्रा एवं अतृज्वत् पक्ष में *आङो ना०* (७।३।११६) से नाभाव होकर क्रोष्टुना बना है । ङे, ङसि, ङस् परे रहते अतृज्वद्भाव पक्ष में *घेर्ङिति* (७।३।१११) से गुण एवं अवादेश होगा । क्रोष्टुः क्रोष्टोः की सिद्धि क्रमशः ६।१।१०६ एवं १०७ सूत्रों में होतुः तथा वायोः के समान जानें ॥ क्रोष्टरि में *ऋतो ङि०* (७।३।११०) से गुण होता है, एवं क्रोष्टौ में *औदच्च घेः* (७।३।११८) से क्रोष्टु को अकारान्तादेश तथा ङि को औत्व होकर क्रोष्ट औ रहा । वृद्धि एकादेश होकर क्रोष्टौ बन गया ॥ क्रोष्ट्रोः क्रोष्ट्वोः में यणादेश पूर्ववत् समझें ॥

चतुरनडुहोरामुदात्तः ॥७।१।९८॥

चतुरनडुहोः ६।२॥ आम् १।१॥ उदात्तः १।१॥ *स०*—चतुश्च अनड्वांश्च चतुरनडुहौ तयोः.......इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सर्वनामस्थाने, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—चतुर् अनडुह् इत्येतयोः सर्वनामस्थाने परत आम् आगमो भवति, स चोदात्तः ॥ *उदा०*—चत्वारः । अनड्वान्, अनड्वाहौ, अनड्वाहः, अनड्वाहम्, अनड्वाहौ ॥

भाषार्थः—[*चतुरनडुहोः*] चतुर् तथा अनडुह् इन अङ्गों को सर्वनामस्थान विभक्ति परे रहते [*आम्*] आम् आगम होता है, और वह

[उदात्तः] उदात्त होता है ॥ सिद्धि ७।१।८२ सूत्र में देखें। *आगमा अनुदात्ता भवन्ति* (परि० ११०) इस परिभाषा से आगम अनुदात्त होते हैं, अतः उदात्त कह दिया। चतु आम् र् जस् = चत्वारस् = चत्वारः ॥

यहाँ से 'चतुरनडुहोः' की अनुवृत्ति ७।१।९९ तक जायेगी ॥

अम् सम्बुद्धौ ॥७।१।९९॥

अम् १।१॥ सम्बुद्धौ ७।१॥ *अनु०*—चतुरनडुहोः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—संबुद्धौ परतश्चतुरनडुहोरमागमो भवति ॥ *उदा०*—हे प्रियचत्वः, हे अनड्वन्, हे प्रियानड्वन् ॥

भाषार्थः—[*संबुद्धौ*] संबुद्धि परे रहते चतुर् तथा अनडुह् अङ्ग को [*अम्*] अम् आगम होता है ॥ पूर्व सूत्र का यह अपवाद है ॥

ॠत इद्धातोः ॥७।१।१००॥

ॠतः ६।१॥ इत् १।१॥ धातोः ६।१॥ *अनु०*—अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—ॠकारान्तस्य धातोरङ्गस्य इकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—किरति, गिरति, आस्तीर्णम्, विशीर्णम् ॥

भाषार्थः—[*ॠतः*] ॠकारान्त [*धातोः*] धातु के अङ्ग को [*इत्*] इकारादेश होता है ॥ किरति गिरति की सिद्धि परि० १।१।५० में देखें। स्तॄ तथा शॄ धातु से निष्ठा में आस्तीर्णम्, विशीर्णम् बना है। प्रकृत सूत्र से इत्व रपरत्व होकर *रदाभ्यां०* (८।२।४२) से निष्ठा के त् को न् एवं *रषाभ्यां०* (८।४।१) से णत्व तथा *हलि च* (८।२।७७) से दीर्घत्व यहाँ हुआ है। *श्र्युकः किति* (७।२।११) से यहाँ इट् आगम का निषेध भी होता है ॥

यहाँ से '*ॠतः धातोः*' की अनुवृत्ति ७।१।१०२ तक तथा '*इत्*' की ७।१।१०१ तक जायेगी ॥

उपधायाश्च ॥७।१।१०१॥

उपधायाः ६।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—ॠत इद्धातोः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—धातोरङ्गस्य उपधाया ॠकारस्य स्थाने इकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—कीर्त्तयति, कीर्त्तयतः, कीर्त्तयन्ति ॥

भाषार्थः—धातु अङ्ग की [*उपधायाः*] उपधा ॠकार के स्थान में

[च] भी इकारादेश होता है ॥ कॄत् णिच् यहाँ ॠ को इत्व रपरत्व होकर किर् त् इ रहा । उपधायां च (८।२।७८) से दीर्घत्व होकर कीर्त्ति धातु बनी । पश्चात् शप् तिप् आकर कीर्त्तयति बन गया ॥

उदोष्ठ्यपूर्वस्य ॥७।१।१०२॥

उत् १।१॥ ओष्ठ्यपूर्वस्य ६।१॥ स०—ओष्ठ्यः पूर्वो यस्मात् स ओष्ठ्यपूर्वस्तस्य ... बहुव्रीहिः ॥ अनु०—ॠतः धातोः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—ओष्ठ्यः पूर्वो यस्मात् ॠकारात् तदन्तस्य धातोरङ्गस्य उकारादेशो भवति ॥ उदा०—पूर्त्ताः पिण्डाः, पुपूर्षति, मुमूर्षति ॥

भाषार्थः—[ओष्ठ्यपूर्वस्य] ओष्ठ्य वर्ण पूर्व में है जिस ॠकार से तदन्त धातु को [उत्] उकारादेश होता है ॥ पॄ धातु के ॠकार से पूर्व प् ओष्ठ्य वर्ण है, इसी प्रकार मृङ् में भी सन् के इको झल् (१।२।९) से कित् होने से गुण नहीं होता, तत्पश्चात् अज्झनगमां सनि (६।४।१६) से दीर्घ 'मॄ' होने पर इस सूत्र से उत्त्व रपरत्व होकर मुर् स, पुर् स, रहा शेष कार्य परि० १।१।५७ में प्रदर्शित चिकीर्षकः के समान जानें । न ध्याख्या पॄ० (८।२।५७) से निष्ठा के नत्व का निषेध होकर निष्ठा में पूर्त्ताः बनेगा ॥

यहाँ से 'उत्' की अनुवृत्ति ७।१।१०३ तक जायेगी ॥

बहुलं छन्दसि ॥७।१।१०३॥

बहुलम् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—उत्, ॠतः धातोः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—छन्दसि विषये ॠकारान्तस्य धातोरङ्गस्य बहुलम् उकारादेशो भवति ॥ उदा०—ओष्ठ्यपूर्वस्येत्युक्तमनोष्ठ्यपूर्वस्यापि भवति—मित्रावरुणौ ततुरिः । दूरे ह्यध्वा जगुरिः । ओष्ठ्यपूर्वस्यापि न भवति—पप्रितमम् । वव्रितमम् । क्वचिद् भवति च—पपुरिः ॥

भाषार्थः—[छन्दसि] वेद विषय में ॠकारान्त धातु के अङ्ग को [बहुलम्] बहुल करके उकारादेश होता है ॥ बहुल ग्रहण से ओष्ठ्यपूर्व को कहा था, अनोष्ठ्यपूर्व तॄ गॄ के ॠ को भी उत्त्व होता है, तथा ओष्ठ्यपूर्व को भी कहीं होता है, कहीं नहीं होता । ततुरिः, जगुरिः की सिद्धि भाग १ परि० ३।२।१७१ में देखें । पॄ से इसी प्रकार पपुरिः

बनेगा। पृ धातु से ही 'कि' प्रत्यय तथा द्वित्वादि इसी प्रकार करके पृ पृ कि रहा। अभ्यास कार्य उरदत्व (७।४।६६) करके प पृ इ रहा। यणादेश करके पप्रि प्रातिपदिक बना। तमप् प्रत्यय करके पप्रितमम् एवं वृ से वव्रितमम् बन गया। यहाँ बहुल कहने से पूर्व सूत्र से प्राप्त होने पर भी उत्त्व नहीं हुआ॥

इति प्रथमः पादः

—:०:—

द्वितीयः पादः

[वृद्धिप्रकरणम्]

सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु ॥७।२।१॥

सिचि ७।१॥ वृद्धिः १।१॥ परस्मैपदेषु ७।३॥ *अनु०*—अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—परस्मैपदेषु परेषु सिचि परत इगन्तस्याङ्गस्य वृद्धिर्भवति॥ *उदा०*—अचैषीत्, अनैषीत्, अलावीत्, अपावीत्, अकार्षीत्, अहार्षीत्॥

भाषार्थः—[*परस्मैपदेषु*] परस्मैपद के प्रत्यय परे हैं जिसके ऐसे [*सिचि*] सिच् के परे रहते इगन्त अङ्ग को [*वृद्धिः*] वृद्धि होती है॥ गुण वृद्धि के विधान स्थल में इको *गुणवृद्धी* (१।१।३) परिभाषा सूत्र की उपस्थिति होने से यहाँ 'इगन्त अङ्ग' ऐसा अर्थ किया गया है॥ सब सिद्धियाँ परि० १।१।१ में देखें॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।२।७ तक जायेगी॥

अतो ल्रान्तस्य ॥७।२।२॥

अतः ६।१॥ ल्र लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः॥ अन्तस्य ६।१॥ *स०*—ल् च रश्च ल्रम्, तस्य समाहारो द्वन्द्वः॥ *अनु०*—सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु,

अङ्गस्य ।। *अर्थः*—अतोऽन्तौ = अकारसमीपौ यौ रेफलकारौ तदन्तस्याङ्गस्य अत एव स्थाने वृद्धिर्भवति परस्मैपदपरे सिचि परतः ।। समीपवचनोऽयमन्तशब्दः ।। *उदा०*—लान्तस्य—ज्वल—अज्वालीत्, ह्मल—अह्मालीत् । रेफान्तस्य—क्षर—अक्षारीत् । त्सर—अत्सारीत् ।।

भावार्थः—अकार के [*अन्तस्य*] समीप जो [*ल्र्*] रेफ तथा लकार तदन्त अङ्ग के [*अतः*] अकार के स्थान में ही वृद्धि होती है, परस्मैपदपरक सिच् परे हो तो ।। अन्त शब्द यहाँ समीपवाची लिया गया है, अतः सन्निकट होने से समीपस्थ अकार ही लिया जाएगा ।। ज्वल् त्सर् आदि में ल् तथा रेफ के समीप 'अ' है ही, अतः उसको वृद्धि हो गई है ।। *अतो हलादेर्लघोः* (७।२।७) से लघु अकार को विकल्प से वृद्धि प्राप्त थी, तदपवाद है ।। सिद्धियाँ पूर्ववत् जानें ।।

वदव्रजहलन्तस्याचः ।।७।२।३।।

वदव्रजहलन्तस्य ६।१।। अचः ६।१।। *स०*—हल् अन्ते यस्य स हलन्तः, बहुव्रीहिः । वदश्च व्रजश्च हलन्तश्च वदव्रजहलन्तम् तस्य...... समाहारो द्वन्द्वः ।। *अनु०*—सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु, अङ्गस्य ।। *अर्थः*—वद व्रज इत्येतयोः हलन्तानां चाङ्गानामचः स्थाने वृद्धिर्भवति, परस्मैपदपरे सिचि परतः ।। *उदा०*—अवादीत्, अव्राजीत् । हलन्तानाम्—अपाक्षीत्, अभैत्सीत्, अच्छैत्सीत्, अरौत्सीत् ।।

भावार्थः—[*वदव्रजहलन्तस्य*] वद् व्रज तथा हलन्त अङ्गों के [*अचः*] अच् के स्थान में वृद्धि होती है, परस्मैपदपरक सिच् परे हो तो ।। *सिचि वृद्धिः०* (७।२।१) से इगन्त अङ्ग को वृद्धि प्राप्त थी, अनिगन्तार्थ इस सूत्र का आरम्भ है । वद व्रज धातुएँ हलन्त हैं ही, पुनः इनका पृथक् ग्रहण *अतो हलादेर्लघोः* (७।२।७) से प्राप्त विकल्प के बाधन के लिये है ।। अभैत्सीत् आदि की सिद्धि परि० ३।१।५७ में देखें । डुपचष् पाके से अपाक्षीत् *चोः कुः* (८।२।३०) से कुत्व होकर बनेगा ।।

यहाँ से '*हलन्तस्य*' की अनुवृत्ति ७।२।४ तक जायेगी ।।

नेटि ।।७।२।४।।

न अ० ।। इटि ७।१।। *अनु०*—हलन्तस्य, सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु,

अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—इडादौ सिचि परस्मैपदेषु परतो हलन्तस्याङ्गस्य वृद्धिर्न भवति ॥ *उदा०*—दिवु–अदेवीत्। सिवु–असेवीत्। कुष–अकोषीत्, मुष–अमोषीत् ॥

भावार्थः—परस्मैपद परे है जिससे ऐसे [*इटि*] इडादि सिच् परे रहते हलन्त अङ्ग को वृद्धि [*न*] नहीं होती ॥ इस प्रकार अनिडादि सिच् परे हलन्त अङ्ग को पूर्व सूत्र से वृद्धि होगी, क्योंकि इडादि सिच् परे रहते प्रकृत सूत्र से निषेध कहा है। पूर्व सूत्र से जो अतिव्याप्ति थी उसका यहाँ प्रतिषेध हो गया ॥ सिद्धियाँ पूर्ववत् अलावीत् के समान ही जानें ॥

यहाँ से '*नेटि*' की अनुवृत्ति ७।२।७ तक जायेगी ॥

ह्म्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम् ॥७।२।५॥

ह्म्यन्त·····दिताम् ६।३॥ *स०*—ह् च म् च य् च ह्म्यः, ह्म्योऽन्ते यस्य स ह्म्यन्तः, द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः। एकार इत् यस्य स एदित्, बहुव्रीहिः। ह्म्यन्तश्च क्षणश्च श्वसश्च जागृ च णिश्च श्विश्च एदित् च ह्म्यन्त··दितस्तेषाम्·····इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—नेटि, सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—हकारान्तानां मकारान्तानां यकारान्तानां चाङ्गानां क्षण, श्वस, जागृ, णि, श्वि इत्येतेषाम् एदितां च इडादौ सिचि परस्मैपदे परतो वृद्धिर्न भवति ॥ उदा०—हकारान्तानाम्—अग्रहीत्। मकारान्तानाम्—अस्यमीत्, अवमीत्। यकारान्तानाम्—अव्ययीत्। क्षण—अक्षणीत्। श्वस—अश्वसीत्। जागृ—अजागरीत्। णिजन्तस्य—औनयीत्, ऐलयीत्। श्वि—अश्वयीत्। एदिताम्—कखे—अकखीत्। रगे—अरगीत्। हसे—अहसीत् ॥

भावार्थः—[*ह्म्यन्त··दिताम्*] हकारान्त, मकारान्त तथा यकारान्त अङ्गों को एवम् क्षण, श्वस, जागृ, णि, श्वि तथा एदित् अङ्गों को परस्मैपदपरक इडादि सिच् परे रहते वृद्धि नहीं होती ॥ हकारान्त मकारान्त तथा यकारान्त एवम् क्षण् श्वस् तथा एदित् अङ्गों को *अतो हलादेर्लघोः* (७।२।७) से विकल्प से वृद्धि प्राप्त थी, निषेध कर दिया है, एवं जागृ णि तथा श्वि को *सिचि वृद्धिः०* (७।२।१) से नित्य वृद्धि प्राप्त थी प्रतिषेध कर दिया ॥ णि से यहाँ णिजन्त धातु का ग्रहण होता

ः। अश्वयीत् की सिद्धि परि० ३।१।४६ में देखें। ऊन णिजन्त धातु
े औनयीत्, एवं इल णिजन्त से ऐलयीत् की सिद्धि सूत्र ३।१।५१ में
ेखें॥ यहाँ णिश्वि ग्रहण ज्ञापक है कि परत्व से प्राप्त गुण, वृद्धि
का बाधक होता है अन्यथा णि श्वि को वृद्धि प्राप्त ही नहीं थी, पुनः
इनका ग्रहण व्यर्थ होता क्योंकि गुण करके एकारान्त होने से वृद्धि
की प्राप्ति ही अनिगन्त होने से नहीं होती एवं अयादेश करने पर भी
ान्त मानकर ही प्रकृत सूत्र से निषेध हो जाता ॥

ऊर्णोतेर्विभाषा ॥७।२।६॥

ऊर्णोतेः ६।१॥ विभाषा १।१॥ *अनु०*—नेटि, सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—ऊर्णुञ् धातोरिडादौ सिचि परस्मैपदपरे परतो विभाषा वृद्धिर्न भवति॥ *उदा०*—प्रौर्णावीत्, प्रौर्णवीत्॥

भाषार्थः—[*ऊर्णोतेः*] ऊर्णुञ् धातु को परस्मैपदपरक इडादि सिच् परे रहते [*विभाषा*] विकल्प से वृद्धि नहीं होती॥ *सिचि वृद्धिः०* से नित्य वृद्धि प्राप्त थी विकल्पार्थ यह वचन है। *विभाषोर्णोः* (१।२।३) से जिस पक्ष में ङित्वत् नहीं होता उस पक्ष में ही यहाँ वृद्धि विकल्प से होगी क्योंकि ङित् पक्ष में *क्ङिति च* से वृद्धि निषेध का होगा। जब पक्ष में वृद्धि नहीं होगी तो ऊर्णु के णु के उ को गुण अवादेश होकर प्रौर्णवीत् बनेगा॥ ऊर्णु के 'उ' एवं 'आट्' को *आटश्च* (६।१।८७) से वृद्धि एकादेश होकर और्णवीत् बना, एवं प्र उपसर्ग के साथ *वृद्धिरेचि* (६।१।८५) से वृद्धि एकादेश होकर प्रौर्णवीत् आदि बन गया॥

यहाँ से '*विभाषा*' की अनुवृत्ति ७।२।७ तक जायेगी॥

अतो हलादेर्लघोः ॥७।२।७॥

अतः ६।१॥ हलादेः ६।१॥ लघोः ६।१॥ *स०*—हल् आदिर्यस्य स हलादिस्तस्य ... बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—विभाषा, नेटि, सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—हलादेरङ्गस्य लघोरकारस्य इडादौ सिचि परस्मैपदेषु परतो विभाषा वृद्धिर्न भवति॥ *उदा०*—अकणीत्, अकाणीत्। अरणीत्, अराणीत्॥

भाषार्थः—[*हलादेः*] हलादि अङ्ग के [*लघोः*] लघु [*अतः*] अकार

को परस्मैपदपरक इडादि सिच् के परे रहते विकल्प से वृद्धि नहीं हो
अर्थात् विकल्प से होती है ॥ नेटि (७।२।४) से प्रतिषेध प्राप्त
विकल्प से विधान कर दिया ॥ सिद्धियाँ पूर्ववत् हैं ॥

[इट्निषेधप्रकरणम्]

नेड्वशि कृति ॥७।२।८॥

न अ० ॥ इट् १।१॥ वशि ७।१॥ कृति ७।१॥ *अर्थः*—वशादौ कृति प्रत्यये परत इडागमो न भवति ॥ *उदा०*—ईश्—ईश्वरः । दीप्—दीप्रः भस्—भस्म । याच्—याच्ञा ॥

भापार्थः—[*वशि*] वशादि [*कृति*] कृत् प्रत्यय परे रहते [*इट्*] इट् का आगम [*न*] नहीं होता ॥ *आर्धधातुकस्ये०* (७।२।३५) से इट् आगम प्राप्त था निषेध कह दिया । यह इट् निषेध प्रकरण *आर्धधातुकस्येड्०* का पुरस्तादपवाद अर्थात् विधान से पूर्व ही अपवाद है ॥ ईश्वरः यहाँ *स्थेशभास०* (३।२।१७५) से वशादि वरच् कृत् प्रत्यय हुआ है । दीप्रः में *नमिकम्पि०* (३।२।१६७) से वशादि 'र' प्रत्यय हुआ है । भस्म यहाँ *अन्येभ्योऽपि०* (३।२।७५) से मनिन् प्रत्यय हुआ है । भस्मन् = नपुंसकलिङ्ग में भस्म बना । याच्ञा में *यजयाच०* (३।३।९०) से नङ् प्रत्यय हुआ है ॥

यहाँ से 'नेट्' की अनुवृत्ति ७।२।३४ तक तथा '*कृति*' की ७।२।९ तक जायेगी ॥

तितुत्रतथसिसुसरकसेषु च ॥७।२।९॥

तितु...सेषु ७।३॥ च अ० ॥ *स०*—तितु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—नेट्, कृति ॥ *अर्थः*—ति, तु, त्र, त, थ, सि, सु, सर, क, स इत्येतेषु कृत्सु परतो इडागमो न भवति ॥ 'ति' इत्यनेन क्तिन् क्तिचोः सामान्येन ग्रहणम् ॥ *उदा०*—क्तिच्-तन्तिः । क्तिन्-दीप्तिः । तु-सक्तुः । त्र—पत्रम्, तन्त्रम् । त—हस्तः, लोतः, पोतः, धूर्त्तः । थ—कुष्ठम्, काष्ठम् । सि-कुक्षिः । सु-इक्षुः । सर-अक्षरम् । क-शल्कः । स—वत्सः ॥

भाषार्थः—[*तितु*···*सेषु*] ति, तु, त्र, त, थ, सि, सु, सर, क, स इन
् संज्ञक प्रत्ययों के परे रहते [च] भी इट् आगम नहीं होता ॥ पूर्व-
् आर्धधातु० (७।२।३५) से सर्वत्र इट् आगम प्राप्त था, प्रतिषेध कर
या । ति, तु, त्र आदि प्रत्यय वशादि नहीं हैं, अतः पूर्व सूत्र से निषेध
हीं हो सकता था, सो पृथक् प्रतिषेध कर दिया ॥ 'ति' से क्तिच् क्तिन्
नों का ही सामान्य रूप से यहाँ ग्रहण होता है ॥

एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् ॥७।२।१०॥

एकाचः ५।१॥ उपदेशे ७।१॥ अनुदात्तात् ५।१॥ *स०*—एकोऽच्
स्मिन् स एकाच्, तस्मात्······बहुव्रीहिः । न विद्यते उदात्तो यस्मिन्
अनुदात्तस्तस्मात्·······बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—नेट् ॥ *अर्थः*—उपदेशे यो
ातुरेकाच् अनुदात्तश्च तस्माद् इडागमो न भवति ॥ *उदा०*—दाता,
ता, चेता, स्तोता, कर्त्ता, हर्त्ता ॥

भाषार्थः—[*उपदेशे*] उपदेश में जो धातु [*एकाचः*] एक अच् वाले
था [*अनुदात्तात्*] अनुदात्त उनसे उत्तर इट् का आगम नहीं होता ॥
ूर्ववत् इडागम प्राप्त था ॥ डुदाञ् णीञ् आदि धातु उपदेश में एकाच्
वं अनुदात्त हैं ॥ इस सूत्र के व्यवस्थानुसार अनिट् (जिनसे इट् नहीं
ोता) धातुयें कितनी हैं यह आख्यातिक एवं काशिका में कारिका रूप
में पढ़ दिया है ॥

श्र्युकः किति ॥७।२।११॥

श्र्युकः ६।१॥ किति ७।१॥ *स०*—श्रिश्च उक् च श्र्युक् तस्य···
···समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—नेट्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—श्रि इत्येतस्य
उगन्तानां च किति प्रत्यये परतो इडागमो न भवति ॥ *उदा०*—श्रित्वा,
श्रितः, श्रितवान् । उगन्तानाम्—युत्वा, युतः, युतवान् । लूत्वा, लूनः,
लूनवान् । वृत्वा, वृतः, वृतवान् । तीर्त्वा, तीर्णः, तीर्णवान् ॥

भाषार्थः—[*श्र्युकः*] श्रि तथा उगन्त धातुओं को [*किति*] कित्
प्रत्यय परे रहते इट् आगम नहीं होता ॥ लूनः में *ल्वादिभ्यः* (८।२।४४)
से, तथा तीर्णः में *रदाभ्यां निष्ठातो०* (८।२।४२) से निष्ठा के त् को न्
हुआ है ॥ तीर्णः की सिद्धि ७।१।१०० सूत्र पर देखें । उदाहरणों में यु,
लू, वृ आदि धातुयें उक् (प्रत्याहार) अन्त वाली हैं ही ॥

इस प्रकरण में जहाँ २ सूत्रों में धातुओं का निर्देश षष्ठी से कि है, वहाँ २ पञ्चम्यर्थ में षष्ठी समझें। इससे इट् का आगम धातु को होकर *तस्मादित्युत्तरस्य* (१।१।६६) के नियम से प्रत्यय को होगा॥

यहाँ से '*उकः*' की अनुवृत्ति ७।२।१२ तक जायेगी॥

सनि ग्रहगुहोश्च ॥७।२।१२॥

सनि ७।१॥ ग्रहगुहोः ६।२॥ च अ०॥ *स०*—ग्रह० इत्यत्रेतरेतर द्वन्द्वः॥ *अनु०*—उकः, नेट्, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—ग्रह गुह इत्येतयो रुगन्तानां च सनि प्रत्यये परत इडागमो न भवति॥ *उदा०*—जिघृक्षति जुघुक्षति। उगन्तानाम्—रुरूषति, लुलूषति॥

भाषार्थः—[*ग्रहगुहोः*] ग्रह गुह [च] तथा उगन्त अङ्ग को [*सनि*] सन् प्रत्यय परे रहते इट् आगम नहीं होता॥ परि० १।२।८ में जिघृक्षति की सिद्धि देखें, तद्वत् जुघुक्षति की भी समझें। रु धातु से रुरूषति की सिद्धि परि० १।२।६ में प्रदर्शित चिचीषति के समान समझें। लूञ् से लुलूषति में कुछ भी विशेष नहीं है॥

कृसृभृवृस्तुद्रुस्रुश्रुवो लिटि ॥७।२।१३॥

कृसृ···श्रुवः ६।१॥ लिटि ७।१॥ *स०*—कृसृ० इत्यत्र समाहार-द्वन्द्वः॥ *अनु०*—नेट्, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—कृ, सृ, भृ, वृ, स्तु, द्रु, स्रु, श्रु इत्येतेषामङ्गानां लिटि प्रत्यये परत इडागमो न भवति॥ सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः—क्रादय एव लिट्यनिटस्ततोऽन्ये सेट् इति॥ *उदा०*—कृ—चकृव, चकृम। सृ—ससृव, ससृम। भृ—बभृव, बभृम। वृञ्—ववृव, ववृम। वृङ्—ववृवहे, ववृमहे। स्तु—तुष्टुव, तुष्टुम। द्रु—दुद्रुव, दुद्रुम। स्रु—सुस्रुव, सुस्रुम। श्रु—शुश्रुव, शुश्रुम॥

भाषार्थः—[*कृसृ·····श्रुवः*] कृ, सृ, भृ, वृ, स्तु, द्रु, स्रु, श्रु इन अङ्गों को [*लिटि*] लिट् प्रत्यय परे रहते इट् आगम नहीं होता। वृ से यहाँ वृङ् वृञ् दोनों का ही ग्रहण है॥

वृङ् वृञ् को छोड़कर कृ सृ आदि सभी धातुओं को *एकाच उप०* (७।२।१०) से इट् निषेध प्राप्त है, तथा वृङ् वृञ् को भी *श्र्युकः किति*

।२।११) से कित् प्रत्यय परे (*असंयोगाल्लिट् कित्* १।२।५ से लिट् ़यय कित् है) इट् निषेध होता है, सो इन्हें इट् निषेध प्राप्त , पुनः सिद्ध होने पर भी इस सूत्र का विधान नियमार्थ है, अर्थात्— सृ आदि धातुओं से ही लिट् परे रहते इट् न हो इनसे भिन्न अन्यों से इट् हो यह नियम ज्ञापित हुआ, सो भिद् इत्यादि जो धातुयें अनिट् उनको लिट् परे रहते इट् आगम इस नियम से हो जायेगा भिदिव, बिभिदिम ॥

श्वीदितो निष्ठायाम् ॥७।२।१४॥

श्वीदितः ६।१॥ निष्ठायाम् ७।१॥ *स०*—ईत् इत् यस्य स ईदित्, ़ुव्रीहिः । श्विश्च ईदिच्च श्वीदित्, तस्य······समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*— ़ट्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—श्वि इत्येतस्य ईदितश्च निष्ठायाम् इडागमो न ़वति ॥ *उदा०*—शूनः, शूनवान् । ईदितः—ओलस्जी—लग्नः, ़ग्नवान् । ओविजी—उद्विग्नः, उद्विग्नवान् । दीपी—दीप्तः, दीप्तवान् ॥

भाषार्थः—[*श्वीदितः*] टुओश्वि तथा ईकार इत् गया है जिनका ़न धातुओं को [*निष्ठायाम्*] निष्ठा परे रहते इट् आगम नहीं होता ॥ ़नः शूनवान् की सिद्धि सूत्र ६।१।१५ में देखें । लग्नः उद्विग्नः आदि *ओदितश्च* (८।२।४५) से निष्ठा को नत्व हुआ है । *पूर्वत्रासिद्धम्* ़।२।१) से लग्नः आदि के निष्ठा का नत्व *चोः कुः* (८।२।३०) की दृष्टि में ़सिद्ध होकर ज् को ग् होता है । लग्नः में लस्ज् के स् का *स्कोः ़यो०* (८।२।२९) से लोप होता है ॥

यहाँ से '*निष्ठायाम्*' की अनुवृत्ति ७।२।३४ तक जायेगी ॥

यस्य विभाषा ॥७।२।१५॥

यस्य ६।१॥ विभाषा १।१॥ *अनु०*—निष्ठायाम्, नेटि, अङ्गस्य ॥ ़*र्थः*—यस्य धातोर्विभाषा क्वचिदिडुक्तस्तस्य निष्ठायां परत इडागमो न ़वति ॥ *उदा०*—*स्वरतिसूतिसूयति०* (७।२।४४) इत्यनेन विकल्पेन ़डागम उक्तस्तस्य निष्ठायाम् इट् प्रतिषेधः—विधूतः, विधूतवान् । ़ुहू—गूढः, गूढवान् । *उदितो वा* (७।२।५६) इत्युक्तं तस्य निष्ठायां इटं ़तिषेधः—वृद्धः, वृद्धवान् ॥

भाषार्थः—[*यस्य*] जिस धातु को कहीं भी इट् विधान [*विभा*] विकल्प से किया गया है उसको निष्ठा के परे रहते इडागम होता ॥ उदाहरणों में *स्वरतिसूति॰* तथा *उदितो वा* से इट् विकल्प कहा है, अतः प्रकृत सूत्र से निष्ठा परे रहते इट् निषेध हो गया गूढः, गूढवान् की सिद्धि ६।१।१५ सूत्र में प्रदर्शित ऊढः ऊढवान् समान जानें, केवल यहाँ सम्प्रसारण नहीं हो सकता यही विशेष है वृधु से वृद्धः वृद्धवान् में निष्ठा के त को *झषस्तथो॰* (८।२।४०) से ध एवं धातु के ध् को *झलां जश्झशि* (८।४।५२) से जश्त्व होता है ॥

आदितश्च ॥७।२।१६॥

आदितः ६।१॥ च अ॰ ॥ *स॰*—आत् इत् यस्य स आदित् तस्य बहुव्रीहिः ॥ *अनु॰*—निष्ठायाम्, नेटि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—आदितः धातोर्निष्ठायामिडागमो न भवति ॥ *उदा॰*—ञिमिदा—मिन्नः, मिन्नवान्। ञिक्ष्विदा-क्ष्विण्णः, क्ष्विण्णवान् । ञिष्विदा-स्विन्नः, स्विन्नवान् ।

भाषार्थः—[*आदितः*] आकार इत्संज्ञक है जिनका ऐसे धातुओं को [*च*] भी निष्ठा परे रहते इट् आगम नहीं होता ॥ सिद्धियाँ भाग १ परि॰ १।२।५ में देखें ॥

यहाँ से '*आदितः*' की अनुवृत्ति ७।२।१७ तक जायेगी ॥

विभाषा भावादिकर्मणोः ॥७।२।१७॥

विभाषा १।१॥ भावादिकर्मणोः ७।२॥ *स॰*—भावश्च आदिकर्म च भावादिकर्मणी तयोः······इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु॰*—आदितः, निष्ठायाम्, नेटि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—भावे आदिकर्मणि च आदितो धातोर्विभाषा निष्ठायामिडागमो न भवति ॥ *उदा॰*—भावे—मिन्नमनेन, मेदितमनेन । आदिकर्मणि—प्रमिन्नः, प्रमिन्नवान्, प्रमेदितः, प्रमेदितवान् ॥

भाषार्थः—[*भावादिकर्मणोः*] भाव तथा आदिकर्म में वर्त्तमान आकार इत् वाली धातुओं को निष्ठा परे रहते [*विभाषा*] विकल्प से इट् आगम नहीं होता ॥ मिन्नमनेन यहाँ *नपुंसके भावे क्तः* (३।३।११४) से क्त प्रत्यय हुआ है । मेदितम् में *निष्ठा शीङ्॰* (१।२।१९) से कित्त्व का प्रतिषेध होने पर गुण हो जाता है । प्रमिन्नः यहाँ आदि कर्म का द्योतन करने के लिये प्र उपसर्ग लगाया है । *आदि कर्मणि क्तः॰* (३।४।७१) से

यहाँ कर्त्ता में क्त होता है ।। भाव में क्तवतु नहीं होता, अतः उसका उदाहरण नहीं दर्शाया है ।।

क्षुब्धस्वान्तध्वान्तलग्नम्लिष्टविरिब्धफाण्टबाढानि मन्थ-मनस्तमःसक्ताविस्पष्टस्वरानायासभृशेषु ।।७।२।१८।।

क्षुब्ध……बाढानि १।३।। मन्थ……शेषु ७।३।। स०—उभयोः पदयोरितरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—निष्ठायाम्, नेटि, अङ्गस्य ।। *अर्थः*—क्षुब्ध, स्वान्त, ध्वान्त, लग्न, म्लिष्ट, विरिब्ध, फाण्ट, बाढ इत्येते शब्दाः निष्ठायाम् परतो यथासङ्ख्यं मन्थ, मनः, तमः, सक्त, अविस्पष्ट, स्वर, अनायास, भृश इत्येतेष्वर्थेषु निपात्यन्ते ।। अत्र इडागमाभावः सर्वत्र निपात्यते ।। *उदा०*—क्षुब्धो मन्थः । अन्यत्र क्षुभितं भवति, एवं सवत्र ज्ञेयम् । स्वान्तं मनः । ध्वान्तं तमः । लग्नं सक्तम्, निष्ठानत्वमपि निपातनादत्र भवति । म्लिष्टमविस्पष्टम्, म्लेच्छधातोरत्र म्लिष्टं व्युत्पाद्यते, तत्र एकारस्य स्थाने इत्वमपि निपातनाद् भवति । विरिब्धः स्वरः, अत्रापि रेभृधातुस्तस्य इत्वं निपात्यते । फाण्टम् अनायासः । बाढम् भृशम् ।।

भाषार्थः—[*क्षुब्ध……बाढानि*] क्षुब्ध, स्वान्त, ध्वान्त, लग्न, म्लिष्ट, विरिब्ध, फाण्ट, बाढ ये शब्द निष्ठा परे रहते यथासङ्ख्य करके [*मन्थ……शेषु*] मन्थ, मनस्, तमस्, सक्त, अविस्पष्ट, स्वर, अनायास, भृश इन अर्थों में निपातन किये जाते हैं ।। इट् आगम का अभाव सर्वत्र निपातन है, केवल 'लगे' धातु से लग्नः में निष्ठा को नत्व तथा म्लेच्छ से म्लिष्टः एवं रेभृ से विरिब्धः यहाँ एकार के स्थान में इकार भी निपातन से हुआ है ।। क्षुभ धातु से क्षुब्धः, तथा विरिब्धः यहाँ निष्ठा को धत्व तथा जश्त्व ७।२।१५ सूत्र में कहे वृद्धः के अनुसार जानें । स्वन से स्वान्त, ध्वन से ध्वान्त, तथा फण से फाण्ट में *अनुनासि-कस्य०* (६।४।१५) से दीर्घ एवं ८।४।४० से ष्टुत्व भी हो जायेगा । बाहृ प्रयत्ने से बाढम् की सिद्धि ७।२।१५ में प्रदर्शित गूढ के समान जनें ।। मन्थः पानी में घुले हुये सत्तू को, एवं फाण्टम् गरम पानी में चूर्ण डालकर तैयार किए हुये काषाय (काढ़े) को कहते हैं ।।

धृषिशसी वैयात्ये ।।७।२।१९।।

धृषिशसी १।१।। वैयात्ये ७।१।। स०—धृषि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।।

विरूपं यातं (गमनं) यस्य स वियात. = अविनीत इत्यर्थः, वियातस्य भावो वैयात्यम् ॥ अनु०—निष्ठायाम्, नेटि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—धृषि शसि इत्येतौ धातू निष्ठायाम् परतो वैयात्येऽविनयेऽर्थेऽनिटौ भवतः ॥ उदा०—धृष्टोऽयम् । विशस्तोऽयम् ॥

भाषार्थः—[धृषिशसी] ञिधृषा प्रागल्भ्ये, तथा शसु हिंसायाम् धातु निष्ठा परे रहते [वैयात्ये] अविनीतता गम्यमान होने पर अनिट् होते हैं, अर्थात् इट् आगम नहीं होता ॥ धृष् त = ष्टुत्व होकर धृष्टः (ढीठ) बना ॥

दृढः स्थूलबलयोः ॥७।२।२०॥

दृढः १।१॥ स्थूलबलयोः ७।२॥ स०—स्थूल० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—निष्ठायाम्, नेटि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—दृढ इति निष्ठायां परतो निपात्यते स्थूले बलवति चार्थे । दृंहेः क्तप्रत्यये इडभावः, हकारनकारयोर्लोपः, निष्ठातकारस्य च ढत्वं निपात्यते ॥ उदा०—दृढः स्थूलः । दृढो बलवान् ॥

भाषार्थः—[दृढः] दृढ शब्द निष्ठा परे रहते [स्थूलबलयोः] स्थूल तथा बलवान् अर्थ में निपातन किया जाता है ॥ दृंहि धातु को क्त प्रत्यय परे रहते इट् आगम का अभाव तथा दृंहि के हकार तथा नकार का लोप एवं निष्ठा[1] के त को ढ यहाँ निपातन से होता है । दृह से दृढः बनाने पर भी नकार लोप छोड़कर ये ही सब कार्य निपातित हैं, सो दृह से भी दृढः बन सकता है ॥

प्रभौ परिवृढः ॥७।२।२१॥

प्रभौ ७।१॥ परिवृढः १।१॥ अनु०—निष्ठायाम्, नेटि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—परिवृढ इति निपात्यते निष्ठायां प्रभुश्चेत्तद्भवति ॥ पूर्ववत् परिपूर्वात् वृंहेः क्तप्रत्यये इडभावः, हकारनकारयोर्लोपः, निष्ठातकारस्य च ढत्वं निपात्यते ॥ उदा०—परिवृढः कुटुम्बी ॥

---

१. निष्ठा को धत्व ष्टुत्व तथा ढो ढे लोपः (८।३।१३) से ढ लोप करके दृढः बन ही जाता, पुनः निपातन पूर्वत्रासिद्धम् (८।२।१) से असिद्धत्व न हो इसलिये है, जिसका प्रयोजन द्वितीयावृत्ति में समझ में आयेगा ॥

भाषार्थः—[*परिवृढः*] परिवृढ शब्द निष्ठा परे रहते [*प्रभौ*] प्रभु = स्वामी अर्थ को कहने में निपातन किया जाता है ॥ पूर्ववत् दृढः के समान ही यहाँ वृहि वृद्धौ, अथवा वृह धातु से इडागमाभावादि कार्य निपातन से जानें ॥

कृच्छ्रगहनयोः कषः ॥७।२।२२॥

कृच्छ्रगहनयोः ७।२॥ कषः ५।१॥ *स०*—कृच्छ्र० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—निष्ठायाम्, नेट्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—कृच्छ्र गहन इत्येतयोरर्थयोः कषेर्धातोर्निष्ठायामिडागमो न भवति ॥ *उदा०*—कष्टोऽग्निः, कष्टं व्याकरणम्, कष्टतराणि सामानि । गहने—कष्टानि वनानि, कष्टाः पर्वताः ॥

भाषार्थः—[*कृच्छ्रगहनयोः*] कृच्छ्र (दुःख) तथा गहन (गभीर) अर्थ में [*कषः*] कष हिंसायाम् धातु से निष्ठा परे रहते इट् आगम नहीं होता ॥ कष्टम् में पूर्ववत् ष्टुत्व जानें । कष्टोऽग्निः का अर्थ है यज्ञ में अग्निचयन कष्टकर है । इसी प्रकार कष्टं व्याकरणम् आदि में जानें ॥

घुषिरविशब्दने ॥७।२।२३॥

घुषिः १।१॥ अविशब्दने ७।१॥ *स०*—न विशब्दनमविशब्दनं तस्मिन् ''नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—निष्ठायाम्, नेट्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—निष्ठायां परतो घुषिर्धातुरविशब्दनेऽर्थेऽनिट् भवति ॥ *उदा०*—घुष्टा रज्जुः, घुष्टौ पादौ ॥

भाषार्थः—निष्ठा परे रहते [*घुषिः*] घुषिर् धातु [*अविशब्दने*] अविशब्दन अर्थ में अनिट् होती है ॥ विशब्दन शब्दों द्वारा अपने भावों के प्रकाशन को कहते हैं, सो अप्रकाशन अविशब्दन है । घुष्टा रज्जुः = जिसकी लड़ें घुटकर एकाकार सी हो गई हैं । घुष्टौ पादौ = रगड़ कर धोए हुए पैर ॥

अर्देः सन्निविभ्यः ॥७।२।२४॥

अर्देः ६।१॥ सन्निविभ्यः ५।३॥ *स०*—सम् च निश्च विश्च संनिवयस्तेभ्यः ''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—निष्ठायाम्, नेट्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—सम्, नि, वि इत्येतेभ्य उत्तरस्यार्देर्निष्ठायामिडागमो न भवति ॥ *उदा०*—समर्णः, न्यर्णः, व्यर्णः ॥

भाषार्थः—[*सन्निविभ्यः*] सम्, नि तथा वि उपसर्ग से उत्तर [*अर्देः*]

अर्द धातु को निष्ठा परे रहते इट् आगम नहीं होता ॥ र (८।२।४२) से निष्ठा तकार एवं पूर्व दकार को नत्व तथा रषाभ्यां० (से णत्व, ष्टुना० (८।४।४०) से पर नकार को णकार होकर 'स ण' रहा । हलो यमां यमि० (८।४।६३) से पूर्व णकार का लोप समर्णः आदि प्रयोग बन गये ॥

यहाँ से 'अर्देः' की अनुवृत्ति ७।२।२५ तक जायेगी ॥

अभेश्चाविदूर्ये ॥७।२।२५॥

अभेः ५।१॥ च अ० ॥ आविदूर्ये ७।१॥ स०—विशेषेण दूरं वि न विदूरमविदूरम्, नञ्तत्पुरुषः, तस्य भाव आविदूर्यम्, गुण ब्राह्मणा० (५।१।१२३) इत्यनेन ष्यञ्प्रत्ययः ॥ अनु०—अर्देः, निष्ठा नेट्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अभिशब्दादुत्तरस्यार्देराविदूर्येऽर्थे निष्ठाया गमो न भवति ॥ उदा०—अभ्यर्णा सेना, अभ्यर्णा शरत् ॥

भाषार्थः—[अभेः] अभि उपसर्ग से उत्तर [च] भी [आ आविदूर्य = अविप्रकृष्ट (सन्निकट) अर्थ में अर्द धातु से निष्ठा परे इट् आगम नहीं होता । सिद्धि पूर्वसूत्रानुसार जानें ॥

णेरध्ययने वृत्तम् ॥७।२।२६॥

णेः ६।१॥ अध्ययने ७।१॥ वृत्तम् १।१॥ अनु०—निष्ठायाम्, अङ्गस्य॥ अधीयते इत्यध्ययनम्, कृत्यल्युटो० (३।३।११३) इ कर्मणि ल्युट् ॥ अर्थः—निष्ठायां परतो ण्यन्तात् वृतेः वृत्तमिति इड णिलुक् च निपात्यते अध्ययने गम्यमाने ॥ उदा०—वृत्तो देवदत्तेन, वृत्तं पारायणं देवदत्तेन ॥

भाषार्थः—[अध्ययने] अध्ययन को कहने में निष्ठा के परे [णेः] ण्यन्त वृति धातु से [वृत्तम्] वृत्त शब्द निपातन किया है ॥ इट् का अभाव तथा णिलुक् निपातन से होता है । णि लुक से न लुमताङ्गस्य (१।१।६२) से प्रत्ययलक्षण कार्य का निषेध हो है, अतः णि को मान कर यहाँ गुण भी नहीं होता ॥ वृत्तो गुणो देव यहाँ गुण नाम क्रम पाठ का है जिसमें पद और संहिता दोनों रूप पाठ होता है ॥

यहाँ से 'णेः' की अनुवृत्ति ७।२।२७ तक जायेगी ॥

वा दान्तशान्तपूर्णदस्तस्पष्टच्छन्नज्ञप्ताः ॥७।२।२७॥

वा अ० ॥ दान्त''ज्ञप्ताः १।३॥ स०—दान्त० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ नु०—णेः, निष्ठायाम्, नेट्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—दम्, शम्, पूरी, दस्, शृ, छद्, ज्ञप् इत्येतेषां ण्यन्तानां धातूनां विकल्पेनानिट्त्वं णिलुक्च ष्ठायां परतो निपात्यते, तेन पक्षे दान्त, शान्त, पूर्ण, दस्त, स्पष्ट, छन्न, प्त इत्येते प्रयोगाः सिद्ध्यन्ति ॥ उदा०—दान्तः, दमितः । शान्तः, मितः । पूर्णः, पूरितः । दस्तः, दासितः, । स्पष्टः, स्पाशितः । छन्नः, ादितः । ज्ञप्तः, ज्ञपितः ॥

भाषार्थः—दम्, शम्, पूरी, दस् स्पश्, छद् तथा ज्ञप् इन ण्यन्त ातुओं को [*वा*] विकल्प से अनिट्त्व तथा णि का लुक् निपातन से ोकर पक्ष में [*दान्त''ज्ञप्ताः*] दान्त, शान्त, पूर्ण, दस्त, स्पष्ट, छन्न, ाप्त प्रयोग बनते हैं ॥ शान्त दान्त यहाँ णिलुक् तथा इट् का प्रतिषेध नेपातन से कर लेने पर *अनुनासिकस्य०* (६।४।१५) से दीर्घ होता है । ास्तुतः शम् दम् की *जनिजॄष्क्नसु०* (धातुपाठ) से मित् संज्ञा होने से *अत उपधायाः* (७।२।११६) से हुई वृद्धि को *मितां ह्रस्वः* (६।४।९२) से ह्रस्व हो जाता है, अतः ६।४।१५ से दीर्घ करने की आवश्यकता होती है । दमितः शमितः में इसी प्रकार ह्रस्व हो गया है ॥ पूरी आप्यायने से पूर्णः में निष्ठा को नत्व (८।२।४२) हुआ है ॥ दसु से दस्तः, स्पश से स्पष्टः, छद से छन्नः में तथा ज्ञप (चुरादि) से ज्ञप्तः में जो उपधा को वृद्धि हुई थी, उसे निपातन से ह्रस्व भी हो जाता है ॥ ज्ञप का ग्रहण यहाँ *सनीवन्तर्ध०* (७।२।४९) से विकल्प से प्राप्त इडागम का जो *यस्य विभाषा* (७।२।१५) से नित्य इट् प्रतिषेध प्राप्त था, वहाँ भी विकल्प से इट् प्राप्त कराने के लिये है ॥

यहाँ से 'वा' की अनुवृत्ति ७।२।३० तक जायेगी ॥

रुष्यमत्वरसंघुषास्वनाम् ॥७।२।२८॥

रुष्य''नाम् ६।३॥ स०—रुष्य० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—वा, निष्ठायाम्, नेट्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—रुषि, अम, त्वर, संघुष, आस्वन

इत्येतेषामङ्गानां निष्ठायां परतो वा इडागमो न भवति ॥ उदा॰ रुष्टः, रुषितः । अम्—अभ्यान्तः, अभ्यमितः । त्वर—तूर्णः, त्वरि संघुष—संघुष्टौ पादौ, संघुषितौ पादौ, संघुष्टं वाक्यमाह, संघु वाक्यमाह । आस्वन—आस्वान्तो देवदत्तः, आस्वनितो देवद आस्वान्तं मनः, आस्वनितं मनः ॥

भाषार्थः—[*रुष्य*''*नाम्*] रुषि, अम्, त्वर, सम्पूर्वक घुष, त आङ्पूर्वक स्वन अङ्ग को निष्ठा परे रहते इट् आगम नहीं होता ॥ धातु को *तीषसहलुभ॰* (७।२।४८) से विकल्प से इट् आगम प्राप्त है पर निष्ठा परे रहते *यस्य विभाषा* (७।२।१५) से जो नित्य प्रतिषे प्राप्त था, वहाँ विकल्प प्राप्त कराने के लिये यहाँ रुष का ग्रहण है अभ्यान्तः में *अनुनासिकस्य॰* (६।४।१५) से दीर्घ, तथा म् को अनुस्वा (८।३।२४) एवं अनुस्वार को परसवर्ण (८।४।५७) न होता है । तूर्ण की सिद्धि ६।४।२० सूत्र में देखें । यहाँ *आदितश्च* (७।२।१६) से नित्य इट् प्रतिषेध प्राप्त था, विकल्पार्थ त्वर का ग्रहण है ॥

हृषेर्लोमसु ॥७।२।२९॥

हृषेः ६।१॥ लोमसु ७।१॥ *अनु॰*—वा, निष्ठायाम्, नेट्, अङ्गस्य ॥
अर्थः—लोमसु वर्त्तमानस्य हृषेर्निष्ठायाम् परतो वा इडागमो न भवति ॥
उदा॰—हृष्टानि लोमानि, हृषितानि लोमानि । हृष्टं लोमभिः, हृषितं लोमभिः । हृष्टाः केशाः, हृषिताः केशाः, हृष्टं केशैः, हृषितं केशैः ॥

भाषार्थः—[*लोमसु*] लोम विषय में [*हृषेः*] हृष धातु को निष्ठा परे रहते इट् आगम विकल्प से नहीं होता है ॥ हृष से यहाँ हृषु अलीके, हृष तुष्टौ दोनों का ग्रहण है, सो धात्वर्थ हर्ष विषय में वर्त्तमान लोम हों तो विकल्प से इट् नहीं होगा । हृष्टानि लोमानि का अर्थ होगा 'हर्ष से खड़े हो गये जो लोम' । यहाँ *गत्यर्थाकर्मक॰* (३।४।७२) से कर्त्ता में क्त हुआ है, तथा हृष्टं लोमभिः, हृष्टं केशैः में *नपुंसके भावे क्तः* (३।३।११४) से भाव में क्त हुआ है ॥ लोम से यहाँ केश तथा लोम दोनों का ही अविशेषतः ग्रहण है ॥

अपचितश्च ॥७।२।३०॥

अपचितः १।१॥ च अ॰ ॥ *अनु॰*—वा, निष्ठायाम्, नेट्, अङ्गस्य ॥
अर्थः—अपचित इति वा निपात्यते । अपपूर्वस्य चायृधातोर्निष्ठायां

:तोऽनिट्त्वं चिभावश्च वा निपात्यते ॥ उदा०—अपचितोऽनेन गुरुः। पचायितोऽनेन गुरुः ॥

भाषार्थः—[*अपचितः*] अपचित शब्द [*च*] भी विकल्प से निपातन ;या जाता है। अप पूर्वक चायृ धातु को निष्ठा परे रहते अनिट्त्व था चायृ को 'चि' भाव विकल्प से निपातित है। जब पक्ष में निपातन ार्यं नहीं होंगे तो अपचायितः प्रयोग बनेगा ॥

ह्रु ह्वरेश्छन्दसि ॥७।२।३१॥

ह्रु लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ ह्वरेः ६।१॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—ाष्ठायाम्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—ह्वरतेरङ्गस्य निष्ठायां परतश्छन्दसि विषये इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—ह्रुतस्य चाह्रुतस्य च। अह्रुतमसि विर्धानम् (यजु० १।९) ॥

भाषार्थः—[*ह्वरेः*] ह्वृ कौटिल्ये धातु को निष्ठा परे रहते [*छन्दसि*] द विषय में [*ह्रु*] ह्रु आदेश होता है ॥ ह्वृ धातु अनुदात्त है, अतः काच उपदेशे (७।२।१०) से इट् प्रतिषेध तो प्राप्त ही था, आदेशार्थ । यह वचन है ॥

यहाँ से '*छन्दसि*' की अनुवृत्ति ७।२।३४ तक जायेगी ॥

अपरिह्वृताश्च ॥७।२।३२॥

अपरिह्वृताः १।३॥ च अ० ॥ *अनु*०—छन्दसि, निष्ठायाम्, ाङ्गस्य ॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये अपरिह्वृता इति निपात्यते ॥ ह्रु ादेशस्य पूर्वेण प्राप्तिः, तस्याभावोऽत्र निपात्यते ॥ उदा०—अपरिह्वृताः ानुयाम वाजम् (ऋ० १।१००।१६) ॥

भाषार्थः—वेद विषय में [*अपरिह्वृताः*] अपरिह्वृत् (बहुवचनान्त) ाब्द [*च*] भी निपातन किया जाता है ॥ पूर्व सूत्र से ह्रु आदेश प्राप्त ा उसका अभाव निपातन है ॥ वेद में यह शब्द बहुवचनान्त ही देखा ााता है, अतः सूत्र में बहुवचनान्त निर्देश है ॥

सोमे ह्वरितः ॥७।२।३३॥

सोमे ७।१॥ ह्वरितः १।१॥ अनु०—छन्दसि, निष्ठायाम्, अङ्गस्य ॥

अर्थः—ह्वरित इति निपात्यते छन्दसि विषये सोमश्चेत्तद् भव निष्ठायाम् इडागमो गुणश्चात्र निपात्यते ॥ *उदा०*—मा नः सोमो ह्व विह्वरितस्त्वम् ॥

भाषार्थः—[*ह्वरितः*] ह्वरित शब्द छन्द विषय में [*सोमे*] वाच्य होने पर निष्ठा परे रहते निपातन किया जाता है ॥ इट् अ तथा गुण एवं ह्रु आदेश का अभाव यहाँ निपातन है । अनुदात्त हो (७।२।१०) इट् प्राप्त नहीं था, निपातन से कह दिया ॥

ग्रसितस्कभितस्तभितोत्तभितचत्तविकस्ता विशस्तृशंस्तृ-शास्तृतरुतृतरूतृवरुतृवरूतृवरूत्रीरुज्ज्वलितिक्षरिति क्षमितिवमित्यमितीति च ॥७।२।३४॥

ग्रसित...विकस्ताः १।३॥ विशस्तृ, शंस्तृ इत्यादिषु प्रत्येकं लुप्तप्र मान्तनिर्देशः, केवलं वरूत्रीः इत्यत्र श्रूयमाणप्रथमाबहुवचनम्, एव सर्वाणीमानि पृथक् पृथक् निर्दिष्टानि पदानि ॥ इति अ० ॥ च अ० स०—ग्रसित...विकस्ताः, इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—छन्दसि, निष्ठायाम नेट्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—ग्रसित, स्कभित, स्तभित, उत्तभि चत्त, विकस्त, विशस्तृ, शंस्तृ, शास्तृ, तरुतृ, तरूतृ, वरुतृ, वरूतृ, वरूत्री उज्ज्वलिति, क्षरिति, क्षमिति, वमिति, अमिति इत्येतानि पदानि छन्द निपात्यन्ते ॥ ग्रसित, स्कभित, स्तभित, उत्तभित इत्यत्र ग्रसु, स्कम् स्तम्भु इत्येतेषामुदित्त्वात् *उदितो वा* (७।२।५६) इति विकल्पविधानात् निष्ठायाम् *यस्य विभाषा* (७।२।१५) इति नित्ये इट्प्रतिषेधे प्रा इडागमोऽत्र निपात्यते । चत्त, विकस्त इत्यत्र क्रमेण चतेः विपूर्वस्य कसेश्च निष्ठायामिडभावो निपात्यते । विशस्तृ, शंस्तृ, शास्तृ इत्यत्र विपूर्वस्य शसेः, शंसेः, शासेश्च तृचि इडभावो निपात्यते । तरुतृ, तरूतृ, वरुतृ, वरूतृ, वरूत्रीः इत्यत्र तरतेर्वृङ्वृञोश्च तृचि उट् ऊट् इत्येतावागमौ निपात्येते । उज्ज्वलिति, क्षरिति, क्षमिति, वमिति, अमिति, इत्यत्र उत्पूर्वस्य ज्वलतेः क्षर, क्षम, वम, अम इत्येतेषां च तिपि शप इकारादेशो निपात्यते । अथवा शपो लुक् इडागमश्च निपात्यते[1] ॥ उदा०—ग्रसित-

[1]. अयं पक्षो युक्ततरः । लोकेऽपि रोदितीत्यादौ कश्चिद् इडागमस्य दर्शनात् (द्र० ७।२।७६) ।

ग्रसितं वा एतत् सोमस्य (मै० ३।७।४)। स्कभित—विष्कभिते अजरे (ऋ० ६।७०।१)। स्तभित—येन स्वः स्तभितम् (य० ३२।६)। उत्तभित—सत्येनोत्तभिता भूमिः (ऋ० १०।८५।१)। चत्त—चत्ता वर्षेण विद्युत्। विकस्त—उत्तानाया हृदयं यद् विकस्तम्। विशस्तृ—एकुस्त्वष्टुरश्वस्या-विशस्ता (ऋ० १।१६२।१९)। शंस्तृ—उत शंस्ता सुविप्रः (ऋ० १।१६२।५)। शास्तृ—प्रशास्ता (ऋ० २।५।४)। तरुतृ—तरुतारं रथानाम् (ऋ० १०।१७८।१) तरूतृ—तरूतारम्। वरुतृ—वरुतारं रथानाम्। वरूतृ—वरूतारं रथानाम्। वरूत्रीः—वरूत्रीष्ट्वा देवीर्विश्वदेव्यावती (य० ११।६१)। होत्रा वै वरूत्रयः (तै० ५।१।७।२) छान्दसिकमत्र ह्रस्वत्वम्। उज्ज्वलिति—अग्निरुज्ज्वलिति। क्षरिति—स्तोकं क्षरिति। क्षमिति—स्तोमं क्षमिति। वमिति—यः सोमं वमिति। अमिति—अभ्यमिति वरुणः॥

भाषार्थः—[*ग्रसित*''*वमिति*] ग्रसित, स्कभित, स्तभित, उत्तभित, चत्त, विकस्त, विशस्तृ, शंस्तृ, शास्तृ, तरुतृ, तरूतृ, वरुतृ, वरूतृ, वरूत्रीः, उज्ज्वलिति, क्षरिति, क्षमिति, वमिति, अमिति [*इति*] ये शब्द [*च*] भी वेद विषय में निष्ठा परे रहते निपातित हैं॥ ग्रसित, स्कभित, स्तभित, उत्तभित यहाँ ग्रसु, स्कम्भु, स्तम्भु इन धातुओं के उदित् होने से (७।२।५६) *यस्य विभाषा* (७।२।१५) से इट् प्रतिषेध प्राप्त था निपातन से इट् कह दिया। ६।१।२४ से यहाँ अनुनासिक लोप भी जानें। उत्त-भित यहाँ उदः *स्थास्तम्भोः०* (८।४।६०) से पूर्वसवर्ण हुआ है। उत् स्तभित = उत्तभित॥ चत्त, विकस्त यहाँ क्रमशः चते याचने तथा विपूर्वक कस धातु से निष्ठा परे रहते इडभाव निपातन है॥ विशस्तृ शंस्तृ शास्तृ यहाँ क्रमशः विपूर्वक शसु शंसु तथा शासु से तृच् परे रहते इट् अभाव निपातन है॥ तरुतृ, तरूतृ, यहाँ तॄ धातु से क्रमशः तृच् परे रहते उट् ऊट् आगम निपातन है। वरुतृ, वरूतृ, वरूत्रीः यहाँ वृङ् अथवा वृञ् धातु से पूर्ववत् उट् ऊट् आगम निपातन हैं। वरूत्रीः यहाँ *ऋन्नेभ्यो ङीप्* (४।१।५) से ङीप् भी हो गया है। वृ उट् तृच् = गुण रपरत्व होकर वरुतृ बना। वृ ऊट् तृच् = वरूतृ। वरूतृ ङीप् = यणादेश होकर वरूत्री बना। जस् विभक्ति आकर *वा छन्दसि* (६।१।१०२) से पूर्वसवर्ण दीर्घ करके 'वरूत्रीः' ऐसा सूत्र में निर्देश किया है। 'वरूत्रयः' उदाहरण में वरूत्री को जस् परे रहते यणादेश होकर वरूत्र्यः अनिष्ट रूप बनता था, अतः,

छान्दसिक ह्रस्वत्व मानकर यहाँ *जसि च* (७।३।१०९) से गुण हुअ ऐसा जानना चाहिये ॥ उज्ज्वलिति, क्षरिति, क्षमिति, वमिति, अ यहाँ क्रमशः उत्पूर्वक ज्वल, क्षर, क्षम, वम, अम इन धातुओं से लि रहते शप् के अकार के स्थान में इकारादेश निपातन है। अथवा का लुक् करके इट् आगम निपातन से मान कर भी ये प्रयोग हो सकते हैं ॥

सूत्र में ग्रसित से लेकर विकस्त पर्यन्त समस्त प्रथमाबहुवच पद हैं, तथा विशस्तृ से आगे सभी पद पृथक् २ असमस्त निर्दिष्ट वरूत्रीः प्रथमा बहुवचनान्त (*वा छन्दसि* लगकर) पद है ॥

आर्धधातुकस्येड् वलादेः ॥७।२।३५॥

आर्धधातुकस्य ६।१॥ इट् १।१॥ वलादेः ६।१॥ *स०*—वल् आदि स वलादिस्तस्य ''बहुव्रीहिः॥ *अर्थः*—वलादेरार्धधातुकस्य इडागमो भवति *उदा०*—लविता, लवितुम्, लवितव्यम्। पविता, पवितुम्, पवितव्यम

भाषार्थः—[*वलादेः*] वल् (प्रत्याहार) आदि में है जिसके [*आर्धधातुकस्य*] आर्धधातुक को [*इट्*] इट् का आगम होता है लविता पविता की सिद्धि परि० १।१।२ के चेता के समान जानें। इ ता = लविता बना ॥

यहाँ से '*आर्धधातुकस्य*' की अनुवृत्ति ७।२।७५ तक तथा ' *वलादेः*' की ७।२।७८ तक जायेगी ॥

स्नुक्रमोरनात्मनेपदनिमित्ते ॥७।२।३६॥

स्नुक्रमोः ६।२॥ अनात्मनेपदनिमित्ते १।२॥ *स०*—स्नु० इत्यत्रेतरेत द्वन्द्वः। आत्मनेपदस्य निमित्ते आत्मनेपदनिमित्ते, षष्ठीतत्पुरुषः। आत्मनेपदनिमित्ते अनात्मनेपदनिमित्ते, नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*— आर्धधातुकस्येड्वलादेः, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—स्नुक्रमोः वलादेरार्ध धातुकस्य इडागमो भवति, न चेत् स्नुक्रमौ आत्मनेपदस्य निमित्तं भवतः *उदा०*—प्रस्नविता, प्रस्नवितुम्, प्रस्नवितव्यम्। प्रक्रमिता, प्रक्रमितुम प्रक्रमितव्यम्॥

भाषार्थः—[*स्नुक्रमोः*] स्नु तथा क्रम के (अर्थात् स्नु, क्रम से उत्पन्न वलादि आर्धधातुक को इट् आगम होता है, यदि स्नु तथा क्र [*अनात्मनेपदनिमित्ते*] आत्मनेपद के निमित्त न हों तो, अर्थात् उनके आश्रित आत्मनेपद न हो रहा हो तो॥

ग्रहोऽलिटि दीर्घः ॥७।२।३७॥

ग्रहः ५।१॥ अलिटि ७।१॥ दीर्घः १।१॥ *स०*—न लिट् अलिट् तस्मिन्···नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—आर्धधातुकस्येड्वलादेः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—ग्रह उत्तरस्य इटोऽलिटि दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—ग्रहीता, ग्रहीतुम्, ग्रहीतव्यम् ॥

भाषार्थः—[*ग्रहः*] ग्रह् धातु से उत्तर [*अलिटि*] लिट् भिन्न वलादि आर्धधातुक परे रहते इट् को [*दीर्घः*] दीर्घ होता है ॥ ग्रह् इट् तृ = ग्रह् ई ता = ग्रहीता बना ॥

यहाँ से '*अलिटि*' की अनुवृत्ति ७।२।३८ तक तथा '*दीर्घः*' की ७।२।४० तक जायेगी ॥

वॄतो वा ॥७।२।३८॥

वॄतः ५।१॥ वा अ० ॥ *स०*—वॄ च ॠत् च वॄत् तस्मात्···समाहारोद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अलिटि दीर्घः, आर्धधातुकस्येड्वलादेः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—वॄ इत्येतस्मात् ॠकारान्तेभ्यश्चेटो वा दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—वरिता, वरीता, प्रावरिता, प्रावरीता । ॠकारान्तेभ्यः—तरिता, तरीता, आस्तरिता, आस्तरीता ॥

भाषार्थः—[*वॄतः*] वॄ तथा ॠकारान्त धातुओं से उत्तर इट् को [*वा*] विकल्प से लिट्भिन्न वलादि आर्धधातुक परे रहते दीर्घ होता है ॥ वॄ से यहाँ वृङ् तथा वृञ् दोनों का ग्रहण है ॥

यहाँ से '*वॄतः*' की अनुवृत्ति ७।२।४२ तक जायेगी ॥

न लिङि ॥७।२।३९॥

न अ० ॥ लिङि ७।१॥ *अनु०*—वॄतः, दीर्घः, इट्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—वॄत उत्तरस्य इटो लिङि दीर्घो न भवति ॥ *उदा०*—विवरिषीष्ट, प्रावरिषीष्ट, आस्तरिषीष्ट, विस्तरिषीष्ट ॥

भाषार्थः—वॄ तथा ॠकारान्त धातुओं से उत्तर इट् को [*लिङि*] लिङ् परे रहते दीर्घ [*न*] नहीं होता ॥ पूर्व सूत्र से प्राप्ति थी निषेध कर दिया ॥ सिद्धियाँ परि० १।२।१३ के संगंसीष्ट के समान जानें । केवल यहाँ इट् आगम एवं वृ को वर् गुण ही विशेष है ॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ७।२।४० तक जायेगी ॥

सिचि च परस्मैपदेषु ॥७।२।४०॥

सिचि ७।१॥ च अ० ॥ परस्मैपदेषु ७।३॥ *अनु०*—न, वॄतः, दीर्घः, इट्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—वॄत उत्तरस्य परस्मैपदपरे सिचि परत इटो दीर्घो न भवति ॥ *उदा०*—प्रावारिष्टाम्, प्रावारिषुः, अतारिष्टाम्, अतारिषुः, आस्तारिष्टाम्, आस्तारिषुः ॥

भाषार्थः—[*परस्मैपदेषु*] परस्मैपदपरक [*सिचि*] सिच् परे रहते [च] भी वॄ तथा ॠकारान्त धातुओं से उत्तर इट् को दीर्घ नहीं होता ॥ प्र अट् वॄ इट् तस् = प्रा वॄ इ ताम् = *सिचि वृद्धिः०* (७।२।१) से वॄ को वृद्धि होकर प्रावारिष्टाम् बन गया । तॄ से अतारिष्टाम् तथा आङ्पूर्वक स्तॄ से आस्तारिष्टाम् आदि बन ही जायेंगे ॥

इट् सनि वा ॥७।२।४१॥

इट् १।१॥ सनि ७।१॥ वा अ० ॥ *अनु०*—वॄतः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—वॄत उत्तरस्य सनो वा इडागमो भवति ॥ *उदा०*—वुवूर्षते, विवरिषते, विवरीषते । प्रावुवूर्षति, प्राविवरीषति, प्राविवरिषति । ॠकारान्तेभ्यः—तितीर्षति, तितरिषति, तितरीषति । आतिस्तीर्षति, आतिस्तरिषति, आतिस्तरीषति ॥

भाषार्थः—वॄ तथा ॠकारान्त धातु से उत्तर [*सनि*] सन् आर्धधातुक को [*वा*] विकल्प से [*इट्*] इट् आगम होता है ॥ *सनि ग्रहगुहोश्च* (७।२।१२) से नित्य प्रतिषेध प्राप्त था, यहाँ पक्ष में विधान कर दिया ॥ वुवूर्षते आदि में *उदोष्ठ्यपूर्वस्य* (७।१।१०२) से उत्व हुआ है, शेष कार्य परि० १।१।५७ में प्रदर्शित चिकीर्षकः के समान जानें । आतिस्तीर्षति में *ॠत इद्धातोः* (७।१।१००) से इत्व हुआ है । *वॄतो वा* (७।२।३८) से इट् को पक्ष में दीर्घ हुआ है, इस प्रकार तीन रूप बने ॥

यहाँ से 'वा' की अनुवृत्ति ७।२।४३ तक जायेगी ॥

लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु ॥७।२।४२॥

लिङ्सिचोः ७।२॥ आत्मनेपदेषु ७।३॥ *स०*—लिङ० इत्यत्रेतरेतर-

द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—वा, वृतः, इट्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—वॄत उत्तरस्य लिङि सिचि चात्मनेपदे परतो वा इडागमो भवति ॥ उदा०—वृषीष्ट, वरिषीष्ट। प्रावृषीष्ट, प्रावरिषीष्ट। आस्तरिषीष्ट, आस्तीर्षीष्ट। सिचि—अवृत, अवरिष्ट, अवरीष्ट। प्रावृत, प्रावरिष्ट, प्रावरीष्ट। आस्तीर्ष्ट, आस्तरिष्ट, आस्तरीष्ट ॥

भाषार्थः—वॄ तथा ॠकारान्त धातुओं से उत्तर [*आत्मनेपदेषु*] आत्मनेपद परक [*लिङ्सिचोः*] लिङ् तथा सिच् को विकल्प से इट् आगम होता है ॥ सिद्धियाँ परि० १।२।११ एवं १।२।१२ के प्रयोगों के समान जानें। लिङ् में इट् को दीर्घ *न लिङि* (७।२।३९) से नहीं होता। सिच् में पूर्ववत् पक्ष में दीर्घत्व भी होता है ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।२।४३ तक जायेगी ॥

ऋतश्च संयोगादेः ॥७।२।४३॥

ऋतः ५।१॥ च अ० ॥ संयोगादेः ५।१॥ *स०*—संयोग आदिर्यस्य स संयोगादिस्तस्मात्... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु, वा, इट् अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—संयोगादिर्यो धातुः ऋकारान्तस्तस्मादुत्तरयोर्लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु वा इडागमो भवति ॥ *उदा०*—ध्वृषीष्ट, ध्वरिषीष्ट। स्मृषीष्ट, स्मरिषीष्ट। सिचि—अध्वृषाताम्, अध्वरिषाताम्। अस्मृषाताम्, अस्मरिषाताम् ॥

भाषार्थः—[*संयोगादेः*] संयोग है आदि में जिसके ऐसे [*ऋतः*] ऋकारान्त धातु से उत्तर [*च*] भी आत्मनेपदपरक लिङ् सिच् को विकल्प से इट् आगम होता है ॥ सिद्धियाँ पूर्वोक्त स्थलों के समान ही समझें ॥

स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा ॥७।२।४४॥

स्वरति...दितः ५।१॥ वा अ० ॥ *स०*—ऊत् इत् यस्य स ऊदित्, बहुव्रीहिः। स्वरतिश्च सूतिश्च सूयतिश्च धूञ् च ऊदित् च स्वरति...दित्, तस्मात्...समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—आर्धधातुकस्येड्वलादेः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—स्वरति, सूति, सूयति, धूञ् इत्येतेभ्यः ऊदिद्भ्यश्चोत्तरस्य वलादेरार्धधातुकस्य वा इडागमो भवति ॥ उदा०—स्वृ—स्वर्त्ता, स्वरिता।

षूङ् (अदा०) प्रसोता, प्रसविता। षूङ् (दिवा०)—सोता, सविता। धूञ्—धोता, धविता। ऊदिद्द्वयः—गाहू—विगाढा, विगाहिता। गुपू—गोप्ता, गोपिता॥

भाषार्थः—[*स्व***...*ऽदतः*] स्वरति (स्वृ शब्दोपतापयोः) सूति (षूङ् प्राणिगर्भविमोचने) सूयति (षूङ् प्राणिप्रसवे) धूञ् कम्पने तथा ऊदित् धातुओं से उत्तर वलादि आर्धधातुक को [*वा*] विकल्प से इट् आगम होता है॥ गाहू आदि ऊदित् धातुएँ हैं। विगाढा में पूर्ववत् धत्व ढत्व (८।२।३१) ष्टुत्व तथा ढलोप (८।३।१३) जानें॥

यहाँ से '*वा*' की अनुवृत्ति ७।२।५१ तक जायेगी॥

रधादिभ्यश्च ॥७।२।४५॥

रधादिभ्यः ५।३॥च अ० ॥*स०*—रध आदिर्येषां ते रधादयस्तेभ्यः... बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—वा, आर्धधातुकस्येड्वलादेः, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—रधादिभ्य उत्तरस्य वलादेरार्धधातुकस्य वा इडागमो भवति॥ *उदा०*—रद्धा, रधिता। नंष्टा, नशिता। त्रप्ता, तर्प्ता, तर्पिता। द्रप्ता, दर्प्ता, दर्पिता। द्रोग्धा, द्रोढा, द्रोहिता। मोग्धा, मोढा, मोहिता। स्नोग्धा, स्नोढा, स्नोहिता। स्नेग्धा, स्नेढा, स्नेहिता॥

भाषार्थः—[*रधादिभ्यः*] रधादि आठ ८ धातुओं से उत्तर [च] भी वलादि आर्धधातुक को विकल्प से इट् आगम होता है॥ नंष्टा की सिद्धि सूत्र ७।१।६० में देखें। त्रप्ता, द्रप्ता आदि की सिद्धि सूत्र ६।१।५८ में देखें। द्रोग्धा यहाँ द्रुह् धातु के ह् को *वा द्रुहमुहष्णुह०* (८।२।३३) से घत्व होकर *झषस्तथोर्धोऽधः* (८।२।४०) से धत्व एवं *झलां जश्०* (८।४।५२) से घ् को जश्त्व गकार हुआ है। इसी प्रकार मोग्धा, स्नोग्धा, स्नेग्धा में जानें। जब *वा द्रुहमुह०* (८।२।३३) से ह् को घ् नहीं हुआ तो *हो ढः* (८।२।३१) से ढत्व होकर द्रोढा मोढा आदि रूप बने। इट् पक्ष में द्रोहिता मोहिता आदि रूप बनेंगे। इस प्रकार द्रुह्, मुह्, ष्णुह्, ष्णिह् धातुओं के तीन तीन रूप बनते हैं॥

निरः कुषः ॥७।२।४६॥

निरः ५।१॥ कुषः ५।१॥ *अनु०*—वा, आर्धधातुकस्येड्वलादेः,

अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—निर् इत्येवम्पूर्वात् कुष अङ्गादुत्तरस्यव लादेराधधातुकस्य वा इडागमो भवति ॥ *उदा०*—निष्कोष्टा, निष्कोषिता । निष्कोष्टुम्, निष्कोषितुम् । निष्कोष्टव्यम्, निष्कोषितव्यम् ॥

भाषार्थः—[*निरः*] निर् पूर्वक [*कुषः*] कुष अङ्ग से उत्तर वलादि आर्धधातुक को विकल्प से इट् आगम होता है ॥ निर् के विसर्जनीय को षत्व *इदुदुपधस्य०* (८।३।४१) से हुआ है ॥

यहाँ से '*निरः कुषः*' की अनुवृत्ति ७।२।४७ तक जायेगी ॥

इण्निष्ठायाम् ॥७।२।४७॥

इट् १।१॥ निष्ठायाम् ७।१॥ *अनु०*—निरः कुषः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—निर् इत्येवंपूर्वात् कुष उत्तरस्य निष्ठायामिडागमो भवति ॥ *उदा०*—निष्कुषितः, निष्कुषितवान् ॥

भाषार्थः—निर् पूर्वक कुष से उत्तर [*निष्ठायाम्*] निष्ठा को [*इट्*] इट् आगम होता है ॥ 'वा' की अनुवृत्ति आते हुये भी इट् ग्रहण करने से यहाँ संबद्ध नहीं होती ॥

तीषसहलुभरुषरिषः ॥७।२।४८॥

ति ७।१॥ इषसहलुभरुषरिषः ५।१॥ *स०*—इषश्च सहश्च लुभश्च रुषश्च रिट् च इष...रिट्, तस्मात् ...समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—वा, आर्धधातुकस्येड्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—इषु, सह, लुभ, रुष, रिष इत्येतेभ्य उत्तरस्य तकारादावार्धधातुके वा इडागमो भवति ॥ *उदा०*—इषु—एष्टा, एषिता । सह—सोढा, सहिता । लुभ—लोब्धा, लोभिता । रुष—रोष्टा, रोषिता । रिष—रेष्टा, रेषिता ॥

भाषार्थः—[*इष...रिषः*] इषु इच्छायाम्, षह मर्षणे, लुभ, रुष, रिष इन धातुओं से उत्तर [*ति*] तकारादि आर्धधातुक को विकल्प से इट् आगम होता है ॥ ये धातुयें उदात्त हैं, अतः *आर्धधातुकस्ये०* (७।२।३५) से इट् प्राप्त ही था, विकल्पार्थ इस सूत्र का आरम्भ है । लोब्धा में पूर्ववत् त् को ध् एवं भ् को जश्त्व (८।२।३९) ब् हुआ है । सोढा में *सहिवहोरोदवर्णस्य* (६।३।११०) से ओत्व हुआ है ॥

सनीवन्तर्धभ्रस्जदम्भुश्रिस्वृयूर्णुभरज्ञपिसनाम् ॥७।२।४९॥

सनि ७।१॥ इवन्त...नाम् ६।३॥ *स०*—इव् अन्ते येषां ते इवन्ताः,

बहुव्रीहिः । इवन्ताश्च ऋधश्च भ्रस्जश्च दम्भुश्च श्रिश्च स्वा च युश्च ऊर्णुश्च भरश्च ज्ञपिश्च संश्च इवन्त'''सनस्तेषाम्'''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—वा, इट्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—इवन्तानां धातूनां ऋधु, भ्रस्ज्, दम्भु, श्रि, स्वृ, यु, ऊर्णु, भर, ज्ञपि, सन्, इत्येतेषां च सनि वा इडागमो भवति ॥ *उदा०*—इवन्तानाम्—दिदेविषति, दुद्यूषति । सिसेविषति, सुस्यूषति । ऋध्—अर्दिधिषति, ईर्त्सति । भ्रस्ज—बिभ्रज्जिषति, बिभ्रक्षति, बिभर्ज्जिषति, बिभर्क्षति । दम्भु—दिदम्भिषति, धिप्सति, धीप्सति । श्रि—उच्छिश्रयिषति, उच्छिश्रीषति । स्वृ—सिस्वरिषति, सुस्वूर्षति । यु—यियविषति, युयूषति । ऊर्णु—प्रोर्णुनविषति, प्रोर्णुनुविषति, प्रोर्णुनूषति । भर—बिभरिषति, बुभूर्षति । ज्ञपि—जिज्ञपयिषति, ज्ञीप्सति । सन्—सिसनिषति, सिषासति ॥

भाषार्थः—[*इवन्त'''नाम्*] इव् अन्त में है जिनके उनको तथा ऋधु वृद्धौ, भ्रस्ज पाके, दम्भु दम्भे, श्रिञ् सेवायाम्, स्वृ शब्दोपतापयोः, यु मिश्रणे, ऊर्णुञ् आच्छादने, भृञ् भरणे, ज्ञपि, सन (षणु दाने, एवं षण संभक्तौ दोनों का यहाँ सन् से ग्रहण है) इन धातुओं से उत्तर [*सनि*] सन् को विकल्प से इट् आगम होता है ॥ सिद्धि परिशिष्ट में देखें ॥

क्लिशः क्त्वानिष्ठयोः ॥७।२।५०॥

क्लिशः ५।१॥ क्त्वानिष्ठयोः ६।२॥ *स०*—क्त्वा च निष्ठा च क्त्वानिष्ठे, तयोः'''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—वा, इट्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—क्लिश उत्तरस्य क्त्वानिष्ठयोर्वा इडागमो भवति ॥ *उदा०*—क्लिष्ट्वा, क्लिशित्वा । निष्ठा—क्लिष्टः, क्लिष्टवान्, क्लिशितः, क्लिशितवान् ॥

भाषार्थः—[*क्लिशः*] क्लिश धातु से उत्तर [*क्त्वानिष्ठयोः*] क्त्वा तथा निष्ठा को इट् आगम विकल्प से होता है ॥ क्लिष्ट्वा आदि में *व्रश्चभ्रस्ज०* (८।२।३६) से श् को ष् एवं ष्टुत्व हुआ है । क्लिशित्वा में *मृडमृदगुध०* (१।२।७) से क्त्वा को कित्वत् हुआ है, अतः गुण नहीं हुआ है ॥

यहाँ से '*क्त्वानिष्ठयोः*' की अनुवृत्ति ७।२।५४ तक जायेगी ॥

पूङश्च ॥७।२।५१॥

पूङः ५।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—क्त्वानिष्ठयोः, वा, इट्, अङ्गस्य ॥

अर्थः—पूङश्च क्त्वानिष्ठयोर्वा इडागमो भवति ॥ *उदा०*—पूत्वा, पवित्वा । सोमोऽतिपूतः, सोमोऽतिपवितः । पूतवान्, पवितवान् ॥

भाषार्थः—[*पूङः*] पूङ् धातु से उत्तर [च] भी क्त्वा तथा निष्ठा को इट् आगम विकल्प से होता है ॥ *श्र्युकः किति* (७।२।११) से पूङ् के उगन्त होने से इट् प्रतिषेध नित्य प्राप्त था, यहाँ विकल्प विधान कर दिया ॥ *पूङः क्त्वा च* (१।२।२२) से क्त्वा तथा निष्ठा के कित् का प्रतिषेध होने से पवित्वा आदि में गुण हो जाता है ॥

वसतिक्षुधोरिट् ॥७।२।५२॥

वसतिक्षुधोः ६।२॥ इट् १।१॥ *स०*—वसति० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—क्त्वानिष्ठयोः, इट्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—वस निवासे, क्षुध बुभुक्षायाम् इत्येतयोः क्त्वानिष्ठयोरिडागमो भवति ॥ *उदा०*—उषित्वा, उषितः, उषितवान् । क्षुधित्वा, क्षुधितः, क्षुधितवान् ॥

भाषार्थः—[*वसतिक्षुधोः*] वस तथा क्षुध धातु के क्त्वा तथा निष्ठा प्रत्यय को [*इट्*] इट् आगम होता है ॥ ये दोनों धातु अनुदात्त हैं, अतः इट्प्रतिषेध (७।२।१०) प्राप्त था, क्त्वा निष्ठा को इट् विधानार्थ यह वचन है ॥ उषित्वा की सिद्धि परि० १।२।७ में देखें । इसी प्रकार उषितः आदि भी जानें ॥

अञ्चेः पूजायाम् ॥७।२।५३॥

अञ्चेः ५।१॥ पूजायाम् ७।१॥ *अनु०*—क्त्वानिष्ठयोः, इट्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अञ्चेः उत्तरस्य पूजायामर्थे क्त्वानिष्ठयोरिडागमो भवति ॥ *उदा०*—अञ्चित्वा जानु जुहोति । अञ्चिता अस्य गुरवः ॥

भाषार्थः—[*अञ्चेः*] अञ्चु धातु से उत्तर [*पूजायाम्*] पूजा अर्थ में क्त्वा तथा निष्ठा को इट् आगम होता है ॥ अञ्चिता की सिद्धि सूत्र ६।४।३० में देखें । अञ्चित्वा में भी इसी प्रकार समझें ॥

लुभो विमोहने ॥७।२।५४॥

लुभः ५।१॥ विमोहने ७।१॥ *अनु०*—क्त्वानिष्ठयोः, इट्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—विमोहनेऽर्थे वर्त्तमानात् लुभ उत्तरस्य क्त्वानिष्ठयोरिडागमो

भवति ॥ उदा०—लुभित्वा, लोभित्वा, विलुभिताः केशाः, विलुभि सीमन्तः, विलुभितानि पदानि ॥

भाषार्थः—[*विमोहने*] विमोहन = व्याकुल करने अर्थ में वर्त्तमा [*लुभः*] लुभ् धातु से उत्तर क्त्वा तथा निष्ठा को इट् आगम होत है ॥ *रलो व्युपधाद्०* (१।२।२६) से क्त्वा को विकल्प से कित्वत् होने से लुभित्वा, लोभित्वा गुण होकर दो रूप बनेंगे ॥ क्त्वा परे रहत *तीषसह०* (७।२।४८) से इट् विकल्प से प्राप्त था एवं निष्ठा में *यस्य विभाषा* (७।२।१५) से नित्य इट् प्रतिषेध प्राप्त था, तदर्थ यह सूत्र है ॥ विलुभिताः केशाः (अव्यवस्थित केश) ॥

जॄव्रश्च्योः क्त्वि ॥७।२।५५॥

जॄव्रश्च्योः ६।२॥ क्त्वि ७।१॥ *स०*—जॄ० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—इट्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—जॄ व्रश्चि इत्येतयोः क्त्वाप्रत्यये परतो इडागमो भवति ॥ उदा०—जरित्वा, जरीत्वा । व्रश्चित्वा ॥

भाषार्थः—[*जॄव्रश्च्योः*] जॄ वयोहानौ तथा ओव्रश्चू छेदने धातु के [*क्त्वि*] क्त्वा प्रत्यय को इट् आगम होता है ॥ जरीत्वा में *वॄतो वा* (७।२।३८) से पक्ष में इट् को दीर्घ होता है । व्रश्चित्वा यहाँ *न क्त्वा सेट्* (१।२।१८) से क्त्वा के कित् का प्रतिषेध होने से *ग्रहिज्यावयि०* (६।१।१६) से सम्प्रसारण नहीं होता ॥

यहाँ से '*क्त्वि*' की अनुवृत्ति ७।२।५६ तक जायेगी ॥

उदितो वा ॥७।२।५६॥

उदितः ५।१॥ वा अ० ॥ *स०*—उत् इत् यस्य स उदित्, तस्मात् बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—क्त्वि, इट्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—उदितो धातोः क्त्वा-प्रत्यये परतो वा इडागमो भवति ॥ उदा०—शमु-शमित्वा, शान्त्वा । तमु-तमित्वा, तान्त्वा, । दमु-दमित्वा, दान्त्वा ॥

भाषार्थः—[*उदितः*] उकार इत् गया है जिनका ऐसे धातुओं से उत्तर क्त्वा को [*वा*] विकल्प से इट् आगम होता है ॥ अनिट् पक्ष में शान्त्वा आदि में *अनुनासिकस्य०* (६।४।१५) से दीर्घ होता है ॥

यहाँ से '*वा*' की अनुवृत्ति ७।२।५७ तक जायेगी ॥

सेऽसिचि कृतचृतच्छृदतृदनृतः ॥७।२।५७॥

से ७।१॥ असिचि ७।१॥ कृतचृतच्छृदतृदनृतः ५।१॥ स०—न सिच् असिच्, तस्मिन्'' 'नञ्तत्पुरुषः । कृत० इत्यत्र समाहारद्वन्द्वः ॥ अनु०—वा, आर्धधातुकस्येड्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—कृती, चृती, उच्छृदिर्, उतृदिर्, नृती इत्येतेभ्यो धातुभ्य उत्तरस्य असिचः सकारादेरार्धधातुकस्य वा इडागमो भवति ॥ उदा०—कृती—कर्त्स्यति, अकर्त्स्यत्, चिकृत्सति । पक्षे—कर्त्तिष्यति, अकर्तिष्यत्, चिकर्त्तिषति । चृती—चर्त्स्यति, अचर्त्स्यत्, चिचृत्सति । पक्षे—चर्त्तिष्यति, अचर्त्तिष्यत्, चिचर्त्तिषति । छृद—छर्त्स्यति, अच्छर्त्स्यत्, चिच्छृत्सति । पक्षे—छर्दिष्यति, अच्छर्दिष्यत्, चिच्छर्दिषति । तृद—तर्त्स्यति, अतर्त्स्यत्, तितृत्सति । पक्षे—तर्दिष्यति, अतर्दिष्यत्, तितर्दिषति । नृत्—नर्त्स्यति, अनर्त्स्यत्, निनृत्सति । पक्षे—नर्तिष्यति, अनर्तिष्यत्, निनर्तिषति ॥

भाषार्थः—[*कृत'' 'नृतः*] कृती, चृती, उच्छृदिर्, उतृदिर्, नृती इन धातुओं से उत्तर [*असिचि*] सिच् भिन्न [*से*] सकारादि आर्धधातुक को विकल्प से इट् का आगम होता है ॥ ये धातुएँ उदात्त हैं, अतः इट सिद्ध ही था, विकल्पार्थ यह वचन है । सिद्धियों में कुछ भी विशेष नहीं है । भाग १ परि० १।३।६२ की सिद्धियों के समान ही सब कार्य जानें । अन्यत्र भी हम दिखा चुके हैं । सकारादि आर्धधातुक सर्वत्र है ही ॥

यहाँ से 'से' की अनुवृत्ति ७।२।६० तक जायेगी ॥

गमेरिट् परस्मैपदेषु ॥७।२।५८॥

गमेः ५।१॥ इट् १।१॥ परस्मैपदेषु ७।३॥ अनु०—से, आर्धधातुकस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—गमेरुत्तरस्य सकारादेरार्धधातुकस्य परस्मैपदेषु इडागमो भवति ॥ उदा०—गमिष्यति, अगमिष्यत्, जिगमिषति ॥

भाषार्थः—[*गमेः*] गम्लृ धातु से उत्तर सकारादि आर्धधातुक को [*परस्मैपदेषु*] परस्मैपद परे रहते [*इट्*] इट् आगम होता है ॥ गम्लृ धातु अनुदात्त है, अतः इट् प्राप्त नहीं था, सकारादि आर्धधातुक को प्राप्त करा दिया है ॥ जिगमिषति की सिद्धि २।४।४७ सूत्र में देखें ॥

यहाँ से 'परस्मैपदेषु' की अनुवृत्ति ७।२।६० तक जायेगी ॥

न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः ॥७।२।५९॥

न अ० ॥ वृद्भ्यः ५।३॥ चतुर्भ्यः ५।३॥ *अनु०*—परस्मैपदेषु, से, आर्धधातुकस्येड्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—वृतादिभ्यश्चतुर्भ्य उत्तरस्य सकारादेरार्धधातुकस्य परस्मैपदेषु इडागमो न भवति ॥ *उदा०*—वृतु—वर्त्स्यति, अवर्त्स्यत्, विवृत्सति । वृधु—वर्त्स्यति, अवर्त्स्यत्, विवृत्सति । शृधु—शर्त्स्यति, अशर्त्स्यत्, शिशृत्सति । स्यन्दू—स्यन्त्स्यति, अस्यन्त्स्यत्, सिस्यन्त्स्यति ॥

भाषार्थः—[*वृद्भ्यः*] वृतु इत्यादि [*चतुर्भ्यः*] चार धातुओं से उत्तर सकारादि आर्धधातुक को परस्मैपद परे रहते इट् आगम [न] नहीं होता ॥ वृद्भ्यः में बहुवचन निर्देश से आदि अर्थ प्रतीत होता है ॥ वृतु, वृधु, शृधु, उदात्त धातुएँ हैं, अतः नित्य इट् प्राप्त था निषेध कर दिया, तथा स्यन्दू के ऊदित् होने से ७।२।४४ से विकल्प से इट् प्राप्त था नित्य निषेध कर दिया ॥ वृतादि चार धातुओं को स्य, सन् परे रहते परस्मैपद *वृद्भ्यः स्यसनोः* (१।३।९२) से होता है, अतः सकारादि आर्धधातुक, स्य सन् के ही यहाँ उदाहरण दिये हैं, अन्य सकारादि सिच् आदि के नहीं, क्योंकि वहाँ परस्मैपद परे सम्भव ही नहीं है ॥ सिद्धियाँ परि० १।३।९२ में ही देखें ॥ (१।२।१०) से सन् को कित्वत् होने से सर्वत्र *हलन्ताच्च* गुण नहीं होता है ॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ७।२।६५ तक जायेगी ॥

तासि च क्लृपः ॥७।२।६०॥

तासि लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ क्लृपः ५।१॥ *अनु०*—न, से, आर्धधातुकस्येड्, परस्मैपदेषु, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—कृपू सामर्थ्ये इत्येतस्मादुत्तरस्य तासेः सकारादेश्चार्धधातुकस्य परस्मैपदेषु इडागमो न भवति ॥ *उदा०*—श्वः कल्प्ता, कल्प्स्यति, अकल्प्स्यत्, चिक्लृप्सति ॥

भाषार्थः—[*क्लृपः*] कृपू सामर्थ्ये धातु से उत्तर [*तासि*] तास् [*च*] तथा सकारादि आर्धधातुक को इट् आगम नहीं होता, परस्मैपद परे रहते ॥ सिद्धियाँ भाग १ सूत्र १।३।९३ में देखें ॥ कृपू धातु ऊदित् है, अतः पूर्ववत् विकल्प से इट् प्राप्त होने पर निषेध कर दिया है ॥

अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम् ॥७।२।६१॥

अचः ५।१॥ तास्वत् अ० ॥ थलि ७।१॥ अनिटः ५।१॥ नित्यम्

१।१।। स०—न इट् अनिट्, तस्मात्... नञ्तत्पुरुषः।। अनु०—न, इट्, अङ्गस्य, उत्तरसूत्राद् 'उपदेशे' इत्यपकृष्यते ।। तासाविव तास्वत्, तत्र तस्येव (५।१।११५) इत्यनेन सप्तम्यर्थे वतिः ।। अर्थः—उपदेशेऽजन्ता ये धातवस्तासौ नित्यानिटस्तेभ्य उत्तरस्य तासाविव थलि इडागमो न भवति ।। उदा०—याता—ययाथ । चेता—चिचेथ । नेता—निनेथ । होता—जुहोथ ।

भाषार्थः—उपदेश में जो [*अचः*] अजन्त धातु [*तास्वत्*] तास् के परे रहते [*नित्यम्*] नित्य [*अनिटः*] अनिट् उससे उत्तर तास् के समान ही [*थलि*] थल् को इट् आगम नहीं होता, अर्थात् जिस प्रकार तास् परे रहते अनिट् धातु थी उसी प्रकार थल् में इट् आगम नहीं होता ।। उत्तर सूत्र *उपदेशेऽत्वतः* (७।२।६२) से यहाँ 'उपदेशे' का अपकर्षण 'अचः' के विशेषणार्थ किया जाता है, ऐसा समझें ।। याता आदि तास् में रूप अनिट्त्व प्रदर्शनार्थ हैं ।।

यहाँ से '*थलि*' की अनुवृत्ति ७।२।६६ तक तथा '*तास्वत् अनिटो नित्यम्*' की ७।२।६३ तक जायेगी ।।

उपदेशेऽत्वतः ।।७।२।६२।।

उपदेशे ७।१।। अत्वतः ५।१ ।। अत् (अकार) अस्मिन्नस्तीति अत्वान् तस्मात्... *तदस्या०* (५।२।९४) इत्यनेन मतुप् ।। *अनु०*—तास्वत् थल्यनिटो नित्यम्, न, इट्, अङ्गस्य ।। *अर्थः*—उपदेशे यो धातुरकारवान् तासौ नित्यमनिट् तस्मादुत्तरस्य थलस्तासाविव इडागमो न भवति ।। उदा०—पक्ता—पपक्थ । यष्टा—इयष्ठ । शक्ता—शशक्थ ।।

भाषार्थः—[*उपदेशे*] उपदेश में जो धातु [*अत्वतः*] अकारवान् और तास् के परे रहने पर नित्य अनिट् उससे उत्तर थल् को तास् के समान ही इट् आगम नहीं होता ।। पच् यज् आदि धातु अकारवान् और तास् में अनिट् हैं, अतः थल् को इट् आगम नहीं हुआ । यज् के ज् को *व्रश्चभ्रस्ज०* (८।२।३६) से ष् तथा ष्टुत्व हुआ है । *लिट्यभ्या०* (६।१।१७) से सम्प्रसारण होकर इयष्ठ बन गया ।।

ऋतो भारद्वाजस्य ।।७।२।६३।।

ऋतः ५।१।। भारद्वाजस्य ६।१।। *अनु०*—तास्वत् थल्यनिटो नित्यम्,

न, इट्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—तासौ नित्यानिट ऋकारान्ताद्धातोर्भारद्वाजस्याचार्यस्य मतेन तासाविव थल इडागमो न भवति ॥ *उदा०*—स्मर्त्ता-सस्मर्थ । ध्वर्त्ता—दध्वर्थ ॥

भाषार्थः—तास् परे रहते जो नित्य अनिट् [*ऋतः*] ऋकारान्त धातु उससे उत्तर [*भारद्वाजस्य*] भारद्वाज आचार्य के मत में तास् के समान ही थल् को इट् आगम नहीं होता ॥ ऋकारान्त धातु के अजन्त होने से *अचस्तास्वत्०* (७।२।६१) से ही थल् को इट् निषेध सिद्ध था, पुनः यह सूत्र नियमार्थ है, जो इस प्रकार है—"भारद्वाज आचार्य के मत में तास् परे नित्य अनिट् ऋकारान्त धातु से ही उत्तर थल् को इट् न हो, अन्य धातुओं को थल् परे भारद्वाज के मत में इट् हो ही जायेगा"। इस प्रकार सभी अजन्तों को नित्य इट् निषेध की प्राप्ति होने पर ऋकारान्त से अन्यों की व्यावृत्ति कर दी, अर्थात् उनको पक्ष में प्राप्त करा दिया। सो ययिथ, वविथ, पेचिथ आदि में भारद्वाज के मत से इट् आगम हो जाता है ॥

बभूथाततन्थजगृम्भववर्थेति निगमे ॥७।२।६४॥

बभूथ आततन्थ जगृभ्म ववर्थ, सर्वाणि पृथक् पृथक् असमस्तानि लुप्तप्रथमान्तानि पदानि ॥ इति अ० ॥ निगमे ७।१॥ *अनु०*—थलि, न, इट् ॥ *अर्थः*—बभूथ, आततन्थ, जगृभ्म, ववर्थ इत्येतानि पदानि थलि परतो निपात्यन्ते, निगमविषये ॥ निगमो वेदः ॥ सर्वत्र क्रादिनियमादिटः प्राप्तस्याभावो निपात्यते ॥ *उदा०*—त्वं हि होता प्रथमो बभूथ । येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ (ऋ० ३।२२।२) । जगृभ्मा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तम् (ऋ० १०।४७।१) । ववर्थ त्वं हि ज्योतिषा ॥

भाषार्थः—[*बभूथा···ववर्थ*] बभूथ, आततन्थ, जगृभ्म, ववर्थ [*इति*] ये शब्द थल् परे रहते निपातन किये जाते हैं [*निगमे*] वेद विषय में ॥ क्रादिनियम (७।२।१३) से सर्वत्र इट् प्राप्त था, उसका अभाव निपातन है ॥ बभूथ में परि० १।२।६ के बभूव के समान कार्य जानें। आततन्थ आङ्पूर्वक तनु विस्तारे से बना है। जगृभ्म ग्रह् धातु के मस् का रूप है। मस् को म आदेश *परस्मैपदानां०* (३।४।८२) से हुआ है, तथा *ग्रहिज्या०* (६।१।१६) से सम्प्रसारण और *हृग्रहोर्भश्छन्दसि हस्य०* (वा० ८।२।३५) से हकार को भकार भी जानें। वृञ् वरणे से ववर्थ बना है ॥

विभाषा सृजिदृशोः ॥७।२।६५॥

विभाषा १।१॥ सृजिदृशोः ६।२॥ *स०*—सृजि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—थलि, न, इट्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—सृज विसर्गे, दृशिर् प्रेक्षणे इत्येतयोस्थलो विभाषा इडागमो न भवति ॥ *उदा०*—सस्रष्ठ, ससर्जिथ॥ दद्रष्ठ, ददर्शिथ ॥

भाषार्थः—[*सृजिदृशोः*] सृज तथा दृशिर् अङ्ग के थल् को [*विभाषा*] विकल्प से इट् आगम नहीं होता ॥ क्रादिनियम से यहाँ भी नित्य इट् प्राप्त था, विकल्पार्थ यह वचन है ॥ सस्रष्ठ दद्रष्ठ में *व्रश्चभ्रस्ज०* (८।२।३६) से षत्व तथा *सृजिदृशो०* (६।१।५७) से अम् आगम हुआ है ॥

इडत्त्यर्त्तिव्ययतीनाम् ॥७।२।६६॥

इट् १।१॥ अत्यर्त्तिव्ययतीनाम् ६।३॥ *स०*—अत्यर्त्ति० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—थलि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अत्ति, अर्ति, व्ययति इत्येतेषामङ्गानां थलि इडागमो भवति ॥ *उदा०*—आदिथ, आरिथ, संविव्ययिथ ॥

भाषार्थः—[*अत्यर्त्तिव्ययतीनाम्*] अद भक्षणे, ऋ गतौ, व्येञ् संवरणे इन अङ्गों के थल् को [*इट्*] इट् आगम होता है ॥ आदिथ आरिथ में अभ्यास के आदि अकार को *अत आदेः* (७।४।७०) से दीर्घ होता है। यहाँ संविव्ययिथ की सिद्धि ६।१।४५ सूत्र में देखें॥ इट ग्रहण 'न विभाषा' की स्पष्ट निवृत्ति के लिए है ॥

वस्वेकाजाद्घसाम् ॥७।२।६७॥

वसु लुप्तसप्तम्यन्तनिर्देशः ॥ एकाजाद्घसाम् ६।३॥ *स०*—एकोऽच् यस्मिन् स एकाच्, बहुव्रीहिः। एकाच् च आत् च घस् च एकाजाद्घसस्तेषाम् इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—इट्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—एकाचां (कृतद्विर्वचनानाम्) धातूनां आकारान्तानां घसेश्च वसौ इडागमो भवति ॥ *उदा०*—आदिवान्, आशिवान्, पेचिवान्, शेकिवान्। आत्—या—ययिवान्। स्था—तस्थिवान्। घस्—जक्षिवान् ॥

भाषार्थः—[*एकाजाद्घसाम्*] एकाच् (द्विर्वचन कर लेने के पश्चात्)

धातु तथा आकारान्त एवं घस् से उत्तर [वसु] वसु को इट् आगम होता है ॥ द्विर्वचन कर लेने पर जो एकाच् धातु वह यहाँ एकाच् से गृहीत है। वसु से लिट् के स्थान में जो क्वसु (३।२।१०७) आदेश उसका ग्रहण है। जक्षिवान् की सिद्धि सूत्र ३।२।१०७ में देखें। तद्वत् अन्य सिद्धियाँ भी वहीं देख लें, केवल आदिवान् आशिवान्, में अश् अश् द्वित्व होकर अभ्यास के अकार को दीर्घत्व *अत आदेः* (७।४।७०) से हो जाता है, पश्चात् दोनों अकारों को सवर्णदीर्घत्व हुआ है। पेचिवान् शेकिवान् में *अत एकहल्०* (६।४।१२०) से अभ्यास लोप एवं एत्व होता है। क्रादिनियम से इन धातुओं से उत्तर लिट्स्थानी वसु को इट् आगम सिद्ध ही था, पुनर्विधान नियमार्थ है, जो इस प्रकार है—"वसु को इट् आगम इन धातुओं से उत्तर ही हो, अन्यों से उत्तर नहीं", अर्थात् क्रादिनियम से अन्य धातुओं से उत्तर भी वसु को इट् आगम प्राप्त था, उसकी इस नियम ने व्यावृत्ति कर दी, तो बिभिद्वान् आदि में इट् नहीं हुआ ॥

यहाँ से '*वसु*' की अनुवृत्ति ७।२।६६ तक जायेगी ॥

विभाषा गमहनविदविशाम् ॥७।२।६८॥

विभाषा १।१॥ गमहनविदविशाम् ६।३॥ *स०*—गम० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—वसु, इट्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—गम्लृ, हन, विदॢ लाभे, विश प्रवेशने इत्येतेषां धातूनां वसोः विभाषा इडागमो भवति ॥ *उदा०*—जग्मिवान्, जगन्वान्। हन—जघ्निवान्, जघन्वान्। विद—विविदिवान्, विविद्वान्। विश—विविशिवान्, विविश्वान् ॥

भाषार्थः—[*गमहनविदविशाम्*] गम्लृ, हन, विदॢ, विश इन अङ्गों से उत्तर वसु को [*विभाषा*] विकल्प से इट् आगम होता है ॥ पूर्वसूत्रानुसार ही सिद्धियों का प्रकार है। जगन्वान् में गम् के म् को *म्वोश्च* (८।२।६५) से न् हुआ है। जग्मिवान् जघ्निवान् में *गमहनजन०* (६।४।९८) से उपधा लोप करके पश्चात् पूर्ववत् *द्विर्वचनेऽचि* से द्वित्व होगा। जघ्निवान् में *अभ्यासाच्च* (७।३।५५) से अभ्यास से उत्तर ह् को कुत्व घ् भी हुआ है। शेष पूर्ववत् है। विदॢ लाभे से विविदिवान् आदि जानें ॥

सनिंससनिवांसम् ॥७।२।६९॥

सनिंससनिवांसम् १।१॥ *अनु०*—वसु, इट्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—

ानिम् इत्येवंपूर्वात् सनतेः सनोतेर्वा वसोरिड् एत्वाभ्यासलोपाभावश्च
ापात्यते ॥ छन्दस्येतत् निपातनम् ॥ *उदा०*—अज्ञित्वाग्ने सनिंससनि-
ासम् ॥

भाषार्थः—सनिम् पूर्वक षणु दाने अथवा षण धातु से क्वसु को इट्
ागम तथा *अत एकहल्मध्ये०* (६।४।१२०) से प्राप्त एत्व तथा अभ्यास
ः लोप का अभाव करके [*सनिससनिवांसम्*] सनिंससनिवांसम् यह शब्द
ापातन किया जाता है ॥ द्वितीया विभक्ति के एकवचन में ही यह शब्द
ापातन है, अतः इसकी नियतानुपूर्वी देखकर वेद में ही यह शब्द
ापातन है ऐसा मानना चाहिये, क्योंकि नियतानुपूर्वी वेद में ही
ाती है ॥

ऋद्धनोः स्ये ॥७।२।७०॥

ऋद्धनोः ६।२॥ स्ये ७।१॥ *स०*—ऋद्धनोः इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥
ानु०—इट्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—ऋकारान्तानां धातूनां हन्तेश्च स्ये
डागमो भवति ॥ *उदा०*—ऋकारान्तानाम्—करिष्यति, हरिष्यति ।
न्तेः—हनिष्यति ॥

भाषार्थः—[*ऋद्धनोः*] ऋकारान्त तथा हन धातु के [*स्ये*] स्य को
ट् आगम होता है ॥ ऋकारान्त एवं हन के अनुदात्त होने से *एकाच*
उपदेशे० (७।२।१०) से इट्निषेध प्राप्त था, इट् प्राप्त करा दिया ॥
ासिद्धियाँ परि० १।४।१३ में देखें ॥

अञ्जेः सिचि ॥७।२।७१॥

अञ्जेः ५।१॥ सिचि ७।१॥ *अनु०*—इट्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अञ्जेः
तरस्य सिचि इडागमो भवति ॥ *उदा०*—आञ्जीत्, आञ्जिष्टाम्,
ाञ्जिषुः ॥

भाषार्थः—[*अञ्जेः*] अञ्जू धातु से उत्तर [*सिचि*] सिच् को इट्
ागम होता है ॥ ऊदित् होने से *स्वरतिसूति०* (७।२।४४) से इट्
कल्प से प्राप्त था, नित्य कह दिया ॥ सिद्धियाँ परि० १।१।१ के
नुसार जानें ॥ ६।४।७२ से यहाँ आट् आगम होता है ॥

यहाँ से '*सिचि*' की अनुवृत्ति ७।२।७२ तक जायेगी ॥

स्तुसुधूञ्भ्यः परस्मैपदेषु ॥७।२।७२॥

स्तुसुधूञ्भ्यः ५।३॥ परस्मैपदेषु ७।३॥ स०—स्तु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—सिचि, इट्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—स्तु, सु, धूञ् इत्येतेभ्य उत्तरस्य सिच इडागमो भवति परस्मैपदेषु परतः ॥ उदा०—अस्तावीत्, असावीत् । अधावीत् ॥

भाषार्थः—[स्तुसुधूञ्भ्यः] ष्टुञ्, षुञ्, तथा धूञ् धातु से उत्तर [परस्मैपदेषु] परस्मैपद परे रहते सिच् को इट् आगम होता है ॥ ष्टुञ् षुञ् धातु अनुदात्त हैं, अतः उन्हें नित्य प्रतिषेध प्राप्त था, तथा धूञ् ऊदित् है, अतः पूर्ववत् विकल्प प्राप्त था, तदर्थ यह सूत्र है ॥

यहाँ से 'परस्मैपदेषु' की अनुवृत्ति ७।२।७३ तक जायेगी ॥

यमरमनमातां सक् च ॥७।२।७३॥

यमरमनमाताम् ६।३॥ सक् १।१॥ च अ० ॥ स०—यम० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—परस्मैपदेषु, सिचि, इट्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—यम, रमु, णम इत्येतेषामङ्गानामाकारान्तानाञ्च सक् आगमो भवति, सिच इडागमश्च परस्मैपदेषु परतः ॥ उदा०—यम—अयंसीत्, अयंसिष्टाम्, अयंसिषुः । रमु—व्यरंसीत्, व्यरंसिष्टाम्, व्यरंसिषुः । णम—अनंसीत्, अनंसिष्टाम्, अनंसिषुः । आत्—अयासीत्, अयासिष्टाम्, अयासिषुः ॥

भाषार्थः—[यमरमनमाताम्] यम, रमु, णम तथा आकारान्त अङ्ग को [सक्] सक् आगम होता है [च] तथा सिच् को परस्मैपद परे रहते इट् आगम होता है ॥ 'अट् यम् सक्, इट्, सिच्, ईट्, तिप्' यहाँ इट ईटि (८।२।२८) से सिच् के सकार का लोप तथा पूर्ववत् सब होकर अ यम् स् ई त् = अयंसीत् बना । सक् कित् होने से यम के अन्त में, तथा इट् टित् होने से सिच् के आदि में बैठेगा । व्यरंसीत् में व्याङ्परिभ्यो० (१।३।८३) से परस्मैपद होता है । वदव्रज० (७।२।३) से सर्वत्र वृद्धि प्राप्त होने पर नेटि (७।२।४) से प्रतिषेध होता है ॥ सभी धातुएँ अनुदात्त हैं, अतः इट् प्रतिषेध प्राप्त होने पर यह विधान है, इट् के सन्नियोग से सक् आगम भी होता है ॥

स्मिपूङ्रञ्ज्वशां सनि ॥७।२।७४॥

स्मिपूङ्रञ्ज्वशाम् ६।३॥ सनि ७।१॥ स०—स्मि० इत्यत्रेतरेतर-

द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—इट्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—स्मिङ्, पूङ्, ऋ, अञ्जू, अशू इत्येतेषां धातूनां सन इडागमो भवति ॥ *उदा०*—सिस्मयिषते, पिपविषते, अरिरिषति, अञ्जिजिषति, अशिशिषते ॥

भाषार्थः—[*स्मि''शाम्*] स्मिङ्, पूङ्, ऋ, अञ्जू, अशू इन धातुओं के [*सनि*] सन् को इट् आगम होता है ॥ पिपविषते में अभ्यास के उ को इत्व *ओः पुयण्ज्यपरे* (७।४।८०) से हुआ है। पू को गुण अवादेश करके *द्विर्वचनेऽचि* (१।१।५८) से पू पाव् द्वित्व होगा। अरिरिषति में ऋ को गुण रपरत्व करके 'रिष् रिष्' द्वित्व *अजादेर्द्वितीयस्य* (६।१।२) से होगा, तथा अञ्जिजिषति में *न न्द्राः संयोगादयः* (६।१।३) से नकार को (अञ्जू में परसवर्ण होकर न् को ञ् हुआ है, वस्तुतः वह 'न्' है) भी द्वित्व का निषेध होकर 'जिष् जिष्' द्वित्व होता है ॥ अञ्जू तथा अशू के ऊदित् होने से पूर्ववत् विकल्प प्राप्त था, तथा शेष धातुओं के उगन्त होने से *सनि ग्रहगुहोश्च* (७।२।१२) से नित्य इट् निषेध प्राप्त था, तदर्थ यह आरम्भ है ॥

यहाँ से '*सनि*' की अनुवृत्ति ७।२।७५ तक जायेगी ॥

किरश्च पञ्चभ्यः ॥७।२।७५॥

किरः ५।१॥ च अ० ॥ पञ्चभ्यः ५।३॥ *अनु०*—सनि, इट्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—किरादिभ्यः पञ्चभ्यो धातुभ्य उत्तरस्य सन इडागमो भवति ॥ *उदा०*—कॄ-चिकरिषति। गॄ-जिगरिषति। दृङ्—दिदरिषते। धृङ्—दिधरिषते। प्रच्छ-पिपृच्छिषति ॥

भाषार्थः—[*किरः*] कॄ इत्यादि [*पञ्चभ्यः*] पाँच धातुओं से उत्तर [च] भी सन् को इट् आगम होता है ॥ दृङ् धृङ् के उगन्त होने से *सनि ग्रहगुहोश्च* (७।२।१२) से इट् प्रतिषेध प्राप्त था, तथा अन्यों के अनुदात्त होने से इट् निषेध प्राप्त था, विधान कर दिया ॥ पिपृच्छिषति की सिद्धि परि० १।२।८ में देखें। इसी प्रकार अन्यों में भी जानें ॥

यहाँ से '*पञ्चभ्यः*' की अनुवृत्ति ७।२।७६ तक जायेगी ॥

रुदादिभ्यः सार्वधातुके ॥७।२।७६॥

रुदादिभ्यः ५।३॥ सार्वधातुके ७।१॥ *स०*—रुद आदिर्येषां ते

रुदादयस्तेभ्यः''' बहुव्रीहिः ।। *अनु०*—पञ्चभ्यः, वलादेः, इट् , अङ्गस्य ।। *अर्थः*—रुदादिभ्यः पञ्चभ्यो धातुभ्य उत्तरस्य वलादेः सार्वधातुकस्य इडागमो भवति ।। *उदा०*—रुद्-रोदिति । स्वप्-स्वपिति । श्वस्-श्वसिति । अन्—प्राणिति । जक्ष्—जक्षिति ।।

भाषार्थः—[*रुदादिभ्यः*] रुदादि पाँच धातुओं से उत्तर वलादि [*सार्वधातुके*] सार्वधातुक को इट् आगम होता है ।। प्राणिति में *अनितेरन्तः* (८।४।१९) से णत्व हुआ है ।। ये सब धातुएँ अदादिगणस्थ हैं ।।

यहाँ से '*सार्वधातुके*' की अनुवृत्ति ७।२।८१ तक जायेगी ।।

ईशः से ।।७।२।७७।।

ईशः ५।१।। से लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ।। *अनु०*—सार्वधातुके, इट् , अङ्गस्य ।। *अर्थः*—ईश उत्तरस्य से इत्येतस्य सार्वधातुकस्य इडागमो भवति ।। *उदा०*—ईशिषे, ईशिष्व ।।

भाषार्थः—[*ईशः*] ईश ऐश्वर्य धातु से उत्तर [*से*] से सार्वधातुक को इट् आगम होता है ।। *थासः से* (३।४।८०) से जो थास् को से आदेश होता है, उसका यहाँ 'से' से ग्रहण है । ईशिषे यहाँ पूववत् *अदिप्रभृतिभ्यः* (२।४।७२) से शप् का लुक् होगा । *एकदेशविकृतमनन्यवद् भवति* (परि० ३७) इस परिभाषा से 'से' के एकार को जो *सवाभ्यां वामौ* (३।४।९१) से व आदेश होता है उसका भी इस सूत्र से ग्रहण हो जाता है, अतः ईशिष्व में भी इट् आगम होता है ।।

यहाँ से '*से*' की अनुवृत्ति ७।२।७८ तक जायेगी ।।

ईडजनोर्ध्वे च ।।७।२।७८।।

ईडजनोः ६।२।। ध्वे लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ।। च अ० ।। *स०*—ईड० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। *अनु०*—से, सार्वधातुकस्य, इट् , अङ्गस्य ।। *अर्थः*—ईड, जन इत्येताभ्यां धातुभ्यामुत्तरस्य ध्वे इत्येतस्य से इत्येतस्य च सार्वधातुकस्य इडागमो भवति ।। *उदा०*—ईडिध्वे, ईडिध्वम् , ईडिषे, ईडिष्व । जनिध्वे, जनिध्वम् , जनिषे, जनिष्व ।। ईशोऽपि ध्व इडिष्यते—ईशिध्वम् ।

भाषार्थः—[*ईडजनोः*] ईड तथा जन धातु से उत्तर [*ध्वे*] ध्व [*च*] ाथा 'से' सार्वधातुक को इट् आगम होता है ॥ ईडिध्वम् जनिध्वम् लोट् के रूप हैं। ईश धातु से भी ध्व परे इडागम इष्ट है—ईशिध्वम्। *त्वाभ्यां वामौ* (३।४।६१) से यहाँ 'म्' आदेश होगा ॥

लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य ॥७।२।७९॥

लिङः ६।१॥ सलोपः १।१॥ अनन्त्यस्य ६।१॥ *स०*—सस्य लोपः सलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः। अन्ते भवोऽन्त्यः, न अन्त्योऽनन्त्यस्तस्य 'नञ्-तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—सार्वधातुके, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—सार्वधातुके यो लिङ् तस्यानन्त्यस्य सकारस्य लोपो भवति ॥ *उदा०*—कुर्यात्, कुर्याताम्, कुर्युः। कुर्वीत, कुर्वीयाताम्, कुर्वीरन् ॥

भाषार्थः—सार्वधातुक में जो [*लिङः*] लिङ् लकार का [*अनन्त्यस्य*] अनन्त्य [*सलोपः*] सकार, उसका लोप होता है ॥ सार्वधातुक लिङ् कहने से विधिलिङ् के स् का ही लोप होगा, आशीर्लिङ् तो *लिङाशिषि* (३।४।११६) से आर्धधातुक होता है ॥ लिङ् लकार को हुये यासुट्, सुट्, तथा सीयुट् आगम के सकार ही अनन्त्य सकार हैं, सो उन्हीं का लोप होता है ॥ कुर्यात् आदि की सिद्धि सूत्र ६।४।१०६ में देखें। कुर्वीत आदि में सीयुट् के स् का लोप हुआ है। कुरु ईय् त = *लोपो व्योर्वलि* (६।१।६४) लगकर कुर्वीत बन गया ॥

अतो येयः ॥७।२।८०॥

अतः ५।१॥ या लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ इयः १।१॥ *अनु०*—सार्व-धातुके, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अकारान्तादङ्गादुत्तरस्य या इत्येतस्य सार्वधातुकस्य इय् इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—पचेत्, पचेताम्, पचेयुः ॥

भाषार्थः—[*अतः*] अकारान्त अङ्ग से उत्तर सार्वधातुक [*या*] या के स्थान में [*इयः*] इय् आदेश होता है ॥ अर्थ की दृष्टि से 'सार्व-धातुके' सप्तम्यन्त यहाँ षष्ठ्यन्त में बदल जाता है। सार्वधातुक का 'या' कहने से पूर्ववत् विधिलिङ् का 'या' लिया जायेगा ॥ पच् शप् यास् सुट् त् = पच् अ या त् = पच इय् त यहाँ *लोपो व्योर्वलि* (६।१।६४)

लगाकर पचेत् बन गया। इसी प्रकार पचेताम् आदि जानें। *तस्थस्थ०* (३।४।१०१) से यहाँ तस् को ताम् होता है॥

यहाँ से '*अतः*' की अनुवृत्ति ७।२।८२ तक तथा '*इयः*' की ७।२।८१ तक जायेगी॥

आतो ङितः ॥७।२।८१॥

आतः ६।१॥ ङितः ६।१॥ *स०*—ङ् इत् यस्य स ङित्, तस्य... बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—अतः, इयः, सार्वधातुके, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—अकारान्तादङ्गादुत्तरस्य ङिदवयवस्य आकारस्य सार्वधातुकस्य इय् इत्ययमादेशो भवति॥ *उदा०*—पचेते, पचेथे, पचेताम्, पचेथाम्। यजेते, यजेथे, यजेताम्, यजेथाम्॥

भाषार्थः—अकारान्त अङ्ग से उत्तर [*ङितः*] ङित् सार्वधातुक के अवयव [*आतः*] आकार के स्थान में इय् आदेश होता है॥ पचेते पचेथे की सिद्धि परि० १।१।११ में देखें। तद्वत् लोट् में *आमेतः* (३।४।९०) लगकर पचेताम् पचेथाम् की सिद्धि जानें॥ *सार्वधातुक०* (१।२।४) से 'आताम्' ङित् है, अतः उसके अवयव 'आ' को इय् हो गया॥

आने मुक् ॥७।२।८२॥

आने ७।१॥ मुक् १।१॥ *अनु०*—अतः, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—आने परतोऽङ्गस्यातो मुक् आगमो भवति॥ *उदा०*—पचमानः, यजमानः॥

भाषार्थः—[*आने*] आन परे रहते अङ्ग के अकार को [*मुक्*] मुक् आगम होता है॥ '*अतः*' पञ्चम्यन्त की अनुवृत्ति जो ऊपर से आ रही है वह 'आने' में सप्तमी होने से *तस्मिन्निति०* (१।१।६५) सूत्र के कारण षष्ठी में बदल जाती है। भाष्य में *तस्मिन्निति०* सूत्र का इस प्रकार अर्थ किया है॥ परि० ३।२।१२४ में द्वितीयान्त पचमानम् की सिद्धि की है, तद्वत् प्रथमान्त पचमानः में भी जानें। यहाँ अङ्ग के शप् के 'अ' को मुक् आगम होता है न कि अङ्ग को॥

यहाँ से '*आने*' की अनुवृत्ति ७।२।८३ तक जायेगी॥

ईदासः ॥७।२।८३॥

ईत् १।१॥ आसः ५।१॥ *अनु०*—आने, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—आस उत्तरस्य आनस्य ईकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—आसीनो यजते ॥

भाषार्थः—[*आसः*] आस् से उत्तर आन को [ईत्] ईकारादेश होता है ॥ 'आसः' में पञ्चमी होने से पूर्ववत् 'आने' षष्ठ्यन्त में *तस्मादित्युत्तरस्य* (१।१।६६) के नियम से बदल जायेगा ॥ आसीनः की सिद्धि परि० १।१।५३ में देखें ॥

अष्टन आ विभक्तौ ॥७।२।८४॥

अष्टनः ६।१॥ आः १।१॥ विभक्तौ ७।१॥ *अनु०*—अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अष्टनो विभक्तौ परत आकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—अष्टाभिः, अष्टाभ्यः, अष्टानाम्, अष्टासु ॥

भाषार्थः—[*अष्टनः*] अष्टन् अङ्ग को [*विभक्तौ*] विभक्ति परे रहते [*आः*] आकारादेश हो जाता है ॥ *अलोन्त्यस्य* (१।१।५१) से अन्त्य अल् न् के स्थान में आत्व हो जाता है। अष्ट आ भिस् = अष्टाभिः बना। अष्टानाम् में *षट्चतुर्भ्यश्च* (७।१।५५) से नुम् आगम होता है। अष्ट आ नुम् आम् = अष्टानाम् बना ॥

यहाँ से '*आः*' की अनुवृत्ति ७।२।८८ तक तथा '*विभक्तौ*' की ७।२।११३ तक जायेगी ॥

रायो हलि ॥७।२।८५॥

रायः ६।१॥ हलि ७।१॥ *अनु०*—आः, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—रै इत्येतस्याङ्गस्य हलादौ विभक्तौ परत आकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—राभ्याम्, राभिः ॥

भाषार्थः—[*रायः*] रै अङ्ग को [*हलि*] हलादि विभक्ति परे रहते आकारादेश होता है ॥ पूर्ववत् यहाँ भी अन्तिम अल् 'ऐ' के स्थान में आत्व होगा ॥

युष्मदस्मदोरनादेशे ॥७।२।८६॥

युष्मदस्मदोः ६।२॥ अनादेशे ७।१॥ *स०*—युष्मच्च अस्मच्च

युष्मदस्मदी, तयो॰॰॰'इतरेतरद्वन्द्वः। न आदेशः अनादेशस्तस्मिन्॰॰॰नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—आः विभक्तौ, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—युष्मद् अस्मद् इत्येतयोरनादेशे विभक्तौ परत आकारादेशो भवति॥ *उदा०*—युष्माभिः, अस्माभिः। युष्मासु, अस्मासु॥

भाषार्थः—[*युष्मदस्मदोः*] युष्मद् तथा अस्मद् अङ्ग को [*अनादेशे*] आदेश रहित (जिसमें कोई आदेश नहीं हुआ है) विभक्ति के परे रहते आकारादेश होता है॥ भिस् तथा सुप् विभक्ति को कोई आदेश नहीं होता है, अतः अनादेश विभक्ति परे है, सो अन्त्य अल् 'द्' को आत्व हो गया॥

यहाँ से '*युष्मदस्मदोः*' की अनुवृत्ति ७।२।९८ तक तथा '*अनादेशे*' की ७।२।८९ में ही जायेगी॥

द्वितीयायां च ॥७।२।८७॥

द्वितीयायाम् ७।१॥ च अ०॥ *अनु०*—युष्मदस्मदोः, आः विभक्तौ, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—द्वितीयायां च विभक्तौ परत युष्मदस्मदोराकारादेशो भवति॥ *उदा०*—त्वाम्, माम्। युवाम्। आवाम्। युष्मान्, अस्मान्॥

भाषार्थः—[*द्वितीयायाम्*] द्वितीया विभक्ति के परे रहते [*च*] भी युष्मद् तथा अस्मद् अङ्ग को आकारादेश होता है॥ पूर्व सूत्र में अनादेश विभक्ति कहा था, यहाँ ङे *प्रथमयो०* (७।१।२८) से अम् आदेश होने से आदेशरूप विभक्ति है, तदर्थ यह वचन है॥ त्वाम् आदि की सिद्धियाँ परि० ७।१।२८ में तथा युष्मान् अस्मान् की सिद्धि सूत्र ७।१।२६ में देखें॥

प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् ॥७।२।८८॥

प्रथमायाः ६।१॥ च अ०॥ द्विवचने ७।१॥ भाषायाम् ७।१॥ *अनु०*—युष्मदस्मदोः, आः विभक्तौ, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—प्रथमायाश्च द्विवचने विभक्तौ परतो युष्मदस्मदोराकारादेशो भवति भाषायां विषये॥ *उदा०*—युवाम्, आवाम्॥

भाषार्थः—[*प्रथमायाः*] प्रथमा विभक्ति के [*द्विवचने*] द्विवचन के परे रहते [*च*] भी [*भाषायाम्*] भाषा विषय में युष्मद् अस्मद् को

आकारादेश होता है ॥ यह सूत्र भी आदेश रूप विभक्ति परे रहते प्राप्त कराने के लिये है ॥ सिद्धि परि० ७।१।२८ में देखें ॥

योऽचि ॥७।२।८९॥

यः १।१॥ अचि ७।१॥ *अनु०*—युष्मदस्मदोरनादेशे, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अजादावनादेशे विभक्तौ परतो युष्मदस्मदोर्यकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—त्वया, मया, त्वयि, मयि, युवयोः, आवयोः ॥

भाषार्थः—कोई आदेश जिसको नहीं हुआ है ऐसी [*अचि*] अजादि विभक्ति के परे रहते युष्मद् अस्मद् अङ्ग को [*यः*] यकारादेश होता है ॥ मपर्यन्त युष्म् अस्म् को *त्वमावेकवचने* (७।२।९७) से त्व म आदेश तथा प्रकृत सूत्र से द् को य् आदेश होकर त्व अ य् टा रहा । *अतो गुणे* (६।१।९४) लगकर त्वया मया आदि बन गये । इसी प्रकार युवयोः आवयोः में *युवावौ द्विवचने* (७।२।९२) से युव आव आदेश करके सिद्धि जानें ॥

शेषे लोपः ॥७।२।९०॥

शेषे ७।१॥ लोपः १।१॥ *अनु०*—युष्मदस्मदोः, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—शेषे विभक्तौ युष्मदस्मदोर्लोपो भवति ॥ कश्च शेषः ? यत्र आकारो यकारश्च न विहितः ॥ *उदा०*—त्वम्, अहम् । यूयम् वयम् । तुभ्यम्, मह्यम् । युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम् । त्वत्, मत् । युष्मत्, अस्मत् । तव, मम । युष्माकम्, अस्माकम् ॥

भाषार्थः—[*शेषे*] शेष विभक्ति के परे रहने पर युष्मद् अस्मद् अङ्ग का [*लोपः*] लोप होता है ॥ यहाँ प्रश्न होता है किससे शेष विभक्ति के परे ? उत्तर है, जहाँ पूर्वसूत्रों से यकार एवं आकार कहा है उनसे अन्य में = शेष में । इस प्रकार पूर्वोक्त उदाहरण ही उनसे शेष हैं ॥

यहाँ से आगे युष्मद् अस्मद् को जो आदेश कहे हैं, वे युष्मद् अस्मद् के मपर्यन्त को कहे हैं, अतः मपर्यन्त को आदेश कर लेने पर जो अद् भाग शेष रहता है, उस 'अद्' अर्थात् टि भाग का लोप इस सूत्र से हो, अथवा अन्त्य लोप (१।१।५१) द् मात्र का हो, ये दोनों ही पक्ष भाष्य में (म० भा० ७।१।३०) माने गये हैं, सो अन्त्य लोप पक्ष में 'अ' को *अतो गुणे* (६।१।९४) से पररूपत्व एवं *अमि पूर्वः*

(६।१।१०३) से पूर्वरूप होकर सिद्धि होगी। टिलोप पक्ष में कोई कठिनाई ही नहीं ॥

त्वम्, अहम्, यूयम्, वयम्, तुभ्यम्, मह्यम् की सिद्धि परि० ७।१।२८ में देखें। युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम् की सिद्धि सूत्र ७।१।३० एवं त्वत् मत् की ७।१।३२ तथा युष्मत्, अस्मत् एवं युष्माकम् अस्माकम् की ७।१।३१-३३ में देखें। तव मम की सिद्धि परि० २।२।१६ में देखें। अद् भाग का लोप पूर्ववत् यहाँ भी हो गया है ॥

मपर्यन्तस्य ॥७।२।९१॥

मपर्यन्तस्य ६।१॥ *स०*—मः पर्यन्तो यस्य स मपर्यन्तस्तस्य ''बहुव्रीहिः ॥ *अर्थः*—इतोऽग्रे वक्ष्यमाणा आदेशा मपर्यन्तस्यैव भवन्तीत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ *उदा०*—वक्ष्यति-*युवावौ द्विवचने*—युवाम्, आवाम् ॥

भाषार्थः—यहाँ से आगे ७।२।९८ तक सब आदेश [*मपर्यन्तस्य*] मकार पर्यन्त को होंगे ॥ अर्थात् युष्मद्, अस्मद् को जो आदेश कहेंगे वे आदेश युष्मद् अस्मद् के मकार तक जितना अंश युष्म् अस्म् है उसके स्थान में हों ऐसा अधिकार जानना चाहिये ॥ यह अधिकार सूत्र है ॥

युवावौ द्विवचने ॥७।२।९२॥

युवावौ १।२॥ द्विवचने १।२॥ *स०*—युवश्च आवश्च युवावौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—मपर्यन्तस्य, युष्मदस्मदोः, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—द्विवचने = द्व्यर्थाभिधानविषये ये युष्मदस्मदी तयोर्मपर्यन्तस्य स्थाने युव आव इत्येतावादेशौ भवतः ॥ *उदा०*—युवाम्, आवाम्। युवाभ्याम्, आवाभ्याम्। युवयोः, आवयोः ॥

भाषार्थः—[*द्विवचने*] द्विवचन = दो अर्थों को कथन करने वाले युष्मद् अस्मद् अङ्ग के मपर्यन्त के स्थान में क्रमशः [*युवावौ*] युव, आव आदेश हो जाते हैं ॥ मपर्यन्त को युव आव होकर युव अद् भ्याम्, आव अद् भ्याम् रहा। यहाँ *युष्मदस्मदो०* (७।२।८६) से द् को 'आ' आदेश, पश्चात् सवर्णदीर्घत्व होकर युवाभ्याम् आवाभ्याम् बन गया। युवयोः आवयोः में भी *योऽचि* (७।२।८९) से द् को य् होकर सिद्धि जानें ॥

यूयवयौ जसि ॥७।२।९३॥

यूयवयौ १।२॥ जसि ७।१॥ स०—यूयश्च वयश्च यूयवयौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—मपर्यन्तस्य, युष्मदस्मदोः, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—जसि विभक्तौ परतो यथासङ्ख्यं युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य यूय वय इत्येतावादेशौ भवतः ॥ *उदा०*—यूयम्, वयम् ॥

भाषार्थः—[*जसि*] जस् विभक्ति परे हो तो युष्मद् अस्मद् अङ्ग के मपर्यन्त को क्रमशः [*यूयवयौ*] यूय, वय आदेश होते हैं ॥ सिद्धि परि० ७।१।२८ में देखें ॥

त्वाहौ सौ ॥७।२।९४॥

त्वाहौ १।२॥ सौ ७।१॥ स०—त्वाहौ, इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनुः*—मपर्यन्तस्य, युष्मदस्मदोः, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—सौ विभक्तौ परतो युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य यथासङ्ख्यं त्व अह इत्येतावादेशौ भवतः ॥ *उदा०*—त्वम्, अहम्। परमत्वम्, परमाहम्। अतित्वम्, अत्यहम् ॥

भाषार्थः—[*सौ*] सु विभक्ति परे रहते युष्मद् अस्मद् अङ्ग के मपर्यन्त को क्रमशः [*त्वाहौ*] त्व तथा अह आदेश होते हैं ॥ *त्वमावे०* (७।२।९७) से अस्मद् को म आदेश एकवचन में प्राप्त था तदपवाद यह सूत्र है ॥ परमत्वम् आदि में कर्मधारय तत्पुरुष समास है। अतित्वम् आदि में *स्वती पूजायाम्* (वा० २।२।१८) से समास हुआ है। सिद्धियाँ परि० ७।१।२८ में देखें ॥

तुभ्यमह्यौ ङयि ॥७।२।९५॥

तुभ्यमह्यौ १।२॥ ङयि ७।१॥ स०—तुभ्य० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—मपर्यन्तस्य, युष्मदस्मदोः, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य यथाक्रमं तुभ्य मह्य इत्येतावादेशौ भवतो ङयि विभक्तौ परतः ॥ *उदा०*—तुभ्यम्, मह्यम्। परमतुभ्यम्, परममह्यम्। अतितुभ्यम्, अतिमह्यम् ॥

भाषार्थः—युष्मद् अस्मद् अङ्ग के मपर्यन्त को क्रमशः [*तुभ्यमह्यौ*] तुभ्य, मह्य आदेश [*ङयि*] ङे विभक्ति परे रहते होते हैं ॥ सिद्धि परि० ७।१।२८ में देखें ॥

तवममौ ङसि ॥७।२।९६॥

तवममौ १।२॥ ङसि ७।१॥ स०—तव० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—मपर्यन्तस्य, युष्मदस्मदोः, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य यथाक्रमं तव मम इत्येतावादेशौ भवतो ङसि विभक्तौ परतः ॥ उदा०—तव, मम । परमतव, परममम । अतितव, अतिमम ॥

भाषार्थः—युष्मद् अस्मद् अङ्ग के मपर्यन्त को क्रमशः [तवमम] तव तथा मम आदेश [ङसि] ङस् विभक्ति परे रहते होते हैं ॥ सिद्धि परि० २।२।१६ में देखें । अद् भाग का शेषे लोपः से लोप हो जायेगा ॥

त्वमावेकवचने ॥७।२।९७॥

त्वमौ १।२॥ एकवचने १।२॥ स०—त्व० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—मपर्यन्तस्य, युष्मदस्मदोः, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—एकवचने ये युष्मदस्मदी तयोर्मपर्यन्तस्य त्व म इत्येतावादेशौ भवतः ॥ उदा०—त्वाम्, माम् । त्वया, मया । त्वत्, मत्, । त्वयि, मयि ॥

भाषार्थः—[एकवचने] एकवचन = एक अर्थ का कथन करने वाले युष्मद् अस्मद् अङ्ग के मपर्यन्त को क्रमशः [त्वमौ] त्व, म आदेश होते हैं ॥ पूर्वोक्त सूत्रों में ही सिद्धियाँ देखें । त्वया, मया आदि में योऽचि (७।२।८९) से यकारादेश जानें ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।२।९८ तक जायेगी ॥

प्रत्ययोत्तरपदयोश्च ॥७।२।९८॥

प्रत्ययोत्तरपदयोः ७।२॥ च अ०॥ स०—प्रत्ययश्च उत्तरपदञ्च प्रत्य... पदे, तयो:... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—त्वमावेकवचने, मपर्यन्तस्य, युष्मदस्मदोः, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—प्रत्यये उत्तरपदे च परत एकार्थयोर्युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य त्व म इत्येतावादेशौ भवतः ॥ उदा०—प्रत्यये—तवायम् = त्वदीयः, मदीयः । अतिशयेन त्वम् = त्वत्तरः, मत्तरः । त्वामिच्छति = त्वद्यति, मद्यति । त्वमिवाचरति = त्वद्यते, मद्यते । उत्तरपदे—तव पुत्रस्त्वत्पुत्रः, मत्पुत्रः । त्वं नाथोऽस्य = त्वन्नाथः, मन्नाथः ॥

भाषार्थः—[प्रत्ययोत्तरपदयोः] प्रत्यय तथा उत्तरपद परे रहते [च] भी एकत्व अर्थ में वर्त्तमान युष्मद् अस्मद् अङ्ग के मपर्यन्त को क्रमशः

त्व म आदेश होते हैं ॥ त्वदीयः, मदीयः में युष्मद् अस्मद् की *त्यदादीनि च* (१।१।७३) से वृद्ध संज्ञा होने से *वृद्धाच्छः* (४।२।११३) से छ प्रत्यय हुआ है। 'युष्मद् ङस्' यहाँ मपर्यन्त को त्व आदेश होकर 'त्व अद्' रहा, पश्चात् छ प्रत्यय होकर त्व अद् ईय रहा। *अतो गुणे* लगकर त्वदीयः बन गया। शालीयः के समान सब कार्य यहाँ जानें। छ प्रत्यय यहाँ परे है ही। त्व अद् तरप्=त्वत्तरः, मत्तरः में तरप् प्रत्यय (५।३।५७) हुआ है। त्वद्यति, मद्यति में *सुप आत्मनः०* (३।१।८) से क्यच् तथा त्वद्यते, मद्यते में *कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च* (३।१।११) से क्यङ् प्रत्यय हुआ है। 'युष्मद् ङस् पुत्र सु' यहाँ प्रकृत सूत्र से मपर्यन्त को त्व आदेश होकर त्व अद् पुत्र=त्वद् पुत्र, चर्त्व होकर त्वत्पुत्रः बना। इसी प्रकार मत्पुत्रः में जानें। त्वन्नाथः में *यरोऽनुनासिके०* (८।४।४४) से त् को न् हुआ है॥

त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ ॥७।२।९९॥

त्रिचतुरोः ६।२॥ स्त्रियाम् ७।१॥ तिसृचतसृ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः॥ *स०*—त्रिश्च चतुर् च त्रिचतुरौ, तयोः''इतरेतरद्वन्द्वः। तिसृ च चतसृ च तिसृचतसृ (*सुपां सुलुक्०* इत्यनेन विभक्तेर्लुक्) इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—विभक्तौ, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—त्रि चतुर् इत्येतयोः स्त्रियां तिसृ, चतसृ इत्येतावादेशौ भवतो विभक्तौ परतः॥ *उदा०*—तिस्रः, चतस्रः। तिसृभिः, चतसृभिः॥

भाषार्थः—[*त्रिचतुरोः*] त्रि तथा चतुर् अङ्ग को [*स्त्रियाम्*] स्त्रीलिङ्ग में क्रमशः [*तिसृचतसृ*] तिसृ चतसृ आदेश विभक्ति परे रहते होते हैं॥ तिसृ जस् अथवा शस् यहाँ *अचि र ऋतः* (७।२।१००) से ऋ के स्थान में रेफादेश होकर तिस्रः चतस्रः बन गया॥

यहाँ से '*तिसृचतसृ*' की अनुवृत्ति ७।२।१०० तक जायेगी॥

अचि र ऋतः ॥७।२।१००॥

अचि ७।१॥ रः १।१॥ ऋतः ६।१॥ *अनु०*—तिसृचतसृ, विभक्तौ, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—तिसृ चतसृ इत्येतयोर्ऋतः स्थाने रेफादेशो भवति, अजादौ विभक्तौ परतः॥ *उदा०*—तिस्रस्तिष्ठन्ति, तिस्रः पश्य। चतस्रस्तिष्ठन्ति, चतस्रः पश्य। प्रियतिस्र आनय, प्रियचतस्र आनय।

प्रियतिस्रः स्वम्, प्रियचतस्रः स्वम्। प्रियतिस्रि निधेहि, प्रियचतस्रि निधेहि ॥

भाषार्थः—तिसृ चतसृ अङ्गों के [*ऋतः*] ऋकार के स्थान में [*अचि*] अजादि विभक्ति परे रहते [*रः*] रेफ आदेश होता है॥ यहाँ *इको यणचि* से यणादेश करके ही रेफ सिद्ध था, पुनः इस सूत्र का आरम्भ शस् में *प्रथमयोः पूर्वसवर्णः* (६।१।९८) से प्राप्त पूर्वसवर्ण न हो, तथा ङसि ङस् परे रहते *ऋत उत्* (६।१।१०७) से उत्व एवं ङि तथा जस् परे *ऋतो ङि०* (७।३।११०) से गुण न हो इसलिये है। इस प्रकार यह सूत्र तत्तत् सूत्रों का अपवाद बनता है॥

यहाँ से '*अचि*' की अनुवृत्ति ७।२।१०१ तक जायेगी॥

जराया: जरसन्यतरस्याम् ॥७।२।१०१॥

जरायाः ६।१॥ जरस् १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—अचि, विभक्तौ, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—अजादौ विभक्तौ परतो जरा इत्येतस्य जरस् इत्ययमादेशो भवति विकल्पेन॥ *उदा०*—जरसौ जरे, जरसः जराः। जरसा दन्ताः शीर्यन्ते, जरया दन्ताः शीर्यन्ते। जरसे त्वा परिदद्युः, जरायै त्वा परिदद्युः। एवमजादौ सर्वत्र ज्ञेयम्॥

भाषार्थः—[*जरायाः*] जरा शब्द को अजादि विभक्तियों के परे रहते [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से [*जरस्*] जरस् आदेश होता है॥ जरस् औ = जरसौ। पक्ष में जरा औ, औ को *औङ आपः* (७।१।१८) से शी होकर जरा ई = *आद् गुणः* (६।१।८४) लगकर जरे बना। इसी प्रकार जरया में *आङि चापः* (७।३।१०५) से जरा को एत्व होकर जरे आ = अयादेश होकर जरया बना। जरायै में *याडापः* (७।३।११३) से याट् आगम होकर जरा याट् ए = जराया ए रहा। *वृद्धिरेचि* लगकर जरायै बन गया। पक्ष में जरसा आदि में कुछ भी विशेष नहीं है॥

त्यदादीनामः ॥७।२।१०२॥

त्यदादीनाम् ६।३॥ अः १।१॥ *स०*—त्यद् आदिर्येषां ते त्यदादयस्तेषां ''बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—विभक्तौ, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—त्यदादीनामङ्गानामकारादेशो भवति, विभक्तौ परतः॥ *उदा०*—त्यद्- स्यः, त्यौ त्ये। तद्—सः, तौ, ते। यद्—यः, यौ, ये। एतद्—एषः, एतौ, एते॥

भाषार्थः—[*त्यदादीनाम्*] त्यदादि अङ्गों को विभक्ति परे रहते [*अः*] अकारादेश होता है ॥ *अलोन्त्यस्य* (१।१।५१) से अन्त्य अल् को 'अ' होगा ॥ स्यः में *तदोः सः०* (७।२।१०६) से तकार को सकार होता है । सर्वे की सिद्धि परि० १।१।२६ में की है, तद्वत् बहुवचन में त्ये, ते आदि की सिद्धि जानें । सः की सिद्धि परि० १।१।५५ में देखें । इसी प्रकार एतद् से एषः में भी त् को स् होकर सिद्धि जानें ॥

किमः कः ॥७।२।१०३॥

किमः ६।१॥ कः १।१॥ *अनु०*—विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—किम् इत्येतस्य स्थाने क इत्ययमादेशो भवति विभक्तौ परतः ॥ *उदा०*—कः, कौ, के ॥

भाषार्थः—[*किमः*] किम् अङ्ग को विभक्ति परे रहते [*कः*] क आदेश होता है ॥ *अनेकाल्०* (१।१।५४) से सम्पूर्ण किम् को 'क' आदेश होगा ॥ कः की सिद्धि परि० १।१।५५ में देखें तथा 'के' की पूर्ववत् सर्वे के समान जानें ॥

यहाँ से '*किमः*' की अनुवृत्ति ७।२।१०५ तक जायेगी ॥

कु तिहोः ॥७।२।१०४॥

कु १।१॥ तिहोः ७।२॥ *स०*—तिश्च हश्च तिहौ, तयोः...इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—किमः, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—तकारादौ हकारादौ च विभक्तौ परतः किमः कु इत्ययमादेशो भवति ॥ ति इत्यत्र इकार उच्चारणार्थः ॥ *उदा०*—कुतः, कुत्र । हकारादौ—कुह ॥

भाषार्थः—[*तिहोः*] तकारादि तथा हकारादि विभक्तियों के परे रहते किम् को [*कु*] कु आदेश होता है ॥ 'ति' में इकार उच्चारणार्थ है, अतः 'तकारादि' ऐसा अर्थ किया है ॥ कुतः में तसिल् तथा कुत्र में त्रल् प्रत्यय विभक्ति संज्ञक (५।३।१) हुये हैं । कुह में *वा ह च च्छन्दसि* (५।३।१३) से विभक्ति संज्ञक ह प्रत्यय हुआ है । सिद्धि-प्रकार परि० १।१।३७ में समझें ॥

क्वाति ॥७।२।१०५॥

क्व लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ अति ७।१॥ *अनु०*—किमः, विभक्तौ,

अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अति विभक्तौ परतः किमः क इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—क गमिष्यसि, क्व भोक्ष्यते॥

भाषार्थः—[*अति*] अत् विभक्ति के परे रहते किम् अङ्ग को [क] क आदेश होता है ॥ सिद्धि *किमोऽत्* (५।३।१२) सूत्र में देखें ॥

तदोः सः सावनन्त्ययोः ॥७।२।१०६॥

तदोः ६।२॥ सः १।१॥ सौ ७।१॥ अनन्त्ययोः ६।२॥ स०—तश्च दश्च तदौ तयोः''' इतरेतरद्वन्द्वः । न अन्त्यौ अनन्त्यौ तयोः''' नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—विभक्तौ, अङ्गस्य, 'त्यदादीनाम्' इति चानुवर्त्तते मण्डूकगत्या ॥ *अर्थः*—त्यदादीनामनन्त्ययोस्तकारदकारयोः स्थाने सकारादेशो भवति, सौ परतः ॥ *उदा०*—त्यद्–स्यः । तद्–सः । एतद्–एषः । दकारस्य–अदस्–असौ ॥

भाषार्थः—त्यदादि अङ्गों के [*अनन्त्ययोः*] अनन्त्य (जो अन्त में नहीं) [*तदोः*] तकार तथा दकार के स्थान में [*सौ*] सु विभक्ति परे रहते [*सः*] सकारादेश होता है ॥ त्यद् आदि के अन्तिम दकार को छोड़ कर अन्य तकार-दकार को स् हो गया है । सः की सिद्धि परि० १।१।५५ में देखें ॥ एषः में *आदेश०* (८।३।५९) से षत्व हुआ है। असौ यहाँ सु परे रहते अदस् के स् के स्थान में *अदस औ०* (७।२।१०७) से 'औ' आदेश तथा सु का लोप होकर अद औ रहा । द् को प्रकृत सूत्र से स् तथा *वृद्धिरेचि* (६।१।८५) से वृद्धि एकादेश होकर असौ बन गया ॥

यहाँ से '*सौ*' की अनुवृत्ति ७।२।१०८ तक जायेगी ॥

अदस औ सुलोपश्च ॥७।२।१०७॥

अदसः ६।१॥ औ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ सुलोपः १।१॥ च अ० ॥ स०—सोर्लोपः सुलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—सौ, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अदसः सौ परत औकारादेशो भवति सोश्च लोपो भवति ॥ *उदा०*—असौ ॥

भाषार्थः—[*अदसः*] अदस् को सु परे रहते [*औ*] 'औ' आदेश [च] तथा [*सुलोपः*] सु का लोप होता है ॥ *अलोन्त्यस्य* से अन्त्य सकार को ही 'औ' आदेश होता है ॥ सिद्धि पूर्व सूत्र में दिखा आये हैं ॥

इदमो मः ॥७।२।१०८॥

इदमः ६।१॥ मः १।१॥ अनु०—सौ, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—इदमः सौ विभक्तौ परतो मकारोऽन्तादेशो भवति ॥ उदा०—अयम्, इयम्॥

भाषार्थः—[*इदमः*] इदम् को सु विभक्ति परे रहते [*मः*] मकारादेश होता है ॥ यहाँ भी *अलोन्त्यस्य* से अन्त्य अल् 'म्' को मकारादेश होगा ॥ मकार को मकारवचन *त्यदादीनामः* (७।२।१०२) से अत्व के निवृत्यर्थ है। पुँल्लिङ्ग में इदम् के 'इद्' भाग को *इदोऽय् पुंसि* (७।२।१११) से अय् आदेश होकर अय् अम् सु रहा। हल्ङ्याद्दि लोप होकर अयम् बन गया। स्त्रीलिङ्ग में इदम् के द् को य् *यः सौ* (७।२।११०) से होकर इयम् बना। सु लोप *हल्ङ्याभ्यो०* से पूर्ववत् हो गया ॥

यहाँ से '*इदमः*' की अनुवृत्ति ७।२।११३ तक तथा '*मः*' की ७।२।१०९ तक जायेगी ॥

दश्च ॥७।२।१०९॥

दः ६।१॥ च अ० ॥ अनु०—इदमो मः, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—इदमो दकारस्य च स्थाने मकारादेशो भवति विभक्तौ परतः ॥ उदा०—इमौ, इमे, इमम्, इमौ, इमान् ॥

भाषार्थः—इदम् के [*दः*] दकार के स्थान में [*च*] भी मकार आदेश होता है, विभक्ति परे रहते ॥ इदम् औ यहाँ *त्यदादीनामः* से अकारादेश होकर इद् अ औ रहा। प्रकृत सूत्र से द् को म तथा पूर्वरूप (६।१।९४) होकर इम औ = इमौ बना। शेष उदाहरणों की सिद्धि पूर्ववत् है। इमान् में *तस्माच्छसो०* (६।१।९९) से नत्व होगा ॥

यहाँ से '*दः*' की अनुवृत्ति ७।२।११० तक जायेगी ॥

यः सौ ॥७।२।११०॥

यः १।१॥ सौ ७।१॥ अनु०—दः, इदमः, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—इदमो दकारस्य स्थाने यकारादेशो भवति सौ विभक्तौ परतः ॥ *उदा०*—इयम् ॥

भाषार्थः—इदम् के दकार के स्थान में [*यः*] यकारादेश [*सौ*] सु विभक्ति परे रहते होता है ॥ सूत्र ७।२।१०८ में सिद्धि देखें। यहाँ इदमो मः से मकार को मकार कहने से *त्यदादीनामः* से अत्व नहीं हुआ है ॥

यहाँ से '*सौ*' की अनुवृत्ति ७।२।१११ तक जायेगी ॥

इदोऽय् पुंसि ॥७।२।१११॥

इदः ६।१॥ अय् १।१॥ पुंसि ७।१॥ *अनु०*—सौ, इदमः, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—इदम इद्रूपस्य पुंसि सौ विभक्तौ परतोऽय् इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—अयं ब्राह्मणः ॥

भाषार्थः—इदम् शब्द के [*इदः*] इद् रूप को [*पुंसि*] पुँल्लिङ्ग में [*अय्*] अय् आदेश होता है, सु विभक्ति परे रहते ॥ सिद्धि ७।२।१०८ सूत्र में देखें ॥

यहाँ से '*इदः*' की अनुवृत्ति ७।२।११३ तक जायेगी ॥

अनाप्यकः ॥७।२।११२॥

अन लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ आपि ७।१॥ अकः ६।१॥ *स०*—न विद्यते ककारो यस्मिन् तत् अक्, तस्य''बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*- इदः, इदमः, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—इदमोऽककारस्य इद्रूपस्य स्थाने अन इत्ययमादेशो भवति आपि विभक्तौ परतः ॥ *उदा०*—अनेन, अनयोः ॥

भाषार्थः—[*अकः*] ककार से रहित इदम् शब्द के इद् भाग को [*अन*] अन आदेश होता है [*आपि*] आप् विभक्ति परे रहते ॥

आप् से यहाँ प्रत्याहार का ग्रहण होता है, जो कि तृतीया एकवचन 'टा' से लेकर सप्तमी बहुवचन 'सुप्' के पकार तक लिया गया है। हलादि विभक्तियों के परे रहते अगले सूत्र से इद् भाग का लोप कहा है, अतः वहाँ इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी, अजादियों में भी टा तथा ओस् परे ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है, ऐसा जानना चाहिये ॥ 'अकच्' के ककार से युक्त होने पर न हो जाये, अतः 'अकः' निषेध किया है। इदम् टा = इद अ टा = अन अ टा, यहाँ *टाङसि०* (७।१।१२) से टा को इन

इन = अनेन बना। इसी प्रकार अनयोः में जानें। *ओसि च*
) से यहाँ न के 'अ' को एत्व एवं अयादेश ही विशेष है ॥
से '*अकः*' की अनुवृत्ति ७।२।११३ तक जायेगी ॥

हलि लोपः ॥७।२।११३॥

७।१॥ लोपः १।१॥ *अनु०*—अकः, इदः, इदमः, विभक्तौ,
अर्थः—इदमोऽककारस्य इद्रूपस्य लोपो भवति, हलादौ
रतः ॥ *उदा०*—आभ्याम्, एभिः, एभ्यः, एषाम्, एषु ॥

र्थः—ककार रहित इदम् शब्द के इद् भाग का [*हलि*] हलादि
रे रहते [*लोपः*] लोप होता है ॥ आभ्याम् की सिद्धि परि०
में देखें। तद्वत् भिस्, भ्यस् आदि परे रहते 'अ भिस्' ऐसा
हुवचने झल्येत् (७।३।१०३) से अ को एत्व हो जाता है।
ं *आमि सर्वनाम्नः०* (७।१।५२) से सुट् आगम हुआ है, अतः
भक्ति परे मिल ही जायेगी। *आदेशप्रत्यययोः* (८।३।५९) से
॥

[*वृद्धिप्रकरणम्*]

मृजेर्वृद्धिः ॥७।२।११४॥

: ६।१॥ वृद्धिः १।१॥ *अनु०*—अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—मृजेरङ्गस्य
ने वृद्धिर्भवति ॥ *उदा०*—मार्ष्टि, मार्ष्टा, मार्ष्टुम्, मार्ष्टव्यम् ॥

र्थः—[*मृजेः*] मृज् अङ्ग के इक् के स्थान में [*वृद्धिः*] वृद्धि
॥ मार्ष्टि की सिद्धि परि० १।१।३ में देखें। तद्वत तृच् में मार्ष्टा
मझें। तृजन्त की सिद्धि-प्रक्रिया परि० १।१।२ में प्रदर्शित चेता के
ानें ॥
ं से '*वृद्धिः*' की अनुवृत्ति ७।३।३५ तक जायेगी ॥

अचो ञ्णिति ॥७।२।११५॥

ः ६।१॥ ञ्णिति ७।१॥ *स०*—ञ्श्च णश्च ञ्णौ, ञ्णौ इतौ यस्य
त्, तस्मिन्...द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—वृद्धिः, अङ्गस्य ॥
अजन्तस्याङ्गस्य वृद्धिर्भवति, ञिति णिति च प्रत्यये परतः ॥
-ञिति—एकस्तण्डुलनिचायः। द्वौ शूर्पनिष्पावौ। कारः, हारः।

णिति—गौः, गावौ, गावः। सखायौ, सखायः। जैत्रम्, यौत्रम्, च्यौत्नः ॥

भाषार्थः—[*अचः*] अजन्त अङ्ग को [*ञ्णिति*] ञित् णित् प्रत्यय परे रहते वृद्धि होती है ॥ तण्डुलनिचायः, शूर्पनिष्पावौ, में घञ् प्रत्यय हुआ है। सूत्र ३।३।२० में सिद्धि देखें। गौः, सखायौ आदि की सिद्धि क्रमशः सूत्र ७।१।९० एवं ७।१।९२ में देखें। जैत्रम् यौत्रम् में जि तथा यु धातु से *सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्* (उणा० ४।१५९) से ष्ट्रन् प्रत्यय और बहुलवचन से णित् हुआ है। च्यौत्नः च्यु धातु से *जनिदाच्यु०* (उणा० ४।१०४) से त्नण् णित् प्रत्यय हुआ है। कारः, हारः में घञ् (३।३।१८) हुआ है ॥

यहाँ से '*अचः*' की अनुवृत्ति ७।३।३१ तक तथा '*ञ्णिति*' की ७।३।३५ तक जायेगी ॥

अत उपधायाः ॥७।२।११६॥

अतः ६।१॥ उपधायाः ६।१॥ *अनु०*—ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अङ्गस्योपधाया अकारस्य स्थाने वृद्धिर्भवति, ञिति णिति प्रत्यये परतः ॥ *उदा०*—भागः पाकः, त्यागः, यागः। णिति—पाचयति, पाचकः, पाठयति, पाठकः ॥

भाषार्थः—अङ्ग की [*उपधायाः*] उपधा [*अतः*] अकार के स्थान में वृद्धि होती है, ञित् णित् प्रत्यय परे रहते ॥ भागः आदि की सिद्धि परि० १।१।१ में देखें। पाचयति, पाठयति में *हेतुमति च* (३।१।२६) से णिच् तथा पाठकः आदि में ण्वुल् हुआ है ॥

तद्धितेष्वचामादेः ॥७।२।११७॥

तद्धितेषु ७।३॥ अचाम् ६।३॥ आदेः ६।१॥ *अनु०*—अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—तद्धिते ञिति णिति च प्रत्यये परतोऽङ्गस्याचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति ॥ *उदा०*—ञिति-गार्ग्यः, वात्स्यः, दाक्षिः, प्लाक्षिः। णिति—औपगवः, कापटवः ॥

भाषार्थः—ञित् णित् [*तद्धितेषु*] तद्धित परे रहते अङ्ग के [*अचाम्*] अचों के [*आदेः*] आदि अच् को वृद्धि होती है ॥ औपगवः, कापटवः की सिद्धि परि० १।१।१ में देखें। गार्ग्यः, वात्स्यः में *गर्गादिभ्यो यञ्* (४।१।१०५) से यञ् तथा दाक्षिः, प्लाक्षिः में *अत इञ्* (४।१।९५) से इञ् प्रत्यय हुआ है ॥

। सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।३।३१ तक जायेगी ॥

किति च ॥७।२।११८॥

७।१॥ च अ० ॥ स०—क् इत् यस्य स कित् तस्मिन्'''बहु-
नु०—तद्धितेष्वचामादेः, अचः, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—
द्धिते परतोऽङ्गस्याचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति ॥ *उदा०*—
चारायणः । आक्षिकः, शालाकिकः ॥

ः—[*किति*] कित् तद्धित परे रहते [च] भी अङ्ग के अचों
अच् को वृद्धि होती है ॥ नाडायनः आदि में *नडादिभ्यः फक्*
से फक्, तथा आक्षिकः आदि में *प्राग्वहतेष्ठक्* (४।४।१) से
है । ठस्येकः (७।३।५०) से ठ को इक हो ही जायेगा ॥

से '*किति*' की अनुवृत्ति ७।३।३१ तक जायेगी ॥

॥ *इति द्वितीयः पादः* ॥

—:०:—

तृतीयः पादः

वेकाशिंशपादित्यवाड्दीर्घसत्रश्रेयसामात् ॥७।३।१॥

का'''यसाम् ६।३॥ आत् १।१॥ स०—देवि० इत्यत्रेतरेतर-
अनु०—किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः,
। *अर्थः*—देविका, शिंशपा, दित्यवाट्, दीर्घसत्र, श्रेयस् इत्येते-
मचामादेरचः स्थाने ञिति णिति किति तद्धिते परतो वृद्धि-
कारो भवति ॥ *उदा०*—देविकायां भवमुदकम् = दाविकमुदकम् ।
ते भवाः शालयः = दाविकाकूलाः शालयः । पूर्वदेविकायां भवः =
ः ग्रामः । शिंशपा–शिंशपायाः विकारश्चमसः = शांशपश्चमसः ।
ले भवाः = शांशपास्थलाः । पूर्वशिंशपायां भवः = पूर्वशांशपः ।
—दित्यौह इदं दात्यौहम् । दीर्घसत्र—दीर्घसत्रे भवं = दार्घ-
श्रेयस्—श्रेयसि भवं = श्रायसम् ॥

भाषार्थः—[*देविका* ... *श्रेयसाम्*] देविका, शिंशपा, दित्यवाट्, दीर्घसत्र, तथा श्रेयस् इन अङ्गों के अचों में आदि अच् को वृद्धि का प्रसङ्ग होने पर ञित् णित् तथा कित् तद्धित परे रहते [*आत्*] आकारादेश होता है ॥ पूर्वदेविका पूर्वशिंशपा आदि प्राच्य देश के ग्राम विशेष की संज्ञायें हैं, सो यहाँ *तत्र भवः* (४।३।५३) अर्थ में प्रत्यय कर लेने पर उत्तरपद के आदि अच् को *प्राचां ग्रामनगराणाम्* (७।३।१४) से वृद्धि प्राप्त थी, तदपवाद प्रकृत सूत्र से आत्व होकर पूर्वदाविकः, पूर्वशांशपः बन गया। शांशपश्चमसः में *पलाशादिभ्यो वा* (४।३।१३९) से अण् प्रत्यय, अथवा अनुदात्तादि मानकर *अनुदात्तादेश्च* (४।३।१३८) से विकार अर्थ में अञ् हुआ है, सो *तद्धिते०* (७।२।११७) से वृद्धि प्राप्त होने पर आत्व हो गया है। इसी प्रकार अन्यत्र भी भवः अर्थ में प्रत्यय होकर वृद्धि प्राप्त होने पर आत्त्व हुआ है ॥ देविका नाम लाहौर से कुछ मील दूर बहने वाली नदी का है। इसके किनारे पर होने वाले चावल प्रसिद्ध हैं ॥

केकयमित्त्रयुप्रलयानां यादेरियः ॥७।३।२॥

केकयमित्त्रयुप्रलयानाम् ६।३॥ यादेः ६।१॥ इयः १।१॥ *स०*—केकय० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। य आदिर्यस्य स यादिस्तस्य ... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—किति, तद्धितेषु, ञ्णिति, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—केकय, मित्त्रयु, प्रलय इत्येतेषामङ्गानां यकारादेरिय इत्ययमादेशो भवति, तद्धिते ञिति णिति किति च परतः ॥ *उदा०*—केकयस्यापत्यं = कैकेयः। मित्त्रयुभावेन श्लाघते = मैत्त्रेयिकया श्लाघते। प्रलयादागतं = प्रालेयमुदकम् ॥

भाषार्थः—[*केकयमित्त्रयुप्रलयानाम्*] केकय, मित्त्रयु, प्रलय इन अङ्गों के [*यादेः*] य् आदि वाले भाग को [*इयः*] इय आदेश होता है। अर्थात् केकय आदि शब्दों में 'य' तथा 'यु' को इय हो जायेगा ॥ कैकेयः में *जनपदशब्दात्०* (४।१।१६६) से अञ् प्रत्यय हुआ है, सो ञित् परे है ॥ केकय अञ् = केक इय अ = यस्येति लोप एवं *आद्गुणः* (६।१।८४) लगकर केकेय एवं *तद्धितेष्व०* (७।२।११७) से वृद्धि होकर कैकेयः बन गया। मैत्त्रेयिकया में *गोत्रचरणा०* (५।१।१३३) से वुञ् प्रत्यय हुआ है। मित्त्रयु वुञ् = मित्त्रयु अक = यु को इय होकर मैत्त्र इय अक = मैत्त्रेयक बना। टाप् तथा *प्रत्ययस्थात्०* (७।३।४४) से इत्व होकर तृतीया

एकवचन में *आङि चापः* (७।३।१०५) लगकर मैत्रेयिकया बन गया। प्रालेयम् में *तत आगतः* (४।३।७४) से अण् हुआ है ॥

न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच् ॥७।३।३॥

न अ० ॥ य्वाभ्याम् ५।२॥ पदान्ताभ्याम् ५।२॥ पूर्वौ १।२॥ तु अ० ॥ ताभ्याम् ५।२॥ ऐच् १।१॥ *स०*—य् च वश्च य्वौ ताभ्याम्''' इतरेतरद्वन्द्वः। पदस्य अन्तौ = पदान्तौ ताभ्याम्'' षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—**पदान्ताभ्यां यकारवकाराभ्यामुत्तरस्य अचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्न भवति ञिति णिति किति च तद्धिते परतः, ताभ्यां (यकारवकाराभ्याम्) पूर्वौ तु क्रमादैजागमौ भवतः ॥ यकारादैकारः, वकारादौकारः ॥** *उदा०*—व्यसने भवं वैयसनम्, वैयाकरणः। स्वश्वस्यापत्यं सौवश्वः ॥

भाषार्थः—[*पदान्ताभ्याम्*] पदान्त [*य्वाभ्याम्*] यकार तथा वकार से उत्तर ञित् णित् कित् तद्धित परे रहते अङ्ग के अचों में आदि अच् को वृद्धि [*न*] नहीं होती, किन्तु [*ताभ्याम्*] उस यकार वकार से [*पूर्वौ*] पूर्व को [*तु*] तो क्रमशः [*ऐच्*] ऐच् = ऐ, औ आगम होता है, अर्थात् य् से पूर्व ऐ एवं व् से पूर्व औ आगम होता है ॥ वि असन अण् यहाँ यणादेश होकर व्य् असन् अ रहा। अब यहाँ पदान्त जो य् उससे उत्तर आदि अच् को प्रकृत सूत्र से (७।२।११७) वृद्धि का निषेध तथा य् से पूर्व को ऐ आगम होकर व् ऐ य् असन = वैयसनम् बना। इसी प्रकार व्याकरण से *तदधीते तद्वेद* (४।२।५८) से अण् होकर = व् ऐ य् आकरण अण् = वैयाकरणः बना। सु अश्व = स्व् अश्व अण्, यहाँ *शिवादिभ्यो* (४।१।११२) से अपत्यार्थ में अण् तथा यणादेश होकर प्रकृत सूत्र से औ आगम होकर 'स् औ व् अश्व अ = सौवश्वः' बन गया ॥

यहाँ से '*न य्वाभ्याम् पूर्वौ ताभ्याम् ऐच्*' की अनुवृत्ति ७।३।५ तक जायेगी ॥

द्वारादीनां च ॥७।३।४॥

द्वारादीनाम् ६।३॥ च अ० ॥ *स०*—द्वार आदिर्येषां ते द्वारादयस्तेषाम्'''' बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—न य्वाभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—द्वार इत्येवमादीनां य्वाभ्यामुत्त-

रस्याचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्न भवति पूर्वौ तु ताभ्यामैजागमौ भवतस्तद्धिते ञ्णिति णिति किति च परतः ॥ अपदान्तार्थोऽयमारम्भः ॥ उदा०—द्वारे नियुक्तः दौवारिकः । द्वारपालस्येदं दौवारपालम् । स्वरमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः = सौवरः ॥

भाषार्थः—[*द्वारादीनाम्*] द्वार इत्यादि शब्दों के यकार वकार से उत्तर [च] भी ञित् णित् कित् तद्धित परे रहते अङ्ग के अचों में आदि अच् को वृद्धि नहीं होती, किन्तु यकार वकार से पूर्व को ऐच् आगम तो हो जाता है ॥ पूर्व सूत्र में पदान्त यकार वकार से उत्तर कहा था, अपदान्तार्थ इस सूत्र का आरम्भ है ॥ दौवारिकः में *तत्र नियुक्तः* (४।४।६९) से अण् हुआ है । पूर्ववत् सिद्धियाँ जानें ॥

न्यग्रोधस्य च केवलस्य ॥७।३।५॥

न्यग्रोधस्य ६।१॥ च अ० ॥ केवलस्य ६।१॥ *अनु०*—न य्वाभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—न्यग्रोधशब्दस्य केवलस्य यकारादुत्तरस्याचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्न भवति, तस्माच्च पूर्वमैकार आगमो भवति ॥ *उदा०*—न्यग्रोधस्य विकारः = नैयग्रोधश्चमसः ॥

भाषार्थः—[*केवलस्य*] केवल जो [*न्यग्रोधस्य*] न्यग्रोध शब्द उसके अचों में आदि अच् को [च] भी वृद्धि नहीं होती, किन्तु उसके य् से पूर्व को ऐकार आगम तो होता है ॥ यहाँ केवल य् का ही प्रसङ्ग होने से ऐकार आगम ही होगा, न कि औकार ॥

न कर्मव्यतिहारे ॥७।३।६॥

न अ० ॥ कर्मव्यतिहारे ७।१॥ *अनु०*—अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—कर्मव्यतिहारेऽर्थे पूर्वेण यदुक्तं तन्न भवति ॥ प्रकृतस्य वृद्धिप्रतिषेधागमयोरयं प्रतिषेधः ॥ *उदा०*—व्यावक्रोशी, व्यावलेखी, व्यावबर्त्ती ॥

भाषार्थः—[*कर्मव्यतिहारे*] कर्मव्यतिहार अर्थ में पूर्व सूत्रों से जो कुछ कहा है वह [न] नहीं होता । अर्थात् ऐच् आगम कहा है, वह नहीं होता, एवं वृद्धिप्रतिषेध कहा है, वह (प्रतिषेध) भी नहीं होता अर्थात् वृद्धि होती है ॥ सिद्धि परि० ३।३।४३ में देखें ॥

'न' की अनुवृत्ति ७।३।९ तक जायेगी ॥

स्वागतादीनां च ॥७।३।७॥

दीनाम् ६।३॥ च अ० ॥ स०—स्वागत आदिर्येषां ते स्वागताद-
हुव्रीहिः ॥ अनु०—न, अङ्गस्य ॥ अर्थः—स्वागत इत्येव-
क्तं तन्न भवति ॥ उदा०—स्वागतमित्याह = स्वागतिकः ।
ति = स्वाध्वरिकः । स्वङ्गस्यापत्यं = स्वाङ्गिः ॥

—[स्वागतादीनाम्] स्वागत इत्यादि शब्दों को [च] भी
। है, वह नहीं होता ॥ पूर्ववत् ही ऐच् आगम एवं वृद्धि के
प्रतिषेध यहाँ भी प्रकृत सूत्र से जानें ॥ आहौ प्रभूतादिभ्यः
) इस वार्त्तिक से स्वागतिकः शब्द में ठक् हुआ है । स्वाध्वरिकः
।४।८) से ठक्, एवं स्वाङ्गिः में अत इञ् (४।१।९५) से इञ्
सर्वत्र न य्वाभ्यां० (७।३।३) से प्राप्त ऐच् आगम एवं वृद्धि
होता है ॥

श्वादेरिञि ॥७।३।८॥

६।१॥ इञि ७।१॥ स०—श्वा आदिर्यस्य तत् श्वादि तस्य···
अनु०—न, अङ्गस्य ॥ अर्थः—श्वादेरङ्गस्य इञि परतो
भवति ॥ उदा०—श्वभस्त्रस्यापत्यं श्वाभस्त्रिः, श्वादंष्ट्रिः ॥

—[श्वादेः] श्वन् आदि में है जिसके ऐसे अङ्ग को [इञि]
परे रहते जो कुछ कहा है वह नहीं होता ॥ पूर्ववत् ऐच्
वृद्धि निषेध न य्वाभ्यां० (७।३।३) से प्राप्त था, नहीं हुआ ।
श्वभस्त्र आदि श्वन् शब्द आदि वाले अङ्ग हैं ही ॥

'श्वादेः' की अनुवृत्ति ७।३।९ तक जायेगी ॥

पदान्तस्यान्यतरस्याम् ॥७।३।९॥

य ६।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ स०—पद शब्द अन्ते यस्य तत्
य···बहुव्रीहिः ॥ अनु०—न, श्वादेः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—
य श्वादेरङ्गस्य यदुक्तं तत् विकल्पेन न भवति ॥ उदा०—
स्य = श्वपदः, श्वपदस्येदं = श्वापदम्, शौवापदम् ॥

भाषार्थः—[*पदान्तस्य*] पद शब्द अन्त में है, जिसके ऐसे श्वन् आदि वाले अङ्ग को जो ऐच् आगम, वृद्धि प्रतिषेध कहा है वह [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से नहीं होता, अर्थात् पक्ष में नहीं होता है ॥ इस प्रकार यथाप्राप्त (७।३।३) पक्ष में ऐच् आगम एवं वृद्धि प्रतिषेध होकर शौवापदम् तथा ऐच् आगम निषेध एवं वृद्धि करके श्वापदम् रूप बना ॥ शौवापदम् में *शुनो दन्तदंष्ट्राकर्ण०* (वा० ६।३।१३५) इस वार्त्तिक से दीर्घ होता है ॥

उत्तरपदस्य ॥७।३।१०॥

उत्तरपदस्य ६।१॥ *अर्थः*—'उत्तरपदस्य' इत्ययमधिकारो वेदितव्यः, *हनस्तो०* (७।३।३२) इत्येतस्मात् प्राग् इति यावत् ॥ *उदा०*—वक्ष्यति—*अवयवादृतोः* (७।३।११) = पूर्ववार्षिकम्, अपरवार्षिकम्। पूर्वहैमनम्, अपरहैमनम् ॥

भाषार्थः—'उत्तरपदस्य' यह अधिकार सूत्र है, ७।३।३२ तक जायेगा, सो वहाँ तक के सूत्रों में कहे हुये कार्य [*उत्तरपदस्य*] उत्तरपद को हुआ करेंगे, ऐसा जानना चाहिये ॥

अवयवादृतोः ॥७।३।११॥

अवयवात् ५।१॥ ऋतोः ६।१॥ *अनु०*—उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अवयववाचिनः पूर्वपदादुत्तरस्य ऋतुवाचिन उत्तरपदस्याचामादेरचो वृद्धिर्भवति तद्धिते ञिति णिति किति च परतः ॥ *उदा०*—पूर्ववार्षिकम्, पूर्वहैमनम्। अपरवार्षिकम्, अपरहैमनम् ॥

भाषार्थः—[*अवयवात्*] अवयववाची पूर्वपद से उत्तर [*ऋतोः*] ऋतुवाची उत्तरपद शब्द के अचों में आदि अच् को तद्धित ञित् णित् तथा कित् प्रत्यय परे रहते वृद्धि होती है ॥ पूर्वं वर्षाणाम्, अपरं वर्षाणाम् ऐसा विग्रह करके पूर्ववार्षिकम् आदि में *पूर्वापराधरोत्तर०* (२।२।१) से समास हुआ है, पश्चात् तत्र भवः अर्थ में *वर्षाभ्यष्ठक्*, एवं *सर्वत्राण् च त०* (४।३।१८,२२) से ठक् एवं अण् प्रत्यय उदाहरणों में होते हैं। पूर्व अपर शब्द अवयववाची हैं ही ॥ 'उत्तरपदस्य' का अधिकार होने से पूर्वपद का यहाँ आक्षेप से ग्रहण हो जाता है ॥ सर्वत्र समस्त

हुये सम्पूर्ण शब्द के आदि अच् को वृद्धि प्राप्त होने पर तदपवाद उत्तर-पद के आदि को वृद्धि कहा है, ऐसा जानें ॥

सुसर्वार्द्धाज्जनपदस्य ॥७।३।१२॥

सुसर्वार्द्धात् ५।१॥ जनपदस्य ६।१॥ *स०*—सुश्च सर्वश्च अर्द्धञ्च सुसर्वार्द्धम्, तस्मात्'''समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—सु, सर्व, अर्द्ध इत्येतेभ्य उत्तरस्य जनपदवाचिन उत्तरपदस्याचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति तद्धिते ञिति णिति किति च परतः ॥ *उदा०*—सुपाञ्चालकः, सर्वपाञ्चालकः, अर्द्धपाञ्चालकः ॥

भाषार्थः—[*सुसर्वार्द्धात्*] सु, सर्व तथा अर्द्ध शब्द से उत्तर [*जनपदस्य*] जनपदवाची उत्तरपद शब्द के अचों में आदि अच् को तद्धित ञित् णित् तथा कित् प्रत्यय परे रहते वृद्धि होती है ॥ *अवृद्धादपि बहु०* (४।२।१२४) से उदाहरणों में वुञ् ञित् प्रत्यय हुआ है। सुपाञ्चालकः में *कुगतिप्रा०* (२।२।१८) से तथा सर्वपाञ्चालकः में *पूर्वकालैक०* (२।१।४८) एवं अर्द्धपाञ्चालकः में *अर्द्धं नपुं०* (२।२।२) से समास होता है ॥

यहाँ से '*जनपदस्य*' की अनुवृत्ति ७।३।१२ तक जायेगी ॥

दिशोऽमद्राणाम् ॥७।३।१३॥

दिशः ५।१॥ अमद्राणाम् ६।३॥ *स०*—न मद्रा अमद्रास्तेषां'''नञ्-तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—जनपदस्य, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—दिग्वाचिन उत्तरस्य जनपद-वाचिन उत्तरपदस्य मद्रवर्जितस्याचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति, तद्धिते ञिति णिति किति च परतः ॥ *उदा०*—पूर्वेषु पञ्चालेषु भवः = पूर्व-पाञ्चालकः, अपरपाञ्चालकः, दक्षिणपाञ्चालकः ॥

भाषार्थः—[*दिशः*] दिशावाची शब्दों से उत्तर [*अमद्राणाम्*] मद्र शब्द वर्जित जनपदवाची उत्तरपद शब्द के अचों में आदि अच को तद्धित ञित् णित् तथा कित् प्रत्यय परे रहते वृद्धि होती है ॥ उदाहरणों में *तद्धितार्थो०* (२।१।५०) से समास होता है, पूर्ववत् वुञ् प्रत्यय भी हुआ जानें ॥

यहाँ से '*दिशः*' की अनुवृत्ति ७।३।१४ तक जायेगी ॥

प्राचां ग्रामनगराणाम् ॥७।३।१४॥

प्राचाम् ६।३॥ ग्रामनगराणाम् ६।३॥ *स०*—ग्रामाश्च नगराश्च ग्राम-नगरास्तेषां···इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—दिशः, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—दिग्वाचिन उत्तरेषां प्राचां देशे ये ग्रामनगरास्तेषामचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति, तद्धिते ञिति णिति किति च प्रत्यये परतः ॥ *उदा०*—ग्रामाणाम्—पूर्वेषु कामशम्यां भवः = पूर्वैषुकामशमः, अपरैषुकामशमः, पूर्वकार्ष्ण-मृत्तिकः, अपरकार्ष्णमृत्तिकः । नगराणाम्—पूर्वस्मिन् पाटलिपुत्रे भवः = पूर्वपाटलिपुत्रकः, अपरपाटलिपुत्रकः, पूर्वकान्यकुब्जः, अपर-कान्यकुब्जः ॥

भाषार्थः—दिशावाची शब्दों से उत्तर [*प्राचाम्*] प्राच्य देश में जो [*ग्रामनगराणाम्*] ग्राम तथा नगरवाची शब्द उनके अचों में आदि अच् को तद्धित ञित् णित् तथा कित् प्रत्यय परे रहते वृद्धि होती है ॥ पूर्वेषुकामशमी की सिद्धि सूत्र २।१।४९ में देखें। पश्चात् इससे *तत्र भवः* (४।३।५३) से अण् हो जाता है। पूर्वपाटलिपुत्रकः में *रोपधेतोः०* (४।२।१२२) से वुञ् हुआ है ॥

सङ्ख्यायाः संवत्सरसङ्ख्यस्य च ॥७।३।१५॥

सङ्ख्यायाः ५।१॥ संवत्सरसङ्ख्यस्य ६।१॥ च अ० ॥ *स०*—संवत्सरश्च सङ्ख्या च संवत्सरसङ्ख्यम् तस्य···समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—सङ्ख्यायाः उत्तरस्य संवत्सरशब्दस्य सङ्ख्यायाश्चाचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति, तद्धिते ञिति णिति किति च परतः ॥ *उदा०*—द्वौ संवत्सरावधीष्टो भृतो भूतो भावी वा = द्विसांवत्सरिकः । सङ्ख्यायाः—द्वे षष्टी अधीष्टो भृतो भूतो भावी वा = द्विषाष्टिकः, द्विसाप्ततिकः ॥

भाषार्थः—[*सङ्ख्यायाः*] सङ्ख्यावाची शब्द से उत्तर [*संवत्सर-सङ्ख्यस्य*] संवत्सर शब्द के तथा सङ्ख्यावाची शब्द के अचों में आदि अच् को [च] भी ञित् णित् तथा कित् तद्धित परे रहते वृद्धि होती है ॥ पूर्ववत् तद्धितार्थ में द्विसांवत्सरिकः आदि में समास हुआ है। उदाहरणों में *तमधीष्टो०* (५।१।७९) से ठञ् प्रत्यय जानें ॥

यहाँ से '*सङ्ख्यायाः*' की अनुवृत्ति ७।३।१७ तक जायेगी ॥

वर्षस्याभविष्यति ॥७।३।१६॥

वर्षस्य ६।१॥ अभविष्यति ७।१॥ *स०*—न भविष्यत् अभविष्यत् तस्मिन्...नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—सङ्ख्यायाः, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—सङ्ख्याया उत्तरस्य वर्षशब्दस्याचामादेरचो वृद्धिर्भवति, तद्धिते ञिति णिति किति च परतः स चेत्तद्धितो भविष्यत्यर्थे न भवति ॥ *उदा०*—द्वे वर्षे अधीष्टो भृतो भूतो वा द्विवार्षिकः, त्रिवार्षिकः ॥

भाषार्थः—सङ्ख्या शब्द से उत्तर [*वर्षस्य*] वर्ष शब्द के अचों में आदि अच् को ञित् णित् तथा कित् तद्धित प्रत्यय परे रहते वृद्धि होती है, यदि वह तद्धित प्रत्यय [*अभविष्यति*] भविष्यत् अर्थ में न हुआ हो तो ॥ पूर्ववत् सिद्धि जानें ॥

परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः ॥७।३।१७॥

परिमाणान्तस्य ६।१॥ असंज्ञाशाणयोः ७।२॥ *स०*—परिमाणमन्ते यस्य स परिमाणान्तस्तस्य...बहुव्रीहिः । संज्ञा च शाणञ्च, संज्ञाशाणे, न संज्ञाशाणे असंज्ञाशाणे तयोः...द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—सङ्ख्यायाः, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—परिमाणान्तस्याङ्गस्य सङ्ख्याया उत्तरस्योत्तरपदस्याचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति तद्धिते ञिति णिति किति च परतः ॥ *उदा०*—द्वौ कुडवौ प्रयोजनमस्य = द्विकौडविकः, द्वाभ्यां सुवर्णाभ्यां क्रीतं = द्विसौवर्णिकम्, द्विनैष्किकम् ॥

भाषार्थः—[*परिमाणान्तस्य*] परिमाणवाची शब्द अन्त में है जिस अङ्ग के उसके सङ्ख्यावाची शब्द से उत्तर उत्तरपद के अचों में आदि अच् को ञित् णित् तथा कित् तद्धित परे रहते वृद्धि होती है [*असंज्ञाशाणयोः*] संज्ञा विषय एवं शाण शब्द उत्तरपद को छोड़कर ॥ द्विकौडविकम् आदि में *प्रयोजनम्* (५।१।१०८) से ठञ् होता है । द्विसौवर्णिकम् में *तेन क्रीतम्* से हुए ठक् प्रत्यय का *सुवर्णशतमान०* (वा० ५।१।२९) इस वार्त्तिक से *अध्यर्द्धपूर्व०* (५।१।२८) से नित्य प्राप्त प्रत्यय के लुक् का विकल्प होता है, अतः पक्ष में लुक् होकर द्विसुवर्णम् बनेगा ।

द्विनैष्किकम् में *तेन क्रीतम्* से हुए ठक् प्रत्यय का *द्वित्रिपूर्वान्निष्कात्* (५।१।३०) से पक्ष में लुक् होता है ॥

जे प्रोष्ठपदानाम् ॥७।३।१८॥

जे ७।१॥ प्रोष्ठपदानाम् ६।३॥ *अनु०*—उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—'जे' इत्यनेन जातार्थो निर्दिश्यते ॥ जातार्थे यः प्रत्ययो विहितस्तस्मिन् तद्धिते ञिति णिति किति च परतः प्रोष्ठपदानामुत्तरपदस्याचामादेरचो वृद्धिर्भवति ॥ *उदा०*—प्रोष्ठपदासु जातः = प्रोष्ठपादो माणवकः ॥ प्रोष्ठपदानामित्यत्र बहुवचननिर्देशात् तत्पर्यायो भद्रपदाशब्दोऽपि गृह्यते । भद्रपदासु जातो भद्रपादो माणवकः ॥

भाषार्थः—'जे' से यहाँ जात अर्थ का ग्रहण है ॥ [जे] जात (४।३।२५) अर्थ में विहित जो ञित् णित् तथा कित् तद्धित उसके परे रहते [*प्रोष्ठपदानाम्*] प्रोष्ठपद् अङ्ग के उत्तरपद के अचों में आदि अच् को वृद्धि होती है ॥ सूत्र में बहुवचन निर्देश से प्रोष्ठपदा का पर्याय भद्रपद भी लिया जाता है ॥ प्रोष्ठपद नाम का नक्षत्र है, उससे तथा उसके पर्याय भद्रपदा से *नक्षत्रेण युक्तः०* (४।२।३) से अण् होकर *लुबविशे०* (४।२।४) से लुप् हुआ है। ततः *सन्धिवेलाद्यृतु०* (४।३।१६) से अण् होकर प्रोष्ठपादः भद्रपादः बन गया ॥ प्रोष्ठपदा अथवा भाद्रपदा नक्षत्रों का समूह है[1] । दो पूर्वप्रोष्ठपदा अथवा पूर्वभाद्रपदा कहाते हैं और दो उत्तरप्रोष्ठपदा अथवा उत्तरभाद्रपदा कहे जाते हैं ॥

हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च ॥७।३।१९॥

हृद्भगसिन्ध्वन्ते ७।१॥ पूर्वपदस्य ६।१॥ च अ० ॥ *स०*—हृत् भगश्च सिन्धुश्च हृद्भगसिन्धु, तदन्ते यस्य तद् हृद्भगसिन्ध्वन्तम् तस्मिन्...द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—हृद्, भग, सिन्धु इत्येवमन्तेऽङ्गे पूर्वपदस्योत्तरपदस्य चाचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति तद्धिते ञिति णिति किति च प्रत्यये परतः ॥ *उदा०*—सुहृदयस्य भावः

---

१. प्रोष्ठः = भद्रः = गौः, तस्येव पादाः *सुप्रात०* (५।४।१२०) इत्यनेन सान्तः पदादेशः ।

सौहार्द्यम्, सुहृदयस्येदं = सौहार्दम्। सुभगस्य भावः = सौभाग्यम्, दौर्भाग्यम्, सुभगाया अपत्यं = सौभागिनेयः, दौर्भागिनेयः। सक्तुप्रधानाः सिन्धवः = सक्तुसिन्धवः, सक्तुसिन्धुषु भवः = साक्तुसैन्धवः, पानसैन्धवः ॥

भाषार्थः—[*हृद्भगसिन्ध्वन्ते*] हृद्, भग, सिन्धु ये शब्द अन्त में हैं जिन अङ्गों के उनके [*पूर्वपदस्य*] पूर्वपद के [*च*] तथा उत्तरपद के अचों में आदि अच् को भी ञित् णित् तथा कित् तद्धित परे रहते वृद्धि होती है ॥ सौहार्द्यम् में *गुणवचन०* (५।१।१२३) से ष्यञ् एवं *वा शोक०* (६।३।४९) से हृदय को हृद् आदेश होता है, तथा सौहार्दम् में *तस्येदम्* (४।३।१२०) से अण् एवं *हृदयस्य हृल्ले०* (६।३।४८) से हृदय को हृद् आदेश होता है। सौभागिनेयः दौर्भागिनेयः में *कल्याण्यादीनामिनङ्* (४।१।१२६) से ढक् प्रत्यय एवं इनङ् आदेश होता है। सक्तुसिन्धवः में पहले *शाकपार्थिवादीना०* (वा० २।१।६०) से समास होकर पश्चात् भव अर्थ में अण् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से '*पूर्वपदस्य*' की अनुवृत्ति ७।३।२५ तक जायेगी ॥

अनुशतिकादीनां च ॥७।३।२०॥

अनुशतिकादीनाम् ६।३॥ च अ०॥ *स०*—अनुशतिक आदिर्येषां तेऽनुशतिकादयस्तेषाम्''''बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—पूर्वपदस्य, उत्तरपदस्य, किति तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अनुशतिक इत्येवमादीनां चाङ्गानां पूर्वपदस्य चोत्तरपदस्याचामादेरचः स्थाने तद्धिते ञिति णिति किति परतो वृद्धिर्भवति ॥ *उदा०*—अनुशतिकस्येदम् = आनुशातिकम्, अनुहोडेन चरति = आनुहौडिकः, अनुसंवरणे दीयते = आनुसांवरणम्, आनुसांवत्सरिकः ॥

भाषार्थः—[*अनुशतिकादीनाम्*] अनुशतिक इत्यादि अङ्गों के पूर्वपद तथा उत्तरपद (दोनों) के अचों में आदि अच् को [*च*] भी ञित् णित् तथा कित् तद्धित परे रहते वृद्धि होती है ॥ आनुसांवरणम् में *तत्र च दीयते०* (५।१।९५) से भववत् अतिदेश होने से सामान्य अण् हो गया है। आनुसांवत्सरिकः में *तत्र च दीयते०* (५।१।९५) से भववत् अतिदेश होकर *बह्वचो०* (४।३।६७) से ठञ् हुआ है, शेष सुस्पष्ट ही हैं ॥

देवताद्वन्द्वे च ॥७।३।२१॥

देवताद्वन्द्वे ७।१॥ च अ० ॥ *स०*—देवतानां द्वन्द्वः देवताद्वन्द्व-स्तस्मिन्'''षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—पूर्वपदस्य, उत्तरपदस्य, किति, तद्धि-तेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—देवताद्वन्द्वे च पूर्वपदस्योत्तरपदस्य चाचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति, तद्धिते ञिति णिति किति च परतः ॥ *उदा०*—आग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत । आग्नि-मारुतं कर्म । आग्निमारुतीं पृश्निमालभेत (मै० सं० २।५।७) ॥

भाषार्थः—[*देवताद्वन्द्वे*] देवतावाची द्वन्द्व समास में [*च*] भी पूर्व-पद तथा उत्तरपद के अचों में आदि अच् को ञित् णित् तथा कित् तद्धित परे रहते वृद्धि होती है ॥ ६।३।२७ सूत्र में सिद्धियाँ देखें ॥

यहाँ से '*देवताद्वन्द्वे*' की अनुवृत्ति ७।३।२३ तक जायेगी ॥

नेन्द्रस्य परस्य ॥७।३।२२॥

न अ० ॥ इन्द्रस्य ६।१॥ परस्य ६।१॥ *अनु०*—देवताद्वन्द्वे, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—इन्द्रशब्दस्य परस्य अचामादेरचः स्थाने पूर्वेण सूत्रेण वृद्धिर्न भवति ॥ *उदा०*—सौमेन्द्रः, आग्नेन्द्रः ॥

भाषार्थः—[*परस्य*] पर [*इन्द्रस्य*] इन्द्र शब्द के (अर्थात् समास [illegible] के पर = उत्तरपद में स्थित इन्द्र शब्द को) अचों में आदि
...।३।२१) से प्राप्त वृद्धि [*न*] नहीं होती ॥ परे
... निषेध करने पर *तद्धितेष्वचामादेः* (७।२।११७)
... वृद्धि हो जाती है ॥ *देवताद्वन्द्वे च* (६।३।२४)
...सोमा इन्द्र अण् = *आद्गुणः* (६।१।८४) लगकर
...*ास्य देवता* (४।२।२३) से यहाँ अण् हुआ है ॥

यहाँ से '*न*' की अनुवृत्ति ७।३।२३ तक जायेगी ॥

दीर्घाच्च वरुणस्य ॥७।३।२३॥

दीर्घात् ५।१॥ च अ० ॥ वरुणस्य ६।१॥ *अनु०*—न, देवताद्वन्द्वे, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—दीर्घा-दुत्तरस्य वरुणस्य यदुक्तं तन्न भवति ॥ *उदा०*—ऐन्द्रावरुणम्, मैत्रा-वरुणम् ।

भाषार्थः—[*दीर्घात्*] दीर्घ से उत्तर [*च*] भी [*वरुणस्य*] वरुण शब्द के अचों में आदि अच् को ७।३।२१ से प्राप्त वृद्धि नहीं होती ॥ यहाँ भी उत्तरपद स्थित वरुण शब्द की वृद्धि का निषेध होने पर *तद्धि-तेष्व०* (७।२।११७) से वृद्धि हो जाती है ॥ पूर्ववत् आनङ् कर लेने पर दीर्घ से उत्तर वरुण शब्द हो जायेगा। यहाँ भी *सास्य देवता* (४।२।२३) से अण् होगा ॥

प्राचां नगरान्ते ॥७।३।२४॥

प्राचाम् ६।३॥ नगरान्ते ७।१॥ *स०*—नगरम् अन्ते यस्य तद् नगरान्तं तस्मिन् ''बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—पूर्वपदस्य, उत्तरपदस्य, किति, तद्धि-तेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—प्राचां देशे नग-रान्तेऽङ्गे पूर्वपदस्योत्तरपदस्याचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति तद्धिते ञिति णिति किति च परतः ॥ *उदा०*—सुह्मनगरे भवः सौह्मनागरः, पौण्ड्रनागरः ॥

भाषार्थः—[*प्राचाम्*] प्राच्य देश में [*नगरान्ते*] नगर अन्त वाला जो अङ्ग उसके पूर्वपद तथा उत्तरपद के अचों में आदि अच् को ञित् णित् तथा कित् तद्धित परे रहते वृद्धि होती है ॥

जङ्गलधेनुवलजान्तस्य विभाषितमुत्तरम् ॥७।३।२५॥

जङ्गल' 'स्य ६।१॥ विभाषितम् १।१॥ उत्तरम् १।१॥ *स०*—जङ्गलश्च धेनुश्च वलजश्च जङ्गलधेनुवलजम्, तद् अन्ते यस्य तद् जङ्गल' 'जान्तम्, तस्य' 'द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—पूर्वपदस्य, उत्तरपदस्य, किति, तद्धि-तेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—जङ्गल, धेनु, वलज, इत्येवमन्तस्याङ्गस्य पूर्वपदस्याचामादेरचः स्थाने, नित्यं वृद्धिर्भवति उत्तरम् = उत्तरपदम् विभाषितम् तद्धिते ञिति णिति किति च परतः ॥ *उदा०*—कुरुजङ्गलेषु भवम् कौरुजङ्गलम्, कौरुजाङ्गलम्। वैश्वधेनवम्, वैश्वधैनवम्। सौवर्णवलजः, सौवर्णवालजः ॥

भाषार्थः—[*जङ्गल' 'स्य*] जङ्गल, धेनु तथा वलज अन्त वाले अङ्ग के पूर्वपद के अचों में आदि अच् को वृद्धि होती है तथा इन अङ्गों का [*उत्तरम्*] उत्तरपद [*विभाषितम्*] विकल्प से वृद्धि वाला होता है, ञित् णित् तथा कित् तद्धित परे रहते ॥ 'उत्तरम्' से यहाँ उत्तरपद का ग्रहण है ॥

अर्धात् परिमाणस्य पूर्वस्य तु वा ॥७।३।२६॥

अर्धात् ५।१॥ परिमाणस्य ६।१॥ पूर्वस्य ६।१॥ तु अ० ॥ वा अ० ॥ अनु०—उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अर्धात्परस्य परिमाणवाचिन उत्तरपदस्याचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति, पूर्वपदस्य तु विकल्पेन भवति, तद्धिते ञिति णिति किति च परतः ॥ *उदा०*—अर्धद्रोणेन क्रीतम् = अर्धद्रौणिकम्, आर्धद्रौणिकम् । अर्धकौडविकम्, आर्धकौडविकम् ॥

भाषार्थः—[*अर्धात्*] अर्ध शब्द से उत्तर [*परिमाणस्य*] परिमाणवाची उत्तरपद के अचों में आदि अच् को वृद्धि होती है [*पूर्वस्य*] पूर्वपद को [*तु*] तो [*वा*] विकल्प से होती है, ञित् णित् तथा कित् तद्धित परे रहते ॥ उदाहरणों में *अर्धं नपुंसकम्* (२।२।२) से समास तथा *तेन क्रीतम्* (५।१।३६) से ठञ् हुआ है ॥ 'पूर्वस्य' से यहाँ पूर्वपद लिया है ॥

यहाँ से '*अर्धात् परिमाणस्य*' की अनुवृत्ति ७।३।२७ तक तथा '*पूर्वस्य*' की ७।३।३१ एवं '*वा तु*' की ७।३।३० तक जायेगी ॥

नातः परस्य ॥७।३।२७॥

न अ० ॥ अतः ६।१॥ परस्य ६।१॥ *अनु०*—अर्धात् परिमाणस्य पूर्वस्य तु वा, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अर्द्धात् परस्य परिमाणवाचिनोऽकारस्य वृद्धिर्न भवति, पूर्वपदस्य तु वा भवति, तद्धिते ञिति णिति किति च परतः ॥ *उदा०*—अर्धप्रस्थिकः, आर्धप्रस्थिकः । अर्धकंसिकः आर्धकंसिकः ॥

भाषार्थः—अर्ध शब्द से [*परस्य*] परे परपरिमाणवाची शब्द के अचों में आदि [*अतः*] अकार को वृद्धि [*न*] नहीं होती, पूर्वपद को तो विकल्प से होती है, ञित् णित् तथा कित् तद्धित परे रहते ॥ पूर्ववत् उदाहरणों में समास एवं प्रत्यय जानें ॥

प्रवाहणस्य ढे ॥७।३।२८॥

प्रवाहणस्य ६।१॥ ढे ७।१॥ *अनु०*—पूर्वस्य तु वा, उत्तरपदस्य, तद्धितेष्वचामादेः, अचः, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—प्रवाहणस्याङ्गस्य ढे

द्धिते परत उत्तरपदस्याचामादेरचो नित्यं वृद्धिर्भवति, पूर्वपदस्य तु वा
वति ॥ *उदा०*—प्रवाहणस्यापत्यं प्रावाहणेयः, प्रवाहणेयः ॥

भाषार्थः—[*प्रवाहणस्य*] प्रवाहण अङ्ग के उत्तरपद के अचों में
दि अच् को नित्य वृद्धि होती है, पूर्वपद को तो विकल्प से होती है,
] ढ तद्धित प्रत्यय परे रहते ॥ प्रपूर्वक णिजन्त 'वह' धातु से
यल्युटो बहुलम् (३।३।११३) से कर्ता में ल्युट् होकर प्रवाहण शब्द
ा है । प्रादि समास एवं *णोर्विभाषा* (८।४।२९) से णत्व भी यहाँ होता
पश्चात् *शुभ्रादिभ्यश्च* (४।१।१२३) से ढक् प्रत्यय होकर प्रावाहणेयः
ाहणेयः बन गया ॥

यहाँ से '*प्रवाहणस्य*' की अनुवृत्ति ७।३।२९ तक जायेगी ॥

तत्प्रत्ययस्य च ॥७।३।२९॥

तत्प्रत्ययस्य ६।१॥ च अ० ॥ *स०*—सः प्रत्ययो यस्मिन् स तत्प्रत्यय-
स्य...बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—प्रवाहणस्य, पूर्वस्य तु वा, उत्तरपदस्य,
ति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—ढक्प्र-
यान्तस्य प्रवाहणाङ्गस्योत्तरपदस्याचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति,
पदस्य तु वा भवति, तद्धिते ञिति णिति किति च परतः ॥ *उदा०*—
ाहणेयस्यापत्यम् = प्रावाहणेयिः, प्रवाहणेयिः । प्रावाहणेयकम्, प्रवाह-
यकम् ॥

भाषार्थः—[*तत्प्रत्ययस्य*] तत् = ढक् प्रत्ययान्त प्रवाहण अङ्ग के
तरपद के अचों में आदि अच् को [च] भी वृद्धि होती है, पूर्वपद
तो विकल्प से होती है, ञित् णित् कित् तद्धित परे रहते ॥ तत् पद
यहाँ प्रकरणस्थ 'ढक्' का ग्रहण है ॥ प्रवाहणेय ढप्रत्ययान्त शब्द से
ापत्य में *अत इञ्* (४।१।९५) से इञ् होकर प्रावाहणेयिः आदि बना
। प्रावाहणेयकम् आदि में *गोत्रचरणाद् वुञ्* (४।३।१२६) से वुञ्
ता है ॥

नञः शुचीश्वरक्षेत्रज्ञकुशलनिपुणानाम् ॥७।३।३०॥

नञः ५।१॥ शुची...नाम् ६।३॥ *स०*—शुची० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥
नु०—पूर्वस्य तु वा, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो
णति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—नञ उत्तरेषां शुचि, ईश्वर, क्षेत्रज्ञ,

कुशल, निपुण इत्येतेषामचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति, पूर्वपदस्य तु वा भवति तद्धिते ञिति णिति किति च परतः ॥ उदा०—शुचि—आशौचम्, अशौचम्। ईश्वर—आनैश्वर्यम्, अनैश्वर्यम्। क्षेत्रज्ञ—आक्षैत्रज्ञ्यम्, अक्षैत्रज्ञ्यम्। कुशल—आकौशलम्, अकौशलम्। निपुण—आनैपुणम्, अनैपुणम्॥

भाषार्थः—[*नञः*] नञ् से उत्तर [*शुची…नाम्*] शुचि, ईश्वर, क्षेत्रज्ञ, कुशल, निपुण इन शब्दों के अचों में आदि अच् को वृद्धि होती है तथा पूर्वपद को विकल्प से होती है, ञित् णित् तथा कित् तद्धित परे रहते ॥ नास्य शुचयो विद्यन्ते = अशुचिः ऐसा विग्रह करके पश्चात् *इगन्ताच्च०* (५।१।१३०) से अण् प्रत्यय करके आशौचम्, अशौचम् बना। अनीश्वर तथा अक्षेत्रज्ञ शब्द नञ्तत्पुरुष समास करके ब्राह्मणादि गण में पठित हैं, अतः इनसे *गुणवचन०* (५।१।१२३) से ष्यञ् हुआ है। आकौशलम् आनैपुणम् आदि में *तस्येदम्* (४।३।१२०) से अण् हुआ है ॥

यहाँ से '*नञः*' की अनुवृत्ति ७।३।३१ तक जायेगी ॥

यथातथयथापुरयोः पर्यायेण ॥७।३।३१॥

यथातथयथापुरयोः ६।२॥ पर्यायेण ३।१॥ *स०*—यथातथ० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—नञः, पूर्वस्य, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—नञ उत्तरयोः यथातथ यथापुर इत्येतयोरङ्गयोः पूर्वपदस्योत्तरपदस्याचामादेरचः स्थाने पर्यायेण वृद्धिर्भवति, तद्धिते ञिति णिति किति च परतः ॥ *उदा०*—आयथातथ्यम्, अयाथातथ्यम्, आयथापुर्यम्, अयाथापुर्यम्॥

भाषार्थः—नञ् से उत्तर [*यथातथयथापुरयोः*] यथातथ तथा यथापुर अङ्गों के पूर्वपद एवं उत्तरपद के अचों में आदि अच् को [*पर्यायेण*] पर्याय से वृद्धि होती है, ञित् णित् तथा कित् तद्धित परे रहते ॥ नञ्-समास किये हुये अयथातथ तथा अयथापुर शब्द ब्राह्मणादि गण में पढ़े हुये मानना[1] चाहिये, सो पूर्ववत् ष्यञ् प्रत्यय हो गया है। पर्याय कथन से एक बार नञ् को तथा एक बार 'य' के 'अ' को वृद्धि हुई है ॥

---

१. ब्राह्मणादि गण आकृतिगण है ॥

हनस्तोऽचिण्णलोः ॥७।३।३२॥

हनः ६।१॥ तः १।१॥ अचिण्णलोः ७।२॥ *स०*—चिण् च णल् च चिण्णलौ, इतरेतरद्वन्द्वः । न चिण्णलौ अचिण्णलौ तयोः ''नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—ञ्णिति, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—हनस्तकारादेशो भवति, ञिति णिति च प्रत्यये परतः, चिण्णलौ वर्जयित्वा ॥ *उदा०*—घातयति । घातकः । साधु घाती । घातंघातं वर्त्तते । घातो वर्त्तते ॥

भाषार्थः—[*हनः*] हन् अङ्ग को [*तः*] तकारादेश [*अचिण्णलोः*] चिण् तथा णल् प्रत्ययों को छोड़कर ञित् णित् प्रत्यय परे रहते होता है ॥ चिण्, णल् प्रत्यय णित् हैं, अतः तकारादेश इनके परे प्राप्त था, निषेध कर दिया ॥ अन्त्य अल् (१।१।५१) न् को त् होता है ॥ घातयति णिजन्त में बना है । *हो हन्तेर्ञ्णि०* (७।३।५४) से ह् को घ् सर्वत्र हुआ है । शेष *अत उपधायाः* (७।२।११६) से वृद्धि आदि हो ही जायेगी । घातकः में ण्वुल् तथा घातंघातम् में *आभीक्ष्ण्ये णमुल् च* (३।४।२२) से णमुल् एवं घातः में घञ् हुआ है । *आभीक्ष्ण्ये द्वे भवतः* (वा० ८।१।१२) से घातंघातम् में द्वित्व हुआ है ॥

आतो युक् चिण्कृतोः ॥७।३।३३॥

आतः ६।१॥ युक् १।१॥ चिण्कृतोः ७।२॥ *स०*—चिण्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—ञ्णिति, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—आकारान्तस्याङ्गस्य चिणि कृति ञ्णिति च प्रत्यये परतो युक् आगमो भवति ॥ *उदा०*—चिणि–अदायि, अधायि । ञ्णिति कृति–दायः, दायकः । धायः, धायकः ॥

भाषार्थः—[*आतः*] आकारान्त अङ्ग को [*चिण्कृतोः*] चिण् तथा ञित् णित् कृत् प्रत्यय परे रहते [*युक्*] युक् आगम होता है ॥ *चिण् भाव०* (३।१।६६) से चिण् होकर अट् दा युक् इ=अदायि बना । दायः में घञ् तथा दायकः में ण्वुल् हुआ है । *आद्यन्तौ टकितौ* (१।१।४५) से अङ्ग के अन्त में युक् बैठेगा ॥

यहाँ से '*चिण्कृतोः*' की अनुवृत्ति ७।३।३५ तक जायेगी ॥

नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः ॥७।३।३४॥

न अ० ॥ उदात्तोपदेशस्य ६।१॥ मान्तस्य ६।१॥ अनाचमेः ६।१॥

स०—उपदेशे उदात्तः उदात्तोपदेशस्तस्य...सप्तमीतत्पुरुषः। मोऽन्ते यस्य स मान्तस्तस्य...बहुव्रीहिः। न आचमिः अनाचमिस्तस्य...नञ्-तत्पुरुषः॥ *अनु०*—चिण्कृतोः, ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—उदात्तोपदेशस्य मकारान्तस्याङ्गस्याचमिवर्जितस्य चिणि कृति ञ्णिति च वृद्धिर्न भवति॥ *उदा०*—अशमि, अतमि अदमि। कृति ञ्णिति—शमकः, तमकः, दमकः। शमः, तमः, दमः॥

भाषार्थः—[*उदात्तोपदेशस्य*] उपदेश में जो उदात्त तथा [*मान्तस्य*] मकारान्त धातु उनको चिण् तथा ञित्, णित् कृत् (३।१।९३) परे रहते वृद्धि [*न*] नहीं होती [*अनाचमेः*] आङ् पूर्वक चम् धातु को छोड़ कर॥ उदाहरणों में *अत उपधायाः* (७।२।११६) से प्राप्त वृद्धि का प्रतिषेध हुआ है॥ शमः, दमः, तमः में घञ् प्रत्यय हुआ है॥

यहाँ से '*न*' की अनुवृत्ति ७।३।३५ तक जायेगी॥

जनिवध्योश्च ॥७।३।३५॥

जनिवध्योः ६।२॥ च अ०॥ *स०*—जनि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—न, चिणकृतोः, ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—जनि वधि इत्येतयोश्चिणि कृति ञ्णिति च वृद्धिर्न भवति॥ *उदा०*—अजनि, अवधि। कृति ञ्णिति—जनकः, प्रजनः। वधकः, वधः॥

भाषार्थः—[*जनिवध्योः*] जन तथा वध अङ्ग को [*च*] चिण् तथा ञित् णित् कृत् परे रहते वृद्धि नहीं होती॥ प्रजनः, वधः में घञ् हुआ है। पूर्ववत् *अत उपधायाः* (७।२।११६) की प्राप्ति में निषेध है॥ वध हिंसायाम् जो भ्वादिगण में पढ़ी है, उसका यहाँ ग्रहण है, न कि हन को जो वध आदेश होता है उसका॥

अर्त्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुङ्णौ ॥७।३।३६॥

अर्त्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्याताम् ६।३॥ पुक् १।१॥ णौ ७।१॥ *स०*—अर्त्ति० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—अङ्गस्य॥ *अर्थः*—ऋ, ह्री, व्ली, री, क्नूयी, क्ष्मायी इत्येतेषामाकारान्तानाञ्चाङ्गानां पुक् आगमो भवति णौ परतः। *उदा०*—ऋ-अर्पयति। ह्री-ह्रेपयति। व्ली-व्लेपयति। री-रेपयति। क्नूयी-क्नोपयति। क्ष्मायी-क्ष्मापयति। आकारान्तानाम्-दापयति, धापयति॥

भाषार्थः—[*अर्त्ति''''मातान्*] ऋ, ह्री, व्ली, री, क्नूयी, क्ष्मायी अङ्ग को तथा आकारान्त अङ्ग को [*णौ*] णिच् परे रहते [पुक्] पुक् आगम होता है ॥ सिद्धियों में कुछ भी विशेष नहीं है । ऋ पुक् णिच् = अर् प् इ शप् तिप् = अर्पे अ ति = अर्पयति बन गया ॥

यहाँ से '*णौ*' की अनुवृत्ति ७।३।४३ तक जायेगी ॥

शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक् ॥७।३।३७॥

शाच्छासाह्वाव्यावेपाम् ६।३॥ युक् १।१॥ *स०*—शाच्छा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—णौ, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—शो तनूकरणे, छो छेदने, षोऽन्तकर्मणि, ह्वेञ् स्पर्द्धायाम्, व्येञ् संवरणे, वेञ् तन्तुसन्ताने, पा पाने पै शोषणे (द्वयोरपि ग्रहणम्) इत्येतेषामङ्गानां युगागमो भवति णौ परतः ॥ *उदा०*—निशाययति । अवच्छाययति । अवसाययति । ह्वाययति । संव्याययति । वाययति । पाययति ॥

भाषार्थः—[*शाच्छा'' 'वेपाम्*] शो, छो, षो, ह्वेञ्, व्येञ्, वेञ्, पा इन अङ्गों को णि परे रहते [युक्] युक् आगम होता है ॥ शो आदि को *आदेच उपदेश* (६।१।४४) से आत्व तथा षो के ष् को स् धात्वादेः० (६।१।६२) से हुआ है । अवच्छाययति में छ से पूर्व तुक् आगम (६।१।७१) तथा श्चुत्व हुआ है ॥ सभी धातुओं के आकारान्त हो जाने से पूर्व सूत्र से पुक् आगम प्राप्त था, युक् कह दिया है ॥

वो विधूनने जुक् ॥७।३।३८॥

वः ६।१॥ विधूनने ७।१॥ जुक् १।१॥ *अनु०*—णौ, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—विधूननेऽर्थे वर्त्तमानस्य वा इत्येतस्य जुगागमो भवति णौ परतः ॥ *उदा०*—पक्षेणोपवाजयति ॥

भाषार्थः—[*विधूनने*] विधूनन (कंपाना) अर्थ में वर्त्तमान [वः] वा धातु को णि परे रहते [जुक्] जुक् आगम होता है ॥ पुक् आगम प्राप्त था, तदपवाद है ॥

लीलोर्नुग्लुकावन्यतरस्याम् स्नेहविपातने ॥७।३।३९॥

लीलोः ६।२॥ नुग्लुकौ १।२॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ स्नेहविपातने ७।१॥ *स०*—लीलोः, नुग्लुकौ उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः । स्नेहस्य विपातनं स्नेहविपा-

तनं = द्रवत्वापादानं, तस्मिन्'' 'षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—णौ, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—ली ला इत्येतयोरङ्गयोर्विकल्पेन स्नेहविपातनेऽर्थे नुक् लुक् इत्येतावागमौ भवतो णौ परतः ॥ *उदा०*—घृतं विलीनयति, विलाययति, ला–विलालयति, विलापयति ॥

भाषार्थः—[*लीलोः*] ली तथा ला अङ्ग को [*स्नेहविपातने*] स्नेह (= घृतादि पदार्थ) के निपातन = पिघलाना अर्थ में णि परे रहते [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से [*नुग्लुकौ*] नुक् तथा लुक् आगम होता है ॥ विलीनयति में नुक् आगम तथा पक्ष में विलाययति में नुक् नहीं हुआ। वि ली इ = वि लै इ = विलायि शप् तिप् = विलाये अ ति = विलाययति। *विभाषा लीयतेः* (६।१।५०) से पक्ष में आत्व तथा लुक् आगम होकर विलालयति बना, पुनः इसी सूत्र से पक्ष में लुक् विकल्प होने से पुक आगम होकर विलापयति बना। ली में ईकार प्रश्लिष्ट निर्दिष्ट है, अतः अर्थ होगा कि ईकारान्त ली को ही नुक् हो *विभाषा लीयतेः* (६।१।५०) से आत्व कर लेने पर नहीं, इसीलिये आत्व पक्ष में नुक् का उदाहरण नहीं दिखाया। ली से यहाँ लीङ् श्लेषणे तथा ली श्लेषणे दोनों का ही ग्रहण है। ला से यहां ला आदाने और ली को जब पक्ष में आत्व हो जाता है उन दोनों का ग्रहण है। ला को लुक् तथा पक्ष में पुक् आगम होकर विलापयति, विलालयति रूप बनता है ॥

भियो हेतुभये पुक् ॥७।३।४०॥

भियः ६।१॥ हेतुभये ७।१॥ पुक् १।१॥ *स०*—हेतोर्भयं हेतुभयम्, तस्मिन्'' 'षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—णौ, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—भी इत्येतस्य हेतुभयेऽर्थे पुगागमो भवति णौ परतः ॥ *उदा०*—मुण्डो भीषयते, जटिलो भीषयते ॥

भाषार्थः—[*भियः*] ञिभी भये अङ्ग को [*हेतुभये*] हेतुभय अर्थ में णि परे रहते [*षुक्*] षुक् आगम होता है ॥ स्वतन्त्र कर्ता के प्रयोजक (१।४।५५) को हेतु कहते हैं, उससे जो भय वह हेतुभय कहायेगा। 'भी' में ईकार का प्रश्लेष माना जाता है। इससे ईकारान्त भी को ही षुक् का आगम होगा, आकारान्त भापयते (*बिभेतेर्हेतुभये* ६।१।५५) में पुक् ही होगा। सिद्धि परि० १।१।४५ में देखें ॥

स्फायो वः ॥७।३।४१॥

स्फायः ६।१॥ वः १।१॥ अनु०—णौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—स्फाय् इत्येतस्याङ्गस्य वकारादेशो भवति णौ परतः ॥ उदा०—स्फावयति ॥

भाषार्थः—[*स्फायः*] स्फायी वृद्धौ अङ्ग को णि परे रहते [*वः*] वकारादेश होता है ॥ स्फायी णिच्=स्फाय् इ=अन्त्य अल् य् को व् होकर स्फाव् इ=स्फावयति बन गया ॥

शदेरगतौ तः ॥७।३।४२॥

शदेः ६।१॥ अगतौ ७।१॥ तः १।१॥ स०—न गतिरगतिस्तस्मिन्... नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—णौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अगतावर्थे वर्त्तमानस्य शदेरङ्गस्य तकारादेशो भवति, णौ परतः ॥ उदा०—पुष्पाणि शातयति ॥

भाषार्थः—[*अगतौ*] अगति अर्थ में वर्त्तमान [*शदेः*] शद्लृ शातने अङ्ग को [*तः*] तकारादेश होता है, णि परे रहते ॥ पूर्ववत् अन्त्य अल् को तकारादेश होगा ॥

रुहः पोऽन्यतरस्याम् ॥७।३।४३॥

रुहः ६।१॥ पः १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ अनु०—णौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—रुह् इत्येतस्याङ्गस्य पकारादेशो भवति विकल्पेन णौ परतः ॥ उदा०—व्रीहीन् रोपयति । पक्षे—रोहयति ॥

भाषार्थः—[*रुहः*] रुह् अङ्ग को [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से णि परे रहते [*पः*] पकारादेश होता है ॥

प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः ॥७।३।४४॥

प्रत्ययस्थात् ५।१॥ कात् ५।१॥ पूर्वस्य ६।१॥ अतः ६।१॥ इत् १।१॥ आपि ७।१॥ असुपः ५।१॥ स०—प्रत्यये तिष्ठतीति प्रत्ययस्थस्तस्मात्... उपपदतत्पुरुषः । न सुप् असुप् तस्मात्...नञ्तत्पुरुषः ॥ अर्थः—प्रत्ययस्थात् ककारात् पूर्वस्याकारस्य स्थाने इकारादेशो भवति आपि परतः, स चेदाप् सुपः परो न भवति ॥ उदा०—जटिलिका, मुण्डिका, कारिका, हारिका, एतिकाश्चरन्ति ॥

भाषार्थः—[*प्रत्ययस्थात्*] प्रत्यय में स्थित [*कात्*] ककार से [*पूर्वस्य*] पूर्व [*अतः*] अकार के स्थान में [*इत्*] इकारादेश होता है, [*आपि*]

आप् (टाप्, डाप्, चाप्) परे रहते, यदि वह आप् [*असुपः*] सुप् से उत्तर न हो तो ॥ जटिलिका मुण्डिका में जटिला मुण्डा शब्द से *प्रागिवात्कः* (५।३।७०) से क प्रत्यय, एवं *केऽणः* (७।४।१३) से ह्रस्वत्व हुआ है। कारिका, हारिका में ण्वुल् तथा एतिकाः में एतद् शब्द से *अव्ययसर्व०* (५।३।७१) से अकच् हुआ है। सर्वत्र ककार से पूर्व 'अ' को इत्व हुआ है ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।३।४६ तक जायेगी ॥

न यासयोः ॥७।३।४५॥

न अ० ॥ यासयोः ६।२॥ *स०*—या० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः ॥ *अर्थः*—प्रत्ययस्थात् ककारात् पूर्वस्य या सा इत्येतयोरकारस्य स्थाने इकारादेशो न भवति ॥ पूर्वेण प्राप्तिः प्रतिषिध्यते ॥ *उदा०*—यका, सका। यकां यकामधीमहे, तकां तकां पचामहे ॥

भाषार्थः—प्रत्यय में स्थित ककार से पूर्व [*यासयोः*] या तथा सा के अकार के स्थान में इकारादेश [न] नहीं होता ॥ यद् तद् शब्द से स्त्रीलिङ्ग में टाप् एवं त्यदाद्यत्व करके या सा बना है, जो कि सूत्र में निर्दिष्ट है, अतः इन्हीं या, सा शब्दों से *अव्ययसर्व०* (५।३।७१) से टि भाग से पहले अकच् होकर य् अकच् आ = यका सका बना। यका सका में *प्रत्ययस्थात्०* (७।३।४४) से नित्य इत्व प्राप्त था, सो प्रकृत सूत्र से निषेध हो गया ॥

यहाँ से '*न*' की अनुवृत्ति ७।३।४८ तक जाती है ॥

उदीचामातः स्थाने यकपूर्वायाः ॥७।३।४६॥

उदीचाम् ६।३॥ आतः ६।१॥ स्थाने ७।१॥ यकपूर्वायाः ६।१॥ *स०*—यश्च कश्च यकौ, तौ पूर्वौ यस्याः (आतः) सा यकपूर्वा, तस्याः··· द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः ॥ *अर्थः*—यकारपूर्वायाः ककारपूर्वायाश्चातःस्थाने योऽकारस्तस्य प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्य स्थाने इकारादेशो भवति, उदीचामाचार्याणां मतेन ॥ *उदा०*—यकारपूर्वायाः—इभ्यका, इभ्यिका। क्षत्रियका, क्षत्रियिका। ककारपूर्वायाः—चटकका, चटकिका। मूषिकका, मूषिकिका ॥

भाषार्थः—[*यकपूर्वायाः*] यकार तथा ककार पूर्व में हैं जिस आकार से [*आतः*] उस आकार के [*स्थाने*] स्थान में जो प्रत्ययस्थित ककार से पूर्व अकार उसके स्थान में इकारादेश [*उदीचाम्*] उदीच्य आचार्यों के मत में होता है ॥ उदीच्य कहने से पाणिनि मुनि के मत में इत्व न होकर दो पक्ष बनेंगे ॥ इभ्या क्षत्रिया आदि सुबन्त शब्दों से अज्ञातादि अर्थों में क प्रत्यय हुआ है। केऽणः (७।४।१३) से क परे रहते 'आ' को ह्रस्व हो गया तो, इभ्यका, क्षत्रियका आदि बना। अब यहाँ आकार जिसके स्थान में ह्रस्व अकार हुआ है वह यकार एवं ककार पूर्व वाला तथा प्रत्ययस्थित ककार से पूर्व वाला भी है सो *प्रत्ययस्थात्०* से नित्य इत्व प्राप्त था प्रकृत सूत्र से विकल्प से हो गया ॥ इस सूत्र में 'न' की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं लगता ॥

यहाँ से '*उदीचाम्*' की अनुवृत्ति ७।३।४८ तक तथा '*आतः स्थाने*' की ७।३।४९ तक जायेगी ॥

भस्त्रैषाजाज्ञाद्वास्वा नञ्पूर्वाणामपि ॥७।३।४७॥

भस्त्रैषाजाज्ञाद्वास्वाः १।३॥ षष्ठ्यर्थे प्रथमा ॥ नञ्पूर्वाणाम् ६।३॥ अपि अ० ॥ *स०*—भस्त्रै० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। नञ् पूर्वो येषां ते नञ्पूर्वास्तेषां'''बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—न, उदीचाम् आतः स्थाने, प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः ॥ *अर्थः*—भस्त्रा, एषा, अजा, ज्ञा, द्वा, स्वा इत्येतेषां नञ्पूर्वाणामपि आतः स्थाने योऽकारस्तस्य उदीचामाचार्याणां मतेन इत्वं न भवति ॥ *उदा०*—भस्त्रा—भस्त्रिका, भस्त्रका। नञ्पूर्वाणामपि—अविद्यमाना भस्त्रा यस्याः सा अल्पा = अभस्त्रिका, अभस्त्रका। एषा—एषका, एषिका। अजा—अजका, अजिका। अनजका, अनजिका। ज्ञा–ज्ञका, ज्ञिका। अज्ञका, अज्ञिका। द्वा—द्वके, द्विके। स्वा—स्वका, स्विका। अस्वका, अस्विका ॥

भाषार्थः—[*भस्त्रै'''स्वाः*] भस्त्रा, एषा, अजा, ज्ञा, द्वा, स्वा ये शब्द [*नञ्पूर्वाणाम्*] नञ् पूर्व वाले हों तो [*अपि*] भी (न हों तो भी) इनके आकार के स्थान में जो अकार उसको उदीच्य आचार्यों के मत में इत्व नहीं होता है ॥ पूर्ववत् यहाँ भी उदीच्य ग्रहण से दो रूप बनेंगे ॥ नञ्पूर्वक एषा तथा द्वे में सुबन्त से उत्तर होने से इत्व की प्राप्ति न होने से एक ही रूप बनता है। 'एषा द्वे' से अकच् हुआ है। द्व

अकच् ए = द्वके ।। स्व शब्द जब सर्वनाम होता है तब उसमें भी उपर्युक्त हेतु से कोई विशेषता नहीं होती किन्तु ज्ञाति और धन अर्थ में सर्वनाम संज्ञा न होने से नञ्पूर्वक अस्वका अस्विका प्रयोग होते हैं। भस्त्रका आदि में *प्रागिवात्कः* (५।३।७०) अधिकार में *अल्पे* (५।३।८५) से क हुआ है, तथा पूर्ववत् ह्रस्वत्व भी जानें ।।

यहाँ से '*नञ्पूर्वाणामपि*' की अनुवृत्ति ७।३।४९ तक जायेगी ।।

अभाषितपुंस्काच्च ।।७।३।४८।।

अभाषितपुंस्कात् ५।१, षष्ठ्यर्थे पञ्चमी ।। च अ० ।। *स०*—भाषितः पुमान् येन (यस्मिन्नर्थे) स भाषितपुंस्कः, न भाषितपुंस्कोऽभाषितपुंस्कस्तस्मात् ' 'बहुव्रीहिगर्भनञ्तत्पुरुषः ।। *अनु०*—न, नञ्पूर्वाणामपि, उदीचाम् आतः स्थाने, प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदापि ।। *अर्थः*—अभाषितपुंस्कस्य नञ्पूर्वस्यापि च शब्दाद् अनञ्पूर्वस्य च आतः स्थाने योऽकारः प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्तस्योदीचामाचार्याणां मतेन इकारादेशो न भवति ।। *उदा०*—खट्विका, खट्वका । अखट्विका, अखट्वका । परमखट्विका, परमखट्वका ।।

भाषार्थः—[*अभाषितपुंस्कात्*] अभाषितपुंस्क शब्द के प्रत्ययस्थित ककार से पूर्व आकार के स्थान में जो अकार उसको नञ्पूर्व होने पर [च] और अनञ्पूर्व होने पर भी उदीच्य आचार्यों के मत में इकारादेश नहीं होता है ।। पूर्ववत् यहाँ भी विकल्प जानें ।। खट्वा शब्द नित्य स्त्रीलिङ्ग है, अतः अभाषितपुंस्क है । अखट्विका आदि में नञ् समास तथा परमखट्विका आदि में *सन्महत्परमो०* (२।१।६०) से कर्मधारय समास हुआ है। पूर्ववत् क प्रत्यय तथा *केऽणः* (७।४।१३) से ह्रस्वत्व हुआ जानें ।।

यहाँ से '*अभाषितपुंस्कात्*' की अनुवृत्ति ७।३।४६ तक जायेगी ।।

आदाचार्याणाम् ।।७।३।४९।।

आत् १।१।। आचार्याणाम् ६।३।। *अनु०*—अभाषितपुंस्कात्, नञ्पूर्वाणामपि, आतः स्थाने, प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात आपि ।। *अर्थः*—अभाषितपुंस्कस्यानञ्पूर्वस्यापि शब्दान्नञ्पूर्वस्य चातः स्थाने योऽकार-

स्तस्याचार्याणां मतेनाकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—खट्वाका, अखट्वाका, परमखट्वाका ॥

भाषार्थः—अभाषितपुंस्क के प्रत्ययस्थित ककार से पूर्व आकार के स्थान में जो अकार उसको नञ्पूर्व और अनञ्पूर्व रहते हुये भी [*आचार्याणाम्*] आचार्यों (उदीच्य आचार्य से अन्य) के मत में [*आत्*] आकारादेश होता है ॥ पूर्ववत् ह्रस्वत्व कर लेने पर इत्व पूर्व सूत्र से प्राप्त था, तदपवाद आत्व विधान कर दिया ॥

ठस्येकः ॥७।३।५०॥

ठस्य ६।१॥ इकः १।१॥ *अनु०*—अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अङ्गस्य निमित्तं यष्ठस्तस्य इक इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—प्राग्वहतेष्ठक्—आक्षिकः, शालाकिकः । लवणाट्ठञ्—लावणिकः ॥

भाषार्थः—अङ्ग के निमित्त (जिसके कारण अङ्ग संज्ञा हुई हो, ऐसे) [*ठस्य*] ठ को [*इकः*] इक आदेश होता है ॥

यहाँ से 'ठस्य' की अनुवृत्ति ७।३।५१ तक जायेगी ॥

इसुसुक्तान्तात् कः ॥७।३।५१॥

इसुसुक्तान्तात् ५।१॥ कः १।१॥ *स०*—इस् च उस् च उक् च तश्च इसुसुक्तम् । इसुसुक्तमन्ते यस्य स इसुसुक्तान्तस्तस्मात्...द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—ठस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—इसन्तात्, उसन्तात्, उगन्तात्, तकारान्तात् चाङ्गादुत्तरस्य ठस्य स्थाने क इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—इसन्तात्—सार्पिष्कः । उसन्तात्—धानुष्कः, याजुष्कः । उगन्तात्—नैषादकर्षुकः, शाबरजम्बुकः, मातृकम्, पैतृकम् । तान्तात्—औदश्वित्कः, शाकृत्कः, याकृत्कः ॥

भाषार्थः—[*इसुसुक्तान्तात्*] इसन्त, उसन्त, उगन्त तथा तकारान्त अङ्ग से उत्तर ठ के स्थान में [*कः*] क आदेश होता है ॥ सर्पिस् शब्द से सार्पिष्कः में *तदस्य पण्यम्* (४।४।५१) से ठक् हुआ है । स् को रुत्व विसर्जनीय होकर 'सर्पिः क' रहा । *इणः षः* (८।३।३९) से विसर्जनीय को षत्व होकर सार्पिष्कः बना । इसी प्रकार धनुस् शब्द से धानुष्कः तथा याजुष्कः में जानें । यहाँ *तेन दीव्यति खनति०* (४।४।२) से ठक् प्रत्यय हुआ है । निषादकर्षू शब्द से नैषादकर्षुकः में *ओर्देशे ठञ्*

(४।२।११८) से ठञ् तथा केऽणः (७।४।१३) से ह्रस्वत्व होता है। मातृकम् पैतृकम् में ऋतष्ठञ् (४।३।७८) से ठञ् प्रत्यय तथा औदश्वित्कः में उदश्वितो० (४।२।१८) से ठक् हुआ है। शाकुल्कः आदि में संसृष्टे (४।४।२२) से ठक् हुआ है ॥

चजोः कु घिण्ण्यतोः ॥७।२।५२॥

चजोः ६।२॥ कु १।१॥ घिण्ण्यतोः ७।२॥ स०—चश्च जश्च चजौ तयोः...इतरेतरद्वन्द्वः। घ् इत् यस्य स घित्, बहुव्रीहिः। घित् च ण्यत् च घिण्ण्यतौ, तयोः...इतरेतरद्वन्द्वः॥ अर्थः—चकारजकारयोः स्थाने कवर्गादेशो भवति घिति ण्यति च प्रत्यये परतः॥ उदा०—घिति—पाकः, त्यागः, रागः। ण्यति—पाक्यम्, वाक्यम्, रेक्यम्॥

भाषार्थः—[*चजोः*] चकार तथा जकार के स्थान में [*कु*] कवर्ग आदेश होता है, [*घिण्ण्यतोः*] घित् तथा ण्यत् प्रत्यय परे रहते॥ सिद्धियाँ परि० १।१।१ में देखें। *ऋहलोर्ण्यत्* (३।१।१२४) से ण्यत् प्रत्यय होता है॥

यहाँ से 'चजोः कु' की अनुवृत्ति ७।३।६९ तक जायेगी॥

न्यङ्क्वादीनां च ॥७।३।५३॥

न्यङ्क्वादीनाम् ६।३॥ च अ०॥ स०—न्यङ्कुः आदिर्येषां ते न्यङ्क्वादयस्तेषां...बहुव्रीहिः॥ अनु०—चजोः कु॥ अर्थः—न्यङ्कु इत्येवमादीनां कवर्गादेशो भवति॥ उदा०—न्यङ्कुः, मद्गुः, भृगुः॥

भाषार्थः—[*न्यङ्क्वादीनाम्*] न्यङ्कु आदि गणपठित शब्दों के चकार-जकार को [*च*] भी कवर्ग आदेश होता है॥ नि पूर्वक अञ्चु से *नावञ्चेः* (उणा० १।१७) से उ प्रत्यय हुआ है। न्यञ्च् उ = न्यञ्चु = च् को क् होकर न्यङ्कुः (ञ् को परसवर्णादि ८।४।५७ होकर) बन गया। मद्गुः में टुमस्जो धातु से *भृमृशी०* (उणा० १।७) से 'उ' हुआ है। *झलां जश्०* (८।४।५२) से स् को द् हो जायेगा। भृगुः यहाँ भ्रस्ज पाके से *प्रथिम्रदि०* (उणा० १।२८) से उ प्रत्यय तथा सम्प्रसारण एवं सलोप हुआ है। सर्वत्र यहाँ कुत्व हो गया है॥

हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु ॥७।३।५४॥

हः ६।१॥ हन्तेः ६।१॥ ञ्णिन्नेषु ७।३॥ स०—ञश्च णश्च ञ्णौ, ञ्णौ इतौ येषां ते ञ्णितः, द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः। ञ्णितश्च नश्च ञ्णिन्नास्तेषु...

इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—कु, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—हन्तेर्हकारस्य स्थाने कवर्गादेशो भवति, ञिति णिति प्रत्यये परतो नकारे च ॥ *उदा०*—ञिति–घातो वर्त्तते । णिति–घातयति, घातकः, साधुघाती, घातंघातम् । नकारे–घ्नन्ति, घ्नन्तु, अघ्नन् ॥

भाषार्थः—[हन्तेः] हन् धातु के [हः] हकार के स्थान में कवर्गादेश होता है [ञ्णिन्नेषु] ञित् णित् प्रत्यय तथा नकार परे रहते ॥ सिद्धियाँ ७।३।३२ सूत्र में देखें ॥ घ्नन्ति इत्यादि में ह् के अ का लोप *गमहन-जन०* (६।४।९८) से होता है । घ्नन्तु लोट् तथा अघ्नन् लङ् प्रथमपुरुष बहुवचन का रूप है । आन्तर्य से यहाँ सर्वत्र ह् को घ् ही कुत्व होता है ॥

यहाँ से '*हः*' की अनुवृत्ति ७।३।५६ तक तथा '*हन्तेः*' की ७।३।५५ तक जायेगी ॥

अभ्यासाच्च ॥७।३।५५॥

अभ्यासात् ५।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—हो हन्तेः, कु, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अभ्यासादुत्तरस्य हन्तेर्हकारस्य कवर्गादेशो भवति ॥ *उदा०*—जिघांसति, जङ्घन्यते, अहं जघन ॥

भाषार्थः—[*अभ्यासात्*] अभ्यास से उत्तर [च] भी हन् धातु के हकार को कवर्गादेश होता है ॥ जिघांसति में *अज्झनगमां सनि* (६।४।१६) से दीर्घ तथा *कुहोश्चुः* (७।४।६२) से अभ्यास को चुत्व 'झ' एवं *अभ्यासे चर्च* (८।४।५३) से जश्त्व 'ज' होता है । जङ्घन्यते यङन्त का रूप है । *नुगतोऽनुनासि०* (७।४।८५) से यहाँ अभ्यास को नुक् आगम होता है । शेष पूर्ववत् है । 'जघन' यह लिट् उत्तम पुरुष का अणित् (७।१।९१) पक्ष का रूप है ॥ णित् पक्ष में तो पूर्व सूत्र से ही णित् परे मानकर हो जाता, अतः अणित् पक्ष का उदाहरण दिया है ॥

यहाँ से '*अभ्यासात्*' की अनुवृत्ति ७।३।५८ तक जायेगी ॥

हेरचङि ॥७।३।५६॥

हेः ६।१॥ अचङि ७।१॥ *स०*—न चङ् अचङ्, तस्मिन्''''नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अभ्यासात्, हः, कु, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अभ्यासादुत्तरस्य हिनोतेर्हकारस्य कवर्गादेशो भवति, अचङि परतः ॥ *उदा०*—प्रजिघीषति, प्रजेघीयते, प्रजिघाय ॥

भाषार्थः—अभ्यास से उत्तर [हेः] हि गतौ धातु के हका कवर्गादेश होता है, [*अचङि*] चङ् परे न हो तो ॥ प्रजिघीष *एकाच उप०* (७।२।१०) से इट् निषेध तथा *इको झल्* (१।२।९) से होने से गुण निषेध एवं *अज्झनगमां सनि* (६।४।१६) से दीर्घ होता प्रजेघीयते (यङन्त) में *अकृत्सार्वधातु०* (७।४।२५) से दीर्घ तथा *यङ्लुकोः* (७।४।८२) से अभ्यास को गुण हुआ है। प्रजिघाय यहाँ परे रहते वृद्धि तथा आयादेश हुआ है ॥

सन्लिटोर्जेः ॥७।३।५७॥

सन्लिटोः ७।२॥ जेः ६।१॥ *स०*—सन्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्व *अनु०*—अभ्यासात्, कु, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—जेरङ्गस्य योऽभ्यासा कवर्गादेशो भवति, सनि लिटि च प्रत्यये परतः ॥ *उदा०*—जिगीष जिगाय ॥

भाषार्थः—अभ्यास से उत्तर [*जेः*] जि अङ्ग को [*सन्लिटोः*] स तथा लिट् परे रहते कवर्गादेश होता है ॥ *आदेः परस्य* (१।१।५३) आदि ज् को ग् अभ्यास से उत्तर होता है। जिगीषति में पूर्व दीर्घादि तथा जिगाय में वृद्धि आयादेश जानें ॥

यहाँ से '*सन्लिटोः*' की अनुवृत्ति ७।३।५८ तक जायेगी ॥

विभाषा चेः ॥७।३।५८॥

विभाषा १।१॥ चेः ६।१॥ *अनु०*—सन्लिटोः, अभ्यासात्, कु अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अभ्यासादुत्तरस्य चिनोतेरङ्गस्य विभाषा कवर्गादेश भवति, सनि लिटि च परतः ॥ *उदा०*—चिचीषति, चिकीषति। लिटि—चिचाय, चिकाय ॥

भाषार्थः—अभ्यास से उत्तर [चेः] चि अङ्ग को [*विभाषा*] विकल्प से कवर्गादेश होता है, सन् तथा लिट् परे रहते ॥ पूर्ववत् यहाँ भी सभी कार्य उदाहरणों में जानें ॥

न क्वादेः ॥७।३।५९॥

न अ०॥ क्वादेः ६।१॥ *स०*—कुः (कवर्गः) आदिर्यस्य स क्वादिस्तस्य... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—चजोः कु, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—कवर्गादेर्धातोश्चजो

स्थाने कवर्गादेशो न भवति ॥ उदा०—कूजो वर्त्तते, खर्जः, गर्जः । कूज्यं भवता, खर्ज्यं गर्ज्यं भवता ॥

भाषार्थः—[*कादेः*] कवर्ग आदि वाले धातु के चकार तथा जकार के स्थान में कवर्गादेश [*न*] नहीं होता ॥ चजोः कु *घि०* (७।३।५२) से प्राप्ति थी, निषेध कर दिया ॥ कूजः आदि में घञ् तथा कूज्यं आदि में ण्यत् प्रत्यय हुआ है ॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ७।३।६९ तक जायेगी ॥

अजिव्रज्योश्च ॥७।३।६०॥

अजिव्रज्योः ६।२॥ च अ० ॥ *स०*—अजि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—न, चजोः कु, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अजि व्रजि इत्येतयोश्च चजोः कवर्गादेशो न भवति ॥ उदा०—समाजः, उदाजः । व्रजि—परिव्राजः । परिव्राज्यम् ॥

भाषार्थः—[*अजिव्रज्योः*] अज तथा व्रज धातुओं के जकार को [*च*] भी कवर्गादेश नहीं होता ॥ पूर्ववत् प्राप्ति थी, निषेध कर दिया ॥ समाजः उदाजः में *हलश्च* (३।३।१२१) से घञ् हुआ है, तथा परिव्राजः में *भावे* (३।३।१८) से हुआ है । अज को *अजेर्व्य०* (२।४।५६) से आर्धधातुक में 'वी' आदेश हो जाता है, अतः अज का ण्यत् परे का उदाहरण नहीं दिखाया है ॥

भुजन्युब्जौ पाण्युपतापयोः ॥७।३।६१॥

भुजन्युब्जौ १।२॥ पाण्युपतापयोः ७।२॥ *स०*—भुज०, पाण्यु० उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—न, चजोः कु, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—भुज न्युब्ज इत्येतौ शब्दौ यथाक्रमं पाणावुपतापे चार्थे निपात्येते ॥ उदा०—भुज्यतेऽनेनेति = भुजः पाणिः । न्युब्जिताः (अधोमुखाः) शेरतेऽस्मिन्निति = न्युब्जः उपतापः ॥ पूर्वत्र कुत्वाभावो गुणाभावश्चापरत्र कुत्वाभावो निपात्यते ॥

भाषार्थः—[*भुजन्युब्जौ*] भुज तथा न्युब्ज शब्द क्रमशः [*पाण्युपतापयोः*] पाणि (हाथ) और उपताप (रोग) अर्थ में निपातन किये जाते हैं ॥ भुज में कुत्व का अभाव एवं गुण का अभाव तथा न्युब्ज में

कुत्वाभाव निपातन है ॥ भुजः में भुज धातु से तथा न्युब्जः में नि पूर्वक उब्ज आर्जवे धातु से हलश्च (३।३।१२१) से घञ् प्रत्यय हुआ है ॥ सर्वत्र पूर्ववत् कुत्व प्राप्ति में निषेध समझें ॥

प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे ॥७।३।६२॥

प्रयाजानुयाजौ १।२॥ यज्ञाङ्गे ७।१॥ स०—प्रया० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । यज्ञस्य अङ्गं यज्ञाङ्गं तस्मिन्''''षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—न, चजोः कु, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—प्रयाज, अनुयाज इत्येतौ यज्ञाङ्गे निपात्येते । कुत्वाभावोऽत्रापि निपात्यते ॥ *उदा०*—पञ्च प्रयाजाः । त्रयोऽनुयाजाः । त्वमग्ने प्रयाजानां पश्चात् त्वं पुरस्तात् ॥

भाषार्थः—[*प्रयाजानुयाजौ*] प्रयाज[1] तथा अनुयाज[1] शब्द [*यज्ञाङ्गे*] यज्ञ का अङ्ग हों तो निपातन किये जाते हैं ॥ कुत्वाभाव पूर्ववत् यहाँ भी निपातित है ॥ *अकर्त्तरि च कारके०* (३।३।१९) से प्रयाज, अनुयाज में घञ् हुआ है ॥

वञ्चेर्गतौ ॥७।३।६३॥

वञ्चेः ६।१॥ गतौ ७।१॥ *अनु०*—न, चजोः कु, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—गतौ वर्त्तमानस्य वञ्चेरङ्गस्य कवर्गादेशो न भवति ॥ *उदा०*—वञ्च्यं वञ्चन्ति वणिजः ॥

भाषार्थः—[*गतौ*] गति अर्थ में वर्त्तमान [*वञ्चेः*] वञ्चु अङ्ग को कवर्गादेश नहीं होता ॥ वञ्च्य में ण्यत् हुआ है ॥ वञ्च्यं वञ्चन्ति वणिजः, अर्थात् गन्तव्य स्थान को वणिक् लोग जाते हैं ॥

ओक उचः के ॥७।३।६४॥

ओकः १।१॥ उचः ६।१॥ के ७।१॥ *अनु०*—चजोः कु ॥ *अर्थः*—उचेर्धातोः के प्रत्यये परत ओक इति निपात्यते । कुत्वं गुणश्चात्र निपात्यते ॥ *उदा०*—न्योकः शकुन्तः । न्योको गृहम् ॥

भाषार्थः—[*उचः*] उच समवाये धातु से [*के*] क प्रत्यय परे रहते [*ओकः*] ओक शब्द निपातन किया जाता है ॥ कुत्व तथा गुण यहाँ

---

१. प्रयाज अनुयाज नाम के याग दर्शपौर्णमास आदि यज्ञों में होते हैं । प्रयाज संज्ञक याग प्रधान याग से पूर्व होते हैं और अनुयाज पश्चात् ॥

निपातित है, क्योंकि 'क' प्रत्यय परे रहते दोनों ही प्राप्त नहीं थे ॥ न्युचतीति न्योकः (समुदाय बना कर रहने वाला) यहाँ नि पूर्वक उच से इगुपधज्ञाप्री० (३।१।१३५) से कर्त्ता में 'क' प्रत्यय हुआ है। न्युचन्त्यस्मिन् = न्योकः में अधिकरण कारक में *घञर्थे क विधानम्०* (वा० ३।३।५८) से 'क' होता है ॥

ण्य आवश्यके ॥७।३।६५॥

ण्ये ७।१॥ आवश्यके ७।१॥ *अनु०*—न, चजोः कु, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—ण्ये परत आवश्यकेऽर्थेऽङ्गस्य चजोः कवर्गादेशो न भवति ॥ *उदा०*—अवश्यपाच्यम्, अवश्यवाच्यम्, अवश्यरेच्यम् ॥

भाषार्थः—[*ण्ये*] ण्य परे रहते [*आवश्यके*] आवश्यक अर्थ में अङ्ग के चकार जकार को कवर्गादेश नहीं होता ॥ पूर्ववत् प्राप्ति थी, निषेध कर दिया ॥ *कृत्याश्च* (३।३।१७१) से आवश्यक अर्थ में *ऋहलो-र्ण्यत्* से उदाहरणों में ण्यत्, *मयूरव्यंसका०* (२।१।७१) से समास एवं *अवश्यमः* (भा० ६।१।१३९) से अवश्यम् के म् का लोप हुआ है ॥

यहाँ से '*ण्ये*' की अनुवृत्ति ७।३।६९ तक जायेगी ॥

यजयाचरुचप्रवचर्चश्च ॥७।३।६६॥

यजयाचरुचप्रवचर्चः ६।१॥ च अ० ॥ *स०*—यजश्च याचश्च रुचश्च प्रवचश्च ऋच् च यज'''चर्च् तस्य'''समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—ण्ये, न चजोः कु, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—यज, याच, रुच, प्रवच, ऋच इत्येतेषा-मङ्गानां चजोः स्थाने ण्ये परतः कवर्गादेशो न भवति ॥ *उदा०*—याज्यम्, याच्यम्, रोच्यम्, प्रवाच्यम्, अर्च्यम् ॥

भाषार्थः—[*यज'''चर्चः*] यज, टुयाचृ, रुच, प्रपूर्वक वच, ऋच इन अङ्गों के चकार जकार को [*च*] भी ण्य प्रत्यय परे रहते कवर्गादेश नहीं होता ॥

वचोऽशब्दसंज्ञायाम् ॥७।३।६७॥

वचः ६।१॥ अशब्दसंज्ञायाम् ७।१॥ *स०*—शब्दस्य संज्ञा शब्दसंज्ञा, षष्ठीतत्पुरुषः । न शब्दसंज्ञा अशब्दसंज्ञा, तस्याम्'''नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—ण्ये, न, चजोः कु, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अशब्दसंज्ञायां वचोऽङ्गस्य ण्ये परतः कवर्गादेशो न भवति ॥ *उदा०*—वाच्यमाह अवाच्यमाह ॥

भाषार्थः—[*अशब्दसंज्ञायाम्*] शब्द की संज्ञा न हो तो [*वचः*] वच् अङ्ग को ण्य परे रहते कवर्गादेश नहीं होता ॥ वाच्यम् (= कहने योग्य) यह शब्द की संज्ञा नहीं है ॥ 'वाक्यम्' शब्द समूह की संज्ञा है, अतः यहाँ कुत्व हो जाता है ॥

प्रयोज्यनियोज्यौ शक्यार्थे ॥७।३।६८॥

प्रयोज्यनियोज्यौ १।२॥ शक्यार्थे ७।१॥ *स०*—प्रयोज्य० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । शक्योऽर्थः शक्यार्थस्तस्मिन्''' कर्मधारयतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—ण्ये, न, चजोः कु, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—प्रयोज्य नियोज्य इत्येतौ शब्दौ शक्यार्थे निपात्येते । कुत्वाभावो निपात्यतेऽत्र ॥ *उदा०*—शक्यः प्रयोक्तुं = प्रयोज्यः । शक्यो नियोक्तुं नियोज्यः ॥

भाषार्थः—[*प्रयोज्यनियोज्यौ*] प्रयोज्य तथा नियोज्य ण्यत् प्रत्ययान्त शब्द [*शक्यार्थे*] शक्य अर्थ में निपातित हैं ॥ कुत्वाभाव ही यहाँ निपातन से जानें ॥ *शकि लिङ् च* (३।३।१७२) से शक्यार्थ में *ऋहलोर्ण्यत्* (३।१।१२४) से ण्यत् होता है ॥

भोज्यं भक्ष्ये ॥७।३।६९॥

भोज्यम् १।१॥ भक्ष्ये ७।१॥ अनु०—ण्ये, न, चजोः कु, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—भोज्यमिति निपात्यते, भक्ष्येऽभिधेये ॥ *उदा०*—भोज्य ओदनः, भोज्या यवागू ॥

भाषार्थः—[*भोज्यम्*] भोज्यम् शब्द [*भक्ष्ये*] भक्ष्य अभिधेय होने पर निपातन किया जाता है ॥ यहाँ भी कुत्वाभाव ही निपातन से जानें ॥

घोर्लोपो लेटि वा ॥७।३।७०॥

घोः ६।१॥ लोपः १।१॥ लेटि ७।१॥ वा अ० ॥ अनु०—अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—घुसंज्ञकानामङ्गानां लेटि परतो वा लोपो भवति ॥ *उदा०*—दधद् रत्नानि दाशुषे (ऋ० ४।१५।३) । सोमो ददद् गन्धर्वाय (ऋ० १०।८५।४१) न च भवति—यदग्निरग्नये ददात् ॥

भाषार्थः—[*घोः*] घु संज्ञक अङ्ग का [*लेटि*] लेट् परे रहते [*वा*] विकल्प से [*लोपः*] लोप होता है ॥ डुधाञ् धातु से लेट् में शप् को श्लु एवं *श्लौ* (६।१।१०) से द्वित्व इत्यादि होकर द धा तिप् रहा ।

लेटोऽडाटौ (३।४।९४) से अट् आगम तथा प्रकृत सूत्र से अन्त्य अल् 'आ' का लोप होकर द् ध् अट् त् = दधत् बन गया। इसी प्रकार दा धातु से ददत् में जानें। पक्ष में जब लोप नहीं हुआ तो 'ददात्' बन गया ॥

यहाँ से '*लोपः*' की अनुवृत्ति ७।३।७२ तक जायेगी ॥

ओतः श्यनि ॥७।३।७१॥

ओतः ६।१॥ श्यनि ७।१॥ *अनु०*—लोपः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—ओकारान्तस्याङ्गस्य श्यनि परतो लोपो भवति ॥ *उदा०*— शो—निश्यति। छो—अवच्छ्यति। दो—अवद्यति। सो—अवस्यति ॥

भाषार्थः—[*ओतः*] ओकारान्त अङ्ग का [*श्यनि*] श्यन् परे रहते लोप होता है ॥ *अलोऽन्त्यस्य* से अन्त्य अल 'ओ' का लोप होता है ॥ नि शो श्यन् ति = निश्यति ॥

क्सस्याचि ॥७।३।७२॥

क्सस्य ६।१॥ अचि ७।१॥ *अनु०*—लोपः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—क्सस्याजादौ प्रत्यये परतो लोपो भवति ॥ *उदा०*—अधुक्षाताम्, अधुक्षाथाम्, अधुक्षि ॥

भाषार्थः—[*क्सस्य*] क्स का [*अचि*] अजादि प्रत्यय परे रहते लोप होता है ॥ पूर्ववत् अन्त्य अल् 'स' के अ का लोप यहाँ भी जानें। अधुक्षत् की सिद्धि परि० ३।१।४५ में की है, तद्वत् आताम् आथाम् तथा उत्तम पुरुष के इट् परे रहते यहाँ भी जानें। अधुक्ष् आताम् = अधुक्षाताम् ॥

यहाँ से '*क्सस्य*' की अनुवृत्ति ७।३।७३ तक जायेगी ॥

लुग्वा दुहदिहलिहगुहामात्मनेपदे दन्त्ये ॥७।३।७३॥

लुक् १।१॥ वा अ० ॥ दुहदिहलिहगुहाम् ६।३॥ आत्मनेपदे ७।१॥ दन्त्ये ७।१॥ *स०*—दुह० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ दन्ते भवो दन्त्यस्तस्मिन्''', *शरीरावयवाच्च* (४।३।५५) इति यत् प्रत्ययः ॥ *अनु०*—क्सस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—दुह, दिह, लिह, गुह इत्येतेषामात्मनेपदे दन्त्यादौ परतः क्सस्य

वा लुग् भवति ॥ उदा०—दुह—अदुग्ध, अधुक्षत। अदुग्धाः अधुक्षथाः। अधुग्ध्वम्, अधुक्षध्वम्। अदुह्वहि, अधुक्षावहि। दिह—अदिग्ध, अधिक्षत, इत्येवमादयः। लिह—अलीढ, अलिक्षत। गुह—न्यगूढ, न्यघुक्षत ॥

भाषार्थः—[*दुहदिहलिहगुहाम्*] दुह प्रपूरणे, दिह उपचये, लिह आस्वादने, गुहू संवरणे इन धातुओं के क्स का [*वा*] विकल्प से [*लुक्*] लुक् होता है, [*दन्त्ये*] दन्त से उच्चरित अक्षर आदि में है जिनके ऐसे [*आत्मनेपदे*] आत्मनेपद संज्ञक प्रत्ययों के परे रहते ॥ इस प्रकार आत्मनेपद के तवर्गादि[1] तथा वकारादि[2] वाले प्रत्यय गृहीत होंगे, सो उनके परे रहते विकल्प से लुक् होगा ॥ लुक् कहने से सम्पूर्ण 'क्स' का लुक् होता है, क्योंकि लुक् संज्ञा सम्पूर्ण प्रत्यय के अदर्शन की है, एकदेश की नहीं ॥

अदुग्ध की सिद्धि परि० ३।१।६३ में देखें। यहाँ दन्त्यादि 'त' प्रत्यय परे है। जब पक्ष में क्स का लुक् नहीं हुआ, तो परि० ३।१।४५ के अधुक्षत् के समान अधुक्षत बन गया। इसी प्रकार थास् ध्वम् तथा वहि परे रहते अदुग्धाः आदि रूप बनेंगे। *एकाचो बशो०* (८।२।३७) आदि सूत्र यथाप्राप्त लगते जायेंगे। इसी प्रकार दिह आदि धातुओं से भी रूप जानें। अलीढ में लिह् के ह् को *हो ढः* (८।२।३१) से ढत्व एवं 'त' को पूर्ववत् धत्व तथा ष्टुत्व होकर 'अ लिढ् ढ' रहा। अब *ढो ढे लोपः* (८।३।१३) से एक ढ का लोप एवं *ढ्लोपे पूर्वस्य०* (६।३।१०९) से दीर्घ होकर अलीढ बन गया। इसी प्रकार नि पूर्वक गुह से न्यगूढ में भी जानें। न्यघुक्षत पूर्ववत् बनेगा ॥

शमामष्टानां दीर्घः श्यनि ॥७।३।७४॥

शमाम् ६।३॥ अष्टानाम् ६।३॥ दीर्घः १।१॥ श्यनि ७।१॥ *अनु०*—अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—शमादीनामष्टानां धातूनां दीर्घो भवति श्यनि परतः ॥ *उदा०*—शमु—शाम्यति। तमु—ताम्यति। दमु—दाम्यति। श्रमु—

---

१. *लृतुलसा दन्त्याः* (वर्णो० ३२) से तवर्ग दन्त्य हैं।

२. *वकारो दन्त्यौष्ठ्यः* (वर्णो० ३३) से वकार दन्त एवं ओष्ठ दोनों से बोला जाता है ॥

श्राम्यति । भ्रमु—भ्राम्यति । क्षमु—क्षाम्यति । क्लमु—क्लाम्यति । मदी—माद्यति ॥

भाषार्थः—[*शमाम्*] शम् आदि वाली [*अष्टानाम्*] आठ धातुओं को [*श्यनि*] श्यन् परे रहते [*दीर्घः*] दीर्घ होता है ॥ 'शमाम्' यहाँ बहुवचन निर्देश होने से 'आदि' अर्थ की प्रतीति होती है ॥

यहाँ से '*दीर्घः*' की अनुवृत्ति ७।३।७६ तक जायेगी ॥

ष्ठिवुक्लमुचमां शिति ॥७।३।७५॥

ष्ठिवुक्लमुचमाम् ६।३॥ शिति ७।१॥ *स०*—ष्ठिवु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । शकार इत् यस्य स शित् तस्मिन्...बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—दीर्घः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—ष्ठिवु क्लमु चम् इत्येतेषामङ्गानां दीर्घो भवति, शिति परतः ॥ *उदा०*—ष्ठीवति । क्लामति । आचामति ॥

भाषार्थः—[*ष्ठिवुक्लमुचमाम्*] ष्ठिवु, क्लमु, तथा चमु धातुओं को [*शिति*] शित् प्रत्यय परे रहते दीर्घ होता है ॥ महाभाष्यानुसार आङ् पूर्वक चम् को ही दीर्घ होता है, अन्यत्र नहीं ॥ शप् शित् प्रत्यय सर्वत्र उदाहरणों में परे है ॥

यहाँ से '*शिति*' की अनुवृत्ति ७।३।८२ तक जायेगी ॥

क्रमः परस्मैपदेषु ॥७।३।७६॥

क्रमः ६।१॥ परस्मैपदेषु ७।३॥ *अनु०*—शिति, दीर्घः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—क्रमोऽङ्गस्य परस्मैपदपरे शिति परतो दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—क्रामति, क्रामतः, क्रामन्ति ॥

भाषार्थः—[*क्रमः*] क्रमु धातु को [*परस्मैपदेषु*] परस्मैपदपरक शित् प्रत्यय के परे रहते दीर्घ होता है ॥

इषुगमियमां छः ॥७।३।७७॥

इषुगमियमाम् ६।३॥ छः १।१॥ *स०*—इषु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—शिति, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—इषु, गम्लृ, यम इत्येतेषामङ्गानां शिति परतश्छकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—इच्छति, गच्छति, यच्छति ॥

भाषार्थः—[*इषुगमियमाम्*] इषु, गम्लृ तथा यम् धातुओं को शित्

प्रत्यय परे रहते [छः] छकारादेश (अन्त्य अल् को) होता है ॥ परि० १।३।१५ में व्यतिगच्छन्ति की सिद्धि की है, तद्वत् अन्य सिद्धियाँ भी जानें ॥

पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्दृश्यर्त्तिसर्त्तिशदसदां पिबजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छपश्यर्च्छधौशीयसीदाः ॥७।३।७८॥

पाघ्रा···सदाम् ६।३॥ पिब···सीदाः १।३॥ *स०*—पाघ्रा०, पिब० उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—शिति, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—पा पाने, घ्रा गन्धोपादाने, ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः, ष्ठा गतिनिवृत्तौ, म्ना अभ्यासे, दाण् दाने, दृशिर् प्रेक्षणे, ऋ गतिप्रापणयोः, सृ गतौ, शद्लृ शातने, षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु इत्येतेषां धातूनां स्थाने यथाक्रमं पिब, जिघ्र, धम, तिष्ठ, मन, यच्छ, पश्य, ऋच्छ, धौ, शीय, सीद इत्येते आदेशा भवन्ति शिति प्रत्यये परतः ॥ *उदा०*—पा—पिबति । घ्रा—जिघ्रति । ध्मा—धमति । स्था—तिष्ठति । म्ना—मनति । दाण्—यच्छति । दृशि—पश्यति । ऋ—ऋच्छति । सृ—धावति । शद्—शीयते । सद्—सीदति ॥

भाषार्थः—[*पाघ्रा···सदाम्*] पा, घ्रा, ध्मा, स्था (ष्ठा), म्ना, दाण्, दृशिर्, ऋ, सृ, शद्लृ, षद्लृ इन धातुओं को शित् प्रत्यय परे रहते यथासङ्ख्य करके [*पिब···सीदाः*] पिब, जिघ्र, धम, तिष्ठ, मन, यच्छ, पश्य, ऋच्छ, धौ, शीय, सीद ये आदेश होते हैं ॥ शदेः *शितः* (१।३।६०) से शीयते में आत्मनेपद होता है ॥

ज्ञाजनोर्जा ॥७।३।७९॥

ज्ञाजनोः ६।२॥ जा लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ *स०*—ज्ञा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—शिति, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—ज्ञा, जनी प्रादुर्भावे (दैवादिकस्य ग्रहणम्) इत्येतयोः स्थाने शिति प्रत्यये परतो जा इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—जानाति । जनी—जायते ॥

भाषार्थः—[*ज्ञाजनोः*] ज्ञा तथा जनी (दिवादिस्थ) धातु को शित् प्रत्यय परे रहते [*जा*] जा आदेश होता है ॥ ज्ञा के क्र्यादि गण में होने से श्ना विकरण होकर जानाति बना । जा श्यन् त = जायते ॥

प्वादीनां ह्रस्वः ॥७।३।८०॥

प्वादीनाम् ६।३॥ ह्रस्वः १।१॥ स०—पूः आदिर्येषां ते प्वादयस्तेषां ... ाहुव्रीहिः ॥ अनु०—शिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—पूञ् पवने इत्येवमादीनां ह्रस्वो भवति शिति परतः ॥ क्र्यादिषु प्वादयः पठ्यन्ते ॥ उदा०—पूञ्—पुनाति । लूञ्—लुनाति । स्तॄञ्—स्तृणाति ॥

भाषार्थः—[प्वादीनाम्] पूञ् इत्यादि धातुओं को शित् प्रत्यय परे रहते [ह्रस्वः] ह्रस्व होता है ॥ क्र्यादि गण में प्वादि धातुएँ पढ़ी हैं ॥

यहाँ से 'ह्रस्वः' की अनुवृत्ति ७।३।८१ तक जायेगी ॥

मीनातेर्निगमे ॥७।३।८१॥

मीनातेः ६।१॥ निगमे ७।१॥ अनु०—ह्रस्वः, शिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—मीनातेरङ्गस्य शिति प्रत्यये परतो ह्रस्वो भवति, निगमे विषये ॥ उदा०—प्रमिणन्ति व्रतानि ॥

भाषार्थः—[मीनातेः] मीञ् हिंसायाम् अङ्ग को शित् प्रत्यय परे रहते [निगमे] निगम विषय में ह्रस्व होता है ॥ प्र मिणन्ति में हिनु मीना (८।४।१५) से णत्व तथा श्ना के आ का श्नाभ्यस्तयो० (६।४।११२) से लोप होता है ॥

मिदेर्गुणः ॥७।३।८२॥

मिदेः ६।१॥ गुणः १।१॥ अनु०—शिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—मिदेरङ्गस्य इको गुणो भवति, शिति प्रत्यये परतः ॥ उदा०—मेद्यति, मेद्यतः, मेद्यन्ति ॥

भाषार्थः—[मिदेः] मिद् अङ्ग के इक् को शित् प्रत्यय परे रहते [गुणः] गुण हो जाता है ॥ सिद्धियाँ परि० १।१।३ में देखें ॥

यहाँ से 'गुणः' की अनुवृत्ति ७।३।८८ तक जायेगी ॥

जुसि च ॥७।३।८३॥

जुसि ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—गुणः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—जुसि च प्रत्यये परत इगन्तस्य अङ्गस्य गुणो भवति ॥ उदा०—अजुहवुः, अबिभयुः, अबिभरुः ॥

भाषार्थः—[*जुसि*] जुस् प्रत्यय परे रहते [*च*] भी इगन्त अङ्ग क
गुण होता है ॥ अजुहवुः तथा अबिभयुः की सिद्धि परि० ३।४।१०९
देखें, तद्वत् डुभृञ् धातु से अबिभरुः की सिद्धि जानें ॥ जुस् के ङि
(१।२।४) होने से जुस् परे रहते गुण का प्रतिषेध (१।१।५) प्राप्त थ
गुण विधान कर दिया ॥

सार्वधातुकार्धधातुकयोः ॥७।३।८४॥

सार्वधातुकार्धधातुकयोः ७।२॥ *स०*—सार्वधातुकञ्च आर्धधातुकञ्च
सार्वधातुकार्धधातुके, तयोः'''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—गुणः, अङ्गस्य ॥
अर्थः—सार्वधातुके आर्धधातुके च प्रत्यये परत इगन्तस्याङ्गस्य गुणो
भवति ॥ *उदा०*—सार्वधातुके—तरति, नयति, भवति । आर्धधातुके—
कर्त्ता, चेता, स्तोता ॥

भाषार्थः—[*सार्वधातुकार्धधातुकयोः*] सार्वधातुक तथा आर्धधातुक
प्रत्यय परे रहते इगन्त अङ्ग को गुण होता है ॥ सभी सिद्धियाँ परि०
१।१।२ में देखें ॥

यहाँ से '*सार्वधातुकार्धधातुकयोः*' की अनुवृत्ति ७।३।८६ तक
जायेगी ॥

जाग्रोऽविचिण्णल्ङित्सु ॥७।३।८५॥

जाग्रः ६।१॥ अविचिण्णल्ङित्सु ७।३॥ *स०*—ङ् इत् यस्य स ङित्,
बहुव्रीहिः । विश्च चिण् च णल् च ङित् च विचिण्णल्ङितः, इतरेतर-
द्वन्द्वः । न विचिण्णल्ङितः अविचिण्णल्ङितस्तेषु'''''नञ्तत्पुरुषः ॥
अनु०—सार्वधातुकार्धधातुकयोः, गुणः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—जागृ
इत्येतस्याङ्गस्य गुणो भवति, अविचिण्णल्ङित्सु सार्वधातुकार्धधातुकेषु
परतः ॥ *उदा०*—जागरयति, जागरकः, साधु जागरी, जागरंजागरम्,
जागरो वर्त्तते । जागरितः, जागरितवान् ॥

भाषार्थः—[*जाग्रः*] जागृ अङ्ग को गुण होता है [*अविचिण्णल्ङित्सु*]
वि, चिण्, णल् तथा ङ् इत् वाले प्रत्ययों को छोड़कर अन्य सार्वधातुक
आर्धधातुक प्रत्ययों के परे रहते ॥ जागरयति में णिच् परे रहते तथा
जागरकः में ण्वुल् एवं साधु जागरी में ताच्छील्यार्थक णिनि (३।२।७८)
परे रहते गुण हुआ है । जागरंजागरम् में *आभीक्ष्ण्ये णमुल्* च

(३।४।२२) से णमुल् तथा *आभीक्ष्ण्ये द्वे भवतः* (वा० ८।१।१२) से द्वित्व हुआ है। जागरः में *भावे* (३।३।१८) से घञ् हुआ है। यहाँ सर्वत्र णित् परे होने से *अचो ञ्णिति* (७।२।११५) से वृद्धि प्राप्त थी, गुण कह दिया। जागरितः जागरितवान् यहाँ तो *सार्वधातुका०* से प्राप्त गुण का *क्ङिति च* (१।१।५) से निषेध प्राप्त था, प्रकृत सूत्र से गुण हो गया। इस प्रकार वृद्धि के विषय में, एवं प्रतिषेध के विषय में दोनों ही स्थलों में प्रकृत सूत्र से गुण होता है ॥

पुगन्तलघूपधस्य च ॥७।३।८६॥

पुगन्तलघूपधस्य ६।१॥ च अ० ॥ *स०*—पुकि अन्तः पुगन्तः, सप्तमीतत्पुरुषः। लघ्वी चासौ उपधा च लघूपधा, कर्मधारयतत्पुरुषः। पुगन्तश्च लघूपधा च पुगन्तलघूपधम्, तस्य ... समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सार्वधातुकार्धधातुकयोः, गुणः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—पुगन्तस्याङ्गस्य लघूपधस्य च इकः सार्वधातुके आर्धधातुके च परतो गुणो भवति ॥ *उदा०*—पुगन्तस्य—व्लेपयति, ह्रेपयति, क्नोपयति। लघूपधस्य—भेदनम्, छेदनम, भेत्ता, छेत्ता ॥

भाषार्थः—[*पुगन्तलघूपधस्य*] पुक् परे रहने पर तत्समीपस्थ अङ्ग के इक् को तथा लघुसंज्ञक इक् उपधा को [च] भी सार्वधातुक तथा आर्धधातुक परे रहते गुण हो जाता है। 'पुगन्त' यहाँ अन्त शब्द समीपवाची है, सो अर्थ होगा 'पुक् परे रहते समीपस्थ जो अङ्ग का इक्'। *इको गुणवृद्धी* परिभाषा सूत्र की उपस्थिति से यहाँ 'इक्' शब्द अर्थ करने में रखा है ॥ व्ली पुक् इ यहाँ पुक् के समीप जो इक् उसे गुण होकर व्लेपयति बन गया। इसी प्रकार सब में जानें ॥

यहाँ से '*लघूपधस्य*' की अनुवृत्ति ७।३।८७ तक जायेगी ॥

नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके ॥७।३।८७॥

न अ० ॥ अभ्यस्तस्य ६।१॥ अचि ७।१॥ पिति ७।१॥ सार्वधातुके ७।१॥ *स०*—पकार इत् यस्य स पित् तस्मिन् ... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—लघूपधस्य, गुणः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अभ्यस्तसंज्ञकस्याङ्गस्य लघूपधस्य इकः अजादौ पिति सार्वधातुके परतो गुणो न भवति ॥ *उदा०*—नेनिजानि, अनेनिजम्। वेविजानि, अवेविजम्। परिवेविषाणि, पर्यवेविषम् ॥

भाषार्थः—[*अभ्यस्तस्य*] अभ्यस्त संज्ञक अङ्ग की लघु उपधा इक्

को [*अचि*] अजादि [*पिति*] पित् [*सार्वधातुके*] सार्वधातुक परे रह
गुण [*न*] नहीं होता ॥ पूर्व सूत्र से प्राप्ति थी, निषेध कर दिया
णिजिर् शौचपोषणयोः धातु के ण को न *णो नः* (६।१।६३) से होकर ल
स्थानी मिप् को *मेर्निः* (३।४।८९) से नि होकर निज् नि रहा
आडुत्तमस्य० (३।४।९२) से आट् आगम *श्लौ* (६।१।१०) से द्वि
एवं अभ्यास कार्य होकर 'नि निज् आट् नि' रहा। *निजां त्रयाणां गुणः*
(७।४।७५) से अभ्यास को गुण होकर ने निज् आनि रहा। अब य
अजादि पित् स्थानी सार्वधातुक 'आनि' परे है, सो ७।३।८६ से ग
प्राप्त था उसका प्रकृत सूत्र से निषेध हो गया। इसी प्रकार वि
तथा विजिर् धातु से वेविषाणि एवं वेविजानि में जानें। लङ् लक
में अनेनिजम् आदि भी इसी प्रकार समझें। यहाँ *तस्थस*
(३।४।१०१) से मिप् को 'अम्' हुआ है ॥

यहाँ से '*न*' की अनुवृत्ति ७।३।८८ तक तथा '*पिति*' की ७।३।
तक एवं '*सार्वधातुके*' की ७।३।१०१ तक जायेगी ॥

भूसुवोस्तिङि ॥७।३।८८॥

भूसुवोः ६।२॥ तिङि ७।१॥ *स०*—भूश्च सूश्च भूसुवौ तयोः
इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—न पिति सार्वधातुके, गुणः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*
भू सू इत्येतयोस्तिङि पिति सार्वधातुके, गुणो न भवति ॥ *उदा०*
अभूत्, अभूः, अभूवम्। सुवै, सुवावहै, सुवामहै ॥

भाषार्थः—[*भूसुवोः*] भू तथा षूङ् अङ्ग को [*तिङि*] तिङ्
सार्वधातुक परे रहते गुण नहीं होता ॥ अभूत् आदि के सिच् का
गातिस्थाघुपा० (२।४।७७) से होता है। सिच् लुक् कर देने पर पित्
परे है ही, सो गुण प्राप्ति थी निषेध कर दिया। अभूवम् में *भुवो वु*
(६।४।८८) से वुक् आगम एवं मिप् को अम् हुआ है ॥ वुक् आगम
पूर्व प्राप्त गुण का निषेध यहाँ हो जाता है ॥ सुवै आदि की सिद्धि
३।४।९३ के करवै आदि के समान जानें। पित् आट् परे रहते गुण
था, उसका निषेध कर दिया ॥

---

१. *इन्धिभवतिभ्यां च* (१।२।६) में गुणप्रतिषेधार्थ कित्त्व का विधान
से ज्ञापित होता है कि वुक् नित्य होने पर भी पहले गुण की प्राप्ति होती
अन्यथा सूत्रविधान व्यर्थ है।

उतो वृद्धिर्लुकि हलि ॥७।३।८९॥

उतः ६।१॥ वृद्धिः १।१॥ लुकि ७।१॥ हलि ७।१॥ *अनु०*—पिति सार्वधातुके, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—उकारान्तस्याङ्गस्य वृद्धिर्भवति लुकि सति हलादौ पिति सार्वधातुके परतः ॥ *उदा०*—यौति, यौषि, यौमि। नौति, नौषि, नौमि। स्तौति, स्तौषि, स्तौमि ॥

भाषार्थः—[*उतः*] उकारान्त अङ्ग को [*लुकि*] लुक् हो जाने पर [*हलि*] हलादि पित् सार्वधातुक परे रहते [*वृद्धिः*] वृद्धि होती है॥ स्तौति की सिद्धि परि० १।१।६० में की है, तद्वत् अन्य सिद्धियाँ भी जानें॥

यहाँ से '*वृद्धिः*' की अनुवृत्ति ७।३।९० तक तथा '*हलि*' की ७।३।१०० तक जायेगी॥

ऊर्णोतेर्विभाषा ॥७।३।९०॥

ऊर्णोतेः ६।१॥ विभाषा १।१॥ *अनु०*—वृद्धिः, हलि, पिति, सार्वधातुके, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—ऊर्णोतेर्विभाषा वृद्धिर्भवति हलादौ पिति सार्वधातुके परतः॥ *उदा०*—प्रोर्णौति, प्रोर्णोति। प्रोर्णौषि, प्रोर्णोषि। प्रोर्णौमि, प्रोर्णोमि॥

भाषार्थः—हलादि पित् सार्वधातुक परे रहते [*ऊर्णोतेः*] ऊर्णुञ् आच्छादने धातु को [*विभाषा*] विकल्प से वृद्धि होती है॥ पूर्व सूत्र से नित्य वृद्धि प्राप्त थी, विकल्प कह दिया॥ प्र ऊर्णु ति (६।१।८४) प्रोर्णु ति = प्रोर्णौति। जब वृद्धि नहीं हुई तो गुण होकर प्रोर्णोति बना। शप् का लुक् पूर्ववत् जानें॥

यहाँ से '*ऊर्णोतेः*' की अनुवृत्ति ७।३।९१ तक जायेगी॥

गुणोऽपृक्ते ॥७।३।९१॥

गुणः १।१॥ अपृक्ते ७।१॥ *अनु०*—ऊर्णोतेः, हलि, पिति, सार्वधातुके, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—ऊर्णुञ् इत्येतस्य धातोरपृक्ते हलि पिति सार्वधातुके परतो गुणो भवति॥ *उदा०*—प्रौर्णोत्, प्रौर्णोः॥

भाषार्थः—ऊर्णुञ् धातु को [*अपृक्ते*] अपृक्त हल् पित् सार्वधातुक परे रहते [*गुणः*] गुण होता है॥ पूर्व सूत्र से विकल्प से वृद्धि प्राप्त

थी, यहाँ नित्य गुण विधान कर दिया ॥ लङ् लकार में आट् (६।४।
को *आटश्च* (६।१।८७) से वृद्धि एकादेश होकर और्णु त् = और्
और्णो स् = और्णोः बन गया। 'त् , स्' यहाँ अपृक्त सार्वधातुक परे हैं ह

तृणह इम् ॥ ७।३।९२॥

तृणहः ६।१॥ इम् १।१॥ *अनु०*—हलि, पिति, सार्वधातुके, अङ्गस्
अर्थः—तृणह इत्येतस्याङ्गस्य इमागमो भवति हलादौ पिति सार्वधा
परतः ॥ *उदा०*—तृणेढि, तृणेक्षि, तृणेह्मि । अतृणेट् ॥

भाषार्थः—[*तृणहः*] तृह् हिंसायाम् (रुधादिगणस्थ) अङ्ग को हल
पित् सार्वधातुक परे रहते [*इम्*] इम् आगम होता है॥ तृह् धातु का
विकरण सहित निर्देश इस बात को जनाने के लिये किया है कि सिद्धि
श्नम् विकरण कर लेने के पश्चात् ही इम् आगम हो, पहले नहीं ॥

तृ श्नम् ह् ति = तृ ण ह् ति = इम् आगम अन्त्य अच् (१।१।
से परे होकर तृ ण इम् ह् ति = रहा । *आद् गुणः* (६।१।८४) ल
तृणेह् ति रहा । शेष ह् को ढत्व धत्वादि कार्य सूत्र ७।३।७३ के अ
के समान होकर तृणेढि बन गया । तृणेक्षि में सिप् परे रहते *षढोः कः*
(८।२।४१) से ढ् को 'क्' तथा सिप् के स् को षत्व हुआ है । लङ् ल
अतृणेट् में भी सभी कार्य इसी प्रकार हैं । केवल तिप् के त्
हल्ङ्यादि लोप एवं ढ् को जश्त्व (८।२।३९) ड् तथा *वावसाने* (८।४।
से चर्त्व 'ट्' हुआ है, यही विशेष है ॥

ब्रुव ईट् ॥७।३।९३॥

ब्रुवः ५।१॥ ईट् १।१॥ *अनु०*—हलि, पिति, सार्वधातुके, अङ्गस्य
अर्थः—ब्रूञ् इत्येतस्मादुत्तरस्य हलादेः पितः सार्वधातुकस्य ईट् आग
भवति ॥ *उदा०*—ब्रवीति, ब्रवीषि, ब्रवीमि ॥

भाषार्थः—[*ब्रुवः*] ब्रूञ् अङ्ग से उत्तर हलादि पित् सार्वधातुक
[*ईट्*] ईट् आगम होता है ॥ 'सार्वधातुके' आदि सप्तम्यन्त पद प
यन्त में *तस्मादित्युत्तरस्य* (१।१।६६) से बदल जाते हैं, अतः टित् ह
से तिप् के आदि में ईट् होकर ब्रू ईट् तिप् = ब्रो ई ति = ब्रवीति
गया । शप् का लुक् *अदिप्रभृतिभ्यः०* (२।४।७२) से हो ही जायेगा ।

यहाँ से 'ईट्' की अनुवृत्ति ७।३।९८ तक जायेगी ॥

यङो वा ॥७।३।९४॥

२।१॥ वा अ० ॥ *अनु०*—ईट्, हलि, पिति, सार्वधातुके ॥
ङ उत्तरस्य हलादेः पितः सार्वधातुकस्य ईडागमो विकल्पेन
उदा०—शाकुनिको लालपीति । दुन्दुभिर्वावदीति । त्रिधा बद्धो
वीति (ऋ० ४।५८।३) । न च भवति—वर्वर्ति चक्रम् । चर्कर्ति ॥

ः—[*यङः*] यङ् से उत्तर हलादि पित् सार्वधातुक को [*वा*]
ईट् आगम होता है ॥ लालपीति आदि की सिद्धि परि०
में देखें । रु धातु से रोरवीति में अभ्यास को *गुणो यङ्लुकोः*
से गुण होता है । वृञ् से वर्वर्ति, कृञ् से चर्कर्ति में केवल
नहीं हुआ, शेष उरत् (७।४।६६) आदि अभ्यास कार्य
। *ऋतश्च* (७।४।९२) से अभ्यास को रुक् आगम ही यहाँ
।

ो 'वा' की अनुवृत्ति ७।३।९५ तक जायेगी ॥

तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके ॥७।३।९५॥

शम्यमः ५।१॥ सार्वधातुके ७।१॥ *स०*—तुश्च रुश्च स्तुश्च
च तुरु॰॰॰म्यम् तस्मात्॰॰॰समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—वा,
अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—तु, रु, ष्टुञ्, शम, अम इत्येतेभ्य उत्तरस्य
धातुकस्य वा ईडागमो भवति ॥ *उदा०*—उत्तवीति उत्तौति ।
उपरौति । उपस्तवीति, उपस्तौति । शमीध्वम् शन्ध्वम् । अभ्य-
न्ति ॥

ः—[*तुरुस्तुशम्यमः*] तु, (सौत्र धातु) रु, ष्टुञ्, शम, तथा
। से उत्तर हलादि सार्वधातुक को विकल्प से ईट् आगम
उत्तौति आदि के शप् का *बहुलं छन्दसि* (२।४।७३) से
तो वृद्धि० (७।३।८९) से वृद्धि होती है । ईट् पक्ष में गुण
गा । [1]शन्ध्वम् शमीध्वम् और अभ्यन्ति अभ्यमीति में विकरण
कर ईट् की प्राप्ति तथा अप्राप्ति होगी ॥

दिवादि और अम भ्वादि का धातु है जब तक विकरण का लुक् न
धातु से परे हलादि सार्वधातुक उपलब्ध नहीं होता । अतः यहाँ

अस्तिसिचोऽपृक्ते ॥७।३।९६॥

अस्तिसिचः ५।१॥ अपृक्ते ७।१॥ स०—अस्तिश्च सिच् च अस्तिसिच् तस्मात्... समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—ईट्, हलि, सार्वधातुके, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अस्तेरङ्गात् सिजन्ताच्च उत्तरस्यापृक्तस्य हलादेः सार्वधातुकस्य ईडागमो भवति ॥ उदा०—अस्तेः—आसीत्, आसीः। सिजन्तात्—अकार्षीत्, अहार्षीत्। अपावीत्, अलावीत् ॥

भाषार्थः—[*अस्तिसिचः*] अस धातु से उत्तर तथा सिच् से उत्तर [*अपृक्ते*] अपृक्त हलादि सार्वधातुक को ईट् आगम होता है ॥ अकार्षीत आदि की सिद्धि परि० १।१।१ में देखें। लङ् लकार में आसीत् की सिद्धि में आट् का आगम (६।४।७२) *आटश्च* (६।१।८७) से वृद्धि एकादेश तथा *अदिप्रभृतिभ्यः०* (२।४।७२) से शप् का लुक् हुआ है। आ अस् ई त्=आसीत् ॥

यहाँ से '*अस्तिसिचः*' की अनुवृत्ति ७।३।९७ तक तथा '*अपृक्ते*' की ७।३।१०० तक जायेगी ॥

बहुलं छन्दसि ॥७।३।९७॥

बहुलम् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—अस्तिसिचोऽपृक्ते, ईट्, हलि, सार्वधातुके, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अस्तिसिचोऽपृक्तस्य हलादेः सार्वधातुकस्य ईडागमो भवति बहुलं छन्दसि विषये ॥ उदा०—आप एवे सलिलं सर्वमाः। बहुलग्रहणात् भवति च—अहरेवासीन्न रात्रिः सिचः—गोभिरक्षाः (ऋ० ६।१०७।९) प्रत्यञ्चमत्साः (ऋ० १०।२८।४ भवति च—अभैषीर्मा पुत्रक ॥

भाषार्थः—अस् तथा सिच् से उत्तर हलादि अपृक्त सार्वधातुक को [*ब*... *लम्*] बहुल करके [*छन्दसि*] वेद विषय में ईट् आगम होता है ॥ सर्व 'आः' यहाँ अस् धातु से पूर्ववत् लङ् लकार में आट् आगमादि होकर ति का हल्ङ्यादि लोप करके आस् = 'आः' बन गया। इसी प्रकार क्षर

छान्दस प्रयोग मानकर शप् लुक् करना चाहिए। उभयथा ईट् के अभाव का भी विकरण लुक् पक्ष में ही दिखाना चाहिए। विकरण रहने पर तो स्वतः ही प्राप्त नहीं होता, अतः ईडभाव पक्ष में सविकरणरूप दिखाना अशुद्ध

अक्षाः एवं त्सर से अत्साः भी लुङ् लकार में बनेगा। *अतो ल्रान्तस्य* (७।२।२) से वृद्धि होकर अट् क्षार् स् त् रहा। प्रकृत सूत्र से ईट् आगम का अभाव तथा हल्ङ्यादि लोप होकर 'अक्षार् स्' रहा। *रात्सस्य* (८।२।२४) से रेफ से उत्तर स् का लोप तथा र् को विसर्जनीय होकर अक्षाः, अत्साः बन गया॥ ञिभी धातु से अभैषीः में बहुल कहने से ईट् आगम हुआ है। *सिचि वृद्धिः०* (७।२।१) से वृद्धि होकर अभैस् ईस् = अभैषीः परि० १।१।१ के अचैषीत् के समान बन गया। छान्दस प्रयोग होने से माङ् का योग होने पर भी यहाँ अट् आगम हुआ है॥

रुदश्च पञ्चभ्यः ॥७।३।९८॥

रुदः ५।१॥ व्यत्ययेन बहुवचनस्यैकत्वम्॥ च अ०॥ पञ्चभ्यः ५।३॥ *अनु०*—अपृक्ते, हलि, सार्वधातुके, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—रुदादिभ्यः पञ्चभ्योऽङ्गेभ्य उत्तरस्य हलादेरपृक्तस्य सार्वधातुकस्य ईडागमो भवति॥ *उदा०*—रुदिर्—अरोदीत्, अरोदीः। स्वप—अस्वपीत्, अस्वपीः। श्वस—अश्वसीत्, अश्वसीः। अन—प्राणीत्, प्राणीः। जक्ष—अजक्षीत्, अजक्षीः॥

भाषार्थः—[*रुदः*] रुदिर् इत्यादि [*पञ्चभ्यः*] पाँच धातुओं से उत्तर [*च*] भी हलादि अपृक्त सार्वधातुक को ईट् आगम होता है॥ लङ् लकार में अट् रुद् ईट् त् = अरोदीत् बन गया। सर्वत्र *अदिप्रभृतिभ्यः०* (२।४।७२) से शप् का लुक् तथा प्राणीत्, प्राणीः में *अनितेरन्तः* (८।४।१९) से णत्व हुआ है॥

यहाँ से 'रुदः *पञ्चभ्यः*' की अनुवृत्ति ७।३।९९ तक जायेगी॥

अड् गार्ग्यगालवयोः ॥७।३।९९॥

अट् १।१॥ गार्ग्यगालवयोः ६।२॥ *स०*—गार्ग्य० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—रुदः पञ्चभ्यः, अपृक्ते, हलि, सार्वधातुके, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—रुदादिभ्यः पञ्चभ्य उत्तरस्य हलादेरपृक्तस्य सार्वधातुकस्य 'अट्' आगमो भवति गार्ग्यस्य गालवस्य च मतेन॥ *उदा०*—अरोदत्, अरोदः। अस्वपत्, अस्वपः। अश्वसत्, अश्वसः। प्राणत्, प्राणः। अजक्षत्, अजक्षः॥

भाषार्थः—रुदादि पाँच धातुओं से उत्तर हलादि अपृक्त सार्वधातुक

को [*अट्*] अट् आगम [*गार्ग्यगालवयोः*] गार्ग्य तथा गालव आचार्यों के मत में होता है ॥ अट् रोद् अट् त् = अरोदत् ॥

यहाँ से '*अट्*' की अनुवृत्ति ७।३।१०० तक जायेगी ॥

अदः सर्वेषाम् ॥७।३।१००॥

अदः ५।१॥ सर्वेषाम् ६।३॥ *अनु०*—अट्, अपृक्ते, हलि, सार्वधातुके, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अद भक्षणे अस्मादुत्तरस्य हलादेरपृक्तस्य सार्वधातुकस्याडागमो भवति सर्वेषामाचार्याणां मतेन ॥ *उदा०*—आदत्, आदः ॥

भाषार्थः—[*अदः*] अद् अङ्ग से उत्तर हलादि अपृक्त सार्वधातुक को [*सर्वेषाम्*] सभी आचार्यों के मत में अट् आगम होता है ॥ आट् अद् अट् त् = आदत्, शप् का लुक् (२।४।७२) एवं आट् को वृद्धि एकादेश होकर बन गया ॥ सर्वत्र अडादि आगम *आद्यन्तौ०* (१।१।४५) से तिप् के आदि में बैठेंगे ॥

अतो दीर्घो यञि ॥७।३।१०१॥

अतः ६।१॥ दीर्घः १।१॥ यञि ७।१॥ *अनु०*—सार्वधातुके, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अकारान्तस्याङ्गस्य दीर्घो भवति, यञादौ सार्वधातुके परतः ॥ *उदा०*—पचामि, पचावः, पचामः । पक्ष्यामि, पक्ष्यावः, पक्ष्यामः ॥

भाषार्थः—[*अतः*] अकारान्त अङ्ग को [*दीर्घः*] दीर्घ होता है, [*यञि*] यञ् प्रत्याहार आदि वाले सार्वधातुक प्रत्यय के परे रहते ॥ पक्ष्यामि में *चोः कुः* (८।२।३०) से च् को क् हुआ है । पक् ष्य मि = पक्ष्यामि । *एकाच उपदेशे०* (७।२।१०) से इट् निषेध यहाँ होता है ॥

यहाँ से '*अतः*' की अनुवृत्ति ७।३।१०४ तक तथा '*दीर्घो यञि*' की ७।३।१०२ तक जायेगी ॥

सुपि च ॥७।३।१०२॥

सुपि ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—अतो दीर्घो यञि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अकारान्तस्याङ्गस्य दीर्घो भवति यञादौ सुपि च परतः ॥ *उदा०*—वृक्षाय, प्लक्षाय । वृक्षाभ्याम् प्लक्षाभ्याम् ॥

भाषार्थः—अकारान्त अङ्ग को यञादि [*सुपि*] सुप् परे रहते [*च*] भी दीर्घ होता है ॥ वृक्षाय की सिद्धि परि० १।१।५५ में देखें। वृक्ष-भ्याम् = वृक्षाभ्याम् ॥

यहाँ से '*सुपि*' की अनुवृत्ति ७।३।११९ तक जायेगी ॥

बहुवचने झल्येत् ॥७।३।१०३॥

बहुवचने ७।१॥ झलि ७।१॥ एत् १।१॥ *अनु०*—सुपि, अतः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अकारान्तस्याङ्गस्य एकारादेशो भवति, बहुवचने झलादौ सुपि परतः ॥ *उदा०*—वृक्षेभ्यः, प्लक्षेभ्यः, वृक्षेषु, प्लक्षेषु ॥

भाषार्थः—अकारान्त अङ्ग को [*बहुवचने*] बहुवचन [*झलि*] झलादि सुप् परे रहते [*एत्*] एकारादेश होता है ॥ सिद्धि सूत्र १।४।२ में देखें ॥

यहाँ से '*एत्*' की अनुवृत्ति ७।३।१०६ तक जायेगी ॥

ओसि च ॥७।३।१०४॥

ओसि ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—एत्, अतः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—ओसि च परतोऽकारान्तस्याङ्गस्य एकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—वृक्षयोः स्वम्, प्लक्षयोः स्वम्। वृक्षयोर्निधेहि, प्लक्षयोर्निधेहि ॥

भाषार्थः—[*ओसि*] ओस् परे रहते [*च*] भी अकारान्त अङ्ग को एकारादेश होता है ॥ वृक्ष ओस् = वृक्षे ओस् = वृक्षयोस् = वृक्षयोः ॥

यहाँ से '*ओसि*' की अनुवृत्ति ७।३।१०५ तक जायेगी ॥

आङि चापः ॥७।३।१०५॥

आङि ७।१॥ च अ० ॥ आपः ६।१॥ *अनु०*—ओसि, एत्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—आबन्तस्याङ्गस्य आङि परतश्चकारादोसि च परत एकारादेशो भवति ॥ आङ् इति पूर्वाचार्यनिर्देशेन तृतीयैकवचनं गृह्यते ॥ *उदा०*—खट्वया, मालया, खट्वयोः, मालयोः । बहुराजया, कारीषगन्ध्यया, बहु-राजयोः, कारीषगन्ध्ययोः ॥

भाषार्थः—[*आपः*] आबन्त अङ्ग को [*आङि*] आङ् = टा परे रहते

[च] तथा ओस् परे रहते एकारादेश होता है ॥ तृतीया एकवचन 'टा' को पूर्वाचार्य आङ् पढ़ते थे, सो वही सूत्र में निर्देश किया है ॥ पूर्ववत् अन्त्य अल् 'आ' को ही एत्व होगा । खट्वा टा = खट्वे आ = खट्वय् आ = खट्वया । खट्वे ओस् = खट्वयोः ॥

यहाँ से '*आपः* की अनुवृत्ति ७।३।१०६ तक जायेगी ॥

सम्बुद्धौ च ॥७।३।१०६॥

सम्बुद्धौ ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—आपः, एत्, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—सम्बुद्धौ च परत आबन्तस्याङ्गस्य एकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—हे खट्वे, हे बहुराजे, हे कारीषगन्ध्ये ॥

भाषार्थः—[*सम्बुद्धौ*] सम्बुद्धि परे रहते [च] भी आबन्त अङ्ग को एकारादेश होता है ॥ हे खट्वे सु = हे खट्वे स्, यहाँ स् का *एङ्-ह्रस्वात्०* (६।१।६७) से लोप होकर हे खट्वे बन गया ॥ *एकवचनं०* (२।३।४९) से सम्बुद्धि संज्ञा होती है ॥

यहाँ से '*सम्बुद्धौ*' की अनुवृत्ति ७।३।१०८ तक जायेगी ॥

अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः ॥७।३।१०७॥

अम्बार्थनद्योः ६।२॥ ह्रस्वः १।१॥ *स०*—अम्बा अर्थो यस्य स अम्बार्थः, बहुव्रीहिः । अम्बार्थश्च नदी च अम्बार्थनद्यौ तयोः ''इतरेतर-द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सम्बुद्धौ, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अम्बार्थानां नद्यन्तानां चाङ्गानां ह्रस्वो भवति, सम्बुद्धौ परतः ॥ *उदा०*—हे अम्ब, हे अक्क, हे अल्ल । नद्याः—हे कुमारि, हे शार्ङ्गरवि, हे ब्रह्मबन्धु, हे वीरबन्धु ॥

भाषार्थः—[*अम्बार्थनद्योः*] अम्बा (माँ) के अर्थ वाले अङ्गों को तथा नदी संज्ञक अङ्गो को सम्बुद्धि परे रहते [*ह्रस्वः*] ह्रस्व हो जाता है ॥ अक्का आदि अम्बार्थक शब्द हैं, तथा कुमारी आदि की *यू स्त्र्याख्यौ०* (१।४।३) से नदी संज्ञा है, अतः सम्बुद्धि का सु परे रहते ह्रस्व हो गया, पश्चात् 'स्' का *एङ्ह्रस्वात्०* (६।१।६७) से लोप हो गया ॥

ह्रस्वस्य गुणः ॥७।३।१०८॥

ह्रस्वस्य ६।१॥ गुणः १।१॥ *अनु०*—सम्बुद्धौ, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—

ह्रस्वान्तस्याङ्गस्य गुणो भवति सम्बुद्धौ परतः ॥ उदा०—हे अग्ने, हे वायो, हे पटो ॥

भाषार्थः—[*ह्रस्वस्य*] ह्रस्वान्त अङ्ग को सम्बुद्धि परे रहते [*गुणः*] गुण होता है ॥ गुण कर लेने पर सु के स् का *एङ्ह्रस्वात्०* (६।१।६७) से लोप हो जायेगा ॥

यहाँ से '*ह्रस्वस्य*' की अनुवृत्ति ७।३।१०९ तक तथा '*गुणः*' की ७।३।१११ तक जायेगी ॥

जसि च ॥७।३।१०९॥

जसि ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—ह्रस्वस्य गुणः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—जसि च परतो ह्रस्वान्तस्याङ्गस्य गुणो भवति ॥ *उदा०*—अग्नयः, वायवः, पटवः, धेनवः, बुद्धयः ॥

भाषार्थः—[*जसि*] जस् परे रहते [*च*] भी ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण होता है ॥ अग्नि जस्=अग्ने अस्=अग्नयस्=अग्नयः । वायो अस्=वायवः ॥

ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः ॥७।३।११०॥

ऋतः ६।१॥ ङिसर्वनामस्थानयोः ७।२॥ *स०*—ङिश्च सर्वनामस्थानञ्च ङिसर्वनामस्थाने तयोः...इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—गुणः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—ऋकारान्तस्याङ्गस्य ङौ सर्वनामस्थाने च परतो गुणो भवति ॥ *उदा०*—ङौ—मातरि, पितरि, भ्रातरि, कर्त्तरि । सर्वनामस्थाने—कर्त्तारौ, कर्त्तारः, कर्त्तारम्, कर्त्तारौ । पितरौ, भ्रातरौ ॥

भाषार्थः—[*ऋतः*] ऋकारान्त अङ्ग को [*ङिसर्वनामस्थानयोः*] ङि तथा सर्वनामस्थान विभक्ति परे रहने गुण होता है ॥ गुण करने में *उरण्रपरः* (१।१।५०) से सर्वत्र रपरत्व होगा । कर्त्तारौ, कर्त्तारः आदि में गुण करके *अप्तृन्तृच्स्वसृ०* (६।४।११) से दीर्घ हो जाता है । कर्त्तर् औ = कर्त्तारौ ॥

घेर्ङिति ॥७।३।१११॥

घेः ६।१॥ ङिति ७।१॥ *स०*—ङकार इत् यस्य स ङित् तस्मिन्... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—गुणः, अङ्गस्य, सुपि ॥ *अर्थः*—घ्यन्तस्याङ्गस्य गुणो

भवति ङिति सुपि प्रत्यये परतः ॥ उदा०—अग्नये, वायवे । अग्नेः, वायोः । अग्नेः स्वम् , वायोः स्वम् ॥

भाषार्थः—[*घेः*] घिसंज्ञक अङ्ग को [*ङिति*] ङित् सुप् प्रत्यय परे रहते गुण होता है ॥ ङे, ङसि, ङस् तथा ङि ये ङित् प्रत्यय हैं ॥ अग्नेः, वायोः की सिद्धि सूत्र ६।१।१०६ में देखें । अग्ने ङे = अग्नय् ए = अग्नये ॥ *शेषो घ्यसखि* (१।४।७) से घि संज्ञा होती है ॥

यहाँ से '*ङिति*' की अनुवृत्ति ७।३।११५ तक जायेगी ॥

आण् नद्याः ॥७।३।११२॥

आट् १।१॥ नद्याः ५।१॥ *अनु०*—ङिति, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—नद्यन्तादङ्गादुत्तरस्य ङितः प्रत्ययस्याडागमो भवति ॥ *उदा०*—कुमार्यै, ब्रह्मबन्ध्वै, कुमार्याः, ब्रह्मबन्ध्वाः ॥

भाषार्थः—[*नद्याः*] नदी संज्ञक अङ्ग से उत्तर ङित् प्रत्यय को [*आट्*] आट् आगम होता है ॥ *यू स्त्र्याख्यौ०* (१।४।३) से नदी संज्ञा होती है ॥ कुमार्यै आदि की सिद्धि भाग २ परिशिष्ट ४।१।२ में देखें ॥

याडापः ॥७।३।११३॥

याट् १।१॥ आपः ५।१॥ *अनु०*—ङिति, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—आबन्तादङ्गादुत्तरस्य ङितः प्रत्ययस्य याडागमो भवति ॥ *उदा०*—खट्वायै, बहुराजायै, कारीषगन्ध्यायै । खट्वायाः, बहुराजायाः, कारीषगन्ध्यायाः ॥

भाषार्थः—[*आपः*] आबन्त अङ्ग से उत्तर ङित् प्रत्यय को [*याट्*] याट् आगम होता है ॥ सिद्धियाँ भाग २ परि० ४।१।२ में देखें । खट्वा में टाप् , बहुराजा में डाप् (४।१।१३) तथा कारीषगन्ध्या शब्द में चाप् (४।१।७४) प्रत्यय हुआ है, इस प्रकार ये आबन्त हैं ॥

यहाँ से '*आपः*' की अनुवृत्ति ७।३।११४ तक जायेगी ॥

सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च ॥७।३।११४॥

सर्वनाम्नः ५।१॥ स्याट् १।१॥ ह्रस्वः १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—आपः, ङिति, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—सर्वनाम्न आबन्तादङ्गादुत्तरस्य ङितः प्रत्ययस्य स्याडागमः सर्वनाम्नो ह्रस्वश्च भवति ॥ *उदा०*—सर्वस्यै, विश्वस्यै, यस्यै,

तस्यै, कस्यै, अन्यस्यै, सर्वस्याः, विश्वस्याः, यस्याः, तस्याः, कस्याः, अन्यस्याः ॥

भाषार्थः—आबन्त [*सर्वनाम्नः*] सर्वनाम अङ्ग से उत्तर ङित् प्रत्यय को [*स्याट्*] स्याट् आगम होता है, [*च*] तथा उस आबन्त सर्वनाम को [*ह्रस्वः*] ह्रस्व भी हो जाता है ॥ *याडापः* का अपवाद यह सूत्र है ॥ 'सर्वा ङे' यहाँ सर्वनाम शब्द को ह्रस्वत्व तथा ङे को स्याट् आगम होकर सर्व स्याट् ए रहा । *वृद्धिरेचि* (६।१।८५) लगकर सर्वस्यै बन गया । इसी प्रकार सबमें जानें । सर्व स्याट् ङस् = सर्वस्या अस् = सवर्णदीर्घत्व होकर सर्वस्याः बन गया ॥

यहाँ से '*स्याड् ह्रस्वश्च*' की अनुवृत्ति ७।३।११५ तक जायेगी ॥

विभाषा द्वितीयातृतीयाभ्याम् ॥७।३।११५॥

विभाषा १।१॥ द्वितीयातृतीयाभ्याम् ५।२॥ *स०*—द्वितीया० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—स्याड् ह्रस्वश्च, ङिति, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—द्वितीया तृतीया इत्येताभ्यामुत्तरस्य ङितः प्रत्ययस्य विभाषा स्याडागमो भवति, द्वितीयातृतीययोः ह्रस्वश्च भवति ॥ *उदा०*—द्वितीयस्यै, द्वितीयायै । तृतीयस्यै, तृतीयायै ॥

भाषार्थः—[*द्वितीयातृतीयाभ्याम्*] द्वितीया तथा तृतीया शब्द से उत्तर ङित् प्रत्यय को [*विभाषा*] विकल्प से स्याट् आगम होता है, तथा द्वितीया, तृतीया शब्द को स्याट् के योग में ह्रस्व भी हो जाता है ॥ द्वितीया, तृतीया के सर्वनामसंज्ञक न होने से पूर्व सूत्र से प्राप्ति नहीं थी, अप्राप्त विधान है ॥ सिद्धियाँ परि० १।१।२७ में प्रदर्शित उत्तरपूर्वस्यै उत्तरपूर्वायै आदि के समान ही हैं ॥

ङेराम्नद्याम्नीभ्यः ॥७।३।११६॥

ङेः ६।१॥ आम् १।१॥ नद्याम्नीभ्यः ५।३॥ *स०*—नदी च आप् च नीश्च नद्याम्न्यस्तेभ्यः''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—नद्यन्तादाबन्तात् नी इत्येतस्माच्चोत्तरस्य ङेः 'आम्' इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—नद्यन्तात्—कुमार्याम्, गौर्याम्, ब्रह्मबन्ध्वाम्, वीरबन्ध्वाम् । आबन्तात्—खट्वायाम्, बहुराजायाम्, कारीषगन्ध्यायाम् । नी—राजन्याम्, सेनान्याम् ॥

भाषार्थः—[*नद्याम्नीभ्यः*] नदीसंज्ञक, आबन्त तथा नी से उत्तर [*ङेः*] ङि विभक्ति के स्थान में [*आम्*] आम् आदेश होता है ॥ *अनेकाल्*० (१।१।५४) से सम्पूर्ण ङि के स्थान में आम् आदेश होगा ॥ सभी सिद्धियाँ भाग २ परि० ४।१।२ में देखें ॥

यहाँ से '*ङेः*' की अनुवृत्ति ७।३।११८ तक तथा '*आम् नद्याः*' की ७।३।११७ तक जायेगी ॥

इदुद्भ्याम् ॥७।३।११७॥

इदुद्भ्याम् ५।२॥ *स०*—इत् च उत् च इदुतौ ताभ्यां ''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—नद्याः, ङेराम् ॥ *अर्थः*—इकारोकाराभ्यां नदीसंज्ञकाभ्यामुत्तरस्य ङेराम् आदेशो भवति ॥ *उदा०*—कृत्याम्, धेन्वाम् ॥

भाषार्थः—[*इदुद्भ्याम्*] इकारान्त उकारान्त नदी संज्ञक से उत्तर ङि के स्थान में 'आम्' आदेश होता है ॥ पूर्व सूत्र से ही सिद्ध था, पुनर्विधान उत्तर सूत्र से औकारादेश परत्व मानकर न हो जाये इसलिये है ॥

यहाँ से '*इदुद्भ्याम्*' की अनुवृत्ति ७।३।११८ तक जायेगी ॥

औदच्च घेः ॥७।३।११८॥

औत् १।१॥ अत् १।१॥ च अ० ॥ घेः ६।१॥ *अनु०*—इदुद्भ्याम्, ङेः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—[1]इदुद्भ्यामुत्तरस्य ङेरौकारादेशो भवति घिसंज्ञकस्य अकारादेशश्च भवति ॥ *उदा०*—सख्यौ, पत्यौ । अग्नौ, वायौ, कृतौ, धेनौ, पटौ ॥

---

१. महाभाष्य में इस सूत्र में 'औत्', 'अच्च घेः' ऐसा योगविभाग करके दो सूत्र बनाये हैं। पहले सूत्र का अर्थ 'इदुद्भ्याम्' की अनुवृत्ति आकर हुआ "इकारान्त उकारान्त से उत्तर ङि को औत्=औकारादेश होता है"। यही अभिप्राय उपरिलिखित अर्थ में एक सूत्र मानकर भी प्रकट किया है तदनुसार इकारान्त उकारान्त से औकारादेश का विधान प्रधान है और घि संज्ञक को अकारादेश का विधान अन्वाचयरूप है। अतः जहाँ घि संज्ञा नहीं होती वहाँ सख्यौ पत्यौ में औत्व केवल तथा घि संज्ञक अग्नौ आदि में औत्व और अत्व दोनों कार्य हो जाते हैं।

भाषार्थः—इकारान्त उकारान्त अङ्ग से उत्तर ङि को [*औत्*] औकारादेश होता है, [च] तथा [*घेः*] घिसंज्ञक को [*अत्*] अकारादेश (अन्त्य अल् को) भी होता है ।। सख्यौ पत्यौ औकारादेश होने पर यणादेश करके (घिसंज्ञा न होने से) बने । अग्नि ङि = अग्न् अ औ = *वृद्धिरेचि* लगकर अग्नौ बन गया ।।

यहाँ से '*घेः*' की अनुवृत्ति ७।३।११९ तक जायेगी ।।

आङो नाऽस्त्रियाम् ।।७।३।११९।।

आङः ६।१।। ना १।१।। अस्त्रियाम् ७।१।। *स०*—न स्त्री अस्त्री, स्याम् ''नञ्तत्पुरुषः ।। *अनु०*—घेः, अङ्गस्य ।। *अर्थः*—घेरुत्तरस्य आङो ना इत्ययमादेशो भवति, अस्त्रियाम् ।। *उदा०*—अग्निना, वायुना, द्रुना ।।

भाषार्थः—घिसंज्ञक अङ्ग से उत्तर [*आङः*] आङ् = तृतीया एकवचन 'टा' के स्थान में [*ना*] ना आदेश होता है, [*अस्त्रियाम्*] स्त्रीलिङ्ग वाले शब्द को छोड़कर ।। *शेषो घ्यसखि* (१।४।७) से घि संज्ञा हो ही जायेगी ।।

।। इति तृतीयः पादः ।।

—:०:—

चतुर्थः पादः

णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः ।।७।४।१।।

णौ ७।१।। चङि ७।१।। उपधायाः ६।१।। ह्रस्वः १।१।। *अनु०*—अङ्गस्य ।। *अर्थः*—चङ्परे णौ यदङ्गं तस्योपधायाः ह्रस्वो भवति ।। *उदा०*—अचीकरत्, अजीहरत्, अलीलवत्, अपीपवत् ।।

भाषार्थः—[*चङि*] चङ् परे है जिसके ऐसे [*णौ*] णिच् के परे होने अङ्ग की [*उपधायाः*] उपधा को [*ह्रस्वः*] ह्रस्व होता है ।। 'चङि' तथा 'णौ' दोनों पदों में सप्तमी होने से "चङ्परक जो णि उसके परे

रहते" ऐसा अर्थ हुआ है ॥ अचीकरत् अजीहरत् की सिद्धि परि० १।४।१० में देखें। लूञ् से लावि धातु बनाकर ह्रस्वत्व, ओः पुय० (७।४।८०) से इत्व करके अलीलवत् की सिद्धि अपीपठत् के समान परि० ६।१।११ में देखें॥

यहाँ से 'णौ चङ्युपधायाः' की अनुवृत्ति ७।४।८ तक तथा 'ह्रस्वः' की ७।४।२ तक जायेगी ॥

नाग्लोपिशास्वृदिताम् ॥७।४।२॥

न अ० ॥ अग्लोपिशास्वृदिताम् ६।३॥ स०—अको लोपः अग्लोपः, षष्ठीतत्पुरुषः । सोऽस्यास्तीति अग्लोपी, मतुबर्थे इनिप्रत्ययः । ऋत् इत् यस्य स = ऋदित्, बहुव्रीहिः । अग्लोपी च शासुश्च ऋदित् च अग्लोपिशास्वृदितस्तेषां इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अग्लोपिनामङ्गानां शासेर्ऋदितां चाङ्गानां णौ चङ्युपधाया ह्रस्वो न भवति ॥ उदा०—अग्लोपिनाम्—मालामाख्यत् = अममालत् । मातरमाख्यत् = अममातत् । राजानमतिक्रान्तवान् = अत्यरराजत् । लोमान्यनुमृष्टवान् = अन्वलुलोमत् । शासेः—अशशासत् । ऋदिताम्—बाधृ—अबबाधत् । याचृ—अययाचत् । ढौकृ—अडुढौकत् ॥

भाषार्थः—[अग्लोपिशास्वृदिताम्] अक् प्रत्याहार के किसी अक्षर का लोप हुआ है जिस अङ्ग में उसके तथा शासु अनुशिष्टौ एवं ऋदित् धातुओं के उपधा को चङ्परक णि परे रहते ह्रस्व [न] नहीं होता है ॥ पूर्व सूत्र से प्राप्ति थी, निषेध कर दिया ॥ परि० १।१।५६ में प्रदर्शित पटयति के समान माला शब्द से णिच् आकर एवं टि भाग का लोप होकर 'माल् इ' धातु बनी । टि भाग 'आ' का लोप होने से यह अग्लोपी अङ्ग है, अतः आगे 'अचीकरत्' (परि० १।४।१०) के समान चङ् इत्यादि आकर पूर्व सूत्र से उपधा ह्रस्वत्व प्राप्त था, निषेध हो गया । इसी प्रकार मातृ शब्द से अममातत् में 'ऋ' (टिभाग) अक् का तथा राजन् से अत्यरराजत्, लोमन् से अन्वलुलोमत् में 'अन्' का लोप होने से अग्लोपी अङ्ग हैं । अन्वलुलोमत् में सत्यापपाश० (३।१।२५) से णिच् तथा अत्यरराजत् में प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च (धातु पाठ चुणादि गण) से णिच् हुआ है । अनुबन्धों के अनवयव होने से शासु तथा ऋदित् धातु अग्लोपी नहीं हैं, अतः अलग से कह दिया है ॥

भ्राजभासभाषदीपजीवमीलपीडामन्यतरस्याम् ॥७।४।३॥

भ्राज...पीडाम् ६।३॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *स०*—भ्राज० इत्यत्रेतरेतर-द्वन्द्वः ॥ *अनु०*–णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*–भ्राज, भास, भाष, दीप, जीव, मील, पीड इत्येतेषामङ्गानां णौ चङ्युपधाया ह्रस्वो विकल्पेन भवति ॥ *उदा०*—भ्राज - अबिभ्रजत्, अबभ्राजत्। भास—अबीभसत्, अबभासत्। भाष—अबीभषत्, अबभाषत्। दीपी—अदीदिपत्, अदिदीपत्। जीव—अजीजिवत्, अजिजीवत्। मील—अमीमिलत्, अमिमीलत्। पीड—अपीपिडत्, अपिपीडत् ॥

भाषार्थः—[*भ्राज...पीडाम्*] भ्राज, भास, भाष, दीपी, जीव, मील, पीड इन धातुओं की उपधा को चङ्परक णि परे रहते [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से ह्रस्व होता है ॥ जब पक्ष में ह्रस्वत्व हो गया तो पूर्ववत् अचीकरत् के समान सिद्धि जानें। इस पक्ष में अबिभ्रजत् में लघु अभ्यास न होने से *दीर्घो लघोः* (७।४।९४) से अभ्यास को दीर्घ नहीं होता ॥ पक्ष में जब उपधा ह्रस्वत्व नहीं हुआ तो लघु धात्वक्षर परे न होने से *सन्वल्लघुनि०* (७।४।९३) से सन्वद्भाव न होने से *सन्यतः* (७।४।७९) से इत्व नहीं होगा, केवल अभ्यास को *ह्रस्वः* (७।४।५९) से ह्रस्व हो जायेगा ॥

लोपः पिबतेरीच्चाभ्यासस्य ॥७।४।४॥

लोपः १।१॥ पिबतेः ६।१॥ ईत् १।१॥ च अ० ॥ अभ्यासस्य ६।१॥ *अनु०*—णौ चङ्युपधायाः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—पिबतेरङ्गस्य णौ चङ्युपधाया लोपो भवति, अभ्यासस्य च ईकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—अपीप्यत्, अपीप्यताम्, अपीप्यन् ॥

भाषार्थः—[*पिबतेः*] पा पाने धातु की उपधा का चङ्परक णि परे रहते [*लोपः*] लोप होता है [*च*] तथा [*अभ्यासस्य*] अभ्यास को [*ईत्*] ईकारादेश होता है ॥ उपधा ह्रस्वत्व (७।४।१) प्राप्त था, लोप विधान कर दिया ॥ पा णिच् = *शाच्छासाह्वा०* (७।३।३७) से युक् आगम होकर पा युक् णिच् = पा य् इ लुङ् = पाय् इ चङ् तिप् रहा। पश्चात् णि लोप हुआ। यहाँ पाय् की उपधा 'आ' का लोप प्रकृत सूत्र से होकर *द्विर्वचनेऽचि* (१।१।५८) से रूपातिदेश होकर 'पाय् प्य्' द्वित्व हुआ। अभ्यास के अन्त्य अल् आ को ईत्व होकर पीप्य् अ त् = अट् पीप्यत् = अपीप्यत् बन गया ॥

तिष्ठतेरित् ॥७।४।५॥

तिष्ठतेः ६।१॥ इत् १।१॥ अनु०—णौ चङ्युपधायाः, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—तिष्ठतेरङ्गस्य णौ चङ्युपधाया इकारादेशो भवति॥ *उदा०*—अतिष्ठिपत्, अतिष्ठिपताम्, अतिष्ठिपन्॥

भाषार्थः—[*तिष्ठतेः*] ष्ठा धातु की उपधा को चङ्परक णि परे रहते [*इत्*] इकारादेश होता है॥ यह सूत्र भी उपधा ह्रस्वत्व (७।४।१) का अपवाद है॥ *अर्तिह्री्व्ली०* (७।३।३६) से पुक् आगम होकर स्थाप् इ चङ् त् रहा। णि लोप एवं स्थाप् की उपधा को इत्व होकर स्थिप् अ त् रहा। पूर्ववत् द्वित्व तथा *शर्पूर्वाः खयः* (७।४।६१) *अभ्यासे चर्च* (८।४।५३) लग कर 'अ ति स्थि प् अ त्' रहा। षत्व तथा ष्टुत्व थ् को ठ् होकर अतिष्ठिपत् बन गया॥

यहाँ से '*इत्*' की अनुवृत्ति ७।४।६ तक जायेगी॥

जिघ्रतेर्वा ॥७।४।६॥

जिघ्रतेः ६।१॥ वा अ०॥ *अनु०*—इत्, णौ चङ्युपधायाः, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—जिघ्रतेरङ्गस्य णौ चङ्युपधायाः विकल्पेन इकारादेशो भवति॥ *उदा०*—अजिघ्रिपत्, अजिघ्रिपताम्, अजिघ्रिपन्। पक्षे—अजिघ्रपत्, अजिघ्रपताम्, अजिघ्रपन्॥

भाषार्थः—[*जिघ्रतेः*] घ्रा गन्धोपादाने अङ्ग की उपधा को चङ्परक णि परे रहते [*वा*] विकल्प से इकारादेश होता है॥ इकारादेश पक्ष में अजिघ्रिपत् की सिद्धि पूर्व सूत्र में प्रदर्शित अतिष्ठिपत् के समान जानें। जब पक्ष में इकारादेश नहीं हुआ तो ७।४।१ से उपधा ह्रस्वत्व एवं सन्वद्भाव तथा अभ्यास को इत्व (७।४।७९) होकर अजिघ्रपत् बन गया॥

यहाँ से '*वा*' की अनुवृत्ति ७।४।७ तक जायेगी॥

उर्ऋत् ॥७।४।७॥

उः ६।१॥ ऋत् १।१॥ *अनु०*—वा, णौ चङ्युपधायाः, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—णौ चङ्युपधाया ऋवर्णस्य स्थाने वा ऋकारादेशो भवति॥ इररारामपवादः॥ *उदा०*—इर्—अचीकृतत्, अचिकीर्त्तत्। अर्—अवीवृतत्, अववर्त्तत्। आर्—अमीमृजत्, अममार्जत्॥

भाषार्थः—चङ्परक णि परे रहते उपधा [उः] ऋवर्ण के स्थान में विकल्प से [ऋत्] ऋकारादेश होता है ॥ यह सूत्र इर् , अर् , आर् जो गुण वृद्धि को *उरण्रपरः* (१।१।५०) लग कर प्राप्त थे उनका अपवाद है। पक्ष में वे भी होते हैं ॥ कॄत धातु से अचीकृतत् यहाँ उपधा ॠ को *उपधायाश्च* (७।१।१०१) *उरण्रपरः* (१।१।५०) से इर् प्राप्त था, ऋवर्ण को ऋकार ही विधान कर देने से नहीं हुआ, सो णौ *चङ्युप०* (७।४।१) से ह्रस्व होकर कृत् कृत् द्वित्व तथा अभ्यास को उरत् (७।४।६६) आदि लगकर अचीकृतत् पूर्ववत् बन जायेगा। पक्ष में जब इर् हो गया तो किर् त् चङ् त् = होकर तथा द्वित्व करने के पश्चात् *हलि च* (८।२।७७) से दीर्घ करके अचिकीर्त्तत् बन गया। वृतु से अवीवृतत् यहाँ *पुगन्तलघूपधस्य च* (७।३।८६) से गुण होकर अर् प्राप्त था ऋकार विधान कर दिया। पक्ष में अर् भी हो जाता है। मृजूष् धातु को *मृजेर्वृद्धिः* (७।२।११४) से वृद्धि होकर 'आर्' प्राप्त था, पक्ष में वह भी होता है। आर् पक्ष में लघु धात्वक्षर परे न होने से सन्वद्भाव नहीं होता ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।४।८ तक जायेगी ॥

नित्यं छन्दसि ॥७।४।८॥

नित्यम् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ *अनु०*—उऋत् , णौ चङ्युपधायाः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये णौ चङ्युपधाया ऋवर्णस्य स्थाने नित्यम् ऋकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—अवीवृधत् पुरोडाशेन। अवीवृधताम् , अवीवृधन् ॥

भाषार्थः—[*छन्दसि*] वेद विषय में चङ्परक णि परे रहते उपधा ऋवर्ण के स्थान में [*नित्यम्*] नित्य ही ऋकारादेश होता है ॥ पूर्ववत् ऋकारादेश करके अचीकृतत् के समान ही वृध् वृध् द्वित्व होकर अभ्यास को उरत् (७।४।६६) लगकर अवीवृधत् बन गया ॥ सिद्धियों की प्रक्रिया सर्वत्र १।४।१० में प्रदर्शित अचीकरत् के समान ही समझते जायें ॥

दयतेर्दिगि लिटि ॥७।४।९॥

दयतेः ६।१॥ दिगि लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ लिटि ७।१॥ *अनु०*—अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—दयतेरङ्गस्य लिटि परतो दिगि इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—अवदिग्ये, अवदिग्याते, अवदिग्यिरे ॥

भाषार्थः—[*दयतेः*] देङ् रक्षणे धातु को [*लिटि*] लिट् लकार परे रहते [*दिगि*] दिगि आदेश होता है ॥ *लिटस्तझ०* (३।४।८१) से त को एश् होकर दे एश् = दिगि एश् रहा। अब यहाँ दिगि आदेश द्विर्वचन (६।१।८) का बाधक = अपवाद है, अतः द्विर्वचन नहीं होता, सो *एरने-काचो०* (६।४।८२) से यणादेश होकर दिग्ये दिग्याते बन गया ॥ यहाँ 'दयतेः' निर्देश से दय धातु का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि उससे आम् प्रत्यय (३।१।३७) कह चुके हैं ॥

यहाँ से '*लिटि*' की अनुवृत्ति ७।४।१२ तक जायेगी ॥

ऋतश्च संयोगादेर्गुणः ॥७।४।१०॥

ऋतः ६।१॥ च अ० ॥ संयोगादेः ६।१॥ गुणः १।१॥ *स०*—संयोग आदिर्यस्य स संयोगादिस्तस्य''बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—लिटि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—संयोगादेर्ऋकारान्तस्याङ्गस्य गुणो भवति लिटि परतः ॥ *उदा०*—स्वृ—सस्वरतुः, सस्वरुः। ध्वृ—दध्वरतुः, दध्वरुः। स्मृ—सस्मरतुः, सस्मरुः ॥

भाषार्थः—[*संयोगादेः*] संयोग आदि में है जिसके ऐसे [*ऋतः*] ऋकारान्त अङ्ग को [*च*] भी [*गुणः*] गुण होता है ॥ स्मृ लिट् यहाँ प्रकृत सूत्र से गुण होकर स्मर् अतुस् रहा। द्वित्व होकर स्मर् स्मर् अतुस् = अभ्यास कार्य होकर स स्मर् अतुस् = सस्मरतुः बन गया। इसी प्रकार अन्यों में जानें ॥

यहाँ से '*गुणः*' की अनुवृत्ति ७।४।११ तक जायेगी ॥

ऋच्छत्यॄताम् ॥७।४।११॥

ऋच्छत्यॄताम् ६।३॥ *स०*—ऋच्छतिश्च ऋ च ॠत् च ऋच्छत्यॄतस्तेषां''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—गुणः, लिटि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—ऋच्छतेरङ्गस्य ऋ इत्येतस्य ॠकारान्तानां च लिटि परतो गुणो भवति ॥ *उदा०*—ऋच्छ—आनर्च्छ, आनर्च्छतुः, आनर्च्छुः। ऋ—आरतुः, आरुः। ॠकारान्तानाम्—निचकरतुः, निचकरुः ॥

भाषार्थः—[*ऋच्छत्यॄताम्*] ऋच्छ, ऋ (धातु) तथा ॠकारान्त अङ्गों को लिट् परे रहते गुण होता है ॥ ऋच्छ धातु का ऋ लघु उपधा वाला नहीं है, अतः गुण की प्राप्ति ही नहीं थी विधान कर दिया, तथा

ृ एवं ॠकारान्त धातु को कित् लिट् (अर्थात् णल्, थल्, णल् पित्-
ानी को छोड़कर) परे रहते गुण अप्राप्त था (१।१।५) विधान कर
ाया ॥ प्रकृत सूत्र से गुण तथा द्वित्व होकर अर् च्छ् अर् च्छ् णल् = अ
र् च्छ् अ रहा । अब यहाँ *अतो गुणे* (६।१।९४) का बाधक सूत्र *अत
ादेः* (७।४।७०) से अभ्यास को दीर्घ एवं *तस्मान्नुड् द्विहलः* (७।४।७१)
' द्विहल् अङ्ग को नुट् आगम होकर आ नुट् अच्छ् अ = आनर्च्छ बन
या । इसी प्रकार अन्यत्र जानें । आरतुः में भी प्रकृत सूत्र से गुण
ृत्व, पूर्ववत् अभ्यास दीर्घत्व होकर आ अर् अतुस् रहा । सवर्णदीर्घत्व
ाकर आरतुः बना । कॄ से निचकरतुः आदि प्रयोग बनेंगे ॥

शॄदॄप्रां ह्रस्वो वा ॥७।४।१२॥

शॄदॄप्राम् ६।३॥ ह्रस्वः १।१॥ वा अ० ॥ *स०*—शॄ च दॄ च पॄ च शॄदॄप्र-
ेषाम् ''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—लिटि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—शॄ हिंसायाम्,
विदारणे, पॄ पालनपूरणयोः इत्येतेषामङ्गानां लिटि परतो वा ह्रस्वो
वति ॥ *उदा०*—विशश्रतुः, विशश्रुः । पक्षे—विशशरतुः विशशरुः ।
ादद्रतुः, विदद्रुः । पक्षे—विददरतुः, विददरुः । निपप्रतुः, निपप्रुः ।
क्षे—निपपरतुः, निपपरुः ॥

भाषार्थः—[*शॄदॄप्राम्*] शॄ, दॄ, तथा पॄ अङ्ग को लिट् परे रहते [*वा*]
ाकल्प से [*ह्रस्वः*] ह्रस्व होता है ॥ जब पक्ष में ह्रस्वत्व नहीं होता तो
न धातुओं के ॠकारान्त होने से पूर्व सूत्र से गुण हो जाता है । इस
कार नित्य गुण की प्राप्ति में यहाँ विकल्प से ह्रस्वत्व विधान है ।
ाशश्रतुः आदि में ह्रस्व करके शृ शृ द्वित्व, उरदत्व एवं यणादेश
ा।१।७४) होता है ॥

यहाँ से 'ह्रस्वः' की अनुवृत्ति ७।४।१५ तक जायेगी ॥

केऽणः ॥७।४।१३॥

के ७।१॥ अणः ६।१॥ *अनु०*—ह्रस्वः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—के प्रत्यये
ृतोऽणो ह्रस्वो भवति ॥ *उदा०*—ज्ञका, कुमारिका, किशोरिका ॥

भाषार्थः—[*के*] क प्रत्यय के परे रहते [*अणः*] अण् (अ, इ, उ) को
ह्स्व होता है ॥ जानातीति ज्ञः यहाँ *इगुपधज्ञा०* (३।१।१३५) से क

प्रत्यय तथा तदन्त से टाप् होकर 'ज्ञा' बना। पश्चात् अल्पादि अर्थ में *प्रागिवात्कः* (५।३।७०) से क होकर ज्ञा क रहा। प्रकृत सूत्र से ज्ञा को ह्रस्वत्व तथा टाप् करके ज्ञका बन गया। इसी प्रकार कुमारी किशोरी से क प्रत्यय होकर ह्रस्वत्व जानें॥

यहाँ से '*अणः*' की अनुवृत्ति ७।४।१४ तक जायेगी।

न कपि ॥७।४।१४॥

न अ० ॥ कपि ७।१॥ *अनु०*—अणः, ह्रस्वः, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—कपि प्रत्यये परतोऽणो ह्रस्वो न भवति॥ *उदा०*—बहुकुमारीकः, बहुवधूकः, बहुलक्ष्मीकः॥

भाषार्थः—[*कपि*] कप् प्रत्यय परे रहते अण् को ह्रस्व [*न*] नहीं होता है॥ सिद्धि भाग २ सूत्र ५।४।१५३ में देखें। पूर्व सूत्र से ह्रस्वत्व प्राप्ति थी, निषेध हो गया॥

यहाँ से '*न कपि*' की अनुवृत्ति ७।४।१५ तक जायेगी॥

आपोऽन्यतरस्याम् ॥७।४।१५॥

आपः ६।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—न कपि, ह्रस्वः, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—आबन्तस्याङ्गस्य कपि परतो विकल्पेन ह्रस्वो न भवति॥ *उदा०*—बहुखटवकः, बहुखट्वाकः। बहुमालकः, बहुमालाकः॥

भाषार्थः—[*आपः*] आबन्त अङ्ग को [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से (पक्ष में) ह्रस्व नहीं होता होता, कप् प्रत्यय परे रहते॥ *शेषाद्विभाषा* (५।४।१५४) से यहाँ कप् होता है॥

ऋदृशोऽङि गुणः ॥७।४।१६॥

ऋदृशः ६।१॥ अङि ७।१॥ गुणः १।१॥ *स०*—ऋ च दृश् च ऋदृश् तस्मात्''समाहारो द्वन्द्वः॥ *अनु०*—अङ्गस्य॥ *अर्थः*—ऋवर्णान्तानामङ्गानां दृशेश्च अङि परतो गुणो भवति॥ *उदा०*—शकलाङ्गुष्ठकोऽकरत्। अहं तेभ्योऽकरं नमः। असरत्, आरत्, जरा। दृशेः—अदर्शत्, अदर्शताम् अदर्शन्॥

भाषार्थः—[*ऋदृशः*] ऋवर्णान्त तथा दृशिर् अङ्ग को [*अङि*] अङ् परे रहते [*गुणः*] गुण होता है॥ अङ् के ङित् होने से *क्ङिति च*

(१।१।५) से गुण का प्रतिषेध प्राप्त था, विधान कर दिया ॥ अकरत् में *कृमृदृरुहि०* (३।१।५९) से च्लि के स्थान में अङ् तथा असरत् आदि में *सर्त्तिशास्त्य०* (३।१।५६) से अङ् हुआ है। जरा में जृष् धातु से *षिद्भिदादि०* (३।३।१०४) से अङ् प्रत्यय एवं टाप् हुआ है। अदर्शत् में च्लि को अङ् *इरितो वा* (३।१।५७) से हुआ है। अदर्शत् की सिद्धि परि० ३।१।४७ में तथा असरत् आदि की परि० ३।१।५६ में देखें ॥

यहाँ से '*अङि*' की अनुवृत्ति ७।४।२० तक जायेगी ॥

अस्यतेस्थुक् ॥७।४।१७॥

अस्यतेः ६।१॥ थुक् १।१॥ *अनु०*—अङि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—असु क्षेपणे इत्यस्याङ्गस्य थुक् आगमो भवत्यङि परतः ॥ *उदा०*—आस्थत्, आस्थताम्, आस्थन् ॥

भाषार्थः—[*अस्यतेः*] असु क्षेपणे अङ्ग को अङ् परे रहते [*थुक्*] थुक् आगम होता है ॥ *अस्यतिवक्ति०* (३।१।५२) से आस्थत् में च्लि के स्थान में अङ् होता है ॥ आट् अस् थुक् अङ् त् = आस्थत् ॥

श्वयतेरः ॥७।४।१८॥

श्वयतेः ६।१॥ अः १।१॥ *अनु०*—अङि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—श्वयतेरङ्गस्याकारादेशो भवति, अङि परतः ॥ *उदा०*—अश्वत्, अश्वताम्, अश्वन् ॥

भाषार्थः—[*श्वयतेः*] टुओश्वि अङ्ग को अङ् परे रहते [*अः*] अकारादेश होता है ॥ सिद्धि भाग १ परि० ३।१।४९ में देखें ॥

पतः पुम् ॥७।४।१९॥

पतः ६।१॥ पुम् १।१॥ *अनु०*—अङि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—पत्लृ गतौ इत्येतस्याङ्गस्य पुम् आगमो भवत्यङि परतः ॥ *उदा०*—अपप्तत् अपप्तताम्, अपप्तन् ॥

भाषार्थः—[*पतः*] पत्लृ अङ्ग को अङ् परे रहते [*पुम्*] पुम् आगम होता है ॥ *पुषादिद्युता०* (३।१।५५) से यहाँ पत्लृ के लृदित् होने से च्लि को अङ् होता है। *मिदचोऽन्त्यात् परः* (१।१।४६) से अन्त्य

अच् से परे पुम् होकर अट् प पुम् त् अङ् त् = अ प प् त् अ त् = अपप्तत् बन गया ॥

वच उम् ॥७।४।२०॥

वचः ६।१॥ उम् १।१॥ *अनु०*—अङि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—वच इत्येतस्याङ्गस्याङि परत उम् आगमो भवति ॥ *उदा०*—अवोचत्, अवोचताम्, अवोचन् ॥

भाषार्थः—[*वचः*] वच परिभाषणे अङ्ग को अङ् परे रहते [*उम्*] उम् आगम होता है ॥ सिद्धियाँ परि० ३।१।५२ में देखें ॥

शीङः सार्वधातुके गुणः ॥७।४।२१॥

शीङः ६।१॥ सार्वधातुके ७।१॥ गुणः १।१॥ *अनु०*—अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—शीङोऽङ्गस्य सार्वधातुके परतो गुणो भवति ॥ *उदा०*—शेते, शयाते, शेरते ॥

भाषार्थः—[*शीङः*] शीङ् अङ्ग को [*सार्वधातुके*] सार्वधातुक परे रहते [*गुणः*] गुण होता है ॥ अपित् सार्वधातुक परे रहते जहाँ गुण नहीं (१।१।५) प्राप्त था वहाँ के लिये यह सूत्र है, पित् सार्वधातुक[1] परे तो *सार्वधातुका०* (७।३।८४) से हो ही जाता ॥ शेरते की सिद्धि सूत्र ७।१।६ में देखें ॥

यहाँ से '*शीङः*' की अनुवृत्ति ७।४।२२ तक जायेगी ॥

अयङ् यि क्ङिति ॥७।४।२२॥

अयङ् १।१॥ यि ७।१॥ क्ङिति ७।१॥ *स०*—कश्च ङश्च क्ङौ, क्ङौ इतौ यस्य स क्ङित् तस्मिन्, ''द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—शीङः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—यकारादौ क्ङिति प्रत्यये परतः शीङोऽङ्गस्य अयङ् इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—शय्यते । शाशय्यते । प्रशय्य, उपशय्य ॥

भाषार्थः—[*यि*] यकारादि [*क्ङिति*] कित् ङित् प्रत्यय परे रहते शीङ् अङ्ग को [*अयङ्*] अयङ् आदेश होता है ॥ शय्यते भाववाच्य में बना है, सो *सार्वधातुके यक्* (३।१।६७) से यक् कित् प्रत्यय होता है,

---

१. लोट् के उत्तमपुरुष को *आडुत्तमस्य पिच्च* (३।४।९२) से पित् होने से पित् सार्वधातुक मिलता है ॥

उसके परे अयङ् हो गया। *ङिच्च* (१।१।५२) से शी के 'ई' को अयङ् होकर श् अयङ् यक् त = शय् य ते = शय्यते बना। शाशय्यते में यङ् तथा प्रशय्य आदि में क्त्वा को ल्यप् हुआ है। शाशय्यते में द्विर्वचन करने से पहले परत्व से अयङ् होकर शय्, शय् द्वित्व होता है। शेष सिद्धि परि० ६।१।६ के पापच्यते के समान जानें। प्रशय्य भी परि० १।१।५५ के प्रकृत्य के समान जानें॥

यहाँ से '*क्ङिति*' की अनुवृत्ति ७।४।२५ तक तथा '*यि*' की ७।४।२६ तक जायेगी॥

उपसर्गाद्ध्रस्व ऊहतेः ॥७।४।२३॥

उपसर्गात् ५।१॥ ह्रस्वः १।१॥ ऊहतेः ६।१॥ *अनु०*—यि क्ङिति, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—उपसर्गादुत्तरस्य ऊहतेरङ्गस्य यकारादौ क्ङिति प्रत्यये परतो ह्रस्वो भवति॥ *उदा०*—समुह्यते, समुह्य गतः। अभ्युह्यते, अभ्युह्य गतः॥

भाषार्थः—[*उपसर्गात्*] उपसर्ग से उत्तर [*ऊहतेः*] ऊह वितर्के अङ्ग को यकारादि कित् ङित् प्रत्यय परे रहते [*ह्रस्वः*] ह्रस्व होता है॥ सम् ऊह् यक् त = ह्रस्व होकर समुह्यते बना। ल्यप् में समुह्य बन गया॥

यहाँ से '*उपसर्गात् ह्रस्वः*' की अनुवृत्ति ७।४।२४ तक जायेगी॥

एतेर्लिङि ॥७।४।२४॥

एतेः ६।१॥ लिङि ७।१॥ *अनु०*—उपसर्गाद्ध्रस्वः, यि क्ङिति, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—उपसर्गादुत्तरस्य एतेरङ्गस्य लिङि यकारादौ क्ङिति परतो ह्रस्वो भवति॥ *उदा०*—उदियात्, समियात्, अन्वियात्॥

भाषार्थः—उपसर्ग से उत्तर [*एतेः*] इण् गतौ अङ्ग को यकारादि कित् ङित् [*लिङि*] लिङ् परे रहते ह्रस्व होता है॥ *किदाशिषि* (३।४।१०४) से आशीर्लिङ् कित् है, अतः उसी के उदाहरण यहाँ होंगे। यासुट् यकारादि परे है ही, सो उसके परे रहते जब इण् को *अकृत् सार्व०* (७।४।२५) से दीर्घ हो जाता है, तो इस सूत्र से उपसर्ग से उत्तर ह्रस्व हो जाता है। यासुट् तथा सुट् के स् का *स्कोः संयो०* (८।२।२६) से लोप होता है॥

अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः ॥७।४।२५॥

अकृत्सार्वधातुकयोः ७।२॥ दीर्घः १।१॥ स०—कृच्च सार्वधातुकञ्च कृत्सार्वधातुके, इतरेतरद्वन्द्वः । न कृत्सार्वधातुके अकृत्सार्वधातुके तयोः ...नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—यि क्ङिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अकृद्यकारे असार्वधातुकयकारे च क्ङिति प्रत्यये परतोऽजन्तस्याङ्गस्य दीर्घो भवति ॥ उदा०—भृशायते, सुखायते, दुःखायते । चीयते, चेचीयते, स्तूयते, तोष्टूयते । चीयात्, स्तूयात् ॥

भाषार्थः—[*अकृत्सार्वधातुकयोः*] कृत् तथा सार्वधातुक से भिन्न कित् ङित् यकार परे रहते अजन्त अङ्ग को [*दीर्घः*] दीर्घ होता है ॥ *अचश्च* (१।२।२८) परिभाषा सूत्र से अचों को ही ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत होते हैं, अतः उसकी इस सूत्र में उपस्थिति[1] होने से ही 'अजन्त अङ्ग को' ऐसा सूत्रार्थ किया गया है ॥

भृशायते में *भृशादिभ्यो०* (३।१।१२) से क्यङ् तथा सुखायते दुःखायते में *सुखादिभ्यः०* (३।१।१८) से क्यङ् प्रत्यय होता है । चीयते, स्तूयते में कर्म में यक् तथा चेचीयते आदि में यङ् हुआ है । तोष्टूयते में *शर्पूर्वाः खयः* (७।४।६१) से खय् शेष रहेगा । चीयात् स्तूयात् यहाँ आशीर्लिङ् में यासुट् परे रहते चि, स्तु को दीर्घ हुआ है । ये सब कृत् भिन्न एवं असार्वधातुक यकार हैं ही ॥

यहाँ से '*अकृत्सार्वधातुकयोः*' की अनुवृत्ति ७।४।२८ तक तथा '*दीर्घः*' की ७।४।२६ तक जायेगी ॥

च्वौ च ॥७।४।२६॥

च्वौ ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—दीर्घः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—च्विप्रत्यये परतोऽजन्तस्याङ्गस्य दीर्घो भवति ॥ *उदा०*— शुचीकरोति, शुचीभवति, शुचीस्यात् । पटूकरोति, पटूभवति, पटूस्यात् ॥

भाषार्थः—[*च्वौ*] च्वि प्रत्यय परे रहते [*च*] भी अजन्त अङ्ग को दीर्घ होता है ॥ शुचि तथा पटु शब्द से *कृभ्वस्तियोगे०* (५।४।५०) से च्वि होकर पुनः इन शब्दों को दीर्घ हुआ है । शेष 'व्' लोपादि की प्रक्रिया ५।४।५० सूत्र में ही देखें ॥

यहाँ से 'च्वौ' की अनुवृत्ति ७।४।२७ तक जायेगी ॥

---

१. कार्यकालं संज्ञापरिभाषम् (परि० २) के हेतु से यहाँ उपस्थिति होगी ॥

रीङ् ऋतः ॥७।४।२७॥

रीङ् १।१॥ ऋतः ६।१॥ *अनु०*—च्वौ, अकृत्सार्वधातुकयोः, यि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—ऋकारान्तस्याङ्गस्य अकृद्यकारेऽसार्वधातुकयकारे च्वौ च परतो रीङ् इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—मात्रीयति, पित्रीयति । मात्रीयते, पित्रीयते । चेक्रीयते । च्वौ—मात्रीभूतः । पित्र्यम् ॥

भाषार्थः—[*ऋतः*] ऋकारान्त अङ्ग को कृत् भिन्न एवं सार्वधातुक भिन्न यकार परे हो तथा च्वि परे हो तो [*रीङ्*] रीङ् आदेश होता है ॥ मात्रीयति में *सुप आत्मनः०* (३।१।८) से क्यच्, मात्रीयते में *कर्त्तुः क्यङ्०* (३।१।११) से क्यङ्, चेक्रीयते में कृ धातु से यङ्, तथा मात्रीभूतः में च्वि एवं पित्र्यम् में *पितुर्यच्च* (४।३।७६) से यत् प्रत्यय हुआ है । *ङिच्च* (१।१।५२) से अन्त्य अल् ऋ के स्थान में रीङ् होगा । मातृ क्यच् = मात् रीङ् य = मात्रीयते । चेक्रीयते में *गुणो यङ्लुकोः* (७।४।८२) से अभ्यास को गुण होता है ॥ पित्र्यम् में *यस्येति च* (६।४।१४८) से रीङ् के ईकार का लोप होता है ॥

यहाँ से '*ऋतः*' की अनुवृत्ति ७।४।३० तक जायेगी ॥

रिङ् शयग्लिङ्क्षु ॥७।४।२८॥

रिङ् १।१॥ शयग्लिङ्क्षु ७।३॥ *स०*—शश्च यक् च लिङ् च शयग्लिङस्तेषु ''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—ऋतः, असार्वधातुके, यि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—ऋकारान्तस्याङ्गस्य श, यक् इत्येतयोः लिङि च यकारादौ असार्वधातुके परतो रिङ् इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—श—आद्रियते, आध्रियते । यक—क्रियते, ह्रियते । लिङ्—क्रियात्, ह्रियात् ॥

भाषार्थः—ऋकारान्त अङ्ग को [*शयग्लिङ्क्षु*] श, यक् तथा यकारादि सार्वधातुक भिन्न लिङ् परे रहते [*रिङ्*] रिङ् आदेश होता है ॥ आशीलिङ् असार्वधातुक लिङ् (३।४।११६) है, सो वहीं यासुट् परे रहते रिङ् आदेश होगा ॥ क्रियते ह्रियते की सिद्धि परि० १।३।१३ में देखें । आङ् पूर्वक दृङ् धृङ् धातु से आद्रियते आध्रियते में श (३।१।७७) परे रहते रिङ् होकर 'आ द् रि अ ते' रहा । *अचि श्नुधातु०* (६।४।७७) से 'द्रि' के इकार के स्थान में इयङ् होकर आद्र् इयङ् अ त = आद्रिय् अ ते = आद्रियते बन गया ॥

यहाँ से '*शयग्लिङ्क्षु*' की अनुवृत्ति ७।४।२६ तक जायेगी ॥

गुणोऽर्त्तिसंयोगाद्योः ॥७।४।२९॥

गुणः १।१॥ अर्त्तिसंयोगाद्योः ६।२॥ *स०*—संयोग आदिर्यस्य स संयोगादिः, बहुव्रीहिः। अर्त्तिश्च संयोगादिश्च अर्त्तिसंयोगादी तयोः··· इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—यकि, लिङि, ऋतः, असार्वधातुकस्य, यि, अङ्गस्य। 'श' इत्यत्रासम्भवात् न सम्बध्यते॥ *अर्थः*—अर्त्तेः संयोगादीनामृकारान्तानामङ्गानां यकि लिङि च यकारादावसार्वधातुके परतो गुणो भवति॥ *उदा०*—यकि अर्त्तेः—अर्यते। लिङि—अर्यात्। संयोगादीनाम् ऋकारान्तानाम् यकि—स्मर्यते। लिङि—स्मर्यात्॥

भाषार्थः—[*अर्त्तिसंयोगाद्योः*] ऋ तथा संयोग आदि में है जिनके ऐसे ऋकारान्त धातु को यक् तथा यकारादि असार्वधातुक लिङ् परे रहते [*गुणः*] गुण होता है॥ ऋ एवं संयोगादि ऋकारान्त धातुओं के तुदादि गण की न होने से यहाँ 'श' प्रत्यय का आना सम्भव ही नहीं, अतः 'श' की अनुवृत्ति का सम्बन्ध यहाँ नहीं लगता॥ सर्वत्र कित् यकार परे होने से *सार्वधातुकार्ध०* से गुण की प्राप्ति नहीं थी, विधान कर दिया॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।४।३० तक जायेगी॥

यङि च ॥७।४।३०॥

यङि ७।१॥ च अ०॥ *अनु०*—गुणोर्त्तिसंयोगाद्योः, ऋतः, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—अर्त्तेः संयोगादीनाम् ऋकारान्तानामङ्गानां यङि च परतो गुणो भवति॥ *उदा०*—ऋ—अरार्यते। संयोगादीनामृकारान्तानाम्—स्वृ—सास्वर्यते। ध्वृ—दाध्वर्यते। स्मृ—सास्मर्यते॥

भाषार्थः—ऋ तथा संयोग आदि वाले ऋकारान्त अङ्ग को [*यङि*] यङ् परे रहते [*च*] भी गुण होता है॥ अरार्यते की सिद्धि परि० ६।१।९ में देखें। सास्वर्यते आदि में अभ्यास को *दीर्घोऽकितः* (७।४।८३) से दीर्घ होता है॥

यहाँ से '*यङि*' की अनुवृत्ति ७।४।३१ तक जायेगी॥

ई घ्राध्मोः ॥७।४।३१॥

ई लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः॥ घ्राध्मोः ६।२॥ *स०*—घ्रा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—यङि, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—घ्रा ध्मा इत्येतयोरङ्गयोर्यङि परत ईकारादेशो भवति॥ *उदा०*—घ्रा—जेघ्रीयते। ध्मा—देध्मीयते॥

भाषार्थः—[*घ्राध्मोः*] घ्रा तथा ध्मा अङ्ग को यङ् परे रहते [ई] ईकारादेश होता है ॥ घ्रा यङ् = अन्त्य अल् (१।१।५१) को ईत्व होकर 'घ्री य' रहा । द्वित्व अभ्यास कार्य एवं *गुणो यङ्लुकोः* (७।४।८२) से गुण इत्यादि होकर जेघ्रीयते, देध्मीयते बन गया ॥

यहाँ से 'ई' की अनुवृत्ति ७।४।३३ तक जायेगी ॥

अस्य च्वौ ॥७।४।३२॥

अस्य ६।१॥ च्वौ ७।१॥ *अनु०*—ई, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अवर्णान्तस्याङ्गस्य च्वौ परत ईकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—शुक्लीभवति, शुक्लीस्यात् । खट्वीकरोति, खट्वीस्यात् ॥

भाषार्थः—[*अस्य*] अवर्णान्त अङ्ग को [*च्वौ*] च्वि परे रहते ईकारादेश होता है ॥ सिद्धि भाग २, सूत्र ५।४।५० में देखें ॥ पूर्ववत् अन्त्य अल् को 'ई' होगा । *च्वौ* च (७।४।२६) का यह अपवाद सूत्र है ॥

यहाँ से '*अस्य*' की अनुवृत्ति ७।४।३५ तक जायेगी ॥

क्यचि च ॥७।४।३३॥

क्यचि ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—अस्य, ई, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—क्यचि च परतोऽवर्णान्तस्याङ्गस्य ईकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—पुत्रीयति, खट्वीयति, घटीयति, मालीयति ॥

भाषार्थः—[*क्यचि*] क्यच् परे रहते [*च*] भी अवर्णान्त अङ्ग को ईकारादेश होता है ॥ यह सूत्र *अकृत्सार्व०* (७।४।२५) का अपवाद है ॥ सिद्धियाँ परि० ३।४।७१ में देखें ॥

यहाँ से '*क्यचि*' की अनुवृत्ति ७।४।३६ तक जायेगी ॥

अशनायोदन्यधनाया बुभुक्षापिपासागर्धेषु ७।४।३४॥

अशनायोदन्यधनायाः १।३॥ बुभुक्षापिपासागर्धेषु ७।३॥ *स०*—अशना० बुभुक्षा० उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—क्यचि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अशनाय, उदन्य, धनाय इत्येतानि शब्दरूपाणि यथाक्रमं बुभुक्षा, पिपासा, गर्ध इत्येतेष्वर्थेषु निपात्यन्ते ॥ अशनाय इत्यत्र अशनशब्दस्यात्वं क्यचि परतो निपात्यते । उदन्य इत्यत्र उदकशब्दस्य उदन् आदेशो निपात्यते क्यचि परतः । धनाय इत्यत्रापि धनशब्दस्यात्वं क्यचि निपा-

त्यते ॥ *उदा०*—अशनायतीति भवति बुभुक्षा चेत् । अन्यत्र अशनीयति । उदन्यतीति पिपासा चेत् । उदकीयतीत्येवान्यत्र । धनायतीति गर्धश्चेत् । अन्यत्र धनीयति ॥

भाषार्थः—[*अशनायोदन्यधनायाः*] अशनाय, उदन्य, धनाय ये शब्द क्रमशः [*बुभुक्षापिपासागर्धेषु*] बुभुक्षा, पिपासा, गर्ध इन अर्थों में निपातन किये जाते हैं ॥ बुभुक्षा अर्थ में अशन शब्द को क्यच् परे रहते आत्व 'अशनाय' यहाँ निपातन है । अन्य अर्थों में *क्यचि* च से ईत्व होगा । उदन्य शब्द में उदक को क्यच् परे उदन् आदेश पिपासा अर्थ में निपातित है । धनाय यहाँ धन शब्द को क्यच् परे आत्व गर्ध (लालच) अर्थ में निपातित है ॥

नच्छन्दस्यपुत्रस्य ॥७।४।३५॥

न अ० ॥ छन्दसि ७।१॥ अपुत्रस्य ६।१॥ *स०*—न पुत्रोऽपुत्रस्तस्य... नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—क्यचि, अस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—पुत्रवर्जितस्यावर्णान्तस्याङ्गस्य छन्दसि विषये क्यचि परतो यदुक्तं तन्न भवति ॥ दीर्घत्वमीत्वञ्चोक्तं तन्न भवति ॥ *उदा०*—मित्रयुः, संस्वेदयुः, देवाञ्जिगाति सुम्नयुः (ऋ० ३।२७।१) ॥

भाषार्थः—[*अपुत्रस्य*] पुत्र शब्द को छोड़कर अवर्णान्त अङ्ग को [*छन्दसि*] वेद विषय में क्य् परे रहते जो कुछ कहा है, वह [*न*] नहीं होता ॥ *अकृत्सार्व०* (७।४।२५) तथा *क्यचि* च (७।४।३३) से दीर्घत्व एवं ईत्व की प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया, अतः ईत्व का प्रतिषेध कर देने पर औत्सर्गिक सूत्र *अकृत्०* से जो दीर्घत्व प्राप्त था वह भी नहीं हुआ ॥ सिद्धियाँ ३।२।१७० सूत्र में देखें ॥

यहाँ से '*छन्दसि*' की अनुवृत्ति ७।४।३९ तक जायेगी ॥

दुरस्युर्द्रविणस्युर्वृषण्यति रिषण्यति ॥७।४।३६॥

दुरस्युः १।१॥ द्रविणस्युः १।१॥ वृषण्यति क्रियापदम् ॥ रिषण्यति क्रियापदम् ॥ *अनु०*—छन्दसि, क्यचि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—दुरस्युः, द्रविणस्युः, वृषण्यति, रिषण्यति इत्येतानि शब्दरूपाणि क्यचि छन्दसि विषये निपात्यन्ते ॥ 'दुरस्युः' इत्यत्र दुष्टशब्दस्य दुरस्भावः क्यचि निपात्यते । तथा च द्रविणशब्दस्य द्रविणस्भावः 'द्रविणस्युः' इत्यत्र

वृषशब्दस्य वृषण्भावो 'वृषण्यति' इत्यत्र, रिष्टशब्दस्य च रिषण्भावो 'रिषण्यति' इत्यत्र निपात्यते ॥ उदा०—अवियोना दुरस्युः । दुष्टीयतीति प्राप्ते । द्रविणस्युर्विपन्यया (ऋ० ६।१६।३५) । द्रविणीयतीति प्राप्ते । वृषण्यति । वृषीयतीति प्राप्ते । रिषण्यति । रिष्टीयतीति प्राप्ते ॥

भाषार्थः—[*दुरस्यु*''*रिषण्यति*] दुरस्युः, द्रविणस्युः, वृषण्यति, रिषण्यति ये शब्द क्यच् प्रत्ययान्त वेद विषय में निपातित किये जाते हैं ॥ दुरस्युः में दुष्ट शब्द को दुरस् आदेश, द्रविणस्युः में द्रविण शब्द को द्रविणस् तथा वृषण्यति में वृष शब्द को वृषण् , एवं रिषण्यति में रिष्ट शब्द को रिषण् आदेश क्यच् परे रहते निपातित है ॥ दुरस्युः द्रविणस्युः में *क्याच्छन्दसि* (३।२।१७०) से 'उ' प्रत्यय हुआ है ॥

अश्वाघस्यात् ॥७।४।३७॥

अश्वाघस्य ६।१॥ आत् १।१॥ *स०*—अश्वश्च अघञ्च अश्वाघम्, तस्मात्''समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—छन्दसि, क्यचि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अश्व अघ इत्येतयोः क्यचि परतश्छन्दसि विषये आकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—अश्वायन्तो मघवन् (ऋ० ७।३२।२३) मा त्वा वृका अघायवो विदन् ॥

भाषार्थः—[*अश्वाघस्य*] अश्व अघ अङ्गों को क्यच् परे रहते वेद विषय में [*आत्*] आकारादेश होता है ॥ पूर्ववत् अन्त्य अल् 'अ' को आत्व होता है ॥ *क्यचि च* (७।४।३३) का यह अपवाद है ॥ अघायवः (१।३) में *क्याच्छ०* (३।२।१७०) से 'उ' प्रत्यय होता है । अश्वाय नकर आगे शतृ प्रत्यय के बहुवचन में अश्वायन्तः बना है । शतृप्रत्ययान्त की सिद्धि परि० ३।२।१२४ में देखें ॥

यहाँ से '*आत्*' की अनुवृत्ति ७।४।३८ तक जायेगी ॥

देवसुम्नयोर्यजुषि काठके ॥७।४।३८॥

देवसुम्नयोः ६।२॥ यजुषि ७।१॥ काठके ७।१॥ *स०*-देव० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—आत्, छन्दसि, क्यचि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—देव सुम्न इत्येतयोः क्यचि परत आकारादेशो भवति यजुषि काठके ॥ *उदा०*—देवायन्तो यजमानाय । सुम्नायन्तो हवामहे (काठ० सं० ८।१७) ॥

भाषार्थः—[*देवसुम्नयोः*] देव तथा सुम्न अङ्ग को क्यच् परे रहते आकारादेश होता है [*यजुषि*] यजुर्वेद की [*काठके*] कठ शाखा में ॥

कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः ॥७।४।३९॥

कव्यध्वरपृतनस्य ६।१॥ ऋचि ७।१॥ लोपः १।१॥ *स०*—कविश्च अध्वरश्च पृतना च कव्यध्वरपृतनम्, तस्य''' समाहारद्वन्द्वः ॥ नपुंसकलिङ्गे ह्रस्वत्वे कृते (१।२।४७) निर्देशः ॥ *अनु०*—छन्दसि, क्यचि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—कवि, अध्वर, पृतना इत्येतेषामङ्गानां क्यचि परतो लोपो भवति ऋचि विषये ॥ *उदा०*—कव्यन्तः सुमनसः। अध्वर्यन्तः। पृतन्यन्तस्तिष्ठन्ति ॥

भाषार्थः—[*कव्य''' स्य*] कवि, अध्वर, पृतना इन अङ्गों का क्यच् परे रहते [*लोपः*] लोप होता है, [*ऋचि*] पादबद्धमन्त्र के विषय में ॥ पूर्ववत् अन्त्य अल् (१।१।५१) का ही लोप होगा। सभी उदाहरण शतृ के बहुवचन में हैं ॥ कवि क्यच् = कव्य शप् शतृ = कव्य अ अन्त् जस् = *अतो गुणे* (६।१।९४) लगकर कव्यन्तः बन गया ॥

द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति ॥७।४।४०॥

द्यतिस्यतिमास्थाम् ६।३॥ इत् १।१॥ ति ७।१॥ किति ७।१॥ *स०*—द्यतिश्च स्यतिश्च माश्च स्थाश्च द्यति'''स्थास्तेषां'''इतरेतरद्वन्द्वः। क् इत् यस्य स कित् तस्मिन्''' बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—दो अवखण्डने, षो अन्तकर्मणि, मा, स्था इत्येतेषामङ्गानामिकारादेशो भवति तकारादौ किति प्रत्यये परतः ॥ *उदा०*—द्यति—निर्दितः, निर्दितवान्। स्यति—अवसितः, अवसितवान्। मा—मितः, मितवान्। स्था—स्थितः, स्थितवान् ॥

भाषार्थः—[*द्यति''' स्थाम्*] द्यति = दो, स्यति = षो, मा तथा स्था अङ्गों को [*ति*] तकार आदि वाले [*किति*] कित् प्रत्यय के परे रहते [*इत्*] इकारादेश होता है ॥ अन्त्य अल् को इकारादेश होकर निर् द् इ त = निर्दितः आदि प्रयोग बन गये ॥

यहाँ से 'इत्' की अनुवृत्ति ७।४।४१ तक तथा '*ति किति*' की ७।४।४७ तक जायेगी ॥

शाच्छोरन्यतरस्याम् ॥७।४।४१॥

शाच्छोः ६।२॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *स०*—शाश्च छाश्च शाच्छौ,

तयोः ... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—इत् ति किति, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—शो तनूकरणे, छो छेदने इत्येतयोरन्यतरस्यामिकारादेशो भवति तकारादौ किति परतः ॥ *उदा०*—शा—निशितम्, पक्षे—निशातम् । निशितवान्, निशातवान् । छा-अवच्छितम्, अवच्छातम् । अवच्छितवान्, अवच्छातवान् ॥

भाषार्थः—[*शाच्छोः*] शो तथा छो अङ्ग को [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प करके इकारादेश होता है, तकारादि कित् प्रत्यय परे रहते ॥ *आदेच उपदेशे०* (६।१।४४) से आत्व करके पुनः अन्त्य अल् 'आ' को 'इ' होकर निशितम् आदि प्रयोग बनें । अवच्छितम् आदि में छे च (६।१।७१) से तुक् आगम एवं श्चुत्व भी हुआ है ॥

दधातेर्हिः ॥७।४।४२॥

दधातेः ६।१॥ हिः १।१॥ *अनु०*—ति किति, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—दधातेरङ्गस्य 'हि' इत्ययमादेशो भवति तकारादौ किति प्रत्यये परतः ॥ *उदा०*—हितः, हितवान्, हित्वा ॥

भाषार्थः—[*दधातेः*] डुधाञ् अङ्ग को [*हिः*] हि आदेश तकारादि कित् प्रत्यय परे रहते होता है ॥

यहाँ से '*हिः*' की अनुवृत्ति ७।४।४४ तक जायेगी ॥

जहातेश्च क्त्वि ॥७।४।४३॥

जहातेः ६।१॥ च अ० ॥ क्त्वि ७।१॥ *अनु०*—हिः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—जहातेश्चाङ्गस्य क्त्वाप्रत्यये परतो हीत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—हित्वा राज्यं वनं गतः, हित्वा गच्छति ॥

भाषार्थः—[*जहातेः*] ओहाक् त्यागे अङ्ग को [*च*] भी [*क्त्वि*] क्त्वा-प्रत्यय परे रहते 'हि' आदेश होता है ॥

यहाँ से '*जहातेः क्त्वि*' की अनुवृत्ति ७।४।४४ तक जायेगी ॥

विभाषा छन्दसि ॥७।४।४४॥

विभाषा १।१॥ छन्दसि ७।१॥ *अनु०*—जहातेः क्त्वि, हि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—जहातेरङ्गस्य छन्दसि विषये विकल्पेन हीत्ययमादेशो भवति क्त्वा-प्रत्यये परतः ॥ *उदा०*—हित्वा शरीरं यातव्यम् । हात्वा ॥

भाषार्थः—ओहाक् अङ्ग को [*विभाषा*] विकल्प से [*छन्दसि*] वेद विषय में क्त्वा प्रत्यय परे रहते 'हि' आदेश होता है ॥ हात्वा यहाँ *घुमास्थागापा०* (६।४।६६) से ईत्व छान्दस प्रयोग होने से नहीं होता ॥

यहाँ से '*छन्दसि*' की अनुवृत्ति ७।४।४५ तक जायेगी ॥

सुधितवसुधितनेमधितधिष्वधिषीय च ॥७।४।४५॥

सुधित० इत्यादीनि लुप्तप्रथमान्तानि पृथक् पृथक् निर्दिष्टानि पदानि ॥ धिष्व, धिषीय इति क्रियापदम् ॥ च अ० ॥ *अनु०*—छन्दसि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—सुधित, वसुधित, नेमधित, धिष्व, धिषीय इत्येतानि छन्दसि विषये निपात्यन्ते ॥ तत्र सुधित, वसुधित, नेमधित इत्यत्र यथाक्रमं सुवसुनेमपूर्वस्य दधातेः क्तप्रत्यये परत इत्वम्, अथवा प्रत्ययस्य इडागमो निपात्यते । धिष्व इत्यत्र लोट्मध्यमपुरुषैकवचने दधातेरित्वं प्रत्ययस्येडागमो वा, द्विर्वचनाभावश्च निपात्यते । धिषीय इत्यत्रापि आशीर्लिङ्यात्मनेपदोत्तमपुरुषैकवचने दधातेरित्वं प्रत्ययस्य इडागमो वा निपात्यते ॥ *उदा०*—गर्भं माता सुधितम् (ऋ० १०।२७।१६) । सुहितमिति प्राप्ते । वसुधितमग्नौ जुहोति । वसुहितमिति प्राप्ते । नेमधिता न पौंस्या (ऋ० १०।९३।१३) । नेमहिता इति प्राप्ते । धिष्व सोमम् । धत्स्वेति प्राप्ते । धिषीय । धासीयेति प्राप्ते ॥

भाषार्थः—[*सुधित*...*धिषीय*] सुधित, वसुधित, नेमधित, धिष्व, धिषीय ये शब्द [*च*] भी वेद विषय में निपातित हैं ॥ सुधित, वसुधित, नेमधित इन शब्दों में क्रमशः सु, वसु तथा नेम पूर्व में रहते धा धातु को क्त प्रत्यय परे रहते इत्व अथवा प्रत्यय को इट् आगम निपातन है । यदि प्रत्यय को इट् आगम करके इन शब्दों की सिद्धि करेंगे तो धा के आ का *आतो लोप०* (६।४।६४) से लोप हो जायेगा । इत्व करने पर तो 'आ' को ही इत्व होगा । सुधितम् में *कुगतिप्रादयः* (२।२।१८) से तथा वसुधितम् में *विशेषणं विशेष्येण०* (२।१।५६) से एवं नेमधितम् में *सामि*[1] (२।१।२६) से समास हुआ है ॥ धिष्व यहाँ लोट् मध्यम पुरुष के एकवचन थास् के परे रहते 'धा' धातु को इत्व अथवा प्रत्यय को इट् आगम एवं *श्लौ* (६।१।१०) से प्राप्त द्विर्वचन का अभाव निपातन है ।

१. सामि इत्यत्रार्थग्रहणमाश्रित्य । तदभावे कर्मधारयः ।

थासः से (३।४।८०) से थास् को 'से' एवं *सवाभ्यां वामौ* (३।४।९१) से 'व' हो ही जायेगा। इट् करने पर धा के आ का लोप छान्दसत्वात् जानें॥ धिषीय यहाँ आत्मनेपद में आशीर्लिङ् के उत्तम पुरुष एकवचन के परे रहते धा को पूर्ववत् इत्व अथवा प्रत्यय को इडागम निपातन है। *इटोऽत्* (३।४।१०६) से 'इट्' को अत्व हो ही जायेगा॥

दो दद् घोः ॥७।४।४६॥

दः ६।१॥ दद् १।१॥ घोः ६।१॥ *अनु०*—ति किति, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—घुसंज्ञकस्य दा इत्येतस्य स्थाने 'दद्' इत्ययमादेशो भवति, तकारादौ किति प्रत्यये परतः॥ *उदा०*—दत्तः, दत्तवान्, दत्तिः॥

भाषार्थः—[*घोः*] घुसंज्ञक [*दः*] दा धातु के स्थान में [*दद्*] दद् आदेश होता है, तकारादि कित् प्रत्यय परे रहते॥ दा + क्त = दद् त = *खरि च* (८।४।५४) से चर्त्व होकर दत्तः बन गया॥

यहाँ से 'दः घोः' की अनुवृत्ति ७।४।४७ तक जायेगी॥

अच उपसर्गात्तः ॥७।४।४७॥

अचः ५।१॥ उपसर्गात् ५।१॥ तः १।१॥ *अनु०*—दः घोः, ति किति, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—अजन्तादुपसर्गादुत्तरस्य घुसंज्ञकस्य दा इत्येतस्याङ्गस्य त इत्ययमादेशो भवति, तकारादौ किति प्रत्यये परतः॥ *उदा०*—प्रत्तम्, अवत्तम्, नीत्तम्, परीत्तम्॥

भाषार्थः—[*अचः*] अजन्त [*उपसर्गात्*] उपसर्ग से उत्तर घुसंज्ञक दा' अङ्ग को तकारादि कित् प्रत्यय परे रहते [*तः*] तकारादेश होता है॥ 'त' में अकार मुखसुखार्थ रखा है, वस्तुतः 'त्' आदेश होता है। दा के आ को त् आदेश होकर 'प्र द् त् क्त' रहा। *खरि च* (८।४।५४) से द् को त् होकर प्र त् त् त = रहा। *अनचि च* (८।४।४६) से द्वित्व होकर ४ तकार हो गये तो *झरो झरि०* (८।४।६४) से मध्य के दो तकारों का लोप होकर प्र त् त अम् = प्रत्तम् आदि बन गये। नीत्तम्, परीत्तम् में *दस्ति* (६।३।१२२) से उपसर्ग को दीर्घ हुआ है॥ यहाँ 'अचः' पद की आवृत्ति करने से दा का 'अच्' स्थानी मिल जाता है। अतः 'दा' के अच् = आकार के स्थान में 'त्' होता है। अन्यथा *आदेः परस्य* (१।१।५३) से उपसर्ग से परे 'द्' के स्थान में होता॥

यहाँ से '*तः*' की अनुवृत्ति ७।४।४९ तक जायेगी॥

अपो भि ॥७।४।४८॥

अपः ६।१॥ भि ७।१॥ *अनु०*—तः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अप् इत्येतस्याङ्गस्य भकारादौ प्रत्यये परतः 'तः' इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—अद्भिः, अद्भ्यः ॥

भाषार्थः—[*अपः*] अप् अङ्ग को [*भि*] भकारादि प्रत्यय के परे रहते तकारादेश होता है ॥ अप् के अन्त्य अल् 'प्' को त् होगा, पश्चात् अत् भिस् = अद्भिः, *झलां जशो०* (८।२।३९) से त् को द् होकर बना ॥

सः स्यार्धधातुके ॥७।४।४९॥

सः ६।१॥ सि ७।१॥ आर्धधातुके ७।१॥ *अनु०*—तः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—सकारान्तस्याङ्गस्य सकारादावार्धधातुके परतस्तकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—वत्स्यति, अवत्स्यत्, विवत्सति, जिघत्सति ॥

भाषार्थः—[*सः*] सकारान्त अङ्ग को [*सि*] सकारादि [*आर्धधातुके*] आर्धधातुक के परे रहते तकारादेश होता है ॥ वस् स्य ति = यहाँ 'स्य' सकारादि आर्धधातुक के परे रहते वस् के अन्त्य अल् स् को त् होकर वत्स्यति बन गया। लङ् में अवत्स्यत् तथा सन् में विवत्सति बनेगा। जिघत्सति की सिद्धि परि० २।४।३७ में देखें ॥

यहाँ से '*सः*' की अनुवृत्ति ७।४।५२ तक तथा '*सि*' की ७।४।५७ तक जायेगी ॥

तासस्त्योर्लोपः ॥७।४।५०॥

तासस्त्योः ६।२॥ लोपः १।१॥ *स०*—तास् च अस्तिश्च तासस्ती, तयोः''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सः सि, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—तासेरस्तेश्च सकारस्य सकारादौ प्रत्यये परतो लोपो भवति ॥ *उदा०*—तासेः —कर्त्तासि, कर्त्तासे। अस्तेः—त्वम् असि। व्यतिसे ॥

भाषार्थः—[*तासस्त्योः*] तास् और अस् धातु के सकार का सकारादि प्रत्यय परे रहते [*लोपः*] लोप होता है ॥ पठिता की सिद्धि परि० १।१।६ में दिखा चुके हैं, तद्वत् यहाँ भी सब कार्य होकर कृ तास् सिप् = कर्तास् सि रहा। *एकाच उपदेशे०* (७।२।१०) से यहाँ इट् निषेध होगा। प्रकृत सूत्र से स् लोप तथा *अचो रहाभ्यां०* (८।४।४५) से त् को

द्वित्व होकर कर्त्तासि बना। आत्मनेपद में (१।३।७२) *थासः से* (३।४।८०) से थास् को 'से' होकर कर्त्तासे बना। अस् शप् सि = *अदिप्रभृतिभ्यः०* (२।४।७२) से शप् लुक् होकर अस् सि = असि बन गया। कर्मव्यतिहार में *कर्त्तरि कर्म०* (१।३।१४) से आत्मनेपद होकर 'व्यति अस् शप् थास्' = पूर्ववत् स् लोपादि सब होकर व्यति अ से रहा। *श्नसोरल्लोपः* (६।४।१११) से अस् के 'अ' का भी लोप होकर व्यतिसे बन गया॥

यहाँ से *'तासस्त्योः'* की अनुवृत्ति ७।४।५२ तक तथा *'लोपः'* की ७।४।५३ तक जायेगी॥

रि च ॥७।४।५१॥

रि ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—तासस्त्योर्लोपः, सः, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—रेफादौ च प्रत्यये परतस्तासेरस्तेश्च सकारस्य लोपो भवति॥ *उदा०*—कर्त्तारौ, कर्त्तारः। अध्येतारौ, अध्येतारः॥

भाषार्थः—[*रि*] रेफादि प्रत्यय के परे रहते [*च*] भी तास् और अस् के सकार का लोप होता है॥ लौकिक प्रयोग विषय में अस् से परे रेफादि प्रत्यय सम्भव ही नहीं, अतः उदाहरण नहीं दिखाया॥ कर् तास् रौ = कर्त्तारौ बन गया। अध्येतारौ आदि में आत्मनेपद के आताम्, झ को रौ रस् हुआ है। सिद्धि सूत्र २।४।८५ में भी देखी जा सकती है॥

ह एति ॥७।४।५२॥

हः १।१॥ एति ७।१॥ *अनु०*—तासस्त्योर्लोपः, सः, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—तासस्त्योः सकारस्य हकारादेशो भवति, एति परतः॥ लोप इति अनुवर्त्तमानं सदपि न संबध्यते हकारविधानात्। *उदा०*—कर्त्ताहे। अस्तेः—व्यतिहे॥

भाषार्थः—तास् तथा अस् के सकार को [*हः*] हकारादेश [*एति*] एकार परे रहते होता है॥ लोप की अनुवृत्ति आने पर भी हकार विधान सामर्थ्य से संबद्ध नहीं होती। उत्तम पुरुष एकवचन में कृ तास् इट् = *टित् आत्मने०* (३।४।७९) से एत्व होकर कर्त्तास् ए = कर्त्ताह् ए = कर्त्ताहे बन गया। इसी प्रकार कर्मव्यतिहार आत्मनेपद में पूर्ववत् (७।४।५० में प्रदर्शित) 'अ' का लोप होकर व्यतिहे बन गया॥

यीवर्णयोर्दीधीवेव्योः ॥७।४।५३॥

यीवर्णयोः ७।२॥ दीधीवेव्योः ६।२॥ स०—यिश्च इवर्णश्च यीवर्णौ तयोः ''इतरेतरद्वन्द्वः । दीधीश्च वेवीश्च दीधीवेव्यौ तयोः''' इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—लोपः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—दीधीङ् वेवीङ् इत्येतयोर्यकारादौ इवर्णादौ च प्रत्यये परतो लोपो भवति ॥ उदा०—यकारादौ—आदीध्य गतः, आवेव्य गतः आदीध्यते, आवेव्यते । इवर्णादौ—आदीधिता, आवेविता । आदीधीत, आवेवीत ॥

भाषार्थः—[*दीधीवेव्योः*] दीधीङ् तथा वेवीङ् अङ्ग का [*यीवर्णयोः*] यकारादि एवं इवर्ण आदि वाला प्रत्यय परे हो तो लोप होता है ॥ यि में इकार उच्चारणार्थ है वस्तुतः 'य्' है अतः यकारादि अर्थ किया है ॥ आ दीधी क्त्वा = आ दीधी ल्यप् = प्रकृत सूत्र से अन्त्य अल् (१।१।५१) का लोप होकर आदीध्य आवेव्य बन गया । कर्मवाच्य में यक् (३।१।६७) परे रहते लोप होकर आदीध्यते आवेव्यते बना । तृच् में आ दीधी इट् तृच् = आदीध् इ ता = आदीधिता बना । विधिलिङ् में आ दीधी शप् सीयुट् सुट् त = आ दीधी सीय् स् त रहा । शप् का लुक् (२।४।७२) एवं दोनों सकारों का *लिङः सलोपो०* (७।२।७६) से लोप होकर आ दीधी ईय् त = आ दीध् ईय् त = *लोपो व्योर्वलि* (६।१।६४) लगकर आदीधीत आवेवीत बन गया ॥

सनि मीमाघुरभलभशकपतपदामच इस् ॥७।४।५४॥

सनि ७।१॥ मीमा''पदाम् ६।३॥ अचः ६।१॥ इस् १।१॥ स०—मीश्च माश्च घुश्च रभश्च लभश्च शकश्च पत् च पद् च मीमा''पदस्तेषां'' इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—सि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—मी इत्यनेन मीञ् हिंसायाम्, डुमिञ् प्रक्षेपणे उभयोरपि[1] ग्रहणम्, मा इत्यनेनापि मेङ् प्रभृतीनां त्रयाणां[2] ग्रहणम् । मी, मा, घु, रभ, डुलभष्, शक्लृ, पत्लृ, पद् इत्येतेषामङ्गानामचः स्थाने इस् इत्ययमादेशो भवति सनि सकारादौ प्रत्यये परतः ॥ उदा०—मीञ्–मित्सति डुमिञ्–प्रमित्सति । मा–

---

१. मिञोऽपि सनि दीर्घत्वे मीरूपत्वात् । २. गामादाग्रहणेष्वविशेषः (परि० ६२) इति परिभाषया ।

मित्सते, अपमित्सते । घुसंज्ञकानाम्—दित्सति, धित्सति । रभ—आरिप्सते । लभ-आलिप्सते । शक-शिक्षति । पत-पित्सति । पद—प्रपित्सते ॥

भाषार्थः—[*मीमा···पदाम्*] मी, मा, तथा घुसंज्ञक एवं रभ, डुलभष्, शक्लृ, पत्लृ और पद अङ्गों के [*अचः*] अच् के स्थान में [*इस्*] इस् आदेश होता है, सकारादि [*सनि*] सन् प्रत्यय परे रहते ॥ सन् तो सकारादि है ही, पुनः सकारादि कहने का अभिप्राय यह है कि जहाँ इट् आगम सन् को हुआ हो तो वहाँ 'इस्' न हो ॥ मी सन् = म् इस् स, मिस् स = *सः स्यार्धधातुके* (७।४।४९) लगकर मित् स रहा । द्वित्व होकर मित् मित् स = मि मित्स रहा । *अत्र लोपोऽभ्या०* (७।४।५८) से अभ्यास लोप होकर मित्सति बना । इसी प्रकार मेङ् को *आदेच०* (६।१।४४) से आत्व होकर मित्सते बना । आ रभ् स = अच् को इस् होकर आ र् इस् भ् स = आरिस् भ् स रहा । भ् को *खरि च* (८।४।५४) से चर्त्व प् एवं *स्कोः संयो०* (८।२।२९) से सकार लोप होकर आरिप्सते आलिप्सते बन गया । सर्वत्र अभ्यास का लोप पूर्ववत् हो जायेगा ॥

यहाँ से '*अचः*' की अनुवृत्ति ७।४।५६ तक तथा '*सनि*' की ७।४।५७ तक जायेगी ॥

आप्ज्ञप्यृधामीत् ॥७।४।५५॥

आप्ज्ञप्यृधाम् ६।३॥ ईत् १।१॥ *स०*—आप्ज्ञ० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अचः, सनि, सः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—आप्, ज्ञपि, ऋधु इत्येतेषामङ्गानामचः स्थाने ईकारादेशो भवति सनि सकारादौ प्रत्यये परतः ॥ *उदा०*—आप्-ईप्सति । ज्ञपि-ज्ञीप्सति । ऋध्-ईर्त्सति ॥

भाषार्थः—[*आप्ज्ञप्यृधाम्*] आप्, ज्ञपि तथा ऋध् अङ्गों को अच् के स्थान में [*ईत्*] ईकारादेश होता है, सकारादि सन् प्रत्यय परे रहते ॥ ज्ञीप्सति तथा ईर्त्सति की सिद्धि परि० ७।२।४९ में देखें । इसी प्रकार आप्लृ धातु से ईप्सति की सिद्धि में प्स प्स द्वित्व एवं आ को ईत्व तथा अभ्यास का लोप होता है ॥

यहाँ से '*ईत्*' की अनुवृत्ति ७।४।५६ तक जायेगी ॥

दम्भ इच्च ॥७।४।५६॥

दम्भः ६।१॥ इत् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—ईत्, अचः, सनि, सः,

अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—दम्भेरङ्गस्य अचः स्थाने इकारादेशो भवति, चकारादीच्च सनि सकारादौ परतः ॥ *उदा०*—धिप्सति, धीप्सति ॥

भाषार्थः—[*दम्भः*] दम्भ अङ्ग के अच् के स्थान में [*इत्*] इकारादेश होता है [*च*] तथा चकार से ईकारादेश होता है, सकारादि सन् प्रत्यय परे रहते ॥ सिद्धि परि० ७।२।४९ में देखें ॥

मुचोऽकर्मकस्य गुणो वा ॥७।४।५७॥

मुचः ६।१॥ अकर्मकस्य ६।१॥ गुणः १।१॥ वा अ० ॥ *स०*—न विद्यते कर्म यस्य स अकर्मकस्तस्य बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—सनि, सः, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अकर्मकस्य मुचोऽङ्गस्य गुणो विकल्पेन भवति, सनि सकारादौ परतः ॥ *उदा०*—मोक्षते वत्सः स्वयमेव । मुमुक्षते वत्सः स्वयमेव ॥

भाषार्थः—[*अकर्मकस्य*] अकर्मक [*मुचः*] मुच्लृ धातु को [*गुणः*] गुण [*वा*] विकल्प से होता है, सकारादि सन् प्रत्यय परे रहते ॥ *हलन्ताच्च* (१।२।१०) से यहाँ झलादि सन् के कित् होने से *पुगन्त०* (७।३।८६) से गुण प्राप्त नहीं (१।१।५) था, यहाँ विकल्प से प्राप्त करा दिया ॥

मोक्षते आदि प्रयोग कर्मकर्त्ता में बने हैं, क्योंकि कर्मकर्त्ता में ही मुच्लृ धातु अकर्मक होता है । वत्सं मोक्तुमिच्छति = वत्स को छोड़ना चाहता है । यहाँ जब वत्स स्वयं छूटने में = स्वतन्त्र होने में अनुकूलता प्रदर्शित करता है, तो वत्स कर्मकर्त्ता बन जाता है । इस प्रकार *कर्मवत् कर्मणा०* (३।१।८७) से कर्मवद्भाव[1] होकर मोक्षते, मुमुक्षते में *भावकर्मणोः* (१।३।१३) से आत्मनेपद होता है । यहाँ *सार्वधातुके यक्* (३।१।६७) से यक् भी प्राप्त था, किन्तु *भूषाकर्मकिरादिसनां चान्यत्रात्मनेपदात्* (भा० वा० ३।१।८७) इस वार्त्तिक से आत्मनेपद को छोड़कर कर्मकर्त्ता में प्राप्त यक्, चिण्, एवं चिण्वद्भाव का निषेध हो जाता है । द्वित्व एवं *चोः कुः* (८।२।३०) से च् को क् यहाँ हो ही जायेगा । गुण पक्ष में अभ्यास का ७।४।५८ से लोप होकर मोक् षते = मोक्षते बनेगा तथा जब गुण नहीं हुआ तो मुच् मुच् स = मुमुक् ष ते = मुमुक्षते बन गया ॥

१. कर्मवद्भाव के लिये ३।१।८७ सूत्र द्रष्टव्य है ।

अत्र लोपोऽभ्यासस्य ॥७।४।५८॥

अत्र अ० ॥ लोपः १।१॥ अभ्यासस्य ६।१॥ *अनु०*—अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अत्र = *सनि मीमा०* (७।४।५४) इत्यारभ्य *मुचोऽकर्मकस्य०* (७।४।५७) इति यावद् विधिषु सत्सु अभ्यासस्य लोपो भवति ॥ पूर्वेषु सूत्रेष्वेवोदाहरणानि द्रष्टव्यानि ॥

भाषार्थः—[*अत्र*] यहाँ सन् परे रहते जो कार्य कहा है वहाँ अर्थात् *सनि मीमा०* सूत्र से लेकर *मुचोऽकर्मकस्य०* सूत्र तक जिन प्रयोगों में इस् ईत् आदि का विधान किया है, उनके [*अभ्यासस्य*] अभ्यास का [*लोपः*] लोप होता है ॥ पूर्व सूत्रों में उदाहरण दिखा ही चुके हैं ॥

यहाँ से '*अभ्यासस्य*' की अनुवृत्ति ७।४।९७ तक जायेगी ॥

ह्रस्वः ॥७।४।५९॥

ह्रस्वः १।१॥ *अनु०*—अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अङ्गस्याभ्यासस्य ह्रस्वो भवति ॥ *उदा०*—डुढौकिषते, तुत्रौकिषते । डुढौके, तुत्रौके । अडुढौकत्, अतुत्रौकत् ॥

भाषार्थः—अङ्ग के अभ्यास को [*ह्रस्वः*] ह्रस्व होता है ॥ ढौकृ त्रौकृ से सन्नन्त में डुढौकिषते तुत्रौकिषते, लिट् में त को एश् (३।४।८१) होकर डुढौके तुत्रौके, एवं णिजन्त के लुङ् में अडुढौकत् अतुत्रौकत् बना है । 'ढौ' अभ्यास को यहाँ ढु ह्रस्व हो जाता है । सन्नन्त में पूर्ववत्सनः (१।३।६२) से आत्मनेपद हुआ है ॥

हलादिः शेषः ॥७।४।६०॥

हलादिः १।१॥ शेषः १।१॥ *स०*—हल् चासौ आदिश्च हलादिः, कर्मधारयतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अभ्यासस्यादिर्हल् शिष्यते, अर्थात् अनादिर्हल् लुप्यते ॥ *उदा०*—जग्लौ, मम्लौ । पपाच, पपाठ । आट, आटतुः, आटुः ॥

भाषार्थः—अभ्यास का [*हलादिः*] आदि हल् [*शेषः*] शेष रहता है ॥ फलित यह हुआ कि जो आदि का हल् न हो उसका लोप हो जाता है, क्योंकि शेष तभी कहा जा सकता है जब अनादि हल् का लोप हो जाये ॥

जग्लौ मम्लौ की सिद्धि सूत्र ७।१।३४ में देखें। आट यहाँ अट् अट् द्वित्व होकर अनादि हल् का लोप होकर अ अट् णल् रहा। *अत आदे:* (७।४।७०) से अभ्यास को दीर्घ होकर आ अट् अ रहा। सवर्णदीर्घत्व होकर 'आट' बन गया। तद्वत् आटतुः आटुः में भी समझें॥

यहाँ से '*शेष:*' की अनुवृत्ति ७।४।६१ तक जायेगी॥

शर्पूर्वाः खयः ॥७।४।६१॥

शर्पूर्वाः १।३॥ खयः १।३॥ *स०*—शर् पूर्वो येषां ते शर्पूर्वाः, बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—शेषः, अभ्यासस्य, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—अभ्यासस्य शर्पूर्वाः खयः शिष्यन्ते, अन्ये हलो लुप्यन्ते॥ *उदा०*—चुश्च्योतिषति, तिष्ठासति, पिस्पन्दिषते॥

भाषार्थः—[*शर्पूर्वाः*] शर् प्रत्याहार का कोई वर्ण पूर्व में है जिस [*खयः*] खय् प्रत्याहार के ऐसे अभ्यास का खय् (प्रत्याहार) शेष रहता है॥ अन्य हलों का लोप हो जाता है, यह फलितार्थ हुआ॥ यह सूत्र पूर्व सूत्र का अपवाद है॥ श्च्युतिर् धातु के आदि में शर् प्रत्याहार का वर्ण है, उसके पश्चात् च् वर्ण खय् है सो द्वित्व होने पर अभ्यास में चु शेष रहेगा, अन्यों का लोप हो जायेगा। इसी प्रकार स्था एवं स्पदि धातु से भी नुम् (७।१।५८) होकर जानें॥ इन दोनों सूत्रों से हलों की ही लोप विधिकी गई है सो अचों का लोप नहीं होता, अतः श्च्युतिर् के अभ्यास में च् के साथ २ 'उ' शेष भी रहता है, स्पदि में अकार सहित रहता 'प' है। ऐसा सर्वत्र जानें॥

कुहोश्चुः ॥७।४।६२॥

कुहोः ६।२॥ चुः १।१॥ *स०*—कुश्च ह् च कुहौ, तयोः···इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—अभ्यासस्य, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—अभ्यासस्य कवर्गहकारयोश्चवर्गादेशो भवति॥ *उदा०*—कृ-चकार। खन्-चखान। गम्-जगाम। अद्-जघास। हकारस्य—हन्—जघान। हृ-जहार, जिहीर्षति। ओहाक्-जहौ॥

भाषार्थः—अभ्यास के [*कुहोः*] कवर्ग तथा हकार को [*चुः*] चवर्ग आदेश होता है॥ सिद्धियाँ सभी पूर्व दर्शा आये हैं। जघास में अद्

को *लिट्यन्यतरस्याम्* (२।४।४०) से घस्लृ आदेश होता है, वहीं सिद्धि प्रकार भी देखें। खन् में अभ्यास के ख को पहले इस सूत्र से चुत्व छ, पश्चात् *अभ्यासे चर्च* से च हुआ है। परि० १।१।५७ के चिकीर्षकः के समान जिहीर्षति का प्रकार जानें। *आत औ०* (७।१।३४) से णल् को 'औ' होकर जहौ बन गया॥

यहाँ से 'चुः' की अनुवृत्ति ७।४।६४ तक जायेगी॥

न कवतेर्यङि ॥७।४।६३॥

न अ०॥ कवतेः ६।१॥ यङि ७।१॥ *अनु०*—चुः, अभ्यासस्य, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—कुङ् (भ्वा०) इत्येतस्याङ्गस्याभ्यासस्य यङि परतश्चवर्गादेशो न भवति॥ पूर्वेण प्राप्तिः प्रतिषिध्यते॥ *उदा०*—कोकूयते उष्ट्रः। कोकूयते खरः॥

भाषार्थः—[*कवतेः*] कुङ् अङ्ग के अभ्यास को [*यङि*] यङ् परे रहते चवर्गादेश [*न*] नहीं होता॥ पूर्व सूत्र से प्राप्ति थी, निषेध कर दिया॥ यहां 'कवतेः' निर्देश से कुङ् धातु भ्वादिगणस्थ ही लेनी है॥ *अकृत्सार्व०* (७।४।२५) से अङ्ग को दीर्घ होकर कु कू य = यहाँ *गुणो यङ्लुकोः* (७।४।८२) से अभ्यास को गुण होकर कोकूयते बन गया॥

यहाँ से '*न यङि*' की अनुवृत्ति ७।४।६४ तक जायेगी॥

कृषेश्छन्दसि ॥७।४।६४॥

कृषेः ६।१॥ छन्दसि ७।१॥ *अनु०*—न यङि, चुः, अभ्यासस्य, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—कृष विलेखने इत्येतस्याङ्गस्य योऽभ्यासस्तस्य छन्दसि विषये यङि परतश्चुत्वं न भवति॥ *उदा०*—करीकृष्यते यज्ञकुणपः॥

भाषार्थः—[*कृषेः*] कृष अङ्ग के अभ्यास को [*छन्दसि*] वेद विषय में यङ् परे रहते चवर्गादेश नहीं होता॥ पूर्ववत् प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया॥ करीकृष्यते में *रीगृदुपधस्य च* (७।४।९०) से अभ्यास को रीक् आगम हुआ है। क रीक् कृष् य शप् त् ए = करीकृष्यते।

यहाँ से '*छन्दसि*' की अनुवृत्ति ७।४।६५ तक जायेगी॥

दाधर्त्तिदर्धर्त्तिदर्धर्षिबोभूतुतेतिक्तेऽलर्ष्यापनीफणत्संसनिष्यदत्-करिक्रत्कनिक्रदद्भरिभ्रद्दविध्वतोदविद्युतत्तरित्रतःसरीसृ-पतंवरीवृजन्मर्मृज्यागनीगन्तीति च ॥७।४।६५॥

दाधर्त्ति, दर्धर्त्ति इत्येवमादीनि सर्वाणि पृथक् २ निर्दिष्टानि पदानि ॥ इति अ० ॥ च अ० ॥ *अनु०*—छन्दसि, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—दाधर्त्ति, दर्धर्त्ति, दर्धर्षि, बोभूतु, तेतिक्ते, अलर्षि, आपनीफणत्, संसनिष्यदत्, करिक्रत्, कनिक्रदत्, भरिभ्रत्, दविध्वतः, दविद्युतत्, तरित्रतः, सरीसृपतम्, वरीवृजत्, मर्मृज्य, आगनीगन्ति इत्येतानि अष्टादश रूपाणि छन्दसि विषये निपात्यन्ते ॥ दाधर्त्ति, दर्धर्त्ति, दर्धर्षि इति ण्यन्तात् धृञो धृङो वा श्लौ यङ्लुकि वा निपात्यते। तत्र दाधर्त्ति इत्यत्र यदा धारयतेः (धृञ्) श्लौ तदा णिलुक्, अभ्यासस्य दीर्घत्वं च निपात्यते। यदा धृङस्तदापि श्लावभ्यासदीर्घत्वं परस्मैपदं त्वत्र निपात्यते। यङ्-परत्वाण्णेरनिटीत्यनेन णिलोपः, *दीर्घोऽकित* इत्यनेन च दीर्घत्वन्तु सिद्ध-मेव। यङ्लुक्पक्षे शुद्धाद् धृङः ऋतश्चेत्यनेन प्राप्तो रुगादेरपवादो दीर्घत्वं निपात्यते। दर्धर्त्ति इत्यत्र तु यङ्लुक्पक्षे धारयतेरनेकाच्त्वादप्राप्तो यङ् निपात्यते, उपधा ह्रस्वत्वञ्च। शुद्धाद् यङ्लुक्पक्षे *दीर्घोऽकितः* इत्यनेन प्राप्तस्य दीर्घत्वस्य अभावश्च निपात्यते, रुक् तु *ऋतश्च* (७।४।९२) इत्यनेन सिद्धः। यदा तु धारयतेः श्लौ तदाऽभ्यासस्य रुगागमो णिलोपश्च निपात्यते ॥ दर्धर्षि इत्यत्र उभयोः पक्षयोः सिपि परतो दर्धर्त्तिवत् ज्ञेयम् ॥ 'बोभूतु' इत्यत्र भवतेर्यङ्लुगन्तस्य लोटि गुणा[1]भावो निपात्यते ॥ तेतिक्ते इत्यत्र तिजेर्यङ्लुगन्तस्यात्मने[2]पदत्वं निपात्यते ॥ अलर्षि इत्यत्र ऋ गतौ इत्येतस्मात् लटि सिपि श्लौ (६।१।१०) इति द्वित्वे उरदत्वे च कृते हलादि शेषापवादोऽभ्यासस्य रेफस्य लत्वं *अर्तिपिपर्त्योश्च* (७।४।७७) इत्यभ्यासस्येत्वाभावोऽपि

---

१. अत्र भूसुवोस्तिङि (७।४।८८) इति गुणाभावः सिद्धः, ज्ञापनार्थमेतन्नि-पातनम्—अन्यत्र यङ्लुगन्तस्य गुणप्रतिषेधो न भवति, बोभोति बोभवीति ॥

२. यङो ङित्वात् प्रत्ययलक्षणेनात्मनेपदं सिद्धमेव, ज्ञापनार्थमेतदपि निपातनम्—अन्यत्र यङ्लुगन्तादात्मनेपदं न भवति। अदादिगणस्थं अदादित्वविधायकं परस्मै-पदविधायकं च 'चर्करीतम्' गणसूत्रमनपेक्ष्यैतदुक्तम्। तदपेक्षायामप्राप्तमा-त्मनेपदं विधीयते।

निपात्यते ॥ आपनीफणत् इत्यत्र आङ्पूर्वस्य फणतेर्यङ्लुगन्तस्य शतर्यभ्यासस्य नीगागमो निपात्यते ॥ संसनिष्यदत् इत्यत्र संपूर्वस्य स्यन्देर्यङ्लुगन्तस्य शतर्यभ्यासस्य निक् आगमो धातुसकारस्य च षत्वं निपात्यते ॥ करिक्रदिति करोतेर्यङ्लुगन्तस्य शतरि अभ्यासककारस्य चुत्वाभावो रिगागमश्च निपात्यते ॥ कनिक्रददिति क्रन्देर्लुङि च्लेरङा-देशो द्विर्वचनमभ्यासस्य चुत्वाभावो निगागमश्च निपात्यते ॥ भरिभ्रदिति डुभृञ् इत्येतस्य यङ्लुगन्तस्य शतरि भृञामिदिति अभ्यासस्य प्राप्तस्येत्वाभावो जश्त्वाभावो रिगागमश्च निपात्यते ॥ दविध्वतः इत्यत्र ध्वरतेर्यङ्लुगन्तस्य शतरि जसि अभ्यासस्य विगागम ऋकारलोपश्च निपात्यते ॥ दविद्युतदिति द्युतेर्यङ्लुगन्तस्य शतरि *द्युतिस्वाप्योः०* (७।४।६७) इत्यनेनाभ्यासस्य प्राप्तस्य सम्प्रसारणस्याभावोऽत्वं विगागमश्च निपात्यते ॥ तरित्रत इति तरतेः शतरि श्लौ षष्ठ्येकवचने-ऽभ्यासस्य रिगागमो निपात्यते ॥ सरीसृपतमिति सृपेः शतरि श्लौ द्वितीयैकवचनेऽभ्यासस्य रीगागमो निपात्यते ॥ वरीवृजदिति वृजेः शतरि श्लौ रीगागमोऽभ्यासस्य निपात्यते ॥ मर्मृज्येति मृजेर्लिटि णलि अभ्यासस्य रुगागमो धातोश्च युगागमो निपात्यते ॥ आगनीगन्ति इत्यत्र आङ्पूर्वस्य गमेर्लटि श्लौ अभ्यासस्य चुत्वाभावो नीगागमश्च निपात्यते ॥

भाषार्थः—[*दाधर्ति....गन्ति*] दाधर्त्ति, दर्धर्त्ति, दर्धर्षि, बोभूतु, तेतिक्ते, अलर्षि, आपनीफणत्, संसनिष्यदत्, करिक्रत्, कनिक्रदत्, भरिभ्रत्, दविध्वतः, दविद्युतत्, तरित्रतः, सरीसृपतम्, वरीवृजत्, मर्मृज्य, आगनीगन्ति [*इति*] ये शब्द [*च*] भी वेद विषय में निपातन किये जाते हैं ॥ दाधर्त्ति, दर्धर्त्ति, दर्धर्षि ये शब्द णिजन्त धृञ् धारणे अथवा धृङ् अवस्थाने या धृङ् अवध्वंसने धातुओं से श्लु में अथवा यङ्-लुक् में निपातन हैं । दाधर्त्ति यहाँ जब णिजन्त धृञ् से श्लु में निपा-तन मानेंगे तो णि का लुक् एवं अभ्यास को दीर्घत्व निपातन से होगा । शप् को श्लु *बहुलं छन्दसि* (२।४।७६) से सर्वत्र होगा । जब धृङ् से दाधर्त्ति की सिद्धि करेंगे तो श्लु परे रहते अभ्यास दीर्घत्व एवं परस्मै-पदत्व निपातन से होगा । तुदादिगणस्थ धृङ् से मानने पर श विकरण को पहिले व्यत्यय से शप् कर लेने पर पूर्वोक्तानुसार श्लु होगा । यङ्-लुक् में दाधर्त्ति की निष्पत्ति मानने पर धारि (धृञ्) णिजन्त धातुओं के अनेकाच् होने से यङ्प्राप्त नहीं था निपातन से प्राप्त करा दिया तथा

उपधा ह्रस्वत्व भी निपातन से जानना चाहिये। इस पक्ष में यङ् के आर्धधातुक होने से *णेरनिटि* (६।४।५१) से णिलोप एवं *दीर्घोऽकितः* (७।४।८३) से अभ्यास को दीर्घत्व हो जायेगा, अतः ये विधियाँ निपातन नहीं हैं ॥ दर्धर्त्ति यहाँ पूर्ववत् धारि धातु से श्लु में रुक् आगम एवं णिलोप निपातन है। यङ्लुक् पक्ष में *दीर्घोऽकितः* (७।४।८३) से प्राप्त दीर्घत्व का अभाव धारि के अनेकाच् होने से अप्राप्त यङ् भी निपातन है। दर्धर्त्ति में रुक् आगम तो *ऋतश्च* (७।४।९२) से सिद्ध ही है। दर्धर्त्ति के समान ही दर्धर्षि में भी सिप् परे रहते सब कार्य जानें ॥ सर्वत्र यथाप्राप्त द्वित्व एवं अभ्यास कार्यादि समझते जायें ॥ बोभूतु यहाँ भू धातु के यङ्लुक् में लोट् परे रहते *सार्वधातु०* (७।३।८४) से प्राप्त गुण[1] का अभाव निपातन है ॥ *तेतिक्ते* यहाँ तिज धातु के यङ्लुक् में आत्मनेपदत्व[2] निपातन है। ज् को क् *चोः कुः* (८।२।३०) *खरि च* (८।४।५४) से हो जायेगा ॥ यङ्लुक् की सिद्धि का प्रकार परि० २।४।७४ तथा सूत्र ७।३।९४ में देख लें ॥ अलर्षि यहाँ ऋ गतौ (जुहो०) धातु के लट् में सिप् परे रहते *श्लौ* से द्वित्व एवं *उरत्* (७।४।६६) इत्यादि लगकर अर् अर् सि रहा। अब यहाँ *हलादिः शेषः* (७।४।६०) का अपवाद स्वरूप इस सूत्र से अभ्यास के रेफ् को निपातन से लत्व होकर अल् अर् षि = अलर्षि बन गया। *अर्तिपिपर्त्योश्च* से प्राप्त अभ्यास के इत्व का अभाव भी यहाँ निपातन से जानें ॥ *आपनीफणत्* यहाँ आङ् पूर्वक फण धातु के यङ्लुक् में शतृ प्रत्यय परे रहते अभ्यास को नीक् आगम निपातन है। आ प फण् शतृ = आ प नीक् फण् अत् = आपनीफणत् बन गया ॥ *संसनिष्यदत्* यहाँ सम् पूर्वक स्यन्द धातु के यङ्लुक् में शतृ परे रहते अभ्यास को निक् आगम तथा धातु के सकार को षत्व निपातन है। सम् स निक् स्यद् अत् = (यङ् परे रहते *अनिदितां०* ६।४।२४ से अनुनासिक लोप होकर) सं स नि ष्यद् अत् = संसनिष्यदत् बन गया ॥ *करिक्रत्* में डुकृञ् धातु के यङ्लुक् में शतृ परे रहते *कुहोश्चुः* (७।४।६२) से प्राप्त अभ्यास के चुत्व का अभाव तथा रिक् आगम निपातन है। *उरत्* इत्यादि लगकर क कृ अत् = क रिक् कृ अत् = यणादेश होकर करिक्रत् बन गया ॥ *कनिक्रदत्* यहाँ क्रन्द धातु के लुङ् में च्लि को अङ्,

१. इस विषय में पृ० ५२६ की टिप्पणी १ द्रष्टव्य है ॥

२. यहाँ भी पृ० ५२६ की टिप्पणी २ द्रष्टव्य है ॥

द्विर्वचन, अभ्यास को चुत्व का अभाव तथा निक् आगम निपातन है ॥ *भरिभ्रत्* यहाँ डुभृञ् धातु के यङ्लुक् में शतृ परे रहते *भृञामित्* (७।४।७६) से प्राप्त अभ्यास के इत्व का अभाव एवं *अभ्यासे चर्च* (८।४।५३) से प्राप्त जश्त्व का अभाव तथा रिक् आगम निपातन है ॥ *दविध्वतः* यह ध्वृ धातु के यङ्लुक् में शतृ परे रहते जस् का रूप है। यहाँ अभ्यास को विक् आगम तथा ध्वृ के ऋकार का लोप निपातन से होता है। *नाभ्यस्ताच्छतुः* (७।१।७८) से यहाँ *उगिदचां०* (७।१।७०) से प्राप्त नुम् आगम का निषेध हो जाता है ॥ दविध्वतो रश्मयः सूर्यस्य (ऋ० ४।१३।४) ॥ *दविद्युतत्* यहाँ द्युत् धातु के यङ्लुक् में शतृ परे रहते *द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम्* से अभ्यास को प्राप्त सम्प्रसारण का अभाव एवं अत्व तथा विक् आगम निपातन है। दु द्युत् अत् = अत्व एवं विक् आगम होकर द विक् द्युतत् = दविद्युतत् बन गया ॥ *तरित्रतः* यहाँ तॄ धातु से शतृ परे रहते शप् को श्लु पूर्ववत् करके षष्ठी के एकवचन में अभ्यास को रिक् आगम निपातन है। *श्लौ* से द्वित्व करके तॄ तॄ अत् = उरत् आदि लगकर त तॄ अत् = त रिक् तॄ अत् ङस् = तरित्रतः बन गया ॥ सुहोर्जा तरित्रतः (ऋ० ४।४०।३) ॥ *सरीसृपतम्* यहाँ भी सृप्लृ धातु से शतृ परे रहते शप् को श्लु होकर द्वितीया के एकवचन में अभ्यास को रीक् आगम निपातन है ॥ वरीवृजत् यहाँ भी वृजी धातु से शप् को श्लु पूर्ववत् होकर शतृ परे रहते अभ्यास को रीक् आगम निपातन है ॥ सर्वत्र शप् को श्लु करने का प्रयोजन द्वित्व करना ही है ॥ *मर्मृज्य* यहाँ मृजूष् धातु से लिट् में णल् परे रहते अभ्यास को रुक् आगम तथा धातु को युक् आगम निपातन है। मृज् मृज् णल् = उरत् आदि लगकर = म मृज् णल् = म रुक् मृज् युक् अ = मर् मृज्य् अ = ममृज्य बन गया। यहाँ युक् आगम (१।१।४५) कर लेने पर मृज् धातु के अलघूपध हो जाने से *मृजेर्वृद्धिः* (७।२।११४) से वृद्धि नहीं होती ॥ *आगनीगन्ति* यहाँ आङ् पूर्वक गम् धातु के लट् में शप् को श्लु पूर्ववत् करके अभ्यास को *कुहोश्चुः* (७।४।६२) से प्राप्त चुत्व का अभाव तथा नीक् आगम निपातन है। आ ग गम् ति = आ ग नीक् गम् ति = म् को अनुस्वार (८।३।२३) तथा परसवर्ण (८।४।५७) होकर आगनीगन्ति बन गया। वक्ष्यन्ती वेदा गनीगन्ति कर्णम् (ऋ० ६।७५।३) ॥

उरत् ॥७।४।६६॥

उः ६।१॥ अत् १।१॥ *अनु०*—अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—ऋवर्णान्तस्याभ्यासस्याकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—ववृते, ववृधे । नर्नर्त्ति, नरिनर्त्ति, नरीनर्त्ति ॥

भाषार्थः—[*उः*] ऋवर्णान्त अभ्यास को [*अत्*] अकारादेश होता है ॥ अत्व करने में *उरण्रपरः* (१।१।५०) लगकर रपरत्व हो जाये और उसका *हलादिः शेषः* (७।४।६०) से लोप हो जायेगा । यङ्लुक् नृत् धातु को द्वित्वादि होकर *रुग्रिकौ च लुकि* (७।४।९१) से अभ्यास को रुक् रिक् एवं रीक् आगम होकर नर्नर्त्ति आदि प्रयोग बनते हैं ॥

द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम् ॥७।४।६७॥

द्युतिस्वाप्योः ६।२॥ सम्प्रसारणम् १।१॥ *स०*—द्युतिश्च स्वापिः च द्युतिस्वाप्यौ तयोः"'इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—द्युति स्वापि इत्येतयोरभ्यासस्य सम्प्रसारणं भवति ॥ *उदा०*—लिटि—विदिद्युते । ण्यन्ताल्लुङि—व्यदिद्युतत् । सनि—विदिद्योतिषते, विदिद्युतिषते । यङि—विदेद्युत्यते । स्वापेः—सुष्वापयिषति ॥

भाषार्थः—[*द्युतिस्वाप्योः*] द्युत दीप्तौ तथा ण्यन्त स्वापि अङ्ग के अभ्यास को [*सम्प्रसारणम्*] सम्प्रसारण होता है ॥ द्युत् द्युत् त = यहाँ त को एश् (३।४।८१) तथा य् को सम्प्रसारण होकर वि द् इ उ त् द्युत एश् = *सम्प्रसारणाच्च* (६।१।१०४) तथा *हलादिः शेषः* लगकर विदिद्युते बन गया । विदिद्योतिषते में *रलो व्युप०* (१।२।२६) से सन् को विकल्प से कित्वत् होकर गुण एवं गुण निषेध करके दो पक्ष बनेंगे । व्यदिद्युतत् पूर्ववत् चङ् की सिद्धियों के समान सूत्र ७।४।१ में समझें । ञिष्वप् धातु से णिजन्त में स्वापि धातु बनकर पश्चात् सन् में सुष्वापयिषति बनता है । स्वापि इट् सन् यहाँ द्विर्वचन करते समय *णौ कृतं स्थानिवद् भवति* (भाष्य-ज्ञापक १।१।५७) से अद्विर्वचननिमित्तक णि के इ (अच्) के परे रहते भी रूपातिदेश होकर 'स्वप् स्वापि इ स' रहा । सम्प्रसारण होकर 'स् उ अ स्वापि इ स' रहा । पूर्ववत् गुण कार्य होकर सु स्वापे इ स = सुस्वापयि स = *आदेश०* (८।३।५९) से सन् के सकार को षत्व होकर सुस्वापयिष

शप् तिप् रहा। *स्तौतिण्योः०* (८।३।६१) से अभ्यास से उत्तर षत्व होकर सुष्वापयिषति बन गया ॥

यहाँ से '*सम्प्रसारणम्*' की अनुवृत्ति ७।४।६८ तक जायेगी ॥

व्यथो लिटि ॥७।४।६८॥

व्यथः ६।१॥ लिटि ७।१॥ *अनु०*—सम्प्रसारणम्, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—व्यथ भयसञ्चलनयोरित्येतस्याभ्यासस्य लिटि परतः सम्प्रसारणं भवति ॥ *उदा०*—विव्यथे, विव्यथाते, विव्यथिरे ॥

भाषार्थः—[*व्यथः*] व्यथ अङ्ग के अभ्यास को [*लिटि*] लिट् परे रहते सम्प्रसारण होता है ॥ *हलादिः शेषः* से अभ्यास के य् का लोप प्राप्त था, सम्प्रसारण हो गया। 'व्' को तो *न सम्प्रसारणे०* (६।१।३६) से सम्प्रसारण का निषेध हो जाता है। व्यथ् व्यथ् त = वि व्यथ् एश् = विव्यथे ॥

यहाँ से '*लिटि*' की अनुवृत्ति ७।४।७४ तक जायेगी ॥

दीर्घ इणः किति ॥७।४।६९॥

दीर्घः १।१॥ इणः ६।१॥ किति ७।१॥ *स०*—क् इत् यस्य स कित् तस्मिन्‥बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—लिटि, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—इणोऽङ्गस्य योऽभ्यासस्तस्य दीर्घो भवति किति लिटि परतः ॥ *उदा०*—ईयतुः, ईयुः ॥

भाषार्थः—[*इणः*] इण् अङ्ग के अभ्यास को [*किति*] कित् लिट् परे रहते [*दीर्घः*] दीर्घ होता है ॥ इण् को द्विर्वचन करने से पूर्व *इणो यण्* (६।४।८१) से यणादेश होकर पश्चात् *द्विर्वचनेऽचि* (१।१।५८) से रूपातिदेश होकर इ य् अतुस् = दीर्घ होकर ईयतुः बन गया ॥

यहाँ से '*दीर्घः*' की अनुवृत्ति ७।४।७० तक जायेगी ॥

अत आदेः ॥७।४।७०॥

अतः ६।१॥ आदेः ६।१॥ *अनु०*—दीर्घः, लिटि, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अभ्यासादेरकारस्य दीर्घो भवति लिटि परतः ॥ *अतो गुणे* (६।१।९४) इत्यनेन पररूपत्वे प्राप्ते तदपवादो दीर्घत्वं विधीयते ॥ *उदा०*—आट, आटतुः, आटुः ॥

भाषार्थः—अभ्यास के [*आदेः*] आदि [*अतः*] अकार को लिट् परे रहते दीर्घ होता है ॥ सिद्धि ७।४।६० सूत्र में देखें ॥

तस्मान्नुड् द्विहलः ॥७।४।७१॥

तस्मात् ५।१॥ नुट् १।१॥ द्विहलः ६।१॥ *स०*—द्वौ हलौ यस्य तद् द्विहल्, तस्य' ' 'बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—लिटि, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—तस्माद् दीर्घीभूतादभ्यासादुत्तरस्य द्विहलोऽङ्गस्य नुडागमो भवति ॥ *उदा०*—आनङ्ग, आनङ्गतुः, आनङ्गुः । आनञ्ज, आनञ्जतुः, आनञ्जुः ॥

भाषार्थः—[*तस्मात्*] अभ्यास के दीर्घ हुए हुए आकार से उत्तर [*द्विहलः*] दो हल् वाले अङ्ग को [*नुट्*] नुट् आगम होता है ॥ तस्मात् से समीपस्थ *अत आदेः* से दीर्घ किये हुये आकार का यहाँ आक्षेप है ॥ अगि धातु को *इदितो नुम्०* (७।१।५८) से नुम् होकर अङ्ग् बना । अङ्ग् अङ्ग द्वित्व तथा पूर्व सूत्र से दीर्घत्व होकर 'आ अङ्ग् अ' रहा । यहाँ दीर्घत्व किये हुये 'आ' से उत्तर दो हल् वाले अङ्ग् को नुट् आगम (१।१।४५) हो गया । अङ्ग् यहाँ ङ् तथा ग् दो हल् हैं ही सो 'अङ्ग्' धातु दो हल् वाला है ॥ इसी प्रकार अञ्जू धातु से आनञ्ज आदि में समझें । यहाँ भी ञ् तथा ज् दो हल् हैं, सो अञ्ज् दो हल् वाला अङ्ग है ॥

यहाँ से '*तस्मान्नुट्*' की अनुवृत्ति ७।४।७२ तक जायेगी ॥

अश्नोतेश्च ॥७।४।७२॥

अश्नोतेः ६।१॥ च अ०॥ *अनु०*—लिटि, तस्मान्नुट्, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अश्नोतेश्च दीर्घीभूतादभ्यासादुत्तरस्य नुडागमो भवति ॥ अद्विहलर्थोऽयमारम्भः ॥ *उदा०*—व्यानशे, व्यानशाते, व्यानशिरे ॥

भाषार्थः—[*अश्नोतेः*] अश्नोति = अशू व्याप्तौ अङ्ग के दीर्घ किये हुये अभ्यास से उत्तर [*च*] भी नुट् आगम होता है ॥ अश् अङ्ग दो हल् वाला नहीं है, अतः पूर्व सूत्र से नुट् की प्राप्ति नहीं थी, विधान कर दिया ॥ पूर्ववत् *अत आदेः* से दीर्घ करके नुट् होगा ॥

भवतेरः ॥७।४।७३॥

भवतेः ६।१॥ अः १।१॥ *अनु०*—लिटि, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥

अर्थः—भवतेरङ्गस्याभ्यासस्याकारादेशो भवति लिटि परतः ॥ *उदा०*—बभूव, बभूवतुः, बभूवुः, अनुबभूवे ॥

भाषार्थः—[*भवतेः*] भू अङ्ग के अभ्यास को [*अः*] अकारादेश लिट् परे रहते होता है ॥ बभूव की सिद्धि परि० १।२।६ में देखें। अनुबभूवे कर्मवाच्य में आत्मनेपद (१।३।१३) तथा 'त' को एश् होकर बना है ॥

यहाँ से '*अः*' की अनुवृत्ति ७।४।७४ तक जायेगी ॥

ससूवेति निगमे ॥७।४।७४॥

ससूव, क्रियापदम् ॥ इति अ० ॥ निगमे ७।१॥ *अनु०*—अः, लिटि, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—ससूव इति निपात्यते। सूतेर्लिटि परस्मैपदं वुक् आगमोऽभ्यासस्य चात्वं निगमे (वेदे) विषये निपात्यते ॥ *उदा०*—ससूव स्थविरं विपश्चिताम् ॥

भाषार्थः—[*ससूव*] ससूव [*इति*] यह शब्द [*निगमे*] वेद विषय में निपातन किया जाता है ॥ षूङ् धातु से लिट् परे रहते परस्मैपद, सू को वुक् आगम तथा अभ्यास को अत्व निपातन है ॥ *धात्वादेः षः सः* (६।१।६२) से ष् को स् होकर सू वुक् णल् = सूव् सूव् अ = ससूव बन गया ॥

निजां त्रयाणां गुणः श्लौ ॥७।४।७५॥

निजाम् ६।३॥ त्रयाणाम् ६।३॥ गुणः १।१॥ श्लौ ७।१॥ *अनु०*—अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—निजादीनां त्रयाणां धातूनामभ्यासस्य गुणो भवति श्लौ सति ॥ *उदा०*—णिजिर्—नेनेक्ति। विजिर्—वेवेक्ति। विष्लृ—वेवेष्टि ॥

भाषार्थः—[*निजाम्*] णिजिर् आदि [*त्रयाणाम्*] तीन धातुओं के अभ्यास को [*श्लौ*] श्लु होने पर [*गुणः*] गुण होता है ॥ 'निजाम्' में बहुवचन निर्देश से आदि अर्थ निकलता है ॥ नेनेक्ति की सिद्धि परि० २।४।७५ में देखें ॥

यहाँ से '*त्रयाणाम्*' की अनुवृत्ति ७।४।७६ तक तथा '*श्लौ*' की ७।४।७८ तक जायेगी ॥

भृञामित् ॥७।४।७६॥

भृञाम् ६।३॥ इत् १।१॥ *अनु०*—त्रयाणाम्, श्लौ, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—भृञादीनां त्रयाणां धातूनामभ्यासस्येकारादेशो भवति श्लौ सति ॥ *उदा०*—डुभृञ्-बिभर्त्ति । माङ्-मिमीते । ओहाङ्-जिहीते ॥

भाषार्थः—[*भृञाम्*] डुभृञ् आदि तीन धातुओं के अभ्यास को [इत्] इकारादेश होता है, श्लु होने पर ॥ अभ्यास के अन्त्य अल् (१।१।५१) को ही इत्व सर्वत्र जानें ॥ पूर्ववत् 'भृञाम्' में बहुवचन होने से आदि अर्थ लिया गया है ॥ मिमीते जिहीते में ई *हल्यघोः* (६।४।११३) से अभ्यस्त अङ्ग के आ को 'ई' हुआ है । मा त = श्लौ से द्वित्व होकर मा मा त = म मा त, इत्व होकर मि मा त = मि म् ई ते = मिमीते बन गया । बिभर्त्ति की सिद्धि परि० २।४।७५ में देखें ॥

यहाँ से 'इत्' की अनुवृत्ति ७।४।८१ तक जायेगी ॥

अर्त्तिपिपर्त्योश्च ॥७।४।७७॥

अर्त्तिपिपर्त्योः ६।२॥ च अ० ॥ *स०*—अर्त्ति० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—इत्, श्लौ, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—ऋ गतौ, पॄ पालनपूरणयोः इत्येतयोरभ्यासस्य इकारादेशो भवति श्लौ सति ॥ *उदा०*—इयर्त्ति धूमम् । पिपर्त्ति सोमम् ॥

भाषार्थः—[*अर्त्तिपिपर्त्योः*] ऋ तथा पॄ धातुओं के अभ्यास को [च] भी श्लु होने पर इकारादेश होता है ॥ इयर्त्ति की सिद्धि सूत्र ६।४।७८ में देखें ॥

बहुलं छन्दसि ॥७।४।७८॥

बहुलम् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ *अनु०*—इत्, श्लौ, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—छन्दसि विषयेऽभ्यासस्य बहुलमिकारादेशो भवति श्लौ सति ॥ *उदा०*—पूर्णां विवष्टि । जनिमा विवक्ति । वत्सं न माता सिषक्ति । जिघर्त्ति सोमम् । न च भवति-ददातीत्येवं ब्रूयात् । जजनमिन्द्रं माता यद्वीरं दधनम् धनिष्ठा ॥

भाषार्थः—[*छन्दसि*] वेद विषय में अभ्यास को [*बहुलम्*] बहुल

करके श्लु होने पर इकारादेश होता है ॥ विवष्टि विवक्ति की सिद्धि परि० २।४।७६ में देखें। षच धातु से सिषक्ति, एवं घृ से जिघर्त्ति बनेगा। जन से लङ् में जजनम् तथा धन से दधनम् इत्व न होकर बनेगा। *बहुलं छन्दस्य०* (६।४।७५) से अट् आगम का अभाव एवं श्लौ से द्वित्व तथा मिप् को अम् (३।४।१०१) होकर जजनम्, दधनम् बन गया ॥

सन्यतः ॥७।४।७९॥

सनि ७।१॥ अतः ६।१॥ *अनु०*—इत्, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—सनि परतोऽकारान्तस्याभ्यासस्य इकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—पिपक्षति, यियक्षति, तिष्ठासति, पिपासति ॥

भाषार्थः—[*सनि*] सन् परे रहते [*अतः*] अकारान्त अभ्यास को इत्व होता है ॥ *अलोन्त्यस्य* (१।१।५१) से अन्त्य अल् 'अ' को 'इ' होगा ॥ पच्, यज् अनिट् धातुएँ हैं। पिपक्षति में *चोः कुः* (८।२।३०) से कुत्व तथा यियक्षति में यज् के ज् को ८।२।३६ से ष् एवं *षढोः कः०* (८।२।४१) से क् हुआ है ॥

यहाँ से '*सनि*' की अनुवृत्ति ७।४।८१ तक जायेगी ॥

ओः पुयण्ज्यपरे ॥७।४।८०॥

ओः ६।१॥ पुयण्जि ७।१॥ अपरे ७।१॥ *स०*—पुश्च यण् च ज् च पुयणज् तस्मिन्...समाहारद्वन्द्वः। अः परो यस्मात् पुयणजस्तदपरम् तस्मिन्...बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—सनि, इत्, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—उवर्णान्तस्याभ्यासस्य पवर्गे यणि (य, व, र, ल) जकारे चावर्णपरे परत इकारादेशो भवति सनि प्रत्यये परतः ॥ *उदा०*—पवर्गेऽपरे—पिपविषते, पिपावयिषति। बिभावयिषति। यण्यपरे—यियविषति, यियावयिषति। रिरावयिषति, लिलावयिषति। ज्यपरे—जुजिजावयिषति ॥

भाषार्थः—[*अपरे*] अवर्ण परक [*पुयण्जि*] पवर्ग, यण्, (यण् प्रत्याहार का कोई वर्ण) तथा जकार परे वाला जो [*ओः*] उवर्णान्त अभ्यास उसको इकारादेश होता है, सन् परे रहते, अर्थात् उवर्णान्त अभ्यास के परे ऐसा पवर्ग यण् तथा जकार हो जिससे परे अवर्ण हो ॥ पिपविषते आदि में उवर्णान्त अभ्यास 'पु' से उत्तर अवर्ण परक पवर्गादि हैं

ही, सो इत्व हो गया ॥ उवर्णान्त अभ्यास होने से पूर्व सूत्र से प्राप्ति ही नहीं थी, विधान कर दिया ॥ *स्मिपूङ्०* (७।२।७४) से पिपविषते में इट् आगम होता है, गुण अवादेश करके स्थानिवद्भाव करके पू पव् द्वित्व होगा। इसी प्रकार सबमें द्वित्व की प्रक्रिया समझें। पिपावयिषति, आदि में ण्यन्त से सन् हुआ है, सो 'पू पाव्' द्वित्व सर्वत्र होगा ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।४।८१ तक जायेगी ॥

स्रवतिशृणोतिद्रवतिप्रवतिप्लवतिच्यवतीनां वा ॥७।४।८१॥

स्रवति'''तीनाम् ६।३॥ वा अ० ॥ *स०*—स्रवति० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—ओः पुयण्ज्यपरे, सनि, इत्, अभ्यासस्य ॥ *अर्थः*—स्रु गतौ, श्रु श्रवणे, द्रु गतौ, प्रुङ्, प्लुङ्, च्युङ् गतौ इत्येतेषामभ्यासस्य ओरवर्णपरे यणि परतो विकल्पेनेत्वं भवति सनि प्रत्यये परतः ॥ *उदा०*—स्रु–सिस्रावयिषति, सुस्रावयिषति। श्रु–शिश्रावयिषति, शुश्रावयिषति। द्रु–दिद्रावयिषति, दुद्रावयिषति। प्रु–पिप्रावयिषति, पुप्रावयिषति। प्लु–पिप्लावयिषति, पुप्लावयिषति। च्यु–चिच्यावयिषति, चुच्यावयिषति ॥

भाषार्थः—[*स्रवति''''तीनाम्*] स्रु, श्रु, द्रु, प्रुङ्, प्लुङ्, च्युङ् इनके अवर्णपरक यण् परे है जिससे ऐसे होने वाले उवर्णान्त अभ्यास को [*वा*] विकल्प से इकारादेश होता है ॥ यहाँ सर्वत्र इन ण्यन्त धातुओं से ही सन् होता है ॥ पूर्ववत् स्थानिवत् से 'स्रु स्राव्' ऐसा सर्वत्र द्वित्व होगा ॥ सभी उदाहरणों में अभ्यास से सीधा अवर्णपरक यण् परे नहीं है, मध्य में स्, श्, द् आदि का व्यवधान है, सो यहाँ वचन सामर्थ्य से उवर्णान्त अभ्यास एवं अवर्णपरक यण् के मध्य में एक वर्ण का व्यवधान होने पर भी इकारादेश हो जाता है। पूर्व सूत्र से अनन्तर यण् के परे ही प्राप्ति थी, अतः इस सूत्र में अप्राप्त विभाषा है ॥ यहाँ 'पुयण्ज्यपरे' की अनुवृत्ति आते हुये भी केवल 'यण् अपरे' का ही सम्बन्ध सम्भव होने से लगता है, अन्य का नहीं ॥

गुणो यङ्लुकोः ॥७।४।८२॥

गुणः १।१॥ यङ्लुकोः ७।२॥ *स०*—यङ् च लुक् च यङ्लुकौ तयोः'''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—यङि

यङ्लुकि च परतोऽभ्यासस्य गुणो भवति ॥ लुगिह यङ एव विवक्षितः समीपे उपस्थितत्वात् ॥ उदा०—यङि—चेचीयते, लोलूयते । यङ्लुकि-हु—जोहवीति । क्रुश—चोक्रुशीति ॥

भाषार्थः—[*यङ्लुकोः*] यङ् तथा यङ्लुक् के परे रहते इगन्त (१।१।३) अभ्यास को [*गुणः*] गुण होता है ॥ यहाँ 'लुक्' कहने से समीपस्थ यङ् के लुक् का ही ग्रहण होता है, अन्य किसी का नहीं ॥ यङ्लुक् में सिद्धि परि० २।४।७४ तथा यङ् में परि० ३।१।८२ में देखें ॥

यहाँ से '*यङ्लुकोः*' की अनुवृत्ति ७।४।९० तक जायेगी ॥

दीर्घोऽकितः ॥७।४।८३॥

दीर्घः १।१॥ अकितः ६।१॥ *स०*—ककार इत् यस्य स कित्, बहुव्रीहिः । न कित् अकित् तस्य ''नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—यङ्लुकोः, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अकितोऽभ्यासस्य दीर्घो भवति, यङि यङ्लुकि च परतः ॥ *उदा०*—पापच्यते, पापचीति, यायज्यते, यायजीति ॥

भाषार्थः—[*अकितः*] कित्भिन्न अभ्यास को [*दीर्घः*] दीर्घ होता है, यङ् तथा यङ्लुक् के परे रहते ॥ सिद्धियाँ परि० २।४।७४ तथा ३।१।८२ में देखें ॥

नीग्वञ्चुस्रंसुध्वंसुभ्रंसुकसपतपदस्कन्दाम् ॥७।४।८४॥

नीक् १।१॥ वञ्चु'''स्कन्दाम् ६।३॥ *स०*—वञ्चु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—यङ्लुकोः, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—वञ्चु, स्रंसु, ध्वंसु, भ्रंसु, कस, पत्लृ, पद, स्कन्दिर् इत्येतेषामभ्यासस्य नीगागमो भवति, यङि यङ्लुकि च परतः ॥ *उदा०*—वनीवच्यते, वनीवञ्चीति (यङ्लुकि) । स्रंसु—सनीस्रस्यते, सनीस्रंसीति । ध्वंसु—दनीध्वस्यते, दनीध्वंसीति । भ्रंसु—बनीभ्रस्यते, बनीभ्रंसीति । कस—चनीकस्यते, चनीकसीति । पत्—पनीपत्यते, पनीपतीति । पद्—पनीपद्यते, पनीपदीति । स्कन्द्—चनीस्कद्यते, चनीस्कन्दीति ॥

भाषार्थः—[*वञ्चु'''स्कन्दाम्*] वञ्चु, स्रंसु, ध्वंसु, भ्रंसु, कस, पत्लृ पद, स्कन्दिर् इन धातुओं के अभ्यास को यङ् तथा यङ्लुक् परे रहते

[*नीक्*] नीक् आगम होता है ॥ सर्वत्र *अनिदितां हल०* (६।४।२४) से अनुनासिक लोप यङ् परे रहते हुआ है। यङ्लुक् में तो यङ् ङित् प्रत्यय के परे न होने से तथा *न लुमताङ्गस्य* (१।१।६२) से प्रत्ययलक्षण का भी निषेध हो जाने से अनुनासिक लोप नहीं होता ॥

नुगतोऽनुनासिकान्तस्य ॥७।४।८५॥

नुक् १।१॥ अतः ६।१॥ अनुनासिकान्तस्य ६।१॥ *स०*—अनुनासिकोऽन्ते यस्य तद् अनुनासिकान्तम्, तस्य''बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—यङ्लुकोः, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—अनुनासिकान्तस्याङ्गस्य योऽकारान्तोऽभ्यासस्तस्य नुगागमो भवति यङि यङ्लुकि च परतः ॥ *उदा०*—तन्—तन्तन्यते, तन्तनीति। गम्—जङ्गम्यते, जङ्गमीति। यम्—यंयम्यते, यंयमीति। रम्—रंरम्यते, रंरमीति ॥

भाषार्थः—[*अनुनासिकान्तस्य*] अनुनासिकान्त अङ्ग का जो [*अतः*] अकारान्त अभ्यास उसको [*नुक्*] नुक् आगम होता है, यङ् तथा यङ्लुक् परे रहते ॥ तन् गम् आदि अनुनासिकान्त अङ्ग हैं, उनको द्वित्वादि करने पर 'त तन्' रहा। अब यहाँ अनुनासिकान्त अङ्ग का अकारान्त अभ्यास है, सो नुक् आगम (१।१।४५) हो गया। यह नुक् आगम अनुस्वार के रूप में होता है, अतः झल् परे न होने पर भी यंयम्यते रंरम्यते आदि में अनुस्वार होता है। पश्चात् *पदान्तवच्चेति-वक्तव्यम्* (वा० ७।४।८५) से पदान्तवत् अतिदेश होने से जङ्गम्यते यँय्यम्यते आदि में *वा पदान्तस्य* (८।४।५८) से विकल्प से परसवर्ण हुआ है, केवल रंरम्यते रंरमीति में रेफ का सवर्ण न होने से परसवर्ण नहीं हुआ है ॥

यहाँ से 'नुक्' की अनुवृत्ति ७।४।८७ तक जायेगी ॥

जपजभदहदशभञ्जपशां च ॥७।४।८६॥

जपजभदहदशभञ्जपशाम् ६।३॥ च अ० ॥ *स०*—जप० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—नुक, यङ्लुकोः, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—जप व्यक्तायां वाचि, जभी गात्रविनामे, दह भस्मीकरणे, दंश दशने, भंजो आमर्दने, पश (सौत्रो धातुः) इत्येतेषामभ्यासस्य नुगागमो भवति, यङि यङ्लुकि च परतः ॥ *उदा०*—जप-जञ्जप्यते, जञ्जपीति। जभ-जञ्जभ्यते,

जञ्जभीति । दह–दन्दह्यते, दन्दहीति । दंश–दन्दश्यते, दन्दशीति । भञ्ज–बम्भज्यते, बम्भजीति । पश—पम्पश्यते, पम्पशीति ॥

भाषार्थः—[*जप*···*पशाम्*] जप, जभी, दह, दंश, भञ्ज, पश इन अङ्गों के अभ्यास को [च] भी नुक् आगम होता है यङ् तथा यङ्लुक् परे रहते ॥ पूर्व सूत्र से अप्राप्त था, विधान कर दिया ॥ दंश धातु का सूत्र में 'दश' निर्देश यह बताने के लिये किया है कि इसके अनुनासिक का लोप भी हो जाता है, अतः यङ्लुक् में भी अनुनासिक लोप होगा, यङ् परे तो *अनिदितां०* (६।४।२४) से हो ही जाता ॥ जञ्जप्यते आदि की सिद्धि परि० ३।१।२४ में देखें । आदि की ४ धातुओं को *लुपसद०* (३।१।२४) से यङ्, तथा भञ्ज, पश को *धातोरेकाचो०* सामान्य सूत्र से यङ् होता है ॥

चरफलोश्च ॥७।४।८७॥

चरफलोः ६।२॥ च अ० ॥ *स०*—चरश्च फल् च चरफलौ, तयोः··· इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—नुक्, यङ्लुकोः, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—चर फल इत्येतयोरभ्यासस्य नुगागमो भवति यङि यङ्लुकि च परतः ॥ *उदा०*—चञ्चूर्यते, चञ्चुरीति । फल—पम्फुल्यते, पम्फुलीति ॥

भाषार्थः—[*चरफलोः*] चर गतौ तथा ञिफला विशरणे अथवा फल निष्पत्तौ (फल से यहाँ इन दोनों का ग्रहण है) अङ्ग के अभ्यास को [च] भी यङ् तथा यङ्लुक् परे रहते नुक् आगम होता है ॥ चञ्चूर्यते की सिद्धि परि० ३।१।२४ में देखें । तद्वत् पम्फुल्यते में समझें । यङ्लुक् में चञ्चूर्यते के समान सब कार्य होकर तथा ईट् (७।३।९४) आगम होकर चञ्चुरीति बना । हल् परे न होने से यहाँ *हलि च* (८।२।७७) से दीर्घ नहीं हुआ ॥

यहाँ से '*चरफलोः*' की अनुवृत्ति ७।४।८९ तक जायेगी ॥

उत्परस्यातः ॥७।४।८८॥

उत् १।१॥ परस्य ६।१॥ अतः ६।१॥ *अनु०*—चरफलोः, यङ्लुकोः, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—चर, फल इत्येतयोरभ्यासात् परस्य अकारस्य स्थाने उकारादेशो भवति, यङि यङ्लुकि च परतः ॥ *उदा०*—चञ्चूर्यते, चञ्चुरीति । पम्फुल्यते, पम्फुलीति ॥

भाषार्थः—चर तथा फल धातुओं के अभ्यास से [*परस्य*] परे जो [*अतः*] अकार उसके स्थान में [*उत्*] उकारादेश यङ् तथा यङ्लुक् परे रहते होता है ॥ 'च चर् य' यहाँ अभ्यास से उत्तर 'च' का अ है उसको उत्व हो गया ॥

यहाँ से '*उत् अतः*' की अनुवृत्ति ७।४।८९ तक जायेगी ॥

ति च ॥७।४।८९॥

ति ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—उत्, अतः, चरफलोः, अङ्गस्य ॥ **अर्थः**—तकारादौ प्रत्यये च परतश्चरफलोरकारस्य स्थाने उकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—चूर्त्तिः । प्रफुल्तिः । प्रफुल्ताः सुमनसः ॥

भाषार्थः—[*ति*] तकारादि प्रत्यय परे रहते [*च*] भी चर तथा फल अङ्ग के अकार के स्थान में उकारादेश होता है ॥ 'यङ्लुकोः' तथा 'अभ्यासस्य' की अनुवृत्ति का सम्बन्ध यहाँ सूत्र के वचनसामर्थ्य से नहीं लगता, क्योंकि यङ् तथा यङ्लुक् के तकारादि प्रत्यय परे तो पूर्व सूत्र से ही सिद्ध था ॥ चूर्त्तिः में क्तिन् प्रत्यय *हलि च* (८।२।७७) से दीर्घ, *अचो रहा०* (८।४।४५) से त् को द्वित्व हुआ है । प्रफुल्ताः क्त के बहुवचन स्त्रीलिङ्ग का रूप है ॥

रीगृदुपधस्य च ॥७।४।९०॥

रीक् १।१॥ ऋदुपधस्य ६।१॥ च अ०॥ *स०*—ऋकार उपधा यस्य तद् ऋदुपधम् तस्य ''बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—यङ्लुकोः, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—ऋकारोपधस्याङ्गस्य योऽभ्यासस्तस्य रीगागमो भवति, यङि यङ्लुकि च परतः ॥ *उदा०*—वृतु—वरीवृत्यते, वरीवृतीति । वृधु—वरीवृद्ध्यते, वरीवृधीति । नृती—नरीनृत्यते, नरीनृतीति ॥

भाषार्थः—[*ऋदुपधस्य*] ऋकार उपधा वाले अङ्ग के अभ्यास को [*च*] भी यङ् यङ्लुक् में [*रीक्*] रीक् आगम होता है ॥ वृत् वृध् आदि ऋदुपध धातुएं हैं, सो पूर्वोक्तानुसार सिद्धि क्रम है । वरीवृद्ध्यते में *अनचि च* (८।४।४६) से 'ध्' को द्वित्व तथा *झलां जश्०* (८।४।५२) से पूर्व ध् को द् हुआ है ॥

यहाँ से '*ऋदुपधस्य*' की अनुवृत्ति ७।४।९१ तक तथा '*रीक्*' की ७।४।९२ तक जायेगी ॥

रुग्रिकौ च लुकि ॥७।४।९१॥

रुग्रिकौ १।२॥ च अ० ॥ लुकि ७।१॥ स०—रुग्रिकावित्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—रीक्, ऋदुपधस्य, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—ऋकारोपधस्याङ्गस्य योऽभ्यासस्तस्य रुग्रिकावागमौ भवतः चकाराद्रीक् च यङ्लुकि ॥ *उदा०*—रुक्—नर्नर्त्ति । रिक्—नरिनर्त्ति । रीक्—नरीनर्त्ति । वर्वर्त्ति, वरिवर्त्ति, वरीवर्त्ति ॥

भाषार्थः—ऋकार उपधा वाले अङ्ग के अभ्यास को [*रुग्रिकौ*] रुक् रिक् तथा [*च*] चकार से रीक् आगम होते हैं, [*लुकि*] यङ्लुक् में ॥ यहाँ 'लुकि' ग्रहण से यङ्लुक् में ही होता है, यङ् परे नहीं ॥ रुक् का रेफ् मात्र शेष रहेगा ॥

यहाँ से '*रुग्रिकौ लुकि*' की अनुवृत्ति ७।४।९२ तक जायेगी ॥

ऋतश्च ॥७।४।९२॥

ऋतः ६।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—रुग्रिकौ लुकि, रीक्, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—ऋकारान्तस्याङ्गस्य योऽभ्यासस्तस्य रुक् रिक् रीक् इत्येते आगमा भवन्ति यङ्लुकि ॥ *उदा०*—कृ–चर्कर्त्ति, चरिकर्त्ति, चरीकर्त्ति । हृ–जर्हर्त्ति, जरिहर्त्ति, जरीहर्त्ति ॥

भाषार्थः—[*ऋतः*] ऋकारान्त अङ्ग के अभ्यास को [*च*] भी रुक् रिक् तथा रीक् का आगम यङ्लुक् होने पर होता है ॥

सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे ॥७।४।९३॥

सन्वत् अ० ॥ लघुनि ७।१॥ चङ्परे ७।१॥ अनग्लोपे ७।१॥ स०—चङ्परो यस्मात् तच्चङ्परं तस्मिन्''' बहुव्रीहिः । अको लोपः अग्लोपः, षष्ठीतत्पुरुषः । नास्ति अग्लोपो यस्मिन् तदनग्लोपम्, तस्मिन्''' बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ *अर्थः*—चङ्परे णौ परतो यदङ्गं तस्य योऽभ्यासस्तस्य सनीव कार्यं भवति लघुनि धात्वक्षरे परतोऽनग्लोपे ॥ *उदा०*—सन्यत इत्युक्तं चङ्परेऽपि भवति तथा–अचीकरत्, अपीपचत् । *ओः पुयण्ज्यपरे* (७।४।८०) इत्युक्तं चङ्परेऽपि तथा–अपीपवत्, अलीलवत्, अजीजवत् । स्रवतिशृणोतीत्युक्तं चङ्परेऽपि तथा–असिस्रवत्, असुस्रवत् । अशिश्रवत्, अशुश्रवत् ।

अदिद्रवत्, अदुद्रवत्। अपिप्रवत्, अपुप्रवत्। अपिप्लवत्, अपुप्लवत्। अचिच्यवत्, अचुच्यवत्॥

भाषार्थः—[*चङ्परे*] चङ् परे है जिससे ऐसे णि के परे रहते जो अङ्ग उसके अभ्यास को [*लघुनि*] लघु धात्वक्षर परे रहते [*सन्वत्*] सन् के समान कार्य होता है यदि अङ्ग के [*अनग्लोपे*] अक् (प्रत्याहार) का लोप न हुआ हो तो॥ 'सन् के समान कार्य होता है' अर्थात् *सन्यतः* (७।४।७९) इत्यादि से जो कार्य सन् के परे रहते कहा है वह यहाँ चङ्परक णि परे रहते अभ्यास को भी अतिदिष्ट हो जाये। *सन्यतः* इत्यादि से अभ्यास को इत्त्व कहा है वही यहाँ हो जाता है॥ सिद्धियाँ परि० १।४।१०, ६।१।११ आदि में देखें। 'अ प पच् अ त्' इस अवस्था में अभ्यास से परे 'प' का अ लघु धात्वक्षर है, तथा चङ्परे प्रत्ययलक्षण से चङ्परक णि परे है सो अभ्यास को सन्वत् अतिदेश होकर इत्व हो गया। यहाँ सर्वत्र ही लघु धात्वक्षर तथा अभ्यास के मध्य में एक वर्ण का (प् आदि का) व्यवधान रहते हुये भी वचनसामर्थ्य से कार्य हो जाता है॥ चङ् णिच् में ही सम्भव है अतः यहाँ 'चङ्परे णि' कहा है॥

असिस्रवत् आदि में *स्रवतिशृणोति०* (७।४।८१) से विकल्प से इत्व विधान होने के कारण यहाँ भी विकल्प हुआ है। सिद्धि प्रकार सबमें एक जैसा है॥ स्रु को स्राव् इ वृद्धि एवं ह्रस्व तथा स्थानिवत् होकर स्रु स्रव् द्वित्वादि हुये हैं॥

यहाँ से '*लघुनि अनग्लोपे*' की अनुवृत्ति ७।४।९४ तक तथा '*चङ्परे*' की ७।४।९७ तक जायेगी॥

दीर्घो लघोः ॥७।४।९४॥

दीर्घः १।१॥ लघोः ६।१॥ *अनु०*—लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे, अभ्यासस्य, अङ्गस्य॥ *अर्थः*—लघुनि धात्वक्षरे परतो लघोरभ्यासस्य दीर्घो भवति चङ्परेऽनग्लोपे॥ *उदा०*—अचीकरत्, अजीहरत्, अलीलवत्, अपीपचत्॥

भाषार्थः—चङ्परक णि परे रहते जो अङ्ग उसके [*लघोः*] लघु अभ्यास को लघु धात्वक्षर परे रहते [*दीर्घः*] दीर्घ होता है॥ इत्व पूर्ववत् करके दीर्घ हो जायेगा॥

अत् स्मृदृत्वरप्रथम्रदस्तॄस्पशाम् ॥७।४।९५॥

अत् १।१॥ स्मृ···स्पशाम् ६।३॥ स०—स्मृ० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—चङ्परे, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—स्मृ चिन्तायाम्, दॄ भये, ञित्वरा संभ्रमे, प्रथ प्रख्याने, म्रद मर्दने, स्तॄञ् आच्छादने, स्पश बाधनस्पर्शनयोः इत्येतेषामभ्यासस्य अकारादेशो भवति चङ्परे णौ परतः ॥ उदा०— स्मृ–असस्मरत् । दॄ–अददरत् । त्वर–अतत्वरत् । प्रथ–अपप्रथत् । म्रद–अमम्रदत् । स्तॄ–अतस्तरत् । स्पश–अपस्पशत् ॥

भाषार्थः—[स्मृ···स्पशाम्] स्मृ, दॄ, ञित्वरा, प्रथ, म्रद, स्तॄञ्, स्पश इन अङ्गों के अभ्यास को चङ्परक णि परे रहते [अत्] अकारादेश होता है ॥ सन्वल्लघुनि० से सन्वद्भाव होने से सन्यतः से इत्व की प्राप्ति थी, अकारादेश विधान कर दिया ॥

यहाँ से 'अत्' की अनुवृत्ति ७।४।९७ तक जायेगी ॥

विभाषा वेष्टिचेष्ट्योः ॥७।४।९६॥

विभाषा १।१॥ वेष्टिचेष्ट्योः ६।२॥ स०—वेष्टि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—अत्, चङ्परे, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—वेष्ट वेष्टने, चेष्ट चेष्टायाम् इत्येतयोरभ्यासस्य विभाषा अकारादेशो भवति चङ्परे णौ परतः ॥ उदा०—अववेष्टत्, अविवेष्टत् । अचचेष्टत्, अचिचेष्टत् ॥

भाषार्थः—[वेष्टिचेष्ट्योः] वेष्ट तथा चेष्ट अङ्ग के अभ्यास को चङ्परक णि परे रहते [विभाषा] विकल्प से अकारादेश होता है ॥ इन धातुओं के अभ्यास से परे लघु धात्वक्षर (१।४।१०) परे नहीं है, अतः सन्वद्भाव (७।४।९३) से इत्व प्राप्त ही नहीं था, विकल्प से यहाँ अत्व कहने से पक्ष में अभ्यास के एकार को ह्रस्वः (७।४।५९) से ह्रस्वत्व होकर इकार जाता है ॥

ई च गणः ॥७।४।९७॥

ई लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ गणः ६।१॥ अनु०—अत्, चङ्परे, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—गणेरभ्यासस्येकारादेशो भवति अकारादेश्च चङ्परे णौ परतः ॥ उदा०—अजीगणत्, अजगणत् ॥

भाषार्थः—[*गणः*] गण धातु के अभ्यास को [*ई*] ईकारादेश [*च*] तथा चकार से अकारादेश भी होता है, चङ्परक णि परे रहते ॥ इस प्रकार दो पक्ष बनेंगे ॥

गण धातु चुरादि गण में अदन्त पढ़ी है, सो इसके अकार का *अतो लोपः* (६।४।४८) से लोप होने के कारण अग्लोपी यह अङ्ग है, अतः इसके अभ्यास को सन्वद्भाव होकर इत्व ए *दीर्घो लघोः* से दीर्घत्व प्राप्त नहीं था, ईकारादेश कर दिया, तथा पर्याय से अत् भी विधान कर दिया ॥

॥ इति सप्तमोऽध्यायः ॥

अथ अष्टमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

सर्वस्य द्वे ॥८।१।१॥

सर्वस्य ६।१॥ द्वे १।२॥ *अर्थः*—अधिकारोऽयम् । इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः पदस्येत्यतः प्राक्, तत्र सर्वस्य द्वे भवत इत्येवं तद्वेदितव्यम् ॥ वक्ष्यति *नित्यवीप्सयोः* (८।१।४) तत्र सर्वस्य स्थाने द्वे भवतः ॥ *उदा०*—पचति पचति । ग्रामो ग्रामो रमणीयः ॥

भाषार्थः—यह अधिकार सूत्र है, *पदस्य* (८।१।१६) से पहले-पहले जायेगा ॥ यहाँ से आगे पदस्य से पहले-पहले जो भी कहेंगे वहाँ [*सर्वस्य*] सबके स्थान में [*द्वे*] द्वित्व होता है, ऐसा अर्थ होता जायेगा ॥ यथा *नित्यवीप्सयोः* (८।१।४) आगे कहेंगे सो वहाँ अर्थ होगा "नित्यता तथा वीप्सा अर्थ में (सर्वस्य) सबको (द्वे) द्वित्व हो" ॥

तस्य परमाम्रेडितम् ॥८।१।२॥

तस्य ६।१॥ परम् १।१॥ आम्रेडितम् १।१॥ *अर्थः*—तस्य द्विरुक्तस्य यत्परं शब्दरूपं तदाम्रेडितसंज्ञं भवति ॥ *उदा०*—चौर चौर ३, वृषल-वृषल ३, दस्यो दस्यो ३ घातयिष्यामि त्वा, बन्धयिष्यामि त्वा ॥

भाषार्थः—[*तस्य*] उस द्वित्व किये हुये के [*परम्*] पर वाले (अर्थात् दूसरा) शब्द की [*आम्रेडितम्*] आम्रेडित संज्ञा होती है ॥ 'चौर' आदि शब्दों को *वाक्यादेराम०* (८।१।८) से द्वित्व होकर 'चौर चौर' बना । अब पर वाले चौर की आम्रेडित संज्ञा हो जाने से *आम्रेडितं भर्त्सने* (८।२।९५) से आम्रेडितसंज्ञक चौर की टि को प्लुत हो गया, इसी प्रकार सर्वत्र जानें । चौर के 'सु' का *एङ्ह्रस्वात्०* (६।१।६७) से लोप होकर द्वित्व हुआ है, एवं दस्यो दस्यो ३ में *ह्रस्वस्य गुणः* (७।३।१०८) से गुण हुआ है ॥

यहाँ से 'आम्रेडितम्' की अनुवृत्ति ८।१।३ तक जायेगी ॥

अनुदात्तं च ॥८।१।३॥

अनुदात्तम् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—आम्रेडितम् ॥ *अर्थः*—यदाम्रेडितसंज्ञं तदनुदात्तं च भवति ॥ *उदा०*—भुङ्क्ते भुंङ्क्ते । पशून् पशून् ॥

भाषार्थः—जिसकी आम्रेडित संज्ञा होती है, वह [*अनुदात्तम्*] अनुदात्त [*च*] भी होता है ॥ *नित्यवीप्सयोः* से भुङ्क्ते आदि में द्वित्व होता है । भुङ्क्ते की सिद्धि परि० १।३।६४ के प्रयुङ्क्ते के समान है । *भुजोऽनवने* (१।३।६६) से यहाँ आत्मनेपद हुआ है । भुज उदात्तेत् है, प्रत्यय स्वर से उदात्त हुआ । *सतिशिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधते* (वा० ६।१।१५२) से श्नम् को अनुदात्त प्राप्त हुआ, परन्तु श्नम् के अदुपदेश होने से *तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशा०* (६।१।१८०) से 'ते' अनुदात्त हो गया । सो श्नम् प्रत्यय स्वर से उदात्त हुआ । पश्चात् श्नम् के उदात्त अकार के लोप होने पर *अनुदात्तस्य च०* (६।१।१५५) से अनुदात्त ते उदात्त हो गया । द्वित्व होने के पश्चात् पर भाग में भी यही स्वर प्राप्त होने पर उसकी आम्रेडित संज्ञा होने से सब स्वर हटकर सारा पद अनुदात्त हुआ पश्चात् भु के उ को स्वरित (८।४।६५) एवं अन्य अनुदात्तों को एकश्रुति हो गई । इसी प्रकार पशु शब्द *अर्जिदृशि०* (*उणा०* १।२७) से कु प्रत्ययान्त होने से प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है । पर वाला भाग आम्रेडित संज्ञा होने से सारा अनुदात्त हो गया ॥

नित्यवीप्सयोः ॥८।१।४॥

नित्यवीप्सयोः ७।२॥ *स०*—नित्यञ्च वीप्सा च नित्यवीप्से तयोः··· इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सर्वस्य द्वे ॥ *अर्थः*—नित्ये चार्थे वीप्सायां च यः शब्दो वर्त्तते तस्य सर्वस्य द्वे भवतः ॥ *उदा०*—नित्ये–पचति पचति । जल्पति जल्पति । भुक्त्वा २ व्रजति । भोजं २ व्रजति । लुनीहि २ इत्येवमयं लुनाति । वीप्सायाम्–ग्रामो २ रमणीयः । जनपदो २ रमणीयः । पुरुषः पुरुषो निधनमुपैति ॥

भाषार्थः—[*नित्यवीप्सयोः*] नित्यता एवं वीप्सा अर्थ में जो शब्द उस सम्पूर्ण शब्द को द्वित्व होता है ॥

नित्यता आभीक्ष्ण्य = पौनःपुन्य को कहते हैं, वह नित्यता तिङ् तथा कृत् जो अव्यय संज्ञक उनमें ही होती है, सो उसी प्रकार उदाहरण

दर्शा दिये हैं। वीप्सा भिन्न २ पदार्थों की क्रिया तथा गुण की व्याप्ति को एक साथ कहने की इच्छा को कहते हैं। यथा जनपद २ रमणीय है। यहाँ भिन्न २ जनपदों के रमणीयता गुण को एक साथ कह दिया। इस प्रकार वीप्सा सुपों का ही धर्म है॥ *आभीक्ष्ण्ये णमुल् च* (३।४।२२) से उदाहरणों में क्त्वा णमुल् तथा *क्रियासमभिहारे०* (३।४।२) से लुनीहि में लोट् को 'हि' हुआ है। क्त्वा, णमुल् *क्त्वातोसुन्०* (१।१।३९) एवं *कृन्मेजन्तः* (१।१।३८) से अव्ययसंज्ञक तथा कृत्संज्ञक (३।१।९३) भी हैं, सो उनको नित्यता अर्थ में द्वित्व हुआ है॥

परेर्वर्जने ॥८।१।५॥

परेः ६।१॥ वर्जने ७।१॥ *अनु०*—सर्वस्य द्वे ॥ *अर्थः*—परीत्येतस्य वर्जनेऽर्थे वर्तमानस्य द्वे भवतः॥ *उदा०*—परि २ त्रिगर्त्तेभ्यो वृष्टो देवः। परि २ सौवीरेभ्यः। परि २ सर्वसेनेभ्यः॥

भाषार्थः—[*वर्जने*] वर्जन = छोड़ने अर्थ में वर्त्तमान [*परेः*] परि शब्द को द्वित्व होता है॥ *अपपरी वर्जने* (१।४।८७) से 'परि' शब्द की यहाँ कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से *पञ्चम्यपाङ्०* (२।३।१०) से त्रिगर्त्तेभ्यः आदि में पञ्चमी हुई है। *विभाषाऽप०* (२।१।११) से विकल्प से समास कहा है, सो असमास पक्ष में ही इस सूत्र से द्विर्वचन होता है, समास पक्ष में द्वित्व नहीं होता ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि समास पक्ष में परि स्वतन्त्र पद नहीं रहता। यहाँ वीप्सा अर्थ में द्विर्वचन प्राप्त था, नियमार्थ सूत्र है॥

प्रसमुपोदः पादपूरणे ॥८।१।६॥

प्रसमुपोदः ६।१॥ पादपूरणे ७।१॥ *स०*—प्रश्च सम् च उपश्च उत् च समुपोत् तस्य ... समाहारद्वन्द्वः। पादस्य पूरणं पादपूरणं तस्मिन् ... षष्ठीतत्पुरुषः॥ *अनु०*—सर्वस्य द्वे॥ *अर्थः*—प्र, सम्, उप, उत् इत्येतेषां द्वे भवतो द्विर्वचनेन चेत्पादः पूर्यते॥ *उदा०*—प्रप्रायमग्निर्भरतस्य शृण्वे (ऋ० ७।८।४)। संसमिद्युवसे (ऋ० १०।१९१।१)। उपोप मे परामृश (ऋ० १।१२६।७)। किं नोदुदु हर्षसे दातवा उ (ऋ० ४।२१।९)॥

भाषार्थः—[*प्रसमुपोदः*] प्र, सम्, उप, तथा उत् उपसर्गों को [*पादपूरणे*] पाद की पूर्त्ति करनी हो (अक्षरादि कम हों तो, पूर्त्ति करने

में) तो द्वित्व हो जाता है ॥ इस प्रकार का प्रयोग भाषा विषय में नहीं होता, अतः सामर्थ्य से यह सूत्र छन्द में ही प्रवृत्त होगा ॥

उपर्यध्यधसः सामीप्ये ॥८।१।७॥

उपर्यध्यधसः ६।१॥ सामीप्ये ७।१॥ *स०*—उपर्य० इत्यत्र समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सर्वस्य द्वे ॥ *अर्थः*—उपरि, अधि, अधस् इत्येतेषां द्वे भवतः सामीप्ये विवक्षिते ॥ *उदा०*—उपर्युपरि दुःखम्। उपर्युपरि ग्रामम्। अध्यधि ग्रामम्। अधोऽधो नगरम् ॥

भाषार्थः—[*उपर्यध्यधसः*] उपरि, अधि, अधस् इनको [*सामीप्ये*] समीपता अर्थ कहना हो तो द्वित्व होता है ॥ उपर्युपरि आदि में यणादेश हुआ है। उपर्युपरि दुःखम् अर्थात् अभी २ दुःख का क्षण दूर हुआ है ॥ उपरि आदि अव्यय शब्द हैं ॥

वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूयासम्मतिकोपकुत्सन-भर्त्सनेषु ॥८।१।८॥

वाक्यादेः ६।१॥ आमन्त्रितस्य ६।१॥ असूया···भर्त्सनेषु ७।३॥ *स०*—वाक्यस्य आदिः वाक्यादिस्तस्य···षष्ठीतत्पुरुषः। असूया च सम्मतिश्च कोपश्च कुत्सनञ्च भर्त्सनञ्च असूया···नानि, तेषु···इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सर्वस्य द्वे ॥ *अर्थः*—वाक्यादेरामन्त्रितस्य द्वे भवतः, असूया, सम्मति, कोप, कुत्सन, भर्त्सन इत्येतेषु गम्यमानेषु यदि तद्वाक्यं भवति ॥ *उदा०*—असूया—माणवकं ३ माणवक अभिरूपकं ३ अभिरूपक रिक्तं ते आभिरूप्यम्। सम्मतौ—माणवकं ३ माणवक अभिरूपकं ३ अभिरूपक शोभनः खल्वसि। कोपे—माणवकं ३ माणवक अविनीतकं ३ अविनीतक इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म। कुत्सने—शक्तिके ३ शक्तिके यष्टिके ३ यष्टिके रिक्ता ते शक्तिः। भर्त्सने—चौर चौर ३ वृषल वृषल ३ घातयिष्यामि त्वा बन्धयिष्यामि त्वा ॥

भाषार्थः—[*वाक्यादेः*] वाक्य के आदि के [*आमन्त्रितस्य*] आमन्त्रित को द्वित्व होता है, यदि वाक्य से [*असूया···र्त्सनेषु*] असूया, सम्मति, कोप, कुत्सन, भर्त्सन गम्यमान हो रहा हो तो ॥ दूसरे के गुणों को भी न सहन करने को असूया, सत्कार को सम्मति, क्रोध को कोप, निन्दा को कुत्सन, तथा डराने धमकाने को भर्त्सन कहते हैं ॥

उदाहरणों में माणवक आदि शब्द आमन्त्रित (२।३।४८) एवं वाक्य के आदि में स्थित हैं सो द्वित्व हो गया है, वाक्य से असूयादि अर्थों की प्रतीति हो ही रही है ॥ सर्वत्र असूयादि अर्थों में द्वित्व किये हुये पूर्व वाले पद को *स्वरितमाम्रेडिते०* (८।२।१०३) से प्लुत स्वरित होता है, केवल भर्त्सन अर्थ में *आम्रेडितं भर्त्सने* (८।२।९५) से पर वाले पद = आम्रेडित को प्लुत उदात्त हुआ है, सो उदाहरणों में दर्शा दिया है ॥

एकं बहुव्रीहिवत् ॥८।१।९॥

एकम् १।१॥ बहुव्रीहिवत् अ० ॥ बहुव्रीहेरिवेति बहुव्रीहिवत् ॥ *अर्थः*—द्विरुक्तमेकमित्येतच्छब्दरूपं बहुव्रीहिवद् भवति ॥ बहुव्रीहिवद्भावस्य प्रयोजनं—सुब्लोपपुंवद्भावौ ॥ *उदा०*—एकैकमक्षरं पठति । एकैकयाऽहुत्या जुहोति ॥

भाषार्थः—द्वित्व किये हुये [*एकम्*] एक शब्द को [*बहुव्रीहिवत्*] बहुव्रीहि के समान कार्य हो जाता है ॥ एकैकम् यहाँ वीप्सा अर्थ (८।१।४) में द्वित्व होकर बहुव्रीहिवद्भाव होने से 'एकम् एकम्' यहाँ जो विभक्ति थी उसका *सुपो धातु०* (२।४।७१) से लुक् हो गया। पश्चात् वृद्धि एकादेश (६।१।८५) करके एकैक से 'सु' आया उसको *अतोऽम्* (७।१।२४) से अम् होकर एकैकम् बन गया। स्त्रीलिङ्ग में एकैकया यहाँ भी इसी प्रकार एकया एकया में विभक्ति लुक् करके 'एका एकया' रहा, *स्त्रियाः पुंवद्०* (६।३।३२) से पुंवद्भाव होकर एकएकया बना। वृद्धि एकादेश करके एकैकया (३।१) बन गया ॥

यहाँ से '*बहुव्रीहिवत्*' की अनुवृत्ति ८।१।१० तक जायेगी ॥

आबाधे च ॥८।१।१०॥

आबाधे ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—बहुव्रीहिवत्, सर्वस्य द्वे ॥ आबाधनमाबाधः = पीडा । *भावे* (३।३।१८) इत्यनेनात्र घञ् ॥ *अर्थः*—आबाधे वर्त्तमानस्य द्वे भवतो बहुव्रीहिवच्चास्य कार्यं भवति ॥ *उदा०*—गतगतः, नष्टनष्टः, पतितपतितः । गतगता, नष्टनष्टा, पतितपतिता ॥

भाषार्थः—[*आबाधे*] आबाध = पीडा अर्थ में वर्त्तमान शब्द को [*च*] भी द्वित्व होता है, तथा उस शब्द को बहुव्रीहिवत् कार्य भी होता है ॥ पूर्ववत् बहुव्रीहिवत् करने के प्रयोजन हैं ॥

कोई अपने प्रिय के चले जाने पर पीड़ित = दुखित हुआ हुआ वियोग में कहता है 'गतगतः = चला गया, नष्टनष्टः = नष्ट हो गया' सो यही यहाँ आबाध अर्थ है। इस प्रकार प्रयोक्ता के कथन से यहाँ आबाधत्व की प्रतीति है।। गतगतः आदि में सुप् लोप तथा गतगता आदि में सुप् लोप एवं पुंवद्भाव दोनों हुये हैं।।

कर्मधारयवदुत्तरेषु ।।८।१।११।।

कर्मधारयवत् अ० ।। उत्तरेषु ७।३।। *अर्थः*—इत उत्तरेषु द्विर्वचनेषु कर्मधारयवत् कार्यं भवतीति वेदितव्यम् ।। कर्मधारयस्य इव कर्मधारयवत् ।। कर्मधारयवत्त्वे प्रयोजनं—सुब्लोपपुंवद्भावान्तोदात्तत्वानि ।। उदा०—सुब्लोपः—पटुपटुः, मृदुमृदुः, पण्डितपण्डितः। पुंवद्भावः—पटुपट्वी, मृदुमृद्वी, कालककालिका। अन्तोदात्तत्वम्—पटुपटुः, पटुपट्वी ।।

भाषार्थः—यहाँ से [उत्तरेषु] आगे द्विर्वचन करने में [*कर्मधारयवत्*] कर्मधारय समास के समान कार्य होते हैं, ऐसा जानना चाहिये ।। यह कार्यातिदेश है ।। कर्मधारयवत् करने का प्रयोजन—सुब्लोप, पुंवद्भाव, तथा अन्तोदात्तत्व है। सुप् का लोप तथा पुंवद्भाव पूर्ववत् है। *वोतो गुणवचनात्* (४।१।४४) से पट्वी मृद्वी शब्दों में ङीष् हुआ है, पूर्व पद में उसी की निवृत्ति पुंवद्भाव करने से होकर पटु मृदु शब्द रह गये। कालककालिका यहाँ *न कोपधायाः* (६।३।३५) से पुंवद्भाव का प्रतिषेध प्राप्त था, कर्मधारयवत्त्व होने से *पुंवत् कर्मधारय०* (६।३।४०) से पुंवद्भाव हो गया तो पूर्वपद वाले कालिका के टाप् एवं तन्निमित्तक इकार की निवृत्ति होकर कालककालिका बन गया। काला शब्द से *प्राणिवात्कः* (५।३।७०) से क, *केऽणः* (७।४।१३) से ह्रस्वत्व एवं *प्रत्ययस्थात्०* (७।३।४४) से इत्व होकर कालिका शब्द बना है, उसीको पुंवद्भाव हो गया। अन्तोदात्तत्व *समासस्य*[1] (६।१।२१७) से कर्मधारयवत् मानने से होता है। *अनुदात्तं च* (८।१।३) से आम्रेडित को अनुदात्त प्राप्त था, कर्मधारयवत् होने से

१. इस सूत्र को कार्यातिदेश मानने पर समासस्य का बाधक *अनुदात्तं च* से परत्व से अनुदात्त ही होना चाहिये, अतः इसी सूत्र से समास के अन्त को उदात्त विधान भी मानना चाहिये। शास्त्रातिदेश पक्ष में तो समासस्य हो जायेगा।

वह न होकर समास अन्तोदात्तत्व ही हुआ ॥ *प्रकारे गुण०* (८।१।१२) से सर्वत्र द्वित्व हुआ है ॥

यहाँ से '*कर्मधारयवत्*' की अनुवृत्ति ८।१।१५ तक जायेगी ॥

प्रकारे गुणवचनस्य ॥८।१।१२॥

प्रकारे ७।१॥ गुणवचनस्य ६।१॥ *स०*—गुणमुक्तवान् गुणवचनस्तस्य''तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—कर्मधारयवत्, सर्वस्य द्वे ॥ *अर्थः*—प्रकारे वर्त्तमानस्य गुणवचनस्य द्वे भवतः, कर्मधारयवत् चास्य कार्यं भवति। प्रकारः सादृश्यमिह गृह्यते ॥ *उदा०*—पटुपटुः, मृदुमृदुः, पण्डितपण्डितः ॥

भाषार्थः—[*प्रकारे*] प्रकार अर्थ में वर्त्तमान [*गुणवचनस्य*] गुणवचन शब्दों को द्वित्व होता है, और उसे कर्मधारयवत् कार्य भी होता है ॥ सादृश्य अर्थ वाले 'प्रकार' का यहाँ ग्रहण है, सो पटुपटुः का अर्थ है, कुछ कम पटु गुण वाला, अर्थात् यहाँ पूर्ण पटु की अपेक्षा से किसी में कुछ न्यूनता दिखाकर प्रकार = सादृश्य (उपमा) कहा जा रहा है। मृदुमृदुः का अर्थ होगा परिपूर्ण मृदुवाले की अपेक्षा से कुछ कम मृदु गुण वाला, सो सबमें ऐसा ही जानें ॥ पूर्व सूत्र से कर्मधारयवत् होने से पूर्ववत् अन्तोदात्तत्व *अनुदात्तं च* (८।१।३) का बाधक हो जायेगा ॥

अकृच्छ्रे प्रियसुखयोरन्यतरस्याम् ॥८।१।१३॥

अकृच्छ्रे ७।१॥ प्रियसुखयोः ६।२॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *स०*—न कृच्छ्रोऽकृच्छ्रस्तस्मिन्''नञ्तत्पुरुषः। प्रियश्च सुखञ्च प्रियसुखे तयोः''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—कर्मधारयवत्, सर्वस्य द्वे ॥ *अर्थः*—प्रिय सुख इत्येतयोरकृच्छ्रे द्योत्येऽन्यतरस्यां द्वे भवतः, कर्मधारयवच्चास्य कार्यं भवति ॥ *उदा०*—प्रियप्रियेण ददाति, सुखसुखेन ददाति। पक्षे—प्रियेण ददाति, सुखेन ददाति ॥

भाषार्थः—[*प्रियसुखयोः*] प्रिय तथा सुख शब्दों को [*अकृच्छ्रे*] अकृच्छ्र (कष्ट न होना) अर्थ द्योत्य हो तो [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प करके द्वित्व होता है, एवं कर्मधारयवत् कार्य उसको (द्वित्व किये हुये को) होता है ॥ 'प्रियप्रियेण ददाति' का अर्थ है, अत्यन्त निर्धन होने पर भी कोई वस्तु अनायास प्रसन्नता से दे देता है। इसी प्रकार 'सुखसुखेन' में समझें, यही यहाँ अकृच्छ्र है ॥ प्रियेण, सुखेन तृतीयान्त

शब्दों को द्वित्व करने पर कर्मधारयवत् होने से सुप् का लुक् हो गया तो 'प्रियप्रिय' रहा। पुनः तदन्त शब्द से तृतीया एकवचन 'टा' आकर प्रियप्रियेण, सुखसुखेन बन गया॥

यथास्वे यथायथम् ॥८।१।१४॥

यथास्वे ७।१॥ यथायथम् १।१॥ *स०*—यो यः स्वो यथास्वम्, तस्मिन्'''। *यथाऽसादृश्ये* (२।१।७) इति वीप्सायामव्ययीभावसमासः॥ स्वशब्दो ह्यत्रात्मवचनः, आत्मीयवचनो वा॥ *अनु०*—कर्मधारयवत्, सर्वस्य द्वे॥ *अर्थः*—यथास्वेऽर्थे यथायथमिति निपात्यते, कर्मधारयवच्चास्य कार्यं भवति। यथाशब्दस्य द्विर्वचनं नपुंसकलिङ्गता च निपातनेन भवति। नपुंसकलिङ्गतया *ह्रस्वो नपुंसके०* (१।२।४७) इत्यनेन ह्रस्वः॥ *उदा०*—ज्ञाताः सर्वे पदार्था यथायथम्। सर्वेषां तु यथायथम्॥

भाषार्थः— [*यथास्वे*] यथास्वम् अर्थ में [*यथायथम्*] यथायथम् शब्द निपातन है, तथा कर्मधारयवत् कार्य भी इसे होता है। यथा शब्द को द्विर्वचन तथा नपुंसकलिङ्गता निपातन से होती है, नपुंसकलिङ्ग होने से *ह्रस्वो नपुंसके०* से ह्रस्व होकर यथायथम् बनेगा॥

यथास्वे में 'स्व' शब्द आत्मा (वस्तु का अपना स्वभाव) अथवा आत्मीय (उसकी अपनी स्वाभाविकता) अर्थ का वाचक है॥ ज्ञाताः सर्वे पदार्थाः यथायथम् का अर्थ है "मैंने सब पदार्थों के उनके अपने स्वभाव को जान लिया है"। सर्वेषां तु यथायथम् = अर्थात् सब की आत्मीयता = स्वाभाविकता को॥ कर्मधारयवत् होने से पूर्ववत् अन्तोदात्तत्व होता है॥

द्वन्द्वं रहस्यमर्यादावचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिषु ॥८।१।१५॥

द्वन्द्वम् १।१॥ रहस्य'''व्यक्तिषु ७।३॥ *स०*—यज्ञपात्राणां प्रयोगः यज्ञपात्रप्रयोगः, षष्ठीतत्पुरुषः। मर्यादायाः वचनं मर्यादावचनं, षष्ठीतत्पुरुषः। रहस्यञ्च मर्यादावचनञ्च व्युत्क्रमणञ्च यज्ञपात्रप्रयोगश्च अभिव्यक्तिश्च रहस्य'''व्यक्तयस्तेषु'''इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—कर्मधारयवत्, सर्वस्य द्वे॥ *अर्थः*—रहस्य, मर्यादावचन, व्युत्क्रमण, यज्ञपात्रप्रयोग, अभिव्यक्ति इत्येतेष्वर्थेषु द्वन्द्वमिति निपात्यते कर्मधारयवत् चास्य कार्यं

भवति ।। द्वन्द्वमित्यत्र द्विशब्दस्य द्विर्वचनम्, द्विर्वचने कृते पूर्वपदस्याम्भावः, उत्तरपदस्य चात्वं निपात्यते ।। उदा०—रहस्ये–द्वन्द्वं मन्त्रयन्ते । मर्यादा-वचने–आचतुरं हीमे पशवो द्वन्द्वं मिथुनायन्ते । माता पुत्रेण पौत्रेण प्रपौत्रेण च मिथुनं गच्छति । व्युत्क्रमणे–द्वन्द्वं व्युत्क्रान्ताः । यज्ञपात्र-प्रयोगे–द्वन्द्वं न्यञ्चि यज्ञपात्राणि प्रयुनक्ति धीरः । अभिव्यक्तौ–द्वन्द्वं नारदपर्वतौ, द्वन्द्वं संकर्षणवासुदेवौ ।।

भाषार्थः—[*रहस्य*···*क्तिषु*] रहस्य, मर्यादावचन, व्युत्क्रमण, यज्ञपात्रप्रयोग अभिव्यक्ति इन अर्थों में [*द्वन्द्वम्*] द्वन्द्वम् यह शब्द निपातन है कर्मधारयवत् कार्य भी इसको होता है ।। द्वि शब्द को द्विर्वचन कर लेने के पश्चात् पूर्वपद के इकार को अम् भाव एवं उत्तरपद के 'इ' को अत्व तथा नपुंसकत्व यहाँ निपातन है । 'द्वि औ, द्वि औ' इस स्थिति में कर्मधारयवद्भाव होने से सुप् का लुक् पूर्ववत् हुआ, एवं निपातन से अम् भाव एवं अत्व भी होकर द्वन्द्व रहा । नपुंसकलिङ्ग होने से द्वन्द्व शब्द से आये हुये सु को अम् (७।१।२४) होकर द्वन्द्वम् बन गया । कर्मधारयवद्भाव होने से अन्तोदात्तत्व भी यहाँ पूर्ववत् होगा ।। रहस्य अर्थात् एकान्त । मर्यादावचन का अर्थ है स्थिति का अनतिक्रमण व्युत्क्रमण पृथक् अवस्थिति भेद को कहते हैं । अभिव्यक्ति अर्थात् साहचर्य ।। उदा०—रहस्य में—द्वन्द्वं मन्त्रयन्ते (दो दो मिल कर परस्पर मन्त्रणा करते हैं) । मर्यादावचन में—आचतुरं हीमे पशवो द्वन्द्वं मिथुना-यन्ते (चौथी पीढ़ी तक ये पशु परस्पर मैथुन करते हैं) । माता पुत्रेण पौत्रेण प्रपौत्रेण च मिथुनं गच्छति (माता पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र से संयुक्त होती है) । व्युत्क्रमण में—द्वन्द्वं व्युत्क्रान्ताः (दो दो वर्ग बना कर चले गए । यज्ञपात्रप्रयोग में—द्वन्द्वं न्यञ्चि यज्ञपात्राणि प्रयुनक्ति धीरः (धैर्यशाली अर्वाग्बिल = उलटे यज्ञपात्रों को दो दो को इकट्ठा वेदि में रखता है) । अभिव्यक्ति में—द्वन्द्वं नारदपर्वतौ (नारद और पर्वत दोनों का साह-चर्य) । द्वन्द्वं संकर्षणवासुदेवौ ।।

पदस्य ।।८।१।१६।।

पदस्य ६।१।। *अर्थः*—प्रागपदान्तादधिकाराद् इतोऽग्रे वक्ष्यमाणानि कार्याणि पदस्य भवन्तीत्यधिकारो वेदितव्यः ।। उदा०—वक्ष्यति—*संयोगान्तस्य लोपः* (८।२।२३) पचन्, यजन् ।।

भाषार्थः—यह अधिकार सूत्र है ॥ *अपदान्तस्य मूर्धन्यः* (८।३।५५) से पहिले २ अर्थात् ८।३।५४ तक के कहे हुये कार्य [*पदस्य*] पद के स्थान में होते हैं, ऐसा अधिकार जानना चाहिये ॥ शतृ प्रत्ययान्त पचन्त् यजन्त् पद के अन्त संयोग का लोप पचन् यजन् में हुआ है ॥

पदात् ॥८।१।१७॥

पदात् ५।१॥ *अनु०*—पदस्य ॥ *अर्थः*—अयमप्यधिकारः प्राक् *कुत्सने च सुप्यगोत्रादौ* (८।१।६९) । इतोऽग्रे वक्ष्यमाणानि कार्याणि पदात् पदस्य भवन्ति ॥ *उदा०*—वक्ष्यति-*आमन्त्रितस्य च* (८।१।१९) पचसि देवदत्त ॥

भाषार्थः—यह भी अधिकार सूत्र है। *कुत्सने च सुप्यगोत्रादौ* से पहिले २ कहे हुये कार्य [*पदात्*] पद से उत्तर पद के स्थान में होते हैं, ऐसा अधिकार जानना चाहिये ॥ पचसि देवदत्त यहाँ से पचसि पद से उत्तर देवदत्त आमन्त्रित संज्ञक पद को अनुदात्त हुआ है ॥

अनुदात्तं सर्वमपादादौ ॥८।१।१८॥

अनुदात्तम् १।१॥ सर्वम् १।१॥ अपादादौ ७।१॥ *स०*—पादस्य आदिः पादादिः, षष्ठीतत्पुरुषः । न पादादिरपादादिस्तस्मिन्'''नञ्तत्पुरुषः ॥ *अर्थः*—अयमप्यधिकारः *तिङि चोदात्तवति*, (८।१।७१) इत्येतत्पर्यन्तम् । इत उत्तरं यद् वक्ष्यामस्तद् 'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' इत्येवं तद् वेदितव्यम् ॥ *उदा०*—वक्ष्यति-*आमन्त्रितस्य* चेति-पचसि देवदत्त ॥

भाषार्थः—यह भी अधिकार सूत्र है, *तिङि चोदात्तवति* (८।१।७१) तक जायेगा। यहाँ से आगे जो कुछ कहेंगे वहाँ [*अपादादौ*] पाद के आदि में न हो तो [*सर्वम्*] सारा [*अनुदात्तम्*] अनुदात्त होता है, ऐसा अधिकार बैठता जायेगा ॥ पाद से यहाँ ऋचा का अथवा श्लोक का पाद गृहीत है सो 'उसके आदि में न हो तो' ऐसा अर्थ होगा ॥ पचसि देवदत्त यहाँ सम्पूर्ण आमन्त्रित संज्ञक को (२।३।४८) अनुदात्त होता है, क्योंकि इस सूत्र का *आमन्त्रितस्य च* में अधिकार है ॥

आमन्त्रितस्य च ॥८।१।१९॥

आमन्त्रितस्य ६।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—पदात् परस्यामन्त्रितस्य पदस्यापादादौ वर्त्त-

मानस्य सर्वस्यानुदात्तो भवति ।। उदा०—पचसि देवदत्त । पचसि यज्ञदत्त ।।

भाषार्थः—पद से उत्तर [*आमन्त्रितस्य*] आमन्त्रित संज्ञक सम्पूर्ण पद को [च] भी पाद के आदि में वर्त्तमान न हो तो अनुदात्त होता है ।। *आमन्त्रितस्य च* (६।१।१९२) से आद्युदात्त प्राप्त था, निघात कर दिया ।। *सामन्त्रितम्* (२।३।४८) से आमन्त्रित संज्ञा होती है ।।

युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वान्नावौ ।।८।१।२०।।

युष्मदस्मदोः ६।२।। षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः ६।२।। वान्नावौ १।२।। *स०*—युष्मद् च अस्मद् च युष्मदस्मदौ तयोः'''इतरेतरद्वन्द्वः । षष्ठी च चतुर्थी च द्वितीया च षष्ठीचतुर्थीद्वितीयाः, तासु यौ तिष्ठतस्तौ षष्ठीचतुर्थी-द्वितीयास्थौ तयोः'''इतरेतरद्वन्द्वगर्भतत्पुरुषः । वाम् च नौ च वान्नावौ, इतरेतरद्वन्द्वः ।। *अनु०*—अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ।। *अर्थः*—पदादुत्तरयोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोरपादादौ वर्त्तमानयोर्युष्मद-स्मदोः पदयोर्यथासङ्ख्यं वाम् नौ इत्येतावादेशौ भवतोऽनुदात्तौ च तौ भवतः ।। *उदा०*—षष्ठी-ग्रामो वां स्वम् । जनपदो नौ स्वम् । चतुर्थी-ग्रामो वां दीयते । जनपदो नौ दीयते । द्वितीया-ग्रामो वां पश्यति । ग्रामो नौ पश्यति ।।

भाषार्थः—पद से उत्तर [*षष्ठी'''स्थयोः*] षष्ठी विभक्ति में स्थित अर्थात् षष्ठ्यन्त, चतुर्थ्यन्त तथा द्वितीयान्त जो अपादादि में वर्त्तमान [*युष्मदस्मदोः*] युष्मद् अस्मद् शब्द उनके सम्पूर्ण के स्थान में क्रमशः [*वान्नावौ*] वाम् तथा नौ आदेश होते हैं, एवं उन आदेशों को अनुदात्त भी होता है ।। युष्मद् अस्मद् के षष्ठी चतुर्थी द्वितीया के बहुवचन, एकवचन में अन्य आदेश कहेंगे, अतः ये आदेश द्विवचन में जानने चाहियें ।। *उदा०*—ग्रामो वां स्वम् (ग्राम तुम दोनों की मिल्कियत है) जनपदो नौ स्वम् (जनपद हम दोनों की मिल्कियत है)। ग्रामो वां दीयते (ग्राम तुम दोनों के लिये दिया जाता है) जनपदो नौ दीयते (जन-पद हम दोनों के लिये दिया जाता है)। ग्रामो वां पश्यति (ग्राम तुम दोनों को देखता है) ग्रामो नौ पश्यति (ग्राम हम दोनों को देखता है) ।। सर्वत्र ग्राम या जनपद से उत्तर आदेश हुये हैं। षष्ठी में युवयोः,

आवयोः, चतुर्थी में युवाभ्याम्, आवाभ्याम्, तथा द्वितीया में युवाम् आवाम् के स्थान में ये आदेश क्रमशः हुये हैं ॥

यहाँ से *'युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः'* की अनुवृत्ति ८।१।२६ तक जायेगी ॥

बहुवचनस्य वस्नसौ ॥८।१।२१॥

बहुवचनस्य ६।१॥ वस्नसौ १।२॥ *स०*—वश्च नश्च वस्नसौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—पदादुत्तरयोर्बहुवचनान्तयोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोरपादादौ वर्त्तमानयोर्युष्मदस्मदोः पदयोर्यथासङ्ख्यं वस् नस् इत्येतावादेशौ भवतोऽनुदात्तौ च तौ भवतः ॥ *उदा०*—षष्ठी—ग्रामो वः स्वम्, जनपदो नः स्वम्। चतुर्थी—ग्रामो वो दीयते, जनपदो नो दीयते। द्वितीया—ग्रामो वः पश्यति, जनपदो नः पश्यति ॥

भाषार्थः—पद से उत्तर अपादादि में वर्त्तमान जो [*बहुवचनस्य*] बहुवचन में षष्ठ्यन्त चतुर्थ्यन्त एवं द्वितीयान्त युष्मद् अस्मद् पद उनको (सम्पूर्ण को) क्रमशः [*वस्नसौ*] वस्, नस् आदेश होते हैं, और वे आदेश अनुदात्त होते हैं ॥ 'ग्रामो वः स्वम्' की सिद्धि परि० १।१।५५ में देखें। सर्वत्र स्थानिवत् कार्य इसी प्रकार जान लेना चाहिये। षष्ठी में युष्माकम्, अस्माकम् चतुर्थी में युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम् तथा द्वितीया में युष्मान् अस्मान् के स्थान में क्रमशः वस्, नस् आदेश जानें। सर्वत्र पद से उत्तर है ही ॥

तेमयावेकवचनस्य ॥८।१।२२॥

तेमयौ १।२॥ एकवचनस्य ६।१॥ *स०*—तेश्च मेश्च तेमयौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीस्थयोः, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—पदादुत्तरयोरेकवचनान्तयोः षष्ठीचतुर्थीस्थयोरपादादौ वर्त्तमानयोर्युष्मदस्मदोः पदयोर्यथासङ्ख्यं ते मे इत्येतावादेशौ भवतोऽनुदात्तौ च तौ भवतः ॥ *उदा०*—षष्ठी—ग्रामस्ते स्वम्, ग्रामो मे स्वम्। चतुर्थी—ग्रामस्ते दीयते, ग्रामो मे दीयते ॥ द्वितीयान्तस्यादेशान्तरविधानात् नोदाह्रियते ॥

भाषार्थः—पद से उत्तर अपादादि में वर्त्तमान जो [*एकवचनस्य*] एकवचन वाले षष्ठ्यन्त चतुर्थ्यन्त युष्मद् अस्मद् पद उनको क्रमशः

[*तेमयौ*] ते, मे आदेश होते हैं, और वे आदेश अनुदात्त होते हैं ॥ द्वितीयान्त को अन्य आदेश आगे कहेंगे, अतः यहाँ 'द्वितीया' की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं लगेगा ॥ षष्ठी में तव, मम तथा चतुर्थी में तुभ्यम्, मह्यम् के स्थान में क्रमशः ते, मे आदेश होते हैं ॥

यहाँ से '*एकवचनस्य*' की अनुवृत्ति ८।१।२३ तक जायेगी ॥

त्वामौ द्वितीयायाः ॥८।१।२३॥

त्वामौ १।२॥ द्वितीयायाः ६।१॥ *स०*—त्वाश्च माश्च त्वामौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—एकवचनस्य, युष्मदस्मदोः, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—द्वितीयाया यदेकवचनं तदन्तयोरपादादौ वर्त्तमानयोर्युष्मदस्मदोः पदयोर्यथासङ्ख्यं त्वा मा इत्येतावादेशौ भवतोऽनुदात्तौ च तौ ॥ *उदा०*—ग्रामस्त्वा पश्यति, ग्रामो मा पश्यति ॥

भाषार्थः—पद से उत्तर अपादादि में वर्त्तमान [*द्वितीयायाः*] द्वितीया विभक्ति का जो एकवचन तदन्त युष्मद् अस्मद् पद को यथासङ्ख्य करके [*त्वामौ*] त्वा मा आदेश होते हैं, और वे अनुदात्त होते हैं ॥ द्वितीया एकवचनान्त त्वाम्, माम् को क्रमशः त्वा मा आदेश यहाँ हुये हैं ॥

न चवाहाहैवयुक्ते ॥८।१।२४॥

न अ० ॥ चवाहाहैवयुक्ते ७।१॥ *स०*—चश्च वाश्च हश्च अहश्च एवश्च चवाहाहैवाः, तैर्युक्तः चवाहाहैवयुक्तस्तस्मिन् द्वन्द्वगर्भतृतीयातत्पुरुषः ॥ *अनु०*—युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः, पदस्य, पदात् ॥ *अर्थः*—च, वा, ह, अह, एव एभिर्योगे युष्मदस्मदोर्वान्नावाद्य आदेशा न भवन्ति ॥ पूर्वैः सूत्रैः प्राप्ताः प्रतिषिध्यन्ते ॥ *उदा०*—ग्रामस्तव च स्वम्, ग्रामो मम च स्वम्। ग्रामो युवयोश्च स्वम्, ग्राम आवयोश्च स्वम्। ग्रामो युष्माकं च स्वम्, ग्रामोऽस्माकं च स्वम्। ग्रामस्तुभ्यं च दीयते, ग्रामो मह्यं च दीयते। ग्रामो युवाभ्यां च दीयते, ग्राम आवाभ्यां च दीयते। ग्रामो युष्मभ्यं च दीयते, ग्रामोऽस्मभ्यं च दीयते। ग्रामस्त्वां च पश्यति, ग्रामो मां च पश्यति। ग्रामो युवां च पश्यति, ग्राम आवां च पश्यति। ग्रामो युष्मांश्च पश्यति, ग्रामोऽस्मांश्च पश्यति। वा—ग्रामस्तव वा स्वम् ग्रामो मम वा स्वम्। ग्रामो युवयोर्वा स्वम्, ग्राम आवयोर्वा स्वम्। ग्रामो युष्माकं वा स्वम्, ग्रामोऽस्माकं वा स्वम्। ग्राम-

स्तुभ्यं वा दीयते, ग्रामो मह्यं वा दीयते । ग्रामो युवाभ्यां वा दीयते, ग्राम आवाभ्यां वा दीयते । ग्रामो युष्मभ्यं वा दीयते, ग्रामोऽस्मभ्यं वा दीयते। ग्रामस्त्वां वा पश्यति, ग्रामो मां वा पश्यति। ग्रामो युवां वा पश्यति, ग्राम आवां वा पश्यति । ग्रामो युष्मान् वा पश्यति, ग्रामोऽस्मान् वा पश्यति । ह–ग्रामस्तव ह स्वम्, ग्रामो मम ह स्वम्। ग्रामो युवयोर्ह स्वम्, ग्राम आवयोर्ह स्वम्। ग्रामो युष्माकं ह स्वम्, ग्रामोऽस्माकं ह स्वम्। ग्रामस्तुभ्यं ह दीयते, ग्रामो मह्यं ह दीयते । ग्रामो युवाभ्यां ह दीयते, ग्राम आवाभ्यां ह दीयते। ग्रामो युष्मभ्यं ह दीयते, ग्रामोऽस्मभ्यं ह दीयते । ग्रामस्त्वां ह पश्यति, ग्रामो मां ह पश्यति। ग्रामो युवां ह पश्यति, ग्राम आवां ह पश्यति। ग्रामो युष्मान् ह पश्यति, ग्रामोऽस्मान् ह पश्यति । अह–ग्रामस्तवाह स्वम्, ग्रामो ममाह स्वम्। ग्रामो युवयोरह स्वम्, ग्राम आवयोरह स्वम्। ग्रामो युष्माकमह स्वम्, ग्रामोऽस्माकमह स्वम्। ग्रामस्तुभ्यमह दीयते, ग्रामो मह्यमह दीयते। ग्रामो युवाभ्यामह दीयते, ग्राम आवाभ्यामह दीयते। ग्रामो युष्मभ्यमह दीयते, ग्रामोऽस्मभ्यमह दीयते । ग्रामस्त्वामह पश्यति, ग्रामो मामह पश्यति। ग्रामो युवामह पश्यति, ग्राम आवामह पश्यति। ग्रामो युष्मान् अह पश्यति, ग्रामोऽस्मान् अह पश्यति। एव—ग्रामस्तवैव स्वम्, ग्रामो ममैव स्वम्। ग्रामो युवयोरेव स्वम्, ग्राम आवयोरेव स्वम्। ग्रामो युष्माकमेव स्वम्, ग्रामोऽस्माकमेव स्वम्। ग्रामस्तुभ्यमेव दीयते, ग्रामो मह्यमेव दीयते। ग्रामो युवाभ्यामेव दीयते, ग्राम आवाभ्यामेव दीयते। ग्रामो युष्मभ्यमेव दीयते, ग्रामोऽस्मभ्यमेव दीयते। ग्रामस्त्वामेव पश्यति, ग्रामो मामेव पश्यति। ग्रामो युवामेव पश्यति, ग्राम आवामेव पश्यति। ग्रामो युष्मान् एव पश्यति, ग्रामोऽस्मान् एव पश्यति ॥

भाषार्थः—[*चवाहाहैवयुक्ते*] च, वा, ह, अह, एव इनके योग में षष्ठ्यन्त, चतुर्थ्यन्त, द्वितीयान्त युष्मद् अस्मद् शब्दों को पूर्व सूत्रों से प्राप्त वाम् नौ आदि आदेश [*न*] नहीं होते॥ एकवचन, द्विवचन, बहुवचन में जो भी आदेश पूर्व सूत्रों से कह आये हैं, उन सबका च, वा आदि के योग में प्रतिषेध हो जाता है, सो उसी प्रकार उदाहरण सभी वचनों में दर्शा दिये हैं॥

यहाँ से '*न*' की अनुवृत्ति ८।१।२६ तक जायेगी॥

पश्यार्थैश्चानालोचने ॥८।१।२५॥

पश्यार्थैः ३।१॥ च अ० ॥ अनालोचने ७।१॥ स०—पश्योऽर्थो येषां ते पश्यार्थास्तैः…बहुव्रीहिः ॥ दर्शनं पश्यः, अस्मादेव निपातनात्, *कृत्यल्युटो बहुलम्* (३।३।११३) इति वा भावे शप्रत्ययः। *पाघ्राध्मा०* (७।३।७८) सूत्रेण च पश्यादेशः ॥ न आलोचनमनालोचनम्, तस्मिन्… नञ्तत्पुरुषः ॥ दर्शनं ज्ञानम्। आलोचनं चक्षुर्विज्ञानम् ॥ *अनु०*—न, युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः, पदस्य, पदात् ॥ *अर्थः*—अनालोचनेऽर्थे वर्त्तमानैः पश्यार्थैः = ज्ञानार्थैर्धातुभिर्योगे युष्मदस्मदोर्वान्नावादयो न भवन्ति ॥ *उदा०*—ग्रामस्तव स्वं समीक्ष्यागतः, ग्रामो मम स्वं समीक्ष्यागतः। एवं सर्वत्र द्विवचने बहुवचनेऽपि उदाहार्यम्। ग्रामस्तुभ्यं दीयमानं समीक्ष्यागतः, ग्रामो मह्यं दीयमानं समीक्ष्यागतः। ग्रामस्त्वां समीक्ष्यागतः, ग्रामो मां समीक्ष्यागतः ॥

भाषार्थः—[*अनालोचने*] अनालोचन = न देखना अर्थ में वर्त्तमान [*पश्यार्थैः*] पश्य = दर्शन = ज्ञान अर्थ वाले धातुओं के योग में [*च*] भी युष्मद् अस्मद् को पूर्व सूत्रों से प्राप्त वाम् नौ आदि आदेश नहीं होते ॥ आलोचन चक्षु द्वारा देखने को कहते हैं। पश्यार्थ अर्थात् दर्शनार्थक = ज्ञानार्थक। साधारणतया 'पश्य' का देखना अर्थ ही लिया जाता है पर यहाँ अनालोचन निषेध के कारण पश्य से देखना अर्थ नहीं लेना किन्तु यहाँ ज्ञान अर्थ गृहीत है, तभी तो अनालोचन विषय सम्भव है ॥ उदाहरणों में 'समीक्ष्य' ज्ञानार्थक धातु का योग है, अतः वाम्, नौ आदि आदेश नहीं हुए। 'ग्रामस्तव स्वं समीक्ष्यागतः' का अर्थ है, ग्राम तुम्हारी मिल्कियत है ऐसा मन से निरूपण = ज्ञान करके आ गया। इस प्रकार यहाँ 'समीक्ष्य' का अनालोचन अर्थ है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों का भी अर्थ जानें ॥

सपूर्वायाः प्रथमाया विभाषा ॥८।१।२६॥

सपूर्वायाः ५।१॥ प्रथमायाः ५।१॥ विभाषा १।१॥ स०—सह = विद्यमानं पूर्वं यस्याः सा सपूर्वा, तस्याः…बहुव्रीहिः। *तेन सहेति०* (२।२।२८) इत्यनेनात्र समासः, *वोपसर्जनस्य* (६।३।८०) इत्यनेन च सहस्य 'स' आदेशः ॥ *अनु०*—न, युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः, पदात्,

पदस्य ॥ *अर्थः*—विद्यमानपूर्वात् प्रथमान्तात् पदादुत्तरयोर्युष्मदस्मदो र्विभाषा वान्नावादय आदेशा न भवन्ति ॥ *उदा०*—ग्रामे कम्बलस्ते स्वम्, पक्षे—ग्रामे कम्बलस्तव स्वम्। ग्रामे कम्बलो मे स्वम्, ग्रामे कम्बलो मम स्वम्। एवं सर्वत्र द्विवचनबहुवचनेऽपि पूर्ववदुदाहार्यम्। ग्रामे कम्बलस्ते दीयते, ग्रामे कम्बलस्तुभ्यं दीयते। ग्रामे कम्बलो मे दीयते, ग्रामे कम्बलो मह्यं दीयते। ग्रामे छात्रास्त्वा पश्यन्ति, ग्रामे छात्रास्त्वां पश्यन्ति। ग्रामे छात्राः मा पश्यन्ति, ग्रामे छात्राः मां पश्यन्ति ॥

भाषार्थः—[*सपूर्वायाः*] विद्यमान है पूर्व में (कोई पद) जिससे ऐसे [*प्रथमायाः*] प्रथमान्त पद से उत्तर षष्ठ्यन्त, चतुर्थ्यन्त तथा द्वितीयान्त युष्मद् अस्मद् शब्द को [*विभाषा*] विकल्प से वाम् नौ आदि आदेश नहीं होते, अर्थात् विकल्प से होते हैं ॥ ग्रामे कम्बलस्ते स्वम् आदि सभी उदाहरणों में प्रथमान्त कम्बल शब्द से पूर्व 'ग्रामे' पद है, अतः सपूर्व = विद्यमान पूर्व वाले कम्बल प्रथमान्त पद से उत्तर विकल्प से वाम्, नौ आदि आदेश हो गये ॥ सर्वत्र एकवचनान्त उदाहरण ही दिखा दिये हैं, इसी प्रकार पूर्व सूत्रों से कहे आदेश द्विवचनान्त बहुवचनान्त को भी विकल्प से होंगे। सभी वचनों में उदाहरण हमने *न चवा०* (८।१।२४) में दिखाये हैं, तद्वत् ही जान लेना चाहिये ॥

तिङो गोत्रादीनि कुत्सनाभीक्ष्ण्ययोः ॥८।१।२७॥

तिङः ५।१॥ गोत्रादीनि १।३॥ कुत्सनाभीक्ष्ण्ययोः ७।२॥ *स०*—गोत्र आदिर्येषां तानि गोत्रादीनि, बहुव्रीहिः। कुत्सनञ्च आभीक्ष्ण्यञ्च कुत्सनाभीक्ष्ण्ये तयोः''' इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—कुत्सने, आभीक्ष्ण्ये चार्थे वर्त्तमानानि तिङन्तात् पदात् पराणि गोत्रादीनि अनुदात्तानि भवन्ति ॥ *उदा०*—कुत्सने—पचति गोत्रम्, जल्पति गोत्रम्। पचति ब्रुवम्, जल्पति ब्रुवम्। आभीक्ष्ण्ये—पचति पचति गोत्रम्, जल्पति जल्पति गोत्रम् ॥

भाषार्थः—[*तिङः*] तिङन्त पद से उत्तर [*कुत्सनाभीक्ष्ण्ययोः*] कुत्सन (निन्दा) तथा आभीक्ष्ण्य (पौनः पुन्य) अर्थ में वर्त्तमान [*गोत्रादीनि*] गोत्रादि गण पठित पदों को अनुदात्त होता है ॥ जो अपने पुरु-

घार्थ को त्याग कर अपने गोत्र की उच्चतादि[1] बताकर जीवन यापन करता है, उसे 'पचति गोत्रम्' कहते हैं। पच् धातु यहाँ व्यक्त = ख्यापन अर्थ में है। ब्रुव शब्द भी निन्दार्थवाची है, अतः पचति ब्रुवम् का अर्थ 'क्या खाक पकाता है' ऐसा होगा। पचति २ गोत्रम् का अर्थ है, विवाहादि विषय में पुनः २ गोत्रोच्चारण करता है ॥ *नित्यवीप्सयोः* (८।१।४) से नित्यता आभीक्ष्ण्य अर्थ में पचति २ द्वित्व हुआ है। ब्रुव को वचि (२।४।५३) आदेश निपातन से नहीं हुआ है ॥

तिङ्ङतिङः ॥८।१।२८॥

तिङ् १।१॥ अतिङः ५।१॥ *स०*—न तिङ् अतिङ्, तस्मात् ''नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—अतिङन्तात् पदादुत्तरं तिङन्तं पदमनुदात्तं भवति ॥ *उदा०*—देवदत्तः पचति। यज्ञदत्तः पचति ॥

भाषार्थः—[*अतिङः*] अतिङ् पद से उत्तर जो [*तिङ्*] तिङ् पद उसको (सम्पूर्ण को) अनुदात्त होता है ॥ सर्वत्र सूत्रार्थ में 'अपादादौ' का सम्बन्ध लगा लेना चाहिये ॥ उदाहरण में देवदत्त यज्ञदत्त अतिङ् पद से उत्तर 'पचति' तिङ् पद है, सो उसे सब स्वर हट कर सर्वानुदात्त = निघात हो गया ॥ निघात करने से पूर्व पचति का क्या स्वर था, यह परि० ३।१।४ में देखें ॥ यहाँ से आगे इस सूत्र के अपवाद सूत्र कहे जायेंगे ॥

यहाँ से '*तिङ्*' की अनुवृत्ति ८।१।६६ तक जायेगी ॥

न लुट् ॥८।१।२९॥

न अ० ॥ लुट् १।१॥ *अनु०*—तिङ्, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—पदात् परं लुडन्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति ॥ पूर्वेणातिप्रसक्ते प्रतिषेध आरभ्यते ॥ *उदा०*—श्वः कर्त्ता, श्वः कर्त्तारौ, मासेन कर्त्तारः ॥

---

१. गोत्र बताकर जीविका यापन करना निन्दित है, मनुस्मृति में कहा है—
न भोजनार्थं स्वे विप्रः कुलगोत्रे निवेदयेत् ।
भोजनार्थं हि ते शंसन्वान्ताशीत्युच्यते बुधैः ॥ मनु० ३।७१॥

भाषार्थः—पद से उत्तर [लुट्] लुडन्त तिङन्त को अनुदात्त [न] नहीं होता ।। पूर्व सूत्र से अतिप्रसक्ति प्राप्त थी, यहाँ से उसका प्रतिषेध आरम्भ करते हैं ।। कर्त्ता कर्त्तारौ कर्त्तारः की स्वर सिद्धि सूत्र ६।१।१८० में देखें ।।

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ८।१।६६ तक जायेगी ।।

निपातैर्यद्यदिहन्तकुविन्नेच्चेच्चण्कच्चिद्यत्रयुक्तम् ।।८।१।३०।।

निपातैः ३।३।। यद्यदिहन्तकुविन्नेच्चेच्चण्कच्चिद्यत्रयुक्तम् १।१।। स०—यत् च यदिश्च हन्तश्च कुवित् च नेत् च चेत् च चण् च कच्चित् च यत्रश्च यद्यदि···यत्रास्तैर्युक्तं यद्यदि···युक्तम्, द्वन्द्वगर्भतृतीयातत्पुरुषः।। अनु०—न, तिङ् अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ।। *अर्थः*—यत्, यदि, हन्त, कुवित्, नेत्, चेत्, चण् कच्चित्, यत्र इत्येतैर्निपातैर्युक्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति ।। *उदा०*—यत्-यत् करोति, यत् पचति । यदंग्ने स्याम-हं त्वम् (ऋ० ८।४४।२३) यदि-यदि करोति, यदि पचति । युवा यदी कृथः (ऋ० ५।७४।५) । हन्त-हन्त करोति, हन्त पचति । कुवित्-कुवित् करोति, कुवित् पचति । नेत्-नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम । चेत्-स चेद् भुङ्क्ते, स चेदधीते । चण्-अयं च मरिष्यति । कच्चित्-कच्चिद् भुङ्क्ते, कच्चिदधीते । अचित्तिभिश्चकृमा कच्चित् (ऋ० ४।१२।४) । यत्र-यत्र भुङ्क्ते, यत्राधीते । पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति (ऋ० १।८९।९) ।।

भाषार्थः—[*यद्य···युक्तम्*] यत्, यदि, हन्त, कुवित्, नेत्, चेत्, चण्, कच्चित्, यत्र इन [*निपातैः*] निपातों से युक्त तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता ।। पूर्ववत् प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया ।। सिद्धि परिशिष्ट में देखें ।।

नह प्रत्यारम्भे ।।८।१।३१।।

नह अ० ।। प्रत्यारम्भे ७।१।। *अनु०*—न, तिङ्, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ।। प्रत्यारम्भः = पुनरारम्भः ।। नह इति निपात-समुदायः ।। *अर्थः*—नह इत्यनेन युक्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति प्रत्यारम्भे ।। *उदा०*—नह भोक्ष्यसे, नहाध्येष्यसे ।।

भाषार्थः—[*नह*] नह से युक्त तिङन्त को [*प्रत्यारम्भे*] प्रत्यारम्भ होने पर अनुदात्त नहीं होता ।। प्रत्यारम्भ पुनः आरम्भ को कहते हैं ।

खाओ या पढ़ो ऐसी आज्ञा देने के पश्चात् मना कर देने पर क्रोध से या उपहास से पुनः प्रतिषेध से सम्बन्धित वाक्य 'नह भोक्ष्यसे' = नहीं खाओगे (अर्थात् खाना पड़ेगा) ऐसा कहता है, यही प्रत्यारम्भ पुनः-आरम्भ है ।। नह शब्द न तथा ह मिलकर निपातों के समुदाय रूप में निर्दिष्ट है ।। भोक्ष्यसे अध्येष्यसे यहाँ थास् को से (३।४।८०) होकर 'स्य' के अदुपदेश होने से *तास्यनुदात्ते०* (६।१।१८०) से 'से' अनुदात्त तथा स्य प्रत्ययस्वर से उदात्त है, पश्चात् से को स्वरित (६।४।६५) हो गया ।।

सत्यं प्रश्ने ।।८।१।३२।।

सत्यम् १।१।। प्रश्ने ७।१।। *अनु०*—न, तिङ्, अनुदात्तं सर्वमपादादौ पदात्, पदस्य ।। *अर्थः*—सत्यमित्यनेन युक्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति प्रश्ने सति ।। *उदा०*—सत्यं भोक्ष्यसे, सत्यमध्येष्यसे ।।

भाषार्थः—[*सत्यम्*] सत्यम् शब्द से युक्त तिङन्त को [*प्रश्ने*] प्रश्न होने पर अनुदात्त नहीं होता ।। सत्यं भोक्ष्यसे = सचमुच खाओगे ? पढ़ोगे ? यहाँ प्रश्न किया जा रहा है ।। सिद्धि पूर्व सूत्र में देखें ।।

अङ्गाप्रातिलोम्ये ।।८।१।३३।।

अङ्ग अ० ।। अप्रातिलोम्ये ७।१।। *स०*—न प्रातिलोम्यम् अप्रातिलोम्यं तस्मिन्.... नञ्तत्पुरुषः ।। प्रातिलोम्यं प्रतिकूलता, तदभावोऽप्रतिकूलताऽनुकूल्यमिति यावत् । *गुणवचनब्रा०* (५।१।१२३) इत्यनेन ष्यञ् ।। *अनु०*—न, तिङ्, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ।। *अर्थः*—अप्रातिलोम्ये गम्यमानेऽङ्ग इत्यनेन युक्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति ।। *उदा०*—अङ्ग कुरु, अङ्ग पच, अङ्ग पठ ।।

भाषार्थः—[*अप्रातिलोम्ये*] अप्रातिलोम्य = अनुकूलता गम्यमान हो तो [*अङ्ग*] अङ्ग शब्द से युक्त तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता ।। कुरु की सिद्धि सूत्र ६।४।१०६ में देखें । कुरु प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त है, अर्थात् विकरण उ उदात्त है । पच, पठ धातुस्वर से आद्युदात्त हैं । पच् शप् हि = यहाँ हि का *अतो हेः* (६।४।१०५) से लुक् हुआ है तथा शप् पहले पित् स्वर से अनुदात्त था पश्चात् स्वरित हो गया है ।। अङ्ग कुरु = अर्थात् हाँ तुम करो । यही यहाँ अनुकूलता है ।।

यहाँ से '*अप्रातिलोम्ये*' की अनुवृत्ति ८।१।३४ तक जायेगी ।।

हि च ॥८।१।३४॥

हि अ० ॥ च अ० ॥ *अनु०*—अप्रातिलोम्ये, न, तिङ्, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—हि इत्यनेन युक्तं तिङन्तमप्रातिलोम्ये गम्यमाने नानुदात्तं भवति ॥ *उदा०*—त्वं हि कुरु, त्वं हि पठ ॥
भाषार्थः—[हि] हि से युक्त तिङन्त को [च] भी अप्रातिलोम्य गम्यमान होने पर अनुदात्त नहीं होता ॥ पूर्ववत् स्वर सिद्धियाँ हैं ॥

यहाँ से '*हि*' की अनुवृत्ति ८।१।३५ तक जायेगी ॥

छन्दस्यनेकमपि साकाङ्क्षम् ॥८।१।३५॥

छन्दसि ७।१॥ अनेकम् १।१॥ अपि अ० ॥ साकाङ्क्षम् १।१॥ *स०*—न एकम् अनेकम्, नञ्तत्पुरुषः । सह आकाङ्क्षया वर्त्तते = साकाङ्क्षम्, बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—हि, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—हियुक्तं साकाङ्क्षं तिङन्तमनेकमपि नानुदात्तं भवति, अपिग्रहणात् एकमपि क्वचिद् न भवति छन्दसि विषये कदाचिदेकं कदाचिदनेकमित्यर्थः ॥ *उदा०*—अनेकं तावत्—अनृतं हि मत्तो वदति पाप्मा एनं विपुनाति । एकमपि—अग्निर्हि अग्रे उदजयत् तमिन्द्रोऽनूदजयत् । अजा ह्यग्नेरजनिष्ट गर्भात्, सा वा अपश्यज्जनितारमग्रे (तै० सं० ४।२।१०।३) ॥

भाषार्थः—हि से युक्त [*साकाङ्क्षम्*] साकाङ्क्ष [*अनेकम्*] अनेक तिङन्तों को [*अपि*] तथा अपि ग्रहण से एक को भी कहीं २ अनुदात्त नहीं होता [*छन्दसि*] वेद विषय में ॥

'अनृतं हि मत्तो वदति' तथा 'पाप्मा एनं विपुनाति' यहाँ वदति विपुनाति दोनों तिङन्त हेतु हेतुमद्भाव (फल) होने से साकाङ्क्ष एवं दोनों 'हि' से युक्त हैं। हेतु है—क्योंकि मत्त = पागल झूठ बोलता है, अतः पाप्मा = मत्तपन उसको शुद्ध कर देता है अर्थात् मत्तता के कारण अनृत दोष का भागी नहीं होता—यह हेतुमद्भाव है। यहाँ दोनों साकाङ्क्ष तिङन्तों को अनुदात्त नहीं होता, अतः वदति पचति के समान आद्युदात्त है, एवं विपुनाति का 'ना' प्रत्यय स्वर से उदात्त है। अग्निर्हि अग्रे''' यहाँ भी 'वि' उपसर्ग को *तिङि चोदा०* (८।१।७१) से निघात हो ही जायेगा। दोनों उदजयत्, अनूदजयत् तिङन्त 'हि' से यु

तथा पूर्ववत् ही हेतु हेतुमद्भाव से साकाङ्क्ष हैं। अर्थ है—क्योंकि अग्नि पहले जय को प्राप्त हुआ, अतः अग्नि के पश्चात् इन्द्र ने जय को प्राप्त किया। यहाँ यद्यपि पूर्ववत् दोनों तिङन्त 'हि' से युक्त हैं, किन्तु सूत्र में अपि ग्रहण से एक को ही (उदजयत् को ही) अनुदात्त का निषेध प्रकृत सूत्र से हुआ, द्वितीय अनूदजयत् को *तिङ्ङतिङः* (८।१।२८) से प्राप्त निघात ही हुआ। उत्पूर्वक जि धातु का लङ् में उदजयत् रूप बना है, सो अजयत् आद्युदात्त है, क्योंकि अट् *लुङ्लङ्०* (६।४।७१) से उदात्त होता है। शेष अच् पूर्ववत् अनुदात्त हो गये। अनु उत् पूर्वक 'जि' से लङ् में ही अनूदजयत् बनेगा॥ अजा ह्यग्ने···यहाँ भी पूर्ववत् साकाङ्क्षत्व जानें। अर्थ है—'क्योंकि अजा अग्नि के गर्भ से उत्पन्न हुई उसने (अजा ने) उत्पन्न करने वाले को देखा (अनुभव किया) पहले (प्रथम)। इस प्रकार अजनिष्ट, अपश्यत् दोनों के 'हि' से युक्त एवं साकाङ्क्ष होने पर भी 'अपि' ग्रहण से एक अजनिष्ट तिङ् को ही निघात प्रतिषेध हुआ, अपश्यत् को नहीं। सो अपश्यत् *तिङ्ङतिङः* से निघात एवं अजनिष्ट पूर्ववत् आद्युदात्त है, अर्थात् अट् उदात्त है। जनी प्रादुर्भावे धातु से लुङ् में सिच् को इट् आगमादि होकर अ ज न् इ ष् त = अजनिष्ट बना है। अपश्यत् दृशिर् धातु के लङ् में *पाघ्राध्मा०* (७।३।७८) से पश्य आदेश होकर अ पश्य अ त् = अपश्यत् बना है॥

यावद्यथाभ्याम् ॥८।१।३६॥

यावद्यथाभ्याम् ३।२॥ *स०*—यावत् च यथा च यावद्यथे, ताभ्याम्··· इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य॥ *अर्थः*—यावद् यथा इत्येताभ्यां युक्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति॥ *उदा०*—यावद् भुङ्क्ते, यथा भुङ्क्ते। यावदधीते, यथाऽधीते देवदत्तः पचति यावत्, देवदत्तः पचति यथा॥

भाषार्थः—[*यावद्यथाभ्याम्*] यावत्, यथा इनसे युक्त तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता॥ स्वर सिद्धि परि० ८।१।३० में देखें॥

यहाँ से '*यावद्यथाभ्याम्*' की अनुवृत्ति ८।१।३८ तक जायेगी॥

पूजायां नानन्तरम् ॥८।१।३७॥

पूजायाम् ७।१॥ न अ०॥ अनन्तरम् १।१॥ *स०*—न अन्तरम्

विद्यतेऽस्य तदनन्तरम्, बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—यावद्यथाभ्याम्, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—यावद् यथा इत्येताभ्यां युक्तमनन्तरं तिङन्तं पूजायां विषये नानुदात्तं न भवति, अर्थादनुदात्तमेव भवति ॥ *उदा०*—यावत् पचति शोभनम्, यावत् करोति चारु । यथा पचति शोभनम्, यथा करोति चारु ॥

भाषार्थः—यावत् तथा यथा से युक्त [*अनन्तरम्*] अनन्तर = अव्यवहित तिङन्त को [*पूजायाम्*] पूजा विषय में अननुदात्त [*न*] नहीं होता, अर्थात् अनुदात्त ही होता है ॥ दो प्रतिषेध हो जाने से अनुदात्त ही होता है, ऐसा अर्थ निकला ॥ पूर्व सूत्र से अननुदात्त की प्राप्ति थी, निषेध कर दिया, तो *तिङ्ङतिङः* (८।१।२८) से निघात ही हो गया। उदाहरणों में यावत्, यथा से अनन्तर ही तिङ् है ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।१।३८ तक जायेगी ॥

उपसर्गव्यपेतं च ॥८।१।३८॥

उपसर्गव्यपेतम् १।१॥ च अ० ॥ *स०*—उपसर्गेण व्यपेतमुपसर्गव्यपेतम्, तृतीयातत्पुरुषः ॥ *अनु०*—पूजायां नानन्तरम्, यावद्यथाभ्याम्, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—यावद्यथाभ्यां युक्तमुपसर्गेण व्यपेतं = व्यवहितं चानन्तरं तिङन्तं पूजायां विषये नानुदात्तं न भवति, अर्थादनुदात्तमेव ॥ *उदा०*—यावत् प्रपचति शोभनम्, यावत् प्रकरोति चारु । यथा प्रपचति शोभनम्, यथा प्रकरोति चारु ॥

भाषार्थः—यावत् यथा से युक्त एवं [*उपसर्गव्यपेतम्*] उपसर्ग से व्यपेत = व्यवहित अनन्तर तिङन्त को [*च*] भी पूजा विषय में अननुदात्त नहीं होता, अर्थात् अनुदात्त होता है ॥ पूर्व सूत्र से अनन्तर = अव्यवधान में ही कहा था, यहाँ केवल उपसर्ग का व्यवधान होने पर भी कह दिया। सर्वत्र उदाहरणों में यावत्, यथा एवं तिङ् के मध्य में प्र उपसर्ग का व्यवधान है। शोभनम्, चारु कहने से यहाँ स्पष्ट पूजा अर्थ है ही, अतः पूर्ववत् तिङ् को अनुदात्त हो जायेगा ॥

तुपश्यपश्यताहैः पूजायाम् ॥८।१।३९॥

तुपश्यपश्यताहैः ३।३॥ पूजायाम् ७।१॥ *स०*—तुपश्य० इत्यत्रेतरे-

तरद्वन्द्वः ॥ अनु०—तिङ्, नु, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः—तु, पश्य, पश्यत, अह इत्येतैर्युक्तं तिङन्तं पूजायां विषये नानुदात्तं भवति ॥ उदा०—तु-माणवकस्तु भुङ्क्ते शोभनम्। पश्य-पश्य माणवको भुङ्क्ते शोभनम्। पश्यत-पश्यत माणवको भुङ्क्ते शोभनम्। अह-अह माणवको भुङ्क्ते शोभनम् ॥

भाषार्थः—[*तुपश्यपश्यताहैः*] तु, पश्य, पश्यत, अह इनसे युक्त तिङन्त को [*पूजायाम्*] पूजा विषय में अनुदात्त नहीं होता ॥ पूर्ववत् *तिङ्ङतिङः* से प्राप्त अनुदात्त का प्रतिषेध होकर यथाप्राप्त स्वर हो गया ॥ भुङ्क्ते की स्वरसिद्धि परि० ८।१।३० में देखें ॥

यहाँ से '*पूजायाम्*' की अनुवृत्ति ८।१।४० तक जायेगी ॥

अहो च ॥८।१।४०॥

अहो अ०॥ च अ० ॥ ॥ *अनु०*—पूजायाम्, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—अहो इत्यनेन युक्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति पूजायां विषये ॥ *उदा०*—अहो देवदत्तः पचति शोभनम्। अहो विष्णुमित्रः करोति चारु ॥

भाषार्थः—[*अहो*] अहो से युक्त तिङन्त को [*च*] भी पूजा विषय में अनुदात्त नहीं होता ॥ सिद्धियाँ परि० ८।१।३० में देखें ॥

यहाँ से '*अहो*' की अनुवृत्ति ८।१।४१ तक जायेगी ॥

शेषे विभाषा ॥८।१।४१॥

शेषे ७।१॥ विभाषा १।१॥ अनु०—अहो, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—अहो इत्यनेन युक्तं तिङन्तं शेषे विकल्पेन नानुदात्तं भवति ॥ यदन्यत् पूजायाः, स शेषः ॥ *उदा०*—कटमहो करिष्यसि, मम गेहमेष्यसि। पक्षेऽनुदात्तमेव-कटमहो करिष्यसि, मम गेहमेष्यसि ॥

भाषार्थः—अहो से युक्त तिङन्त को पूजा विषय से [*शेषे*] शेष विषयों में [*विभाषा*] विकल्प करके अनुदात्त नहीं होता ॥ पूर्व सूत्र में पूजा विषय में कहा था, यहाँ 'शेषे' ग्रहण से पूजा विषय से ही शेष लिया जायेगा ॥ पक्ष में यथाप्राप्त (८।१।२८) अनुदात्त ही होगा।

अनुदात्त निषेध पक्ष में करिष्यसि आदि का 'स्य' प्रत्यय स्वर से उदात्त है। पित् स्वर से 'सि' अनुदात्त था, पश्चात् स्वरित हो गया ॥

यहाँ से '*विभाषा*' की अनुवृत्ति ८।१।४२ तक जायेगी ॥

पुरा च परीप्सायाम् ॥८।१।४२॥

पुरा अ० ॥ च अ० ॥ परीप्सायाम् ७।१॥ *अनु०*—विभाषा, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—पुरा इत्यनेन युक्तं तिङन्तं परीप्सायामर्थे विभाषा नानुदात्तं भवति ॥ परीप्सा त्वरा ॥ *उदा०*—अधीष्व माणवक पुरा विद्योतते विद्युत्, पुरा स्तनयति स्तनयित्नुः। पुरा विद्योतते विद्युत्, पुरा स्तनयति स्तनयित्नुः ॥

भाषार्थः—[*पुरा*] पुरा से युक्त तिङन्त को [*च*] भी [*परीप्सायाम्*] परीप्सा = शीघ्रता अर्थ गम्यमान होने पर अनुदात्त नहीं होता ॥ विद्योतते आदि में भविष्यत् के अर्थ में *यावत्पुरानिपातयोर्लट्* (३।३।४) से लट् लकार हुआ है, अतः 'अधीष्व माणवक''' आदि वाक्यों का अर्थ है—'बच्चो पढ़ो नहीं तो अभी बिजली चमकेगी' यहाँ पुरा शब्द भविष्यत् काल की आसन्नता को प्रकट करता है, सो परीप्सा अर्थ गम्यमान है ॥ विद्योतते का 'ते' *तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेश०* (६।१।१८०) से अनुदात्त है, इस प्रकार द्योतते धातु स्वर से आद्युदात्त है और *तिङि चोदात्तवति* (८।१।७१) से वि अनुदात्त है चुरादिगणस्थ अदन्त स्तन धातु से णिच् आकर एवं अकार लोप (६।४।६४) होकर *सनाद्यन्ता०* (३।१।३२) से 'स्तनि' धातु बनी। सो *धातोः* (६।१।१५६) से अन्तोदात्त अर्थात् स्तनि का 'इ' उदात्त हुआ। शप् तिप् आकर स्तने अ ति = स्तनय् अ ति = स्तनयति बना। अर्थात् 'इ' को गुण तथा 'अय्' कर लेने पर 'न' का 'अ' उदात्त रहा ॥ अनुदात्त पक्ष में वि उपसर्ग स्वर से उदात्त होगा ॥

नन्वित्यनुज्ञैषणायाम् ॥८।१।४३॥

ननु अ० ॥ इति अ० ॥ अनुज्ञैषणायाम् ७।१॥ *स०*—अनुज्ञाया एषणा = प्रार्थना अनुज्ञैषणा, तस्याम्''षष्ठीतत्पुरुषः ॥ किंचित् कर्त्तुं स्वयमेवोद्यतस्यैवं क्रियतामित्यनुज्ञानमनुज्ञा ॥ *अनु०*—तिङ्, न, अनु-

दात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—अनुज्ञैषणायां विषये ननु इत्यनेन युक्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति ॥ *उदा०*—ननु करोमि भोः ॥

भाषार्थः—[*अनुज्ञैषणायाम्*] अनुज्ञैषणा विषय में [*ननु*] ननु [*इति*] इस शब्द से युक्त तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता ॥ कुछ कार्य स्वयं ही करने को उद्यत हुये को कहना कि 'ऐसा करें' यह अनुज्ञा है। एषणा अर्थात् प्रार्थना। अनुज्ञा की प्रार्थना अनुज्ञैषणा है। ननु करोमि भोः का अर्थ है—श्रीमन्, क्या मैं करूं? सिद्धि पूर्व सूत्रों में देखें ॥

किं क्रियाप्रश्नेऽनुपसर्गमप्रतिषिद्धम् ॥८।१।४४॥

किम् १।१॥ क्रियाप्रश्ने ७।१॥ अनुपसर्गम् १।१॥ अप्रतिषिद्धम् १।१॥ *स०*—क्रियायाः प्रश्नः क्रियाप्रश्नस्तस्मिन्'''षष्ठीतत्पुरुषः। न विद्यते उपसर्गोऽस्य तदनुपसर्गम्, बहुव्रीहिः। प्रतिषेधः प्रतिषिद्धम्, भावे निष्ठा नपुंसके० (३।३।११४) इत्यनेन। न प्रतिषिद्धमस्येत्यप्रतिषिद्धम्, तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—क्रियाप्रश्ने वर्त्तमानेन किंशब्देन युक्तमनुपसर्गमप्रतिषिद्धं तिङन्तं नानुदात्तं भवति ॥ *उदा०*—किं देवदत्तः पचति[1], आहोस्विद् भुङ्क्ते? किं देवदत्तः शेते[1] आहोस्विदधीते? ॥

भाषार्थः—[*क्रियाप्रश्ने*] क्रिया के प्रश्न में वर्त्तमान जो [*किम्*] किम् शब्द उससे युक्त [*अनुपसर्गम्*] उपसर्ग से रहित तथा [*अप्रतिषिद्धम्*] अप्रतिषिद्ध=प्रतिषेध रहित तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता ॥ 'किं देवदत्तः'''का अर्थ है—क्या देवदत्त पकाता है, अथवा खाता है, यहाँ किम् से पकाता है अथवा खाता है क्रिया का प्रश्न किया जा रहा है, अतः किम् शब्द क्रियाप्रश्न में वर्त्तमान है। पचति आदि तिङ् यहाँ उपसर्ग से रहित एवं प्रतिषेध से रहित भी हैं, सो अनुदात्त नहीं हुआ ॥ शेते की स्वर सिद्धि *तास्यनुदात्त०* (६।१।१८०) सूत्र में देखें ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।१।४५ तक जायेगी ॥

---

१. उदाहरणों में कोई २ किम् से युक्त पूर्व वाला तिङन्त ही मानते हैं, द्वितीय नहीं, अतः पूर्व वाले पचति को ही अनुदात्त का प्रतिषेध होगा, द्वितीय भुङ्क्ते को नहीं। तथा कोई २ दोनों तिङों को ही किम् से युक्त मानते हैं, अतः उनके मत में दोनों को ही अनुदात्त नहीं होगा। हमने वाक्य स्थित दोनों ही तिङन्तों को किम् से युक्त मानकर निघात के प्रतिषेध का स्वर दिखाया है।

लोपे विभाषा ॥८।१।४५॥

लोपे ७।१॥ विभाषा १।१॥ *अनु०*—किं क्रियाप्रश्नेऽनुपसर्गमप्रतिषिद्धम्, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—किमो लोपे सति क्रियाप्रश्नेऽनुपसर्गमप्रतिषिद्धं तिङन्तं विभाषा नानुदात्तं भवति ॥ यत्र किमोऽर्थो गम्यते न च प्रयुज्यते तत्र किमो लोपो ज्ञेयः ॥ *उदा०*—देवदत्तः पचति आहोस्वित् पठति ?। प॰—देवदत्तः पचति आहोस्वित् पठति ? ॥

भाषार्थः—किम् का [*लोपे*] लोप होने पर क्रिया के प्रश्न में अनुपसर्ग अप्रतिषिद्ध तिङन्त को [*विभाषा*] विकल्प करके अनुदात्त नहीं होता ॥ पक्ष में यथाप्राप्त (८।१।२८) अनुदात्त ही होगा ॥ यहाँ किसी सूत्र से किम् के लोप का तात्पर्य नहीं है, किन्तु जहाँ किम् का अर्थ गम्यमान हो, किन्तु उसका प्रयोग न हो रहा हो, वही किम् का अदर्शन = अर्थात् लोप समझा जायेगा। इस प्रकार उदाहरण में 'क्या देवदत्त पकाता है, अथवा पढ़ता है' ? ऐसा अर्थ होने से किम् का अर्थ है, किन्तु वह प्रयुक्त नहीं है, इसलिये किम् का लोप ही माना गया। स्वर सिद्धियाँ पूर्ववत् जानें ॥

एहिमन्ये प्रहासे लृट् ॥८।१।४६॥

एहिमन्ये लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ प्रहासे ७।१॥ लृट् १।१॥ *स०*—एहिश्च मन्ये च एहिमन्ये, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—एहिमन्ये इत्यनेन युक्तं लृडन्तं तिङन्तं प्रहासे गम्यमाने नानुदात्तं भवति ॥ प्रकृष्टो हासः प्रहासः ॥ *उदा०*—एहि मन्ये ओदनं भोक्ष्यसे नहि भोक्ष्यसे, भुक्तः सोऽतिथिभिः। एहि मन्ये रथेन यास्यसि, नहि यास्यसि यातस्तेन पिता ॥

भाषार्थः—[*एहिमन्ये*] एहि तथा मन्ये से युक्त [*लृट्*] लृडन्त तिङन्त को [*प्रहासे*] प्रहास (हँसी) गम्यमान हो तो अनुदात्त नहीं होता ॥ मन धातु का मन्ये उत्तम पुरुष का रूप है, एवं इण् का लोट् मध्यम पुरुष का 'एहि' है, सो 'एहिमन्ये' क्रियापदों में अनुकरण मानकर समस्त निर्देश किया है। इस प्रकार एहि मन्ये ऐसे समुदाय के उपपद रहते भोक्ष्यसे अनुदात्त नहीं हुआ। भोक्ष्यसे की स्वर सिद्धि

सूत्र ८।१।३१ में देखें। यास्यसि में भी सिप् को पित् स्वर से अनुदात्तत्व तथा स्य को प्रत्ययस्वर से उदात्तत्व होगा। पश्चात् 'सि' को स्वरित हो जायेगा॥ मन्यसे के स्थान पर मन्ये एवं भोक्ष्ये के स्थान पर भोक्ष्यसे यह पुरुष व्यत्यय *प्रहासे च मन्यो०* (१।४।१०५) से हुआ है। उदाहरणार्थ वहीं देखें, जिससे प्रहास स्पष्ट हो जायेगा॥

जात्वपूर्वम् ॥८।१।४७॥

जातु अ०॥ अपूर्वम् १।१॥ *स०*—अविद्यमानं पूर्वं यस्मात् तद् अपूर्वम्, बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य॥ *अर्थः*—अविद्यमानपूर्वेण जातु इत्यनेन युक्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति॥ *उदा०*—जातु भो॒क्ष्यसे॑, जातु क॒रि॒ष्यामि॑॥

भाषार्थः—[*अपूर्वम्*] जिससे पूर्व कोई पद विद्यमान नहीं है ऐसे [*जातु*] जातु शब्द से युक्त तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता॥ सिद्धियों में पूर्ववत् प्रत्यय स्वर से 'स्य' उदात्त है॥

यहाँ से '*अपूर्वम्*' की अनुवृत्ति ८।१।५० तक जायेगी॥

किंवृत्तं च चिदुत्तरम् ॥८।१।४८॥

किंवृत्तम् १।१॥ च अ०॥ चिदुत्तरम् १।१॥ *स०*—किमो वृत्तं किंवृत्तम् षष्ठीतत्पुरुषः॥ वृत्तमित्यधिकरणे (३।४।७६) क्तः, तेनाधिकरणवा० (२।३।६८) इति 'किमः' इत्यत्र षष्ठी। *अधिकरणवाचिना च* (२।२।१३) इत्यनेन समासप्रतिषेधे प्राप्तेऽस्मादेव निपातनात् समासः॥ चित् उत्तरं यस्मात् तत् चिदुत्तरम्, बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—अपूर्वम्, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य॥ *अर्थः*—अविद्यमानपूर्वं चिदुत्तरं यत् किंवृत्तं तेन युक्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति॥ किंवृत्तग्रहणेन विभक्त्यन्तं डतरडतमप्रत्ययान्तं च किमो रूपं गृह्यते॥ *उदा०*—कश्चिद् भु॒ङ्क्ते, कश्चिद् भो॒जय॑ति, कश्चिद् अ॒धीते। केनचित् क॒रोति॑। कस्मैचिद् द॒दा॑ति। डतर–कतरश्चित् क॒रोति॑। डतम–कतमश्चिद् भु॒ङ्क्ते॥

भाषार्थः—[*चिदुत्तरम्*] जिससे उत्तर 'चित्' है, तथा जिससे पूर्व कोई शब्द नहीं है, ऐसे [*किंवृत्तम्*] किंवृत्त शब्द से युक्त तिङन्त को [च] भी अनुदात्त नहीं होता॥ किंवृत्त से किम् शब्द से उत्पन्न जो

विभक्तियाँ तद्विभक्त्यन्त शब्द तथा डतर डतम प्रत्ययान्त किम् शब्द क ग्रहण है ॥ वृत्तं में अधिकरण में क्त हुआ है। वर्त्ततेऽस्मिन्निति वृत्तम्। किमो वृत्तं = किम् का (उसमें) रहना किंवृत्त है ॥ भुङ्क्ते आदि की स्वरसिद्धि परि० ८।१।३० में देखें। भोजयति णिजन्त धातु है, सो धातु स्वर से 'भोजि' का 'इ' उदात्त रहा। पश्चात् गुण अयादेश करके 'ज' का अ उदात्त हो गया। ददाति को आद्युदात्त अनुदात्ते च (६।१।१८४) से होता है ॥

आहो उताहो चानन्तरम् ॥८।१।४९॥

आहो अ० ॥ उताहो अ० ॥ च अ० ॥ अनन्तरम् १।१॥ स०—अविद्यमानमन्तरं व्यवधानं यस्य तदनन्तरम्, बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अपूर्वम्, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—आहो, उताहो इत्येताभ्याम् अविद्यमानपूर्वाभ्याम् युक्तमनन्तरं तिङन्तं नानुदात्तं भवति ॥ *उदा०*—आहो भुङ्क्ते, उताहो भुङ्क्ते। आहो पठति, उताहो पठति ॥

भाषार्थः—अविद्यमान पूर्व वाले [*आहो उताहो*] आहो उताहो से युक्त जो [*अनन्तरम्*] अव्यवहित = व्यवधान रहित तिङ् उसको [*च*] भी अनुदात्त नहीं होता है ॥ पूर्ववत् स्वर-सिद्धियाँ हैं ॥

यहाँ से '*आहो उताहो*' की अनुवृत्ति ८।१।५० तक जायेगी ॥

शेषे विभाषा ॥८।१।५०॥

शेषे ७।१॥ विभाषा १।१॥ *अनु०*—आहो उताहो, अपूर्वम्, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—आहो, उताहो इत्येताभ्यामपूर्वाभ्यां युक्तं तिङन्तं शेषे विभाषा नानुदात्तं भवति। अनन्तरापेक्षं शेषत्वम् ॥ *उदा०*—आहो देवदत्तः पचति, पक्षे-आहो देवदत्तः पचति। उताहो देवदत्तः पठति, पक्षे-उताहो देवदत्तः पठति ॥

भाषार्थः—पूर्व सूत्र में 'आहो उताहो' से अनन्तर तिङ् को अननुदात्त कहा था। यहाँ 'शेषे' ग्रहण अनन्तर की अपेक्षा से रखा है। अविद्यमानपूर्व आहो, उताहो शब्दों से युक्त तिङन्त को [*शेषे*] अनन्तर से शेष विषय (अर्थात् व्यवधान) में [*विभाषा*] विकल्प करके अनुदात्त

नहीं होता ॥ इस प्रकार पक्ष में अनुदात्त यथाप्राप्त होता है ॥ उदाहरणों में आहो उताहो एवं तिङन्त के मध्य में 'देवदत्तः' पद का व्यवधान होने पर विकल्प से अननुदात्त हो गया ॥ पूर्व सूत्र से अप्राप्त था, विकल्प कर दिया ॥

गत्यर्थलोटा लृण्न चेत् कारकं सर्वान्यत् ॥८।१।५१॥

गत्यर्थलोटा ३।१॥ लृट् १।१॥ न अ० ॥ चेत् अ० ॥ कारकम् १।१॥ सर्वान्यत् १।१॥ स०—गतिरर्थो येषां ते गत्यर्थाः, बहुव्रीहिः । गत्यर्थानां लोट् गत्यर्थलोट्, तेन ''षष्ठीतत्पुरुषः । सर्वञ्च तदन्यत् च सर्वान्यत्, कर्मधारयतत्पुरुषः ॥ अनु०—तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—गत्यर्थलोटा युक्तं लृडन्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति, न चेत् कारकं सर्वमन्यद् भवति ॥ यस्मिन् कारके (कर्त्तरि कर्मणि वा) लोट्, तस्मिन्नेव कारके यदि लृडपि स्यादित्यर्थः ॥ *उदा०*—आगच्छ देवदत्त ग्रामं द्रक्ष्यस्येनम् । आगच्छ देवदत्त ग्राममोदनं भोक्ष्यसे । कर्मणि—उह्यन्तां देवदत्तेन शालयस्तेनैव भोक्ष्यन्ते । उह्यन्तां यज्ञदत्तेन शालयो देवदत्तेन भोक्ष्यन्ते ॥

भाषार्थः—[*गत्यर्थलोटा*] गति अर्थ वाले धातुओं के लोट् लकार से युक्त [लृट्] लृडन्त तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता, [चेत्] यदि [*कारकम्*] कारक [*सर्वान्यत्*] सारा अन्य [*न*] न हो तो ॥

तिङ् से वाच्य कर्त्ता कर्म कारक होते हैं, अतः यहाँ कारक से कर्त्ता कर्म का ही ग्रहण है । जिस कारक = कर्त्ता अथवा कर्म में लोडन्त हो, उसी कारक में यदि लृडन्त (जिसे अनुदात्त का निषेध कर रहे हैं) वह भी हो तो, अर्थात् लोडन्त एवं लृडन्त तिङ् का वाच्य कारक भिन्न २ न हो, यही 'सर्वान्यत्' का तात्पर्यार्थ है । पूर्व दो उदाहरणों में 'आगच्छ' एवं द्रक्ष्यसि भोक्ष्यसे दोनों (लोडन्त एवं लृडन्त) तिङन्त कर्तृवाच्य (कारक) में हैं, एवं पश्चात् के उदाहरणों में उह्यन्तां लोडन्त तथा भोक्ष्यन्ते लृडन्त दोनों कर्मवाच्य में हैं इस प्रकार 'सर्वान्यत्' नहीं है । गम् तथा वह गत्यर्थक धातुएँ हैं, सो लोट् प्रत्ययान्त आगच्छ आदि से युक्त लृडन्त पद है ही, अतः उसे अननुदात्त हो गया ॥ 'उह्यन्तां देवदत्तेन ''' का अर्थ है—देवदत्त के द्वारा धान लाई (ढोई) जावे, उसी के द्वारा खाई जाये । द्रक्ष्यसि में *सृजिदृशो०* (६।१।५७) से दृश् को अम्

आगम, *व्रश्चभ्रस्ज०* (८।२।३६) से षत्व तथा *षढोः कः सि* (८।२।४१) से कत्व हुआ है। प्रत्ययस्वर से 'स्य' सर्वत्र उदात्त है। भुज् का कर्त्ता अथव कर्म में भोक्ष्यते ही रूप बनेगा। *चोः कुः* (८।२।३०) से कुत्व ग् एवं *खरि च* (८।४।५४) से चर्त्व क् यहाँ हुआ है॥ अन्तिम वाक्य में दोनों क्रियाओं का वाच्य कर्म एक ही है, अतः कर्त्ता में भेद होने पर भी सूत्र प्रवृत्त हो जाता है॥

यहाँ से *'गत्यर्थलोटा न चेत् कारकं सर्वान्यत्'* की अनुवृत्ति ८।१।५३ तक जायेगी॥

लोट् च ॥८।१।५२॥

लोट् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०* - गत्यर्थलोटा न चेत् कारकं सर्वान्यत्, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—गत्यर्थलोटा युक्तं लोडन्तं च तिङन्तं नानुदात्तं भवति, न चेत् कारकं सर्वान्यद् भवति॥ उभयोर्लोडन्तयोरेकं कारकं यदि भवतीत्यर्थः॥ *उदा०*—आगच्छ देवदत्त ग्रामं पश्य। आव्रज विष्णुमित्र ग्रामं शाधि। आगम्यतां देवदत्तेन ग्रामो दृश्यतां यज्ञदत्तेन॥

भाषार्थः—गत्यर्थक धातुओं के लोडन्त से युक्त [*लोट्*] लोडन्त तिङन्त को [*च*] भी अनुदात्त नहीं होता, यदि कारक (दोनों तिङों के) सारे अन्य न हों तो॥ पूर्व सूत्र से लृडन्त को ही अननुदात्त प्राप्त था, लोडन्त को भी कह दिया॥ 'न चेत् कारकं सर्वान्यत्' की व्याख्या पूर्ववत् समझें। यहाँ आगच्छ आदि से युक्त 'पश्य' आदि लोडन्त हैं। आगम्यताम् दृश्यताम् में कर्मवाच्य में लकार है॥ लोट् मध्यम पुरुष में दृश् को 'पश्य्' आदेश तथा हि लुक् (६।४।१०५) होकर पश्य् अ रहा। अब 'पश्य' आदेश धातु स्वर से उदात्त था, सो शप् के अनुदात्त होने से आद्युदात्त पद हुआ। शाधि की सिद्धि सूत्र ६।४।२२ में देखें, यह 'हि' के अपित् होने से प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त है। *आमेतः* (३।४।९०) आदि लगकर दृश् यक् ताम् = दृश्यताम् बना। 'दृश् ताम्' यहाँ 'ताम्' का 'आ' प्रत्यय स्वर से उदात्त है। यक् विकरण 'ताम्' के पश्चात् हुआ है, अतः सतिशिष्ट (वा० ६।१।१५२) होने से 'य' को उदात्त होना चाहिये किन्तु *'सतिशिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधते'* (*महाभाष्य* ६।१।१५२) इस भाष्य वचन से विकरणस्वर सार्वधातुकस्वर को नहीं बाधता, अतः 'ताम्' को स्वर की प्राप्ति होने पर *तास्यनु-*

दात्तेञ्ङिदुपदेश० (६।१।१८०) से ताम् अनुदात्त हो जाता है, अतः मध्योदात्त ही दृश्यतांम् का स्वर रहता है ॥

यहाँ से 'लोट्' की अनुवृत्ति ८।१।५४ तक जायेगी ॥

विभाषितं सोपसर्गमनुत्तमम् ॥८।१।५३॥

विभाषितम् १।१॥ सोपसर्गम् १।१॥ अनुत्तमम् १।१॥ *स०*—उपसर्गेण सह वर्त्तते सोपसर्गम्, बहुव्रीहिः। न उत्तममनुत्तमम्, नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—लोट्, गत्यर्थलोटा न चेत् कारकं सर्वान्यत्, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य॥ *अर्थः*—गत्यर्थलोटा युक्तं सोपसर्गमुत्तमपुरुषवर्जितं लोडन्तं तिङन्तं विभाषा नानुदात्तं भवति, न चेत् कारकं सर्वान्यद् भवति॥ प्राप्तविभाषेयम्॥ विभाषा शब्देन समानार्थो विभाषितशब्दः॥ *उदा०*—आगच्छ देवदत्त ग्रामं प्रविश। पक्षे—आगच्छ देवदत्त ग्रामं प्रविश। आगच्छ देवदत्त ग्रामं प्रशाधि। पक्षे—आगच्छ देवदत्त ग्रामं प्रशाधि॥

भाषार्थः—गत्यर्थक धातुओं के लोडन्त से युक्त [*सोपसर्गम्*] उपसर्ग सहित एवं [*अनुत्तमम्*] उत्तम पुरुष वर्जित जो लोडन्त तिङन्त उसे [*विभाषितम्*] विकल्प करके अनुदात्त नहीं होता, यदि कारक सभी अन्य (भिन्न २) न हों तो॥ पूर्व सूत्र से नित्य प्रतिषेध प्राप्त था, सोपसर्ग में विकल्प कह दिया, सो यह प्राप्त विभाषा है॥ 'विभाषित' शब्द विभाषा का समानार्थक है॥ प्रशाधि के अन्तोदात्त स्वर की सिद्धि पूर्ववत् जानें प्र को *तिङि चोदात्तवति* (८।१।७१) से निघात होगा। प्र पूर्वक विश् (तुदा०) धातु से लोट् में हि लोप हो जाने पर विकरण स्वर और प्र को निघात हुआ। प्रविश् श = प्रविश यहाँ श विकरण प्रत्यय स्वर से उदात्त है, अतः अन्तोदात्त 'प्रविश' पद रहा। पक्ष में तिङन्त को यथाप्राप्त निघात होगा और 'प्र' उपसर्ग स्वर (फिट्० ८०) से उदात्त होगा॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।१।५४ तक जायेगी॥

हन्त च ॥८।१।५४॥

हन्त अ०॥ च अ०॥ *अनु०*—विभाषितं सोपसर्गमनुत्तमम्, लोट्, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य॥ *अर्थः*—हन्त इत्यनेन च युक्तं सोपसर्गमुत्तमवर्जितं लोडन्तं तिङन्तं विभाषितं नानुदात्तं

भवति ।। उदा०—हन्त प्रविश । पक्षे—हन्त प्रविश । हन्त प्रशाधि पक्षे—हन्त प्रशाधि ।।

भाषार्थ:—[*हन्त*] हन्त से युक्त सोपसर्ग उत्तम पुरुष वर्जित लोडन्त तिङन्त को [च] भी विकल्प से अनुदात्त नहीं होता ।। *निपातैर्यद्यदि०* (८।१।३०) से यहाँ नित्य निघातप्रतिषेध प्राप्त था, विकल्प कर दिया ।। पूर्ववत् सिद्धियाँ जानें ।।

आम एकान्तरमामन्त्रितमनन्तिके ।।८।१।५५।।

आमः ५।१।। एकान्तरम् १।१।। आमन्त्रितम् १।१।। अनन्तिके ७।१।। *स०*—एकं (पदम्) अन्तरं यस्य तदेकान्तरम्, बहुव्रीहिः । न अन्तिकमनन्तिकम्, तस्मिन्''नञ्तत्पुरुषः ।। *अनु०*—न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ।। *अर्थ:*—आमः परमेकपदान्तरमनन्तिके वर्तमानमामन्त्रितं नानुदात्तं भवति ।। *उदा०*—आम् पचसि देवदत्त । आम् भो देवदत्त ।। अनन्तिके इत्यनेन सामीप्यार्थस्य प्रतिषेधः क्रियते । सूत्रलाघवाय 'दूरे' इत्यस्यानुक्तत्वात् यन्न समीपं यच्च न दूरं तादृग् अर्थो गृह्यते । तेनात्रैकश्रुतेः प्राप्त्यभावे प्राप्तमनुदात्तत्वमेव प्रतिषिध्यते ।।

भाषार्थ:-[*आमः*] आम् से उत्तर [*एकान्तरम्*] एक पद का अन्तर = व्यवधान है जिसके मध्य में ऐसे [*आमन्त्रितम्*] आमन्त्रितसंज्ञक पद को [*अनन्तिके*] अनन्तिक (जो समीप नहीं अर्थात् न दूर न समीप) अर्थ में अनुदात्त नहीं होता ।। उदाहरणों में आम् से उत्तर एवं आमन्त्रितसंज्ञक 'देवदत्त' के मध्य में 'पचसि' एवं 'भोः' एक पद का व्यवधान है, अतः एकपदान्तरित = एक पद से व्यवहित आमन्त्रित पद है ही, सो अनुदात्त का निषेध होने से षाष्ठिक *आमन्त्रितस्य* च (६।१।१६२) से आमन्त्रित पद आद्युदात्त हो गया । 'भो' आमन्त्रित है उस को *आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्* (८।१।७२) से अविद्यमानवद्भाव प्राप्त होने पर एकान्तरितत्व नहीं रहता अतः यहाँ भो के अविद्यमानवत्व का *नामन्त्रिते समानाधिकरणे* (८।१।७३) से निषेध जानना चाहिए ।।

अन्तिक का अर्थ है, [1]समीप, सो अनन्तिक का अर्थ होगा जो न दूर

---

१. महाभाष्य में 'अनन्तिक' में विरुद्ध अर्थ में नञ् मानकर दूर अर्थ करके एकश्रुति की भी प्राप्ति दिखाकर उस एकश्रुति का भी इस सूत्र से प्रतिषेध दिखाया है । इस पक्ष में *दूराद्धूते* च (८।२।८४) से आमन्त्रित को प्लुत होगा ही । हमने

न समीप। अनन्तिक से यहाँ समीप अर्थ से भिन्न दूर अर्थ अभिप्रेत नहीं है यदि 'दूर' अर्थ ही अभिप्रेत हो तो सूत्र में स्पष्ट 'दूरे' कहते अतः यहाँ *नञिवयुक्तम्०* (परि० ६५) परिभाषा के नियम से जो 'न दूर न समीप' यही अर्थ लेना है। इस प्रकार अनन्तिक (न दूर न समीप) अर्थ में अनुदात्त निषेध करने से दूर अर्थ में विधीयमान जो कार्य वे अपने क्षेत्र में यथाविहित होते हैं। यथा—*एकश्रुति दूरात् सम्बुद्धौ* (१।२।३३) से विहित एकश्रुति एवं *दूराद्धूते च* (८।२।८४) से विहित प्लुत। इनका भी प्रतिषेध न हो यही यहाँ 'अनन्तिके' ग्रहण का प्रयोजन है। उदाहरण में 'भोः' के रु के र् को *भोभगोअघो०* (८।३।१७) से य् तथा *लोपः शाकल्यस्य* (८।३।१९) से उस य् का लोप होकर 'भो' बना है॥ यहाँ *आमन्त्रितं पूर्वम०* (८।१।७२) से 'भोः' को अविद्यमानवत्ता प्राप्त थी, किन्तु *नामन्त्रिते समानाधिकरणे०* (८।१।७३) से अविद्यमानवत्ता का प्रतिषेध हो जाता है, सो विद्यमानवत्ता ही मानी जाती है। अविद्यमानवत् होने से एकपदान्तरता न मिलती॥

यद्धितुपरं छन्दसि ॥८।१।५६॥

यद्धितुपरम् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ *स०*—यत् च हिश्च तुश्च यद्धितवः, इतरेतरद्वन्द्वः। यद्धितवः परे यस्मात् तत् यद्धितुपरम्, बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य॥ *अर्थः*—यत्परं हिपरं तुपरं च तिङन्तं छन्दसि विषये नानुदात्तं भवति॥ *उदा०*—यत्परम्—गवां गो॒त्रमु॒दसृ॑जो॒ यद॑ङ्गिरः (ऋ० २।२३।१८)। हिपरम्—इन्दवो वामुशन्ति॒ हि (ऋ० १।२।४)। तुपरम्—आ॒ख्या॒स्यामि॑ तु ते॥

भाषार्थः—[*यद्धितुपरम्*] यत्परक, हिपरक तथा तुपरक तिङ् को [*छन्दसि*] वेद विषय में अनुदात्त नहीं होता॥ यत् परक तिङन्त को *निपातैर्यद्य०* (८।१।३०) से तथा हि परक को *हि च* (८।१।३४) से एवं तुपरक को *तुपश्यपश्यताहैः०* (८।१।३९) से निघात प्रतिषेध सिद्ध ही था, पुनः यह सूत्र नियमार्थ है कि-'छन्द में पर के योग में भी यदि प्रतिषेध हो तो इन्हीं के पर के योग में हो, अन्यों के नहीं'। उदाहरणों में तिङन्त

साहश्य अर्थ में नञ् का अर्थ करके 'न दूर न समीप' यह अर्थ अनन्तिक का किया है। ये दोनों ही पक्ष भाष्य में होने से प्रमाण हैं। प्रथमावृत्ति से पृथक् विषय होने से यहाँ इतना ही लिखना पर्याप्त है॥

से परे यत्, हि, तु हैं ही ॥ उदसृजः यह उत् पूर्वक सृज (तुदा०) धा का लङ् सिप् में बना रूप है, अतः पूर्ववत् इसका 'अट्' उदात्त है यत् परे रहते सन्धि में *हशि* च (६।१।११०) *आद् गुणः* (६।१।८४ लगकर 'उदसृजो' बना है ॥ वश कान्तौ (अदा०) से लट् बहुवचन उशन्ति[1] बना है। *ग्रहिज्यावयि०* (६।१।१६) से व् को सम्प्रसारण तथ शप् का लुक् २।४।७२ से हुआ है। इस प्रकार अन्ति का 'अ' प्रत्यय स्व से उदात्त है, सो मध्योदात्त पद रहा। आख्यास्यामि आङ्पूर्वक ख्य प्रकथने से लट् में बना है, सो पूर्ववत् स्य उदात्त है। तिङन्त के उदात्त होने पर उपसर्ग *तिङि चोदात्तवति* (८।१।७१) से अनुदात्त हो जाता है ॥

चनचिदिवगोत्रादितद्धिताम्रेडितेष्वगतेः ॥८।१।५७॥

चन···डितेषु ७।३॥ अगतेः ५।१॥ *स०*—गोत्र आदिर्येषां ते गोत्रादयः, बहुव्रीहिः। चनश्च चित् च इवश्च गोत्रादयश्च तद्धिताश्च आम्रेडितश्च चनचि···डितानि तेषु···इतरेतरद्वन्द्वः। न गतिरगतिस्तस्मात्··· नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात् पदस्य॥ *अर्थः*—चन, चित्, इव, गोत्रादि, तद्धित, आम्रेडित इत्येते परतोऽगतेरुत्तरं तिङन्तं नानुदात्तं भवति ॥ *उदा०*—देवदत्तः पचति चन चित्—देवदत्त पचति चित्। इव—देवदत्तः पचति इव। गोत्रादि—देवदत्तः पचति गोत्रम्, देवदत्तः पचति ब्रुवम्, देवदत्तः पचति प्रवचनम्। तद्धित—देवदत्तः पचतिकल्पम्, पचतिरूपम्। आम्रेडित—देवदत्तः पचति पचति ॥

भाषार्थः—[चन···डितेषु] चन, चित्, इव तथा गोत्रादि गण पठित शब्द तद्धित प्रत्यय एवं आम्रेडित संज्ञक शब्दों के परे रहते [अगतेः] गतिसंज्ञक से भिन्न किसी पद से उत्तर तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता। पचतिकल्पम् में पचति तिङन्त से *ईषदसमाप्तौ०* (५।३।६७) से कल्पप् तथा पचतिरूपम् में *प्रशंसायां०* (५।३।६६) से रूपप् तद्धित प्रत्यय हुआ है। पित् होने से ये प्रत्यय अनुदात्त हैं, पश्चात् एकश्रुति *स्वरितात्०*

---

१. संहितापाठ के स्वरनियम से यहाँ उशन्ति के ति को स्वरित न दिखाकर अनुदात्त दिखाया है।

(१।२।३९) से हो ही जायेगी। पचति की स्वरसिद्धि पूर्ववत् है। देवदत्तः पचति पचति यहाँ *नित्यवीप्सयोः* (८।१।४) से पचति को द्वित्व हुआ है, सो पर वाला पचति आम्रेडितसंज्ञक है, उसके परे रहते पूर्व वाले पचति के निघात का निषेध हो गया ॥

यहाँ से '*अगतेः*' की अनुवृत्ति ८।१।५८ तक जायेगी ॥

चादिषु च ॥८।१।५८॥

चादिषु ७।३॥ च अ० ॥ *स०*—च आदिर्येषां ते चादयस्तेषु... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—अगतेः, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—चादिषु च परतोऽगतेरुत्तरं तिङन्तं नानुदात्तं भवति ॥ चादयो *न चवाहाहैवयुक्ते* (८।१।२४) इत्यत्र ये निर्दिष्टास्त एव गृह्यन्तेऽत्र ॥ *उदा०*—चशब्दे–देवदत्तः पचति च खादति च। वा–देवदत्तः पचति वा खादति वा। ह–देवदत्तः पचति ह खादति ह। अह–देवदत्तः पचत्यह खादत्यह। एव–देवदत्तः पचत्येव खादत्येव ॥

भाषार्थः—[*चादिषु*] चादियों के परे रहते [*च*] भी गतिभिन्न पद से उत्तर तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता ॥ चादि गणपाठ में पठित शब्द भी हैं, तथा '*न चवाहाहैवयुक्ते*' सूत्र में निर्दिष्ट च, वा आदि शब्द भी 'चादि' से कथित हैं, सो यहाँ समीपस्थ होने से सूत्र निर्दिष्ट च वा आदि शब्द ही 'चादि' से लेना है, चादि (१।४।५७)गणपठित शब्द नहीं, ऐसा समझें ॥

यहाँ चादि परे रहते अगति से उत्तर तिङन्त दोनों पदों को निघात का प्रतिषेध होता है। *चवायोगे प्रथमा* (८।१।५९) सूत्र का विषय च वा के पूर्व प्रयोग और गति से उत्तर का विषय होने से उसकी यहाँ प्रवृत्ति नहीं होती ॥

चवायोगे प्रथमा ॥८।१।५९॥

चवायोगे ७।१॥ प्रथमा १।१॥ *स०*—चश्च वाश्च चवौ, ताभ्यां योगः चवायोगस्तस्मिन्... द्वन्द्वगर्भतृतीयातत्पुरुषः ॥ *अनु०*—तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—च, वा इत्येताभ्यां योगे प्रथमा तिङ्विभक्तिर्नानुदात्ता भवति ॥ *उदा०*—गर्दभाँश्च कालयति, वीणां च वादयति। गर्दभान् वा कालयति, वीणां वा वादयति ॥

भाषार्थः—[*चवायोगे*] च तथा वा के योग में [*प्रथमा*] प्र
तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता ॥ उदाहरण वाक्यों में दो तिङन्त श
हैं, उनमें से प्रथम तिङन्त को निघात का निषेध प्रकृत सूत्र से हे
हैं। द्वितीय तिङन्त को *तिङ्ङतिङः* (८।१।२८) से प्राप्त निघात
होगा। पूर्ववत् (सूत्र ८।१।४२-४८) भोजयति स्तनयति के सम
कालयति का स्वर जानें ॥

यहाँ से '*प्रथमा*' की अनुवृत्ति ८।१।६५ तक जायेगी ॥

हेति क्षियायाम् ॥८।१।६०॥

ह अ० ॥ इति अ० ॥ क्षियायाम् ७।१॥ *अनु०*—प्रथमा, तिङ्,
अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—ह इत्यनेन युक्ता प्रथ
तिङ्विभक्तिर्नानुदात्ता भवति, क्षियायां गम्यमानायाम् ॥ क्षिया निन्
सा चेहाऽचारव्यतिक्रमरूपा ॥ *उदा०*—स्वयं ह रथेन याति
उपाध्यायं पदातिं गमयति । स्वयं हौदनं भुङ्क्ते ३, उपाध्यायं सक्त
पाययति ॥

भाषार्थः—[*ह*] ह [*इति*] इससे युक्त प्रथम तिङन्त (विभक्ति)
[*क्षियायाम्*] क्षिया गम्यमान होने पर अनुदात्त नहीं होता ॥ पूर्व
वाक्यस्थ प्रथम तिङन्त को अननुदात्त होगा, सो याति धातु स्वर
आद्युदात्त है, एवं भुङ्क्ते का स्वर पूर्व दिखाया जा चुका है ॥ या
भुङ्क्ते में *क्षियाशीःप्रैषेषु तिङाकाङ्क्षम्* (८।२।१०४) से तिङन्त को स्वरि
प्लुत होता है। याति में 'ति' को स्वरित होने पर धातु स्वर की दृष्टि
असिद्ध होने से 'या' उदात्त रहता है। परन्तु यहाँ 'याति' और 'भुङ्क्ते
अतिङन्त से उत्तर होने के कारण (८।१।२८) 'या' 'भु' अनुदात्त होंगे
सर्वानुदात्तत्व की प्राप्ति में अन्त्य को स्वरितत्व का विधान किया है।

क्षिया, शिष्टाचार के व्यतिक्रम को कहते हैं, सो उदाहरणों में स्व
रथ से जाना एवं आचार्य को पैदल ले चलना, इसी प्रकार स्वयं उत्त
पदार्थ चावल खाना तथा आचार्य जी को सक्तु पिलाना, यह स्प
शिष्टाचार का व्यतिक्रम है ॥

यहाँ से '*क्षियायाम्*' की अनुवृत्ति ८।१।६१ तक जायेगी ॥

अहेति विनियोगे च ॥८।१।६१॥

अह अ० ॥ इति अ० ॥ विनियोगे ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—क्षियायाम्, प्रथमा, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—अह इत्यनेन युक्ता प्रथमा तिङ्विभक्तिर्नानुदात्ता भवति विनियोगे गम्यमाने चकारात् क्षियायां च गम्यमानायाम् ॥ *उदा०*—विनियोगे-त्वमह ग्रामं गच्छ ३, त्वमहारण्यं गच्छ। क्षियायाम्-स्वयमह रथेन याति ३ उपाध्यायं पदातिं गमयति। स्वयमहौदनं भुङ्क्ते ३ उपाध्यायं सक्तून् पाययति ॥

भाषार्थः—[*अह*] अह [*इति*] इससे युक्त (वाक्यस्थ) प्रथम तिङन्त को [*विनियोगे*] विनियोग [*च*] तथा चकार से क्षिया गम्यमान होने पर अनुदात्त नहीं होता ॥ अनेक प्रयोजन के लिये प्रैष देने को विनियोग कहते हैं, उदाहरण में 'तुम ग्राम को जाओ, तुम अरण्य को जाओ', यहाँ अनेक प्रयोजन के लिये प्रैष है ॥ 'गच्छ' (लोट् मध्यम पुरुष) धातु स्वर से आद्युदात्त है। लोट् में 'हि' का लुक् आदि पूर्ववत् (६।४।१०५) जानें। प्लुतत्व भी यहाँ *क्षियाशीः०* (८।२।१०४) सूत्र से ही प्रैष मानकर हुआ है, एवं याति ३ आदि में पूर्ववत् क्षियानिमित्तक प्लुत है ही ॥

चाहलोप एवेत्यवधारणम् ॥८।१।६२॥

चाहलोपे ७।१॥ एव अ० ॥ इति अ० ॥ अवधारणम् १।१॥ *स०*—चश्च अहश्च चाहौ, तयोर्लोपः चाहलोपस्तस्मिन् द्वन्द्वगर्भषष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—प्रथमा, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—च, अह इत्येतयोर्लोपे च प्रथमा तिङ्विभक्तिर्नानुदात्ता भवति, एवशब्दश्चेदवधारणार्थं प्रयुज्यते ॥ यत्र गम्यते चार्थो न च प्रयुज्यते तत्रानयोर्लोप इति ज्ञेयम् ॥ *उदा०*—चलोपे-देवदत्त एव ग्रामं गच्छतु, देवदत्त एवारण्यं गच्छतु। अहलोपे-देवदत्त एव ग्रामं गच्छतु, यज्ञदत्त एवारण्यं गच्छतु ॥

भाषार्थः—[*चाहलोपे*] च तथा अह शब्द का लोप होने पर प्रथम (वाक्यस्थ) तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता, यदि [*एव*] एव [*इति*] यह शब्द वाक्य में [*अवधारणम्*] अवधारण अर्थ में प्रयुक्त किया गया हो तो ॥ 'चाहलोपे' कहने से जहाँ 'च' तथा 'अह' का अर्थ तो हो, किन्तु उसका प्रयोग न किया गया हो, वहाँ 'च अह' का लोप हुआ है, ऐसा

माना जायेगा ॥ च समुच्चय अर्थ में होता है, तथा अह केवल अर्थ में, सो उसी प्रकार उदाहरणों का अर्थ 'च' अह के प्रयोग के बिना ही यहाँ है। 'देवदत्त एव···' देवदत्त ही ग्राम को जावे एवं देवदत्त ही जङ्गल को' यहाँ समुच्चय तथा 'देवदत्त ही केवल ग्राम को जावे, एवं यज्ञदत्त ही केवल अरण्य को, यहाँ लुप्त अह का केवलार्थ है। यहाँ सर्वत्र एव शब्द अवधारण (निश्चय) अर्थ में प्रयुक्त है॥ प्रथम 'गच्छतु' पद धातु स्वर से आद्युदात्त है, पचति के समान इसका स्वर जान लें। द्वितीय गच्छतु पद यथाप्राप्त (८।१।२८) अनुदात्त होगा ही॥

चादिलोपे विभाषा ॥८।१।६३॥

चादिलोपे ७।१॥ विभाषा १।१॥ *स०*—च आदिर्येषां ते चादयः, चादीनां लोपः चादिलोपस्तस्मिन्···द्वन्द्वगर्भषष्ठीतत्पुरुषः॥ *अनु०*—प्रथमा, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य॥ *अर्थः*—चादिलोपे प्रथमा तिङ्विभक्तिर्विभाषा नानुदात्ता भवति॥ *उदा०*—चलोपे–शुक्ला व्रीहयो भवन्ति, (पक्षे–भवन्ति), श्वेता गा आज्याय दुहन्ति। वालोपे—व्रीहिभिर्यजेत (पक्षे–यजेत), यवैर्यजेत। एवं शेषेष्वपि यथाप्राप्तमुदाहर्त्तव्यम्॥

भाषार्थः—[*चादिलोपे*] चादियों के लोप होने पर प्रथम तिङन्त को [*विभाषा*] विकल्प करके अनुदात्त नहीं होता॥ चादि से यहाँ न *चवाहाहैवयुक्ते* (८।१।२४) सूत्र में निर्दिष्ट च, वा, ह आदि शब्द गृहीत हैं, गणपठित चादि नहीं। लोप का तात्पर्य पूर्ववत् ही 'जहाँ चादियों का अर्थ हो पर प्रयोग न हो' यही लेना है॥ ह, अह आदि के लोप होने पर प्रथम तिङ् को विकल्प कहने से अनुदात्त वाले उदाहरण भी प्रयोग मिलने पर साधु समझने चाहियें॥ भवन्ति में एक पक्ष में अदुपदेश से परे 'अन्ति' को निघात होने से धातुस्वर से आद्युदात्त रहेगा, तथा पक्ष में अनुदात्त होगा ही। यजेत यहाँ 'त' को लसार्वधातुकानुदात्तत्व करने से धातुस्वर से यजेत आद्युदात्त है॥

यहाँ से '*विभाषा*' की अनुवृत्ति ८।१।६५ तक जायेगी॥

वैवावेति च च्छन्दसि ॥८।१।६४॥

वैवाव लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः॥ इति अ०॥ च अ०॥ छन्दसि

७।१।। स०—वैश्च वावश्च वैवाव, द्वन्द्वः ।। अनु०—विभाषा, प्रथमा, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ।। अर्थः—वै, वाव इत्येताभ्यां युक्ता प्रथमा तिङ्विभक्तिर्विकल्पेन नानुदात्ता भवति छन्दसि विषये ।। उदा०—अहर्वै देवानामासी॑त् रात्रीरसुराणामासीत्। पक्षे-अहर्वै देवानामासीत्, रात्रीरसुराणामासीत्। बृहस्पतिर्वै देवानां पुरोहित आसी॑त् (पक्षे-आसीत्) शण्डामर्कावसुराणाम्। वाव-अयं वाव ह आसी॑त् नेतर आसीत्। पक्षे-अयं वाव हस्त आसीत्, नेतर आसीत्।

भाषार्थः—[वैवाव] वै तथा वाव [इति] इनसे युक्त (वाक्यस्थ) प्रथम तिङन्त को [च] भी विकल्प से [छन्दसि] वेद विषय में अनुदात्त नहीं होता ।। प्रथम आसीत् का 'आट्' उदात्त रहेगा, तथा पक्ष में अनुदात्त होगा ही। आसीत् की सिद्धि सूत्र ७।३।९६ में देखें ।।

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति ८।१।६५ तक जायेगी ।।

एकान्याभ्यां समर्थाभ्याम् ।।८।१।६५।।

एकान्याभ्याम् ३।२।। समर्थाभ्याम् ३।२।। स०—एकश्च अन्यश्च एकान्यौ ताभ्यां''इतरेतरद्वन्द्वः। समौ तुल्यावर्थौ ययोस्तौ समर्थौ ताभ्यां''बहुव्रीहिः ।। अनु०—छन्दसि, विभाषा, प्रथमा, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ।। अर्थः—एक, अन्य इत्येताभ्यां समर्थाभ्यां युक्ता प्रथमा तिङ्विभक्तिर्विभाषा नानुदात्ता भवति छन्दसि विषये ।। उदा०—प्रजामेका जिन्वति ऊर्जमेका रक्षति। पक्षे—प्रजामेका जिन्वति ऊर्जमेका रक्षति। अन्य—तयो॑रन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति (पक्षे—स्वाद्वत्ति), अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति (ऋ० १।१६४।२०) ।।

भाषार्थः—[समर्थाभ्याम्] समान अर्थ वाले [एकान्याभ्याम्] एक तथा अन्य शब्दों से युक्त प्रथम तिङन्त को विकल्प से छन्द विषय में अनुदात्त नहीं होता ।। उदाहरणों में 'एक' तथा 'अन्य' दोनों समान= तुल्य अर्थ वाले हैं ।। जिवि (प्रीणनार्थक) धातु को इदित् होने से नुम् (७।१।५८) होकर लट् में शप् तिप् आकर जिन्वति बना है, सो पचति के समान धातुस्वर से जिन्वति पक्ष में आद्युदात्त है। अद् धातु से अत्ति

यह भी धातु स्वर से आद्युदात्त है। स्वादु + अत्ति स्वाद्वत्ति। पक्ष में अनुदात्तत्व होगा ही ॥

यद्वृत्तान्नित्यम् ॥८।१।६६॥

यद्वृत्तात् ५।१॥ नित्यम् १।१॥ स०—यदो वृत्तं यद्वृत्तं तस्मात्... षष्ठीतत्पुरुषः ॥ वर्त्ततेऽस्मिन्निति वृत्तम् ॥ *किंवृत्तञ्च०* (८।१।४८) इत्यत्र प्रदर्शिता किंवृत्तशब्दस्य या व्युत्पत्तिस्तद्वदत्रापि ज्ञेया ॥ *अनु०*—तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—यद्वृत्तादुत्तरं तिङन्तं नित्यं नानुदात्तं भवति ॥ यद्वृत्तग्रहणेनात्र तद्विभक्त्यन्तं गृह्यते ॥ *उदा०*—यो भु॒ङ्क्ते, यं भो॒जय॑ति, येन भु॒ङ्क्ते, यस्मै द॒दा॑ति, यत्कामास्ते जुहु॒मः (ऋ० १०।१२१।१०) ॥

भाषार्थः—[*यद्वृत्तात्*] यद्वृत्त शब्द से उत्तर तिङन्त को [*नित्यम्*] नित्य ही अनुदात्त नहीं होता ॥ यद्वृत्त से यहाँ यद् शब्द से उत्पन्न जो विभक्तियाँ तद्विभक्त्यन्त शब्द लिये गये हैं ॥ यद्वृत्त की व्युत्पत्ति ८।१।४८ सूत्र में दी हुई किंवृत्त की व्युत्पत्ति के समान जानें। स्वर सिद्धियाँ भी उसी सूत्र में देखें। जुहुमः हु धातु के लट् मस् में बना है, सो प्रत्ययस्वर (३।१।३) से अन्तोदात्त यह शब्द है ॥

पूजनात् पूजितमनुदात्तम् ॥८।१।६७॥

पूजनात् ५।१॥ पूजितम् १।१॥ अनुदात्तम् १।१॥ *अनु०*—अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ *अर्थः*—पूजनात् परं पूजितमनुदात्तं भवति ॥ *उदा०*—काष्ठाध्या॒प॒कः, काष्ठाभि॒रू॒प॒कः, दारुणाध्या॒प॒कः, दारुणाभि॒रू॒प॒कः ॥

भाषार्थः—[*पूजनात्*] पूजनवाची शब्दों से उत्तर [*पूजितम्*] पूजितवाची शब्दों को [*अनुदात्तम्*] अनुदात्त होता है ॥ दारुणम् अध्यापयतीति दारुणाध्यापकः, काष्ठाभिरूपकः यहाँ दारुण काष्ठ आदि शब्द क्रियाविशेषण द्वितीयान्त हैं, सो यहाँ वैयधिकरण्य होने से समास नहीं हुआ है, किन्तु *मलोपश्च* (*वा०* ८।१।६७) इस वार्त्तिक से दारुणम् काष्ठम् के मकार का लोप हुआ है[1], पश्चात् सवर्ण दीर्घत्व हो गया ॥

---

१. उपपद समास यहाँ मानने पर कृदुत्तरपद स्वर का यह बाधक होगा, ऐसा समझना चाहिए।

ाष्ठ शब्द अद्भुतवाची हैं, अतः पूजनवचनता है। अध्यापक .अभि-रूपक शब्द पूजितवाची हैं ही। काष्ठाध्यापकः अर्थात् काष्ठा[1] = सीमा = अन्त (= किसी विषय की अन्तिम सीमा तक) अर्थात् आश्चर्य-जनक पढ़ानेवाला॥ दारुण शब्द क्लिष्टवाची है, अतः अत्यन्त क्लिष्ट ग्रन्थ को पढ़ाने वाला ऐसा अर्थ होगा। अध्यापक, अभिरूपक शब्द ण्वुलन्त हैं, अतः लित् स्वर की प्राप्ति थी, अनुदात्त कह दिया॥

यहाँ से '*पूजनात् पूजितम्*' की अनुवृत्ति ८।१।६८ तक जायेगी॥

सगतिरपि तिङ् ॥८।१।६८॥

सगतिः १।१॥ अपि अ० ॥ तिङ् १।१॥ स०—गतिना सह सगतिः, बहुव्रीहिः। *तेन सहेति*० (२।२।२८) इत्यनेन समासः॥ *अनु*०—पूजनात् पूजितम्, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य॥ *अर्थः*—पूजनात् परं सगतिरगतिरपि पूजितं तिङन्तमनुदात्तं भवति॥ *उदा*०—अगतिः—यत्काष्ठं पचति, यद्दारुणं पचति। सगतिः—यत्काष्ठं प्रपचति। यद्दारुणं प्रपचति॥ सगतिग्रहणात् गतिरपि निहन्यते।

भाषार्थः—पूजनवाचियों से उत्तर [*सगतिः*] गति सहित [*तिङ्*] तिङन्त को तथा (अपि ग्रहण से) गतिभिन्न तिङन्त को [*अपि*] भी अनुदात्त होता है॥ *तिङ्ङतिङः* (८।१।२८) से निघात प्राप्त ही था, पुनः *निपातैर्यद्यदि*० (८।१।३०) से निघात प्रतिषेध प्राप्त होने पर इस सूत्र का विधान है॥ भाष्यानुसार पूर्वोक्त *मलोपश्च* वार्त्तिक अतिङ् परे रहते ही प्रवृत्त होता है, अतः 'यत्काष्ठं पचति' आदि में मकार लोप नहीं हुआ॥ सगति ग्रहण से गतिसहित निघात होता है॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।१।६९ तक जायेगी॥

कुत्सने च सुप्यगोत्रादौ ॥८।१।६९॥

कुत्सने ७।१॥ च अ० ॥ सुपि ७।१॥ अगोत्रादौ ७।१॥ स०—गोत्र आदिर्यस्य स गोत्रादिः, बहुव्रीहिः। न गोत्रादिरगोत्रादिस्तस्मिन्'''नञ्-तत्पुरुषः॥ *अनु*०—सगतिरपि तिङ्, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदस्य॥

---

१. सूत्र वा गण में नपुंसकलिङ्ग काष्ठ शब्द भी काष्ठा = सीमा का वाचक है ऐसा समझना चाहिए।

पदादत्र निवृत्तम् ॥ *अर्थः*—गोत्रादिवर्जिते कुत्सने च सुबन्ते परतः सगतिरगतिरपि तिङन्तमनुदात्तं भवति ॥ *उदा०*—पचति पूति, प्रपचति पूति । पचति मिथ्या, प्रपचति मिथ्या ॥

भाषार्थः—[*अगोत्रादौ*] गोत्रादि वर्जित (गणपठित शब्दों को छोड़कर) [*कुत्सने*] कुत्सन = निन्दावाची [*सुपि*] सुबन्त शब्दों के परे रहते [*च*] भी सगतिक एवं अगतिक (दोनों) तिङन्तों को अनुदात्त होता है ॥ यहाँ से 'पदात्' अधिकार की अनुवृत्ति समाप्त हो गई है, अतः उदाहरणों में पद से उत्तर न होने से अगति में *तिङ्ङतिङः* से निघात की प्राप्ति ही नहीं थी और सगति में प्र को मानकर तिङ् मात्र को निघात प्राप्त था, विधान कर दिया ॥ पूति शब्द के 'सु' का *स्वमोर्नपुं०* (७।१।२३) से लुक् हुआ है । पचति पूति अर्थात् खराब पकाती है, सो यहाँ उसकी क्रिया की कुत्सा = निन्दा हो रही है ॥

गतिर्गतौ ॥८।१।७०॥

गतिः १।१॥ गतौ ७।१॥ *अनु०*—अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदस्य ॥ *अर्थः*—गतौ परतो गतिरनुदात्तो भवति ॥ *उदा०*—अभ्युद्धरति, समुदानयति, अभिसम्पर्याहरति ॥

भाषार्थः—[*गतौ*] गति संज्ञक के परे रहते [*गतिः*] गतिसंज्ञक को अनुदात्त होता है ॥ 'अभि' उपसर्ग को *उपसर्गाश्चाभिवर्जम्* सूत्र में निषेध करने से *फिषोऽन्त उदात्तः* (*फिट्०* १) से अन्तोदात्त प्राप्त था, उत् गतिसंज्ञक के परे रहते अनुदात्त हो गया, पश्चात् यणादेश होने के कारण अभि का 'अ' ही अनुदात्त रहा, एवं 'उत्' का 'उ' *उपसर्गाश्चाभिवर्जम्* (*फिट्०* ८०) से उदात्त हो गया । समुदानयति में भी *उपसर्गाश्चाभिवर्जम्* से ही सम् के स को उदात्त प्राप्त था, आङ् गतिसंज्ञक के परे रहते सम् उत् दोनों को अनुदात्त हो गया, एवं आङ् पूर्ववत् उदात्त रहा । इसी प्रकार अभिसम्पर्याहरति में पूर्ववत् अभि को अन्तोदात्त प्राप्त था, आङ् परे रहते अभि, सम्, परि तीनों को अनुदात्त हो गया ॥

यहाँ से '*गतिः*' की अनुवृत्ति ८।१।७१ तक जायेगी ॥

तिङि चोदात्तवति ॥८।१।७१॥

तिङि ७।१॥ च अ० ॥ उदात्तवति ७।१॥ उदात्तोऽस्मिन्नस्तीति=

उदात्तवान् तस्मिन्…(मतुप्प्रत्ययः) ॥ अनु०—गतिः, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदस्य ॥ अर्थः—उदात्तवति तिङन्ते च परतो गतिरनुदात्तो भवति ॥ उदा०—यत् प्रपचंति, यत् प्रकरोति ॥

भाषार्थः—[उदात्तवति] उदात्तवान् [तिङि] तिङन्त के परे रहते [च] भी गतिसंज्ञक को निघात होता है ॥ उदाहरण में पचति, करोति तिङन्त को निपातैर्यद्यदि० (८।१।३०) अथवा यद्वृत्तान्नित्यम् (८।१।६६) से निघात का प्रतिषेध हो जाने से उदात्तवान् हैं, अतः इनके परे रहते 'प्र' गतिसंज्ञक को अनुदात्त हो गया है, इस प्रकार उपसर्गाश्चा० (फिट्० ८०) से 'प्र' उदात्त नहीं हुआ। पचंति करोति की स्वर सिद्धि परि० ८।१।३० में देखें ॥

आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् ॥८।१।७२॥

आमन्त्रितम् १।१॥ पूर्वम् १।१॥ अविद्यमानवत् अ० ॥ स०—न विद्यमानमविद्यमानम्, नञ्तत्पुरुषः। अविद्यमानस्येव अविद्यमानवत् ॥ अनु०—पदस्य ॥ अर्थः—आमन्त्रितं पदं पूर्वमविद्यमानवद् भवति, तस्मिन् सति यत् कार्यं प्राप्नोति तन्न भवति, असति यत्तद्भवतीत्यर्थः ॥ उदा०—देवंदत्त यज्ञंदत्त। देवंदत्त पचंसि। देवदत्त तव ग्रामः स्वम्। देवदत्त मम ग्रामः स्वम्। यावद् देवदत्त पचसि। देवदत्त जातु पचंसि। आहो देवदत्त पचंसि, उताहो देवदत्त पचंसि। आम् भोः पचंसि देवदत्त ॥

भाषार्थः—किसी पद से (जिसे निघातादि कार्य कहे हों) [पूर्वम्] पूर्व [आमन्त्रितम्] आमन्त्रितसंज्ञक पद हो तो वह आमन्त्रित पद [अविद्यमानवत्] अविद्यमान (न होना) के समान माना जावे ॥ अर्थात् उस आमन्त्रित को मानकर जो कार्य प्राप्त हो रहे हों, वे कार्य उसके अविद्यमानवत् होने से नहीं होते, एवं जो कार्य उसके न रहने पर प्राप्त होते हैं वे हो जाते हैं ॥

देवंदत्त यज्ञंदत्त यहाँ दोनों ही पद आमन्त्रितसंज्ञक (२।३।४८) हैं, सो आमन्त्रितस्य च (८।१।१९) से देवदत्त पद से उत्तर 'यज्ञदत्त' को निघात प्राप्त था, किन्तु पूर्व वाला आमन्त्रित पद देवदत्त, यज्ञदत्त की अपेक्षा से अविद्यमानवत् हो गया, तो पद से उत्तर न मिलने से

'यज्ञदत्त' को निघात नहीं हुआ, किन्तु षाष्ठिक *आमन्त्रितस्य च* से आद्युदात्त पद रहा। इसी प्रकार देवदत्त पचसि में देवदत्त के अविद्यमानवत् होने से *तिङ्ङतिङः* (८।१।२८) से पचसि को (पद से उत्तर न होने से) निघात नहीं हुआ। 'देवदत्त तव ग्रामः स्वम्' आदि में तव मम को *तेमयावेक०* (८।१।२२) से पूर्वोक्तानुसार ते, मे आदेश नहीं हुये। 'यावद् देवदत्त पचसि' यहाँ देवदत्त के अविद्यमानवत् होने से यावत् से अनन्तर (अव्यवहित) तिङन्त है, तो *पूजायां नानन्तरम्* (८।१।३७) से पचसि को अनुदात्त नहीं हुआ। 'देवदत्त जातु पचसि' यहाँ भी देवदत्त के अविद्यमानवत् होने से 'जातु' अविद्यमानपूर्व है सो *जात्वपूर्वम्* (८।१।४८) से पचसि को निघात निषेध हो गया। इसी प्रकार 'आहो देवदत्त पचसि' आदि में देवदत्त को अविद्यमानवत् होकर *आहो उताहो०* (८।१।४९) से पचसि को अनुदात्त हो गया है। 'आम् भोः पचसि देवदत्त' यहाँ 'भोः' आमन्त्रित को अविद्यमानवत् होने से आम् से उत्तर एकपदान्तर आमन्त्रित 'देवदत्त' हो जाता है, सो उसे *आम एकान्तरमा०* (८।१।५५) से अनुदात्त हो जाता है। 'भोः' को अविद्यमानवत् न मानने से यहाँ 'भोः पचसि' इन दो पदों के कारण एकपदान्तरता न रह पाती॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।१।७४ तक जायेगी॥

नामन्त्रिते समानाधिकरणे ॥८।१।७३॥

न अ०॥ आमन्त्रिते ७।१॥ समानाधिकरणे ७।१॥ *स०*—समानम् अधिकरणं यस्य तत् समानाधिकरणं तस्मिन्‌ बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्, पदस्य॥ *अर्थः*—समानाधिकरण आमन्त्रितान्ते परतः पूर्वमामन्त्रितान्तं नाविद्यमानवद् भवति॥ पूर्वेण प्राप्ते प्रतिषिध्यते॥ *उदा०*—[1]अग्ने गृहपते (मै०सं० १।४।२)। मा[1]णवक जटिलकाध्यापक॥

भाषार्थः—[*समानाधिकरणे*] समान अधिकरण वाला [*आमन्त्रिते*]

---

१. हे गार्हपत अग्ने। हे जटावान् अध्यापक माणवक। यहां गार्हपत अग्नि सामान्य का, और जटिलकाध्यापक माणवक सामान्य का विशेषण है। उदाहरणों में गार्हपते और जटिलकाध्यापक में पूर्व स्वरितानुसार एकश्रुत्यभाव का निर्देश सुकरता के लिए किया है।

आमन्त्रित पद परे हो तो उससे पूर्व वाला आमन्त्रित पद अविद्यमानवद् [न] न हो, किन्तु विद्यमानवत् ही होता है ॥ अग्ने तथा गृहपते पद आमन्त्रितसंज्ञक एवं समानाधिकरण वाले भी हैं, अतः 'अग्ने' पद विद्यमानवत् ही रहा, सो 'गृहपते' को *आमन्त्रितस्य* च (८।१।१९) से निघात हो गया। इसी प्रकार द्वितीय उदाहरण में जानें ॥

यहाँ से '*आमन्त्रिते समानाधिकरणे*' की अनुवृत्ति ८।१।७४ तक जायेगी।

सामान्यवचनं विभाषितं विशेषवचने ॥८।१।७४॥

सामान्यवचनम् १।१॥ विभाषितम् १।१॥ विशेषवचने ७।१॥ *स०*— सामान्यस्य वचनं सामान्यवचनम्, षष्ठीतत्पुरुषः। एवं विशेषवचन इत्यत्रापि ज्ञेयम् ॥ *अनु०*—आमन्त्रिते समानाधिकरणे, आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्, पदस्य ॥ *अर्थः*—विशेषवचने समानाधिकरण आमन्त्रितान्ते परतः पूर्वं सामान्यवचनमामन्त्रितं विभाषितमविद्यमानवद् भवति ॥ *उदा०*—देवाः शरण्याः। पक्षे-देवाः शरण्याः, ब्राह्मणा वैयाकरणाः। पक्षे-ब्राह्मणा वैयाकरणाः ॥

भाषार्थः—[*विशेषवचने*] विशेषवाची समानाधिकरण आमन्त्रित परे रहते [*सामान्यवचनम्*] सामान्यवचन आमन्त्रित को [*विभाषितम्*] विकल्प से अविद्यमानवत् होता है ॥ उदाहरणों में पहले आमन्त्रित देव, एवं ब्राह्मण सामान्य रूप से सभी देवत्व एवं ब्राह्मणत्व गुण वालों को कहते हैं, अतः सामान्यवचन हैं, एवं शरण्य (शरण देने में जो साधु) देव तथा वैयाकरण (ब्राह्मण) विशेषवाची परे हैं, परस्पर ये शब्द समानाधिकरण हैं ही, सो विकल्प से पूर्व वाले सामान्यवचन आमन्त्रित देव एवं ब्राह्मण विद्यमानवत् हो गये। जिस पक्ष में ये विद्यमानवत् हुये, उस पक्ष में *आमन्त्रितस्य* च (८।१।१९) से शरण्य तथा वैयाकरण निघात हुये एवं अविद्यमानवत् हुये तो षाष्ठिक *आमन्त्रितस्य* च (६।१।१९२) से दोनों पदों को आद्युदात्त हो गया ॥

इति प्रथमः पादः

—:०:—

द्वितीय पादः

पूर्वत्रासिद्धम् ॥८।२।१॥

पूर्वत्र अ० ॥ असिद्धम् १।१॥ स०—न सिद्धमसिद्धम्, नञ्तत्पुरुषः ॥ *अर्थः*—अधिकारोऽयम्, आ अध्यायपरिसमाप्तेः । तत्र येयं सपादसप्ताध्याय्यनुक्रान्ता एतस्यामयं पादोनोऽध्यायोऽसिद्धो भवतीति वेदितव्यम्, सिद्धकार्यं न करोतीत्यर्थः । इत उत्तरं चोत्तरोत्तरो योगः पूर्वत्र पूर्वत्रासिद्धो भवति ॥ *उदा०*—अस्मा उद्धर । द्वा अत्र । द्वा आनय । असा आदित्यः । अमुष्मै, अमुष्मात्, अमुष्मिन् ॥ शुष्किका, शुष्कजङ्घा, क्षामिमान्, औजढत्, गुडलिण्मान् ॥

भाषार्थः—यह अधिकार सूत्र है, अध्याय की समाप्ति पर्यन्त जायेगा ॥ यहाँ से आगे अध्याय की समाप्ति पर्यन्त ३ पाद के सूत्र [*पूर्वत्र*] पूर्व पूर्व की दृष्टि में अर्थात् सवा ७ अध्याय में कहे सूत्रों की दृष्टि में [*असिद्धम्*] असिद्ध होते हैं, सिद्ध के समान कार्य नहीं करते यह तात्पर्य है । प्रतिसूत्र में अधिकार होने से यहाँ से आगे (इन तीन पादों में) भी उत्तर उत्तर के सूत्र उससे पूर्व पूर्व की दृष्टि में असिद्ध होते जाते हैं, ऐसा अर्थ भी इस सूत्र का जानना चाहिये ॥ अस्मा उद्धर, द्वा अत्र, द्वा आनय, असा आदित्यः यहाँ सर्वत्र अस्मै, द्वौ, असौ के एच् को *एचोऽयवायावः* (६।१।७५) से जो आय् आव् आदेश हुये थे, उनके य् व् का *लोपः शाकल्यस्य* (८।३।१९) से लोप हो जाने पर *आद् गुणः* (६।१।८४) से गुण एकादेश एवं असा आदित्यः में सवर्णदीर्घत्व नहीं होता, क्योंकि *लोपः शाकल्यस्य* इन तीन पादों में है, सो वह *आद् गुणः अकः सवर्णे०*' की दृष्टि में असिद्ध रहेगा, उन्हें इस सूत्र से विहित य् व् लोप नहीं दीखेगा, तो गुण एकादेश सवर्ण दीर्घत्व नहीं हो सकते । इसी प्रकार अमुष्मै आदि में *अदसोऽसे०* (८।२।८०) से द् को म् तथा दकार से उत्तर 'अ' को उत्व हुआ है, सो *अदसोऽसेर्दादु दो मः* सूत्र के त्रिपादिस्थ होने से *सर्वनाम्नः स्मै, ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ* (७।१।१४-१५) की दृष्टि में असिद्ध हो गया, अर्थात् इन्हें 'अद ङे' ऐसा अदन्त अङ्ग ही दीखा तो अदन्त अङ्ग से उत्तर मानकर स्मै आदि आदेश हो गये ॥ शुष्किका यहाँ *शुषः कः* (८।२।५१) *उदीचामातः स्थाने०*

(७।३।४६) की दृष्टि में असिद्ध रहता है, तो *प्रत्ययस्थात्०* (७।३।४४) से पाणिनि मुनि के मत में नित्य इत्व होता है। 'शुष्का' निष्ठान्त स्त्रीलिङ्ग से अज्ञातादि अर्थ में क तथा *केऽणः* (७।४।१३) से ह्रस्वत्व होकर पुनः टाप् एवं इत्व शुष्किका में हुआ है॥ शुष्के जङ्घेऽस्याः सा शुष्कजङ्घा यहाँ शुषः कः के *न कोपधायाः* (६।३।३५) की दृष्टि में असिद्ध होने से पुंवद्भाव प्रतिषेध नहीं होता॥ क्षामस्यापत्यं क्षामिः, क्षामिः अस्य अस्मिन् वास्तीति क्षामिमान् यहाँ क्षा धातु से उत्पन्न निष्ठा को जो *क्षायो मः* (८।२।५२) से 'म' हुआ था, वह इस त्रिपादी में ही *मादुपधायाः०* (८।२।९) की दृष्टि में असिद्ध रहा तो वत्व नहीं हुआ। इस प्रकार इस त्रिपादी में भी उत्तर उत्तर सूत्र के कार्य पूर्व पूर्व सूत्र की दृष्टि में असिद्ध रहते हैं का प्रयोजन हुआ॥

औजढत् यहाँ ऊढ शब्द से *तत्करोति०* (वा० ३।१।२६) से णिच् एवं तदन्त से लुङ् हुआ है। ऊढः की सिद्धि ६।१।१५ सूत्र में देखें। *णाविष्ठवत्०* (वा० ६।४।१५५) से 'ऊढ' के टि का लोप पटयति (परि० १।१।५५) के समान हुआ। शेष णि आदि का लोप अपीपचत् के समान (देखो परि० ६।१।११) होकर जब ऊढ् को चङि से द्वित्व करने लगे तो चङि की दृष्टि में 'ऊढ' में किये हुये ढत्व, ष्टुत्व, ढलोप कार्य त्रिपादीस्थ होने से असिद्ध हो गये, अर्थात् उसे ऊ ह् त ही दिखा। णि परे रहते जो टि लोप हुआ था, वह भी *णौ कृतं स्थानिवद्०* (महा० भा० १।१।५८) से स्थानिवत् हो गया अर्थात् 'ऊ ह् त' रहा। इस प्रकार *अजादेर्द्वि०* (६।१।२) लगकर 'ह् त' द्वित्व हुआ, यही इस सूत्र का फल है। आट् ऊ ह् त ह् चङ् त् = हलादि शेष होकर आ ऊ ह ह् अ त् = *कुहोश्चुः* (७।४।६२) से ह् को झ् *अभ्यासे चर्च* (८।४।५३) से ज् तथा वृद्धि एकादेश होकर औजढत् बन गया। यहाँ अक् लोप (टि लोप होने से) हुआ है, अतः *सन्वल्लघुनि०* (७।४।९३) से सन्वद्भाव नहीं होता है॥

गुडलिहोऽस्य सन्तीति = गुडलिण्मान् यहाँ पहले गुडं लेढि विग्रह करके गुडलिह् शब्द से क्विप् हुआ, तदन्त से मतुप् हुआ है, सो यहाँ भी 'ह्' को ढत्व *झलां जशोऽन्ते* (८।२।३९) से जश्त्व 'ड्' हुआ है, सो ये ढत्व जश्त्व *झयः* (८।२।१०) की दृष्टि में जब असिद्ध हो गये,

तो मतुप् को वत्व नहीं हुआ । पश्चात् *यरोऽनुनासिके०* (८।४।४४) से को ण् हो गया[1] ॥

इस सूत्र को हम अनुवृत्ति में सर्वत्र नहीं दिखायेंगे, क्योंकि प्रत्ये सूत्र में इसका भी अर्थ करना कोई उपयोगी नहीं, पाठकों को य इसे समझ लेना चाहिए कि सर्वत्र ही इन तीन पादों में यथावश्यक इस सूत्र का उपयोग होगा ।

नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति ॥८।२।२॥

नलोपः १।१॥ सुप्'''विधिषु ७।३॥ कृति ७।१॥ *स०*—नकार लोपः नलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः । सुप् च स्वरश्च संज्ञा च तुक् च सुप्स्व संज्ञातुकः, इतरेतरद्वन्द्वः । इत्येतेषां विधयः सुप्'''विधयस्तेषु'''षष्ठ तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—असिद्धः ॥ *अर्थः*—सुब्विधौ, स्वरविधौ, संज्ञाविधौ तुग्विधौ च कृति नलोपः पूर्वत्रासिद्धो भवति ॥ *उदा०*—सुब्विधौ राजभिः, तक्षभिः । राजभ्याम्, तक्षभ्याम् । राजसु, तक्षसु । स्वरविधौ राजवती । पञ्चार्मम्, दशार्मम् । पञ्चबीजी । संज्ञाविधौ–पञ्च ब्राह्मण्य दश ब्राह्मण्यः । तुग्विधौ–वृत्रहभ्याम्, वृत्रहभिः ॥

भाषार्थः—[*सुप्'''विधिषु*] सुप्विधि, स्वरविधि संज्ञाविधि, तथा [*कृति* कृत् विषयक तुक् की विधि करने में [*नलोपः*] नकार का लोप असि होता है ॥ 'कृति' का सम्बन्ध यहाँ सम्भव होने तुक्विधि के साथ लगता है, अन्यों के साथ नहीं ॥ पूर्व सूत्र से ही असिद्धत्व सिद्ध थ पुनर्वचन नियमार्थ है, अर्थात्–नकार का लोप इन्हीं विधियों में असि होता है, अन्य विधियों में नहीं ॥ सुप् विधि से सुप् के स्थान में हो वाली विधि, एवं सुप् के परे रहते जो विधि सभी का ग्रहण हैं राजभिः तक्षभिः में राजन् तक्षन् के नकार का लोप (८।२।७) असि हो जाता है, तो अदन्त अङ्ग न होने से *अतो भिस ऐस्* (७।१।६) भिस् सुप् के स्थान में ऐस् नहीं होता । इसी प्रकार राजभ्याम् राज

---

१. हमने यहाँ बहुत से उदाहरण कठिन होने पर भी समझाने के लिये दे दिए किन्तु सारे उदाहरण सभी को प्रथमावृत्ति में ही समझा देने अभीष्ट नहीं है । चा तो अमुष्मिन् तक ही बतावें, शेष छोड़ दें । पश्चात् कभी इन्हें समझा जा सकता है

आदि में क्रमशः *सुपि च*, *बहुवचने झल्येत्* (७।३।१०३) से सुप् परे रहते दीर्घत्व, एत्व नहीं होता ॥ मतुप् प्रत्ययान्त राजवती यहाँ नलोप स्वर-विधि में असिद्ध होने से *अन्तोऽवत्याः* (६।१।२१४) से अन्तोदात्त नहीं होता, क्योंकि असिद्ध होने पर 'अवती' शब्दान्त राजवती नहीं रहेगा। पञ्चार्मम्, दशार्मम् यहाँ नलोप असिद्ध होने से *अर्मे चावर्णं०* (६।२।९०) से अवर्णान्त पूर्वपद न होने से पूर्वपद को आद्युदात्त नहीं होता। पञ्चार्मम् दशार्मम् में *दिक्सङ्ख्ये०* (२।१।४९) से समास हुआ है। पञ्चानां बीजानां समाहारः पञ्चबीजम्[1] यहाँ बीज शब्द से जो *अत इनिठनौ* (५।२।११५) से इनि हुआ था, उस नकार का लोप हुआ है, सो उसके असिद्ध हो जाने से इगन्तता नहीं रहती, अतः *इगन्तकालकपाल०* (६।२।२९) से पूर्वपद को प्रकृतिस्वर नहीं होता ॥ पञ्च ब्राह्मण्यः यहाँ नलोप करने के पश्चात् नान्त न होने से षट्संज्ञा पञ्च की प्राप्त नहीं थी, संज्ञाविधि में असिद्ध होने से हो गई, तो *न षट्स्वस्रा०* (४।१।१०) से पञ्च को प्राप्त टाप् (४।१।४) का प्रतिषेध हो गया ॥ वृत्रहभ्याम्, वृत्रहभिः में कृत् विषयक तुक्विधि *ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्* (६।१।६९) से करने में वृत्रहन् का नलोप असिद्ध हो गया तो तुक् आगम नहीं हुआ। कृत् परे रहते तुक् आगम *ह्रस्वस्य पिति०* में कहा है, अतः यह कृत् विषयक तुक् है ॥

न मु ने ॥८।२।३॥

न अ० ॥ मु लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ ने ७।१॥ *अनु०*—असिद्धः ॥ *अर्थः*—ने परतो यत् प्राप्नोति तस्मिन् कर्त्तव्ये मुभावो नासिद्धो भवति, किन्तु सिद्ध एव ॥ *उदा०*—अमुना ॥

भाषार्थः—[ने] [2]ना परे रहते [मु] मु भाव असिद्ध [न] नहीं होता, अर्थात् सिद्ध ही रहता है ॥ अमुना यहाँ *अदसोऽसेर्दा०* (८।२।८०) से जो द् को म् तथा द् से उत्तर उ हुआ था, वह 'मु' *पूर्वत्रासिद्धम्* से *सुपि च* (७।३।१०२) की दृष्टि में असिद्ध हो जाये तो *आङो नाऽस्त्रियाम्*

---

१. *पात्रादिभ्यः प्रतिषेधो वक्तव्यः* (वा० २।४।१७) से यहाँ स्त्रीत्व नहीं होता।

२. ना+ङि = ने। यथा *क्त्वायां च कित्प्रतिषेधः* (भा० वा० १।२।१) में आकार का लोप नहीं हुआ तद्वत्।

(७।३।११६) से हुये 'ना भाव' के परे रहते 'अमु' अङ्ग को दीर्घत्व *सुपि* च से प्राप्त हो किन्तु प्रकृत सूत्र से ना परे रहते मुभाव सिद्ध होने से नहीं होता ॥

यहाँ प्रश्न है कि प्रथम तो यहाँ *आङो नाऽस्त्रियाम्* की दृष्टि में भी *पूर्वत्रासिद्धम्* से मुभाव के असिद्ध हो जाने से 'अमु' की घिसंज्ञा (१।४।७) न होने से नाभाव प्राप्त ही नहीं हो सकता, पुनः 'ना' परे रहते मुभाव को असिद्ध कहना व्यर्थ है, क्योंकि 'ना' परे मिलेगा ही नहीं इसका उत्तर है कि–यहाँ ना परे रहते असिद्धत्व का निषेध कहा है, जो कि सम्भव ही नहीं, सो यह सूत्र व्यर्थ होकर ज्ञापक निकलता है कि यहाँ "इसी सूत्र से नाभाव करने में भी मुभाव सिद्ध ही रहता है।" तभी यह सूत्र सार्थक होगा ॥

उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य ॥८।२।४॥

उदात्तस्वरितयोः ६।२॥ यणः ५।१॥ स्वरितः १।१॥ अनुदात्तस्य ६।१॥ *स०*—उदात्तश्च स्वरितश्च उदात्तस्वरितौ तयोः''' इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अर्थः*—उदात्तस्य स्थाने यो यण् स्वरितस्य च स्थाने यो यण् ततः परस्यानुदात्तस्य स्वरित आदेशो भवति ॥ *उदा०*—उदात्तयणः—कुमार्यैं, कुमार्याः। स्वरितयणः—सकृल्ल्व्याशा, खलप्व्याशा ॥

भावार्थः—[*उदात्तस्वरितयोः*] उदात्त तथा स्वरित के स्थान में जो [*यणः*] यण् उससे उत्तर [*अनुदात्तस्य*] अनुदात्त के स्थान में [*स्वरितः*] स्वरित आदेश होता है ॥ कुमार्यैं कुमार्याः यहाँ कुमारी शब्द उदात्त-निवृत्ति स्वर से अन्तोदात्त है, सिद्धि इसकी ६।१।१५५ सूत्र में देख लें। अब इस कुमारी के 'ई' को अनुदात्त (३।१।४) ऐ एवं [1]आस् परे रहते यणादेश होता है, सो यह उदात्त के स्थान में यण् है, अतः उससे उत्तर अनुदात्त 'ऐ' एवं 'आस्' को स्वरित होता है ॥ सकृल्ल्व्याशा, खलप्व्याशा यहाँ लू, पू, (धातु स्वर से अन्तोदात्त) धातुओं से क्विप् (३।२।७६) हुआ है, पश्चात् सकृत् एवं खल शब्दों के साथ *उपपदमतिङ्* (२।२।१९) से समास होकर सकृल्लू खलपू बना। अब ये शब्द *गति-कारको०* (६।२।१३८) से प्रकृति स्वर होने से अन्तोदात्त (धातु स्वर के

---

१. कुमार्यैं कुमार्याः की सिद्धि भाग २ परि० ४।१।२ में देखें।

कारण) हैं, अतः जब इनके उदात्त ऊकार के स्थान में अनुदात्त 'ङि' के परे रहते यणादेश हुआ तो अनुदात्त ङि के 'इ' को प्रकृत सूत्र से स्वरित आदेश हो गया। अब सकुल्ल्विं खलप्विं स्वरितान्त से परे आशा शब्द रहते पुनः स्वरित 'इ' के स्थान में यणादेश हुआ। आशा शब्द *आशाया अदिगाख्या* चेत् (*फिट्*० १८) से अन्तोदात्त है, अतः *अनुदात्तं पद*० (६।१।१५२) से अनुदात्त 'आ' हुआ सो सकुल्ल्विं आशा = सकुल्ल्व्यांशा खलप्व्यांशा यहाँ इकार के स्थान में हुये स्वरितयण् से उत्तर आशा के अनुदात्त 'आ' को स्वरित आदेश हो गया॥

यहाँ से '*अनुदात्तस्य*' की अनुवृत्ति ८।२।६ तक जायेगी॥

एकादेश उदात्तेनोदात्तः ॥८।२।५॥

एकादेशः १।१॥ उदात्तेन ३।१॥ उदात्तः १।१॥ *स*०—एकश्चासावादेशश्च एकादेशः, कर्मधारयतत्पुरुषः॥ *अनु*०—अनुदात्तस्य॥ *अर्थः*—उदात्तेन सह अनुदात्तस्य य एकादेशः स उदात्तो भवति॥ आन्तरतम्यात् स्वरिते प्राप्त इदमारभ्यते॥ *उदा*०—अग्नी, वायू, वृक्षैः, प्लक्षैः॥

भाषार्थः—[*उदात्तेन*] उदात्त के साथ जो अनुदात्त का [*एकादेशः*] एकादेश वह [*उदात्तः*] उदात्त होता है॥ उदात्त एवं अनुदात्त का एकादेश अन्तरतम होने से स्वरितत्व प्राप्त था, उदात्त कह दिया॥ 'अग्नि औ' यहाँ अग्नि शब्द प्रातिपदिक स्वर (फिट्० १) या प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त है, एवं 'औ' *अनुदात्तौ सुप्पितौ* (३।१।३) से अनुदात्त है, अतः दोनों को हुआ *प्रथमयोः*० (६।१।९८) से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश प्रकृत सूत्र से उदात्त ही हुआ। इसी प्रकार वायू में जानें। वृक्षैः प्लक्षैः में *वृद्धिरेचि* (६।१।८५) से वृद्धि एकादेश हुआ है॥

यहाँ से '*एकादेश उदात्तेन*' की अनुवृत्ति ८।२।६ तक जायेगी॥

स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ ॥८।२।६॥

स्वरितः १।१॥ वा अ०॥ अनुदात्ते ७।१॥ पदादौ ७।१॥ *स*०—पदस्य आदिः पदादिस्तस्मिन्...षष्ठीतत्पुरुषः॥ *अनु*०—एकादेश उदात्तेन, अनुदात्तस्य॥ *अर्थः*—उदात्तेन सह योऽनुदात्ते पदादौ एकादेशः स स्वरितो भवति विकल्पेन। पक्षे पूर्वेण प्राप्तत्वादुदात्तो भवति॥ *उदा*०—

सु उत्थितः = सूत्थितः । पक्षे—सूत्थितः । वि ईक्षते = वी॑क्षते, वीक्षते । वसुकः असि = वसुको॑ऽसि, वसुकोऽसि ॥

भाषार्थः—[*पदादौ*] पदादि [*अनुदात्ते*] अनुदात्त के परे रहते उदात्त के साथ में हुआ जो एकादेश (अर्थात् उदात्त एवं पदादि अनुदात्त इन दोनों के स्थान में हुआ एकादेश) वह [*वा*] विकल्प करके [*स्वरितः*] स्वरित होता है। पक्ष में पूर्व सूत्र से प्राप्त उदात्त ही होगा॥ सूत्थितः यहाँ सु शब्द *सुः पूजायाम्* (१।४।९३) से कर्मप्रवचनीय[1] संज्ञक है। उसका *कुगतिप्रादयः* (२।२।१८) से समास होकर *तत्पुरुषे तुल्या०* (६।२।२) से अव्यय मानकर पूर्वपद को प्रकृतिस्वरत्व अर्थात् *निपाता आद्युदात्ताः* (फिट्० ७९) से उदात्तत्व होकर शेष पद को *अनुदात्तं०* (६।१।१५२) से अनुदात्त हो गया। इस प्रकार पद के आदि में उकार 'अनुदात्त' अक्षर परे है, सो दोनों के एकादेश (६।१।९७) को विकल्प से स्वरितत्व हो गया॥ वीक्षते, वसुकोऽसि यहाँ *तिङ्ङतिङः* (८।१।२८) से 'ईक्षते तथा असि' निघात हैं, सो दोनों स्थलों में अनुदात्त पदादि परे है। 'वि' *उपसर्गाश्चा०* (फिट्० ८०) से एवं वसुकः प्रातिपदिक स्वर से अन्तोदात्त है ही, इस प्रकार दोनों के एकादेश को विकल्प से स्वरित हो गया॥

नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य ॥८।२।७॥

न लुप्तषष्ठ्यन्तः[2] ॥ लोपः १।१॥ प्रातिपदिक इति लुप्तषष्ठीकम् ॥ अन्तस्य ६।१॥ *अनु०*—पदस्य॥ *अर्थः*—प्रातिपदिकस्य पदस्य योऽन्त्यो नकारस्तस्य लोपो भवति॥ *उदा०*—राजा, राजभ्याम्, राजभिः। राजता, राजतरः, राजतमः॥

भाषार्थः—[*प्रातिपदिकान्तस्य*] प्रातिपदिक पद के अन्त [*नलोपः*] नकार का लोप होता है॥ उदाहरणों में *स्वादिष्व०* (१।४।१७) से राजन् की पद संज्ञा भ्याम् आदि परे रहते है, सो प्रातिपदिक पद के अन्त न् का लोप हो गया। सिद्धियाँ परि० १।४।१७ में देखें॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।२।८ तक जायेगी॥

---

१. सु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से गति संज्ञा का बाध हो जाता है, तो *गतिर्गतौ* (८।१।७०) से 'सु' को निघात नहीं होता, यही प्रयोजन है॥

२. नस्य लोपो नलोप इत्यसमर्थसमासो भवति। नकारस्य 'प्रातिपदिकान्तस्य' पदेन सहान्वयात्, अत एव पृथक् पदं कल्प्यते।

न ङिसम्बुद्ध्योः ॥८।२।८॥

न अ० ॥ ङिसम्बुद्ध्योः ७।२॥ स०—ङिश्च सम्बुद्धिश्च ङिसम्बुद्धी, तयोः...इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य, पदस्य ॥ *अर्थः*—प्रातिपदिकस्य पदस्य यो नकारस्तस्य ङौ सम्बुद्धौ च परतो लोपो न भवति ॥ *उदा०*—ङौ-आर्द्रे चर्मन्, रोहिते चर्मन् (काठ० २४।२)। सम्बुद्धौ-हे राजन्, हे तक्षन् ॥

भाषार्थः—प्रातिपदिक पद के अन्त का जो नकार उसका [*ङिसम्बुद्ध्योः*] ङि तथा सम्बुद्धि परे रहते लोप [*न*] नहीं होता ॥ उदाहरण में चर्मन् के ङि का *सुपां सुलुक्०* (७।१।३९) से लुक् हो गया है। हे राजन् आदि में सु का हल्ङ्यादि लोप हो गया है ॥ पूर्व सूत्र से नकार लोप की प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया है ॥

मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः ॥८।२।९॥

मात् ५।१॥ उपधायाः ५।१॥ च अ० ॥ मतोः ६।१॥ वः १।१॥ अयवादिभ्यः ५।३॥ स०—मश्च अश्च मम्, तस्मात्...समाहारद्वन्द्वः। यव आदिर्येषां ते यवादयः, बहुव्रीहिः। न यवादयोऽयवादयस्तेभ्यः... नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—पदस्य ॥ *अर्थः*—मकारान्ताद् मकारोपधाद् अवर्णान्तादवर्णोपधाच्च प्रातिपदिकात् उत्तरस्य मतोर्व इत्ययमादेशो भवति, यवादिभ्यस्तु उत्तरस्य न भवति ॥ *उदा०*—मकारान्तात्—किंवान्, शंवान्। मकारोपधात्—शमीवान्, दाडिमीवान्। अवर्णान्तात्—वृक्षवान्, प्लक्षवान्, खट्वावान्, मालावान्। अवर्णोपधात्—पयस्वान्, यशस्वान्, भास्वान् ॥

भाषार्थः—[*मात्*] मकारान्त एवं अवर्णान्त [*च*] तथा मकार एवं अवर्ण [*उपधायाः*] उपधा वाले प्रातिपदिक से उत्तर [*मतोः*] मतुप् को [*वः*] वकारादेश होता है किन्तु [*अयवादिभ्यः*] यवादि शब्दों से उत्तर मतुप् को व नहीं होता ॥ यहाँ 'मात्' को सामर्थ्य से 'उपधायाः' का विशेषण बनाना है, एवं स्वतन्त्र रूप से "मकारान्त तथा अवर्णान्त" ऐसा भी अर्थ करना अभीष्ट है, तद्वत् उदाहरण प्रत्येक के पृथक् २ दर्शा दिये

हैं ॥ मतुप् का 'मत्' शेष रहता है। त् का भी संयोगान्त लोप हो जाता है। सर्वत्र *तस्मादित्युत्तरस्य, आदेः परस्य* (१।१।६६-५३) के नियम से मतुप् के म को ही व होगा ॥ सिद्धियाँ भाग २ सूत्र ५।२।६४ में देखें। पयस् यशस् की 'वान्' परे *तसौ मत्वर्थे* (१।४।१६) से भ संज्ञा नहीं होती अतः *ससजुषो रुः* (८।२।६६) नहीं लगा ॥

यहाँ से '*मतोः*' की अनुवृत्ति ८।२।१६ तक तथा '*वः*' की ८।२।१५ तक जायेगी ॥

झयः ॥८।२।१०॥

झयः ५।१॥ अनु०—मतोर्वः, पदस्य ॥ *अर्थः*—झयन्तादुत्तरस्य मतोर्व इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—अग्निचित्वान् ग्रामः। उदश्वित्वान् घोषः। विद्युत्वान् बलाहकः। इन्द्रो मरुत्वान्। दृषद्वान् देशः ॥

भाषार्थः—[*झयः*] झयन्त (प्रत्याहार) से उत्तर मतुप् को वकारादेश हो जाता है ॥ विद्युत्वान् उदश्वित्वान् की सिद्धि परि० १।४।१६ में देखें, तद्वत् अन्य सिद्धियाँ भी हैं ॥ विद्युत् आदि शब्द झय् प्रत्याहार अन्त वाले हैं ही ॥

संज्ञायाम् ॥८।२।११॥

संज्ञायाम् ७।१॥ *अनु०*—मतोर्वः, पदस्य ॥ *अर्थः*—संज्ञायां विषये मतोर्व इत्ययमादेशो भवति ॥ *उदा०*—अहीवती, कपीवती, ऋषीवती, मुनीवती ॥

भाषार्थः—[*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में मतुप् को वकारादेश होता है ॥ उदाहरणों में *नद्यां मतुप्* (४।२।८४) से मतुप्, *शरादीनां च* (६।३।११८) से अहि कपि आदि को दीर्घ तथा *उगितश्च* (४।१।६) से मतुबन्त को ङीप् हुआ है ॥

यहाँ से '*संज्ञायाम्*' की अनुवृत्ति ८।२।१३ तक जायेगी ॥

आसन्दीवदष्ठीवच्चक्रीवत्कक्षीवद्रुमण्वच्चर्मण्वती ॥८।२।१२॥

आसन्दीवत्० सर्वाण्यत्र चर्मण्वतीं विहाय लुप्तप्रथमान्तानि पदानि पृथक् २ निर्दिष्टानि ॥ चर्मण्वती १।१॥ *अनु०*—संज्ञायाम् ॥ *अर्थः*—

आसन्दीवत् अष्ठीवत्, चक्रीवत्, कक्षीवत्, रुमण्वत्, चर्मण्वती इत्येतानि संज्ञायां विषये निपात्यन्ते ॥ मतोर्वत्वं तु पूर्वेणैव सिद्धमादेशार्थानि निपातनानि ॥ आसन्दीवत् इत्यत्र आसनशब्दस्य 'आसन्दी' भावो निपात्यते। अष्ठीवत् इत्यत्र अस्थिशब्दस्य 'अष्ठी' भावो निपात्यते। चक्रीवत् इत्यत्र चक्रशब्दस्य 'चक्री' भावः। कक्षीवत् इत्यत्र कक्ष्याशब्दस्य सम्प्रसारणं निपात्यते, कृते च सम्प्रसारणे *हलः* (६।४।२) इति दीर्घः। रुमण्वत् इत्यत्र लवणशब्दस्य 'रुमण्' भावो निपात्यते। चर्मण्वती इत्यत्र चर्मणो नलोपाभावो णत्वञ्च निपात्यते ॥ *उदा०*—आसन्दीवान् ग्रामः, आसन्दीवदहिस्थलम्। संज्ञाविषयादन्यत्र—आसनवान्। अष्ठीवान्। अस्थिमान् इत्येवान्यत्र। चक्रीवान् राजा। अन्यत्र चक्रवान्। कक्षीवान्नाम ऋषिः। कक्ष्यावान् इत्येवान्यत्र। रुमण्वान्। अन्यत्र—लवणवान्। चर्मण्वती नाम नदी। अन्यत्र—चर्मवती ॥

भाषार्थः—संज्ञा विषय में [*आसन्दीवत्*...*ण्वती*] आसन्दीवत् अष्ठीवत्, चक्रीवत्, कक्षीवत्, रुमण्वत्, चर्मण्वती ये शब्द निपातन किये जाते हैं ॥ पूर्व सूत्र से ही संज्ञा विषय होने से सर्वत्र मतुप् को वत्व सिद्ध था, आदेशार्थ यह निपातन है। इस प्रकार आसन्दीवत् शब्द में आसन शब्द को आसन्दी आदेश निपातित है। अष्ठीवत् में अस्थि शब्द को अष्ठी आदेश निपातन है। चक्रीवत् में चक्र को चक्रीभाव निपातन है। कक्षीवत् में कक्ष्या शब्द को सम्प्रसारण निपातित है, सम्प्रसारण कर लेने पर *हलः* (६।४।२) से दीर्घत्व हो जायेगा। रुमण्वत् यहाँ लवण शब्द को रुमण् भाव निपातित है। चर्मण्वती यहाँ चर्मन् शब्द के नकार लोप का अभाव एवं णत्व निपातित है, क्योंकि मतुप् परे रहते पद संज्ञा होने से *नलोपः प्राति०* (८।२।७) से नकारलोप प्राप्त था, एवं *रषाभ्यां नो णः०* (८।४।१) से प्राप्त णत्व का *पदान्तस्य* (८।४।३६) से प्रतिषेध प्राप्त था, अतः ये विधियाँ न हो जायें इसलिये निपातन कर दिया ॥ सु विभक्ति परे रहते आसन्दीवान् आदि प्रयोग बन ही जायेंगे ॥

उदन्वानुदधौ च ॥८।२।१३॥

उदन्वान् १।१॥ उदधौ ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—संज्ञायाम् ॥
अर्थः—उदन्वान् इति निपात्यते। उदकशब्दस्य उदन्भावो मतौ परतः,

उद्धावर्थे संज्ञायां विषये च निपात्यतेऽत्र ॥ *उदा०*—संज्ञायाम्—उदन्वान् नाम ऋषिः। दधौ—उदन्वान् ॥

भाषार्थः—[*उदन्वान्*] उदन्वान् शब्द [*उदधौ*] उदधि [*च*] तथ संज्ञा विषय में निपातन है। मतुप् परे रहते उदक शब्द को उदन् भाव यहाँ निपातित है ॥ उदधि सामान्य रूप से समुद्र घट मेघ आदि क वाचक है। परन्तु उदधि का सामान्यार्थ उदकं धीयते यत्र मानकर उदन्वान् का भी सामान्यार्थ में प्रयोग देखा जाता है ॥

राजन्वान् सौराज्ये ॥८।२।१४॥

राजन्वान् १।१॥ सौराज्ये ७।१॥ *स०*—शोभनो राजा यस्मिन् देशे स सुराजा, बहुव्रीहिः। तस्य कर्म सौराज्यम् ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्, *नस्तद्धिते* (६।४।१४४) इति टिलोपश्च ॥ *अर्थः*—राजन्वान् इति निपात्यते सौराज्ये गम्यमाने। नलोपाभावोऽत्र निपातनेन भवति ॥ *उदा०*—शोभनो राजा यस्मिन् स राजन्वान् देशः। राजन्वती पृथिवी। 'राजवान्' अन्यत्र भवति ॥

भाषार्थः—[*राजन्वान्*] राजन्वान् शब्द को [*सौराज्ये*] सौराज्य गम्यमान होने पर निपातन किया है। मतुप् परे रहते राजन् के नकार का लोप ८।२।७ से प्राप्त था उसका अभाव यहाँ निपातित है, अथवा नलोप करके नुट् आगम यहाँ निपातित है ॥ अच्छे राजा का कर्म सौराज्य कहाता है, अतः राजन्वान् वह देश कहाता है, जिसका राजा श्रेष्ठ हो ॥

छन्दसीरः ॥८।२।१५॥

छन्दसि ७।१॥ इरः ५।१॥ *स०*—इश्च रश्च इर् तस्मात्''समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—मतोर्वः ॥ *अर्थः*—इवर्णान्ताद् रेफान्ताच्चोत्तरस्य मतोर्वत्वं भवति छन्दसि विषये ॥ *उदा०*—इवर्णान्तात्–त्रिवती याज्यानुवाक्या भवति। हरिवो मेदिनं त्वा (ऋ० खि० पा० १०।१२८।१) अधिपतिवती जुहोति। चरुरग्निवानिव (ऋ० ७।१०४।२)। आरेवानेतु मा विशत्। सरस्वतीवान् भारतीवान् (ऐ० ब्रा० २।२४) दधीवांश्चरुः। रेफान्तात्–गीर्वान्, धूर्वान्, आशीर्वान् ॥

भाषार्थः—[*इरः*] इवर्णान्त तथा रेफान्त शब्दों से उत्तर [*छन्दसि*] वेद विषय में मतुप् को वकारादेश होता है ॥ हरिवो मेदिनम् यहाँ हरि

कारान्त शब्द से मतुप् होकर हरिमन्त् सु रहा। हल्ङ्यादिलोप, संयो-गान्त लोप एवं प्रकृत सूत्र से वत्व होकर हरिवन् बना। अब *मतुवसो रु०* (८।३।१) से हरिवन् के न् को (१।१।५१) रु हो गया, पश्चात् मेदिनम् का 'म्' हश् परे रहते *हशि च* से रु को उत्व एवं *आद् गुणः* (६।१।८४) से गुण एकादेश होकर 'हरिवो' बन गया। यहाँ *हशि च* की दृष्टि में संयोगान्त लोप *संयोगान्तस्य लोपे रोरुत्वे सिद्धो वक्तव्यः* (वा० ८।२।३) इस वार्त्तिक से सिद्ध ही रहता है, नहीं तो असिद्ध होने पर (८।२।१) त् परे माना जाता, जो कि हश् में नहीं है तो *हशि च* से उत्व न हो सकता, ऐसा जानना चाहिये॥ रेवान् यहाँ रयि को मतुप् परे रहते *रयेर्मतौ बहुलम्* (वा० ६।१।३६) इस वार्त्तिक से सम्प्रसारण होकर 'र इ वन्त्' रहा। *आद्गुणः* लगकर रेवान् बन गया॥ धूः की सिद्धि परि० ३।२।१७७ में की है, सो यहाँ मतुप् परे रहते विसर्जनीय न होने से धूर्वान् बन गया। गॄ तथा आङ् पूर्वक शासु से *सम्पदादिभ्यः क्विप्* (वा० ३।३।९४) से क्विप् प्रत्यय हुआ है। गॄ को *ॠत इद्धातोः* (७।१।१००) से इत्व रपरत्व एवं *र्वोरुपधाया०* (८।२।७६) से दीर्घ होकर गीर् बना। मतुप् आकर गीर्वान् बन गया। आशास् क्विप् यहाँ *शास इत्व आशासः क्वौ०* (भा० वा० ६।४।३४) से शास् की उपधा को इत्व होकर आशिस् रहा। स् को रुत्व (८।२।६६) एवं पूर्ववत् दीर्घत्व तथा मतुप् होकर आशीर्वान् बन गया॥

यहाँ से '*छन्दसि*' की अनुवृत्ति ८।२।१७ तक जायेगी॥

अनो नुट् ॥८।२।१६॥

अनः ५।१॥ नुट् १।१॥ *अनु०*—छन्दसि, मतोः॥ *अर्थः*—छन्दसि विषयेऽनन्तादुत्तरस्य मतोर्नुडागमो भवति॥ *उदा०*—अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायः (ऋ० १०।७१।७)। अस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्त्ति (ऋ० १।१६४।४)। अक्षण्वता लाङ्गलेन। शीर्षण्वती। मूर्द्धन्वती॥

भाषार्थः—वेद विषय में [*अनः*] अन् अन्त वाले शब्द से उत्तर मतुप् को [नुट्] नुट् आगम होता है॥ अक्षण्वता अस्थन्वन्तम् की सिद्धि सूत्र ७।१।७६ में देखें। अक्षण्वन्तः भी तद्वत् जानें। शीर्षन् शब्द *शीर्षश्छन्दसि* (६।१।५६) सूत्र में निपातित है, उसको मतुप् परे रहते नुट् होकर पश्चात् अक्षण्वता के समान ही नलोपादि हो गये। *उगितश्च*

(४।१।४) से ङीप् होकर शीर्षण्वती बन गया। इसी प्रकार मूर्द्धन्वती बन गया ॥

यहाँ से 'नुट्' की अनुवृत्ति ८।२।१७ तक जायेगी ॥

नाद् घस्य ॥८।२।१७॥

नात् ५।१॥ घस्य ६।१॥ *अनु०*—नुट्, छन्दसि ॥ *अर्थः*—नकारान्तादुत्तरस्य घसंज्ञकस्य छन्दसि विषये नुडागमो भवति ॥ *उदा०*—सुपथिन्तरः । दस्युहन्तमम् (ऋ० ६।१६।१५, ८।३९।८,१०।१०७।२) ॥

भाषार्थः—[*नात्*] नकारान्त शब्द से उत्तर [*घस्य*] घसंज्ञक को वेद विषय में नुट् आगम होता है ॥ सुपथिन् शब्द से तरप् (५।३।५७) प्रत्यय होकर तरप् (१।१।२१) को नुट् आगम तथा सुपथिन् के न् का लोप पूर्ववत् होकर सुपथिन्तरः बन गया । दस्युं हतवान् = दस्युहन् शब्द से तमप् होकर इसी प्रकार दस्युहन्तमः बन गया ॥

कृपो रो लः ॥८।२।१८॥

कृपः ६।१॥ रः ६।१॥ लः १।१॥ *अर्थः*—कृपेर्धातोः रेफस्य लकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—कल्प्ता, कल्प्तारौ, कल्प्तारः । क्लृप्तः, क्लृप्तवान् ॥

भाषार्थः—[*कृपः*] कृप धातु के [*रः*] रेफ को [*लः*] लकारादेश होता है ॥ '*रः*' से यहाँ सामान्य रूप से रेफ लिया गया है, सो ऋकार में जो रेफ श्रुति एवं ऋ को गुण रपरत्व होकर जो रेफ दोनों को एकश्रुति वा लत्व होता है ॥ सिद्धियाँ *लुटि च क्लृपः* (१।३।९३) सूत्र में देखें । गुण होकर कर्प् ता = कल्प्ता बना । निष्ठा में जहाँ गुण नहीं हुआ वहाँ ऋ को रेफ श्रुति और उसको ल श्रुति होकर क्लृप्तः क्लृप्तवान् बना ॥

यहाँ से '*रो लः*' की अनुवृत्ति ८।२।२२ तक जायेगी ॥

उपसर्गस्यायतौ ॥८।२।१९॥

उपसर्गस्य ६।१॥ अयतौ ७।१॥ *अनु०*—रो लः ॥ *अर्थः*—अयतौ परत उपसर्गस्य यो रेफस्तस्य लकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—प्लायते, पलायते, पल्ययते ॥

भाषार्थः—[*अयतौ*] अय धातु के परे रहते [*उपसर्गस्य*] उपसर्ग-का जो रेफ उसको लकारादेश (लत्व) होता है ॥ प्र अयते = प्ल अयते = प्लायते । परा अयते = पलायते । परि अयते = यणादेश तथा लत्व होकर पल्ययते बन गया ॥

ग्रो यङि ॥८।२।२०॥

ग्रः ६।१॥ यङि ७।१॥ *अनु०*—रो लः ॥ *अर्थः*—गॄ इत्येतस्य धातोः रेफस्य लत्वं भवति यङि परतः ॥ *उदा०*—निजेगिल्यते, निजेगिल्येते, निजेगिल्यन्ते ॥

भाषार्थः—[*ग्रः*] गॄ धातु के रेफ को [*यङि*] यङ् परे रहते लत्व होता है ॥ सिद्धि भाग १ परि० ३।१।१४ में देखें ॥

यहाँ से '*ग्रः*' की अनुवृत्ति ८।२।२१ तक जायेगी ॥

अचि विभाषा ॥८।२।२१॥

अचि ७।१॥ विभाषा १।१॥ *अनु०*—ग्रः, रो लः ॥ *अर्थः*—अजादौ प्रत्यये परतो गॄ इत्येतस्य रेफस्य विभाषा लकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—निगिरति, निगिलति । निगरणम्, निगलनम् । निगारकः, निगालकः ॥

भाषार्थः—[*अचि*] अजादि प्रत्यय परे रहते गॄ धातु के रेफ को [*विभाषा*] विकल्प करके लत्व होता है ॥ गॄ धातु तुदादिगणस्थ है, अतः श विकरण (३।१।७७) होकर 'नि गॄ अ ति' रहा । अपित् सार्वधातुक परे होने से गुण न होकर *ॠत इद्धातोः* (७।१।१००) से इत्व होकर नि गिर् अ ति रहा । अब यहाँ अच् परे है सो पक्ष में लत्व एवं पक्ष में न होकर निगिरति निगिलति बन गया । ल्युट् परे रहते गुण होकर निगरणम्, निगलनम् तथा ण्वुल् परे वृद्धि (७।२।११६) होकर निगारकः, निगालकः बन गया ॥

यहाँ से '*विभाषा*' की अनुवृत्ति ८।२।२२ तक जायेगी ॥

परेश्च घाङ्कयोः ॥८।२।२२॥

परेः ६।१॥ च अ० ॥ घाङ्कयोः ७।२॥ *स०*—घा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—विभाषा, रो लः ॥ *अर्थः*—परि इत्येतस्य च यो रेफस्तस्य घशब्दे, अङ्कशब्दे च परतो विकल्पेन लत्वं भवति ॥ *उदा०*—घशब्दे—परिघः,

पलिघः । अङ्कशब्दे—परिगतोऽङ्कः=पर्यङ्कः, पल्यङ्कः ॥ अङ्कशब्द साहचर्यात् घशब्दो गृह्यते न तरप्तमपोः संज्ञा ॥

भाषार्थः—[*परेः*] परि के रेफ को [*घाङ्कयोः*] घ तथा अङ्क शब्द प रहते विकल्प से लत्व होता है ॥ अङ्क शब्द के साहचर्य से 'घ' से यहाँ शब्दस्वरूप का ग्रहण है, घ संज्ञक तरप् तमप् प्रत्ययों का नहीं ॥ परिघः पलिघः में *परौ घः* (३।३।८४) से अप् प्रत्यय तथा हन् को घ आदेः एवं टिलोप हुआ है। अकि धातु को इदित्वात् नुम् तथा पचाद्यच् होक 'अङ्कः' बना है, पश्चात् *कुगतिप्रादयः* (२।२।१८) से परि के साथ समार एवं यणादेश होकर पर्यङ्कः पल्यङ्कः बन गया ॥

संयोगान्तस्य लोपः ॥८।२।२३॥

संयोगान्तस्य ६।१॥ लोपः १।१॥ *स०*—संयोगोऽन्ते यस्य तत् संयोगान्तं तस्य ''बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—पदस्य ॥ *अर्थः*—संयोगान्तस्य पदस्य लोपो भवति ॥ *उदा०*—गोमान् , यवमान् , कृतवान् , हतवान् ॥

भाषार्थः—[*संयोगान्तस्य*] संयोग अन्त वाले पद का [*लोपः*] लोप होता है ॥ *अलोऽन्त्यस्य* (१।१।५१) से अन्त्य अल् का ही लोप होगा। कृतवान् की सिद्धि परि० १।१।५ में देखें, तद्वत् हन् धातु से *अनुदात्तोपदेश०* (६।४।३७) से अनुनासिक लोप होकर हतवान् बना है। गोमान् यवमान् में मतुप् प्रत्यय हुआ है ॥ *हलोऽनन्तराः०* (१।१।७) से संयोग संज्ञा होती है ॥

यहाँ से '*संयोगान्तस्य*' की अनुवृत्ति ८।२।२४ तक तथा '*लोपः*' की ८।२।२९ तक जायेगी ॥

रात्सस्य ॥८।२।२४॥

रात् ५।१॥ सस्य ६।१॥ *अनु०*—संयोगान्तस्य लोपः, पदस्य ॥ *अर्थः*—संयोगान्तस्य पदस्य यो रेफस्तस्मादुत्तरस्य सकारस्य लोपो भवति ॥ नियमार्थोऽयमारम्भः। रात् सस्यैव लोपो भवति नान्यस्य ॥ *उदा०*—मातुः, पितुः। गोभिरक्षाः (ऋ० ९।१०७।९)। प्रत्यञ्चमत्साः (ऋ० १०।२८।४) ॥

भाषार्थः—संयोग अन्त वाले पद का जो [*रात्*] रेफ उससे उत्तर [*सस्य*] सकार का लोप होता है ॥ पूर्व सूत्र से ही संयोगान्त पद

का लोप सिद्ध था, पुनर्वचन नियमार्थ है अर्थात्—रेफ से उत्तर यदि संयोगान्त लोप हो तो सकार का ही हो, किसी अन्य का नहीं, अतः ऊर्क् आदि में रेफ से उत्तर ककार आदि का लोप नहीं होता ॥

मातृ पितृ शब्द से ङस् अथवा ङसि विभक्ति आकर मातुः पितुः बना है। सिद्धि प्रकार होतुः के समान ६।१।१०७ सूत्र में देखें ॥ अक्षाः अत्साः की सिद्धि ७।३।६७ सूत्र में देखें ॥

यहाँ से 'सस्य' की अनुवृत्ति ८।२।२८ तक जायेगी ॥

धि च ॥८।२।२५॥

धि ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—सस्य, लोपः ॥ *अर्थः*—धकारादौ च प्रत्यये परतः सकारस्य लोपो भवति ॥ *उदा०*—अलविध्वम्, अलविढ्वम्। अपविध्वम्, अपविढ्वम् ॥

भाषार्थः—[*धि*] धकारादि प्रत्यय के परे रहते [च] भी सकार का लोप होता है ॥ अलविध्वम् यहाँ आत्मनेपद में अट् लू इट् सिच् ध्वम् = गुण होकर अ लो इ स् ध्वम् = अ लव् इ स् ध्वम् रहा। ध्वम् धकारादि प्रत्यय के परे रहते सिच् के स् का लोप होकर अलविध्वम् बन गया। *विभाषेटः* (८।३।७९) से पक्ष में ध्वम् के ध् को मूर्धन्य आदेश होकर अलविढ्वम् बन गया। इसी प्रकार अपविध्वम् अपविढ्वम् में जानें ॥

झलो झलि ॥८।२।२६॥

झलः ५।१॥ झलि ७।१॥ अनु०—सस्य, लोपः ॥ *अर्थः*—झल उत्तरस्य सकारस्य झलि परतो लोपो भवति ॥ *उदा०*—अभित्त, अभित्थाः। अच्छित्त, अच्छित्थाः। अवात्ताम्, अवात्त ॥

भाषार्थः—[*झलः*] झल् से उत्तर सकार का लोप होता है, [*झलि*] झल् परे रहते ॥ भिदिर् छिदिर् से लुङ् आत्मनेपद में अ भिद् स् त = यहाँ झल् से उत्तर सिच् का स् है, तथा झल् परे भी है, अतः स् लोप तथा *खरि च* (८।४।५४) से चर्त्व होकर अभित्त अच्छित्त बन गया। अच्छित्त में छे च (६।१।७१) से तुक् आगम एवं श्चुत्व हुआ है। थास् परे रहते अभित्थाः बना। वस् से इसी प्रकार तस् को ताम् (३।४।१०१) होकर, तथा 'स्' लोप सः *स्यार्धधातुके* (७।४।४९) की दृष्टि में असिद्ध

माना जाने से वस् के स् को त् होकर अवात्ताम् बना है। वदव्रज (७।२।३) से यहाँ वृद्धि भी होती है। इसी प्रकार 'थ' को ३।४।१० से ही त होकर अवात्त बना है ॥

यहाँ से 'झलि' की अनुवृत्ति ८।२।३८ तक जायेगी ॥

ह्रस्वादङ्गात् ॥८।२।२७॥

ह्रस्वात ५।१॥ अङ्गात् ५।१॥ *अनु०*—झलि, सस्य, लोपः ॥ *अर्थः*—ह्रस्वान्तादङ्गादुत्तरस्य सकारस्य झलि परतो लोपो भवति ॥ उदा०—अकृत, अकृथाः । अहृत, अहृथाः ॥

भाषार्थः—[*ह्रस्वात्*] ह्रस्वान्त [*अङ्गात्*] अङ्ग से उत्तर सकार का झल् परे रहते लोप होता है ॥ सिद्धि *उश्च* (१।२।१२) सूत्र में देखें ॥

इट ईटि ॥८।२।२८॥

इटः ५।१॥ ईटि ७।१॥ *अनु०*—सस्य, लोपः ॥ *अर्थः*—इट उत्तरस्य सकारस्य लोपो भवति ईटि परतः ॥ *उदा०*—अदेवीत्, असेवीत्, अकोषीत्, अमोषीत् ॥

भाषार्थः—[*इटः*] इट् से उत्तर सकार का लोप होता है [*ईटि*] ईट् परे रहते ॥ अदेवीत् आदि में *नेटि* (७।२।४) से वृद्धि का प्रतिषेध होता है। सिद्धि प्रकार परि० १।१।१ के अलावीत् के समान जानें ॥

स्कोः संयोगाद्योरन्ते च ॥८।२।२९॥

स्कोः ६।२॥ संयोगाद्योः ६।२॥ अन्ते ७।१॥ च अ० ॥ *स०*—सश्च कश्च स्कौ, तयोः⋯इतरेतरद्वन्द्वः । संयोगस्य आदी संयोगादी तयोः⋯ षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—झलि, लोपः, पदस्य ॥ *अर्थः*—पदान्ते झलि च परतो यः संयोगस्तदाद्योः सकारककारयोर्लोपो भवति ॥ *उदा०*—सकारस्य—लग्नः, लग्नवान्, साधुलक् । ककारस्य—तक्षेः—तष्टः, तष्टवान्, काष्ठतट् ॥

भाषार्थः—पद के [*अन्ते*] अन्त में [*च*] तथा झल् परे रहते जो [*संयोगाद्योः*] संयोग उसके आदि के [*स्कोः*] सकार तथा ककार का लोप होता है ॥ लग्नः लग्नवान् की सिद्धि सूत्र ७।२।१४ में देखें। यहाँ झल् निष्ठा परे है ॥ साधुलक् यहाँ ओलस्जी से क्विप् (३।२।७६)

हुआ है। शेष पूर्ववत् है। यहाँ पदान्त में संयोग है, अतः उसके आदि स्‌ का लोप हुआ है। तक्षू धातु के आदि 'क्' का लोप एवं ष्टुत्व होकर निष्ठा में तष्टः तष्टवान् एवं पूर्ववत् क्विप् में काष्ठ उपपद रहते *झलां जशोऽन्ते* (८।२।३९) से 'ष्' को जश्त्व 'ड्' एवं *वावसाने* से चर्त्व 'ट्' होकर 'काष्ठतट्' बना है ॥

यहाँ से '*अन्ते च*' की अनुवृत्ति ८।२।३८ तक जायेगी ॥

चोः कुः ॥८।२।३०॥

चोः ६।१॥ कुः १।१॥ *अनु०*—झलि, अन्ते च, पदस्य ॥ *अर्थः*—चवर्गस्य स्थाने कवर्गादेशो भवति झलि परतः पदान्ते च ॥ *उदा०*—झलि—पक्ता, पक्तुम्, पक्तव्यम्। वक्ता, वक्तुम्, वक्तव्यम्। पदान्ते—ओदनपक्, वाक् ॥

भाषार्थः—[*चोः*] चवर्ग के स्थान में [*कुः*] कवर्ग आदेश होता है, झल् परे रहते, या पदान्त में ॥ वाक् की सिद्धि परि० १।२।४१ में देखें। शेष सिद्धियाँ सुस्पष्ट ही हैं ॥

हो ढः ॥८।२।३१॥

हः ६।१॥ ढः १।१॥ *अनु०*—झलि, अन्ते च, पदस्य ॥ *अर्थः*—हकारस्य ढकारादेशो भवति झलि परतः पदान्ते च ॥ *उदा०*—सोढा, सोढुम्, सोढव्यम्, वोढा, वोढुम् वोढव्यम्। पदान्ते—तुराषाट्, प्रष्ठवाट्, दित्यवाट् ॥

भाषार्थः—[*हः*] हकार के स्थान में [*ढः*] ढकार आदेश होता है, झल् परे रहते या पदान्त में ॥ सोढा वोढा आदि में *सहिवहोरो०* (६।३।११०) से धातु के अवर्ण को ओत् हुआ है, सिद्धि वहीं देखें। तुराषाट्, प्रष्ठवाट् की सिद्धि सूत्र ३।२।६३-६४ में देखें ॥

यहाँ से '*हः*' की अनुवृत्ति ८।२।३५ तक जायेगी ॥

दादेर्धातोर्घः ॥८।२।३२॥

दादेः ६।१॥ धातोः ६।१॥ घः ६।१॥ *स०*—दकार आदिर्यस्य स दादिस्तस्मात्... बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—हः, झलि, अन्ते च, पदस्य ॥ *अर्थः*—दकारादेर्धातोर्हकारस्य स्थाने घकारादेशो भवति झलि

परतः पदान्ते च ॥ उदा०—दह्—दग्धा, दग्धुम्, दग्धव्यम्। दुह्-दोग्धा, दोग्धुम्, दोग्धव्यम्। पदान्ते—काष्ठधक्, गोधुक्॥

भाषार्थः—[*दादेः*] दकार आदि में है जिन [*धातोः*] धातुओं के उनके हकार के स्थान में [*घः*] घकार आदेश होता है, झल् परे रहते य पदान्त में॥ पूर्व सूत्र से ढकारादेश प्राप्त था, घकार विधान तदपवा है॥ गोधुक् की सिद्धि परि० ३।२।६१ में देखें। इसी प्रकार दह् धा से क्विप् (३।२।७६) होकर काष्ठधक् बनेगा। दग्धा आदि में पूर्ववत *झषस्तथो०* (८।२।४०) से त् को ध् तथा *झलां जश्झशि* (८।४।५२) से घ् को जश्त्व ग् हुआ है। शेष कार्य तृजन्तादि सिद्धियों के समान हैं।

यहाँ से '*घः*' की अनुवृत्ति ८।२।३३ तक तथा '*धातोः*' की ८।२।३८ तक जायेगी॥

वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम् ॥८।२।३३॥

वा अ०॥ द्रुह...हाम् ६।३॥ *स०*—द्रुहश्च मुहश्च ष्णुहश्च ष्णिह् च द्रुह...ष्णिहस्तेषाम्...इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—धातोर्घः, हः, झलि, अन्ते च, पदस्य॥ *अर्थः*—द्रुह, मुह, ष्णुह, ष्णिह इत्येतेषां धातूनां हकारस्य स्थाने विकल्पेन घकारादेशो भवति झलि परतः पदान्ते च॥ *उदा०*—द्रुह्—द्रोग्धा, द्रोढा। मित्रध्रुक्, मित्रध्रुट्। मुह्—उन्मोग्धा, उन्मोढा। उन्मुक्, उन्मुट्। ष्णुह्—उत्स्नोग्धा, उत्स्नोढा। उत्स्नुक्, उत्स्नुट्। ष्णिह्—स्नेग्धा, स्नेढा। स्निक् स्निट्॥

भाषार्थः—[*द्रुह...ष्णिहाम्*] द्रुह, जिघांसायाम् मुह वैचित्ये, ष्णुह उद्गिरणे, ष्णिह प्रीतौ इन धातुओं के हकार के स्थान में [*वा*] विकल्प से घकारादेश होता है, झल् परे रहते तथा पदान्त में॥ द्रुह धातु दकारादि है, अतः उसे नित्य घत्व पूर्व सूत्र से प्राप्त था, तथा अन्य धातुओं को अप्राप्त ही था, विकल्प से विधान कर दिया। विकल्प कहने से पक्ष में यथाप्राप्त *हो ढः* (८।२।३१) से ढ होता है॥ घ करने पर पूर्ववत् द्रोग्धा आदि एवं ढ करने पर धत्व ष्टुत्वादि करके द्रोढा आदि रूप बनेंगे। मित्रध्रुक् की सिद्धि परि० ३।२।६१ में देखें। ढ करने पर मित्रध्रुट् भी इसी प्रकार बनेगा। सभी सिद्धियाँ इसी प्रकार हैं। पदान्त वाले उदाहरणों में सर्वत्र क्विप् (३।२।७६) हुआ जानें। ष्णुह, ष्णिह के ष् को

धात्वादेः षः सः (६।१।६२) से स् होता है, पश्चात् न् जो ष् के संयोग से ण् बना था उसे न् हो जायेगा ॥

नहो धः ॥८।२।३४॥

नहः ६।१॥ धः १।१॥ *अनु०*—धातोः, हः, झलि, अन्ते च, पदस्य ॥ *अर्थः*—नहो हकारस्य स्थाने धकारादेशो भवति झलि परतः पदान्ते च ॥ *उदा०*—नद्धम्, नद्धुम्, नद्धव्यम्। उपानत्, परीणत् ॥

भाषार्थः—[*नहः*] णह् बन्धने धातु के हकार को [*धः*] धकारादेश होता है, झल् परे रहते या पदान्त में ॥ *णो नः* (६।१।६३) से णह् के ण को न होता है। नध् त = त को *झषस्त०* (८।२।४०) से ध तथा *झलां जश्०* (८।४।५२) से पूर्व के ध् को जश्त्व द् होकर नद्धम् आदि रूप बन गये। उपानत् परीणत् की सिद्धि ६।३।११४ में देखें ॥

आहस्थः ॥८।२।३५॥

आहः ६।१॥ थः १।१॥ *अनु०*—धातोः, हः, झलि ॥ *अर्थः*—आहो हकारस्य थकारादेशो भवति झलि परतः ॥ *उदा०*—किमात्थ, इदमात्थ ॥

भाषार्थः—[*आहः*] आह के हकार के स्थान में [*थः*] थकारादेश होता है, झल् परे रहते ॥ आत्थ की सिद्धि परि० ३।४।८४ भाग १ में देखें ॥

व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः ॥८।२।३६॥

व्रश्च···च्छशाम् ६।३॥ षः १।१॥ *स०*—व्रश्चश्च भ्रस्जश्च सृजश्च मृजश्च यजश्च राजश्च भ्राजश्च छश्च शश्च व्रश्च···शस्तेषाम्···इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—धातोः, झलि, अन्ते च, पदस्य ॥ *अर्थः*—ओव्रश्चू, भ्रस्ज, सृज, मृजूष्, यज, राजृ टुभ्राजृ, इत्येतेषां छकारान्तानां शकारान्तानाञ्च षकार आदेशो भवति झलि परतः पदान्ते च ॥ *उदा०*—ओव्रश्चू—व्रष्टा व्रष्टुम्, व्रष्टव्यम्, मूलवृट्। भ्रस्ज—भ्रष्टा, भ्रष्टुम्, भ्रष्टव्यम्, धानाभृट्। सृज—स्रष्टा, स्रष्टुम्, स्रष्टव्यम्, रज्जुसृट्। मृजूष्—मार्ष्टा, मार्ष्टुम्, मार्ष्टव्यम्, कंसपरिमृट्। यज—यष्टा, यष्टुम्, यष्टव्यम्, उपयट्। राजृ—सम्राट्, स्वराट्, विराट्। टुभ्राजृ—विभ्राट्। छकारान्तानाम्—प्रच्छ—प्रष्टा, प्रष्टुम्, प्रष्टव्यम्, शब्दप्राट्। शकारान्ता-

नाम्—लिश्—लेष्टा, लेष्टुम्, लेष्टव्यम्, लिट्। विश्—वेष्टा, वेष्टुम्, वेष्टव्यम्, विट्॥

भाषार्थः—[*व्रश्च...शाम्*] ओव्रश्चू, भ्रस्ज, सृज, मृजूष्, यज, राजृ, टुभ्राजृ इन धातुओं को तथा छकारान्त एवं शकारान्त धातुओं को भी झल् परे रहते एवं पदान्त में [षः] षकारादेश होता है॥ *अलोऽन्त्यस्य* (१।१।५१) से अन्त्य अल् को ष् सर्वत्र होगा॥ राज भ्राज का सूत्र में पदान्तार्थ ही ग्रहण है, अतः झल् परे का उदाहरण नहीं दिया॥ स्रष्टा की सिद्धि सूत्र ६।१।५७ में देखें। मार्ष्टा मार्ष्टुम्, मार्ष्टव्यम् में *मृजेर्वृद्धिः* (७।२।११४) से वृद्धि हुई है। शेष ष्टुत्वादि कार्य सबमें समान हैं। व्रष्टा यहाँ 'व्रश्च् तृच्' इस स्थिति में ऊदित् होने से जब पक्ष में इड् का अभाव (७।२।४४) रहा तो उस पक्ष में च् को षत्व कर लेने पर 'व्रस् ष् तृ' रहा। अर्थात् च् के हटने पर श्चुत्व हुआ जो श् उसको भी 'स' रह गया। *स्कोः संयो०* (८।२।२९) से अब इस स् का लोप, तथा शेष ष्टुत्वादि कार्य होकर व्रष्टा भ्रष्टा आदि रूप बन गये। मूलवृट् धानाभृट् में *ग्रहिज्या०* (६।१।१६) से व्रश्च भ्रस्ज को सम्प्रसारण एवं सलोप भी हुआ है॥ सम्राट् की सिद्धि परि० ३।२।६१ में देखें। तद्वत् स्वराट् आदि समझें। उपयट् की सिद्धि सूत्र ३।२।७३ में देखें। विभ्राट् की सिद्धि ३।२।१७७ में देखें। शब्दप्राट् की सिद्धि परि० ६।४।१९ में देखें॥ लिट् विट् में *अन्येभ्योऽपि०* (३।२।१७८) से क्विप् तथा मूलभृट् आदि में *क्विप् च* (३।२।७६) से क्विप् हुआ है॥

एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः ॥८।२।३७॥

एकाचः ६।१॥ बशः ६।१॥ भष् १।१॥ झषन्तस्य ६।१॥ स्ध्वोः ७।२॥ *स०*—एकोऽच् यस्मिन् स एकाच् तस्य ''बहुव्रीहिः। झष् अन्ते यस्य स झषन्तस्तस्य ''बहुव्रीहिः। सश्च ध्वश्च स्ध्वौ, तयोः ''इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—धातोः, झलि, अन्ते च, पदस्य॥ *अर्थः*—धातोरवयवो य एकाच् झषन्तस्तदवयवस्य बशः स्थाने भष् आदेशो भवति, झलि सकारे ध्वशब्दे च परतः पदान्ते च। एकाच इत्यत्रावयवषष्ठी तेनावयवार्थः सम्पद्यते॥ *उदा०*—बुध्—भोत्स्यते, अभुद्ध्वम्, अर्थभुत्। गुहू—निघोक्ष्यते, न्यघूढ्वम्, पर्णघुट्। दुह्—धोक्ष्यते, अधुग्ध्वम्, गोधुक्। अजर्घाः। गर्द्धप्॥

भाषार्थः—धातु का अवयव जो [*एकाचः*] एक अच् वाला तथा [*झषन्तस्य*] झषन्त उसके (धातु के) अवयव [*बशः*] बश् के स्थान में [*भष्*] भष् आदेश होता है, झलादि [*स्ध्वोः*] सकार तथा झलादि ध्व शब्द के परे रहते एवं पदान्त में ॥ 'एकाचः' में अवयव षष्ठी है, अतः अवयव अर्थ सूत्रार्थ में निकल आता है ॥ सिद्धियाँ परिशिष्ट में देखें ॥

यहाँ से '*बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः*' की अनुवृत्ति ८।२।३८ तक जायेगी ॥

दधस्तथोश्च ॥८।२।३८॥

दधः ६।१॥ तथोः ७।२॥ च अ० ॥ *स०*—तश्च थश्च तथौ, तयोः··· इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः, धातोः, झलि ॥ *अर्थः*—दध इत्येतस्य झषन्तस्य बशः स्थाने भष् आदेशो भवति तकारथकारयोः परतश्चकारात् झलि सकारे ध्वशब्दे च परतः ॥ दध इति डुधाञ् इत्येतस्य कृतद्विर्वचनो निर्दिश्यते ॥ *उदा०*—धत्तः, धत्थः । धत्से, धत्स्व, धद्ध्वम् ॥

भाषार्थः—'दधः' यह डुधाञ् धातु का द्विर्वचन करके सूत्र में निर्देश है ॥ [*दधः*] दध जो झषन्त धातु उसके बश् के स्थान में भष् आदेश होता है [*तथोः*] तकार तथा थकार परे रहते [*च*] तथा झलादि सकार एवं ध्व परे रहते भी ॥ डुधाञ् को द्वित्व तथा अभ्यास को जश्त्व एवं धा के आ का *श्नाभ्यस्तयोरातः* (६।४।११२) से लोप होकर 'दध्' झषन्त है, सो बश् को भष् होकर धध् तस् रहा । *खरि च* से चर्त्व होकर धत्तः बन गया । थस् में धत्थः, एवं आत्मनेपद में थास् को से (३।४।८०) आदेश करके धत्से बना । लोट् में *सवाभ्यां वामौ* (३।४।९१) लगकर धत्स्व धद्ध्वम् बन गया । ध् को द् *झलां जश्०* (८।४।५२) से हो जायेगा ॥

झलां जशोऽन्ते ॥८।२।३९॥

झलाम् ६।३॥ जशः १।३॥ अन्ते ७।१॥ *अनु०*—पदस्य ॥ *अर्थः*—पदस्यान्ते वर्त्तमानानां झलां जश आदेशा भवन्ति ॥ *उदा०*—वागत्र, श्वलिडत्र, अग्निचिदत्र, त्रिष्टुबत्र ॥

भाषार्थः—पद के [*अन्ते*] अन्त में वर्त्तमान [*झलाम्*] झलों को [*जशः*] जश आदेश होता है ॥

झषस्तथोर्धोऽधः ॥८।२।४०॥

झषः ५।१॥ तथोः ६।२॥ धः १।१॥ अधः ५।१॥ स०—तथोरित्यत्रे-तरेतरद्वन्द्वः ॥ *अर्थः*—झष उत्तरयोस्तकारथकारयोः स्थाने धकार आदेशो भवति, डुधाञ् इत्येतं धातुं वर्जयित्वा ॥ *उदा०*—डुलभष्—लब्धा, लब्धुम्, लब्धव्यम्। अलब्ध, अलब्धाः। दुह्—दोग्धा, दोग्धुम्, दोग्धव्यम्। अदुग्ध, अदुग्धाः। लिह्—लेढा, लेढुम्, लेढव्यम्, अलीढ, अलीढाः। बुध—बोद्धा, बोद्धुम्, बोद्धव्यम्, अबुद्ध, अबुद्धाः ॥

भाषार्थः—[*झषः*] झष् (प्रत्याहार) से उत्तर [*तथोः*] तकार तथा थकार को [*धः*] धकार आदेश होता है किन्तु [*अधः*] डुधाञ् धातु से उत्तर धकारादेश नहीं होता ॥ अदुग्ध की सिद्धि परि० ३।१।६३ में देखें, तद्वत् थास् में अदुग्धाः एवं तृच् इत्यादि में दोग्धा आदि बने हैं। अबुद्ध की सिद्धि परि० १।२।११ में देखें, तद्वत् थास् में अबुद्धाः बनें। अलीढ अलीढाः (थास्) की सिद्धि सूत्र ७।३।७३ में देखें। लेढा आदि भी इसी प्रकार हैं। अलब्ध अलब्धाः भी अबुद्ध के समान ही जानें, तृच् इत्यादि में बोद्धा आदि की (धत्व जश्त्व करके) सिद्धियाँ जानें ॥

षढोः कः सि ॥८।२।४१॥

षढोः ६।२॥ कः १।१॥ सि ७।१॥ स०—षश्च ढश्च षढौ तयोः''' इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अर्थः*—षकारढकारयोः स्थाने ककारादेशो भवति सकारे परतः ॥ *उदा०*—विष्—षकारस्य—वेक्ष्यति, अवेक्ष्यत्, विवक्षति। ढकारस्य—लिह्—लेक्ष्यति, अलेक्ष्यत्, लिलिक्षति ॥

भाषार्थः—[*षढोः*] षकार तथा ढकार के स्थान में [*कः*] क् आदेश होता है, [*सि*] सकार परे रहते ॥ विष् स्य ति = वेक् ष्य ति = वेक्ष्यति। लङ् में अवेक्ष्यत् तथा सन्नन्त में विवक्षति बनेगा। इसी प्रकार लिह् के ह् को *हो ढः* (८।२।३१) से ढत्व एवं सब कार्य होकर लेक्ष्यति आदि रूप बनें।

[*निष्ठाविकारप्रकरणम्*]

रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः ॥८।२।४२॥

रदाभ्याम् ५।२॥ निष्ठातः ६।१॥ नः १।१॥ पूर्वस्य ६।१॥ च अ० ॥ दः ६।१॥ स०—रश्च दश्च रदौ ताभ्याम्'''इतरेतरद्वन्द्वः। निष्ठायाः

तकारः निष्ठात्, तस्य ... षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अर्थः—रेफदकाराभ्यामुत्तरस्य निष्ठातकारस्य स्थाने नकारादेशो भवति, तकारात् पूर्वस्य (निष्ठायाः) दकारस्य च स्थाने नत्वं भवति ॥ उदा०—रेफान्तात्—आस्तीर्णम्, विस्तीर्णम्। शॄ—विशीर्णम्। गॄ—निगीर्णम्। गुरी—अवगूर्णम्। दकारान्तात्—भिदिर्—भिन्नः, भिन्नवान्। छिदिर्—छिन्नः, छिन्नवान् ॥

भाषार्थः—[*रदाभ्याम्*] रेफ तथा दकार से उत्तर [*निष्ठातः*] निष्ठा के तकार को [*नः*] नकारादेश होता है, [*च*] तथा निष्ठा से [*पूर्वस्य*] पूर्व [*दः*] दकार को भी नकारादेश होता है ॥ आस्तीर्णम्, विस्तीर्णम् की सिद्धि सूत्र ७।१।१०० में देखें। तद्वत् विशीर्णम् निगीर्णम् में भी जानें। इसी प्रकार गुरी उद्यमने से अव गुर् न = अवगूर्णम् यहाँ केवल *आर्धधातु०* (७।२।३५) से प्राप्त इट् का *श्वीदितो निष्ठायाम्* (७।२।१४) से प्रतिषेध हुआ है, यही विशेष है। भिद् त = भिन् न = भिन्नः, छिन्नः ॥

यहाँ से '*निष्ठातो नः*' की अनुवृत्ति ८।२।६१ तक जायेगी ॥

संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः ॥८।२।४३॥

संयोगादेः ५।१॥ आतः ५।१॥ धातोः ५।१॥ यण्वतः ५।१॥ स०—संयोग आदिर्यस्य स संयोगादिस्तस्मात्... बहुव्रीहिः ॥ यण् अस्यास्तीति यण्वान्, तस्मात्... ॥ अनु०—निष्ठातो नः ॥ *अर्थः*—संयोगादिर्यो धातुराकारान्तो यण्वान् तस्मादुत्तरस्य निष्ठातकारस्य नकारादेशो भवति ॥ उदा०—द्रा-प्रद्राणः, प्रद्राणवान्। ग्लै-ग्लानः, ग्लानवान् ॥

भाषार्थः—[*संयोगादेः*] संयोग आदि में है जिनके ऐसे [*आतः*] आकारान्त एवं [*यण्वतः*] यण्वान् [*धातोः*] धातुओं से उत्तर निष्ठा के तकार को नकारादेश होता है ॥ ग्लै को *आदेच उप०* (६।१।४४) से आत्व कर लेने पर 'ग्ला' रहा। अब ग्ला एवं द्रा धातु संयोगादि आकारान्त तथा ल् र् के होने से यण्वान् भी हैं, अतः इनसे उत्तर निष्ठा के त को न हो गया। *कृत्यचः* (८।४।२८) से प्रद्राणः में णत्व हुआ है ॥

ल्वादिभ्यः ॥८।२।४४॥

ल्वादिभ्यः ५।३॥ स०—लूञ् आदिर्येषां ते ल्वादयस्तेभ्यः... बहुव्रीहिः ॥ अनु०—निष्ठातो नः ॥ *अर्थः*—ल्वादिभ्य उत्तरस्य

निष्ठातकारस्य स्थाने नकारादेशो भवति ॥ उदा०—लूञ्-लूनः, लूनवान् । धूञ्-धूनः, धूनवान् । ज्या-जीनः, जीनवान् ॥

भाषार्थः—[*ल्वादिभ्यः*] लूञ् इत्यादि धातुओं से उत्तर निष्ठा के तकार को नकारादेश होता है ॥ धातुपाठ में पढ़े लूञ् छेदने से लेकर वृञ् वरणे तक ल्वादि धातु मानी गई हैं ॥ जीनः की सिद्धि परि० ६।१।१६ में देखें ॥

ओदितश्च ॥८।२।४५॥

ओदितः ५।१॥ च अ० ॥ *स०*—ओत् इत् यस्य स ओदित् तस्मात्''बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—निष्ठातो नः ॥ *अर्थः*—ओदितो धातो-रुत्तरस्य निष्ठातकारस्य नकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—ओलस्जी-लग्नः, लग्नवान् । ओविजी-उद्विग्नः, उद्विग्नवान् । ओप्यायी-आपीनः, आपीनवान् ॥

भाषार्थः—[*ओदितः*] ओकार इत् वाले धातुओं से उत्तर [*च*] भी निष्ठा के त् को नकारादेश होता है ॥ ओप्यायी के प्या को *प्यायः पी* (६।१।२८) से पी आदेश होकर पीनः पीनवान् बना है । लग्नः उद्विग्नः आदि की सिद्धि सूत्र ७।२।१४ में देखें ॥

क्षियो दीर्घात् ॥८।२।४६॥

क्षियः ५।१॥ दीर्घात् ५।१॥ *अनु०*—निष्ठातो नः ॥ *अर्थः*—दीर्घात् क्षियो धातोरुत्तरस्य निष्ठातकारस्य नकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—क्षीणाः क्लेशाः, क्षीणो जाल्मः, क्षीणस्तपस्वी ॥

भाषार्थः—[*दीर्घात्*] दीर्घ [*क्षियः*] क्षि धातु से उत्तर निष्ठा के तकार को नकारादेश होता है ॥ क्षीणाः क्लेशाः में *निष्ठायाम०* (६।४।६०) से तथा क्षीणो जाल्मः आदि में *वाऽक्रोशदै०* (६।४।६१) से क्षि धातु को दीर्घ होता है । सिद्धियाँ वहीं देखें ॥

श्योऽस्पर्शे ॥८।२।४७॥

श्यः ५।१॥ अस्पर्शे ७।१॥ *स०*—न स्पर्शोऽस्पर्शस्तस्मिन्''नञ्-तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—निष्ठातो नः ॥ *अर्थः*—श्यैङो धातोरुत्तरस्य निष्ठात-कारस्य नकारादेशो भवति, अस्पर्शेऽर्थे ॥ *उदा०*—शीनं घृतम् । शीनं मेदः । शीना वसा ॥

भाषार्थः—[*श्यः*] श्यैङ् धातु से उत्तर निष्ठा के तकार को नकारादेश होता है [*अस्पर्शे*] स्पर्श अर्थ को छोड़कर ॥ सिद्धि सूत्र ६।१।२४ में देखें ॥

अञ्चोऽनपादाने ॥८।२।४८॥

अञ्चः ५।१॥ अनपादाने ७।१॥ *स०*—न अपादानमनपादानं तस्मिन्···नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—निष्ठातो नः ॥ *अर्थः*—अञ्चु इत्येतस्माद् धातोरुत्तरस्य निष्ठातकारस्य नकारादेशो भवति, न चेदपादानं तत्र स्यात् ॥ *उदा०*—समक्नौ शकुनेः पादौ । तस्मात् पशवो न्यक्नाः ॥

भाषार्थः—[*अञ्चः*] अञ्चु धातु से उत्तर निष्ठा के तकार को नकारादेश होता है, यदि अञ्चु के विषय में [*अनपादाने*] अपादान कारक का प्रयोग न हो रहा हो तो ॥ समक्नः अर्थात् सङ्गत । समक्नौ, न्यक्नाः में अञ्चु के अनुनासिक का *अनिदितां०* (६।४।२४) से लोप तथा *यस्य विभाषा* (७।२।१५) से इट् प्रतिषेध होता है ॥ नि अच् त = न्यच् त = *चोः कुः* (८।२।३०) से च् को क् होकर न्यक् त = नत्व होकर न्यक्न जस् = न्यक्नाः, समक्नौ बना ॥

दिवोऽविजिगीषायाम् ॥८।२।४९॥

दिवः ५।१॥ अविजिगीषायाम् ७।१॥ *स०*—न विजिगीषा अविजिगीषा, तस्याम्···नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—निष्ठातो नः ॥ *अर्थः*—दिव उत्तरस्य निष्ठातकारस्य नकारादेशो भवति, अविजिगीषायामर्थे ॥ *उदा०*—आद्यूनः, परिद्यूनः ॥

भाषार्थः—[*दिवः*] दिव् धातु से उत्तर [*अविजिगीषायाम्*] अविजिगीषा अर्थ में निष्ठा के तकार को नकारादेश होता है ॥ विजिगीषा जीतने की इच्छा को कहते हैं, सो उससे भिन्न अविजिगीषा है ॥ दिवु धातु से आद्यूनः (खूब खाऊ = पेटू) परिद्यूनः (क्षीण पेट वाला) की सिद्धि में *च्छ्वोः शूड०* (६।४।१९) से वकार को ऊठ् हुआ है, सिद्धि प्रकार वहीं देख लें ॥

निर्वाणोऽवाते ॥८।२।५०॥

निर्वाणः १।१॥ अवाते ७।१॥ *स०*—न वातोऽवातस्तस्मिन्···नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—निष्ठातो नः ॥ *अर्थः*—निस्पूर्वात् वाधातोरुत्तरस्य

निष्ठातकारस्य नकारो निपात्यते वातश्चेदभिधेयो न भवति ॥ *उदा०*—निर्वाणोऽग्निः, निर्वाणः प्रदीपः, निर्वाणो भिक्षुः ॥

भाषार्थः—निस् पूर्वक वा धातु से उत्तर निष्ठा के तकार को नकार [*निर्वाणः*] निर्वाण शब्द में [*अवाते*] वात अभिधेय न होने पर निपातित है ॥ *उदा०*—निर्वाणोऽग्निः (शान्त हो गया = बुझ गया) यहाँ वात अर्थ अभिधेय नहीं है, वात अर्थ अभिधेय होने पर निर्वातो वातः (वायु शान्त हो गई) में नत्व नहीं होता ॥

शुषः कः ॥८।२।५१॥

शुषः ५।१॥ कः १।१॥ *अनु०*—निष्ठातः ॥ *अर्थः*—शुष इत्येतस्माद् धातोरुत्तरस्य निष्ठातकारस्य स्थाने ककार आदेशो भवति ॥ *उदा०*—शुष्कः, शुष्कवान् ॥

भाषार्थः—[*शुषः*] शुष शोषणे धातु से उत्तर निष्ठा के तकार को [*कः*] ककारादेश होता है ॥

पचो वः ॥८।२।५२॥

पचः ५।१॥ वः १।१॥ *अनु०*—निष्ठातः ॥ *अर्थः*—डुपचष् पाके इत्येतस्माद्धातोरुत्तरस्य निष्ठातकारस्य वकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—पक्वः, पक्ववान् ॥

भाषार्थः—[*पचः*] डुपचष् धातु से उत्तर निष्ठा के तकार को [*वः*] वकारादेश होता है ॥ चोः कुः (८।२।३०) लगकर पक्वः पक्ववान् बनेगा ॥

क्षायो मः ॥८।२।५३॥

क्षायः ५।१॥ मः १।१॥ *अनु०*—निष्ठातः ॥ *अर्थः*—क्षैधातोरुत्तरस्य निष्ठातकारस्य स्थाने मकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—क्षामः, क्षामवान् ॥

भाषार्थः—[*क्षायः*] क्षै धातु से उत्तर निष्ठा के तकार को [*मः*] मकारादेश होता है ॥ *आदेच उपदेशे०* (६।१।४४) से आत्व होकर क्षामः, क्षामवान् बन गया ॥

यहाँ से '*मः*' की अनुवृत्ति ८।२।५४ तक जायेगी ॥

प्रस्त्योऽन्यतरस्याम् ॥८।२।५४॥

प्रस्त्यः ५।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *स०*—प्रपूर्वः स्त्याः प्रस्त्याः

तस्मात्'''तत्पुरुषः ॥ अनु०—मः, निष्ठातः ॥ अर्थः—प्रपूर्वात् स्त्यै इत्येतस्माद्धातोरुत्तरस्य निष्ठातकारस्य विकल्पेन मकारादेशो भवति ॥ उदा०—प्रस्तीमः, प्रस्तीमवान् । पक्षे-प्रस्तीतः, प्रस्तीतवान् ॥

भाषार्थः—[*प्रस्त्यः*] प्रपूर्वक स्त्यै धातु से उत्तर [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से निष्ठा के तकार को मकारादेश होता है ॥ सिद्धियाँ सूत्र ६।१।२३ में देखें ॥

अनुपसर्गात् फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः ॥८।२।५५॥

अनुपसर्गात् ५।१॥ फुल्ल'''ल्लाघाः १।३॥ स०—न उपसर्गोऽनुपसर्गस्तस्मात्'''नञ्तत्पुरुषः । फुल्ल० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—निष्ठातः ॥ अर्थः—अनुपसर्गादुत्तराः फुल्ल, क्षीब, कृश उल्लाघ इत्येते शब्दा निपात्यन्ते ॥ फुल्ल इत्यत्र ञिफला विशरणे इत्येतस्माद्धातोरुत्तरस्य क्तप्रत्ययस्य तकारस्य लत्वं निपात्यते । क्षीब, कृश, उल्लाघ इत्यत्र क्रमेण क्षीबकृशिभ्यामुत्पूर्वाच्च लाघेः क्तप्रत्ययस्य तकारलोप इडागमाभावश्च निपात्यते ॥ उदा०—फुल्लः, क्षीबः, कृशः, उल्लाघः ॥

भाषार्थः—[*अनुपसर्गात्*] अनुपसर्ग से उत्तर [*फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः*] फुल्ल, क्षीब, कृश तथा उल्लाघ शब्द निपातन किये जाते हैं ॥ ञिफला धातु से उत्तर क्त को लत्व फुल्ल शब्द में निपातित है । फल् ल = यहाँ *ति च* (७।४।८९) से फ के अ को उत्व होकर फुल्लः बन गया । *आदितश्च* (७।२।१६) से यहाँ इट् आगम का अभाव भी होता है ॥ क्षीब कृश उल्लाघ यहाँ क्रमशः क्षीबृ कृश तथा उत् पूर्वक लाघ धातु से उत्तर क्त प्रत्यय के त् का लोप एवं त् लोप के *पूर्वत्रासिद्धम्* (८।२।१) से इट् आगम की दृष्टि में असिद्ध हो जाने से जो *आर्धधातुक०* (७।२।३५) से इट् आगम प्राप्त है उसका अभाव भी निपातन है । अथवा यहाँ इट् आगम करके 'इत्' भाग का लोप भी निपातन किया जा सकता है । क्षीब् इ त = क्षीब् अ = क्षीबः आदि बन गये । उल्लाघः में त् को ल् *तोर्लि* (८।४।५९) से हुआ है ॥

नुदविदोन्दत्राघ्राह्रीभ्योऽन्यतरस्याम् ॥८।२।५६॥

नुद'''भ्यः ५।३॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ स०—नुदश्च विदश्च उन्दश्च त्राश्च घ्राश्च ह्रीश्च नुद'''ह्रियस्तेभ्यः'''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—निष्ठातो

नः ।। *अर्थः*—नुद प्रेरणे, विद विचारणे, उन्दी क्लेदने, त्रैङ् पालने, घ्रा गन्धोपादाने, ह्री लज्जायाम् इत्येतेभ्यो धातुभ्य उत्तरस्य विकल्पेन निष्ठातकारस्य नकारादेशो भवति ।। *उदा०*—नुद—नुन्नः, नुत्तः विद—विन्नः, वित्तः । उन्दी—समुन्नः, समुत्तः । त्रा—त्राणः, त्रातः घ्रा—घ्राणः, घ्रातः । ह्री—ह्रीणः, ह्रीतः । क्तवतु—नुन्नवान्, नुत्तवान् । विन्नवान्, वित्तवान् । समुन्नवान्, समुत्तवान् । त्राणवान्, त्रातवान् । घ्राणवान्, घ्रातवान् । ह्रीणवान्, ह्रीतवान् ।।

भाषार्थः—[*नुद***ह्रीभ्यः*] नुद, विद, उन्दी, त्रैङ्, घ्रा, ह्री इन धातुओं से उत्तर [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से निष्ठा के तकार को नकारादेश होता है ।। समुन्नः समुत्तः में *अनिदितां हल०* (६।४।२४) से अनुनासिक लोप होता है ।। नुद, विद एवं उन्दी को *रदाभ्यां निष्ठातो०* (८।२।४२) से तथा त्रा (त्रैङ् को *आदेच उप०* ६।१।४४ से आत्व करके) घ्रा को *संयोगादेरातो०* (८।२।४३) से नित्य नत्व प्राप्त था, विकल्प कर दिया किन्तु ह्री को अप्राप्त ही विकल्प कहा है ।।

न ध्याख्यापॄमूर्च्छिमदाम् ।।८।२।५७।।

न अ० ।। ध्या***मदाम् ६।३।। *स०*—ध्यैश्च ख्याश्च पॄ च मूर्च्छिश्च मद् च ध्या***मदस्तेषां***इतरेतरद्वन्द्वः ।। *अनु०*—निष्ठातो नः ।। *अर्थः*—ध्यै चिन्तायाम्, ख्या प्रकथने, (ख्याञ् आदेशोऽपि गृह्यते) पॄ पालनपूरणयोः, मुर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोः, मदी हर्षे इत्येतेषां धातूनां निष्ठातकारस्य नकारादेशो न भवति ।। *उदा०*—ध्यातः, ध्यातवान् । ख्यातः, ख्यातवान् । पूर्त्तः, पूर्त्तवान् । मूर्त्तः, मूर्त्तवान् । मत्तः, मत्तवान् ।।

भाषार्थः—[*ध्या***मदाम्*] ध्यै, ख्या, पॄ मुर्च्छा, मदी इन धातुओं के निष्ठा के तकार को नकार आदेश [*न*] नहीं होता ।। ख्या से यहाँ ख्या प्रकथने धातु एवं *चक्षिङः ख्याञ्* (२।४।५४) से किया हुआ ख्याञ् आदेश दोनों का ग्रहण है ।। ध्या ख्या को *संयोगादे०* (८।२।४३) से निष्ठा को नत्व प्राप्त था, एवं अन्यों को *रदाभ्यां निष्ठातो०* (८।२।४२) से प्राप्त था निषेध कर दिया । मुर्च्छ् के छ् का *राल्लोपः* (६।४।२१) से लोप कर देने के पश्चात् 'मुर्' रेफान्त हो जाता है, तब *रदाभ्यां०* से नत्व प्राप्ति होती है, उसका निषेध हो गया । सिद्धि ६।४।२१ सूत्र पर ही देख लें।

पूर्त्तः, पूर्त्तवान् में उदोष्ठ्य० (७।१।१०२) से पॄ को उत्व श्र्युकः किति (७।२।११) से इट् निषेध तथा हलि च (८।२।७७) से दीर्घत्व होता है। पॄ त = पुर् त = पूर्त्तः अचो रहा० (८।४।४५) से त् को द्वित्व होकर बन गया। मत्तः मत्तवान् में भी श्वीदितो० (७।२।१४) से इट् प्रतिषेध होता है, ऐसा जानें॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ८।२।६१ तक जायेगी॥

वित्तो भोगप्रत्यययोः ॥८।२।५८॥

वित्तः १।१॥ भोगप्रत्यययोः ७।२॥ स०—भोग० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—न, निष्ठातो नः॥ अर्थः—वित्त इत्यत्र विद्लृ लाभे इत्येतस्मादुत्तरस्य क्तस्य नत्वाभावो निपात्यते, भोगे प्रत्यये चाभिधेये॥ भुज्यते इति भोगः। प्रतीयते इति प्रत्ययः॥ उदा०—भोगे—वित्तमस्य बहु। प्रत्यये—वित्तोऽयं मनुष्यः॥

भाषार्थः—[*वित्तः*] वित्त शब्द में विद्लृ लाभे धातु से उत्तर क्त प्रत्यय के नत्व का अभाव [*भोगप्रत्यययोः*] भोग तथा प्रत्यय (प्रतीति) अभिधेय होने पर निपातित है॥ *रदाभ्यां*० (८।२।४२) से नत्व प्राप्ति थी अभाव निपातन कर दिया॥ वित्तमस्य बहु = अर्थात् इसके पास धन बहुत है। धन का जो उपयोग किया जाता है, अतः वह उसका भोग है। वित्तोऽयं मनुष्यः = अर्थात् यह मनुष्य प्रतीत = ज्ञात है। यहाँ भी मनुष्य प्रतीत किया जाता है, अतः वह प्रत्यय है ऐसा जानें॥

भित्तं शकलम् ॥८।२।५९॥

भित्तम् १।१॥ शकलम् १।१॥ अनु०—न, निष्ठातो नः॥ *अर्थः*—भित्तमिति भिदेरुत्तरस्य क्तस्य नत्वाभावो निपात्यते शकलं चेत्तद्भवति॥ उदा०—भित्तं तिष्ठति, भित्तं प्रपतति॥

भाषार्थः—[*भित्तम्*] भित्तम् शब्द में भिदिर् धातु से उत्तर क्त के नत्व का अभाव निपातन है, यदि भित्तम् से [*शकलम्*] शकल = खण्ड टुकड़ा कहा जा रहा हो तो॥ पूर्ववत् ही नत्व प्राप्त था अभाव कर दिया॥ भित्तं तिष्ठति अर्थात् टुकड़ा रखा है॥

ऋणमाधमर्ण्ये ॥८।२।६०॥

ऋणम् १।१॥ आधमर्ण्ये ७।१॥ स०—अधमः ऋणे = अधमर्णः

सप्तमीतत्पुरुषः । अस्मादेव निपातनादत्र सप्तम्यन्तस्य परनिपातः ॥ अधमर्णस्य भावः आधमर्ण्यम् तस्मिन्‌ ''ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्प्रत्ययः ॥ *अनु०*—निष्ठातो नः ॥ *अर्थः*—ऋणमित्यत्र ऋ इत्येतस्माद्धातोरुत्तरस्य क्तस्य नत्वं निपात्यते, आधमर्ण्ये विषये ॥ *उदा०*—ऋणं ददाति, ऋणं धारयति ॥

भाषार्थः—[*ऋणम्*] ऋणम् शब्द में ऋ धातु से उत्तर क्त के तकार को नकारादेश निपातन है [*आधमर्ण्ये*] आधमर्ण्य विषय में ॥ कर्जे लेने वाले का ही ऋण अधम = दुःखद होने से आधमर्ण्य कहलाता है। ऋणम् में नत्व कर लेने पर णत्व *ऋवर्णाच्चेति०* (वा० ८।४।१) से हो ही जायेगा ॥

नसत्तनिषत्तानुत्तप्रतूर्त्तसूर्त्तगूर्त्तानि छन्दसि ॥८।२।६१॥

नसत्त''गूर्त्तानि १।३॥ छन्दसि ७।१॥ *स०*—नसत्तञ्च निषत्तञ्च अनुत्तञ्च प्रतूर्त्तञ्च सूर्त्तञ्च गूर्त्तञ्च नसत्त''गूर्त्तानि, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—न, निष्ठातो नः ॥ *अर्थः*—नसत्त, निषत्त, अनुत्त, प्रतूर्त्त, सूर्त्त, गूर्त्त इत्येतानि शब्दरूपाणि छन्दसि विषये निपात्यन्ते ॥ नसत्त निषत्त इत्यत्र सदेर्नञ्पूर्वान्निपूर्वाच्च नत्वाभावो निपात्यते। अनुत्तमिति उन्देर्नञ्पूर्वात् नत्वाभावो निपात्यते। प्रतूर्त्तमिति प्रपूर्वात् त्वरतेः, तुर्वी इत्येतस्माद्वा पूर्ववत् नत्वाभावो निपात्यते। सूर्त्तमिति सृ इत्येतस्य उत्वं नत्वाभावश्च निपात्यते। गूर्त्तमिति गुरी इत्येतस्मात् पूर्ववत् नत्वाभावो निपात्यते ॥ *उदा०*—नसत्तमञ्जसा। नसन्नमिति भाषायाम् ॥ निषत्तमस्य चरतः (ऋ० १।१४६।१) निषण्णमिति भाषायाम्। अनुत्तमा ते मघवन् (ऋ० १।१६५।९), अनुन्नमिति भाषायाम्। प्रतूर्त्तं वाजिन्, (यजु० ११।१२) प्रतूर्णमिति भाषायाम्। सूर्त्ता गावः। सृता गाव इति भाषायाम्। गूर्त्ता अमृतस्य। गूर्णमिति भाषायाम् ॥

भाषार्थः—[*नसत्त''गूर्त्तानि*] नसत्त, निषत्त, अनुत्त, प्रतूर्त्त, सूर्त्त गूर्त्त ये शब्द [*छन्दसि*] वेद विषय में निपातन किये जाते हैं ॥ नसत्त निषत्त यहाँ क्रमशः नञ्पूर्वक एवं निपूर्वक षद्लृ धातु से क्त के नत्व का अभाव निपातन है। षद्लृ के ष को *धात्वादेः०* (६।१।६२) से स हुआ है। निषत्तम् में *सदिरप्रतेः* (८।३।६६) से षत्व होता है ॥ अनुत्तम् यहाँ नञ्पूर्वक उन्दी के क्त को नत्वाभाव निपातन है।

अनिदितां हल० (६।४।२४) से न् लोप भी यहाँ होता है, चर्त्व होकर द् को त् सर्वत्र हो ही जायेगा ॥ प्रतूर्त्तम् यहाँ भी ञित्वरा अथवा तुर्वी धातु के क्त का नत्वाभाव निपातन है। त्वर से निपातन मानने पर *ज्वरत्वर* (६।४।२०) से व् एवं उपधा 'अ' को ऊठ् होकर प्रतूर्त्तः बन गया, तथा तुर्वी से मानने पर *राल्लोपः* (६।४।२१) से व् का लोप एवं दीर्घत्व (८।२।७७) हो जायेगा ॥ सूर्त्तम् यहाँ सृ धातु को उत्व एवं नत्वाभाव निपातन है। सुर् त = पूर्ववत् दीर्घत्व करके सूर्त्तम् बना ॥ गूर्त्तम् यहाँ गुरी धातु के क्त के नत्व का अभाव निपातन है ॥ सर्वत्र जहाँ २ नत्वाभाव निपातन है, वहाँ २ *रदाभ्यां निष्ठातो०* (८।२।४२) से नत्व प्राप्ति थी, अभाव कह दिया ॥

क्विन्प्रत्ययस्य कुः ॥८।२।६२॥

क्विन्प्रत्ययस्य ६।१॥ कुः १।१॥ *स०*—क्विन् प्रत्ययो यस्मात् (धातोः) स क्विन्प्रत्ययस्तस्य''बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—पदस्य ॥ *अर्थः*—क्विन्प्रत्ययस्य पदस्य कवर्गादेशो भवति ॥ *उदा०*—घृतस्पृक्, हलस्पृक्, मन्त्रस्पृक् ॥

भाषार्थः—[*क्विन्प्रत्ययस्य*] क्विन् प्रत्यय हुआ है जिस धातु से उस पद को [*कुः*] कवर्गादेश होता है ॥ *अलोऽन्त्यस्य* (१।१।५१) से अन्त्य अल् को ही कवर्गादेश होता है ॥ सिद्धियाँ परि० १।२।४१ में देखें ॥

यहाँ से '*कुः*' की अनुवृत्ति ८।२।६३ तक जायेगी ॥

नशेर्वा ॥८।२।६३॥

नशेः ६।१॥ वा अ० ॥ *अनु०*—कुः, पदस्य ॥ *अर्थः*—नशेः पदस्य वा कवर्गादेशो भवति ॥ *उदा०*—सा वै जीवनग् आहुतिः। सा वै जीवनड् आहुतिः ॥

भाषार्थः—[*नशेः*] नश् पद को [*वा*] विकल्प से कवर्गादेश होता है ॥ पूर्ववत् अन्त्य अल् को कवर्ग होगा ॥ णश अदर्शने धातु से *सम्पदादिभ्यः क्विप्* (वा० ३।३।९४) इस वार्त्तिक से भाव में क्विप् होकर, पक्ष में कुत्व, तथा पक्ष में *व्रश्चभ्रस्ज०* (८।२।३६) से षत्व एवं जश्त्व (८।२।३९) चर्त्व होकर नक् नट् बना, पश्चात् जीवस्य नाशो जीवनग्, जीवनड् आहुतिः षष्ठी समास हो गया ॥

मो नो धातोः ॥८।२।६४॥

मः ६।१॥ नः १।१॥ धातोः ६।१॥ *अनु०*—पदस्य ॥ *अर्थः*—मकारान्तस्य धातोः पदस्य नकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—प्रशान्, प्रतान्, प्रदान् ॥

भाषार्थः—[*मः*] मकारान्त [*धातोः*] धातु पद को [*नः*] नकारादेश होता है ॥ अन्त्य अल् को यहाँ भी न् होगा। सिद्धि सूत्र ६।४।१५ में देखें ॥

यहाँ से '*मो नो धातोः*' की अनुवृत्ति ८।२।६५ तक जायेगी ॥

म्वोश्च ॥८।२।६५॥

म्वोः ७।२॥ च अ० ॥ *स०*—मश्च वश्च म्वौ, तयोः ''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—मो नो धातोः ॥ *अर्थः*—मकारे वकारे च परतो मकारान्तस्य धातोर्नकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—अगन्म तमसः पारम्। अगन्व। जगन्वान् ॥

भाषार्थः—[*म्वोः*] मकार तथा वकार परे रहते [*च*] भी मकारान्त धातु को नकारादेश होता है ॥ अपदान्तार्थ इस सूत्र का आरम्भ है ॥ गम् धातु से लङ् मस् वस् में *बहुलं छन्दसि* (२।४।७३) से शप् का लुक् तथा *स उत्तमस्य* (३।४।९८) से सकार लोप तथा नत्व होकर अगन्म, अगन्व बन गया। जगन्वान् की सिद्धि सूत्र ७।२।६८ में देखें। क्वसु होकर द्वित्व अभ्यास कार्य करके ज गम् वान् = जगन्वान् बन गया ॥

ससजुषो रुः ॥८।२।६६॥

ससजुषोः ६।२॥ रुः १।१॥ *स०*—सश्च सजुष् च ससजुषौ तयोः''' इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—पदस्य ॥ *अर्थः*—सकारान्तस्य पदस्य सजुष् इत्येतस्य च रुर्भवति ॥ *उदा०*—सकारान्तस्य—अग्निरत्र, वायुरत्र। सजुषः—सजूर्ऋषिभिः, सजूर्देवेभिः ॥

भाषार्थः—[*ससजुषोः*] सकारान्त पद को तथा सजुष् पद को [*रुः*] रु आदेश होता है ॥ पूर्ववत् अन्त्य अल् को रुत्व होगा ॥ अग्नि सु = अग्नि स् अत्र = अग्निर् अत्र = अग्निरत्र। *सुप्तिङन्तं पदम्* (१।४।१४) से 'अग्निस्' की पद संज्ञा है। सह जुषते इति सजुष् यहाँ क्विप् (३।२।७६)

प्रत्यय, तथा *सहस्य सः०* (६।३।७६) से सह को सभाव हुआ है। पश्चात् रुत्व होकर *र्वोरुपधाया०* (८।२।७६) से दीर्घ करके 'सजूर्' बन गया ।। सजुष् सकारान्त नहीं, अतः इसका पृथक् सूत्र में ग्रहण है ।। यह सूत्र जश्त्व का अपवाद है ।।

यहाँ से '*रुः*' की अनुवृत्ति ८।२।७१ तक जायेगी ।।

अवयाःश्वेतवाःपुरोडाश्च ।।८।२।६७।।

अवयाः, श्वेतवाः, पुरोडाः, सर्वाणि अनुकरणरूपाणि प्रथमान्तानि पदानि ।। च अ० ।। *अनु०*—पदस्य ।। *अर्थः*—अवयाः, श्वेतवाः, पुरोडाः इत्येते कृतदीर्घाः निपात्यन्ते, सम्बुद्धौ ।। *उदा०*—हे अवयाः, हे श्वेतवाः, हे पुरोडाः ।।

भाषार्थः—[*अवयाः***डाश्च*] अवयाः, श्वेतवाः [च] तथा पुरोडाः ये शब्द दीर्घ किये हुये सम्बुद्धि में निपातन हैं ।। श्वेतवाः, पुरोडाः (प्रथमा एकवचन में) की सिद्धि सूत्र ३।२।७१ में तथा 'अवयाः' की सूत्र ३।२।७२ में की है। यहाँ सम्बुद्धि का सु परे है, एवं वहाँ प्रथमा एकवचन का सु परे था, यही अन्तर है। इस प्रकार यहाँ सम्बुद्धि में भी सिद्धि प्रक्रिया सम्पूर्ण वही रहेगी, केवल सम्बुद्धि परे रहते *अत्वसन्तस्य०* (६।४।१४) से उपधा दीर्घत्व प्राप्त नहीं था, क्योंकि वहाँ 'असम्बुद्धौ' की अनुवृत्ति है, अतः यहाँ दीर्घत्व करने के लिये ही निपातन किया है, शेष सब सिद्ध ही है ।।

अहन् ।।८।२।६८।।

अहन् लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ।। *अनु०*—रुः, पदस्य ।। *अर्थः*—अहन् इत्येतस्य पदस्य रुर्भवति ।। *उदा०*—अहोभ्याम्, अहोभिः । दीर्घाहा निदाघः । हे दीर्घाहोऽत्र ।।

भाषार्थः—[*अहन्*] अहन् पद को (अन्त्य अल् को) रु होता है ।। अहन् भ्याम् = अहरु भ्याम् = *हशि च* (६।१।११०) *आद् गुणः* (६।१।८४) लगकर अहोभ्याम् अहोभिः बन गया । दीर्घाणि अहानि यस्मिन् स दीर्घाहा निदाघः (ग्रीष्म काल) यहाँ बहुव्रीहि समास करके 'दीर्घाहन् सु' रहा। रुत्व दीर्घत्व (६।४।८) तथा हल्ङ्यादि लोप करके दीर्घाहार् रहा। रुत्व असिद्ध होने से *सर्वनामस्थाने०* (६।४।८) से दीर्घत्व हो ही जायेगा।

पश्चात् निदाघ परे रहते *भोभगोऽघो०* (८।३।१७) एवं *हलि सर्वेषाम्* (८।३।२२) लगकर दीर्घाहा निदाघः बन गया। दीर्घाहोऽत्र में *अतो रोर०* (६।१।१०९) से रु को उत्व एवं *आद् गुणः* (६।१।८४) से गुण एकादेश होगा। शेष सब पूर्ववत् है॥

यहाँ से 'अहन्' की अनुवृत्ति ८।२।६९ तक जायेगी॥

रोऽसुपि ॥८।२।६९॥

रः १।१॥ असुपि ७।१॥ *स०*—न सुप् असुप् तस्मिन्...नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—अहन्॥ *अर्थः*—अहन् इत्येतस्य रेफादेशो भवति, असुपि परतः॥ *उदा०*—अहर्ददाति, अहर्भुङ्क्ते॥

भाषार्थः—अहन् को [रः] रेफ आदेश होता है [असुपि] सुप् परे न हो तो॥ 'अहन् सु' यहाँ हल्ङ्यादि लोप करके अहन् ददाति रहा। अब न् को असुप् परे होने से रेफ होकर अहर्ददाति बन गया॥ पूर्व सूत्र का यह अपवाद है। रु करने पर *हशि च* (६।१।११०) से उत्व प्राप्त होता था, वह रेफ विधान करने पर नहीं होगा, यही भेद है॥ 'रः' में अकार उच्चारणार्थ है॥ अह यहाँ प्रत्ययलक्षण से सुप् (सु) परे होना सम्भव है उसकी निवृत्ति *अह्नो रविधौ लुमता लुप्ते प्रत्ययलक्षणं न भवति* (भा० वा० १।१।६२) से प्रत्ययलक्षण का प्रतिषेध हो जाने से होती है॥

यहाँ से 'रः' की अनुवृत्ति ८।२।७१ तक जायेगी॥

अम्नरूधरवरित्युभयथा छन्दसि ॥८।२।७०॥

अम्न...वर् लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः॥ इति अ०॥ उभयथा अ०॥ छन्दसि ७।१॥ *स०*—अम्नश्च ऊधश्च अवश्च अम्नरूधरवर् तस्य... समाहारद्वन्द्वः॥ *अनु०*—रः, रुः, पदस्य॥ *अर्थः*—अम्नस्, ऊधस्, अवस् इत्येतेषां पदानां छन्दसि विषये उभयथा भवति, रुर्वा रेफो वा इत्यर्थः॥ *ससजुषो रुः* इत्यनेन नित्यं रुत्वे प्राप्ते पक्षे रेफादेशार्थमिदम्॥ *उदा०*—अम्न एव, अम्नरेव। ऊधस्—ऊध एव, ऊधरेव। अवस्—अव एव, अवरेव॥

भाषार्थः—[*अम्न...वर्*] अम्नस्, ऊधस्, अवस् [*इति*] इन पदों को [*छन्दसि*] वेद विषय में [*उभयथा*] दोनों प्रकार से अर्थात् रु, एवं रेफ दोनों ही होते हैं। *ससजुषो रुः* से 'स्' को नित्य रुत्व प्राप्त था पक्ष में रेफ विधानार्थ यह सूत्र है॥ जब 'रु' होगा तो *भोभगो०*

(८।३।१७) से रु के रेफ को य् तथा *लोपः शाक०* (८।३।१९) से उस य् का लोप होकर 'अम्न एव' बनेगा। रेफ करने पर 'अम्नरेव' बनेगा। अन्त्य को ये आदेश जानें ॥

यहाँ से '*उभयथा छन्दसि*' की अनुवृत्ति ८।२।७१ तक जायेगी ॥

भुवश्च महाव्याहृतेः ॥८।२।७१॥

भुवः ६।१॥ च अ० ॥ महाव्याहृतेः ६।१॥ *अनु०*—उभयथा छन्दसि, रः,रुः, पदस्य ॥ *अर्थः*—भुवस् इत्येतस्य महाव्याहृतेश्छन्दसि विषये उभयथा = रुर्वा रेफो वा भवति ॥ भूर् भुवस् स्वर् इति तिस्रो महाव्याहृतयः, मध्यमाया इह ग्रहणम् ॥ *उदा०*—भुव इत्यन्तरिक्षम्। भुवरित्यन्तरिक्षम् ॥

भाषार्थः—[*महाव्याहृतेः*] महाव्याहृति वाला जो [*भुवः*] भुवस् शब्द उसको [च] भी वेद विषय में दोनों प्रकार से अर्थात् रु एवं रेफ दोनों ही होते हैं ॥ भूर्, भुवस्, स्वर्, महस्, जनस्, तपस्, सत्यम् ये ७ व्याहृतियाँ कहाती हैं। इनमें से आदि की तीन महाव्याहृतियाँ कहाती है, क्योंकि इनका वेद में साक्षात् प्रयोग मिलता है, तथा इनका वाच्य पृथिवी अन्तरिक्ष एवं द्यु है। इनके अन्तर्गत अन्य व्याहृतिवाच्य लोकों का भी समावेश हो जाता है। उनमें अन्तरिक्ष वाचिका भुवस् महाव्याहृति को यहाँ रुत्व एवं रेफ कह दिया। पूर्ववत् रुत्व करने पर र् को य् एवं य् का लोप करके 'भुव इत्यन्तरिक्षम्' बना ॥

वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः ॥८।२।७२॥

वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहाम् ६।३॥ दः १।१॥ *स०*—वसु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—पदस्य। *ससजुषो रुः* इत्यतः 'सः' इत्यनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या ॥ *अर्थः*—सकारान्तस्य वस्वन्तस्य पदस्य स्रंसु ध्वंसु, अनडुह इत्येतेषां च दकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—वसु—विद्वद्भ्याम्, विद्वद्भिः, पपिवद्भ्याम्, पपिवद्भिः। स्रंसु—उखास्रद्भ्याम्, उखास्रद्भिः। ध्वंसु—पर्णध्वद्भ्याम्, पर्णध्वद्भिः। अनडुह्—अनडुद्भ्याम्, अनडुद्भिः ॥

भाषार्थः—[*वसु***...*डुहाम्*] सकारान्त वस्वन्त पद को तथा स्रंसु ध्वंसु एवं अनडुह् पद को [*दः*] दकारादेश होता है ॥ इस सूत्र में

ससजुषो रुः से 'स' की अनुवृत्ति लाते हैं, जिसको वसु का ही विशे बना कर अर्थ होगा 'सकारान्त वस्वन्त पद को'। शेष स्रंसु ध्वंसु त सकारान्त ही रहते हैं, एवं अनडुह् सकारान्त है ही नहीं, अतः स विशेषण इन पदों में अनावश्यक है ॥

शतृ को *विदेः शतुर्वसुः* (७।१।३६) से वसु आदेश करके विद्वस् बना, जिसके अन्त्य अल् को भ्याम् परे रहते *स्वादिष्व०* (१।४।१७ पद संज्ञा होकर दकारादेश हो गया। पपिवान् की सिद्धि सूत्र ३।२ में है, सो यहाँ पपिवस् बनकर भ्याम् परे रहते स् को दत्व हो है। उखास्रत् पर्णध्वत् की सिद्धि परि० ३।२।७६ में देखें, तद्वत् भिस् परे रहते पद संज्ञा (१।४।१७) होकर रूप जानें। अन अन्त्य अल् 'ह्' को द् हुआ है ॥

यहाँ से 'दः' की अनुवृत्ति ८।२।७५ तक जायेगी ॥

तिप्यनस्तेः ॥८।२।७३॥

तिपि ७।१॥ अनस्तेः ६।१॥ स०—न अस्तिरनस्तिस्तस्य... त्पुरुषः ॥ अनु०—दः, पदस्य। 'सः' अत्राप्यनुवर्त्तते पूर्ववत् ॥ अ अनस्तेः सकारान्तस्य पदस्य तिपि परतो दकारादेशो भवति ॥ उ अचकाद् भवान्, अन्वशाद् भवान् ॥

भाषार्थः—[*अनस्तेः*] अस् (धातु) को छोड़कर जो सकारा उसको [*तिपि*] तिप् परे रहते दकारादेश होता है ॥ चकास् तथ पूर्वक शासु धातु के लङ् में अदादित्वात् शप् का लुक् होकर 'अ त्' रहा। प्रकृत सूत्र से स् को द् तथा *हल्ङ्याभ्यो०* (६।१।६६) के त् का लोप होकर अचकाद्, अन्वशाद् बन गया ॥

सिपि धातो रुर्वा ॥८।२।७४॥

सिपि ७।१॥ धातोः ६।१॥ रुः १।१॥ वा अ०॥ अनु पदस्य, 'सः' इत्यपि च पूर्ववत् ॥ *अर्थः*—सकारान्तस्य पदस्य रुरित्ययमादेशो विकल्पेन भवति सिपि परतः पक्षे दकारो वा ॥ उ अचकास्त्वम्, अचकात् त्वम्। अन्वशास्त्वम्, अन्वशात् त्वम् ॥

भाषार्थः—सकारान्त पद जो [*धातोः*] धातु उसको [*सि* परे रहते [*रुः*] रु आदेश [*वा*] विकल्प से होता है। पक्ष में

प्राप्त दकारादेश होगा ॥ रु करने पर रेफ को विसर्जनीय (८।२।६६) करके त्वम् परे रहते *विसर्जनीयस्य सः* (८।३।३४) से विसर्जनीय को स् हो गया, एवं दत्व करने पर द् को चर्त्व होकर त् हो गया है ॥

यहाँ से *'सिपि रुवा'* की अनुवृत्ति ८।२।७५ तक तथा *'धातोः'* की ८।२।७९ तक जायेगी ॥

दश्च ॥८।२।७५॥

दः ६।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—सिपि धातो रुर्वा, दः, पदस्य ॥ *अर्थः*—दकारान्तस्य च धातोः पदस्य सिपि परतो रुर्भवति दकारो वा ॥ *उदा०*—अभिनस्त्वम्, अभिनत् त्वम् । अच्छिनस्त्वम्, अच्छिनत् त्वम् ॥

भाषार्थः—[दः] दकारान्त पद जो धातु उसको [च] भी सिप् परे रहते विकल्प से रु होता है । पक्ष में दत्व होगा ॥ परि० ६।१।६६ में अभिनोऽत्र की सिद्धि की है, तद्वत् यहाँ भी 'अभिनर्' बनकर पूर्ववत् विसर्जनीय एवं सत्व त्वम् परे रहते हो गया । पक्ष में दत्व होकर अभिनत् त्वम् बनेगा ही ॥

र्वोरुपधाया दीर्घ इकः ॥८।२।७६॥

र्वोः ६।२॥ उपधायाः ६।१॥ दीर्घः १।१॥ इकः ६।१॥ *स०*—रश्च वश्च वौ, तयोः·····इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—धातोः, पदस्य ॥ *अर्थः*—रेफान्तस्य वकारान्तस्य च धातोः पदस्य उपधाया इको दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—रेफान्तस्य—गीः, धूः, पूः, आशीः । वकारग्रहणमुत्तरार्थं तेन तत्रैवोदाहरिष्यते ॥

भाषार्थः—[र्वोः] रेफान्त तथा वकारान्त जो धातु पद उसकी [*उपधायाः*] उपधा [*इकः*] इक् को [*दीर्घः*] दीर्घ होता है ॥ वकार ग्रहण यहाँ अगले सूत्र के लिये है ॥ धूः पूः की सिद्धि परि० ३।२।१७७ में देखें । गीर्वान् आशीर्वान् की सिद्धि मतुप् में सूत्र ८।२।१५ में की है, तद्वत् यहाँ भी क्विप् करके 'सु' का हल्ङ्यादि लोप करके गीः आशीः बनेगा ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।२।७९ तक जायेगी ॥

हलि च ॥८।२।७७॥

हलि ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—र्वोरुपधाया दीर्घ इकः, धातोः ॥

अर्थः—हलि च परतो रेफवकारान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—रेफान्तस्य-आस्तीर्णम्, विस्तीर्णम्, विशीर्णम्, अवगूर्णम्। वकारान्तस्य-दीव्यति, सीव्यति ॥

भाषार्थः—[*हलि*] हल् परे रहते [च] भी रेफान्त एवं वकारान्त धातु की उपधा जो इक् उसको दीर्घ होता है ॥ आस्तीर्णम् आदि की सिद्धियाँ सूत्र ७।१।१०० एवं ८।२।४२ में देखें, तथा दीव्यति सीव्यति की परि० ३।१।६९ में देखें ॥ पूर्व सूत्र से पदान्त में जो रेफ एवं वकार उनकी उपधा को दीर्घत्व प्राप्त था, यह सूत्र अपदान्तार्थ है ॥

यहाँ से '*हलि*' की अनुवृत्ति ८।२।७८ तक जायेगी ॥

उपधायां च ॥८।२।७८॥

उपधायाम् ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—हलि, र्वोरुपधाया दीर्घ इकः, धातोः ॥ *अर्थः*—हलि परतो यौ धातोरुपधाभूतौ रेफवकारौ तयो-रुपधाया इको दीर्घो भवति ॥ *उदा०*—हुर्छा-हूर्छिता। मुर्छा-मूर्छिता। उर्वी-ऊर्विता। धुर्वी-धूर्विता ॥

भाषार्थः—हल् परे रहते जो धातु की [*उपधायाम्*] उपधा भूत रेफ एवं वकार उनकी (रेफ एवं वकार की) उपधा इक् को [च] भी दीर्घ होता है ॥ हुर्छा मुर्छा धातुओं की उपधा रेफ है, उस रेफ की उपधा इक् 'उ' को दीर्घ प्रकृत सूत्र से होता है। इसी प्रकार उर्वी, धुर्वी का उर्व् धुर्व् शेष रहकर रेफ की उपधा इक् को दीर्घ हुआ है ॥ वकार उपधा वाली धातु के अभाव में उदाहरण नहीं दिखाया ॥

न भकुर्छुराम् ॥८।२।७९॥

न अ० ॥ भकुर्छुराम् ६।३॥ *स०*—भश्च कुर् च छुर् च भकुर्छु-रस्तेषां ''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—र्वोरुपधायाः दीर्घ इकः, धातोः ॥ *अर्थः*—रेफस्य वकारान्तस्य भस्य कुर् छुर् इत्येतयोश्चोपधायाः दीर्घो न भवति ॥ *उदा०*—भस्य-धुरं वहति धुर्यः, धुरि साधुर्धुर्यः। कुर्—कुर्यात्। छुर्—छुर्यात् ॥

भाषार्थः—रेफ तथा वकारान्त [*भकुर्छुराम्*] भसंज्ञक को एवं कुर् छुर् धातु की उपधा को दीर्घ [न] नहीं होता ॥ सर्वत्र उदाहरणों में *हलि च* से दीर्घत्व की प्राप्ति थी प्रतिषेध कर दिया ॥ कुर्यात् की सिद्धि

सूत्र ६।४।१०९ में देखें। तद्वत् छुर् धातु से छुर्यात् बनेगा। धुर्यः में धुरो यड्ढकौ (४।४।७७) तथा तत्र साधुः (४।४।९८) से यत् प्रत्यय हुआ है, अतः 'धुर्' यचि भम् (१।४।१८) से भसंज्ञक है ॥

अदसोऽसेर्दादु दो मः ॥८।२।८०॥

अदसः ६।१॥ असेः ६।१॥ दात् ५।१॥ उ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ दः ६।१॥ मः १।१॥ स०—अविद्यमानः सिः सकारो यस्य स असिस्तस्य ''बहुव्रीहिः ॥ 'सि' इत्यत्र इकार उच्चारणार्थः ॥ *अर्थः*—असकारान्तस्यादसो दादुत्तरस्य वर्णस्य उवर्णादेशो भवति, दकारस्य च मकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—अमुम्, अमू, अमून्, अमुना, अमूभ्याम् ॥

भाषार्थः—[*असेः*] असकारान्त जो [*अदसः*] अदस् शब्द उसके [*दात्*] दकार से उत्तर जो वर्ण उसके स्थान में [*उ*] उवर्ण आदेश होता है, तथा [*दः*] दकार को [*मः*] मकारादेश भी होता है ॥ यहाँ उवर्ण आदेश करने से दकार से उत्तर एकमात्रिक वाले वर्ण को ह्रस्व 'उ' तथा दो मात्रिक वाले को दीर्घ 'ऊ' होता है, ऐसा जानें। यह बात परि० १।१।४९ के प्रमाणकृत आन्तर्य के उदाहरण अमुष्मै अमूभ्याम् से सुस्पष्ट हो जाती है, सो वहीं देखें। अमू की सिद्धि परि० १।१।१२ में देखें, एवं अमुना की सिद्धि न मु ने (८।२।३) सूत्र में देखें। अमून् में *तस्माच्छसो०* (६।१।९९) से शस् के स् को न् हुआ है॥

यहाँ से '*अदसोऽसेर्दात् दो मः*' की अनुवृत्ति ८।२।८१ तक जायेगी ॥

एत ईद् बहुवचने ॥८।२।८१॥

एतः ६।१॥ ईत् १।१॥ बहुवचने ७।१॥ *अनु०*—अदसोऽसेर्दात् दो मः ॥ *अर्थः*—असकारान्तस्यादसो दादुत्तरस्य एकारस्य ईकारादेशो भवति दकारस्य च मकारः, बहुवचने ॥ *उदा०*—अमी, अमीभिः, अमीभ्यः, अमीषाम्, अमीषु ॥

भाषार्थः—असकारान्त अदस् शब्द के दकार से उत्तर [*एतः*] एकार के स्थान में [*ईत्*] ईकारादेश होता है, एवं दकार को मकार भी होता है, [*बहुवचने*] बहुवचन में, अर्थात् बहुत पदार्थों को कहने में ॥ अमी की सिद्धि परि० १।१।१२ में देखें। तद्वत् भिस् आदि विभक्तियों में भी

जानें। *बहुवचने झल्येत्* (७।३।१०३) से एत्व कर लेने पर अमीभिः आदि में ईत्व होता है। अमीषाम् यहाँ 'अद आम्' इस अवस्था में ही *आमि सर्वनाम्नः०* (७।१।५२) से सुट् आगम होकर पश्चात् अन्य कार्य होते हैं॥

वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः ॥८।२।८२॥

वाक्यस्य ६।१॥ टेः ६।१॥ प्लुतः १।१॥ उदात्तः १।१॥ *अनु०*—पदस्य॥ *अर्थः*—अधिकारोऽयमापादपरिसमाप्तेः। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामो वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्त इत्येवं तद्वेदितव्यम्॥ *उदा०*—वक्ष्यति–प्रत्यभिवादेऽशूद्रे–अभिवादये देवदत्तोऽहं भोः, आयुष्मानेधि देवदत्त ३॥

भाषार्थः—यह अधिकार सूत्र है। पाद की समाप्ति पर्यन्त (८।२।१०८) इसका अधिकार जायेगा, अतः सर्वत्र [*वाक्यस्य*] वाक्य की [*टेः*] टि को [*प्लुतः*] प्लुत [*उदात्तः*] उदात्त होता है ऐसा अर्थ होता जायेगा॥ उदाहरण में 'देवदत्त ३' वाक्य का अन्तिम पद है, अतः उसकी 'टि' को उदात्त प्लुत हो गया। 'पदस्य' का अधिकार आ ही रहा है, अतः "वाक्यान्त पद की टि को प्लुत उदात्त हो" यह अर्थ सङ्गत हो जायेगा॥ *ऊकालोऽज्झ्रस्व०* (१।२।२७) से त्रिमात्रिक की प्लुत संज्ञा कही है, सो टि को त्रिमात्रिकत्व एवं उदात्तत्व हो जायेगा। जहाँ हलन्त टिसंज्ञक होगा वहाँ भी हल् से पूर्व अच् को ही प्लुत होगा, क्योंकि प्लुत संज्ञा अच् की कही है॥

प्रत्यभिवादेऽशूद्रे ॥८।२।८३॥

प्रत्यभिवादे ७।१॥ अशूद्रे ७।१॥ *स०*—न शूद्रोऽशूद्रस्तस्मिन् नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः, पदस्य॥ *अर्थः*—प्रत्यभिवादे यद्वाक्यमशूद्रविषयकं तस्य टेः प्लुतो भवति स च उदात्तः॥ अभिवाद्यमानो यदाशीर्वचः प्रयुङ्क्ते स प्रत्यभिवादः॥ *उदा०*—अभिवादये देवदत्तोऽहम् भोः, आयुष्मानेधि दे[illegible]त्त ३॥

भाषार्थः—[*अशूद्रे*] अशूद्र विषय में [*प्रत्यभिवादे*] प्रत्यभिवाद वाक्य के पद की टि को प्लुत होता है, और वह प्लुत उदात्त होता है॥ अभिवादन करने के पश्चात् जिसका अभिवादन किया गया है उसके द्वारा जो आशीर्वचन कहा जाता है, वही प्रत्यभिवाद है। इस प्रकार

उदाहरण में पहले 'अभिवादये···' में देवदत्त आपका अभिवादन करता हूँ, ऐसा अभिवादन वाक्य प्रयुक्त हुआ। पश्चात् अभिवाद्यमान ने प्रत्यभिवादन रूप में आशीर्वचन कहा "हे देवदत्त तुम चिरञ्जीवी हो", सो यहाँ प्रत्यभिवाद वाक्य के अन्तिम पद देवदत्त की टि को प्लुत उदात्त हो गया ॥

दूराद्धूते च ॥८।२।८४॥

दूरात् ५।१॥ हूते ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ अर्थः—दूराद् हूते = आह्वाने यद्वाक्यं वर्त्तते तस्य टेः प्लुतो भवति स च उदात्तः ॥ उदा०—आगच्छ भो माणवक देवदत्त ३ । आगच्छ भो माणवक यज्ञदत्त ३ ॥ अन्त्यं वर्जयित्वा अन्यत्रैकश्रुतिर्भवति उदात्तपूर्वं विहाय ॥

भाषार्थः—[*दूरात्*] दूर से [*हूते*] बुलाने में जो प्रयुक्त वाक्य उसकी टि को [च] भी प्लुत उदात्त होता है ॥ देवदत्त ३ यज्ञदत्त ३ को यहाँ प्लुत उदात्त हो गया, क्योंकि वाक्य में दूर से आह्वान हो रहा है ॥ *एकश्रुति दूरात् सम्बुद्धौ* (१।२।३३) से टि को छोड़कर अन्यत्र एकश्रुति होती है, और टि से पूर्व को अनुदात्ततर (१।२।४०) होता है ॥

यहाँ से '*दूराद्धूते*' की अनुवृत्ति ८।२।८५ तक जायेगी ।

हैहेप्रयोगे हैहयोः ॥८।२।८५॥

हैहेप्रयोगे ७।१॥ हैहयोः ६।२॥ *स०*—हैश्च हेश्च हैहयौ, तयोः प्रयोगः हैहेप्रयोगस्तस्मिन्···द्वन्द्वगर्भषष्ठीतत्पुरुषः । हैश्च हेश्च हैहयौ, तयोः···इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—दूराद्धूते, प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ *अर्थः*—हैहयोः प्रयोगे दूरादाह्वाने यद्वाक्यं तत्र हैहयोरेव प्लुतोदात्तो भवति ॥ उदा० - है ३ देवदत्त, देवदत्त है ३ । हे ३ देवदत्त, देवदत्त हे ३ ॥

भाषार्थः—[*हैहेप्रयोगे*] है तथा हे के प्रयोग होने पर जो दूर से बुलाने में प्रयुक्त वाक्य उसमें [*हैहयोः*] है तथा हे को ही प्लुत उदात्त होता है ॥ 'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः' का अधिकार होने से वाक्य के अन्त में प्रयुक्त 'है हे' को ही प्लुत उदात्त होता, किन्तु यहाँ 'हैहयोः'

कह देने से वाक्य के आदि अथवा अन्त कहीं भी 'है हे' हों उन्हें प्लुत उदात्त हो जायेगा ॥

गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम् ॥८।२।८६॥

गुरोः ६।१॥ अनृतः ६।१॥ अनन्त्यस्य ६।१॥ अपि अ० ॥ एकैकस्य ६।१॥ प्राचाम् ६।३॥ *स०*—न ऋत् अनृत् तस्य ... नञ्तत्पुरुषः । न अन्त्योऽनन्त्यस्तस्य ... नञ्तत्पुरुषः ॥ एकैकस्य इत्यत्र वीप्सायामर्थे द्वित्वम्, *एकं बहुव्रीहिवत्* (८।१।९) इति बहुव्रीहिवद्भावश्च ॥ *अनु०*—वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ *अर्थः*—ऋकारवर्जितस्य गुरोरनन्त्यस्य, एकैकस्य, अपिग्रहणादन्त्यस्यापि टेः (सम्बोधने वर्त्तमानस्य) प्राचामाचार्याणां मतेन प्लुतोदात्तो भवति ॥ प्रत्यभिवादेऽशूद्रे इत्येवमादिना यः प्लुतो विहितस्तस्यैवायं स्थानिविशेष उच्यते ॥ *उदा०*—आयुष्मानेधि दे ३ वदत्त । देवद ३ त्त । देवदत्त ३ । य ३ ज्ञदत्त । यज्ञद ३ त्त । यज्ञदत्त ३ ॥

भाषार्थः—[*अनृतः*] ऋकार को छोड़कर वाक्य के [*अनन्त्यस्य*] अनन्त्य (जो अन्त में न हो ऐसे) [*गुरोः*] गुरुसंज्ञक वर्ण को [*एकैकस्य*] एक एक करके अर्थात् पर्याय से तथा अन्त्य के टि को [*अपि*] भी [*प्राचाम्*] प्राचीन आचार्यों के मत में प्लुत उदात्त होता है ॥

प्रत्यभिवादेऽशूद्रे आदि तीन सूत्रों से जो वाक्य के अन्तिम पद के टि को प्लुत कहा है, उसका इस सूत्र से प्राचीन आचार्यों के मत में अन्य स्थानविशेष भी कहते हैं । 'प्राचाम्' कहने से पाणिनि मुनि के मत में केवल अन्त्य को प्लुतोदात्त होगा, अर्थात् 'आयुष्मानेधि देवदत्त ३' ऐसा ही रहेगा ॥ इस प्रकार इस सूत्र से प्राचीन आचार्यों के मत में 'देवदत्त' के अनन्त्य गुरुसंज्ञक वर्ण 'दे' के 'ए' को एवं 'द' के 'अ' को प्लुत होता है, तथा 'अपि' ग्रहण से पूर्व सूत्रों से प्राप्त अन्त्य टि को अर्थात् त्त के अ को भी पर्याय से प्लुत होता है । अन्त्य के साथ यहाँ गुरु का सम्बन्ध न लगाकर टि का ही लगाना है, अतः गुरु संज्ञा न होने पर भी अन्त्य टि को प्लुत होता है ॥ *दीर्घं च* (१।४।१२) से 'दे' की गुरु संज्ञा तथा *संयोगे गुरु* (१।४।११) से त्त परे रहते 'द' की गुरु संज्ञा है । इसी प्रकार यज्ञदत्त में भी जानें, यहाँ *संयोगे गुरु* से ही गुरु संज्ञा है ॥

ओमभ्यादाने ॥८।२।८७॥

ओम् अ० ॥ अभ्यादाने ७।१॥ अनु०—प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ अर्थः—अभ्यादाने य ओमृशब्दस्तस्य प्लुत उदात्तो भवति ॥ अभ्यादानम् = प्रारम्भः ॥ उदा०—ओ३म् अग्निमीडे पुरोहितम् (ऋ० १।१।१) ॥

भाषार्थः—[*अभ्यादाने*] अभ्यादान = प्रारम्भ में वर्त्तमान [*ओम्*] ओम् शब्द को प्लुत उदात्त होता है ॥ प्रारम्भ से अभिप्राय वैदिक मन्त्रों के प्रारम्भ से है ॥ *अचश्च* (१।२।२८) परिभाषा सूत्र से सर्वत्र अच् को प्लुत होगा ॥

ये यज्ञकर्मणि ॥८।२।८८॥

ये लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ यज्ञकर्मणि ७।१॥ स०—यज्ञस्य कर्म = क्रिया यज्ञकर्म तस्मिन्...षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ *अर्थः*—ये इत्येतस्य पदस्य यज्ञकर्मणि प्लुतोदात्तो भवति ॥ *उदा०*—ये ३ यजामहे, समिधाग्निं दुवस्यत (ऋ० ८।४४।१) ॥

भाषार्थः—[*ये*] ये शब्द को [*यज्ञकर्मणि*] यज्ञ की क्रिया में प्लुत उदात्त होता है ॥ श्रौत यज्ञकर्म में याज्या = जिस मन्त्र से आहुति दी जाती है उसके आरम्भ में 'ये ३ यजामहे' बोला जाता है ॥

यहाँ से '*यज्ञकर्मणि*' की अनुवृत्ति ८।२।९२ तक जायेगी ॥

प्रणवष्टेः ॥८।२।८९॥

प्रणवः १।१॥ टेः ६।१॥ *अनु०*—यज्ञकर्मणि, वाक्यस्य प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ *अर्थः*—यज्ञकर्मणि वाक्यस्य पदस्य टेः प्रणवः = ओम् इत्यादेशो भवति स च प्लुतोदात्तो भवति ॥ उदा०—अपां रेतांसि जिन्वतो३म् (ऋ० ८।४४।१६) देवान् जिगाति सुम्नयो३म् ॥

भाषार्थः—यज्ञकर्म में अन्तिम पद की [*टेः*] टि को [*प्रणवः*] प्रणव अर्थात् 'ओम्' आदेश होता है और वह प्लुत उदात्त होता है ॥

विशेषः—सामिधेन्यादि (समूह विशेष रूप में पठित) ऋचा विशेषों में ही टि को प्रणव (ओङ्कार) यज्ञकर्म में होता है, सभी मन्त्रों को नहीं, अतः सभी मन्त्रों के अन्त में टि को ओ३म् करके यज्ञकर्म में बोलना

अवैदिक प्रक्रिया है, ऐसा समझना चाहिये। यह ओ३म् आदेश वहीं होता है जहाँ ऋक्समूह का पाठ मात्र होता है वौषट् या स्वाहा शब्द का प्रयोग नहीं होता यह श्रौत कर्म का नियम है ॥ जिन्वति में इकार टि है, एवं 'सुम्नयुस्' में 'उस्' अतः इन्हीं को उदाहरणों में ओ३म् हो गया है। जिन्वति की सिद्धि पूर्व दिखा आये हैं ॥

यहाँ से 'टेः' की अनुवृत्ति ८।२।९० तक जायेगी ॥

याज्यान्तः ॥८।२।९०॥

याज्यान्तः १।१॥ स०—याज्यानामन्तः याज्यान्तः, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—टेः, यज्ञकर्मणि, वाक्यस्य प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ अर्थः—याज्याकाण्डे ये पठिताः मन्त्रास्ते याज्याः। तेषामन्त्यस्य टेः प्लुत उदात्तो भवति ॥ उदा०—स्तोमैर्विधेमाग्नये३ (ऋ० ८।४३।११)। जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहा३म् (ऋ० १०।८।६) ॥

भाषार्थः—याज्यानुवाक्याकाण्ड[1] में पढ़े हुए मन्त्र याज्या[2] नाम से यहाँ स्मृत हैं। [याज्यान्तः] याज्या नाम की ऋचाओं के अन्त की टि को यज्ञकर्म में प्लुत उदात्त होता है ॥ याज्याकाण्ड में ऋचाओं के वाक्यसमुदाय रूप में याज्या मन्त्र पढ़े हैं, सो यहाँ 'अन्त' ग्रहण करने से उस समुदाय के अन्त के टि को प्लुत उदात्त होता है, अन्यथा प्रत्येक वाक्य के अन्त के टि को हो जाता ॥

ब्रूहिप्रेष्यश्रौषड्वौषडावहानामादेः ॥८।२।९१॥

ब्रूहि''हानाम् ६।३॥ आदेः ६।१॥ स०—ब्रूहि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—यज्ञकर्मणि, प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ अर्थः—ब्रूहि, प्रेष्य, श्रौषट्, वौषट्, आवह इत्येतेषामादेः प्लुत उदात्तो भवति, यज्ञकर्मणि ॥ उदा०—ब्रूहि—अग्नयेऽनुब्रू३हि। प्रेष्य—अग्नये गोमयान् प्रे३ष्य।

---

१. अन्य संहिताओं में याज्यानुवाक्या मन्त्र बिखरे हुए हैं, परन्तु मैत्रायणी संहिता ४।१०–१४ (ग्रन्थान्ते) में सब एक स्थान पर पठित हैं। यह याज्यानुवाक्या-काण्ड ही कहाता है।

२. याज्या वे मन्त्र कहाते हैं जिनसे श्रौत कर्म में यजन = आहुति प्रदान किया जाता है।

श्रौषट्—अस्तु श्रौ ३ षट् । वौषट्—सोमस्याग्ने वीहि ३ वौ ३ षट् । आवह—अग्निमा ३ वह ॥

भाषार्थः—[*ब्रूहि...नाम्*] ब्रूहि, प्रेष्य, श्रौषट्, वौषट्, आवह इन पदों के [*आदेः*] आदि को यज्ञकर्म में प्लुत उदात्त होता है ॥ श्रौषट् वौषट् शब्द निपात तथा अन्य शब्द लोडन्त हैं ॥

यहाँ से '*आदेः*' की अनुवृत्ति ८।२।९२ तक जायेगी ॥

अग्नीत्प्रेषणे परस्य च ॥८।२।९२॥

अग्नीत्प्रेषणे ७।१॥ परस्य ६।१॥ च अ० ॥ *स०*—अग्नीधः प्रेषणमग्नीत्प्रेषणं तस्मिन्...षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—आदेः, यज्ञकर्मणि, प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ *अर्थः*—अग्नीधः प्रेषणे आदेः प्लुतोदात्तो भवति तस्मात् परस्य च, यज्ञकर्मणि ॥ अग्नीद् ऋत्विग्विशेषस्तस्य प्रेषणम् = यज्ञकर्मणि नियोजनम् ॥ *उदा०*—आ ३ श्रा ३ वय । ओ ३ श्रा३वय ॥

भाषार्थः—[*अग्नीत्प्रेषणे*] अग्नीध् के प्रेषण = नियोजन (कार्यार्थ प्रैष करने में) में पद के आदि को प्लुत उदात्त होता है [*च*] तथा उससे [*परस्य*] परे को भी होता है, यज्ञकर्म में ॥ अग्नीध् यज्ञ के ऋत्विग् विशेष की संज्ञा है ॥

विभाषा पृष्टप्रतिवचने हेः ॥८।२।९३॥

विभाषा १।१॥ पृष्टप्रतिवचने ७।१॥ हेः ६।१॥ *स०*—पृष्टस्य प्रतिवचनम् = आख्यानं पृष्टप्रतिवचनं तस्मिन्...षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ *अर्थः*—पृष्टस्य प्रतिवचने = प्रत्युत्तरे हेः विभाषा प्लुत उदात्तो भवति ॥ *उदा०*—अकार्षीः कटं देवदत्त ? अकार्षं हि ३ । अकार्षं हि । अलावीः केदारं देवदत्त ? अलाविषं हि ३ । अलाविषं हि ॥

भाषार्थः—[*पृष्टप्रतिवचने*] पृष्ट = पूछे गये प्रश्न के प्रतिवचन = प्रत्युत्तर (वाक्य) में जो [*हेः*] हि उसको [*विभाषा*] विकल्प करके प्लुत उदात्त होता है ॥ 'अकार्षं हि, अलाविषं हि' ये पृष्टप्रतिवचन में वाक्य कहे गये हैं, अतः 'हि' को विकल्प से प्लुत उदात्त हो गया ॥

यहाँ से '*विभाषा*' की अनुवृत्ति ८।२।९४ तक जायेगी ॥

निगृह्यानुयोगे च ॥८।२।९४॥

निगृह्यानुयोगे ७।१॥ च अ० ॥ स०—निगृह्यस्य अनुयोगः निगृह्यानुयोगस्तस्मिन्''''षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—विभाषा, वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ स्वपक्षात् प्रच्यावनमपनयनं निग्रहः। यस्मादसौ प्रच्यावितस्तस्यैव मतस्याऽऽविष्करणम् शब्देन प्रकाशनं नियोगः। निगृह्य इति ल्यबन्तमेतत् ॥ *अर्थः*—निगृह्यानुयोगे यद् वाक्यं वर्तते तस्य टेः विभाषा प्लुत उदात्तो भवति ॥ *उदा०*—अनित्यः शब्द इति केनचित् प्रतिज्ञातम्, तं वादिनमुपपत्तिभिर्निगृह्य स्वमतात् प्रच्याव्य उपालिप्सुः सामर्षमनुयुङ्क्ते—अनित्यः शब्द इत्यात्थ ३। अनित्यः शब्द इत्यात्थ। अद्यामावास्येत्यात्थ ३। अद्यामावास्येत्यात्थ ॥

भाषार्थः—[*निगृह्यानुयोगे*] निगृह्यानुयोग में वर्तमान जो वाक्य उसकी टि को [च] भी विकल्प से प्लुत उदात्त होता है ॥ निगृह्य शब्द ल्यबन्त है। अपने पक्ष से (तर्क एवं हेतु द्वारा) किसी को स्वमत से हटा देने को अर्थात् उसके पक्ष का खण्डन कर देने को निग्रह कहते हैं, एवं जिस पक्ष से वह निगृहीत (पकड़ा गया है) हुआ है, उसी मत का शब्दों द्वारा आविष्कार = प्रकाश करना अनुयोग कहाता है। इस प्रकार निगृह्य = निगृहीत करके जो अनुयोग वह निगृह्यानुयोग है, उसमें जो वाक्य, उसकी 'टि' को प्लुत उदात्त होता है। उदाहरण में किसी ने 'शब्द अनित्य है' ऐसी प्रतिज्ञा की। ऐसा कहने वाले के पक्ष का तर्क एवं हेतु द्वारा खण्डन कर दिया, यह निग्रह हुआ। अब जिस पक्ष से अर्थात् 'अनित्य शब्द है' इस प्रतिज्ञा से वह हटाया गया, उसी पक्ष का क्रोधयुक्त निन्दा से वह उपालिप्सु = उपालम्भ देने वाला प्रकाश करता है। यथा—'अनित्यः''''शब्द अनित्य है ऐसा कहता है, 'आज अमावस्या है' ऐसा कहता है, इस प्रकार यहाँ निगृह्यानुयोग स्पष्ट है ॥

आम्रेडितं भर्त्सने ॥८।२।९५॥

आम्रेडितम् १।१॥ भर्त्सने ७।१॥ *अनु०*—प्लुत उदात्तः ॥ *अर्थः*—भर्त्सने द्योत्ये आम्रेडितं प्लवते उदात्तश्च भवति ॥ *वाक्यादेरा०* (८।१।८) इत्यनेन भर्त्सने द्विर्वचनमुक्तं तस्याम्रेडितस्यात्र प्लुतो भवति ॥ *उदा०*—चौर चौर ३, वृषल वृषल ३, दस्यो दस्यो ३ घातयिष्यामि त्वा बन्धयिष्यामि त्वा ॥

भाषार्थः—[*भर्त्सने*] भर्त्सन में [*आम्रेडितम्*] आम्रेडित को (टि को) प्लुत उदात्त होता है ॥ *वाक्यादेरामन्त्रितस्या०* से भर्त्सन की गम्यमानता में द्वित्व कहा है, सो उस द्वित्व किये हुये के आम्रेडित संज्ञक (८।१।२) को प्रकृत सूत्र से प्लुत उदात्त हो गया ॥

यहाँ से '*भर्त्सने*' की अनुवृत्ति ८।२।९६ तक जायेगी ॥

अङ्गयुक्तं तिङाकाङ्क्षम् ॥८।२।९६॥

अङ्गयुक्तम् १।१॥ तिङ् १।१॥ आकाङ्क्षम् १।१॥ *स०*—अङ्ग इत्यनेन युक्तमङ्गयुक्तम्, तृतीयातत्पुरुषः। आकाङ्क्षतीति आकाङ्क्षम्, पचाद्यच् भवति ॥ *अनु०*—भर्त्सने, प्लुत उदात्तः ॥ *अर्थः*—अङ्ग इत्यनेन युक्तमाकाङ्क्षं तिङन्तं भर्त्सने प्लवते, उदात्तश्च स भवति ॥ *उदा०*—अङ्ग कूज ३, अङ्ग व्याहर ३, इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म ॥

भाषार्थः—[*अङ्गयुक्तम्*] अङ्ग शब्द से युक्त जो [*तिङाकाङ्क्षम्*] आकाङ्क्षा रखने वाला तिङन्त उसको (उसके टि को) प्लुत होता है ॥ कूज, व्याहर (लोडन्त) तिङन्त अङ्ग शब्द से युक्त तथा आकाङ्क्ष (किसी अन्य बात की अपेक्षा रखते हैं) हैं, अतः इन्हें प्लुत हो गया ॥ किसी ने किसी को कहा—'अङ्ग कूज ३' 'खूब बोल लो तुम, खूब घूम लो तुम, अभी पता चलेगा ॥

विचार्यमाणानाम् ॥८।२।९७॥

विचार्यमाणानाम् ६।३॥ *अनु०*—वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः ॥ प्रत्यक्षादिप्रमाणेन वस्तुपरीक्षणं विचारः, तेन विचारेण विषयीक्रियमाणानि ज्ञानानि विचार्यमाणानि, तेषां विचार्यमाणानाम् ॥ *अर्थः* विचार्यमाणानां वाक्यानां टेः प्लुतोदात्तो भवति ॥ *उदा०*—होतव्यं दीक्षितस्य गृहा ३ इ। तिष्ठेद्यूपा ३ इ, अनुप्रहरेद्यूपा ३ इ ॥

भाषार्थः—[*विचार्यमाणानाम्*] विचार्यमाण वाक्य के टि को प्लुत उदात्त होता है ॥ प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा किसी वस्तु का परीक्षण करना अर्थात् यह कैसा है कैसा नहीं, यह सोचना विचार है। उस विचार का विषयरूप जो ज्ञान वह विचार्यमाण (विचार किया जाने वाला) ज्ञान है, अतः ऐसे वाक्य के टि को प्लुत कह दिया। विपूर्वक चर धातु से कर्म में यक् शानच् होकर विचार्यमाण बना है। होतव्यं...

यहाँ विचार किया जा रहा है कि 'दीक्षित के घर में यज्ञ करना चाहिये या नहीं। यूपे तिष्ठेत्' 'यहाँ क्या 'यूप पर रहे अथवा यूप पर प्रहार करे यह विचार हो रहा है; अतः ये विचार्यमाण वाक्य हैं। अगले सूत्र में 'भाषायाम्' कहने से यह सूत्र छन्द में ही होगा, ऐसा जानें॥ उदाहरणों में 'गृहे' 'यूपे' के एकार को प्रकृत सूत्र से प्लुत विधान करने पर *एचोऽप्रगृह्य०* (८।२।१०७) ने कहा कि 'एच् को प्लुत जब कहें तो उस एच् के पूर्व वाले आधे अंश को आकार हो जाये और वह प्लुत हो, तथा उत्तर वाले अंश को इकार उकार हो जाये, सो यहाँ 'ए' के उत्तरांश को इ तथा पूर्व को आकार होकर प्लुत हो गया। एच् की दो मात्रायें हैं, अतः एक-एक मात्रा को दोनों कार्य हो गये॥

यहाँ से '*विचार्यमाणानाम्*' की अनुवृत्ति ८।२।९८ तक जायेगी॥

पूर्वं तु भाषायाम् ॥८।२।९८॥

पूर्वम् १।१॥ तु अ० ॥ भाषायाम् ७।१॥ *अनु०*—विचार्यमाणानाम् वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः, पदस्य॥ *अर्थः*—विचार्यमाणानां वाक्यानां भाषायां विषये पूर्वमेव वाक्यं प्लवते उदात्तश्च भवति॥ *उदा०*—अहिर्नु३, रज्जुर्नु। लोष्टो नु ३, कपोतो नु॥

भाषार्थः—विचार्यमाण वाक्यों के [*पूर्वम्*] पूर्व वाले वाक्य की टि को [*तु*] ही [*भाषायाम्*] भाषा विषय में प्लुत उदात्त होता है॥ पूर्व सूत्र से ही सिद्ध होने पर नियमार्थ यह सूत्र है कि 'पूर्ववाले वाक्य की टि को ही प्लुत हो परवाले को नहीं'। प्रयोग की अपेक्षा से पूर्व समझना चाहिये, अतः अहिर्नु३, लोष्टो नु३ पूर्व प्रयुक्त वाक्य को प्लुत हुआ है। यह सर्प है, अथवा रज्जु है, ढेला है अथवा कपोत है ऐसा उदाहरणों का अर्थ है। 'नु' शब्द वितर्क अर्थ में यहाँ है॥

प्रतिश्रवणे च ॥८।२।९९॥

प्रतिश्रवणे ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः पदस्य॥ प्रतिश्रवणमभ्युपगमः = अङ्गीकारः, श्रवणाभिमुख्यं च॥ *अर्थः*—प्रतिश्रवणे यद्वाक्यं वर्त्तते तस्य टेः प्लुत उदात्तो भवति॥ *उदा०*—गां देहि भोः ? अहं ते ददामि३। देवदत्त भोः ! किमात्थ३॥

भाषार्थः—[*प्रतिश्रवणे*] प्रतिश्रवण में वर्त्तमान वाक्य की टि को [च] भी प्लुत उदात्त होता है ॥ प्रतिश्रवण स्वीकार अङ्गीकार करने को तथा अच्छी प्रकार सुनने में प्रवृत्ति को भी कहते हैं, सो दोनों अर्थों में यह सूत्र प्रवृत्त होता है। पूर्व उदाहरण में किसी ने कहा 'गौ मुझे दान करो' तो दूसरे ने उसे स्वीकार करके कहा—अहं ते ददामि 'हाँ तुम्हें गौ देता हूँ' सो यह अङ्गीकार अर्थ में प्रतिश्रवण वाक्य है। द्वितीय उदाहरण में कोई देवदत्त को संबोधित करता है, सुनने वाला पूछता है क्या कहा ? इससे उसके अच्छी प्रकार सुनने की चेष्टा व्यक्त हो रही है, अतः टि को प्लुतोदात्त हो गया ॥

अनुदात्तं प्रश्नान्ताभिपूजितयोः ॥८।२।१००॥

अनुदात्तम् १।१॥ प्रश्नान्ताभिपूजितयोः ७।२॥ *स०*—प्रश्नार्थे वाक्ये प्रश्नशब्दो वर्त्तते, तस्य अन्तः प्रश्नान्तः, षष्ठीतत्पुरुषः। प्रश्नान्तश्च अभिपूजितश्च प्रश्नान्ताभिपूजितौ, तयोः...इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—वाक्यस्य टेः प्लुतः, पदस्य ॥ *अर्थः*—प्रश्नवाक्ये यच्चरमं पदं प्रयुज्यते स प्रश्नान्तस्तस्मिन् प्रश्नान्तेऽभिपूजिते पदे यद्वाक्यं तत्र च विधीयमानो प्लुतोऽनुदात्तो भवति, न तूदात्तः ॥ *अनन्त्यस्यापि प्रश्ना०* (८।२।१०५) इत्यनेन प्रश्नान्ते प्लुतो विधीयते, अभिपूजिते यद्वाक्यं तत्रानेनानुदात्तं क्रियते ॥ *उदा०*—अगमं३ः पूर्वाँ३न् ग्रामाँ३न् अग्निभूता३इ। अगमं३ः पूर्वाँ३न् ग्रामाँ३न् पटा३उ। अभिपूजिते—शोभनः खल्वसि माणवक३ ॥

भाषार्थः—[*प्रश्नान्ताभिपूजितयोः*] प्रश्नान्त तथा अभिपूजित में विधीयमान प्लुत को [*अनुदात्तम्*] अनुदात्त होता है ॥ प्रश्नान्त से यहाँ प्रश्न किये जाने वाले वाक्य के अन्तिम पद से अभिप्राय है, सो ऐसे वाक्य के अन्तिम पद को विधीयमान, एवं अभिपूजित अर्थ में वर्त्तमान जो वाक्य उसको विधीयमान जो प्लुत उसे इस सूत्र ने अनुदात्त कह दिया। प्लुत को 'प्लुत उदात्तः' का अधिकार होने से उदात्त ही प्राप्त था, अतएव अनुदात्त विधानार्थ यह सूत्र है ॥

अनन्त्यस्यापि प्रश्ना०(८।२।१०५)से प्रश्नान्त में प्लुत का विधान है। अभिपूजित में इसी से अनुदात्त प्लुत होता है ॥ *अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः* सूत्र से वाक्यस्थ अन्त्य एवं अनन्त्य सभी पदों के टि को प्लुत

स्वरित कहा है, सो यहाँ इस वचनप्रामाण्य से प्रश्नवाक्य के अन्तिम पद को पक्ष में प्लुत अनुदात्त भी हो जाता है, पक्ष में स्वरितत्व रहेगा ही। इस प्रकार अन्तिम पद को प्लुत स्वरित एवं प्लुत अनुदात्त होकर दो पक्ष बनेंगे। अभिपूजित (सत्कार) में सम्बोधन के पद को इसी सूत्र से प्लुत हो गया है ॥ हे अग्निभूते हे पटो यहाँ प्लुत करने पर पूर्ववत् (८।२।९७ के अनुसार) *एचोऽप्रगृह्यस्या०* (८।२।१०७) से पूर्व को 'आ' एवं उत्तर को इकार उकार होकर 'अग्निभूता ३ इ, पटा ३ उ' बना है ॥ "हे अग्निभूति, हे पटु क्या तुम पूर्व ग्रामों को गये थे" ऐसा अर्थ अगमः३ पूर्वा३न्'''वाक्यों का है ॥ उत्तरांश को किये हुये इकार उकार उदात्त ही होते हैं, ऐसा समझना चाहिये ॥

यहाँ से '*अनुदात्तम्*' की अनुवृत्ति ८।२।१०२ तक जायेगी ॥

चिदिति चोपमार्थे प्रयुज्यमाने ॥८।२।१०१॥

चित् अ० ॥ इति अ० ॥ च अ० ॥ उपमार्थे ७।१॥ प्रयुज्यमाने ७।१॥ *स०*—उपमायाः अर्थः उपमार्थस्तस्मिन्'''षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अनुदात्तम्, वाक्यस्य टेः प्लुतः, पदस्य ॥ *अर्थः*—चिदित्येतस्मिन् निपाते उपमार्थे प्रयुज्यमाने वाक्यस्य टेरनुदात्तः प्लुतो भवति ॥ *उदा०*—अग्निचिद् भाया३त्। राजचिद् भाया३त् ॥

भाषार्थः—[*चित्*] चित् [*इति*] यह निपात [*च*] भी जब [*उपमार्थे*] उपमा के अर्थ में [*प्रयुज्यमाने*] प्रयुक्त हो तो वाक्य के टि को अनुदात्त प्लुत होता है ॥ यहाँ इसी सूत्र से अनुदात्त एवं इसी से प्लुत दोनों का विधान हो रहा है ॥ अग्निचिद् भाया३त् आदि का अर्थ है 'अग्नि के समान प्रकाशित हो, राजा के समान दीप्तिमान् हो !' इस प्रकार यहाँ चित् उपमार्थ में प्रयुक्त है ॥

उपरि स्विदासीदिति च ॥८।२।१०२॥

उपरि अ० ॥ स्वित् अ० ॥ आसीत् क्रियापदम् ॥ इति अ० ॥ च अ० ॥ *अनु०*—अनुदात्तम्, वाक्यस्य टेः प्लुतः ॥ *अर्थः*—उपरि स्विदासीत् इत्येतस्य टेरनुदात्तः प्लुतो भवति ॥ *उदा०*—अधः स्विदासी३त् उपरि स्विदासी३त् (ऋ० १०।१२९।५) ॥

भाषार्थः—[*उपरि स्विदासीत्*] 'उपरि स्विदासीत्' [*इति*] इसके

टि को [च] भी प्लुत अनुदात्त होता है ॥ 'उपरि स्वित् आसीत्' ऐसा वेदमन्त्र का भाग है, यहाँ 'स्वित्' अव्यय वितर्क अर्थ में है। मन्त्र[1] भाग का अर्थ है कि—इस जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व जो तमस् (प्रकृति) था वह स्रष्टा के उपरि (उससे अधिक) था, अथवा अधः = अल्प था ? ऐसा वितर्क यहाँ किया जा रहा है, अतः विचार्यमाण वाक्य होने से दोनों वाक्यों के 'आसीत्' पद की टि को *विचार्यमाणानाम्* (८।२।९७) से प्लुत हुआ है, इस प्रकार दोनों के प्लुत को उदात्त भी ८।२।९७ से ही प्राप्त था, प्रकृत सूत्र से 'उपरि स्विदासीत्' के प्लुत को अनुदात्त हो गया। तब अधः स्विदासीत् वाला प्लुत यथावत् उदात्त ही रहा ॥

स्वरितमाम्रेडितेऽसूयासम्मतिकोपकुत्सनेषु ॥८।२।१०३॥

स्वरितम् १।१॥ आम्रेडिते ७।१॥ असू...नेषु ७।३॥ *स०*—असूया च सम्मतिश्च कोपश्च कुत्सनञ्च असूया...कुत्सनानि तेषु...इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—टेः प्लुतः ॥ *अर्थः*—आम्रेडिते परतः स्वरितः प्लुतो भवति, असूयायां, सम्मतौ कोपे कुत्सने च गम्यमाने ॥ *उदा०*—असूयायाम्—माणवक३ माणवक, अभिरूपक३ अभिरूपक ! रिक्तं त आभिरूप्यम्। सम्मतौ—माणवक३ माणवक, अभिरूपक३ अभिरूपक ! शोभनः खल्वसि। कोपे—माणवक३ माणवक, अविनीतक३ अविनीतक ! इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म। कुत्सने—शाक्तीक३ शाक्तीक, याष्टीक३ याष्टीक ! रिक्ता ते शक्तिः ॥

भाषार्थः—[*आम्रेडिते*] आम्रेडित परे रहते पूर्व पद की टि को [*स्वरितम्*] स्वरित प्लुत होता है [*असूया...नेषु*] असूया = निन्दा, सम्मति = पूजा, कोप तथा कुत्सन गम्यमान होने पर ॥ उदाहरणों में *वाक्यादेरामन्त्रि०* (८।१।८) से द्वित्व होता है, अतः पर वाले पद *आम्रेडित* (८।१।२) के परे रहते पूर्व की टि को प्लुत स्वरित हो गया ॥ सर्वत्र उदाहरणों में असूयादि अर्थों की प्रतीति हो रही है, यथा प्रथम उदाहरण में 'ए सुन्दर माणवक ! तेरा सब सौन्दर्य समाप्त हो गया' यहाँ स्पष्ट असूया है ॥

यहाँ से '*स्वरितम्*' की अनुवृत्ति ८।२।१०५ तक जायेगी ॥

---

१. देखो—तम आसीत्तमसा० (ऋ० १०।१२९।३) मन्त्र में प्राचीन सांख्याचार्यों के मत में तमः प्रकृति की संज्ञा है। (द्र० दुर्ग निरुक्त टीका ७।३ में उद्धृत पारमर्ष सूत्र) ॥

क्षियाशीःप्रैषेषु तिङाकाङ्क्षम् ॥८।२।१०४॥

क्षियाशीःप्रैषेषु ७।३॥ तिङ् १।१॥ आकाङ्क्षम् १।१॥ स०—क्षिया च आशीश्च प्रैषश्च क्षियाशीःप्रैषास्तेषु''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—स्वरितम्, टेः प्लुतः ॥ अर्थः—क्षिया, आशीः, प्रैष इत्येतेषु गम्यमानेषु यद् आकाङ्क्षं तिङन्तं तस्य टेः स्वरितः प्लुतो भवति ॥ उदा०—क्षियायाम्—स्वयं रथेन याति ३, उपाध्यायं पदातिं गमयति । स्वयं ह ओदनं भुङ्क्ते ३ उपाध्यायं सक्तून् पाययति । आशिषि—सुताँश्च लप्सीष्ठाः ३ धनं च तात । छन्दोऽध्येषीष्ठाः ३ व्याकरणं च भद्र । प्रैषे—कटं कुरु ३ ग्रामं च गच्छ । यवान् लुनीहि ३ सक्तूंश्च पिब ॥

भाषार्थः—[*क्षियाशीःप्रैषेषु*] क्षिया, आशीः तथा प्रैष गम्यमान हो तो [*तिङाकाङ्क्षम्*] आकाङ्क्ष तिङन्त की टि को स्वरितप्लुत होता है ॥ क्षिया आचार के उल्लङ्घन को कहते हैं ॥ 'सुताँश्च'''यहाँ पुत्रों को प्राप्त करो और धन को प्राप्त करो' यह आशीर्वाद दिया जा रहा है । सर्वत्र पहले वाक्य का तिङन्त पद दूसरे वाक्य की अपेक्षा रखता है, अतः साकाङ्क्ष होने से प्लुत स्वरित हो गया ॥

अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः ॥८।२।१०५॥

अनन्त्यस्य ६।१॥ अपि अ० ॥ प्रश्नाख्यानयोः ७।२॥ स०—न अन्त्यमनन्त्यम्, तस्य''नञ्तत्पुरुषः । प्रश्नश्च आख्यानञ्च प्रश्नाख्याने तयोः''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—स्वरितम्, वाक्यस्य टेः प्लुतः, पदस्य ॥ अर्थः—वाक्यस्य अनन्त्यस्यापि अन्त्यस्यापि पदस्य टेः स्वरितः प्लुतो भवति प्रश्ने आख्याने च ॥ उदा०—प्रश्ने—अगमं ३ः पूर्वां ३ न् ग्रामां ३ न् अग्निभूतां ३ इ, पटां ३ उ । आख्याने—अगमं ३ म् पूर्वां ३ न् ग्रामां ३ न् भोः ३ ॥

भाषार्थः—वाक्यस्थ [*अनन्त्यस्य*] अनन्त्य एवं अपि ग्रहण से अन्त्य पद की टि को [*अपि*] भी [*प्रश्नाख्यानयोः*] प्रश्न एवं आख्यान होने पर स्वरित प्लुत होता है ॥ 'पदस्य' एवं 'वाक्यस्य' दोनों का अधिकार होने से वाक्यान्त पद को ही स्वरित प्लुत की प्राप्ति थी, अनन्त्यस्य ग्रहण से वाक्यस्थ सभी पदों को स्वरित प्लुत हो गया ॥ प्रश्न वाक्य के अन्तिम पद की टि को पक्ष में अनुदात्त प्लुत भी *अनुदात्तं प्रश्नान्ता*० (८।२।१००) से जैसे होता है, वह उसी सूत्र में देखें ॥ आख्या

कथन उत्तर को कहते हैं। सो 'अगम ३ म्''का अर्थ होगा 'हाँ मैं पूर्व के ग्रामों में गया था'। पहले वाक्य में पूछे गये वाक्य का यह उत्तर है॥

प्लुतावैच इदुतौ ॥८।२।१०६॥

प्लुतौ १।२॥ ऐचः ६।१॥ इदुतौ १।२॥ *स०*—इत् च उत् च इदुतौ, इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—प्लुतः॥ *अर्थः*—ऐचः प्लुतप्रसङ्गे तदवयवभूतौ इदुतौ प्लुतौ भवतः॥ *उदा०*—ऐ ३ तिकायन। औ ३ पगव॥

भाषार्थः—[*ऐचः*] ऐच् के स्थान में जब प्लुत का प्रसङ्ग हो तो उस ऐच् = ऐ, औ के अवयवभूत जो [*इदुतौ*] इकार उकार उनको [*प्लुतौ*] प्लुत होता है॥ अवर्ण तथा इवर्ण के मेल से ए ऐ, एवं अवर्ण तथा उवर्ण के मेल से ओ औ बनते हैं अर्थात् एच् समाहार वर्ण हैं, अतः *दूराद्धूते च* (८।२।८४) इत्यादि सूत्रों से जो विहित प्लुत वहाँ यदि ऐ औ को प्लुत करने का प्रसङ्ग हो तो ऐ औ के अवयवभूत इवर्ण और उवर्ण को ही प्लुत हो, तत्स्थित अवर्ण को न हो एतदर्थ यह सूत्र है॥ उदाहरणों में अनन्त्य गुरु संज्ञक 'ऐ औ' को *गुरोरनृतो०* (८।२।८६) से प्लुत प्राप्त हुआ, तो प्रकृत सूत्र ने उस ऐच् के 'इ उ' भाग को प्लुत कर दिया॥

एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते पूर्वस्यार्धस्यादुत्तरस्येदुतौ ॥८।२।१०७॥

एचः ६।१॥ अप्रगृह्यस्य ६।१॥ अदूरात् ५।१॥ हूते ७।१॥ पूर्वस्य ६।१॥ अर्धस्य ६।१॥ आत् १।१॥ उत्तरस्य ६।१॥ इदुतौ १।२॥ *स०*—अप्रगृह्यस्य, अदूरात्, उभयत्र नञ्तत्पुरुषः। इदुतौ इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—प्लुतः॥ *अर्थः*—अप्रगृह्यस्य एचोऽदूराद्धूते प्लुतविषये पूर्वस्यार्धस्य आकार आदेशो भवति स च प्लुतः, उत्तरस्येकारोकारौ आदेशौ भवतः॥ *उदा०*—अगमः ३ पूर्वा३न् ग्रामा३न् अग्निभूता३ इ, पटा३ उ। भद्रं करोषि माणवक ३ अग्निभूता३ इ, पटा३ उ। होतव्यं दीक्षितस्य गृहा ३ इ। आयुष्मानेधि अग्निभूता ३ इ, पटा ३ उ। उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे, स्तोमैर्विधेमाग्नया ३ इ (ऋ० ८।४३।११)॥

भाषार्थः—[*अप्रगृह्यस्य*] अप्रगृह्यसंज्ञक [*एचः*] एच्, जो [*अदूराद्धूते*] दूर से बुलाने विषय में न हो तो प्लुत करने के प्रसङ्ग में उस एच्

के [*पूर्वस्य अर्धस्य*] पूर्वार्ध भाग को [*आत्*] आकारादेश होता है, और वह प्लुत होता है, तथा [*उत्तरस्य*] उत्तर वाले भाग को [*इदुतौ*] इकार उकार आदेश होते हैं ॥ ये एच् समाहार (मिले हुये) वर्ण हैं, ऐसा पूर्व सूत्र में कह चुके हैं, सो उनके पूर्व वाले आधे भाग को आकार एवं उत्तरभाग को इकार उकार हो गया। पूर्व सूत्रों से उदात्त अनुदात्त स्वरित जैसा प्लुत कहा है वैसा ही आकार आदेश यहाँ होता है। इकार उकार तो उदात्त ही होते हैं, ('उदात्तः' के अधिकार से सम्बन्धित होने से) ऐसा जानना चाहिये ॥ प्रथम उदाहरण में *अनुदात्तं प्रश्ना०* (८।२।१००) से प्लुत को अनुदात्त, द्वितीय में भी (अभिपूजित में) इसी सूत्र से प्लुत को अनुदात्त हुआ है। तृतीय उदाहरण में *विचार्यमाणानाम्* (८।२।९७) से उदात्त प्लुत, चतुर्थ में *प्रत्यभिवादेऽशूद्रे* से तथा पञ्चम में *याज्यान्तः* (८।२।९०) से उदात्त प्लुत हुआ है ऐसा जानें। भाष्य में इस सूत्र के विषय का परिगणन कर दिया है, सो हमने भी तद्वत् ही उदाहरण दर्शा दिये हैं ॥

तयोर्य्वावचि संहितायाम् ॥८।२।१०८॥

तयोः ६।२॥ य्वौ १।२॥ अचि ७।१॥ संहितायाम् ७।१॥ *स०*—यश्च वश्च य्वौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—प्लुतः ॥ *अर्थः*—तयोरिदुतोर्यकारवकारादेशौ भवतोऽचि परतः संहितायां विषये ॥ *उदा०*—अग्ना ३ याशा, पटा ३ वाशा, अग्ना ३ यिन्द्रम्, पटा ३ वुदकम् ॥

भाषार्थः—[*तयोः*] उनके अर्थात् प्लुत के प्रसङ्ग में एच् के उत्तरार्ध को जो इकार उकार पूर्व सूत्र से विधान कर आये हैं, उन इकार उकार के स्थान में क्रमशः [*य्वौ*] य् व् हो जाते हैं, [*अचि*] अच् परे रहते [*संहितायाम्*] सन्धि के विषय में ॥ *इको यणचि* (६।१।७४) की दृष्टि में ये इकार उकार *पूर्वत्रासिद्धम्* से असिद्ध हैं, अतः *इको यणचि* से यणादेश हो नहीं सकता था, इसलिये यह सूत्र बनाया ॥ अग्ने आशा, पटो आशा यहाँ पूर्व सूत्रोक्तानुसार प्रश्नान्त (८।२।१००) अभिपूजितादि किसी अर्थ में प्लुत होकर पूर्व सूत्र से आकारादेश एवं उत्तरार्ध को इकार उकार होकर 'अग्ना ३ इ आशा, पटा ३ उ आशा' रहा। प्रकृत सूत्र से अच् परे रहते य् व् होकर अग्ना ३ याशा, पटा ३ वाशा आदि प्रयोग बन गये। अग्ना ३ इ इन्द्रम्, पटा ३ उ उदकम् यहाँ *अकः सवर्णे दीर्घः*

(६।१।९७) की दृष्टिमें इ उ असिद्ध होने से सवर्णदीर्घ नहीं होता, इसी से य् व् आदेश हो जाते हैं ॥

यहाँ से *'संहितायाम्'* का अधिकार अध्याय की समाप्ति पर्यन्त ८।४।६७ तक जायेगा ॥

॥ इति द्वितीयः पादः॥

—:०:—

तृतीयः पादः

मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि ॥८।३।१॥

मतुवसोः ६।२॥ रु लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ सम्बुद्धौ ७।१॥ छन्दसि ७।१॥ *स०*—मतुश्च वस् च मतुवसौ तयोः"'इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—संहितायाम्, पदस्य ॥ *अर्थः*—मत्वन्तस्य वस्वन्तस्य च पदस्य रुरित्ययमादेशो भवति संहितायां सम्बुद्धौ परतः छन्दसि विषये ॥ *उदा०*—मत्वन्तस्य—इन्द्र मरुत्व इह पाहि सोमम् (ऋ० ३।५१।७) हरिवो मेदिनं त्वा (ऋ० खिल० १०।१२८।१)। वस्वन्तस्य—मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृड (ऋ० २।३३।१४) ॥

भाषार्थः—[*मतुवसोः*] मत्वन्त तथा वस्वन्त पद को संहिता में [*सम्बुद्धौ*] सम्बुद्धि परे रहते [*छन्दसि*] वेद विषय में [*रु*] रु आदेश होता है ॥ हरिवो मेदिनम् की सिद्धि सूत्र ८।२।१५ में देखें। मरुत्व यहाँ भी उसी प्रकार मरुत् शब्द से मतुप् नुमागमादि एवं *झयः* (८।२।१०) से मतुप् को वत्व होकर मरुत्वन् रहा। न् को प्रकृत सूत्र से रु तथा उस रु को 'इह' परे रहते *भो भगो०* (८।३।१७) से य् एवं उस य् का *लोपः शाकल्यस्य* (८।३।१९) से लोप होकर 'मरुत्व इह' बना। 'मीढ्वस्तोकाय' की सिद्धि सूत्र ६।१।१२ में देखें। मिह् से लिट् के स्थान में क्वसु एवं निपातन से अद्विर्वचनादि करके मीढ्वन्स् सु = मीढ्वन् रहा। यह वस्वन्त पद है, अतः अन्त्य अल् को रुत्व हो गया, पश्चात् विसर्जनीय एवं सत्व हो गया ॥

यहाँ से 'रु' की अनुवृत्ति ८।३।१२ तक जायेगी ॥

अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा ॥८।३।२॥

अत्र अ० ॥ अनुनासिकः १।१॥ पूर्वस्य ६।१॥ तु अ० ॥ वा अ० ॥ अनु०—रु, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—इत उत्तरं यस्य स्थाने रुर्विधीयते ततः पूर्वस्य तु वर्णस्य वाऽनुनासिकादेशो भवतीत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ अधिकारसूत्रमिदम् ॥ *उदा०*— वक्ष्यति—समः सुटि— सँस्स्कर्त्ता, संस्स्कर्त्ता । सँस्स्कर्त्तुम् , संस्स्कर्त्तुम् । सँस्स्कर्त्तव्यम् संस्स्कर्त्तव्यम् ॥

भाषार्थः—[*अत्र*] यहाँ से आगे जिसको रु विधान करेंगे उससे [*पूर्वस्य*] पूर्व के वर्ण को [*तु*] तो [*वा*] विकल्प से [*अनुनासिकः*] अनुनासिक आदेश होता है, ऐसा अधिकार इस रुत्व विधान के प्रकरण में समझना चाहिये ॥ इस प्रकार इस सूत्र का अधिकार ८।३।१२ तक समझ लेना चाहिये । प्रत्येक सूत्रों में अनुवृत्ति में या सूत्रार्थ में इसे कहने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि यह इस 'रु प्रकरण' का सार्वत्रिक नियम है, जिसे एक स्थान पर समझने से काम चल जाता है ॥ 'रु' का यहाँ विभक्तिविपरिणाम से पञ्चमी में अर्थ होगा ॥ सँस्स्कर्त्ता अनुनासिक[1] होकर तथा पक्ष में जब अनुनासिक नहीं होगा तो ८।३।४ से अनुस्वार होकर संस्स्कर्त्ता प्रयोग बनेगा । अनुस्वार पक्ष में प्रयोगत्रय बनेंगे, यह हम *सुट् कात् पूर्वः* (६।१।१३१) सूत्र में सिद्धि सहित दिखा चुके हैं, वहीं देख लें । अनुनासिक पक्ष में भी दो सकार, तथा *अनचि च* (८।४।४६) से द्वित्व होकर तीन सकार वाले सँस्स्कर्त्ता सँस्स्स्कर्त्ता प्रयोग बनते हैं । हमने उदाहरणों में द्विसकारक ही प्रयोग दर्शा दिये हैं, किन्तु इनके सकार भेद से अनुनासिक पक्ष में दो[2] एवं अनुस्वार पक्ष में ३ प्रयोग होकर (देखो ६।१।१३१) कुल ५ प्रयोग बनेंगे ऐसा जानें ॥ *वा शरि* (८।३।३६) में व्यवस्थित विभाषा होने से यहाँ विसर्जनीय पक्ष नहीं बनता, इसका विशेष व्याख्यान द्वितीयावृत्ति का विषय है ॥

---

१. वर्णोच्चारणशिक्षा में ँ इस चिह्न से युक्त वर्ण की अनुनासिक संज्ञा कही है ।

२. *समो वा लोपमेक इच्छन्ति* (भा० वा० ८।२।५) इस वार्त्तिक से वस्तुतः अनुनासिक पक्ष में भी 'म्' लोप होने से एक सकार होकर प्रयोगत्रय होते हैं । इस प्रकार कुल ६ प्रयोग हुये ॥

आतोऽटि नित्यम् ॥८।३।३॥

आतः ६।१॥ अटि ७।१॥ नित्यम् १।१॥ *अनु०*—अनुनासिकः पूर्वस्य, रु, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अटि परतो रोः पूर्वस्याकारस्य स्थाने नित्यमनुनासिकादेशो भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—महाँ असि (ऋ० ६।६६।१६-३।४६।२) महाँ इन्द्रो य ओजसा (ऋ० ८।६।१) । देवाँ अच्छा दीद्यत् (ऋ० ३।१।१) ॥

भाषार्थः—[*अटि*] अट् परे रहते रु से पूर्व [*आतः*] आकार को [*नित्यम्*] नित्य [१]अनुनासिक आदेश होता है ॥ महान् देवान् के न् को *दीर्घादटि समानपादे* (८।३।९) से रु हुआ है, अतः उस 'रु' से पूर्व आ को विकल्प से अनुनासिक पूर्व सूत्र से प्राप्त था, नित्य विधान करने के लिये यह सूत्र है ॥ रु को य् (८।३।१७) एवं उसका लोप पूर्ववत् उदाहरणों में हो ही जायेगा ॥

अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः ॥८।३।४॥

अनुनासिकात् ५।१॥ परः १।१॥ अनुस्वारः १।१॥ *अनु०*- पूर्वस्य, रु, संहितायाम् ॥ *अर्थः*-रोः पूर्वोऽनुनासिकादन्यो यो वर्णः = यस्यानुनासिको न विहितस्ततः परोऽनुस्वार आगमो भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—संस्कर्त्ता, संस्कर्त्तव्यम् । पुंस्कामा, भवांश्चरति ॥

भाषार्थः—रु से पूर्व वर्ण जो [*अनुनासिकात्*] अनुनासिक से अन्य है, अर्थात् जिसे अनुनासिक नहीं विधान किया उससे [*परः*] परे [*अनुस्वारः*] अनुस्वार आगम होता है संहिता में ॥ 'अन्य' शब्द का अध्याहार करके सूत्रार्थ यहाँ सम्पन्न होगा ॥ जिस पक्ष में *अत्रानुनासिकः पूर्वस्य०* (८।३।२) से अनुनासिक आदेश नहीं होता, उस पक्ष में अनुस्वार आगम हो जायेगा ऐसा जानें, क्योंकि तभी रु से पूर्व अनुनासिक से अन्य वर्ण मिल सकेगा ॥ सिद्धि प्रकार एवं विशेष परिज्ञान के लिये ८।३।२ एवं ६।१।१३१ सूत्र देखें ॥

समः सुटि ॥८।३।५॥

समः ६।१॥ सुटि ७।१॥ *अनु०*—रु, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—

---

१. नित्य ग्रहण प्रायिकत्व द्योतनार्थ है, अतः क्वचित् अनुस्वार भी देखा जाता है । 'वा' ग्रहण से समान कोटिक विकल्प होता है ।

सम इत्येतस्य रुर्भवति सुटि परतः संहितायां विषये ॥ उदा०—संस्कर्त्ता संस्कर्त्तुम्, संस्कर्त्तव्यम् ॥

भाषार्थः—[*समः*] सम् को रु होता है [*सुटि*] सुट् परे रहते संहिता विषय में ॥ *अलोन्त्यस्य* (१।१।५१) से अन्त्य अल् को रु होगा ॥ अनुस्वार एवं अनुनासिक तथा सकार के भेद से कुल ६ प्रयोग बनते हैं जो कि सूत्र ८।३।२ एवं ६।१।१३१ में दिखा दिये हैं ॥

पुमः खय्यम्परे ॥८।३।६॥

पुमः ६।१॥ खयि ७।१॥ अम्परे ७।१॥ *स०*—अम् (प्रत्याहार) परो यस्मात् स अम्परस्तस्मिन्...बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—रु, पदस्य, संहितायाम्॥ *अर्थः*—पुम् इत्येतस्य रुर्भवति अम्परे खयि परतः संहितायाम् ॥ उदा०—पुंसि कामोऽस्याः पुँस्कामा पुँस्स्कामा, पुंस्कामा, पुंस्स्कामा। पुँस्पुत्रः, पुँस्स्पुत्रः, पुंस्पुत्रः, पुंस्स्पुत्रः। पुंसः चली पुँश्चली, पुँश्श्चली, पुंश्चली, पुंश्श्चली ॥

भाषार्थः—[*अम्परे*] अम् प्रत्याहार परे है जिससे ऐसे [*खयि*] खय् (प्रत्याहार) के परे रहते [*पुमः*] पुम् को (अन्त्य अल् को) रु होता है संहिता में ॥ 'पुम् कामा' यहाँ पुम् से परे क् खय् प्रत्याहार में तथा उससे परे 'आ' अम् में है, अतः अम्परक खय् परे रहते म् को रु हो गया। पूर्ववत् रु को विसर्जनीय तथा *वा शरि* (८।३।३६) से सत्व करके पूर्व वर्ण को पक्ष में अनुनासिक एवं अनुस्वार तथा पक्ष में *अनचि च* (८।४।४६) से स् को द्वित्व करने के भेद से चार प्रयोग बनेंगे। इसी प्रकार सबमें जानें। पुँश्चली आदि में स् को *स्तोः श्चुना श्चुः* (८।४।३९) से श् भी हुआ है ॥ पुँस्कामा आदि में *कुप्वो ≍क≍ पौ च* (८।३।३७) की प्रवृत्ति व्यवस्थित विभाषा होने से नहीं होती, यथा ८।३।२ के उदाहरणों में *वा शरि* से पाक्षिक विसर्जनीय नहीं हुआ था ॥

यहाँ से '*अमपरे*' की अनुवृत्ति ८।३।८ तक जायेगी ॥

नश्छव्यप्रशान् ॥८।३।७॥

नः ६।१॥ छवि ७।१ ॥ अप्रशान् १।१, षष्ठ्यर्थे प्रथमा ॥ *स०*—न प्रशान् अप्रशान्, नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अम्परे, रु, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—प्रशान्वर्जितस्य नकारान्तस्य पदस्य रुर्भवत्यम्परे छवि

परतः संहितायां विषये ।। उदा०—भवाँश्छादयति, भवांश्छादयति । भवाँश्चिनोति, भवांश्चिनोति । भवाँष्टीकते, भवांष्टीकते । भवाँस्तरति, भवांस्तरति ।।

भाषार्थः—[*अप्रशान्*] प्रशान् को छोड़कर जो [*नः*] नकारान्त पद उनको अम्परक [*छवि*] छव् प्रत्याहार परे रहते रु होता है, संहिता में ।। पूर्ववत् यहाँ भी द्वित्व करके चार चार प्रयोग बनेंगे, अनुनासिक एवं अनुस्वार का दिखा ही दिया है । रु को विसर्जनीय एवं ८।३।३४ से पूर्ववत् सत्व करके यथाप्राप्त श्चुत्व ष्टुत्व हुये हैं । शेष सब पूर्ववत् है ।।

यहाँ से '*नः*' की अनुवृत्ति ८।३।१२ तक तथा '*छवि*' की ८।३।८ तक जायेगी ।।

उभयथर्क्षु ।।८।३।८।।

उभयथा अ० ।। ऋक्षु ७।३।। *अनु०*—नश्छवि, अम्परे, रु, पदस्य, संहितायाम् ।। *अर्थः*—नकारान्तस्य पदस्याम्परे छवि परत उभयथा ऋक्षु भवति—रुर्वा नकारो वा ।। पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्प्यते ।। *उदा०*—तस्मिंस्त्वा दधाति । तस्मिँस्त्वा दधाति । तस्मिन्त्वा दधाति ।।

भाषार्थः—नकारान्त पद को अम्परक छव् प्रत्याहार परे रहते [*ऋक्षु*] पादयुक्त मन्त्रों[1] में [*उभयथा*] दोनों प्रकार से होता है, अर्थात् एक पक्ष में रु एवं पक्ष में नकार ही रहता है ।। पूर्व सूत्र से नित्य प्राप्त था, विकल्प कर दिया ।। पूर्ववत् छव् त् से परे अम् प्रत्याहार व् परे है ही, अतः विकल्प हो गया ।।

यहाँ से '*ऋक्षु*' की अनुवृत्ति ८।३।९ तक जायेगी ।।

दीर्घादटि समानपादे ।।८।३।९।।

दीर्घात् ५।१।। अटि ७।१।। समानपादे ७।१।। *स०*—समानश्च असौ पादश्च समानपादस्तस्मिन् ''कर्मधारयस्तत्पुरुषः ।। *अनु०*—ऋक्षु, नः, रु, पदस्य, संहितायाम् ।। *अर्थः*—दीर्घादुत्तरस्य पदान्तस्य नकारस्य ऋक्षु

---

१. ऋक् शब्द से पादबद्ध मन्त्रों का ग्रहण होता है, केवल ऋग्वेद का ही नहीं। ऋक् का लक्षण जैमिनि ने 'यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋक्' (मी० २।१।३५) अर्थात् जिन मन्त्रों में अर्थानुकूल पादव्यवस्था होती है वे ऋक् शब्द वाच्य होते हैं, किया है ।

रुर्भवत्यटि परतस्तौ चेन्निमित्तनिमित्तिनौ समानपादे भवतः ॥ *उदा०*—परिधीँ रति (ऋ० ९।१०७।१९) । देवाँ अच्छा दीद्यत् (ऋ० ३।१।१) महाँ इन्द्रो य ओजसा (ऋ० ८।६।१) ॥

भाषार्थः—[*दीर्घात्*] दीर्घ से उत्तर नकारान्त पद को [*अटि*] अट् परे रहते पादबद्ध मन्त्रों में रु होता है, यदि निमित्त (जिसको मानकर कार्य हो) तथा निमित्ति (अर्थात् जिसको विधि करनी है) दोनों [*समानपादे*] एक ही पाद में हों ॥ समान शब्द का यहाँ एक अर्थ गृहीत है, तथा पाद से ऋचा (मन्त्र) का पाद लिया जायेगा ॥ सर्वत्र उदाहरणों में *आतोऽटि नित्यम्* (८।३।३) से नित्य ही रु से पूर्व वर्ण को अनुनासिक हुआ है ॥

नॄन्पे ॥८।३।१०॥

नॄन् लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ पे ७।१॥ *अनु०*—नः, रु, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—नॄन् इत्येतस्य नकारस्य रुर्भवति पशब्दे परतः संहितायां विषये ॥ *उदा०*—नॄँः पाहि, नॄंः पाहि । नॄँः प्रीणीहि, नॄंः प्रीणीहि ॥

भाषार्थः—[*नॄन्*] नॄन् शब्द के नकार को [*पे*] प परे रहते रु होता है ॥ 'प' में अकार उच्चारणार्थ है ॥ रु को विसर्जनीय (८।३।१५) होकर उस विसर्जनीय को पक्ष में प् परे रहते उपध्मानीय आदेश होकर तथा पक्ष में विसर्जनीय ही रहकर नॄँः पाहि नॄँ≍पाहि दो प्रयोग बनेंगे । उनके भी अनुनासिक एवं अनुस्वार का भेद करके दो प्रयोग होंगे । इस प्रकार कुल ४ प्रयोग बनेंगे, ऐसा जानें । मूल उदाहरणों में दो ही दर्शाये हैं ॥

स्वतवान्पायौ ॥८।३।११॥

स्वतवान्, लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ पायौ ७।१॥ *अनु०*—नः, रु, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—स्वतवान् इत्येतस्य नकारस्य रुर्भवति, पायुशब्दे परतः संहितायां विषये ॥ *उदा०*—भुवस्तस्य स्वतवाँः पायुरग्ने (ऋ० ४।२।६) ॥

भाषार्थः—[*स्वतवान्*] स्वतवान् शब्द के नकार को रु होता है [*पायौ*] पायु शब्द परे रहते ॥ स्वतवान् यह वैदिक उदाहरण है, अतः

इसका अनुस्वार एवं उपध्मानीय पक्ष का उदाहरण वैदिक प्रयोगों में प्राप्त होने पर ही देना शक्य है ॥सिद्धि सूत्र ७।१।८३ में देखें ॥

कानाम्रेडिते ॥८।३।११॥

कान्, लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ आम्रेडिते ७।१॥ अनु०—नः, रु, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—कान् इत्येतस्य नकारस्य रुर्भवति, आम्रेडिते परतः संहितायां विषये ॥ उदा०—कांस्कानामन्त्रयते । कांस्कान्भोजयति । काँस्कानामन्त्रयते, काँस्कान्भोजयति ॥

भाषार्थः- [*कान्*] कान् शब्द के नकार को रु होता है [*आम्रेडिते*] आम्रेडित परे रहते ॥ किम् शब्द के द्वितीया बहुवचन का 'कान्' रूप है, वीप्सा अर्थ में (८।१।४) द्वित्व होकर कान् कान् (किस किसको) बना । अब कान् आम्रेडित के परे रहते पूर्व वाले कान् के न् को रुत्व एवं रु को विसर्जनीय तथा *विसर्जनीयस्य सः* (८।३।३४) से विसर्जनीय को सत्व एवं पूर्व वर्ण को अनुनासिक, अनुस्वार होकर कांस्कान् बन गया । यहाँ कांस्कान् का कस्कादि गण में पाठ मानने से पक्ष में *कुप्वोः ≍क≍पौ* च (८।३।३७) से जिह्वामूलीय आदेश नहीं होता । क्योंकि कस्कादि गण में पढ़े होने से *कस्कादिषु* च (८।३।४८) से सकार को सकार ही रहता है, अर्थात् जिह्वामूलीय नहीं होता ॥

ढो ढे लोपः ॥८।३।१२॥

ढः ६।१॥ ढे ७।१॥ लोपः १।१॥ *अनु०*—संहितायाम् ॥ *अर्थः*—ढकारे परतो ढकारस्य लोपो भवति संहितायां विषये ॥ उदा०—लीढम्, उपगूढम् ॥

भाषार्थः—[*ढे*] ढकार परे रहते [*ढः*] ढकार का [*लोपः*] लोप होता है संहिता में ॥ सिद्धियाँ सूत्र ६।३।१०९ में देखें ॥

यहाँ से '*लोपः*' की अनुवृत्ति ८।३।१४ तक जायेगी ॥

रो रि ॥८।३।१४॥

रः ६।१॥ रि ७।१॥ अनु०—लोपः, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—पदस्य रेफस्य रेफे परतो लोपो भवति संहितायां विषये ॥ उदा०—नीर-

क्तम्, दूरक्तम्, अग्नी रथः, इन्दू रथः, पुना रक्तं वासः, प्राता राजक्रयः, अजर्घाः ॥

भाषार्थः—पद के [*रः*] रेफ का [*रि*] रेफ परे रहते लोप होता है संहिता में ॥ पद के रेफ कहने से पद के अवयवरूप पदान्त अपदान्त सभी रेफों का लोप होता है ॥ नीरक्तम् आदि की सिद्धि सूत्र ६।३।१०६ में तथा अजर्घाः की परि० ८।२।३७ में देखें। यहाँ अपदान्त रेफ का लोप हुआ है ॥

यहाँ से 'रः' की अनुवृत्ति ८।३।१७ तक जायेगी ॥

खरवसानयोर्विसर्जनीयः ॥८।३।१५॥

खरवसानयोः ७।२॥ विसर्जनीयः १।१॥ *स०*—खर् च अवसानं च खरवसाने, तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—रः, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—रेफान्तस्य पदस्य खरि परतोऽवसाने च विसर्जनीयादेशो भवति संहितायां विषये ॥ *उदा०*—वृक्षश्छादयति, प्लक्षश्छादयति, वृक्षस्तरति, प्लक्षस्तरति। अवसाने— वृक्षः, प्लक्षः ॥

भाषार्थः—रेफान्त पद को [*खरवसानयोः*] खर् परे रहते तथा अवसान में [*विसर्जनीयः*] विसर्जनीय आदेश होता है संहिता में ॥ वृक्षश्छादयति आदि में वृक्ष के सु का रुत्व विसर्जनीय होकर उस विसर्जनीय को *विसर्जनीयस्य सः* (८।३।३४) से सत्व होकर श्चुत्व हुआ है। वृक्षः के स्वाद्युत्पत्ति आदि की प्रक्रिया परि० १।१।१ के भागः के समान जानें। *विरामोऽवसानम्* (१।४।१०९) से अवसान संज्ञा होती है। *अलोऽन्त्यस्य* (१।१।५१) से अन्त्य अल् रेफ को ही विसर्जनीय सर्वत्र होगा ॥

यहाँ से '*विसर्जनीयः*' की अनुवृत्ति ८।३।१६ तक जायेगी ॥

रोः सुपि ॥८।३।१६॥

रोः ६।१॥ सुपि ७।१॥ *अनु०*—विसर्जनीयः, रः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—रु इत्येतस्य रेफस्य सुपि परतो विसर्जनीयादेशो भवति। *उदा०*—पयस्—पयःसु। सर्पिस्—सर्पिःषु। यशस्—यशःसु ॥

भाषार्थः—[*रोः*] 'रु' के रेफ को [*सुपि*] सुप् परे रहते विसर्जनीय आदेश होता है ॥ 'सुपि' से यहाँ सप्तमीबहुवचन सुप् विभक्ति का ग्रहण है, न कि २१ सुपों का ॥ पूर्व सूत्र से ही रु के रेफ को विसर्जनीय आदेश सिद्ध था पुनर्वचन नियमार्थ है, अर्थात् सुप् (७।३) परे रहते रु के रेफ को ही विसर्जनीय हो, अन्य किसी रेफ को न हो ॥ सर्पिःषु में *नुम्विसर्ज०* (८।३।५८) से षत्व हुआ है। पयस् + सु = पय रु सु = पयर् सु = पयःसु ॥

यहाँ से '*रोः*' की अनुवृत्ति ८।३।१७ तक जायेगी ॥

भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि ॥८।३।१७॥

भोभगोअघोअपूर्वस्य ६।१॥ यः १।१॥ अशि ७।१॥ *स०*—भोश्च भगोश्च अघोश्च अश्च भोभगोअघोआः, इतरेतरद्वन्द्वः। भोभगोअघोआः पूर्वाः यस्य स भोभ...अपूर्वस्तस्य...बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—रोः, रः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—भो, भगो, अघो इत्येवं पूर्वस्य अवर्णपूर्वस्य च रोः रेफस्य यकारादेशो भवति, अशि परतः संहितायां विषये ॥ *उदा०*—भो अत्र। भगो अत्र। अघो अत्र। भो ददाति, भगो ददाति, अघो ददाति। अवर्णपूर्वस्य—क आस्ते, ब्राह्मणा ददति, पुरुषा ददति ॥

भाषार्थः—[*भोभ...पूर्वस्य*] भो भगो अघो तथा अवर्ण पूर्व में है जिस रु के उस रु के रेफ को [*यः*] यकार आदेश होता है [*अशि*] अश् परे रहते ॥ भो सु अत्र = भो र् अत्र = र् को य् होकर भो य् अत्र = यहाँ य् का लोप *ओतो गार्ग्यस्य* (८।३।२०) से हो गया तो भो अत्र बना। भो य् ददाति में *हलि सर्वेषाम्* (८।३।२२) से य् का लोप हुआ है। इसी प्रकार भगो अत्र, भगो ददाति आदि में जानें। 'क र् आस्ते' आदि में र् से पूर्व अवर्ण तथा अश् परे है। ब्राह्मणा ददति प्रयोग बहुवचन जस् में हैं ॥ *भोभगोअघो०* यहाँ सूत्र में सन्धि कार्य सौत्र मानकर नहीं हुये ॥

यहाँ से '*भोभगोअघोअपूर्वस्य*' की अनुवृत्ति ८।३।२२ तक तथा '*अशि*' की ८।३।२० तक जायेगी ॥

व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य ॥८।३।१८॥

व्योः ६।२॥ लघुप्रयत्नतरः १।१॥ शाकटायनस्य ६।१॥ *स०*—वश्च यश्च व्यौ तयोः...इतरेतरद्वन्द्वः। लघुः प्रयत्नो यस्य स लघुप्रयत्नः, बहुव्रीहिः। अतिशयेन लघुप्रयत्नो लघुप्रयत्नतरः ॥ *अनु०*—भोभगो-

अघोअपूर्वस्य, अशि, पदान्तस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—भोभ
अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोः वकारयकारयोर्लघुप्रयत्नतर आदेशो
अशि परतः शाकटायनस्याचार्यस्य मतेन ॥ लघुप्रयत्नतरत्वम्
स्थानकरणशैथिल्यम् ॥ *उदा०*—भोयत्र, भगोयत्र, अघोयत्र ।
पूर्वस्य—कयास्ते, क आस्ते । काक आस्ते, काकयास्ते । अस्मायुद्ध
उद्धर । असावादित्यः, असा आदित्यः । द्वावत्र, द्वा अत्र । इ
द्वा आनय ॥

भाषार्थः—भो भगो अघो तथा अवर्ण पूर्ववाले जो प
[*व्योः*] वकार यकार उनको [*लघुप्रयत्नतरः*] लघुप्रयत्नतर
होता है अश् परे रहते [*शाकटायनस्य*] शाकटायन आचा
में ॥ उच्चारण में स्थान (तालु आदि) करण (जिह्वामूलादि) व
लता, अर्थात् जिसके उच्चारण में थोड़ा बल पड़े उसे लघुप्रय
हैं, अतिशय लघुप्रयत्न लघुप्रयत्नतर कहाता है । यह वर्ण
शिक्षा का विषय है । इस प्रकार उदाहरणों में पूर्व सूत्र से य् होकर
प्रयत्नतर आदेश करने पर *स्थानेऽन्तरतमः* (१।१।४९) से य् को य्
व् ही लघुप्रयत्नतर आदेश हुआ, अर्थात् लोप नहीं हुआ । अस्मै
लेकर आगे के सब उदाहरणों में *एचोऽयवायावः* (६।१।७५) से
होकर य् व् को लघुप्रयत्नतर आदेश हुआ है, शेष में पूर्व सूत्र
है । य् व् का उत्तर सूत्र ८।३।१९ से शाकल्य के मत में लोप व
शाकल्य ग्रहण वहाँ विकल्पार्थ है, अतः लोप एवं लघुप्रयत्नतर
(विकल्प) कयास्ते आदि में दिखाये हैं । ओकार से उत्तर 'अल

---

१. *भोभगोअघो०* सूत्र से विहित य् अलघुप्रयत्नतर = सामान्यः
है उसका लोपः शाकल्यस्य से विकल्प से लोप होता है । अलोप पक्ष
लघुप्रयत्नतर आदेश हो जाता है । ओकारान्तों से गार्ग्य के मत में
होता है ।

वस्तुतः य् व् का त्रिविध उच्चारण होता है । पदादि में पूर्णप्रयत्न
में लघुप्रयत्न से, पदान्त में लघुतर प्रयत्न से यह त्रिविध उच्चारण स्वा
इसे ही याज्ञवल्क्य शिक्षा में क्रमशः गुरु लघु और लघुतर कहा है ।
वकारोच्चारण को दर्शाने के लिए माध्यन्दिनपाठ में द्वित्व रूप से लिख
'व्वायवस्थ' । पदादि यकार को भी पुरा काल में द्वित्व रूप से ही

य् व् का *ओतो गार्ग्यस्य* (८।३।२०) से नित्य लोप होता है सो उसके भो अत्र आदि रूप बनेंगे। लघुप्रयत्नतर आदेश वाले य् व् के तो भोयत्र भगोयत्र ही रूप बनेंगे, अतः इनके पाक्षिक रूप नहीं दर्शाये हैं॥

यहाँ से '*व्योः*' की अनुवृत्ति ८।३।२२ तक जायेगी॥

लोपः शाकल्यस्य ॥८।३।१९॥

लोपः १।१॥ शाकल्यस्य ६।१॥ *अनु०*—व्योः, अपूर्वस्य अशि, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—पदान्तयोर्वकारयकारयोरवर्णपूर्वयोर्लोपो भवति शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन अशि परतः॥ *उदा०*—क आस्ते, कयास्ते। काक आस्ते, काकयास्ते। अस्मा उद्धर, अस्मायुद्धर। द्वा अत्र, द्वावत्र। असा आदित्यः, असावादित्यः॥

भाषार्थः—अवर्ण पूर्व वाले पदान्त यकार वकार का [*शाकल्यस्य*] शाकल्य आचार्य के मत में [*लोपः*] लोप होता है॥ सिद्धियाँ पूर्व सूत्र में ही देख लें॥

विशेषः—शाकल्य ग्रहण विकल्पार्थ है। उसके विना भी पूर्व सूत्र में लघुप्रयत्नतर आदेश एवं इस सूत्र में लोप कह देने से दो पक्ष सिद्ध ही थे, पुनः शाकल्य ग्रहण के विकल्प से (अर्थात् पाणिनि मुनि के मतानुसार) लोप विकल्प होकर अलघुप्रयत्नतर का एक पक्ष में लोप एवं एक पक्ष में श्रवण होकर तीन प्रयोग बनते हैं अर्थात्—एक पक्ष लघुप्रयत्नतर आदेश का, एवं द्वितीय अलघुप्रयत्नतर के लोप तथा तृतीय अलघुप्रयत्नतर के श्रवण का॥

यहाँ से '*लोपः*' की अनुवृत्ति ८।३।२२ तक जायेगी॥

ओतो गार्ग्यस्य ॥८।३।२०॥

ओतः ५।१॥ गार्ग्यस्य ६।१॥ *अनु०*—लोपः, व्योः, अशि, पदस्य,

था 'य्यजमानस्य' (द्र० हमारा सं० १४७१ का पदपाठ)। उत्तर काल में यकार को षकार के समान मध्योदररेखा से युक्त लिखने की परिपाटी चल पड़ी। पदादि यकार को गुरु उच्चारण करते हुए ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न के स्थान पर प्रमाद से निर्हत = प्रयत्नाधिक्य रूप दोष से स्पृष्ट प्रयत्न में परिणति हो जाने से यजुर्वेद में य् के स्थान में जकार का उच्चारण होने लग गया। अपभ्रंशों में पदादि यकार के जकार में परिणति का भी यही कारण है यथा—जमुना जजमान। यु० मी०॥

संहितायाम् ।। *अर्थः*—ओकारादुत्तरस्य यकारस्य लोपो भवति गार्ग्यस्याचार्यस्य मतेनाशि परतः ।। *उदा०*—भो अत्र, भगो अत्र भो इदम्, भगो इदम् ।। नित्यार्थोऽयमारम्भः, ओकारात् परस्य वकारस्यासंभवात् यकारस्य नित्यं लोप एव भवति न लघुप्रयत्नतरादेश इति ।।

भाषार्थः—[*ओतः*] ओकार से उत्तर यकार का लोप होता है [*गार्ग्यस्य*] गार्ग्य आचार्य के मत में ।। ओकार से उत्तर 'व्' का सम्भव ही न होने से केवल य् का सम्बन्ध सूत्रार्थ में किया है । प्रकृत भो भगो अघो के ओकार से उत्तर य् का लोप उदाहरणों में हुआ है ।। यहाँ गार्ग्य ग्रहण पूजार्थ है, अतः नित्य ही लोप होता है ।।

विशेषः—पूर्व सूत्र में ही 'भोभगोअघो' की अनुवृत्ति आकर लोप सिद्ध था, पुनः यह नित्यार्थ सूत्र है सो य् का नित्य लोप हो जाता है, लघुप्रयत्नतर यकारादेश (८।३।१८) भी नहीं होता । इस विषय में ८।३।१८ सूत्र की टिप्पणी द्रष्टव्य है ।।

उञि च पदे ।।८।३।२१।।

उञि ७।१।। च अ० ।। पदे ७।१।। *अनु०*—लोपः, व्योः, अपूर्वस्य, संहितायाम् ।। *अर्थः*—अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्व्योर्लोपो भवति उञि च पदे परतः ।। *उदा०*—स उ एकविंशतिः, स उ एकाग्निः ।।

भाषार्थः—अवर्ण पूर्व वाले पदान्त य् व् का [*उञि*] उञ् [*पदे*] पद के परे रहते [*च*] भी लोप होता है ।। *लोपः शाकल्यस्य* से विकल्प से लोप प्राप्त था, नित्यार्थ यह सूत्र है, अतः लघुप्रयत्नतर आदेश नहीं होता ।।

हलि सर्वेषाम् ।।८।३।२२।।

हलि ७।१।। सर्वेषाम् ६।३।। *अनु०*—लोपः, व्योः, भोभगोअघोअपूर्वस्य, पदस्य, संहितायाम् ।। *अर्थः*—भोभगोअघोअपूर्वस्य पदान्तस्य यकारस्य हलि परतो सर्वेषामाचार्याणां मतेन लोपो भवति ।। *उदा०*—भो हसति । भगो हसति । अघो हसति । भो याति । भगो याति । अघो याति । बालका हसन्ति ।।

भाषार्थः—भो, भगो, अघो तथा अवर्ण पूर्व वाले पदान्त यकार का [*हलि*] हल् परे रहते [*सर्वेषाम्*] सब आचार्यों के मत में लोप होता है ।।

विशेषः—'सर्वेषाम्' ग्रहण से शाकटायन के मत में भी हल् परे रहते लोप होता है, अर्थात् लघुप्रयत्नतर नहीं होता ॥

यहाँ से '*हलि*' की अनुवृत्ति ८।३।२३ तक जायेगी ॥

मोऽनुस्वारः ॥८।३।२३॥

मः ६।१॥ अनुस्वारः १।१॥ *अनु०*—हलि, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*— पदान्तस्य मकारस्य अनुस्वारादेशो भवति हलि परतः ॥ *उदा०*— कुण्डं हसति, वनं हसति । कुण्डं याति, वनं याति ॥

भाषार्थः—पदान्त [*मः*] मकार को [*अनुस्वारः*] अनुस्वार आदेश होता है, हल् परे रहते, सन्धि करने में[1] ॥

यहाँ से '*अनुस्वारः*' की अनुवृत्ति ८।३।२४ तक तथा '*मः*' की ८।३।२६ तक जायेगी ॥

नश्चापदान्तस्य झलि ॥८।३।२४॥

नः ६।१॥ च अ० ॥ अपदान्तस्य ६।१॥ झलि ७।१॥ *स०*—पदस्य अन्तः पदान्तः, षष्ठीतत्पुरुषः । न पदान्तोऽपदान्तस्तस्य ''नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—मोऽनुस्वारः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—नकारस्य मकारस्य चापदान्तस्यानुस्वारादेशो भवति, झलि परतः ॥ *उदा०*—नकारस्य—पयांसि, यशांसि । सर्पींषि, धनूंषि । मकारस्य—आक्रंस्यते, आचिक्रंसते, अधिजिगांसते ॥

---

१. इस सूत्र से जो अनुस्वार होता है उसको *वा पदान्तस्य* (८।४।५८) से परसवर्ण आदेश विकल्प से होता है । उत्तर सूत्र से होने वाले अनुस्वार को *अनुस्वारस्य०* (८।४।५७) से नित्य परसवर्ण होता है । वेद में पदान्त अनुस्वार का परसवर्ण भी व्यवस्थित है । तदनुसार ऋग्वेद में अनुस्वार रहता है, शुक्ल यजुर्वेद में नित्य परसवर्ण होता है । (यहाँ वैदिक पाठ ही अभिप्रेत है, योरोपियन संस्करण तथा उनके आधार पर छपे अन्य संस्करणों में पदान्त में अनुस्वार देखा जाता है वह वैदिक पाठ से विपरीत है) अपदान्त में तो नित्य परसवर्ण होता ही है । तदनुसार यजुर्वेद में केवल 'र श ष स ह' इन पाँच वर्णों के परे ही अनुस्वार रहता है । यजुर्वेद में अनुस्वार का भी गुरु लघु भेद से द्विविध उच्चारण होता है, अतः यजुर्वेद में र श ष स ह से पूर्व प्रयुक्त विशिष्ट चिह्न अनुस्वार के ही द्विविध उच्चारण के द्योतक हैं स्वतन्त्र वर्ग नहीं हैं । 'ग्वम्' ऐसा उच्चारण तो सर्वथा ही अशास्त्रीय है । यु० मी० ॥

भाषार्थः—[*अपदान्तस्य*] अपदान्त [*नः*] नकार [*च*] तथा चकार से मकार को भी [*झलि*] झल् परे रहते अनुस्वार आदेश होता है ॥ पयांसि, यशांसि आदि की सिद्धि परि० १।१।४६ में देखें। आङ् पूर्वक क्रम् धातु के लृट् लकार में *आङ उद्गमने* (१।३।४०) से आत्मनेपद होकर आक्रंस्यते तथा सन् में *पूर्ववत्सनः* (१।३।६२) से आत्मनेपद होकर आचिक्रंसते बना है। अधिजिगांसते की सिद्धि सूत्र २।४।४८ में देखें यहाँ तीनों स्थलों में मकार को अनुस्वार हुआ है ॥

मो राजि समः क्वौ ॥८।३।२५॥

मः ६।१॥ राजि ७।१॥ समः ६।१॥ क्वौ ७।१॥ *अनु०*—मः, पदस्य संहितायाम् ॥ *अर्थः*—समो मकारस्य मकार आदेशो भवति, क्विप्प्रत्ययान्ते राजृधातौ परतः ॥ *उदा०*—सम्राट्, साम्राज्यम् ॥

भाषार्थः—[*समः*] सम् के [*मः*] मकार को मकारादेश [*क्वौ*] क्विप् प्रत्ययान्त [*राजि*] राजृ धातु के परे रहते होता है ॥ सम्राट् की सिद्धि परि० ३।२।६१ में देखें। साम्राज्यम् में क्विबन्त सम्राज् शब्द से गुणवचनब्रा० (५।१।१२३) से ष्यञ् प्रत्यय हुआ है। यहाँ *नश्चापदान्तस्य* से अनुस्वार की प्राप्ति थी, मकार को मकार कहने से नहीं हुआ ॥ मकार को मकारवचन पूर्व सूत्रों से प्राप्त अनुस्वार के निवृत्त्यर्थ है ॥

यहाँ से '*मः*' की अनुवृत्ति ८।३।२७ तक जायेगी ॥

हे मपरे वा ॥८।३।२६॥

हे ७।१॥ मपरे ७।१॥ वा अ० ॥ *स०*—मः परो यस्मात् स मपरस्तस्मिन् ''बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*— मः, मः, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः* मकारपरे हकारे परतो पदान्तस्य मकारस्य वा मकार आदेशो भवति *उदा०*—किम् ह्मलयति, किं ह्मलयति। कथम् ह्मलयति, कथं ह्मलयति

भाषार्थः—[*मपरे*] मकार परे है जिससे ऐसे [*हे*] हकार के परे रहते पदान्त मकार को [*वा*] विकल्प से मकारादेश होता है ॥ पक्ष में पूर्व सूत्र से प्राप्त (८।३।२३) अनुस्वार हो जायेगा ॥ किम्, कथम् परे ह्मलयति में मकारपरक हकार है, अतः विकल्प हो गया ॥

यहाँ से '*हे*' की अनुवृत्ति ८।३।२७ तक तथा '*वा*' की ८।३ तक जायेगी ॥

नपरे नः ॥८।३।२७॥

नपरे ७।१॥ नः १।१॥ *स०*—नः परो यस्मात् स नपरस्तस्मिन्''' बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—हे, वा, मः, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—नकारपरे हकारे परतो पदान्तस्य मकारस्य वा नकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—किन्ह्नुते, किंह्नुते । कथन्ह्नुते, कथं ह्नुते ॥

भाषार्थः—[*नपरे*] नकारपरक हकार परे रहते पदान्त मकार को विकल्प से [*नः*] नकारादेश होता है ॥ पक्ष में अनुस्वार हो जायेगा ॥

ङ्णोः कुक्टुक् शरि ॥८।३।२८॥

ङ्णोः ६।२॥ कुक्टुक् १।१॥ शरि ७।१॥ *स०*—ङश्च णश्च ङ्णौ, तयोः''' इतरेतरद्वन्द्वः । कुक् च टुक् च कुक्टुक्, समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—वा, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—पदान्तयोः ङकारणकारयोः क्रमेण कुक् टुक् इत्येतावागमौ विकल्पेन भवतः शरि परतः ॥ *उदा०*—ङकारस्य—प्राङ्क्शेते, प्राङ् शेते । प्राङ्क्षष्ठः, प्राङ् षष्ठः । प्राङ्क्साये, प्राङ् साये । णकारस्य—वण्ट्शेते, वण् शेते ॥

भाषार्थः—पदान्त [*ङ्णोः*] ङकार तथा णकार को यथासङ्ख्य करके [*कुक्टुक्*] कुक् तथा टुक् आगम विकल्प करके [*शरि*] शर् प्रत्याहार परे रहते होता है ॥ प्राङ् आदि ङकारान्त पद हैं, सो शेते आदि के परे रहते कुक् आगम अन्त को (१।१।४५) होकर प्राङ् कुक् शेते = प्राङ्क्-शेते बना । वण् को टुक् होकर वण्ट्शेते बन गया ॥

डः सि धुट् ॥८।३।२९॥

डः ५।१॥ सि ७।१॥ धुट् १।१॥ *अनु०*—वा, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—डकारान्तात् पदादुत्तरस्य सकारादेः पदस्य वा धुट् आगमो भवति ॥ *उदा०*—श्वलिट्त्साये, श्वलिट्साये । मधुलिट्त्साये, मधुलिट्-साये ॥

भाषार्थः—[*डः*] डकारान्त पद से उत्तर [*सि*] सकारादि पद को विकल्प से [*धुट्*] धुट् का आगम होता है ॥ श्वलिट् तुक् साये = श्वलिट्त्साये ॥

यहाँ से '*सि धुट्*' की अनुवृत्ति ८।३।३० तक जायेगी ॥

नश्च ॥८।३।३०॥

नः ५।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—सि धुट्, वा, पदस्य, संहितायाम्
अर्थः—नकारान्तात् पदादुत्तरस्य सकारादेः पदस्य वा धुडागमो भवति
उदा०—भवान्त्साये, भवान् साये। महान्त्साये, महान् साये॥

भाषार्थः—[*नः*] नकारान्त पद से उत्तर [च] भी सकारादि प
को विकल्प से धुट् का आगम होता है॥

यहाँ से '*नः*' की अनुवृत्ति ८।३।३१ तक जायेगी॥

शि तुक् ॥८।३।३१॥

शि ७।१॥ तुक् १।१॥ *अनु०*—नः, वा, पदस्य, संहितायाम्
अर्थः—पदान्तस्य नकारस्य शकारे परतो वा तुक् आगमो भवति
उदा०—भवाञ्छ्शेते भवाञ्शेते। भवाञ्च्छेते, भवाञ्छेते। छत्वस्
सिद्धत्वात् तत्पक्षेऽपि तुग्वा भवति॥

भाषार्थः—पदान्त नकार को [*शि*] शकार परे रहते [*तुक्*]
आगम विकल्प से होता है॥ भवान् तुक् शेते = भवान् त् शेते
शश्छोऽटि (८।४।६२) से श् को छ् विकल्प से होकर भवान् त्
भवान् त् शेते रहा। परत्वात् छत्व पहले करने पर उसे असिद्ध मा
तुक् होगा। पश्चात् *स्तोः श्चुना श्चुः* (८।४।३९) लगकर त् को च
च् कर लेने पर न् को ञ् (८।४।३९) हो गया। जब तुक् नहीं हुआ
भवाञ्शेते भवाञ्छेते यहाँ भी पूर्ववत् श्चुत्व हो गया॥

ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम् ॥८।३।३२॥

ङमः ५।१॥ ह्रस्वात् ५।१॥ अचि ७।१॥ ङमुट् १।१॥ नित्यम्
स०—ङम् च उट् च ङमुट्, समाहारद्वन्द्वः॥ *अनु०*—पदस्य, संहिताया
अर्थः—ङम इति ङमुडित्युभयत्रापि प्रत्याहारग्रहणम्। उडिति
ङकारादिभिः सम्बध्यते॥ ह्रस्वात् परो यो ङम् तदन्तात् पदादुत्तर
नित्यं[1] ङमुडागमो भवति॥ ङणनेभ्यो यथासङ्ख्यं ङुट्, णुट्, नुट्

---

१. नित्यप्रहसितः, नित्यप्रज्वलित इतिवत् प्रायिकार्थोऽयं नित्यशब्
कश्चिन्न भवति। यथा—*अणुदित् सवर्णस्य०* (१।१।६८) इति तिङन्त इ

आगमा भवन्ति ॥ उदा०—ङकारान्तात् ङुट्-प्रत्यङ्ङास्ते । णकारान्ता-ण्णुट्-वण्णास्ते, वण्णवोचत् । नकारान्तान्नुट्-कुर्वन्नास्ते, कुर्वन्नवोचत् । कृषन्नास्ते, कृषन्नवोचत् ॥

भाषार्थः—[*ह्रस्वात्*] ह्रस्व पद से उत्तर जो [*ङमः*] ङम् तदन्त पद से उत्तर [*अचि*] अच् को [*नित्यम्*] नित्य ही [*ङमुट्*] ङमुट् आगम होता है ॥ ङम् तथा ङमुट् दोनों ही स्थलों में प्रत्याहार का ग्रहण किया गया है । ङमुट् यहाँ ङम् अर्थात् ङ् ण् न् इन प्रत्येक अक्षरों के साथ उट् का सम्बन्ध करके ङुट्, णुट्, नुट् ये आगम बन जाते हैं । ङ् ण् न् ये तीन अक्षर ङम् प्रत्याहार में हैं, अतः ङ् को ङुट्, ण् को णुट्, तथा न् को नुट् आगम होता है ॥ प्रत्यङ् ङुट् आस्ते = प्रत्यङ्ङास्ते । वण् णुट् आस्ते = वण्णास्ते ॥

यहाँ से 'अचि' की अनुवृत्ति ८।३।३३ तक जायेगी ॥

मय उञो वो वा ॥८।३।३३॥

मयः ५।१॥ उञः ६।१॥ वः १।१॥ वा अ० ॥ *अनु०*—अचि, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—मय उत्तरस्य उञो विकल्पेन वकारादेशो भवति, अचि परतः ॥ उदा०—शमु अस्तु वेदिः, शम्वस्तु वेदिः । तदु अस्य परेतः, तद्वस्य परेतः । किमु आवपनम्, किम्वावपनम् ॥

भाषार्थः—[*मयः*] मय् प्रत्याहार से उत्तर [*उञः*] उञ् अव्यय को अच् परे रहते [*वा*] विकल्प करके [*वः*] वकारादेश होता है ॥ उञ् के ञ् की इत् संज्ञा होकर 'उ' शेष रहता है, सो उस उ को विकल्प से व् हो गया । शम् उ अस्तु = शम्वस्तु वेदिः । वः में अकार उच्चारणार्थ है ॥ उञ् की उञ ऊँ (१।१।१७) से प्रगृह्य संज्ञा हुई है, अतः *प्लुत प्रगृह्या अचि नित्यम्* (६।१।१२१) से प्रकृतिभाव होने से *इको यणचि* (६।१।७४) से यणादेश प्राप्त नहीं था, एतदर्थ यह सूत्र है ॥

विसर्जनीयस्य सः ॥८।३।३४॥

विसर्जनीयस्य ६।१॥ सः १।१॥ *अनु०*—संहितायाम् । *खरवसानयो०* इत्यतः 'खरि' इत्यनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या ॥ *अर्थः*—खरि परतो विसर्जनीयस्य सकार आदेशो भवति ॥ उदा०—वृक्षश्छादयति, प्लक्षश्छा-

दयति । वृक्षष्ठकारः, प्लक्षष्ठकारः । वृक्षस्थकारः, प्लक्षस्थकारः । वृक्षश्चिनोति, प्लक्षश्चिनोति । वृक्षष्टीकते, प्लक्षष्टीकते । वृक्षस्तरति प्लक्षस्तरति ॥

भाषार्थः—खर् परे रहते [*विसर्जनीयस्य*] विसर्जनीय को [*सः*] सकार आदेश होता है ॥ सत्व कर लेने पर यथायोग श्चुत्व ष्टुत्व हो ही जायेंगे ॥ वस्तुतः खर् में से छ, ठ, थ, च, ट, त इनके परे रहते ही विसर्जनीय को सत्व होता है, क्योंकि अन्य अक्षरों के परे रहते अन्य आदेश कहेंगे ॥

यहाँ से '*विसर्जनीयस्य*' की अनुवृत्ति ८।३।५४ तक जायेगी ॥

शर्परे विसर्जनीयः ॥८।३।३५॥

शर्परे ७।१॥ विसर्जनीयः १।१॥ *स०*—शर् परो यस्मात् स शर्परस्तस्मिन्‘ ’बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—विसर्जनीयस्य, संहितायाम् । पूर्ववत् खरीत्यनुवर्त्तते ॥ *अर्थः*—शर्परे खरि परतो विसर्जनीयस्य विसर्जनीय आदेशो भवति ॥ *उदा०*—शशः क्षुरम् , पुरुषः क्षुरम् । अद्भिः प्सातम् , वासः क्षौमम् । पुरुषः त्सरुः । घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम् ॥

भाषार्थः—[*शर्परे*] शर् (प्रत्याहार) परे है जिससे ऐसे खर् के परे रहते विसर्जनीय को [*विसर्जनीयः*] विसर्जनीय आदेश होता है ॥ विसर्जनीय को विसर्जनीय कहने से पूर्व सूत्र से प्राप्त सत्व एवं *कुप्वोः०* (८।३।३७) से प्राप्त जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय नहीं होते ॥ सर्वत्र उदाहरणों में खर् से परे शर् = श, ष, स हैं ही ॥

यहाँ से '*विसर्जनीयः*' की अनुवृत्ति ८।३।३७ तक जायेगी ॥

वा शरि ॥८।३।३६॥

वा अ० ॥ शरि ७।१॥ *अनु०*—विसर्जनीयः, विसर्जनीयस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—विसर्जनीयस्य विकल्पेन विसर्जनीयादेशो भवति शरि परतः ॥ *उदा०*—वृक्षः शेते, वृक्षश्शेते । प्लक्षः शेते, प्लक्षश्शेते । कवयः षट् , कवयष्षट् । धार्मिकाः सन्तु, धार्मिकास्सन्तु ॥

भाषार्थः—विसर्जनीय को [*वा*] विकल्प से विसर्जनीय आदेश होता है, [*शरि*] शर् परे रहते ॥ पक्ष में जब विसर्जनीय को विसर्जनीय नहीं हुआ तो यथाप्राप्त ८।३।३४ से सत्व हो गया, पश्चात् श्चुत्व ष्टुत्व हो ही जायेंगे ॥

कुप्वोः≍क≍पौ च ॥८।३।३७॥

कुप्वोः ७।२॥ ≍क≍पौ १।२॥ च अ० ॥ *स०*—कुश्च पुश्च कुपू तयोः'''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—विसर्जनीयः, विसर्जनीयस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—कवर्गे पवर्गे च परतो विसर्जनीयस्य यथासङ्ख्यं≍(जिह्वामूलीयः)≍ (उपध्मानीयः) इत्येतावादेशौ भवतः, चकाराद्विसर्जनीयश्च ॥ *उदा०*—वृक्ष≍करोति, वृक्षः करोति । वृक्ष≍खनति, वृक्षः खनति । वृक्ष≍पचति, वृक्षः पचति । वृक्ष≍फलति, वृक्षः फलति ॥

भाषार्थः—[*कुप्वोः*] कवर्ग तथा पवर्ग परे रहते विसर्जनीय को यथासङ्ख्य करके [*≍क≍पौ*] ≍क अर्थात् जिह्वामूलीय तथा ≍प अर्थात् उपध्मानीय आदेश होते हैं, [*च*] तथा चकार से विसर्जनीय भी होता है ॥ '≍क≍पौ' यहाँ जिह्वामूलीय उपध्मानीय के चिह्नों के साथ क, एवं प को उच्चारणार्थ रखा है, वस्तुतः आदेश ≍,≍ यही होते हैं ॥ *खरवसान०* (८।३।१५) से खर् परे रहते विसर्जनीय होता है, अतः खर् में से ही कवर्ग पवर्ग के अक्षर कौन २ हैं, देखने हैं, क्योंकि अन्यत्र विसर्जनीय होगा नहीं, इस प्रकार कवर्ग में क ख तथा पवर्ग में प फ अक्षर ही परे मिलेंगे जिनके परे रहते विसर्जनीय को क्रमशः अर्थात् कवर्ग के क, ख परे रहते जिह्वामूलीय, एवं पवर्ग के प, फ परे रहते उपध्मानीय आदेश होते हैं ॥

यहाँ से '*कुप्वोः*' की अनुवृत्ति ८।३।४९ तक जायेगी ॥

सोऽपदादौ ॥८।३।३८॥

सः ६।१॥ अपदादौ ७।१॥ *स०*—पदस्य आदिः पदादिः, षष्ठीतत्पुरुषः । न पदादिरपदादिस्तस्मिन्'''नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—विसर्जनीयस्य, कुप्वोः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अपदाद्योः कुप्वोः परतो विसर्जनीयस्य सकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—पयस्पाशम्, यशस्पाशम् । पयस्कल्पम्, यशस्कल्पम् । पयस्कम्, यशस्कम् । पयस्काम्यति, यशस्काम्यति ॥

भाषार्थः—[*अपदादौ*] अपदादि (जो पद के आदि का नहीं) कवर्ग तथा पवर्ग परे रहते विसर्जनीय को [*सः*] सकारादेश होता है ॥ पूर्व

सूत्र का यह अपवाद है ॥ *याप्ये पाशप्* (५।३।४७) से पयस्पाशम् में पाशप् प्रत्यय, तथा *ईषदसमाप्तौ०* (५।३।६७) से पयस्कल्पम् में कल्पप् प्रत्यय हुआ है। पयस्कम् में *प्रागिवात्कः* (५।३।७०) से क तथा पयस्काम्यति में *काम्यच्च* (३।१।६) से काम्यच् प्रत्यय हुआ है। सर्वत्र पयस् यशस् के स् को रुत्व विसर्जनीय करके अपदादि विसर्जनीय होने से प्रकृत सूत्र से स् हो गया है ॥

यहाँ से '*सः*' की अनुवृत्ति ८।३।५४ तक तथा '*अपदादौ*' की ८।३।३९ तक जायेगी ॥

इणः षः ॥८।३।३९॥

इणः ५।१॥ षः १।१॥ *अनु०*—अपदादौ, कुप्वोः, विसर्जनीयस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—इण उत्तरस्य विसर्जनीयस्य षकारादेशो भवति, अपदाद्योः कुप्वोः परतः ॥ *उदा०*—सर्पिष्पाशम्, यजुष्पाशम्। सर्पिष्कल्पम्, यजुष्कल्पम्। सर्पिष्कम्, यजुष्कम्। सर्पिष्काम्यति, यजुष्काम्यति ॥

भाषार्थः—[*इणः*] इण् से उत्तर विसर्जनीय को [*षः*] षकारादेश होता है, अपदादि कवर्ग पवर्ग के परे रहते ॥ पूर्व सूत्र से सत्व प्राप्त था, इण् से उत्तर तदपवाद षत्व कह दिया ॥ पूर्ववत् उदाहरणों में पाशप् आदि प्रत्यय हुये हैं, सो सर्पिस्, यजुस् के स् को विसर्जनीय होकर षत्व हो गया है ॥

यहाँ से '*षः*' की अनुवृत्ति ८।३।४८ तक जायेगी ॥

यहाँ से आगे '*षः*' तथा '*सः*' दोनों की अनुवृत्ति चलती है, सो इण् से उत्तर विसर्जनीय जहाँ हो, वहाँ '*षः*' का सम्बन्ध तथा अन्यत्र '*सः*' का सम्बन्ध लगेगा ऐसा जानें, तद्वत् ही अनुवृत्ति हम दिखायेंगे ॥

नमस्पुरसोर्गत्योः ॥८।३।४०॥

नमस्पुरसोः ६।२॥ गत्योः ६।२॥ *स०*—नम० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सः, कुप्वोः, विसर्जनीयस्य, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—नमस् पुरस् इत्येतयोर्गतिसंज्ञकयोर्विसर्जनीयस्य सकारादेशो भवति, कुप्वोः परतः ॥ *उदा०*—नमस्कर्त्ता, नमस्कर्त्तुम्, नमस्कर्त्तव्यम् ॥

भाषार्थ:—[*नमस्पुरसो:*] नमस् तथा पुरस् [*गत्यो:*] गतिसंज्ञक शब्दों के विसर्जनीय को सकारादेश होता है, कवर्ग पवर्ग परे रहते ॥ नमस् की *साक्षात्प्रभृतीनि च* (१।४।७३) से तथा पुरस् की *पुरोऽव्ययम्* (१।४।६६) से गति संज्ञा होती है ॥ नम: कर्त्ता = नमस्कर्ता ॥

इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य ॥८।३।४१॥

इदुदुपधस्य ६।१॥ च अ० ॥ अप्रत्ययस्य ६।१॥ *स०*—इच्च उच्च इदुतौ, इतरेतरद्वन्द्व: । इदुतौ उपधा यस्य स, इदुदुपधस्तस्य ''' बहुव्रीहि: । न प्रत्ययोऽप्रत्ययस्तस्य ''' नञ्तत्पुरुष: ॥ *अनु०*—ष:, कुप्वो: विसर्जनीयस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थ:*—इकारोपधस्य उकारोपधस्य चाप्रत्ययस्य विसर्जनीयस्य षकार आदेशो भवति, कुप्वो: परत: ॥ *उदा०*—निस्—निष्कृतम्, निष्पीतम् । दुस्—दुष्कृतम्, दुष्पीतम् । बहिस्—बहिष्कृतम्, बहिष्पीतम् । आविस्—आविष्कृतम्, आविष्पीतम् । चतुर्—चतुष्कृतम्, चतुष्कपालम्, चतुष्कण्टकम्, चतुष्कलम् । प्रादुस्—प्रादुष्कृतम्, प्रादुष्पीतम् ॥

भाषार्थ:—[*इदुदुपधस्य*] इकार और उकार उपधा में है जिसके ऐसे [*अप्रत्ययस्य*] प्रत्यय भिन्न विसर्जनीय को [*च*] भी षकार आदेश होता है, कवर्ग पवर्ग परे रहते ॥ सर्वत्र उदाहरणों में नि:, दु: आदि के विसर्जनीय से पूर्व अर्थात् उपधा में इकार उकार हैं, अत: षत्व हो गया है । स् को रुत्व विसर्जनीय, तत्पश्चात् षत्व करने की प्रक्रिया पूर्ववत् है ॥

तिरसोऽन्यतरस्याम् ॥८।३।४२॥

तिरस: ६।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—स:, कुप्वो:, विसर्जनीयस्य, पदस्य, संहितायाम् । *नमस्पुरसोर्गत्यो:* (८।३।४०) इत्यत: गतेरित्यनुवर्त्तते, मण्डूकप्लुतगत्या ॥ *अर्थ:*—तिरसो विसर्जनीयस्य विकल्पेन सकारादेशो भवति, कुप्वो: परत: ॥ *उदा०*—तिरस्कर्त्ता, तिरस्कर्तुम्, तिरस्कर्तव्यम् । तिर:कर्ता, तिर:कर्त्तुम्, तिर:कर्त्तव्यम् ॥

भाषार्थ:—[*तिरस:*] तिरस् के विसर्जनीय को [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प करके सकारादेश होता है, कवर्ग पवर्ग परे रहते ॥ तिरस् की *तिरोऽन्तर्धौ* (१।४।७०) से गति संज्ञा है । पक्ष में विसर्जनीय ही रहेगा । *कुप्वो:०* (८।३।३७) की प्राप्ति में यह सूत्र है ॥

यहाँ से '*अन्यतरस्याम्*' की अनुवृत्ति ८।३।४४ तक जायेगी ॥

द्विस्त्रिश्चतुरिति कृत्वोऽर्थे ॥८।३।४३॥

द्विस्त्रिश्चतुः अविभक्त्यन्तनिर्देशः[1] ॥ इति अ० ॥ कृत्वोऽर्थे ७।१॥ स०—द्विश्च त्रिश्च चतुश्च द्विस्त्रिश्चतुः, समाहारद्वन्द्वः। कृत्वसः अर्थः कृत्वोऽर्थस्तस्मिन्"""षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—अन्यतरस्याम्, षः, कुप्वोः, पदस्य, विसर्जनीयस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—द्विस्, त्रिस्, चतुर् इत्येतेषां कृत्वोऽर्थे वर्त्तमानानां विसर्जनीयस्य विकल्पेन षकार आदेशो भवति, कुप्वोः परतः ॥ उदा०—द्विष्करोति, द्विः करोति। त्रिष्करोति, त्रिः करोति। चतुष्करोति, चतुःकरोति। द्विष्पचति, द्विःपचति। त्रिष्पचति, त्रिः पचति। चतुष्पचति, चतुः पचति ॥

भाषार्थः—[*कृत्वोऽर्थे*] कृत्वसुच् के अर्थ में वर्त्तमान [*द्विस्त्रिश्चतुः*] द्विस्, त्रिस् तथा चतुर् [*इति*] इनके विसर्जनीय को षकारादेश विकल्प करके होता है, कवर्ग पवर्ग परे रहते ॥ द्वि, त्रि तथा चतुर् शब्दों से *द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्* (५।४।१८) से सुच् प्रत्यय होकर द्विस्, त्रिस्, चतुस् बनता है। चतुर् सुच्=चतुर् स् यहाँ सुच् के स् का *रात्सस्य* (८।२।२४) से लोप होकर चतुर्=चतुः बना, पश्चात् इस विसर्जनीय को करोति पचति परे रहते षत्व हो गया ॥

इसुसोः सामर्थ्ये ॥८।३।४४॥

इसुसोः ६।२॥ सामर्थ्ये ७।१॥ स०—इस् च उस् च इसुसौ, तयोः"""इतरेतरद्वन्द्वः ॥ समर्थस्य भावः सामर्थ्यम् तस्मिन्""", ब्राह्मणादित्वात् (५।१।१२३) ष्यञ् ॥ अनु०—अन्यतरस्याम्, षः, कुप्वोः, विसर्जनीयस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—इस् उस् इत्येतयोर्विसर्जनीयस्यान्यतरस्यां षकारादेशो भवति, सामर्थ्ये सति कुप्वोः परतः ॥ उदा०—सर्पिष्करोति, सर्पिः करोति। यजुष्करोति यजुः करोति ॥

भाषार्थः—[*इसुसोः*] इस् तथा उस् के विसर्जनीय को विकल्प से षकारादेश होता है [*सामर्थ्ये*] सामर्थ्य होने पर, कवर्ग पवर्ग परे रहते ॥ अभिप्राय यह है कि इसन्त उसन्त शब्द (जिसका विसर्जनीय हुआ है)

---

१. इतिग्रहणं स्वरूपनिर्देशार्थम्, स्वरूपनिर्देशाय चाविभक्त्यन्तो निर्देशः। यद्वा 'इतिना' इति शुक्लयजुःप्रातिशाख्ये वर्णानामितिना निर्देशः क्रियते तथेहापि निर्देशार्थ इति शब्दः, तेन चाविभक्त्यन्तः।

का कवर्ग पवर्गादि शब्द जो कि परे हैं, उनके साथ परस्पर सामर्थ्य = सम्बद्धार्थता होने पर षत्व हो ॥ सर्पिस् यजुस् शब्द इसन्त उसन्त हैं ही ॥

यहाँ से 'इसुसोः' की अनुवृत्ति ८।३।४५ तक जायेगी ॥

नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य ॥८।३।४५॥

नित्यम् १।१॥ समासे ७।१॥ अनुत्तरपदस्थस्य ६।१॥ *स०*—उत्तरपदे तिष्ठतीति उत्तरपदस्थः, तत्पुरुषः । न उत्तरपदस्थोऽनुत्तरपदस्थस्तस्य... नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—इसुसोः, षः, कुप्वोः, विसर्जनीयस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—समासे इसुसोरनुत्तरपदस्थस्य विसर्जनीयस्य नित्यं षत्वं भवति कुप्वोः परतः ॥ *उदा०*—सर्पिषः कुण्डिका = सर्पिष्कुण्डिका, धनुष्कपालम्, सर्पिष्पानम्, धनुष्फलम् ॥

भाषार्थः—[*अनुत्तरपदस्थस्य*] अनुत्तरपदस्थ (जो उत्तरपद में स्थित न हों) इस् उस् के विसर्जनीय को [*समासे*] समास विषय में [*नित्यम्*] नित्य ही षत्व होता है, कवर्ग पवर्ग परे रहते ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।३।४७ तक जायेगी ॥

अतः कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्वनव्ययस्य ॥८।३।४६॥

अतः ५।१॥ कृकमि...कर्णीषु ७।३॥ अनव्ययस्य ६।१॥ *स०*—कृ च कमिश्च कंसश्च कुम्भश्च पात्रञ्च कुशा च कर्णी च कृकमि...कर्ण्यस्तेषु... इतरेतरद्वन्द्वः । न अव्ययमनव्ययं तस्य...नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य, सः, विसर्जनीयस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अकारादुत्तरस्य समासेऽनुत्तरपदस्थस्यानव्ययस्य विसर्जनीयस्य नित्यं सकारादेशो भवति कृ, कमि, कंस, कुम्भ, पात्र, कुशा, कर्णी इत्येतेषु परतः ॥ *उदा०*—कृ—अयस्कारः, पयस्कारः । कमि—अयस्कामः, पयस्कामः । कंस—अयस्कंसः, पयस्कंसः । कुम्भ—अयस्कुम्भः, पयस्कुम्भः । पात्र-अयस्पात्रम्, पयस्पात्रम् । कुशा—अयस्कुशा, पयस्कुशा । कर्णी—अयस्कर्णी, पयस्कर्णी ॥

भाषार्थः—[*अतः*] अकार से उत्तर समास में जो अनुत्तरपदस्थ [*अनव्ययस्य*] अनव्यय का विसर्जनीय उसको नित्य ही सकारादेश

होता है, [कृकमि ''कर्णीषु] कृ, कमि (धातु) कंस, कुम्भ, पात्र, कुशा कर्णी इन २ शब्दों के परे रहते ॥ कुप्वोः ≍क ≍पौ च (८।३।३७) की प्राप्ति में ही इस प्रकरण से सत्व, षत्व कहा गया है, अतः यह सूत्र भी तदपवाद है ॥

अधःशिरसी पदे ॥८।३।४७॥

अधःशिरसी १।२, षष्ठ्यर्थे प्रथमाऽत्र ॥ पदे ७।१॥ *स०*—अधस् च शिरस् च अधःशिरसी, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य, सः, विसर्जनीयस्य, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अधस्, शिरस् इत्येतयोर्विसर्जनीयस्य समासेऽनुत्तरपदस्थस्य सकार आदेशो भवति पदशब्दे परतः ॥ *उदा०*—अधस्पदम्, शिरस्पदम्। अधस्पदी, शिरस्पदी ॥

भाषार्थः—समास में अनुत्तरपदस्थ [*अधःशिरसी*] अधस् तथा शिरस् के विसर्जनीय को सकार आदेश होता है, [*पदे*] पद शब्द परे रहते ॥ अधस्पदम् तथा शिरस्पदम् में षष्ठी तत्पुरुष समास हुआ है ॥

कस्कादिषु च ॥८।३।४८॥

कस्कादिषु ७।३॥ च अ० ॥ *स०*—कस्क आदिर्येषां ते कस्कादयस्तेषु''बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—सः, षः, कुप्वोः, विसर्जनीयस्य, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—कस्कादिषु गणपठितेषु च विसर्जनीयस्य सकारः षकारो वा यथायोगमादेशो भवति, कुप्वोः परतः ॥ *उदा०*—कस्कः, कौतस्कुतः, भ्रातुष्पुत्रः ॥

भाषार्थः—[*कस्कादिषु*] कस्कादि गणपठित शब्दों के विसर्जनीय को [च] भी सकार अथवा षकार आदेश यथायोग से होता है, कवर्ग पवर्ग परे रहते ॥ *इण: षः* (८।३।३९) सूत्र में कहे अनुसार इण् से उत्तर जहाँ होगा, वहाँ विसर्जनीय को षकार तथा अन्यत्र सकार होगा। कस्कः में किम् को क (७।२।१०३) आदेश होकर 'कः' को वीप्सा में द्वित्व तथा कौतस्कुतः में कुतः को वीप्सा में द्वित्व हुआ है, पुनः उसी विसर्जनीय को सत्व हो गया। कुतस्कुतः होकर *तत आगतः* (४।३।७४) से अण् तथा *अव्ययानां च०* (वा० ६।४।१४४) से कुतस्कुतः के टि भाग 'अ' का

लोप होकर कौतस्कुतः बना है ॥ भ्रातुष्पुत्रः में *ऋतो विद्या०* (६।३।२१) से षष्ठी का अलुक् होकर षत्व हुआ है ॥

छन्दसि वाऽप्राम्रेडितयोः ॥८।३।४९॥

छन्दसि ७।१॥ वा अ० ॥ अप्राम्रेडितयोः ७।२॥ *स०*—प्रश्च आम्रेडितञ्च प्राम्रेडिते, न प्राम्रेडिते अप्राम्रेडिते तयोः'''द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—सः, कुप्वोः, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—प्रशब्दम् आम्रेडितञ्च वर्जयित्वा कुप्वोः परतश्छन्दसि विषये विसर्जनीयस्य वा सकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—अयः पात्रम्, अयस्पात्रम्। विश्वतः-पात्रम्, विश्वतस्पात्रम्। उरुणः कारः, उरुणस्कारः ॥

भाषार्थः—[*अप्राम्रेडितयोः*] प्र तथा आम्रेडित को छोड़कर जो कवर्ग तथा पवर्ग परे हों तो [*छन्दसि*] वेद विषय में विसर्जनीय को [*वा*] विकल्प से सकारादेश होता है ॥ अयःपात्रम् आदि में षष्ठीतत्पुरुष समास कर लेने पर *अतः कृकमि०* (८।३।४६) से नित्य सत्व प्राप्त था विकल्प कर दिया। 'उरुणः' यहाँ उरु शब्द से उत्तर अस्मद् को *बहुवचनस्य वस्नसौ* (८।१।२१) से नस् आदेश, तथा *नश्च धातुस्थो०* (८।४।२६) से णत्व एवं विसर्जनीय होकर उरुणःकारः बना। पक्ष में सत्व होकर उरुणस्कारः बन गया ॥

यहाँ से '*छन्दसि*' की अनुवृत्ति ८।३।५४ तक जायेगी ॥

कःकरत्करतिकृधिकृतेष्वनदितेः ॥८।३।५०॥

कःकरत्'''कृतेषु ७।३॥ अनदितेः ६।१॥ *स०*—कःकर० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। न अदितिरनदितिस्तस्य'''नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—छन्दसि, सः, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—कः, करत्, करति, कृधि, कृत इत्येतेषु परतोऽनदितेर्विसर्जनीयस्य सकारादेशो भवति छन्दसि विषये ॥ *उदा०*—कः—विश्वतस्कः। करत्—विश्वतस्करत्। करति—पयस्करति। कृधि—उरुणस्कृधि (ऋ० ८।७५।११) कृत—सदस्कृतम् ॥

भाषार्थः—[*कः क'''तेषु*] कः, करत्, करति, कृधि, कृत इनके परे रहते [*अनदितेः*] अदिति को छोड़कर जो विसर्जनीय उसको सकारादेश होता है वेद विषय में ॥ 'कः' कृ का लुङ् में च्लि का लुक् (२।४।८०) *बहुलं०* (६।४।७५) से अडभाव, गुण एवं ६।१।६६ से तिप का त् लोप

करके रूप है ॥ नस् आदेश (८।१।२१) के विसर्जनीय को यहाँ रुत्व तथा *नश्च धातु०* (८।४।२६) से न् को ण् हुआ है ॥

पञ्चम्याः परावध्यर्थे ॥८।३।५१॥

पञ्चम्याः ६।१॥ परौ ७।१॥ अध्यर्थे ७।१॥ *स०*—अधेरर्थोऽध्यर्थः, तस्मिन्"'षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—छन्दसि, सः, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अध्यर्थे वर्त्तमानो यः परिस्तस्मिन् परतः पञ्चमीविसर्जनीयस्य सकारादेशो भवति छन्दसि विषये ॥ *उदा०*—दिवस्परि प्रथमं जज्ञे (ऋ० १०।४५।१) अग्निर्हिमवतस्परि । दिवस्परि, महस्परि ॥

भाषार्थः—[*अध्यर्थे*] अधि के अर्थ में वर्त्तमान जो [*परौ*] परि उपसर्ग उसके परे रहते [*पञ्चम्याः*] पञ्चमी के विसर्जनीय को सकारादेश होता है, वेद विषय में ॥ अधि ऊपर अर्थ में है, सो यहाँ उदाहरण में 'परि' अधि के अर्थ में अर्थात् ऊपर अर्थ में है । दिवस्परि' 'अर्थात् अग्नि पहले द्यौ लोक से परि = ऊपर उत्पन्न हुआ । इसी प्रकार 'अग्नि हिमवान् से ऊपर' ऐसा अर्थ है ॥

यहाँ से '*पञ्चम्याः*' की अनुवृत्ति ८।३।५२ तक जायेगी ॥

पातौ च बहुलम् ॥८।३।५२॥

पातौ ७।१॥ च अ० ॥ बहुलम् १।१॥ *अनु०*—पञ्चम्याः, छन्दसि, सः, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—पातौ च धातौ परतः पञ्चमीविसर्जनीयस्य बहुलं सकार आदेशो भवति छन्दसि विषये ॥ *उदा०*—दिवस्पातु । राज्ञस्पातु । बहुलग्रहणात् न च भवति—परिषदः पातु ॥

भाषार्थः—[*पातौ*] पा धातु के प्रयोग परे हों तो [*च*] भी पञ्चमी के विसर्जनीय को [*बहुलम्*] बहुल करके सकार आदेश होता है, वेद विषय में ॥

षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु ॥८।३।५३॥

षष्ठ्याः ६।१॥ पति'''षेषु ७।३॥ *स०*—पति० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—छन्दसि, सः, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—पति, पुत्र, पृष्ठ, पार, पद, पयस्, पोष इत्येतेषु परतश्छन्दसि विषये षष्ठीविसर्जनीयस्य सकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—पति—वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये

(ऋ० १०।८।७) । पुत्र—दिवस्पुत्राय सूर्याय (ऋ० १०।३७।१) । पृष्ठ—दिवस्पृष्ठे धावमानं सुपर्णम् । पार—अगन्म तमसस्पारम् । पद—इडस्पदे समिध्यसे (ऋ० १०।१९१।१) । पयस्—सूर्यं चक्षुर्दिवस्पयः । पोष—रायस्पोषं यजमानेषु धत्तम् (ऋ० ८।५९।७) ॥

भाषार्थः—[*पति···पोषेषु*] पति, पुत्र, पृष्ठ, पार, पद, पयस्, पोष इन शब्दों के परे रहते वेद विषय में [*षष्ठ्याः*] षष्ठी विभक्ति के विसर्जनीय को सकारादेश होता है ॥ सर्वत्र षष्ठी विभक्ति के विसर्जनीय को सत्व हुआ है । वाचः पतिम् = वाचस्पतिम् अर्थात् वाणी का स्वामी ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।३।५४ तक जायेगी ॥

इडाया वा ॥८।३।५४॥

इडायाः ६।१॥ वा अ० ॥ *अनु०*—षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु, छन्दसि, सः, पदस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—इडायाः षष्ठीविसर्जनीयस्य वा सकार आदेशो भवति पतिपुत्रादिषु परतः, छन्दसि विषये ॥ *उदा०*—इडायास्पतिः, इडायाःपतिः । इडायास्पुत्रः, इडायाः-पुत्रः । इडायास्पृष्ठम्, इडायाः पृष्ठम् । इडायास्पारम्, इडायाः पारम् । इडायास्पदम्, इडायाःपदम् । इडायास्पयः, इडायाःपयः । इडायास्पोषम्, इडायाः पोषम् ॥

भाषार्थः—[*इडायाः*] इडा शब्द के षष्ठी विभक्ति के विसर्जनीय को [*वा*] विकल्प से सकार आदेश होता है पति, पुत्र, पृष्ठ, पार, पद, पयस्, पोष शब्दों के परे रहते वेद विषय में ॥ पूर्व सूत्र से नित्य सत्व प्राप्त था, विकल्पार्थ यह सूत्र है ॥

अपदान्तस्य मूर्धन्यः ॥८।३।५५॥

अपदान्तस्य ६।१॥ मूर्धन्यः १।१॥ *स०*—पदस्य अन्तः पदान्तः, षष्ठीतत्पुरुषः । न पदान्तोऽपदान्तस्तस्य···नञ्तत्पुरुषः ॥ मूर्धनि भवो मूर्धन्यः, *शरीरावयवाद्यत्* (५।१।६) इति यत्प्रत्ययः ॥ *अर्थः*—आ पादपरिसमाप्तेरपदान्तस्य मूर्धन्यादेशो भवतीत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ *उदा०*—वक्ष्यति—आदेशप्रत्यययोः । सिषेच, सुष्वाप । अग्निषु, वायुषु ॥

भाषार्थः—[*अपदान्तस्य*] अपदान्त को [*मूर्धन्यः*] मूर्धन्य आदेश होता है, ऐसा अधिकार पाद की समाप्ति पर्यन्त (८।३।११९) जाता है, ऐसा जानना चाहिये ॥

मूर्धन्य से अभिप्राय मूर्धा से बोले जाने वाले अक्षर से है, सो 'स्' का मूर्धन्य 'ष्' आदेश उदाहरणों में हुआ है॥

षिचिर् क्षरणे ञिष्वप् शये से लिट् में *धात्वादेः षः सः* (६।१।६२) से ष् को स् होकर सिषेच, सुष्वाप बना है। स्वप् के अभ्यास को *लिट्यभ्यास०* (६।१।१७) से सम्प्रसारण होकर सु स्वप् णल्=सु स्वाप् अ, सि सेच् अ रहा। अब यहाँ *धात्वादेः षः सः* से ष् को स् होने से आदेश का स् मानकर *आदेशप्रत्य०* से मूर्धन्य आदेश होकर सिषेच सुष्वाप बन गया। अग्निषु वायुषु में प्रत्यय का स् मानकर षत्व हुआ है॥

सहेः साडः सः ॥८।३।५६॥

सहेः ६।१॥ साडः ६।१॥ सः १।१॥ *अनु०*—अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—सहेर्धातोर्यत् साड्रूपं तस्य सकारस्य मूर्धन्य आदेशो भवति॥ *उदा०*—जलाषाट्, तुराषाट्, पृतनाषाट्॥

भाषार्थः—[*सहेः*] सह धातु का बना हुआ जो [*साडः*] साड् रूप उसके [*सः*] सकार को मूर्धन्य आदेश होता है॥ जल इत्यादि उपपद रहते सह धातु से *छन्दसि सहः* (३।२।६३) से ण्वि होकर एवं सह् की उपधा को वृद्धि तथा *हो ढः* (८।२।३१) से ढत्व, तथा जश्त्व होकर 'साड्' रूप बना है, उसीको यहाँ षत्व हुआ है। *अन्येषामपि०* (६।३।१३५) से जल आदि को दीर्घ होकर जलाषाट्, तुराषाट्, पृतनाषाट् बन गया॥

यहाँ से '*सः*' की अनुवृत्ति ८।३।११९ तक जायेगी॥

इण्कोः ॥८।३।५७॥

इण्कोः ५।१॥ *स०*—इण् च कुश्च इण्कु तस्मात्...समाहारद्वन्द्वः। *अर्थः*—इतोऽग्रे वक्ष्यमाणानि कार्याणि इण्कवर्गाभ्यामुत्तरस्य भवन्तीत्य धिकारो वेदितव्यः, आपादपरिसमाप्तेः॥ कु इत्यनेन कवर्गस्य ग्रहणम् इण् इत्यनेन परणकारेण प्रत्याहारो गृह्यते॥ *उदा०*—सिषेच, सुष्वाप अग्निषु, वायुषु, कर्त्तृषु, गीर्षु, वाक्षु, त्वक्षु॥

भाषार्थः—यह अधिकार सूत्र है । यहाँ से आगे जो भी कार्य कहेंगे वे [*इण्कोः*] इण् और कवर्ग से उत्तर होते हैं, ऐसा अधिकार पाद की समाप्ति पर्यन्त जानना चाहिये ॥ अग्निषु आदि में इण् से उत्तर तथा वाक्षु त्वक्षु में कवर्ग से उत्तर के उदाहरण हैं । वाच् त्वच् के च् को चोः कुः (८।२।३०) से क् हुआ है, सो सर्वत्र *आदेशप्र०* (८।३।५९) से षत्व हो गया ॥ इण् से पर णकार (*लण्* तक के) वाले प्रत्याहार का ग्रहण है ॥

नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि ॥८।३।५८॥

नुम्वि···वाये ७।१॥ अपि अ० ॥ *स०*—नुम् च विसर्जनीयश्च शर् च नुम्वि···शरः, इतरेतरद्वन्द्वः । नुम्विसर्जनीयशर्भिः व्यवायः नुम्वि···शर्व्यवायस्तस्मिन्···तृतीयातत्पुरुषः ॥ *अनु०*—सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—नुम्व्यवायेऽपि विसर्जनीयव्यवायेऽपि शर्व्यवायेऽपि इण्कोरुत्तरस्य सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति ॥ *उदा०*—नुम्व्यवाये–सर्पींषि, यजूंषि, हवींषि । विसर्जनीयव्यवाये–सर्पिःषु, यजुःषु, हविःषु । शर्व्यवाये–सर्पिष्षु, यजुष्षु, हविष्षु ॥

भाषार्थः—[*नुम्वि···वाये*] नुम्, विसर्जनीय तथा शर् (प्रत्याहार) का व्यवधान होने पर [*अपि*] भी इण् तथा कवर्ग से उत्तर सकार को मूर्धन्य आदेश होता है ॥ अभिप्राय यह है कि इण् और कवर्ग से उत्तर जिसे षत्व करना है उसके मध्य में नुम् आदि का व्यवधान हो तो भी षत्व हो जाये ॥ सर्पींषि आदि में सर्पिस् शब्द से *जश्शसोः शिः* (७।१।२०) से शि तथा *नपुंसकस्य झलचः* (७।१।७२) से नुम् एवं *सान्तमहतः०* (६।४।१०) से दीर्घ होकर 'सर्पी न् स् इ' रहा । अब यहाँ नुम् के व्यवधान में भी षत्व तथा न् को अनुस्वार (८।३।२४) होकर सर्पींषि बन गया । सर्पिःषु आदि में *वा शरि* से पक्ष में स् को विसर्जनीय तथा पक्ष में सत्व (८।३।३४) होकर सर्पिष्षु बना है । इनके व्यवधान में भी षत्व कर लेने पर सर्पिष्षु आदि में मध्य के स् को ष् (८।४।४०) भी हो गया ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।३।११९ तक जायेगी ॥

आदेशप्रत्यययोः ॥८।३।५९॥

आदेशप्रत्यययोः ६।२॥ *स०*—आदेशश्च प्रत्ययश्च आदेशप्रत्ययौ तयोः···इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, सः,

इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—इण्कवर्गाभ्यामुत्तरस्य आदेशो यः सकारः प्रत्ययस्य च यः सकारस्तस्य मूर्धन्यादेशो भवति, संहितायाम् ॥ *उदा०*—आदेशस्य–सिषेच, सुष्वाप । प्रत्ययस्य–अग्निषु, वायुषु, कर्त्तृषु, हर्त्तृषु ॥

भाषार्थः—इण् तथा कवर्ग से उत्तर [*आदेशप्रत्यययोः*] आदेश रूप जो सकार तथा प्रत्यय का जो सकार उसे मूर्धन्यादेश होता है ॥ सिद्धियाँ ८।३।५५ सूत्र पर आ चुकी हैं ॥

शासिवसिघसीनां च ॥८।३।६०॥

शासिवसिघसीनाम् ६।३॥ च अ० ॥ *स०*—शासिश्च वसिश्च घसिश्च शासिवसिघसयस्तेषां...इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—शासि, वसि, घसि इत्येतेषां च सकारस्य इण्कोरुत्तरस्य मूर्धन्यादेशो भवति ॥ अनादेशार्थमिदं सूत्रम् ॥ *उदा०*—शासि–अन्वशिषत्, अन्वशिषताम्, अन्वशिषन् । शिष्टः, शिष्टवान् । वसि–उषितः, उषितवान्, उषित्वा । घसि–जक्षतुः, जक्षुः, अक्षन्नमीमदन्त पितरः ॥

भाषार्थः—इण् तथा कवर्ग से उत्तर [*शासि...सीनाम्*] शासु वस तथा घस् के सकार को [च] भी मूर्धन्य आदेश होता है ॥ आदेश का स् न होने से पूर्व सूत्र से षत्व प्राप्त नहीं था, विधान कर दिया ॥ अशिषत् की सिद्धि परि० ३।१।५६ में तथा शिष्टः शिष्टवान् की सूत्र ६।४।३४ में देखें । उषितः उषितवान् में *वचिस्वपि०* (६।१।१५) से सम्प्रसारण एवं *वचिस्वपि०* (७।२।५२) से इट् हुआ है । जक्षतुः जक्षुः तथा अक्षन् की सिद्धि परि० १।१।५७ में देखें । घसि से यहाँ घस्लृ अदने धातु तथा घस्लृ आदेश दोनों का ही ग्रहण है ॥

स्तौतिण्योरेव षण्यभ्यासात् ॥८।३।६१॥

स्तौतिण्योः ६।२॥ एव अ० ॥ षणि ७।१॥ अभ्यासात् ५।१॥ *स०*—स्तौतिश्च णिश्च स्तौतिणी तयोः...इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अभ्यासादिण उत्तरस्य स्तौतेर्ण्यन्तानां च षत्वभूते सनि परत आदेशसकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति ॥ सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः ॥ *उदा०*—तुष्टूषति । ण्यन्तानाम्–सिषेचयिषति । सिषञ्जयिषति, सुष्वापयिषति ॥

भाषार्थः—[*अभ्यासात्*] अभ्यास के इण् से उत्तर [*स्तौतिण्योः*] स्तु (ष्टुञ्) तथा ण्यन्त धातुओं के आदेश सकार को [*एव*] ही षत्वभूत [*षणि*] सन् परे रहते मूर्धन्य आदेश होता है ॥ आदेश का सकार होने से *आदेशप्रत्य०* (८।३।५९) से ही षत्व सिद्ध था पुनः यह सूत्र नियमार्थ है, अर्थात्—षत्वभूत सन् के परे रहते तथा अभ्यास के इण् से उत्तर यदि षत्व हो तो स्तौति एवं ण्यन्त धातुओं को ही हो, अन्यों को नहीं, सो सिसिक्षति में नहीं होता ॥ सन् को षत्व णत्व करके सूत्र में 'षणि' निर्देश किया है ॥ तुष्टूषति की सिद्धि परि० १।२।९ में तथा सुष्वापयिषति की सूत्र ७।४।६७ में देखें। इसी प्रकार षिच् से सिच् सेचयि ष = सिषेचयिषति एवं षन्ज से सिषञ्जयिषति बनेगा। षन्ज के अभ्यास को *सन्यतः* (७।४।७९) से इत्व होता है, तथा *स्तोः श्चुना०* से न् को ञ् हुआ है ॥

यहाँ से '*णेः*[1] *षण्यभ्यासात्*' की अनुवृत्ति ८।३।६२ तक जायेगी ॥

सः स्विदिस्वदिसहीनां च ॥८।३।६२॥

सः[2] १।१॥ स्विदिस्वदिसहीनाम् ६।३॥ च अ० ॥ *स०*—स्विदि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—णेः षण्यभ्यासात्, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अभ्यासादिण उत्तरस्य स्विदि, स्वदि, सहि इत्येतेषां ण्यन्तानां सकारस्य सकारादेशो भवति षत्वभूते सनि परतः ॥ *उदा०*—सिस्वेदयिषति । सिस्वादयिषति । सिसाहयिषति ॥

भाषार्थः—अभ्यास के इण् से उत्तर [*स्विदि···हीनाम्*] ञिष्विदा ष्वद तथा षह इन ण्यन्त धातुओं के सकार को [*सः*] सकारादेश होता है, षत्वभूत सन् के परे रहते [च] भी ॥ *धात्वादेः षः सः* (६।१।६२) से धातुओं के ष् को स् हुआ है, अतः आदेश का सकार मानकर पूर्व सूत्र से षत्व प्राप्त था, सकार को सकार ही कह देने से उसकी निवृत्ति हो गई ॥

प्राक्सितादड्व्यवायेऽपि ॥८।३।६३॥

प्राक् अ० ॥ सितात् ५।१॥ अड्व्यवाये ७।१॥ अपि अ० ॥ *स०*—

१. एकस्य पदस्यानुवृत्तत्वादेकवचनम् ॥

२. न्यासपदमञ्जर्योः 'स स्विदि' पाठः । तथाऽविभक्त्यन्तम् ।

अटा व्यवायः अड्व्यवायस्तस्मिन्‌...तृतीयातत्पुरुषः ॥ अनु०—सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्‌ ॥ *अर्थः*—प्राक्‌ सितशब्दाद्‌ अड्व्यवायेऽपि मूर्धन्यो भवति अपि ग्रहणादनड्व्यवायेऽपि ॥ *उदा०*—वक्ष्यति-*उपसर्गात्‌ सुनोति०* (८।३।६५) इति षत्वं तत्राड्व्यवायेऽपि भवति—अभ्यषुणोत्‌, पर्यषुणोत्‌, व्यषुणोत्‌, न्यषुणोत्‌ ॥ अनड्व्यवायेऽपि—अभिषुणोति, परिषुणोति, विषुणोति, निषुणोति ॥

भाषार्थः—[*सितात्*] सित शब्द से [*प्राक्‌*] पहले २ [*अड्व्यवाये*] अट्‌ का व्यवधान होने पर तथा अपि ग्रहण से अट्‌ का व्यवधान न होने पर [*अपि*] भी सकार को मूर्धन्य आदेश होता है ॥ तात्पर्य यह है कि इण्‌ और कवर्ग से उत्तर जिसे षत्व करना है उसके मध्य में अट्‌ का व्यवधान हो तो भी षत्व हो जाये ॥ सित से *परिनिविभ्यः सेवसित०* (८।३।७०) का सित लिया है, सो उससे पूर्व पूर्व अट्‌ के व्यवधान में भी षत्व होगा ॥ अभि अषुणोत्‌ = अभ्यषुणोत्‌ ॥

यहाँ से '*अड्व्यवायेऽपि*' की अनुवृत्ति ८।३।७० तक तथा '*प्राक्‌ सितात्*' की ८।३।६४ तक जायेगी ॥

स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य ॥८।३।६४॥

स्थादिषु ७।३॥ अभ्यासेन ३।१॥ च अ० ॥ अभ्यासस्य ६।१॥ *स०*—स्था आदिर्येषां ते स्थादयस्तेषु...बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—प्राक्‌ सितादड्व्यवायेऽपि, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्‌ ॥ *अर्थः*—स्थादिषु प्राक्‌ सितशब्दादभ्यासेन व्यवाये सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति, अभ्याससकारस्य च भवतीत्येवं वेदितव्यम्‌ ॥ *उदा०*—अभितष्ठौ, परितष्ठौ । अभिषिषेणयिषति, परिषिषेणयिषति । अभिषिषिक्षति, परिषिषिक्षति ॥

भाषार्थः—सित से पहले पहले [*स्थादिषु*] स्था इत्यादियों में अर्थात्‌ स्था से लेकर सित पर्यन्त [*अभ्यासेन*] अभ्यास का व्यवधान होने पर भी मूर्धन्य आदेश होता है, [*च*] तथा [*अभ्यासस्य*] अभ्यास को भी मूर्धन्य होता है, ऐसा जानना चाहिये ॥ स्था से *उपसर्गात्‌ सुनोति०* (८।३।६५) में जो स्था कहा है, उसका ग्रहण है, सो उस स्था से लेकर सितपर्यन्त अभ्यास के व्यवाय में षत्व होगा ॥ अभितष्ठौ में इण्‌ प्रत्याहार अन्त वाला अभ्यास न होने से षत्व की प्राप्ति नहीं थी कह दिया,

एवं षिच धातु से अभिषिषिक्षति में *स्तौतिण्योरेव०* (८।३।६१) के नियम की व्यावृत्ति से षत्व प्राप्त नहीं था, प्रकृत सूत्र से हो गया ॥ अभितष्ठौ की सिद्धि सूत्र ७।१।३४ में देखें ॥ अभिषेणयति की सिद्धि सूत्र ३।१।२५ में देखें, तद्वत् 'अभिसेन णिच्' रहा। *णाविष्ठवत् प्राति०* (वा० ६।४।१५५) से टि लोप होकर अभिसेन् इ इट् सन् रहा। गुण अयादेश करके 'सेनयिष' धातु बनी, तो रूपातिदेश होकर द्वित्व एवं अभ्यास कार्य होकर 'अभि सि सेनयिष' रहा। अब यहाँ आदेश का सकार न होने से *आदेशप्र०* (८।३।५९) से षत्व प्राप्त नहीं था, प्रकृत सूत्र से होकर अभिषिषेणयिषति बन गया ॥

सूत्र में 'अभ्यासस्य' ग्रहण नियमार्थ है, क्योंकि अभ्यास को षत्व तो *उपसर्गात् सुनोति०* से उपसर्ग से उत्तर सिद्ध ही था सो नियम हुआ कि—स्थादियों में ही अभ्यास के सकार को मूर्धन्य हो अन्यों को नहीं ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।३।७० तक जायेगी ॥

उपसर्गात् सुनोतिसुवतिस्यतिस्तौतिस्तोभतिस्थासेनयसेधसिचसञ्जस्वञ्जाम् ॥८।३।६५॥

उपसर्गात् ५।१॥ सुनोति''स्वञ्जाम् ६।३॥ *स०*—सुनोति० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य, अड्व्यवायेऽपि, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य सुनोति, सुवति, स्यति, स्तौति, स्तोभति, स्था, सेनय, सेध, सिच, सञ्ज स्वञ्ज इत्येतेषां सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति, अड्व्यवायेऽपि, स्थादिषु अभ्यासेन चाभ्यासस्य ॥ *उदा०*—सुनोति—अभिषुणोति, परिषुणोति। अभ्यषुणोत्, पर्यषुणोत्। सुवति—अभिषुवति, परिषुवति। अभ्यषुवत्, पर्यषुवत्। स्यति—अभिष्यति, परिष्यति। अभ्यष्यत्, पर्यष्यत्। स्तौति—अभिष्टौति, परिष्टौति। अभ्यष्टौत्, पर्यष्टौत्। स्तोभति—अभिष्टोभते, परिष्टोभते। अभ्यष्टोभत, पर्यष्टोभत। स्था—अभिष्ठास्यति, परिष्ठास्यति। अभ्यष्ठात्, पर्यष्ठात्। अभ्यासेन व्यवाये—अभितष्ठौ, परितष्ठौ। सेनय—अभिषेणयति, परिषेणयति। अभ्यषेणयत्, पर्यषेणयत्। अभिषिषेणयिषति, परिषिषेणयिषति। सेध—अभिषेधति, परिषेधति। अभ्यषेधत्, पर्यषेधत्। अभिषिषेध, परिषि-

षेध । सिच— अभिषिञ्चति, परिषिञ्चति । अभ्यषिञ्चत्, पर्यषिञ्चत् अभिषिषिक्षति, परिषिषिक्षति । सञ्ज—अभिषजति, परिषजति । अभ्यषजत्, पर्यषजत् । अभिषिषङ्क्षति, परिषिषङ्क्षति । स्वञ्ज—अभिष्वजते, परिष्वजते । अभ्यष्वजत, पर्यष्वजत । अभिषिष्वङ्क्षते, परिषिष्वङ्क्षते ॥

भाषार्थः—[*उपसर्गात्*] उपसर्गस्थ निमित्त से उत्तर [*सुनोति*... *स्वञ्जाम्*] सुनोति, सुवति, स्यति, स्तौति, स्तोभति, स्था, सेनय, सेध (षिधू) सिच, सञ्ज, स्वञ्ज इनके सकार को मूर्धन्यादेश होता है, अट के व्यवाय में भी तथा स्थादियों के अभ्यास के व्यवाय में, एवं अभ्यास को भी ॥ षत्व कर लेने पर *रषाभ्यां नो णः०* (८।४।१) *अट्कुप्वाङ्०* (८।४।२) से णत्व सर्वत्र यथायोग करके हो जायेगा अड्व्यवाय में सर्वत्र लङ् के उदाहरण दिये हैं। षू धातु के लङ् में *अचिश्नु०* (६।४।७०) से उवङ् करके अभिषुवति आदि प्रयोग बने हैं षो धातु के ओकार का *ओतः श्यनि* (७।३।७१) से लोप होकर अभिष्यति आदि प्रयोग जानें। अभिष्ठास्यति (लृट्) आदि में षत्व कर लेने पर ष्टुत्व भी हो जायेगा। स्तौति की सिद्धि परि० १।१।६० में की है, तद्वत् अभिष्टौति आदि में समझें। अभिषेणयति आदि प्रयोग पूर्व सूत्र में देखें। षिच् धातु से सिञ्चति में *शे मुचादीनाम्* (७।१।५९) से नुम आगम होता है॥ षञ्ज धातु से *दंशसञ्ज०* (६।४।२५) से नकारलोप होकर अभिषजति आदि प्रयोग बनेंगे। सन् परे रहते नकार लोप नहीं होगा तो *नश्चापदान्तस्य०* (८।३।२४) से अनुस्वार एवं *अनुस्वारस्य ययि०* (८।४।५७) लगकर अभिषिषङ्क्षति बन गया। *चोः कुः* (८।२।३०) से यहाँ ज् को ग् तथा चर्त्व क् (८।४।५४) भी हो गया है। इसी प्रकार ष्वञ्ज से अभिषिष्वङ्क्षते बनेगा॥ इण् और कवर्ग से उत्तर षत्व होता है, अतः ये षत्व के निमित्त हैं, सो उपसर्गस्थ निमित्त से उत्तर कहने का अभिप्राय यह है कि 'यदि इण् अथवा कवर्ग उपसर्ग में स्थित हों तो उनसे उत्तर...'॥

यहाँ से '*उपसर्गात्*' की अनुवृत्ति ८।३।७७ तक जायेगी॥

सदिरप्रतेः ॥८।३।६६॥

सदिः १।१॥ अत्र षष्ठ्याः स्थाने प्रथमा॥ अप्रतेः ५।१॥ स०—न

प्रतिरप्रतिस्तस्मात्'''नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—उपसर्गात्, स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य, अड्व्यवायेऽपि, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ।। अर्थः—उपसर्गस्थान्निमित्तादप्रतेरुत्तरस्य सदेः सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति, अड्व्यवायेऽपि, स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य ।। उदा०—निषीदति, विषीदति । न्यषीदत्, व्यषीदत् । निषसाद, विषसाद ।।

भाषार्थः—[*अप्रतेः*] प्रतिभिन्न उपसर्गस्थ निमित्त से उत्तर [*सदिः*] षद्लृ धातु के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है अड्व्यवाय एवं अभ्यास के व्यवाय में भी ।। *सात् पदाद्योः* (८।३।१११) से प्रतिषेध प्राप्त था, तदर्थ यह वचन है ।। निषीदति आदि में *पाघ्राध्मा०* (७।३।७८) से सद को सीद आदेश हुआ है । निषसाद (लिट्) में शित् परे न होने से आदेश नहीं हुआ । *सदेः परस्य लिटि* (८।३।११८) के प्रतिषेध से यहाँ अभ्यास से परे वाले सकार को षत्व नहीं हुआ है ।।

स्तम्भेः ।।८।३।६७।।

स्तम्भेः ६।१।। अनु०—उपसर्गात्, स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य, अड्व्यवायेऽपि, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ।। अर्थः– उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य स्तम्भेः सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति, अड्व्यवायेऽपि, स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य ।। उदा०—अभिष्टभ्नाति, परिष्टभ्नाति । अभ्यष्टभ्नात्, पर्यष्टभ्नात् । अभितष्टम्भ, परितष्टम्भ ।।

भाषार्थः—उपसर्गस्थ निमित्त से उत्तर [*स्तम्भेः*] स्तम्भु के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है अट् के व्यवाय एवं अभ्यास व्यवाय में भी ।। स्तम्भु सौत्र धातु है । *स्तम्भुस्तुम्भु०* (३।१।८२) से श्ना विकरण तथा *अनिदितां०* (६।४।२४) से अनुनासिक लोप होकर अभिष्टभ्नाति आदि प्रयोग बने हैं । अभितष्टम्भ (लिट्) यहाँ *शर्पूर्वाः खयः* (७।४।६१) से अभ्यास का खय् शेष रहा है ।।

यहाँ से '*स्तम्भेः*' की अनुवृत्ति ८।३।६८ तक जायेगी ।।

अवाच्चालम्बनाविदूर्ययोः ।।८।३।६८।।

अवात् ५।१।। च अ० ।। आलम्बनाविदूर्ययोः ७।२।। स०—आलम्बनञ्च आविदूर्यञ्च आलम्बनाविदूर्ये, तयोः'''इतरेतरद्वन्द्वः ।। *अनु०*—

स्तन्भेः, उपसर्गात्, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्। *अर्थः*—आलम्बन आविदूर्ये चार्थे, अवोपसर्गादुत्तरस्य स्तन्भेः सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति ॥ आलम्बनमाश्रयणम्। अविदूरस्य भाव आविदूर्यम् ष्यञ्प्रत्ययः ॥ *उदा०*—आलम्बने—अवष्टभ्यास्ते। अवष्टभ्य तिष्ठति आविदूर्ये—अवष्टब्धा सेना, अवष्टब्धा शरत् ॥

भाषार्थः—[*अवात्*] अव उपसर्ग से उत्तर [च] भी स्तन्भु के सकार को [*आलम्बनाविदूर्ययोः*] आलम्बन तथा आविदूर्य अर्थ में मूर्धन्य आदेश होता है ॥ आलम्बन अर्थात् आश्रयण, एवं आविदूर्य अर्थात् समीपता ॥ अवष्टभ्यास्ते (आश्रयण करके बैठा है) यहाँ अवष्टभ्य ल्यबन्त है। अवष्टब्धा सेना (सेना समीप है) यहाँ क्त प्रत्यय करके *झषस्त०* (८।२।४०) से धत्व *झलां जश् झशि* (८।४।५२) से भ् को ब् एवं टाप् होकर अवष्टब्धा बना है ॥

यहाँ से '*अवात्*' की अनुवृत्ति ८।३।६९ तक जायेगी ॥

वेश्च स्वनो भोजने ॥८।३।६९॥

वेः ५।१॥ च अ० ॥ स्वनः ६।१॥ भोजने ७।१॥ *अनु०*—अवात्, उपसर्गात्, स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य, अड्व्यवायेऽपि, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—वेरुपसर्गादवाच्चोत्तरस्य भोजनार्थे स्वनधातोः सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति, अड्व्यवायेऽपि स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य ॥ *उदा०*—विष्वणति। व्यष्वणत्। विषष्वाण। अवात्—अवष्वणति। अवाष्वणत्। अवषष्वाण ॥

भाषार्थः—[*वेः*] वि उपसर्ग से उत्तर तथा [च] चकार से अव उपसर्ग से उत्तर [*भोजने*] भोजन अर्थ में [*स्वनः*] स्वन धातु के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है, अड्व्यवाय एवं अभ्यास व्यवाय में भी ॥ अवष्वणति का अर्थ है 'मुँह से (मुँह चलाने का) शब्द आवाज़ करते हुए खाता है'। इस प्रकार स्वन धातु शब्दार्थक होते हुये भी भोजन अर्थ में है। *अट्कु०* (८।४।२) से णत्व यहाँ हुआ है ॥

परिनिविभ्यः सेवसितसयसिवुसहसुट्स्तुस्वञ्जाम् ॥८।३।७०॥

परिनिविभ्यः ५।३॥ सेव...ञ्जाम् ६।३॥ *स०*—सेवश्च सितश्च सयश्च सिवुश्च सहश्च सुट् च स्तुश्च स्वञ् च सेव...स्वञ्जस्तेषाम्...इतरेतर-

द्वन्द्वः ॥ अनु०—उपसर्गात्, स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य, प्राक् सितादड्व्यवायेऽपि, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—परि, नि, वि इत्येतेभ्य उपसर्गेभ्य उत्तरेषां सेव, सित, सय, सिवु, सह, सुट्, स्तु, स्वञ्ज इत्येतेषां सकारस्य मूर्धन्य आदेशो भवति, प्राक्सितादड्व्यवायेऽपि स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य ॥ *उदा०*—सेव—परिषेवते, निषेवते, विषेवते। पर्यषेवत, न्यषेवत, व्यषेवत। परिषिषेविषते, निषिषेविषते, विषिषेविषते। सित—परिषितः, निषितः, विषितः। सय—परिषयः, निषयः, विषयः। सिवु—परिषीव्यति, निषीव्यति, विषीव्यति। पर्यषीव्यत्, न्यषीव्यत्, व्यषीव्यत्। पर्यसीव्यत्, न्यसीव्यत्, व्यसीव्यत्। सह—परिषहते, निषहते, विषहते। पर्यषहत, न्यषहत, व्यषहत। पर्यसहत, न्यसहत, व्यसहत। सुट्—परिष्करोति। पर्यष्करोत्। पर्यस्करोत्। स्तु—परिष्टौति, निष्टौति, विष्टौति। पर्यष्टौत्, न्यष्टौत्, व्यष्टौत्। पर्यस्तौत्, न्यस्तौत्, व्यस्तौत्। स्वञ्ज—परिष्वजते, निष्वजते, विष्वजते। पर्यष्वजत, न्यष्वजत, व्यष्वजत। पर्यस्वजत, न्यस्वजत, व्यस्वजत ॥

भाषार्थः—[*परिनिविभ्यः*] परि, नि, तथा वि उपसर्ग से उत्तर [*सेव...स्वञ्जाम्*] सेव, सित, सय, सिवु, सह, (षह) सुट्, स्तु, तथा स्वञ्ज के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है, सित शब्द से पहले २ अट् व्यवाय एवं अभ्यास व्यवाय में भी होता है ॥ तद्वत् उदाहरण सित से पूर्व २ के दिखा दिये हैं ॥ षेवृ धातु का 'सेव', तथा षिञ् बन्धने के निष्ठा का 'सित', एवं षिञ् का ही एरच् (३।३।५६) से अच् करके 'सय' निर्देश सूत्र में है, अतः तद्वत् क्तान्त एवं अच् प्रत्ययान्त शब्दों को षत्व होगा। परिषिषेविषते आदि पूर्ववत् णिजन्त के सन् के रूप हैं। सिवु (षिवु) से आगे के प्रयोगों में *सिवादीनां वाड्०* (८।३।७१) से अट् के व्यवाय में विकल्प से षत्व होता है, अतः अट् के व्यवाय के दो २ प्रयोग दिखाये हैं। *सम्परिभ्यां०* (६।१।१३२) से परि से उत्तर सुट् कहा है नि, वि से उत्तर नहीं, अतः परि का ही उदाहरण दिखाया है ॥ स्तु तथा स्वञ्ज को *उपसर्गात् सुनोति०* (८।३।६५) से ही षत्व प्राप्त था, अगले सूत्र से अड्व्यवाय में षत्व का विकल्प करने के लिये इनका ग्रहण है, अन्यथा ८।३।६५ से नित्य ही षत्व होता। परिष्वजते आदि में *दंशसञ्ज०* (६।४।२५) से अनुनासिक लोप होगा ॥

यहाँ से '*परिनिविभ्यः*' की अनुवृत्ति ८।३।७१ तक जायेगी ॥

सिवादीनां वाऽड्व्यवायेऽपि ॥८।३।७१॥

सिवादीनाम् ६।३॥ वा अ० ॥ अड्व्यवाये ७।१॥ अपि अ० ॥ *स०*—सिव् आदिर्येषां ते सिवादयस्तेषां''बहुव्रीहिः । अटा व्यवायोऽड्व्यवायस्तस्मिन्''तृतीयातत्पुरुषः ॥ *अनु०*-परिनिविभ्यः, उपसर्गात्, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—परिनिविभ्य उपसर्गेभ्य उत्तरेषां सिवादीनामड्व्यवायेऽपि सकारस्य वा मूर्धन्यादेशो भवति ॥ पूर्वसूत्रोक्ताः सिवुसहसुट्स्तुस्वञ्जाम् इति सिवादयः ॥ पूर्वसूत्रे तथैवोदाहृतमत्रापि द्रष्टव्यम् ॥

भाषार्थः—परि, नि, वि उपसर्गों से उत्तर [*सिवादीनाम्*] सिवादियों के सकार को [*अड्व्यवाये*] अट् के व्यवधान होने पर [*अपि*] भी [*वा*] विकल्प से मूर्धन्य आदेश होता है ॥ सिवादि से पूर्व सूत्र में कहे हुये सिवु से लेकर स्वञ्ज तक का ग्रहण है ॥

यहाँ से '*वा*' की अनुवृत्ति ८।३।७६ तक जायेगी ॥

अनुविपर्यभिनिभ्यः स्यन्दतेरप्राणिषु ॥८।३।७२॥

अनुविपर्यभिनिभ्यः ५।३॥ स्यन्दतेः ६।१॥ अप्राणिषु ७।३॥ *स०*—अनुश्च विश्च परिश्च अभिश्च निश्च अनु''नयस्तेभ्यः'''इतरेतरद्वन्द्वः । न प्राणिनोऽप्राणिनस्तेषु''नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—वा, उपसर्गात्, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अनु, वि, परि, अभि, नि इत्येतेभ्य उपसर्गेभ्य अप्राणिषु स्यन्दतेः सकारस्य वा मूर्धन्यादेशो भवति ॥ *उदा०*—अनुष्यन्दते, विष्यन्दते, परिष्यन्दते, अभिष्यन्दते, निष्यन्दते । पक्षे—अनुस्यन्दते, विस्यन्दते, परिस्यन्दते, अभिस्यन्दते, निस्यन्दते ॥

भाषार्थः—[*अनु''भ्यः*] अनु, वि, परि, अभि, नि उपसर्गों से उत्तर [*स्यन्दतेः*] स्यन्दू धातु के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है, यदि [*अप्राणिषु*] प्राणि का कथन न हो रहा हो तो ॥

वेः स्कन्देरनिष्ठायाम् ॥८।३।७३॥

वेः ५।१॥ स्कन्देः ६।१॥ अनिष्ठायाम् ७।१॥ *स०*—अनिष्ठा० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—वा, उपसर्गात्, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः,

संहितायाम् ॥ *अर्थः*—वेरुपसर्गादुत्तरस्य स्कन्देः सकारस्य वा मूर्धन्यादेशो भवत्यनिष्ठायाम् ॥ *उदा०*—विष्कन्ता, विष्कन्तुम्, विष्कन्तव्यम् । पक्षे—विस्कन्ता, विस्कन्तुम्, विस्कन्तव्यम् ॥

भाषार्थः—[*वेः*] वि उपसर्ग से उत्तर [*स्कन्देः*] स्कन्दिर् धातु के सकार को [*अनिष्ठायाम्*] निष्ठा परे न हो तो विकल्प से मूर्धन्य आदेश होता है ॥ वि स्कन्द् तृच् = चर्त्व होकर (८।४।५४) विष्कन्त् ता = *झरो झरि सवर्णे* (८।४।६४) लगकर विष्कन्ता बना । इसी प्रकार सबमें जानें ॥

यहाँ से '*स्कन्देः*' की अनुवृत्ति ८।३।७४ तक जायेगी ॥

परेश्च ॥८।३।७४॥

परेः ५।१॥ च अ० ॥ अनु०—स्कन्देः, वा, उपसर्गात्, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—परेरुपसर्गाच्चोत्तरस्य स्कन्देः सकारस्य वा मूर्धन्यादेशो भवति ॥ *उदा०*—परिष्कन्ता, परिष्कन्तुम्, परिष्कन्तव्यम् । पक्षे—परिस्कन्ता, परिस्कन्तुम्, परिस्कन्तव्यम् । परिष्कण्णः, परिस्कन्नः ॥

भाषार्थः—[*परेः*] परि उपसर्ग से उत्तर [*च*] भी स्कन्द् के सकार को विकल्प से मूर्धन्यादेश होता है ॥ क्त में स्कन्द् के अनुनासिक का *अनिदितां हल०* (६।४।२४) से लोप तथा निष्ठा तकार एवं पूर्व दकार को *रदाभ्यां निष्ठातो०* (८।२।४२) से नत्व एवं षत्व पक्ष में णत्व (८।४।२) होकर परिष्कण्णः परिस्कन्नः बन गया ॥

परिस्कन्दः प्राच्यभरतेषु ॥८।३।७५॥

परिस्कन्दः १।१॥ प्राच्यभरतेषु ७।३॥ *स०*—प्राच्याश्चासौ भरताश्च प्राच्यभरतास्तेषु ··· कर्मधारयतत्पुरुषः ॥ *अर्थः*—परिस्कन्द इत्यत्र मूर्धन्याभावो निपात्यते प्राच्यभरतेषु प्रयोगविषयेषु ॥ पूर्वेण मूर्धन्ये प्राप्ते तदभावो निपात्यते ॥ परिस्कन्दः ॥

भाषार्थः—[*परिस्कन्दः*] परिस्कन्द शब्द में मूर्धन्याभाव निपातन है, [*प्राच्यभरतेषु*] प्राग्देशीयान्तर्गत भरतदेश के प्रयोग विषय में ॥ पूर्व सूत्र से षत्व प्राप्त था तदभाव निपातन कर दिया । परिस्कन्दः शब्द पचाद्यच् प्रत्ययान्त है ॥

स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्निविभ्यः ॥८।३।७६॥

स्फुरतिस्फुलत्योः ६।२॥ निर्निविभ्यः ५।३॥ *स०*—स्फुरतिश्च स्फुलतिश्च स्फुरतिस्फुलती, तयोः '''इतरेतरद्वन्द्वः । निस् च निश्च विश्च निर्निवयस्तेभ्यः '''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—वा, उपसर्गात्, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—निस्, नि, वि इत्येतेभ्य उपसर्गेभ्य उत्तरस्य स्फुरतिस्फुलत्योः सकारस्य वा मूर्धन्यादेशो भवति ॥ *उदा०*—स्फुरति–निष्ष्फुरति, निष्फुरति । विष्फुरति । पक्षे–निस्स्फुरति, निस्फुरति, विस्फुरति । स्फुलति–निष्ष्फुलति, निष्फुलति । विष्फुलति । पक्षे–निस्स्फुलति, निस्फुलति, विस्फुलति ॥

भाषार्थः—[*निर्निविभ्यः*] निस्, नि, वि उपसर्ग से उत्तर [*स्फुरतिस्फुलत्योः*] स्फुरति तथा स्फुलति के सकार को विकल्प से मूर्धन्य आदेश होता है ॥ निस् स्फुरति = निस् ष्फुरति = ष्टुत्व होकर निषष्फुरति बन गया ॥

वेः स्कभ्नातेर्नित्यम् ॥८।३।७७॥

वेः ५।१॥ स्कभ्नातेः ६।१॥ नित्यम् १।१॥ *अनु०*—उपसर्गात्, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—वेरुपसर्गादुत्तरस्य स्कभ्नातेः सकारस्य नित्यं मूर्धन्यादेशो भवति ॥ *उदा०*—विष्कभ्नाति । विष्कम्भिता, विष्कम्भितुम्, विष्कम्भितव्यम् ॥

भाषार्थः—[*वेः*] वि उपसर्ग से उत्तर [*स्कभ्नातेः*] स्कन्भु (सौत्र धातु) के सकार को [*नित्यम्*] नित्य ही मूर्धन्य आदेश होता है ॥ *स्तन्भुस्तुन्भु०* (३।१।८२) से विष्कभ्नाति में श्ना विकरण हुआ है ॥

इणः षीध्वंलुङ्लिटां धोऽङ्गात् ॥८।३।७८॥

इणः ५।१॥ षीध्वंलुङ्लिटाम् ६।३॥ धः ६।१॥ अङ्गात् ५।१॥ *स०*—षीध्वं च लुङ् च लिट् च षीध्वंलुङ्लिटस्तेषाम् '''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—इणन्तादङ्गादुत्तरेषां षीध्वम्, लुङ्, लिट् इत्येतेषां यो धकारस्तस्य मूर्धन्यादेशो भवति ॥ *उदा०*—षीध्वम्–च्योषीढ्वम्, प्लोषीढ्वम् । लुङ्–अच्योढ्वम्, अप्लोढ्वम् । लिट्–चकृढ्वे, ववृढ्वे ॥

भाषार्थः—[*इणः*] इणन्त (इण् प्रत्याहार अन्त वाले) [*अङ्गात्*] अङ्ग से उत्तर [*षीध्वंलुङ्लिटाम्*] षीध्वम्, लुङ्, तथा लिट् का जो [*धः*] धकार उसको मूर्धन्य आदेश होता है॥ आशीर्लिङ् में च्युङ् प्लुङ् धातु से च्यु सीयुट् ध्वम् = च्यो सीय् ध्वम् = षत्व (८।३।५९) तथा य् का लोप (६।१।६४) होकर च्योषीध्वम् रहा। अब यहाँ प्रकृत सूत्र से षीध्वम् के ध् को मूर्धन्य होकर च्योषीढ्वम् प्लोषीढ्वम् बन गया। लुङ् में *धि च* (८।२।२५) से सिच् के स् का लोप एवं ध् को मूर्धन्य होकर अच्योढ्वम् बन गया। *एकाच उपदेशे०* (७।२।१०) से सर्वत्र इट् निषेध जानें। लिट् में कृ को द्वित्वादि होकर च कृ ध्वम् = *टित आत्मने०* (३।४।७९) से एत्व तथा मूर्धन्य होकर चकृढ्वे ववृढ्वे बन गया। यहाँ *कृसृभृ०* (७।२।१३) से इट् निषेध हुआ है। मूर्धन्य कहने से यहाँ *स्थानेऽन्तरतमः* (१।१।४९) से मूर्धा स्थानी ध् को ढ् हो गया है॥

यहाँ से 'इणः *षीध्वंलुङ्लिटाम् धः*' की अनुवृत्ति ८।३।७९ तक जायेगी॥

विभाषेटः ॥८।३।७९॥

विभाषा १।१॥ इटः ५।१॥ *अनु०*—इणः षीध्वंलुङ्लिटां धः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—इणः परस्मात् इट उत्तरेषां षीध्वंलुङ्लिटां यो धकारस्तस्य विकल्पेन मूर्धन्यादेशो भवति॥ *उदा०*—लविषीध्वम्, लविषीढ्वम्। पविषीध्वम्, पविषीढ्वम्। लुङ्—अलविध्वम्, अलविढ्वम्। लिट्—लुलुविध्वे, लुलुविढ्वे॥

भाषार्थः—इण् से उत्तर जो [*इटः*] इट् उससे उत्तर जो षीध्वम्, लुङ् तथा लिट् का धकार उसको [*विभाषा*] विकल्प से मूर्धन्य आदेश होता है॥ पूर्ववत् लिङ् में लू इट् सीयुट् ध्वम् = लू इ षी ध्वम् रहा। अब यहाँ लू का ऊ इण् है सो उससे उत्तर जो इट् उससे परे षीध्वम् के ध् को मूर्धन्य होकर लू इ षीढ्वम् = लो इ षीढ्वम् = लविषीढ्वम् बन गया। पक्ष में ध् ही रहा। अलविध्वम् अलविढ्वम् की सिद्धि सूत्र ८।२।२५ में देखें। लिट् में लू को द्वित्वादि कार्य एवं *अचि श्नुधातु०* (६।४।७७) से उवङ् होकर लुलुविढ्वे लुलुविध्वे बना है॥

समासेऽङ्गुलेः सङ्गः ॥८।३।८०॥

समासे ७।१॥ अङ्गुलेः ५।१॥ सङ्गः १।१॥ षष्ठ्याः स्थाने प्रथमाऽत्र व्यत्ययेन॥ *अनु०*—सः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य

मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—सङ्गशब्दस्य सकारस्याङ्गुलेरुत्तरस्य मूर्धन्यादेशो भवति समासे ॥ *उदा०*—अङ्गुलेः सङ्गः = अङ्गुलिषङ्गः । अङ्गुलिषङ्गा यवागूः । अङ्गुलिषङ्गो गाः सादयति ॥

भाषार्थः—[*समासे*] समास में [*अङ्गुलेः*] अङ्गुलि शब्द से उत्तर [*सङ्गः*] सङ्ग शब्द के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है ॥ सङ्ग अर्थात् संश्लेष, अङ्गुलिषङ्गः = अङ्गुलि का संश्लेष ॥ *सात् पदाद्योः* (८।३।१११) से प्रतिषेध प्राप्त था, तदर्थ यह सूत्र है ॥

यहाँ से '*समासे*' की अनुवृत्ति ८।३।८५ तक जायेगी ॥

भीरोः स्थानम् ॥८।३।८१॥

भीरोः ५।१॥ स्थानम् १।१॥ षष्ठ्यर्थे प्रथमा ॥ *अनु०*—समासे, सः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—स्थानसकारस्य भीरोरुत्तरस्य मूर्धन्यादेशो भवति समासे ॥ *उदा०*—भीरोः स्थानम् = भीरुष्ठानम् ॥

भाषार्थः—[*भीरोः*] भीरु शब्द से उत्तर [*स्थानम्*] स्थान शब्द के सकार को समास में मूर्धन्य आदेश होता है ॥

अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः ॥८।३।८२॥

अग्नेः ५।१॥ स्तुत्स्तोमसोमाः १।३॥ *स०*—स्तुत्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—समासे, सः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अग्नेरुत्तरस्य स्तुत् , स्तोम, सोम इत्येतेषां सकारस्य समासे मूर्धन्यादेशो भवति ॥ *उदा०*—अग्निष्टुत् अग्निष्टोमः, अग्नीषोमौ ॥

भाषार्थः—[*अग्नेः*] अग्नि शब्द से उत्तर [*स्तुत्स्तोमसोमाः*] स्तुत् , स्तोम, तथा सोम के सकार को समास में मूर्धन्य आदेश होता है ॥ परि० १।१।६१ के अग्निचित् के समान अग्निस्तुत् बन कर पश्चात् षत्व ष्टुत्व अग्निष्टुत् में हुआ है । अग्निष्टोमः में षष्ठी समास है । अग्नीषोमौ यहाँ द्वन्द्व समास है, तथा ईदग्नेः *सोम०* (६।३।२५) से अग्नि को ईत्व हुआ है ॥ स्तोम सोम शब्द १।१४० उणादि से मन् प्रत्ययान्त हैं, *सात्पदाद्योः* से पदादि लक्षण प्रतिषेध सर्वत्र प्राप्त था विधान कर दिया ॥

ज्योतिरायुषः स्तोमः ॥८।३।८३॥

ज्योतिरायुषः ५।१॥ स्तोमः १।१॥ *स०*—ज्योतिश्च आयुश्च ज्योतिरायुस्तस्मात्''समाहारो द्वन्द्वः ॥ *अनु०*—समासे, सः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—ज्योतिस् आयुस् इत्येताभ्यामुत्तरस्य स्तोमसकारस्य समासे मूर्धन्यादेशो भवति ॥ *उदा०*—ज्योतिषः स्तोमः = ज्योतिष्ष्टोमः, आयुष्ष्टोमः। ज्योतिःष्टोमः, आयुःष्टोमः ॥

भाषार्थः—[*ज्योतिरायुषः*] ज्योतिस् तथा आयुस् शब्द से उत्तर [*स्तोमः*] स्तोम शब्द के सकार को समास में मूर्धन्य आदेश होता है ॥ ज्योतिस् आयुस् के स् को विसर्जनीय होकर स्तोम परे रहते *वा शरि* (८।३।३६) से पक्ष में सत्व एवं स्तोम के स् को ष् करने पर ष्टुत्व होकर ज्योतिष्ष्टोमः, आयुष्ष्टोमः प्रयोग बन गये। पक्ष में जब *वा शरि* से विसर्जनीय हुआ तो ज्योतिःष्टोमः, आयुःष्टोमः प्रयोग बन गये॥ पूर्ववत् प्रतिषेध प्राप्त था कह दिया ॥

मातृपितृभ्यां स्वसा ॥८।३।८४॥

मातृपितृभ्याम् ५।२॥ स्वसा १।१॥ *अनु०*—समासे, सः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—मातृ पितृ इत्येताभ्यामुत्तरस्य स्वसृसकारस्य समासे मूर्धन्यादेशो भवति ॥ *उदा०*—मातृष्वसा, पितृष्वसा ॥

भाषार्थः—[*मातृपितृभ्याम्*] मातृ तथा पितृ शब्द से उत्तर [*स्वसा*] स्वसृ शब्द के सकार को समास में मूर्धन्य आदेश होता है ॥ उदाहरणों में षष्ठी समास है। *विभाषा स्वसृपत्योः* (६।३।२२) से यहाँ जब षष्ठी का लुक् हो गया है, उस पक्ष के ये उदाहरण हैं। अनादेश का सकार होने से उत्सर्ग सूत्र (८।३।५९) से षत्व प्राप्त नहीं था अप्राप्त विधान है, ऐसा अन्यत्र भी जहाँ किसी का अपवाद रूप सूत्र न हो, समझें ॥

यहाँ से '*स्वसा*' की अनुवृत्ति ८।३।८५ तक जायेगी ॥

मातुःपितुर्भ्यामन्यतरस्याम् ॥८।३।८५॥

मातुःपितुर्भ्याम् ५।२॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *स०*—मातुश्च पितुश्च मातुःपितुरौ, ताभ्यां'''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—स्वसा, समासे, सः,

नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ।। *अर्थः*—मातुर् पितुर् इत्येताभ्यामुत्तरस्य स्वसृशब्दस्य सकारस्य समासे विकल्पेन मूर्धन्यादेशो भवति ।। *उदा०*—मातुःष्वसा, मातुःस्वसा । पितुःष्वसा, पितुःस्वसा ।।

भाषार्थः—[*मातुःपितुभ्यर्याम्*] मातुर् तथा पितुर् शब्द से उत्तर स्वसृ के सकार को समास में [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प करके मूर्धन्य आदेश होता है ।। मातुर् पितुर् यह षष्ठ्यन्त का अनुकरण है, सो वैसा ही निर्देश सूत्र में कर दिया है । मातुर् पितुर् के रेफ को विसर्जनीय पूर्ववत् उदाहरणों में हुआ है । षष्ठी विभक्ति का अलुक् यहाँ *विभाषा स्वसृपत्योः* (६।३।२२) से होता है । *वा शरि* से पक्ष में जब विसर्जनीय को सत्व होगा तो स् को ष्टुत्व होकर मातुष्ष्वसा पितृष्ष्वसा प्रयोग भी बनेंगे, ऐसा जानें ।।

यहाँ से '*अन्यतरस्याम्*' की अनुवृत्ति ८।३।८६ तक जायेगी ।।

अभिनिसःस्तनः शब्दसंज्ञायाम् ।।८।३।८६।।

अभिनिसः ५।१।। स्तनः ६।१।। शब्दसंज्ञायाम् ७।१।। *स०*—अभिश्च निस् च अभिनिः, तस्मात्'''समाहारद्वन्द्वः । शब्दस्य संज्ञा शब्दसंज्ञा, तस्याम्'''षष्ठीतत्पुरुषः ।। *अनु०*—अन्यतरस्याम्, सः, नुम्विसर्जनीय-शर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ।। *अर्थः*—अभि निस् इत्येतस्मादुत्तरस्य स्तनधातोः सकारस्य शब्दसंज्ञायाम् गम्यमानायाम् विकल्पेन मूर्धन्यादेशो भवति ।। *उदा०*—अभिनिष्टानो वर्णः, अभिनिष्टानो विसर्जनीयः । पक्षे—अभिनिस्तानो वर्णः, अभिनिस्तानो विसर्जनीयः ।।

भाषार्थः—[*अभिनिसः*] अभि तथा निस् से उत्तर [*स्तनः*] स्तन धातु के सकार को [*शब्दसंज्ञायाम्*] शब्द की संज्ञा गम्यमान हो तो विकल्प से मूर्धन्य आदेश होता है ।। अभि निस् ये समुदित रूप से उदाहरणों में आयें तभी षत्व होता है । अभिनिष्टान विसर्जनीय रूप वर्ण विशेष की संज्ञा है । पूर्व उदाहरण में वर्ण सामान्य का निर्देश होने पर भी विसर्जनीय रूप वर्ण की ही संज्ञा जाननी चाहिए । आपस्तम्बगृह्यसूत्र के नाम प्रकरण में 'अभिनिष्टान्तम्' पद विसर्जनीय के लिए प्रयुक्त है । क्या वह पाठाशुद्धि सम्भव है ?

उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः ॥८।३।८७॥

उपसर्गप्रादुर्भ्याम् ५।२॥ अस्तिः १।१॥ यच्परः १।१॥ स०—उपसर्गश्च प्रादुश्च उपसर्गप्रादुसौ, ताभ्यां ''इतरेतरद्वन्द्वः। यश्च अच् च यचौ, यचौ परौ यस्मात् स यच्परः, द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ अनु०—सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य प्रादुस्शब्दाच्चोत्तरस्य यकारपरस्य अच्परस्य चास्तेः सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदा०—अच्परस्यास्तेः—अभिषन्ति, निषन्ति, विषन्ति। प्रादुःषन्ति। यकारपरस्यास्तेः—अभिष्यात्, निष्यात्, विष्यात्। प्रादुःष्यात् ॥

भाषार्थः—[*उपसर्गप्रादुर्भ्याम्*] उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर (अर्थात् इण् कवर्ग) तथा प्रादुस् शब्द से उत्तर [*यच्परः*] यकारपरक एवं अच्परक [*अस्तिः*] अस् धातु के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है ॥ अभिषन्ति आदि में अस् के सकार से परे अन्ति का 'अ' अच् परे है। अदादिगणस्थ होने से शप् का लुक् तथा *श्नसोरल्लोपः* (६।४।१११) से अस् के अ का लोप यहाँ होता है। अभिष्यात् आदि में यासुट् का यकार परे है, शेष पूर्ववत् है ॥ यासुट् के स् का लोप *लिङः सलोपो०* (७।२।७९) से होगा ॥

सुविनिर्दुर्भ्यः सुपिसूतिसमाः ॥८।३।८८॥

सुविनिर्दुर्भ्यः ५।३॥ सुपिसूतिसमाः १।३॥ स०—सुश्च विश्च निर् च दुर् च सुविनिर्दुरस्तेभ्यः'''इतरेतरद्वन्द्वः। सुपि० इत्यत्रापीतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—सः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—सु, वि, निर्, दुर् इत्येतेभ्य उत्तरस्य सुपि सूति सम इत्येतेषां सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदा०—सुषुप्तः, विषुप्तः, निःषुप्तः, दुःषुप्तः। सूति—सुषूतिः, विषूतिः, निःषूतिः, दुःषूतिः। सम—सुषमम्, विषमम्, निःषमम्, दुःषमम् ॥

भाषार्थः—[*सुविनिर्दुर्भ्यः*] सु, वि, निर् तथा दुर् से उत्तर [*सुपिसूतिसमाः*] सुपि, सूति, तथा सम के सकार को मूर्धन्यादेश होता है ॥ स्वप् को सम्प्रसारण (६।१।१५) करके सूत्र में 'सुपि' निर्देश है। षू धातु का क्तिन् में सूतिः रूप बना है, अतः क्तिन्नन्त को ही षत्व होगा ॥ सुपि

सूति को *सात्पदाद्योः* (८।३।१११) से पदादि लक्षण निषेध प्राप्त था, कह दिया ।। निर् दुर् उपसर्गों के र् को विसर्जनीय पूर्ववत् हुआ है ।।

निनदीभ्यां स्नातेः कौशले ।।८।३।८९।।

निनदीभ्याम् ५।२।। स्नातेः ६।१।। कौशले ७।१।। *स०*—निश्च नदी च निनद्यौ, ताभ्याम्'''इतरेतरद्वन्द्वः ।। *अनु०*—सः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ।। *अर्थः*—नि नदी इत्येताभ्यामुत्तरस्य स्नातेः सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति, कौशले गम्यमाने ।। *उदा०*—निष्णातः कटकरणे, निष्णातो रज्जुवर्त्तने । नद्यां स्नातीति नदीष्णः ।।

भाषार्थः—[*निनदीभ्याम्*] नि तथा नदी इनसे उत्तर [*स्नातेः*] ष्णा शौचे धातु के सकार को [*कौशले*] कुशलता गम्यमान हो तो मूर्धन्य आदेश होता है ।। पदादि मानकर *सात्पदाद्योः* (८।३।१११) से निषेध प्राप्त था, विधान कर दिया ।। निष्णातः कटकरणे = चटाई बनाने में जो होशियार । ष्णा के ष् को पहिले *धात्वादेः०* (६।१।६२) से सत्व होकर स्ना रहा । तत्पश्चात् नि, नदी से उत्तर षत्व ष्टुत्व हो गया । नदीष्णः (नदी स्नान में कुशल) में *सुपि स्थः* (३।२।४) के योगविभाग से ष्णा से भी क प्रत्यय हो जाता है । पश्चात् *आतो लोप०* (६।४।६४) से 'ष्णा' का 'आ' लोप हो जायेगा ।।

सूत्रं प्रतिष्णातम् ।।८।३।९०।।

सूत्रम् १।१।। प्रतिष्णातम् १।१।। *अनु०*—सः, मूर्धन्यः, संहितायाम् ।। *अर्थः*—प्रतिष्णातमित्यत्र मूर्धन्यादेशो निपात्यते, सूत्रं चेत्तद् भवति ।। *उदा०*—प्रतिष्णातं सूत्रम् ।।

भाषार्थः—[*प्रतिष्णातम्*] प्रतिष्णातम् में षत्व निपातन है [*सूत्रम्*] सूत्र (धागा) को कहने में ।। प्रति स्ना क्त = प्रतिष्णातम् । पूर्ववत् *सात्पदाद्योः* से षत्व प्रतिषेध प्राप्त था, निपातन कर दिया ।। प्रतिष्णातम् अर्थात् शुद्ध सूत ।।

कपिष्ठलो गोत्रे ।।८।३।९१।।

कपिष्ठलः १।१।। गोत्रे ७।१।। *अनु०*—सः, मूर्धन्यः, संहितायाम् ।। *अर्थः*—कपिष्ठल इति मूर्धन्यादेशो निपात्यते, गोत्रविषये ।। *उदा०*—कपिष्ठलो नाम यस्य कापिष्ठलिः पुत्रः ।।

भाषार्थः—[*कपिष्ठलः*] कपिष्ठल में मूर्धन्य आदेश निपातन है [*गोत्रे*] गोत्र विषय को कहने में ॥

गोत्र से यहाँ लौकिक गोत्र का ग्रहण है, न कि पारिभाषिक (४।१।१६२)। लौकिक गोत्र में जिस विशिष्ट पुरुष से सन्तति का प्रारम्भ होता है, उसकी एवं उसके आगे की गोत्र संज्ञा होती है। इस प्रकार कपिष्ठल में आदि पुरुष मान कर षत्व हो गया है, अन्यथा *अपत्यं पौत्र०* (४।१।१६२) के कारण कापिष्ठलिः में ही षत्व होता, कपिष्ठल में नहीं ॥

प्रष्ठोऽग्रगामिनि ॥८।३।९२॥

प्रष्ठः १।१॥ अग्रगामिनि ७।१॥ *स०*—अग्रे गच्छतीति अग्रगामी, तस्मिन्''' तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—सः, मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—प्रष्ठ इति निपात्यते अग्रगामिन्यभिधेये ॥ *उदा०*—प्रतिष्ठत इति प्रष्ठोऽश्वः ॥

भाषार्थः—[*प्रष्ठः*] प्रष्ठ इस शब्द में [*अग्रगामिनि*] अग्रगामी अभिधेय हो तो षत्व निपातन है ॥ प्रष्ठोऽश्वः अर्थात् आगे चलने वाला अश्व ॥ प्रष्ठः में *सुपि स्थः* (३।२।४) से क प्रत्यय हुआ है ॥

वृक्षासनयोर्विष्टरः ॥८।३।९३॥

वृक्षासनयोः ७।२॥ विष्टरः १।१॥ *स०*—वृक्षश्च आसनञ्च वृक्षासने, तयोः''' इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सः, मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—विष्टर इति निपात्यते, वृक्षे आसने च वाच्ये ॥ *उदा०*—विष्टरो वृक्षः, विष्टरमासनम् ॥

भाषार्थः—[*वृक्षासनयोः*] वृक्ष तथा आसन वाच्य हो तो [*विष्टरः*] विष्टर शब्द में षत्व निपातन है ॥ वि पूर्वक स्तॄञ् से *ऋदोरप्* (३।३।५७) से अप् प्रत्यय करके विस्तर = विष्टर बना है ॥

यहाँ से '*विष्टरः*' की अनुवृत्ति ८।३।९४ तक जायेगी ॥

छन्दोनाम्नि च ॥८।३।९४॥

छन्दोनाम्नि ७।१॥ च अ० ॥ *स०*—छन्दसः नाम छन्दोनाम, तस्मिन्''' षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—विष्टरः, सः, मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—छन्दोनाम्नि सति विष्टार इत्यत्र मूर्धन्यादेशो निपात्यते ॥ *उदा०*—विष्टारपङ्क्तिः छन्दः, विष्टारबृहती छन्दः ॥

भाषार्थः—[*छन्दोनाम्नि*] छन्द का नाम कहना हो तो [*च*] भी विष्टार शब्द में षत्व निपातन किया है ॥ यहाँ यद्यपि 'विष्टरः' की अनुवृत्ति आ रही थी किन्तु विष्टार में *छन्दोनाम्नि च* (३।३।३४) से घञ् होने से वृद्धि (७।२।११५) होकर विष्टार ही बनेगा, अतः विष्टार निपातन माना है ॥ छन्द से यहाँ विष्टारपङ्क्ति आदि छन्द (छन्दों के नाम) गृहीत हैं न कि वेद । सिद्धि के लिये ३।३।३४ सूत्र ही देखें ॥

गवियुधिभ्यां स्थिरः ॥८।३।९५॥

गवियुधिभ्याम् ५।२॥ स्थिरः १।१॥ स०—गवि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—गवि युधि इत्येताभ्यामुत्तरस्य स्थिरसकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति ॥ *उदा०*—गवि तिष्ठतीति गविष्ठिरः, युधिष्ठिरः ॥

भाषार्थः—[*गवियुधिभ्याम्*] गवि तथा युधि से उत्तर [*स्थिरः*] स्थिर शब्द के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है ॥ गवि युधि सप्तम्यन्त के अनुकरण रूप शब्द हैं । युधिष्ठिरः में युधि के सप्तमी का अलुक् *हलदन्तात्०* (६।३।७) से हुआ है, तथा गो शब्द के अहलन्त होने से विभक्ति लुक् अप्राप्त था इसी सूत्र के निपातन से विभक्ति का अलुक् हुआ है ॥ पदादि मानकर *सात्पदाद्योः* (८।३।१११) से षत्व प्रतिषेध प्राप्त था तदर्थ यह वचन है ॥

विकुशमिपरिभ्यः स्थलम् ॥८।३।९६॥

विकुशमिपरिभ्यः ५।३॥ स्थलम् १।१॥ *स०*—विश्च कुश्च शमी च परिश्च विकु···रयः, तेभ्यः··· इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—वि, कु, शमि, परि इत्येतेभ्य उत्तरस्य स्थलसकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति ॥ *उदा०*—विष्ठलम्, कुष्ठलम्, शमीनां स्थलम् = शमिष्ठलम्, परिष्ठलम् ॥

भाषार्थः—[*विकुशमिपरिभ्यः*] वि, कु, शमि तथा परि से उत्तर [*स्थलम्*] स्थल शब्द के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है ॥ वि, कु तथा परि के साथ स्थल का *कुगतिप्रादयः* (२।२।१८) से समास हुआ है, तथा शमिष्ठलम् में षष्ठीसमास हुआ है । शमिष्ठलम् में शमी को ह्रस्व *ङ्यापोः संज्ञा०* (६।३।६१) से होता है ॥

यहाँ सूत्र में 'शमी' को ह्रस्व यह दर्शाने के लिये पढ़ा है, कि जब
से ह्रस्वत्व हो तभी षत्व हो। बहुल कहने से जब दीर्घ भी रहे तब
त्व न हो ॥

अम्बाम्बगोभूमिसव्यापद्वित्रिकुशेकुशङ्क्वङ्गुमञ्जिपुञ्जि परमेबर्हिर्दिव्यग्निभ्यः स्थः ॥८।३।९७॥

अम्बा''ग्निभ्यः ५।३॥ स्थः १।१॥ स०—अम्बा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥
नु०—सः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—अम्ब, आम्ब,
ो, भूमि, सव्य, अप, द्वि, त्रि, कु, शेकु, शङ्कु, अङ्गु, मञ्जि, पुञ्जि, परमे,
र्हिस्, दिवि, अग्नि इत्येतेभ्य उत्तरस्य स्थशब्दस्य सकारस्य मूर्धन्यादेशो
वति॥ *उदा०*—अम्बष्ठः, आम्बष्ठः, गोष्ठः, भूमिष्ठः, सव्येष्ठः, अपष्ठः,
द्वष्ठः, त्रिष्ठः, कुष्ठः, शेकुष्ठः, शङ्कुष्ठः, अङ्गुष्ठः मञ्जिष्ठः, पुञ्जिष्ठः, परमेष्ठः,
र्हिष्ठः, दिविष्ठः, अग्निष्ठः॥

भाषार्थः—[*अम्बा''ग्निभ्यः*] अम्ब, आम्ब, गो, भूमि, सव्य, अप,
द्वि, त्रि, कु, शेकु, शङ्कु, अङ्गु, मञ्जि, पुञ्जि, परमे, बर्हिस्, दिवि,
अग्नि इन शब्दों से उत्तर [स्थः] स्था के सकार को मूर्धन्य आदेश होता
॥ स्था से क प्रत्यय तथा आकार लोप करके 'स्थः' सूत्र में निर्देश है,
ो उदाहरणों में कप्रत्ययान्त का ही ग्रहण होगा। अम्बष्ठः यहाँ अम्बा को
यापोः संज्ञा० (६।३।६१) से ह्रस्व होगा। गोष्ठः में *घञर्थे कविधानम्*
वा० ३।३।५८) से क प्रत्यय तथा अन्यत्र *सुपि स्थः* (३।२।४) से क हुआ
। सव्येष्ठः में *हलदन्तात्०* (६।३।७) से विभक्ति का अलुक् हुआ है।
त्व कर लेने पर ष्टुत्व पूर्ववत् हो ही जायेगा॥

सुषामादिषु च ॥८।३।९८॥

सुषामादिषु ७।३॥ च अ०॥ *स०*—सुषामा आदिर्येषां ते सुषामा-
यस्तेषु''बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः,
ुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, संहितायाम्॥ *अर्थः*—सुषामादिषु शब्देषु
कारस्य मूर्धन्यादेशो भवति॥ *उदा०*—शोभनं साम यस्यासौ सुषामा
ाह्मणः, निष्षामा, दुष्षामा॥

भाषार्थः—[*सुषामादिषु*] सुषामादि शब्दों के सकार को [च] भी
ूर्धन्य आदेश होता है॥ निस् दुस् के सकार को विसर्जनीय होकर

वा शरि (८।३।३६) से पक्ष में सत्व तथा ष्टुत्व होकर निष्षामा दुष्षामा बना है ॥

एति संज्ञायामगात् ॥८।३।९९॥

एति ७।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ अगात् ५।१॥ *स०*—न गः अगस्तस्मात्..'नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अगकाराद् इण्कोरुत्तरस्य सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति, एकारे परतः संज्ञायां विषये ॥ *उदा०*—हरयः सेना अस्य = हरिषेणः, वारिषेणः, जानुषेणी ॥

भाषार्थः—[*अगात्*] गकारभिन्न इण् तथा कवर्ग से उत्तर सकार को [*एति*] एकार परे रहते [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में मूर्धन्य आदेश होता है ॥ उदाहरणों में 'सेना' को *गोस्त्रियो०* (१।२।४८) से ह्रस्वत्व हुआ है ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।३।१०० तक जायेगी ॥

नक्षत्राद् वा ॥८।३।१००॥

नक्षत्रात् ५।१॥ वा अ० ॥ *अनु०*—एति संज्ञायामगात्, सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अगकारात् परस्य नक्षत्रवाचिनः शब्दादुत्तरस्य सकारस्य एति परतो संज्ञायां विषये विकल्पेन मूर्धन्यादेशो भवति ॥ *उदा०*—रोहिणीषेणः, रोहिणीसेनः । भरिणीषेणः, भरिणीसेनः ॥

भाषार्थः—अगकार से परे [*नक्षत्राद्*] नक्षत्र वाची शब्दों से उत्तर सकार को एकार परे रहते संज्ञा विषय में [*वा*] विकल्प से मूर्धन्य आदेश होता है ॥ रोहिणी भरिणी नक्षत्रवाची शब्द हैं । *अट्कुप्वाङ्०* (८।४।२) से णत्व हो ही जायेगा ॥ पूर्व सूत्र से नित्य प्राप्त था, विकल्पार्थ यह वचन है ॥

ह्रस्वात्तादौ तद्धिते ॥८।३।१०१॥

ह्रस्वात् ५।१॥ तादौ ७।१॥ तद्धिते ७।१॥ *स०*—तकार आदिर्यस्य स तादिस्तस्मिन्..'बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—ह्रस्वादिण उत्तरस्य सकारस्य

मूर्धन्यादेशो भवति तकारादौ तद्धिते परतः ॥ उदा०—तरप्–सर्पिष्टरम्, यजुष्टरम्। तमप्–सर्पिष्टमम्, यजुष्टमम्। तय–चतुष्टये ब्राह्मणानां निकेताः। त्व-सर्पिष्ट्वम्, यजुष्ट्वम्। तल्–सर्पिष्टा, यजुष्टा। तसि–सर्पिष्टः, यजुष्टः। त्यप–आविष्ट्यो वर्द्धते ॥

भाषार्थः– [*ह्रस्वात्*] ह्रस्व इण् से उत्तर सकार को [*तादौ*] तकारादि [*तद्धिते*] तद्धित परे रहते मूर्धन्य आदेश होता है ॥ अपदान्तस्य का अधिकार होने से पदान्त स् को षत्व प्राप्त नहीं था विधान कर दिया ॥ सर्पिस् यजुस् के स् को विसर्जनीय होकर पुनः तरप् (५।३।५७) तमप् (५।३।५५) आदि परे रहते विसर्जनीय को सत्व (८।३।३४) होकर पश्चात् षत्व ष्टुत्व हो गया है। चतुष्टये (७।१) में भी इसी प्रकार चतुर् से *सङ्ख्याया अवयवे०* (५।२।४२) से तयप् प्रत्यय हुआ है। *तस्य भावस्त्वतलौ* (५।१।११८) से त्व तल्, *अपादाने चाहीय०* (५।४।४५) से सर्पिष्टः, यजुष्टः (५।१) में तसि, तथा आविस् शब्द से *अव्ययात्०* (४।२।१०३) में स्थित *आविसश्छन्दसि* वार्त्तिक से त्यप् प्रत्यय हुआ है ॥

यहाँ से '*तादौ*' की अनुवृत्ति ८।३।१०४ तक जायेगी ॥

निसस्तपतावनासेवने ॥८।३।१०२॥

निसः ६।१॥ तपतौ ७।१॥ अनासेवने ७।१॥ *स०*—न आसेवनम् अनासेवनं तस्मिन्''' नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—सः, मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—निसः सकारस्य तपतौ परतो मूर्धन्यादेशो भवत्यनासेवनेऽर्थे॥ आसेवनं पुनः पुनः करणम्, अनासेवनं तद्विपरीतम्॥ *उदा०*—निष्टपति सुवर्णम्॥

भाषार्थः—[*निसः*] निस् के सकार को [*तपतौ*] तपति परे रहते [*अनासेवने*] अनासेवन अर्थ में मूर्धन्य आदेश होता है॥ यह सूत्र भी पदान्तार्थ पूर्ववत् है॥ आसेवन पुनः २ करने को कहते हैं, अनासेवन उससे विपरीत, सो 'निष्टपति सुवर्णम्' का अर्थ है एक बार सोने को तपाता है॥

युष्मत्तत्तक्षुःष्वन्तः पादम् ॥८।३।१०३॥

युष्मत्तत्तक्षुःषु ७।३॥ अन्तःपादम् १।१॥ *स०*—युष्मत् च तत् च

ततक्षुश्च युष्मत्तत्ततक्षुसस्तेषु" "इतरेतरद्वन्द्वः। अन्तः = मध्ये पादस्येति अन्तःपादम्, *अव्ययं विभक्ति०* (२।१।६) इत्यनेन विभक्त्यर्थेऽव्ययीभाव-समासः॥ अनु०—तादौ, सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—इण्कोरुत्तरस्य सकारस्य तादौ युष्मत्, तत्, ततक्षुस् इत्येतेषु परतो मूर्धन्यादेशो भवति स चेत् सकारोऽन्तःपादं भवति॥ *उदा०*—युष्मद्—अग्निष्ट्वं नामासीत्। अग्निष्ट्वा वर्द्धयामसि। अग्निष्टे विश्वा मानाय। अप्स्वग्ने सधिष्टव (ऋ० ८।४३।९)। तत्—अग्निष्टद्विश्वमापृणाति (ऋ० १०।२।४)। ततक्षुस्—द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः (ऋ० १०।३१।४)॥

भाषार्थः—इण् तथा कवर्ग से उत्तर सकार को तकारादि [*युष्मत्तत-तक्षुःषु*] युष्मद्, तत्, तथा ततक्षुस् परे रहते मूर्धन्यादेश होता है, यदि वह सकार [*अन्तःपादम्*] पाद के अन्तर् = मध्य में वर्त्तमान हो तो॥ उदाहरणों में सर्वत्र जिसको षत्व हुआ है वह ऋचा के मध्य में है। तादौ की अनुवृत्ति होने से युष्मद् को हुये जो तकारादि आदेश वही यहाँ लिये जायेंगे सो *त्वाहौ सौ* (७।२।९४) से हुआ 'त्व', *त्वामौ द्वितीयायाः* (८।१।२३) से द्वितीयान्त को हुआ 'त्वा' *तवममौ ङसि* (७।२।९६) से हुआ 'तव' तथा *तेमयावेक०* (८।१।२२) से हुये 'ते' आदेश के परे रहते सकार को मूर्धन्य हुआ है। तद्वत् क्रम से उदाहरण दिये हैं। तत् शब्द निपात है, तथा 'ततक्षुः' तक्ष धातु के उस् में बना रूप है। षत्व कर लेने पर ष्टुत्व हो ही जायेगा॥ पदान्तार्थ ही यह सूत्र भी है॥

यहाँ से '*युष्मत्तत्ततक्षुःषु*' की अनुवृत्ति ८।३।१०४ तक जायेगी॥

यजुष्येकेषाम् ॥८।३।१०४॥

यजुषि ७।१॥ एकेषाम् ६।३॥ *अनु०*—युष्मत्तत्ततक्षुःषु, तादौ, सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—यजुषि विषये तादौ युष्मत्तत्ततक्षुःषु परत एकेषामाचार्याणां मतेन इण्कोरुत्तरस्य सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति॥ *उदा०*—अर्चिभिष्ट्वम्, अर्चिभिस्त्वम्। अग्निष्टेऽग्रम्, अग्निस्तेऽग्रम्। अग्निष्टत्, अग्निस्तत्। अर्चिभिष्टतक्षुः, अर्चिभिस्ततक्षुः॥

भाषार्थः—[*यजुषि*] यजुर्वेद में तकारादि युष्मद् तत् तथा ततक्षुस

परे रहते इण् तथा कवर्ग से उत्तर सकार को [एकेषाम्] एक = किन्हीं आचार्यों के मत में मूर्धन्य आदेश होता है ॥ एकेषाम् ग्रहण विकल्पार्थ है, अर्थात् एक के मत में होता है, एक के मत में नहीं सो पक्ष में षत्व नहीं होता ॥ पूर्ववत् पदान्तार्थ यह सूत्र भी है ॥ सु को विसर्जनीय तत्पश्चात् पूर्ववत् सत्व (८।३।३४) होकर षत्व हुआ है ॥

यहाँ से 'एकेषाम्' की अनुवृत्ति ८।३।१०६ तक जायेगी ॥

स्तुतस्तोमयोश्छन्दसि ॥८।३।१०५॥

स्तुतस्तोमयो: ६।२॥ छन्दसि ७।१॥ स०—स्तुत० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्व: ॥ अनु०—एकेषाम्, स:, इण्को:, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्य:, संहितायाम् ॥ अर्थ:—इण्कवर्गाभ्यामुत्तरस्य स्तुत, स्तोम इत्येतयो: सकारस्य छन्दसि विषय एकेषामाचार्याणां मतेन मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदा०—त्रिभिष्टुतस्य, त्रिभिस्तुतस्य । गोष्टोमं षोडशिनम्, गोस्तोमं षोडशिनम् ॥

भाषार्थ:—इण् तथा कवर्ग से उत्तर [स्तुतस्तोमयो:] स्तुत तथा स्तोम के सकार को [छन्दसि] वेद विषय में कई आचार्यों के मत में मूर्धन्य आदेश होता है ॥ पूर्ववत् यहाँ भी एकेषाम् ग्रहण से विकल्प होता है ॥ पदादि[1] लक्षण सात्पदाद्यो: (८।३।१११) से प्रतिषेध प्राप्त था, तदर्थ यह विधान है ॥

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति ८।३।१०८ तक जायेगी ॥

पूर्वपदात् ॥८।३।१०६॥

पूर्वपदात् ५।१॥ स०—पूर्वञ्चाद: पदञ्च पूर्वपदम् तस्मात् ''कर्मधार-यतत्पुरुष: ॥ अनु०—छन्दसि, एकेषाम्, स:, इण्को:, नुम्विसर्जनीय-शर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्य:, संहितायाम् ॥ अर्थ:—पूर्वपदस्था-न्निमित्तादुत्तरस्य सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति छन्दसि विषय एकेषामा-चार्याणां मतेन ॥ उदा०—द्विषन्धि:, त्रिषन्धि:, मधुष्ठानम्, द्विषाहस्रं चिन्वीत । पक्षे—द्विसन्धि:, त्रिसन्धि:, मधुस्थानम्, द्विसाहस्रं चिन्वीत ॥

---

१. स्तोम शब्द में अर्तिस्तु० (उणा० १।१४०) से मन् प्रत्यय ष्टु धातु से हुआ है, अत: पदादि लक्षण निषेध प्राप्ति थी । स्तुत क्तान्त है ही ।

भाषार्थः—[*पूर्वपदात्*] पूर्वपद में स्थित निमित्त (इण् तथा कव से उत्तर सकार को वेद विषय में कई आचार्यों के मत में मूर्धन्य आ होता है ॥ द्विषन्धिः, त्रिषन्धिः में षष्ठीतत्पुरुष अथवा बहुव्रीहि सम है। मधुष्ठानम् में षष्ठी समास, तथा द्विषाहस्रम् में *तद्धितार्थ०* (२।१।५ से समास हुआ है, अतः *तत्र भवः* (४।३।५३) से अण् एवं *सङ्ख्याया* (७।३।१५) से उत्तरपद को वृद्धि हुई है॥ पूर्ववत् यहाँ भी विक होता है॥

यहाँ से '*पूर्वपदात्*' की अनुवृत्ति ८।३।१०६ तक जायेगी॥

सुञः ॥८।३।१०७॥

सुञः ६।१॥ *अनु०*—पूर्वपदात्, छन्दसि, सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—पूर्वपदस्थान्निमित्तादुत्तरस्य सुञः सकारस्य छन्दसि विषये मूर्धन्यादेशो भवति। *उदा०*—अभीषुणः सखीनाम् (ऋ० ४।३१।३)। ऊर्ध्व ऊषुण (ऋ० १।३६।१३)॥

भाषार्थः—पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर [*सुञः*] सुञ् निपात के सकार को वेद विषय में मूर्धन्य आदेश होता है॥ *इकः सुञि* (६।३।१३२) से सुञ् से पूर्व को दीर्घ तथा *नश्च धातुस्थो०* (८।४।२६) से नस् के न को ण हुआ है॥

सनोतेरनः ॥८।३।१०८॥

सनोतेः ६।१॥ अनः ६।१॥ *स०*—अविद्यमानो नकारो यस्य स अन्, तस्मात्‥ बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—पूर्वपदात्, छन्दसि, सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—अनकारान्तस्य सनोतेः सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति छन्दसि विषये॥ *उदा०*—गोषाः, नृषाः॥

भाषार्थः—[*अनः*] अनकारान्त (नकार भिन्न) [*सनोतेः*] सन् धातु के सकार को वेद विषय में मूर्धन्य आदेश होता है॥ सिद्धि सूत्र ३।२।६७ में देखें। सन् धातु के न् को आत्व हो जाने से अनकारान्त सन् उदाहरणों में है॥ *पूर्वपदात्* से ही षत्व सिद्ध था पुनः यह सूत्र नियम करता है कि 'अनकारान्त सन् को ही षत्व हो'॥

सहेः पृतनर्त्ताभ्यां च ॥८।३।१०९॥

सहेः ६।१॥ पृतनर्त्ताभ्याम् ५।२॥ च अ० ॥ *स०*—पृतना च ऋतञ्च पृतनर्त्ते, ताभ्यां ''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—पूर्वपदात्, छन्दसि, सः अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—पृतना ऋत इत्येताभ्या-मुत्तरस्य सहेः सकारस्य छन्दसि विषये मूर्धन्यादेशो भवति ॥ *उदा०*—पृतनाषाहम्, ऋताषाहम् ॥

भाषार्थः—[*पृतनर्त्ताभ्याम्*] पृतना तथा ऋत शब्द से उत्तर [च] भी [*सहेः*] सह धातु के सकार को वेद विषय में मूर्धन्य आदेश होता है ॥ उदाहरणों में सह् से *छन्दसि सहः* (३।२।६३) से ण्वि प्रत्यय तथा ऋत को *अन्येषामपि०* (६।३।१३५) से दीर्घ हुआ है। द्वितीयान्त के ये रूप हैं। इण् से उत्तर न होने से *पूर्वपदात्* से प्राप्त नहीं था, विधान कर दिया ॥

न रपरसृपिसृजिस्पृशिस्पृहिसवनादीनाम् ॥८।३।११०॥

न अ० ॥ रपर''दीनाम् ६।३॥ *स०*—रः परो यस्मात् स रपरः, बहुव्रीहिः। सवनमादिर्येषां ते सवनादयः, बहुव्रीहिः। रपरश्च सृपिश्च सृजिश्च स्पृशिश्च स्पृहिश्च सवनादयश्च रपर'''दयस्तेषां''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—रेफपरस्य सकारस्य, सृपि सृजि, स्पृशि, स्पृहि इत्येतेषां सवनादीनाञ्च सकारस्य मूर्धन्यो न भवति ॥ *पूर्वपदात्* (८।३।१०६) इति प्राप्ते प्रतिषिध्यते ॥ *उदा०*—रपरः–विस्रंसिकायाः काण्डं जुहोति। विस्रब्धः कथयति। सृपि–पुरा क्रूरस्य विसृपः। सृजि–वाचे विसर्जनात्। स्पृशि–दिवस्पृशम्। स्पृहि–निस्पृहं कथयति। सवना-दीनाम्–सवने सवने, सूते २, सामे २ ॥

भाषार्थः—[*रपर''दीनाम्*] रेफ परे है जिससे उसके सकार को तथा सृप्लृ, सृज, स्पृश, स्पृह एवं सवनादि गणपठित शब्दों के सकार को मूर्धन्य आदेश इण् कवर्ग से उत्तर [*न*] नहीं होता ॥ *पूर्वपदात्* से प्राप्ति का यह प्रतिषेध है ॥ विस्रंसिकायाः (६।१) यहाँ वि पूर्वक स्रंसु से *संज्ञायाम्* (३।३।१०९) से ण्वुल् हुआ है। विस्रब्धः स्रम्भु धातु के क्त का रूप है। *अनिदितां०* (६।४।२४) से नलोप, *झषस्त०* (८।२।४०)

से धत्व एवं जश्त्व (८।४।५२) ब् होकर विस्रब्धः बना है। *यस्य विभाषा* (७।२।१५) में इट् प्रतिषेध भी यहाँ जानें। यहाँ स् से परे रेफ है॥ 'विसृपः' में *सृपितृदोः०* (३।४।१७) से कसुन् तथा 'विसर्जनात्' में ल्युट् है। दिविस्पृशम् में *स्पृशोऽनु०* (३।२।५८) से क्विन् हुआ है, द्वितीयान्त का यह रूप है। *तत्पुरुषे कृति०* (६।३।१२) से यहाँ विभक्ति का अलुक् भी हुआ है। निस्पृहम् में *एरच्* (३।३।५६) से अच् प्रत्यय तथा णि का लोप (६।४।५१) हुआ है। षुञ् का ल्युट् सप्तम्यन्त में सवने रूप है, वीप्सा में द्वित्व सर्वत्र हुआ है। षूङ् का क्त में सूत तथा उणादि १।१४० से सोम बना है॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ८।३।११९ तक जायेगी॥

सात्पदाद्योः ॥८।३।१११॥

सात्पदाद्योः ६।२॥ *स०*—पदस्य आदिः पदादिः, षष्ठीतत्पुरुषः। सात् च पदादिश्च सात्पदाद्यौ तयोः''' इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—न, सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—सात् इत्येतस्य पदादेश्च सकारस्य मूर्धन्यादेशो न भवति॥ *आदेशप्रत्यययोः* (८।३।५९) इत्यनेन प्राप्ते प्रतिषिध्यते॥ *उदा०*—सात्—अग्निसात्, दधिसात्, मधुसात्। पदादेः—दधि सिञ्चति, मधु सिञ्चति॥

भाषार्थः—इण् तथा कवर्ग से उत्तर [*सात्पदाद्योः*] सात् तथा पद के आदि के सकार को मूर्धन्य आदेश नहीं होता॥ *विभाषा साति कार्त्स्न्ये* (५।४।५२) से साति प्रत्यय होता है, अतः प्रत्यय का सकार होने से षत्व प्राप्त था, निषेध कर दिया, एवं पदादि से आदेश लक्षण (८।३।५९) षत्व की जो प्राप्ति थी उसका निषेध होता है। षिच् धातु के ष् को स् हुआ है, अतः सिञ्चति का स् आदेश का स् है। *शे मुचादीनाम्* (७।१।५९) से नुम् होकर सि नुम् च् अ ति = श्चुत्व होकर सिञ्चति बन गया॥

सिचो यङि ॥८।३।११२॥

सिचः ६।१॥ यङि ७।१॥ *अनु०*—न, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—इण्कोरुत्तरस्य सिचः सकारस्य यङि परतो मूर्धन्यादेशो न भवति॥ *उदा०*—सेसिच्यते, अभिसेसिच्यते॥

भाषार्थः—इण् तथा कवर्ग से उत्तर [*सिचः*] सिच् के सकार को [*यङि*] यङ् परे रहते मूर्धन्य आदेश नहीं होता ॥ सेसिच्यते में *आदेशप्रत्यययोः* (८।३।५९) से सि के स् को षत्व प्राप्त था, तथा *उपसर्गात् सुनोति०* (८।३।६५) से अभिसेसिच्यते में प्राप्त था, निषेध कर दिया ॥

सेधतेर्गतौ ॥८।३।११३॥

सेधतेः ६।१॥ गतौ ७।१॥ *अनु०*—न, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—गतावर्थे वर्त्तमानस्य सेधतेः सकारस्य मूर्धन्यादेशो न भवति ॥ *उदा०*—अभिसेधयति गाः, परिसेधयति गाः ॥

भाषार्थः—[*गतौ*] गति अर्थ में वर्त्तमान [*सेधतेः*] षिध गत्याम् धातु के सकार को मूर्धन्य आदेश नहीं होता ॥ षिधू शास्त्रे माङ्गल्ये च तथा षिध गत्याम् इन दोनों धातुओं का *उपसर्गात् सुनोति०* (८।३।६५) के सिध निर्देश से वहाँ ग्रहण हो सकता है, अतः उस सूत्र से उभयत्र षत्व प्राप्ति थी, गति अर्थ वाले षिध का निषेध कर देने से यहाँ षिध गत्याम् वाले सिध् को षत्व नहीं हुआ ॥

प्रतिस्तब्धनिस्तब्धौ च ॥८।३।११४॥

प्रतिस्तब्धनिस्तब्धौ १।२॥ च अ० ॥ *अनु०*—न, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—प्रतिस्तब्ध निस्तब्ध इत्यत्र मूर्धन्याभावो निपात्यते ॥ स्तन्भेरिति प्राप्ते प्रतिषिध्यते ॥ *उदा०*—प्रतिस्तब्धः, निस्तब्धः ॥

भाषार्थः—[*प्रतिस्तब्धनिस्तब्धौ*] प्रतिस्तब्ध निस्तब्ध शब्दों में [*च*] भी मूर्धन्याभाव निपातन है ॥ *स्तन्भेः* (८।३।६७) से षत्व प्राप्ति थी, निषेध निपातन कर दिया ॥ स्तन्भु के न का लोप (६।४।२४) तथा निष्ठा के त को धत्व एवं जश्त्व (८।४।५२) होकर प्रतिस्तब्धः निस्तब्धः बना है ॥

सोढः ॥८।३।११५॥

सोढः ६।१॥ *अनु०*—न, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—सोढ् इत्यस्य सकारस्य मूर्धन्यादेशो न भवति ॥ सोढ्भूतः सहधातुरत्र गृह्यते सोढ् इत्यनेन ॥ *उदा०*—परिसोढः, परिसोढुम्, परिसोढव्यम् ॥

भाषार्थः—[*सोढः*] सोढ् के सकार को मूर्धन्यादेश नहीं होता ॥ स धातु का ढत्व धत्व ष्टुत्वादि करके जो सोढ् रूप बनता है, उसका यहाँ सूत्र में निर्देश कर दिया है ॥ *परिनिविभ्यः सेवसित०* (८।३।७० से यहाँ षत्व प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया ॥ *सहिवहोरोद०* (६।३।११० से सह् के अवर्ण को ओत् होकर परिसोढः आदि प्रयोग बनेंगे । शे हो ढः (८।२।३१) आदि से ढत्वादि कार्य बहुत बार दिखाया ज चुका है ॥

स्तम्भुसिवुसहां चङि ॥८।३।११६॥

स्तम्भुसिवुसहाम् ६।३।। चङि ७।१।। *स०*—स्तम्भुश्च सिवुश्च सह् च स्तम्भुसिवुसहस्तेषां˙˙ इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—न, सः, इण्कोः, अपदान्त स्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—स्तम्भु, सिवु, सह इत्येतेषां सकारस्य चङि परतो मूर्धन्यादेशो न भवति ॥ *स्तन्भेः* (८।३।६७) *परिनिविभ्यः०* इति च प्राप्ते प्रतिषिध्यते ॥ *उदा०*—स्तम्भु—पर्यतस्तम्भत्, अभ्यत स्तम्भत् । सिवु - पर्यसीषिवत्, न्यसीषिवत् । सह- पर्यसीषहत्, न्यसीषहत् ॥

भाषार्थः—[*स्तम्भुसिवुसहाम्*] स्तम्भु, षिवु, तथा षह धातु के सकार को [*चङि*] चङ् परे रहते मूर्धन्य आदेश नहीं होता ॥ स्तम्भु को *स्तन्भेः* (८।३।६७) से तथा अन्यों को *परिनिविभ्यः०* (८।३।७०) से षत्व प्राप्त था, प्रतिषेध कर दिया । उपसर्ग से उत्तर इनके अभ्यास के सकार को *स्थादिष्वभ्यासेन चा०* (८।३।६४) से तथा *सिवादीनां०* (८।३।७१) से अट् के व्यवाय में भी षत्व प्राप्ति थी, प्रतिषेध हो गया । अभ्यास से उत्तर तो *आदेश०* (८।३।५९) से षत्व हो ही जायेगा ॥ णिजन्त के लुङ् में सिद्धियाँ बहुत बार परि० ६।१।११ आदि में दिखा चुके हैं तद्वत् यहाँ भी जानें । पर्यतस्तम्भत् में *शर्पूर्वाः खयः* (७।४।६१) से अभ्यास का खय् शेष रहा है । सिव् को लघूपध गुण तथा सह् की उपधा को वृद्धि णिच् परे हुई थी, सो दोनों को *णौ* चङ्यु० (७।४।१) से ह्रस्व एवं सन्वद्भाव होकर अभ्यास को अपीपचत् के समान इत्वादि कार्य हुए हैं ॥

सुनोतेः स्यसनोः ॥८।३।११७॥

सुनोतेः ६।१॥ स्यसनोः ७।२॥ स०—स्यश्च सन् च स्यसनौ तयोः''' इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—न, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—स्ये सनि च परतः सुनोतेः सकारस्य मूर्धन्यादेशो न भवति ॥ उदा०—अभिसोष्यति, परिसोष्यति, अभ्यसोष्यत् (लङ्) पर्यसोष्यत् । सनि-अभिसुसूः ॥

भाषार्थः—[*स्यसनोः*] स्य तथा सन् परे रहते [*सुनोतेः*] सुनोति (षुञ्) के सकार को मूर्धन्य आदेश नहीं होता ॥ *उपसर्गात् सुनोति*० (८।३।६५) से षत्व प्राप्ति थी प्रतिषेध कर दिया । सन्नन्त के उदाहरण में 'अभि सुसू ष' परि० १।२।६ के चिचीषति के समान बना । पश्चात् 'सुसू ष' की धातु संज्ञा होकर उससे क्विप् (३।२।७६) हुआ । क्विप् का सर्वापहारी लोप एवं *अतो लोपः* (६।४।४८) लगकर तथा षत्व के असिद्ध हो जाने से ष् को स् मानकर रुत्व विसर्जनीय होकर 'अभिसुसूः' बन गया ॥

सदेः परस्य लिटि ॥८।३।११८॥

सदेः ६।१॥ परस्य ६।१॥ लिटि ७।१॥ अनु०—न, सः इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—सदेः धातोर्लिटि परतः परस्य सकारस्य मूर्धन्यो न भवति ॥ उदा०—अभिषसाद, परिषसाद, निषसाद, विषसाद ॥

भाषार्थः—[*लिटि*] लिट् परे रहते [*सदेः*] षद धातु के [*परस्य*] पर वाले सकार को मूर्धन्य आदेश नहीं होता है ॥ लिट् में द्विर्वचन कर लेने पर दो सकार हो जाते हैं, तो *स्थादिष्वभ्या*० (८।३।६४) सूत्र से अभ्यास के व्यवाय में भी *सदिरप्रतेः* (८।३।६६) से पर वाले सकार को षत्व प्राप्त था, निषेध हो गया । पूर्व वाले सकार को तो *सदिरप्रतेः* से षत्व हो ही जायेगा, क्योंकि यहाँ पर वाले का ही निषेध है ॥

निव्यभिभ्योऽड्व्यवाये वा छन्दसि ॥८।३।११९॥

निव्यभिभ्यः ५।३॥ अड्व्यवाये ७।१॥ वा अ० ॥ छन्दसि ७।१॥ *स*०—निश्च विश्च अभिश्च निव्यभयस्तेभ्यः'''इतरेतरद्वन्द्वः । अटा

व्यवायोऽड्व्यवायस्तस्मिन्'''तृतीयातत्पुरुषः ।। अनु०—न, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ।। अर्थः—नि, वि, अभि इत्येतेभ्य उपसर्गेभ्य उत्तरस्य सकारस्याड्व्यवाये छन्दसि विषये विकल्पेन मूर्धन्यादेशो न भवति ।। उदा०—न्यषीदत् पिता नः । व्यषीदत् पिता नः । व्यष्टौत्, अभ्यष्टौत् । पक्षे—न्यसीदत् (ऋ० ८।८१।१) व्यसीदत्, व्यस्तौत्, अभ्यस्तौत् ।।

भाषार्थः—[*निव्यभिभ्यः*] नि, वि तथा अभि उपसर्गों से उत्तर सकार को [*अड्व्यवाये*] अट् का व्यवधान होने पर [*छन्दसि*] वेद विषय में [*वा*] विकल्प से मूर्धन्य आदेश नहीं होता ।। अर्थात् विकल्प होता है ।। पूर्व सूत्र से 'सदेः' की अनुवृत्ति नहीं आ रही, अतः सामान्य रूप से इन उपसर्गों से उत्तर सकार को षत्व का विकल्प होता है । इस प्रकार जिस किसी सूत्र से षत्व की प्राप्ति हो उसी का छन्द में पक्ष में प्रतिषेध हो जाता है । षद्लृ को *पाघ्राध्मा०* (७।३।७८) से सीद आदेश होकर लङ् में न्यषीदत् आदि प्रयोग बने हैं, सो *सदिरप्रतेः* (८।३।६६) से नित्य षत्व प्राप्त था, विकल्प कर दिया । व्यष्टौत् आदि में *उपसर्गात् सुनो०* (८।३।६५) की नित्य प्राप्ति थी, विकल्प कर दिया । वि अ स्तौ त् =(लङ्) व्यष्टौत्, व्यस्तौत् *उतो वृद्धि०* (७।३।८९) से वृद्धि एवं शप् का लुक् (२।४।७२) होकर बन गया है ।।

।। इति तृतीयः पादः ।।

—:०:—

चतुर्थः पादः

रषाभ्यां नो णः समानपदे ।।८।४।१।।

रषाभ्याम् ५।२।। नः ६।१।। णः १।१।। समानपदे ७।१।। *स०*—रश्च षश्च रषौ, ताभ्यां'''इतरेतरद्वन्द्वः । समानञ्च तत् पदञ्च समानपदं तस्मिन्'''कर्मधारयतत्पुरुषः ।। *अनु०*—संहितायाम् ।। *अर्थः*—रेफष-काराभ्यामुत्तरस्य नकारस्य णकारादेशो भवति एकस्मिन् पदे, एकस्मिन्नेव पदे चेन्निमित्तनिमित्तिनौ भवतः ।। *उदा०*—रेफात्—आस्तीर्णम्,

ाशीर्णम्। ऋकारान्तर्वर्तिरेफश्रुतिमाश्रित्यापि भवति[1] मातृणाम् पितृणाम्।
ाकारात्—कुष्णाति, पुष्णाति, मुष्णाति ॥

भाषार्थ:—[*रषाभ्याम्*] रेफ तथा षकार से उत्तर [*न:*] नकार को *ण:*] णकार होता है [*समानपदे*] एक ही पद में, अर्थात् निमित्त जिसके रेफ षकार को मानकर णत्व हो रहा है) एवं निमित्ती (जिसको ात्व हो रहा है) दोनों एक ही पद में हों, भिन्न २ पदों में नहीं तो॥ एक ाब्द का पर्यायवाची यहाँ 'समान' पद है॥ आस्तीर्णम् विशीर्णम् की सद्धि सूत्र ७।१।१०० में देखें। यहाँ इत्व रपरत्व करके रेफ से उत्तर (को ण् हुआ है। ऋकारगत रेफश्रुति को मानकर भी न को ण हो जाता ़। यथा मातृणाम् पितृणाम्। कुष्णाति आदि में श्ना विकरण ३।१।८१) हुआ है, उसी न् को षकार से उत्तर णत्व हो गया है॥

यहाँ से '*रषाभ्यां नो ण:*' की अनुवृत्ति ८।४।३८ तक जायेगी॥

अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि ॥८।४।२॥

अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवाये ७।१॥ अपि अ०॥ *स०*—अट् च कुश्च पुश्च ाङ् च नुम् च अट्...नुम:, इत्येतैर्व्यवायोऽट्व्यवायस्तस्मिन्... द्वन्द्व- ार्भतृतीयातत्पुरुष:॥ अनु०—रषाभ्यां नो ण:, संहितायाम्॥ *अर्थ:*— ाट्, कु, पु, आङ्, नुम् इत्येतैर्व्यवायेऽपि रेफषकाराभ्यामुत्तरस्य ाकारस्य णकारादेशो भवति॥ *उदा०*—अड्व्यवाये—करणम्, हरणम्। ंरिणा, गिरिणा। कुरुणा, गुरुणा। कवर्गव्यवाये—अर्केण, मूर्खेण, ार्गेण, अर्घेण। पवर्गव्यवाये—दर्पेण, रेफेण, गर्भेण, चर्म्मणा, वर्म्मणा। ाङ्व्यवाये—पर्याणद्धम्, निराणद्धम्। नुम्व्यवाये—बृंहणम्, बृंहणी- ाम्॥

भाषार्थ:—रेफ तथा षकार से उत्तर [*अट्कु...वाये*] अट् (प्रत्या- ार) कु=कवर्ग, पु=पवर्ग, आङ् तथा नुम् का व्यवधान होने पर *अपि*] भी नकार को णकार हो जाता है॥ करणम् आदि में रेफ एवं (के मध्य में अ, इ, उ (अट्) का व्यवधान है तो भी णत्व हो गया ़। अर्केण आदि में रेफ से उत्तर कवर्ग एवं अट् 'ए' का व्यवधान है,

---

१. ये ऋकारे रेफश्रुतिं नाद्रियन्ते तेषां मते ऋकारग्रहणमत्र सूत्र उपसंख्यायते।

तो भी णत्व हो गया ॥ अट् आदि का व्यवधान चाहे पृथक् पृथक् का हो या अट् कवर्गादि का समुदित रूप में हो यथा अर्केण आदि में कवर्ग एवं अट् का है, प्रत्येक अवस्था में णत्व हो जाता है ॥ नद्धम् की सिद्धि सूत्र ८।२।३५ में देखें। तद्वत् परि आ नद्धम् = यहाँ अट् एवं आङ् के व्यवधान में भी णत्व होकर पर्याणद्धम् निराणद्धम् बन गया। बृहि को *इदितो नुम्०* (७।१।५८) से नुम्, एवं *नश्चापदान्तस्य०* (८।३।२४) से नुम् को अनुस्वार होकर बृंहणम्, बृंहणीयम् बना है, सो यहाँ नुम् एवं अट् के व्यवधान में भी णत्व हो गया है। यहाँ ऋकार अन्तर्गत रेफ-श्रुति है उससे उत्तर व्यवधान में भी णत्व हो गया ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।४।३८ तक जायेगी ॥

पूर्वपदात् संज्ञायामगः ॥८।४।३॥

पूर्वपदात् ५।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ अगः ५।१॥ *स०*—अविद्यमानो गकारो यस्मिन् स अग् तस्मात्...बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—रषाभ्यां नो णः, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—गकारवर्जितात् पूर्वपदस्थान्निमित्तादुत्तरस्य नकारस्य णकार आदेशो भवति संज्ञायां विषये ॥ *उदा०*—द्रुणसः, वार्ध्रीणसः, खरणसः, शूर्पणखा ॥

भाषार्थः—[*अगः*] गकार भिन्न [*पूर्वपदात्*] पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर [*संज्ञायाम्*] संज्ञा विषय में नकार को णकारादेश होता है ॥ पूर्व सूत्र से गकार के व्यवधान में भी प्राप्ति थी, 'अगः' प्रतिषेध कर दिया। *रषाभ्याम्०* (८।४।१) से समान पद (एक ही पद) में ही णत्व प्राप्ति थी, यहाँ पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर उत्तरपद को भी णत्व विधान कर दिया ॥ सिद्धियाँ ५।४।११८ सूत्र में देखें। सभी उदाहरणों में बहुव्रीहि समास है, एवं ये किसी की संज्ञायें हैं। वार्ध्रीव नासिका यस्य स = वार्ध्रीणसः मृगविशेष को कहते हैं ॥

यहाँ से '*पूर्वपदात्*' की अनुवृत्ति ८।४।१३ तक तथा '*संज्ञायाम्*' की ८।४।४ तक जायेगी ॥

वनं पुरगामिश्रकासिध्रकाशारिकाकोटराग्रेभ्यः ॥८।४।४॥

वनम् १।१॥ षष्ठीस्थाने व्यत्ययेन प्रथमा ॥ पुरगा...ग्रेभ्यः ५।३॥ *स०*—पुरगाश्च मिश्रकाश्च सिध्रकाश्च शारिकाश्च कोटराश्च अग्रे च

पुरगा···ग्रयस्तेभ्यः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—पूर्वपदात् संज्ञायाम्, रषाभ्यां नो णः, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—पुरगा, मिश्रका, सिध्रका, शारिका, कोटरा, अग्रे इत्येतेभ्यः पूर्वपदेभ्य उत्तरस्य वनशब्दस्य नकारस्य णकारादेशो भवति संज्ञायां विषये ॥ *उदा०*—पुरगावणम्, मिश्रकावणम्, सिध्रकावणम्, शारिकावणम्, कोटरावणम्, अग्रेवणम् ॥

भाषार्थः—[*पुरगा···ग्रेभ्यः*] पुरगा, मिश्रका, सिध्रका, शारिका, कोटरा, अग्रे इन शब्दों से उत्तर [*वनम्*] वन शब्द के नकार को णकारादेश संज्ञा विषय में होता है ॥ पुरगावणम् आदि में षष्ठी समास है। उदाहरणों में *वनगिर्योः०* (६।३।११५) से पूर्वपद को दीर्घ हुआ है। अग्रेवणम् में वनस्य अग्रे यहाँ षष्ठी समास करके *राजदन्तादिषु०* (२।२।३१) से वनम् का परनिपात तथा *हलदन्तात् सप्तम्याः०* (६।३।७) से अग्रे की सप्तमी का अलुक् हुआ है ॥

यहाँ से '*वनम्*' की अनुवृत्ति ८।४।६ तक जायेगी ॥

प्रनिरन्तःशरेक्षुप्लक्षाम्रकार्ष्यखदिरपीयूक्षाभ्योऽसंज्ञायामपि ॥८।४।५॥

प्रनि···क्षाभ्यः ५।३॥ असंज्ञायाम् ७।१॥ अपि अ० ॥ *स०*—प्रनि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। असंज्ञा० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—वनम्, पूर्वपदात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—प्र, निर् अन्तर्, शर, इक्षु, प्लक्ष, आम्र, कार्ष्य, खदिर, पीयूक्षा इत्येतेभ्य उत्तरस्य वनशब्दस्य नकारस्य संज्ञायामपि, असंज्ञायामपि णकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—प्र-प्रवणे यष्टव्यम्। निर्-निर्वणे प्रतिधीयते। अन्तर्-अन्तर्वणे। शर-शरवणम्। इक्षु-इक्षुवणम्। प्लक्ष-प्लक्षवणम्। आम्र-आम्रवणम्। कार्ष्य-कार्ष्यवणम्। खदिर-खदिरवणम्। पीयूक्षा-पीयूक्षावणम् ॥

भाषार्थः—[*प्रनि···क्षाभ्यः*] प्र, निर्, अन्तर्, शर, इक्षु, प्लक्ष, आम्र, कार्ष्य, खदिर, पीयूक्षा इनसे उत्तर वन शब्द के नकार को [*असंज्ञायाम्*] असंज्ञा विषय में भी तथा अपि ग्रहण से संज्ञा विषय में [*अपि*] भी णकार आदेश होता है ॥ प्रवणे तथा निर्वणे में *कुगतिप्रादयः* (२।२।१८) से समास हुआ है। अन्तर्वणे में विभक्त्यर्थ में

अव्ययीभाव (२।१।५) समास तथा अन्यों में षष्ठी समास हुआ है। रे शब्द संज्ञा और असंज्ञा दोनों रूप में हैं॥

विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः ॥८।४।६॥

विभाषा १।१॥ ओषधिवनस्पतिभ्यः ५।३॥ स०—ओषधिश्च वनस्पतिश्च ओषधिवनस्पती, तेभ्यः.....इतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—वनम्, पूर्वपदात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्। अर्थः—ओषधिवाचि यत् पूर्वपदं वनस्पतिवाचि च तत्स्थान्निमित्तादुत्तरस्य वनशब्दस्य नकारस्य विकल्पेन णकारादेशो भवति॥ उदा०—ओषधिवाचिभ्यः—दूर्वावणम्, दूर्वावनम्। मूर्वावणम्, मूर्वावनम्। वनस्पतिभ्यः—शिरीषवणम्, शिरीषवनम्। बदरीवणम्, बदरीवनम्॥

भाषार्थः—[*ओषधिवनस्पतिभ्यः*] ओषधिवाची तथा वनस्पतिवाची जो पूर्वपद वाले शब्द उनमें स्थित जो णत्व के निमित्त उससे उत्तर वन शब्द के नकार को [*विभाषा*] विकल्प करके णकार आदेश होता है॥

अह्नोऽदन्तात् ॥८।४।७॥

अह्नः १।१॥ पूर्ववत् षष्ठ्याः स्थाने प्रथमा॥ अदन्तात् ५।१॥ स०—अत् अन्ते यस्य स अदन्तस्तस्मात्...बहुव्रीहिः॥ अनु०—पूर्वपदात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्॥ अर्थः—अदन्तं यत्पूर्वपदं तत्स्थान्निमित्तादुत्तरस्याह्नो नकारस्य णकार आदेशो भवति॥ उदा०—पूर्वाह्णः, अपराह्णः॥

भाषार्थः—[*अदन्तात्*] अदन्त जो पूर्वपद उसमें स्थित निमित्त (रेफ षकार) से उत्तर [*अह्नः*] अह्न के नकार को णकार होता है॥ सिद्धि परि० २।४।२९। में देखें। पूर्व शब्द में रेफ णत्व का निमित्त है॥

वाहनमाहितात् ॥८।४।८॥

वाहनम् १।१॥ आहितात् ५।१॥ अनु०—पूर्वपदात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्॥ अर्थः—आहितवाचि यत्पूर्वपदं तत्स्थान्निमित्तादुत्तरस्य वाहननकारस्य णकार आदेशो भवति॥ उदा०—इक्षूणां वाहनम् = इक्षुवाहणम्, शरवाहणम्, दर्भवाहणम्॥

भाषार्थः—[*आहितात्*] आहितवाची जो पूर्वपद तत्स्थ निमित्त से त्तर [*वाहनम्*] वाहन शब्द के नकार को णकार आदेश होता है ॥ ाहन शकट इत्यादि को कहते हैं, और उसमें जो पदार्थ रखा (भरा) ाता है वह आहित कहाता है ॥

पानं देशे ॥८।४।९॥

पानम् १।१॥ देशे ७।१॥ *अनु०*—पूर्वपदात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्य-ायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—पूर्वपदस्थान्निमित्ता-ुत्तरस्य पाननकारस्य देशाभिधाने णकार आदेशो भवति ॥ *उदा०*—ीरं पानं येषां ते क्षीरपाणा उशीनराः । सुरापाणाः प्राच्याः । सौवीरपाणा ाह्लीकाः । कषायपाणा गन्धाराः ॥ पीयते इति पानम्, *कृत्यल्युटो०* ३।३।११३) इति कर्मणि ल्युट् ॥

भाषार्थः—पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर [*पानम्*] पान शब्द के ाकार को [*देशे*] देश का अभिधान हो रहा हो तो णकार आदेश होता ै ॥ क्षीरपाणाः = क्षीर पान करने वाले उशीनर देशवासी, यहाँ ेशाभिधान स्पष्ट है ॥ 'पान' से यहाँ जो पिया जाए उसका ग्रहण ोता है ॥

यहाँ से '*पानम्*' की अनुवृत्ति ८।४।१० तक जायेगी ॥

वा भावकरणयोः ॥८।४।१०॥

वा अ० ॥ भावकरणयोः ७।२॥ *स०*—भावश्च करणञ्च भावकरणे ायोः ... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—पानम्, पूर्वपदात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्य-ायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—पूर्वपदस्थान्निमित्ता-ुत्तरस्य भावे करणे च यः पानशब्दस्तस्य नकारस्य णकार आदेशो वेकल्पेन भवति ॥ *उदा०*—भावे—क्षीरपाणं वर्त्तते, क्षीरपानम् । कषाय-ाणम्, कषायपानम् । सुरापाणम्, सुरापानम् । करणे—क्षीरपाणः कंसः, ीरपानः ॥

भाषार्थः—पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर [*भावकरणयोः*] ाव तथा करण में वर्त्तमान जो पान शब्द उसके नकार को [*वा*] वेकल्प से णकार आदेश होता है ॥ भाव में पान शब्द का विग्रह

पीतिः = पानम् होगा, तथा करण में पीयते अनेन = पानः यहाँ *करणाधिकरणयोश्च* (३।३।११७) से ल्युट् होता है ॥

यहाँ से '*वा*' की अनुवृत्ति ८।४।११ तक जायेगी ॥

प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च ॥८।४।११॥

प्राति''' क्तिषु ७।३॥ च अ० ॥ *स०*—प्रातिपदिकस्य अन्तः प्रातिपदिकान्तः, षष्ठीतत्पुरुषः । प्रातिपदिकान्तश्च नुम् च विभक्तिश्च प्राति''' क्तयस्तेषु''' इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—वा, पूर्वपदात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—पूर्वपदस्थान्निमित्तादुत्तरस्य प्रातिपदिकान्ते नुमि विभक्तौ च यो नकारस्तस्य वा णकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—प्रातिपदिकान्ते-माषवापिणौ, माषवापिनौ । नुमि—माषवापाणि, माषवापानि । व्रीहिवापाणि, व्रीहिवापानि । विभक्तौ-माषवापेण, माषवापेन । व्रीहिवापेण, व्रीहिवापेन ॥

भाषार्थः—पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर [*प्राति''' क्तिषु*] प्रातिपदिक के अन्त में जो नकार तथा नुम् एवं विभक्ति में जो नकार उसको [च] भी विकल्प से णकार आदेश होता है ॥ माषवापिणौ यहाँ माष उपपद रहते वप धातु से *बहुलमाभीक्ष्ण्ये* (३।२।८१) से णिनि प्रत्यय होकर माषवापिन् औ रहा । अब यह प्रातिपदिक के अन्त का नकार है, सो उसे णत्व हो गया । माषान् वपन्तीति माषवापाणि यहाँ *कर्मण्यण्* (३।२।१) से अण् प्रत्यय होकर 'माष वाप' बना, तत्पश्चात् परि० १।१।४१ के कुण्डानि के समान सब कार्य होकर माषवापानि रहा । पूर्वपद में षकार णत्व का निमित्त है, अतः नुम् के न् को णत्व होकर माषवापाणि बन गया । इसी प्रकार माषवापेण में 'इन' (७।१।१२) विभक्ति का नकार है, सो उसे णत्व हो गया ॥

यहाँ से '*प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु*' की अनुवृत्ति ८।४।१२ तक जायेगी ॥

एकाजुत्तरपदे णः ॥८।४।१२॥

एकाजुत्तरपदे ७।१॥ णः १।१॥ *स०*—एकोऽच् यस्मिन् स एकाच् बहुव्रीहिः । एकाच् उत्तरपदं यस्य स एकाजुत्तरपदस्तस्मिन् बहुव्रीहिः ॥ अनु०—प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु, पूर्वपदात्, अटकुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि,

ाहितायाम् ॥ *अर्थः*—एकाजुत्तरपदे समासे पूर्वपदस्थान्निमित्तादुत्तरस्य ातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च यो नकारस्तस्य णकारादेशो भवति ॥ दा०—वृत्रहणौ, वृत्रहणः । नुमि—क्षीरपाणि, सुरापाणि । विभक्तौ—ोरपेण, सुरापेण ॥

भाषार्थः—[*एकाजुत्तरपदे*] एक अच् है उत्तरपद में जिस समास ऽ वहाँ, पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर प्रातिपदिकान्त नुम् तथा ाभक्ति के नकार को [*णः*] णकार आदेश होता है ॥ वृत्रहणौ में वृत्र ापपद रहते हन् धातु से *ब्रह्मभ्रूण०* (३।२।८७) से क्विप् हुआ है । हाँ हन् एक अच् वाला पद उत्तरपद में है । क्षीरं पिबन्ति = क्षीरपाणि, हाँ *आतोऽनुपस०* (३।२।३) से क प्रत्यय एवं *आतो लोप०* (६।४।६४) । आकार लोप होकर 'क्षीरप' से बहुवचन में कुण्डानि के समान ाद्धि जानें ॥

कुमति च ॥८।४।१३॥

कुमति ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु, पूर्वपदात्, ाट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ कुरस्मिन्नस्तितत् ुमत् तस्मिन्'''मतुप्प्रत्ययः ॥ *अर्थः*—पूर्वपदस्थान्निमित्तादुत्तरस्य कवर्गवति चोत्तरपदे प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु नकारस्य णकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—वस्त्रयुगिणौ, वस्त्रयुगिणः । स्वर्गकामिणौ, वृषगा-मिणौ । नुमि—वस्त्रस्य युगाणि = वस्त्रयुगाणि, खरयुगाणि । विभक्तौ—ास्त्रयुगेण, खरयुगेण ॥

भाषार्थः—पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर [*कुमति*] कवर्गवान् ाब्द उत्तरपद रहते [*च*] भी प्रातिपदिकान्त नुम् तथा विभक्ति के नकार को णकार आदेश होता है ॥ पूर्व सूत्र से एकाच् उत्तरपद परे रहते ही ाप्त था, अनेकाच् उत्तरपद परे रहते भी हो जाये, इसलिये यह वचन है ॥ युग से *अत इनिठनौ* (५।२।११५) से इनि प्रत्यय होकर युगिन् बना, पश्चात् वस्त्रयोर्युगिनौ = वस्त्रयुगिणौ, वस्त्रयुगिणः, और इसी प्रकार स्वर्गकामिणौ वृषगामिणौ आदि रूप बने हैं । युग काम आदि शब्द कवर्गवान् हैं ही ॥

उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य ॥८।४।१४॥

उपसर्गात् ५।१॥ असमासे ७।१॥ अपि अ० ॥ णोपदेशस्य ६।१॥

स०—न समासोऽसमासस्तस्मिन्'''नञ्तत्पुरुषः। ण उपदेशे यस्य (धातोः) स णोपदेशस्तस्य'''बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य णोपदेशस्य धातोर्यो नकारस्तस्य णकारादेशो भवति, असमासेऽपि॥ *उदा०*—असमासे-प्रणमति, परिणमति। समासे-प्रणायकः, परिणायकः॥

भाषार्थः—[*उपसर्गात्*] उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [*णोपदेशस्य*] णकार उपदेश में है जिसके ऐसे धातु के नकार को [*असमासे*] असमास में तथा अपि ग्रहण से समास में [*अपि*] भी णकार आदेश होता है॥ प्रणायकः परिणायकः में प्रादि (२।२।१८) समास हुआ है, तथा प्रणमति णम धातु से बना है। इस प्रकार णीञ् एवं णम दोनों णोपदेश धातु हैं॥

यहाँ से '*उपसर्गात्*' की अनुवृत्ति ८।४।२२ तक जायेगी॥

हिनुमीना ॥८।४।१५॥

हिनु, मीना लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः॥ *अनु०*—उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—हिनु मीना इत्येतयोरुपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य नकारस्य णकार आदेशो भवति॥ उदा०—प्रहिणोति, प्रहिणुतः। प्रमीणाति, प्रमीणीतः॥

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [*हिनु मीना*] हिनु तथा मीना के नकार को णकार आदेश होता है॥ हि गतौ धातु से *स्वादिभ्यः श्नुः* (३।१।७३) से श्नु विकरण करके सूत्र में 'हिनु' निर्देश किया है, तथा मीञ् हिंसायाम् से श्ना विकरण (३।१।८१) करके 'मीना' निर्देश किया है॥ प्रमीणीतः में श्ना के आ को ई *हल्यघोः* (६।४।११३) से ईत्व हुआ है॥

आनि लोट् ॥८।४।१६॥

आनि लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः॥ लोट् १।१॥ *अनु०*—उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य लोडादेशस्य 'आनि' इत्येतस्य नकारस्य णकारादेशो भवति॥ उदा०—प्रवपाणि, परिवपाणि। प्रयाणि, परियाणि॥

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [*लोट्*] लोडादेश जो [*आनि*] आनि उसके नकार को णकारादेश होता है॥ *मेर्निः* (३।४।८९) से मि को नि तथा *आडुत्तमस्य०* (३।४।९२) से आट् आगम होकर जो 'आनि' रूप बनता है, उसका यहाँ ग्रहण है॥

नेर्गदनदपतपदघुमास्यतिहन्तियातिवातिद्रातिप्सातिवपतिवहतिशाम्यतिचिनोतिदेग्धिषु च ॥८।४।१७॥

नेः ६।१॥ गद''देग्धिषु ७।३॥ च अ०॥ *स०*—गदनद० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य नेरित्येतस्य नकारस्य णकारादेशो भवति, गद, नद, पत, पद, घु, मा, स्यति, हन्ति, याति, वाति, द्राति, प्साति, वपति, वहति, शाम्यति, चिनोति, देग्धि इत्येतेषु परतः॥ *उदा०*—गद्-प्रणिगदति, परिणिगदति। नद्-प्रणिनदति, परिणिनदति। पत-प्रणिपतति, परिणिपतति। पद्-प्रणिपद्यते, परिणिपद्यते। घुसंज्ञकस्य-प्रणिददाति, परिणिददाति। प्रणिदधाति, परिणिदधाति। माङ्-प्रणिमिमीते, परिणिमिमीते। मेङ्-प्रणिमयते, परिणिमयते। मा इत्यनेन माङ्मेङोर्द्वयोरपि ग्रहणम्। स्यति-प्रणिष्यति, परिणिष्यति। हन्ति-प्रणिहन्ति, परिणिहन्ति। याति-प्रणियाति, परिणियाति। वाति-प्रणिवाति, परिणिवाति। द्राति-प्रणिद्राति, परिणिद्राति। प्साति-प्रणिप्साति, परिणिप्साति। वपति-प्रणिवपति, परिणिवपति। वहति-प्रणिवहति, परिणिवहति। शाम्यति-प्रणिशाम्यति, परिणिशाम्यति। चिनोति-प्रणिचिनोति, परिणिचिनोति। देग्धि-प्रणिदेग्धि, परिणिदेग्धि॥

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [*नेः*] नि के नकार को णकार आदेश होता है, [*गद''देग्धिषु*] गद, नद, पत, पद, घुसंज्ञक, तथा मा, स्यति (षो) हन्ति, याति, वाति, द्राति, प्साति, वपति, वहति, शाम्यति, (शम) चिनोति, एवं देग्धि (दिह उपचये) धातुओं के परे रहते [*च*] भी॥ 'घु' से यहाँ घुसंज्ञक धातुओं का ग्रहण है, एवं 'मा' से माङ् एवं मेङ् दोनों का ग्रहण होता है॥ प्रणिददाति आदि की सिद्धि परि० १।१।१९ में देखें। प्रणिष्यति में *उपसर्गात् सुनोति०*

(८।३।६५) से षत्व हुआ है, सिद्धि वहीं देखें। प्रणिशाम्यति में शम सष्टानां० (७।३।७४) से दीर्घ होता है। प्रणिदेग्धि यहाँ दिह् धातु के को दादेर्धातोर्घः (८।२।३२) से घ् तथा झषस्तथो० (८।२।४०) धत्व, शप् का लुक् (२।४।७२) एवं झलां जश्० (८।४।५२) से जश गकार हुआ है। मिमीते की सिद्धि ७।४।७६ सूत्र में की है तद्वत् प्राणि मिमीते भी जानें॥

यहाँ से 'नेः' की अनुवृत्ति ८।४।१८ तक जायेगी॥

शेषे विभाषाऽकखादावषान्त उपदेशे ॥८।४।१८॥

शेषे ७।१॥ विभाषा १।१॥ अकखादौ ७।१॥ अषान्ते ७।१॥ उपदेशे ७।१॥ स०—कश्च खश्च कखौ, इतरेतरद्वन्द्वः। कखौ आदी यस्य स कखादिः, बहुव्रीहिः। न कखादिरकखादिस्तस्मिन्''' नञ्तत्पुरुषः। षः अन्ते यस्य स षान्तः, बहुव्रीहिः। न षान्तोऽषान्तस्तस्मिन्''' नञ्तत्पुरुषः। अनु०—नेः, उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्॥ अर्थः—अककारादिरखकारादिरषकारान्तश्च उपदेशे यो धातुः शेषस्तस्मिन् परत उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य नेर्नकारस्य विभाषा णकार आदेशो भवति॥ उदा०—प्रणिपचति, प्रनिपचति। प्रणिभिनत्ति, प्रनिभिनत्ति॥

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर जो [उपदेशे] उपदेश में [अकखादौ] ककार तथा खकार आदि वाला नहीं है एवं [अषान्तः] षकारान्त भी नहीं है ऐसे [शेषे] शेष धातु के परे रहते नि के नकार को [विभाषा] विकल्प से णकारादेश होता है॥ शेष यहाँ पूर्वसूत्रोक्त धातुओं की अपेक्षा से रखा है सो उनसे शेष धातुओं के परे रहते णत्व होगा॥ उदाहरणों में पच् एवं भिद् धातु ककार खकार आदि वाले नहीं हैं, तथा अषान्त भी हैं, अतः णत्व हो गया॥ भिनत्ति की सिद्धि परि० १।१।४६ में देखें॥

अनितेरन्तः ॥८।४।१९॥

अनितेः ६।१॥ अन्तः १।१॥ अनु०—उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्॥ अर्थः—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य अनितेर्नकारस्य पदान्ते वर्त्तमानस्य णकारादेशो भवति॥ उदा०—हे प्राण्, हे पराण्॥

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर पद के [*अन्तः*] अन्त में वर्त्तमान [*अनितेः*] अन धातु के नकार को णकार आदेश होता है ॥ *पदान्तस्य* (८।४।३६) से पद के अन्त में णत्व का निषेध किया है, सो उसी की अपेक्षा से यहाँ 'अन्तः' पद सूत्र में रखा है, अतः 'पदान्त' ऐसा सूत्रार्थ किया है। इस प्रकार यह सूत्र *पदान्तस्य* का अपवाद है। अथवा 'अन्तः' शब्द को समीपवाची मानकर भी (यथा *हलन्ताच्च* १।२।१० में है) सूत्रार्थ किया जा सकता है, ऐसा अर्थ करने पर सूत्रार्थ होगा कि—रेफ एवं षकार के समीपस्थ अनिति के नकार को णकारादेश होता है, तो प्राणिति, पराणिति में रेफ एवं नकार के मध्य में एक वर्ण 'अ' होने पर भी णत्व हो जाता है। एवं पर्यनिति में दो वर्णों का व्यवधान होने से नहीं होता। ये दोनों ही पक्ष भाष्य में 'अपर आह'—करके दिखाये हैं ॥

अन धातु से क्विप् करके सम्बुद्धि में हे प्राण् हे पराण् बनता है, तथा इसी धातु से शप् का लुक् (२।४।७२) एवं *रुदादिभ्यः०* (७।२।७६) से इट् आगम होकर अन् इट् ति = प्र अन् इ ति = प्राणिति, पराणिति बना है ॥

यहाँ से '*अनितेः*' की अनुवृत्ति ८।४।२० तक जायेगी ॥

उभौ साभ्यासस्य ॥८।४।२०॥

उभौ १।२॥ साभ्यासस्य ६।१॥ *स०*—अभ्यासेन सह साभ्यासस्तस्य…तृतीयातत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अनितेः, उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य साभ्यासस्य अनितेरुभयोर्नकारयोर्णकार आदेशो भवति ॥ *उदा०*—प्राणिणिषति, प्राणिणत् । पराणिणिषति, पराणिणत् ॥

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [*साभ्यासस्य*] अभ्यास सहित अन धातु के [*उभौ*] दोनों नकारों को णकार आदेश होता है। अर्थात् अभ्यास के एवं उससे उत्तर के दोनों नकारों को ॥ द्विर्वचन कर लेने पर अभ्यास का व्यवधान होने से णत्व प्राप्ति नहीं थी, विधान कर दिया ॥ प्राणिणिषति—प्र अन् इ स यहाँ *अजादेर्द्वि०* (६।१।२) से 'नि नि' द्वित्व हुआ है। प्राणिणत् यह णिजन्त के लुङ् का रूप है, जो कि पूर्व की गई सिद्धियों के अनुसार है ॥

हन्तेरत्पूर्वस्य ॥८।४।२१॥

हन्तेः ६।१॥ अत्पूर्वस्य ६।१॥ स०—अत् पूर्वो यस्मात् (नकारात्) स अत्पूर्वस्तस्य ''बहुव्रीहिः ॥ अनु०—उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य अकारपूर्वस्य हन्तिनकारस्य णकार आदेशो भवति ॥ *उदा०*—प्रहण्यते, परिहण्यते, प्रहणनम्, परिहणनम् ॥

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [*अत्पूर्वस्य*] अकार पूर्व में है जिससे ऐसे [हन्तेः] हन् धातु के नकार को णकारादेश होता है ॥ अकार पूर्व इसलिये कह दिया कि जहाँ हन् की उपधा अकार का लोप हो, वहाँ णत्व न हो ॥ परि हन् यक् त = परिहण्यते ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।४।२३ तक जायेगी ॥

वमोर्वा ८।४।२२॥

वमोः ७।२॥ वा अ० ॥ स०—वश्च मश्च वमौ, तयोः ''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—हन्तेरत्पूर्वस्य, उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—वकारमकारयोः परतोऽत्पूर्वस्य हन्तिनकारस्योपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य विकल्पेन णकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—प्रहण्वः, परिहण्वः । पक्षे—प्रहन्वः, परिहन्वः । म—प्रहण्मः, परिहण्मः । प्रहन्मः, परिहन्मः ॥

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर अकार पूर्व वाले हन् धातु के नकार को [*वा*] विकल्प से [*वमोः*] व तथा म परे रहते णकार आदेश होता है ॥ पूर्व सूत्र से नित्य णत्व प्राप्त था, विकल्प कर दिया ॥ उदाहरणों में वस् मस् का व म परे है ॥

अन्तरदेशे ॥८।४।२३॥

अन्तः अ० ॥ अदेशे ७।१॥ स०—न देशोऽदेशस्तस्मिन् ''नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—हन्तेरत्पूर्वस्य, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ अर्थः—अन्तःशब्दादुत्तरस्यात्पूर्वस्य हन्तिनकारस्य णकारादेशो भवति अदेशाभिधाने ॥ *उदा०*—अन्तर्हण्यते, अन्तर्हणनं वर्त्तते ॥

भाषार्थः—[*अन्तः*] अन्तर् शब्द से उत्तर अकार पूर्व वाले हन् धातु के नकार को णकारादेश होता है, [*अदेशे*] देश को न कहा जा रहा हो तो ॥ अन्तर्हणनम् यहाँ भाव में ल्युट् प्रत्यय तथा *अन्तरपरिग्रहे* (१।४।६४) से अन्तर् शब्द की गति संज्ञा होने से *कुगतिप्रादयः* (२।२।१८) से समास हुआ है ॥

यहाँ से 'अन्तरदेशे' की अनुवृत्ति ८।४।२४ तक जायेगी ॥

अयनं च ॥८।४।२४॥

अयनम् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—अन्तरदेशे, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अन्तःशब्दादुत्तरस्य अयनशब्दस्य नकारस्यादेशाभिधाने णकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—अन्तरयणं वर्त्तते, अन्तरयणं शोभनम् ॥

भाषार्थः—अन्तः शब्द से उत्तर [*अयनम्*] अयन[1] शब्द के नकार को [च] भी णकार आदेश होता है, देश का अभिधान न हो तो ॥ अय अथवा इण् धातु के ल्युट् का अयनम् रूप है ॥ *कृत्यचः* (८।४।२८) से ही णत्व सिद्ध था, अदेशाभिधानार्थ यह सूत्र है ॥

छन्दस्यृदवग्रहात् ॥८।४।२५॥

छन्दसि ७।१॥ ऋदवग्रहात् ५।१॥ स०—ऋच्चासौ अवग्रहश्च ऋदवग्रहस्तस्मात् कर्मधारयतत्पुरुषः ॥ अवगृह्यते विच्छिद्य पठ्यते = अवग्रहः ॥ *अनु०*—अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् । *पूर्वपदात् संज्ञा०* (८।४।३) इत्यतः 'पूर्वपदात्' इत्यप्यनुवर्त्तते ॥ *अर्थः*—छन्दसि विषये ऋकारान्तादवग्रहात् पूर्वपदादुत्तरस्य णकारादेशो भवति ॥ *उदा०*—नृमणाः । पितृयाणम् ॥

---

१. अयन शब्द उस गतिविशेष का नाम है जहाँ से गति आरम्भ हुई वहीं वापस आकर समाप्त हो जाये । रामायण में राम की गति = गमन अयोध्या से आरम्भ हुई और अयोध्या में लौटकर समाप्त हुई इसी *रामस्य अयनम्* के कारण ग्रन्थ का नाम भी रामायण हुआ । दक्षिणायन और उत्तरायण में भी यही गति है । अयन के इस गति विशेष अर्थ को न समझकर हिन्दी के कवियों ने "कृष्णायन" सदृश जो नामकरण किया वह अशुद्ध है ॥

भाषार्थः—[*छन्दसि*] वेद विषय में [*ऋदवग्रहात्*] ऋः
अवगृह्यमाण पूर्वपद से उत्तर नकार को णकार आदेश होत
अवगृह्यमाण अर्थात् जिसका पदपाठ काल में अवग्रह = पद को अ
किया जाये। केवल ऋ पद नहीं है, अतः ऋकारान्त सूत्रार्थ में
है॥ अवग्रह से तात्पर्य यहाँ इतना ही है, कि जिस पद में ऋः
अवग्रह सम्भव हो, उस ऋकारान्त पद से उत्तर। इसका यह तात्पः
है कि अवग्रह की अवस्था में ही णत्व हो। उदाहरणों में नृ,
ऋकारान्त पद हैं जो अवगृहीत होते हैं। यथा नृमणाः—नृमन
नृ मनाः। पितृयाणम्—पितृयानमिति पितृ यानम्। यह याजुष प
के नियमानुसार अवग्रह दर्शाया है॥

यहाँ से '*छन्दसि*' की अनुवृत्ति ८।४।२६ तक जायेगी॥

नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः ॥८।४।२६॥

नः अविभक्त्यन्तनिर्देशः॥ च अ०॥ धातुस्थोरुषुभ्यः ५।३॥ *स०*—
तिष्ठति धातुस्थः, तत्पुरुषः। धातुस्थश्च उरुश्च षुश्च धातुस्थोरुषवस्तेभ्य
इतरेतरद्वन्द्वः॥ *अनु०*—छन्दसि, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्य
णः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—धातुस्थान्निमित्तादुत्तरस्योरुशब्दात् षुश
श्चोत्तरस्य छन्दसि विषये नस् इत्येतस्य नकारस्य णकारादेशो भवा
उदा०—धातुस्थात्—अग्ने रक्षा णः (ऋ० ७।१५।१३)। ि
णो अस्मिन् (ऋ० ७।३२।२६)। उरुशब्दात्—उरु णंस्कृधि (
८।७५।११)। षुशब्दात्—अभी षु णः सखीनाम् (ऋ० ४।३१।ः
ऊर्ध्व ऊषु ण ऊतये (ऋ० १।३६।१३)॥

भाषार्थः—[*धातुस्थोरुषुभ्यः*] धातु में स्थित निमित्त से उत्तर ः
उरु एवं षु शब्द से उत्तर [*नः*] नस् के नकार को [*च*] भी वेद वि
में णकार आदेश होता है॥ *बहुवचनस्य वस्नसौ* (८।१।२१) से अस्मा
के स्थान में हुये नस् का यहाँ ग्रहण है॥ रक्षा शिक्षा, लोट् मध्यम पु
के रूप हैं *द्व्यचोऽत०* (६।३।१३३) से इन्हें दीर्घ हो गया है,
प्रकार धातु में स्थित निमित्त से उत्तर उदाहरणों में नस् है। उरुणस्कृ
की सिद्धि सूत्र ६।४।१०२ में देखें। ६।३।१३२ से अभी में दीर्घ जाः
षु से यहाँ 'सुञ्' निपात का ग्रहण है, *सुञः* (८।३।१०७) से ः
षत्व होता है॥

यहाँ से 'नः' की अनुवृत्ति ८।४।२७ तक जायेगी ॥

उपसर्गादनोत्परः ॥८।४।२७॥

उपसर्गात् ५।१॥ अनोत्परः १।१॥ स०—ओकारात् परः ओत्परः, पञ्चमीतत्पुरुषः। न ओत् परः अनोत्परः, नञ्तत्पुरुषः॥ *अनु०*—नः, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्यानोत्परस्य नसो नकारस्य णकारादेशो भवति॥ *उदा०*—प्रणः शूद्रः, प्रणसः, प्रणो राजा॥

भाषार्थः—[*उपसर्गात्*] उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर जो [*अनोत्परः*] ओकार से परे नहीं ऐसे नस् के नकार को णकारादेश होता है॥ उदाहरणों में ओकार से परे नस् का नकार नहीं है॥

विशेषः—'प्र नो मुञ्चतम्' यहाँ भी नकार को णकार न हो जाये इसके लिये 'अनोत्परः' का विग्रह 'ओकारः परोऽस्मात् स ओत्परः (बहुव्रीहिः) न ओत्परोऽनोत्परः' किया जा सकता है। वस्तुतः यह शङ्कासमाधान का विषय है, अतः यहाँ उपर्युक्त व्याख्या ही पर्याप्त है॥

यहाँ से '*उपसर्गात्*' की अनुवृत्ति ८।४।३३ तक जायेगी॥

कृत्यचः ॥८।४।२८॥

कृति ७।१॥ अचः ५।१॥ *अनु०*—उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य, अच उत्तरो यः कृत्स्थो नकारस्तस्य णकारादेशो भवति॥ *उदा०*—प्रयाणम्, परियाणम्, प्रमाणम्, परिमाणम्। प्रयायमाणम्, परियायमाणम्। प्रयाणीयम्, परियाणीयम्। अप्रयाणिः, अपरियाणिः। प्रयायिणौ, परियायिणौ। प्रहीणः, परिहीणः, प्रहीणवान्, परिहीणवान्॥

भाषार्थः—[*अचः*] अच् से उत्तर [*कृति*] कृत् में स्थित जो नकार उसको, उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर णकारादेश होता है॥ प्रयाणम् आदि में ल्युट् (अन) प्रत्यय, तथा प्रयायमाणम् में कर्म में शानच् हुआ है, सो मुक् (७।२।८२) आगम होकर प्र या यक् मुक् आन = प्रयायमाणम् बना है। प्रयायणीयम् में अनीयर् (३।१।९६) प्रत्यय तथा अप्रयाणिः में *आक्रोशे नञ्यनिः* (३।३।११२) से अनि प्रत्यय एवं नञ् समास हुआ है। प्रयायिणौ में *सुप्यजातौ णि०* (३।२।७८) से णिनि प्रत्यय तथा

आतो युक्० (७।३।३३) से युक् आगम होकर 'प्र या युक् इन् = प्रयायिन् औ = प्रयायिणौ बना है। प्रहीणः आदि में ओहाक् धातु से निष्ठा होकर *ओदितश्च* (८।२।४५) से निष्ठा को नत्व एवं *घुमास्थागा०* (६।४।६६) से ईत्व होकर प्र ह् ई न = प्रहीणः बना है॥ सर्वत्र उदाहरणों में उपसर्ग में स्थित निमित्त (रेफ) है, एवं उससे उत्तर अन, मान, अनीयर आदि का अच् है, सो उस अच् से उत्तर कृत्संज्ञक (३।१।९३) नकार को णकार हो गया है॥

यहाँ से '*कृत्यचः*' की अनुवृत्ति ८।४।३२ तक जायेगी॥

णेर्विभाषा ॥८।४।२९॥

णेः ५।१॥ विभाषा १।१॥ *अनु०*—कृत्यचः, उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य ण्यन्ताद् यो विहितः कृत्प्रत्ययस्तत्स्थस्याजुत्तरस्य नकारस्य विभाषा णकारादेशो भवति॥ *उदा०*—प्रयापणम्, प्रयापनम्। परियापणम्, परियापनम्। प्रयाप्यमाणम्। प्रयाप्यमानम्। प्रयापणीयम्, प्रयापनीयम्। अप्रयाणिः, अप्रयानिः। प्रयापिणौ, प्रयापिनौ॥

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [*णेः*] ण्यन्त धातु से विहित जो कृत् प्रत्यय उसमें स्थित जो अच् से उत्तर नकार उसको [*विभाषा*] विकल्प से णकार आदेश होता है॥ प्र पूर्वक या धातु से णिच् तथा *अर्तिह्री०* (७।३।३६) से पुक् आगम होकर यापि ण्यन्त धातु बनी, तत्पश्चात् पूर्वसूत्र अनुसार ही ल्युट् शानच् आदि प्रत्यय हुये, सो प्रयापणम् आदि प्रयोग बन गये। सर्वत्र प्रयापणम् आदि में *णेरनिटि* (६।४।५१) से णि का लोप हुआ हुआ है। प्रयापि यक् मुक् आन = प्र याप् य म् आन = प्रयाप्यमान = प्रयाप्यमाणम्॥

यहाँ से '*विभाषा*' की अनुवृत्ति ८।४।३० तक जायेगी॥

हलश्चेजुपधात् ॥८।४।३०॥

हलः ५।१॥ च अ०॥ इजुपधात् ५।१॥ *स०*—इच् उपधा यस्य स इजुपधस्तस्मात्'''बहुव्रीहिः॥ *अनु०*—विभाषा, कृत्यचः, उपसर्गात्,

अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—हलादिर्यो धातुरिजुपधस्तस्मात्परो यः कृत्प्रत्ययस्तत्स्थस्य नकारस्याच उत्तरस्योपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य विभाषा णकारादेशो भवति ॥ उदा०—प्रकोपणम्, परिकोपणम् । प्रकोपनम्, परिकोपनम् ॥

भाषार्थः—[*इजुपधात्*] इच् उपधा वाला जो [*हलः*] हलादि धातु उससे विहित जो कृत् प्रत्यय तत्स्थ जो अच् से उत्तर नकार उसको [*च*] भी उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर विकल्प से णकारादेश होता है ॥ कुप क्रोधे धातु हलादि एवं इच् उपधा वाला है, सो उससे विहित कृत् प्रत्यय जो ल्युट् = अन उसके नकार को अच् से उत्तर विकल्प से णकार उदाहरणों में हुआ है ॥ *कृत्यचः* (८।४।२८) से नित्य णत्व प्राप्त था, विकल्पार्थं यह वचन है ॥

यहाँ से '*हलः*' की अनुवृत्ति ८।४।३१ तक जायेगी ॥

इजादेः सनुमः ॥८।४।३१॥

इजादेः ५।१॥ सनुमः ५।१॥ *स०*—इच् आदिर्यस्य स इजादिस्तस्मात्...बहुव्रीहिः । नुमा सह सनुम्, तस्मात्...तृतीयातत्पुरुषः ॥ अनु०—हलः, कृत्यचः, उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य इजादेः सनुमो हलन्ताद्धातोर्विहितो यः कृत्प्रत्ययस्तत्स्थस्याच उत्तरस्य नकारस्य णकारादेशो भवति ॥ उदा०—प्रेङ्खणम्, परेङ्खणम् । प्रेङ्गणम्, परेङ्गणम् । प्रोम्भणम्, परोम्भणम् ॥

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [*इजादेः*] इच् आदि वाला जो [*सनुमः*] नुम् सहित हलन्त धातु उससे विहित जो कृत् प्रत्यय तत्स्थ नकार को अच् से उत्तर णकार आदेश होता है ॥ *कृत्यचः* (८।४।२८) से ही णत्व सिद्ध था, पुनर्वचन नियमार्थ है, अर्थात्—नुम् सहित इजादि धातुओं से उत्तर ही कृत्स्थ न को ण हो, अन्यों से उत्तर नहीं ॥ पूर्व सूत्र में '*हलः*' पद से हलादि अर्थ लिया गया है, किन्तु यहाँ '*इजादेः*' कह देने से हलः में तदन्तविधि (१।१।७१) होकर 'हलन्त' ऐसा सूत्रार्थ हुआ है ॥ इखि तथा इगि धातु से *इदितो नुम्धातोः* (७।१।५८) से नुम् होकर इन्ख् इन्ग् बना । *नश्चाऽपदान्तस्य०* (८।३।२४)

एवं *अनुस्वारस्य०* (८।४।५७) लगकर प्र इङ्ख् अन, प्र इङ्ग् अन = प्रेङ्खणम्, प्रेङ्गणम् बन गया। उन्भ धातु से प्रोम्भणम् आदि बना॥ वस्तुतः नुम् से यहाँ अनुस्वार का उपलक्षण होता है, अतः उन्भ में यद्यपि नुम् नहीं हुआ है, किन्तु पहले से ही नकार पठित है तो भी उस नकार का अनुस्वार में ग्रहण हो जाने से कृत्स्थ नकार को णकार हो जाता है॥

वा निंसनिक्षनिन्दाम् ॥८।४।३२॥

वा अ० ॥ निंसनिक्षनिन्दाम् ६।३॥ *स०*—निंसश्च निक्षश्च निन्द् च निंस···निन्दस्तेषाम्···इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—कृत्यचः, उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य निंस निक्ष निन्द इत्येतेषां नकारस्य वा णकारादेशो भवति, कृति परतः॥ *उदा०*—प्रणिंसनम्, प्रनिंसनम्। प्रणिक्षणम्, प्रनिक्षणम्। प्रणिन्दनम्, प्रनिन्दनम्॥

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [*निंसनिक्षनिन्दाम्*] निंस, निक्ष तथा निन्द धातु के नकार को [*वा*] विकल्प से णकारादेश होता है, कृत् परे रहते॥ णिसि चुम्बने, (अदा०) णिक्ष चुम्बने तथा णिदि कुत्सायाम् धातु से निंस्, निक्ष्, एवं निन्द् बनकर आगे ल्युट् प्रत्यय हुआ है। *णो नः* (६।१।६३) से पहले ण् को न् एवं इदित् को नुम् होकर निंस् निन्द् बना है। प्र निंस् अन = प्रणिंसनम् पूर्ववत् नुम् को अनुस्वार होकर बन गया॥ णिसि आदि के णोपदेश धातु होने से *उपसर्गादस०* (८।४।१४) से नित्य णत्व प्राप्त था, विकल्पार्थ यह वचन है॥

न भाभूपूकमिगमिप्यायीवेपाम् ॥८।४।३३॥

न अ० ॥ भाभू···वेपाम् ६।३॥ *स०*—भाश्च भूश्च पूश्च कमिश्च गमिश्च प्यायीश्च वेप् च भाभू···वेपस्तेषाम्···इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—कृत्यचः, उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्॥ *अर्थः*—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य भा भू पू कमि गमि प्यायी वेप इत्येतेभ्यो विहितो यो कृत्स्थस्य नकारस्तस्याजुत्तरस्य णकारादेशो न भवति॥ *उदा०*- भा–प्रभानम्, परिभानम्। भू–प्रभवनम्,

परिभवनम् । पञ्-प्रपवनम्, परिपवनम् । कमि-प्रकमनम्, परिकमनम् । गमि-प्रगमनम्, परिगमनम् । प्यायी-प्रप्यायनम्, परिप्यायनम् । वेप-प्रवेपनम्, परिवेपनम् ॥

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [*भाभू···वेपाम्*] भा, भू, पूञ्, कमि, गमि, ओप्यायी तथा वेप जो धातु इनसे विहित कृत्स्थ नकार को अच् से उत्तर णकार आदेश [*न*] नहीं होता ॥ *कृत्यचः* (८।४।२८) से णत्व की प्राप्ति थी, निषेध कर दिया ॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ८।४।३८ तक जायेगी ॥

षात्पदान्तात् ॥८।४।३४॥

षात् ५।१॥ पदान्तात् ५।१॥ *स०*—पदे अन्तः पदान्तस्तस्मात्··· सप्तमीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—न, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—षकारात्पदान्तादुत्तरस्य णकारादेशो न भवति ॥ *उदा०*—निष्पानम्, दुष्पानम् । सर्पिष्पानम्, यजुष्पानम् ॥

भाषार्थः—[*पदान्तात्*] पदान्त [*षात्*] षकार से उत्तर नकार को णकार आदेश नहीं होता ॥ निस् दुस् के स् को विसर्जनीय करके तत्पश्चात् उस विसर्जनीय को *इदुदुपधस्य०* (८।३।४१) से षत्व हुआ है, सो षकारान्त पद बन गया, इस प्रकार *कृत्यचः* (८।४।२८) से णत्व की प्राप्ति थी निषेध कर दिया । सर्पिष्पानम्, यजुष्पानम् में *नित्यं समासे०* (८।३।४५) से षत्व हुआ है । यहाँ *वा भावकरणयोः* (८।४।१०) से णत्व की प्राप्ति थी, निषेध कर दिया । 'सर्पिष्पानम्' में षष्ठी समास एवं 'यजुष्पानम्' में *कर्तृकरणे कृता०* (२।१।३१) से तृतीयासमास हुआ है ॥

नशेः षान्तस्य ॥८।४।३५॥

नशेः ६।१॥ षान्तस्य ६।१॥ *स०*—ष् अन्ते यस्य स षान्तस्तस्य··· बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—न, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—षकारान्तस्य नशेः णकारादेशो न भवति ॥ *उदा०*—प्रनष्टः, परिनष्टः ॥

भाषार्थः—[*षान्तस्य*] षकारान्त [*नशेः*] नश धातु के नकार को णकारादेश नहीं होता ॥ णश अदर्शने धातु से निष्ठा में *मस्जिनशोर्झलि* (७।१।६०) से नुम् होकर प्र न नुम् श् त रहा । *व्रश्चभ्रस्ज०* (८।२।३६)

से श् को ष् होकर प्र न न् ष् त रहा, *अनिदितां०* (६।४।२४) से नकार लोप तथा ष्टुत्व होकर प्रनष्टः बन गया ॥ *उपसर्गादस०* (८।४।१४) से णत्व प्राप्ति थी, निषेध कर दिया ॥

पदान्तस्य ॥८।४।३६॥

पदान्तस्य ६।१॥ *स०*—पदस्य अन्तः पदान्तस्तस्य ''षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—न, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—पदान्तस्य नकारस्य णकारादेशो न भवति ॥ *उदा०*—वृक्षान्, प्लक्षान्, अरीन्, गिरीन् ॥

भाषार्थः—[*पदान्तस्य*] पद के अन्त के नकार को णकार आदेश नहीं होता है ॥ *अट्कुप्वाङ्०* (८।४।२) से णत्व प्राप्ति थी, निषेध कर दिया ॥

पदव्यवायेऽपि ॥८।४।३७॥

पदव्यवाये ७।१॥ अपि अ० ॥ *स०*—पदेन व्यवायः पदव्यवाय-स्तस्मिन् ''तृतीयातत्पुरुषः ॥ *अनु०*—न, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—पदव्यवायेऽपि सति नकारस्य णकारादेशो न भवति ॥ *उदा०*—माषकुम्भवापेन, चतुरङ्गयोगेन, प्रावनद्धम् , पर्यवनद्धम्, प्रगान्नयामः, परिगान्नयामः ॥

भाषार्थः—[*पदव्यवाये*] पद का व्यवधान होने पर [*अपि*] भी नकार को णकार नहीं होता ॥ अभिप्राय यह है कि निमित्त एवं निमित्ती के मध्य में किसी पद का व्यवधान होने पर णत्व न होवे ॥ माषाणां कुम्भः माषकुम्भः, तं वपतीति माषकुम्भवापस्तेन माषकुम्भवापेन यहाँ *कर्मण्यण्* (३।२।१) से अण् प्रत्यय होकर तृतीया का 'टा' हुआ है, सो *प्रातिपदिकान्त०* (८।४।११) से (कुम्भ के *अट् कुप्वाङ्०* में गृहीत होने से) विभक्ति के न् को णत्व प्राप्त था, कुम्भ पद का व्यवधान होने से निषेध हो गया। चत्वारि अङ्गानि अस्य = चतुरङ्गस्तेन योगः चतुरङ्गयोगस्तेन चतुरङ्गयोगेन यहाँ *कुमति च* (८।४।१३) से प्राप्ति थी, अङ्ग पद का व्यवधान होने से नहीं हुआ। नद्धम् की सिद्धि ८।२।३४ सूत्र में देखें, तद्वत् प्र अव नद्धम् = प्रावनद्धम् में गतिसमास (२।२।१८) होकर *उपसर्गाद०* (८।४।१४) से णत्व प्राप्ति थी, 'अव' पद का व्यवधान होने से निषेध हो गया। प्रगान्नयामः यहाँ प्र निमित्त एवं

नयामः के न् निमित्ति के मध्य में गाम् द्वितीयान्त पद का व्यवधान है, सो उपसर्गाद० (८।४।१४) से जो णत्व प्राप्त था, निषेध हो गया। यह छान्दस उदाहरण है। गाम् के म् को अनुस्वार एवं परसवर्ण पूर्ववत् यहाँ हो जायेगा ॥

क्षुभ्नादिषु च ॥८।४।३८॥

क्षुभ्नादिषु ७।३॥ च अ० ॥ स०—क्षुभ्ना आदिर्येषां ते क्षुभ्नादयस्तेषु···बहुव्रीहिः ॥ *अनु०*—न, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—क्षुभ्ना इत्येवमादिषु शब्देषु नकारस्य णकारादेशो न भवति ॥ *उदा०*—क्षुभ्नाति, क्षुभ्नीतः, क्षुभ्नन्ति। नॄन् = मनुष्यान् नयतीति नॄनमनः ॥

भाषार्थः—[क्षुभ्नादिषु] क्षुभ्नादि गण में पठित शब्दों के नकार को [च] भी णकारादेश नहीं होता ॥ *रषाभ्यां नो णः०* (८।४।१) इत्यादि सूत्रों से प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया ॥ क्षुभ्नाति क्षुभ्नीतः आदि में *अट्कुप्वाङ्०* (८।४।२) से प्राप्ति थी, एवं नॄनमनः में *पूर्वपदात्०* (८।४।३) अथवा *छन्दस्यृद०* (८।४।२५) से णत्व प्राप्त था, प्रतिषेध कर दिया ॥ क्षुभ्नीतः में *ई हल्यघोः* (६।४।११३) से श्ना को ईत्व एवं क्षुभ्नन्ति में *श्नाभ्यस्त०* (६।४।११२) से श्ना के आ का लोप हुआ है ॥

स्तोः श्चुना श्चुः ॥८।४।३९॥

स्तोः ६।१॥ श्चुना ३।१॥ श्चुः १।१॥ स०—सश्च तुश्च स्तुस्तस्य···समाहारद्वन्द्वः। शश्च चुश्च श्चुस्तेन···समाहारद्वन्द्वः। एवं 'श्चुः' इत्यत्रापि ज्ञेयम् ॥ *अनु०*—संहितायाम् ॥ *अर्थः*—सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ आदेशौ भवतः ॥ *उदा०*—सकारस्य शकारेण—वृक्षस्शेते = वृक्षश्शेते, प्लक्षश्शेते। सकारस्य चवर्गेण—वृक्षस्चिनोति = वृक्षश्चिनोति, प्लक्षश्चिनोति। वृक्षस्छादयति = वृक्षश्छादयति, प्लक्षश्छादयति। तवर्गस्य शकारेण—अग्निचित् शेते = अग्निचिच्छेते, सोमसुच्छेते। तवर्गस्य चकारेण—अग्निचिच्चिनोति, सोमसुच्चिनोति। अग्निचिच्छादयति, सोमसुच्छादयति। अग्निचिज्जयति, सोमसुज्जयति। अग्निचिज्झकारः, सोमसुज्झकारः। अग्निचिञ्ञकारः। सोमसुञ्ञकारः। मस्जेः—मज्जति। भ्रस्जेः—भृज्जति। यजेः—यज्ञः। याचेः—याच्ञा ॥

भाषार्थः—[*श्चुना*] शकार और चवर्ग के योग में [*स्तोः*] सकार और तवर्ग के स्थान में [*श्चुः*] शकार और चवर्ग आदेश होते हैं ॥ यथासंख्य यहाँ इष्ट नहीं है, अतः सकार को शकार अथवा चवर्ग दोनों के योग में शकार हो जाता है। यथा—वृक्षश्शेते एवं वृक्षश्चिनोति आदि में दिखाया है। तवर्ग को भी शकार एवं चवर्ग दोनों के योग में चवर्ग हो जाता है। यथा—अग्निचित् शेते = अग्निचिच्छेते, एवं अग्निचिच्चिनोति आदि में है। *शश्छोऽटि* (८।४।६२) से अग्निचिच्छेते में श् को छ् भी हुआ है। मज्जति भृज्जति आदि में *झलां जश्०* (८।४।५२) से स् को द् एवं प्रकृत सूत्र से द् को ज् हुआ है। यज्ञः, याच्ञा में *यजयाच०* (३।३।९०) से नङ् हुआ है, सो ज् के योग में न् तवर्गीय वर्ण को चवर्ग अर्थात् ञ् हो गया है ॥ यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि 'श्चुना' कहने से शकार एवं चवर्ग का सकार एवं तवर्ग के साथ पूर्व से अथवा पर से अर्थात् शकार चवर्ग सकार तवर्ग के पूर्व में हों अथवा पर में, सकार तवर्ग को शकार एवं चवर्ग हो जायेगा। यज्ञः याच्ञा में चवर्ग का तवर्ग के साथ पूर्व से योग है। सकार को शकार एवं तवर्ग को चवर्ग आदेश यथासङ्ख्य करके होते हैं, जैसा कि हमने अग्निचिच्चिनोति आदि उदाहरणों में दिखाया है ॥ अग्निचिज्झकारम् में पहले त् को श्चुत्व च् हुआ पुनः *झलां जशोऽन्ते* (८।२।३९) से ज् हुआ अथवा पहले त् को जश्त्व द् करके श्चुत्व होकर द् को ज् होगा ॥

यहाँ से '*स्तोः*' की अनुवृत्ति ८।४।४१ तक जायेगी ॥

ष्टुना ष्टुः ॥८।४।४०॥

ष्टुना ३।१॥ ष्टुः १।१॥ *स०*—षश्च टुश्च ष्टुस्तेन ''समाहारद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—स्तोः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—सकारतवर्गयोः षकारटवर्गाभ्यां योगे षकारटवर्गौ आदेशौ भवतः ॥ *उदा०*—षकारेण सकारस्य—वृक्षस्षण्डे = वृक्षष्षण्डे, प्लक्षष्षण्डे। सकारस्य टवर्गेण—वृक्षस् टीकते = वृक्षष्टीकते, प्लक्षष्टीकते। वृक्षष्ठकारः, प्लक्षष्ठकारः। तवर्गस्य षकारेण—पेष्टा, पेष्टुम्, पेष्टव्यम्। कृषीष्ट, कृषीष्ठाः। तवर्गस्य टवर्गेण—अग्निचिट्टीकते, सोमसुट्टीकते। अग्निचिट्ठकारः, सोमसुट्ठकारः। अग्निचिड्डीनः, सोमसुड्डीनः। अग्निचिड्ढौकते, सोमसुड्ढौकते। अग्निचिण्णकारः, सोमसुण्णकारः। अतट्टति = अट्टति। अद्ड्डति = अड्डति ॥

भाषार्थः—[*ष्टुना*] षकार और टवर्ग के योग में सकार और तवर्ग के स्थान में [ष्टुः] षकार और टवर्ग आदेश हो जाते हैं ॥ पूर्ववत् यहाँ भी संख्यातानुदेश इष्ट नहीं है, अतः सकार को षकार एवं टवर्ग दोनों के योग में ष् होता है। यथा—वृक्षष्षण्डे में है। तवर्ग को भी षकार एवं टवर्ग दोनों के योग में टवर्ग आदेश होता है। यथा—पेष्टा, पेष्टुम् आदि में है ॥ इस सूत्र की सम्पूर्ण व्याख्या पूर्व सूत्रानुसार जानें ॥

यहाँ से 'ष्टुः' की अनुवृत्ति ८।४।४१ तक जायेगी ॥

न पदान्ताट्टोरनाम् ॥८।४।४१॥

न अ० ॥ पदान्तात् ५।१॥ टोः ५।१॥ अनाम् लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ *स०*—पदस्य अन्तः पदान्तस्तस्मात्...षष्ठीतत्पुरुषः। न नाम् अनाम् नञ्तत्पुरुषः ॥ *अनु०*—ष्टुः, स्तोः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—पदान्ताट्टवर्गादुत्तरस्य स्तोः ष्टुत्वं न भवति नामित्येतद् वर्जयित्वा ॥ *उदा०*—श्वलिट् साये, मधुलिट् तरति ॥

भाषार्थः—[*पदान्तात्*] पदान्त [*टोः*] टवर्ग से उत्तर सकार और तवर्ग को षकार और टवर्ग [*न*] नहीं होता, [*अनाम्*] 'नाम्' को छोड़ कर ॥ श्वलिट्, मधुलिट् के पदान्त में टकार है, सो उससे उत्तर त् को ष्टुत्व ट् नहीं हुआ ॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ८।४।४३ तक जायेगी ॥

तोः षि ॥८।४।४२॥

तोः ६।१॥ षि ७।१॥ *अनु०*—न, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—तवर्गस्य षकारे परतो यदुक्तं तन्न भवति ॥ *उदा०*—अग्निचित्षण्डे, भवान् षण्डे, महान् षण्डे ॥

भाषार्थः—[*तोः*] तवर्ग को [*षि*] षकार परे रहते जो कुछ भी कहा है, वह नहीं होता, अर्थात् ष्टुत्व नहीं होता ॥

यहाँ से '*तोः*' की अनुवृत्ति ८।४।४३ तक जायेगी ॥

शात् ॥८।४।४३॥

शात् ५।१॥ *अनु०*—तोः, न, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—शकारादुत्तरस्य [illegible] ॥ *उदा०*—प्रश्नः, विश्नः ॥

भाषार्थः—[*शात्*] शकार से उत्तर तवर्ग को जो कुछ भी कहा है वह नहीं होता, अर्थात् *स्तोः श्चुना०* (८।४।३९) से प्राप्त श्चुत्व नहीं होता अन्यथा 'प्रश्न्‌ः' अशुद्ध रूप बनता ॥ सिद्धि ३।३।९० सूत्र में देखें ॥

यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ॥८।४।४४॥

यरः ६।१॥ अनुनासिके ७।१॥ अनुनासिकः १।१॥ वा अ० ॥ *अनु०*—संहितायाम् । *न पदान्ता०* (८।४।४१) इत्यतः 'पदान्तात्' इत्यप्यनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या ॥ *अर्थः*—पदान्तस्य यरोऽनुनासिके परतो वाऽनुनासिकादेशो भवति ॥ *उदा०*—वाङ्नयति, वाग् नयति । श्वलिण् नयति, श्वलिड् नयति । अग्निचिन्नयति, अग्निचिद् नयति । त्रिष्टुम्नयति, त्रिष्टुब् नयति ॥

भाषार्थः—पदान्त [*यरः*] यर् (प्रत्याहार) को [*अनुनासिके*] अनुनासिक परे रहते [*वा*] विकल्प से [*अनुनासिकः*] अनुनासिक आदेश होता है ॥ उदाहरणों में नयति का न् अनुनासिक परे है, अतः ग्, ड् आदि यरों को अन्तरतम (१।१।४९) अनुनासिक आदेश विकल्प से हो गया है ॥

यहाँ से '*यरो वा*' की अनुवृत्ति ८।४।४६ तक जायेगी ॥

अचो रहाभ्यां द्वे ॥८।४।४५॥

अचः ५।१॥ रहाभ्याम् ५।२॥ द्वे १।२॥ *स०*—रश्च हश्च रहौ, ताभ्याम्''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—यरो वा, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अच उत्तरौ यौ रेफहकारौ ताभ्यामुत्तरस्य यरो द्वे वा भवतः ॥ *उदा०*—अर्कः, अर्क्कः । मर्क्कः, मर्कः । ब्रह्मा, ब्रह्म्मा । अपह्न्नुते, अपह्नुते ॥

भाषार्थः—[*अचः*] अच् से उत्तर जो [*रहाभ्याम्*] रेफ और हकार उससे उत्तर यर् को विकल्प से [*द्वे*] द्वित्व होता है ॥ अर्कः यहाँ अच् से उत्तर रेफ है, उससे उत्तर क् यर् को द्वित्व हुआ है, इसी प्रकार अन्यों में जानें । अपह्नुते यहाँ हकार से उत्तर यर् है ॥

यहाँ से '*अचः*' की अनुवृत्ति ८।४।४६ तक एवं '*द्वे*' की ८।४।५१ तक जायेगी ॥

अनचि च ॥८।४।४६॥

अनचि ७।१॥ च अ० ॥ स०—न अच् अनच् तस्मिन्...नञ्-तत्पुरुषः ॥ अनु०—अचो द्वे, यरो वा, संहितायाम् ॥ अर्थः—अच उत्तरस्य यरो वा द्वे भवतोऽनचि परतः ॥ उदा०—दद्ध्यत्र, मद्ध्वत्र ॥

भाषार्थः—अच् से उत्तर यर् को विकल्प करके [*अनचि*] अच् परे न हो तो [च] भी द्वित्व हो जाता है ॥ सिद्धि परि० १।१।५७ में देखें । यहाँ अनच् 'य्' परे रहते 'ध्' यर् को द्वित्व हुआ है ॥

नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य ॥८।४।४७॥

न अ० ॥ आदिनी लुप्तसप्तम्यन्तनिर्देशः ॥ आक्रोशे ७।१॥ पुत्रस्य ६।१॥ अनु०—द्वे, संहितायाम् ॥ अर्थः—आक्रोशे गम्यमाने आदिनी परतः पुत्रशब्दस्य द्वे न भवतः ॥ उदा०—पुत्रानत्तु शीलमस्याः पुत्रादिनी त्वमसि पापे ॥

भाषार्थः—[*आक्रोशे*] आक्रोश गम्यमान हो तो [*आदिनी*] आदिनी शब्द परे रहते [*पुत्रस्य*] पुत्र शब्द को द्वित्व [*न*] नहीं होता ॥ ताच्छील्य अर्थ में णिनि होकर आदिन् रहा, पश्चात् ङीप् होकर आदिनी बना है ॥ पूर्व सूत्र से प्राप्ति थी, निषेध कर दिया है ॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ८।४।५१ तक जायेगी ॥

शरोऽचि ॥८।४।४८॥

शरः ५।१॥ अचि ७।१॥ अनु०—न, द्वे, संहितायाम् ॥ अर्थः—अचि परतः शरो न द्वे भवतः ॥ उदा०—कर्षति, वर्षति, आकर्षः, आदर्शः ॥

भाषार्थः—[*अचि*] अच् परे रहते [*शरः*] शर् (प्रत्याहार) को द्वित्व नहीं होता ॥ *अचो रहाभ्यां द्वे* से प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया ॥ आकर्षः आदर्शः में अधिकरण में घञ् हुआ है ॥

त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य ॥८।४।४९॥

त्रिप्रभृतिषु ७।३॥ शाकटायनस्य ६।१॥ स०—त्रयः प्रभृतयः त्रिप्रभृतयस्तेषु...कर्मधारयतत्पुरुषः ॥ अनु०—न, द्वे, संहितायाम् ॥ अर्थः—त्रिप्रभृतिषु संयुक्तेषु वर्णेषु शाकटायनस्याचार्यस्य मतेन द्वित्वं न भवति ॥ उदा०—इन्द्रः, चन्द्रः, उष्ट्रः, राष्ट्रम्, भ्राष्ट्रम् ॥

भाषार्थः—[*त्रिप्रभृतिषु*] तीन मिले हुये = संयुक्त वर्णों को [*शाकटायनस्य*] शाकटायन आचार्य के मत में द्वित्व नहीं होता ॥ इन्द्र में न् द् र् तीन संयुक्त वर्ण हैं, इसी प्रकार अन्यों में भी समझें। इन्द्र आदि शब्दों में *अनचि च* से द्वित्व प्राप्ति थी निषेध हो गया ॥ शाकटायन ग्रहण पूजार्थ है ॥

सर्वत्र शाकल्यस्य ॥८।४।५०॥

सर्वत्र अ० ॥ शाकल्यस्य ६।१॥ *अनु०*—न, द्वे, संहितायाम् ॥
अर्थः—शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन सर्वत्र द्वित्वं न भवति ॥ *उदा०*—अर्कः, मर्कः, ब्रह्मा, अपह्नुते ॥

भाषार्थः—[*शाकल्यस्य*] शाकल्य आचार्य के मत में [*सर्वत्र*] सर्वत्र अर्थात् त्रिप्रभृति अथवा अत्रिप्रभृति सर्वत्र द्वित्व नहीं होता ॥ अर्कः इत्यादि में *अचो रहाभ्यां द्वे* से द्वित्व प्राप्ति थी, प्रतिषेध हो गया ॥

दीर्घादाचार्याणाम् ॥८।४।५१॥

दीर्घात् ५।१॥ आचार्याणाम् ६।३॥ *अनु०*—न, द्वे, संहितायाम् ॥
अर्थः—दीर्घादुत्तरस्याचार्याणां मतेन द्वित्वं न भवति ॥ *उदा०*—दात्रम्, पात्रम्, सूत्रम्, मूत्रम् ॥

भाषार्थः—[*दीर्घात्*] दीर्घ से उत्तर [*आचार्याणाम्*] सभी आचार्यों के मत में द्वित्व नहीं होता ॥ दात्रम् आदि में *अनचि च* से द्वित्व प्राप्ति थी, निषेध हो गया ॥

झलां जश् झशि ॥८।४।५२॥

झलाम् ६।३॥ जश् १।१॥ झशि ७।१॥ *अनु०*—संहितायाम् ॥
अर्थः—झलां स्थाने जश् आदेशो भवति झशि परतः ॥ *उदा०*—लब्धा, लब्धुम्, लब्धव्यम्। दोग्धा, दोग्धुम्, दोग्धव्यम्। बोद्धा, बोद्धुम्, बोद्धव्यम् ॥

भाषार्थः—[*झलाम्*] झलों के स्थान में [*झशि*] झश् परे रहते [*जश्*] जश् आदेश होता है ॥ लब्धा में लभ् के भ् को ब् जश्त्व हुआ है, शेष धत्वादि (८।२।४०) हो ही जायेंगे। दोग्धा में दुह् को दादेर्धातोर्घः (८।२।३२) से ह् को घ् होकर पश्चात् घ् को ग् जश्त्व हुआ है ॥

यहाँ से 'झलाम्' की अनुवृत्ति ८।४।५५ तक तथा 'जश्' की ८।४।५३ तक जायेगी ॥

अभ्यासे चर्च ॥८।४।५३॥

अभ्यासे ७।१॥ चर् १।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—झलाम्, जश्, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—अभ्यासे वर्त्तमानानां झलां चर् आदेशो भवति चकारात् जश् च ॥ *उदा०*—चिखनिषति, चिच्छित्सति, टिठकारयिषति, तिष्ठासति, पिफकारयिषति । जश्—बुभूषति, जिघत्सति, डुढौकिषते ॥

भाषार्थः—[*अभ्यासे*] अभ्यास में वर्त्तमान झलों को [*चर्*] चर् आदेश होता है, तथा चकार से जश् [*च*] भी होता है ॥ चिखनिषति में खन धातु से सन् आकर द्वित्वादि होकर 'ख खनिष' रहा । *कुहोश्चुः* (७।४।६२) से अभ्यास को चुत्व छ् होकर पश्चात् उस छ् को प्रकृत सूत्र से च् हो गया है । छिद् से चिच्छित्सति छे च (६।१।७१) से तुक् आगम एवं श्चुत्व होकर बना है । ठकार एवं फकार से पटयति (दे० परि० १।१।५६) के समान णिच् प्रत्यय आकर एवं टिलोप होकर ठकारय् फकारय् धातु बनें । पश्चात् सन् इट् तथा 'ठ ठकारयिष' 'फ फकारयिष द्वित्व एवं प्रकृत सूत्र से चर् होकर टिठकारयिषति, पिफकारयिषति बन गया । तिष्ठासति में *शर्पूर्वाः खयः* (७।४।६१) से अभ्यास का खय् शेष रहा है । बुभूषति आदि में अभ्यास को जश् हुआ है । जिघत्सति की सिद्धि परि २।४।३७ में देखें । डुढौकिषते ढौकृ धातु से अभ्यास को *ह्रस्वः* (७।४।५९) से ह्रस्व होकर बना है ॥ *स्थानेऽन्तरतमः* (१।१।४९) के नियम से वर्ग के प्रथम द्वितीय वर्ण के स्थान में चर् उस वर्ग का प्रथम और तृतीय चतुर्थ वर्ण के स्थान में जश् अर्थात् तृतीय आदेश होता है ॥

यहाँ से 'चर्' की अनुवृत्ति ८।४।५५ तक जायेगी ॥

खरि च ॥८।४।५४॥

खरि ७।१॥ च अ० ॥ *अनु०*—चर्, झलाम्, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—खरि परतो झलां चर् आदेशो भवति ॥ *उदा०*—भेत्ता, भेत्तुम्, भेत्तव्यम्, युयुत्सते, आरिप्सते, आलिप्सते ॥

भाषार्थः—[*खरि*] खर् परे रहते [*च*] भी झलों को चर् आदेश

होता है ॥ भेत्ता आदि में द् को त् एवं युयुत्सते में ध् को त् तथा आरिप्सते, आलिप्सते में भ् को प् चर् हुआ है। आरिप्सते आलिप्सते की सिद्धि ७।४।५४ सूत्र में देखें ॥

वावसाने ॥८।४।५५॥

वा अ० ॥ अवसाने ७।१॥ अनु०—चर्, झलाम्, संहितायाम् ॥ अर्थः—अवसाने वर्त्तमानानां झलां वा चर् आदेशो भवति ॥ उदा०—वाच्-वाक्, वाग्। त्वच्-त्वक्, त्वग्। श्वलिड्-श्वलिट्, श्वलिड्। त्रिष्टुभ्-त्रिष्टुप्, त्रिष्टुब् ॥

भाषार्थः—[*अवसाने*] अवसान में वर्त्तमान झलों को [*वा*] विकल्प करके चर् आदेश होता है ॥ जब पक्ष में चर् नहीं होगा तो *झलां जशोऽन्ते* (८।२।३९) से हुआ जश् ही रहेगा। वाक् की सिद्धि परि० १।२।४१ में देखें। तद्वत् अन्य सिद्धियाँ हैं ॥

यहाँ से '*वावसाने*' की अनुवृत्ति ८।४।५६ तक जायेगी ॥

अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः ॥८।४।५६॥

अणः ६।१॥ अप्रगृह्यस्य ६।१॥ अनुनासिकः १।१॥ स०—न प्रगृह्यम् अप्रगृह्यम् तस्य ''नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—वावसाने, संहितायाम् ॥ अर्थः—अप्रगृह्यसंज्ञकस्याऽणोऽवसाने वर्त्तमानस्य वाऽनुनासिकादेशो भवति ॥ उदा०—दधि, दधिँ। मधु, मधुँ। कुमारी, कुमारीँ ॥

भाषार्थः—अवसान में वर्त्तमान [*अप्रगृह्यस्य*] प्रगृह्यसंज्ञक से भिन्न [*अणः*] अण् को विकल्प से [*अनुनासिकः*] अनुनासिक आदेश होता है ॥ अण् से यहाँ पूर्व णकार (अइउण् वाला) से ग्रहण है। दधि, मधु के सु का *स्वमोर्नपुंसकात्* (७।१।२३) से लुक् हुआ है ॥

अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ॥८।४।५७॥

अनुस्वारस्य ६।१॥ ययि ७।१॥ परसवर्णः १।१॥ स०—परस्य सवर्णः परसवर्णः, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—संहितायाम् ॥ अर्थः—अनुस्वारस्य ययि परतः परसवर्णादेशो भवति ॥ उदा०—शङ्किता, शङ्कितुम्, शङ्कितव्यम्। उञ्छिता, उञ्छितुम्, उञ्छितव्यम्। कुण्डिता, कुण्डितुम्,

कुण्डितव्यम् । नन्दिता, नन्दितुम्, नन्दितव्यम् । कम्पिता, कम्पितुम्, कम्पितव्यम् ॥

भाषार्थः—[*अनुस्वारस्य*] अनुस्वार को [*ययि*] यय् (प्रत्याहार) परे रहते [*परसवर्णः*] परसवर्ण (अर्थात् परे जो वर्ण हो उसका सवर्णीय वर्ण) आदेश होता है ॥ शकि, उछि, कुडि, टुनदि, कपि ये सभी धातुएं इदित् हैं, अतः *इदितो नुम्धातोः* (७।१।५८) से इन्हें नुम् आगम होकर न् को *नश्चाऽप०* (८।३।२४) से अनुस्वार हो गया, पश्चात् प्रकृत सूत्र से अनुस्वार को परसवर्ण आदेश होने से शङ्किता में क् का पर सवर्णीय ङ्, उञ्छिता में छ् का परसवर्णीय ञ्, कुण्डिता में ड् का परसवर्णीय ण् एवं नन्दिता, कम्पिता में इसी प्रकार न्, म् परसवर्ण आदेश हो गये हैं ॥

यहाँ से '*अनुस्वारस्य ययि*' की अनुवृत्ति ८।४।५८ तक तथा '*पर*' की ८।४।५९ एवं '*सवर्णः*' की ८।४।६१ तक जायेगी ॥

वा पदान्तस्य ॥८।४।५८॥

वा अ० ॥ पदान्तस्य ६।१॥ *स०*—पदस्य अन्तः पदान्तस्तस्य'' षष्ठीतत्पुरुषः ॥ *अनु०*—अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—पदान्तस्यानुस्वारस्य ययि परतो वा परसवर्णादेशो भवति ॥ *उदा०*—तङ्कथञ्चित्रपक्षण्डयमानन्नभःस्थम्पुरुषोऽवधीत् । पक्षे—तं कथं चित्रपक्षं डयमानं नभःस्थं पुरुषोऽवधीत् ॥

भाषार्थः—[*पदान्तस्य*] पदान्त के अनुस्वार को यय् परे रहते [*वा*] विकल्प से परसवर्णादेश होता है ॥ पूर्व सूत्र से नित्य प्राप्ति थी, विकल्प कर दिया ॥ *मोऽनुस्वारः* (८।३।२३) से पदान्त म् को अनुस्वार उदाहरणों में सर्वत्र हुआ है ॥

तोर्लि ॥८।४।५९॥

तोः ६।१॥ लि ७।१॥ *अनु०*—परसवर्णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—तवर्गस्य लकारे परतः परसवर्णादेशो भवति ॥ *उदा०*—अग्निचिल्लुनाति, सोमसुल्लुनाति । भवाल्लुँनाति, महाल्लुँनाति ॥

भाषार्थः—[*तोः*] तवर्ग के स्थान में [*लि*] लकार परे रहते, परसवर्ण आदेश होता है ॥ अग्निचिल्लुनाति में त् को परसवर्ण शुद्ध ल् एवं

भवाँल्लुनाति में न् को परसवर्ण *स्थानेऽन्तरतमः* (१।१।४९) से सानुनासिक[1] ल् होता है, अतः 'भवाँल्लुनाति' ऐसा होता है ॥

उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य ॥८।४।६०॥

उदः ५।१॥ स्थास्तम्भोः ६।२॥ पूर्वस्य ६।१॥ *स०*—स्थाश्च स्तम्भ् च स्थास्तम्भौ, तयोः'''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ *अनु०*—सवर्णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—उद उत्तरयोः स्था स्तम्भ इत्येतयोः पूर्वसवर्णादेशो भवति ॥ *उदा०*—स्था—उत्थाता, उत्थातुम्, उत्थातव्यम् । स्तम्भेः—उत्तम्भिता, उत्तम्भितुम्, उत्तम्भितव्यम् ॥

भाषार्थः—[*उदः*] उत् उपसर्ग से उत्तर [*स्थास्तम्भोः*] स्था तथा स्तम्भ को [*पूर्वस्य*] पूर्वसवर्ण आदेश होता है ॥ *आदेः परस्य* (१।१।५३) से स्था तथा स्तम्भ के सकार को पूर्वसवर्ण होगा, सो अघोष[2] तथा महाप्राण प्रयत्न वाले सकार का अन्तरतम अर्थात् उसी प्रयत्न वाला थकार पूर्वसवर्ण हो गया, तो उत् थ् थाता = उत्थ्थाता रहा । *झरो झरि सवर्णे* (८।४।६४) से पक्ष में एक थकार का लोप हो गया तो उत्थाता बना । पक्ष में जब थकार का लोप नहीं होगा तो उत्थ्थाता[3] बनेगा । इसी प्रकार उत्तम्भिता, उत्त्तम्भिता रूप भी बनेंगे ॥

यहाँ से 'पूर्वस्य' की अनुवृत्ति ८।४।६१ तक जायेगी ॥

झयो होऽन्यतरस्याम् ॥८।४।६१॥

झयः ५।१॥ हः ६।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ *अनु०*—पूर्वस्य, सवर्णः, संहितायाम् ॥ *अर्थः*—झय उत्तरस्य हकारस्य पूर्वसवर्णादेशो भवति

१. अन्तस्थ अर्थात् य, ल, व सानुनासिक एवं निरनुनासिक के भेद से दो प्रकार के होते हैं । देखो वर्णो० ७५, पृ० १६ । इसीलिये निरनुनासिक एवं सानुनासिक दो प्रकार का ल् यहाँ इष्ट है ॥

२. देखो वर्णो० ६१, ६२ पृ० १४ ॥

३. कई आचार्य बाह्य प्रयत्न की साम्यता की उपेक्षा करके तकार का पूर्ण सवर्णीय तकार ही करते हैं उनके मत में उत्त्थाता उत्त्तम्भिता रूप बनता है । थकार पक्ष में पूर्वसवर्ण के असिद्ध होने से चर्त्व नहीं होता ॥

विकल्पेन ।। उदा०—वागूहसति, वाग्घसति । श्वलिड्हसति, श्वलिड्ढसति । अग्निचिद्हसति, अग्निचिद्धसति । सोमसुद्हसति, सोमसुद्धसति । त्रिष्टुब्हसति, त्रिष्टब्भसति ।।

भाषार्थः—[*झयः*] झय्, (प्रत्याहार) से उत्तर [*हः*] हकार को [*अन्यतरस्याम्*] विकल्प से पूर्वसवर्ण आदेश होता है ।। सर्वत्र *स्थानेऽन्तरतमः* (१।१।४९) से अन्तरतम पूर्वसवर्ण होगा, और यह आन्तर्य वर्णोच्चारणशिक्षा में उल्लिखित स्थान और प्रयत्न के अनुसार होता है, अर्थात् जिस वर्ण का जिस वर्ण के साथ स्थान, एवं प्रयत्न मिल जाये, वही आन्तर्य है इस प्रकार ग् से उत्तर महाप्राण[1] ह् को पूर्वसवर्ण घ्, ड् से उत्तर ह् को ढ्, द् से उत्तर ह् को ध्, एवं ब् से उत्तर ह् को भ् ये महाप्राण अपने वर्ग के चतुर्थ अक्षर हुये हैं ।।

यहाँ से '*झयः*' की अनुवृत्ति ८।४।६२ तक तथा '*अन्यतरस्याम्*' की ८।४।६४ तक जायेगी ।।

शश्छोऽटि ।।८।४।६२।।

शः ६।१।। छः १।१।। अटि ७।१।। *अनु०*—झयोऽन्यतरस्याम्, संहितायाम् ।। *अर्थः*—झय उत्तरस्य शकारस्य अटि परतश्छकारादेशो भवति विकल्पेन ।। उदा०—वाक्छेते, वाक्शेते । अग्निचिच्छेते, अग्निचिच्शेते[2] । सोमसुच्छेते, सोमसुच्शेते[2] । श्वलिट् छेते, श्वलिट् शेते । त्रिष्टुप्छेते, त्रिष्टुप् शेते ।।

भाषार्थः—झय् प्रत्याहार से उत्तर [*शः*] शकार के स्थान में [*अटि*] अट् परे रहते [*छः*] छकार आदेश विकल्प से होता है ।। उदाहरणों में झय् से उत्तर श् है एवं श् से परे अट् प्रत्याहार है ही, अतः छत्व हो गया है ।।

हलो यमां यमि लोपः ।।८।४।६३।।

हलः ५।१।। यमाम् ६।३।। यमि ७।१।। लोपः १।१।। *अनु०*—अन्यतरस्याम्, संहितायाम् ।। *अर्थः*—हल उत्तरेषां यमां यमि परतो लोपो भवति विकल्पेन ।। उदा०—शय्या, शय्य्या । आदित्यः आदित्य्यः । आदित्य्यः, आदित्य्य्यः ।।

---

१. देखो वर्णो० '*एके अल्पप्राणा इतरे महाप्राणाः*' ६२ ।।

२. जब संहिता विवक्षित नहीं होगी तब 'अग्निचित् शेते, सोमसुत् शेते' होगा ।।

भाषार्थः—[*हलः*] हल् से उत्तर [*यमाम्*] यम् का [*यमि*] यम् परे रहते विकल्प से [*लोपः*] लोप होता है ॥ शय्या की सिद्धि सूत्र ३।३।९९ में देखें। यहाँ विशेष यह है कि जब *अनचि च* (८।४।४६) से पक्ष में य् को द्वित्व हुआ तो तीन यकार हो गये, सो उनमें से एक य् से उत्तर एक य् के परे रहते मध्य वाले य् का विकल्प से लोप हो गया, सो दो एवं तीन यकारों की पर्याय से श्रुति होती है ॥ अदितेरपत्यम् आदित्यः यहाँ *दित्यदित्या०* (४।१।८५) से ण्य प्रत्यय हुआ है। अब *यणो मयो द्वे भवत इति वक्तव्यम्* (वा० ८।४।४६) से य् को द्वित्व होकर आदित्य्यः बन गया, तो पक्ष में त् हल् से उत्तर य् परे रहते य् का लोप हो गया। इस प्रकार दो यकार एवं एक यकार वाले प्रयोग बन गये॥ आदित्य्यः यहाँ अपत्य अर्थ में आदित्य शब्द पूर्ववत् बनकर पुनः *सास्य देवता* अर्थ में ४।१।८५ सूत्र से ही ण्य होकर 'आदित्य्यः' दो यकार वाला प्रयोग बना। पुनः उसमें पूर्ववत् वार्त्तिक से द्वित्व होकर आदित्य्य्यः तीन यकार हो गये,[1] तब पक्ष में एक य् का लोप करके आदित्य्यः आदित्य्य्यः प्रयोग बन गये॥ यहाँ भी जब य् को पक्ष में द्विर्वचन न होगा तो उस पक्ष में भी एक य् का प्रकृत सूत्र से लोप होकर आदित्यः एक यकारवान् रूप ही बनेगा।

यहाँ से '*हलः लोपः*' की अनुवृत्ति ८।४।६४ तक जायेगी ॥

झरो झरि सवर्णे ॥८।४।६४॥

झरः ६।१॥ झरि ७।१॥ सवर्णे ७।१॥ *अनु०*—हलः लोपः, अन्यतरस्याम्, संहितायाम्॥ *अर्थः*—हल उत्तरस्य विकल्पेन झरो लोपो भवति सवर्णे झरि परतः॥ *उदा०*—प्रत्तम् प्रत्त्तम्। अवत्तम् अवत्त्तम् मरुत्तम् मरुत्त्तम्॥

भाषार्थः—हल् से उत्तर [*झरः*] झर् का विकल्प से लोप होता है [*सवर्णे*] सवर्ण [*झरि*] झर् परे रहते॥ प्रत्तम्, अवत्तम् की सिद्धि सूत्र ७।४।४७ में देखें। प्रत्तम् अवत्तम् में पहले तीन तकार थे ही, द्वित्व (८।४।४६) करने पर चार हो गये, तो प्रकृत सूत्र से एक त् का लोप

१. शाकटायन आचार्य के मत में आदित्य्य में पुनः द्वित्व नहीं होता—*त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य* (८।४।४९), अतः उसके मत में सूत्र से एक यकार का लोप होकर आदित्यः आदित्य्यः दो रूप ही बनते हैं॥

कर देने पर 'प्रत्त्तम्' एवं एक त् का लोप कर देने के पश्चात् दूसरे का भी लोप कर देने पर प्रत्तम् दो प्रयोग बनें। मरुत् शब्द का *मरुत् शब्दस्योपसङ्ख्यानम्* (वा० १।४।५८) से उपसर्गों में उपसङ्ख्यान माना है, सो उपसर्ग सामर्थ्य से अजन्त न होने पर भी मरुत् से उत्तर पूर्ववत् दा के आ को त् होकर मरुत् द् त् त = मरुत् त् त् त रहा। अब यहाँ चार तकार हैं। पूर्ववत् द्वित्व करने पर पाँच हो गये, तो एक का लोप करने पर (मध्य वाले का) चार तकार, दो का लोप करने पर तीन तथा तीन का लोप करने पर दो शेष रहेंगे। इस प्रकार प्रथम उदाहरण में दो बार प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति होगी, तथा इस उदाहरण में तीन बार प्रवृत्ति होगी, क्योंकि तीनों बार सवर्णीय झर् परे एवं हल् से उत्तर झर् मिल जाता है॥ इसी प्रकार उत्थाता की सिद्धि में (सूत्र ८।४।६०) में भी प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति दिखाई जा चुकी है। सुगम होने से वह भी यहाँ समझाया जा सकता है॥

उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः ॥८।४।६५॥

उदात्तात् ५।१॥ अनुदात्तस्य ६।१॥ स्वरितः १।१॥ *अर्थः*—उदात्तादुत्तरस्यानुदात्तस्य स्वरितादेशो भवति॥ *उदा०*—गार्ग्यः, वात्स्यः, पचति, पठति॥

भाषार्थः—[*उदात्तात्*] उदात्त से उत्तर [*अनुदात्तस्य*] अनुदात्त को [*स्वरितः*] स्वरित आदेश होता है॥ गार्ग्यः, वात्स्यः में यञ् प्रत्यय (४।१।१०५) हुआ है, अतः *ञ्नित्यादि०* (६।१।१९१) से ये शब्द आद्युदात्त हैं सो *अनुदात्तं पद०* (६।१।१५२) लगकर प्रकृत सूत्र से उदात्त से उत्तर अनुदात्त 'य' को स्वरित हो गया। पचति पठति की सिद्धि परि० ३।१।४ में देखें॥

यहाँ से '*अनुदात्तस्य स्वरितः*' की अनुवृत्ति ८।४।६६ तक जायेगी॥

नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम् ॥८।४।६६॥

न अ०॥ उदात्तस्वरितोदयम् १।१॥ अगार्ग्यकाश्यपगालवानाम् ६।३॥ *स०*—उदात्तश्च स्वरितश्च उदात्तस्वरितौ, इतरेतरद्वन्द्वः। उदात्तस्वरितौ उदयौ यस्मात् तत्''बहुव्रीहिः। गार्ग्यश्च काश्यपश्च गालवश्च गार्ग्य'''लवाः, इतरेतरद्वन्द्वः। न गार्ग्य'''लवाः अगार्ग्यकाश्यपगालवास्ते-

षाम्...नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—अनुदात्तस्य स्वरितः ॥ *अर्थः*—उदात्तोदयस्य स्वरितोदयस्य चानुदात्तस्य स्वरितो न भवति अगार्ग्यकाश्यपगालवानां मतेन ॥ उदयशब्दः परशब्देन समानार्थकोऽत्र गृह्यते पूर्वाचार्यप्रसिद्ध्या ॥ पूर्वेण प्राप्तिः, प्रतिषिध्यते ॥ उदा०—उदात्तोदयः—गार्ग्यस्तत्र, वात्स्यस्तत्र । स्वरितोदयः—गार्ग्यः क्व, वात्स्यः क्व ॥

भाषार्थः—[*उदात्तस्वरितोदयम्*] उदात्त उदय = परे है जिससे एवं स्वरित उदय = परे है जिससे ऐसे अनुदात्त को स्वरित आदेश [*न*] नहीं होता [*अगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्*] गार्ग्य, काश्यप, तथा गालव आचार्यों के मत को छोड़ कर, अर्थात् इन आचार्यों के मत में स्वरित होता ही है ॥ पूर्व सूत्र से स्वरित की प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया ॥ उदय शब्द प्रातिशाख्य ग्रन्थों में 'पर' का समानार्थक है, सो यहाँ भी पर अर्थ वाला उदय शब्द ही गृहीत है ॥

गार्ग्यस्तत्र यहाँ तत्र शब्द त्रल् (५।३।१०) प्रत्ययान्त है, अतः लित् स्वर (६।१।१८७) से आद्युदात्त है । इस प्रकार गार्ग्य का य जो पूर्ववत् अनुदात्त (६।१।१५२) था, उससे परे उदात्त तत्र का 'त' है, अतः पूर्व सूत्र से जो 'य' को स्वरित प्राप्त था, वह उदात्त परे होने से नहीं हुआ तो गार्ग्यस्तत्र रहा । इसी प्रकार वात्स्यस्तत्र में जानें । गार्ग्यः क्व यहाँ क्व शब्द स्वरित है, जिसकी सिद्धि परि० १।२।३१ में देखें । गार्ग्यः का य पूर्ववत् अनुदात्त है ही । इस प्रकार अनुदात्त य से परे स्वरित क्व है, सो य को पूर्व सूत्र से प्राप्त स्वरित नहीं हुआ, अनुदात्त ही रहा ॥

अ अ ॥८।४।६७॥

अ अ० ॥ अ अ० ॥ *अर्थः*—अकारो विवृतः संवृतो भवति ॥ एकोऽत्र विवृतोऽपरः संवृतस्तत्र विवृतस्य संवृतः क्रियते ॥ '*संवृतस्त्वकारः*' (वर्णो० ५८) इति वर्णोच्चारणशिक्षासूत्रेण अकारस्य संवृतप्रयत्नत्वमुक्तम् । *विवृतकरणाः स्वराः* (वर्णो० ५७) इत्यनेन तु दीर्घाऽकारस्य प्लुतस्य च विवृतप्रयत्नत्वम् उक्तम् तयोः ह्रस्वदीर्घयोः प्रयत्नभेदात् सवर्णसंज्ञा न प्राप्नोत्यतः '*अइउण्*' सूत्रे कार्यार्थं शास्त्रेऽकारो विवृतः प्रतिज्ञातस्तस्य तथाभूतस्यैव लोके प्रयोगो मा भूद् इति संवृतताप्रत्यापत्तिः क्रियते ॥ *उदा०*—वृक्षः, प्लक्षः ॥

भाषार्थः—[*अ*] विवृत अकार [*अ*] संवृत होता है ॥

संवृतस्त्वकारः सूत्र से ह्रस्व 'अ' का प्रयत्न संवृत (कण्ठ को संकोच करके बोलना) है, एवं दीर्घ तथा प्लुत का *विवृतकरणाः स्वराः* से विवृत प्रयत्न (कण्ठ को विकसित करके बोलना) है, अतः ह्रस्व अ से, दीर्घ प्लुत के प्रयत्न का भेद होने से इनकी परस्पर *तुल्यास्यप्रयत्नम्०* से सवर्णसंज्ञा तथा *अणुदित्०* (१।१।६८) से सवर्ण ग्रहण नहीं हो सकता था, सो शास्त्र में सवर्ण रूप से आ अ ३ के गृहीत न होने से कार्य कैसे होता ? इसीलिये '*अइउण्*' प्रत्याहार सूत्र में पाणिनि मुनि ने अकार की विवृत प्रतिज्ञा की है, अर्थात् विवृत रूप से पढ़ा है, जिससे अकार से उसके सवर्णीय आ अ ३ का भी ग्रहण शास्त्र में कार्यार्थ हो सके। अब उस विवृत प्रतिज्ञात ह्रस्व 'अ' का विवृत रूप में ही लोक में भी प्रयोग न होने लगे इसलिये इस सूत्र से आचार्य ने अइउण् में पठित विवृत अकार की प्रयोगार्थ संवृत प्रत्यापत्ति कर दी, अर्थात् प्रयोग में वह संवृत ही बोला जाये, ऐसा कह दिया ॥ उदाहरण वृक्षः प्लक्षः में संवृत रूप में अकार बोला जायेगा, विवृत रूप में नहीं, यही प्रयोजन है, शास्त्र में कायार्थ भले ही वह *अइउण्* में विवृत प्रतिज्ञात होने से विवृत रूप से गृहीत हो परन्तु लोक में संवृत ही उच्चरित होगा।

॥ इत्यष्टमोऽध्यायः समाप्तः ॥

अथ षष्ठाध्यायपरिशिष्टम्

परि० एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१)

जजागार (वह जागा)

जागृ निद्राक्षये — *भूवादयो धातवः* (१।३।१) *धातोः* (३।१।९१) *परोक्षे*

जागृ लिट् — लिट् (३।२।११५) पूर्ववत् सब सूत्र लगकर लिट् के स्थान में तिप्, तथा *परस्मैपदानां णल०* (३।४।८२)

जागृ तिप् — से तिप् के स्थान में णल् हुआ ऋ को *अचो०*

जागृ णल्=अ — (७।२।११५) से वृद्धि प्राप्त हुई, *वृद्धिरादैच्* *उरण्रपरः*

जागार् अ — (१।१।५०) अब *लिटि धातोरनभ्यासस्य* (६।१।८) *एकाचो द्वे प्रथमस्य*, से लिट् परे रहते प्रथम एक अच् वाला समुदाय जो 'जाग्' था उसे द्वित्व हुआ 'आर्' को द्वित्व नहीं हुआ, क्योंकि उसे लेकर तो जागार् दो अचों वाला समुदाय हो जाता एकाच् (समुदाय) नहीं रहता

जाग् जागार् अ पूर्ववत् अभ्यास कार्य आदि होकर

जजागार — बना ॥

इसी प्रकार डुपचष् पाके धातु से पपाच (उसने पकाया) बनेगा। यहाँ एकाच् समुदाय 'पच्' है, सो उसे ही 'पच् पच्' ऐसा द्वित्व होगा, *अत उपधायाः* (७।२।११६) से वृद्धि होगी। शेष पूर्ववत् ही जानें ॥

इयाय (वह गया)

इण् गतौ — पूर्ववत् 'णल्' आकर, *अचो ञ्णिति* (७।२।११५) से वृद्धि एवं आयादेश होकर

आय् णल् — *लिटि धातोरन० एकाचो द्वे प्रथमस्य* से द्वित्व प्राप्त, *द्विर्वचनेऽचि* (१।१।५८) से रूपातिदेश होकर

इ आय् अ — *अभ्यासस्यासवर्णे* (६।४।७८) *ङिच्च* (१।१।५२) से

इयङ् आय् अ अभ्यास के 'इ' को इयङ् आदेश होकर
इय् आय् अ = इयाय बना।

आर (वह गया)

ऋ गतौ	पूर्ववत् णल् आकर तथा वृद्धि (७।२।११५) होकर
आर् अ	द्वित्व प्राप्त, *द्विर्वचनेऽचि* (१।१।५८) लगकर रूपातिदेश
ऋ आर् अ	हुआ। उरत् (७।४।६६) *हलादिः शेषः* (७।४।६०)
अ आर	*अत आदेः* (७।४।७०) से अभ्यास को दीर्घ *अकः सवर्णे*
आ आर	*दीर्घः* (६।१।८७) से सवर्ण दीर्घ होकर
आर	बना।

—:०:—

परि० अजादेर्द्वि० (६।१।२)

अटिटिषति (घूमना चाहता है)

अट	*भूवादयो०* (१।३।१) *धातोः कर्मणः समा०* (३।१।७)
अट् सन्	*आर्धधातुकम्०* (३।४।११४) *आर्धधातुकस्ये०* (७।२।३५)
अट् इट् सन्	*आद्यन्तौ टकितौ* (१।१।४५) *आदेशप्रत्यययोः* (८।३।५९)
अट् इ ष	*सन्यङोः* (६।१।९) *अजादेर्द्वितीयस्य* से सन्नन्त अटिष् समुदाय के द्वितीय एकाच् समुदाय टिष् को द्वित्व हुआ, 'अ' प्रथम था अतः उसे द्वित्व नहीं हुआ।
अ टिष् टिष् अ	पूर्ववत् अभ्यास कार्य, एवं *सनाद्यन्ता धातवः* (३।१।३२)
अटि टिष्	से धातु संज्ञा हुई सो शप् तिप् आकर,

अटिष शप् तिप् = अटिटिषति, बना।

इसी प्रकार अश धातु से 'शिष् शिष्' द्विर्वचन होकर अशिशिषति बना है॥ ऋ धातु से सन् आकर गुण रपरत्व एवं इट् आगम होकर, 'अर् इट् सन्' रहा पूर्ववत् अजादि होने के कारण द्वितीय एकाच् समुदाय 'रिष्' को द्वित्व होकर अ रिष् रिष् अ शप् तिप् = अरिरिषति बन गया॥

—:०:—

परि० उभे अभ्यस्तम् (६।१।५)

ददति यहाँ परि० १।१।१६ की प्रणिददाति की सिद्धि के समान डुदाञ् धातु से श्लु झि एवं द्वित्वादि होकर, 'द दा झि' रहा। अब यहाँ 'ददा' द्वित्व किये हुये समुदाय की अभ्यस्त संज्ञा होने से *अदभ्यस्तात्* (७।१।४) से झि के झ् को अत् आदेश हो गया, तब ददा अत् इ = रहा पुनः अभ्यस्त संज्ञा को मानकर *श्नाभ्यस्तयोरातः* (६।४।११२) से दा के आ का लोप होकर दद् अति = ददति बन गया॥

ददत् में भी शतृ प्रत्यय में 'ददा अत्' बनकर पूर्ववत् अभ्यस्त संज्ञा होने से आकार का लोप (६।४।११२) होकर ददत् बन गया है॥

दधतु में डुधाञ् धातु से परि० १।१।१६ के समान ही लोट् लकार में द्वित्वादि होकर 'दधा झि' रहा। पूर्ववत् अभ्यस्त संज्ञा होने से *अदभ्यस्तात्* (७।१।४) से अत् आदेश एवं श्नाभ्यस्तयोरातः (६।४।११२) से आकार लोप होकर दध् अति रहा। एरुः (३।४।८६) लगकर दधतु बन गया॥

—:०:—

परि० जक्षित्यादयः षट् (६।१।६)

जक्षति (वे सब खाते हैं)

जक्ष	*भूवादयो०* (१।३।१) पूर्ववत् तिबाद्युत्पत्ति के सूत्र लगकर,
जक्ष् शप् झि	*अदिप्रभृतिभ्यः शपः* (२।४।७२) *प्रत्ययस्य०* (१।१।६०)
जक्ष् झि	*जक्षित्यादयः षट्* से जक्ष की अभ्यस्त संज्ञा होकर, *अदभ्यस्तात्* (७।१।४) से झ् को अत् हो गया, यही अभ्यस्त संज्ञा का फल है, तो-

जक्ष् अत् इ = जक्षति बना॥

इसी प्रकार 'जागृ अत् इ' यहाँ *इको यणचि* (६।१।७४) लगकर जाग्रति (वह सब जागते हैं) बना। दरिद्रा धातु से 'दरिद्रा अति' इस अवस्था में *श्नाभ्यस्तयोरातः* (६।४।११२) से आकार लोप होकर दरिद्र् अति = दरिद्रति (वे सब दरिद्र हैं) बन गया। चकास धातु से चकासति

(वे प्रकाशित होते हैं) शासु धातु से शासति (वे अनुशासन करते हैं) बनेगा। पूर्ववत् ही अभ्यस्त संज्ञा का प्रयोजन है ॥

दीध्यते (वे प्रकाशित होते हैं)

दीधीङ्	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर *आत्मनेपदेष्वनतः* (७।१।५)
दीधी अत् अ	यहाँ 'दीधी' की अभ्यस्त संज्ञा बिना किये ही, *आत्मनेपदेष्वनतः* से अत् आदेश सिद्ध ही है पुनः अभ्यस्त संज्ञा का फल *अभ्यस्तानामादिः* (६।१।१८३) से अभ्यस्त के आदि को स्वर करना है, सो अभ्यस्त का
दीधी अत् अ	आदि का 'ई' उदात्त हो गया।
दीधी अत् अ	*अनुदात्तं पदमेक०* (६।१।१५२) *एरनेकाचो०* (६।४।८२) *उदात्तादनुदात्त०* (८।४।६५) *स्वरितात्०* (१।२।३६) *टित आत्मनेपदानां* (३।४।७६)
दीध्यंते	बना।

इसी प्रकार वेव्यंते में भी जानें ॥

दीध्यत् (वह प्रकाशित हो रहा है) यहाँ दीधीङ् धातु से ही शतृ प्रत्यय व्यत्यय से (*लटः शतृशा०* ३।२।१२४ से शतृ प्रत्यय दीधीङ् धातु के आत्मनेपदी होने से प्राप्त नहीं था, क्योंकि आत्मनेपदी धातुओं से आत्मनेपदसंज्ञक *तङानावात्मने०* १।४।६६ से शानच् ही होता है, अतः *व्यत्ययो बहुलम्* ३।१।८५ से व्यत्यय से शतृ किया है) होकर 'दीधी शप् अत् सु' रहा। *उगिदचां सर्व०* (७।१।७०) से जो नुम् आगम प्राप्त था, उसका दीधी की अभ्यस्त संज्ञा होने से *नाभ्यस्ताच्छतुः* (७।१।७८) से निषेध हो गया ॥ *अदिप्रभृतिभ्यः* (२।४।७२) *एरनेकाचो०* (६।४।८२) लगकर दीध्यत् बन गया ॥

—:o:—

परि० तुजादीनां (६।१।७)

तूतुजानः (वृद्धि को प्राप्त हुआ)

तुज	*भूवादयो०* (१।३।१) *धातोः* (३।१।९१) *छन्दसि लिट्* (३।२।१०५)

तुज् लिट्	*लिटः कानज्वा* (३।२।१०६) से कानच् आदेश लिट् के स्थान में हुआ ।
तुज् कानच्	*स्थानिवदादेशोऽन०* (१।१।५५) *लिटि धातोर०* (६।१।८)
तुज् तुज् आन्	पूर्ववत् अभ्यास कार्य होकर
तु तुज् आन	प्रकृत सूत्र से अभ्यास को दीर्घ एवं स्वाद्युत्पत्ति होकर
तूतुजानः	बन गया ।

इसी प्रकार मह पूजायाम् धातु से मामहानः डुधाञ् धातु से दाधान बनेगा । डुमिञ् प्रक्षेपणे धातु से लिट् लकार में पूर्ववत् तिप् के स्थान में णल् *अचोञ्णिति* (७।२।११५) से वृद्धि आयादेश होकर 'माय् णल्' रहा । *द्विर्वचनेऽचि* (१।१।५८) लगकर रूपातिदेश होकर मि माय् अ रहा । अब प्रकृत सूत्र से दीर्घ होकर मीमाय बना । तु धातु से तूताव एवं धृञ् धारणे धातु से दाधार भी इसी रीति से जान लें ।।

—:o:—

परि० सन्यङोः (६।१।९)

सन्नन्त की सिद्धि परि० १।१।५७, परि० १।२।८, एवं परि० ६।१।२ आदि में बहुत जगह दिखा चुके हैं सो सब प्रक्रिया उसी प्रकार है । जहाँ सेट् धातु होगी वहाँ इट् आगम हो जायेगा । पच् धातु अनिट् है, सो इट् आगम न होकर एवं च् को *चोः कुः* (८।२।३०) से क् होकर पिपक्षति बना है । शेष पत्लृ धातु से पिपतिषति, ऋ से अरिरिषति (दे० परि० ६।१।२) उन्द धातु से उन्दिदिषति (दे० सूत्र ६।१।३) आदि पूर्ववत् ही जानें ।

पापच्यते (बार २ पकाता है)

डुपचष्	*भूवादयो०* (१।३।१) *धातोरेकाचो हलादेः क्रिया०*
पच् यङ् = य	(३।१।२२) *सन्यङोः*, *एकाचो द्वे प्रथमस्य* (६।१।१) से
पच् य् पच् य	यङन्त जो 'पच् य्' एकाच् समुदाय उसे द्वित्व हुआ ।
	पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४) *हलादिः शेषः* (७।४।६०)
पा पच् य	*दीर्घोऽकितः* (७।४।८३) से अभ्यास को दीर्घ हुआ ।
पापच्य	*सनाद्यन्ता धातवः* (३।१।३२) *धातोः* (३।१।९१) पूर्ववत्

	सब सूत्र लगकर, एवं *अनुदात्तङित आत्मनेपदम्* (१।३।१२) से आत्मनेपद का प्रत्यय 'त' आया।
पापच्य् शप् त	*टित आत्मनेपदानां टेरे* (३।४।७९) *अचोऽन्त्यादि टि*
पापच्य् अ ते	(१।१।६३) *अतो गुणे* (६।१।९४) लगकर
पापच्यते	बना।

इसी प्रकार यज धातु से यायज्यते में जानें।

अटाट्यते (पुनः २ घूमता है)

अट	*भूवादयो०* (१।३।१) अट् धातु के हलादि न होने से यहाँ पूर्व सूत्र से यङ् प्रत्यय नहीं प्राप्त था, तब *यङ् विधौ सूचिसूत्रिमूत्र्यट्यर्त्यशूर्णोतीनामुपसङ्ख्यानम्* (वा० ३।१।२२) इस वार्त्तिक से यङ् प्रत्यय हुआ।
अट् यङ् = य	*सन्यङोः, अजादेर्द्वितीयस्य* (६।१।२) से यङन्त के द्वितीय एकाच् 'ट्य' को द्वित्व हुआ। *पूर्वोऽभ्यासः* (६।१।४)
अ ट्य ट्य	*हलादिः शेषः* (७।४।६०)
अ टँ ट्य	*दीर्घोऽकितः* (७।४।८३) से अभ्यास को दीर्घ हुआ।
अ टा ट्य	*सनाद्यन्ता धातवः* (३।१।३२) से धातु संज्ञा तथा पूर्ववत् 'शप् त' आकर
अटाट्यते	बना।

अरार्यते

ऋ गतौ	पूर्ववत् ही ऋ धातु के हलादि न होने से वार्त्तिक से यङ् प्रत्यय हुआ।
ऋ यङ् = य	*सार्वधातुकार्ध०* (७।३।८४) से यङ् को मानकर गुण प्राप्ति हुई, पर यङ् के ङित् होने से *क्ङिति* च (१।१।५) से

१. *हलादिः शेषः* अभ्यास का आदि हल् शेष रहे ऐसा कहता है सो शेष हल् का लोप हो जाता है, अचों को तो कुछ कहता नहीं अतः अचों का लोप नहीं होगा, सो यहाँ यङ् के 'य्' हल् का तो लोप हो गया है पर यङ् के 'अ' का नहीं हुआ, वही 'अ' ट् में मिलकर 'अ टाट्य' बना है। यही बात अरार्यते में समझें॥

निषेध हो गया तब *यङि च* (७।४।३०) से गुण प्राप्त हुआ *उरण्रपरः* (१।१।५०)

अर् य — *सन्यङोः*, *अजादेर्द्वितीयस्य* (६।१।२) से द्वितीय एकाच् 'र्य' को द्वित्व प्राप्त हुआ, पर *न न्द्राः संयोगादयः* (६।१।३) से 'र्' को छोड़कर केवल 'य' को द्वित्व पाया, तब *यकारपरस्य रेफस्य प्रतिषेधो न भवतीति वक्तव्यम्* (वा० ६।१।३) इस वार्त्तिक से 'र्य' में जो यकारपरक रेफ उसको द्वित्व का प्रतिषेध नहीं हुआ तो 'र्य र्य'

अ र्य र्य — द्वित्व होगा।

पूर्ववत् हलादि शेष एवं *दीर्घोऽकितः* (७।४।८३) आदि

अरार्य शप् त — लगे। शेष सब पूर्ववत् होकर

अरार्यते — बना

प्रोर्णोनूयते (उसने आच्छादित कराया)

ऊर्णुञ् — पूर्ववत् यहाँ भी वार्त्तिक से ही यङ् प्रत्यय आया,

प्र ऊर्णु यङ् — *सन्यङोः अजादेर्द्वितीयस्य* (६।१।२) *न न्द्राः संयोगादयः*

प्र ऊर् नु नु य

पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४) से पूर्व वाले 'नु' की अभ्यास संज्ञा होकर, *गुणो यङ्लुकोः* (७।४।८२) से अभ्यास को गुण प्राप्त होकर *अदेङ् गुणः*

प्र ऊर् नो नु य — (१।१।२)

प्र ऊ र्नोनु य — *अकृत्सार्वधातुकयो०* (७।४।२५) से नु के 'उ' को दीर्घ

प्र ऊ र्नोनूय — हुआ,

रषाभ्यां नो णः (८।४।१) से णत्व, तथा शेष सब पूर्व-वत् होकर, तथा *आद् गुणः* (६।१।८४) से गुण एकादेश होकर

प्रोर्णोनूयते — बना।

—:०:—

परि० चङि (६।१।११)

आटिटत् की सिद्धि परि० १।१।५८ में की है, सो उसी प्रकार अश

धातु से आशिशत् तथा अर्द धातु से आर्दिदत् (उसने पीड़ित कराया) बनेगा। *नन्द्रा: संयोगादय:* (६।१।३) से अर्द धातु के रेफ को छोड़कर 'दि द' द्वित्व होकर आर्दिदत् बनेगा। शेष पूर्ववत् है ॥

अपीपचत् (उसने पकवाया)

डुपचष्	*भूवादयो०* (१।३।१) पूर्ववत् अनुबन्ध लोप होकर,
पच् णिच् = इ	*हेतुमति च* (३।१।२६) से णिच् तथा *अत उपधाया:* (७।२।११६) *वृद्धिरादैच्* (१।१।१) से वृद्धि होकर
पाच् इ	*सनाद्यन्ता धातव:* (३।१।३२) से 'पाचि' की धातु संज्ञा
पाचि लुङ् = ल्	होकर, *धातो:* (३।१।९१) *लुङ्* (३।२।११०) *प्रत्यय:*, *परश्च* *णिश्रिद्रुस्रुभ्य: कर्त्तरि चङ्* (३।१।४८) *प्रत्यय: परश्च*,
पाचि चङ ल्	पूर्ववत् अङ्ग संज्ञा होकर *लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडु०* (६।४।७१) *आद्यन्तौ टकितौ* (१।१।४५) से अङ्ग के आदि में अट्
अट् पाचि चङ् ल्,	आगम हुआ।
अ पाच् चङ् ल्,	*णेरनिटि* (६।४।५१) से णि का लोप हो गया,
अ पाच् अ ल्	*णौ चङ्युपधाया ह्रस्व:* (७।४।१) से उपधा को ह्रस्वत्व हो गया,
अ पच् अ ल्	पूर्ववत् लकार के स्थान में तिप् आकर
अ पच् अ तिप्	अब चङि से द्वित्व हो गया। *इतश्च* (३।४।१००)
अ पच् पच् अ त्	*पूर्वोऽभ्यास:* *हलादि: शेष:* (७।४।६०) *सन्वल्लघुनि*
अ प पच् अ त्	*चङ्परेऽनग्लोपे* (७।४।९३) से सन्वद्भाव होकर *सन्यत:* (७।४।७९) से अभ्यास को इत्व हो गया
अपिपचत्	*दीर्घो लघो:* (७।४।९४) से अभ्यास को दीर्घ होकर,
अपीपचत्	बन गया।

इसी प्रकार पठ धातु से अपीपठत् बन गया ॥ यद्यपि परि० १।४।१० में अचीकरत् की सिद्धि है उसी के समान अपीपचत् है तो भी हमने यहाँ स्पष्टार्थ पुन: कर दिया है ॥

परि० ग्रहिज्यावयि० (६।१।१६)

गृहीत: गृहीतवान् में निष्ठा परे रहते ग्रह को सम्प्रसारण तथा इट् आगम आदि सब होकर गृह् इ त रहा। *ग्रहोऽलिटि दीर्घ:* (७।२।३७)

से इट् को दीर्घ होकर गृहीतः गृहीतवान् पूर्ववत् बन गया ॥ *गृह्णाति* में ग्रह् धातु से 'शप्, तिप्' पूर्ववत् होकर शप् के स्थान में *क्र्यादिभ्यः श्ना* (३।१।८१) से श्ना हो गया। अब *सार्वधातुकमपित्* (१।२।४) से श्ना, ङित् माना गया, तब प्रकृत सूत्र से ग्रह् को सम्प्रसारण होकर ग् ऋ अ ह् ना ति = *सम्प्रसारणाच्च* लगकर (६।१।१०४) गृह्णाति = *अट्कुप्वाङ्०* (८।४।२) से णत्व होकर गृह्णाति बन गया।

यङ् में *जरीगृह्यते* की सिद्धि परि० ६।१।६ के 'पापच्यते' के समान ही जानें केवल यहाँ अभ्यास को *रीगृदुपधस्य च* (७।४।९०) से रीक् आगम तथा यङ् के परे रहते सम्प्रसारण होना यही विशेष है। गृह् य गृह् य = गृ गृह् य, उरत् (७।४।६६) लगकर गर् गृह् य = ज रीक् गृह् य शप् त = जरीगृह्यते बन गया ॥

जीनः, जिनाति, जेजीयते ज्या धातु को निष्ठा परे सम्प्रसारण होकर तथा निष्ठा के तकार को *ल्वादिभ्यः* (८।२।४४) से नत्व एवं *हलः* (६।४।२) से दीर्घ होकर जीनः जीनवान् बनेगा। जिनाति जेजीयते, क्रमशः श्ना एवं यङ् में पूर्ववत् जानें ॥

ऊयतुः ऊयुः की सिद्धि परि० २।४।४१ में देखें ॥

विद्धः—व्यध धातु में दो यण् हैं तो *न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्* (६।१।३६) से सम्प्रसारण परे रहते पूर्व यण् को सम्प्रसारण का निषेध होने से पर वाले यण् (य) को ही सम्प्रसारण हुआ यही विशेष है। विध् त = *झषस्तथोर्धो०* (८।२।४०) से त् को ध् होकर विध् ध् *झलां जश् झशि* (८।४।५२) से ध् को द् होकर विद्धः बन गया है ॥

उष्टः में वश् धातु से तस् आया। *व्रश्चभ्रस्ज०* (८।२।३६) से श् को ष् तथा १।२।४ से ङित् होकर प्रकृत सूत्र से सम्प्रसारण तथा ष्टुत्व होकर उष्टः बन गया ॥

वृक्णः वृक्णवान् में निष्ठा परे रहते व्रश्च धातु से निष्ठा के तकार को नकार *ओदितश्च* (८।२।४५) से नत्व होकर तथा सम्प्रसारण होकर वृश्च् न रहा। जब *स्कोः संयोगाद्योरन्ते च* (८।२।२९) से सकार लोप तथा *चोः कुः* (८।२।३०) से कुत्व होकर 'वृक् न' रहा। पूर्ववत् णत्व होकर वृक्णः वृक्णवान् बन गया ॥

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि वृश्च् में वस्तुतः स् ही है, *स्तोः श्चुना श्चुः* (८।४।३९) से स् को श्चुत्व हुआ है, अतः स् मानकर उसका लोप (८।२।२६) हो गया है।

वरीवृश्च्यते की सिद्धि यङन्त की सिद्धि के समान ही है। यहाँ रीक् आगम अभ्यास को *रीगृदुपधस्य च* (७।४।९०) सूत्र से ऋकार उपधा में न होने के कारण नहीं हो सकता था, अतः *रीगृत्वत इति वक्तव्यम्* (वा० ७।४।९०) इस वार्त्तिक से हुआ है, यही विशेष है॥

पृष्टः पृष्टवान् यहाँ झलादि निष्ठा (क्त, क्तवतु) प्रत्यय परे रहते *च्छ्वोः शूडनुनासिके च* (६।४।१९) से प्रच्छ् धातु के 'च्छ्' के स्थान में श् होकर 'प्रश् त, प्रश् तवत्' रहा। अब *व्रश्चभ्रस्ज०* (८।२।३६) से श् को ष् तथा सम्प्रसारण होकर 'पृष् त' होकर पृष्टः पृष्टवान् बन गया।

पृच्छति आदि में *छे च* (६।१।७१) से तुक् आगम भी हुआ है। *परी-पृच्छ्यते* की सिद्धि में सब पूर्ववत् ही जानें॥

भृष्टः भृष्टवान् में पृष्टः के समान ही ८।२।३६ से ज् को श् तथा ष्टुत्व कार्य समझें। भृस्ष्ट यहाँ सकार लोप *स्कोः संयोगाद्योः०* (८।२।२९) से हो ही जायेगा।

भृज्जति बरीभृज्ज्यते में सब पूर्ववत् है केवल यहाँ भ्रस्ज् के सकार को *झलां जश् झशि* (८।४।५२) से दकार होकर पुनः श्चुत्व होकर जकार हो गया है। भ्रज्ज् शप् तिप् = भृज्जति बन गया॥

—:०:—

परि० णौ च संश्चङोः (६।१।३१)

शुशावयिषति (बढ़ाने की इच्छा करता है)

टुओश्वि	*भूवादयो०* आदि सब सूत्र लगकर *हेतुमति च* (३।१।२६)
श्वि णिच् = इ	*सनाद्यन्ता धातवः* (३।१।३२) *धातोः कर्मणः समानकर्तृ-कादि०* (३।१।७) *प्रत्ययः परश्च*
श्वि इ सन्	*णौ च संश्चङोः* से सन्परक णि के परे रहते सम्प्रसा-रण प्राप्त, *इग्यणः सम्प्रसारणम्* (१।१।४४)
श् उ इ इ सन्	*सम्प्रसारणाच्च* (६।१।१०३)
शु इ सन्	*अचो ञ्णिति* (७।२।११५) *वृद्धिरादैच्* *स्थानेऽन्तरतमः* (१।१।४९) लगकर

शौ इ स	*एचोयवायावः* (६।१।७५) *आर्द्धधातुकस्येड्०* (७।२।३५)
शावि इट् स	*सन्यङोः* (६।१।९) *द्विर्वचनेऽचि* (१।१।५८)
शु शावि इट् स	अब सन् परे रहते *सार्वधातुकार्द्ध०* (७।३।८४) से शावि के इ को गुण प्राप्त हुआ, *अदेङ् गुणः* (१।१।२)
शु शावे इ स	*एचोयवायावः* (६।१।७५) *आदेशप्रत्यययोः* (८।३।५९)
शुशावयिष	*सनाद्यन्ता धातवः* (३।१।३२) से धातु संज्ञा होकर पूर्ववत् शप् तिप् आकर
शुशावयिषति	बना।

इसी प्रकार शिश्वाययिषति की सिद्धि जानें, केवल यहाँ सम्प्रसारण नहीं होगा यही विशेष है। श्वि णिच् सन् = श्वै इ इट् सन् = श्वायि इ स, = *द्विर्वचनेऽचि* लगकर "श्वि श्वायि इ स" बना। शेष सब पूर्ववत् हो ही जायगा ॥

अशूशवत् की सिद्धि परि० ६।१।११ के अपीपचत् के समान जानें केवल यहाँ यही विशेष है कि 'अ श्वि णिच् चङ् ल्' इस अवस्था में प्रकृत सूत्र से सम्प्रसारण होकर 'शु' को 'औ' वृद्धि तथा आवादेश हो गया सो 'अ शाव् इ अ ल्' रहा। अब *चङि* (६।१।११) *द्विर्वचनेऽचि* (१।१।५८) लगकर शु शाव् द्वित्व हुआ, शेष परि० ६।१।११ के समान ही जानें। जब सम्प्रसारण नहीं हुआ तो अशिश्वयत् पूर्ववत् बन गया। श्वि धातु को णि को मानकर वृद्धि (७।२।११५) तथा आयादेश होकर *णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः* (७।४।१) लगकर स्थानिवत् मानकर, 'श्वि श्वाय' द्वित्व हो गया, शेष कार्य पूर्ववत् होकर अशिश्वयत् बन गया ॥

—:०:—

परि० हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६)

राजा तक्षा की सिद्धि भाग १ पृ० ७११ तथा कुमारी गौरी की पृ० ७७२ एवं भाग २ के पृ० ५२७ में देखें। शार्ङ्गरवी में *शार्ङ्गरवादिभ्यो ङीन्* (४।१।७३) से ङीन् प्रत्यय हुआ है शेष 'कुमारी' के समान जानें। खट्वा *बहुराजा* की सिद्धि भाग २ पृ० ५२९ तथा *कारीषगन्ध्या* की पृ० ५३० में देखें ॥

अबिभर्भवान् (आपने पोषण किया)

भृञ्	पूर्ववत् लङ् लकार के सब कार्य होकर तथा *जुहोत्यादिभ्यः श्लुः* (२।४।७५) लगकर *प्रत्ययस्य०* (१।१।६०)

भृ ति	*श्लौ* (६।१।१०) इत्यादि लगकर पूर्ववत् द्वित्व हुआ

भृ भृ ति = भर् भृ त् , *हलादिः शेषः* (७।४।६०) *भृञामित्* (७।४।७६) *अभ्यासे चर्च* (८।४।५३)

बि भृ त्	*सार्वधातुकार्धधातुकयोः* (७।३।८४) उरण्रपरः लगकर तथा अट् का आगम होकर

अट् बिभर् त्	*अपृक्त एकाल्प्रत्ययः* (१।२।४१) *हल्ङ्याब्भ्यो०* से अपृक्त 'त्' का लोप हो गया।

अबिभर्	बना। आगे भवान् पद रखकर

अबिभर्भवान्	बन गया।

इसी प्रकार जागृ धातु से *अजागर्भवान्* बना। केवल अदादिगणस्थ धातु होने से यहाँ द्वित्व नहीं होता, तथा *जाग्रोऽविचिण्णल्०* (७।३।८५) से गुण होता है॥

———

अभिनोऽत्र (यहाँ तूने फाड़ा)

भिदिर्	पूर्ववत् लङ् लकार में सब कार्य होकर

भिद् सिप्	*रुधादिभ्यः श्नम्* (३।१।७८) *मिदचोन्त्यात्०* (१।१।४६)

भि श्नम् द् स् = भिन द् स् , अट् का आगम तथा *दश्च* (८।२।७५) से द् को रु होकर

अट् भिनर् स्	*हल्ङ्याब्भ्यो०* से अपृक्त 'सि' का लोप होकर

अभिनर्	*अतो रोरप्लुतादप्लुते* (६।१।१०९)

अभिन उ अत्र	*आद् गुणः* (६।१।८४) गुण एकादेश होकर

अभिनो अत्र	*एङः पदान्तादति* (६।१।१०५) से पूर्वरूप होकर

अभिनोऽत्र	बना॥

—:o:—

परि० एङ्ह्रस्वात्० (६।१।६७)

हे अग्ने

अग्नि	पूर्ववत् प्रातिपदिक संज्ञादि होकर *सम्बोधने च* (२।३।४७) से सम्बोधन प्रथमा विभक्ति आई

हे अग्नि सु — *ह्रस्वस्य गुणः* (७।३।१०८)
हे अग्ने स् — *एङ्ह्रस्वात्*० से 'स्' का लोप होकर
हे अग्ने — बना ॥

इसी प्रकार 'हे वायो' में जानें।

हे नदि हे वधु में नदी वधू को सम्बुद्धि परे रहते *अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः* (७।३।१०७) से ह्रस्व होकर प्रकृत सूत्र से सम्बुद्धि का लोप होता है।

हे कुण्ड यहाँ सु को *अतोऽम्* (७।१।२४) से अम् कर देने के पश्चात् *अमिपूर्वः* (६।१।१०३) से पूर्वरूप कर लेने पर हे कुण्डम् रहा। अब प्रकृत सूत्र से हल्मात्र जो सम्बुद्धि का (स्थानिवत् से) मकार है, उसका लोप हो जाता है॥

—:०:—

परि० बहुव्रीहौ० (६।२।१)

कार्ष्णोत्तरासङ्गः (कृष्णमृगचर्म ऊपर बांधने का वस्त्रस्थानी है जिसका)

कृष्ण मृग को कहते हैं, उसका जो विकार इस अर्थ में *प्राणिरजतादिभ्योऽञ्* (४।३।१५२) से अञ् प्रत्यय होकर कार्ष्ण बना है। कार्ष्णः उत्तरासङ्गो यस्य यहाँ बहुव्रीहि समास करके कार्ष्णोत्तरासङ्गः बना। अब यहाँ *समासस्य* (६।१।२१७) से अन्तोदात्त की प्राप्ति में प्रकृत सूत्र ने पूर्वपदप्रकृतिस्वर विधान कर दिया, अतः कार्ष्ण के अञ् प्रत्ययान्त होने से *ञ्नित्यादिर्नित्यम्* (६।१।१९१) से कार्ष्ण आद्युदात्त हो गया। शेष को निघात तथा उदात्त से उत्तर अनुदात्त को स्वरित होकर कार्ष्णोत्तरासङ्गः बना। आगे *स्वरितात्संहितायां*० (१।२।३९) से उत्तर सब अनुदात्तों को एकश्रुति हो गई॥

यूपवलजः (यूप सेना बल है जिसका)

यहाँ पूर्वपद यूप शब्द *कुयुभ्यां च* (उणा० ३।२७) इस उणादि से प प्रत्ययान्त है। इस सूत्र में उणा० ३।२५-२६ से दीर्घ तथा नित् की अनुवृत्ति आ रही है अतः नित्वत् होने से यूप शब्द *ञ्नित्यादिर्नित्यम्* से पूर्ववत् आद्युदात्त है। शेष सब प्रक्रिया पूर्ववत् जानें॥

ब्रह्मचारिपरिस्कन्दः (ब्रह्मचारी रथ का रक्षक है जिसका).

ब्रह्म उपपद रहते चर धातु से *व्रते* (३।२।८०) सूत्र से णिनि प्रत्यय

ब्रह्मचारिन् शब्द में हुआ है। उपपद समास ब्रह्मचारिन् में होने से *गतिकारकोप०* (६।२।१३८) से उत्तरपद अर्थात् 'चारिन्' को प्रकृतिस्वर हो गया अतः प्रत्ययस्वर से 'चारिन्' अन्तोदात्त अर्थात् रि का इ उदात्त हो गया। तत्पश्चात् ब्रह्मचारिन् एवं परिस्कन्द का बहुव्रीहि समास करने से प्रकृत सूत्र से पूर्वपद प्रकृतिस्वर अर्थात् रि का इ ही उदात्त रह गया। शेष पूर्ववत् जानें॥

स्नातकपुत्रः (स्नातक पुत्र है जिसका)

स्नात शब्द से *यावादिभ्यः कन्* (५।४।२९) से कन् प्रत्यय हुआ है। यावादि गण में *'स्नात वेदसमाप्तौ'* ऐसा पढ़ा है; अर्थात् वेदसमाप्ति अर्थ में स्नात शब्द से कन् हो। इस प्रकार स्नातक शब्द कन् प्रत्ययान्त होने से *ञ्नित्यादिर्नित्यम्* (६।१।१९१) से आद्युदात्त है, अतः बहुव्रीहि समास होने पर प्रकृति स्वर से आद्युदात्त ही रहा॥

अध्यापकपुत्रः (अध्यापक पुत्र है जिसका)

यहाँ पूर्वपद अध्यापक शब्द में अधिपूर्वक णिजन्त इण् धातु है उसके ण्वुल् (३।१।१३३) प्रत्ययान्त होने से *लिति* (६।१।१८७) से प्रत्यय से पूर्व 'आ' को उदात्त है पश्चात् गति समास होकर कृदुत्तरपद प्रकृति स्वर से 'आ' ही उदात्त होगा अध्यापि धातु भाग १ पृ० ८५१ के समान बना लें।

श्रोत्रियपुत्रः यहाँ पूर्वपद स्थित श्रोत्रिय शब्द *श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते* (५।२।८४) सूत्र से नित् प्रत्ययान्त निपातित है, अतः पूर्ववत् आद्युदात्त है, शेष प्रक्रिया पूर्ववत् है॥

मनुष्यनाथः (मनुष्य नाथ = रक्षक है जिसका) यहाँ पूर्वपद मनुष्य शब्द *मनोर्जातावञ्यतौ०* (४।१।१६१) से यत् प्रत्ययान्त होने से *तित्स्वरितम्* (६।१।१७९) से अन्तस्वरित है। शेष पूर्ववत् जानें॥

चित्रश्रवस्तमः यहाँ चित्रं श्रवो यस्य स चित्रश्रवाः ऐसा विग्रह करके बहुव्रीहि समास हुआ। चित्र शब्द प्रातिपदिक स्वर (फिट्० १) से

अन्तोदात्त है। तत्पश्चात् सर्वनिघात तमप् प्रत्यय होकर चित्रश्रवस्तमः बना॥

—:०:—

परि० तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (६।२।२)

तुल्यश्वेतः

तुल्य शब्द *नौवयोधर्म०* (४।४।९१) से यत् प्रत्ययान्त होने से *यतोऽनावः* (६।१।२०७) से आद्युदात्त है, अतः प्रकृत सूत्र से प्रकृति स्वर होकर यही स्वर रहा। इसी प्रकार तुल्यलोहितः आदि में जानें। सदृक्च्छ्वेतः में पूर्वपद सदृक् शब्द *समानान्ययोश्चेति वक्तव्यम्* (वा० ३।२।६०) इस वार्त्तिक से क्विन् प्रत्ययान्त है अतः *गतिकार०* (६।२।१३८) से उत्तरपद को प्रकृतिस्वर है। समान को स भाव *दृग्दृशवतुषु* (६।३।८७) से हुआ है। इसी प्रकार अन्यों में जानें। सदृशश्वेतः यहाँ भी सदृश शब्द *त्यदादिषु दृशो०* (३।२।६०) से कञ् प्रत्ययान्त है, अतः सदृक्च्छ्वेतः के समान स्वर हुआ॥

शङ्कुलाखण्डः

शङ्कुला में शङ्कु पूर्वक ला धातु से *घञर्थे कविधानम्०* (वा० ३।३।५८) इस वार्त्तिक से क प्रत्यय हुआ है, अतः प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त शङ्कुला शब्द है। तृतीयातत्पुरुष समास *तृतीया तत्कृता०* (२।१।२९) से हुआ है॥

किरिकाणः यहाँ पूर्वपदस्थ किरि शब्द में *कॄगॄशॄपॄकुटिभिदिछिदिभ्यश्च* (उणा० ४।१४३) से 'इ' प्रत्यय तथा इकार को कित्वत् भी हुआ है। अतः प्रत्यय स्वर से किरि अन्तोदात्त है, सो तृतीयातत्पुरुष समास करके पूर्वपद को प्रकृति स्वर होने पर 'रि' ही उदात्त रहा॥

अक्षशौण्डः में अक्ष शब्द *अशेर्देवने* (उणा० ३।६५) से श प्रत्ययान्त है, अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। *व्रश्चभ्रस्ज०* (८।२।३६) से अश् धातु के श् को ष् तथा *षढोः कः सि* (८।२।४१) से ष् को कत्व एवं प्रत्यय सकार को मूर्धन्य (८।३।५९) होकर अक्ष बनता है॥

पानशौण्डः में पान पूर्वपदस्थ शब्द ल्युट् प्रत्ययान्त होने से *लिति* (६।१।१८७) सूत्र से प्रत्यय से पूर्व 'पा' धातु को उदात्त है, अर्थात् आद्युदात्त है ॥ दोनों उदाहरणों में समास *सप्तमी शौण्डैः* (२।१।३६) से हुआ है ॥

शङ्खीश्यामा यहाँ शङ्खी शब्द *दाम्नीशस०* (३।२।१८२) से ष्ट्रन् प्रत्ययान्त है अतः षित्त्वात् ङीषन्त होने से प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त है ॥ *कुमुदश्येनी* यहाँ कुमुद शब्द कौ मोदते इति कुमुदः ऐसा विग्रह करके *कप्रकरणे मूलविभुजादिभ्यः* (वा० ३।२।५) इस वार्त्तिक से क प्रत्यय हुआ है, अतः कृदुत्तरपद *थाथघञ्०* (६।२।१४३) से अन्तोदात्त अथवा *नब्विषयस्यानिसन्तस्य* (फिट् २६) से आद्युदात्त है। *हंसगद्गदा* में हंस शब्द में *वृतॄवदिवचिवसिहनिकमिकषिभ्यः सः* (उणा० ३।६२) से हन् धातु से स प्रत्यय हुआ है, अतः प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त है। *न्यग्रोधपरिमण्डला* यहाँ न्यग्रोध शब्द से न्यक् रोहतीति ऐसा विग्रह करके पचाद्यच् प्रत्यय हुआ, अतः कृदुत्तरपद प्रकृतिस्वर द्वारा प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त अर्थात् 'ध' उदात्त हुआ। *न्यग्रोधस्य च केवलस्य* (७।३।५) इस सूत्र के न्यग्रोध निपातन से हकार को धकार हो जाता है ॥ *दूर्वाकाण्डश्यामा* में दूर्वाकाण्ड शब्द षष्ठी तत्पुरुष समास वाला है, अतः *षट् च काण्डादीनि* (६।२।१३४) से उत्तरपद को आद्युदात्त अर्थात् 'का' का आ उदात्त है ॥ *शरकाण्डगौरी* में भी इसी प्रकार जानें। इन सब उदाहरणों में *उपमानानि सामान्यवचनैः* (२।१।५४) से समास होता है ॥

अव्यय के सम्पूर्ण उदाहरण अब्राह्मणः आदि में पूर्वपद *निपाता आद्युदात्ताः* (फिट्० ७६) से आद्युदात्त है ॥

मुहूर्त्तसुखम् आदि उदाहरणों में द्वितीयातत्पुरुष समास *अत्यन्तसंयोगे च* (२।१।२८) से हुआ है। पूर्वपद मुहूर्त्त शब्द *पृषोदरादीनि यथो०* (६।३।१०७) से अन्तोदात्त है। *सर्वरात्रकल्याणी* आदि में सर्वरात्र शब्द *अहःसर्वैकदेश०* (५।४।८७) से टच् प्रत्ययान्त है, अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है।

भोज्योष्णम् भोज्यलवणम् में भोज्य शब्द *ऋहलोर्ण्यत्* (३।१।१२४) से ण्यत् प्रत्ययान्त होने से *तित्स्वरितम्* (६।१।१७९) से अन्तस्वरित वाला है। पानीयशीतम् हरणीयशीतम् में पानीय हरणीय शब्द अनीयर्

प्रत्ययान्त हैं, अतः *उपोत्तमं रिति* (६।१।२११) से उपोत्तम ईकार ही उदात्त है ॥

सर्वत्र *तत्पुरुषे तुल्यार्थ०* से पूर्वपद प्रकृतिस्वर विधान होने से पूर्वपद की सिद्धि हमने दिखाई है। *समासस्य* (६।१।२१७) के सभी अपवाद हैं ॥

—:०:—

परि० मात्रोपज्ञो० (६।२।१४)

भिक्षामात्रम्

मात्र शब्द यहाँ तुल्य प्रमाण अर्थ है, अतः अर्थ होगा भिक्षायाः तुल्यप्रमाणं = भिक्षा के बराबर प्रमाण। षष्ठीतत्पुरुष समास अस्वपद-विग्रह होकर होगा। अब पूर्वपद 'भिक्षा' शब्द *गुरोश्च हलः* (३।३।१०३) से अ प्रत्ययान्त है, अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है।

समुद्रमात्रम् में भी समुद्र शब्द *पाटलापालङ्काम्बा०* (*फिट्०* २) से अन्तोदात्त है ॥

पाणिनोपज्ञम् पणिनोऽपत्यमिति पाणिनः यहाँ *तस्यापत्यम्* (४।१।९२) से अण् प्रत्यय हुआ है, अतः प्रत्ययस्वर से यह शब्द अन्तोदात्त है।

व्याड्युपज्ञं यहाँ व्यडस्यापत्यं ऐसा विग्रह करके व्याडि शब्द इञन्त (४।१।९५) है, अतः ञित् स्वर से (६।१।१९१) आद्युदात्त है। इसी प्रकार *आपिशल्युपज्ञं* यहाँ आपिशलि में समझें। सर्वत्र षष्ठी समास हुआ है ॥

आढ्योपक्रमम् यहाँ आढ्य शब्द में आङ् पूर्वक ध्या धातु से *घञर्थे क विधानम्०* (वा० ३।३।५८) से क प्रत्यय हुआ है, अतः *थाथघञ्क्ता०* ६।२।१४३) से अन्तोदात्त शब्द है। ध् को ढ् *पृषोदरादीनि यथो०* (६।३।१०७) से होता है ॥ *दर्शनीयोपक्रमम्* यहाँ दर्शनीय शब्द के अनीयर् प्रत्ययान्त होने से *उपोत्तमं रिति* (६।१।२११) से उपोत्तम को उदात्त है ॥ *सुकुमारोपक्रमम्* यहाँ सुकुमार शब्द बहुव्रीहि समास वाला है, अतः *नञ्सुभ्याम्* (६।२।१७१) से अन्तोदात्त है ॥

नन्दोपक्रमाणि यहाँ नन्द शब्द पचाद्यच् प्रत्ययान्त होने से अन्तोदात्त

है ॥ ये शब्द भी षष्ठी समास वाले हैं । नपुंसकलिङ्गता यहाँ *उपज्ञोपक्रमं०* (२।४।२१) से होती है ॥

इषुच्छायम् में इषु शब्द *इषेः किच्च* (उणा० १।१३) से उप्रत्ययान्त है । इस सूत्र में नित् की अनुवृत्ति होने से नित् स्वर से इषु शब्द आद्युदात्त है ॥ *धनुश्छायम्* यहाँ भी धनुः शब्द *नब्विषयस्या०* (फिट्० २६) से आद्युदात्त है । ये भी षष्ठी समास वाले शब्द हैं । *छाया बाहुल्ये* (२।४।२२) से यहाँ नपुंसकलिङ्गता होती है ॥

—:०:—

परि० च्छ्वोः शूडनुनासिके च (६।४।१९)

प्रश्नः विश्नः की सिद्धि सूत्र ३।३।९० भाग १ में देखें । यहाँ अनुनासिकादि नङ् प्रत्यय हुआ है ॥

स्योनः में सिव् धातु से बाहुलक से औणादिक (उणा० ३।९) न प्रत्यय होकर 'सिव् न' रहा प्रकृत सूत्र से व् के स्थान में ऊठ् आदेश होकर 'सि ऊठ् न = सि ऊ न' रहा । अब यणादेश होकर *स्यून* एवं गुण होकर *स्योनः* बन गया ॥

शब्दं पृच्छतीति = शब्दप्राट् (शब्द पूछने वाला)

शब्दं उपपद रहते प्रच्छ धातु से यहाँ *क्विब्वचिप्रच्छ्यायतस्तुकटप्रुजुश्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च* (वा० ३।२।१७८) इस वार्त्तिक से क्विप् प्रत्यय एवं दीर्घत्व होकर 'शब्दप्राच्छ्' रहा । प्रकृत सूत्र से क्विप् परे होने से (प्रत्ययलक्षण मानकर) शत्व होकर शब्दप्राश् एवं *व्रश्चभ्रस्ज०* (८।२।३६) से श् को ष् होकर शब्दप्राष् बना । पश्चात् जश्त्व चर्त्व होकर शब्दप्राट् बन गया ॥

गोविट् यहाँ भी विच्छ धातु से *क्विप् च* (३।२।७६) से क्विप् एवं पूर्ववत् सब होकर गोविट् बन गया ॥

अक्षद्यूः इसी प्रकार *क्विप् च* से दिवु धातु से क्विप् होकर, एवं वकार को प्रकृतसूत्र से ऊठ् यणादेश (६।१।७४) होकर *अक्षद्यूः हिरण्यद्यूः* बन गया ॥

पृष्टः पृष्टवान् की सिद्धि परि० ६।१।१६ में देखें । झलादि क्त्वा प्रत्यय

परे *पृष्ट्वा* की सिद्धि भी इसी प्रकार जानें ॥ दिव् धातु से व् को ऊठ् होकर इसी प्रकार *द्यूतः द्यूतवान् द्यूत्वा* की सिद्धि जानें ॥

—:०:—

परि० अयामन्ता० (६।४।५५)

कारयाञ्चकार हारयाञ्चकार की सिद्धि भाग १ परि० ३।१।४० के पाठयाञ्चकार के समान जानें ॥ *गण्डयन्तः मण्डयन्तः* में गडि मडि णिजन्त धातुओं से *तॄभूवहि०* (उणा० ३।१२८) इस उणादि से झच् प्रत्यय होता है, इदित्वात् नुम् होकर गण्ड् णिच् झच् = गण्ड इ झ रहा झ को *झोऽन्तः* (७।१।३) से अन्तादेश होकर 'गाण्ड् इ अन्त' बना । प्रकृत सूत्र से णि लोप को बाधकर अयादेश होकर गण्डयन्तः मण्डयन्तः बन गया ।

स्पृहयालुः यहाँ स्पृह चौरादिक अदन्त धातु से णिच् होकर *स्पृहि-गृहि०* (३।२।१५८) से आलुच् प्रत्यय होता है । अतो लोपः (६।४।४८) से ह् के 'अ' का लोप होने से लघूपध गुण नहीं होता तथा णि को अय होकर स्पृहयालुः बनता है ॥ *स्पृहयाय्यः* यहाँ *श्रुदक्षिस्पृहि०* (उणा० ३।९६) से आय्य प्रत्यय होता है ॥

स्तनयित्नुः यहाँ चुरादिगण की स्तन धातु से *स्तनिहृषिपुषिगदि०* (उणा० ३।२९) से इत्नु प्रत्यय हुआ है । अदन्त होने से *अतो लोपः* (६।४।४८) से न के 'अ' का लोप तथा अयादेश होकर स्तनयित्नुः बन गया । अकार लोप होने से उपधा वृद्धि करते समय अकार लोप के स्थानिवत् माने जाने से वृद्धि नहीं होती ॥

पोषयिष्णवः की सिद्धि पुष पुष्टौ धातु से भाग १ परि० ३।२।१३७ पृ० ६०२ के पारयिष्णवः के समान जानें ॥

—:०:—

परि० स्यसिच्० (६।४।६२)

चायिष्यते यहाँ परि० १।४।१३ पृ०८२५ के करिष्यति के समान सब कार्य जानें । अन्तर केवल इतना है कि यह भाव या कर्मवाच्य का प्रयोग है वहाँ कर्तृवाच्य का था । प्रकृत सूत्र से चिण्वत् कार्य होने से जिस प्रकार चिण् को णित् मानकर वृद्धि होती है, उसी प्रकार यहाँ भी

वृद्धि (७।२।११५) हो गई है। पश्चात् आयादेश एवं *भावकर्मणोः* (१।३।१३) से आत्मनेपद होकर चाय् इट् ष्य ते = चायिष्यते बन गया। पक्ष में जब चिण्वत् कार्य न हुआ, तो इट् आगम भी न होकर चेष्यते (भाव या कर्म में) बना। अचायिष्यत आदि भी लङ् लकार में इसी प्रकार जानें॥

दायिष्यते यहाँ चिण्वत् कार्य होने से *आतो युक् चिण्कृतोः* (७।३।३३) से युक् आगम होता है, यथा 'अदायि' आदि में चिण् परे रहते होता है॥

शामिष्यते शमिष्यते 'शामि' णिजन्त धातु से (अजन्त मानकर) पूर्ववत् ही सिद्धि जानें। यहाँ *जनिजॄष्०* (धातुपाठ) से शामि के मित् संज्ञक होने से *चिण्णमुलो दीर्घो०* (६।४।९३) से विकल्प से दीर्घ होता है दीर्घ करना ही यहाँ चिण्वद्भाव का फल है। इस प्रकार तीन रूप बनेंगे। प्रथम दीर्घ पक्ष में चिण्वद्भाव होकर शामिष्यते, अदीर्घ पक्ष में चिण्वद्भाव होकर शमिष्यते तथा जब पक्ष में चिण्वद्भाव नहीं हुआ तो शमयिष्यते बना। चिण्वद्भाव पक्ष में *णेरनिटि* (६।४।५१) से णि का लोप होता है। इस सूत्र से हुआ इट् *णेरनिटि* के दृष्टि में असिद्ध हो जाने से अनिडादि आर्धधातुक परे मिल ही जाता है। चिण्वद् अभाव पक्ष में णि को गुण अयादेश होकर शमयिष्यते बन ही जायेगा॥

घानिष्यते यहाँ चिण्वद्भाव होने से *हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु* (७।३।५४) से ह् को कुत्व हो जाता है, यथा चिण् परे णित् मानकर हो जाता है॥

ग्राहिष्यते में चिण्वद्भाव पक्ष में *अत उपधायाः* (७।२।११६) से वृद्धि होगी। चिण्वद् अभाव पक्ष में *आर्धधातुकस्येड्०* (७।२।३५) से हुये इट् को *ग्रहोऽलिटि दीर्घः* (७।२।३७) से दीर्घ होता है। प्रकरणस्थ इट् को ही इस सूत्र से दीर्घ होता है, अतः प्रकृत सूत्र से हुये इट् को इस सूत्र से दीर्घ नहीं होता इसलिये चिण्वद्भाव पक्ष में दीर्घ नहीं हुआ है॥

दर्शिष्यते दृश को चिण्वद्भाव विधान इट् करने के लिये ही है, इट् होने पर अझलादि होने से *सृजिदृशो०* (६।१।५७) से अम् आगम नहीं

होता चिण्वद् अभाव पक्ष में *सृजिदृशो०* (६।१।५७) से अम् आगम एवं *व्रश्चभ्रस्ज०* (८।२।३६) से श् को ष् तथा *षढोः कः सि* (८।२।४१) से ष् को क् होकर द्रक्ष्यते बनेगा ॥

इसी प्रकार सर्वत्र सिच् सीयुट् तास् परे रहते भी सिद्धि की प्रक्रिय समझते जायें, एवं चिण्वद्भाव का पूर्वोक्त फल जान लें ॥

अदिषाताम् की सिद्धि परि० १।२।१७ पृ० ७७२ के अदित के समान जानें ॥

आवधिषाताम् यहाँ *आत्मनेपदे०* (२।४।४४) से हन् को विकल्प से वध आदेश होता है। *अघानिषाताम्* यहाँ वधादेश के अभाव में चिण्वद् भाव पक्ष में पूर्ववत् कुत्व हो जायेगा ॥

अदृक्षाताम् यहाँ *लिङ्सिचा०* (१।२।११) से सिच् को कित् होने से गुण एवं अम् आगम (६।१।५७) नहीं होता ॥

चायिषीष्ट आदि में जैसे भाग १ परि० १।२।११ में लिङ् लकार में सीयुट् आगम करके सिद्धियाँ दिखाई हैं, उसी प्रकार प्रक्रिया जान लें शेष चिण्वद् भाव के विशेष कार्य पूर्ववत् ही हैं।

इसी प्रकार तास् परे के उदाहरण भी समझ लें, कोई विशे नहीं है ॥

महाभाष्य में चिण्वद्भाव के प्रयोजन का परिगणन कर दिया है जो इस प्रकार है—

'चिण्वद् वृद्धिर्युक्च हन्तेश्च घत्वं दीर्घश्चोक्तो यो मितां वा चिणीति' इन सभी प्रयोजनों का दिग्दर्शन हमने पूर्व कर ही दिया है ॥

—:०:—

परि० सूर्यतिष्या० (६।४।१४९)

सौरी बलाका

सूर्येण एकदिक् ऐसा विग्रह करके सूर्य शब्द से *तेनैकदिक्* (४।३।११२) से यथाविहित अण् प्रत्यय हुआ। आदि अच् को वृद्धि एवं अण् पर रहते यस्येति लोप होकर 'सौर्य् अ' रहा। पश्चात् *टिड्ढाणञ्०* (४।१।१

से ङीप् होकर सौर्य् ई रहा। अब पुनः 'ई' परे अण् के अकार का लोप होकर सौर्य् ई रहा। पश्चात् जब प्रकृत सूत्र ने सूर्य सम्बन्धी उपधा यकार का लोप करने को कहा तो 'ई' परे रहते जो अकार लोप हुआ था वह *असिद्धवद०* (६।४।२२) से य् लोप की दृष्टि में असिद्ध माना गया, अतः उपधा (१।१।६४) में य् मिल गया सो य् लोप होकर सौर् ई = सौरी बन गया॥

तैषम् यहाँ तिष्य से *नक्षत्रेण युक्तः०* (४।२।३) से अण् तथा *टिड्ढाणञ्०* (४।१।१५) से ङीप् होता है। पूर्ववत् यस्येति लोप एवं असिद्धत्व करके उपधा यकार का लोप भी जानें। सौरी के समान तैषी में भी समझें॥

आगस्ती अगस्त्यस्यापत्यं स्त्री आगस्ती यहाँ *ऋष्यन्धक०* (४।१।११४) से अण् तथा पूर्ववत् ङीप् जानें। शेष सौरीवत् जानें। आगस्तीयम् यहाँ अणन्त आगस्त्य शब्द से *वृद्धाच्छः* (४।२।११३) से छ हुआ है। शेष पूर्ववत् जानें॥

मत्सी यहाँ मत्स्य से *षिद्गौरादि०* (४।१।४१) से ङीप् प्रत्यय हुआ है। मत्स्य ई = मत्स्य् ई अकार असिद्धत्व होकर य् लोप हो गया तो मत्सी बन गया॥

—:०:—

१. अण् परे जो यस्येति लोप हुआ था वह व्याश्रय होने से असिद्ध नहीं होता, अतः ई परे वाला ही असिद्ध होगा॥

अथ सप्तमाध्यायपरिशिष्टम्

परि० ङे प्रथमयोरम् (७।१।२८)

तुभ्यम् , मह्यम्

तुभ्यम् , मह्यम् यहाँ ङे परे रहते *मपर्यन्तस्य* (७।२।९१) से युष्मद् अस्मद् के मपर्यन्त अर्थात् युष्म् अस्म् को *तुभ्यमह्यौ ङयि* (७।२।९५) से तुभ्य मह्य आदेश होकर 'तुभ्य अद् ङे, मह्य अद् ङे रहा, तब शेष बचे अद् भाग का लोप *शेषे लोपः* (७।२।९०) से हो गया एवं ङे को अम् आदेश होकर तुभ्यम् मह्यम् बन गया। *अमि पूर्वः* (६।१।१०३) से पूर्वरूप सर्वत्र हो ही जायेगा।

त्वम् अहम् यहाँ भी *त्वाहौ सौ* (७।२।९४) से युष्मद् अस्मद् के मपर्यन्त को क्रमशः त्व अह आदेश हो गये शेष प्रक्रिया पूर्ववत् है॥

युवाम् आवाम् प्रथमा द्विवचन में *युवावौ द्विवचने* (७।२।९२) से मपर्यन्त को युव आव आदेश क्रमशः होते हैं। *प्रथमायाश्च द्विवचने०* (७।२।८८) से युष्मद् अस्मद् को आकारादेश भी कहा है, अतः अवशिष्ट अद् के अन्तिम अल् (१।१।५१) द् के स्थान में आत्व होकर युव अ आ औ, आव अ आ औ, रहा। पश्चात् सवर्ण दीर्घ (६।१।९७) होकर एवं 'औ' को प्रकृत सूत्र से अम् होकर युवाम् आवाम् बन गया॥

यूयम् वयम् बहुवचन जस् परे पूर्ववत् युष्मद् अस्मद् के मपर्यन्त को क्रमशः *यूयवयौ जसि* (७।२।९३) से यूय वय आदेश हो गये। शेष सब पूर्ववत् होकर तथा प्रकृत सूत्र से अम् होकर यूयम् वयम् बन गया॥

त्वाम् माम् यहाँ अम् विभक्ति परे रहते *त्वमावेकवचने* (७।२।९७) से त्व म आदेश पूर्ववत् , मपर्यन्त युष्म् अस्म् को होते हैं। *द्वितीयायां च* (७।२।८७) से पूर्ववत् आत्व भी होकर 'त्व अ आ अम् , म अ आ अम्' रहा। पूर्ववत् प्रकृत सूत्र से अम् को अम् आदेश तथा *अमि पूर्वः* लगकर त्वाम् माम् बन गया॥

युवाम् आवाम् यहाँ द्वितीया द्विवचन की औट् विभक्ति परे रहते

पूर्ववत् प्रथमा द्विवचन के युवाम् आवाम् के समान ही सब कार्य युव, आव आदेश इत्यादि जानें ॥

—:०:—

परि० लोपस्त० (७।१।४१)

अदुह्न की सिद्धि ७।१।८ सूत्र में की है सो वहीं देखें। दुहाम् यह दुह् धातु के लोट् एकवचन का रूप है। दुह् शप् त यहाँ *अदिप्रभृतिभ्यः०* (२।४।७२) से शप् का लुक् तथा 'त' की टि को *टित आत्मने०* (३।४।७९) से एत्व होकर दुह् ते रहा। प्रकृत सूत्र से 'त्' लोप होकर दुह् ए रहा, पश्चात् *आमेतः* (३।४।९०) से ए को आम् होकर '*दुहाम्*' बन गया ॥ शये लट् लकार के एकवचन का रूप है, सो पूर्ववत् शी शप् त रहा। शप् का लुक् (२।४।७२) तथा पूर्ववत् टि को एत्व एवं गुण होकर शे ते रहा। त् का लोप होकर शे ए = शय् ए = शये बन गया ॥

—:०:—

परि० तितुत्रतथ० (७।२।९)

तन्तिः में *क्तिच्क्तौ०* (३।३।१७४) से तन धातु से क्तिच् प्रत्यय हुआ है। यहाँ *अनुदात्तोपदेश०* (६।४।३७) से जो अनुनासिकलोप प्राप्त था तथा *अनुनासिकस्य०* (६।४।१५) से दीर्घ प्राप्त था, उन दोनों का निषेध *न क्तिचि दीर्घश्च* (६।४।३९) से हो जाता है ॥ *दीप्तिः* में *स्त्रियां क्तिन्* (३।३।९४) से क्तिन् प्रत्यय हुआ है ॥ *सक्तुः* यहाँ सच धातु से *सितनिगमिमसिसच्य०* (उणा० १।६९) से तुन् प्रत्यय हुआ है। *चोः कुः* (८।२।३०) से कुत्व हो ही जायेगा ॥ *पत्रम्* यहाँ *दाम्नीशस०* (३।२।१८२) से ष्ट्रन् प्रत्यय तथा *तन्त्रम्* यहाँ तन धातु से *सर्वधातुभ्यःष्ट्रन्* (उणा० ४।१५९) से ष्ट्रन् प्रत्यय हुआ है ॥

हस्तः लोतः पोतः, धूर्त्तः में *हसिमृग्रिण्वामिद०* (उणा० ३।८६) से तन् प्रत्यय हुआ है ॥

काष्ठः, कुष्ठः, में *हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन्* (उणा० २।२) से क्थन् प्रत्यय हुआ है। कुष् क्थन् = कुष् थ = ष्टुत्व होकर कुष्ठः बन गया। काश् क्थन् = काश् थ यहाँ *व्रश्चभ्रस्ज०* (८।२।३६) से श् को ष्

होकर ष्टुत्व हुआ है सो काष्ठम् बन गया ॥ *कुक्षिः* यहाँ *प्लुषिशुषिकुषिभ्यः क्सिः* (उणा० ३।१५५) से क्सि प्रत्यय हुआ है। कुष् क्सि कुष् सि *आदेशप्र०* (८।३।५९) से षत्व होकर कुक्षि बन गया ॥ इक्षुः यहाँ इष धातु से *इषेः क्सुः* (उणा० ३।१५७) से क्सु प्रत्यय हुआ है, शेष पूर्ववत् समझें ॥ *अक्षरम्* यहाँ *अशेः सरन्* (उणा० ३।७०) से सरन् प्रत्यय हुआ है। अश् सरन् अश् सर यहाँ व्रश्चभ्रस्ज० से श् को ष् तथा स को भी ष पूर्ववत् होकर अक्षरम् बन गया ॥ *शल्कः* यहाँ शल गतौ धातु से *इण्भीकापा०* (उणा० ३।४३) से कन् प्रत्यय हुआ है ॥ *वत्सः* यहाँ वद धातु से *वृतॄवदिवचिवसि०* (उणा० ३।६२) से 'स' प्रत्यय हुआ है। *खरि च* (८।४।५४) से द् को त् हो ही जायेगा ॥

—:०:—

परि० सनीवन्तर्ध० (७।२।४९)

दिवु धातु से इट् पक्ष में दिदेविषति की सिद्धि जानें। अनिट् पक्ष में दुद्यूषति बनेगा।

दुद्यूषति

दिव् सन्	पूर्ववत् होकर, *सनीवन्तर्ध०* से इवन्त होने से पक्ष में इट् नहीं हुआ। तब *हलन्ताच्च* (१।२।१०) से सन् को कित् वत् होकर, *च्छ्वोः शूडनुनासिके च* (६।४।१९) से व् को ऊठ् हुआ।
दि ऊठ् सन् = दि ऊ स, *इको यणचि* (६।१।७४)।	
द्यू स	*सन्यङोः* (६।१।९) से द्वित्व होकर
द्यूस् द्यूस	*हलादिः शेषः* (७।४।६०) एवं *ह्रस्वः* (७।४।५९) लगकर
दुद्यूष	पूर्ववत् शप् तिप् आकर
दुद्यूषति	बना ॥

इसी प्रकार सिव् से सुस्यूषति बना।

अर्दिधिषति

ऋधु सन्	प्रकृत सूत्र से पक्ष में इट् तथा लघूपध गुण होकर
अर्ध् इ स	*अजादेर्द्वितीयस्य* (६।१।२) *न न्द्राः संयोगादयः* (६।१।३)

लगकर प्रथम अक्षर एवं रेफ् को भी छोड़कर 'धिस्' द्वित्व हुआ

अर् धिस् धिस् अ, अभ्यास कार्य होकर

अर् दि धिष् अ ति = अर्दिधिषति, बना ।

अनिट् पक्ष में ईर्त्सति बनेगा ॥

ईर्त्सति

ऋध् सन् = ऋध् स, *सनीवन्तर्ध०* से इडभाव पक्ष में *हलन्ताच्च* से सन् कित् होकर गुण का प्रतिषेध होता है । *आप्ज्ञप्यृधामीत्* (७।४।५५) *उरण्रपरः* (१।१।५०) से ऋध् अङ्ग के अच्

ईर् ध् स् को ईत्व हो गया *अजादेर्द्वितीयस्य* से 'धूस' को द्वित्व होकर

ईर् धूस ध् स *हलादिः शेषः* (७।४।६०) *सन्यतः* (७।४।७९) *अभ्यासे*

ईर् दि ध् स *चर्च* (८।४।५३)*अत्र लोपोऽभ्यासस्य* (७।४।५८)

ईर् ध् स *खरि च* (८।४।५४) से चर्त्व होकर

ईर् त् स् शप् तिप् = ईर्त्सति, बना ।

बिभ्रज्जिषति

भ्रस्ज सन् प्रकृत सूत्र से पक्ष में इट् आगम एवं द्वित्वादि होकर

भ्रस्ज् भ्रस्ज् इ स = ब भ्रस्ज् इ स, *सन्यतः* (७।४।७९)

बिभ्रस्जि ष शप् तिप् , *झलां जश् झशि* (८।४।५२)

बिभ्रद् जिष् अ ति, *स्तोः श्चुना श्चुः* (८।४।३९)

बिभ्रज्जिषति बना ।

अनिट् पक्ष में बिभ्रक्षति रूप बनेगा । 'बि भ्रस्ज् स' यहाँ *स्कोः संयो०* (८।२।२९) से सकार लोप तथा *व्रश्चभ्रस्ज०* (८।२।३६) से ज् को ष् एवं *षढोः कः सि* (८।२।४१) से ष् को क् होकर बिभ्रक् ष अ ति = बिभ्रक्षति बन गया ॥

इट् पक्ष में एक बार *भ्रस्जो रोपधयो०* (६।४।४७) से रम् आगम होकर बि भ् अ रम् ज् इ स = बिभर् ज् इ ष रहा। शप् तिप् आकर बिभर्जिषति बन गया। *अचो रहाभ्यां०* (८।४।४५) से द्वित्व होकर बिभर्ज्जिषति बनेगा।

अनिट् पक्ष में भी जब पक्ष में रम् आगम हुआ तो सकार लोपादि सब बिभ्रक्षति के समान होकर बिभर्क्षति रूप बन गया। केवल यहाँ रम् आगम ही विशेष है। इस प्रकार इट् पक्ष बिना रम् आगम, इट् पक्ष रम् आगम, अनिट् पक्ष बिना रम् का एवं अनिट् पक्ष रम् आगम का ये ४ रूप इट् एवं रम् दोनों का विकल्प होने से सिद्ध हुए॥

दम्भ धातु से इट् पक्ष में दिदम्भिषति बनेगा। अनिट् पक्ष में धिप्सति धीप्सति दो रूप बनेंगे॥

धिप्सति

दम्भ सन्	*दम्भ इच्च* (७।४।५६) से अच् को
दिम्भ् स	इत् होकर
	हलन्ताच्च (१।२।१०) से सन् को कित्वत् होने से
दिभ् स	*अनिदितां हल०* (६।४।२४) से अनुनासिक लोप तथा
	पूर्ववत् द्वित्व एवं अभ्यास कार्य होकर
दि दिभ् स	*अत्र लोपोऽभ्यासस्य* (७।४।५८)
धिभ् स	*एकाचो बशो भष्०* (८।२।३७)
	खरि च (८।४।५४)

धिप् स शप् तिप् = धिप्सति, बना।

जब *दम्भ इच्च* (७।४।५६) से ईकारादेश होगा तो इसी प्रकार सब होकर धीप्सति प्रयोग बनेगा॥

श्रिञ् से इट् पक्ष में उत् श्रे इ ष = उत् शि श्रयि ष रहा। *शश्छोऽटि* (८।४।६२) एवं *स्तोः श्चुना०* (८।४।३९) लगकर उच्छिश्रयिषति बन गया। अनिट् पक्ष में *इको झल्* (१।२।९) से कित्व एवं *अज्झनगमां०* (६।४।१६) से दीर्घत्व होकर उच्छिश्रीषति बन गया॥

सिस्वरिषति में स्वृ स् द्वित्व एवं अभ्यास को उरत् (७।४।६६) उरण्रपरः (१।१।५०) लगकर स्वर् स्वर् इ ष रहा। *सन्यतः* (७।४।७९)

से इत्व हलादि शेष होकर सिस्वरिषति बन गया। अनिट् पक्ष में *अज्झन०* से दीर्घ, *उदोष्ठ्यपूर्वस्य* (७।१।१०२) से स्वृ को उत्व रपरत्व तथा स्वूर्ष् स्वूर्ष् द्वित्व एवं *हलि च* (८।२।७७) से दीर्घ होकर सुस्वूर्षति बन गया ॥

इट् पक्ष यियविषति में *ओः पुयण्ज्यपरे* (७।४।८०) से अभ्यास को इत्व हुआ है ॥

ऊर्णुञ् से इट् पक्ष में गुण इत्यादि होकर प्रोर्णुनविषति बना। जब *विभाषोर्णोः* (१।२।३) से पक्ष में सन् प्रत्यय ङित् हुआ तो गुण न होकर *अचि श्नुधातु०* (६।४।७७) से उवङ् होकर प्रोर्णुनुविषति बना। अनिट् पक्ष में प्रोर्णुनूषति बन गया। सर्वत्र *अजादेर्द्वितीयस्य* (६।१।२) लगकर नुस् नुस् द्वित्व होगा ॥

भ्वादिगणस्थ भृञ् धातु से इट् पक्ष में बिभरिषति तथा अनिट् पक्ष में पूर्ववत् उत्व रपरत्व होकर बुभूर्षति बनेगा ॥

णिजन्त ज्ञा धातु से *अर्त्तिह्रीव्ली०* (७।३।३६) से पुक् आगम होकर ज्ञपि धातु बनी। ततः सन् होकर इट् पक्ष में जिज्ञपयिषति बनेगा। अनिट् पक्ष में *अत्र लोपो०* (७।४।५८) से अभ्यास लोप तथा *आप्ज्ञप्यृधामीत्* (७।४।५५) से अङ्ग के अच् को ईत्व होकर ज्ञीप्सति बन गया ॥

सन् धातु से अनिट् पक्ष में *जनसनखनां०* (६।४।४२) से आत्व होकर 'स स आ स = सि सा स = सिषासति' बन गया ॥

—:०:—

अथ अष्टमाध्यायपरिशिष्टम्

परि० निपातैर्यद्यदि० (८।१।३०)

करोति—करोति पद प्रत्यय स्वर से मध्योदात्त है। कर् उ ति = यहाँ तिप् *अनुदात्तौ सुप्पितौ* (३।१।४) से अनुदात्त एवं कर् का 'अ' *अनुदा०* (६।१।१५२) से अनुदात्त है। केवल विकरण *सतिशिष्ट०* (वा० ६।१।१५२) से उदात्त है, अतः *उदात्तादनु०* (८।४।६५) से 'ति' स्वरित हो गया॥

पचति की स्वर सिद्धि परि० ३।१।४ में देखें॥

पताम—पताम पत्लृ धातु के लेट् उत्तम पुरुष का रूप है। पत् शप् मस् यहाँ *स उत्तमस्य* (३।४।९८) से सलोप तथा *लेटोऽडाटौ* (३।४।९४) से हुये आट् आगम को *अकः सवर्णे दीर्घः* (६।१।९७) से दीर्घ होकर पताम बना। अब यहाँ मस् लसार्वधातुक को *तास्यनुदात्ते०* (६।१।१८०) से अनुदात्त होकर तथा शप् को पित् होने से अनुदात्तत्व (३।१।४) होकर पताम धातु स्वर (६।१।१५९) से आद्युदात्त है॥

भुङ्क्ते—भुङ्क्ते की सिद्धि सूत्र १।३।६६ में देखें। स्वर सिद्धि इस प्रकार है—'ते' को पूर्ववत् लसार्वधातुक अनुदात्तत्व (६।१।१८०) करके, जब प्रत्यय स्वर से उदात्त 'श्नम्' का लोप *श्नसोरल्लोपः* (६।४।१११) से किया, तो *अनुदात्तस्य च यत्रो०* (६।१।१५५) से 'ते' उदात्त हो गया॥

अधीते—अधि पूर्वक इङ् धातु से अधीते यहाँ *तास्यनुदात्ते०* सूत्र में 'अह्नविङोः' प्रतिषेध करने से लसार्वधातुक अनुदात्त न होकर 'त' प्रत्यय स्वर से उदात्त हो गया, शेष *अनुदात्तं पद०* (६।१।१५२) से अनुदात्त हो ही जायेगा॥

मरिष्यति—मृङ् प्राणत्यागे से लृट् में मरिष्यति की सिद्धि परि० १।४।१३ के करिष्यति के समान है। स्य यहाँ प्रत्यय स्वर से उदात्त है। शेष को अनुदात्त एवं उदात्त से उत्तर अनुदात्त तिप् को (८।४।६५) स्वरित हो गया॥

सर्वत्र *तिङ्ङतिङः* (८।१।२८) से सर्वानुदात्तत्व की प्राप्ति थी, यथाप्राप्त स्वर हो गये॥

वैदिक उदाहरण *'स्याम्'* यहाँ अस धातु से लिङ् लकार अम् (मिप् को) यासुट् आगम तथा *श्नसो०* (६।४।१११) से अकार लोप हुआ है। *यासुट् परस्मैपदे०* (३।४।१०३) में यासुट् को उदात्त कहा है, अतः स्याम् पद उदात्त रहा।

यदी॑ कृ॒थः—यहाँ 'यदि' निपात को *निपातस्य च* (६।३।१३४) से दीर्घ हुआ है। कुरुथः के अर्थ में कृथः कृ धातु से थस् में बना है। *बहुलं छन्दसि* (२।४।७३) से शप् का लुक् होने से उसके स्थान पर होने वाला 'उ' विकरण नहीं हुआ प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त यह शब्द है॥

च॒कृ॒मा—यह कृ धातु के लिट् लकार के मस् का रूप है, अतः प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त है। *संहितायाम्* (६।३।११२) से दीर्घ हुआ है। मस् को म आदेश *परस्मैपदानां०* (३।४।८२) से हो ही जायेगा। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने कुर्याम के अर्थ में चकृम माना है॥

भव॑न्ति—यहाँ अनुदात्त शप् के अदुपदेश होने से अन्ति को *तास्यनुदात्तेन्ङिद०* (६।१।१८०) से अनुदात्त हो गया। धातुस्वर से आद्युदात्त है।

आसन्—अस् धातु के लङ् बहुवचन का रूप है। यहाँ आट् आगम उदात्त हुआ है सो आद्युदात्त पद है॥

—:०:—

परि० एकाचो बशो० (८।२।३७)

भोत्स्यते—बुध धातु से लृट् लकार में सब कार्य होकर 'बुध् स्य त' रहा। बुध धातु एक अच् वाला एवं झष् प्रत्याहारान्त है, अतः उसके अवयव बश् के स्थान में भष् प्राप्त हुआ, जो कि *स्थानेऽन्तरतमः* (१।१।४९) से अन्तरतम अर्थात् ओष्ठस्थानी ब के स्थान में ओष्ठस्थानी भ हुआ, सो 'भोध् स्य त' रहा। *खरि च* (८।४।५४) से ध् को त् होकर भोत्स्यते बन गया॥

अभुद्ध्वम्—बुध से लुङ् में अ बुध् सिच् ध्वम् रहा। *धि च* (८।२।२५) से सिच् के स् का लोप, तथा प्रकृत सूत्र से बश् को भष् होकर अभुध् ध्वम् रहा। *झलां जश्०* (८।४।५२) से जश्त्व होकर अभुद्ध्वम् बन गया। यहाँ बुध् को गुण *लिङ्सिचावात्म०* (१।२।११) से सिच् को कित् होने से नहीं होता, ऐसा समझें॥

जर्गृध् लङ् (३।२।१११) पूर्ववत् लुङ् लकार के सब कार्य 'जर्गृध्' धातु से होकर

अट् जर् गृध् शप् सिप्, सार्वधातुकार्धधातु० (७।३।८४) से गृ को गर्

अ जर् गर् ध् स्, गुण होकर चर्करीतञ्च (धातु पाठ) से शप् का लुक् होकर, हल्ङ्यादि लोप होकर

अ जर् गर् ध् एकाचो बशो भष् से ग् को घ भष् होकर

अ जर् घर् ध् झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से ध् को द् तथा

अ जर् घर् द् दश्च (८।२।७५) द् को रु होकर

अ जर् घर् रु स् अ जर् घर् र्, रो रि (८।३।१४) से पूर्व वाले रेफ का लोप

अजर्घर् ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः (६।३।१०९) से दीर्घ हुआ

अजर्घार् खरवसानयोर्विसर्जनीयः (८।३।१५)

अजर्घाः बन गया ॥

गर्धप्—गर्दभ शब्द से पटयति (परि० १।१।५६) के समान सब कार्य होकर गर्दभि धातु बना। उससे आगे क्विप् करके णि लोप होकर गर्दभ् बना, पुनः द् (बश्) को ध् (भष्) तथा भ् को प् चर्त्व होकर गर्धप् बना। आगे अचो रहा० (८।४।४५) से ध् को द्वित्व एवं एक ध के परे रहते पूर्व ध् को जश्त्व (८।४।५२) होकर गर्द्धप् बन जायेगा॥ बश् में ब, ग, ड, द चार अक्षर हैं, तथा भष् में भ, घ, ढ, ध चार हैं, सो सर्वत्र ब को भ, ग को घ तथा द को ध उदाहरणों में हुआ है॥

इति पदवाक्यप्रमाणज्ञैः श्रीपण्डितब्रह्मदत्तजिज्ञासुभिः समारब्धेऽ-
ष्टाध्यायीभाष्ये तदन्तेवासिन्या श्रीप्रज्ञादेव्या कृतः
षष्ठसप्तमाष्टमाध्यात्मकस् तृतीयो भागः
पूर्तिमगात्

१२. **वैदिक ईश्वरोपासना**—पातञ्जल योगदर्शन के अत्युपयोगी सूत्रों की ऋषि दयानन्दकृत व्याख्या। आर्ट पेपर पर सुन्दर दुरङ्गी छपाई। मुखपृष्ठ पर आकर्षक ऋषि-चित्र। मू० ०–३०।

१३. **वाल्मीकि-रामायण**—हिन्दी अनुवाद सहित। अनुवादक तथा परिशोधक—पं० अखिलानन्दजी झरिया। बालकाण्ड द्वि० सं० छप रहा है। अयोध्याकाण्ड मूल्य ३–५०, अरण्य-किष्किन्धाकाण्ड मूल्य ४–५०, सुन्दरकाण्ड मूल्य २–७५।

१४. **ध्यानयोग-प्रकाश**—ले० ऋषि दयानन्द से योग शिक्षा ग्रहण करने वाले महायोगी महात्मा स्वामी लक्ष्मणानन्दजी। अपने विषय का अनूठा ग्रन्थ। द्वितीय संस्करण मू० ३–२५।

१५. **संस्कृत व्याकरण शास्त्र का इतिहास**—पं० युधिष्ठिर मीमांसक। ग्रन्थ में आदिकाल से आज तक के सभी प्रमुख वैयाकरणों तथा उनके ग्रन्थों का इतिहास दिया गया है। मू० भाग १, १५–००, भाग २, १५–००।

१६. **सं० व्या० में गणपाठ की परम्परा और आचार्य पाणिनि**—डॉ० कपिलदेव। मू० ८–००।

१७. **अष्टोत्तरशतनाममालिका**—लेखक पं० विद्यासागर जी शास्त्री एम० ए०। सत्यार्थप्रकाश के प्रथम समुल्लास में व्याख्यात ईश्वर नामों की विस्तृत प्रामाणिक व्याख्या। मूल्य अजिल्द ५–००, सजिल्द ६–००।

१८. **भागवत-खण्डनम्**—ऋषिदयानन्द का प्रथम ग्रन्थ। भाषानुवाद सहित। मूल्य ०–५०।

१९. **ऋग्वेद की ऋक्संख्या**—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। ऋग्वेद की ऋक्संख्या के सम्बन्ध में जो घोर विवाद है, उसका इसमें स्पष्टीकरण तथा वास्तविक संख्या का निदर्शन कराया है। मूल्य ०–५०।

२०. **आचार्य पाणिनि के समय विद्यमान संस्कृतवाङ्मय**—लेखक पं० युधिष्ठिर मीमांसक। प्राचीन संस्कृत वाङ्मय की विपुलता की एक झांकी। मू० १–००।

२१. **दयानन्द जीवनी-साहित्य**—श्री पं० विश्वनाथ जी शास्त्री एम० ए०। ऋषि दयानन्द के जीवन के सम्बन्ध में लिखे गये सम्पूर्ण ग्रन्थों की प्रामाणिक सूची। मू० ०–४०।

२२. **विरजानन्द प्रकाश**—श्री पं० भीमसेन जी शास्त्री एम० ए०। श्री स्वामी विरजानन्दजी का अनुसन्धानपूर्ण प्रामाणिक जीवन-चरित्र। मूल्य २-००

२३. **वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त विविध स्वराङ्कनप्रकार**—ले० पं० युधिष्ठिर मीमांसक। मूल्य अजिल्द १–५०, सजिल्द ३–००।

२४. **संस्कृत पठनपाठन की अनुभूत सरलतम विधि**—लेखक श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु। इस ग्रन्थ में संस्कृत भाषा के सुगमतापूर्वक बोध के लिये ४४ पाठ दिए हैं। मू० १–५०।

२५. **क्षीरतरङ्गिणी**—क्षीरस्वामिकृत पाणिनीय धातुपाठ की प्राचीनतम व्याख्या। मू० १२–००।

२६. **वामनीय-लिङ्गानुशासनम्**—स्वोपज्ञवृत्तिसहितम्। मू० अजिल्द २–००, सजिल्द ३–५०।

२७. निरुक्तसमुच्चय:—आचार्य वररुचिकृत। नैरुक्तसम्प्रदाय का प्रामाणिक ग्रन्थ। मूल्य ५–००।

२८. भागवृत्ति-संकलनम्—अष्टाध्यायी की एक प्राचीन अत्यन्त प्रामाणिक महत्त्वपूर्ण विलुप्त व्याख्या के २०० उद्धरणों का संकलन। मू० ३–००।

२९. काशकृत्स्न-धातुव्याख्यानम्—पाणिनि से प्राचीन आचार्यकाशकृत्स्न के धातुपाठ की कन्नड टीका का संस्कृत रूपान्तर। पं० यु० मी०। मूल्य ६–२५।

३०. काशकृत्स्न-व्याकरणम्—काशकृत्स्न व्याकरण का इतिहास और उसके उपलब्ध १४० सूत्रों की व्याख्या (संस्कृत)। संस्कर्ता पं० यु० मी०। मू० ३–००।

३१. अष्टाध्यायी मूल—अत्यन्त शुद्ध संस्करण। संस्कर्ता पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु। मू० ०–७५।

३२. शिक्षा-सूत्राणि—आपिशलि पाणिनि और चन्द्रगोमी द्वारा प्रोक्त। मूल्य १–५०।

३३. बृहद् हवनमन्त्र—मन्त्रों का हिन्दी में शब्दार्थ तथा भावार्थ। पं० रामावतार शर्मा। मू० ०–७५।

३४. प्यारा ऋषि—ऋषि दयानन्द के जीवन की प्रमुख घटनाओं का संग्रह (बालोपयोगी)। मूल्य ०–५०।

३५. ऋग्वेद भाषाभाष्य—(भाग १) ऋषिदयानन्द कृत ऋग्वेदभाष्य का शुद्ध भाषानुवाद। मू० २–५०।

३६. आर्याभिविनय—ऋग्यजु: के १०० मन्त्रों की सरल सुन्दर आध्यात्मिक व्याख्या। लेखक ऋषि दयानन्द। दोरङ्गी सुन्दर छपाई। गुटका साईज सजिल्द। मू० १–००।

३७. व्यवहारभानु—ले० ऋषिदयानन्द। मूल्य ०–२५।

३८. आर्योद्देश्यरत्नमाला—ले० ऋषि दयानन्द। मूल्य ०–०६।

३९. हवनमन्त्र (मूलमात्र)। मूल्य ०–०६।

४०. सन्ध्योपासनविधि—(अर्थ सहित)। मूल्य ०–१०।

४१. सन्ध्योपासन-हवनमन्त्र-सहित—मू० ०–१०।

४२. अमीरसुधा—(भक्त अमीचन्द के भजनों का संग्रह)। मूल्य ०–५०।

मिलने का पता—

१.—रामलाल कपूर एण्ड संस पेपर मर्चेण्ट, नई सड़क, देहली
२. ” ” ” ” बारी मार्केट, सदरबाजार, देहली
३. ” ” ” ” गुरु बाजार, अमृतसर
४. ” ” ” ” बिरहाना रोड, कानपुर
५. ” ” ” ” ५१ सुतार चॉल, बम्बई–२

६. वेदवाणी कार्यालय. अजमतगढ़ पैलेस. वाराणसी–१